अभिनन्दन-ग्रन्थ

नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ समिति की ओर से

आर्यावर्त प्रकाशन-गृह, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित

इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, द्वारा मुद्रित

चित्रफलक गोसाईं एंड कम्पनी, कलकत्ता तथा इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस द्वारा मुद्रित

काग़ज़ टीटागढ़ पेपर मिल द्वारा प्रस्तुत

वेष्टन का कपड़ा वेनी सिल्क मिल, भागलपुर द्वारा प्रस्तुत

वेष्टन-चित्र नन्दलाल वसु द्वारा अंकित

सुलेखन मुहम्मद इस्माइल द्वारा

शारदाप्रसाद, हरिहरलाल मेढ़, कृपालसिंह शेखावत,
मुहम्मद इस्माइल, रमेशचन्द्र साथी, रामेन्द्रनाथ चक्रवर्ती,
रवीन्द्रनाथ देव के अंकनों से मंडित

चित्रों के ब्लाक, ब्लाक एंड प्रिंट हाउस, कलकत्ता; रिप्रोडक्शन सिंडिकेट,
कलकत्ता; प्रोसेस आर्टो एंड प्रिंट, कलकत्ता; और लक्ष्मी
फ़ोटो इंग्रेविंग वर्क्स, इलाहाबाद द्वारा प्रस्तुत

हिन्दी संस्करण
प्रथमावृत्ति ३०००

सम्पादन समिति

राजेन्द्रप्रसाद
पुरुषोत्तमदास टंडन
सर्वपल्ली राधाकृष्णन्
कन्हैयालाल मुंशी
नन्दलाल वसु
गोविन्ददास
विश्वनाथ मोर
लंका सुन्दरम्
सच्चिदानन्द वात्स्यायन

प्रबन्ध समिति

गोविन्ददास
विश्वनाथ मोर
सच्चिदानन्द वात्स्यायन
लंका सुन्दरम्

अर्थ समिति

रामसहायमल मोर
चंडीप्रसाद मोर
विश्वनाथ मोर

भूमिका

यह ग्रन्थ स्वाधीन भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू को, १४ नवम्बर १९४९ को, उनकी षष्ठिपूर्ति के उपलक्ष में भेंट करने के लिए प्रस्तुत किया गया, और हिन्दी तथा अंग्रेजी में एक साथ ही प्रकाशित किया जा रहा है।

ग्रन्थ में प्रधान मन्त्री पंडित नेहरू के कृतित्व अथवा ऐतिहासिक महत्त्व का मूल्यांकन करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। वैसा प्रयत्न ऐतिहासिक तटस्थता की अपेक्षा करता है; और हमारे प्रधान मन्त्री का कार्य-काल, तथा उसमें होने वाली बड़ी-बड़ी घटनाएँ अभी तक हमारे इतने निकट हैं कि उन्हें निरपेक्ष होकर देखना सम्भव नहीं है। ग्रन्थ वास्तव में अभिनन्दन ग्रन्थ है। इसमें पंडित जवाहरलाल नेहरू के भारतीय और अन्तर्राष्ट्रीय मित्रों, सहकर्मियों और प्रशंसकों ने मानव नेहरू के गुणों और उनकी प्रतिभा तथा महत्ता का एक रेखांकन करने का प्रयत्न किया है। यह भी चेष्टा की गयी है कि पंडित नेहरू की जीवनी को भारत के स्वाधीनता-संग्राम के परिपार्श्व में रख कर देखा जाय। निस्सन्देह एक ऐसे जनप्रिय नेता के जीवन की अपेक्षा में समकालीन घटना-वृत्तान्त का विवेचन अत्यन्त कठिन है; और यह स्पष्ट है कि ग्रन्थ के लेखकों को इस कठिनाई का भान रहा है और उनके मत-प्रकाशन में संकोच का कारण बना है। जो हो, ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध का सम्बन्ध उनके व्यक्तित्व से और आधुनिक भारत के निर्माण में उनकी देन से है। उत्तरार्द्ध में देशी और विदेशी विशेषज्ञों के विभिन्न विषयों पर लेख हैं। भारत के विभिन्न साहित्यों से भी प्रतिनिधि लेखकों की रचनाएँ दी गयी हैं जिनसे भारत के आधुनिक साहित्य का प्रतिचित्र मिल सकता है। साहित्य खंड में स्वयं पंडित नेहरू के लेखन के भी कुछ सन्दर्भ दे दिये गये हैं।

ग्रन्थ का कलाशिल्प-सम्बन्धी अंश अपना विशिष्ट स्थान रखता है। उसमें यह उद्योग किया गया है कि भारत की चित्र, मूर्ति और वास्तु-कला की परम्परा की एक रूप-रेखा पाठक के सामने उपस्थित की जा सके। चित्रों के चयन में यह ध्यान रखा गया है कि चित्र प्रतिनिधित्व तो कर सकें किन्तु साथ ही ऐसे भी न हों कि अति-परिचय के कारण अवज्ञेय जान पड़ें। कुछ चित्र पहले जहाँ-तहाँ प्रकाशित हुए हैं लेकिन अधिकांश का प्रकाशन यहाँ पहली बार हो रहा है। चित्रों का अत्यन्त संक्षिप्त परिचय भी चित्र-सूची में दे दिया गया है।

फ़ोटोचित्रों में पंडित नेहरू का पूरा जीवन-वृत्त देने का भी प्रयास किया गया है। अभी तक ऐसा कोई आयोजन दूसरा नहीं हुआ है। ग्रन्थ में दिये गये लगभग १०० चित्रों में, जिनमें कुछ पहली बार प्रकाशित हो रहे हैं, उनके जीवन की कहानी वर्णित हो गयी है। निस्सन्देह उसमें कहीं-कहीं त्रुटियाँ रह गयी हैं; क्योंकि बहुत-से फ़ोटो अब उपलभ्य नहीं हैं और हमने केवल मूल फ़ोटोग्राफ़ों का ही उपयोग किया है, पुराने छापों को फिर से सँवार कर नया बनाने का यत्न नहीं किया।

रेखांकन और मंडन विशेष रूप से ग्रन्थ के लिए बनवाये गये हैं, और भारत के सांस्कृतिक जीवन तथा उसकी अन्तःप्रेरणा से सम्बन्ध रखते हैं।

ग्रन्थ की त्रुटियों और अपनी मर्यादाओं से हम भली भाँति अवगत हैं। देश के सर्वोच्च पद पर आसीन व्यक्ति के कार्यों अथवा व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने में लेखकों का संकोच सहज ही समझा जा सकता है, यद्यपि भिन्न परिस्थिति में वैसा उद्योग पंडित नेहरू के अनेक प्रशंसकों और सहयोगियों को प्रीतिकर होता।

इस ग्रन्थ की बिक्री से जो कुछ लाभ होगा वह पंडित नेहरू द्वारा निर्दिष्ट किसी सार्वजनिक सेवा-कार्य में अर्पित किया जायेगा।

सम्पादक समिति

नवम्बर १४, १९४९

आभार-स्वीकृति

नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ को प्रस्तुत करने में सम्पादकों को निम्नलिखित सज्जनों और संस्थाओं का सहयोग मिला। उनका आभार समिति हार्दिक भाव से स्वीकार करती है—

पुस्तकों के लिए—अ० भा० कांग्रेस कमेटी, दिल्ली का।

पं० जवाहरलाल नेहरू के भाषणों के लिए—भारत सरकार के प्रचार सचिवालय के प्रकाशन विभाग का।

जवाहरलालजी के चित्रों, हस्तलेखों और उनसे सम्बन्ध रखने वाली अन्य सामग्री के लिए—म्युनिसिपल संग्रहालय, इलाहाबाद के अधिकारियों का, और विशेष तथा निजी रूप से पं० ब्रजमोहन व्यास का; श्री याकोब एप्स्टाइन, लंदन; श्री सुधीर खास्तगीर, देहरादून; श्री प्रेमनारायण त्रिपाठी, 'पाणिक', जबलपुर; श्री नारायणराव कुलकर्णी, बीजापुर; श्री नागेश्वर राव, बम्बई; श्री गणेशप्रसाद अर्गल, और श्री सांवल वर्मा, इलाहाबाद; श्री विजयकृष्ण, बनारस; डा० कामेश्वर राव, वाल्टेयर का; 'हिन्दुस्तान टाइम्स', नयी दिल्ली; 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया', बम्बई; प्रेस इन्फ़र्मेशन ब्यूरो, भारत सरकार; तथा 'गणेशशंकर हृदयतीर्थ', चिरगांव का।

प्राचीन चित्रों, मूर्तियों, तथा कला और पुरातत्त्व सम्बन्धी अन्य सामग्री के लिए—भारत कलाभवन, बनारस के अधिकारियों का तथा व्यक्तिगत रूप से राय श्री कृष्णदास का, जिनसे कला-सामग्री के कलन, चयन, और प्रेस के लिए संयोजन में अमूल्य सहायता और परामर्श मिला; कलाभवन, शान्तिनिकेतन के अधिकारियों और अध्यापकों का; भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग का तथा उसके प्रान्तीय अधिकारियों का; डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, अध्यक्ष, राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली का उनकी बहुमूल्य सहायता और परामर्श के लिए; डा० स्टेला क्रामरिश का बहुमूल्य परामर्श के लिए; श्री गोपीकृष्ण कानोडिया, श्री रामेन्द्रनाथ चक्रवर्ती, श्री रथीन मैत्र, श्री गोपाल घोष तथा श्री प्रदोष दासगुप्त, कलकत्ता; श्री नानालाल चमनलाल मेहता, शिमला; श्री अम्बालाल साराभाई, अहमदाबाद; महाराज बीकानेर; श्री कृपालसिंह शेखावत तथा श्री रामकिंकर, शान्तिनिकेतन; श्री कँवल कृष्ण, हेब्बर, श्री बाबू हेरूर, श्री श्यावक्ष चावडा तथा श्री जगन्नाथ अहिवासी, बम्बई का; प्रिंस ऑफ़ वेल्स म्यूज़ीयम, बम्बई, गवर्नमेंट म्यूज़ीयम, मद्रास तथा नेशनल म्यूज़ीयम ऑफ़ सीलोन के अधिकारियों का; श्री के० एम० गान्धी, ऑल इंडिया एसोसिएशन ऑफ़ फ़ाइन आर्ट्स, बम्बई का; श्री सतीशचन्द्र काला, इलाहाबाद का; श्री पुलिनविहारी सेन और विश्वभारती के प्रकाशन विभाग का।

हिन्दीतर भाषाओं से हिन्दी अनुवाद करने में सहायता के लिए—प्रयाग विश्वविद्यालय के सर्वश्री रामसिंह तोमर, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, व्रजेश्वर वर्मा, रघुवंशसहाय वर्मा, आर० एस० ओझा तथा जयकान्त मिश्र का; हिन्दुस्तानी एकेडेमी के श्री रामचन्द्र टंडन, श्री पारसनाथ तिवारी तथा श्री भोलानाथ तिवारी का; इलाहाबाद के सर्वश्री भगवानदास गुप्त, उत्तमनारायण भटेले, प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, विष्णुदत्त मिश्र, शंकरदयाल सक्सेना, सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी, मुरलीधर शर्मा का; कुमारी कृष्णाकुमारी अग्रवाल तथा श्रीमती अलसीलता दास का; श्री शीतलसहाय श्रीवास्तव, फ़तेहपुर; श्री मोहनलाल वाजपेयी, शान्तिनिकेतन का; तथा स्व० श्री गोपालकृष्ण, काशी का।

पुस्तक-सूची प्रस्तुत करने में सहायता के लिए—ब्रिटिश म्यूज़ीयम के अधिकारियों का; लायब्रेरी ऑफ़ कांग्रेस, वाशिंगटन, अमरीका का; कोलम्बिया विश्वविद्यालय के पुस्तकाध्यक्ष का; नेशनल लायब्रेरी, कलकत्ता तथा सेंट्रल लायब्रेरी, बड़ोदा का; कलकत्ता और काशी विश्वविद्यालयों के पुस्तकाध्यक्षों का; तथा 'इंडियन लायब्रेरियन', शिमला के सम्पादक श्री सन्तराम भाटिया का।

प्रेस के लिए पांडुलिपियां प्रस्तुत करने तथा प्रूफ़-संशोधन के कार्य में—सर्वश्री हरीशचन्द्र गुप्त, त० व्यं० रामकृष्ण

सुब्बाराव, सत्येन्द्र 'शरत्', इलाहाबाद; वी० वी० सूर्यराव, के० ताताचारी और डी० एन० थपलियाल, नयी दिल्ली; तथा विशेष रूप से श्री लल्लीप्रसाद पांडेय का, जिनके सहयोग के बिना संशोधन का काम समय पर हो ही नहीं सकता था।

सर्व श्री दिलीपकुमार गुप्त, शिवनाथ मिश्र, मोहन सिंह सेंगर और पुरुषोत्तम हलवासिया, कलकत्ता; शिशिरकुमार घोष तथा कृष्णकिंकर, शान्तिनिकेतन; दशरथ नारायण, नाथनगर के प्रति भी समिति आभारी है।

इसके अतिरिक्त समय समय पर जिन व्यक्तियों से विविध प्रकार का सहयोग और परामर्श मिलता रहा है, और जिन सब का नामोल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है, उनके प्रति भी समिति कृतज्ञता ज्ञापन करती है।

अनुक्रमणी

षष्ठ्यब्दि समादर

संस्मरण

जीवनी

विशेष लेख

भारतीय साहित्य और कला शिल्प

परिशिष्ट

चित्र-सूची

जीवनी-सम्बन्धी चित्र

भारतीय कला शिल्प

लेखों से सम्बद्ध चित्र

सन्देश

हमारी राष्ट्रगाथा में गान्धीजी के साथ जवाहरलाल नेहरू का वही सम्बन्ध रहा जो राम के साथ लक्ष्मण का था। अपने देशवासियों के सामने इससे अधिक कुछ कहना अनावश्यक है। जहाँ तक दूसरे देशों का प्रश्न है, उनके राजनीतिकों की जवाहरलाल से इतनी आत्मीयता है कि भारत को ईर्ष्या होने लगे—क्योंकि जवाहरलाल नेहरू के प्रति भारत का लगाव प्रेमी का-सा है। हमारे यशस्वी प्रधान मन्त्री षष्टि-पूर्ति कर रहे हैं। हमें सहसा विश्वास नहीं होता। हमारे लिए वह चिर-युवा हैं।

च० राजगोपालाचार्य

१० अक्टूबर १९४९

आशिष:

जवाहरलाल और मैं साथ-साथ कांग्रेस के सदस्य, आज़ादी के सिपाही, कांग्रेस की कार्यकारिणी और अन्य समितियों के सहकर्मी, महात्माजी के —जो हमारे दुर्भाग्य से हमें बड़ी जटिल समस्याओं के साथ जूझने को छोड़ गये हैं—अनुयायी, और इस विशाल देश के शासन-प्रबन्ध के गुरुतर भार के वाहक रहे हैं। इतने विभिन्न प्रकार के कर्मक्षेत्रों में साथ रह कर और एक दूसरे को जान कर हम में परस्पर स्नेह होना स्वाभाविक था। काल की गति के साथ वह स्नेह बढ़ता गया है और आज लोग कल्पना भी नहीं कर सकते कि जब हम अलग होते हैं और अपनी समस्याओं और कठिनाइयों का हल निकालने के लिए उन पर मिल कर विचार नहीं कर सकते, तो यह दूरी हमें कितनी खलती है। परिचय की इस घनिष्ठता, आत्मीयता और भ्रातृतुल्य स्नेह के कारण मेरे लिए यह कठिन हो जाता है कि सर्व-साधारण के लिए उसकी समीक्षा उपस्थित कर सकूँ। पर देश के आदर्श, जनता के नेता, राष्ट्र के प्रधान मन्त्री और सबके लाड़ले जवाहरलाल को, जिनके महान् कृतित्व का भव्य इतिहास सब के सामने खुली पोथी-सा है, मेरे अनुमोदन की कोई आवश्यकता नहीं है।

दृढ़ और निष्कपट योद्धा की भाँति उन्होंने विदेशी शासन से अनवरत युद्ध किया। युक्तप्रान्त के किसान-आन्दोलन के संगठन-कर्त्ता के रूप में पहली 'दीक्षा' पाकर वह अहिंसात्मक युद्ध की कला और विज्ञान में पूरे निष्णात हो गये। उनकी भावनाओं की तीव्रता और अन्याय या उत्पीड़न के प्रति उनके विरोध ने शीघ्र ही उन्हें ग़रीबी पर जहाद बोलने को बाध्य कर दिया। दीन के प्रति सहज सहानुभूति के साथ उन्होंने निर्धन किसान की अवस्था सुधारने के आन्दोलन की आग में अपने को झोंक दिया। क्रमशः उनका कार्यक्षेत्र विस्तीर्ण होता गया, और शीघ्र ही वह उस विशाल संगठन के मौन संगठनकर्त्ता हो गये जिसे अपने स्वाधीनता-युद्ध का साधन बनाने के लिए हम सब समर्पित थे। जवाहरलाल के ज्वलन्त आदर्शवाद, जीवन में कला और सौन्दर्य के प्रति प्रेम, दूसरों को प्रेरणा और स्फूर्ति देने की अद्भुत आकर्षण-शक्ति और संसार के प्रमुख व्यक्तियों की सभा में भी विशिष्ट रूप से चमकनेवाले व्यक्तित्व ने, एक राजनीतिक नेता के रूप में, उन्हें क्रमशः उच्च से उच्चतर शिखरों पर पहुँचा दिया है। पत्नी की बीमारी के कारण की गयी विदेश-यात्रा ने भारतीय राष्ट्रवाद-सम्बन्धी उनकी भावनाओं को एक आकाशीय अन्तर्राष्ट्रीय तल पर पहुँचा दिया। यह उनके जीवन और चरित्र के उस अन्तर्राष्ट्रीय झुकाव का आरम्भ था जो अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्व-समस्याओं के प्रति उनके रवैये में स्पष्ट लक्षित होता है। उस समय से जवाहरलाल ने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा; भारत में भी और बाहर भी उनका महत्त्व बढ़ता ही गया है। उनकी वैचारिक निष्ठा, उदार प्रवृत्ति, पैनी दृष्टि और भावनाओं की सचाई के प्रति देश और विदेशों की लाख-लाख जनता ने श्रद्धांजलि अर्पित की है।

अतएव यह उचित ही था कि स्वातन्त्र्य की उषा से पहले के गहन अन्धकार में वह हमारी मार्ग-दर्शक ज्योति बनें, और स्वाधीनता मिलते ही जब भारत के आगे संकट पर संकट आ रहा हो तब हमारे विश्वास की धुरी हों और हमारी जनता का नेतृत्व करें। हमारे नये जीवन के पिछले दो कठिन वर्षों में उन्होंने देश के लिए जो अथक परिश्रम किया है, उसे मुझसे अधिक अच्छी तरह कोई नहीं जानता। मैंने इस अवधि में उन्हें अपने उच्च पद की चिन्ताओं और अपने गुरुतर उत्तरदायित्व के भार के कारण

बड़ी तेज़ी के साथ बूढ़े होते देखा है। शरणार्थियों की सेवा में उन्होंने कोई कसर नहीं उठा रखी, और उनमें से कोई कदाचित् ही उनके पास से निराश लौटा हो। कामनवेल्थ की मन्त्रणाओं में उन्होंने उल्लेखनीय भाग लिया है, और संसार के मंच पर भी उनका कृतित्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। किन्तु इस सब के बावजूद उनके चेहरे पर जवानी की पुरानी रौनक़ क़ायम है; और वह सन्तुलन, मर्यादा-ज्ञान, और धैर्य, मिलनसारी, जो आन्तरिक संयम और बौद्धिक अनुशासन का परिचय देते हैं, अब भी ज्यों के त्यों हैं। निस्सन्देह उनका रोष कभी-कभी फूट पड़ता है; किन्तु उनका अधैर्य, क्योंकि न्याय और कार्य-तत्परता के लिए होता है और अन्याय या धींगा-धींगी को सहन नहीं करता, इसलिए ये विस्फोट प्रेरणा देनेवाले ही होते हैं और मामलों को तेज़ी तथा परिश्रम के साथ सुलझाने में मदद देते हैं। ये मानों सुरक्षित शक्ति हैं, जिनकी कुमक से आलस्य, दीर्घसूत्रता और लगन या तत्परता की कमी पर विजय प्राप्त हो जाती है।

आयु में बड़े होने के नाते मुझे कई बार उन्हें उन समस्याओं पर परामर्श देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है जो शासन-प्रबन्ध या संगठन के क्षेत्र में हम दोनों के सामने आती रही हैं। मैंने सदैव उन्हें सलाह लेने को तत्पर और मानने को राज़ी पाया है। कुछ स्वार्थ-प्रेरित लोगों ने हमारे विषय में भ्रान्तियाँ फैलाने का यत्न किया है और कुछ भोले व्यक्ति उनपर विश्वास भी कर लेते हैं, किन्तु वास्तव में हम लोग आजीवन सहकारियों और बन्धुओं की भाँति साथ काम करते रहे हैं। अवसर की माँग के अनुसार हमने परस्पर एक दूसरे के दृष्टिकोण के अनुसार अपने को बदला है, और एक दूसरे के मतामत का सर्वदा सम्मान किया है जैसा कि गहरा विश्वास होने पर ही किया जा सकता है। उनके मनोभाव युवकोचित उत्साह से लेकर प्रौढ़ गम्भीरता तक बराबर बदलते रहते हैं, और उनमें वह मानसिक लचीलापन है जो दूसरे को झेल भी लेता है और निरुत्तर भी कर देता है। क्रीड़ारत बच्चों में और विचार-संलग्न बूढ़ों में जवाहर-लाल समान भाव से भागी हो जाते हैं। यह लचीलापन और बहुमुखता ही उनके अजस्र यौवन का, उनकी अद्भुत स्फूर्ति और ताज़गी का रहस्य है।

उनके महान् और उज्ज्वल व्यक्तित्व के साथ इन थोड़े-से शब्दों में न्याय नहीं किया जा सकता। उनके चरित्र और कृतित्व का बहुमुखी प्रसार अंकन से परे है। उनके विचारों में कभी-कभी वह गहराई होती है जिसका तल न मिले; किन्तु उनके नीचे सर्वदा एक निर्मल पारदर्शी खरापन, और यौवन की तेज-स्विता रहती है, और इन गुणों के कारण सर्वसामान्य—जाति धर्म देश की सीमाएँ पार कर—उनसे स्नेह करते हैं।

स्वाधीन भारत की इस अमूल्य निधि का हम आज, उनकी हीरक जयन्ती के अवसर पर, अभि-नन्दन करते हैं। देश की सेवा में, और आदर्शों की साधना में वह निरन्तर नयी विजय प्राप्त करते रहें।

१४ अक्टूबर, १९४९ वल्लभभाई पटेल

अभिनन्दन

पिछले तीस वर्षों से कुछ अधिक से भारत का इतिहास जवाहरलाल नेहरू के जीवन और कार्य-कलाप से अनिवार्यतः सम्बद्ध रहा है। देश के स्वतन्त्रता-युद्ध में वह अग्रगण्य रहे हैं। न जाने कितनी बार वह सज़ा पा चुके हैं; जेल में वह कितना समय रहे, यह बताना मेरे लिए कठिन है—पूछे जाने पर सहसा शायद वह स्वयं भी न बता सकें। अनेक वर्षों से कांग्रेस, उसकी अखिल भारतीय समिति और कार्यकारिणी समिति द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव उन्हीं के प्रस्तुत किये हुए रहे हैं, और कांग्रेस की मुख्य-मुख्य नीति-घोषणाओं के मसविदे भी उन्हीं ने तैयार किये हैं। कांग्रेस के तीन अधिवेशनों के वह सभापति रह चुके हैं। सभापति-पद से—तथा प्रारम्भिक दिनों में मन्त्री की हैसियत से—अपने अथक कार्य, अपूर्व संगठन-शक्ति, अनु-शासन-पालन और विस्तृत दौरों से वह न केवल जनता की सोयी आत्मा को जगाने में सफल हुए, बल्कि साथ ही कांग्रेस जैसी महान् संस्था के निर्माण में भी योगदायक हुए। अनेक महत्त्वपूर्ण अवसरों पर उन्होंने कांग्रेस की नीति को न केवल प्रभावित ही किया है, अपितु उसको निर्धारित भी किया है। इस सम्बन्ध में केवल एक उदाहरण यहाँ दिया जा सकता है। कांग्रेस ने 'स्वराज्य-प्राप्ति' अपना ध्येय निश्चित किया था। 'स्वराज्य'-शब्द बहुत प्रशस्त अर्थ रखता है, जिसे अंग्रेज़ी के किसी एक शब्द द्वारा पूर्णरूपेण प्रकट नहीं किया जा सकता। किन्तु बहुतों ने यह अनुभव किया कि यद्यपि इसका अर्थ ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक् और सम्पूर्ण स्वतन्त्रता है, तथापि उससे औपनिवेशिक पद का आशय भी लिया जा सकता है। इसी आधार पर वे लोग कांग्रेस-विधान की प्रथम धारा में कोई ऐसा शब्द रखना चाहते थे जिसमें औपनिवेशिक स्वराज्य का अर्थ भी आ जाय। सन् १९२१ के कांग्रेस-अधिवेशन में इस आशय का प्रस्ताव रखा गया और तब से यह एक वार्षिक प्रथा-सी हो गयी। परन्तु दिसम्बर १९२७ में कांग्रेस के मद्रास-अधिवेशन में जब जवाहरलाल ने इसे अपने हाथ में लिया, तब प्रस्ताव को बल मिला और वह व्यावहारिक समझा गया। दिसम्बर १९२९ में कांग्रेस के लाहौर-अधिवेशन में, उन्हीं की अध्यक्षता में, विधान की पहली धारा में परिवर्तन भी किया गया। इसका यह आशय नहीं कि इस संशोधन में कांग्रेस के अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियों का कुछ हाथ न था; परन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि कांग्रेस-विधान के इस परिवर्द्धन का अधिकतम श्रेय जवाहरलाल को ही है।

यह किसी से छिपा नहीं है कि उन्होंने महात्मा गान्धी के उपदेशों को सहज बुद्धि से नहीं अपनाया। उनका जीवन और उनकी शिक्षा किसी ऐसे आकस्मिक परिवर्तन के अनुकूल नहीं थी। गान्धीजी के सिद्धान्तों को उन्होंने जितना भी स्वीकार किया, गहरे मानसिक संघर्ष और मन्थन के बाद। फिर भी, मैं सोचता हूँ कि उनके सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि उन सिद्धान्तों को वह मनसा भी पूर्णतया स्वीकार न कर सके। विभिन्न विचारों और सिद्धान्तों में सत्य को पहचानने और परखने का यह गुण ही उनको महात्माजी के निरे श्रद्धालु भक्तों से भी और असहिष्णु या नासमझ आलोचकों से भी पृथक् करता है। अपनी सचाई और दूसरों का दृष्टिकोण समझने की क्षमता के कारण हमारे इतिहास के अनेक महत्त्वपूर्ण अवसरों पर वह अपनी नीति परिवर्तन कर के एक सम्मिलित कार्यक्रम में भाग ले सके हैं। यद्यपि किसी प्रस्ताव का विरोध वह अत्यन्त दृढ़तापूर्वक करते हैं, और कभी-कभी बिगड़ भी उठते हैं, तथापि किसी प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने के बाद वह पूरी लगन से उसे कार्यान्वित करते हैं। अपने मताग्रह के बावजूद उन्होंने कांग्रेस के भीतर किसी दल अथवा वर्ग के साथ अपने को सम्बद्ध नहीं किया है।

सितम्बर १९४६ में पदग्रहण करने के बाद, और विशेष रूप से अगस्त १९४७ से, शासन-सूत्र उनके हाथों में रहा है, और सरकार ने जो कुछ किया है, या नहीं किया है, उसके लिए वह किसी भी स्वाधीन राष्ट्र के प्रधान मन्त्री की भाँति ही उत्तरदायी हैं। देश को बड़े-बड़े और महत्त्वपूर्ण निर्णय करने पड़े और उन निर्णयों के दूरव्यापी परिणाम भोगने पड़े हैं। साधारण मनुष्य इतने बड़े दायित्व के भार के नीचे टूट जाता, लेकिन वह चट्टान की तरह दृढ़ खड़े रहे हैं, और अपने कुछ अन्तरंग सहयोगियों के बढ़ते हुए विरोध के बावजूद भी उस पथ से नहीं हटे जिसे उन्होंने ठीक समझा। अभी हम संकट से मुक्त नहीं हुए हैं। स्वाधीनता और विभाजन ने जो समस्याएँ उत्पन्न कीं उनमें से कई अभी हल नहीं हुई हैं। स्वाधीनता हमने प्राप्त की है, लेकिन उसे दृढ़ बनाने के लिए, बाहरी आक्रमण और भीतरी अव्यवस्था का सामना करने के लिए, अनवरत जागरूकता और सावधानी की आवश्यकता है। उनके महान् साथी, सहकर्मी, और—कहा जा सकता है—पूरक, सरदार पटेल ने भारत के एकीकरण में हमें सफलता दिलायी है। लेकिन ग़रीबी, बीमारी और निरक्षरता पर विजय पाकर ऐसे समाज की स्थापना करना, जो हमारे विधान के शब्दों में न्याय, स्वाधीनता, समानता और मैत्री का रक्षक होगा, एक गुरुतर कार्य है जो अभी बाक़ी है। हमने स्वाधीनता की नौका असीम महासागर पर अभी ही उतारी है; भारत को अपने महान् अतीत और महत्तर भविष्य के योग्य बनाने का कार्य अभी आरम्भ ही हुआ है। भविष्य में देखने के लिए गहरी दृष्टि चाहिए और उसकी साधना में वर्तमान को ढालने के लिए बड़ी दृढ़ता और योग्यता। जवाहरलाल में ये सभी हैं। उन्हें न केवल देशवासियों ने बल्कि दूसरों ने भी महान् जन-नेता और राज-नीतिज्ञ स्वीकार किया है। हमारे पूरे सहयोग और समर्थन की उन्हें आवश्यकता है। देश को और दुनिया को अभी अनेक वर्षों तक उनकी सेवाओं की ज़रूरत रहेगी। वह चिरायु हों, हमारा नेतृत्व करते हुए हमें भारत के उस आदर्श की ओर ले जायें जिसका स्वप्न वे देखते हैं, तथा जिसका स्वप्न राष्ट्रपिता ने भी देखा था; उनकी इस साठवीं वर्षगाँठ पर असंख्य नर-नारियों की यह प्रार्थना है।

१४ नवम्बर, १९४९ —राजेन्द्रप्रसाद
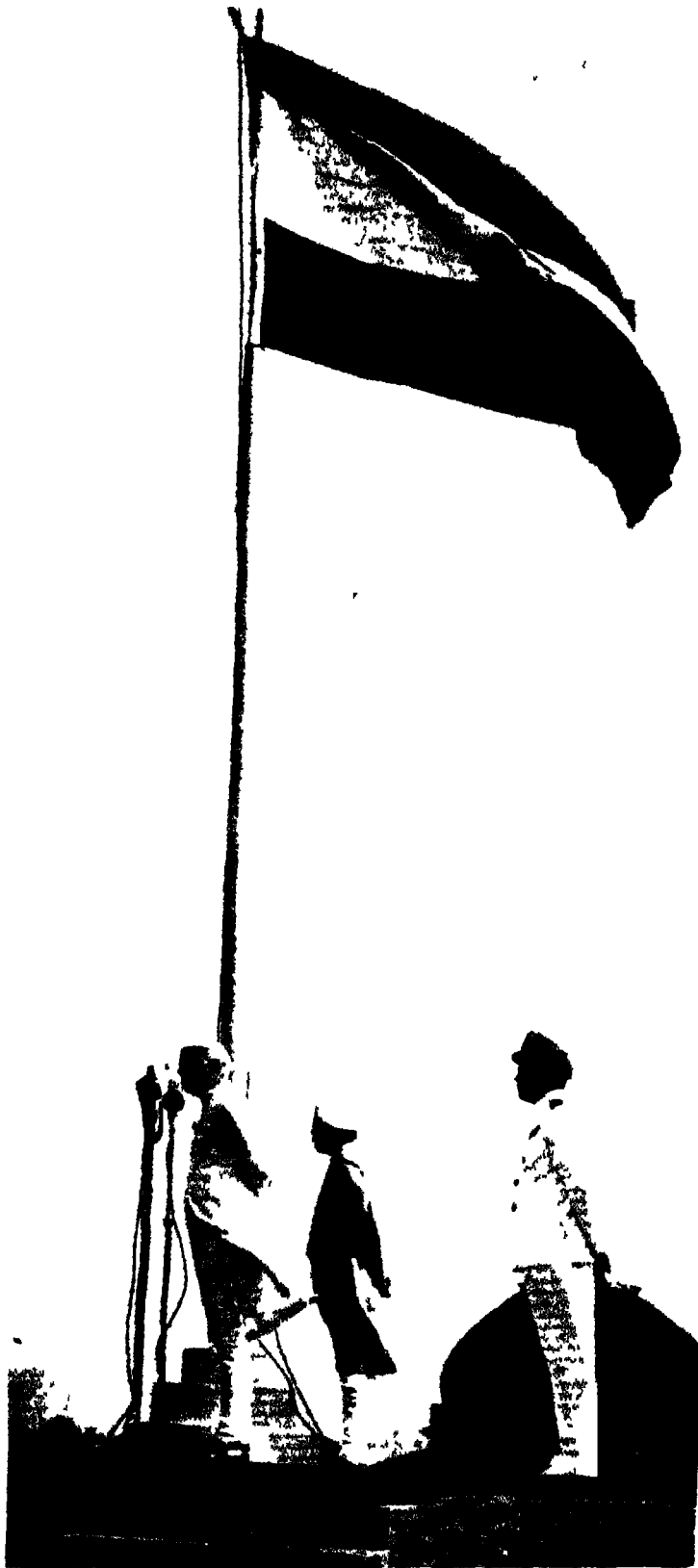
राष्ट्रपताका फहरे

स्वतन्त्रता की दूसरी वर्ष-गांठ पर १५ अगस्त, १९४९ को पंडित जवाहरलाल नेहरू ने लाल किले पर ध्वजा फहराया थी और देश के नाम सन्देश दिया था।

पंजाब फोटो सर्विस

राष्ट्रपिता के साथ
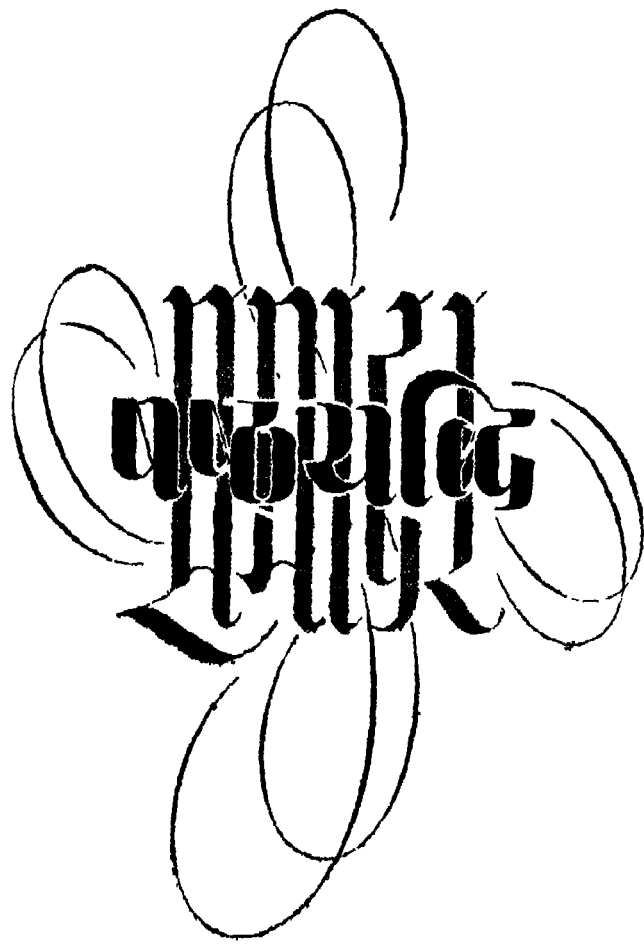
श्रीराम

जवाहरलाल से

"देती रही रत्न धन-जन के तू भूमि को त्रिकाल से,
देगी आज प्रसाद रूप क्या प्रभु-पूजा के थाल से?"
पुण्यभूमि यह सुन जगती से बोली वचन रसाल से—
"मेरा-सा तेरा आँचल भी भरे जवाहरलाल से!"

मैथिलीशरण

'आज़ादी का पर्याय'

एमन डे वेलेरा

यहां, आयर्लैंड में, हम लोगों के लिए गान्धी के बाद नेहरू का नाम ही हिन्दुस्तान की आज़ादी का पर्याय रहा है—स्वयं उस आदर्श का, और उसकी प्राप्ति के आन्दोलन का भी।

हमें खुशी है कि अपने आरम्भिक, रचनात्मक वर्षों में आज़ाद हिन्दुस्तान की बागडोर नेहरू के हाथों में है। हम प्रार्थना करते हैं कि देश के स्वतन्त्रता-संग्राम के दौरान में उन्होंने जितने भव्य स्वप्न देखे हैं वे सभी पूरे हों—जो कुछ भी भारतीय जनता की भलाई के लिए है, वह सब सम्पन्न हो; जो कुछ भी राष्ट्रों के बीच भारत की प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाये वह सब सम्पन्न हो; मानवता के कल्याण और सुख के लिए भारत की देन सदा बढ़ती रहे।

हम कामना करते हैं कि अपने राष्ट्र और अपनी जनता की हित-साधना का सफल प्रयास करने के लिए वह चिरजीवी हों।

मार्च १९४९

'सहज आभिजात्य'

आन्द्र जीद[1]

लम्बी बीमारी के उपरान्त दीर्घकालिक दुर्बलता की अवधि में विश्राम करने को बाध्य, और किसी प्रकार का श्रम करने के अयोग्य होने के कारण मुझे खेद है कि मैं नेहरू के महान् व्यक्तित्व के सम्मुख अपनी श्रद्धांजलि भेंट करने में असमर्थ हूँ। वह हमें सिखाता है कि मानव-व्यक्ति में कितना सौन्दर्य वास कर सकता है, और कैसे उसका सहज आभिजात्य महान् साहस के साथ अपने महान् उत्तरदायित्व का निर्वाह करता है।

मई १९४९

[1]आन्द्र जीद का पत्र नीस (इटली) के चिकित्सालय 'क्लिनीक दु बेल्वेडेयर' से १३ मई १९४९ को लिखा गया। —सं०
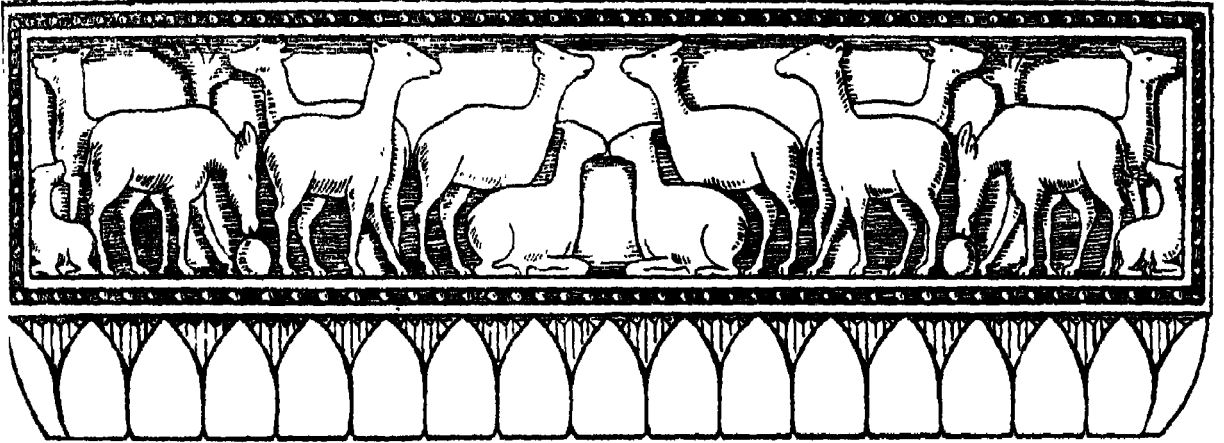
कर्मवीर

अपटन सिंक्लेयर

मैंने नेहरू की आत्मकथा पढ़ी है, और उनकी जीवन-प्रगति को सहानुभूति और प्रशंसा की निगाह से देखा है। चिन्तकों में बिरले ही अपने आदर्शों को, अपने जीवन-काल में, क्रियात्मक रूप देने का अवसर पाते हैं।

नेहरू को, जिनके विचारों से मैं पूर्णतया सहमत हूँ, अपनी स्नेह-सहानुभूति और शुभ कामनाएँ भेजता हूँ।

फ़रवरी १९४९
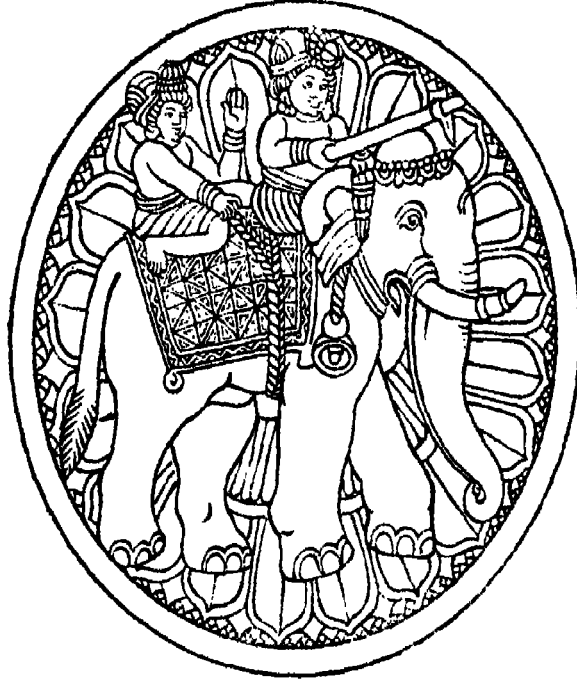
जवाहरलाल के प्रति

हरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय

राष्ट्र का पोत धीर बढ़ चला चीरता—
पाकर हमारे युगद्रष्टा को कर्णधार—
काल की तमोमयी तरंगों को,
मुखर अगाध जल लहरें उलाँघता,
झेलता थपेड़े मदमत्त पारावार के।
उसने सँभाली पतवार, सब डावाँडोल
दिशा-कोण स्थिर हुए : क्योंकि वह एकनिष्ठ
स्वाभाविक नेता है, नेताओं में है अग्रणी।
धैर्य से, सहिष्णुता से, जागरूक, सावधान,
गढ़ता है राष्ट्र की नियति वह। जीवन ही उसका
मानों एक अविश्रान्त प्रार्थना है : भारत-स्वतन्त्रता
पूर्णतः स्वतन्त्र हो ! दक्ष हाथों कर्ण धारे लिये जा रहा है वह
आँधियाँ, तूफ़ान, वज्र, विद्युत को झेल, राष्ट्रपोत को
वहाँ, पार, सुरक्षित शान्ति के निकेत में।

२

वह है दीप-स्तम्भ : ज्योतिमय आँखें उसकी
घिरे आक्षितिज गहन तिमिर को
भेद रही हैं। यदपि चतुर्दिक गूँज रहा तूफ़ान
प्रलय का, काँप रहे आकाश-धरा।
चिर-तरुण भृकुटि पर उसकी
धीर, अगाध, ज्ञान-सम्भव आलोक खेलता
खंडित करता अन्धकार की महामृषा को।
जयति दिव्य, जय हे आलोक-निकेतन !
आज राष्ट्र की अगणित आँखें
लगी हुई हैं तुम पर, उर में यह विश्वास भरा है—
तुम्हीं, किरण पर किरण दिखाकर, सह कर
पवन, लहर, घन तमसा की दुर्दम ललकारें,
डगमग जीवन-नौका का उद्धार करोगे,
पहुँचा दोगे पार किनारे, शान्त सुरक्षित।

तूफ़ानी युग का महापुरुष

गिल्बर्ट मरे

नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ में कुछ लिखने का अवसर मुझे दिया गया है। इसे मैं अपना सम्मान समझता हूँ, क्योंकि पंडित नेहरू की गिनती इस तूफ़ानी युग के ऐतिहासिक महापुरुषों में होगी। मेरे परम श्रद्धेय बन्धु महात्मा गान्धी के उत्तराधिकारी के रूप में पंडित नेहरू ने अदम्य साहस, उच्च नैतिकता और बौद्धिक ईमानदारी तथा पूर्व और पश्चिम दोनों की संस्कृतियों पर आश्चर्यजनक समान अधिकार के साथ अपने जीवन के महान् लक्ष्य और अपने देश के आदर्श के लिए सफल प्रयास किया है। स्वाधीनता के नाम पर भारत को और कुछ माँगना नहीं है। वह संघर्ष समाप्त हो चुका है। अब भी हिन्दुस्तान के सामने कम कठिन समस्याएँ नहीं हैं, लेकिन वह अब दूसरी क़िस्म की हैं। अब वह एक महान् राष्ट्र है, और उसके ऊपर वही ज़िम्मेवारियाँ हैं जो एक महान राष्ट्र के कन्धों पर होती हैं, जिसे केवल अपनी स्वाधीनता या अपने राष्ट्रीय हितों को ही नहीं देखना है वरन् संसार की गतिविधि के सही निर्देशन में भी भाग लेना है।

मुझे महात्मा गान्धी के साथ हुई कई साल पहले की एक बातचीत याद आती है। वे राष्ट्रीयता और स्वाधीनता के सिद्धान्त पर ज़ोर दे रहे थे, जब कि मैं उस समय राष्ट्र-संघ (लीग ऑफ़ नेशन्स) के आन्दोलन में उलझे रहने के कारण, राष्ट्रवादिता की भयानक सम्भावनाओं पर उनका ध्यान खींचने का प्रयास कर रहा था और परस्पर निर्भरता तथा सहयोग पर ज़ोर दे रहा था। वास्तव में कोई मतभेद नहीं था; हम दोनों ही यह मानते थे कि स्वाधीनता प्रथम लक्ष्य है और प्राप्ति के बाद उसे सहयोग और भ्रातृत्व के उच्चतर आदर्श में लय कर देना चाहिए। उस समय भी भारत अपने विचारों की महत्वपूर्ण देन से राष्ट्र-संघ के कार्यों में उल्लेखनीय योग दे रहा था, विशेषतया बौद्धिक सहयोग के क्षेत्र में जिससे मैं विशेषतया सम्बद्ध था।

स्वाधीनता के दावे से लेकर एक सहयोगपूर्ण ज़िम्मेवारी की भावना के जागरण तक की मंज़िल कई राष्ट्रों ने देखी है। अपने स्वाधीनता-संग्राम के बाद कई पीढ़ियों तक अमरीका अपने पूर्ण तटस्थता और आत्म-निर्भरता के आदर्श के पीछे हर तरह की वैदेशिक उलझनों से कतराता रहा। पर अन्त में उसने यह अनुभव किया कि बिल्कुल अलग रहने का समय अब गया और अब उसका यही कर्तव्य है कि वह आगे बढ़ कर उन ज़िम्मेवारियों को सँभाले जो एक महान् राष्ट्र की होती हैं। मेरे बाल्यकाल में मेरा अपना देश आस्ट्रेलिया सदा इस ताक में रहता था कि मौक़ा पाकर ब्रितानी सम्बन्ध से 'फ़ारख़ती' पा ले। लेकिन अब वह ब्रितानी राष्ट्र-मंडल (कामनवेल्थ) में भी और संयुक्तराष्ट्रों में भी अपना हिस्सा अदा करने के लिए उत्सुक है। हिन्दुस्तान के सामने भी अभी ही बहुत-सी इस क़िस्म की समस्याएँ आ गयी हैं जो 'साम्राज्य की समस्याएँ' कही जाती थीं—संरक्षण और उत्तरदायित्व की समस्याएँ। पाकिस्तान, कश्मीर और हैदराबाद की समस्याएँ तो आ चुकीं, और ये भी आसान नहीं थीं। चीन के लम्बे गृह-युद्ध और दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापानी कार्यवाहियों की प्रतिक्रिया से भी हिन्दुस्तान के लिए नये कर्तव्य और नयी समस्याएँ खड़ी हो सकती हैं। और साथ ही साथ जाति, भाषा, बिरादरी और मज़हबों की इतनी बहुतायत से उत्पन्न होने वाले संकीर्ण स्वार्थों को एक व्यापक देशभक्ति की भावना में गूँथना भी एक जटिल घरेलू समस्या है। यह एक बहुत बड़ी बात है कि इस संकट-काल में हिन्दुस्तान की बागडोर एक ऐसे व्यक्ति के हाथ में है जो असहयोग और विद्रोह के मनोविज्ञान को भी ख़ूब समझता है और जिसमें एक कुशल और उत्तरदायित्वपूर्ण राजनीतिज्ञ की बौद्धिक शक्ति और अनुभव भी है।

भारत को विश्व में योग्य पद पर ले जाने और न्याय तथा शान्ति का आधार-स्तम्भ बनाने के लिए पंडित नेहरू चिरजीवी हों।

फ़रवरी १९४९

विश्व में भारत का स्थान

लार्ड पेथिक लारेंस

नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ के माध्यम से पंडित जवाहरलाल नेहरू का समादर करने का अवसर मेरे लिए बहुत आनन्ददायक है। विगत वर्षों से, जब से मुझे पंडित जी को अपने मित्रों में गिनने का गौरव प्राप्त हुआ है, उनके गुणों में मेरी श्रद्धा निरन्तर बढ़ती गयी है। किन्तु जवाहरलाल जी इस बात को नापसन्द करते हैं कि जब देश की सेवा में इतने लोगों ने अपना जीवन अर्पित किया है तब अकेले उन्हीं को प्रशंसा के लिए चुना जाय। इसलिए व्यक्तिगत रूप से उनके प्रति मैं केवल इतना ही कहूँगा—और यह बात निर्विवाद है—कि उनके जैसे चरित्रवान, अनुभवी और उदार-चेता व्यक्ति को पहले प्रधान मन्त्री के रूप में पाना भारत का सौभाग्य है।

भारत ने अपनी बागडोर ऐसे समय में सँभाली है जब संसार भर में सभ्यता का पुनर्जन्म हो रहा है। इतिहास के आरम्भ-काल से चली रीति-परम्पराएँ और विचार-परिपाटियाँ आज तजी जा रही हैं। पश्चिमी यूरोप के वे राष्ट्र, जिनमें यह परिपाटी मूर्त्तिमान थी, स्वयं आज अपने ऊँचे आसन से गिर गये हैं। नर-नारियों के मन में नये विचार अंकुरित हो रहे हैं और कहीं-कहीं फल भी दे रहे हैं। और भी कई विचार अभी अवचेतन के क्षेत्र में हैं और अंकुरित होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। भारत को न केवल मानव-जीवन के ढाँचे के इस आमूल परिवर्तन के साथ-साथ अपने को ढालना है बल्कि भविष्य की सभ्यता की अवधारणा और निर्माण के काम में सक्रिय रूप से हाथ भी बँटाना है। यह सहयोग कितना महत्वपूर्ण होगा, इसको समझने के लिए सामान्य के तल से उतर कर विशेष की बात करनी होगी।

सबसे पहले शुद्ध भौतिक तल पर, सामूहिक उत्पादन, रेडियो, बेतार-चित्र, उडयन, राडार यन्त्र और अणु-विस्फोट की नयी शक्तियों से संसार का रूपान्तर हो रहा है। इन आविष्कारों में से प्रत्येक यह क्षमता रखता है कि नर-नारियों को निरे पाशविक जीवन की दौड़-धूप से मुक्त करके उन्हें पूरे शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास का मौका दे। किन्तु दूसरी ओर इन सब का उपयोग ऐसे भी हो सकता है कि मानव जाति को गुलामी और अधःपतन के और भी कड़े बन्धनों में बाँध दे। इन दोनों में से कौन-सा होगा? इसके निर्णय में भारत की आवाज़ बहुत महत्त्व रखती है।

इसके बाद प्राणिशास्त्र के नये आविष्कार सामने आते हैं। इनमें मानवों, पशुओं और वनस्पतियों के रोगों की चिकित्सा के नये साधन भी हैं। ऐसा भी सम्भव है कि खाद्य वस्तु के उत्पादन में कई क्रान्तिकारी परिवर्तन भी निकट भविष्य में ही आवें। भारत ने पिछले दिनों पौष्टिक खाद्यों की कमी और परिहार्य बीमारियों से बहुत कष्ट भोगा है। अब उसके अपने वैज्ञानिकों पर यह ज़िम्मेदारी आ गयी है कि इन सबों का इलाज खोज निकालें, और उसके राजनीतिकों पर उनके उपयोग का भार है।

जिस सभ्यता का अब ह्रास हो रहा है वह असमानता पर आश्रित थी। अच्छे-अच्छे सन्त और धर्मात्मा, समाज की ऐसी गठन में कोई दोष नही देखते थे जिसमें कि कुछ लोग ऐश्वर्य भोगते थे और दूसरे निरन्तर परिश्रम करके भी दारिद्र्य और क्लेश का जीवन बिताते थे। किन्तु गान्धी जी उन लोगों में से थे जिन्होंने इस व्यवस्था को मानवता का अपमान माना और जो वचन, कर्म और आचरण से इसका अनवरत विरोध करते रहे। आरम्भ में तो विशुद्ध साम्यवाद का सिद्धान्त समस्या का हल जान पड़ता था। किन्तु व्यवहार में वह सिद्धान्त सत्तावाद और डिक्टेटरशिप की राजनीति के साथ उलझ गया। नयी सभ्यता को मानव की समानता की नींव पर आधारित होना होगा। अपने महात्मा बापू की स्मृति को, और अपने प्रधान मन्त्री के उदार आदर्शवाद को सामने रखते हुए भारत अवश्य उन राष्ट्रों में प्रमुख स्थान पाना चाहेगा जिनमें नयी सभ्यता की यह चेतना काम कर रही है।

गृह-शासन में अपने कृतित्व से भारत ने संसार को चकित कर दिया है। हम में से जिन लोगों को भारत के राजनीतिकों पर चरम कोटि की श्रद्धा थी, उन्होंने भी यह आशा करने का साहस नहीं किया था कि भारत इतनी जल्दी और ऐसी व्यापक सर्व-सम्मति से अपने समूचे प्रदेश को पुनःसंगठित कर लेगा। इस उल्लेखनीय कार्य को सम्पन्न करने में जिन-जिन का सहयोग रहा है, सभी प्रशंसा के पात्र हैं। भारतीय राष्ट्र के भावी स्थायित्व के लिए यह शुभ लक्षण है और दूसरे राष्ट्रों के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण।

और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में? यहाँ भी मेरा विश्वास है कि भारत को एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काम सम्पन्न करना है। संसार के नक़्शे पर भारत एक धुरी के स्थान पर बैठा है। पश्चिम में यूरोप और अतलान्त महासागर, पूर्व में चीन और प्रशान्त महासागर तथा दोनों अमरीका, उत्तर में सोवियत संघ के एशियाई राज, दक्षिण-पश्चिम में अफ़्रीका की विभिन्न जातियाँ और दक्षिण-पूर्व में आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड की नयी सभ्यता : ऐसे स्थान में बैठकर भारत अकेला, अलग और तटस्थ कदापि नहीं रह सकता।

संसार भर को मैत्री और सहयोग की ज़रूरत है। उसे पदार्थों और विचारों के आपसी लेन-देन और व्यवहार की भी ज़रूरत है। सबसे अधिक उसे शान्ति की ज़रूरत है। लेकिन स्वातन्त्र्य की तरह शान्ति की रक्षा के लिए भी चिरन्तन सजगता आवश्यक होती है। उसके लिए कई परस्पर-विरोधी तत्त्वों का बहिष्कार आवश्यक होता है—अहंमन्यता और कायरता, प्रपीड़न और दब्बूपन, आत्मपूरता और अत्यधिक निर्भरता, अराजकता और अति-शासन। स्वाधीन और प्रजातन्त्रवादी भारत, दूसरे स्वाधीन और प्रजातन्त्रवादी राष्ट्रों के घनिष्ठ सहयोग से, राष्ट्रों के समुदाय में शान्ति और रचनाशील सहयोग का महान् पोषक हो सकता है।

अपने देश के भाग्य-निर्माण में अपने विवेकशील नेतृत्व को लगाने के लिए पंडित जी चिरायु हों!

मार्च १९४९

महान् कृतित्व

हेरल्ड लास्की

जवाहरलाल नेहरू के एक अंग्रेज मित्र के नाते उन्हें श्रद्धांजलि देना मेरे लिए बहुत आनन्द का विषय है। जेल के भीतर-बाहर होते रहने वाले एक राजनीतिक बन्दी से भारत के प्रधान मन्त्री के पद तक उनके उत्कर्ष से अधिक प्रभावशाली घटनाएँ मेरे जीवन-काल में कम ही घटी होंगी। इस पद से, सुदूर पूर्व में उनका प्रभाव अत्यन्त व्यापक और रचनात्मक हो सकता है, और स्पष्ट ही वह उसकी सम्भावनाओं का उपयोग अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए और कल्पनाशीलता के साथ कर रहे हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जो लोग नेहरू को पहले से जानते थे, वह उनसे ऐसी ही आशा भी रखते थे। मेरी पक्की धारणा है कि हम लोग विश्वासपूर्वक प्रतीक्षा कर सकते हैं कि वह अपनी अब तक की प्रगति को उसी प्रकार आगे बढ़ाते रहेंगे।

एक आशा मैं प्रकट करना चाहता हूँ, चाहे यह मेरी ओर से दुस्साहस की ही बात समझी जाय, कि अपनी अत्यधिक व्यस्तता में भी वह भारत को एक-दलीय शासन से आगे बढ़ाकर प्रातिनिधिक दो पक्षों वाली परिपाटी की ओर ले जाने में सहायता दे सकेंगे। मेरा दृढ़ विश्वास है कि सुशासन का आधार ही इस बात पर क़ायम है कि एक विरोध पक्ष बना रहे जिसे आलोचना और रचनात्मक परामर्श का पूरा अधिकार हो। मेरी धारणा है कि नेहरू स्वयं इसी मत के होंगे, क्योंकि भारत में बितानी शासन के विरोध पक्ष के नेता के रूप में जो कुछ उन्होंने किया उसी के परिणाम-स्वरूप वह आज स्वाधीनता और प्रजातन्त्र के प्रेमियों में इतना ऊँचा और गौरव का स्थान पाते हैं।

मार्च १९४९

त्यागवीर

पट्टाभि सीतारामैय्या

अपने शहर में या अपने पेशे या व्यवसाय में प्रमुख होने की आकांक्षा व्यक्ति में सहज ही होती है। इस सहज और सर्वथा उचित महत्त्वाकांक्षा के स्वाभाविक विकास की परिणति व्यक्ति को प्रान्त अथवा देश में सर्वोपरि अथवा प्रमुख स्थान पर पहुँचा कर होती है। किन्तु विश्व भर में अद्वितीय स्थान पाने का गौरव दुर्लभ है, और कदाचित् ही वह किसी पैग़म्बर या राजनीतिज्ञ को मिलता है। गान्धी को अपने समय में वह पद प्राप्त हुआ था और उनका नाम उनके पीछे भी शतियों तक जगमगाता रहेगा और आज उनके मनोनीत 'उत्तराधिकारी' जवाहरलाल, विश्व की प्रगति में अपने दायित्व का समुचित निर्वाह कर रहे हैं। सन् १९१८ के कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में अंग्रेज़ी वेश पहने पहली बार सामने आया तरुण बैरिस्टर आज सादे सफ़ेद खद्दर की पोशाक में भारत के प्रधान मंत्री का काम निबाह रहा है, और इस बीच चार बार राष्ट्रीय महासभा का प्रधान निर्वाचित होने का अद्वितीय गौरव प्राप्त कर चुका है। किन्तु विगत चालीस वर्षों के इतिहास का अध्येता जानता है कि यह क्रमिक उन्नति केवल अथक परिश्रम के साथ त्याग, अवसर के भरपूर उपयोग के साथ प्रतिभा और सेवा के साथ आत्माभिमान के जीवन का स्वाभाविक परिणाम और सहज पुरस्कार है। षष्टि-पूर्ति के समय हमारे प्रधान मन्त्री निस्सन्देह संसार के राजनीतिकों में प्रमुख स्थान के अधिकारी हैं, क्योंकि वे अतलान्त और प्रशान्त महासागरों के मिलाने वाले सेतु की आधार-शिला, भारतवर्ष, को सँभाले हुए हैं और वहां से विश्वशान्ति की रक्षा का महान् और गौरवपूर्ण दायित्व-भार अपने समर्थ कन्धों पर वहन कर रहे हैं।

जनवरी १९४९
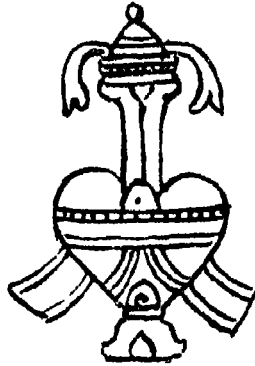
समर्थ राष्ट्र-निर्माता

खालिदा अदीब

अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए लिखने का निमन्त्रण मेरे लिए गौरव का विषय है। खेद यही है कि भारत के बारे में मेरा ज्ञान महात्माजी के समय तक ही सीमित है, और वर्तमान परिस्थितियों से मेरा निजी परिचय नहीं है। मैं जवाहरलाल नेहरू के विषय में जो कुछ जानती हूँ, मेरी पुस्तक 'इनसाइड इंडिया' में है।[1]

इस समय आप के प्रधान मन्त्री-से गुरुतर दायित्व और कठिनतर कार्य अन्य किसी नेता के कन्धों पर नहीं है। और इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि इस महान् उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए, और भीतरी तथा बाहरी दोनों दृष्टियों से अत्यन्त जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिए, इससे अधिक योग्य और उपयुक्त व्यक्ति नहीं मिल सकता। हमारे वन्द्य महात्माजी से कुछ बातों में भिन्न होने पर भी, मेरी धारणा है कि वह आज ऐसे एकमात्र महान् भारतीय हैं जो जाति, धर्म और श्रेणी भेद से ऊपर उठ कर एक भारतीय राष्ट्र की नींव डालने में समर्थ हो सके।

भारत आज एक उज्ज्वल गौरवपूर्ण भविष्य का अधिकारी है—और होना भी चाहिए—जिसका पूर्व में भी और पश्चिम में भी अकथनीय प्रभाव होगा। वह एक अखंड राष्ट्र बनेगा या कि एक संयुक्त राज्य-संघ, इसका निर्णय स्वयं उसी के हाथों में है। महात्माजी के बलिदान ने तुर्की में उनके प्रति श्रद्धा और सम्मान की भावना को तो बढ़ाया ही है, यहाँ की जनता में भारत के प्रति जिज्ञासा भी बढ़ायी है। मैं स्वयं तो भारत की चिर-ऋणी हूँ, क्योंकि आपके देश का भ्रमण, और महात्मा गान्धी तथा आपके देशवासियों से मिलने का अवसर, मेरे लिए वह उच्चतर शिक्षा थी जो पुस्तकों से नहीं मिल सकती। हम सभी की आशा और प्रार्थना है कि चाहे जिस रूप में हो, महात्माजी के महान् मानवीय आदर्श को जवाहरलाल नेहरू अपने जीवन-काल में प्राप्य कर सकेंगे।

मार्च १९४९

[1] अध्याय २२, 'समाजवादी नेता जवाहरलाल नेहरू'

अचल निष्ठा

विल डयूरंट
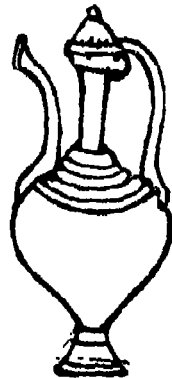
पंडित जवाहरलाल नेहरू की स्तुति में क्या मैं कुछ शब्द कह सकता हूँ ? हम उनकी विद्वत्ता, उनकी उच्च नीतिमत्ता, और एक महान् उद्देश्य की आजीवन सेवा में उनकी सन्तों की-सी अचल निष्ठा के आगे नतशिर हैं। देश की आज़ादी के प्रयत्नों में उनका अटूट धीरज और अशिथिल उत्साह, और इस पीढ़ी के सबसे विराट् और गौरवपूर्ण कृतित्व में महात्मा गान्धी के साथ उनका श्रद्धापूर्ण और सक्रिय सहयोग भी वन्दनीय है। आज ऐसे नेता को पाकर भारत कृतार्थ है और हम उसे बधाई देते हैं। नये राष्ट्र के संकटपूर्ण प्रथम दिनों में जिस विवेक के साथ उसका संचालन किया गया, उसके लिए साधुवाद करते हुए हम आशा करते हैं कि ऐसे संघर्ष और ऐसे नेतृत्व से एक नयी प्रोज्ज्वल संस्कृति जन्म लेगी और भारत को एक बार फिर सभ्यता के उस उच्चतम शिखर पर पहुँचायेगी जिसे भारत ने अतीत में कई बार छुआ है।

फ़रवरी १९४९

महान् विश्व-नागरिक

एडमंड प्रीवा

३० जनवरी १९४८ की शाम को जब यूरोप के सारे बेतार-केन्द्र बापू के देहान्त की घोषणा कर रहे थे, तब मेरे मन में जवाहरलाल नेहरू का विचार प्रमुख था, जो दूसरी बार पितृशोक भोग रहे थे। 'कितने एकाकी हैं इस समय वह !' यह विचार बारम्बार मन में उठता था।

दुःख, कारावास, शोक और चिन्ता, यही उन्हें मिलता रहा था। और अब....एक ओर वह गुरुतम दायित्व जो मानवीय इतिहास में आज तक किसी के कन्धों पर पड़ा है, और दूसरी ओर यह नया मर्माघात ! मैंने सन् १९३८ से उन्हें नहीं देखा था, लेकिन दस वर्षों के व्यवधान को पार करते हुए वह जैसे मेरे बिल्कुल निकट थे—शोक और समवेदना ने देश-काल की दूरी को मिटा कर हमें मिला दिया था।

फिर, मैंने रेडियो पर उनका स्वर सुना, उनके भाषण पढ़े, उनके कार्य-कलाप का अनुसरण किया; और क्रमशः यह स्पष्ट होने लगा कि कैसे वह इस नये आघात को झेल कर आगे बढ़ रहे हैं, देश पर गान्धीजी के प्रभाव को और भी अमिट बनाये दे रहे हैं।

बड़े-बड़े देशों के प्रधान मन्त्रियों में ऐसा विरला ही देखा गया है जो एक आध्यात्मिक तत्त्व के प्रति इतना निष्ठावान् हो, और अपनी नीति को उसी के अनुरूप ढाले। आज के भारत का सूत्रधार अत्यन्त विनीत भाव से गान्धी जी के निधन के बाद भी उनके लिए मोर्चे जीत रहा है, जैसे कि उनके जीवनकाल में करता रहा था।

और ऐसा वह कर रहा है विवेक और बुद्धि के नाम पर। शंकालु पाश्चात्य जगत् को उसने दिखा दिया है कि गान्धीजी के लिए जो श्रद्धा का मामला था, उसके लिए वह अनुभव-सिद्ध ज्ञान की बात है—कि संसार के लिए कूटनीति और चालबाज़ी, घृणा और हिंसा का परित्याग करके सत्य, अहिंसा और मैत्री का पथ पकड़ना बुद्धिमानी की ही बात होगी।

जवाहरलाल नेहरू संयुक्त राष्ट्रों की सभा में जब यह घोषणा करते हैं, अथवा बेतार यन्त्रों द्वारा अमरीका के विद्यार्थियों को यह सीख देते हैं, तब वह हमारी बहुत बड़ी सेवा करते हैं। जवाहरलाल को कोई कोरा आदर्शवादी, कल्पना-लोकवासी या रहस्यवादी नहीं कह सकता। वह हमारे आधुनिक युवा समाज के साथ एकप्राण हैं। वह यथार्थता का सामना करते हैं और अपने निरपेक्ष दृष्टिकोण को बनाये रखते हैं। अपनी शान्त विवेक-शीलता के सहारे वही पश्चिम को ठीक-ठीक समझा सकते हैं कि गान्धीजी का मार्ग कितना सही था। अंग्रेज़ दार्शनिक लॉक ने एक बार 'ईसाइयत की युक्ति-युक्तता' पर पुस्तक लिखी थी। भारत के प्रधान मन्त्री पुस्तक से कहीं श्रेष्ठतर माध्यम के द्वारा महात्मा गान्धी के सन्देश की युक्ति-युक्तता प्रमाणित करते हैं। हमें इसके लिए उनका कृतज्ञ होना चाहिए।

बापू ने एक बार 'यंग इंडिया' में लिखा था कि भारत को जवाहरलाल नेहरू जैसे योग्य सपूत पर गर्व करना चाहिए। हम यूरोपवासी तो भारत के ऋणी हैं कि उसने हमें ऐसा महान् विश्व-नागरिक दिया है।

फ़रवरी १९४९

व्यावहारिक प्रजातन्त्र की भित्ति

उल्ला अल्म-लिण्डस्त्रम्

किशोर छात्रावस्था में जब मैं पहली बार इंग्लैंड गयी तो सैंड्हर्स्ट सैनिक विद्यालय के दो भारतीय विद्यार्थियों से मेरी भेंट हुई और उनसे मित्रता हो गयी। इन भारतीय नवयुवकों में भारत की स्वतन्त्रता और उस स्वतन्त्रता की लड़ाई के प्रति उत्कट अभिरुचि थी और मुझे याद है कि किस प्रकार हम लोग उनके अवकाश के दिनों में सन्ध्या समय आग के सामने बैठे हुए भारत की स्वाधीनता सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया करते थे। उनमें से एक विद्यार्थी ने (मुझे आशा है वह अब भी जीवित होगा,) मुझे 'इंडियन स्टेटयुटरी कमीशन रिपोर्ट' के अवलोकन और सिफ़ारिशों वाले दोनों खंड भेंट किये थे। स्वीडेन लौटकर मैंने उन्हें ध्यान से पढ़ा और स्वीडेन में विश्वविद्यालय के छात्र साथियों के बीच तरुण उत्साह के साथ भारत के हित में उत्तेजना पैदा की। अब इस बात को बीस वर्ष हो चुके हैं। परन्तु भारतीय जीवन और भारत के भविष्य के विषय में मेरी अभिरुचि कभी कम नहीं हुई, और मेरा उत्तरी देश यद्यपि पृथ्वीमंडल की दूसरी ओर है, फिर भी यहाँ नयी पीढ़ियों में भारत के प्रति सद्भावना तथा उसके स्वाधीनता-आन्दोलन के प्रति सहानुभूति के भाव पनपने के लिए अच्छा क्षेत्र रहा है। इस सम्बन्ध में हम लोगों ने पंडित जवाहरलाल नेहरू का नाम तो सुना ही और स्वराज्य के लिए उनकी प्रबल उत्कंठा और लगन को भली भाँति सराहा, क्योंकि स्वतन्त्रताहीन जीवन की कल्पना हम स्वयं भी नहीं कर सकते।

मैंने पिछले जाड़ों में जब पहली बार पंडित नेहरू को स्वयं देखा और उन्हें संयुक्त राष्ट्रों के खुले अधिवेशन में बोलते हुए सुना, तो ये सारी बातें फिर ताज़ी हो गयीं। मैं स्वीडेन के प्रतिनिधि-मंडल में, स्वीडेन की स्त्रियों के प्रतिनिधि के रूप में, वहाँ उपस्थित थी। पंडित नेहरू ने स्वतन्त्रता और शान्ति के विषय में, अत्यन्त उत्साह और विश्वास के साथ भाषण किया था। इसके पहले मैंने कई बार भारतीय प्रतिनिधि-मंडल की नेत्री उनकी बहिन के भाषण सुने थे और उस अत्यन्त योग्य स्त्री पर गर्व किया था। मैंने सोचा था,—मैं समझती हूँ ठीक ही सोचा था,—कि संसार की राजनीति में उनका स्थान केवल इस कारण नहीं बना कि उनके प्रख्यात भाई के द्वारा उनकी प्रकृत राजनीतिक प्रतिभा को आदर मिला, वरन् इसलिए भी कि आधुनिक, सामाजिक और स्वाधीन राज्य के निर्माण में स्त्री-जाति मात्र के सहयोग का महत्त्व समझा जाने लगा है। स्वीडेन में स्त्रियाँ सदैव अपेक्षाकृत अधिक सम्मान और स्वतन्त्रता की स्थिति में रही हैं और निश्चय ही यह मेरे देश के शक्तिशाली सामाजिक विकास का एक कारण है। स्वीडेन की धारा-सभा (पार्लमेंट) में इस समय लगभग तीस स्त्रियाँ हैं; और सेना तथा क्लर्की को छोड़ कर सभी पेशों में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर नागरिक अधिकार प्राप्त हैं। मैं समझती हूँ कि वास्तविक लोकतन्त्र के सृजन के लिए, जो इस समय भारत का तथा पंडित नेहरू का गौरवमय कर्त्तव्य है, यह स्थिति एक बुनियादी शर्त है। मुक्ति के संग्राम में एक भव्य आनन्द होता है; मैं समझ सकती हूँ कि अपने भविष्य के स्वतन्त्र निर्माण के लिए उत्कंठित जनता में और विशेषतया युवक-समुदाय में वह संग्राम कैसा उत्साह और कैसी क्रियाशीलता जाग्रत कर सकता है। परन्तु जब ऐसे नवीन लोकतन्त्रीय समाज के निर्माण का परिश्रम-साध्य और व्यावहारिक कार्य आरम्भ होता है जिसमें समस्त नागरिकों के जीवन का स्तर उन्नत हो और भेद-भाव के बिना सबके साथ समान न्याय किया जाय, उस समय इस उत्साह के ठंडे पड़ जाने की आशंका होती है। स्वीडेन के अनुभवों से मैंने सीखा है कि स्वतन्त्रता को नहीं, वरन् इस दैनन्दिन व्यावहारिक लोकतन्त्र को प्राप्त करना,—अर्थात् उस स्वतन्त्रता को बनाये रखना,—कितना कठिन है। अस्तु, मुझे आशा है कि भारत इस कार्य में सफल होगा; और राष्ट्र के संचालकों में पंडित नेहरू जैसे व्यक्तियों को प्राप्त कर सकने के लिए मैं भारत को अपनी हार्दिक बधाई भेजती हूँ।

शान्ति और प्रगति का प्रतीक

शेख अब्दुल्ला

पंडित नेहरू की महत्ता इसमें है कि उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता के संघर्ष को दिशा और धार दी और उसे विदेशी सत्ता के विरुद्ध सफल बनाया। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास केवल संख्या-वृद्धि द्वारा नहीं बल्कि उत्तरोत्तर परिवर्धनशील राजनीतिक और आर्थिक योजनाओं के निश्चित क्रम द्वारा भी हुआ है। और इन योजनाओं को रूप देने में पंडित नेहरू ने एक विशिष्ट और प्रमुख भाग लिया है। भारत की राजनीतिक रणभूमि में उनके आने के पहले और उपरान्त भी देश के विभिन्न भागों में लोग स्वतन्त्रता की स्थानीय लड़ाइयाँ लड़ रहे थे जो देश के बृहत्तर राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रायः सम्बद्ध थीं; उदाहरणतया कुछ रियासतों में या सीमान्त प्रदेश में। उनके गत्यात्मक व्यक्तित्व के कारण ही यह सम्भव हुआ कि ये धाराएँ एक होकर एक ऐसा तूफ़ानी प्रवाह बन गयीं जिसमें एक महान् साम्राज्य बह गया।

आरम्भ में राष्ट्रीय आन्दोलन तथा-कथित ब्रितानी भारत तक ही सीमित था। 'भारतीय' भारत में रहने वाले जन-समुदाय में इतनी जागृति नहीं हो पायी थी कि देश को स्वतन्त्र करने में वह कोई प्रभावशाली भाग ले सकता। रियासती जनता गुलामी के बोझे से दबी कराहती ही रही। भारत में अंग्रेजों के सबसे बड़े मित्र राजा लोग थे। साम्राज्यवाद के इस क़िले को सर किये बग़ैर विदेशी शासन के विरुद्ध किसी भी संघर्ष का सफल होना असम्भव था। भविष्य की गहराई में पैठ कर इस बात का अनुभव करने वालों में पंडित नेहरू पहले व्यक्ति थे, कि राष्ट्रीय आदर्श की प्राप्ति के लिए रियासती प्रजा का संगठन करना और रियासतों के अलग-अलग आन्दोलनों को प्रधान राष्ट्रीय आन्दोलन का ही अंग बनाना नितान्त आवश्यक है।

ऐसी किसी संस्था को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से तो अलग होना ही था, क्योंकि रियासती प्रजा की समस्याएँ ब्रिटिश भारत की जनता की समस्याओं से बहुत बातों में भिन्न थीं। रियासतों की वस्तुस्थिति भिन्न थी। पंडित जी को उनका अनुभव करने का अवसर तब मिला था जब नाभा रियासत के अधिकारियों ने उन्हें जबरन हिरासत में ले लिया था। वहाँ की स्थिति इस बात से और उलझ गयी थी कि विदेशी सत्ता से लड़ने के लिए पहले राजाओं की निरंकुश शक्ति और स्वेच्छाचारिता को समाप्त करना था। इसलिए आवश्यकता पड़ी रियासती प्रजामंडल की जिसे राजाओं के विरुद्ध मोर्चा लेना था। रियासती प्रजामंडल के निर्माण में पंडित जी प्रधान प्रेरक रहे हैं।

सन् १९२५ के पूर्व हमारी रियासत कश्मीर में प्रजा अपने दुःख और कष्ट की बात शासक के पास प्रार्थनापत्र भेज कर ही प्रकट कर सकती थी। किन्तु सन् १९२५ में, इतिहास में प्रथम बार, प्रजा ने संगठित रूप से राजनीतिक आन्दोलन का सूत्रपात किया। सरकारी रेशम मिल के मजदूरों ने, शिक्षा और अधिक वेतन की माँगों पर, हड़ताल कर दी। किन्तु फिर भी, अधिकांश जनता निस्पन्द ही रही। सन् १९३१ तक असन्तोष सर्वव्यापी हो गया। कारण वही थे जिनकी परिणति भारत में असहयोग आन्दोलन में हुई थी। भूख और ग़रीबी की भयंकर विभीषिका किसान की सहन-सीमा पार कर गयी थी और देश भर में बेकारी फैली हुई थी। इस सब का एक मात्र समाधान था पुराने ढर्रे का नाश। सारी रियासत एक बृहत् राजनीतिक भूकम्प से हिल उठी। खेतिहर ने अपनी मेहनत के फल पर अपने हक़ की माँग की; और रोज़गार के तथा शासन में जनता के भागी होने के अधिकार पर ज़ोर दिया गया।

इस आन्दोलन की एक निर्बलता थी इसका अकेला होना। लोगों ने उसकी निन्दा यह कह कर की कि आन्दोलन का उद्देश्य और रूपरेखा साम्प्रदायिक है। यह पंडित जी की अक्षय कीर्ति की बात है कि उन्होंने हमारे आन्दोलन की रक्षा इन आक्षेपों का जवाब देकर की। उन्होंने घोषित किया कि यह आन्दोलन स्वेच्छाचारिता और विदेशी

शासन के विरुद्ध कश्मीरियों की प्रगतिशील भावना की अभिव्यक्ति है। और हमारे आन्दोलन को रियासती प्रजा-मंडल से सम्बद्ध कराने का श्रेय भी उनको ही प्राप्त है।

इसी प्रकार पठानों के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के सम्बन्ध में भी पंडितजी का कार्य स्तुत्य है। सैनिक दृष्टि से भारत के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और सबसे कमज़ोर सीमान्त प्रदेश के निवासी पठानों ने सिकन्दर से लेकर अंग्रेज़ों तक किसी भी भारत-विजेता के सामने सिर झुकाना स्वीकार नहीं किया। अंग्रेज़ों ने निर्मम बल प्रयोग द्वारा, रिश्वतें देकर और आपस के झगड़े उभार कर उन पर शासन करने की कोशिश की है। ख़ान भाइयों ने पठानों को संगठित किया, और अनन्त कष्ट सहते तथा महान् त्याग करते हुए सामूहिक शत्रु के विरुद्ध उनका नेतृत्व किया। अपने इस उत्कट संघर्ष में उन्हें सब से अधिक आवश्यकता थी मित्रों की। जो लोग भारत के मुसलमानों के अधिकारों के संरक्षक होने का दम्भ कर रहे थे उन्होंने पठानों को कोई भी सहायता देना अस्वीकार कर दिया। पंडित नेहरू ने उन्हें गले लगाया और ख़ुदाई ख़िदमतगारों को राष्ट्रीय कांग्रेस से सम्बद्ध करवा दिया।

पंडित नेहरू केवल राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए ही नहीं लड़ते रहे हैं। उनके कार्यों का क्षेत्र बहुत विस्तृत रहा है। वे सदैव संसार भर की अत्याचार-पीड़ित जातियों की मुक्ति के लिए संघर्ष करते रहे हैं। अपने ऐतिहासिक दृष्टिकोण के कारण वह सदैव अनुभव करते रहे हैं कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और अन्तर्राष्ट्रीय उन्नति अन्योन्याश्रित हैं। संसार में दो प्रतिद्वन्द्वी शिविर हैं: प्रगति और प्रतिगति के, जनतन्त्र और तानाशाही के। स्वतन्त्रता और जनतंत्र की विजय प्रगति के शिविर में एकता पर निर्भर है। किसी भी देश में प्रगति की पराजय दूसरे देशों में प्रगतिशील शक्तियों को कमज़ोर बनायेगी। यही कारण है कि जब नात्सियों ने वीएना के सुन्दर स्थानों को पदाक्रान्त किया, तब पंडित जी का हृदय रो पड़ा था; और इसी कारण इस्पानी गृहयुद्ध के समय वह इतने व्यग्र थे। फिलस्तीन के अरबों का उन्होंने प्रबल समर्थन किया है। इधर उनकी चिन्ता का एक नया विषय है हिन्देशिया की आज़ादी पर डचों का आक्रमण। अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध सब से ऊँचा स्वर रखने वाले पंडित नेहरू हमारे युग के शेली तो हैं ही, साथ ही उनमें अपने आदर्शों को कार्य-रूप में परिणत करने का सामर्थ्य भी है।

इस तुलना में शेली की हेठी नहीं होती, क्योंकि पंडितजी हृदय से कवि ही हैं। तीक्ष्ण संवेदनशीलता और उदार बुद्धि के साथ उनके व्यक्तित्व में वे सब उपकरण मौजूद हैं जिनसे कवि का निर्माण होता है। अपने देशवासियों की ग़रीबी और अज्ञान की तात्कालिक समस्याओं के कारण उन्हें अपनी सारी शक्ति और प्रतिभा को राजनीतिक आँधी-तूफ़ान को समर्पित करना पड़ा है। किन्तु जब कभी उन्हें अपनी भावनाओं का 'शान्ति में स्मरण' करने का अवसर मिला है तथा जेल की कोठरी के एकान्त में, तब-तब उन्होंने गद्य में गीत-सृष्टि की है। उनकी कृतियाँ गद्य-गीतियाँ ही तो हैं।

पंडित नेहरू को मैं अब दस वर्ष से अधिक से अच्छी तरह से जानता हूँ। वह मेरे सहयोद्धा ही नहीं रहे हैं, वरन् मेरे मित्र, मन्त्रदाता और पथप्रदर्शक भी रहे हैं। उन्होंने मुझे सदा अपना निश्छल स्नेह दिया है और जम्मू तथा कश्मीर की जनता के प्रति, संकट में जिसकी रक्षा के लिए वे सदैव आगे आते रहे हैं, उनका प्रेम सदा ही प्रचुर रहा है। "कश्मीर छोड़ो" आन्दोलन के समय, जब हम निरंकुश स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध अपनी लड़ाई की आख़िरी खाई में थे, वह दौड़े हुए कश्मीर आये और उस घोर विपदा के समय हमारी सफलता के लिए जो कुछ भी कर सकते थे वह सब उन्होंने किया।

पंजाब और दिल्ली के साम्प्रदायिक उपद्रवों के समय पंडित नेहरू का व्यक्तित्व अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गया। एक उन्मत्त संसार में, जब इनसान इनसान नहीं रहा था, जब सभ्यता आदिम बर्बरता हो गयी थी, जब अपराध अपराध नहीं रह गये थे, जब हत्या और बलात्कार देशभक्ति समझे जाते थे, तब गान्धीजी के साथ पंडित नेहरू एक तूफ़ानी सागर में प्रेम, शान्ति और सहानुभूति का प्रकाश विकीरित करते चट्टान की भाँति दृढ़ खड़े थे। और, अन्त में, उनका पक्ष सही साबित हुआ है। वे इस बात को सिद्ध करने में सफल हुए हैं कि साम्प्रदायिक एकता का और भारत में असाम्प्रदायिक लौकिक शासन की स्थापना का मार्ग ही उन्नतिकर सही मार्ग है।

विकट ऊहापोह में आज के विच्छिन्न विश्व में पंडित नेहरू शान्ति और प्रगति के भव्य प्रतीक के रूप में विद्यमान हैं। यद्यपि गत महायुद्ध के आघातों से संसार अभी तक सँभल नहीं पाया है, फिर भी कुछ शक्तियाँ उसे फिर

विनाशकारी ज्वाला की ओर अकेले लिये जा रही हैं। संघर्ष की शक्तियां दो शिविरों में विभक्त हो रही हैं, जिनके युद्ध का परिणाम मानवता का विनाश होगा। शस्त्रीकरण की दौड़ आरम्भ हो चुकी है और हम अपने पुराने अनुभव से जानते हैं कि इस दौड़ का अन्त कहाँ जाकर होगा। आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है शान्तिकामी शक्तियों का संगठन और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निबटाने के लिए युद्ध के साधन का बहिष्कार। और तुला को शान्ति की ओर झुका सकने में समर्थ सबसे महत्त्वपूर्ण अकेला उपकरण है—पंडित नेहरू।

अप्रैल १९४९

भारत का भाग्य-विधायक

आर० जी० कंबेल

पंडित जवाहरलाल नेहरू का जीवन मानव-नेतृत्व के इतिहास में एक ज्वलन्त उदाहरण है। किसी भी नेता को इससे गुरुतर भार वहन करना तथा इससे महत्तर उत्तरदायित्व निबाहना न पड़ा था। यह तो भारतवर्ष का सौभाग्य था कि अपने इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर स्वतन्त्र देश के प्रथम प्रधान मन्त्री के पद के लिए उसने नेहरू के रूप में ऐसा महान् भारतीय प्रस्तुत पाया जो कि स्वतन्त्रता के लम्बे संघर्ष में तप कर खरा उतर चुका था। बल्कि यह केवल भारतवर्ष ही का सौभाग्य नहीं है कि इस सद्यःस्वतन्त्र देश का अग्रणी एक ऐसा व्यक्ति है जिसने अपना सारा जीवन एक महानतम आदर्श के—मानवी चेतना की स्वतन्त्रता के—लिए अर्पित कर दिया है; इस पर तो विश्व भर के स्वतन्त्र लोगों को हर्ष होना चाहिए।

आज एशिया में एक नये युग का जन्म हो रहा है, और सभी लक्षणों से यही सिद्ध होता है कि मुख्यतया भारत ही इस नये युग का विधायक होगा। अगर वास्तव में ऐसा होता है, जैसी कि मेरी धारणा है, तो भारत के नवीन जीवन के इस उषःकाल का नेता एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है जिसका प्रभाव भारत की करोड़ों जनता पर ही नहीं, उस देश की सीमाओं के बाहर भी बहुत-से लोगों पर पड़ेगा।

मुझे सदैव ऐसा प्रतीत होता रहा है कि किप्लिंग की उक्ति

> "पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम,
> इनका मिलन नहीं होगा"

कभी सच नहीं हुई है और न इसे किसी भी परिस्थिति में सच होने देना चाहिए। वास्तव में तो जब से लिखित इतिहास का उदय हुआ है, तब से पूर्व और पश्चिम आपस में मिलते आये हैं और उनमें परस्पर दानादान होता रहा है।

हमारी पाश्चात्य सभ्यता की नींव ही हमें पूर्व से मिली। मानव व्यापार का प्रारम्भिक इतिहास भी प्रमाणित करता है कि उस युग में, जब पश्चिम में शिल्प या उद्योग का अभी उदय भी न हुआ था, भारतवर्ष उद्योग-धन्धों में काफ़ी उन्नति कर चुका था और उसके कला-शिल्प के सुन्दर सामान संसार के विभिन्न देशों में भेजे जाते थे।

किन्तु नये हिन्द के इस नेता के निर्माण में अपने भाग पर पश्चिम भी गर्व कर सकता है। पाश्चात्य स्कूल तथा विश्वविद्यालय में ही उसने इन महान् उत्तरदायित्वों को वहन करने की उपयुक्त शिक्षा-दीक्षा पायी, और यह एक बड़े सौभाग्य की बात है कि ऐसा हुआ।

किप्लिंग के विरुद्ध यह एक और प्रमाण है। पंडित जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व में वेदों की—जिनका उन्होंने 'मानवी मेधा का चिन्तन की पहली सदियों पर आरोह' कह कर सुन्दर वर्णन किया है—शिक्षा का, तथा पाश्चात्य प्रजातन्त्रात्मक आदर्शों का सम्मिश्रण हुआ है।

इन सारी बातों का पता हमें उनकी दो अपूर्व पुस्तकों 'स्वतन्त्रता की ओर' तथा 'हिन्दुस्तान की कहानी' में मिलता है जो दोनों जेल में लिखी गयी थीं।

मुझे तो सदैव इन पुस्तकों पर आश्चर्य होता रहा है और बरबस इस व्यक्ति की महत्ता पर श्रद्धा होती रही है जिसने जेल की सूनी कोठरी में बैठ कर बिना किसी पुस्तकालय के और अध्ययन-अनुशीलन के साधारण मनुष्यों के लिए अनिवार्य साधनों के, इस उत्कृष्ट साहित्य की रचना की; वह भी हमारी भाषा में, अपनी नहीं। शब्द पर जितना अधिकार और शैली का जो सौम्य रूप इन पुस्तकों में लक्षित होता है, वह अंग्रेजी मातृभाषा वाले भी इने-गिनों को ही उपलब्ध होता है।

एशिया में भारतवर्ष की स्थिति को ध्यान में रखते हुए यह बड़े सौभाग्य की बात है कि स्वतन्त्र भारतवर्ष

के प्रथम प्रधान मन्त्री के पद पर एक विशाल दृष्टिकोण तथा व्यापक ज्ञान वाला व्यक्ति आसीन है। यह प्रतिदिन स्पष्टतर होता जा रहा है कि वर्तमान परिस्थिति में कोई भी राष्ट्र अलग नहीं रह सकता और आज विश्व-शान्ति की एक मात्र आशा इसी में है कि एक सामूहिक सुरक्षा संगठन में सभी राष्ट्र सक्रिय सहयोग दें।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् आर्थिक अव्यवस्था तथा युद्ध के परिणाम का जितना व्यापक तथा भीषण प्रभाव पड़ा उतना कभी न पड़ा था। जब सन् १६४५ में सैनफ्रैंसिस्को में सभी राष्ट्र आशावादी भावना लेकर एकत्र हुए तो विश्व-सहयोग वास्तविक रूप में सम्भाव्य दिखाई देने लगा। एकत्रित राष्ट्रों की कोटि-कोटि युद्ध-पीड़ित जनता ने सोचा कि शायद अब वह दिन आ गया है जब एक विवेकपूर्ण दुनिया में विवेकशील लोग आपस में मिल कर युद्ध-जनित दारुण परिस्थितियों को सुलझाने में सफल हो सकेंगे। किन्तु खेद ! हमारी आशा निर्मूल सिद्ध हुई। मानव जाति ने एक बार फिर दिखाया कि वह सद्विवेकी और बुद्धिमान् होने के सिवा कुछ भी हो सकती है। अतः अपनी समस्याओं को व्यापक सहयोग के द्वारा हल करने में विफल-प्रयास होकर हमें अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी। बावजूद अपने प्रयत्नों के हमने पाया कि विश्व दो विरोधी सिद्धान्तवादियों में बँट गया है और दोनों अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

मानव जाति की उन्नति के लिए वास्तविक विश्व-सहयोग के स्थान पर हमें प्रादेशिक सहयोग के सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ा। फलस्वरूप अतलान्त-समझौता हमारे सम्मुख है, भूमध्यसागर के समझौते की बातचीत चल रही है और सुदूरपूर्वी समझौते के लक्षण भी स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। अन्देशा केवल इस बात का है कि ये प्रादेशिक समझौते विकृत होकर कहीं ऐसे शक्तिशाली गुटों का रूप न ले लें, जिनके उद्देश्य संयुक्त राष्ट्रों के आदर्श से बिल्कुल भिन्न हों। इस खतरे से हमें निरन्तर सावधान रहना है।

मानव की स्वतन्त्रता के, मानवी चेतना और व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के महान् आदर्शों को हमें सदैव अपने सम्मुख रखना है।

अपने जीवन के लगभग बीस वर्ष सुदूर पूर्व में बिता कर मैं इस बात को भली भाँति समझ गया हूँ कि हम पश्चिमी गोलार्द्ध के निवासी इस पृथ्वी पर अल्पसंख्या में हैं; अतएव, मानव जाति की स्वतन्त्रता की सुरक्षा, और उसके अधिकारों का पूर्ण तथा निर्बाध विकास, प्रधानतया एशिया के कोटि-कोटि निवासियों की राजनीतिक शिक्षा पर तथा उनके द्वारा निर्मित शासन-यन्त्रों के रूप पर ही निर्भर करेगा।

द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप एशिया में जो अव्यवस्था उत्पन्न हुई, उसी की पीठिका पर पंडित नेहरू ने भारतवर्ष में स्थिरता स्थापित करने तथा दक्षिणी एशिया में प्रादेशिक एकता क़ायम करने की ओर महत्त्वपूर्ण क़दम उठाया है। अतः स्थायित्व और एकता की नींव की पहली ईंटों की स्थापना का श्रेय उन्हीं को है।

इस महान् भारतीय ने, जिसने कारागार में बन्द रह कर ऐसी उत्कृष्ट पुस्तकों की रचना की जिनके लिए असाधारण मेधा की आवश्यकता थी, एक ऐसी उच्च कोटि की व्यावहारिक राजनीतिज्ञता का परिचय दिया है जो विश्व-इतिहास की भावी गति को बदल देने की क्षमता रखती है।

पाश्चात्य देशों ने एक लम्बे अरसे तक दक्षिणी एशिया को अपनी अधीनता में रखा था। आज इस पराधीनता को समाप्त करके दक्षिणी एशिया नवोत्थान कर रहा है और सभी देशों में स्वायत्त-शासन का ज्वार उठ रहा है। ऐसी परिस्थिति में बहुत सम्भव था कि यह सारा प्रदेश भी बल्कानी राज्यों की भाँति कलह तथा विग्रह का केन्द्र बन जाता। बल्कानी राज्यों के युद्ध-जनक आपसी झगड़ों सरीखे झगड़े दक्षिण एशिया के सद्यःस्वतन्त्र देशों में भी हो सकते थे—अर्थात् भारतवर्ष, पाकिस्तान, लंका, बर्मा में; और साथ ही उन देशों में भी जो शीघ्र ही अनिवार्यतः स्वातन्त्र्य पा लेंगे—यानी हिन्द चीनी, हिन्देशिया और मलय।

किन्तु हम पाश्चात्यों में से जो एशिया की ओर उत्सुकता की दृष्टि लगाये देख रहे हैं, उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि पंडित नेहरू इन आशंकाओं से अच्छी तरह अवगत हैं। उनके द्वारा आमन्त्रित 'अखिल एशिया कानफ़रेन्स' इस खतरे का उत्तर मात्र ही न था। उससे सुदूर पूर्व की प्रादेशिक सुरक्षा, स्थायित्व तथा सौहार्द के संगठन की बुनियाद भी पड़ी।

पर हममें से बहुत लोग नेहरू के बारे में चिन्तित भी हैं। भारतीय मित्रों से हम सुनते हैं कि उनका नेता

अत्यधिक परिश्रम कर रहा है और अपने स्वास्थ्य को जोखिम में डाल रहा है। वे आशंकित भाव से देखते हैं कि वह अपने ऊपर अतिमानवी दायित्व-भार ले लेता है जिससे शक्ति का अतिव्यय अवश्य होता होगा और जिससे कदाचित् आयुष्य भी कम हो सकता है। उनकी चिन्ता हमारी चिन्ता है, क्योंकि हम जानते हैं कि इस असाधारण व्यक्ति का वास्तविक कार्य तो अब प्रारम्भ हुआ है।

पाश्चात्य होने के कारण मेरे लिए यह सम्भव न होगा कि मैं उनके सम्मुख उपस्थित समस्याओं की आंशिक भी सूची बना सकूं। किन्तु उनमें तीन कार्य अतुलनीय महत्त्व रखते हैं :

भारतवर्ष के निवासियों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना तथा दीर्घकाल तक निराश भाव से सही हुई दरिद्रता को दूर करना।

भारतवर्ष को केन्द्र बनाकर एक सुरक्षा-प्रणाली का संगठन करना जिससे देश युद्ध के संकट से बच सके और निवासियों की स्वतन्त्रता तथा जीवन-व्यवस्था की रक्षा हो सके।

पूर्व तथा पश्चिम के देशों से एक दूसरे के प्रति सही धारणा बनाने तथा वास्तविक सहयोग की भावना जागृत करने के कार्य को अपनी अद्वितीय प्रतिष्ठा तथा योग्यता द्वारा बल देना। यह दोनों पक्षों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा और विश्वैक्य तथा स्थायी शान्ति के हित में होगा।

वास्तव में तो इन तीनों कार्यों में घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध है, और शायद इनके सम्पादन में पंडित नेहरू को बड़ी सहायता मिल सकती अगर वे इस समय उत्तरी अमरीका का दौरा करने के लिए समय निकाल सकते। यहाँ उनका बड़ा स्वागत होगा। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में काफ़ी संख्या में ऐसे लोग हैं जो भारतवर्ष तथा दक्षिणी एशिया के साथ सहानुभूति और उनकी समस्याओं में दिलचस्पी रखते हैं। मेरा विश्वास है कि यहाँ स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री के स्वागतार्थ तथा उनका भाषण सुनने के लिए बड़ी बड़ी संख्याओं में लोग एकत्र होंगे। मेरे अपने देश कैनाडा में, जहाँ की कुल आबादी सवा करोड़ से कम है और बस्ती बहुत विरल है, इतना बड़ा जमाव नहीं भी हो सकता है, पर संख्या की कमी को हम अपने अकृत्रिम स्वागत और उत्साह से पूरा कर देंगे। इस प्रकार पूर्व तथा पश्चिम के बीच की खाई को पाटने का श्रेष्ठ अवसर मिलेगा।

भारतवर्ष अब स्वतन्त्र है। वह अपनी समस्याओं को अपने ढंग से हल कर सकता है, और ऐसे राजनीतिक आदर्शों तथा तन्त्रों का विकास कर सकता है जो उसकी जनता की सुविधा तथा परम्परा के अनुकूल हों। पर देश के आर्थिक तथा औद्योगिक विकास के क्षेत्र में उसे पश्चिम से सहायता लेनी पड़ेगी। दूसरी ओर पश्चिम के लिए अवसर है कि वह भारत से सदियों से मिली हुई दर्शन, गणित तथा अन्य विचारों की देन का कुछ प्रतिदान दे सके। पूर्व तथा पश्चिम को मिलाने के लिए जो सेतु आज बन रहा है, उसके आरपार यह प्राचीन विनिमय बराबर जारी रहना चाहिए।

द्वितीय महायुद्ध का सबसे बुरा परिणाम दुनिया के व्यापार पर पड़ा जो क़रीब-क़रीब समाप्त-सा हो गया। इसके फलस्वरूप विश्व की विभिन्न मुद्राओं में बहुत गड़बड़ी आ गयी। किन्तु अगर एक बार पूर्वी जगत् तथा उत्तरी अमरीका के देशों के बीच व्यापार को बढ़ाने की सच्ची अभिलाषा उत्पन्न हो जाय तो मेरा विश्वास है, ये सारी कठिनाइयाँ जो आज इतनी बड़ी दिखाई देती हैं, दूर हो जायँगी और इन देशों में वस्तुओं, विचारों और सद्भावनाओं का आदान-प्रदान होने लगेगा।

उत्तरी अमरीका—संयुक्त राष्ट्र तथा कैनाडा के हज़ारों प्रजातन्त्रवादी नागरिक यह जान कर प्रसन्न होंगे कि भारतीय किसान को कृषि के ऐसे आधुनिक औज़ार दिलाने का प्रयत्न हो रहा है, यद्यपि अभी प्रारम्भिक रूप में ही, जिससे वह उस कमर-तोड़ शारीरिक परिश्रम से बच जायगा जो अब तक उसके स्वास्थ्य को नष्ट करता रहा है और उसके तथा उसके परिवार के आयुष्य को कम करता रहा है।

उत्तरी अमरीका के निवासियों में, मेरा विश्वास है कि, लाखों ऐसे भी हैं जो भारतीयों के जीवन-स्तर को ऊँचा करने के प्रयत्न में भारत सरकार से सहानुभूति रखते हैं। लेकिन सर्वप्रथम उन्हें भारतीय समस्याओं से भली भाँति अवगत कराना आवश्यक है। आज भारतीय समस्याओं के बारे में वे पूर्णतया अनभिज्ञ हैं, और बिना समुचित ज्ञान के किसी समस्या को ठीक-ठीक समझा नहीं जा सकता।

पंडित नेहरू के एक बार अमरीका आ जाने से अमरीका वालों की भारत तथा उसके निवासियों में दिलचस्पी उत्तेजित होगी और उन्हें वहाँ की समस्याओं को समझने तथा वहाँ के बारे में सही धारणा क़ायम करने का सबसे उत्तम अवसर मिलेगा।[१]

मैं केवल भौतिक कल्याण के बारे में ही नहीं सोच रहा हूँ, यद्यपि भारतवर्ष की ग़रीब जनता के लिए इसका बहुत महत्त्व है। जैसा कि मैंने इसी लेख में—जिसे लिखने का अवसर मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ—अन्यत्र कहा है, हमारी प्रमुख चिन्ता मानव व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा तथा मानव-चेतना की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए होनी चाहिए।

पूर्वीय तथा पाश्चात्य दर्शन के अपने गम्भीर ज्ञान के आधार पर भारत के प्रथम प्रधान मंत्री को स्वतन्त्रता की सुरक्षा की पारस्परिक समस्या को सुलझाने में महत्त्वपूर्ण योग देना है।

भारतवर्ष वास्तव में सौभाग्यशाली है कि उसे इतना महान् नेता मिला है। हम आशा करते हैं कि वह उस सेतु का निर्माण करने के लिए अपना समय और शक्ति लगा सकेंगे जिस पर पूर्व और पश्चिम परस्पर एक दूसरे के निकट आकर मिल सकेंगे।

अप्रैल १९४९

[१] जिस समय यह लेख लिखा गया उस समय भारत के प्रधान मन्त्री की अमरीका-यात्रा का निश्चय नहीं हुआ था। —सं०

देश का उज्ज्वल रत्न

रविशंकर शुक्ल

पंडित जवाहरलाल नेहरू हमारे देश के एक उज्ज्वल रत्न हैं। उनके त्याग, शौर्य, देशप्रेम और सहृदयता ने उन्हें करोड़ों भारतीयों का गलहार बना दिया है। उनकी राजनीतिज्ञता और आदर्शवादिता ने संसार के महान् व्यक्तियों की श्रेणी में उनका एक अपूर्व स्थान बना दिया है। उनके नेतृत्व में भारत का मस्तक ऊँचा हुआ है। ऐसे नेता को पा कौन ऐसा देश है जो फूला न समायेगा ?

फ़रवरी १९४९

भारत के प्रधान मन्त्री

कैदी की तख्ती
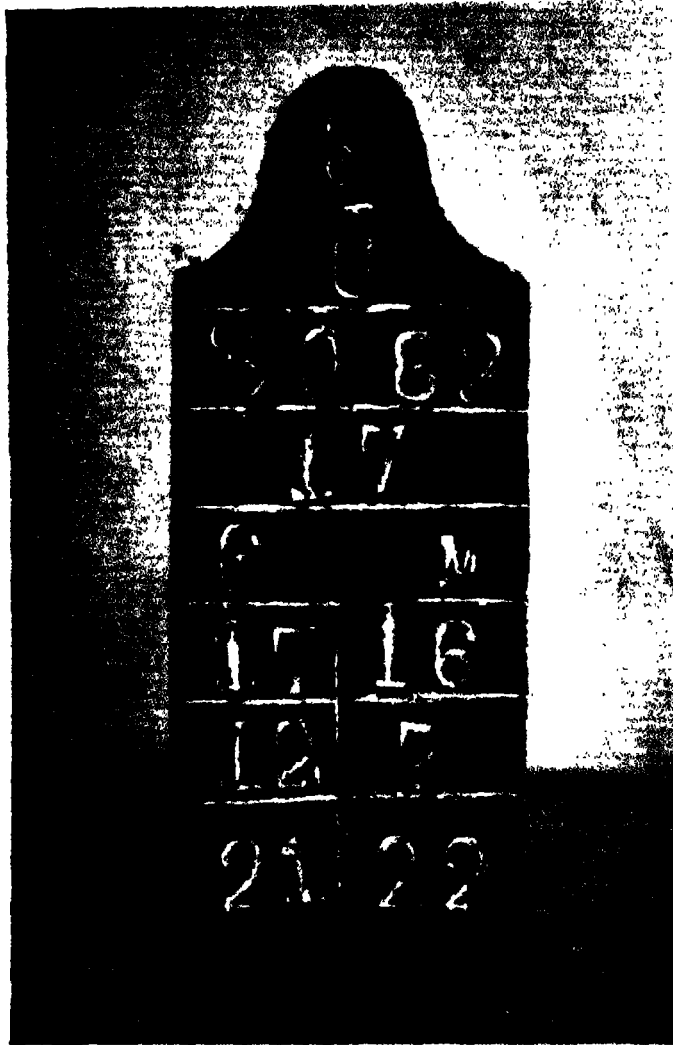
१९२१-२२ में जब पहली बार जवाहरलाल नेहरू को ६ महीने की सजा हुई, तो उन्हें कैदियों की यह तख्ती पहननी पड़ी थी।

'इंग्लैंड का भी सौभाग्य'

मार्गरेट स्टार्म जेमसन

पंडित नेहरू के प्रति जो अपार सम्मान देय है, उसे विनीत और संश्रद्ध भाव से अर्पित कर सकने का अवसर भी गौरव का विषय है। केवल भारत ही उनका ऋणी नहीं है। यह इंग्लैंड का भी सौभाग्य है कि भारत के साथ उसके सम्बन्ध के अँधेरे और संकटपूर्ण काल में पंडित नेहरू-सी सच्चाई, दूरदर्शिता और विवेक रखने वाला राजनीतिज्ञ उपस्थित और क्रियाशील था। इस सौभाग्य के—दैवी अनुकम्पा के इस प्रमाण के—लिए हमारी कृतज्ञता अधिक होनी चाहिए। ऐसे संसार में, जिसके लिए भारत के परम्परागत ज्ञान को और भारत के विख्यात मनीषियों के जीवन-दर्शन को समझने की, और कुछ अंशों में अपनाने की, आवश्यकता दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है, यह हमारा परम सौभाग्य है कि आज भारत का मार्गदर्शक इस कोटि का महान्, विवेक-बुद्धि-संपन्न सत्पुरुष है।

फ़रवरी १९४९

कर्मठ स्वप्न-द्रष्टा

आगा खान

जीवन के मेरे अनुभव पंडित जवाहरलाल नेहरू से सर्वथा भिन्न रहे हैं, लेकिन मेरा अनुमान है कि पाश्चात्य विचारधारा में हम दोनों की शिक्षा-दीक्षा एक समान रही होगी।

दूसरी ओर प्राच्य दर्शन और विचार-परम्परा में अवश्य उनकी दीक्षा मुझसे भिन्न रही होगी, क्योंकि मेरी तरह उनका मूलस्रोत फ़ारसी और अरबी कदाचित् नहीं रहा होगा। फिर भी मैं कह सकता हूँ कि उन्होंने भारत की वैदेशिक नीति को जो दिशा दी है, या कि आज के संसार में और विशेषतया एशिया में भारत के उचित स्थान के बारे में उनकी जो मौलिक धारणाएँ हैं, उनसे मैं सम्पूर्णतया सहमत हूँ और उनके प्रति मेरे हृदय में सम्मान है।

नेहरू ऐसे नेता, विचारक और व्यवहारिक स्वप्नदर्शी हैं जिनका जीवन चेतन या अवचेतन रूप से भारत की परिस्थिति से प्रभावित रहता है—उसी भारत की जो कि उत्तर में संसार के उच्चतम पर्वतों से घिरा है लेकिन दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में उस विशाल सागर को छूता है जो कि अन्य देशों और महाद्वीपों के साथ हमारे आदान-प्रदान के लिए फेफड़े का काम करता है।

यूरोप के लिए इटली का जो ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक महत्त्व है, एशिया के लिए भारतवर्ष का ठीक वही महत्त्व रहा है। यह हमारे भूतपूर्व ब्रितानी शासकों का दुर्भाग्य था कि वे इस बात को नहीं समझ सके, और समय रहते हुए भारत को आँग्ल-सेक्सोनी जगत् में सम्मानपूर्वक नहीं अपना सके।

इस शती के आरम्भ में यह सम्भव ही नहीं, आसान भी था कि ब्रितानी और भारतीय जनता में सौहार्द स्थापित करके एक ऐसी विश्वनीति पर अमल किया जाय जिसका उद्देश्य एशिया और अफ़्रीका के पिछड़े हुए प्रदेशों और समाजों की उन्नति, विकास और समृद्धि हो; लेकिन तत्कालीन शासक अवसर चूक गये।

आज पंडित नेहरू की कल्पना, व्यावहारिक अनुभव और यथार्थदर्शी आदर्शवाद के कारण ही हमारी नयी आशा का द्वार खुला है; और दक्षिणी एशिया तथा उत्तरी अफ़्रीका के साठ करोड़ निवासियों के लिए एक सुखदतर और उन्नत जीवन की भावी सम्भावना दीखने लगी है।

पंडित नेहरू की नीति का परिणाम आगे चलकर यह होगा कि भारत को केन्द्र या धुरी बनाकर एक ऐसे विशाल दक्षिणी शान्ति-संघ की स्थापना होगी जो भारत के उदाहरण से, उसकी नैतिक दृष्टि और निःस्वार्थ पर-सेवा के आदर्श से प्रेरित होकर हमारे पड़ोसियों को विदेशी शासन से मुक्त करेगा। भारत ने अपने कम समृद्ध पड़ोसियों को जो सहानुभूति दी है, और पाकिस्तान, बर्मा और लंका से लेकर अधिक दूरी तक के पड़ोसियों में शान्ति, सद्भावना और आत्मविश्वास स्थापित करने का जो काम उठाया है, उसका प्रभाव एशिया के दूरतम कोने में भी पड़ा और कदाचित् अफ़्रीका की जातियों को भी प्रेरणा दे सकेगा।

पंडित नेहरू के शब्दों और कर्मों के पीछे जो भावना या आदर्श है, उसका जिन लोगों ने मेरी भाँति दूर से अध्ययन और अनुसरण किया है, उन सब की यही आशा और प्रार्थना है।

अप्रैल १९४९

एक प्रभावशाली व्यक्तित्व

बाल गंगाधर खेर

पंडित नेहरू महात्मा गान्धी के बाद कदाचित् संसार में सब से अधिक प्रसिद्ध व्यक्ति—या कम से कम भारतीय—हैं। लकिन ऐसा नहीं भी होता, तो भी वह उन व्यक्तियों में से हैं जिनके किसी समाज या समुदाय में प्रवेश करते ही लोग बाध्य होकर मुड़-मुड़ कर देखते हैं और पड़ोसी से पूछते हैं, "यह व्यक्ति कौन है ?" उनका व्यक्तित्व लोगों का ध्यान बरबस अपनी ओर खींचता है, और उनकी बुद्धि और सौम्य व्यवहार उसे बाँधे रखता है। यहाँ मैं उनके चरित्र, पांडित्य, साहित्यिक रचना या बहुमुखी प्रतिभा की बात नहीं करूँगा, केवल उनके व्यक्तित्व के प्रभाव की ही बात करूँगा। पहली बार भेंट होने पर दूरी और तटस्थता का जो नक़ाब उनके चेहरे पर दीखता है, धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा के बाद—और यह प्रतीक्षा काफ़ी लम्बी भी हो सकती है !—उसके पीछे एक ऐसी स्निग्ध बन्धुत्व-भावना का परिचय मिलता है जो प्रतीक्षा के लिए प्रचुर पुरस्कार है। जवाहरलाल में सरलता, खरापन, स्पष्टवादिता, साहस, किसी प्रकार की क्षुद्रता या संकुचित मनोवृत्ति के प्रति घृणा, आदि गुणों के साथ एक स्फूर्ति और मानसिक स्वतन्त्रता भी है जो कि नेता का जन्मजात गुण होता है। अपनी आत्मकथा में उन्होंने अपने गुण-दोषों की विवेचना स्वयं की है; यहाँ उसका हवाला देना अनावश्यक है। उनकी असाधारण तपस्या, भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम में उनकी महान् सेवा और त्याग ने उन्हें आज उस परम गौरवपूर्ण पद पर पहुँचाया है जिस पर वह आज आसीन हैं। आज से २५ वर्ष पहले जब मैंने उन्हें पहले-पहल कांग्रेस में देखा, तब मैं सोचा करता था कि जवाहरलालजी फ़िजूल ही दूर देशों की बातें किया करते हैं, और उस समय मेरी यह भी धारणा थी कि भारत की सम्पूर्ण स्वाधीनता पर उनका आग्रह यथार्थ की अनदेखी करता है। किन्तु क्रमश: मैंने जाना कि उनकी बातें सही है, मैंने पाया कि उनका स्वप्न सच होता जा रहा है। लेकिन सन् १९३६ तक उनके व्यक्तिगत सम्पर्क में आने का विशेष अवसर नहीं हुआ।

कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन देहात में पहले-पहल उसी वर्ष महाराष्ट्र में हुआ—खानदेश के फ़ैजपुर नामक गाँव में। हम लोगों ने बहुत लम्बी-चौड़ी तैयारी की : फ़ैजपुर के लिए जो छोटा-सा स्टेशन पड़ता था उस पर रेलवे ने एक विशेष पुल बनाया जिसमें लाखों रुपया खर्च हुआ। यह मेरा सौभाग्य था कि मुझे कांग्रेस के प्रधान अतिथियों का स्वागत करने का दायित्व-भार सौंपा गया। इसी अवसर पर मुझे पंडित नेहरू के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला। मैं उनकी अगवानी के लिए रेल के बड़े जंकशन तक गया। हम लोगों ने एक स्पेशल गाड़ी तैयार की थी जिसमें केवल इंजन और एक तीसरे दर्जे का डिब्बा था। रात भर की प्रतीक्षा के बाद हमने उसे गेंदे के फूलों से सजाया। समय पर पंडितजी, अपने छोटे-से दल के साथ, पहुँचे और सीधे ही घंटों से प्रतीक्षा करती हुई जनता की सभा में चले गये। मुझे याद है कि उपाध्यायजी उनके लिए एक गिलास गरम पानी प्राप्त करने के लिए कितने व्यस्त थे ! उस दिन न मालूम कितने भाषण पंडितजी उससे पहले दे चुके थे। मुझ पर सब से गहरा प्रभाव इस बात का पड़ा—और इसकी आवृत्ति मैंने बार-बार देखी है—कि हज़ारों पुरुषों और स्त्रियों की आँखें स्थिर होकर उन पर टिकी हुई थीं और उनको देख कर चमक उठी थीं। पंडितजी अपने शान्त तटस्थ भाव से हिन्दुस्तानी में राजनीतिक परिस्थिति पर भाषण दे रहे थे, लेकिन जनता मुग्ध होकर केवल उन्हें निहार रही थी। मज़ा यह था कि सुनने वालों की मातृभाषा मराठी थी, और स्त्रियों में तो कोई भी पंडितजी की बात नहीं समझ रही थी। पुरुषों में भी कम से कम आधे कुछ नहीं समझ रहे थे। उस ज़माने में हिन्दुस्तानी का चलन आज से बहुत कम था। भीड़ पर उनके उस प्रभाव का रहस्य क्या है ? साधारणतया सब जगह सब कोई—मैंने यह अभी हाल में गुजरात में फिर देखा है—क्यों अपना-अपना काम छोड़ कर केवल उन्हें देखने के लिए आ जुटते हैं ? पुरुष, स्त्री, बच्चे, जवान, बूढ़े, रोगी, सभी। इसको देख कर श्रीकृष्ण की वंशी या मलिन के जादू की बीनवाले की याद आ जाती है।

जनता क्यों उनकी पूजा करती है ? कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व की चुम्बकीय शक्ति के कारण। विज्ञान के लिए वह बात ठीक भी हो सकती है। भीड़ के साथ पंडितजी बड़े धीरज का बरताव करते हैं। वह कितने ही थके-चूर क्यों न हों, भीड़ से मिलने को हमेशा तैयार रहते हैं और उसमें आनन्द लेते हैं। भीड़ में अपने-आप को फेंक देने में, धकापेल में भाग लेने में, उन्हें अद्भुत आनन्द मिलता है। मेरी धारणा है कि जनता में उनके प्रभाव का रहस्य यही है कि यह अभिजात व्यक्ति साधारण जन से प्रेम करता है, उत्कट प्रेम करता है। और प्रेमी को सारा संसार प्रेम करता है।

अप्रैल १९४९

'भगवान् की असीम कृपा'

विनोबा भावे

पंडित नेहरूजी के बारे में मैं क्या लिखूं, मुझे सूझ नहीं रहा है। गान्धीजी के बाद उन्हीं का एक नाम है जो हिन्दुस्तान का नाम है। भगवान् की इस देश पर असीम कृपा है कि उसने दादाभाई, तिलक, गान्धी और जवाहरलाल जैसे नेता, एक के पीछे एक, हमें दे दिये। उस की इस कृपा के हम लायक़ बनें।

अप्रैल १९४९
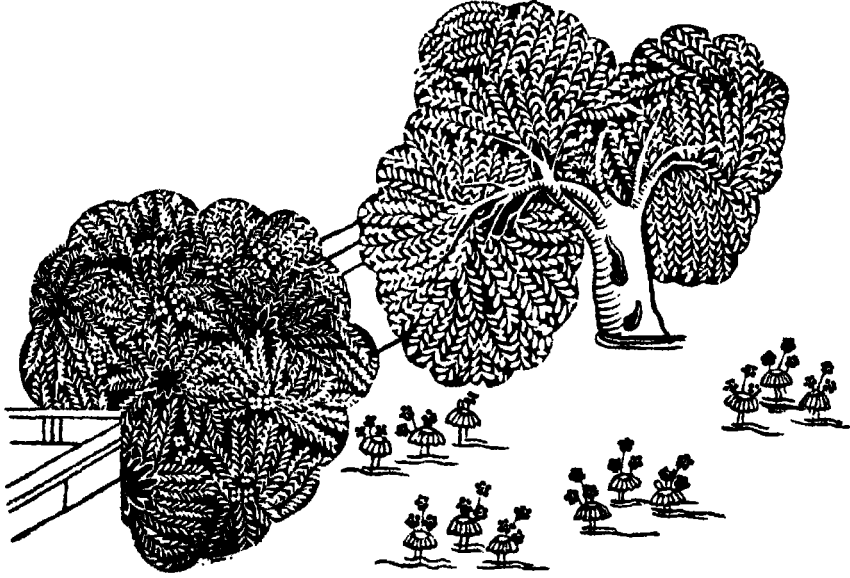
मनुष्यों में जवाहर

मोहनलाल सक्सेना

स्वतन्त्रता के संग्राम में जो लोग जवाहरलाल जी के निकट सहयोगी रहे उन्हें इस बात पर गर्व है कि वे ऐसे महान् योद्धा के सहकारी बन सके। सरल-स्वभाव होते हुए भी जवाहरलाल जी एक विचित्र व्यक्ति हैं। यद्यपि मेरा उनका साथ लगभग तीस वर्ष का है, फिर भी मेरे लिए उसकी प्रतिभा का पूर्णतया दिग्दर्शन कराना आसान नहीं है। उनके जीवन और कार्य के विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। उन्होंने स्वयं भी अपनी आत्मकथा में, जो आत्मकथाओं में सर्व-श्रेष्ठ समझी जाती है, अपना चित्र खींचा है। किन्तु प्रायः यह कहा जाता है कि मनुष्य अपने कार्यों की अपेक्षा स्वयं अधिक महान् होता है और यह कथन जवाहरलाल जी के विषय में भी सही उतरता है। उन्होंने पूर्वमें जन्म लिया और पश्चिम में पले। इसी लिए उनका जीवन पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता के गुणों से प्रभावित है। वह सब प्रकार के, सब जातियों और सब प्रदेशों के निवासियों में भेदभाव नहीं रखते। वह वास्तव में "विश्व नागरिक" हैं।

तीस वर्ष से अधिक वह गान्धी जी की कृपा-छाया में रहे और उन्हीं के पथ पर चल कर बढ़े और उसके समर्थक बने। फिर भी वह अपनी एक विशेष विचारधारा और दृष्टिकोण रखते हैं। गाँधी जी की तरह वह ईश्वर में अन्ध-विश्वास नहीं रखते किन्तु सत्य और प्रकृति के बड़े भारी उपासक हैं। जवाहरलाल जी में आत्म-विश्वास है और वह मानव की नैसर्गिक महानता में भी विश्वास रखते हैं।

मनुष्यों में जवाहरलाल जी सचमुच जवाहर हैं उनका स्नेहमय व्यक्तित्त्व, आकर्षक व्यवहार, चारित्रिक अखंडता, निर्मल सहृदयता और इन सब से बढ़ कर उनका महन् साहस उन्हें मित्रों और प्रशंसकों का प्रेमपात्र और आलोचकों का श्रद्धा भाजन बनाता है। वह दूसरों के विचारों को भली भाँति समझ कर उनका आदर करते हैं। यही नहीं, बल्कि स्पष्ट तथा ज़ोरदार शब्दों में उनकी व्याख्या भी कर सकते हैं। कभी-कभी वह उत्तेजित हो जाते है, किन्तु उनके बड़े शत्रु भी उन पर द्वेष या कटुता का कलंक नहीं लगा सकते।

पंडित जी आज दुनियाँ के महान् राजनीतिज्ञों में गिने जाते है। वास्तव में वे वह भारत के ही हृदय-सम्राट नहीं हैं बल्कि सारे पूर्व की आशा हैं। ईश्वर उनकी आयु लम्बी करे और उन्हें ऐसी शक्ति दे कि वह युद्ध-पीड़ित विश्व को शान्ति देकर अपने गुरु के अधूरे कार्य को पूरा कर सकें।

मई १९४९

मानव-सहानुभूति का आगार

राजकुमारी अमृतकौर

हमारे प्रिय जवाहरलाल को उनकी साठवीं वर्षगाँठ पर विविध प्रकार के ग्रन्थ उपहार तथा श्रद्धा अर्पित की जायगी। प्रत्येक भारतीय तथा संसार के कितने ही लोग उनके जन्म-दिवस पर ईश्वर से मूक प्रार्थना करेंगे कि वह उन्हें मानवता की सेवा के लिए दीर्घायु करे।

मैं उन्हें उनके बचपन से ही जानती हूँ, उस समय से ही जब वे सर्वप्रथम इंग्लैंड से वापस आये। एक लम्बे अर्से तक उनकी मित्रता का मुझे विशेष अवसर प्राप्त है और यह मेरा सौभाग्य ही है कि मुझे कांग्रेस दल के नेता के रूप में ही बल्कि भारत के प्रधान मन्त्री के रूप में जवाहरलाल के साथ कार्य करने का अवसर मिला। यह कहने में मुझे तनिक मात्र भी संकोच नहीं है कि जितना ही कोई उन्हें जानने का प्रयत्न करता है उतना ही वह उसकी श्रद्धा तथा स्नेह के अधिकारी हो जाते हैं। इस स्थल पर मैं राजनीतिक नेता, राजनीतिज्ञ अथवा लेखक के रूप में उनकी योग्यता तथा प्रतिभा का उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझती। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जिन्हें उनको जानने का पूर्ण अवसर मिला है वे उनका सम्मान उनकी अथाह मानव-सहानुभूति, प्रेम तथा समझ और न्यायोचित कार्य करने की प्रज्वलित अभिलाषा के कारण करते हैं। इसके अलावा उनकी कर्त्तव्य-परायणता तथा सत्य की साधना के कारण भी लोग उनका सम्मान करते हैं। अपने इन समस्त गुणों के कारण वह लोगों की श्रद्धा तथा भक्ति के अधिकारी हो जाते हैं।

अनेक बार गान्धीजी से महत्वपूर्ण विषयों पर वाद-विवाद करते हुए उन्हें मैंने देखा है। वह जब गान्धीजी से सहमत नहीं होते थे तो अपने उत्साहपूर्ण ढंग से ही अपने मत का समर्थन करते थे और दूसरे मत का विरोध करते थे। गान्धीजी उनके इस प्रकार के उद्गारों का सम्मान करते थे, क्योंकि वह यह कदापि नहीं चाहते थे कि लोग उनके विचारों को ऊपर से ही स्वीकार कर लें। सन् १९३० के व्यक्तिगत सत्याग्रह को आरम्भ करने के पहले गान्धीजी ने कहा था, "जवाहरलाल जैसा कि उनके नाम से प्रकट है, वास्तव में जवाहर हैं और क्योंकि उनके कार्यों तथा विचारों में सत्य का समावेश रहता है इसलिए भारतवर्ष को उनके नेतृत्व से भयभीत नहीं होना चाहिए।" गान्धीजी के उपवास के विचार का जवाहरलाल ने तीव्र विरोध किया। उपवास का विचार तो कार्यान्वित नहीं हो सका परन्तु व्यक्तिगत सत्याग्रह की अनोखी टेक्नीक का विकास हुआ। आन्दोलन प्रारम्भ हो जाने पर जवाहरलाल की उत्कट अभिलाषा थी कि वह इसमें योग दें। इसका आभास उन्हें देखकर आसानी से मिल जाता था। सेवाग्राम वह प्रायः आ जाया करते थे। उन दिनों के उस अपराह्न को मैं कभी भी नहीं भूल सकती जब उन्होंने एक बार गान्धीजी से विदा ली। हम लोग निश्चित रूप से जानते थे कि वह शीघ्र ही गिरफ़्तार कर लिये जायेंगे और कुछ समय के लिए हमारी आँखों से ओझल हो जायेंगे। अतः उस समय का वातावरण दुःखमय हो गया था। बा ने आशीर्वाद दिया और कहा, "ईश्वर तुम्हारी रक्षा करेगा।" जवाहरलाल ने उनकी ओर देख कर मुस्करा दिया और बोले, "ईश्वर कहाँ है, बा ? और अगर वह है भी तो इस समय गाढ़ी नींद में अचेत होगा !" उनकी इस उक्ति पर गान्धीजी की हार्दिक हँसी को मैं अब भी सुन सकती हूँ। प्रायः वे हम लोगों से कहा करते थे, "यद्यपि जवाहरलाल सदैव यही कहते हैं कि वह ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते, फिर भी वह उन लोगों की अपेक्षा जो अपने को उसका उपासक कहते हैं उससे अधिक समीप हैं।" अतः कोई आश्चर्य की बात न थी कि जवाहरलाल को अपना राजनीतिक उत्तराधिकारी कहते हुए गान्धीजी को तनिक मात्र भी संकोच न होता था।

महादेव देसाई अत्यन्त महीन सूत काता करते थे। उनका कहना था कि स्वभावतः कलात्मक तथा संवेदनशील व्यक्ति महीन सूत के अतिरिक्त अन्य प्रकार का सूत कात ही नहीं सकता। मैं नहीं समझती कि अधिक लोगों को यह ज्ञात है कि जवाहरलाल कितना बढ़िया सूत कातते हैं। और वह निश्चित रूप से स्वभावतः कलात्मक तथा संवेदनशील हैं। प्रकृति

का सौन्दर्य, विशेषकर पर्वतों का, उनके लिए विशेष आकर्षण रखता है। उन्होंने मुझसे एक बार कहा था, "मुझे वह प्रसन्नता कहीं भी नहीं प्राप्त होती जो मैं जंगलों में घूमते समय अनुभव करता हूँ।" वास्तविक बात तो यह है कि वह प्रकृति के प्रगाढ़ प्रेमी हैं और राजनीति के लिए वह बनाये ही नहीं गये थे। मेरा विश्वास है कि अगर वह पढ़ने-लिखने तथा साहित्य-निर्माण में व्यस्त रहते तो उनका जीवन अधिक सुखमय रहता। किन्तु विधि ने उनके लिए दूसरा ही मार्ग निर्धारित किया: विशाल जनसमूह तथा महान् उत्तरदायित्व के भार से उन्हें कम ही अवकाश मिलता है। किन्तु यह हमारा सौभाग्य है कि आज देश का सूत्र ऐसे व्यक्ति के हाथों में है जो गान्धीजी की भाँति इस बात में विश्वास रखता है कि सत्य तथा राजनीति एक साथ चल सकते हैं। आज विश्व को उनकी सबसे बड़ी देन यही है कि वे राजनीतिक तथा भौतिक हितों का ध्यान रखते हुए भी न्याय तथा सम्यक् कार्य का समर्थन करते हैं।

बहुत-से लोगों ने उन्हें अनेक अवसरों पर क्रुद्ध होते हुए देखा है। किन्तु उस बाह्य व्यग्रता के बावजूद भी उनके अन्दर सहिष्णुता का पारावार है और द्वेष की भावना तो उन्हें छू तक नहीं गयी है। उनका क्रोध भी क्षणिक हुआ करता है। किसी भी रूप में अन्याय उनके स्वभाव के परे है। अपनी लोकप्रियता की परवाह न करके भी वे अन्याय का तीव्र विरोध करते हैं। हममें से उन लोगों के लिए, जिन्हें मेरी तरह आन्दोलन के जमाने में उनके साथ कार्य करने का अवसर मिला था, सबसे मर्म-भेदी परिस्थिति वह थी जब हम जवाहरलाल को इस बात से दुःखी और लज्जित देखते थे कि मनुष्य इतना नीचे गिर सकता है कि वह मनुष्यों के साथ क्रूरता का व्यवहार करे। उस संकट-काल में उनका व्यक्तित्व बहुत ऊँचा उठ गया था और मुझे बार-बार इसका आभास मिलता था कि वह बापू के कितना समीप पहुँच गये हैं। ऐसे भी लोग हैं जिनका शिक्षा तथा विकास का क्रम सदैव जारी रहता है। जवाहरलाल भी उन्हीं लोगों में से हैं।

ईश्वर की अनुकम्पा है कि वय का प्रभाव उनके ऊपर कम पड़ता है। शरीर तथा मस्तिष्क से वह अत्यन्त तरुण हैं और जीवन के साधारण सुखों का उपभोग वह बच्चों के उत्साह से करते हैं। ईश्वर करे, वह दीर्घायु हों और हमारे बीच अधिक काल तक रह सकें।

मेरा विश्वास है, और बहुत-से लोग मुझसे सहमत होंगे, कि अगर भारतवर्ष आगामी दस वर्षों में उनके नेतृत्व में भी उन्नति नहीं कर जाता तो हमारा भविष्य अन्धकारमय ही है।

मई १९४९
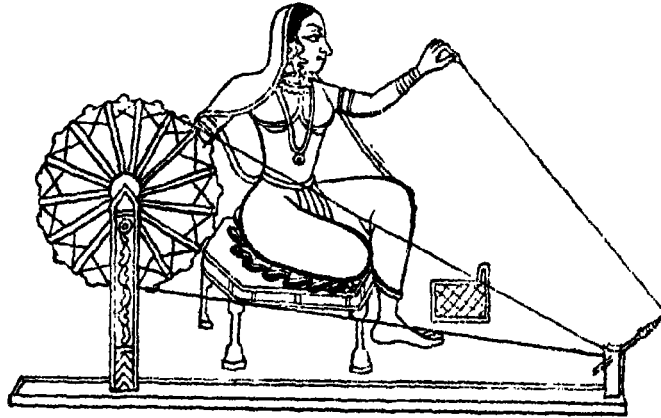
एकमात्र सुसंस्कृत राजनीतिज्ञ

स्टीफ़ेन स्पेंडर

नेहरू मुझे आज के प्रमुख राजनीतिज्ञों में अन्यतम, और कदाचित् एकमात्र सुसंस्कृत राजनीतिज्ञ जान पड़ते हैं। मैंने उनकी पुस्तकें सदा अत्यन्त सहानुभूति के साथ पढ़ी हैं। मुझे यह महसूस होता है कि भारत ही वह देश होगा जो पश्चिम को सिखा सके कि ईसाई धर्म भी व्यावहारिक राजनीति हो सकता है—जिस पाठ को सीखने से पश्चिमी देश सदा इनकार करते आये हैं। अतएव मैं भारतीय सरकार की ओर बड़ी आशा से और उसके प्रधान मन्त्री की ओर बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखता हूँ।

मई १९४९

प्रजातन्त्रवादी विचारक

एन० जी० रंगा

सन् १९४५-४६ तक तो पंडित नेहरू अधिकांशतः भारतीय जनता के नेता थे, किन्तु आज वह देश के नेताओं, विधान-परिषद् के सदस्यों तथा कांग्रेस दल के संचालकों और विचारकों का नेतृत्व कर रहे हैं। राष्ट्रीय महत्त्व की कितनी समस्याओं पर उनका दृष्टिकोण उनके दल के दृष्टिकोण से विपरीत प्रतीत होता है। विचार के स्तर पर उन्हें इससे लड़ना भी पड़ता है। दल के तीव्र आवेग का मुकाबला वह अपने दृष्टिकोण के जोशीले समर्थन से करते हैं। प्रायः उन्हें दल के आवेग के सम्मुख नम्र होना पड़ता है, उसके उत्तेजित विचारों से प्रभावित होकर वह नतमस्तक भी हो जाते हैं; पर जिस समय दल इस अवस्था में होता है कि वह तर्कों पर ध्यान दे सके तो वह पुनः अपना विचार उसके सम्मुख रखते हैं। दल को वह समझाते और मनाते भी हैं। अपनी अपूर्व तर्कशक्ति से वह अपने विचारों की पुष्टि करते हैं। इस कार्य में उन्हें अपनी दृष्टि के तेज से, तथा दूसरों के दृष्टिकोण को समझने और स्वीकार करने की तत्परता से सहायता मिलती है।

कांग्रेस दल भी धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से उन्हीं के अनुसार होता जा रहा है। उन पर इसका स्नेह है, उनको प्रसन्नावस्था में देख कर यह भी प्रसन्न होता है। दल के लोग उनसे रुष्ट भी हो जाते हैं और कभी-कभी दल के रोष से घबड़ा कर वह चुप भी हो जाते हैं। किन्तु उनसे पराजित होने पर भी इसे उतनी ही प्रसन्नता होती है जितनी उन्हें परास्त करने पर। दल के लोग हमेशा इस बात का ध्यान रखते हैं कि उन्हें कोई गहरा आघात न पहुँचे। कई बार तो ऐसा हुआ है कि दल के ऐसे निर्णय, जो काफ़ी सोच-विचार से किये गये थे, केवल इसलिए रद्द कर दिये गये कि उनसे पंडितजी को दुःख होता। कितने ही महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रश्नों पर पंडितजी तथा दल में निरन्तर संघर्ष चला करता है किन्तु दोनों इस बात का ध्यान रखते हैं कि किसी के ऊपर कोई विशेष निर्णय ज़बरदस्ती न लादा जाय। उदाहरण के लिए राष्ट्रभाषा तथा लिपि के, और अल्पसंख्यकों के लिए सुरक्षित स्थान रखने के[1] प्रश्नों पर विधान-परिषद् का कांग्रेस दल पिछले दो वर्षों से किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सका है।

पंडितजी मूलतः प्रजातन्त्रवादी हैं। स्वतन्त्र रूप से प्रत्येक कार्य को वह शीघ्रता तथा शानदार तरीक़े से करना चाहेंगे, व्यवस्था तथा योजना के अनुसार। उनका कोई व्यक्तिगत तथा वर्गहित नहीं है और बुनियादी तौर पर वह प्रगतिवादी और क्रान्तिकारी हैं। निर्णयों पर पहुँचने तथा उन्हें कार्यान्वित करने का सुस्त तथा टेढ़ा-मेढ़ा प्रजातन्त्री ढंग उन्हें पसन्द नहीं। इसी लिए प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं के आलोचना, बाधा तथा दीर्घसूत्रता के ढंगों से वह असन्तुष्ट हो जाते हैं। किन्तु आलोचना का सही मूल्यांकन करने की वह बड़ी कोशिश करते हैं। यद्यपि वह कभी-कभी विपरीत दृष्टिकोण का समर्थन करने वाले व्यक्ति के भाषण तथा वाक्यों को सुनने में असहिष्णुता दिखाते हैं, पर अन्तःप्रेक्षण करने की उनकी शक्ति इतनी तेज़ है कि वह दूसरे दृष्टिकोण को समझने का ज़रूरत से ज़्यादा प्रयास करते हैं। अपने विरोधी की बातों को समझने का वह भरसक प्रयत्न करते हैं और अपने विचारों तथा योजनाओं का पुनः संगठन करने की कोशिश में वह बड़ा सब्र दिखाते हैं। विरोधी विचारों की पृष्ठभूमि में अपनी भावनाओं के अनुकूल हल ढूंढ़ने का प्रयास करते हुए उन्हें आसानी से देखा जा सकता है। इस प्रकार के प्रयास में उन्हें संलग्न देखकर तथा समस्याओं को इस तरह सुलझाने में उनका साथ देते हुए वास्तविक प्रसन्नता का अनुभव होता है। किसी समस्या पर विभिन्न मानसिक प्रतिक्रियाओं को नाप-तौल कर तथा सोच-विचार कर एक निश्चित निर्णय पर पहुँचने का उनका गान्धीवादी तथा सुक़राती ढंग प्रेरणादायक तथा रोमांचकारी होता है। इस प्रकार आज जवाहरलाल अपने प्रमुख अनुयायियों को

[1] इस प्रश्न पर तो अब निश्चय हो चुका है। —सम्पादक

वास्तविक रूप में प्रजातन्त्रवादी तथा प्रगतिवादी विचार-निर्माता और प्रजातन्त्रवादी राजनीतिज्ञ बनने की शिक्षा देने का अनवरत उद्योग कर रहे हैं।

ऐसे भी अवसर आते हैं जब क्रान्तिकारी जवाहरलाल और राजनीतिज्ञ जवाहरलाल में आन्तरिक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। यह सच है कि कोई व्यक्तिगत तथा सैद्धान्तिक दल अथवा गुट बनाने की उन्हें आवश्यकता ही नहीं पड़ी। एक विशाल किन्तु सुसंगठित तथा शक्तिशाली और प्रभावशाली दल उन्हें उत्तराधिकार के रूप में मिला। यह दल उनका तथा सरदार पटेल का इतना भक्त है, और सरदार का स्नेह तथा भावी भारतवर्ष की आशाएँ उन पर इतनी केन्द्रित हैं कि उन्हें अपने नेतृत्व के लिए व्यक्तिगत सहायकों तथा प्रशंसकों का गुट बनाने तथा अपना प्रचार करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इसके साथ सारे देश की जनता का उनके ऊपर अपार अनुराग है। इसलिए उन्हें जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है वे विचार के, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के और अपने अनुयायियों तथा दल के परस्पर-विरोधी वर्ग-हितों के स्तर तक ही सीमित रहती हैं। और इसी लिए वे सदैव सामाजिक वातावरण की राष्ट्रीय, साम्प्रदायिक तथा जातीय और वर्गीय व्यवस्था से संघर्ष किया करते हैं। कभी-कभी उन्हें आश्चर्यजनक विजय प्राप्त होती है, जैसा कि कॉमनवेल्थ की सदस्यता, मौलिक अधिकारों, अल्पसंख्यकों के प्रति सहिष्णुता की भावना और उनके सांस्कृतिक तथा सामाजिक हितों की रक्षा की समस्याओं पर हुआ। किन्तु कितनी ही बार उन्हें परास्त भी होना पड़ा, और इसे उन्होंने सदैव शान्तिपूर्वक प्रसन्नता के साथ स्वीकार किया। व्यवस्थापिका के 'दूसरे चेम्बर' का उन्होंने कड़ा विरोध किया, पर जब उन्होंने देखा कि दल का साधारण मत इसके पक्ष में है और इसे अवांछनीय अधिकार देना ही चाहता है तो वह सभा से उठ कर बाहर चले गये। इस कष्टदायक हार को वह नहीं सह सकते थे। किन्तु प्रगति पर वह हमेशा जोर देते हैं इसी लिए, इस आशा से कि सम्भवतः दूसरे चेम्बर के सदस्य युवा होने पर इसकी रूढ़वादिता को कम कर सकेंगे, उन्होंने उस के सदस्यों की आयु को ३५ वर्ष से ३० वर्ष करने का प्रयत्न किया।

पंडित-नेहरू तथा विधान परिषद् के पारस्परिक सम्बन्ध समय तथा विषय के अनुसार बदलते रहते हैं। प्रायः एक समस्या पर दोनों के दृष्टिकोण पृथक् होते हैं। अधिकांशतः कांग्रेस दल और विधान-परिषद् का दृष्टिकोण संकुचित होता है और ये स्थानीय तथा समीपवर्ती समस्याओं को अधिक महत्त्व देते हैं। जिस समय इस सभा के विचारक और सदस्य किसी समस्या का हल ढूंढ़ने के लिए अपने-अपने दृष्टिकोणों के समर्थन में व्यस्त रहते हैं, जवाहरलाल चुपके से ध्यानमग्न होकर उस पर इस प्रकार ग़ौर करने लगते हैं मानों उनके आसपास कुछ हो ही न रहा हो। उनके नेत्र मुंदे हुए होते हैं और उनके ओठों से ऐसा पता चलता है कि वह कोई शान्त वार्त्तालाप कर रहे हों। उनका मस्तिष्क विचारने में व्यस्त रहता है और प्रायः अपने हाथों को वे अपने केश-विहीन सिर पर फेरते रहते हैं। इस प्रकार आसपास बैठे हुए लोगों के विचार-विनिमय तथा अपने गूढ़ विचार द्वारा जब वह किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं तो एकाएक उनके नेत्र चमक उठते हैं। बैठे हुए लोगों पर वह ऐसी दृष्टि डालते हैं कि यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि अब वह अपने विचारों की वर्षा करने वाले हैं। ऐसे अवसरों पर मित्रों तथा वाद-विवाद में भाग लेने वाले लोगों के लिए उनका सामना करना बड़ा मुश्किल हो जाता है। ऐसी स्थिति में उनकी दशा शिकार पर झपटे हुए सिंह की होती है। ऐसे क्षणों में वह देखने योग्य होते हैं। थोड़े समय तक तो उनका भाषण मामूली ही रहता है, फिर वह अपनी युक्तियाँ पेश करने लगते हैं। एक बहादुर विरोधी की भाँति दूसरे पक्ष को वे अपने तर्कों द्वारा शीघ्र ही समाप्त कर देना चाहते हैं। पर अगर दूसरों का समर्थक भी कोई असाधारण व्यक्ति हुआ तो वह अधिक प्रभावपूर्ण तर्कों का सहारा लेते हैं और उसे समझाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे अवसरों पर मालूम यह पड़ता है कि उनके नेत्रों से आग निकल रही है। इस प्रकार या तो वह पूर्ण रूप से विजयी हो जाते हैं और अपना निष्कर्ष स्वीकार करा लेते हैं, या फिर सन्तुलित विरोधी तर्कों की भूल-भुलैया में निर्णय का काम दल या सभा के ऊपर छोड़ देते हैं।

अपने सार्वजनिक जीवन के विगत २५ वर्षों में मैंने किसी भी देश में इतना अच्छा तार्किक नहीं देखा। कभी भी वह किसी को प्रसन्न करने तथा परास्त करने की अभिलाषा नहीं रखते और देश तथा जनता के लिए अपनी भावनाओं को अपने अनुयायियों पर व्यक्त करने के लिए वह हमेशा व्यग्र रहते हैं। वह आज के प्रजातन्त्रात्मक जगत् की एक अपूर्व घटना हैं। प्रजातन्त्र के इस युग में वही 'दार्शनिक शासक' (फ़िलासफ़र किंग) की अवधारणा के सबसे निकट पहुँचते हैं। इसके लिए हमें महात्मा गान्धी का आभारी होना चाहिए जिन्होंने उन्हें हमारे लिए ऐसा बना दिया

है। गान्धीवादी प्रजातन्त्र की आशा के वह केन्द्र हैं, और विश्वशान्ति तथा सद्भावना के अग्रदूत।

गान्धीजी के देहावसान के पश्चात् जवाहरलाल अधिक गान्धीवादी होते जा रहे हैं। गान्धीजी के विचारों के अनुसार अब वह अधिक क्रियाशील तथा रचनात्मक हैं, यद्यपि बापू के जीवन-काल में वह शंकाओं की मूर्ति थे। आज वह गान्धीजी के विचारों के अनुकूल स्वयं ही नहीं चल रहे हैं बल्कि उनका प्रचार भी कर रहे हैं। वह भी लक्ष्य की अपेक्षा साधनों की पवित्रता पर अधिक जोर देने लगे हैं। आज गान्धीजी की भाँति वह भी यह मानने लग गये हैं कि सद्भावना तथा विश्वास से सद्भावना और विश्वास ही का जन्म होता है और यदि किसी पक्ष से उसे सुखी रखने की अपेक्षा दुःखी करके अधिक लाभ होने की सम्भावना हो तो अच्छा होगा कि थोड़े लाभ ही को प्राप्त किया जाय और दूसरे पक्ष के सुख की अभिलाषा रखी जाय।

हमारे बीच बापू के अभाव को वह भी हमारी तरह ही तीव्रता के साथ अनुभव करते होंगे। अभी उस दिन उन्होंने पीड़ित हृदय से कहा था कि वर्त्तमान विश्व की जटिल समस्याओं और देश और विदेश के लोगों के उद्गारों, ईर्ष्या-भावों और रूढ़िवादिता का सामना करने के लिए हम लोग सर्वथा अयोग्य हैं। उनकी कितनी उत्कट अभिलाषा होती होगी कि आज बापू होते और उनसे प्रेरणा पाकर वह कार्य कर सकते! सम्भवतः इसी आत्मिक पीड़ा के कारण वह बार-बार यह कहते हैं कि किसी भी राजनीतिज्ञ के लिए अगले दस वर्षों की बात सोचना तथा उसी के लिए कार्य करना ही पर्याप्त है। किन्तु यह विचार गान्धीजी के विचारों के प्रतिकूल है। प्रजातन्त्र में उनका विश्वास इतना दृढ़ था कि वह हमेशा अभी पैंतालीस वर्ष आगे तक जीवित रहने की अभिलाषा रखते थे जिससे वह इस विश्व की सेवा करके इसे उबार सकते।

यह हैं प्रजातन्त्रवादी नेता जवाहरलाल, हमारी असंख्य जनता के गुरु और उनके गान्धीवादी स्वराज के निर्माता। इस युग के भारतीय उन्हें अपना नेता तथा साथी स्वीकार करने में गर्व करते हैं।

जून १९४९
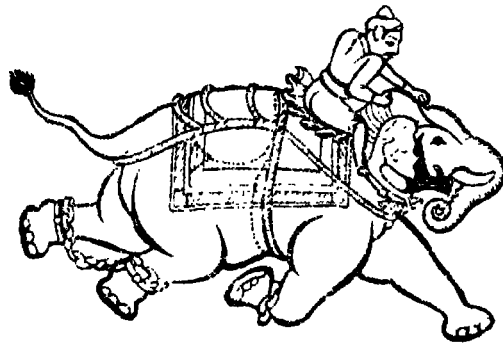
आदर्श के प्रति सम्पूर्ण समर्पण

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

व्यक्ति बहुधा अपने कर्म से बड़ा होता है। कृतित्व केवल उसके व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब होता है, वह भी बहुधा बाहरी प्रभावों से विकृत। व्यक्ति ही मुख्य है। भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम के सैनिक के, एक अत्यन्त प्रभावशाली और तेजस्वी नेता के, अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भारत का सम्मान बढ़ाने वाले प्रधान मन्त्री के रूप में पंडित जवाहरलाल का कृतित्व भी कुछ कम नहीं है; लेकिन इन सब से उनके व्यक्तित्व का केवल आंशिक ही अनुमान हो सकता है। पंडितजी को मैं दिन पर दिन, कभी-कभी लगातार घंटों तक, जिस रूप में देखता हूँ वह उनके कर्म से भिन्न है, और एक विशेष अर्थ में अधिक महत्त्वपूर्ण भी है। वर्षों पहले, होमरूल लीग के दिनों में, सरसरी दृष्टि से देखनेवाले को वह केवल एक शौक़ीन युवक जान पड़ते थे यद्यपि जिनका उनसे घनिष्ठ परिचय है वह अनुभव करते थे कि वह आदर्शवाद की एक जलती हुई शिखा हैं। वही एक समय का छैला युवक आज संसार के सबसे अधिक उत्तरदायी पदों में से एक पद पर आसीन है, और उसके देखने से अनुभव होता है कि वह एक अत्यन्त एकाकी और उदास व्यक्ति है जिसकी स्वप्नभरी आँखें किसी दूर अप्राप्य ध्येय पर टिकी हुई हैं। पंडितजी में और उनके परिवार के लोगों में गहरा स्नेह और लगाव है। उनके निकट मित्रों का छोटा-सा वृत्त है जिनके साथ वह अपने अवकाश के क्षण बिताते हैं; उनसे उन्हें एक उपास्य-सा श्रद्धा-भरा स्नेह मिलता है। पंडितजी की भी उन पर गहरी आस्था है। लेकिन मैं नहीं समझता कि वह अपने दुःख-सुख का साझा उनमें से किसी के साथ भी करते हैं। मैंने एक बार उन्हें अपने कुछ घनिष्ट मित्रों को विदा देते हुए देखा था—दुलार और अपनापे और गलबाहों के बीच वह मानो मूर्ति-से ही खड़े थे। एक थकी हुई मुस्कान ही उनकी प्रतिक्रिया थी। गान्धीजी की मृत्युशय्या के पास बैठे हुए भी मैंने उन्हें देखा था—कातर और मर्माहत; पंडितजी के लिए वही सब विश्वासों की निधि थे—जैसा कि हम में और कइयों के लिए भी। और इसमें आश्चर्य नहीं। पंडितजी अपने एक अलग संसार में रहते हैं, आदर्शों के एक संसार में जिसमें उनकी भावनाएँ सारे संसार के पीड़ितों और प्रताड़ितों को छूती हैं यद्यपि केवल आध्यात्मिक तल पर। वह 'वसुधैवकुटुम्बकम्' वाले सन्त से बिल्कुल भिन्न हैं। ऐसी सूक्ष्म भावनाएँ स्वयं उनको अपने जीवन को महान् आदर्शों के प्रति ऐसे ढंग से समर्पित करने की प्रेरणा देती हैं जो कि उनसे अपरिचित व्यक्ति को अव्यावहारिक और काल्पनिक मालूम हो सकता है। उनका प्रौढ़ विवेक और उनकी समझ-सूझ कई बार चुप खड़ी रह जाती है और उनके आदर्श उन्हें किसी उदार कर्म की ओर अग्रसर करते हैं।

पंडितजी को 'हरि-जन' कदाचित् नहीं कहा जा सकता। मैं नहीं जानता कि वह कभी प्रार्थना करते हैं। उस दिन बिड़ला मन्दिर में उन्होंने गीता पर जो भाषण दिया था वह बिल्कुल सैद्धान्तिक ही था। उनकी पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा के कारण उनके लिए यह बहुत कठिन है कि वह ईश्वर-भक्ति की कोई मुखर अभिव्यक्ति कर सकें या कि जीवन को 'भगवदिच्छा की पूर्ति का साधन' बना सकें। कृष्ण की शिक्षा 'मामेकं शरणं व्रज' कदाचित् उनको आकृष्ट नहीं करेगी। लेकिन कहा जा सकता है कि वह बिना चेष्टा के और बिना जाने ही सच्चे 'हरिजन' हैं। मुझे तो ज़रा भी अचम्भा नहीं हो अगर एक दिन वह सहसा राष्ट्र के एक ईश्वर-प्रेरित उपदेशक के रूप में अवतीर्ण हो जायें!

उनका जीवन उनके कुल के अनुरूप ही है। सच्चे ब्राह्मण की तरह वह उदारचित्त हैं और जीवन को साधना मानते हैं। उनके जीवन का प्रत्येक क्षण, कठोर यथार्थ को उच्च आदर्शों के ढाँचे में ढालने के कार्य को समर्पित है। बाधाओं के सामने उनमें ज्वालामुखी-सी दुर्दमनीयता प्रकट होती है। वह विरोध करते हैं, भर्त्सना करते हैं, प्रचंड रूप से उत्तेजित हो उठते हैं; लेकिन इन उफानों में कभी द्वेष या मालिन्य नहीं होता; उनसे केवल उनका अधैर्य शमित हो जाता है।

पंडितजी का समर्पण भगवान् के प्रति भले ही न हो, एक महान् आदर्श के स्वप्न के प्रति अवश्य है जिसे वह जितनी

जल्दी मूर्त करना चाहते हैं उतनी जल्दी सम्पन्न करना कठिन है। इस आत्म-समर्पण के कारण शक्तियों के संघर्ष की राजनीति में बहुधा वह नैतिक बारीकियों पर आग्रह करते रह जाते हैं। कश्मीर के मामले में संयुक्त राष्ट्रों के आवाहन, या कि हैदराबाद के प्रश्न पर उनकी दीर्घसूत्रता का कारण, 'जो आवश्यक है' और 'जो (उनकी दृष्टि में) उचित है' उन दोनों के विरोध से उत्पन्न होने वाला आध्यात्मिक संघर्ष ही था। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उनके उचितानुचित-विचार भी इसी नैतिक भावना से नियमित होते हैं। इसलिए उनके सहकारी कभी-कभी अटकल लगाते रह जाते हैं कि अमुक सूक्ष्म परिस्थिति में पंडितजी क्या निश्चय कर बैठेंगे।

ऐसे आदर्शवादी और उच्च-पदस्थ व्यक्ति को अपने सहकारियों की राय, या विरोध पक्ष की उचित दलीलों को मानते हुए देख कर स्फूर्ति होती है। अपने मताग्रह के बावजूद वह दल अथवा विधान-परिषद् और देश की जनता की भावनाओं को सर्वथा समझ सकते हैं, और उनके सामने झुक कर भी उन पर विजय पा सकते हैं। वय और अनुभव ने उन्हें एक मृदुता दी है। देश की समस्याओं की महत्ता उनके नैतिक संघर्ष के तनाव को कुछ कम कर देती है। इसी कारण इधर उनमें और सरदार पटेल में सहयोग और सौहार्द, कर्म और भावना का ऐसा सम्पूर्ण सामंजस्य हो सका है।

अक्टूबर १६४६ से उनका गौरव बहुत बढ़ गया है। यथार्थ में उनका बोध भी गहरा हो गया है। शायद और दो वर्ष बाद वह राजनीति में एक अपूर्व पद प्राप्त कर लेंगे—ऐसे राजनीतिज्ञ का पद जिसके पैर धरती पर हैं, मन नैतिक आदर्शों के आकाश में विचरण करता है, और हृदय लोक-कल्याण के प्रति समर्पित है। हाँ, इस बीच विश्व की गति उनको राजनीति से अलग ही कर दे तो और बात है।

पंडितजी के व्यक्तित्व का सब से आकर्षक पक्ष है उनका सौन्दर्य-बोध। उनकी मनोहर मुस्कान, उनके हाथों का फूल, संस्कृत लोगों के प्रति उनका आकर्षण—इन सब में सौन्दर्य के प्रति उनका आकर्षण लक्षित होता है, प्लातू के कल्पित 'परम सौन्दर्य' के प्रति। गान्धीजी ने अपने जोरदार व्यक्तित्व और तेजस्वी कर्मवाद के द्वारा जिस खादी-युग का प्रवर्तन किया, उसमें 'जो सुन्दर है' उसके ऊपर 'जो उपयोगी है' वह हावी हो गया है। पंडितजी कदाचित् उन इने-गिने व्यक्तियों में से एक हैं जो कि गान्धीजी के घनिष्ठ सम्पर्क में आये लेकिन उनके दर्शन से सम्पूर्णतया अभिभूत होने से बचे रहे। यद्यपि अपने गुरु के निर्देश में उन्होंने अपने को कर्मठ जीवन के प्रति समर्पित किया है तथापि सौन्दर्य का स्वप्न उनका कभी नहीं मिटा। वह अब भी सुरुचिपूर्ण वातावरण की सृष्टि में, सामंजस्य के प्रति आकर्षण में, रंग और रूपाकारों के बोध में प्रकट होता रहता है। सच्ची कला और साहित्य के प्रति उनका प्रेम इतना ही उत्कट है। अपने यौवन-काल से ही संघर्ष में निरत रहते हुए भी उन्होंने साहित्य-कला की साधना की है। उनकी रचनाओं में सच्चे साहित्य-शिल्पी की छाप है और कला के विषय की उनकी फुटकर उक्तियों से उनका सौन्दर्य-बोध प्रकट होता है। पंडितजी का सौन्दर्य-बोध भी उनके आदर्शों से सम्बद्ध है। मानो वह एक ही स्वप्न के पूरक अंग हैं। एक कलाकार न केवल स्वतन्त्रता-संग्राम में आ पड़ा है बल्कि शक्ति के दाव-पेच की राजनीति में भी! आधुनिक काल के गँदले वातावरण में सबसे अधिक यही चीज उन्हें विशिष्ट करती है। लेकिन उनका सौन्दर्य-बोध निरी कलात्मकता तक सीमित नहीं है। उनके लिए सौन्दर्य न्याय है और न्याय सौन्दर्य है—न्याय अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, सामाजिक और व्यक्तिगत। अभी उस दिन उन्होंने खाद्यवस्तुओं के बारे में भाषण देते हुए कहा था, "फूलों से मुझे प्रेम है, लेकिन आज केलों का एक गुच्छा मेरी दृष्टि में किसी फूल से अधिक मधुर है।"

उनका जीवन भारत के भाग्य के साथ गुँथा हुआ है। उनका और सरदार पटेल का अपूर्व सहयोग भारत के लिए बहुत बड़ी पूंजी है। इतिहास में इससे बड़ा सहयोग कदाचित् ही किसी राष्ट्र में मिलेगा, आगामी वर्षों की सफलता और असफलता बहुत कुछ इसी पर निर्भर है कि यह दुर्लभ सहयोग कहाँ तक भारत को एक सबल शासन, उसकी जनता को उत्कट कर्म-प्रेरणा, एशिया को और संसार को शान्ति देने में सफल होता है।

जुलाई १९४९

'भारतीय स्वाधीनता-संग्राम की प्रतिमूर्ति'

गोविन्दवल्लभ पन्त

पंडित जवाहरलाल नेहरू आज ६० वर्ष के हो गये। फिर भी वह ६० वर्ष के हो गये, यह मन में विश्वास नहीं होता। युवकों के इस हृदय-सम्राट् का सम्मान सदा युवक के रूप में ही किया जाता रहा है। स्फूर्ति और चेतना की इस चल प्रतिमा ने भारत के युवकों पर गहरी छाप डाली है। अपने जीवन का अधिकांश देश की स्वाधीनता की लड़ाई में लगा देने के कारण पंडित जवाहरलाल भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के प्रतिमूर्ति हो गये हैं। जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो उन्हें शासन-भार वहन करना पड़ा। वह भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री हुए। कल का युवक और विद्रोही नेता आज एकाएक भारत राष्ट्र का सिरमौर और प्रधान शासक हो गया। जिस जटिल और कठिन समय में उन्होंने भारत की नौका की पतवार सँभाली और जिस योग्यता, सहिष्णुता और सहृदयता से उन्होंने उसे आगे बढ़ाया उसकी सराहना विदेशियों ने भी मुक्तकंठ से की है। अत्यन्त योग्यता, निपुणता और अद्भुत कौशल के साथ उन्होंने उच्चतम पद की शोभा बढ़ायी है। सर्वोच्च कोटि का मानव-प्रेम, उदार भाव, सत्य और न्याय-निष्ठा जवाहरलालजी में प्रतिबिम्बित है।

मेरा यह सौभाग्य है कि जवाहरलाल से मेरा घनिष्ठतम सम्बन्ध रहा है। कई बार हमें एक साथ जेल-जीवन बिताना पड़ा। जितना अधिक मैंने उन्हें देखा, उनके प्रति स्नेह और आदर बढ़ता गया। जितना ही अधिक इस महा-पुरुष के निकट हम पहुँचते हैं उतना ही अधिक उसकी महत्ता हमें प्रज्वलित प्रतीत होती है। उनकी प्रगाढ़ विद्वत्ता, अदम्य साहस, उत्तम कर्तव्यनिष्ठा, अद्वितीय और अद्भुत त्याग, निस्सीम कर्मठता, ठोस राजनीतिज्ञता आदि गुण सर्व-विदित और सर्वत्र सम्मानित हैं। मेरी दृष्टि में उनकी विद्वत्ता और पांडित्य की अपेक्षा उनके हृदय की विशालता अधिक मोहक है। उनकी जैसी कोमल मानसिक भावना कम लोगों में देखी जाती है। और इस कोमल भावना में उदारता और दया समाविष्ट है। जिन्होंने उन्हें सार्वजनिक सभाओं के मंचों पर उत्तेजित देखा है वे उनके विचारों की कोम-लता, आन्तरिक नम्रता और उदार वृत्ति तथा सहानुभूति की भावना की कल्पना स्यात् ही कर सकें।

जवाहरलाल का जीवन कलामय है। छोटी से छोटी बात से लेकर बड़ी से बड़ी समस्याओं तक पर वह यही दृष्टि डालते हैं और हर काम को लालित्य और माधुर्य से परिपूर्ण करना चाहते हैं, सरस बनाते हैं। साधारण से साधा-रण कार्य को भी वह पूर्ण मनोयोग से करना चाहते हैं और उनकी दृष्टि में जीवन की सार्थकता की माप यह है कि छोटे से छोटे काम को भी उत्तम और आदर्श रीति से निभाया जाय। श्रेष्ठ साधनों और उत्तम उपायों का प्रयोग वह केवल बड़े कार्यों के लिए ही करना पर्याप्त नहीं समझते। घर-बाहर की सफ़ाई, समाज और देश का छोटा-बड़ा काम, सब वह शुद्ध रीति से चाहते हैं। पवित्रता और शुचिता का ध्यान एक पल के लिए भी वह अपने मन से नहीं हटाते। जिन लोगों ने उनके साथ काम किया है वे भली भाँति जानते हैं कि जवाहरलालजी दूसरों का दृष्टिकोण समझने के लिए कितने तत्पर रहते हैं। अत्यन्त नाजुक समय में बड़ा से बड़ा संकट आ पड़ने पर भी वह एक क्षण के लिए सिद्धान्त से नहीं डिगते और साहसपूर्वक ऐसा क़दम उठाते है जिसे देख कर चकित रह जाना पड़ता है।

जवाहरलालजी की प्रतिभा बहुमुखी है। उनकी साहित्यिक कृतियों का संसार में ऊँचा स्थान है। आधुनिक दर्शन का उनका अध्ययन व्यापक और गहरा है। संसार की घटनाओं का ज्ञान अद्वितीय है। आधुनिक विज्ञान की प्रगति और गति-विधि में प्रति क्षण जो उन्नति हो रही है उसका वह अब भी, इतने बड़े कामों में व्यस्त होते हुए, अध्ययन करते रहते हैं। साहित्य, कविता, कला आदि को उन्होंने अब भी नहीं बिसराया है। प्रौढ़ और गम्भीर राजनीति में व्यस्त होते हुए भी वह स्फूर्ति, उत्साह और नवजीवन के स्रोत इस अवस्था में भी वैसे ही हैं जैसे युवावस्था में। वे सबके जीवन में परिपूर्णता, सजीवता और सरसता चाहते हैं। योगासन करना, चंचल घोड़ों पर सवार होना, दुर्गम पहाड़ों पर विचरना, तैरना, स्केटिंग और स्कीइंग में उनकी स्वाभाविक रुचि है। ये कौशल उन्हें ६० वर्ष की अवस्था में स्वस्थ

और प्रसन्न रखते हैं। वे साधारणतम कार्य में भी पूरा ध्यान देते हैं। उनका जीवन-क्रम अत्यन्त व्यवस्थित है।

हमारे राष्ट्र के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि पंडित जवाहरलाल ऐसा नर-रत्न देश का कर्णधार है। हमारी आशाएँ और आकांक्षाएँ उनमें केन्द्रित हैं। आज संसार भारत को नेहरू के द्वारा जानता है। उनकी सफलता में हमारा वैभव है और उनकी शक्ति हमारा गौरव। ईश्वर उन्हें चिरायु करे, जिससे संसार को शक्ति और भारत को समृद्धि प्राप्त हो।

अगस्त १९४९

एक गतिशील व्यक्तित्त्व

प्रेमसिंह लोढवंश

पंडित जवाहरलाल से मेरी पहली भेंट सन् १६१६ में हुई, जब क़ैसर बाग़ लखनऊ में मैं उनके स्वर्गीय पिता से मिलने गया था। पंडित मोतीलालजी तब एक मुक़दमे के सिलसिले में वहाँ आये हुए थे। मैंने उन्हें सूचित किया कि पंजाब में मार्शल लॉ के अधिकारी पंजाबियों के साथ जो बुरा व्यवहार कर रहे हैं, मैं उस के बारे में उनसे बातचीत करने आया हूँ। वह उस समय पैरवी के लिए जा रहे थे, इसलिए उन्होंने मुझे दूसरे दिन चाय पर आने के लिए कहा। दूसरे दिन मैं नियत समय पर पहुँचा; उस समय जवाहरलाल जी भी मौजूद थे। मैंने उन्हें अपनी दर्दभरी कहानी सुनायी और उनके सामने लाहौर के सैनिक शासक कर्नल जानसन के ऐलानों और हुक्मों की प्रतियाँ भी पेश कीं। ये प्रतियाँ मैंने छिपे-छिपे बड़ी जोखम से इकट्ठी की थीं, क्योंकि जो लोग इन्हें नोटिस-बोर्ड से उतारने का साहस करते हुए पकड़े जाते उन्हें ठंडी सड़क पर मार्केट के सामने बेंत लगाये जाते थे। मेरा बयान सुन कर जवाहरलाल जी बहुत उत्तेजित हुए और उन्होंने अपने पिता से मामले को हाथ में लेने का आग्रह किया। अनन्तर अ० भा० कांग्रेस कमेटी ने पंडित मोतीलाल नेहरू के प्रधानत्व में एक समिति नियुक्त की। वास्तव में पंजाब में सैनिक शासकों के जुल्म और अत्याचार की जाँच करने के लिए इस समिति की नियुक्ति जवाहरलालजी के कारण ही हुई।

दिसम्बर १६२० में नागपुर-कांग्रेस में, जब महात्मा गान्धी असहयोग का प्रस्ताव उपस्थित करना चाहते थे, नेताओं में बहुत खींचातानी चल रही थी। अन्त में पंडित मोतीलाल नेहरू और स्वर्गीय चित्तरंजन दास महात्माजी के प्रस्ताव पर राज़ी हो गये और मौलाना शौकतअली तो खिलाफ़त-आन्दोलन के कारण महात्माजी के साथ थे ही। स्वर्गीय लाला लाजपतराय महात्माजी से सहमत नहीं थे; और यह ख़बर आग की तरह सारे कैम्प में फैल गयी। दूसरे दिन लाला लाजपतराय अखिल भारतीय विद्यार्थी-सम्मेलन के सभापति हुए और श्रोताओं ने उन्हें बोलने नहीं दिया। अन्त में उन्होंने भी असहयोग आन्दोलन में शामिल होना स्वीकार कर लिया। पंडित मोतीलाल नेहरू का यह मत-परिवर्तन मुख्यतया जवाहरलालजी के कारण ही था और उन्हीं के कारण उनके पिता ने अपनी सफल वकालत भी छोड़ी। यहाँ यह स्मरण करना भी रोचक होगा कि जिन्ना साहब मरहूम भी इस अधिवेशन में उपस्थित थे और अ० भा० कांग्रेस कमेटी के इजलास में उनकी कुरसी मेरी बग़ल में ही थी। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने मुझे बताया कि वह असहयोग के प्रस्ताव पर महात्माजी से सहमत नहीं हैं और इसलिए वह कांग्रेस में उस समय अन्तिम बार भाग ले रहे हैं।

सन् १६३६ में वायसराय ने जर्मनी और उसके साथी देशों के साथ युद्ध की घोषणा कर दी, और कांग्रेस की कार्यकारिणी ने युद्ध-घोषणा के विरुद्ध सुप्रसिद्ध अगस्त प्रस्ताव पास किया। सब नेता गिरफ़्तार कर लिये गये। जवाहरलाल नेहरू अहमदनगर-जेल में रखे गये और सन् १६४६ में अन्तरिम सरकार की स्थापना के विषय में शिमले के वार्तालाप के समय ही छोड़े गये। जिन्ना साहब के मताग्रह के कारण यह वार्तालाप निष्परिणाम हुआ। अन्ततोगत्वा कांग्रेस ने अन्तरिम सरकार में भाग लेना स्वीकार किया और पंडित जवाहरलाल नेहरू गवर्नर जनरल की कौंसिल के उप-प्रधान चुने गये। कांग्रेस के पदग्रहण के बाद देश में जो घटनाएँ घटीं उनका इतिहास तो हम सबका जाना हुआ है। कलकत्ते में मुसलमानों ने दंगा आरम्भ कर दिया। फिर नोआखाली में अनेक हिन्दुओं की हत्या हुई और अनेकों का ज़बरदस्ती धर्म भ्रष्ट किया गया। महात्मा गान्धी ने स्थिति को सँभालने का यत्न किया, लेकिन मुसलमानों ने उत्तर-पश्चिम में हज़ारा, कैम्बेलपुर, रावलपिंडी, शेख़ूपुरा, लाहौर और अमृतसर में हिन्दुओं और सिखों को—आतंकित करने के लिए—लूट-मार और हत्या करना शुरू कर दिया। यह सब ब्रितानी शासन के रहते हुए ही हुआ, और सबसे अधिक अत्याचार उन ज़िलों में हुआ जहाँ ज़िला और पुलिस के हाकिम अंग्रेज़ थे। जवाहरलाल नेहरू ने सुपरिचित साहस के साथ अमृतसर, लाहौर और शेख़ूपुरा ज़िलों का दौरा किया ताकि वहाँ की परिस्थिति स्वयं देख सकें। जान पड़ता है कि पंडित नेहरू ने भारत का विभाजन जिन्ना साहब और उनके

अनुयायियों को तुष्ट करने के लिए ही स्वीकार किया, ताकि भारतीय राजनीति का इन लोगों से पिंड छूटे। भारतीय संघ और पाकिस्तान की सरकार ने दिल्ली—पूर्वी पंजाब और पश्चिमी पंजाब—सीमा प्रान्त की आबादियों का अदल-बदल भी स्वीकार किया। पश्चिमी पंजाब और सीमा प्रान्त के शरणार्थियों को पुनर्वासित करने का जिम्मा पंडित नेहरू ने लिया। इसके लिए अब भी भगीरथ प्रयत्न हो रहा है।

अन्तरिम सरकार में शामिल होने के बाद से ही पंडित जी अधीरता से भारत की महत्ता का स्वप्न देख रहे हैं। अहमद-नगर-जेल में उन्होंने "भारत का शोध" ('हिन्दुस्तान की कहानी') नामक अमर रचना की थी जिसमें भारत के अतीत गौरव और वर्तमान स्वतन्त्रता-संग्राम पर प्रकाश डाला गया था। लेकिन इससे भी बड़ा एक स्वप्न था एशिया के शोध का स्वप्न जिसे वह जीवन भर देखते रहे थे। समस्त एशिया की एकता का उनका स्वप्न था। देश को स्वतन्त्रता मिलते ही उन्होंने एशिया का शोध आरम्भ कर दिया। सारे एशियायी देश यूरोपीय साम्राज्यवाद के बोझ से तिलमिला रहे थे। भारत और बर्मा आर्थिक और राजनीतिक बन्धन में बँधे थे, चीन असमान सन्धियों से बद्ध और गृह-युद्ध का शिकार था; हिन्देशिया और हिन्दचीनी डच और फ़ांसीसी साम्राज्यवाद से मुक्त होने के लिए संघर्ष कर रहे थे। ईरान, स्याम, मिस्र और अरब देश स्वाधीन होते हुए भी इतने छोटे हैं कि यूरोपीय साम्राज्यवाद और कूटनीति के सामने टिक नहीं सकते। भारतीय विश्व-राजनीति-परिषद् (इंडियन कौंसिल आफ़ वर्ल्ड एफेयर्स) ने, जिसमें पंडित जवाहरलाल नेहरू बहुत रुचि ले रहे थे, एक अखिल एशिया-सम्मेलन का आयोजन किया और उसके लिए अन्तरिम सरकार की स्थापना से भी पहले एशियायी देशों को निमन्त्रण भेजे। सम्मेलन मार्च १९४७ में बड़ी धूम-धाम के साथ सम्पन्न हुआ। इसने पंडित जवाहरलाल नेहरू के गौरव को और भी बढ़ा दिया और वह सारे एशिया के सम्मानित नेता के आसन पर पहुँच गये।

हाल के कॉमनवेल्थ सम्मेलन में पंडित जवाहरलाल की सफलता भी उल्लेखनीय है। वर्तमान विश्व-परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए उन्होंने निश्चय किया कि भारत को ब्रितानी राष्ट्र-मंडल में रहना चाहिए, बशर्ते कि भारतीय विधान के प्रजातन्त्र रूप की सम्पूर्ण रक्षा हो सके। प्रधान मंत्री एटली ने उनके दृष्टिकोण को समझा, और यह उपाय निकाला गया कि राजा केवल स्वाधीन राष्ट्रों के स्वेच्छित सहयोग का प्रतीक है और इसी रूप में राज्य-मंडल का मुखिया। भारत की सदस्यता स्वाधीन राष्ट्र के रूप में ही स्वीकार की गयी। प्रधान मन्त्रियों के सम्मेलन की घोषणा का विधान-परिषद् और अ० भा० कांग्रेस कमेटी ने अनुमोदन किया है। यह पंडित जवाहरलाल की बड़ी विजय है।

इन कुछ शब्दों में मैं भारत की स्वाधीनता और महत्ता के लिए —यद्यपि दुर्भाग्य से भारत विभाजित है—किये गये पंडितजी के महान् कृतित्व के प्रति अपनी श्रद्धांजलि भेंट करता हूँ। उनकी वर्षगांठ के उपलक्ष में उन्हें बधाई देते हुए मैं कामना करता हूँ कि मातृभूमि की सेवा के लिए वह चिरायु हों।

जून १९४९

जनता और जवाहर

रामधारीसिंह 'दिनकर'

फीकी उसाँस फूलों की है मद्धिम है ज्योति सितारों की
कुछ बुझी-बुझी-सी लगती है झंकार हृदय के तारों की।

चाहे जितना भी चाँद चढ़े, सागर न किन्तु लहराता है;
कुछ हुआ हिमालय को, गरदन ऊपर को नहीं उठाता है।

अरमानों में रोशनी नहीं, इच्छा में जीवन का न रंग,
पाँखों में पत्थर बाँध कहीं सूने में जा सोयी उमंग।

ग़म की चट्टानों के नीचे ज़िन्दगी पड़ी सोयी-सी है,
निर्वापित दीप हुआ जब से जनता खोयी-खोयी-सी है।

झालरें ख्वाब के परदों की, झाँकी रंगीन घटाओं की,
दिखलाते हैं ये तसवीरें किसको आसन्न छटाओं की?

तम के सिर पर आलोक बाँध डूबा जो नरता का दिनेश
उस महासूर्य की याद लिये बेहोशी में है पड़ा देश।

औरों की आँखें सूख गयीं, हैं सजल दीनता के लोचन
औरों के नेता गये, मगर जनता का उजड़ गया जीवन।

चुभती हैं पल-पल, घड़ी-घड़ी अन्तर में गाँस कसाले की,
भूलती याद ही नहीं कभी छाती छिदवाने वाले की।

आँखें वे मलिन गुफाओं में शीतल प्रकाश भरने वाली,
मुस्कानें वे पीयूषमयी, उम्मीद हरी करने वाली।

सब के पापों का बोझ उठाये फिरना जान अकेली पर,
बापू का वह घूमना प्राण को निर्भय लिये हथेली पर।

अभिशप्त देश के हाथों से विष-कलश खुशी से ले लेना,
फिर उसी अभागे की खातिर अनमोल ज़िन्दगी दे देना।

इन अमिट झाँकियों से लिपटा अन्तर स्वदेश का सोता है,
है किसे फ़िक्र, आवाज़ सुने? समझे कि कहाँ क्या होता है?

इस घमासान अँधियाले में आशा का दीपक एक शेष,
जनता के ज्योतिर्नयन! तुम्हें ही देख-देख जी रहा देश।

जो मिली विरासत तुम्हें, आँख उसकी आँसू से गीली हैं,
आशाओं में आलोक नहीं इच्छाएँ नहीं रँगीली हैं।

इस महासिन्धु के प्राणों में आलोड़न फिर भरना होगा,
जनतन्त्र बसाने के पहले जन को जाग्रत करना होगा।

सपनों की दुनिया डोल रही निष्ठा के पग थर्राते हैं,
तप से प्रदीप्त आदर्शों पर बादल-से छाये जाते हैं।

इस गहन तमिस्रा को बेधो शायक नवीन सन्धान करो,
ऊँघती हुई सुषमाओं का किरणों पर चढ़ आह्वान करो।

जनता विषण्ण, जनता उदास, जनता अधीर अकुलाती है,
निरुपाय तुम्हारी जय पुकार वह अपना हृदय जुड़ाती है।

तम-गहन उदासी के भीतर आशा का यह उच्चार सुनो,
इस महाघोर अँधियाले में अपना यह जयजयकार सुनो।

भीतर आवेगों की आँधी ज्यों-ज्यों हो विवश मचलती है,
त्यों-त्यों अधीर जन-कंठों से आकुल जयकार निकलती है।

हैं पूछ रहे जय के निनाद, कब तक यह रात खतम होगी?
सूखेंगे भींगे नयन और वेदना देश की कम होगी;

जो स्वर्ग हवा में हिलता है, मिट्टी पर वह कब आयेगा?
काले बादल हैं जहाँ वहाँ कब इन्द्र-धनुष लहरायेगा?

झूलता तुम्हारी आँखों में जो स्वर्ग, हमारी आशा है,
तुम पाल रहे हो जिसे, वही भारत भर की अभिलाषा है।

आँसू के दानों में झरते वे मोती निर्धनता के हैं,
लिखते हो जो कुछ वही लेख सौभाग्य दीन जनता के हैं।

सब देख रहे हैं राह, सुधा कब धार बाँध कर छूटेगी,
नरवीर! तुम्हारी मुट्ठी से किस रोज़ रोशनी फूटेगी?

है खड़ा तुम्हारा देश, जहाँ भी चाहो, वहीं इशारों पर!
जनता के ज्योतिर्नयन! बढ़ाओ क़दम चाँद पर, तारों पर!

है कौन जहर का वह प्रवाह जो तुम चाहो औ' रुके नहीं?
है कौन दर्पशाली ऐसा तुम हुक्म करो, वह झुके नहीं?

न्योछावर इच्छाएँ, उमंग, आशा, अरमान जवाहर पर,
सौ-सौ जानों से कोटि-कोटि जन हैं क़ुरबान जवाहर पर।

नाज़ाँ है हिन्दुस्तान, एशिया को अभिमान जवाहर पर,
करुणा की छाया किये रहें पल-पल भगवान जवाहर पर!

महात्मा गान्धी का उत्तराधिकारी

श्रीमन्नारायण अग्रवाल

'जवाहरलाल मेरा राजनीतिक उत्तराधिकारी है। मेरे जीवनकाल में मुझसे उसका मतभेद हो सकता है, पर मेरे पीछे वह मेरी ही भाषा बोलेगा।' राष्ट्रपिता बापू ने ऐतिहासिक अगस्त क्रान्ति से कुछ मास पहले वर्धा में होने वाले अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में अभिभाषण करते हुए यह भविष्य-वाणी की थी। और गान्धी जी के देहत्याग के पीछे सचमुच पंडित जवाहरलाल नेहरू में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ है। बापू के जीवन-काल में पंडित जी का उनसे कई बार मतभेद हुआ, यहाँ तक कि अहिंसा के सिद्धान्त पर भी विरोध के अवसर आये। किन्तु आज पंडित जी दिवंगत गुरु के पट्टशिष्य के रूप में एक भव्य और आलोकित दीपस्तम्भ की भाँति हमारे सामने जगमगा रहे हैं। हिंसा और घृणा से पीड़ित संसार में पंडित जी ही एकमात्र प्रमुख राजनीतिक हैं जो युद्ध-रत राष्ट्रों को प्रेम और अहिंसा का सन्देश दे रहे हैं। संयुक्त राष्ट्रों के खुले अधिवेशन में उनका मौखिक भाषण महात्मा गान्धी के योग्यतम शिष्य और 'उत्तराधिकारी' के भाषण के रूप में इतिहास के पृष्ठों में स्मरणीय रहेगा।

देश की आन्तरिक समस्याओं को सुलझाने में हमारे प्रधान मंत्री ने उल्लेखनीय धैर्य और उदारता का परिचय दिया है, और इसके लिए गलत समझे जाने की जोखिम भी उठायी है। पाकिस्तान, कश्मीर और हैदराबाद से सम्बद्ध जटिल समस्याओं का जो निराकरण उन्होंने किया, वह निरन्तर हमें महात्मा गान्धी के अमर और जीवनप्रद सन्देश का स्मरण दिलाता रहता है, जिसे कोई कम पाये का नेता कदाचित् सहज ही भूल जाता। किन्तु पंडित जी प्राणों की जोखिम उठाकर भी सहज भाव से गुरु-चरणों का अनुसरण करते चले जाते हैं।

उनकी निष्ठा पर सन्देह करना मूर्खता होगा। जो लोग यह धारणा बना लेते हैं कि जवाहरलाल जी केवल जनता की श्रद्धा से लाभ उठाने के लिए जब-तब महात्मा गान्धी के प्रति भक्ति प्रदर्शित करते हैं, वे अपने प्रधान मन्त्री को बिल्कुल नहीं जानते। पंडितजी में दूसरे दोष हो सकते हैं, लेकिन असत्याचरण या पाखंड की उनके राजनीतिक व्यवहार में कभी किसी परिस्थिति में कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनकी शालीन सत्यनिष्ठा इतनी उच्च कोटि की और पारदर्शक है कि उसे वही गलत समझ सकता है जो स्वयं पाखंडी है। उनकी आकस्मिक उत्तेजना और कड़े शब्दों पर किसी को आपत्ति हो सकती है, पर उनकी सच्चाई और खरेपन पर सन्देह की भावना भी मन में लाना पाप होगा।

पंडित नेहरू सहज ही हम सब से कहीं ऊँचे तल पर हैं—वह इस युग के महत्तर राजनीतिकों में से एक हैं। उनका अगाध पांडित्य, उदार दृष्टिकोण, मौलिक सद्भावना और आकर्षक व्यक्तित्व हमारी अमर विभूति हैं। 'विश्व इतिहास की झलक', 'मेरी कहानी' और 'हिन्दुस्तान की कहानी' के लेखक के रूप में ही उनका नाम युगों तक गूँजता। भारत के प्रधान मन्त्री के रूप में अगली पीढ़ियाँ अत्यन्त कृतज्ञ भाव से उस महान् नेता को याद करेंगी जिसने भारत के राष्ट्र-पोत की पतवार सँभाल कर उसे सफलतापूर्वक उस गरजते महासागर के पार लगाया जिसमें देश की नवार्जित स्वाधीनता ही संकटग्रस्त हो गयी थी।

किन्तु अपनी अपूर्व महत्ता में भी हमारे प्रधान मन्त्री शिशुवत् सरल हैं। वह बच्चों की तरह मुस्कराते और हँसते हैं, बच्चों-से मचलते और झल्लाते हैं, और बच्चों-से ही दौड़ते, चंचल होते हैं। उनमें बच्चे-सा ही अदम्य उत्साह और अथक क्रियाशीलता है। वह कभी कटु वचन कहते हैं, पर कभी किसी से कीना नहीं रखते। जब उनका रोष—जो उन्होंने शायद अपने महान् पिता से पाया है—ठंडा होता है तब वह क्षमा माँगने से नहीं झिझकते—मैल उनके मन में टिक नहीं सकता। अपने देशवासियों के लिए उनके शिशु-सरल हृदय में अपार स्नेह है। अन्याय, असत्य, और काम में ढिलाई के प्रति उनमें तत्क्षण ही विद्रोह जाग उठता है।

इस प्रकार पंडितजी एकाधिक अर्थों में महात्मा गान्धी के योग्य उत्तराधिकारी हैं। यह भारत का सौभाग्य है कि उसे ऐसा प्रधान मन्त्री—या कि स्वयं उनके शब्दों में 'प्रधान सेवक'—मिला है। कुछ व्यक्तियों को, कुछ देशों को भाग्य विशेष रूप से अपने क्रिया-कलापों के लिए चुनता है। हमारा देश भाग्य की लीला-भूमि है तो पंडितजी को भाग्य-पुरुष कहा जा सकता है। भगवान् उन्हें स्वास्थ्य, शक्ति और चिरायु दे, जिससे वे भारत को एक महान् और संगठित देश बना सकें; ऐसा देश, जिससे विकीरित ज्योति-किरणें उस गहन अन्धकार को भेद सकें जो आज मानव जाति के अस्तित्व को ही लील लिया चाहता है।

मार्च १६४६

पूर्व और पशि्चम का मिलन : जवाहरलाल की दृष्टि में

एना कामेन्स्की

'पूर्व और पश्चिम दोनों अल्लाह के हैं।'

—क़ुरान

'नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ' की जगमगाती साखियों के साथ में भी विनयपूर्वक अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि जोड़ रही हूँ; क्योंकि प्रधान मन्त्री नेहरू इस संकटमय काल में अनेक कठिनाइयों के बीच में अपने महान् उत्तरदायित्व का निर्वाह जिस ढंग से कर रहे हैं, उसकी प्रशंसा सभी देशों के लोग करते हैं। उनकी निष्ठा, उनकी लगन, उनका धैर्य और साहस, महान् हैं। भारत के सच्चे सपूत की भाँति वह भारत की महान् परम्परा के उन श्रेष्ठ तत्वों के प्रति निष्ठावान् रहे हैं जो हम सभी के लिए बहुमूल्य हैं।

विश्व-शान्ति कैसे हो सकती है ? यह प्रश्न आज का प्रमुख प्रश्न है। हाल के दो महायुद्धों के उपरान्त यह स्पष्ट हो गया है कि सभी राष्ट्रों और जातियों के सहयोग के बिना यह समस्या हल नहीं हो सकती। फिर भी शान्ति-सम्मेलनों और महासभाओं में लोग केवल यूरोप की या भावी यूरोपीय संयुक्तराष्ट्र की, और संसार के उद्धार के लिए यूरोपीय संस्कृति की रक्षा की, बात किया करते हैं, और यह भुला देते हैं कि इनका बाक़ी दुनिया के साथ इतना गहरा सम्बन्ध है कि इनके लिए भी विश्व-व्यापी सहोयोग अनिवार्य है। विशेष कर एशिया की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि उसके पास बहुत कुछ कहने को है और उसकी वाणी का महत्त्व असीम है।

प्रधान मन्त्री नेहरू ने ३ नवम्बर १९४८ को पैरिस में, संयुक्तराष्ट्रों के खुले अधिवेशन के सामने, जो भाषण दिया वह बहुत ही स्फूर्तिप्रद है।

उन्होंने समस्या के विश्वव्यापी रूप की ओर सभा का ध्यान दिलाया। यूरोप के दुर्विपाक में भारत और पूर्वीय जगत् की दिलचस्पी का उल्लेख उन्होंने किया, किन्तु इस पर अचम्भा भी प्रकट किया कि कैसे वाद-विवाद में एशिया को प्रायः भुला दिया जाता है, मानों उसके मत और सहयोग का महत्त्व न हो। उनका भाषण हमारे लिए अत्यन्त मननीय है। "एशिया के प्रतिनिधि के रूप में, क्या मैं कहूँ कि हम यूरोप का उसकी संस्कृति और उसकी विकसित सभ्यता के लिए सम्मान करते हैं ? क्या मैं कहूँ कि यूरोप की समस्याओं को सुलझाने में हमारी समान दिलचस्पी है ? किन्तु क्या यह भी मैं कहूँ, कि पूरा विश्व यूरोप से कुछ बड़ी इयत्ता है, और आप यह मानते रह कर कभी अपनी समस्या नहीं सुलझा सकेंगे कि मुख्यतया यूरोप की समस्याएँ ही विश्व की समस्याएँ हैं।....दुनिया के कई बड़े भूखंड ऐसे हैं, जिन्होंने अतीत में भले ही विश्व-व्यवहार में भाग न लिया हो लेकिन जो आज सजग हैं, जिनकी जनता गतिमान है, और जो उपेक्षित होने या पीछे छोड़ दिये जाने के लिए बिलकुल तैयार नहीं हैं। ....यह एक सीधी-सी बात है जो हमें याद रखनी है। क्योंकि जब तक आप अपने सामने पूरी दुनिया का चित्र नहीं रखते, जब तक संसार की किसी एक समस्या को अन्य समस्याओं से पृथक् करके देखते हैं, तब तक आप विश्व की समस्या को समझ नहीं सकते। आज मैं दावे के साथ कहना चाहता हूँ कि दुनिया के मामलों में एशिया अपना महत्त्व रखता है। कल वह आज से भी अधिक महत्त्व रखेगा। भारत जैसे महान् देश, जो औपनिवेशिक अवस्था से निकल आये हैं, यह सम्भव नहीं मानते कि दूसरे देश औपनिवेशिक दासता में बँधे रहना चाहेंगे। जातियों की समानता के अधिकार को, जो कि संयुक्त राष्ट्रों की एक बुनियादी शर्त है, हम अत्यन्त गौरव का विषय समझते हैं क्योंकि इसकी समस्या हमारी एक आधारभूत समस्या रही है।"....('वन वर्ल्ड', दिसम्बर-जनवरी अंक, १९४९)

प्रधान मन्त्री नेहरू ने आगे सभा से, प्रश्न के राजनीतिक पहलू को छोड़ कर, इस बात पर ध्यान देने को कहा कि संसार में कौन से प्रदेशों में खाद्य वस्तुओं की कमी है। उन्होंने सन्देह और आशंका के उस वातावरण की ओर भी

संकेत किया, जिसका दारुण परिणाम हो सकता है और जिसे दूर करना आवश्यक है। संसार के लिए आशा का सन्देश लाना आवश्यक है। विश्व-व्यवस्था सम्मेलन जुटाने से पहले आशा और परस्पर सद्भाव का वातावरण पैदा करना अनिवार्य है।

एक प्रसिद्ध शान्तिवादी कप्तान बाक ने विश्व के पुनर्निर्माण की चर्चा करते हुए यही विचार प्रकट किया है ('द ट्रेजेडी आफ़ पीस' नामक ग्रन्थ में)। उन्होंने सद्भावना और उदारता के वातावरण की तुलना आल्प्स के पर्वतीय वायुमंडल से की है। विश्व के पुनर्निर्माण का स्वप्न देखने वालों को, भौतिक तल पर कार्यारम्भ करने से पहले इस स्वच्छ वायु में अवगाहन करना चाहिए। विश्व-सम्मेलन के सदस्यों का पहला परिचय और संलाप इसी ऊँचे स्तर पर होना चाहिए। अवश्यमेव, उस सभा में 'सब धर्मों के प्रतिनिधि होने चाहिए, ताकि नीचे के स्तर के राजनीतिक संगठन के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा हो सके। पहले शिखरों पर आत्माओं का सम्मिलन होना चाहिए।' यह उनका विश्वास है।

बहुधा कहा जाता है, 'पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम, इनका मिलन नहीं हो सकता।' किपलिंग की एक उक्ति का प्रमाण देकर लोग भूल जाते हैं कि उसी ने इसके विरुद्ध भी कहा है: 'किन्तु सदाशय सुधीजन सदा मिल सकते हैं, पूरब के भी, पश्चिम के भी।' निस्सन्देह पूर्व और पश्चिम के आदर्शों में भेद है, किन्तु सुदूर भविष्य की मानव जाति के कल्याण के लिए दोनों की आवश्यकता है। किसी एक के विनाश का परिणाम, जैसा कि डाक्टर एनी बेसेंट ने कहा है, यह होगा कि 'जाति का विकास न होगा, न हो सकेगा' ('द ग्रेट प्लैन', एनी बेसेंट)। पूर्व का आदर्श रहा है कुटुम्ब के धर्म को ही राष्ट्र में प्रसारित करना—जो कि सभ्यता के आदर्श का आधार है। पश्चिम के आदर्श में व्यक्ति की परिकल्पना का चरमोत्कर्ष वैमनस्य, संघर्ष और कलह को जन्म देता है, और मिलन के बजाय विग्रह का कारण बनता है। कर्तव्य की भावना और अधिकार की भावना दोनों ही सीमोल्लंघन कर गयी हैं, उन्हें एक दूसरे का पूरक होना होगा। इसी में पूर्व को सन्तुलन मिलेगा, और पश्चिम में यूरोप और अतएव सारे जगत् में अशान्ति और कलह का अन्त होगा। इस प्रकार एशिया को भुलाया नहीं जा सकता। पश्चिम को पुनर्निर्माण के लिए पूर्व की अपेक्षा रहेगी। भारत एशिया का हृदय है; उसकी सम्मति, और अपनी भव्य परम्परा और उच्च आदर्शों के कारण उसका सहयोग, पृथ्वी की सब जातियों के कल्याण के लिए चरम महत्त्व रखता है।

अतएव प्रधान मन्त्री नेहरू का सम्मेलन को यह स्मरण दिलाना सर्वथा उचित है कि पुनर्निर्माण के कार्य में एशिया का सहभागी होना अनिवार्य है। शान्ति की समस्या विश्वसमस्या है, अकेले यूरोप की नहीं।

आरम्भ में बन्धु नेहरू ने हमें शान्ति का मूल बताया, जो कि शस्त्रबल में नहीं, प्रेम और विवेक की भावना में निहित है। यदि हम मानवीय इतिहास के एक नये सर्ग में प्रवेश कर रहे हैं, शान्ति के युग में, तब मानवीय अन्तःकरण को प्रेम से आलोकित होना ही होगा। जैसा कि हक्सले ने संयुक्त राष्ट्रों के शैक्षिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को) के आगे कहा था, "युद्ध की तैयारी जनता के मनःक्षेत्र में हुई थी—शान्ति की स्थापना भी पहले मनःक्षेत्र में ही होनी होगी।" और यह मनःक्षेत्र हमारे क्षुद्र अहं का क्षेत्र नहीं, वरन् आत्मा का वह क्षेत्र है जो भीतर की प्रेरणा से प्रेम और सेवा में अभिव्यक्त होता है।

मार्च १९४९

ear Motilalji
So Jawahar
is to have six
months rest.
te has worked
ike a Trojan.
e needed this
est. If things
ntinue to
ove with the
resent velocity
e won't have
ven six months

rest. The jamboree
you saw the
other day is dif-
ferent today
whole villages
have turned
out. I never
expected this
phenomenal
response. In
many villages
Government
servants can
get no service

जवाहरलालजी का सन १९३० के सत्याग्रह में छः मास की सजा होने पर महात्मा गांधी ने पं० मोतीलाल नेहरू को लिखा था कि
"जवाहर ने अत्यधिक परिश्रम किया है और उसे इस छः महीने के विश्राम की जरूरत थी।"

3

the removal of
me & our
picked men
has only stiffened
the ~~opp~~ resistance
of the people.
But enough of
this optimism.
He will be a wise
man who can
say what will
happen tomorrow.
Accounts arriving

4

from Bombay
too are most
encouraging.
I take it you
are following
the pages of
Young India.
How are you
keeping?

Dandi
12-4-30

Yours
M. K. Gandhi

म्युनिसिपल संग्रहालय, इलाहाबाद के सौजन्य से

एशिया की मुक्ति

अहमद अमीन यलमन

सन् १९४२ की बात है। पाँच तुर्क पत्रकारों के मंडल का एक सदस्य होने के नाते कनाडा और अमेरिका की यात्रा करके मैं मियामी, हायटी, ब्रितानी गायना, ब्राज़ील और अफ़्रीक़ा के रास्ते तुर्की लौट रहा था। ब्रितानी गायना के विस्तृत हवाई अड्डे पर एक रात टिकना पड़ा, और घूमते-फिरते अँधेरे में मैं रास्ता भूल गया। अन्त में मुझे वहीं एक मेस में काम करने वाला १६ बरस का लड़का मिला जिसने पथप्रदर्शन करना स्वीकार किया। बातचीत के दौरान में जब उसे मालूम हुआ कि मैं तुर्क हूँ तो उसने बड़े उत्साह से कहा :

"तब तो आप हमारे मित्र हैं"

"क्यों, मैं कैसे तुम्हारा मित्र ?" मैंने पूछा, "क्या मुसलमान होने के नाते ?"

"न, मैं ईसाई हूँ। आप मेरे मित्र इसलिए हैं कि आप ऐसे मुल्क के रहने वाले हैं जिसे दबाने और गुलाम बनाने की बड़े मुल्कों ने बहुत कोशिश की, मगर जो अपनी आज़ादी क़ायम रखने में समर्थ हुआ। इससे हमें कितना बल मिलता है ! इससे हमारी भी उम्मीद बँधती है कि हम भी अपनी आज़ादी जीत सकते हैं; कि हमें भी लोग इनसान समझ कर हमारी इज़्ज़त करेंगे।"

इस सीधे-सादे लड़के के अन्दर स्वाभिमान और स्वाधीनता की इस तड़प का अन्दाज़ कर मैं चौंक उठा। उस लड़के को कुछ शिक्षा का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, और उसे वेतन भी अच्छा मिलता जान पड़ता था। फिर भी उसके लिए ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि लोग उसे पराधीन न कहें, वह अपने मानवीय अधिकारों का पूर्ण उपभोग कर सके, गुलाम की तरह नहीं, एक बराबर हैसियत वाले स्वाधीन व्यक्ति की तरह।

बहुत से यूरोपियन जो कुछ पिछड़े हुए देशों में अदालतें, शासन-प्रबन्ध और आधुनिक विज्ञान के नये चमत्कार लाने का ढोंग रचते रहते हैं, यह कभी नहीं महसूस कर पाते कि क्यों लोग उनकी सेवाओं के लिए कृतज्ञ नहीं होते और पूर्णतया विनम्र होकर अपनी हेच स्थिति को क्यों नहीं स्वीकार कर लेते। यह तो स्पष्ट है कि किसी भी तरह की पराधीनता में मानवीय स्वाभिमान की चेतना इनसान के लिए उतनी ही आवश्यक है जितना भोजन या आश्रय। ख़ास तौर से जिन लोगों की आज़ादी उनकी इच्छा के विरुद्ध छीनी जा चुकी है उन लोगों का दिल और भी भर उठता है, जब उनके ही मुल्क में विदेशी आगन्तुक उनसे गुलामों का-सा व्यवहार करते हैं।

तुर्की का एक बाज़ू एशिया में है और पिछले एक-डेढ़ सौ साल से उसकी ज्यादातर ताक़त अपने स्वाभिमान और स्वाधीनता की रक्षा में लगी है। इसीलिए हम लोग उसी दिशा में बढ़ती हुई एशियाई जनता के मुक्ति-संग्राम को समझ सकते हैं, और उसके लिए गहरी हमदर्दी रखते हैं। हर एक तुर्क महात्मा गान्धी का सम्मान करता था, और उनके अनन्य सहयोगी पंडित जवाहरलाल नेहरू का भी, जो भारतीय स्वाधीनता और मानव-प्रतिष्ठा की पुनःस्थापना के संग्राम के बहादुर सिपाही रहे हैं।

हम लोग एक नये युग के द्वार पर खड़े हैं। एक मुल्क का दूसरे मुल्क से सम्बन्ध विवशता से नहीं बल्कि स्वतन्त्र सहयोग से क़ायम करने का ज़माना आ गया है। गान्धी, नेहरू और अन्य महापुरुषों का लम्बा और अथक संघर्ष निश्चय ही पूर्ण सफलता पर पहुँच रहा है। आज हिन्दुस्तान के लोग स्वयं अपने भाग्य के विधाता कहे जा सकते हैं।

सभी एशियाई लोगों के सामने यह आम समस्या है कि वे अपनी शक्ति को रचनात्मक कार्यों में प्रस्फुटित करें और वातावरण में व्यवस्था और स्थायित्व लावें ताकि वे उन राष्ट्रों से सही मानों में समानता का दावा कर सकें जिन्होंने मानव-इतिहास की वैज्ञानिक और सामाजिक प्रगति के काल में आगे बढ़ कर फ़ायदा उठाया है। हम सबों

को इस साझे की समस्या में गर्व करना चाहिए, एक दूसरे के अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए, आपस में घनिष्ठ सम्पर्क बनाये रखना चाहिए और इस कठिन प्रयास में एक दूसरे को नैतिक सहारा देते रहना चाहिए।

हमने स्वयं अपनी लड़ाई में देखा है कि स्वतन्त्रता और सहिष्णुता यही दोनों तत्त्व प्रगति के द्वार की कुंजियाँ हैं। तुर्की की प्रगति तभी से बेरोक चल रही है जब से उसने धर्म को राजनीति से अलग कर दिया है और शासन-प्रणाली धार्मिक मतवाद के चंगुल से छूट गयी है। यह कोई धर्म-विद्रोह नहीं था बल्कि इससे धर्म नैतिक उन्नति और भक्ति का साधन बन कर अपना सच्चा रूप पा सका।

इस अनुभव के परिणाम-स्वरूप हमारी यह हार्दिक इच्छा है कि धार्मिक मतभेद के कारण भारत और पाकिस्तान के अन्तर बढ़ें नहीं बल्कि आपसी सहनशीलता और सहयोग का एक नया दौर शुरू हो जिससे वह सारा महाद्वीप सब तरह के विग्रह और विनाशकारी प्रभावों का विरोध कर सके और समस्त एशिया में शान्ति और प्रगति लाने की जिम्मे-दारी में दोनों देश साझा कर सकें। दोनों की यह एकता यूरोप और अमरीका के विरोध में न होनी चाहिए बल्कि अपने क्षेत्र में मानवता की मंगल-साधना के लिए होनी चाहिए। हज़ारों साल पहले पूर्व ने मानव-सभ्यता की नैतिक आधार-भूमि प्रस्तुत की थी। आज फिर समय आया है कि पूर्व अपने को आगे लाये और नयी दुनिया के निर्माण में एक गतिशील प्रभावशाली शक्ति बन सके।

इधर तुर्की में, अपने अभावों और त्रुटियों को अच्छी तरह समझ कर इस महान् कार्य में अपना भाग चुकाने के लिए अपने को प्रस्तुत करते हुए, हम मानते हैं कि एशिया के भविष्य का जो सपना हम सब देखते हैं, उसे सच्चा कर सकने की सारी आशाएँ नेहरू पर ही लगी हैं। उनके अब तक के कृतित्व का तो हम सम्मान करते ही हैं, हमें यह भी विश्वास है कि उनका भावी कार्य हमें एशिया की मुक्ति और प्रगति के मौलिक ध्येय के नजदीक ले जायगा।

मार्च १९४९

भारत का प्रथम नागरिक

पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास

भारत के स्वराज-आन्दोलन में जो नाम आदर और श्रद्धा के साथ लिये जाते हैं, उनमें भारत की स्वतन्त्रता के निर्माता महात्मा गान्धी का नाम सर्वप्रथम स्मरणीय है। राष्ट्र के दुर्भाग्य से महात्मा जी देश के स्वातन्त्र्य-लाभ के एक वर्ष के भीतर ही हमारे बीच से उठ गये। अब सद्यःप्राप्त स्वातन्त्र्य के अनुरूप भारत के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक ढाँचे का पुनर्निर्माण उनके अनुयायियों के हाथों में है, जिनमें जवाहरलाल नेहरू प्रमुख हैं।

यह तो अकसर कहा जाता है कि स्वाधीनता प्राप्त कर लेना एक बात है और उसकी रक्षा करना दूसरी। किन्तु स्वाधीनता को ऐसे रूप में बनाये रखना, कि उससे देश के सर्व-साधारण का हित हो, और अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में राष्ट्र का नाम रौशन हो, यह तो और भी दूसरी बात है। यही कठिन कार्य हमारे वर्तमान केन्द्रीय मन्त्रिमंडल के कन्धों पर पड़ा है। यद्यपि कांग्रेस के प्रधान और उनकी कार्यकारिणी समिति कुछ मामलों में कुछ उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने का साहस करती है, तथापि साधारण जनता केन्द्रीय मन्त्रिमंडल के दो विशिष्ट व्यक्तियों की ओर ही देखती है, और अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की दृष्टि में तो एक ही व्यक्ति है जिसे वह महात्मा गान्धी के बाद की राजनीतिक प्रगति का प्रतीक मानती है। देश की जनता हमारे शासन-यन्त्र की नाना प्रकार की बुराइयों के निराकरण की अपेक्षा प्रधान मन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू और उप-प्रधान मन्त्री सरदार वल्लभभाई पटेल दोनों से करती है, किन्तु इन दोनों में भी प्रधान मंत्री होने के नाते जवाहरलाल जी का दायित्व ही बड़ा है।

यह दायित्व साधारण कोटि का नहीं है। उन्हें जिन समस्याओं का सामना करना पड़ा, उनमें केवल पराधीनता से स्वाधीनता के स्थिति-परिवर्तन की ही समस्याएँ नहीं थीं, बल्कि एक कुकल्पित, हड़बड़ी में आयोजित, और विपज्जनक ढंग से आरोपित देश के विभाजन से उत्पन्न होने वाली असंख्य अभूतपूर्व उलझनें भी थीं। यहाँ पर मैं प्रजाओं के उत्पाटन और स्थानान्तर-करण की, और शरणार्थियों की उस समस्या का उल्लेख नहीं करूँगा जिसकी तुलना संसार के इतिहास में न मिलेगी : मैं केवल नयी सरकार के सामने उपस्थित आर्थिक समस्याओं की ही बात करूँगा। मार्च १९४९ के आरम्भ तक भी भारत के खाद्य और कृषि मन्त्री ने देश की अव्यवस्थित स्थिति की सफ़ाई देते हुए भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद् की अनुशासन समिति के आगे कहा था :

> "विभाजन के फल-स्वरूप देश के साधनों में भारी कमी आ गयी है। अविभाजित देश की जनसंख्या का ८० प्रतिशत उसे मिला है, किन्तु उसे खिलाने के लिए देश की चावल की उपज का केवल ६५ प्रतिशत उसके पास रह गया। विभाजन का एक और दुष्परिणाम यह हुआ कि अनिश्चित मौसमी वर्षा पर निर्भर करने वाले प्रदेश का अनुपात से कहीं अधिक भाग हमारे पास रहा। जनसंख्या के ८० प्रतिशत के मुकाबले में नहरों से सिंची भूमि का केवल ६६ प्रतिशत भारत में रहा, और गेहूँ की खेती का तो केवल ५४ प्रतिशत। देश के विराट् बन्ध और नहरों की प्रणालियाँ सब आज पाकिस्तान में हैं, जिस पर अविभाजित भारत की केवल २० प्रतिशत जनसंख्या को खाद्य सामग्री देने का भार है।"

इसी प्रकार जूट की स्थिति यह है कि मिलें सब भारत में हैं, और कच्चा जूट—जिसे आज की संसारव्यापी परिस्थिति को देखते हुए सोने के समान मूल्यवान कहा जा सकता है—पाकिस्तान की अतिरिक्त पैदावार हो गया है। सूती कपड़े की अधिकांश मिलें भारत में आ गयी हैं, मगर सर्वोत्तम कपास पैदा करने वाले कुछ प्रदेश पाकिस्तान में चले गये हैं। दूसरी ओर यह भी है कि पाकिस्तान को अपनी सूती कपड़े की जरूरतें बाहर से पूरी करनी पड़ेंगी, जब तक कि वह अपनी मिलें न स्थापित कर ले।

यह स्वीकार करना होगा कि पंडित जवाहरलाल नेहरू को किसी भी प्रधान मन्त्री के लिए संसार में अधिक

से अधिक जटिल कुछ समस्याओं का सामना करना पड़ा है। यह कोई छोटी बात नहीं है कि ऐसी समस्याओं के बावजूद, जो किसी पुरानी सुस्थापित शासन-संस्था के लिए भी कष्ट-साध्य होतीं, भारत में शान्ति और व्यवस्था क़ायम रखी गयी और अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ायी गयी। कई कठिन आर्थिक और मनोवैज्ञानिक समस्याएँ अब भी बाक़ी हैं। इन समस्याओं में एक यह भी है कि भारत की जनता शासकों द्वारा—जो अन्ततोगत्वा मनुष्य ही हैं—की गयी किसी भूल-चूक को क्षमा कर देना कठिन पाती है।

पंडित नेहरू की शिक्षा-दीक्षा भारत जैसे लम्बी सांस्कृतिक परम्परा वाले राष्ट्र के नेता के योग्य ही हुई है। उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता को अपने जीवन का ध्येय बनाया, और जीवन के आरम्भ में ही अपने को स्वाधीनता-संग्राम में लगा दिया। सुशिक्षित और ऐसी लगन वाले एक प्रतिभावान् युवक की ओर महात्मा गान्धी का ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक था। दोनों का सम्बन्ध क्रमशः घनिष्ठतर होता गया, यहाँ तक कि पंडित नेहरू महात्माजी के राजनीतिक उत्तराधिकारी के रूप में प्रसिद्ध होकर देश की कोटि-कोटि जनता की आस्था पाने वाले एकमात्र व्यक्ति हुए।

यहाँ तनिक विषयान्तर क्षम्य समझा जाय। भारत विभिन्न भाषाएँ बोलने वाले विभिन्न सांस्कृतिक अवयवों का समूह है। ब्रितानी प्रभुत्व में इसकी भौगोलिक एकता क़ायम रखी गयी थी एक दूसरे प्रकार के नियन्त्रण से। आज देश की सब से बड़ी आवश्यकता है किसी ऐसी शक्ति की, जो भारत की एकता को बनाये रख सके; और महात्माजी के निधन के बाद भी भारत के सौभाग्य से पंडित नेहरू के रूप में वह शक्ति विद्यमान है। ध्येय के प्रति उनकी निष्ठा में किसी को भी सन्देह नहीं है, और उनके कटुतम आलोचक भी स्वीकार करते हैं कि वे उनकी या उनके मन्त्रिमंडल की नीतियों में से कुछ का सुधार चाहते हैं, मन्त्रिमंडल को पदच्युत करना नहीं। यह स्वयमेव उनके प्रति विश्वास की अभिव्यक्ति है।

महात्माजी की भाँति ही उनको साधारण जन पर ममत्व है, और महात्मा जी की भाँति ही उन्हें कभी-कभी स्वप्नदर्शी कहा जाता है।

आज के युद्ध-जर्जर विश्व में, और युद्ध से उत्पन्न सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के बीच में, यह स्वाभाविक ही है कि पंडित नेहरू के साठ वर्ष पूरे करने पर प्रत्येक भारतवासी की मंगल कामनाएँ उनके साथ हों, और सब यह प्रार्थना करें कि वे चिरायु हों और पूरी लगन तथा अपनी अद्वितीय कर्तव्यनिष्ठा के साथ भारत की सेवा करते रहें।

मार्च १९४९
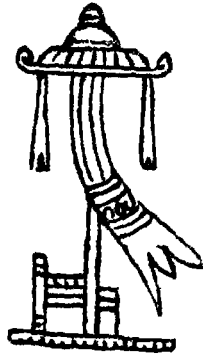
तीसरे संक्रमण का नेता

जेरल्ड हर्ड

'पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम, इनका मिलन नहीं होगा', यह साम्राज्यवाद का फ़तवा था। प्राचीन रोम की 'विग्रह द्वारा शासन' की नीति का यह आधुनिक रूपान्तर था। किन्तु इस तरह की प्राचीन विभाजन-रेखाओं का सहसा मिट जाना इतिहास के अध्येता के लिए एक दिलचस्प विषय है। प्राच्यवाद और पाश्चात्यवाद के उन्मूलन का श्रेष्ठ उदाहरण भारत के राजनीतिक विकास में मिलता है। बल्कि यह घटना ऐसी आश्चर्यमय, ऐसी अपूर्व है कि उसके अध्ययन में सतर्क न रहने से उसकी गम्भीर मौलिकता की अनदेखी ही हो जा सकती है।

इतिहास अपने को दुहराता है, यह कहना भूल है। आर्थिक तरक़्क़ी तो एक कारण है ही, उसके अलावा मानसिक विकास भी एक प्रमुख कारण है। इस दोहरे प्रस्फुटन की क्रिया ही प्रत्येक ऐतिहासिक युग को अद्वितीय बना देती है। मैकिंडर ने अपने महत्त्वपूर्ण अध्ययन 'प्रजातान्त्रिक आदर्श और यथार्थता' में इस क्रिया के एक पक्ष की विवेचना की है। यूरोपीय राष्ट्रों की रचना इस बात से निश्चित हुई कि कितने बड़े प्रदेश पर स्थानीय शासक की अश्व-सेना नियन्त्रण रख सकती है और उसे आक्रमण से बचा सकती है। इसी बात पर प्रत्येक राष्ट्र के जीवन की सीमाएँ आधारित रहीं। इस तरह बनी हुई सीमारेखाओं के भीतर विशिष्ट नैतिक मर्यादाएँ विकसित हुईं। पाँच नैसर्गिक नैतिक प्रश्नों के अलग-अलग स्थानीय समाधान निकले जिनसे विवाह, सम्पत्ति, अनुबन्ध, वैध बलप्रयोग और विचार-स्वातन्त्र्य का नियमन हुआ। साधारणतया यूरोप की और विशेष रूप से उसके सामाजिक संगठन की इस देन—राष्ट्र की कल्पना—की ट्रैजेडी यह हुई कि जहाँ उसकी अर्थ-नीति निरन्तर यान्त्रिक आविष्कार के सहारे विकसित होती गई, वहाँ उसका मानसिक विकास रुका ही नहीं बल्कि कुंठित हो गया। आर्थिक विकास के साथ उत्पादन और वितरण को सँभालने की शक्ति में वृद्धि होती रही, यहाँ तक कि यान्त्रिक कार्यक्षमता के लिए आवश्यक जान पड़ने लगा कि समूचा यूरोप एक आर्थिक संगठन हो जाय। किन्तु सामाजिक मनोविकास इतना कुंठित रहा कि वह इसका विरोध करता रहा। इसीसे यूरोप की अराजकता उत्पन्न हुई। प्रत्येक राष्ट्र समूचे प्रदेश की व्यवस्था करने की शक्ति और साधन पाकर दूसरों से सम्पूर्ण अधिकार के लिए प्रतियोगिता करने लगा। लेकिन ऐसी प्रधानता किसी राष्ट्र को न मिल सकी, क्योंकि मानसिक पिछड़ेपन के कारण जो एकमात्र साधन सब राष्ट्रों का एकीकरण कर सकता था—अर्थात् एक संघ—वह राष्ट्रों के बहुमत को कभी अल्पकाल के लिए भी स्वीकार्य नहीं हुआ। राष्ट्रवाद ने एक चीज़ निस्सन्देह सिद्ध कर दी है। यह प्रमाणित हो गया है कि आर्थिक व्यवस्था पर आश्रित प्रसार (यान्त्रिक दृष्टि से वह चाहे कितना ही सम्भव और खाद्य वस्तु की दृष्टि से कितना ही आवश्यक क्यों न हो), असफल होगा और अराजकता उत्पन्न करेगा अगर मानसिक-सामाजिक शक्तियाँ (जो कि समाज को संगठित रखती हैं) ऐसे प्रसार के विरुद्ध हों। मानव के लिए जब-जब यह प्रश्न आता है कि अधिक भोजन और कम मानसिक-सामाजिक गौरव में से एक को चुने, तब वह रोटी की अपेक्षा गौरव को ही चुनता है। और इसमें उसका अविवेक नहीं प्रमाणित होता। वह अन्धा होकर यान्त्रिक सामर्थ्य (जिससे कि एक नियमित ऋद्धि प्राप्त होगी) के विरुद्ध ऐसी स्वाधीनता नहीं वरण कर रहा है जो कि निरी अराजकता है। वह सहजबोध से जानता है कि उसका मौजूदा सामाजिक संगठन आत्म-निर्भर हो सकता है, क्योंकि वह सहज-भक्ति और बिना बल-प्रयोग के सेवा प्राप्त कर सकता है। इसके प्रतिकूल बृहत्तर राष्ट्र-संघ काग़ज़ पर चाहे जितना व्यवस्थित और समर्थ जान पड़े, वास्तव में सदैव असमर्थ साबित होता है क्योंकि उसे अपने भीतरी दबाव और अन्तर्विरोध का प्रतिकार करने के लिए बलप्रयोग में ही बहुत सी शक्ति नष्ट करनी पड़ती है। यूरोप में यद्यपि प्रत्येक दल अपने बारे में यह बात समझता था तथापि दूसरों को भी ऐसा समझने का अधिकार नहीं देना चाहता था। फलत: जो जातियाँ किसी समय आर्थिक प्रसार में संसार में अग्रणी थीं, अब विकास नहीं कर रही हैं। वे विस्फुटित हो

गई हैं। यद्यपि यह स्पष्ट दीखता था कि जिन देशों के स्वाधीनता के आदर्श सबसे ऊँचे थे (यथा इँग्लैंड-आयर्लैंड, नार्वे-स्वीडेन, हौलैंड-बेल्जियम) वे ही देश और भी अधिक विघटित हो रहे थे; तथापि इस क्रिया को समझने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। कुंठित बल्कि प्रतिक्रमणशील मनस् की सम्पूर्ण उपेक्षा करके भौतिक प्रसार (आर्थिक उन्नति और शस्त्रास्त्र का विकास) को बढ़ाया गया। जैसा कि सदैव होता आया है, मनस्तत्त्व की विजय हुई। लेकिन साथ ही जैसा कि तब तक होता रहेगा जब तक कि मनस् संस्कृत न हो जायगा, उसकी शक्ति एक विद्रोह और नकार में ही प्रकट हुई है जिसने कि सामूहिक संस्कृति और आर्थिक संगठन की इमारत को स्वयं अपने ऊपर गिरा लिया।

यही पाठ भारत को और शेष संसार को सीखना है। राष्ट्रवाद अपनी उस अवस्था का वाद है जिसमें हम जनमे थे। लेकिन राष्ट्र—सामाजिक परम्परा—स्वयं जन्म लेती है, विकसित होती है, और मर भी सकती है। कहा गया है कि देवता भी मरणशील हैं। आधुनिक प्राणिशास्त्र स्वीकार करता है कि जातियाँ भी विकसित होती हैं, बढ़ती हैं और बुढ़ा जाती हैं। राष्ट्र, सामाजिक संहति, के अन्दर दो क्रियाएँ होती हैं जिन्हें साथ चलना चाहिए और परस्पर समन्वय रखना चाहिए। एक है जाति का अपनी स्थिति और परिवृत्ति के ज्ञान का विकास—जिससे आर्थिक शक्ति बढ़ती है और राज्यप्रसार की सम्भावनाएँ पैदा होती हैं। दूसरी है जाति का स्वयं अपने को समझने की शक्ति का विकास—जिससे मानसिक-सामाजिक शक्ति बढ़ती है और समाज के अन्तस्संगठन को बल मिलता है। जाति या राष्ट्र का स्थायित्व इस दूसरी शक्ति पर ही निर्भर करता है। नहीं तो राष्ट्रीयता, प्रादेशिकता (एक कबीले का अधिकृत अनिश्चित प्रदेश) और साम्राज्यवाद (समूचे संसार को हड़प लेने की चेष्टा) के बीच की अल्पकालिक स्थिति से अधिक कुछ नहीं है। जो जातियाँ दूसरी शक्ति अर्थात् मानसिक-सामाजिक संगठन शक्ति को बनाये रखती हैं उनकी आर्थिक व्यवस्था सम्पूर्णतया नष्ट हो जाने पर भी वे जातियाँ जीवित रह सकती हैं—जैसे यहूदी जाति। जो जातियाँ अपने आपको दूसरी शक्ति को समर्पित कर देती हैं, वे निरी ऐतिहासिक स्मृतियाँ रह जाती हैं (जैसे अस्सुर और मसिडोनिया, तातार इत्यादि)।

अतएव आज प्रत्येक राष्ट्र को अपने मनोगठन पर नये सिरे से विचार करना होगा। आज व्यक्ति रूप में ही नहीं, राष्ट्र के रूप में भी हम लोगों के दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन हो रहा है। उस युग से, जिस पर अर्थशास्त्र हावी था, जिसकी यह धारणा थी कि परिस्थिति के ऊपर शक्ति ही एकमात्र आवश्यक ज्ञान है और इसलिए अस्त्र-शस्त्र और यान्त्रिक सरंजाम ही सुरक्षा और समृद्धि का आधार हैं, हम निकल रहे हैं। नया युग मनोविज्ञान की चुनौती का युग है। उसकी अन्तर्दृष्टि परख लेती है कि हमारी शक्ति का मूलस्रोत और साथ ही हमारा सबसे बड़ा खतरा हमारे ही भीतर निहित है। राष्ट्र और सामाजिक संहति की कल्पना पर हमने अभी तक गम्भीर विचार नहीं किया है। हमने उसे केवल यही सोच कर स्वीकार भर कर लिया है कि वह स्वयं-विकासी है, कि वह मानव-सहोद्योग की एक स्वाभाविक सीढ़ी है। किन्तु वास्तव में यूरोप के राष्ट्र सभ्यता के उस महासागर की केवल तट-रेखाएँ—बचे-खुचे छोटे-छोटे और बिखरे हुए तालाब—हैं जो कभी सारे महाद्वीप पर फैला हुआ था। जब बर्बर आक्रमण यूनान-रोम के संस्कृति-रूप को ध्वस्त कर चुका और आक्रान्त बर्बरों ने स्वयं अपनी सांस्कृतिक और शासन-सम्बन्धी शिक्षा का विकास करना चाहा, उस समय 'पवित्र रोम-साम्राज्य' की भावना ही एकीकरण की प्रेरक शक्ति थी: धर्म, एक भाषा, एक न्याय विधान के द्वारा एक सभ्यता में बँधे रहने वाले राज्यों का संघ, जिसका परम धर्म गुरु और राजा द्वारा द्विधा शासन होना था। वह द्वैत शासन-व्यवस्था मानसिक संघटनशक्ति और आर्थिक प्रसारशक्ति के समन्वय का बाह्य प्रतिबिम्ब थी—जैसा कि डा० आनन्द कुमार स्वामी सदैव याद दिलाते थे। जब एक समान सभ्यता का संघमूलक आदर्श असफल हो गया, तभी लोग फिर प्रादेशिकता की ओर झुक गये। राष्ट्रीयता (अर्थात् हमारे युग का राष्ट्रवाद, जो राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून से परे मानता रहा) का विकास भौतिक विज्ञान की प्रगति के साथ तो चला, मगर खेद है कि उसने सामाजिक मनोविज्ञान में उसी अनुपात में तरक्क़ी नहीं की। बल्कि इसके प्रतिकूल, लोग सामाजिक-मानवीय सम्बन्धों के अध्ययन-विवेचन में अधिक नहीं, कम वैज्ञानिक हो गये। राजनीतिक दृष्टि से आधुनिक युग प्रगति का नहीं बल्कि अधोगति का युग रहा; उसने सम्मिलित उद्योग की सफलता के नये साधनों का आविष्कार नहीं किया बल्कि पराजय स्वीकार की। राष्ट्रवाद, सभ्यता के परित्याग की घोषणा बन कर रह गया। वह नये शिक्षित वर्ग और नयी शिक्षा की असफलता और दिवालियापन का प्रतीक बना; जो शिक्षा पाश्चात्य मानव को एक नहीं कर सकी—एक सांस्कृतिक प्रदेश का एक आदर्श, एक व्यापक सामाजिक चेतना के सूत्र में नहीं गूँथ सकी।

किन्तु आज की स्थिति में आशा की एक किरण है—अगर हम सच्चे अर्थ में समकालीन, आधुनिक हो सकें, अगर हम मानव को सामाजिक विकास की शृंखला की अगली कड़ी तैयार कर सकें, क्योंकि आज हमें इतना तो दीखता है कि हमारा असली कार्यक्षेत्र क्या है : हमारी प्रमुख समस्या है मानसिक-सामाजिक संघटन की, सहज सर्व-सम्मति द्वारा एकीकरण की। सबसे पहले हमें उस आदर्श को, उस 'सर्जनशील शब्द' को, जो राष्ट्रों को एक करता है इतना स्पष्ट और उज्ज्वल करना है कि लोग उन्हें फुसलाने और बहकाने वाले जिस-तिस राह चलते फ़रेबी बड़बोले के चक्कर में पड़ कर उससे स्खलित न हो जाया करें। चीन के प्राचीन 'मूल प्रतिष्ठापक' इस बात को अच्छी तरह समझते थे। उन्होंने जाना था कि किसी जाति को ऐक्य में बाँधने वाली ही नहीं बल्कि दूसरों की दृष्टि में प्रतिष्ठित करने वाली असल वस्तु होती है एक सांस्कृतिक ढाँचे की प्रत्यक्ष शक्ति, जीवन की एक रचनाशील और प्रशस्त परिपाटी जिसमें आर्थिक कार्यदक्षता और मनोवैज्ञानिक सूझ, गूढ़ दृष्टि का समन्वय होता है। यही 'मर्यादाशक्ति' राष्ट्र का असली राजदूत होती है। इस मामले में भारत की मर्यादा और प्रतिष्ठा अतुलनीय है। किसी दूसरे देश या जाति का विचार-दर्शन उसके जीवन में इतना गहरा नहीं पैठा। व्यक्ति और समाज की समस्या को अपनी मनोवैज्ञानिक सूझ की शक्ति से हल करने में, यह समझने में कि चेतना के अत्यन्त गहरे स्तरों पर प्रत्येक व्यक्ति अपने साथियों से बँधा हुआ है, कोई दूसरा देश इतनी दूर नहीं गया। एक नयी व्यावहारिक समाज-संघटन शक्ति का निर्माण करने के लिए, समाज को ऐक्य में बाँधने वाले नये सीमेंट के आविष्कार के लिए, आवश्यक मनोवैज्ञानिक ज्ञान और सूझ भारत के पास यथेष्ट मात्रा में है। इसके अलावा ऐसे निर्माण के लिए विश्व की युग-परिस्थिति भी आज परिपक्व है। एक राजनीतिक शक्ति के रचनाशील साधनों के द्वारा अपने राष्ट्रपद की अभिव्यक्ति के लिए स्वतन्त्र एक जाति के, एक राजनीतिक शक्ति के रूप में विश्व-मंच पर भारत का आविर्भाव बहुत ही स्वाभाविक है। पिछली भूलों से वह शिक्षा ले सकता है, और अपने विस्तृत मनोवैज्ञानिक ज्ञान के सहारे अतीत के राष्ट्रों की भूलों से बच सकता है। मानवीय चेतना में उसकी अन्तर्दृष्टि, उसे मानसिक-सामाजिक संहति के लिए बल-प्रयोग करने के घातक उद्योग से बचायेगी। एक पीढ़ी से जिज्ञासु यह समझ रहे थे कि मानसिक-सामाजिक ज्ञान की हमें चरम आवश्यकता है, और उसकी अनुपस्थिति हमारा खतरा। लेकिन वह प्राप्त कैसे हो, यह हमें अब दीखने लगा है। बाह्य जगत् के अनुशासन में विज्ञान ने जो महान् विजय पायी थी, वह आन्तरिक जगत् की देहरी पर पहुँचते न पहुँचते व्यर्थ और विफल हो जाती थी। अब हम समझ रहे हैं कि हमारी खिच और निरुत्साह का कारण यह हमारा मानव को ग़लत समझना ही था। अगर आधुनिक राष्ट्रवाद प्रतिगामी था, तो आधुनिक प्रजातन्त्रवाद एक भ्रान्ति का शिकार था। एक समाज संस्कृति के अन्तर्गत कई अंग राष्ट्रों के आदर्शों को खो कर, राष्ट्रवाद ने ऐक्य-भावना का आधार जात्युन्माद को बनाया, और पुलिस की दमन-शक्ति को उस उन्माद की सहायता करने में लगाया। प्रजातन्त्रवाद ने इसका प्रतिकार किया, यद्यपि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह भी उतना ही अज्ञानपूर्ण था, क्योंकि इसने मानवों को निरी मुंड-संख्या माना, और यत्न किया कि उन्हें शारीरिक सुख-सुविधा के प्रलोभन देकर अपने साथ रखा जाय। यह एक भारी भ्रम था, और इसके लिए हमें तानाशाहों से भरपूर दंड मिला। लेकिन हमें अपना सबक़ सीखना चाहिए। आधुनिक मानवशास्त्र सिखाता है कि मानव व्यक्ति से पहले दलगत जीव है। दल या समाज के प्रति उसकी सहज भक्ति को यदि बल से मिटा न दिया जाय, तो उसकी भक्ति की जाँच करने के लिए ख़ुफ़िया पुलिस की चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। अर्थात्, जैसे राष्ट्रवाद को फिर एक समान संस्कृति में, आबद्ध राष्ट्र-समुदाय के आदर्श की ओर बढ़ना होगा, उसी तरह प्रजातन्त्रवाद को भी मानवशास्त्र से पहले के 'अणु-वादी' या संख्या-परक प्रजातन्त्रवाद की जड़ अवस्था से निकल कर एक जीवित आदर्श का रूप लेना होगा। उसे देखना होगा कि कोई राष्ट्र केवल बहुसंख्यक व्यक्तियों का जमाव नहीं होता जिसकी प्रत्येक इकाई अपने निजी लाभ के पीछे पड़ी है और केवल उसी स्वार्थ, या दंड-भय के कारण ही दूसरों के साथ है। बल्कि राष्ट्र एक असंख्य विकास-शील प्राण-कोषों से बना हुआ एक जीव-शरीर होता है; एक व्यवस्थित, जीवित, वर्धमान रचना जिसमें का प्रत्येक जीव-कोष एक अंग होता है और जिसमें उसे केवल आर्थिक सुविधा नहीं, एक जीवन-प्रणाली मिलती है।

स्पष्टतया यह भारत का विशेष दायित्व है। भारत केवल संसार का निचोड़ एक अनिवार्यतः संघमूलक ऐसा देश ही नहीं है जिसमें प्राचीनतम से लेकर सबसे नयी संस्कृति तक ने स्थान पाया है। वह एक सामाजिक परम्परा है जो चेतना के रहस्यों को सुलझाने के लिए सबसे अधिक यत्नशील रही है; जिसने मानव के अहं से रुँधी हुई निम्नस्तर

की चेतना को उन उच्चतर स्तरों की ओर ले जाने के लिए—जिनका ज्ञान हमें अभी केवल आस्थाओं के एक अत्यन्त धुँधले अन्तर्विरोध के रूप में है,—निरन्तर शोध किया है। मानवता की इस माँग का भारत क्या उत्तर देता है, इस पर निस्सन्देह मानवता का भविष्य आश्रित है।

और आज भारत ने जिस व्यक्ति को अपना नेता चुना है, वह भी पूरे संसार का एक निचोड़ है। नेहरू ने कुशल व्यवस्थापकों की परम्परा में जन्म लिया; पश्चिम में ठीक उसके उत्कर्ष के और मनोवैज्ञानिक अज्ञता के कारण पतन के समय शिक्षा पायी; मूसा की भाँति संघर्ष में अपनी जाति का नेतृत्व करने के लिए देश लौट कर कारावास सहा और बहुत क्षति उठायी। वह मानव जाति के इतिहास की गहराइयों और प्रसार से सुपरिचित एक अध्येता हैं; एक महात्मा के भव्य आदर्श और कठोर अनुशासन को अपनाने वाले राजनीतिक हैं; और मानवजाति की विशाल परम्परा, पर्यटन और प्रगति में जो नाना रूप उलझनें, समझौते और अटकाव होते हैं, उनके प्रति अपार धैर्य उनमें है।

आज, जब राजनीतिक और आर्थिक क्रान्तियों का संक्रमण पूरा हो चुका है, और मानसिक क्रान्ति करवटें ले रही है, तब क्रान्ति के तीसरे संचरण में, मानव-जाति का नेतृत्व करने के लिए जवाहरलाल नेहरू-सा योग्य व्यक्ति दूसरा कौन है? यह हो सकता है कि इस क्रान्ति की अवधि हमारी कल्पना से अधिक लम्बी हो। लेकिन इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि अगली पीढ़ियाँ जब प्रोत्साहन के लिए अतीत के महापुरुषों की ओर देखेंगी तब महात्मा गान्धी के पार्श्व में वीर नेहरू को खड़ा पायेंगी।

जनवरी १९४९
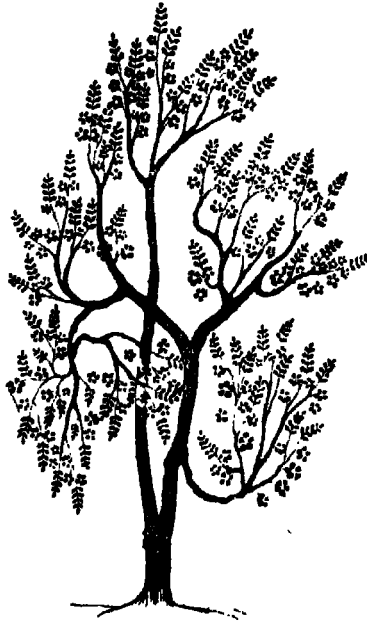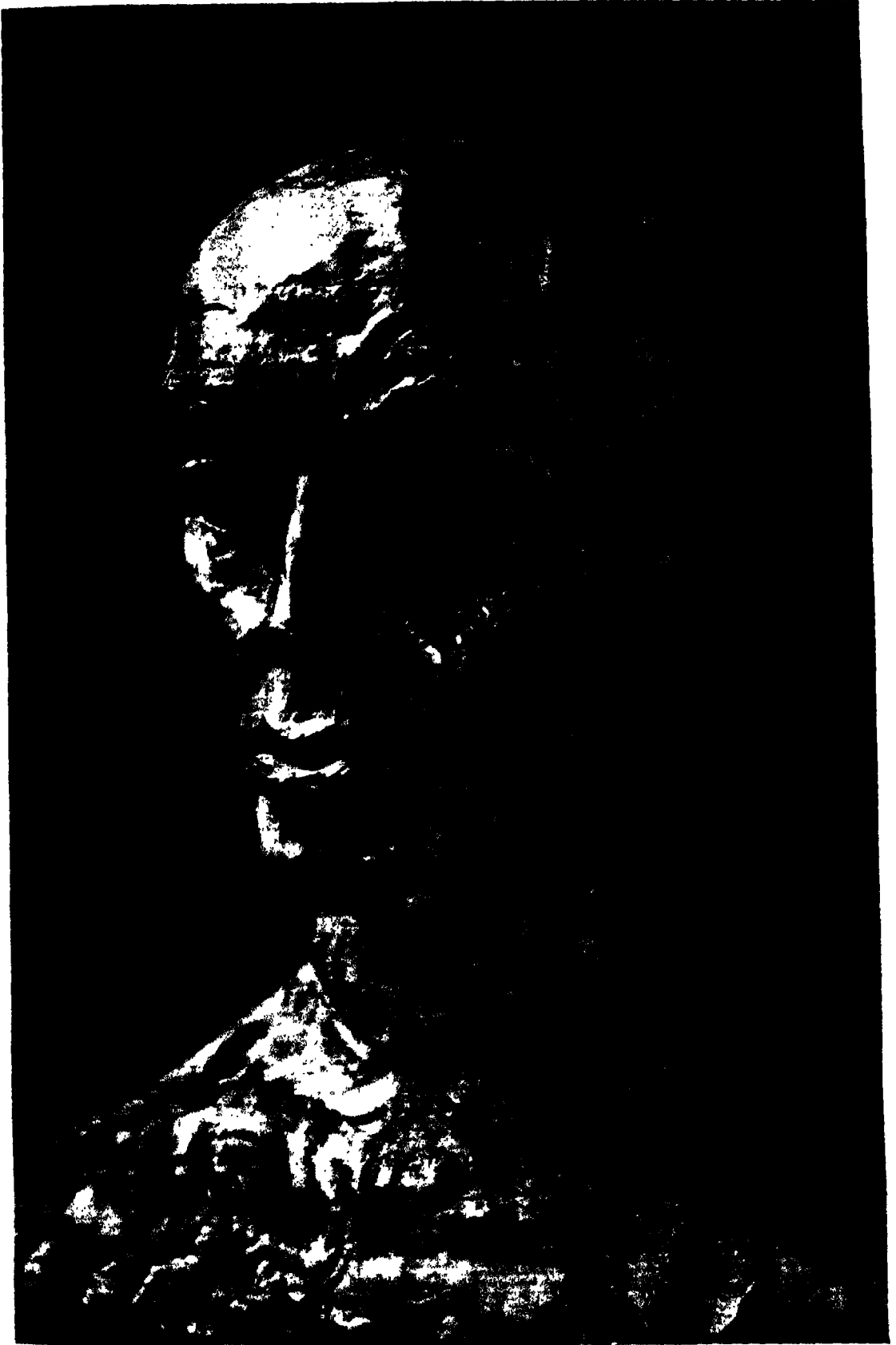
एप्स्टाइन द्वारा निर्मित मस्तक ६

मूर्तिकार के सौजन्य से

समझौते की भावना

मिर्ज़ा मुहम्मद इस्माइल

पंडित जवाहरलाल नेहरू की साठवीं जयन्ती के अवसर पर उन्हें समर्पित किये जाने वाले अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए लेख लिखते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है।

मैं यह नहीं कह सकता कि मैं घनिष्ठ रूप से उनसे परिचित हूँ। किन्तु उनका जीवन एक खुली हुई पुस्तक है जिसे सभी पढ़ सकते हैं। देश के जीवन में उन्होंने जो प्रसिद्धि प्राप्त की है उसे स्वीकार करने के लिए इस तरह की व्यक्तिगत घनिष्ठता आवश्यक भी नहीं है।

पंडित नेहरू अपने युग के एक महान् नेता हैं। भारतीय स्वाधीनता के प्रति उनका अनुराग उतना ही गम्भीर और प्रबल है जितना कि विदेशी शासन के प्रति उनकी घृणा की भावना। उनकी पूर्ण निश्छलता की सभी लोग सराहना करते हैं। वे कदाचित् उत्तरकालीन भारतीय राष्ट्रीयता के सर्वाधिक विश्रुत बौद्धिक व्याख्याता हैं। फिर भी जब-जब वह अपने देश की स्वाधीनता की कुशल वकालत करते हैं तो यही अनुभव होता है कि भारतीय स्वाधीनता नहीं, अपितु स्वाधीनता मात्र उनके विचारों में सर्वोपरि है। उन्होंने अपने इस विश्वास को भी गुप्त नहीं रखा है कि उनके मत में भारतीय स्वाधीनता एशिया की स्वाधीनता और अन्त में सम्पूर्ण विश्व की स्वाधीनता प्राप्त करने का साधन है। विदेशों में, विशेष कर संयुक्त राज्य अमरीका में, पंडित नेहरू की महान् लोकप्रियता का एक कारण यह अन्तर्राष्ट्रीय राष्ट्रीयता ही है।

घटनाओं की बाध्यकारी शक्ति को मानते हुए, राष्ट्रीय महासभा के वह समाजवादी अध्यक्ष, जो किसी समय मार्क्सवादी प्रवृत्तियाँ रखते थे और स्पष्ट रूप से ऐसा कहते थे, आज विधानवादी बन गये हैं। जवाहरलाल नेहरू एक आदर्शवादी हैं और अत्याचार देखकर अधीर हो जाते हैं। उनका दृष्टिकोण व्यापक रूप से मानव-हित-परायण है। धर्म-सत्ता या राजसत्ता के प्रति अपनी तिरस्कार की भावना वह छिपाते नहीं, किन्तु राजनीतिक एकता के लिए इन दोनों के साथ शान्तिपूर्वक रहने के लिए तैयार हैं।

समझौते की यह भावना एक राजनीतिक के लिए एक बहुमूल्य गुण है। व्यवहार-कुशल राजनीतिज्ञ के लिए यह आवश्यक है। पंडित नेहरू में यह गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। तभी तो अपने को समाजवादी कहते हुए भी वह तब तक प्रतीक्षा करने के लिए तैयार हुए जब तक कि भारत समाजवाद के लिए परिपक्व न हो जाय। यह मानते हुए भी कि महात्मा गान्धी आदर्शवाद की दृष्टि से कभी-कभी आश्चर्यजनक रूप से पिछड़े हुए थे, वह उनके नेतृत्व का अनुसरण करते रहे; स्वाधीनता को काग़ज़ी विधान के रूप में सोचने की वकील की मनोवृत्ति की निन्दा करते हुए भी वह मानने लगे हैं कि विधान काग़ज़ पर लिखित होना चाहिए यदि मानव-रक्त से उसे नहीं लिखना है। इसी प्रकार जिस प्रस्ताव में घोषित किया गया था कि 'भारतीय जनता का ध्येय सम्पूर्ण सत्ताधारी भारतीय प्रजातन्त्र की स्थापना करना है' उसके जनक ने दो स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की ब्रितानी योजना को स्वीकार कर लिया। राज-नीति में कोरा सैद्धान्तिक तर्क नहीं वरन् घटनाओं का तर्क ही अन्त में चलकर विजयी होता है। कभी-कभी सिद्धान्त और व्यवहार में से एक को नैतिक स्वीकृति देनी पड़ती है, और ऐसा हो सकता है, यह जानते हुए भी कि सिद्धान्त की दृष्टि से क्या अच्छा है, हमें उससे हीनतर मार्गों में से ही एक चुन लेना पड़े। अतः आजकल जब कि जीवन का प्रत्येक पहलू एक संकट से होकर गुज़र रहा है, यदि कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि हम बजाय इसके कि घटनाएँ हमारे पीछे-पीछे चलें स्वयं घटनाओं के पीछे-पीछे चलने लगते हैं, तो इसके लिए दोषी हम नहीं, हमारा भाग्य है। इतिहास की गति नियति की ही गति है।

आज भारत एक स्वतन्त्र देश है। संग्राम में विजय प्राप्त हो चुकी है—उस लम्बे संग्राम में जिसमें पंडित नेहरू बड़ी

वीरता के साथ लड़े हैं। वह एक उत्कृष्ट साहित्यिक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति हैं। इस समय उन्होंने बड़ी भारी जिम्मेदारी का जो पद ग्रहण कर रखा है उससे सम्बन्धित कर्तव्य के निर्वाह के लिए वह अपने सुसंस्कृत मन तथा विस्तृत दृष्टिकोण का उपयोग कर रहे हैं। निस्सन्देह वह इस बात को समझते हैं कि मनुष्यों पर केवल उनकी सेवा द्वारा ही शासन किया जा सकता है। वह एक बहुत ही सज्जन पुरुष हैं, सरल स्वभाव के हैं, रूढ़ियों से एकदम मुक्त हैं। अपने विरोधियों के प्रति भी उदारता और सहृदयता रखते हैं। वे कट्टरता और ईर्ष्या-द्वेष से रहित हैं। आत्माभिमानी, साहसी और विद्रोहकारी हैं। यही सब नहीं, उनमें और भी अच्छी बातें हैं।

उनके हृदय को तीन बातें विशेष रूप से प्रिय हैं: जन-साधारण की उन्नति, भारत की एकता तथा एशिया और संसार की एकता। इनमें से पहले काम को शीघ्र पूरा करना भारत के लिए बहुत आवश्यक है। जहाँ तक दूसरी बात का सम्बन्ध है, हमको अपनी पराजय स्वीकार करनी होगी। तीसरी चीज़ अभी बहुत दूर की बात मालूम होती है, यद्यपि यह ठीक है कि एशियाई सम्मेलन तथा संयुक्त राष्ट्र-संगठन को कुछ सफलता प्राप्त हुई है। ईश्वर करे कि हमारी सद्यःप्राप्त स्वाधीनता भारत की जनता के लिए जीवन-यापन की काफ़ी अच्छी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सके। स्थिति बहुत उज्ज्वल तो नहीं है, पर निराशाजनक भी नहीं है।

क्या ही अच्छा होता यदि एक शती के चतुर्थांश के कठिन संग्राम के बाद उन्हें विश्रान्ति का अवसर देना सम्भव होता। किन्तु जो सफलता अब तक प्राप्त हुई है वह भारतीय स्वाधीनता के इतिहास के केवल एक अध्याय का ही अन्त है। हम ऐसे संसार में हैं जहाँ बड़ी तेज़ी से आश्चर्यजनक परिवर्तन हो रहे हैं। भारत शान्ति, एकता तथा व्यापक समृद्धि के सम्बन्ध में अपने भाग्य के उत्कर्ष पर पहुँचे, इससे पहले उसके सामने एक लम्बा संघर्ष दीख पड़ता है—हमारे लिए कदाचित् पहले से अधिक कठिन संघर्ष आगे वही है—जिसका कवि शैली ने निम्न पंक्तियों में वर्णन किया है:

> "वह यन्त्रणाएँ सहना, जो आशा को अन्तहीन जान पड़ती हैं,
> उन अन्यायों को क्षमा करना, जो रात से या मृत्यु से भी काले हैं,
> उस सत्ता को ललकारना, जो सर्वशक्तिमान् विदित होती है;
> सहना और प्रेम करना; आशा करते रहना जब तक कि आशा ही गढ़ न दे
> अपने ही खंडहर से, अपनी चाही हुई वस्तु को;
> न बदलना, न विचलित होना, न पछताना:
> यही, ओ यशस्वी टाइटन, यही है होना
> सत्, महान् और आनन्दमय, सुन्दर और निर्बाध।
> यही, और केवल यही है जीवन, आनन्द, और विजय!"

मार्च १६४६

राजनीतिज्ञ तथा प्रधान मन्त्री

हरिसिंह गौड़

पंडित जवाहरलाल नेहरू से मेरा परिचय तीस वर्ष से अधिक पहले सन् १९१८ में हुआ था, जब वह अपनी माता, पत्नी और अपनी बहिन तथा उनके बच्चों के साथ मसूरी में कुछ दिनों के लिए ठहरे हुए थे। उनके पिता पंडित मोतीलाल नेहरू से तो मेरा उससे भी २५ साल पहले का परिचय था। जवाहरलाल तब केम्ब्रिज से नये-नये लौटे थे। उस समय वह एक युवक राजनीतिक थे। यद्यपि वह बैरिस्टरी करने के लिए उपयुक्त योग्यता प्राप्त करके लौटे थे, और बैरिस्टरी करते तो उसमें बड़ा नाम कमाते, किन्तु उन्होंने क़ानून की अपेक्षा राजनीति में प्रवेश करने का निश्चय कर लिया था।

पंडित मोतीलाल नेहरू एक प्रतिष्ठित वकील थे। युक्तप्रान्त तथा बंगाल दोनों प्रान्तों में अनेक महत्त्वपूर्ण मुक़दमों में मुझे उनके साथ और उनके प्रतिपक्ष में पैरवी करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे पहले वकील थे और तब राजनीतिक। जब वे व्यवस्थापिका सभा में पहुँचे तो उनसे मेरी मुलाक़ात हुई और कई वर्षों तक हम सहयोगी रहे। स्वर्गीय देशबन्धु दास के नेतृत्व में जो स्वराज्य पार्टी स्थापित की गयी थी उसी की ओर से निर्वाचित होकर वह एसेम्बली में पहुँचे थे। उनके निधन के पश्चात् जवाहरलालजी की ख्याति और प्रतिष्ठा बढ़ी। अपने राजनीतिक कार्यों के लिए उन्हें कई बार जेल जाना पड़ा। उनका राजनीतिक कार्य १९१८ में ही आरम्भ हुआ था। उस समय उन पर यह सन्देह किया गया था कि सेवॉय होटल में ठहरे हुए अफ़ग़ान प्रतिनिधि-मंडल को, अफ़ग़ानिस्तान की स्वाधीनता के लिए वार्ता चलाने में, वह सहायता दे रहे हैं। इस सन्देह के आधार पर उन्हें मसूरी छोड़ कर चले जाने की आज्ञा दी गयी। उस समय अकेला मैं ही उनको बिदा करने के लिए साथ गया था।

इसके बहुत दिनों बाद मैं जवाहरलालजी से उनके निजी मकान 'आनन्द भवन,' इलाहाबाद में मिला। मैंने उन्हें बतलाया कि मेरी राजनीतिक विचार-धारा किधर बह रही है। जिन-जिन बातों के सम्बन्ध में हमारा विचार-विनिमय हुआ उन सब पर वह मेरे साथ सहमत थे। जवाहरलालजी तब कांग्रेस के सदस्य थे और मैं भी कांग्रेस में था। किन्तु १९२१ में, जब महात्मा गान्धी ने १९१९ के ऐक्ट के अनुसार स्थापित सभी व्यवस्थापिकाओं के बहिष्कार की आवाज़ उठायी, तो मैंने महात्माजी से मतभेद प्रकट करने का साहस किया। मैं व्यवस्थापिका सभा में शामिल हुआ ताकि 'जी-हुज़ूर' लोगों को उससे अलग रखा जा सके। कांग्रेस द्वारा बहिष्कार के फलस्वरूप ऐसे ही लोग उसमें पहुँच गये थे। उन दिनों की व्यवस्थापिका सभा आज के भारत-संघ की पालियामेंट से बहुत भिन्न थी। उसका अध्यक्ष एक अंग्रेज़ था जो तीन वर्ष के लिए नियुक्त किया गया था। किन्तु वह एक वर्ष और उस पद पर बना रहा। उसी के बाद श्री विट्ठलभाई पटेल लेजिस्लेटिव एसेम्बली के अध्यक्ष निर्वाचित किये गये। उन्हें निर्वाचित कराने के लिए मैंने वोट ही नहीं दिया वरन् दूसरों का समर्थन भी प्राप्त करने में लगा रहा। उनकी स्वाधीनता तथा निष्पक्षता ने उनके कार्य-काल को उल्लेखनीय बना दिया। उनकी मृत्यु के बाद पंडित जवाहरलाल नेहरू जेल से निकले और उन्होंने राजनीतिक भारत के नेता के रूप में अपना यथोचित स्थान ग्रहण किया। वे महात्मा गान्धी के दाहिने हाथ थे और महात्माजी ने उन्हें भारत का प्रथम प्रधान मन्त्री चुनकर बिलकुल ठीक ही किया। स्वतन्त्र भारत के नेता के रूप में पालियामेंट के अन्दर तथा उसके बाहर पंडित जवाहरलाल नेहरू ने जो पद ग्रहण किया है उसके लिए उन्होंने अपने को न केवल योग्य प्रमाणित किया है वरन् उसकी शोभा भी बढ़ायी है। उनके सहयोगी सरदार वल्लभभाई पटेल ने तो एक रिकार्ड ही स्थापित कर दिया है। इतिहास उन्हें एक ऐसे व्यक्ति के रूप में सदैव स्मरण रखेगा जिसने ब्रिटेन द्वारा छोड़े गये उस भारत को, जिसे ब्रितानी सत्ता १९४७ में खंड-खंड करके छोड़ गयी थी, एकता के सूत्र में बाँध दिया।....सरदार पटेल का देश को एकता में बाँधने का काम अच्छी प्रगति कर रहा है। भारत का एकीकरण करके वह देश में ऐसा संगठन पैदा करेगा जिसके बिना किसी सरकार का अस्तित्व क़ायम नहीं रह सकता।

देश में जो सरकार स्थापित है उसे विफल करने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी ने छल और बल का अपना स्वाभाविक मार्ग ग्रहण किया है। किन्तु नेहरूजी उसका सामना बड़ी दृढ़ता, कुशलता और बुद्धिमत्ता के साथ कर रहे हैं। भारतीय संघ का पहला आधारभूत सिद्धान्त एक ऐसे लौकिक राज्य की स्थापना करना है जिस की शासन-व्यवस्था धार्मिक और साम्प्रदायिक नियन्त्रण से मुक्त हो। इसमें नेहरूजी ने उन चिरस्मरणीय और दूरदर्शी कमाल पाशा अतातुर्क के दिखाये हुए मार्ग का अनुसरण किया है, जिन्होंने मुस्लिम तुर्की को एक लौकिक प्रजातन्त्र राज्य में बदल दिया जो क्रमशः उन्नति कर रहा है। संयुक्त राज्य अमरीका में असंख्य जातियाँ निवास करती हैं किन्तु अमरीकियों ने राजनीति से धर्म को अलग रखा है। इस समय भारत के सामने मुख्य प्रश्न राष्ट्रीय एकता और संगठन का है। यह प्रश्न तभी सफलतापूर्वक हल किया जा सकता है जब कि सभी जातियों के लोगों को अपने सुधार एवं उन्नति के लिए समान स्वतन्त्रता और सुविधा प्रदान की जाय। जातिपाँति, सम्प्रदाय तथा धार्मिक भेद-भाव से राज्य को परे रहना चाहिए। धर्म प्रत्येक आदमी का अपना निजी मामला है। उसमें उसे पूरी आज़ादी है, लेकिन वह किसी राज-सत्ता के नागरिक-शासन की व्यवस्था का नियमन करने के लिए धर्म का उपयोग करने का हक़ नहीं रखता। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इस मामले में दूरदर्शिता दिखायी है और देशी तथा विदेशी प्रबुद्ध वर्ग ने एक स्वर से उनके विचारों को सराहा है। एशिया के सभी देशों की स्वाधीनता के लिए दिल्ली में जो दो सम्मेलन किये गये हैं उन्होंने पंडित जवाहरलाल नेहरू के चरित को इतिहास में और भी दीप्तिमान् कर दिया है।

अभी हाल में संयुक्त राज्य अमरीका की प्रतिनिधि-सभा ने विदेशियों को नागरिकता प्रदान करने के क़ानून से वर्ण-विचार की धाराएँ रद्द कर देने का जो प्रस्ताव पास किया है, उसका नयी दिल्ली के सफल एशियाई सम्मेलन से अप्रत्यक्ष किन्तु घनिष्ठ सम्बन्ध है। जवाहरलाल नेहरू विश्व-राजनीतिज्ञ बन गये हैं। उनकी आवाज़ सम्पूर्ण संसार में सुनी जाती है; उसका न केवल सम्मान किया जाता है बल्कि अनुसरण भी किया जाता है। इसका कारण यह है कि वह अपनी आवाज़ सभी देशों की शान्ति और सुशासन के लिए ही उठाते हैं। वह स्वाधीनता के प्रबल समर्थक हैं और उनके इस आदर्श की ज्योति पृथ्वी के अँधेरे से अँधेरे कोनों में पहुँचती है और निर्धनता, पराधीनता, दासता तथा बुभुक्षा के अन्धकार को दूर करती है। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने यह घोषित करके बुद्धिमत्ता की है कि भारत एशिया का नेता बनने की आकांक्षा नहीं रखता। किन्तु नेता कोई स्वयं नहीं बनता; जनमत की शक्ति ही उसे सामने लाती और मान्यता देती है। भारत को न केवल एशिया का बल्कि पश्चिम का भी बौद्धिक मन्त्रदाता स्वीकार किया जाने लगा है।

जवाहरलालजी की इस वर्षगाँठ के अवसर पर मैं उन्हें, उनकी अपूर्व सफलता के लिए, बधाई देने के लोभ को संवरण नहीं कर सकता। ईश्वर उन्हें दीर्घायु करे। उनका शासन साम्यवाद तथा सम्प्रदायवाद की उलझनों से मुक्त होकर सुखी और समृद्ध हो।

मार्च १९४९

नेतृत्व में प्रमुख

विलियम नन

पंडित नेहरू की हीरक जयन्ती के उपलक्ष्य में दिये जाने वाले अभिनन्दन ग्रन्थ में लिखने का निमन्त्रण पाकर मुझे कुछ आश्चर्य ही हुआ, क्योंकि सन् १९३१-१९३५ में पार्लियामेंट में 'इंडिया बिल' पर विवाद के समय मेरा रुख नम्र किन्तु अटल विरोध का था। परन्तु निमन्त्रण इस बात का सूचक है कि भारत के नेताओं में यह मानने की उदारता है कि घटनाओं की शिथिल स्वीकृति की अपेक्षा ईमानदारी के साथ प्रकट की गयी शंका में अधिक आस्था निहित हो सकती है।

और वास्तव में 'इंडिया बिल' का विरोध अधिकांशतः इस दृढ़ विश्वास पर आधारित था कि भारत की संरक्षकता को प्राप्त करके उसका दावा करने के बाद, ब्रितानी जनता के लिए यह अप्रतिष्ठा की बात होगी कि मुक्ति की एक साँस लेकर अपनी ज़िम्मेदारी से अलग हो जाय, और भारत के इने-गिने प्रबुद्ध नेताओं पर यह काम छोड़ दे कि बिना सहायता के उन समस्याओं को सुलझायें जो कि विशाल अशिक्षित प्रजा के अस्तित्व के कारण उपस्थित हैं—उस प्रजा के, जिस पर एक अन्ततोगत्वा विदेशी शासन-प्रणाली की व्यवस्था और संचालन का भार आ पड़ेगा।

प्रश्न जाति की विभिन्नता का नहीं था बल्कि हम में से कई लोगों ने वर्षों तक पूर्व के लोगों को उनकी अपनी ज़िम्मेदारियाँ सँभालने की शिक्षा दी थी और उनसे सहज घनिष्ठ सम्पर्क रख कर काम किया था। पश्चिमी प्रणालियों के अनुभव की कमी, और परम्परा तथा संस्कारों की भिन्नता से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों के अतिरिक्त और कोई कठिनाई हमारे रास्ते में नहीं आयी थी। हमें केवल यही आशंका चिन्तित किये थी कि जो ज़िम्मेदारी हमने सँभाल रखी थी उससे हम च्युत न हों, और संकट के समय में सहायता देने से इन्कार करने को बाध्य न होना पड़े। कदाचित् वाद-विवाद के आवेश में यह आरोप लगाया जाना स्वाभाविक ही था कि हम जातीय अहंकार तथा साम्राज्यवाद की भावना से प्रेरित थे।

भारत ने अपने इतिहास का एक नया अध्याय प्रारम्भ किया है। उसके दीर्घ तथा विविधता-पूर्ण मार्ग में, जो गौरव-पूर्ण कर्तव्य-भार पंडित नेहरू पर है, उससे अधिक महत्त्व का काम कम लोगों को करना पड़ा होगा। पराधीनता के बन्धन से मुक्त होने तथा वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त करने के लम्बे संघर्ष में उनका बराबर यह काम रहा है कि महात्मा गान्धी के रहस्यवाद को दैनिक जीवन में प्रत्यक्ष व्यावहारिक रूप दें, स्वयं अपने आदर्शों से उस आन्दोलन को अनुप्राणित करें, और उसमें अपनी अदम्य शक्ति का संचार करें। आध्यात्मिक उद्देश्यों के व्यावहारिक कर्म के साथ समन्वय ने ही पंडितजी के नेतृत्व को इतना गौरव दिया है।

संसार की महान् आध्यात्मिक शक्तियों की जन्मभूमि पूर्व ही रही है, और भारत तो विशेष रूप से यह स्वीकार करने में अग्रणी रहा है कि आत्मिक तत्त्वों की शक्ति और महत्ता शारीरिक से कहीं बढ़ कर है। उसका गहरा विश्वास कि आत्मिक शक्ति भौतिक वस्तु को वशीकृत और अनुशासित कर सकती है, भारत की विचार-धारा को पाश्चात्य धारा से अलग करता है। पश्चिम का विकास मुख्यतः उस मार्ग पर होता रहा है जिस पर प्रगति की माप भौतिक वृद्धि के स्पष्ट चिह्नों द्वारा होती है। आज यह भी भारत के सामने एक गम्भीरतम समस्या है—उसने जो नया मार्ग ग्रहण किया है वह उसे उत्तरोत्तर भौतिक लाभ के लुभावने समतल प्रदेशों की ओर ले जायेगा, अथवा आध्यात्मिक विकास के कठोर उच्चतर शिखरों की ओर ?

यही समस्या है जो पंडित नेहरू और उनके सहयोगियों के सामने उपस्थित है। यह बात उन्हीं के हाथों में है कि अपने देशवासियों को धुन्ध और कुहरे से ऊपर ऐसे वायुमंडल में रखें जहाँ प्राची में आशा का नया तारा कभी अधिक समय के लिए आँख से ओझल न हो, और श्रेष्ठतर जीवन की ओर दिशा-संकेत करता रहे। उनका उच्च संकल्प काँपा

या शिथिल पड़ा तो वे कुहेलिका में अन्धे की तरह भटकते हुए उन दस्युओं के हाथों पड़ जायेंगे जो भौतिक ऐश्वर्य के लिए सारे विश्व में लूट-मार करते हुए विचर रहे हैं।

ब्रितानी जनता के मन और हृदय में भारत का एक विशेष स्थान है। वह उद्योग का एक महान् क्षेत्र रहा है—वाणिज्य, व्यापार और व्यावहारिक शासन शिक्षा का तो प्रत्यक्ष रूप से, और प्रयोग और परीक्षण का परोक्षभाव से : आदर्शों के क्षेत्र में संकोच-शीलता ब्रितानी चरित्र की विशेषता है। अंग्रेज़ों को भारत के साथ अपने भौतिक सम्बन्ध पर तो गर्व रहा ही है; इसके अतिरिक्त उनके बीच एक आध्यात्मिक सम्बन्ध भी रहा है—जिसकी व्याख्या करना सम्भव नहीं है—जिसने भारत को केवल अस्थायी प्रवासभूमि नहीं वरन् एक अत्यन्त आकर्षक दूसरा गृहदेश बना दिया है, जिसे पीछे छोड़ते दुःख होता है और जिसकी ओर हसरत-भरी निगाहें मुड़मुड़ कर देखती हैं। पूर्व और पश्चिम के बीच का यह सम्बन्ध,—जिस पर मानव की सहज मर्यादा और वैचारिक विषमता के कारण बार-बार ज़ोर पड़ता है लेकिन जो फिर भी वास्तविक है,—आकस्मिक संयोग का परिणाम नहीं है। इसका कारण यह है कि इधर जैसे शताब्दियों के संघर्ष-काल में भारतीय लोगों ने अपने अन्तरालोक को जगाये रखा है, और सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्त्वों के महत्त्व में अपनी आस्था नहीं डिगने दी, दूसरी ओर वैसे ही ब्रितानी जनता ने अपने कम रहस्यपूर्ण ढंग से क़ानून के शासन और जन-साधारण के अधिकारों की स्थापना के लिए संघर्ष किया है और इस प्रकार एक आध्यात्मिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्नशील रहे हैं—यद्यपि उतने सज्ञान ढंग से नहीं।

पश्चिम से जो आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक प्रणालियाँ उसे प्राप्त हुईं, उन्हें अपनाते समय भारत यह ठीक-ठीक नहीं समझता था कि ये उसकी अपनी किस चीज़ को उन्मूलित कर रही हैं। इससे भारत ने अनजाने अपनी अनेक परम्पराओं को चुनौती दे दी है। विशेष कर समय का भारत के लिए वैसा महत्त्व नहीं है जैसा कि पश्चिम के लिए, क्योंकि उसकी काल-परम्परा लम्बी है और केवल वर्त्तमान ही सब कुछ नहीं है। मनुष्य के अपने जीवन-काल का इतना अधिक महत्त्व नहीं है कि भवन को केवल इसलिए हड़बड़ी और लापरवाही के साथ बनाया जाय कि नक़्शा बनाने वाला ही उसे तैयार देख ले सके। भारत के लिए तात्कालिक फल-प्राप्ति का मूल्य बहुत कम हो जाता है और अगर उसके लिए सोचने, स्वप्न देखने और रचना करने के अवकाश का बलिदान देना पड़े।

यह धारणा बना लेना मूर्खता होगी कि पंडित नेहरू को इस बात का ध्यान नहीं है, या कि उन्हें अपने कार्य की गुरुता का बोध नहीं है—विशेषकर उस संगठित बर्बरता के आक्रमण को रोकने का काम, जो अपने निष्ठुर यन्त्र के नीचे लाखों व्यक्तियों को कुचलती हुई सारे संसार पर छा जाने का उपक्रम कर रही है। ऐसे संसार में, जो भौतिक फल-प्राप्ति के लिए निर्मम कृतसंकल्प है, जहाँ जनता पार्टी और पुलिस के शासन की जकड़ में बँधी है, जहाँ निःस्वार्थ सेवा या आत्मार्पण के लिए न स्थान है न सम्मान, और जहाँ प्रभुत्व की लालसा सिद्धान्तों को भस्म कर डालती है—ऐसे संसार में आत्मा की उन्नति के लिए कोई अवसर नहीं मिलेगा, स्वाधीनता-प्रेमी लोगों को अपनी अन्तःप्रेरणा के अनुसार जीवन यापन करने का कोई सुयोग नहीं होगा। ऐसी आत्मा का, जो समूह की मिल्कियत है, और सरकार द्वारा अनुशासित है, आध्यात्मिक महत्त्व क्या हो सकता है?

पंडित नेहरू ने उच्च सेवा का व्रत लिया है, और अपार धैर्य तथा अटल निश्चय के साथ अपने मार्ग का अनुसरण किया है। उनका लक्ष्य है भारत को उसके उपयुक्त गौरव के आसन पर स्थापित कर देना, और वह जानते हैं कि किसी देश की जनता की उच्चता की माप उसकी आत्मा की गहराई से ही की जाती है।

फ़रवरी १९४९

पंडित जवाहरलाल और चीन

तान युन शान

चीन देश के निवासी जिस प्रकार प्राचीन भारत के महात्मा बुद्ध और बोधिसत्वों से भली भाँति परिचित हैं, उसी प्रकार वे आधुनिक भारत के महात्मा गान्धी, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर और पंडित जवाहरलाल नेहरू को भी खूब पहचानते हैं।

गान्धीजी उनके महानतम श्रद्धास्पद थे, गुरुदेव उनकी भक्ति के पात्र और जवाहरलालजी उनके सब से अधिक प्रिय हैं। चीनी जनता गान्धीजी को सन्त मान कर श्रद्धा करती है और रवीन्द्रनाथ को गुरुवत् भक्ति अर्पित करती है, लेकिन पंडितजी को वह अपने बन्धु और आत्मीय की दृष्टि से देखती है। अनुचित न होगा यदि कहा जाय कि गान्धीजी को वह पितृवत्, और गुरुदेव को मातृवत् मानती है मगर जवाहरलालजी को अपना लाड़ला समझती है। जवाहरलालजी के व्यक्तित्व में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो चीनियों में स्वयं हैं और जिन्हें वे अपने हृदय में उच्च स्थान देते हैं। हम चीनी महसूस करते हैं कि किसी भी विदेशी की अपेक्षा जवाहरलालजी अधिक आकर्षक स्नेही और सामाजिक हैं। उनमें अधिक अंशों में मानवता है और वे सदैव दूसरों का ध्यान रखते हैं। इन गुणों के साथ ही साथ पंडित जी में कुछ ऐसा गौरव और भव्यता है जो मजबूर करती है कि स्नेह और प्रेम के साथ-साथ लोग उनकी प्रशंसा और सम्मान भी करें। दूसरे शब्दों में जवाहरलालजी ने साधारण रूप से संसार के सभी नागरिकों का और विशेष रूप से चीन देश के निवासियों का हृदय अपने वश में कर लिया है। जवाहरलालजी की पुस्तक 'चीन, इस्पान, और युद्ध' में लम्बा, चीनी चोगा पहने जनरल चांङ् काई शेक और श्रीमती चांङ् काई शेक के साथ जो चित्र उनका है, उसमें गान्धी टोपी के सिवाय कोई लक्षण नहीं है जिससे कोई कह सके कि पंडितजी चीनी नहीं हैं।

पंडित जवाहरलालजी की सन् १६३६ की चीन-यात्रा उसी प्रकार चीनी भारतीय इतिहास में अपना विशेष महत्त्व रखती है जिस प्रकार कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सन् १६२४ की यात्रा। जो हार्दिक और अकृत्रिम स्वागत चीन की साधारण जनता और वहाँ की राष्ट्रीय सरकार ने पंडित जवाहरलालजी का किया, वैसा स्वागत निकट भूत में किसी भी विदेशी का कभी नहीं हुआ था। जिस समय पंडितजी चीन देश की युद्धकालीन राजधानी चुङ् किङ् में पहुँचे, जनता की अपार भीड़ ने—जिसमें राजनैतिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, सामाजिक और सैनिक नेतागण भी थे—उनका स्नेह सहित स्वागत किया। पंडितजी ने स्वयं लिखा है—"हवाई अड्डे पर एक संक्षिप्त स्वागत-भाषण और गुलदस्तों की भेंट के पश्चात् हम लोग विशेष प्रकार की पोशाक पहने हुए लड़कों और लड़कियों की क़तार से गुज़रे जिन्होंने ताल-स्वर से लहराते हुए झंडों द्वारा मेरा स्वागत किया। तब नदी पार करने के लिए हम नाव में गये।" ('चीन, इस्पान और युद्ध', पृष्ठ ४४)।

इस शुभ अवसर पर सम्पूर्ण चुङ् किङ् नगर की सजावट झंडों, पुष्पों और झंडियों द्वारा की गयी थी। जिस सड़क से पंडितजी गुज़रते थे, जनता पंक्तिबद्ध हो जाती थी। एक बात यहाँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि यह पहला अवसर था जब कि चीन देश की जनता ने एक विदेशी अतिथि के स्वागत-हेतु अपना राष्ट्रीय झंडा फहराया था।

यद्यपि देश की तत्कालीन युद्ध-परिस्थिति तथा शीघ्र ही भारत लौट आने के बुलौए के कारण पंडितजी की यह यात्रा अत्यन्त संक्षिप्त और केवल दो या तीन नगरों तक ही सीमित रही, फिर भी चीन देश के निवासियों पर जो छाप पंडितजी अंकित कर आये हैं, वह अमिट है। चीनी लोगों की शुभेच्छा तथा आतिथ्य अत्यन्त मनोमोहक और शानदार था। पंडितजी ने स्वयं लिखा है—"जहाँ कहीं भी मैं गया, मुझे अतिथि-सत्कार की बहुलता मिली और यह समझने में मुझे देर नहीं लगी कि यह सत्कार केवल व्यक्ति के प्रति नहीं है बल्कि मुझे कांग्रेस का, भारतवर्ष का, प्रतिनिधि समझा जा रहा है, यद्यपि मेरी कोई सरकारी हैसियत नहीं थी। चीनी लोग भारतीयों से मैत्री करने के लिए

और उनसे सम्पर्क बढ़ाने के लिए चिन्तित और उत्सुक मिले। इससे बढ़कर मुझे प्रसन्नता नहीं हो सकती थी, क्योंकि मेरी भी यही हार्दिक इच्छा थी।

"अपनी इच्छा के विरुद्ध परन्तु अनिवार्य होने के कारण तेरह दिन के पश्चात् मैं वापस लौट आया, क्योंकि स्वदेश ने अपनी संकटकालीन परिस्थिति में मुझे शीघ्र ही लौट आने का आदेश दिया। परन्तु इतने अल्प काल का निवास भी मेरे लिए तो निश्चित रूप से और सम्भवतः भारतवर्ष और चीन के लिए भी मूल्यवान् रहा।" ('चीन, इस्पान और युद्ध', पृष्ठ २४-२५)।

निश्चित रूप से पंडित नेहरू का चीन में इन तेरह दिनों का अल्प निवास चिर स्मरणीय रहेगा और मुझे पूरा विश्वास है कि पंडितजी भी स्वयं इसे कभी नहीं भूलेंगे। आज भी चीनियों की हार्दिक इच्छा है और उन्हें आशा भी है कि एक बार फिर ऐसा संयोग तथा शुभ अवसर प्राप्त होगा जब कि भारत के राष्ट्रनेता का पुनः हृदय से स्वागत करेंगे और उन्हें अधिक समय तक अपने बीच में रखेंगे और अधिक नगर तथा स्थान दिखायेंगे।

आज का संसार कृत्रिम शिष्टाचार और चाटुकारिता से भरपूर है। लोग धनवानों और शक्तिमानों की खुशामद करते हैं और निर्धनों तथा निर्बलों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वे आँख मूंद कर ही नहीं वरन् दासभाव से शक्ति और अधिकार की पूजा करते हैं; और मूर्खतापूर्ण, बल्कि दयनीय ढंग से मानवीय भावनाओं, न्याय और प्रतिष्ठा की अवहेलना करते हैं। जब मुसोलिनी और इटली शक्तिशाली थे, लोग उनकी प्रशंसा करते थे। जब हिटलर और जर्मनी बलवान् हुए, लोग उनकी सराहना करने लगे। जब जापान और जापानी युद्ध-विशारद शक्ति की चोटी पर पहुँचे, लोग उनका गुणानुवाद करने लगे। अब लोगों ने इन देशों और इन व्यक्तियों के प्रति अपने ढंग बदल दिये हैं। अब वे रूस और कामरेड स्टालिन के गीत गाते हैं। परन्तु जवाहरलाल ने कभी ऐसा नहीं किया, न करते हैं और न करेंगे। और न चीनवासियों ने ही कभी ऐसा किया है, या करते हैं, या करेंगे।

ठीक इसके विरुद्ध जब मुसोलिनी और इटली के साम्राज्यवादियों ने अबीसीनिया को अपने पैरों तले रौंदना प्रारम्भ किया, जवाहरलालजी ने उनकी इस स्वेच्छाचारिता की निन्दा की और अबीसीनिया के निवासियों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की। हिटलर और जर्मन नात्सियों ने जब चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण किया, जवाहरलालजी ने उनकी भी निन्दा की और गृहयुद्ध के समय जब प्रजातन्त्र इस्पान संकटापन्न परिस्थिति में था, जवाहरलालजी उसके सहायतार्थ वहाँ गये। जापानी फ़ौजों ने जब चीन पर धावा किया और चीन कठिन परिस्थिति में था, उस समय भी जवाहरलालजी ने वही किया जो उन्होंने अबीसीनिया, इस्पान और चेकोस्लोवाकिया के साथ किया था। जिन लोगों ने चीन पर जापानी आक्रमण को मूर्खतापूर्ण और घातक बताया उन सब में जवाहरलाल नेहरू और रवीन्द्रनाथ ठाकुर अगुआ थे। उस समय अनेक भारतीय जापान के पक्ष में थे परन्तु फिर भी जवाहरलालजी ने हृदय खोल कर चीन देश की जनता के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की।

ठीक उसी प्रकार जिन दिनों भारतवर्ष विदेशी शक्तियों के चंगुल में फँसा था, चीनियों ने अपने भारतीय बन्धुओं के प्रति हार्दिक सहानुभूति प्रकट की। वे भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के लिए उतने ही उत्सुक और चिन्तित थे जितने अपनी स्वतन्त्रता के लिए। भारतवर्ष के विदेशियों के चंगुल में होने के कारण चीनियों ने कभी उसे नीची दृष्टि से नहीं देखा। चाहे भारतवर्ष में राजनीतिक स्वतन्त्रता रही हो अथवा परतन्त्रता, चीनियों ने सदैव भारतवर्ष को धार्मिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक केन्द्र समझा है। उन्होंने कभी भारतवर्ष की दुर्बलता की ओर ध्यान नहीं दिया, कभी भारतीय जाति में दोषान्वेषण करने का प्रयत्न नहीं किया; वे भारतीय नेताओं का आदर, सम्मान और प्रशंसा करते हैं; उनके व्यक्तित्व, चरित्र और गुणों के कारण न कि उनके उच्च पद, यश, प्रभाव अथवा शक्ति के कारण। मुझे भली भाँति स्मरण है जब जनरल चाङ् काई शेक और श्रीमती चाङ् काई शेक ने बिड़ला हाउस, कलकत्ता में गान्धीजी से भेंट की तो उन्होंने सब से पहले अपने दुभाषिये से कहा, "गान्धीजी से कहिए कि उनसे मिल कर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई है। हम सब लोग अपने राष्ट्रपिता डाक्टर सनयात सेन की भाँति उनका सम्मान करते हैं।" जब डाक्टर ताई चि-ताओ प्रथम बार सेवाग्राम में गान्धीजी से मिले, तो उन्होंने भी ठीक यही शब्द कहे थे।

अपने ब्रितानी मित्रराष्ट्र की अप्रसन्नता की परवाह न कर के भी हमने भारत की स्वतन्त्रता के लिए ज़ोरदार अपील की थी। हमने यह सब केवल इसलिए किया कि हमारे हृदय में भारतवर्ष और भारतवासियों के लिए सहानु-

भूति, स्नेह, प्रेम था और हम उनके पक्ष में न्याय चाहते थे। इस सम्बन्ध में हमने कभी लाभ अथवा हानि की बात नहीं सोची। हमने भारत की स्वतन्त्रता चाही थी और आज भारत को स्वतन्त्र देख कर हमारा हृदय प्रसन्नता से गद्-गद है। भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के अवसर पर हमने अपने भारतीय बन्धुओं के साथ आनन्द मनाया है। हम उनकी प्रसन्नता और सुख में सम्मिलित हैं और प्रत्येक प्रकार से उनकी उन्नति चाहते हैं।

चीन की एक कहावत है 'जो समय पर काम आवे, वही मित्र है।' चीन के लिए जवाहरलालजी वास्तव में ऐसे ही मित्र हैं। आज चीन देश पुनः भयानक परिस्थिति से गुजर रहा है। लोग सोचते हैं कि उसके विनाश के दिन निकट आ गये हैं और अब उसके पुनरुत्थान अथवा पुनरुद्धार की आशा नहीं। कुछ ही वर्ष पहले जिस देश की प्रशंसा करते उनकी जिह्वा नहीं थकती थी, उसी को लोग आज अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं। कुछ ही समय पहले जिस मनुष्य की प्रशंसा 'पूर्वीय देशों का महान् व्यक्तित्व और व्यवहार-कुशल राजनीतिज्ञ' कह कर की जाती थी, आज लोग उसी की कटु आलोचना करते हैं : केवल उसकी हँसी ही नहीं उड़ाते वरन् उसकी सार्वजनिक निन्दा भी करते हैं। चीन के सम्बन्ध में बात करते समय वे हर तरह के व्यंग्य तथा वक्रोक्ति का प्रयोग करते हैं। प्रत्येक बुराई के उदाहरणार्थ चीन का नाम लेते हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि पंडित जवाहरलाल और हमारे भारतीय मित्र कभी ऐसा नहीं करेंगे।

प्रश्न है : क्या चीन सचमुच विनष्ट और समाप्त होने जा रहा है ? क्या चीन सदैव इसी हीनावस्था में रहेगा और संसार में अपना गौरवपूर्ण पद सदा के लिए खो देगा ? मैं निश्चित रूप से उत्तर दे सकता हूँ कि 'नहीं'। चीन देश अगणित संकटों तथा विपदाओं के होते हुए भी जीवित रहा है। इस देश का पाँच हजार वर्ष का प्राचीन इतिहास संसार के अनेक देशों तथा जातियों के भाग्य-परिवर्तन का साक्षी है। वर्तमान परिस्थिति कैसी भी विकट और विषम क्यों न हो, चीन देश, चीनी राष्ट्र और उसकी संस्कृति एवं सभ्यता सदैव जीवित रहेगी। यही बात भारतीय राष्ट्र और भारतवर्ष पर भी लागू होती है। जिस देश का इतिहास चीन की भाँति प्राचीन हो उसके लिए सम्पन्नता और विपन्नता के, शक्ति और निर्बलता के कुछ वर्ष, कुछ दशक, या कुछ शतियाँ विशेष महत्त्व नहीं रखतीं। पंडित जवाहरलाल ने लिखा है, "वर्तमान व्यतीत होकर भविष्य में विलीन हो जायगा। लेकिन चीन और भारत रहेंगे और दोनों साथ-साथ मिलकर अपने और अखिल विश्व के कल्याण के लिए कार्य करेंगे।" (चीन, इस्पान और युद्ध, पृष्ठ १८)

विगत २४ दिसम्बर १९४८ को शान्तिनिकेतन में चीनी भारतीय सांस्कृतिक सभा के साधारण वार्षिक अधि-वेशन में स्वतन्त्र भारत के प्रधान मन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपना सहानुभूति-पूर्ण तथा उत्साहवर्धक सन्देश भेजा था : "मैं चीनी भारतीय सांस्कृतिक सभा की इस बैठक का अभिनन्दन करता हूँ। अतीत युगों से भारतवर्ष और चीन परस्पर जिन सांस्कृतिक बन्धनों से बँधे हुए हैं, वे राजनीतिक बन्धनों से कहीं अधिक दृढ़ और गम्भीर हैं। हमारा भविष्य कैसा ही क्यों न हो, मुझे इस बात में सन्देह नहीं कि हमारे ये सांस्कृतिक सम्बन्ध सदैव बने रहने चाहिए और सदैव बने रहेंगे। चीनी भारतीय सांस्कृतिक सभा इस सम्बन्ध का प्रतिनिधित्व करती है और मैं इसकी हृदय से सफलता चाहता हूँ।"

प्रिय पंडितजी, आपकी इन उदात्त भावनाओं का हम सदा आदर करेंगे। इन्हीं के कारण चीन देश के निवासी अपने मित्रों में आपको विशेष रूप से स्नेह करते हैं, आपकी प्रशंसा करते हैं और आपका सम्मान करते हैं।

इकसठवीं वर्षगाँठ के शुभ अवसर पर हम सब चीनी और भारतीय बन्धु मिलकर, पंडित जवाहरलालजी के स्वास्थ्य और दीर्घजीवन के लिए भगवान् से प्रार्थना करें; क्योंकि उनके साथ केवल भारतवर्ष का ही नहीं, वरन् समस्त एशिया का भाग्य तथा समूचे विश्व की शान्ति सम्बद्ध है।

पंडितजी चिरायु हों ! जय हिन्द !

फ़रवरी १९४९

नेहरू का अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव

कृष्णलाल श्रीधराणी

ऐसा क्या है, जिससे विदेशी लोग नेहरू के नाम के उल्लेख से उत्सुक हो उठते हैं? उस मनुष्य में ऐसा क्या है जो उनको मुग्ध कर लेता है? वह क्या है जिससे इस भारतीय नेता का व्यक्तित्व अन्तर्राष्ट्रीय महत्व का हो गया है? प्रथम वह किस प्रकार उनका ध्यान आकर्षित करते हैं, और फिर अनेक विभूतियों से जगमगाते जगत् में कैसे उसे अपने पर केन्द्रित रखते हैं?

मैं समझता हूँ, यह प्रश्न भारतीय नहीं है। रूढ़िबद्ध भारत व्यक्तित्व की अपेक्षा स्थिति पर अधिक ध्यान देता है। हम सफलता पर अधिक ध्यान नहीं देते, और देते भी हैं तो उसे अधिकतर मनुष्य के व्यक्तित्व से सम्बन्धित न कर उसकी स्थिति से सम्बन्धित करते हैं। लेकिन सच्चे प्रजातन्त्र देशों में नेतागरी के क्षेत्र में भी तीव्र प्रतिद्वन्द्विता है। इसी कारण अमरीका में एक विशेष पद्धति का विकास हुआ है, जिससे किसी महापुरुष की शक्ति और समकालीनों पर प्रभाव के स्रोत्रोतों को स्पष्ट करने के लिए उसकी आत्मा का अन्वेषण और व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जाता है। यह दोहरी प्रणाली है। एक ओर मनोविश्लेषण के द्वारा व्यक्ति का अध्ययन होता है; दूसरी ओर उसे प्रेरित करने वाली आचरण की मान्यताओं का वर्णन सामाजिक मनोविज्ञान के आधार पर होता है।

तो मनुष्य की प्रमुखता का आधार उसके व्यक्तित्व तथा आचरण की प्रचलित मान्यताओं की प्रतिक्रिया में होता है। भारतीय आचार और पाश्चात्य आचार में भेद है। भारत में नेहरू की प्रधानता के कारण उनकी संसार-प्रसिद्धि के कारणों से भिन्न हो सकते हैं। लगभग एक दशाब्द पूर्व मैंने अपने अमरीका के पाठकों को भारत में नेहरू की सर्वप्रियता का मूल कारण समझाने की चेष्टा की थी। तब मैंने लिखा था कि किसी भी देश में राष्ट्रनायक की पहले एक गाथा बनती, यद्यपि उस गाथा की मूल वस्तु विभिन्न संस्कृतियों में भिन्न होती है। उदाहरण के लिए, अमरीका में सफलता और 'झोंपड़े से महल' वाली गाथा जनता के मन को छूती है। भारत में त्याग की कहानी ही जन-समाज पर प्रभाव डालती है। अमरीका में निर्धन धनवान बनकर अपनी 'योग्यता' प्रमाणित करता है; भारत में धनी स्वेच्छया निर्धन होकर अपनी सेवा-भावना का प्रमाण देता है। एब्राहम लिंकन की, झोंपड़े से संयुक्त राष्ट्र के राष्ट्रपति के पद तक की, उन्नति अमरीका की परम्परा के अनुसार थी; नेहरू का हृदय-परिवर्तन विशेष रूप से भारतीय परम्परा में हुआ है—उसी परम्परा में, जिसमें कुमार सिद्धार्थ वैरागी बुद्ध बने थे। गान्धीजी का दीवान के पुत्र होते हुए असहाय व्यक्तियों का नायकत्व करना और इसी प्रकार भारतीय जनता की भक्ति प्राप्त करना भी इसी सांस्कृतिक कसौटी का नमूना है। अभिजात ब्राह्मण नेहरू ने भी समाजवादी नेहरू बन कर ही जनता के हृदय में स्थान पाया।

किन्तु पाश्चात्य देशों में नेहरू की विशेष प्रसिद्धि का कारण इस भारतीय भाव-धारा में नहीं मिलता। जो वस्तु भारतीय हृदय को आकर्षित कर लेती है, आवश्यक नहीं है कि वह पाश्चात्य बुद्धि को भी छू सके। फिर भी नेहरू में ऐसा कुछ है जिसने उन्हें प्रतिभाशील विश्व नागरिकों में सम्मिलित कर दिया है। हालीवुड् के स्वप्नलोक की परिभाषा में नेहरू में 'वह' है। यह प्रयोग अत्यन्त अभिव्यंजक है और इसका अर्थ भी हम कुछ समझ ही लेते हैं। परन्तु जब तक हम यह नहीं जान लेते कि नेहरू का यह अन्तर्राष्ट्रीय 'वह' किन गुणों पर आधारित है, तब तक उस 'क्यों' का उत्तर हमें नहीं मिलता। यह तो प्रश्न का उत्तर पहेली द्वारा देने वाली बात होगी। अतः हमें पश्चिम के व्यक्तित्व को महत्व देने की प्रवृत्ति का ध्यान रखना होगा।

पहली बात यह कि नेहरू का व्यक्तित्व फोटो के अनुकूल है। जहाँ तक पाश्चात्य जनता का सम्बन्ध है, यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, केवल सिनेमा के अभिनेताओं के लिए ही नहीं वरन् सभी प्रसिद्ध व्यक्तियों के लिए, राजनीतिकों के लिए भी। अनाकर्षक मुखाकृतियों के कारण ही अमरीका में कई सम्भाव्य राष्ट्रपतियों के स्वप्न धूल में मिल गये हैं।

नेहरू की मुद्रा साहसिक, और शालीन है; उनके सुगठित शरीर को भव्य ललाट और भी उभार देता है। उनके चेहरे की समरेखाएँ मानों संगमर्मर में गढ़ी हुई जान पड़ती हैं। उनकी सुन्दर नासिका सूक्ष्म संवेदना से धड़कती है। खल्वाट सिर के अतिरिक्त, जो गान्धी टोपी के नीचे छिपा रहता है, उनका वह रूप किसी भी पाश्चात्य देश में सुन्दर माना जायगा। पश्चिम में स्त्रियों की राय का महत्त्व बहुत अधिक होता है, और नेहरू की विजय आधी तो इसी से सिद्ध होती है।

दूसरे, यदि ऐसा शब्द गढ़ा जा सकता है तो नेहरू 'समाचाराकर्षक' हैं। उनमें अन्तःप्रेरणा और सहज बोध का सुन्दर मिश्रण है। अन्तःप्रेरणा उनको साहसी बनाती हैं और सहज बोध उनको उचित अवसर पर उचित प्रेरणा देता है। उनमें नाटकीय ढंग से कार्य करने की प्रवृत्ति है और उनका सहजबोध कभी-कभी उनकी नाटकीय भंगिमाओं को ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान करता है। अन्तर्राष्ट्रीय एशियाई सम्मेलन, अथवा हिन्देशिया-सम्मेलन इस बात के अच्छे उदाहरण हैं। किन्तु इन असाधारण घटनाओं के अलावा भी, नेहरू रोज ही खबरों के लिए मसाला देते रहते हैं। उनमें शालीनता के साथ असम्भाविता भी है; वह सदा मंच के बीच में रहते हैं, चाहे वह छोटी-सी पार्टी हो चाहे विराट् जनसभा। जो बातें वह कहते हैं, अथवा जिस प्रकार वह अपनी चिन्ता न कर भीड़ में कूद पड़ते हैं, वह सदा ही संवाद के लिए एक अच्छा विषय रहता है। पत्रकारों के लिए वे आशा-स्वप्न के समान हैं; उनकी प्रत्येक हरकत में खबर का मसाला रहता है। और पाश्चात्य देशों में जन-नायक होने के लिए जनता की नजरों में और कानों में सर्वदा रहना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त नेहरू का कुल, गौरव है। जो बात हम बहुत पहले से जानते हैं, पश्चिम ने उसे अभी जाना है: कि नेहरू आखिर नेहरू होते हैं। उनके पीछे आभिजात्य की परम्पराएँ हैं। बस, नाम ने कई व्यक्तियों के द्वारा कीर्ति अर्जित की है। नेहरू कुल के लोग बहुमूल्य वस्त्र पहनते हैं, जीवन के ऐश्वर्य से परिचित होते हैं, खाद्य और पेय के रसिक और पारखी होते हैं और साथ ही वाक्पटु भी होते हैं। उनका जीवन पूर्ण और साहसिक होता है। नेहरू के इस धीरोदात्त नायकत्व पर पश्चिम आज मुग्ध है।

फिर नेहरू में हैमलेट का आकर्षक दुचित्तापन है। हैमलेट की भाँति नेहरू विशाल जन-समूह के सामने स्वगत भाषण करने लगते हैं और वह भी चमत्कारिक भाषा में; हैमलेट के समान ही वह द्विधाग्रस्त होते हैं, एकान्त में नहीं बल्कि सार्वजनिक मंच पर और इस प्रकार जनता को एक जटिल मन की क्रियाएँ देखने का कौतूहलवर्धक अवसर देते हैं। हैमलेट की भाँति ही वह अस्थिर-चित्त हैं; उनकी महान् आत्मकथा जो नेहरू की ख्याति का एक प्रधान कारण है, उनके द्रुत परिवर्तनशील मनोविकारों का सुन्दर प्रतिबिंब है। इस पुस्तक को पढ़ो, या उनके मौलिक भाषण सुनो, तो पता लगेगा कि विचार-जगत् में वह कभी ही कोई स्पष्ट, असंशयात्मक और निश्चित अर्थवाली बात कहते हैं। क्योंकि उनका प्रयास समस्त सूक्ष्म भेदों को स्पष्ट करने का रहता है। अनेक बार उनका एक वाक्य पहले वाक्य का खंडन करता जान पड़ता है, किन्तु वास्तव में यह सूक्ष्य विषमताओं के साथ क्रीडा करने की कवि की प्रवृत्ति है। नेहरू प्रमुखतः विचारक न होकर कवि हैं और उनमें गीति तत्त्व के प्रति सहज आकर्षण है। सतर्कतापूर्वक पहले से तैयार करके वक्तव्य और भाषण देने वाले संसार के राजनीतिकों के बीच में नेहरू ही अकेले राष्ट्रनेता हैं जो श्रोताओं के सामने ही सोचने से नहीं घबराते; ऐसे स्वगत भाषणों में उनके प्रशंसकों को एक अपनापे और घनिष्ठता का बोध होता है।

जहाँ तक पाश्चात्य दृष्टिकोण का प्रश्न है, नेहरू में नेपोलियन का सा आकर्षण है। नेपोलियन की अपने कुटुम्ब, अपने मित्रवर्ग, अपने सेनानियों, साधारणतया अपनी रुचि के लोगों के प्रति जो निष्ठा थी, वह आज जनतन्त्रियों की कोटि में चली गयी है। नेहरू में इन निष्ठाओं के अलावा पुराने सहपाठियों के प्रति लगाव भी है। यह विरोधाभास उनके पोषित समाजवाद में एक नया रस उत्पन्न कर देता है। नेहरू अपने चुने हुए व्यक्ति का सर्वदा साथ देंगे, और जितना ही उस व्यक्ति का विरोध होगा, उतना ही नेहरू उसकी रक्षा करेंगे। सार्वजनिक नेता में इस प्रकार की व्यक्तिगत निष्ठा का पश्चिम आदर करता है।

नेहरू पश्चिम को व्याख्याता के रूप में भी मुग्ध करते हैं। वह एक प्रकार से पूर्व और पश्चिम के बीच दुभाषिये हैं। उनका मुहावरा पाश्चात्य है, जिससे पश्चिम उनको समझ लेता है। लेकिन साथ ही उनमें भारतीयता का पुट सदैव रहता है, जिससे उनकी बात में परदेशी की कौतूहल-वर्धकता भी रहती है। उनकी पुस्तकों को 'सुबोधन भारत' या 'गान्धी तत्त्व की कुंजी' कहा जा सकता है। गान्धीजी पश्चिम के लिए दुर्बोध रहे, और भारत की जटिलताओं ने

उसे पराभूत-सा कर रखा; नेहरू ने ही अपनी पाश्चात्य शैली से इस परदे को उठाया है और इस प्रकार भारत के व्याख्याता का पद प्राप्त किया है।

अवसरवादियों तथा कुचक्रियों से भरे हुए इस राजनीतिक जगत् में नेहरू ने केवल अपने उदात्त चारित्र्य के बल से नवीनता और स्वच्छता ला दी है। उस क्षेत्र में, जिसमें कम ही सच्चे व्यक्ति सफल होते हैं, नेहरू सच्चे और सरल व्यक्ति हैं। उनकी निष्कपट सफलता ने पश्चिम के सर्वज्ञ राजनीतिकों को चकित किया है।

अन्त में नेहरू के आदर्शवाद का अस्पष्ट आकर्षण भी उल्लेखनीय है, पश्चिम का व्यक्ति कामकाजी और ठोस व्यावहारिक बुद्धि वाला होता है : गान्धी अथवा नेहरू के अनुसरण की आशा उससे नहीं की जा सकती; लेकिन ऐसे व्यक्ति के लिए उसके मन में अत्यधिक प्रशंसा का भाव रहता है जिसकी शिक्षा का अनुसरण वह करना तो चाहता है, पर संसार की दुष्टता के कारण कर नहीं पाता। नेहरू संसार के उन व्यक्तियों में हैं जो ऐसी बात का प्रचार करने का साहस करते हैं जिसे मनुष्य-समाज का बहुमत अव्यवहारिक मानता है। और इस वस्तु-स्थिति का विचित्र प्रभाव पड़ा है। इसने समस्त संसार में नेहरू के अनुयायी नहीं तो प्रशंसक अवश्य उत्पन्न किये हैं।

मार्च १९४९

भारतीय लोकतन्त्र का निर्माता

एडगर स्नो

दुनिया के लिए जवाहरलाल की व्याख्या करना किसी के लिए धृष्टता का काम होगा—विशेष कर एक विदेशी के लिए, क्योंकि नेहरू के बारे में स्वयं नेहरू ने जितना स्पष्ट लिखा है उतना और कोई नहीं लिख सकता। मेरे लिए यही अधिक उपयुक्त होगा कि उनकी रचना के प्रति सराहना के दो शब्द कहूँ। गान्धीजी की रचना को छोड़कर और किसी एक व्यक्ति की रचना से आज के जीवित भारत के विषय में पश्चिम को उतना ज्ञान नहीं मिला जितना कि नेहरू की रचना से। उनकी आत्मकथा न केवल एशिया के प्रत्येक अध्येता के लिए अनिवार्य है, वरन् अंग्रेज़ी साहित्य की विभूतियों में से एक है। नेहरू के समान अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के किसी दूसरे व्यक्ति ने अपने बारे में सार्वजनिक रूप से इतनी स्पष्ट विवेचना नहीं की है, न अपने विचार और कर्म की मूल प्रेरणाओं पर इतना अन्तरंग और गहरा प्रकाश डाला है। अभी भी वह लाखों जनता के सामने ऐसे निजी ढंग से और ऐसी स्पष्टवादिता के साथ बातचीत करते हैं जिससे पश्चिम के राजनीतिक लज्जित हो जायें।

कुछ बरस पहले 'चाणक्य' के छद्म नाम से किसी ने नेहरू के बारे में लेख लिखते हुए लिखा :

"उनमें तानाशाही के सब लक्षण विद्यमान हैं। असीम लोक-प्रियता, दृढ़ इच्छाशक्ति, अदम्य उत्साह, अभिमान, और साधारण जनता के प्रति प्रेम के बावजूद दूसरे के प्रति एक असहिष्णुता, तथा दुर्बलता या अपटुता के प्रति घोर अवज्ञा। उनका गर्म मिज़ाज तो प्रसिद्ध ही है। कर्म की उत्कट अभिलाषा, और अवांछित को मिटाकर नया निर्माण करने के उत्साह के कारण वह लोकतन्त्र की क्रियाओं को बहुत दूर तक नहीं सह सकते।"

नेहरू के प्रशंसक अपने नेता की ऐसी अवज्ञापूर्ण आलोचना से सख्त नाराज़ हुए और उन्होंने लेखक को अपने असली नाम बताने के लिए ललकारा। अन्त में लेखक ने अपना नाम प्रकाशित किया—जवाहरलाल नेहरू! यह वर्णन आज भी भारत के प्रधान मन्त्री पर लागू होता है। लेकिन भारत के नये-नये लोकतन्त्र के लिए खतरा न होकर वह उसे सबसे योग्य और कर्मठ बन्धु है। मैंने दिल्ली के पास एक गाँव के एक मुसलमान से गान्धीजी की हत्या के बाद प्रश्न किया कि उसके ख्याल में आगे क्या होगा, तो उसने जवाब दिया, "जवाहरलाल हमारी रक्षा करेंगे, जवाहरलाल सारी क़ौम के सेवक हैं और जब तक वह हैं तब तक हमें कोई खटका नहीं है।"

आज नेहरू को काम करते देख कर सबसे पहले दर्शक पर उनकी अथक स्फूर्ति का और उनकी रुचि की विविधता का प्रभाव पड़ता है। तथापि अब तक उनकी कर्म करने की उत्कट अभिलाषा में 'अवांछित को दूर करने' पर ही अधिक आग्रह था, 'नये निर्माण' पर कम। एक अप्रत्याशित महासंकट के समय में उन सारे कामों ने एक काम चलाऊ रूप ले लिया। उनके प्रधान मन्त्रित्व के पहले ही वर्ष में अनेक महादुर्घटनाएँ हुईं : भारत का विभाजन और उसके साथ पंजाब का भीषण हत्याकांड, कश्मीर पर पाकिस्तान की शह और सहायता से कबीलों का आक्रमण जिससे कि दोनों देशों में लगभग युद्ध ठन गया, और महात्मा गान्धी की हत्या।

लेकिन इन सब संकटों का सामना उन्होंने एक प्रत्युत्पन्न दृढ़ता, योग्यता और तत्परता से किया जिससे कि उन्हें बहुत दिनों से जानने वाले लोग भी आश्चर्य-चकित रह गये। कुछ लोगों के सामने उन्होंने अपनी वेदना और ग्लानि प्रकट की, किन्तु दुनिया के सामने—जो भारत की निन्दा का दम्भ कर रही थी—उनका केवल दृढ़, संयत और आत्म-विश्वासी रूप ही आया। एक दिन दुर्घटना के क्षेत्र में खड़े-खड़े उन्होंने मुझसे रूखे स्वर में कहा था, "मैंने सीख लिया है कि प्रधान मन्त्री कोमल स्वभाव का होकर चल नहीं सकता।" दुर्घटना और संकट ने मानों उन्हें एक नया कवच पहना दिया; उससे उनका दुबला शरीर, जो अब ६० के पास पहुँच कर कुछ झुक भी गया है, रहस्यपूर्ण ढंग से एक नयी स्फूर्ति से, यौवन के नये लचीलेपन से भर आया।

नेहरू सबसे पहले एक बौद्धिक व्यक्ति हैं, लेकिन आजकल उनके पास अध्ययन, चिन्तन या लेखन के लिए प्रायः समय नहीं रहता; इसके लिए उन्हें कुछ समय मिल सकता है तो रेल या हवाई जहाज में ही। हल्की चीजें पढ़ने के लिए भी उन्हें रात को सोने से पहले १५-२० मिनट का समय मिलता है अर्थात् लगभग एक बजे। पाँच घंटे से अधिक वह शायद ही कभी सोते हों। प्रातःकाल उठ कर वह थोड़ी देर शीर्षासन करते हैं। मुझे शीर्षासन का महत्त्व समझाते हुए एक दिन उन्होंने कहा, "इससे सारी स्थिति बिल्कुल उलट जाती है और शरीर नयी परिस्थिति के अनुकूल होना सीखता है। उसके बाद दिन भर बिना रीढ़ का ख्याल किये आदमी अपने काम में लगा रह सकता है।"

इस यौगिक व्यायाम के बाद हल्का नाश्ता करके जल्दी-जल्दी अखबार देखते हैं और अपना दिन-क्रम आरम्भ कर देते हैं, यद्यपि उसका वह बहुत कड़ाई के साथ पालन नहीं करते। बीसियों तार और पत्र लिखते हैं और सैकड़ों पत्र-प्रेषकों को निजी उत्तर देने का उनका आग्रह रहता है। ऐसा दिन कम जाता है जब उन्हें कम से कम एक भाषण न करना पड़े; रोजाना छः भाषणों का तो उनका औसत होगा। चुनाव के दिनों में एक बार उन्होंने सात दिन तक रोज बीस भाषण दिये थे, और छः महीने में हिन्दुस्तान में एक लाख मील का चक्कर लगाया था।

यद्यपि पंडित नेहरू के भाषण प्रायः मौके की सूझ पर ही दिये जाते हैं, फिर भी उनमें शिथिल उक्तियाँ नहीं होतीं और कोई-कोई भाषण तो भाषा का श्रेष्ठ नमूना होता है। उनकी मुद्रा ठीक नहीं होती, उनका स्वर भी प्रायः बहुत धीमा होता है और वह नाटकीय भाव-भंगी से काम नहीं लेते; उनके लिए सभा-मंच भी आपसी बातचीत का एक अधिक विस्तृत रूप है, और वह श्रोताओं को धीरे-धीरे अपने विचारों के निजी दायरे के अन्दर खींच लेते हैं। राष्ट्र के इतने बड़े-बड़े प्रश्नों के साथ व्यस्त रह कर भी जवाहरलालजी यथा-सम्भव किसी दल का निमन्त्रण नहीं टालते और जब बाध्य होकर अस्वीकार कर देते हैं तो उन्हें वास्तविक खेद होता है। कभी-कभी तो ऐसा जान पड़ता है मानों वह अखबार के नये रिपोर्टर की तरह डर रहे हों कि कहीं कुछ महत्त्व की चीज नहीं रह जाय। निरे सामाजिक अवसरों पर भी उपस्थिति औपचारिक नहीं होती; वह समय पर आते हैं और बहुधा काफ़ी देर तक रहते हैं।

पंडितजी अपना काम प्रायः रात को ही करते हैं। अपनी शाम वे प्रायः खाली ही रखते हैं और आमोद-प्रमोद लगभग नहीं करते। सन् १९३६ से वह विधुर हैं। ऐसे बन्धन-मुक्त प्रधान मन्त्रियों में वह सबसे अधिक रूपवान् हैं, जैसे उनकी विधवा बहन, विजयलक्ष्मी स्त्री-राजदूतों में अद्वितीय हैं। जब वह वाशिंगटन में अपने पद पर आसीन नहीं होतीं तब जवाहरलालजी का घर देखती हैं। अनेक और विविध भारतीय और विदेशी सुन्दरियों के औत्सुक्य से घिरे रह कर भी उन्होंने दुबारा विवाह की बात कभी नहीं सोची। कमलाजी की स्मृति उनके लिए आदर्श प्रेम की एक निधि है।

मृत्यु के विषय में वह पूरे भाग्यवादी हैं। किसी परलोक में उनका विश्वास नहीं है। इस लोक के छूट जाने का उन्हें कोई डर नहीं है। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा था, "पहले मुझे इसकी चिन्ता रहती थी कि जो लोग मुझ पर निर्भर हैं, मेरे मर जाने पर उनका क्या होगा। लेकिन अब सब बड़े हो गये और अपनी देख-भाल कर सकते हैं। मेरा काम अभी बहुत-सा बाक़ी है, लेकिन उठ चल देने के लिए मैं हर वक़्त तैयार हूँ। यों तो मैं भरसक बने रहने के लिए लड़ूँगा ही, लेकिन जब मृत्यु आ ही जायेगी तब मैं उसके लिए बिल्कुल तैयार रहूँगा।"

यद्यपि उन्हें विश्वास है कि पाकिस्तान को ऐतिहासिक दृष्टि से पीछे लौटना है, तथापि यह मानना होगा कि उसका अस्तित्व उन्होंने ईमानदारी से स्वीकार किया है। दोनों देशों के बीच में साम्प्रदायिक द्वेष से मुक्त सहज मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उन्होंने पूरा प्रभाव डाला है और मेरा अनुभव है कि इस बात को कराची में भी स्वीकार किया जाता है। भारत में अब भी चार करोड़ मुसलमान रहते हैं। कोई भारत को हिन्दू राष्ट्र बनाने की बात करता है तो जवाहरलालजी को बेहद गुस्सा हो आता है। वह बराबर कहते हैं कि, "आधुनिक मानव के मन में धर्माश्रित राज्य के लिए कोई स्थान नहीं है। जहाँ तक भारत का प्रश्न है, मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि हम लोग लौकिक और राष्ट्रीय मार्ग पर चलेंगे और अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर प्रगति का ध्यान रखेंगे। हमारा चरम लक्ष्य विश्व की एकता का ही हो सकता है।"

पंडित नेहरू के लिए गान्धीजी का महत्त्व एक आदर्श के प्रतीक के रूप में नहीं बल्कि उनकी जन-साधारण की सेवा में था। गान्धीजी की महत्ता की जो परिभाषा उन्होंने की है उसमें (पिता-पुत्र के भाव के अलावा) केवल यही

नहीं दीखता कि महात्माजी के किन गुणों का वह आदर करते थे, बल्कि यह भी कि वह स्वयं क्या करना चाहते हैं। 'उत्तराधिकारी' ने गान्धीजी को श्रद्धांजलि देते हुए कहा था :

"गान्धीजी को सत्य की लगन थी। इसी सत्य के लिए वह कहा करते थे कि अच्छा साध्य कभी बुरे साधनों से प्राप्त नहीं हो सकता, और साधन की हीनता ही साध्य को हीन बना देती है।"

यही नेहरू का भी मत है। और :

"इसी सत्य की लगन से उन्होंने अपना सारा जीवन निर्धनों, उपेक्षितों की सेवा में अर्पित कर दिया। क्योंकि जहाँ असमानता और दमन है, वहाँ अन्याय, बुराई और असत्य है. . . .केवल नैतिक या लोक-सेवा की दृष्टि से नहीं, बल्कि ठोस राजनीतिक बुद्धि से भी हम इस परिणाम पर पहुँचने को बाध्य हैं कि हमें साधारण जन के जीवन का स्तर ऊँचा करना होगा और उसे प्रगति तथा विकास का पूरा अवसर देना होगा। जिस सामाजिक संगठन में उसे यह अवसर नहीं मिलता वह संगठन दूषित है और उसे बदल देना चाहिए।" यही पंडित नेहरू ने अपने दीक्षागुरु के बारे में कहा था, और मेरी धारणा होती है कि यही वह अपने जीवन और कर्म का लक्ष्य और साध्य मानते हैं।

गान्धीजी के टालस्टायवादी समाजवाद, और पंडित नेहरू के यन्त्र की सामाजिक उपयोगिता पर विश्वास में मुझे हमेशा विरोध मालूम होता रहा है। इधर बहुत-से लोग शंका करने लगे हैं कि यह विरोध वास्तव में उतना मौलिक नहीं था जितना समझा जा रहा है। इधर तो समाजवादी कहने लगे हैं कि नेहरू से गान्धी कहीं अधिक मूलवादी थे। नेहरू के प्रति उनका असन्तोष बढ़ता जा रहा है। उसके दो कारण हैं। पहला यह कि कांग्रेस में जो बहुत-से भ्रष्टाचरण करने वाले लोग थे और जिनके बारे में यह आशा की जाती थी कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद उन्हें हटा दिया जायेगा, उनको निकाल बाहर करने के लिए नेहरू यत्नशील नहीं हैं। दूसरा कारण यह है कि गान्धीजी के निधन के बाद भी उनके मन्त्रि-मंडल में कोई परिवर्तन नहीं आया और अब भी मन्त्रि-मंडल पर और समूचे कांग्रेस दल पर ७२ वर्षीय अनुदार सरदार वल्लभभाई पटेल का कम से कम उतना ही प्रभाव है जितना स्वयं नेहरू का। मैंने एक बार पंडितजी से प्रश्न किया था कि क्या उन्हें और सरदार पटेल को राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी मानना ठीक होगा, और क्या भविष्य इस पर निर्भर है कि दोनों में से कौन विजयी होगा? वह कैसे पटेल के साथ और समाजवादियों के विरुद्ध काम करते रह सकते हैं जब कि उनकी सहानुभूति समाजवादी आदर्शों के साथ है? पंडित नेहरू के उत्तर से उनके चरित्र की भावुकता और उनके लिए व्यक्तिगत सम्बन्धों का महत्त्व प्रकट होता है; साथ ही यह भी दीखता है कि पद-ग्रहण में समझौता अनिवार्य है।

उन्होंने बताया कि उनमें और सरदार पटेल में बहुधा नीति और विशेष कार्यों के बारे में घोर मतभेद होता है और कई बार वे दोनों विरोधी ध्रुवों पर खड़े होते हैं। अतीत में गान्धीजी बीच में पड़ कर दोनों में समझौता करा देते थे। "और अब—अजीब बात है—गान्धीजी की स्मृति ही हम दोनों को साथ रखती है। दिवंगत गान्धी जी जीवित गान्धी से अधिक शक्तिमान हैं।" एक बात यह भी है कि दोनों को एक दूसरे के खरेपन पर पूरी आस्था है और दोनों परस्पर जानते हैं कि शक्ति का या पद का लोभ किसी को नहीं है। "मेरे ज़रा-से इशारे पर पटेल पद-त्याग कर देंगे, यह मैं जानता हूँ। वह भी मेरे बारे में यह बात जानते हैं।"

लोग भूल जाते हैं कि यहाँ पर बरसों के सम्पर्क ने दोनों अत्यन्त असमान व्यक्तियों को एक साझे भाग्य के ताने-बाने में बुन दिया है। "किसी के साथ २८ वर्षों तक काम करके आदमी उसके गुण-दोष जान लेता है और बहुत कुछ भूलने या क्षमा करने को राजी हो जाता है। जिनके साथ इतने दिनों काम किया है और सुख-दुख सहा है उनको छोड़ देना आसान नहीं है।"

पंडितजी सरदार पटेल को वह 'ज़रा-सा इशारा' कदाचित् नहीं करेंगे। उन दोनों के बीच का समझौता उन्हें गान्धीजी से साझे में मिली हुई देन है, और उसकी शक्ति निरे आदर्शवाद से अधिक है। शासन के उत्तरदायित्व ने यह भी प्रकट किया है कि नेहरू के समाजवादी आदर्श आज उस क्षितिज से सीमित हो गये हैं जिसको वह 'व्यापक विचार' या कि 'लम्बी दृष्टि' कहते हैं। प्रगति और विकास के प्रत्येक क़दम को समझौते के एक ढाँचे में बिठाना पड़ेगा, ऐसी उनकी धारणा हो गयी है। यह समझौता जो आदर्श रूप से वांछनीय है, और जो तत्काल आवश्यक या

सम्भव है, इन दोनों के बीच में है। और अब 'तत्काल आवश्यकता' अधिक उत्पादन है, न कि कोई मौलिक सामाजिक प्रयोग; ऐसा नेहरू का विश्वास है।

यह भूतपूर्व 'विद्रोही' अब अपने राजनीतिक जीवन और शक्ति-विकास की उस मंजिल पर पहुँच गया है जहाँ उसका आग्रह मानव की भलाई की बड़ी-बड़ी योजनाओं में है, भविष्य का सामाजिक संगठन चाहे जैसा हो। और इन योजनाओं को पूरा करने के लिए वह पहले की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में और कहीं अधिक दूर तक जनता की तात्कालिक आवश्यकताओं की उपेक्षा करने के लिए तैयार है। पंडित नेहरू का नया लक्ष्य साम्प्रदायिक शान्ति और वर्गों का सहयोग चाहता है, और इसके लिए बल-प्रयोग करने को तैयार है। इसी के लिए उन्होंने पटेल द्वारा प्रस्तावित मजदूर-पूँजीपतियों का समझौता स्वीकार किया है, मालिक और मजदूरों के झगड़ों पर पाँच वर्ष की विराम-सन्धि घोषित की है जिसके अन्तर्गत आपसी झगड़ों का फ़ैसला सरकार के द्वारा नियुक्त की गयी 'समझौता समिति' द्वारा होगा। इसीलिए वह हड़ताल-विरोधी क़ानूनों का और साम्यवादी मजदूर नेताओं के दमन का समर्थन करते हैं, क्योंकि 'वे उत्पादन में हस्तक्षेप करते हैं'।

अब यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि पदारूढ़ नेहरू सामाजिक क्रान्तिवादी नहीं बल्कि सुधारवादी हैं और वैध साधनों से उन्नति का समर्थन करते हैं; उनका सारा कार्यकलाप पदासीन वैध सुधारवादी का है। वह 'सब के साथ इन्साफ़' करना चाहते हैं। अब अभिजात को पदच्युत करने की बात उनके मुंह से नहीं सुनी जाती। गद्दीच्युत राजाओं को भी लम्बी पेनशनें देकर चरने छोड़ दिया जा रहा है, और शासन पर उनका बहुत बड़ा बोझ है। इतना ज़रूर है कि दूसरे क्रमोन्नतिवादियों की तरह नेहरू अपनी बातों से भुलावा नहीं देते कि यह सब टीपटाप वास्तव में समाजवाद है। कुछ लोगों के इस दावे की कि 'कांग्रेस का प्रोग्राम सहसा समाजवाद की ओर झुक गया है' वह खिल्ली उड़ाते हैं। वह जानते हैं कि ऐसा नहीं है। "वह समाजवाद से बहुत दूर है, वह केवल परिवर्तन की एक क्रिया है जो कि सारे संसार के देशों में, स्वयं पूँजीवादी देशों में भी हो रही है, केवल एक और सबसे बड़े पूँजीवादी देश को यानी अमरीका को छोड़ कर।"

पंडित नेहरू यह भी अनुभव करते हैं कि वर्तमान शासन-व्यवस्था अस्थायी और संक्रान्ति-कालीन है, और इसलिए जमींदारों, पूँजीपतियों और रजवाड़ों को मुआवजा देने के सब समझौते भी अस्थायी हैं। "भावी सरकार कभी भी ऐसी क़िस्तें देना बन्द कर सकती है", ऐसा उन्होंने स्वयं मुझसे कहा था, "और शायद बहुत जल्द ही कर भी देगी।" उनकी दृष्टि में उनका काम 'नींव डालना' है; भावी पीढ़ियाँ अपनी ज़रूरतों के अनुसार अपने ढंग का भवन खड़ा कर सकती हैं।

अगर महात्मा गान्धी को नये लोकतन्त्र का पिता और स्रष्टा कहा जायगा तो नेहरू को उसका निर्माता के रूप में स्मरण किया जायगा। उनके समकालीनों की अपेक्षा में देखें तो उनकी देन केवल भारत के लिए नहीं बल्कि बाक़ी दुनिया के लिए भी बहुत महत्त्व रखती है। वह एक महान् मानव हैं। जनता के उनके प्रति विश्वास के कारण नहीं, बल्कि जनता में उनके विश्वास की महत्ता के कारण ही नेहरू आज संसार के राष्ट्रों के प्रधान मन्त्रियों में सबसे अधिक गौरव का स्थान रखते हैं।

पंडित नेहरू चिरायु हों!

अप्रैल १९४९

प्राच्य तथा पाश्चात्य का श्रेष्ठ समन्वय

एस० वेसी-फ़िट्ज़जेरल्ड

२३ जून, १७५७—पलासी की लड़ाई से १५ अगस्त १९४७—भारतीय स्वतन्त्रता की स्थापना तक १९० वर्ष से कुछ दिन अधिक होते हैं। २० अगस्त, १९१७ की सुधार-घोषणा से पूर्ण स्वतन्त्रता तक लगभग पूरे ३० वर्ष होते हैं। मानवी जीवन की नाप से ये लम्बी अवधियाँ हैं, पर इतिहास के मानदंड से बहुत छोटी। आज से दो-तीन सौ वर्ष बाद का भारतीय इतिहासकार ब्रितानी शासन के बारे में क्या कहेगा ? विशेष कर इस शासन के अन्त, सन् १९४७ की भारतीय क्रान्ति के बारे में उसके क्या विचार होंगे ? भारतीयों को अपने शासन का पूर्णाधिकार सौंप देना समूचे इतिहास में ऐसे हस्तान्तरण का सबसे अधिक व्यापक उदाहरण है। अन्य क्रान्तियों से तुलना में यह कैसा उतरेगा ?

फ़्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा अधिकार फ़्रांसीसियों के हाथ से फ़्रांसीसियों के हाथ गया, रूसी क्रान्ति ने भी रूसियों के हाथ से रूसियों के ही हाथ में अधिकार दिया। ऐसी दशा में आशा की जा सकती थी कि यह अधिकार-परिवर्तन जातीय एकता तथा भ्रातृत्व की भावना से अनुप्राणित होगा। पर हुआ बिल्कुल इसके विपरीत। अधिकार प्राप्त करने वाले दल ने जिन विचारों का समर्थन किया, पदच्युत किये जाने वाले दल ने उसे भरसक अस्वीकार करने का प्रयत्न किया। दोनों क्रान्तियों में बड़े पैमाने पर लूट-मार हुई; हिंसा, घृणा तथा विद्वेष का प्रचार हुआ और जोश की गर्मी में की गयी हत्याओं के अतिरिक्त सैकड़ों को न्याय और क़ानून के नाम पर मौत के घाट उतारा गया।

इन दोनों महान् क्रान्तियों की तुलना में सन्१९४७ की भारतीय क्रान्ति के लिए भारतीय तथा अंग्रेज दोनों ही अपने को बधाई का पात्र समझ सकते हैं। फ़्रांस तथा रूस के विपरीत यहाँ की क्रान्ति द्वारा शासनसत्ता एक जाति के हाथ से दूसरी जाति के हाथ गयी। अतः, अगर इस में जाति-द्वेष और तज्जन्य हिंसा का समावेश होता तो कोई आश्चर्य की बात न होती। हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच की साम्प्रदायिक तनातनी के अलावा, जो वास्तव में एक अलग चीज थी, यह क्रान्ति दोनों तरफ़ से सद्भावना बल्कि हार्दिकता के साथ घटित हुई। इसके अतिरिक्त, यह केवल एक जाति द्वारा दूसरी को अधिकार-समर्पण न था, इसमें तो पाश्चात्य जगत् अपनी विशिष्ट संस्कृति पर उचित रूप से गर्व करने वाली प्राच्य जातियों को शासन-सत्ता सौंप रहा था। परिस्थितियों से अनभिज्ञ कोई भी अजनबी यह आशा कर सकता था कि इस क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप क़ानूनी, आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्थाओं का आमूल परिवर्तन हो जायगा। किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ, और न अब ऐसा होने की सम्भावना ही है। यह विश्वास करना अनुचित न होगा कि भविष्य का विवेकशील इतिहासकार सन् १९४७ की घटनाओं पर दृष्टिपात करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि यह महान् क्रान्ति क्रान्ति तो थी ही नहीं, यह तो राजनीतिक संस्थाओं के शान्तिमय विकास की एक स्वाभाविक सीढ़ी थी। अगर किसी भी क्रान्ति से इसकी तुलना करना सम्भव है तो वह है इंग्लैंड की सन् १६८८ की "गौरवपूर्ण क्रान्ति" जिसके द्वारा शासन-सत्ता राजा के हाथ से अनुदार अभिजातवर्ग के हाथों में गयी, या सन्१८३२ की वह क्रान्ति जिसके द्वारा इसी अभिजात वर्ग ने वर्तमान प्रजातन्त्रात्मक राज्य की नींव डाली। इतिहास का सिंहावलोकन करने पर इनको विकास की अविच्छिन्न परम्परा की कड़ियों के रूप में देखा जा सकता है—(यद्यपि ये काफ़ी लम्बी कड़ियाँ हैं !)—भारतीय क्रान्ति भी ऐसी ही है अतएव इसके लिए भी 'गौरवपूर्ण" का विशेषण उतना ही उचित होगा।

इस सुव्यवस्थित विकास तथा सदाशयता के इस ऊँचे स्तर को क़ायम रखने का श्रेय अगर भारतीय पक्ष के दो महान् नेताओं—महात्मा गान्धी तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू के मृदुल स्वभाव ही को दिया जाय तो इस में कोई अतिशयोक्ति न होगी। तीस वर्ष, इतिहास की गति में चाहे कुछ नहीं होते, किन्तु किसी मनुष्य के जीवन का यह दीर्घ काल है। पिछले तीस वर्षों में कितने ही अवसर आये होंगे जब भारतीय नेता ब्रितानी शासन की सावधानी और सतर्कता से ऊब कर उसकी नीयत में संदेह करने लगे होंगे। उनका ऐसा करना स्वाभाविक और उचित ही था। सन् १९२० तथा

१९३५ के शासनविधान बहुत सोच-विचार तथा आवश्यकता से अधिक तैयारी के पश्चात् प्रस्तुत किये गये और उनके निर्माताओं को विश्वास था कि इनसे स्वशासन के पथ पर भारतवर्ष एक महत्त्वपूर्ण क़दम आगे बढ़ेगा। पर भारतीयों ने इतने परिश्रम तथा इतनी सावधानी से तैयार की गयी 'स्वशासन की किस्तों' को ठुकरा दिया और विधान के निर्माताओं की सदाशयता पर सन्देह प्रकट किया, तो उनका चौंकना तथा दुःखी होना अस्वाभाविक न था। किन्तु भारतीय राजनीतिज्ञों की प्रतिक्रिया भी उतनी ही सहज स्वाभाविक थी। वे किसी प्रकार की परतन्त्रता की अवस्था में रहने तथा उसे आवश्यक समझने को तैयार न थे। स्वतन्त्र होने के पूर्व अपने को स्वतन्त्रता के योग्य साबित करने की ब्रितानी माँग को वे न केवल अपनी राष्ट्रीयता का अपमान समझते थे, बल्कि इसमें उन्हें विरोधाभास भी दिखाई देता था। परछाईं से खेलकर कोई भी व्यक्ति वास्तविकता के लिए अपनी योग्यता कैसे दिखा सकता है? इस प्रकार दोनों पक्षों को उत्तेजित होने के लिए पर्याप्त कारण था। यह उत्तेजना सभ्य वाद-विवाद की सीमा को पार नहीं कर गयी तो इसका प्रधान कारण यह था कि अन्तिम लक्ष्य के विषय में दोनों पक्ष सहमत थे; अन्तर केवल गति के सम्बन्ध में था। भारतीय देशभक्त कहीं न रुकनेवाली डाकगाड़ी चाहते थे, ब्रितानी राजनीतिक धीमी 'वैधानिक' गति की गाड़ी से ही सन्तुष्ट थे। इन तीस वर्षों में जब स्थगित आशाओं और रुद्ध आकांक्षाओं की अपरिमेय शक्तियाँ कटुता और विस्फोट पैदा कर सकती थीं, महात्मा गान्धी तथा जवाहरलाल नेहरू ने कभी अपने मन में मैल नहीं आने दिया तथा राजनीतिक प्रतिपक्षी से भी मित्रता रखने की शक्ति को, जिसे हम प्रायः केवल ब्रितानी चरित्र की विशेषता मान लेते हैं, क़ायम रखा। सौहार्द की यह भावना उन्हीं तक सीमित न रही। उस युग की अनेक घटनाओं में से दो-एक सुरक्षित रखने योग्य हैं। वेल्स में 'निष्क्रिय प्रतिरोध' के नाम से लॉयड जॉर्ज द्वारा और अफ़्रीक़ा में 'असहयोग' के नाम से महात्मा गान्धी द्वारा कदाचित् एक ही समय पर जो पद्धति चलायी गयी थी, और जिसकी मुख्य विशेषता थी जेल जाने के स्पष्ट उद्देश्य से ही क़ानून भंग करना, उस पद्धति को कांग्रेसी राजनीतिक बड़े उत्साह से काम में ला रहे थे। जिस समय यह आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर था, एक अंग्रेज़ मजिस्ट्रेट को अपने प्रान्त के एक कांग्रेसी नेता को कारावास की सज़ा देनी पड़ी। कालान्तर में यही नेता प्रान्तीय सरकार का मन्त्री हुआ। प्रान्त का दौरा करते समय एक ज़िले में ज़िलाधीश द्वारा उसका स्वागत हुआ। यह ज़िलाधीश वही व्यक्ति था जिसने उसे कारावास का दंड दिया था। मन ही मन वह चिन्तित हो रहा था कि उसका न जाने कैसा स्वागत होगा। किन्तु मंत्री ने तपाक से हाथ मिलाते हुए पूछा, "कहिए, मिस्टर फ़—, आप को याद है, पिछली बार जब हम मिले थे तब आपने क्या कहा था?" फ़-महोदय के नहीं कहने पर मन्त्री ने बताया, "आपने कहा था, मुझे आशा है हम लोग फिर कभी अधिक अनुकूल स्थिति में मिलेंगे; और वह अनुकूल स्थिति आज है, देख लीजिए!"

दूसरी घटना जंगल सत्याग्रह की है। जंगल क़ानून का भंग करना उन दिनों विशेष रूप से लोकप्रिय था। स्थानीय कांग्रेसी नेता ज़िलाधीश के पास गये और अपना इरादा बता कर हँसते हुए बोले, "आप को हमें गिरफ़्तार करना पड़ेगा और जेल भेजना होगा।" उसने उत्तर दिया, "वैसे तो यह दुःख की बात है, किन्तु अगर आपने ऐसा निश्चय ही कर लिया है तो फिर मैं आपके साथ ही चला चलता हूँ।" समीप के जंगल के बँगले तक दस मील सब लोग हँसी-ख़ुशी घोड़े पर सवार होकर गये। वहाँ सत्याग्रहियों ने यथारीति क़ानून भंग किया और वे नियमानुकूल गिरफ़्तार कर लिये गये। इसके पश्चात् ज़िलाधीश के साथ उन्होंने चाय पी और सब एक साथ वापस लौटे। जेल के फाटक पर वे अलग हुए और सत्याग्रही अन्दर भेज दिये गये।

वर्षों पूर्व प्रस्तुत लेखक को आक्सफ़ोर्ड के विद्यार्थियों की एक संस्था, रैले क्लब की सभा में मेहमान की हैसियत से उपस्थित होने का सौभाग्य मिला था। महात्मा गान्धी उस सभा के प्रमुख अतिथि थे। उन्होंने एक संक्षिप्त भाषण दिया और प्रश्न पूछने की अनुमति दी। सभा के सदस्यों में से एक ने पूछा, "ब्रितानी साम्राज्य से आप किस हद तक अलग होना चाहते हैं?" उन्होंने उत्तर दिया, "ब्रितानी साम्राज्य से तो पूर्ण रूप से, किन्तु ब्रितानी लोगों से तनिक भी नहीं।" जिस स्नेह से अनुप्राणित होकर उनके उत्तर का अन्तिम अंश कहा गया था उसके सम्बन्ध में कोई भ्रान्त धारणा नहीं उत्पन्न हो सकती थी। और आज इस समस्या का जिस प्रकार हल हुआ है उससे हम सब को प्रसन्न होना चाहिए क्योंकि इससे महात्मा की दोनों इच्छाओं की पूर्ति हुई है।

अन्त में, मैं एक निजी बात भी कहना चाहूँगा। यद्यपि इसकी सम्भावना नहीं है कि मैं फिर भारत आऊँगा;

फिर भी मैं वास्तव में दुःखी होता यदि भारतीय स्वतन्त्रता के परिणाम-स्वरूप में उस देश में पराया हो जाता जिसमें मेरा जन्म हुआ, जहाँ मेरी माँ की मिट्टी सुरक्षित है और जिसकी मेरे पिता ने तथा मैंने मिलकर लगभग ८० वर्षों तक लगातार सेवा की। ब्रितानी साम्राज्य से पृथक् होने से महात्मा गान्धी का तात्पर्य पराधीनता, जातीय श्रेष्ठता तथा इस प्रकार की अन्य दूषित भावनाओं को पूर्ण रूप से अस्वीकार करना था, जो कि भारतवर्ष की सेवा में रहने वाले अंग्रेजों को भी उतनी ही अरुचिकर थीं जितनी भारतीयों को। इस बात का आज मुझे थोड़ा खेद हो सकता है कि पुरानी पीढ़ी के भारतीय राजनीतिज्ञ सम्राट् के प्रति जिस रोमांटिक राजभक्ति का अनुभव कर सकते थे, उसका स्थान आज एक थोथे वाक्यांश 'कामनवेल्थ के प्रधान' ने ले लिया है; किन्तु शब्द अन्ततोगत्वा शब्द ही हैं। वास्तविक महत्व की वस्तु तो भावना है; और कुछ ही दिनों पहले यह पढ़कर मैं पुलकित हो गया कि भारतीयों ने महारानी विक्टोरिया की—जिन्हें हम 'सम्राज्ञी' न कह कर 'रानी' कहना ही अधिक प्रिय समझते थे—मूर्ति को माला पहिनाने की प्रथा पुनः जारी कर दी है।

भारतीय स्वतन्त्रता हमारे आदर्शों का अन्त नहीं है: यह तो उनका फलन है। दोनों देशों के सम्पर्क से जनित लाभ को लोग साधारणतया इंगलैंड तथा भारतवर्ष की भौतिक उन्नति में ही देखते हैं—नहरों का निर्माण, रेल, व्यवसाय आदि में। यह लाभ भी महत्त्वपूर्ण है, किन्तु आत्मिक मान्यताओं की एकता और भी महत्वपूर्ण है। अगर दोनों देशों में अन्तरंग सम्बन्ध न होता तो वह नहीं स्थापित हो सकती थी। स्वतन्त्रता, मैत्री, तथा न्याय के सम्मुख समानता के अंग्रेजी आदर्श भारतवर्ष के लिए नये न थे, यहाँ की भूमि इन विचारों के नये स्फुरण के लिए तैयार थी और इसी से ये बीज सौ गुने फले। आज ये आदर्श केवल अंग्रेजी नहीं, भारतीय हैं। प्राच्य तथा पाश्चात्य के इस समन्वय के जो कि निरा सम्मिश्रण नहीं बल्कि एक गहरा, स्थायी और विकासशील एकीकरण है, पंडित जवाहरलाल नेहरू एक श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

मई १९४९

हमारी एकता का प्रतीक

कैलासनाथ काटजू

पंडित जवाहरलाल नेहरू के बारे में कुछ लिखना बहुत कठिन है, और उसके बहुत-से कारण हैं। उनका जीवन इतना खुला रहा है कि सार्वजनिक मंच पर भी ऐसा जान पड़ता है मानों वह अपने दर्शकों को सर्वथा भूल कर स्वगत-भाषण कर रहे हों। फिर उन्होंने स्वयं अपनी अनुपम शैली में अपनी आत्मकथा लिखी है, जो कि मुझे पूरा विश्वास है, संसार की प्रमुख आत्म-जीवनियों में स्थान पायेगी। स्वयं अपने और अपने सम्पर्क के आये हुए दूसरे व्यक्तियों के विषय में उनके लेखन में एक अद्भुत ईमानदारी और पारदर्शी खरापन है। इसके अलावा सन् १९४५ में देश के संचालन का कार्यभार अपने कन्धों पर लेने के बाद से उनका जीवन प्रचार और प्रोपेगंडा की दुनिया में बीता है। भारत का विभाजन उचित हुआ कि अनुचित, इस पर अभी सैकड़ों वर्ष तक वाद-विवाद चलता रहेगा लेकिन इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि गान्धीजी, जवाहरलाल, और सरदार वल्लभभाई पटेल के बिना भारतीय राष्ट्र की नौका तूफ़ान में नष्ट-भ्रष्ट होकर डूब जाती। विभाजन के बाद जो दारुण उथल-पुथल हुई उसकी देश में किसी ने कल्पना भी नहीं की थी : पंजाब पर मानों स्वयं काल की मार पड़ी थी। गान्धीजी की हत्या एक और भी दारुण दुर्घटना हुई! हमारे राष्ट्रीय इतिहास के इस संकट-काल में, जब कुछ भी हो जा सकता था, जवाहरलाल के व्यक्तित्व ने प्रजा को सँभाले रक्खा। वही हमारी एकता का प्रतीक और हमारी आस्था के पात्र बने रहे। उन्होंने या उनकी सरकार ने सर्वदा दूरदर्शिता और पेशबन्दी से काम लिया या नहीं, इस प्रश्न का महत्त्व नहीं है। सरकार की अनेक त्रुटियों को उन्होंने स्वयं स्वीकार किया। लेकिन ये सब बातें मानों अप्रासंगिक थीं। जनता का उन पर विश्वास था, जनता उन्हें नवजात भारत की प्रतिमूर्ति मानती थी, वह मानों एक रेशमी सूत्र था जो कि हमारे अतीत के रत्नों की एक अटूट लड़ी में पिरोये हुए था।

भाग्यचक्र का विवर्तन जब किसी व्यक्ति को भाग्योदय के शिखर पर पहुँचा देता है तब, मैं कभी-कभी सोचता हूँ, उसके व्यक्तित्व का महत्त्व उसके जीवन-काल में ही आँकने की चेष्टा कदाचित् अनुचित होती है और कदाचित् मूर्खता भी हो सकती है। बौद्धिक दृष्टि से इसमें विरोधाभास जान पड़ सकता है, लेकिन मेरा निश्चित मत है कि जवाहरलाल सभी दलों से ऊपर उठे हैं। मैं नहीं समझता कि उन्हें किसी भी दल-विशेष का नेता कहा जा सकता है, उसके अनुयायियों की संख्या और उसका प्रभाव चाहे जितना व्यापक क्यों न हो। जवाहरलालजी के नेतृत्व की बुनियाद है वह स्नेह जो कि भारत के जन-साधारण से उन्हें मिला है। इस स्नेह को पाने में वह सचमुच अपने महान् गुरु गान्धीजी के सच्चे उत्तराधिकारी हैं। जनता का यह स्नेह एक अजीब वस्तु है। स्नेहपात्र व्यक्ति के राजनीतिक विवेक अथवा बुद्धि पर उनकी आस्था से इसका सम्बन्ध नहीं है। यह स्नेह एक भारतीय विशेषता है। भारत में न तो राजनीतिक की पटुता-निपुणता का महत्त्व है, न कोटिपतियों की सम्पत्ति का, भले ही उसने बहुत ग़रीब दशा से उन्नति की हो। हमारे देश में महत्त्व है त्याग की भावना का, निःस्वार्थ सेवा का, चरित्र के खरेपन का और विचार की ऐसी पवित्रता का कि वह छोटे-से दोष को भी बहुत भारी लांछन समझे। जवाहरलाल एक ऐसे आदर्श के अनुसरण के जीवित उदाहरण हैं जिसको हमारे सन्तों और मनीषियों ने मानव द्वारा सेव्य उच्चतम आदर्श माना है। कुछ ने चिन्तन और अनासक्त निवृत्ति के द्वारा आदर्श की ऊँचाइयों तक पहुँचने का यत्न किया है; दूसरों ने उसी आदर्श की प्राप्ति के लिए गान्धीजी की भाँति कर्म का कठिनतर मार्ग चुना है। जहाँ तक इस मार्ग का प्रश्न है, उस पर चलने वाला यात्री अपने को क्या कहता है इसका महत्त्व कम है। धार्मिक विश्वास भी तब तक अधिक महत्त्व नहीं रखता जब तक कि कोई अनवरत, अविश्रान्त, अनासक्त कर्म के मार्ग पर चलता है, ऐसा कर्म कि जिसका उद्देश्य देश अथवा मानव-जाति का कल्याण है। आजकल 'कर्मयोगी' की अभिधा बहुत सस्ती हो गयी है, लेकिन ऐसे

व्यक्ति के लिए यही उपयुक्त विशेषण है। गान्धीजी की भाँति जवाहरलालजी भी आजीवन कर्मयोगी ही रहे हैं।

जवाहरलाल से मेरा परिचय सन् १९१४ में आरम्भ हुआ जब मैंने इलाहाबाद के हाईकोर्ट में वकालत आरम्भ की। जवाहरलाल उस समय अपने पिता के पास रहते थे जो कि इलाहाबाद बार के प्रमुख थे और अभिजातों की शान-शौकत और विलासिता के साथ सुप्रसिद्ध आनन्द भवन में रहते थे। एक ही अदालत में वकालत करने के बावजूद हम दोनों में समानता बहुत कम थी। मैं बिल्कुल दूसरे वातावरण में रहता था। लेकिन तीन वर्ष बाद ही श्रीमती एनी बेसेंट द्वारा आरम्भ किये गये होम रूल आन्दोलन की लहर आयी; सन् १९१६ में एक सार्वजनिक सभा में जवाहरलाल ने जो प्रभावशाली भाषण दिया वह मुझे आज भी याद है। हम सब के लिए वह एक आश्चर्यजनक बात थी। उस भाषण की न केवल भाषा में अद्भुत प्रभाव था बल्कि उसमें एक ज्वलन्त सच्चाई भी लक्षित होती थी। सन् १९१७ से ही वह महान् आन्दोलन आरम्भ हुआ जो अब निष्पत्ति पा चुका है।

जवाहरलाल को कुछ लोगों को स्वप्नदर्शी कहते हुए मैंने सुना है। उनका कहना है कि वह अच्छे प्रबन्धक नहीं हैं। प्रबन्धक से उनका क्या अभिप्राय है, मैं नहीं समझता। मेरी समझ में तो ३५ करोड़ व्यक्तियों को सँभाले रखना ही एक महान् प्रबन्ध है। और जहाँ तक स्वप्नदर्शिता का सवाल है, जो लोग महान् भविष्य के स्वप्न देख सकते हैं वही उनको यथार्थ बनाने के लिए उद्योग भी कर सकते हैं। आदर्श वाला एक व्यक्ति लाखों कोरे प्रबन्धकों और व्यावहारिकों से अधिक महत्त्व रखता है। यह सच है कि जवाहरलाल को भावी पीढ़ियाँ किसी नये जीवन-दर्शन के लिए न याद करेंगी; उन्हें केवल गान्धीजी का सबसे महान् शिष्य और उनकी नीति तथा दर्शन का श्रेष्ठ व्याख्याता ही माना जायगा, जिस दर्शन के सहारे भारतीय जाति को नैतिक, आर्थिक और राजनीतिक दासता से मुक्त किया जा सका। अगली पीढ़ियाँ जवाहरलाल को आधुनिक भारत के प्रमुख निर्माता के रूप में स्मरण करेंगी उस भारत के, जो हम आशा करते हैं, विश्व-शान्ति की स्थापना के कार्य में गौरवपूर्ण भाग ले सकेगा।

जवाहरलाल के साठ वर्ष पूरे करने के शुभ अवसर पर भारत के प्रत्येक घर से प्रार्थना उठेगी कि वह देश की और मानव जाति की सेवा के लिए चिरायु हों।

मई १९४९

नेहरू के लौकिक शासन का आध्यात्मिक आधार

मोहम्मद हफ़ीज़ सैयद

भारत के प्रधान मन्त्री के रूप में जवाहरलाल नेहरू का सबसे बड़ा कृतित्व है देश में ऐसे लौकिक जनतन्त्र शासन की स्थापना—जिसका आधार है सत्य, न्याय, स्वतन्त्रता, और भारत के सब नागरिकों के लिए समान अधिकार और सुविधा।

श्री सम्पूर्णानन्द का कथन है, "किसी राज्य की लौकिकता का अर्थ है कि वह विभिन्न धर्मों में भेद न करे, यह नहीं कि वह जीवन के आध्यात्मिक आधारों को अस्वीकार करने को बाध्य हो। अगर सोवियत रूस जैसा निर्विवाद लौकिक राज्य एक जीवन-दर्शन को अपना आधार बना सकता है, तो कोई कारण नहीं है कि भारत भी उस महान् वृक्ष के नीचे आश्रय न ले सके जो हमारी सबसे बड़ी निधि है।"

भारत में लौकिक राज्य की स्थापना के सिद्धान्त का विश्लेषण करके देखें तो हमें मानना होगा कि उस सिद्धान्त का निरूपण और उसकी घोषणा करने वालों ने चरम कोटि के विवेक का परिचय दिया है। अगर भारत का शासन किसी एक धर्म के साथ सम्बद्ध हो जाता तो धर्म और धर्म के बीच में तो ईर्ष्या-द्वेष और सन्देह बढ़ता ही, राज्य के भीतर भी विस्फोटक संघर्ष पैदा हो जाता। किसी एक धर्म से पक्षपात दूसरे धर्म के विरोध का कारण बनता। लौकिक जनतन्त्र शासन में हर धर्म के अनुयायियों को अपने विश्वासों की, उनके प्रचार की और अपने आदर्शों के अनुसार जीवन-यापन की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए—जनतन्त्रात्मक लौकिक शासन का यह सबसे बड़ा वरदान है।

भारत में जो नया लौकिक राज्य पैदा हुआ है, उसके बुनियादी सिद्धान्तों की जाँच करने पर हम पाते हैं कि वह किसी धर्म के किसी आदर्श का विरोध नहीं, बल्कि समर्थन ही करता है।

भारतीय विधान के अनुसार भारत का प्रत्येक नागरिक—उसका जाति-वर्ण-धर्म चाहे जो हो—समान है, और न्याय की दृष्टि से उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं किया जायगा। इस राज्य में सबके अधिकार समान और सुविधाएँ समान हैं। किसी भी देश या राष्ट्र के प्रजाजनों को समान मानवता का पद दिया गया है। मत प्रकाशन के लिए किसी को दंड नहीं दिया जायगा जब तक कि वह राज्य का क़ानून तोड़े। लोक-सेवा का धार्मिक आदर्श नये भारतीय विधान के द्वारा समर्थन पाता है।

पंडित जवाहरलाल नेहरू को जब-जब अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के सामने बोलने का अवसर मिला है, तब-तब उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि वह और उनकी सरकार परस्पर सद्भावना, शान्ति, अहिंसा और लोक-कल्याण के समर्थक हैं; और जहाँ तक सम्भव होगा वह किसी ऐसे कार्य का समर्थन नहीं करेगी जिससे कि युद्ध या परस्पर विनाश की सम्भावना पैदा हो। राष्ट्रपिता द्वारा प्रतिपादित सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त को उन्होंने अपनाया है। इन उक्तियों को पुष्ट करने के लिए, और यह दिखाने के लिए कि भारतीय लौकिक राज्य का मूल सिद्धान्त इस देश में प्रचलित धर्मों के आदर्श के अनुरूप है और इसलिए किसी धर्म के अनुयायियों को यह डर नहीं होना चाहिए कि उनके आदर्शों या धर्मनीति की उपेक्षा होगी, मैं यहाँ विभिन्न धर्मों के धर्म-ग्रन्थों से कुछ उद्धरण दूँगा।

संसार के धर्मों में सबसे प्राचीन हिन्दू धर्म है। इस प्राचीन धर्म के सभी धर्मग्रन्थों में विश्व-बन्धुत्व के आदर्शों पर जोर दिया गया है।

भगवद्गीता के छठे अध्याय में लिखा है:

जो सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधु और असाधु सभी व्यक्तियों को तुल्य समझता है, वह सबसे विशिष्ट अर्थात् श्रेष्ठ है।

(आत्मसंयम योग, ९-१०)

तीसरे अध्याय में लिखा है :

आसक्ति छोड़ कर कर्म करो।......दूसरों के भले के लिए तुम भी कर्म करो।......लोगों के धर्म की रक्षा के लिए ही तुम कर्म करो।

(कर्मयोग, २०, २३)

ऐसे और भी कई श्लोक हैं। मनुस्मृति का कथन है :

जो सब प्राणियों को स्वयं अपने में देखता है वह समदृष्टि होकर परब्रह्म पद को पाता है।

(मनु : १२, १२५)

ईशावास्योपनिषद् में लिखा है :

जो सब भूतों को अपने में और अपने को सब भूतों में देखता है वह घृणा नहीं करता।

(ईशा : ६)

महाभारत में लिखा है :

जो सब भूतों का मित्र है और जो मन, वचन, कर्म से सब का हितैषी है वही सब धर्मों का जानने वाला है।

(शान्तिपर्व)

विष्णुपुराण में लिखा है :

सब भूतों में एक ही परमात्मा है, यह जान कर ज्ञानी जन प्राणी मात्र से समान भाव से प्रेम करते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू धर्म के बाद जरदुस्त धर्म का स्थान आता है। पतेत पशेमानी में लिखा है :

यदि मैंने अपने माता, पिता, भाई, बहन, संगी और सन्तति के साथ विश्व-बन्धुत्व के नियम के विरुद्ध कोई आचरण किया हो; यदि अपने नेता, अपने बन्धु-बान्धवों, प्रतिवेशियों या परिचारकों के साथ इस नियम के विरुद्ध आचरण किया हो, तो मैं उसके लिए पश्चात्ताप करता हूँ और क्षमा की याचना करता हूँ।

बौद्ध-धर्म की भी यही शिक्षा है। धम्मपद का कथन है :

हम सुख में रहें वैरियों में वैरमुक्त होकर : वैर करने वाले मनुष्यों के बीच में हम रहें अवैरी होकर।

(सुखवग्गो, १)

ईसाई धर्म का कथन है :

तुम्हारा एक स्वामी है और तुम सब भाई हो।

(मथाई, २३, ८)

ईश्वर ने एक ही रक्त से सब जातियों के मनुष्य बनाये, पृथ्वीतल को आबाद करने के लिए।

(एक्ट्स १७, २४-२६)

हम सब ईश्वर की सन्तान हैं। (गेलेशियन, ३, २८)

अन्यत्र लिखा है :

न कोई यहूदी है, न कोई यूनानी, न कोई दास है न कोई मुक्त, न कोई पुरुष है न कोई स्त्री, ईसा के सामने सब एक हैं।

(कलोशियन ३, ११)

और

प्रिय, हम एक दूसरे से प्रेम भाव रखें; क्योंकि प्रेम ईश्वर का है और हर कोई जो प्रेम करता है, ईश्वर का सन्तान है और ईश्वर को पहचानता है.........प्रिय, यदि ईश्वर हमसे इतना प्रेम करता है तो हमें भी परस्पर प्रेम रखना चाहिए........जो अपने पड़ोसी से प्रेम नहीं करता जिसको कि उसने देखा है, वह ईश्वर से कैसे प्रेम करेगा जिसको कि उसने देखा भी नहीं है? ईश्वर का आदेश है कि जो ईश्वर से प्रेम करता है वह अपने पड़ोसी से भी प्रेम करे।

(योहन्ना, ४, ७; २, २०-२१,

अब कुरान की शिक्षा लीजिए :

अपने माता-पिता के प्रति दया भाव रखो, और सम्बन्धियों और अनाथों के प्रति और निर्धनों के प्रति; अपने उस पड़ोसी के प्रति जो कि तुम्हारे सामने है और उस पड़ोसी के प्रति भी जो अजनबी है; और अजनबी साथी के प्रति; और जो तुम्हारे दाहिने हाथ के नीचे हैं (अर्थात् दास) उनके प्रति। अनाथ को कष्ट मत दो और भिखारी को मत लौटाओ।

पैग़म्बर मुहम्मद का कथन है कि

जो व्यक्ति अपने लिए जो कुछ चाहता हो वही अगर अपने भाई के लिए भी नहीं चाहता तो वह सच्चा विश्वासी नहीं है।

जो ईश्वर की सृष्टि और अपनी सन्तति के प्रति स्नेह नहीं रखता, ईश्वर उसके प्रति स्नेह नहीं रक्खेगा।

ईश्वर को सबसे प्यारा कौन है? वही जिससे कि जीवमात्र का सबसे अधिक कल्याण होता है।

श्रेष्ठ मानव वह है जिससे मानवता का हित होता है। सभी जीव ईश्वर की सन्तान हैं और ईश्वर को वह सबसे प्यारा है जो जीवों का सबसे अधिक हित करता है।

भूखे को खिलाओ, रोगियों की सेवा करो, अन्याय के बन्दियों को मुक्त करो। किसी भी पीड़ित की सहायता करो, वह चाहे मुसलमान हो चाहे ग़ैर-मुसलमान। स्त्रियों से सद्व्यवहार करो, क्योंकि वे तुम्हारी माँ-बेटियाँ हैं। क्या तुम अपने स्रष्टा से प्रेम करते हो? पहले अपने साथी मानवों से प्रेम करो।

क़ुरान कहता है :

ओ विश्वास करने वालो! कोई जाति या राष्ट्र किसी दूसरी जाति या राष्ट्र की हंसी मत करे। सम्भव है कि वह हंसने वालों से अच्छा हो ईश्वर की दृष्टि में (अर्थात् अधिक सेवा कर सकता हो)।

पैग़म्बर नें अपनी अन्तिम यात्रा के समय शिक्षा दी थी :

स्मरण रखो कि तुम सब भाई हो। ईश्वर की दृष्टि में सब मानव समान हैं। और तुम्हारा जीवन और तुम्हारी सम्पत्ति पवित्र है; एक दूसरे के जीवन या सम्पत्ति पर आक्रमण कदापि मत करो। आज मैं वर्ण, रंग और जाति के सब भेदों को पैरों तले कुचलता हूं। मानव मात्र आदम की सन्तान हैं और आदम स्वयं मिट्टी से उपजा है।

ख़लीफ़ा उमर ने भी इसी सन्देश को अपनी घोषणा में दोहराया :

लाल और काले, अरब और ग़ैर अरब में किसी प्रकार का भेद नहीं करूंगा, और पैग़म्बर के क़दम पर चलूंगा।

इन सन्दर्भों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार के किसी धर्म ने कोई मानव-विरोधी शिक्षा नहीं दी, न कभी द्वेष और उत्पीड़न का समर्थन किया।

अगर कोई लोग दूसरे मनुष्यों पर अत्याचार करते हैं तो उसका दोष उनके धर्म पर नहीं, धर्म के उन अनुयायियों पर ही होगा। धर्म के महान् सत्यों को कई बार ग़लत समझाया गया और विकृत किया गया है और इससे अनुयायियों में आपस में भी झगड़ा होता रहा है।

अगर मानवीय एकता के समान आदर्श को सभी स्वीकार कर लें तो संसार के सभ्य राष्ट्र, मानवता और बन्धुत्व के नाते, अपने उन पड़ोसियों की सहज ही मदद कर सकते हैं जो उनकी अपेक्षा दुर्बल, कम सम्पन्न, कम भाग्यशाली और कम विकसित हैं। तब जातीय विद्वेष की भावनाएँ उन्हें प्रेरित नहीं करेंगी, न तथाकथित राष्ट्रीय प्रतिष्ठा, शक्ति और गौरव के पुराने और घिसे हुए आदर्श। तब उन्हें मानवीय एकता के उच्चतर आदर्श ही प्रेरित करेंगे और न्याय और सत्य के लिए तथा पीड़ित की सहायता के लिए संघर्ष करने को एक गौरव का विषय मानेंगे।

अभी तक हमने विभिन्न धर्मों की शिक्षा पर विचार किया है, जिसका बुनियादी सिद्धान्त लौकिक राज्य के सिद्धान्तों से मेल खाता है। अब हमें यह देखना है कि सब धर्मों द्वारा स्वीकृत नैतिक मान्यताएँ लौकिक शासन के सिद्धान्तों पर भी लागू होती हैं कि नहीं। वास्तव में लौकिक राज्य के विधान में नैतिक सिद्धान्तों की आवश्यकता पर ज़ोर देना अनावश्यक जान पड़ता है, क्योंकि यह सभी स्वीकार करते हैं कि नीति धर्म की भी जड़ है और धर्मों से परे प्रत्येक सभ्य देश के क़ानूनों की बुनियाद भी जांचे हुए नैतिक सिद्धान्तों पर आश्रित होती है। किसी राज्य के क़ानून हत्या, चोरी और लूट का समर्थन नहीं करते; प्रत्येक दुष्कर्म के लिए न्याय्य दंड का विधान करता है। इसीलिए जवाहरलाल की कल्पना का लौकिक राज्य, जैसा कि उन्होंने स्वयं बार-बार आश्वासन दिया है, नैतिक सिद्धान्तों की उपेक्षा कभी नहीं कर सकता।

ऋषियों ने जीवमात्र की एकता को पहचान कर इसी को अपने नीतिशास्त्र का आधार बनाया। इसलिए नीति के विषय में श्रुतियों की स्थापनाएँ प्रामाणिक, शाश्वत और सर्वसम्मत हैं और युक्ति द्वारा उनका समर्थन किया जा सकता है।

जिस तरह व्यक्ति-शरीर का स्वास्थ्य विज्ञान के नियमों का पालन करने पर निर्भर है उसी तरह मानवता का, समष्टि शरीर का स्वास्थ्य नीति-नियमों के पालन पर निर्भर है, जिसके अनुसार इस विराट् शरीर का प्रत्येक अवयव दूसरे अवयवों के साथ मिलकर काम करता है। जीवमात्र की एकता का यह सिद्धान्त हमें अलग-अलग मानवों में परस्पर-हितैषी सम्बन्ध स्थापित करने में सहयोग देता है। यही एकता और इस एकता से उत्पन्न होनेवाला विश्वप्रेम ही नीति का और सकल गुणों का मूल स्रोत है। इसी की शिक्षा से वर्ग, जाति और राष्ट्र के विद्वेष मिट सकते हैं, संदेह और घृणा का अन्त हो सकता है और मानवमात्र का एक कुटम्ब बन सकता है जिसमें बड़े-छोटे तो हैं लेकिन पराये कोई नहीं हैं। महात्मा जी इस बात को हमेशा अपने सामने रखते थे और उससे उनके सर्वोदय के आदर्श का जन्म हुआ जिसकी बुनियाद अहिंसा, लोक-सेवा और मानव-मात्र के प्रति प्रेम पर आधारित थी। भारत के नेताओं में, मेरा मत है, जवाहरलाल ने ही महात्मा जी के क़दमों पर चलने का और सत्य, अहिंसा की मशाल जलती रखने का सबसे अधिक प्रयत्न किया है। देश में और विदेश में उनके सभी सार्वजनिक भाषणों से उनके दृष्टिकोण की उदारता और उनके हृदय की विशालता का परिचय मिलता है। उनके उच्च नैतिक आदर्श भारत के स्वाधीनता-संग्राम में और प्रधान मन्त्रित्व का आसन ग्रहण करने के बाद उनके प्रत्येक विचार और कर्म को अनुप्राणित करते रहे हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय को, वह बहुसंख्यक हो या अल्पसंख्यक, विश्वास रहना चाहिए कि जवाहरलालजी के हाथों में उनका हित सुरक्षित है।

ऋषिभूमि भारत के पास संसार को देने के लिए मानव की एकता का महान् संदेश है, यद्यपि आज वह स्वयं जातियों और सम्प्रदायों में बँटा हुआ दीखता है। उसके पास जीवमात्र की एकता का भी महान् संदेश है। भारतीय राष्ट्र की नौका को जवाहरलाल के रूप में योग्य कर्णधार मिला है। वह प्राचीन भारतीय आदर्श के सच्चे प्रतिनिधि हैं और हमें संदेह नहीं कि वह हमारे राष्ट्र का संचालन योग्यता और दक्षता के साथ करेंगे।

मई १९४९

विकासशील राजनीतिज्ञ

टी० विजयराघवाचार्य

अलमोड़ा-जेल में अपनी आत्मकथा समाप्त करते हुए पंडित नेहरू ने १४ फ़रवरी १९३७ को अपने जीवन का प्रत्य-वलोकन करते हुए लिखा था :

> "मेरे ये साहसिक काम शायद बहुत उत्तेजना पैदा करने वाले नहीं रहे। कई वर्षों के जेल-निवास को साहसिक कार्य का नाम नहीं दिया जा सकता और न वे किसी तरह अद्वितीय ही हुए हैं; क्योंकि इन वर्षों को, मैंने उनके सब उतार-चढ़ाव सहित अपने हज़ारों देशभाइयों और बहनों के साथ बिताया है, और इसलिए जुदी-जुदी भावनाओं, और हर्ष-विषाद, प्रचंड हलचलों और बरबस एकान्तवास का यह वर्णन, हम सब का संयुक्त वर्णन है। मैं जन-समूह में का ही एक व्यक्ति रहा हूँ, उसके साथ काम करता रहा हूँ, कभी उसका नेतृत्व कर उसे आगे बढ़ाता रहा हूँ, कभी उससे प्रभावित होता रहा हूँ; और फिर भी दूसरी इकाइयों की तरह दूसरों से अलग जन-कोलाहल के बीच में अपना पृथक् जीवन व्यतीत करता हूँ। हम अक्सर भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट हुए हैं, और उनके अनुसार अपने अनेक रंग बताये हैं, लेकिन हमने जो कुछ किया उसमें बहुत कुछ असलियत थी, बहुत सचाई थी और उसने हम नाचीज़ प्राणियों को ऊँचा उठा दिया, हमें अधिक सजीव बना दिया और इतना महत्त्व दे दिया जो अन्यथा हमें मिल नहीं सकता। कभी-कभी हमें जीवन की उस पूर्णता को अनुभव करने का सौभाग्य मिला जो आदर्शों को कार्य-रूप में परिणत करने से होती है और हमने समझ लिया कि इससे भिन्न कोई भी दूसरा ऐसा जीवन बिताना, जिसमें इन आदर्शों का परित्याग कर के किसी महान् शक्ति के सामने दीनता या अधीनता ग्रहण करनी होती, अपने अस्तित्व को नष्ट करना होता, असन्तोष और अन्तःक्लेश से भरा होता।
>
> इन वर्षों में मुझे बहुत-से तोहफ़ों के साथ साथ एक अनमोल तोहफ़ा यह भी मिला है कि मैं जीवन को अधिकाधिक महत्त्व का प्रयोग समझने लगा हूँ, जहाँ इतना सीखने को मिलता है। क्रमोन्नति की भावना मुझ में हमेशा रही है, वह अब भी मुझ में है और मेरी हलचलों, उसी तरह पुस्तकों के पठन-पाठन में रुचि पैदा करती है और आम तौर पर जीवन को जीने योग्य बनाती है।"

यह पूरा सन्दर्भ इसलिए दिया जा रहा है कि इससे पंडितजी के शारीरिक और मानसिक चिर-यौवन का रहस्य खुलता है। यह उन्होंने ४५ वर्ष की आयु में लिखा था। आज साठवें वर्ष में भी वह ज्यों के त्यों हैं; हाँ, भारत की स्वराज्य-प्राप्ति के बाद के महान् उत्तरदायित्व और हलचल-भरे वर्षों में उन्होंने बहुत जल्दी परिपक्वता प्राप्त की है। आज उनमें वह परिपक्वता लक्षित होती है जो उस समय नहीं दिखाई देती थी, जब तीसरी बार कांग्रेस के अध्यक्ष चुने जाने के बाद उन्होंने बम्बई में प्रेस-प्रतिनिधियों को अपना प्रसिद्ध वक्तव्य दिया था। उस समय जिन लोगों ने वक्तव्य की रिपोर्ट पढ़ी थी उन्होंने कदाचित् यह लक्ष्य न किया हो कि वह न केवल पंडितजी के सार्वजनिक जीवन की बल्कि आधुनिक भारत के राजनीतिक इतिहास की भी एक नयी दिशा का आरम्भ है। उन्होंने कहा था : "जिन्ना साहब की शिकायत है कि मैं नयी परिस्थिति खड़ी करने की कोशिश कर रहा हूँ। नयी परिस्थितियाँ खड़ी करना तो मेरा काम ही है। केबिनेट के प्रतिनिधि-मंडल ने अपने श्वेतपत्र में जो कहा है उससे मैं बँधा नहीं हूँ। मैं केवल विधान-परिषद् में जाने के लिए वचनबद्ध हूँ। उससे आगे वह परिषद् स्वयं एक सर्वसत्ता-सम्पन्न संस्था होगी, जो ब्रितानी सरकार के कर्म या वचन से न बँधकर अपना स्वतन्त्र निर्णय करेगी।"

ये शब्द भारत और इंग्लैंड दोनों के लिए इस बात की चेतावनी थे कि अतीत से सम्बन्ध तोड़ा जा रहा है और अतीत का जो मृत बोझ भारत के राष्ट्र-पद प्राप्त करने में रोड़े-सा अटक रहा था उसे उठा कर फेंक दिया गया है। डोमिनियन पद, सुरक्षा और बन्धनों, सिद्धान्तों के मामले में समझौते आदि का युग समाप्त हो रहा था। भारत स्वयं

अपने भाग्य का विधाता बनने जा रहा था। ध्येयों के जिस प्रस्ताव से विधान-परिषद् ने अपना विधान बनाने का कार्य आरम्भ किया, वह केवल पंडितजी के बम्बई वाले बयान का व्यावहारिक रूप ही था।

कुछ आलोचक समझते हैं कि लंडन में कॉमनवेल्थ मन्त्री-सम्मेलन की बैठक में पंडितजी ने भारत की ओर से कॉमनवेल्थ की सदस्यता, और सदस्यों के स्वच्छन्द सहयोग के प्रतीक-स्वरूप इंग्लैंड के राजा को कॉमनवेल्थ का प्रमुख स्वीकार करके विधान-परिषद् के 'ध्येय' वाले प्रस्ताव का बल कम कर दिया है। लेकिन दिल्ली और लंडन के प्रस्तावों का ठीक-ठीक अध्ययन इस भ्रान्त धारणा को दूर कर देता है। ऐसे आलोचकों को मैं पंडित नेहरू की आत्मकथा के 'उदार दृष्टिकोण' और 'डोमिनियन पद तथा स्वतन्त्रता' नामक अध्यायों (अध्याय ५१-५२) को पढ़ने की भी राय दूंगा। इन अध्यायों में उनका मानसिक क्रम-विकास लक्षित होता है। लंडन का प्रस्ताव न केवल नीति की दृष्टि से ठीक है बल्कि इस बात का भी प्रमाण है कि भारत ने बिना किसी दबाव के, स्वेच्छा से इंग्लैंड के साथ अपने सम्बन्ध के इतिहास की दुःखद घटनाओं को क्षमा करके भुला दिया था। पंडित नेहरू ने यूरोप के युद्ध-रत राष्ट्रों के सामने अन्तर्राष्ट्रीय नीति-संचालन के लिए एक उदाहरण और ऊँचा आदर्श उपस्थित किया है। विश्व-शान्ति के विश्वव्यापी स्वप्न की ओर यह पहला क़दम है।

मैं नहीं जानता कि अपने लम्बे इतिहास में भारत अतीत काल में कभी भी उस पद का अधिकारी था जो उसे अब अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में प्राप्त है। पंडित नेहरू आज संसार में आधे दर्जन महान् राजनीतिज्ञों में गिने जाते हैं और एशिया का नेतृत्व तो उन्हें निर्विवाद प्राप्त है ही। अपने प्रधान मन्त्री के इस व्यापक सम्मान पर प्रत्येक भारतीय के हृदय में अभिमान की लहर दौड़नी चाहिए।

राजनीति में पंडित नेहरू के विकास की मैं कोई सीमा नहीं देखता। साठवें वर्ष में भी वह तरुण युवा हैं; जैसे सन् १९४५ में हम उनके आज के गौरव की कल्पना नहीं कर सकते थे, वैसे ही सन् १९४९ में हम नहीं कह सकते कि भविष्य में वह और किस ऊँचाई पर पहुँचेंगे।

जून १९४९

'विश्व इतिहास की झलक'

टाम विंट्रिंगहम

इतिहास की तात्कालिक उपयोगिता यह है कि वह वर्तमान को समझने में सहायक होता है। अतीत का कोई वर्णन पढ़कर पहला प्रश्न यह उठना चाहिए कि उससे हमारे आज के युग-जीवन पर क्या प्रकाश पड़ता है। इस प्रश्न का एक उत्तर यह है : "आज का युग इतिहास का एक गतिमय युग है। इसमें जीवित और कर्मरत होना कितना अच्छा है—भले ही वह कर्म देहरादून जेल का एकान्त भोगना ही क्यों न हो!" पंडित नेहरू की 'विश्व इतिहास की झलक' का एक पत्र इन्हीं शब्दों के साथ समाप्त होता है। ये पत्र समय-समय पर उन विभिन्न जेलों में लिखे गये थे जिनमें पंडितजी की बदली होती रही।

यह खेद का विषय है कि इस पुस्तक की तुलना दूसरे प्रधान मन्त्रियों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों के साथ नहीं की जा सकती। गिज़ो द्वारा लिखित 'फ़्रांस का इतिहास'[1] ही ऊपरी दृष्टि से तुलनीय जान पड़ता, लेकिन वास्तव में वह ग्रन्थ तुलना में क्षण भर भी टिक नहीं सकता। उसकी नीरसता, विचारों की संकीर्णता और प्रादेशिकता नेहरू के इस कथन का ही उदाहरण है कि "इतिहास एक संगठित इकाई है, और किसी एक देश का इतिहास तब तक समझ में नहीं आ सकता जब तक यह न जान लिया जाय कि संसार के अन्य भागों में क्या घटित हुआ है।" फ़्रांस के और भी प्रधान मन्त्रियों ने इतिहास लिखे; उनमें सबसे अधिक ख्याति थियेर ने पायी। जॉर्ज सेंट्सबरी ने भी, जो कि बड़े नरम और परम्परावादी आलोचक थे, उनके बारे में लिखा कि "थियेर का ऐतिहासिक लेखन अत्यन्त अशुद्ध है और उसके पूर्वग्रह आकस्मिक पक्षपात से कहीं अधिक गहरे।" यहाँ भी नेहरू से तुलना सम्भव नहीं।

नेहरू की 'झलक' में भी अनिवार्यतः अशुद्धियाँ रह गयी हैं; जेल में उनके पास पुस्तकालय नहीं था, न छोटी-छोटी बातों को मिलाने-पड़तालने की सुविधा। फिर भी अशुद्धियाँ इतनी कम हैं कि मैंने उदाहरण देने योग्य स्थान, काल या व्यक्ति सम्बन्धी एक नगण्य भूल खोजने के लिए एक घंटे का समय लगाया है, पर इससे अधिक महत्त्व की कोई बात नहीं पकड़ सका कि टॉम पेन ने अपना ग्रन्थ 'एज आफ़ रीज़न' पैरिस के एक जेल में लिखा था; वास्तव में पेन का ग्रन्थ गिरफ़्तारी से पहले ही आधे से अधिक लिखा जा चुका था। सम्पूर्णतया कारागार में ही लिखे गये महान् ग्रन्थों की संख्या अधिक नहीं है। किन्तु पूर्वग्रह या पक्षपात से उत्पन्न होने वाली अशुद्धियों से—और कदाचित् चिन्तनीय अशुद्धियाँ केवल इन्हीं को कहना चाहिए—नेहरू का ग्रन्थ बिल्कुल मुक्त है। उस ब्रितानी सत्ता की आलोचना में जो भारत में शासन करती थी,—आज कहना चाहिए कि जो किसी ज़माने में शासन किया करती थी,—नेहरू किसी भी अमरीकी इतिहासकार से कम कठोर हैं। नेहरू महान् जन-आन्दोलन के ऐसे नेता हैं जो उस आन्दोलन के अन्तर्विरोधों, पथभ्रंशों और भूलों तक को स्वीकार कर सकते हैं, जैसा कि उन्होंने पत्र-संख्या १६१ में किया है। मैंने 'राजनीतिक आत्म-समीक्षा' की बहुत चर्चा एक दूसरे आन्दोलन के सदस्यों से सुनी है, पर छापे में उसके विशेष उल्लेखनीय उदाहरण लेनिन और नेहरू की रचनाओं को छोड़ अन्यत्र कभी नहीं देखे।

तुलनीय रचनाओं की खोज जारी रखते हुए ब्रितानी प्रधान मन्त्रियों को भी देखें। ये इतिहास नहीं लिखते; इनका काम अपनी सरकारों या अपने पूर्वजों की सफ़ाई देना ही रहा है—या यह बताना कि कैसे उनके नेतृत्व, और लाखों के प्राणदान के सहारे एक विश्व-युद्ध जीता गया। कोई यह वर्णन बड़ी रुचि के साथ करते हैं, कोई—लॉयड जॉर्ज की तरह—अनुभव करते हैं कि "इसकी कहानी कहना मानों किसी भयानक दुःस्वप्न का ब्यौरा देना है, और इसी से वर्षों तक मैं इस दारुण प्रसंग का अपना विवरण देने में संकोच करता रहा" (महायुद्ध के संस्मरणों की भूमिका)। नेहरू ने भी

[1] 'इस्त्वार द फ़्रांस रेकांते आ मे पेतीज़ 'ऑफ़ाँ'।

प्रसंगवश अनेक युद्धों का वर्णन किया है, लेकिन ऐसे सभ्य और उदात्त ढंग से कि यहाँ भी कोई उपयोगी तुलना नहीं हो सकती, सिवाय शैली की तुलना के। शैलियों की तुलना सर्वदा हो सकती है, चाहे बीच में देश, दृष्टिकोण और अभिप्राय की एक समूची दुनिया का ही व्यवधान क्यों न हो।

महान् घटनाओं के विषय में दो ग्रन्थों के पृष्ठों की तुलना कीजिए। एक में मुग़ल दरबार का आडम्बर है; वाक्य हाथियों की स्थूल मन्द गति से चलते हैं; अनुच्छेदक मानों श्रेणीबद्ध सेनाएँ हैं, प्राचीन सम्राटों के फरहरे उड़ाती और ढोल-नगाड़े बजाती बढ़ने वाली रंग-बिरंगी सेनाएँ। दूसरी में शब्द संगीत के एक तोड़े-से चलते हैं; अभिप्राय को बल मिलता है उक्ति की क्रम-योजना से, लय से, कथन की सहज मार्मिकता से, न कि सब के ऊपर गहरे रंगों का कूचा फेरने से ; वाक्य और अनुच्छेदक स्वतः सम्पूर्ण भी हैं और भाषा के प्रवाह के साथ ऐसे सौष्ठव से बँधे हुए भी, मानों कोई वैज्ञानिक अपने अन्वेषणों का विवरण दे रहा हो। विचित्र बात है कि पहला पृष्ठ चर्चिल का है, दूसरा नेहरू का !

मुझसे अधिक धैर्य वाले व्यक्ति इस तुलना को और आगे भी बढ़ा सकते हैं। वे रैमसे मेकडानल्ड की रचनाओं को छान डालें, (उनके सिंहल के वर्णन में दस शब्दों के एक वाक्यांश में सात विशेषण हैं !), फिर ग्लैड्स्टन के समय से लेकर अब तक के अन्य ब्रितानी प्रधान मन्त्रियों को ले लें। फिर वैज्ञानिक आधुनिक ढंग से नेहरू के कई-एक पत्रों का शब्द-शब्द विश्लेषण कर लें। वे पायेंगे कि हमारे हाउस ऑफ़ कॉमन्स के सदस्यों की अपेक्षा नेहरू के लेखन में कहीं अधिक व्यापकता से असाधारण की जगह सुपरिचित शब्द का प्रयोग है, भाववाचक शब्दों की अपेक्षा पदार्थवाचक का, लम्बी पदयोजनाओं की अपेक्षा सीधे-सीधे शब्दों का, भारी-भरकम शब्द की जगह सरल शब्दों का। ऐसा प्रयोग फ़ाउलर की 'किंग्स इंग्लिश' के पहले पृष्ठ पर दिये हुए नियमों का पालन करता है, और वह ग्रन्थ आज भी सर्वथा प्रामाणिक है—कदाचित् नाम को छोड़कर ! इस शताब्दी के किसी ब्रितानी प्रधान मन्त्री ने इन नियमों का, या कि भाषा के सूक्ष्मतर गुणों का, वैसा निर्वाह नहीं किया जैसा कि नेहरू ने।

भारतीय जन शीघ्र ही अपने को किसी विदेशी भाषा के उपयोग की बाध्यता से मुक्त कर लेंगे। लेकिन भविष्य में जो भारतीय बालक अंग्रेज़ी सीखेंगे, उनके लिए कहीं अच्छा होगा कि वे उसके लिए मेकाले या गिबन की अपेक्षा नेहरू की 'झलक' को ही अपनी पाठ्य पुस्तक चुनें। उससे उनका इतिहास का भी और अंग्रेज़ी का भी ज्ञान श्रेष्ठतर होगा। और उससे मनुष्य जाति की प्रगति के, और मानवों के आशा-विश्वास के प्रति वे ऐसा दृष्टिकोण पायेंगे जो समकालीन है, आधुनिक है; और उस दृष्टिकोण से वह भविष्य के निर्माण में काम ले सकेंगे।

नेहरू में पिछली शताब्दी के उस हठयुक्त आशावाद का अणुमात्र भी नहीं है जो आज हमें निराधार और दयनीय जान पड़ता है। जैसा कि उन्होंने अन्तिम पत्र में लिखा है :

> "हमारा युग. . . .मोहभंग का युग है, सन्देह और अनिश्चय और जिज्ञासा का युग है। आज हम क्या एशिया में, क्या यूरोप और अमरीका में, प्राचीन विश्वासों और रीतियों में से अनेक को अस्वीकार करते हैं, उन पर से हमारी श्रद्धा उठ गयी है। इसलिए नये पथ खोजो. . . .कभी-कभी इस जगत् का अन्याय, दुःख, नृशंसता हम पर छा जाते हैं और हमारा मन अन्धकार से भर जाता है, कोई रास्ता नहीं दीखता. . . .किन्तु इस कारण अपना दृष्टिकोण निराशावादी बना लेना इतिहास की सीख को ग़लत समझना है। क्योंकि इतिहास हमें उन्नति और विकास की बात सिखाता है, और मानव के लिए अन्तहीन प्रगति की सम्भावना सूचित करता है।"

यही आस्था नेहरू को विश्व-राजनीतिक बनाती है; संसार में जहाँ भी जिन्होंने पिछले वर्षों में अपने विश्वास को जीवित रखा है वे मानते हैं कि नेहरू केवल उसी राष्ट्र के नहीं हैं जिसने उन्हें अपना प्रधान मन्त्री चुना है, बल्कि उन सब के भी हैं। और हम ब्रितानी अपने नेताओं में इस विश्वास की लौ की कितनी कमी पाते हैं !

अन्तिम तुलना मैं लेख के आरम्भ में उठाये गये प्रश्न के तीन उत्तरों की करूँगा : हमारे युग को क्या कह कर वर्णित किया जाय ? इस प्रश्न का जो उत्तर नेहरू ने दिया है उसका यथेष्ट अंश मैंने ऊपर दिया है, और सबसे पहले संदर्भ में भी—'गतिमय युग' जिसमें 'जीना कितना अच्छा है'। दूसरे दोनों उत्तर उस ब्रितानी प्रधान मन्त्री की पुस्तक से लिये गये हैं जिसने पहले-पहल उन्हें जेल में डाला था।

बोनार लॉ की मृत्यु पर उनके उत्तराधिकारी बॉल्डविन ने हाउस ऑफ़ कॉमन्स में भाषण देते हुए बोनार लॉ की 'कभी न मिटने वाली हताशा की अवस्था' का उल्लेख किया था : "यूरोप की परिस्थिति का, जिसे वह सदा निराशा-जनक मानते थे, उनके मन पर दिन-रात बोझ रहता था। उन्हें उससे निकलने का कोई मार्ग नहीं दीखता था, और वह स्वयं कहते थे कि वही चिन्ता उनके रोग का कारण थी।"

संसार की महच्छक्तियों में से एक के मुखिया का निराशा से घुल मरने का यह शोचनीय चित्र स्टेनली बॉल्डविन की पुस्तक 'ऑन इंग्लैंड' से लिया गया है। इसी पुस्तक के दूसरे अंशों से इन नये प्रधान मन्त्री के भी युग-सम्बन्धी विचारों का पता लगता है :

> "आजकल का युग बड़ा कठिन युग है....वह कठिन इसलिए है कि वह बुरा है। इस देश के पास अधिक पूंजी नहीं है।"

तुलनाएँ अप्रिय होती हैं, कहावत है कि ऐसी तुलनाओं को शिष्ट भाषा में 'पक्षपातपूर्ण तुलनाएँ' कहा जाता है। इसीलिए यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि मैंने इस तरह की क्लेशप्रद तुलनाएँ क्यों की हैं। वह इसलिए कि मैं अपनी एक भावना को ही नहीं, उस भावना के कारणों को भी स्पष्ट करना चाहता हूँ। 'विश्व इतिहास की झलक', 'हिन्दुस्तान की कहानी' अथवा नेहरू की 'जीवनी' पढ़कर मेरे कुछ देशवासियों को भारत से ईर्ष्या होती है। और यह क्या स्पष्ट नहीं कि क्यों होती है? हमारे भूतपूर्व शासक हमें निराशा और लालच का पाठ पढ़ाते रहे। हमारे वर्त्तमान नेता हमें बिना किसी महान् आदर्श या आशा के, केवल धैर्यपूर्वक कुछ असुविधाएँ सहने के लिए समझाने में ही एक गर्व करते हैं। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि हमें उस राष्ट्र से ईर्ष्या हो, जिसे आज ऐसे व्यक्ति का नेतृत्व प्राप्त है जो मानव मात्र के अतीत और वर्तमान दुःख-दर्द से परिचित है लेकिन फिर भी उसकी 'अन्तहीन प्रगति की सम्भावनाओं' से उत्प्रेरित है। हम में से कुछ अगर अपनी आवश्यकता के अनुरूप ही अधिकार भी जता सकते, तो ईर्ष्या करने के स्थान पर नाता बतलाते, दावा करते कि नेहरू भारत का नेता नहीं, विश्व का नेता है।

'कितना अच्छा है जीना और कर्मरत होना'....हाँ, सचमुच अच्छा है जीना, जब जीवन का अच्छापन, एक व्यक्ति की वाणी और कर्म के रूप में, मानवों के शासन-संचालन में भागी होता है....

फ़रवरी १९४९

इतिहासकार नेहरू

के० एम० पणिकर

पंडित नेहरू के भारत के शोध ('हिन्दुस्तान की कहानी') को इतिहास कहना कदाचित् अनुचित होगा, फिर भी भारतीय जाति के इतिहास की यह प्रथम तथा सर्वोत्कृष्ट व्याख्या है। जब से भारतीयों में राष्ट्रीय भावना का जागरण हुआ, भारतवर्ष के एक ऐसे इतिहास की माँग बढ़ती गयी जो टेलीफोन डाइरेक्टरी की भाँति नामों का संग्रह अथवा शासकों के वंशों का नीरस वर्णन न हो कर हमारे अतीत को इस प्रकार उपस्थित करता कि हमें अपने प्राचीन गौरव तथा सांस्कृतिक दाय का कुछ भास मिल सकता। विदेशी लेखकों द्वारा लिखी गयी जितनी पाठ्य पुस्तकें हमें पढ़ने को मिलती थीं उनसे यह प्रकट होता था कि उन लेखकों का एक मात्र उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि अंग्रेजों के आने के पूर्व यहाँ 'भारतवर्ष' ऐसी कोई वस्तु थी ही नहीं और यह तो उनका अनुग्रह था कि उन्होंने हमारे लिए भारतवर्ष का निर्माण किया। ऐसी पुस्तकों द्वारा अपने इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् हम में से प्रत्येक को 'भारत का शोध' स्वयं करना पड़ता था। मैं नहीं समझता कि यह कहना अत्युक्ति होगी, कि भारतवर्ष की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को कुछ अंश तक समझने तथा अपनी पाँच हज़ार वर्ष की सांस्कृतिक परम्परा का मूल्यांकन करने का प्रयास हम सभी के लिए एक प्रकार का आध्यात्मिक उद्योग होता था। इस प्रयास के कुछ अद्भुत परिणाम होते रहे। कट्टरपन्थियों ने भारतवर्ष को वैदिक युग से अभिन्न समझा। हिन्दू राष्ट्रवादियों ने गुप्त काल के गौरव पर आधारित कल्पना से एक दूसरे ही भारतवर्ष की उद्भावना की; और मुसलमान जनता महमूद ग़ज़नवी के पूर्व के भारतीय इतिहास के बारे में सोच ही नहीं सकी, उसके लिए भारतीय संस्कृति मुग़लों के वैभव का पर्याय रही।

अपनी पीढ़ी के अन्य बहुत-से लोगों की भाँति पंडित नेहरू ने भी राष्ट्रीय जागरण से उत्पन्न परिस्थितियों द्वारा प्रेरित हो कर यह साहसपूर्ण शोध-यात्रा प्रारम्भ की। इस प्रयास के सफल समापन से उन्हें जो कुछ उपलब्धि हुई, उसे उन्होंने दूसरों के सम्मुख उपस्थित किया। अन्धकार में मार्ग टटोलते हुए शिक्षित लोगों को, जो अपने जीवित अतीत को समझने का प्रयास कर रहे थे, सहसा ऐसा अनुभव हुआ कि जिस भारतवर्ष की वे तलाश कर रहे थे उसकी स्पष्ट रूप-रेखा मूर्त हो आयी है।

अतएव नेहरू की 'भारतवर्ष की कहानी' वास्तव में एक तीर्थयात्रा ('पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस') है। इस की महत्ता उसके निर्धारित तथा व्यवस्थित ऐतिहासिक वृत्तान्त में अथवा उसके साहित्यिक सौन्दर्य में उतनी नहीं है, न इसी बात में कि इसमें हमें भारतवर्ष के असम सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के विकास के प्रति तर्कवादी मार्क्सीय परम्परा की एक आधुनिक मेधा की प्रतिक्रिया मिलती है। इसकी वास्तविक उपयोगिता तो इस बात में है कि इसने भारतीय इतिहास के नाम से समझे जाने वाले असम्बद्ध घटनाक्रम को एक दृश्य-परम्परा में गूँथ दिया है। युगों से चले आने वाले भारतीय दृश्य का ऐसा अवलोकन करने का हमें यह पहला अवसर दिया गया है, और वह भी ऐसे व्यक्ति द्वारा जिसका दृष्टिकोण अतीत के प्रति निरा श्रद्धालु नहीं है बल्कि निरपेक्ष समीक्षा का है; मूल्यवान् और अच्छे की सराहना करने तथा बुरे और मूल्यहीन को त्यागने के लिए तैयार है। इसीलिए 'भारत की कहानी' को हम एक निजी दस्तावेज कहते हैं। इसके पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है मानों कोई वैज्ञानिक 'अलादीन की गुफा' का अनुसन्धान कर रहा हो। एक अद्भुत रोमांचकारी अनुभव होता है जब सहसा ऐसी चीजें सामने आती हैं जो बहुमूल्य, सुन्दर तथा प्रेरणादायक हैं। यही व्यक्तिगत विशेषता इस पुस्तक को साधारण इतिहास से अधिक मूल्यवान बना देती है। इसी विशेषता का परिणाम है कि पढ़ते समय पाठकों को ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्वयं लेखक की अनुभूतियों के सहभोक्ता हैं और उसके साथ भारत का शोध कर रहे हैं।

इतिहास के सीमित तथा विशेष अर्थ में भी 'भारत की कहानी' एक असाधारण कृति है। भारतवर्ष के विगत कालीन जीवन का शायद ही कोई पहलू होगा जो इस पुस्तक में अछूता रह गया हो। चाहे भारतवर्ष के सामाजिक संगठन का विकास हो अथवा यहाँ के दर्शन की विभिन्न परम्पराएँ; राजनीतिक पृष्ठभूमि या कला, साहित्य तथा सभ्यता का विकास; राष्ट्र की उन्नति और ह्रास की प्रक्रिया, सभी पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। वास्तव में, देश की शक्ति तथा दुर्बलता का पूर्ण अध्ययन इस पुस्तक में मिलता है। सृजनात्मक कार्य के युगों का विशद वर्णन है, राज-वंशावलियाँ तथा सम्राटों की विजय-गाथाओं को अवश्य गौण स्थान दिया गया है। विदेशी इतिहासकारों और उनकी देखादेखी हमारे देश के पाठ्य-पुस्तक-रचयिताओं ने जिन कृत्रिम 'कालों' या युगों में हमारे इतिहास को बाँट दिया था उनका तो यहाँ कुछ ज़िक्र ही नहीं आता। भारतीय ऐतिहासिक विवेचन को इस हिन्दू, मुस्लिम तथा ब्रितानी काल-विभाजन ने जितना विकृत किया है उतना कदाचित् किसी एक भावना ने नहीं। इतिहासकार के रूप में पंडित नेहरू की दृष्टि सदैव जन-साधारण पर तथा उसके जीवन के विभिन्न पहलुओं के विकास पर रहती है। इस प्रकार आधुनिक काल के १५० वर्ष के इतिहास पर प्रकाश डालते समय उनका विशेष ध्यान आने-जाने वाले गवर्नर-जनरलों पर न जाकर मुख्यतया ब्रितानी शासन के प्रभावों पर जाता है।

'हिन्दुस्तान की कहानी' की प्रमुख विशेषता शायद यह है कि इसमें भारतवर्ष के उन अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्कों पर लगातार ज़ोर दिया गया है जो उसके इतिहास में बराबर बने रहे। नेहरू की कल्पना में भारतवर्ष का जो चित्र है उसकी पृष्ठभूमि मुख्यतया एशियाई है; वह एशिया की सभ्यता की एक अनिवार्य कड़ी है। अतएव 'भारतवर्ष तथा ईरान' और 'भारतवर्ष तथा चीन' पर लिखे गये पुस्तक के प्रारम्भिक खंड सहज ही उत्तर भाग के कमाल पाशा या एशियाई जागरण सम्बन्धी परिच्छेदों से मिल जाते हैं। बल्कि, भारतीय जीवन तथा सभ्यता की एशियाई पृष्ठभूमि तथा विभिन्न एशियाई सभ्यताओं का आपसी सम्बन्ध पुस्तक की प्रधान चिन्ता-धाराओं में से है। दक्षिणपूर्वी एशिया तथा बृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति के प्रसार, और चीन तथा सुदूर पूर्वीय देशों के जीवन में भारतीय बौद्ध धर्म की देन को नेहरू एशियाई सभ्यताओं के अन्तःसम्बन्ध का प्रत्यक्ष रूप मानते हैं। नेहरू की चिन्ता-धारा का यह पहलू एशिया की समकालीन इतिहास-प्रगति का सूचक है। अखिल एशिया-सम्मेलन के आयोजन अथवा एशियाई देशों की स्वतन्त्रता के समर्थन की मूल प्रेरणा का स्रोत हमें यहाँ दीखता है। जिस सत्य के बोध से प्रेरित हो कर नेहरू ने चुङ्किङ् की यात्रा की थी, जिसके कारण उन्होंने सन् १९४७ के अखिल एशिया-सम्मेलन का आह्वान किया और जिसकी प्रेरणा से वह बार-बार हिन्देशिया की स्वतन्त्रता का समर्थन करते हैं, उस सत्य की सुन्दर अभिव्यक्ति ग्रन्थ के कुछ अत्यन्त स्फूर्तिप्रद और भव्य अंशों में हुई है।

नेहरू ने किसी नयी ऐतिहासिक गवेषणा का दावा नहीं किया है। उन्होंने इस सत्य को एक बार पुनः सिद्ध किया है कि गवेषणा द्वारा इतिहासकार केवल तथ्यों को प्राप्त कर सकता है किन्तु इतिहास को प्रेरणा-स्रोत बनाने के लिए तथा दूसरों तक जाति की प्रगति का मूल सन्देश पहुँचाने के लिए जो गुण आवश्यक है, वह उनमें प्रायः नहीं होता जो किसी विशेष घटना या काल की ही सूक्ष्म छानबीन करते रहते हैं। केवल गवेषणा करने वालों ने कभी भी बहुमूल्य ऐतिहासिक साहित्य की रचना नहीं की। यह काम सदैव ऐसे ही कर्मठ व्यक्तियों द्वारा हुआ है जिन्होंने अपने देश के जीवन में कुछ सक्रिय भाग लिया है। थूसिडाइडिस, गिबन या मैकॉले न तो इतिहास के अध्यापक थे और न गवेषणा करने वाले। अपना जीवन इन्होंने पुस्तकालयों की चारदीवारी में या राजपट्टों के अध्ययन में नहीं बिताया। क्लैरेंडन ने तो अपनी वर्णित कितनी ही घटनाओं में स्वयं सक्रिय भाग लिया था। टेन एक ख्यातिप्राप्त राजनीतिक नेता था। वास्तव में इतिहास को सजीव बनाने तथा पाठकों को ऐतिहासिक विकास का बोध कराने के लिए आवश्यक है कि लेखक को सार्वजनिक जीवन का कुछ अनुभव हो। जहाँ तक इतिहासकार की सामग्री का प्रश्न है, वह तो ऐसी ही होगी जिसका संग्रह दूसरों ने किया हो। लेखक तो उस शिल्पी की भाँति है जो प्रयुक्त रंगों के गुण तथा उनको मिलाना भली भाँति जानता है, पर रंग या चित्र-फलक स्वयं नहीं तैयार करता। जो लोग 'हिन्दुस्तान की कहानी' को केवल साहित्यिक रचना कह कर शिकायत करते हैं कि यह दूसरों द्वारा एकत्रित तथ्यों पर आधारित है और मौलिक बिल्कुल नहीं है, वे इस बात को भूल जाते हैं कि इतिहास की मौलिकता मुख्यतया तथ्यों को प्रस्तुत करने, उन्हें परम्परा में बैठाने, तथा ऊपर से असम्बद्ध जान पड़ने वाली घटनाओं के आधार-

or not? Hardly a reference to what we are driving at, hardly a thought of real issues.

Never in the long range of history has the world been in such a state of flux as it is today. Never has there been so much anxious questioning, so much doubt and bewilderment, so much examining of old institutions, existing ills and suggested remedies. There is a continuous process of change and revolution going on all over the world, and everywhere anxious statesmen are almost at their wits' end and grope about in the dark. It is obvious that we are a part of this great world problem and must be affected by world events. And yet, judging from the attention paid to these events in India, one would not think so. Major events are recorded in the news columns of papers but little attempt is made to see behind and beneath them, to understand the forces that are shaking and re-forming the world before our eyes, to comprehend the essential nature of social, economic, and political reality. History, whether past or present, becomes just a magic show with little rhyme or reason, and with no lesson for us which might guide our future path. On the gaily-decked official stage of India or England phantom figures come and go, posing for a while as great statesmen; Round Tablers flit about like pale shadows of those who created them, engaged in pitiful and interminable talk which interests few and affects

जवाहरलाल नेहरू का हस्तलेख
पंडित ब्रजमोहन व्यास के सौजन्य से

[illegible] an ever smaller number. Their main concern is how to save the vested interests of various sorts classes or groups; their main diversion, apart from feasting, is self-praise. Others, blissfully ignorant of all that has happened in the last half century, still talk in terms of the jargon of the Victorian Age and are surprised and resentful that nobody listens to them. Even the nasmyth hammer of war and revolution and world change has failed to produce the slightest dent on their remarkably hard heads. Yet others hide vested interests under cover of communalism or even nationalism. And then there is the vague but passionate nationalism of many who find present conditions intolerable and hunger for national freedom without clearly realising what form that freedom will take. And then there are, also here, as in many other countries, the usual accompaniments of a growing nationalism — an idealism, a mysticism, a feeling of exaltation, a belief in the mission of one's country, and something of the nature of religious revivalism. Essentially all these are middle class phenomena.

Our politics must either be those of magic or of science. The former of course requires no argument or logic; the latter is entirely based, in theory at least, on clarity of thought and reasoning and has no room for vague idealistic or religious or sentimentalist processes which confuse and befog the mind.

जवाहरलाल नेहरू का हस्तलेख

पंडित ब्रजमोहन व्यास के सौजन्य से

भूत सम्बन्ध का पता लगाने में है। इस अर्थ में 'हिन्दुस्तान की कहानी' एक महान् मौलिक रचना है जो सर्वोत्कृष्ट अर्थ में इतिहास है।

भारतीय इतिहास की व्याख्या लिखना ही एक बहुत बड़ा काम था। उस व्याख्या में एक साहसिक खोज-यात्रा का, एक नयी दुनिया में प्रवेश करने का उत्साह और कौतूहल उत्पन्न करना, और साथ ही राष्ट्र के हृदय में भविष्य के प्रति आशा और विश्वास का संचार करना साधारण इतिहासकार की सामर्थ्य के बाहर के काम हैं। इस-लिए 'हिन्दुस्तान की कहानी' को स्वयं भारतीय इतिहास में एक घटना कहना अनुचित न होगा। नेहरू भविष्य ही को महत्त्वपूर्ण समझते हैं, और विगत पाँच हजार वर्षों की कहानी उस भविष्य को भूमिका प्रदान करती है। इस भूमिका को यद्यपि विस्तृत तथा परिपुष्ट कृति के रूप में उपस्थित किया गया है तथापि यह भूमिका ही रह जाती है। मुख्य वस्तु तो भविष्य, आगे की योजना है, जो प्रधानता पाती है। क्या यही इतिहास का शुद्ध दृष्टिकोण नहीं? निस्सन्देह किसी मर चुकी सभ्यता का वर्णन केवल अतीत तक ही सीमित रहेगा; पर एक जीवित राष्ट्र के अतीत का वर्णन कितना ही गौरवपूर्ण तथा स्फूर्तिप्रद क्यों न हो, अन्ततः भूमिका मात्र है; वास्तविक महत्त्व तो जीवित वर्त्त-मान तथा भविष्य का ही है। अतीत के बारे में यह दृष्टिकोण निम्नलिखित उद्धरण द्वारा स्पष्ट हो जाता है, जो कदाचित् पुस्तक के सर्वोत्कृष्ट सन्दर्भों में से एक है :

"पूर्व तथा पश्चिम के प्रत्येक देश अथवा जाति का अपना एक व्यक्तित्व, एक सन्देश रहा है, और प्रत्येक ने अपने-अपने ढंग से जीवन की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया है। यूनान की देन स्पष्ट, निश्चित और अपने ढंग की अद्वितीय है; वैसी ही भारत की, चीन की तथा ईरान की है। प्राचीन भारत और प्राचीन यूनान एक से भिन्न थे, फिर भी उनमें एक नाता था, ठीक उसी प्रकार जैसे बड़ी विभिन्नताओं के रहते हुए भी प्राचीन भारत तथा चीन में विचार-साम्य का नाता रहा। सभी का दृष्टिकोण समान रूप से उदार, सहनशील, तथा सर्वेश्वरवादी था। सभी जीवन तथा प्रकृति की विविधताओं और आश्चर्यजनक सौन्दर्य में आनन्द और रस लेते थे। सभी कला-प्रेमी थे, सभी में किसी भी प्राचीन जाति के संचित अनुभव से प्राप्त होने वाला ज्ञान समान रूप से था। प्रत्येक ने अपनी जातीय प्रतिभा के अनुसार, अपनी परिस्थिति-जन्य शक्तियों से प्रभावित हो कर विकास किया, अतः प्रत्येक ने जीवन के किसी एक पहलू पर दूसरों की अपेक्षा अधिक ज़ोर दिया। यही आग्रह का भेद उनकी विविधता का कारण रहा। यूनानियों ने, सामू-हिक रूप से, वर्तमान को अधिक महत्त्व दिया, और अपने आसपास बिखरी हुई प्राकृतिक विभूति तथा अपनी कलाकृतियों में आनन्द तथा सिद्धि का स्रोत पाया। भारतीयों ने वर्तमान के साथ सामंजस्य में आनन्द प्राप्त करने के अलावा अधिक गहरे पैठने की भी कोशिश की। उनकी बुद्धि और प्रतिभा गम्भीर आध्यात्मिक जिज्ञासा की ओर झुकी। चीनी जाति इन जिज्ञासाओं का महत्त्व और औचित्य स्वीकार करके भी उनमें उलझ जाने से बचती रही। अपने-अपने ढंग से सबने जीवन की सम्पूर्णता तथा उसके सौन्दर्य को अभि-व्यक्त करने का प्रयास किया। इतिहास साक्षी है कि चीन तथा भारत की सभ्यता की नींव अधिक गहरी और दृढ़ थी, और उनकी स्थायित्व-शक्ति अधिक थी; जड़ों तक झकझोरी जाकर और ह्रासगत हो कर भी वे अभी तक क़ायम हैं, यद्यपि भविष्य धुँधला और अनिश्चित है। प्राचीन यूनान अपनी ख्याति तथा चमक के बावजूद अधिक दिनों तक न टिक सका, उसकी देन उसके अवशेषों और परवर्ती संस्कृतियों पर उसके प्रभाव में, या उस अल्पकालीन जीवन-दीप्ति की स्मृति में ही रह गयी है। सम्भवतः वर्तमान में अधिक लिप्त रहने के कारण ही वह अतीत हो गया।

"यद्यपि आज यूरोप वाले अपने को यूनानी संस्कृति की सन्तान बताते हैं, पर भावना तथा दृष्टिकोण में यूरोप के राष्ट्रों की अपेक्षा भारत प्राचीन यूनान के अधिक निकट है। इस बात को हम प्रायः भूल जाते हैं, क्योंकि हमने कुछ ऐसी धारणाएँ बना ली हैं जो स्वतन्त्र और युक्ति-संगत विचार में बाधक होती हैं। कहा जाता है कि भारत धार्मिक है, दार्शनिक-आध्यात्मिक है, कि वह सांसारिक चिन्ता से परे भविष्य तथा परलोक की कल्पनाओं में डूबा रहता है; ऐसा ही हमें सिखाया जाता है, और शायद ऐसा सिखानेवाले यह भी चाहते हैं कि भारत अब भी विचार तथा कल्पना के इस सागर में डूबा रहे, ताकि इन

कल्पनालोक-वासियों से छुट्टी पाकर वे संसार का प्रभुत्व कर सकें और उसके सुख भोग सकें। भारत अवश्य ऐसा भी रहा है, पर इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ रहा है। उसने शैशव काल का भोला अल्हड़पन, युवावस्था का उन्मुक्त आत्मदान तथा सुख-दुःख के लम्बे अनुभव से प्राप्त होने वाला विदग्ध और परिपक्व ज्ञान, सभी जाना है; और बार-बार इस शैशव, यौवन तथा वार्धक्य के चक्र को फिर-फिर चलाया है। युग-भार और विस्तार से आक्रान्त हो कर वह कुप्रथाओं तथा रूढ़ियों का शिकार हुआ; कितने परोपजीवियों ने उसका रक्त चूसा; पर इस सब से नीचे उसकी युगों-युगों की शक्ति तथा एक प्राचीन जाति का अवचेतन विवेक बना रहा। क्योंकि यद्यपि हम अतिप्राचीन हैं और स्मरणातीत शताब्दियाँ हमारे कानों में अपने रहस्य कह जाती हैं, तथापि अतीत की स्मृतियों और स्वप्नों को जीवित रखते हुए भी हम अपना जीवन पुनः प्राप्त करते रह सके हैं।

"भारत को इस लम्बे अर्से तक जीवित और गतिमान रखने का श्रेय किसी गुप्त सिद्धान्त अथवा गूढ़ ज्ञान को नहीं वरन् एक सूक्ष्म मानवता, एक बहुमुखी उदार संस्कृति, और जीवन तथा उसके रहस्यों के गहरे दर्शन को रहा। उसकी प्रचंड जीवन-शक्ति युगों-युगों से उसकी कला और वाङ्मय में प्रवाहित होती रही है, यद्यपि उसका अल्पांश ही हमें प्राप्त है और बाक़ी मानवीय बर्बरता या प्रकृति द्वारा विनष्ट किया जा चुका है। एलिफेंटा की गुफाओं की 'त्रिमूर्ति' मानों भारत की ही बहुमुखी प्रतिमा है—समर्थ, दीप्त-नेत्र और ज्ञान-विवेक-संयुत। अजन्ता के चित्र जीवन की कोमलता और सौन्दर्य के प्रेम से ओतप्रोत होते हुए भी हमेशा किसी गूढ़ अपर तत्त्व की ओर इंगित करते हैं।"

इन पंक्तियों से हमें इतिहासकार नेहरू की विशेषताएँ मिलती है; उनकी अन्तर्राष्ट्रीयता, विश्व की भूमिका पर उनका भारत का चित्रण, वर्तमान में परिणत हो कर भविष्य की ओर प्रवाहित होते हुए अतीत की उनकी परिकल्पना, तथ्यों पर उनका अधिकार, भारत के इतिहास का केवल उज्ज्वल और गौरवमय पक्ष देखने वालों के प्रति उनका असन्तोष, उनकी सजग राष्ट्रीयता तथा निर्मल आस्था। एक महान् इतिहासकार में इनके अतिरिक्त और क्या गुण अपेक्षित हैं?

मार्च १६४६

साहित्यकार नेहरू

हुमायूं कबीर

एक लेखक की परख अन्ततोगत्वा उस मनुष्य की परख है। कुछ समय के लिए हम इस तथ्य की उपेक्षा भले ही कर जायें, किन्तु अन्त में हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि एक लेखक अपनी रचनाओं में अपने आपको ही अभिव्यक्त करता है। वह अपने से बच कर भागना भी चाहे तो अन्त में अपने जीवन के केन्द्र की ओर ही खिंच आता है। वह वस्तु को निरपेक्ष भाव से देखने का यत्न कर सकता है, किन्तु वस्तु तो वही है जो कि वह देखता है। उसकी मानसिक पीठिका, चरित्र और शिक्षा-दीक्षा उसकी अपनी होते हुए भी उसके बाह्य जगत् का स्वरूप निर्धारित करती हैं। संक्षेप में जितना ही वह अपने व्यक्तित्व को दबाने की चेष्टा करेगा उतना ही वह उभरेगा।

यह अमोघ नियम सभी कलाकारों पर लागू होता है। कुछ लोग उससे त्राण पाने का व्यर्थ प्रयत्न करते हैं। अपने प्रयत्न के फलस्वरूप वे अपनी आन्तरिक चिन्ता-धारा और उसकी बाह्य अभिव्यक्ति के बीच एक दीवार खड़ी कर लेते हैं। इससे अस्पष्टता का जन्म होता है जो अन्ततः अपने प्रति सचाई के अभाव की द्योतक है। कभी-कभी दुर्बल कलाकारों को समाज इस कृत्रिमता के लिए बाध्य कर देता है। तब उनकी आन्तरिक प्रेरणा और बाह्य प्रतिबन्धों के अनवरत संघर्ष से उनकी कृतित्व-शक्ति का ह्रास हो जाता है।

नेहरू के लेखन की यह एक प्रमुख विशेषता है कि उन्होंने बन्धन कभी स्वीकार नहीं किया। मनुष्य के, और फलतः लेखक के नाते, आत्मगत भावों के प्रति पूर्ण सचाई उनका प्रमुख गुण है। उनकी अभिव्यंजना और उनके विचारों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव विद्यमान रहता है। उनका विचार भावना में और भावना कर्म में प्रतिबिम्बित होती है। भावना की इस प्रतिक्रियात्मक तीव्रता के कारण साधारण व्यक्ति चकित और परेशान हो उठते हैं; कोई उन्हें बदमिज़ाज और कोई घमंडी कहने लगता है। लोग यह नहीं समझ पाते कि यह बदमिज़ाजी या घमंड नहीं, उनके भीतर के कलाकार की अभिव्यक्ति है। कलाकार में अनुभूति और अभिव्यक्ति एक साथ ही जन्म लेती हैं। भावन और भावना का प्रत्यक्षीकरण, एक ही क्रिया बन जाते हैं।

अपने प्रति सचाई के कारण ही स्पष्टता और शक्ति का जन्म होता है। ये गुण नेहरू जी की लगभग सभी रचनाओं को विशिष्ट करते हैं। उनकी कृतियों में एक बल और सरलता है जो पाठकों को पहले अपनी ओर खींचती और फिर मुग्ध कर लेती है। इसका यह भी तात्पर्य है कि उनके मन में कोई आन्तरिक संघर्ष या विभाजन नहीं है। प्राकृतिक दृश्य हो या मानवी अनुभव, उनकी प्रतिक्रिया में उनका व्यक्तित्व निखर उठता है। पर्वत उन्हें मोहित करते हैं, सूर्यास्त उनके स्मृति-पटल पर अंकित हो जाते हैं, और सुन्दर शब्द और कर्म उनके जीवन की निधियाँ हैं। अपनी सूक्ष्म संवेदनशीलता की द्योतक सुकुमार और भावपूर्ण शैली में वह उन सब पर लिखते हैं।

अपने प्रति सचाई ही मनुष्य के व्यक्तित्व को संश्लिष्टता और समन्वय प्रदान करती है। नेहरू जी की जीवन-गाथा में इस बात का एक अद्भुत उदाहरण मिलता है। बन्दी-जीवन मनुष्य के चरित्र की कसौटी है—उसमें निहित शारीरिक यातनाओं के कारण उतनी नहीं, जितनी कि उससे मनुष्य के मानसिक सन्तुलन पर ज़ोर पड़ने के कारण। सामान्य जीवन से अलग और अपने साथी-संगियों से मिलने का अवसर न पाने से मनुष्य को अपने चरित्र-बल और इच्छाशक्ति पर ही निर्भर रहना पड़ता है। बलात् आरोपित निष्क्रियता उस पर एक ज़बरदस्त भार डालती है; बल्कि व्यक्ति की जीवनीशक्ति और अन्तःप्रेरणा जितनी ही प्रबल होती है यह भार भी उसी अनुपात में गुरुतर होता है। यही कारण है कि यदि जेल में अनेक राजनीतिक नेताओं की आत्मिक शक्ति कुंठित नहीं हो जाती तो उनका स्वास्थ्य अवश्य खराब हो जाता है। किन्तु नेहरू जी अपने बन्दी-जीवन से अनाहत निकल आये। यह इसीलिए सम्भव हुआ कि उनके व्यक्तित्व में कल्पना और इच्छाशक्ति समन्वित और संश्लिष्ट रहीं। जब

गति और कर्म के रूप में इच्छाशक्ति का निकास न हो सका, तो कल्पना शक्ति ने उनके मानसिक और भावात्मक जीवन को ही वास्तविकता का रूप दिया।

नेहरू जी की कल्पनाशक्ति ही उन्हें राजनीतिक जीवन की ओर खींच लायी थी। सात्त्विक रोष या समवेदना के कारण ही कलाकार इस ओर आये हैं। साधारण मनुष्य में वर्तमान अनीतियों के प्रति रोष कुछ समय बाद मन्द पड़ जाता है; कलाकार को ऐसे चैन नहीं मिलता। समय की गति और अनुभव का विकास उसकी भावनाओं को इतना तीव्र कर देता है कि वह अपने काल्पनिक जगत् में सन्तुष्ट रह ही नहीं सकता। दुःखों के प्रति रोष समवेदना की भी यही निष्पत्ति होती है। फिर कलाकार अपने व्यक्तित्व की सीमा में बँधा नहीं रह सकता। प्रत्युत, उसे अच्छा लगे या न लगे, वह युद्ध के मोर्चे पर आगे बढ़ जाता है। किन्तु उस समय उसकी कलाकार-चेतना मर नहीं जाती। उसके संघर्षों में भी एक कल्पनातत्त्व रहता है जो उसे मुख्यतः व्यावहारिक व्यक्ति से अलग करता है। व्यावहारिक राजनीतिक भले ही दुःख-दैन्य और अन्याय के साथ समझौता कर ले, किन्तु कलाकार, राजनीतिक या नेता ऐसा कभी नहीं कर सकता।

राजनीति में कल्पनापूर्ण और व्यावहारिक दृष्टिकोणों का भेद सहानुभूति के भी दो प्रकारों में प्रकट होता है। व्यावहारिक व्यक्ति तो तात्कालिक विषयों से सम्बन्ध रखता है। इस मामले में वह जन-साधारण के साथ है। प्रत्येक देश में, और विशेषतः भारतवर्ष में, वह अपनी ही चिन्ताओं और दुःखों के बोझ से दबा रहता है। अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेने पर उसमें दूसरों के सुख-दुःख के सम्बन्ध में सोचने की शक्ति नहीं रह जाती। जिन स्त्री-पुरुषों को उसने देखा नहीं उनके प्रति वह अधिक से अधिक चलती हुई सहानुभूति रख सकता है। कलाकार की बात ही दूसरी है। कल्पनाशक्ति द्वारा जाने गये दुःख उसके लिए उतने ही स्पष्ट और सजीव होते हैं जितने अपने अनुभूत दुःख। उनके प्रति उसकी प्रतिक्रिया उतनी ही तीव्र होती है जितनी वास्तव में देखे गये दुःखों के प्रति। दुःखों और यातनाओं के प्रति कलाकारवाली संवेदनशीलता के कारण ही नेहरू जी मानव की यन्त्रणा के समाचारों से इतना अधिक विचलित हो जाते हैं कि उनके देशवासियों को आश्चर्य होता है। वे उसे उनकी अन्तर्राष्ट्रीयता कह कर उसकी व्याख्या करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु सीधी-साधी बात यह है कि दुःख मात्र की समस्या के प्रति उनका दृष्टिकोण मानववादी है।

नेहरू जी के समस्त राजनीतिक कार्यों के साथ-साथ उनके व्याख्यानों में भी कलाकार वाली संवेदनशीलता एक विशेषता उत्पन्न कर देती है। यों तो कलाकार सदा से संकोची और आत्मकेन्द्रित माने जाते हैं, किन्तु मनोवैज्ञानिक क्षतिपूर्ति के अद्भुत नियम के अनुसार, वे अपने भावों और विचारों का संसार के सामने विशेष रूप से प्रदर्शन करते हैं। बाह्य संसार के प्रति अपनी प्रतिक्रिया वे प्रायः रेखा, रंग या शब्दों द्वारा प्रकट कर सन्तोष प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु कुछ विरलों की प्रतिक्रिया इतनी तीव्र होती है कि उसकी अभिव्यक्ति मात्र से उन्हें सन्तोष नहीं होता। वे सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करके उस वातावरण को ही बदल डालना चाहते हैं जिसने उन्हें उत्तेजित किया है। उस समय कलाकार राजनीतिक योद्धा के रूप में परिणत हो जाता है। किन्तु कलह और संघर्ष के बीच भी वह कलाकार बना ही रहता है। और सार्वजनिक जीवन के कलाकार का नेहरू जी की अपेक्षा अधिक पूर्ण उदाहरण इतिहास में शायद ही मिले।

नेहरू जी की समस्त रचनाओं में तीव्र सौन्दर्यात्मक अनुभूति और मानवी क्रियाकलाप में उनकी व्यापक रुचि के बीच एक सूक्ष्म संतुलन मिलता है। उनकी सर्वप्रथम रचना, 'पिता के पत्र पुत्री के नाम', स्पष्टतः संसार के जन्म और विकास की कहानी है। किन्तु भूगर्भ और जीवन-विज्ञान के वर्णनों के बीच-बीच में उनकी निजी अनुभूति व्याप्त है। उनकी लेखनी ग्रहों के विशाल जीवनचक्र से हमारी व्यक्तिगत आशाओं और निराशाओं का निकट सम्बन्ध स्थापित कर देती है। फलतः हमारे जीवन के दुःख-सुख विश्व के व्यापक जीवन से एकाकार हो काल की परिवर्तनशीलता से परे स्थायित्व ग्रहण कर लेते हैं। व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं और विश्वचक्र के बीच आन्दोलित होने वाली गति का अन्त कभी नहीं होता। यदि प्रमाण की आवश्यकता है तो यह एक और प्रमाण है जो नेहरू जी के संश्लिष्ट व्यक्तित्व की अपार सजीवता का द्योतक है।

'विश्व इतिहास की झलक' और उसकी परम्परा में रचित 'हिन्दुस्तान की कहानी' में व्यक्ति और संसार के

प्रति उनका वही दृष्टिकोण मिलता है।' विश्व इतिहास की झलक' में सधी और कुशल तूली से एक विस्तृत चित्रपट पर मानवजीवन का चित्र खींचा गया है। उसमें कुछ गहरे रंगों के लगाने मात्र से युगों का जीवन-दृश्य उभर आया है। किन्तु लेखक उसमें सर्वत्र व्याप्त है और संसार की दृश्य-परम्परा उसकी अपनी दृश्य-परम्परा है। इतना ही नहीं, मनुष्य के उत्तेजनापूर्ण जीवन-व्यापारों के बीच एक अभिभूत कर लेने वाली अत्यन्त स्वाभाविक सरलता के साथ नेहरू अपनी व्यक्तिगत भावनाओं का निवेदन, या कि अपने जेल के आँगन में एक अकेले फूल के प्रस्फुटन का वर्णन भी करते चलते हैं। एक दृष्टि से प्रत्येक कला सूक्ष्म है, वह व्यक्तित्व के चौखटे में जड़े दर्पण में देखा गया वास्तविकता का प्रतिबिम्ब है। नेहरू जी के लेखन में जेल-जीवन की सीमाएँ उस पर एक दूसरे चौखटे की तरह हैं। किन्तु वह दर्पण सदैव उस कलाकार का स्वच्छ व्यक्तित्व है जिसकी चेतनता जेल-जीवन से मन्द नहीं पड़ सकती।

व्यक्तिगत और विश्वव्यापी का यह सामंजस्य उनकी 'हिन्दुस्तान की कहानी' में भी प्रत्यक्ष है। वास्तव में यह रचना जितनी भारत की शोध है उतनी ही नेहरू की भी। दोनों में कोई विरोध नहीं। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन वह केन्द्र-बिन्दु है जिसमें समस्त विश्व का जीवन प्रतिबिम्बित होता है। साधारण मनुष्य इस प्रतिबिम्बन का अनुभव नहीं कर पाता। किन्तु कलाकार के लिए यह एक सचेष्ट क्रिया है जो उसकी कृति को एक निश्चित उद्देश्य और सार्थकता प्रदान करती है। टी० एस० एलियट का कथन है कि एक वास्तविक कलात्मक कृति पूर्ववर्ती परम्परा से प्रभावित ही नहीं होती, वरन् उसमें भी कुछ परिवर्तन उपस्थित कर देती है। इस प्रकार कला-जगत् में कार्य-कारण वाले लौकिक नियम की अवहेलना हो जाती है। थोड़ा-सा विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि एलियट के कथन का विरोधाभास केवल ऊपरी है। कलात्मक कृति का अस्तित्व मनुष्य के मन में होता है। हमारे नवीन कलात्मक अनुभव पर पूर्व संचित अनुभव का असर पड़ता है। एक बार अनुभवगम्य हो जाने से वह हमारे अस्तित्व का अंग बन जाता है और प्राचीन मूल्यों के प्रति हमारी धारणा तक को प्रभावित करता है। इस प्रकार नवीन कलात्मक अनुभूति हमारे पिछले कला-सम्बन्धी मूल्यांकन में परिवर्तन उपस्थित कर देती है। इसीलिए 'हिन्दुस्तान की कहानी' नेहरू जी के अपने अनुभव-जगत् की रोचक कहानी भी है। यही कारण है कि यह पुस्तक इतनी शीघ्र इतनी लोक-प्रिय हो सकी।

किन्तु साहित्य-जगत् में नेहरू जी की सर्वोत्तम कृति उनकी आत्मजीवनी 'मेरी कहानी' है। वह गीतिकाव्य और महाकाव्य का सम्मिश्रण है और उनके लेखन-कला-सम्बन्धी तथा मानवी अनेक गुण प्रदर्शित करती है। उनके अपने जीवन की कहानी राष्ट्र और उसके स्वतन्त्रता-संग्राम की कहानी में घुल मिल गयी है। उसमें एक नवीन राष्ट्र की प्रसव-वेदना की तीव्रता प्रत्येक पृष्ठ को रँगनेवाली व्यक्तिगत दुःखानुभूति की तीव्रता की समकक्षता रखती है। प्रत्येक पृष्ठ में सचाई, स्पष्टता और ओज है। इससे भी अधिक उसमें उनके भावों की सुकुमारता है जो लगभग वर्णनातीत है। इतने तथ्यों के स्पष्ट निरूपण और व्यक्तियों या समस्याओं के निरपेक्ष विश्लेषण में उनकी कोई और रचना इसकी बराबरी नहीं करती। किन्तु इतने पर भी सम्पूर्ण रचना भीतरी शोध और जिज्ञासा के भाव से अनु-प्राणित है। यह जिज्ञासा-भाव ही कलाकार को पैग़म्बर, पुजारी और शासक से अलग करता है।

भारतवर्ष के राष्ट्रीय संग्राम के इतिहास की दृष्टि से 'मेरी कहानी' सर्वोत्कृष्ट है और उन महत्त्वपूर्ण दिनों में भारत के भाग्य-निर्मायक स्त्री-पुरुषों के चरित्रों के सहानुभूति-पूर्ण अध्ययन की दृष्टि से अद्वितीय। सम्पूर्ण गाथा में उनके पिता पंडित मोतीलाल नेहरू का चरित्र सर्वोपरि है और इस प्रकार पुत्र की आत्मजीवनी पिता की जीवनी भी है। पिता की प्रकांड मेधा और पौरुष से, बिना लेखक की ओर से वैसी किसी चेष्टा के, पुत्र की जिज्ञासु और भावुक वृत्ति तुलना हो जाती है। ग्रन्थ में एक ओर जीवन-नाटक के संघर्ष का बोध है, तो दूसरी ओर उतनी ही स्पष्ट भावी घटनाओं की पूर्ण कल्पना और मानव की अन्तःप्रवृत्तियों में गहरी पैठ। गान्धीजी के प्रति नेहरू जी की जो भावनाएँ हैं वे विश्वविदित हैं, किन्तु 'मेरी कहानी' में उन्होंने महात्मा जी को भी अणुवीक्षण यन्त्र से देखा है। महात्मा जी के साथ अपने सम्बन्धों का उनका विश्लेषण आधुनिक राजनीतिक साहित्य में एक ज्वलन्त मनो-वैज्ञानिक अध्ययन है।

मानव-मन का गहरा विश्लेषण यदि लेखक को अन्तर्मुखी बना देता है तो दूसरी ओर इतिहास के व्यापक आन्दोलन की अनुभूति से उसमें निरपेक्षता भी लाता है। इन दोनों के सम्मिश्रण से ही वास्तव में महान् लेखक बनता

है। नेहरू जी की 'मेरी कहानी' में यह सम्मिश्रण इतना प्रत्यक्ष है कि कभी-कभी इस बात का खेद होने लगता है कि एक महान् राजनीतिक नेता प्राप्त करने में भारत ने सम्भवतः एक महत्तर लेखक खो दिया है।

महत्ता किसी भी क्षेत्र में हो, उसमें कुछ अन्तर्विरोधी तत्त्व होते ही हैं। परस्पर विरोधी तत्त्वों के सम्मिश्रण से ही प्रतिमा में सजीवता और गहराई उत्पन्न होती है। इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है यदि नेहरू जी की व्यापक दृष्टि कभी-कभी सूक्ष्म सौन्दर्य से चमत्कृत हो उठती हो। ऋतु-परिवर्तन और प्रकाश तथा रंगों की विविधता के प्रति उनकी संवेदनशीलता, शिशु-क्रीड़ा में उनका हार्दिक उल्लास, सायं-प्रातः के सौन्दर्य में लय होने की शक्ति ये सब बातें उनकी संवेदनशील गीति-प्रवृत्ति की परिचायक हैं। जिन संवेदनशील, गतिपूर्ण एवं सजीव शब्दों में उन्होंने अपनी अन्तरानुभूतियों को अभिव्यक्त किया है, वे उनकी असाधारण कला-चेतना घोषित करते हैं।

इसके साथ-साथ उनकी समस्त रचनाओं में एक सन्तुलन और गाम्भीर्य है जो उनकी वैज्ञानिक प्रवृत्ति का परिचायक है। व्यक्तियों और समस्याओं के अपने अध्ययन में नेहरू जी ने व्यक्ति-निरपेक्ष वैज्ञानिकता लाने की सतत चेष्टा की है। किसी भी प्रश्न का दूसरा पक्ष देखने की उनकी तत्परता के कारण उनके आलोचक उन्हें भारतीय राज-नीति का हैमलेट भी कहते रहे हैं। उनके सार्वजनिक जीवन पर चाहे जो प्रभाव पड़ा हो, किन्तु उनकी गवेषणापूर्ण आलोचनात्मक और जिज्ञासापूर्ण भावना ने उनकी रचनाओं को एक व्यापक दृष्टिकोण और विवेकशीलता प्रदान की है जो मूलतः एक वैज्ञानिक व्यक्ति के लक्षण हैं।

'मेरी कहानी' से नेहरू जी ने साहित्य-जगत् में अपने लिए एक स्थायी स्थान बना लिया है। उनके बहुमुखी व्यक्तित्व के विविध पक्षों को यह पुस्तक कदाचित् उनके किसी दूसरे कर्म या रचना की अपेक्षा अधिक पूर्णता से अभिव्यक्त करती है। दुःख के प्रति कलाकार की संवेदनशीलता के साथ उनमें अनीति के प्रति एक योद्धा का रोष है। 'मेरी कहानी' में उनके व्यक्तित्व के ये दोनों पक्ष पूर्ण तथा सन्तोषप्रद रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। उनके ज़ोरदार शब्दों से दलितों के चेहरे खिल जाते हैं। उनकी आवाज़ अन्धकार में गूँज उठती और हताश व्यक्तियों के मन में नयी आशा का संचार करती है। उनके द्वारा हृदय की द्रुत तथा क्षणिक अनुभूतियों की अद्भुत सूक्ष्म अभिव्यक्ति सभी संवेदनशील व्यक्तियों के मन पर अपना प्रभाव छोड़ जाती है। सब चीज़ों को बौद्धिक दृष्टि से देखने पर अत्यधिक ज़ोर देने से उनकी रचनाओं में उदार विवेकमय क्षमा गुण आ गया है जो ज्ञान का सार-तत्त्व है।

समय की तीव्र गति और नाश की अनिवार्यता हमें अस्तित्व मात्र के सम्बन्ध में एक दुःखद भावना से अभिभूत कर देती है। कोई भी संवेदनशील व्यक्ति इस भावना से बच नहीं सकता। किन्तु एक वीरात्मा मानव-जीवन के गौरव पर ज़ोर देती हुई दुःख और निराशा से ऊपर उठने की चेष्टा करती है। महान् लेखक वही है जो मरण की घनी छाया वाली उपत्यका में गुज़रते हुए भी उस पार के उज्ज्वल शिखरों को नहीं भूलता। नेहरू जी हममें ऐसे मूल्यों के प्रति जागरूकता उत्पन्न करते हैं जो दुःख और मृत्यु का सामना करते हुए भी धैर्य, साहस और सहिष्णुता की प्रेरणा देते हैं। उनकी रचनाएँ और उनका कार्य मानवी गौरव की भावना से ओतप्रोत है। मनुष्य के प्रति उनकी यह श्रद्धा ही उन्हें पीड़ित मानवता का न केवल रक्षक योद्धा बल्कि उसका गायक भी बनाती है।

मार्च १९४९

निर्वासन और आत्मजीवनी

म्यूरिएल वसी

"स्वयं अपने देश में भी मुझे कभी-कभी निर्वासन का बोध होता है।"

—जवाहरलाल नेहरू

जब मेरी और उससे अगली कई पीढ़ियाँ गुज़र चुकी होंगी और भुलाई जा चुकी होंगी तब भी दुनिया में एक ऐसे व्यक्ति का नाम लिया जा रहा होगा जिसने पाश्चात्य परम्परा में दीक्षा पा कर अपने जीवन के एक अत्यन्त सूक्ष्म अवसर पर निश्चय किया कि उसे इस शिक्षा-दीक्षा को छोड़कर अपने देश के संघर्ष में कूद पड़ना होगा और चाहे कितने ही बिलम्ब से, एक भारतीय द्रष्टा का बाना पहनना होगा।

इतिहासकार के लिए इसमें राष्ट्र-भावना के नये विवेचन की सामग्री मिलेगी : मनोवैज्ञानिक इसे इस बात का नया प्रमाण समझेंगे—अगर प्रमाण की आवश्यकता है तो—कि कोई भी आदर्शवादी अनिवार्यतया दुर्बल पक्ष को ही अपनायेगा।

प्रस्तुत लेखिका का ध्यान इतिहास के नहीं बल्कि आत्मजीवनी के मनोविज्ञान की ओर है; राष्ट्र के नहीं, व्यक्ति के संघर्ष से इतिहास की ओर है। इसी कारण इसके लिए यहाँ नेहरू का या नेहरू की गाथा का उतना महत्त्व नहीं है जितना निर्वासन के प्रतीक का।

नेहरू आधुनिक जगत् के नेता की अपेक्षा अधिक अनोखे नहीं हैं। यह तो सहज ही समझा जा सकता है कि जो व्यक्ति अपने समकालीनों से ऊपर उठता है वह सम्पूर्णतः उनका प्रतिनिधित्व नहीं करता। लिंकन हो या लेनिन, गान्धी हो या चर्चिल, वेइज़मेन हो या नेहरू, सभी को किसी हद तक अपनी दुनिया से अलग होना और उससे ऊपर उठना पड़ता है।

किन्तु जिस आन्तरिक संघर्ष के कारण एक स्पष्ट राष्ट्रवादी निर्वासित-सा हो जाता है, उस संघर्ष का अनुभव करने के लिए आवश्यक नहीं है कि हम भी उतने ही महान् हों। इतना ही यथेष्ट है कि हमारा जीवन दो या इससे अधिक संस्कृतियों में बीता हो। सम्पन्न भद्र-वर्ग के सैकड़ों भारतीयों ने ऐसे घरों में जन्म लिया है जिसमें अंग्रेज़ी साहित्य, अंग्रेज़ी भाषा और अंग्रेज़ी इतिहास ही शिक्षा-पद्धति में प्राधान्य रहता था। फिर भी इन भारतीय घरों में भी ब्रितानी जातियों के बारे में वही अविश्वास और ब्रितानी साधनों के बारे में वही बढ़ा हुआ रोष था जिसने कि राष्ट्र-आन्दोलन को जन्म दिया।

यह सम्भव है कि अंग्रेज़ी शिक्षा के गहरे लोकतन्त्री झुकाव ने भारतीय स्वतन्त्रता की माँग और आवश्यकता को बल दिया हो। इसी कारण यह विरोधाभास देखने में आया कि हमारे अधिकांश उग्रतम राष्ट्रीयतावादी अन्ततोगत्वा अंग्रेज़ भद्र लोग थे, जिनकी आचार-नीति, व्यवहार और दृष्टिकोण मूलतः अंग्रेज़ी था मगर जिन पर इस भावना का गहरा रंग था कि इस साधारण देन का उपयोग ब्रितानी साम्राज्यवाद पर आक्रमण करने के लिए एक अस्त्र के रूप में करना होगा।

हमारी दृष्टि में नेहरू का समकालीन साहित्यिक महत्त्व भारतीय मध्य वर्ग के इस अंग के व्याख्याता के रूप में ही है।

नेहरू अगर स्वयं लेखक न भी होते, फिर भी भारत के साहित्य और नये लेखन के लिए उनका महत्त्व होता; क्योंकि उन जैसा व्यक्ति सदा साहित्य को प्रेरणा देता है और ऐसा वातावरण पैदा करने में भी सहायक होता है जिसमें मानवीय और व्यक्तिगत संघर्ष रचनात्मक साहित्य में अभिव्यक्ति पाना चाहता है।

किन्तु नेहरू लेखक हैं और उन्होंने सहज आत्माभिव्यक्ति के लिए आत्मजीवनी का माध्यम चुना है, इससे भारत

में नये साहित्य के आन्दोलन के लिए उनका महत्त्व दुगुना हो गया है। आत्मजीवनी कोई नयी चीज नहीं है। उसका इतिहास उतना ही पुराना है जितना अहंता का या मानव का। किन्तु एक रचनात्मक साहित्य-रूप के तौर पर वह भारत के लिए कुछ नया है। और हम जैसी अन्तर्मुखी जाति के लिए उसका परिणाम रोचक हो सकता है।

अपनी जीवनी लिखने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति महान् हो। यह भी आवश्यक नहीं है कि वह दूसरे महान् व्यक्तियों से मिला हो या उनके निकट सम्पर्क में आया हो, यद्यपि संसार के महापुरुषों के नाम के सहारे आत्म-जीवनी को अधिक बिकाऊ बनाया जा सकता है। लेकिन यह ज़रूरी है कि अनुभूति के क्षेत्र में लेखक के पास अभिव्यक्त करने के लिए ऐसा कुछ हो जो मूलतः नया हो।

यह नया कुछ घटनामूलक हो सकता है। इस कोटि की आत्मजीवनी में युद्ध, कूटनीति के संस्मरण, बहुत-से यात्रा-विवरण, और ऊँची कोटि का रेपोर्ताज जिससे घटनाओं का 'भीतरी इतिहास' मिलता है, सब आ जाते हैं। ऐसी आत्मजीवनी साहित्य है या नहीं, यह उसकी लिखने की शक्ति और परिमार्जन पर निर्भर है। लेकिन अहं-प्रधान बहुत-से लेखकों के लिए यह सहज स्वाभाविक माध्यम है।

हम भारतवासियों की दृष्टि में आत्मजीवनी में अभिव्यक्त होने वाला नयापन एक दृष्टिकोण का भी हो सकता है; एक मानसिक झुकाव का, एक ऐसे संघर्ष का, जो चाहे थोड़े-से ही लोगों का जाना हुआ है और वे लोग भी चाहे जन-प्रिय नहीं हैं, लेकिन जो इतना असाधारण है कि पाठक के मन को आकर्षित कर सके।

यही एक कारण है कि नेहरू की आत्मजीवनी जो राजनीतिक और इतिहासकार के लिए तो महत्त्व रखती ही है, भारतीय साहित्य के अध्येता के लिए इतनी महत्त्वपूर्ण है। निस्सन्देह उसका बहुत-सा अंश मनोवैज्ञानिक को आकृष्ट करेगा : निस्सन्देह कोई अंश साहित्य में स्थान पायेगा। लेकिन अपने समकालीनों के लिए और हम-जैसे लोगों के लिए, जिनसे कि वह केवल एक पीढ़ी दूर हैं, उनकी आत्मजीवनी का महत्त्व इसलिए है कि वह रचनात्मक साहित्य का एक नया प्रयोग है।

उपन्यास और कहानी दोनों ऐसे साहित्य-रूप हैं जिन्हें हमने यूरोप से लिया है। कहानी की अपेक्षा उपन्यास हमारी प्रतिभा के अधिक अनुकूल है। कहानी की कसी हुई गठन और वर्णन या चरित्र-चित्रण में तत्परता उन लोगों के अनुकूल पड़ती है जिनका जीवन हमारी अपेक्षा अधिक तेजी से और कम गहराई में जिया जाता है।

लेकिन आत्मजीवनी एक ऐसा साहित्य-रूप है जो सहज ही और स्वाभाविक रूप से हमारी प्रतिभा, प्रवृत्ति और उद्देश्य के अनुकूल पड़ती है। उससे हमें अपने बारे में विचार और स्वगत-भाषण करने को वह अवसर मिलता है जिसकी हममें तीव्र उत्कंठा रहती है, और साथ ही उस सूक्ष्म अहंता को अभिव्यक्त करने का साधन जो कि हमारे अधिक से अधिक उदार कर्म में भी होता है। इस प्रकार के रचनात्मक साहित्य का क्षेत्र बहुत बड़ा है। केवल राजनीतिक और राष्ट्रकर्मी ही नहीं, केवल कवि और द्रष्टा ही नहीं, बल्कि विविध अनुभव रखनेवाले साधारण नर-नारी भी ऐसा कुछ दे सकते हैं जो संसार के सामने इस महादेश को प्रकाशित करेगा।

नेहरू के लिए, और जिस अल्पसंख्यक समाज का वह प्रतिनिधित्व करते हैं उसके लिए, संघर्ष जीवन की दो परि-पाटियों में रहा है। जातियों, समाजों और पृथ्वी के गोलार्द्धों के बीच में जो खाइयाँ हैं उनको भर देने का प्रयत्न वैज्ञानिकों ने किया है, लेकिन उनके बावजूद जन-साधारण के लिए उस दृष्टिकोण में, जो कि पश्चिम में सामान्यतया प्रचलित है, और उस दृष्टिकोण में, जिसको कि साधारणतया प्राच्य कहा जाता है, एक मौलिक अन्तर बना ही रहता है।

यहाँ पर दोनों परिपाटियों में किसी का समर्थन करना हमें अभीष्ट नहीं है। यह व्यक्तिगत रुचि और निर्णय की बात है; और फिर ऐसा मताग्रह प्रौढ़ जिज्ञासु-वृत्ति के प्रतिकूल पड़ता है। किन्तु मूलतः यह संघर्ष है क्या? मेरी समझ में एक ओर व्यावहारिकता, निश्चयात्मकता और गति या समय के प्रति सम्मान है, जिसके साथ संशयात्मकता और थोड़ी-बहुत नास्तिकता भी वर्तमान है। दूसरी ओर स्वीकारिता या निष्क्रियता, दार्शनिक सहिष्णुता, भाग्यवाद और एक प्रकार का अविचारी प्राचीनतावाद है। भारत जैसे देश में, जहाँ सदियों से एक महाद्वीप के बराबर प्रदेश में विविधता क़ायम रखने और विविधता में एकता खोजने का प्रश्न प्रमुख रहा है, यह समझना कठिन नहीं है कि परम्परा-वादी दृष्टिकोण क्या रहा और कहाँ से आया। पिछले २०० वर्षों से जीवन की दो परिपाटियों में संघर्ष उठ खड़ा हुआ है जिसका असर भारतीय समाज के छोटे-से अंश पर पड़ा है। विशुद्ध राष्ट्रीयतावादी दृष्टि से कहा जा सकता है कि भारत
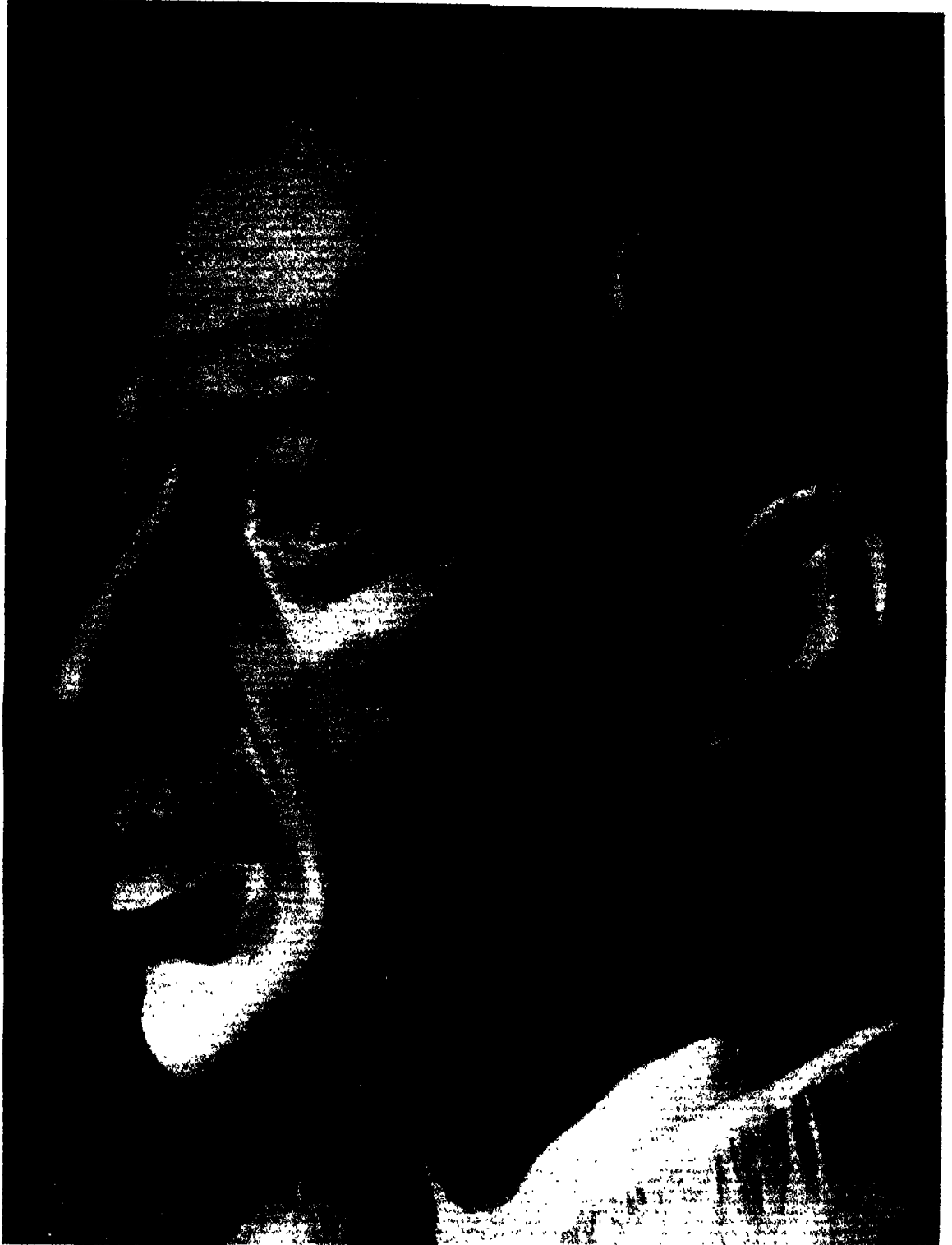
सुधीर खास्तगीर द्वारा निर्मित मस्तक

मूर्तिकार के सौजन्य से
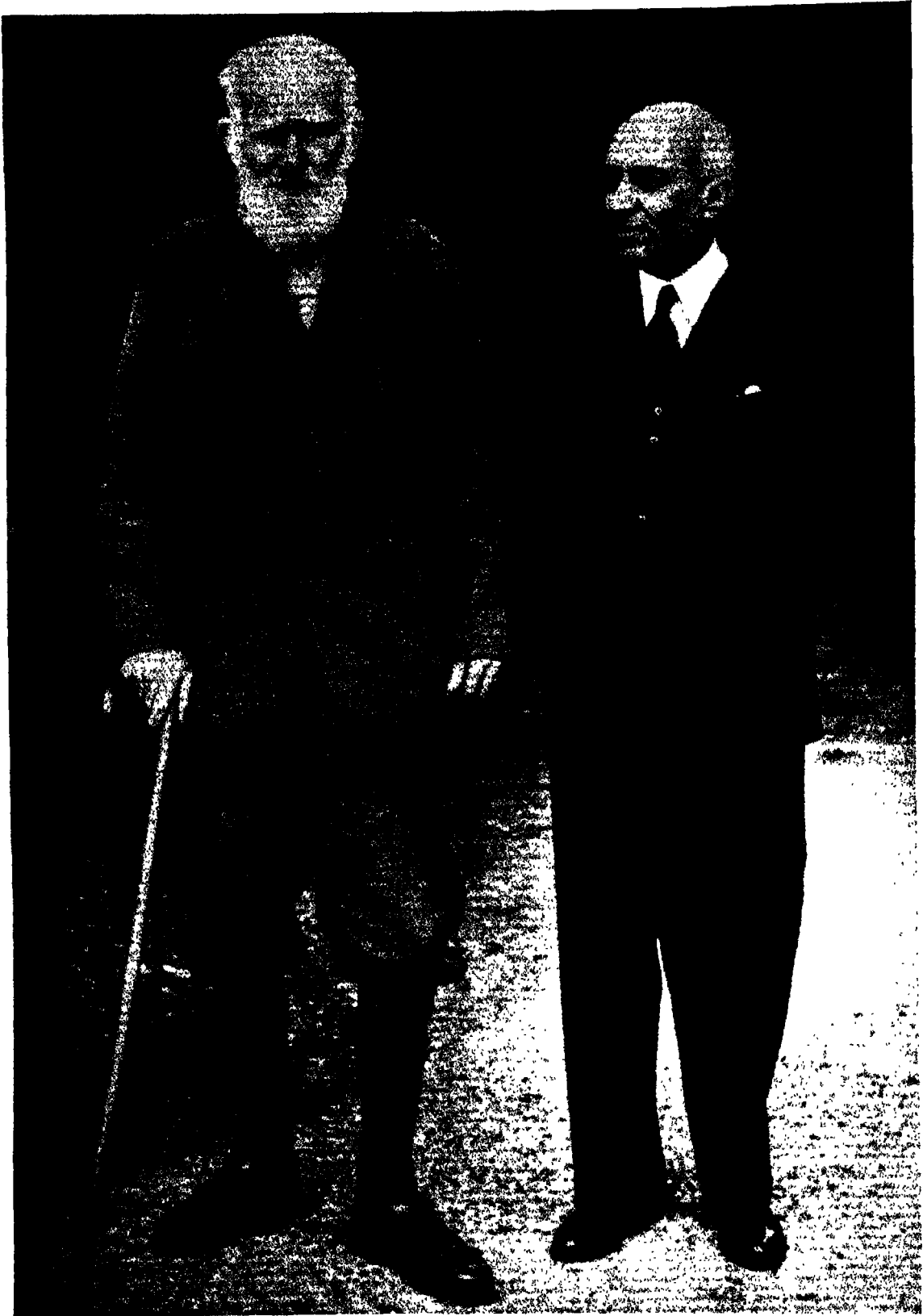
नेहरू और बर्नार्ड शा

का यह अंश प्रशंसनीय नहीं है। साधारणतया—यदि सर्वदा नहीं—यह अंश अपने को बनाये रखने के लिए हर प्रकार का समझौता करने को तैयार रहा है। अवसर से लाभ उठाना ही उसका उद्देश्य रहा है, कभी उसने सुविधा के लिए धर्म-परिवर्त्तन भी किया है और कभी विदेशी शासक के अनुकूल बनने के लिए अपनी जीवन-परिपाटी को आमूल बदल देने का प्रयास किया है। लेकिन यह अंश आज जिस स्थिति में है उस तक पहुँचने के उसके साधन चाहे कितने घृण्य रहे हों, आज इस अंश के पास प्रतिभा और शिक्षा है, स्थिरता और सामर्थ्य है, भ्रमण और नये साधनों से पाया हुआ अनुभव है; वह पैसे का उपयोग करना जानता है और उसका अभ्यासी है। उसमें संगठन की योग्यता है और इससे भी बढ़ कर रचना की योग्यता। उसे पूर्वजों के अपराधों की सजा देना व्यर्थ है। उसे यह सिखाने की चेष्टा करना व्यर्थ है कि राष्ट्रीयता और आत्मत्याग एक ही चीज है या कि निरा आत्मत्याग एक बहुत अच्छी चीज है—उसे यह समझने में कठिनाई होना स्वाभाविक है।

इन लोगों में भी अपनी जन्मभूमि और मातृभूमि के प्रति वह अवचेतन लगाव है जिसका नेहरू ने अपनी जीवन-कथा में उल्लेख किया है। भारत उनके साथ अनेक रूपों में चिपटा रहता है जैसा कि वह उनके इस व्याख्याता के साथ चिपटा रहता है। उनमें भी रहस्यवादी भावना की प्रतिध्वनि होती है, उनमें भी प्राचीनों के ज्ञान के प्रति एक धुँधली-सी आस्था होती है, उनमें भी दो प्रवृत्तियों का संघर्ष निरन्तर होता ही रहता है—एक ओर बुद्धिवादी ढंग से आगे देखने की प्रवृत्ति, और दूसरी ओर निष्क्रिय भाव से जो आता है उसकी प्रतीक्षा करने की प्रवृत्ति।

नेहरू-जैसे संवेदनाशील व्यक्तियों में इस संघर्ष से जो अनिश्चय और वेदना उत्पन्न होती है, उसका नेहरू एक श्रेष्ठ उदाहरण हैं। केवल विदेशी शासक और विदेशी शिक्षा, केवल अंग्रेजी साहित्य की उत्तम देन और अंग्रेजी इतिहास के पाठ ही समस्या नहीं हैं बल्कि इन सबसे उत्पन्न होने वाला वह स्वभाव और मनोवृत्ति भी एक समस्या है जिसका ढाँचा इस बात में पाश्चात्य है कि वह निश्चित समय में अमुक निश्चित कार्यक्रम पूरा कर लेना चाहता है। इस समस्या से आज का शिक्षित भारत कदाचित् अच्छी तरह परिचित है। इस समस्या का हौवा बनाने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन वह समस्या है; उसका परिणाम अच्छा होगा कि बुरा, नहीं कहा जा सकता। वह पिछले २०० वर्षों की एक वसीयत है जिससे भारत की या भारत से बाहर की बुद्धि और विवेक न पहले से देख सकते थे, न रोक सकते थे।

लेकिन भारत में आज यही वर्ग हमें ऐसे बौद्धिक व्यक्ति और सम्भाव्य साहित्य-रचयिता दे रहा है जो अपने अनेक दोषों और त्रुटियों के बावजूद हमें ऐसा कुछ दे सकते हैं जिसकी अवहेलना करना भूल होगी। इस वर्ग का लिहाज करने की तो कोई ज़रूरत नहीं है; लेकिन यह हमारे लिए हितकर होगा अगर हम आज की भारतीय जीवन-परिस्थिति को स्वीकार करके उस 'निरहंकार कर्म' का पाठ ग्रहण करना सीख सकें जो कि एक मात्र सच्ची देश-सेवा है।

अप्रैल १९४९

एक चरित्रांकन

सार्दूल सिंह कवीश्वर

यूनानी प्रतिमा का-सा सावधानी से तराशा हुआ जवाहरलाल जी का चेहरा ही एक सुसंस्कृत आदर्शवादी मनोगठन का द्योतक है। सभी अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उनकी समान उत्साहपूर्ण दिलचस्पी, संयुक्त राष्ट्रों के आदर्शों को उनका पूर्ण समर्थन, हिन्देशिया, चीन और स्पेन की राजनीति में उनका क्रियाशील भाग लेना, रूस के प्रति उनकी हमदर्दी और अमरीकी-ब्रितानी भाव-धाराओं के प्रति उनका आदर, साहित्य, इतिहास और विज्ञान के प्रति उनका प्रेम; ये सब बतलाते हैं कि उनका हृदय कितना विशाल है और उनके दिमाग़ की पहुँच किन ऊँचाइयों तक है। जैसे उनके चेहरे की आकृति पार्थीनन के प्रस्तर-शिल्प की याद दिलाती है, वैसे ही उनका मन भी उसी साँचे में ढला हुआ जान पड़ता है जिसमें प्लातू के 'रिपब्लिक' और अरस्तू के 'मेटाफ़िज़िक्स आदि की सृष्टि करने वाली विचारक-परम्परा के मन ढले होंगे।

जहाँ तक मुझे ख्याल है, शायद लार्ड लिनलिथगो ही थे जिन्होंने लगभग पाँच दर्जन भारतीय राजनीतिकों को यह जानने के लिए आमन्त्रित किया था कि वे आंग्ल-भारतीय सम्बन्धों के विषय में क्या सोचते हैं। जवाहरलाल जी को भी बुलाया गया था। इस मुलाक़ात के बाद वायसराय ने अपने क़ानून-सदस्य श्री नीलरतन सरकार से कहा था कि 'जितनी देर तक नेहरू उनसे बातें करते रहे, उन्हें जान पड़ता रहा कि वे किसी बहुत ऊँचे प्रदेश में उठ आये हैं।' पंडित जी को बुलाया गया था कि वह वायसराय से भारतीय राजनीति पर बातें करेंगे, लेकिन वह भारत और ब्रितानी साम्राज्य को कोई पृथक् तत्त्व मान कर बात नहीं करते रहे वरन् उन्होंने इनको भी उन मूल शक्तियों का क्रीड़ा-स्थल मान कर बातें कीं, जो समस्त विश्व को अपने प्रभाव में लपेटे हुए हैं। वह जो कुछ कहते थे, संकीर्ण दलबद्ध दृष्टिकोण से ऊपर उठ कर; उन राजनीतिकों की तरह वह नहीं थे जो केवल पेड़ और उसकी पत्तियों की ही चिन्ता में डूबे रहते हैं और चारों तरफ़ फैले हुए जंगल का क्या भविष्य होगा, इस पर ध्यान ही नहीं देते।

पटियाला के दिवंगत महाराजा भूपेन्द्र सिंह ने भी, जो मानव-चरित्र के कुशल पारखी थे, मुझे यही बात बतायी थी। लन्दन में होने वाली द्वितीय गोलमेज़ परिषद् में कांग्रेस के शामिल होने के बारे में बात करने के लिए लार्ड विलिंगडन ने गान्धी जी को शिमले आमन्त्रित किया था। वार्ता में मदद देने के लिए पंडित नेहरू भी वहीं गये हुए थे। पटियाला नरेश की पंडित नेहरू से अकस्मात् एक किताबों की दूकान में मुलाक़ात हो गयी। उन्होंने पंडित जी के प्रशंसक के तौर पर अपना परिचय दिया और दूसरे दिन शाम को उन्हें चाय पर आमन्त्रित किया। पंडित जी ने बहुत ख़ुशी से निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। वे महाराजा के साथ केवल घंटा भर रहे। लेकिन महाराजा ने मुझे बताया कि उन्होंने उस एक घंटे में ही विश्व-राजनीति को इतना समझ लिया जितना वह कभी किसी से नहीं समझ पाये थे, यद्यपि उन्होंने कई बार यूरोप की सैर की थी और इतने राजाओं और मन्त्रियों से भेंट की थी जिनसे मिलने का अवसर बिरले ही भारतवासी को मिलता है।

महाराजा ने बताया कि वह तो सचमुच रोमांचित हो गये थे। अपनी रियासत और रजवाड़े की जो बातें वह करने वाले थे वे सब उनके मन से उतर ही गयी थीं। पंडित जी उन्हें तुच्छ स्थानीय स्वार्थों से ऊपर उठा ले गये—उन्होंने महाराजा को दिखाया कि किस तरह विश्व-शक्तियाँ काम कर रही हैं और अन्त में उनकी दृष्टि के सामने आगामी कल का एक ऐसा सपना मूर्त कर दिया जो कोई पैग़म्बर या द्रष्टा ही खड़ा कर सकता है।

पंडित जी आदर्शवादी हैं। उनकी भव्य सरलता, स्वच्छ शालीनता और जीवन के प्रति अनासक्त दृष्टिकोण ने उन्हें एक आदर्श दार्शनिक बना दिया है। लेकिन यह तो उनके चरित्र और जीवन का सिर्फ़ एक पहलू है। अगर उनका मन आकाश में विचरण करता है तो उनके पैर कभी धरती को नहीं छोड़ते। आदर्श-परक विचार और यथार्थ-

परक कर्म, ये दोनों साथ-साथ चलते हैं। वह न केवल विचार करते और स्वप्न देखते हैं, वरन् उन स्वप्नों को व्यावहारिक रूप भी देते हैं और इस लक्ष्य को लेकर वह इतनी लगन से काम करते हैं जितनी विरलों में ही पायी जाती है।

भारतवासी मात्र पर स्वप्नदर्शी होने का लांछन लगाया जाता है। भौतिक विकास में उनके पिछड़ेपन का कारण ही उष्ण जलवायु माना जाता है जिसमें बुद्धि और शरीर दोनों पर आलस और शैथिल्य छा जाता है। आलोचकों का कहना है कि इसी जलवायु के प्रभाव से भारतवासी एक बहुत क्रियाशील जाति नहीं हैं।

लेकिन यह एक अनोखी बात है कि नये भारत के दो महान् नेता, गान्धी जी और पंडित नेहरू, दोनों ने महान् स्वप्न देखे, विराट् भविष्य की कल्पना की और उसके साथ ही अपनी जनता के लिए दिन-रात, बिना किसी विराम-विश्राम के अथक परिश्रम किया। आज के यूरोपीय, अमरीकी या एशियाई राजनीतिकों में कोई भी दो—परिश्रम की दृष्टि से—इन दोनों के मुक़ाबले में नहीं ठहर सकते। गान्धी जी की ही तरह नेहरू जी भी बिना थके हुए मशीन की तरह काम करते हैं। अगर गान्धी जी अपने इस परिश्रम के बावजूद इतने दीर्घजीवी रहे, या पंडित नेहरू यदि आज भी इतने स्वस्थ हैं, तो इसका मुख्य कारण दोनों का आदर्श रहन-सहन है। दोनों की जीवन-परिपाटी इतनी सरल और पवित्र रही कि उसे तपस्या कहा जा सकता है।

पंडित नेहरू कल्पनाशील स्वप्नदर्शी हैं, लेकिन कोरे सपनों के संसार में रहने वाले नहीं; वह सबसे पहले एक कठोर कर्मठ व्यक्ति हैं। अगर गान्धी जी ने कांग्रेस को नये प्राण दिये तो जवाहरलाल जी ने उसे एक नया शरीर दिया।

गान्धी जी के आविर्भाव से पहले कांग्रेस गिने-चुने कुछ लोगों की संस्था थी; अधिकतर ऐसे वकीलों और उद्योगपतियों की संस्था जो सुधारवाद और वैधानिकता के पल्ले में बँधे हुए थे। इसी तरह बम और पिस्तौल में विश्वास रखने वाला समवर्ती क्रान्तिकारी आन्दोलन भी कुछ धुनी नौजवानों का संगठन था जो स्वभावतः छोटे-छोटे दलों में गुपचुप काम करते थे। गान्धी जी ने न केवल ठंडे से ठंडे सुधारवादी और गरम से गरम क्रान्तिकारी को एक भूमि पर लाकर मिलाया, बल्कि कांग्रेस को एक आम जनता की संस्था का रूप दिया। उन्होंने भारतीय राजनीति के मुर्दा कंकाल में नये प्राण फूंक दिये। केवल मुट्ठी भर शिक्षित लोग ही नहीं वरन् राह चलते लोग, हल-बैल में पिसने वाले लोग, बूढ़े और जवान, औरतें और बच्चे, सभी में गान्धी जी के नेतृत्व में अभूतपूर्व राजनीतिक जाग्रति और और चेतना पैदा हो गयी। मुट्ठी भर लोगों के संगठन से गान्धी जी ने कांग्रेस को देश का सबसे जनप्रिय संगठन बना दिया। लेकिन भारत को आज़ादी मिलने के समय तक कांग्रेस न केवल सबसे जनप्रिय वरन् सबसे ताक़तवर संगठन भी बन चुकी थी। और इस शक्ति-संगठन का श्रेय अगर पूरा नहीं तो अधिकांश जवाहरलाल जी को है।

जवाहरलाल जी के जेनरल सेक्रेटरी बनने से पहले कांग्रेस केवल एक वार्षिक समारोह मात्र थी। कांग्रेस के तीन जेनरल सेक्रेटरी होते थे, मगर केवल नाम मात्र को। जवाहरलाल जी ने उसके प्रबन्ध विभाग को संगठित किया, उसे स्थान दिया, और उसे एक प्राणवान, गतिशील संगठन में बदल दिया जो निरन्तर क्रियाशील रह कर देश के प्रान्तों, ज़िलों, तालुक़ों और गाँवों तक में सुसंगठित शाखाओं का जाल बुन दे।

जवाहरलाल जी के पहले कांग्रेस का मन्त्री कांग्रेस के अध्यक्ष का निजी सहायक जैसा होता था, और उसका रहने का कमरा ही कांग्रेस के दफ़्तर का काम देता था। जवाहरलाल जी ने अपने महान् पिता पंडित मोतीलाल जी को प्रेरित किया कि वह इलाहाबाद के अपने पुराने मकान को कांग्रेस के कार्यालय के उपयोग के लिए दे दें, और 'आनन्द भवन' सच्चे अर्थों में 'स्वराज भवन' बन गया। भारतीय स्वतन्त्रता की क्रियात्मक लड़ाई के दौरान में देश के राजनीतिक जीवन को सूत्रबद्ध करने के लिए आदेश, निर्देश और प्रचार-साहित्य सब इसी दफ़्तर से निकलते रहे। कांग्रेस न केवल एक जीवित संगठन बल्कि साथ ही एक सुसंचालित, प्रभावशील पार्टी-यन्त्र बन गयी, जिसमें एक निश्चित उद्देश्य और एक सुस्पष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ने की, अपनी कार्यवाहियों को एक निश्चित दिशा की ओर ले जाने की प्रेरणा और चिन्तन-शक्ति थी। जवाहरलाल जी के मन्त्रित्व-काल में कांग्रेस संगठन दुनिया के सबसे शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण दलों में से एक बन गया। अपने निर्णयों के व्यापक प्रभाव-क्षेत्र और अनुयायियों की विशाल संख्या में वह अमरीका, रूस और ब्रितान के बड़े राजनीतिक दलों से मुक़ाबला कर सकती थी।

कांग्रेस संगठन की शक्ति, जवाहरलाल जी की व्यावहारिक बुद्धि का एक अच्छा उदाहरण है। लेकिन यहाँ भी उनकी निःस्वार्थ आदर्शवादिता एक क्षण को अलग नहीं हुई है। पंडित नेहरू ने अपने लगातार कठिन और अथक परि-

श्रम से एक विराट् पार्टी-यन्त्र का संगठन कर दिया, लेकिन स्वयं उनका अपना कोई दल नहीं। भारतीय या विदेशी, सभी बड़े नेताओं का एक दल या गुट रहता है जो हर अच्छे या आड़े वक़्त में उनका समर्थन करता है, वह चाहे सही हों या ग़लत। ऐसा निजी गुट पार्टी नेताओं के लिए विशेष आवश्यक समझा जाता है। लेकिन जवाहरलाल जी ने ऐसा कोई दल नहीं बनाया। यों उनके झुंड के झुंड प्रशंसक हैं। मगर उनका निःस्पृह और बौद्धिक आत्म-गौरव उन्हें गुट-बन्दी से दूर रखता है। कभी-कभी तो वह सर्वथा अकेले पड़ जाते हैं, एक भव्य अकेलापन जिसमें रूढ़ अर्थों में 'अनुयायी' कहलाने वाला कोई उनके साथ न हो।

जवाहरलाल जी की व्यावहारिक बुद्धि का प्रदर्शन दूसरे क्षेत्रों में भी भली भाँति होता है। हर महत्त्वपूर्ण मसले पर उनके दृढ़ और बहुत ही स्पष्ट विचार होते हैं चाहे वह मसला राजनीतिक हो, आर्थिक हो, सामाजिक हो, नैतिक हो या धार्मिक भी क्यों न हो। लेकिन जब जनहित के लिए काम करने का प्रश्न आता है, तो जो लोग उनके विचारों और आदर्शों से सहमत नहीं हैं उनके साथ भी काम करने से वे नहीं हिचकते। अपने साथियों के सामने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिए कोई बात बाक़ी न उठा रखेंगे, लेकिन अगर वह दूसरों का मत नहीं ही बदल सके तो अपने विचारों और दृष्टिकोण पर अड़े न रह कर, समान लक्ष्य के लिए उनके सहयोगी और मित्र जो कुछ निर्णय करेंगे उसी को वह ईमानदारी से पूरा करने में लग जायेंगे। इसी स्वस्थ समझौते की भावना के कारण वे उन लोगों के साथ भी निबाह ले जाते हैं जिनसे उनके राजनीतिक और सामाजिक आदर्शों में ज़मीन-आस्मान का फ़र्क़ है।

पंडित जी उस चरम कोटि की शान्तिवादिता में विश्वास नहीं करते थे जिस पर कभी-कभी गान्धी जी बहुत ज़ोर देते थे। लेकिन शायद ही किसी भारतीय ने इतनी ईमानदारी और लगन से गान्धी जी के आदर्शों का पालन किया होगा जितना पंडित जी ने किया है। उनके सामने कोई गान्धी जी के आदर्शों के विरुद्ध एक शब्द कहने की जुर्रत नहीं कर सकता। गान्धी जी ने यों ही नेहरू को अपना राजनीतिक उत्तराधिकारी नहीं माना था। विचार-परिपाटी के भेदों के बावजूद गान्धी जी जानते थे कि जवाहरलाल जी अकेले ऐसे हैं जो देश के राजनीतिक जीवन में उनके विचारों को कार्यरूप में परिणत कर सकेंगे।

गान्धी-अर्विन समझौते की शर्तों से जवाहरलाल जी को, जो उस समय कांग्रेस के अध्यक्ष थे, बहुत धक्का लगा। लगातार दो दिन तक वह गान्धी जी और कांग्रेस कार्यकारिणी से इन शर्तों की हीनता पर झगड़ते रहे। इन दो महत्त्व-पूर्ण दिनों में उनका हर मिनट मेज़ पर हाथ पटकते और दलीलें पेश करते बीत रहा था। यहाँ तक कि वायसराय को भी इस मतभेद का पता चल गया और उन्होंने गान्धी जी से इस सम्बन्ध में चिन्ता प्रकट की। लेकिन गान्धी जी ने उन्हें आश्वासन दिया कि यह केवल एक पारिवारिक मतभेद है जो अपने-आप सुलझ जायगा। जब गान्धी जी और कार्यकारिणी ने इस समझौते को स्वीकार कर लिया तो पंडित नेहरू ने उसे इतनी ईमानदारी से पूरा किया मानों वह उन्हींने प्रस्तुत किया हो। कराची अधिवेशन में राष्ट्र के सामने इस समझौते को स्वीकार कर लेने का प्रस्ताव उन्होंने बड़ी खुशी से और बहुत ज़ोरों से पेश किया।

पंडित जी द्वारा राष्ट्रीय मन्त्रिमंडल के नेतृत्व में भी यही उदारता और सहिष्णुता हमें मिलती है। वामपक्ष की ओर उनका झुकाव सर्वविदित है। यह भी सभी भली भाँति मानते हैं कि वह तहेदिल से साम्प्रदायिकता से नफ़रत करते हैं। लेकिन फिर भी उनकी सरकार में ऐसे लोग हैं जिन्हें पूँजीवादी हितों का प्रतिनिधि कहा जाता है या जिनकी राजनीति साम्प्रदायिकता से दूषित मानी जाती है। इस अन्तर की वजह से अफ़वाह उड़ाने वाले अक्सर मन्त्रि-मंडल में फूट पड़ने की निर्मूल, निराधार और स्वार्थ-प्रेरित अफ़वाहें फैलाते रहते हैं।

पंडित जी किसी मतवाद के ग़ुलाम नहीं हैं। भारतीय जनता का हित और अपने देश की प्रतिष्ठा और कीर्ति का विस्तार, यही उनका लक्ष्य है। इस लक्ष्य के लिए वाम या दक्षिण, जिधर से भी उन्हें समर्थन मिल सके, वह मुड़ने के लिए तैयार हैं। पंडित जी किसी से भी नाता तोड़ना नहीं जानते; अपने देश की भलाई के लिए वह किसी उचित सीमा तक झुकने को तैयार रहते हैं। उनकी स्वस्थ व्यवहार-बुद्धि हमेशा उन्हें सही रास्ता बता देती है।

बुद्धि का यह लचीलापन उनके शारीरिक नियन्त्रण में भी स्पष्ट झलकता है। वे अब साठ वर्ष के हैं। भार-तीय विश्वासों के अनुसार उनकी गिनती अब वृद्धों में होनी चाहिए। लेकिन अब भी उनकी चाल में एक अजब फुर्ती है। वह केवल एक नौजवान की तरह ही नहीं बल्कि स्कूली लड़के की तरह उल्लास और ताज़गी से इधर-उधर

उछलते फिरते हैं; उनको ज़िन्दगी से प्यार है, प्रकृति से प्यार है, सौन्दर्य से प्यार है। फूल और उपवन, पहाड़ियाँ और घाटियाँ, हिमाच्छादित पर्वत और विशाल उदधि, सितारे और बदलियाँ, इन सबों में उन्हें हमेशा ताज़गी और नयापन मिलता है। इनसे वह उतने ही सहजभाव से हिलमिल जाते हैं जितने से मोटे-मोटे ज्ञानकोषों और उलझी हुई फ़ाइलों के साथ। उनका अथक कौतूहल और कभी न पूरी होने वाली ज्ञान-पिपासा हर दिशा में अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हें प्रेरित करती रहती है। नर्तक की सी कुशलता से वह एक विषय से दूसरे विषय तक थिरकते चलते हैं और उनका चिरन्तन यौवन उन्हें बराबर स्फूर्ति देता रहता है।

कभी-कभी पंडित जी स्वयं अपने सहज उत्तेजित होने वाले स्वभाव की शिकायत करते हैं। लेकिन वे भूल जाते हैं कि वह अभी 'स्वर्गिक शैशव' से पूर्णतया नहीं निकल पाये हैं। बिल्कुल बच्चों की भाँति वे कुरूपता और बुराई के प्रति अधीर हो उठते हैं। प्रौढ़ वय ने उन्हें उदार और सहनशील बना दिया है, लेकिन सहज शारीरिक और मानसिक प्रवृत्तियों पर शिक्षा और सामाजिक आत्म-नियन्त्रण द्वारा सम्पूर्ण विजय धीरे-धीरे ही प्राप्त होती है।

अगर गान्धी जी से उनकी तुलना की जाय तो वह इसे अपने पवित्र गुरु का अपमान समझेंगे। वह बिल्कुल दूसरे साँचे में ढले हैं। लेकिन अगर हिन्दुस्तान में कोई है जो उन ऊँचाइयों तक हमें ले जा सकता है जहाँ गान्धी जी हमें ले जाना चाहते थे, तो वह जवाहरलाल ही हैं, जिनका दिल हमेशा तरोताज़ा और जवान रहता है और जिनकी प्रतिभा रोज़ नये ज्ञान और बुद्धि से अपने को समृद्ध करती जाती है।

मार्च १९४९
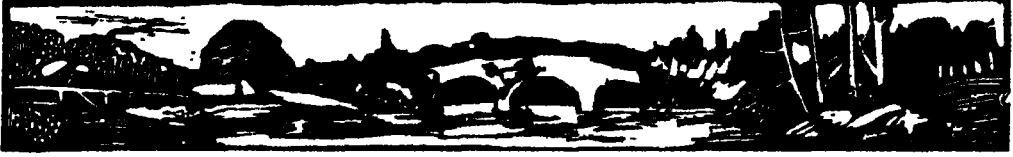
एक भारतीय हैमलेट

आर्थर मूर

हैरो स्कूल का एक गीत है जिसकी टेक बड़े हताश ढंग पर चलती है :

चालीस बरस उपरान्त, गये होंगे जब हम-तुम सभी बुढ़ा-से,
जब साँस उखड़ती होगी, स्मृति की काई भले रही हो जम;
जब थके क़दम होंगे, कन्धों के जोड़ जड़ित होंगे गठिया से;
तब क्या आयेगा काम बोध यह, 'कितने कभी बली थे हम ?'

किन्तु आज संसार पर चारों तरफ़ नज़र दौड़ाकर देखें, तो हैरो स्कूल के कुछ ऐसे पुराने विद्यार्थी मिलेंगे जिन्होंने स्कूल के बाद चालीस से कहीं अधिक बरस देखे हैं लेकिन जो गीत में उल्लिखित जड़ता के शिकार अभी तक नहीं बने। मिस्टर चर्चिल, मिस्टर एमरी, बम्बई के गवर्नर श्री महाराज सिंह, सब पिछली शती के नवें दशक में हैरो स्कूल में सहपाठी थे; और भारत के प्रधान मन्त्री ने इस शती के आरम्भ में स्कूल छोड़ा था। स्कूली गीत में गठिया का जो इलाज बताया गया है वह यह है कि रक्षा के लिए भी और आक्रमण के लिए भी निश्चित ध्येय हो, और जीवन के खेल को अन्त तक खेलते चलने की लगन बनी रहे।

सामने सुनिश्चित उद्देश्य, निष्कम्प धैर्य और दृढ़ कर्मशीलता, ये जवाहरलाल नेहरू में स्कूल के दिनों से ही हैं, और आज उनमें जो अदम्य स्फूर्ति दीखती है उसकी बुनियाद यही है। तीन वर्ष पहले उनमें थकान के लक्षण दीखते थे; आज इस गुरुतर भार को वह बड़े आत्मविश्वास के साथ वहन कर रहे हैं।

मेरी समझ में संघर्ष की सफल निष्पत्ति में ही इस नयी स्फूर्ति का रहस्य छिपा है। नेहरू ने अपने जीवन का अधिकांश अपने देश की स्वाधीनता के लिए एक दूसरे राष्ट्र से लड़ते हुए बिताया है, जिसके साथ अन्यथा उसे गहरी सहानुभूति थी। लड़ाई अचानक ही समाप्त हो गयी, और नेहरू न केवल अपने देश के लोकप्रिय विधाता बन गये वरन् अंग्रेज़ी शिक्षा-दीक्षा के कारण उत्पन्न हुए आन्तरिक संघर्ष से भी मुक्त हुए। वह एक अधिक भाग्यवान हैमलेट हैं, क्योंकि वह जान सके हैं कि उनकी यह धारणा, कि उनके पितरों में एक दूसरे की मृत्यु चाहता है, निर्मूल थी। इस आन्तरिक संघर्ष की यथार्थता की एक झाँकी उन्होंने अपनी आत्मकथा में दी है :

> "मैं चाहे जो करूँ, पर इंग्लैंड में स्कूल और कालेज के जीवन ने मेरी मनोगति को जो दिशा दी, दूसरे देशों को देखने और मापने के जो मानदंड दिये, उनसे छुटकारा नहीं पा सकता। राजनीतिक तल को छोड़ कर मेरा सारा झुकाव इंग्लैंड और अंग्रेज जाति की ओर है, और अगर मैं भारत में ब्रितानी साम्राज्य का कट्टर विरोधी हो गया हूँ तो अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के प्रतिकूल ही।"

आज प्रतिशोध और न्याय की लालसा उन पर हावी नहीं है, और न बार-बार सिर उठाने वाला हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य ही उनकी प्रगति को कुंठित कर रहा है। उनकी प्रतिभा आज निर्बाध रूप से उन रचनात्मक कर्त्तव्यों से जूझ रही है जो उनके सामने हैं। आज 'जिस काल की चूल उखड़ गयी है' उसे फिर से व्यवस्थित करना वह 'विषम अभिशाप' नहीं है जो हैमलेट के लिए था।

किन्तु फिर भी, आज विश्व के राजनीतिकों के बीच वह डेनमार्क के राजकुमार हैमलेट-से ही हैं। अन्तर्मुख किन्तु आत्माभिव्यक्ति में मुक्त; मिलनसार लेकिन मूलतः एकाकी और असंपृक्त; संगीतमय वाणी और कुशल लेखन-प्रतिभा से सम्पन्न; तीक्ष्ण बुद्धि और तेजस्वी स्वभाव वाले; जवाहरलाल जिसे सदुद्देश्य समझते हैं उसकी साधना में वह उतने

ही निर्मम हैं जितना हैमलेट था, जो अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध करने के लिए पागलपन का ढोंग रचने को और प्रेयसी ओफ़ीलिया, उसके पिता और भाई, और स्वयं अपनी माता की बलि देने को बेझिझक तैयार था।

जवाहरलाल नेहरू ने एकाधिक स्थलों पर अपनी शबीह उतारी है। एक जगह उन्होंने स्पष्ट कहा है कि वह स्वयं अपने लिए एक पहेली हैं :

"कभी-कभी तो मैं सोचता हूँ कि क्या मैं किसी का भी प्रतिनिधित्व करता हूँ। और इस परिणाम पर पहुँचता हूँ कि नहीं, यद्यपि मेरे प्रति उदार और सहानुभूतिपूर्ण भावनाएँ रखने वाले बहुत हैं। मैं पूर्व और पश्चिम की अजीब खिचड़ी बन गया हूँ। मेरा अपना स्थान कोई नहीं है और मैं सब जगह प्रवासी-सा अनुभव करता हूँ। मेरी विचार-धारा और जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण कदाचित् पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी ही अधिक है; लेकिन फिर भी असंख्य तन्तुओं से भारत ने मुझे बाँध रखा है, जैसा कि वह अपनी प्रत्येक सन्तान को बाँध रखता है। मेरे अवचेतन में कहीं पर ब्राह्मणों की सौ पीढ़ियों के—या कि जितनी भी पीढ़ियाँ रही हों!—संस्कारों की सामूहिक छाप है। मैं न तो उस पुरानी विरासत से और न अपने नये संग्रह से ही मुक्ति पा सकता हूँ। दोनों ही मेरे अंग हैं; और यद्यपि ये पूर्वी और पश्चिमी दोनों दुनियाओं में मेरी सहायता भी करते हैं, तथापि ये मुझ में न केवल राजनीतिक कार्य में बल्कि जीवन में ही एक एकाकीपन की भावना भी उत्पन्न करते हैं। पश्चिमी जगत् में तो मैं एक अजनबी, एक परदेशी हूँ; उसमें मैं घुल-मिल नहीं सकता। लेकिन अपने देश में भी कभी-कभी मुझे निर्वासन का-सा बोध होता है।"

किन्तु उन दिनों एकाकियों में एक अनिवार्य बन्धुत्व का भाव था, और 'इंग्लैंड रिटर्न्ड' समुदाय में पंडितजी जैसी भाव-धारा वाले अनेक थे। मुझे याद है कि बर्धमान के दिवंगत महाराजा ने बड़ी दर्दभरी भाषा में इन्हीं भावनाओं को व्यक्त किया था। किप्लिंग के टॉमलिनसन की भाँति वह भी अपने को 'दो दुनियाओं के बीच खोयी हुई आत्मा' सा महसूस करते थे :

'दो लोकों के बीच सनसनाता पवमान
नहीं लाता था कोई भी प्रत्युत्तर।'

एक समय जो बाधा जान पड़ता था, वही आज सिद्धि के युग में एक सहारा हो गया है। 'अपने किसी स्थान से वंचित और सब जगह प्रवासी' न रह कर आज वह 'सर्वत्र अपने ही घर में और प्रवासी कहीं भी नहीं' होने की स्थिति में आ गये हैं। जब सारा संसार कठिन और संकटपूर्ण संक्रान्तियों में से गुज़र रहा है, तब प्रधान मन्त्री और विदेश-मन्त्री के आसन पर इस हैमलेट को पाना भारत का सौभाग्य है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वह एक विश्वव्यापी संघ-राष्ट्र का उज्ज्वल स्वप्न देखते हैं। राष्ट्रीय क्षेत्र में साधारण जनता उनके दिमाग़ पर हावी है और निर्धनों की उन्हें सतत चिन्ता है।

पुरानी पीढ़ी का होने के कारण मैं पंडितजी के सम्मानित पिता के साथ, भारत की व्यवस्थापिका सभा में एक सहकर्मी के नाते, बन्धुत्व और एक घनिष्ठता स्थापित कर सका था, जिसका अवसर मुझे पुत्र के साथ नहीं मिला। किन्तु प्रतिभाशाली पुत्र के द्वारा दोनों के समान आदर्श की सम्प्राप्ति में यशस्वी उदार पिता पंडित मोतीलाल नेहरू के हार्दिक आनन्द को मैं कल्पना द्वारा आत्मसात् कर सकता हूँ।

मार्च १९४९

गुरु-चरणों में

नारायणदास रतनमल मलकानी

नागपुर में, एक स्त्री संस्था में, भाषण देते हुए मिस म्युरियल लेस्टर ने यह प्रश्न उठाया था कि 'बापू का आसन अब कौन ग्रहण करेगा ?' और स्वयं ही इसका बहुत सारगर्भित उत्तर दिया था : "कोई एक व्यक्ति नहीं, वरन् हम सभी।" ऐसे महामानव एक तो यों ही सहस्राब्दि में एक बार उत्पन्न होते हैं, तिस पर दुनिया इसकी व्यवस्था करती है कि उसका अपना युग चिरकाल तक उसकी उपेक्षा या अवमानना करता रहे। ऐसा तो कभी नहीं हुआ कि एक महामानव के पीछे ही दूसरा महामानव प्रकट होकर उसकी परम्परा को चलाये। यह गान्धीजी की ही अद्वितीय प्रतिभा थी कि उन्होंने अपने जीवन-काल में ही ऐसे इने-गिने व्यक्तियों को पहचान कर उन्हें अपना काम सौंप दिया जो कि उनका अनुसरण करने में दृढ़-निश्चय हैं—भले ही धीमी लड़खड़ाती गति से। और इनमें, मैं समझता हूँ कि, पंडित जवाहरलाल प्रमुख हैं।

जैसा कि अतीत में और कई महापुरुषों ने किया था, गान्धीजी ने भी जीवन के कई सत्यों को सूत्रबद्ध किया। लेकिन उनकी महत्ता इन सूत्रों की उद्भावना में उतनी नहीं थी जितनी इस बात में, कि उन्होंने इन सत्यों को और इनसे उत्पन्न होने वाले समूचे उत्तरदायित्व को एक बड़ी तेजी से बदलते हुए जगत् में भी व्यावहारिक रूप दिया और उन पर अमल किया। उनका सत्य निरा सैद्धान्तिक या शास्त्रीय सत्य नहीं रहा बल्कि प्रत्यक्ष आचार का सत्य बना। इसी खरी कसौटी पर हमें पंडित जवाहरलाल को भी परखना होगा। मैं नहीं समझता कि उन्होंने किन्हीं महान् सत्यों की निर्धारणा की है; मेरा मत है कि वह गम्भीर चिन्तक या दार्शनिक नहीं हैं। लेकिन उनमें साहस है, निष्ठा है, और वैज्ञानिक बुद्धि है। कांग्रेस और स्वयं बापू के प्रति उनकी अविचल निष्ठा वर्षों से प्रसिद्ध है। लेकिन कौन नहीं जानता कि बापू से बहुधा ही उनका मतभेद होता रहा ? यह तो सत्ता का सूत्र सँभालने के बाद की बात है कि उनको उस महान् व्यक्तित्व में अखंड शक्ति का प्रेरणास्रोत मिला। और बापू के देहावसान के बाद से ही जवाहरलाल उस स्वर में बोलने लगे हैं जो कि हमें बापू का स्मरण दिलाता है, और सब विघ्न-बाधा काटते हुए अपने दीक्षा-गुरु का पदानुसरण करने लगे हैं। मेरे हृदय में जवाहरलाल के प्रति श्रद्धा इस बात से नहीं उत्पन्न हुई कि वे गान्धीजी के गोलियों से बिंधे हुए शरीर पर सिसकियाँ भरते रहे या कि सायंकाल रेडियो पर भाषण देते हुए अवश हो उठे। बापू के बलिदान की याद से तो हमारे मन अभी तक भर आते हैं। किन्तु गान्धी का अभाव शायद ही किसी को जवारहलाल से अधिक खटका होगा; शायद ही कोई उनके बिना इतना मर्माहत और दु:ख-कातर होगा। फिर भी एक धीर पुरुष की तरह उन्होंने अपनी वेदना को सुदृढ़ कर्म में परिवर्तित कर लिया है, और इसके लिए स्वयं उनके गुरु गान्धी भी उनका अनुमोदन करते।

वर्षों से भारत में साम्प्रदायिकता की आग भीतर ही भीतर सुलगती रही। बापू की मृत्यु से साल भर पहले यह सहसा भड़क उठी और स्वयं बापू भी उसे शान्त न कर सके। कौन जाने, ईश्वर की यही इच्छा थी कि वह आग बापू के आँसू और पसीने से नहीं, लहू से ही मिटे ! लेकिन बापू का यह काम अधूरा ही रह गया था; उसे जवाहरलाल के आँसू नहीं तो पसीने ने पूरा किया है। ऐसा भी समय आया था जब हम में से बड़े-बड़े लड़खड़ा कर रह गये थे बल्कि मार्गभ्रष्ट भी किये जा रहे थे—एक सामूहिक उन्माद ने हमारी श्रेष्ठ मेधाओं को भी अन्धा कर दिया था। उसमें जवाहरलाल के ही निर्मल विवेक और निष्कम्प विश्वास ने हम पर छाये हुए अन्धकार को दूर किया। अगर बापू की मृत्यु के एक बरस बाद मुसलमान और पाकिस्तान के विषय में हम लोगों की भावनाएँ लगभग साधारण धरातल पर आयी हैं तो इसका श्रेय सबसे अधिक जवाहरलाल जी को ही है, और किसी को नहीं; यहाँ तक कि राजाजी को भी नहीं। एक शरणार्थी के नाते मैं जानता हूँ कि जवाहरलाल के बारे में हम लोगों को कितना कटु रोष रहा है, और आज भी

हमारी भावनाओं का शमन नहीं हुआ है। गान्धीजी ने अपने जीवन में इतना कुछ सम्पन्न किया लेकिन हिन्दू-मुस्लिम-एकता नहीं ला सके। जवाहरलालजी एकता नहीं तो कम-से-कम अद्वेष स्थापित कर रहे हैं।

हिन्दी और हिन्दुस्तानी का झगड़ा भी हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की ही एक शाखा है। गान्धीजी ने हमें सही रास्ता बताते हुए ही जीवन त्याग दिया; वह स्वयं सही रास्ते पर चलते रहे, यद्यपि मंजिल पर नहीं पहुँचे। वह इस समस्या का समाधान विवेकपूर्ण समझौते और पारस्परिकता में ही देखते थे। पाकिस्तान के जन्म, और उसके बाद के घटना-चक्र के कारण उनके समाधान का महत्त्व अब कम हो गया है। जवाहरलालजी अब राष्ट्रभाषा के प्रश्न को साम्प्रदायिक दुराग्रह के जंजाल से मुक्त करके विज्ञान और साहित्य के उच्चतर धरातल पर सुलझाना चाहते हैं। यह हमारा परम सौभाग्य है कि हमारे नेताओं में कम-से-कम एक अकेले उनके पास वैज्ञानिक आधुनिक बुद्धि है जो कि अतीत से भविष्य की ओर अधिक देखती है। और वह पूर्व की अपेक्षा पश्चिम की ओर देखने से भी झिझकते नहीं। वह स्वयं कलात्मक अभिरुचि के साहित्यिक व्यक्ति हैं, सुलेखक हैं, शायद अंग्रेजी पर उनका अधिकार और किसी भाषा की अपेक्षा अधिक हैं। वह जानते हैं कि भाषा ग्राह्य के अंगीकरण से ही बढ़ती है न कि तिरस्कार से। वह जानते हैं कि सौन्दर्य, साहित्यिक सौन्दर्य भी, तंग पोशाक में नहीं निखरता, फिर चाहे वह पोशाक कितनी ही शुद्ध स्वदेशी क्यों न हो। वह अवश्य सफल होंगे, क्योंकि वह हिन्दी-हिन्दुस्तानी के प्रश्न को एक सर्वमान्य राष्ट्रभाषा के उच्चतर धरातल पर ले गये हैं। उनकी इस सफलता में गान्धीजी की आत्मा को शान्ति के साथ आनन्द भी पहुँचेगा।

हम सभी जानते हैं कि महात्माजी की महत्ता इस बात में थी कि उनका एक निश्चित ध्येय था जिसकी साधना में उन्होंने अपने जीवन तक की आहुति दे दी। वह ध्येय था अहिंसा और सत्य की उपलब्धि। उनका सत्य-शोध भी वास्तव में ऐसे अहिंसक साधनों का शोध था जिसके द्वारा वह उद्देश्य प्राप्त किया जा सके जिसे वह ठीक या सच्चा मानते थे। गान्धीजी के सत्य का प्रयोग पहले-पहले दक्षिण अफ़ीका के 'तालस्ताय फ़ार्म' से आरम्भ हुआ था। मृत्यु के समय तक यह प्रयोग-क्षेत्र फैलकर समूचे भारत को और उसकी समस्याओं को व्याप्त कर गया था। अब यह जवाहरलाल की नियति जान पड़ती है कि वह गान्धी के सन्देश को संसार के युद्ध-रत देशों तक पहुँचावें और इसके लिए गान्धी-सिद्धान्त के प्रयोग-क्षेत्र को सारे संसार में फैला दें। जवाहरलाल हमारे वैदेशिक मन्त्री हैं और वैदेशिक सन्देशवाहक के पद के लिए तैयार हो रहे हैं। यह पद उनके उपयुक्त है। वह सुरूप हैं, कैम्ब्रिज में पढ़े हैं, संसार घूमे हैं, वैज्ञानिक दृष्टि रखते हैं, भारत के प्रधान मन्त्री हैं—और विश्व-शान्ति की स्थापना के उद्देश्य में गुरुचरणानुरागी हैं। स्वातन्त्र्य-प्राप्ति से पहले हमें उनकी अबीसीनिया, इस्पान, चीन और अन्य युद्ध-पीड़ित देशों की यात्राएँ बेतुकी और उनकी घोषणाएँ फ़ालतू जान पड़ती थीं। स्वयं बापू भी उनको मज़ाक़ में लेते थे। अब यह स्पष्ट हो गया है कि वे दिन हमारे इस महान् विश्व-दूत की तैयारी के दिन थे। आज उनके पास इस महत्त्वपूर्ण पद के लिए आवश्यक ज्ञान और आस्था दोनों हैं। ३ नवम्बर १९४८ को उन्होंने संयुक्त राष्ट्रों के खुले अधिवेशन में जो भाषण दिया वह असफल गोल-मेज़ कानफ़्रेन्स से पहले महात्माजी के भाषणों की टक्कर का है—बल्कि श्रोताओं में अधिक सम्मान और श्रद्धा की भावना को जगाता है। इस भाषण से जवाहरलाल संसार भर के सहृदय व्यक्तियों के हृदय में स्थान पा सके हैं। अणु-युग की कुहेलिका को उसने आँधी के झोंके की तरह दूर कर दिया। कश्मीर का युद्ध-विराम, जो जवाहरलालजी की ही प्रेरणा से हुआ, इस भाषण का क्रियात्मक अनुसरण था और उसने संसार में भारत का मान बढ़ाया। संयुक्त राष्ट्र-संगठन बर्लिन, फ़िलस्तीन और हिन्देशिया के मामले में असफल होकर पहले-पहल सफल होता हुआ दीखा। फल संयुक्त राष्ट्रों ने पाया, लेकिन पेड़ जवाहरलालजी ने ही रोपा था। दिल्ली में हिन्देशिया के प्रश्न पर जो अखिल एशिया-सम्मेलन हुआ, उसने एशिया को संसार के आगे खड़ा किया; लेकिन वह एशिया नेहरू के ही आह्वान पर एकत्र हुआ था। भारत द्वारा एशिया का नेतृत्व करने की बात फ़िज़ूल है; वास्तव में स्वतन्त्र भारत पड़ोसी देशों की स्वाधीनता की रक्षा, महद्गुरु गान्धी के सिखाये हुए शान्ति और सविनय अवज्ञा के साधनों से, कर रहा है। "हम यहाँ सम्मिलित हुए हैं तो किसी राष्ट्र के प्रति वैर की भावना लेकर नहीं बल्कि स्वाधीनता के व्यापक प्रसार के द्वारा शान्ति की रक्षा का यत्न करने के लिए. . . . इसलिए हम सही साधनों को अपनाये रहें और इस विश्वास पर दृढ़ रहें कि यही साधन अनिवार्यतः हमें सही साध्य तक पहुँचायेंगे।" क्या ये शब्द किसी ऐसे भारतीय के शब्द हैं जो कि एशिया के नेतृत्व की महत्त्वाकांक्षा रखता है, जो विश्व-व्यापी जोड़-तोड़ और सन्धि-विग्रह के सहारे सत्ता का स्वप्न देखता है? ये शब्द तो गुरुचरणावलम्बी एक

महान् और उदार आत्मा के उद्गार हैं। ये शब्द एक ऐसे वैदेशिक मन्त्री के हैं जो इस अति-वास्तववादी जगत् में साधारण वास्तववाद लाना चाहता है, जो संसार में सबसे पहले व्यावहारिक आदर्शवाद का अनुयायी है।

तो क्या जवाहरलालजी गान्धीवादी हैं, गान्धीजी के सभी उपदेशों का पालन करने वाले हैं? गान्धीजी का सच्चा अनुगामी तो एकमात्र गान्धीजी ही हो सकते थे। जवाहरलालजी गान्धीवादी नहीं हैं वरन् गांधीजी से स्नेह करने वाले एक व्यक्ति जिन्हें अब उनकी शिक्षा में श्रद्धा होने लगी है। अब तक जवाहरलालजी साम्यवादी (कम्युनिस्ट) नहीं हैं; उदार दली (लिबरल) न होते हुए भी उनकी विचारधारा उदार है। शिक्षा-दीक्षा और संस्कार से वह प्रजातन्त्रवादी हैं और जातीय, साम्प्रदायिक या राजनीतिक सब प्रकार के फ़ासिज़्म के घोर विरोधी हैं। वह समाजवादी दल के नेता हुए बिना हृदय से समाजवादी हैं। वह और चाहे जो हों या न हों, एक सजग बुद्धि और भावुक हृदय के महान् प्रगतिशील व्यक्ति अवश्य हैं। अभी तक उनमें महापुरुष के एक गुण की कमी थी—उनमें श्रद्धा न थी। लेकिन मैं समझता हूँ कि गान्धीजी के निधन के बाद से उनको श्रद्धा भी होने लगी है। इस प्रकार वह अब पहले की अपेक्षा गान्धी के निकटतर हैं। इस श्रद्धा का ही एक महत्त्वपूर्ण सूत्र यह है कि "सत्साध्य तक सत्साधन ले जा सकता है।" और अगर गुरु के निधन ने सत्य की यह महान् ज्योति जवाहरलालजी के लिए जगा दी है तो मानना होगा कि जवाहरलालजी के लिए उस महान् मानव आत्मा का आलोक अभी बुझा नहीं है। उस महान् व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा, और इस महान् सत्य के प्रति विश्वास रखते हुए हम प्रार्थना करें कि जवाहरलालजी में भारत को ही नहीं, सारे विश्व को शान्ति और समृद्धि के पथ पर आगे ले चलने की सामर्थ्य हो।

फ़रवरी १९४९

नेहरू और मध्यम मार्ग

स्टुअर्ट चेज़

मैंने सन् १९३१ में 'न्यू डील' (नयी पद्धति) नामक एक कृति, श्री रूज़वेल्ट द्वारा इस शब्द के व्यवहृत होने के पूर्व, लिखी थी। उस पुस्तक में मैंने लिखा था कि तीन आर्थिक मार्ग हैं जिनका आने वाले वर्षों में मानवता अनुगमन कर सकती है : वाम मार्ग, दक्षिण मार्ग और मध्यम मार्ग। मैंने आशा प्रकट की थी कि अत्यन्त स्पष्ट अथाह आर्थिक संकट में फँसा हुआ अमरीका सबसे अन्तिम मार्ग का अनुसरण करेगा, क्योंकि यदि अन्य दोनों में किसी का भी अनुसरण किया तो वह प्रजातन्त्र को खो देगा।

अब अठारह वर्ष पश्चात् सन् १९४९ में भी यही मार्ग है। श्री रूज़वेल्ट ने यही पक्ष स्वीकार किया, और श्री ट्रूमन भी यथाशक्ति उसी का अनुसरण कर रहे हैं। मार्क्विस चाइल्डस ने एक प्रसिद्ध ग्रन्थ में दिखाया था कि किस प्रकार अनेक वर्षों से स्वीडेन सफलतापूर्वक इस मार्ग पर चल रहा है और उसने उसे यूरोप में सर्वोच्च रहन-सहन का स्तर प्रदान किया है। ब्रितान ने सामान्य रूप से उसका अनुसरण किया है और आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैंड ने भी।

किन्तु मुसोलिनी और हिटलर इटली और जर्मनी को दक्षिण मार्ग पर ले गये जहाँ वे जापान और उसके युद्धप्रिय शासकों से मिल गये। इसी काल में, सन् १९१८ में, लेनिन के समय से रूस वाम मार्ग पर चलता रहा है। अब अन्य राष्ट्र भी उससे मिल रहे हैं—यद्यपि सब स्वेच्छा से नहीं।

द्वितीय महासमर में फैसिस्ट राज्यों की सैनिक हार से अब विकल्प केवल वाम तथा मध्य मार्ग के बीच सीमित है। किन्तु प्रतिक्रियावादी आशा से भरे अभी प्रतीक्षा कर रहे हैं; और हमें स्पेन में जनरल फ्रांको को तथा आर्जेंटिना में जनरल पेरों को नहीं भूलना चाहिए, न हमें जनरल देगॉल को ही भूलना चाहिए। दुर्भाग्यवश दक्षिण मार्ग का स्थायी रूप से त्याग नहीं किया गया है।

थोड़ी-सी भी दृढ़तापूर्वक यह भविष्यवाणी करना कदाचित् असमयोचित होगा कि बीसवीं शती के अवशिष्ट भाग में मानवता किस मार्ग का अनुसरण करेगी। किन्तु हम-जैसे जो मध्यम मार्ग के समर्थक हैं उनके लिए एशिया में एक नवीन समर्थक का उदय अत्यन्त उत्साह का विषय है। स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू पर समस्त संसार की दृष्टि है। संसार जानता है कि एशिया में प्रतिष्ठित आदर्श यूरोप या अमरीकाओं के आदर्शों से अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है। आधे से अधिक मानवता यहाँ निवास करती है।

तीनों मार्ग अभी भी हमारे सामने खुले हैं, किन्तु यह सन्तोष का विषय है कि प्रधान मन्त्री नेहरू ने शक्ति भर मध्यम मार्ग को अपनाना स्वीकार किया है। वह समस्त संसार को उस दिशा की ओर ले जाने वाली शक्ति सिद्ध हो सकते हैं। यही वह दिशा है जो हम दो अरब मनुष्यों को उस 'एक विश्व' की ओर ले जा सकती है जिसका सभी सद्भावनाओं वाले व्यक्ति स्वप्न देखते हैं और जिसके लिए प्रयास कर रहे हैं। यही वह मार्ग है जहाँ मैत्री और सद्भावना द्वेष और संकीर्णता से ऊपर उठ सकते हैं। द्वेष, असहिष्णुता और संकीर्णता पर विश्व-साम्राज्य की नींव नहीं खड़ी हो सकती।

शंकालु चिल्लाते हैं कि 'एक विश्व' का क्यों स्वप्न देखते हो? क्या नहीं जानते यह असम्भव है? किन्तु हिरोशिमा की हुतात्माएँ अपने मृत्युस्थानों में शान्त नहीं रह सकतीं। जहाँ कहीं भी मनुष्य जीवित हैं, वे चक्कर लगाती हैं। वे कहती हैं कि हमें 'एक विश्व' का मार्ग खोजना चाहिए, और समय अधिक नहीं है। वे कहती हैं कि अब हम अणु-युग के पाँचवें वर्ष में हैं और हमें शीघ्रता करनी चाहिए।

यह मध्यम मार्ग है क्या? अभेद्य 'लौह आवरण' के पश्चिम के देशों ने उसको 'तृतीय शक्ति' का नाम देना प्रारम्भ कर दिया है। इस शक्ति और पक्ष की प्रधान विशेषताएँ क्या हैं? मैं उसकी प्राथमिक परिभाषा देने का

यत्न करूँगा। अन्य संस्कृति के विद्यार्थी उसका कुछ भिन्न रूप से निर्धारण कर सकते हैं किन्तु मेरा विचार है कि प्रमुख रूपरेखा से हम सहमत होंगे।

मध्यम मार्गगामी समाज निम्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए यत्नशील होता है :

(१) एक शक्तिशाली सरकार हो जो असाधारण परिस्थितियों में क्षिप्र गति से कार्य करने को उद्यत रहे।

(२) किन्तु ऐसी सरकार जो यथा-सम्भव जनता के प्रति उत्तरदायी हो। जनता उसे नियुक्त करेगी, और उसके अयोग्य सिद्ध होने पर उचित वैधानिक उपायों से उसे पदच्युत कर सकेगी।

(३) स्वतन्त्र निर्वाचन तथा कुछ मौलिक स्वतन्त्रताएँ सुरक्षित रहें : पेशा या व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता, अपने इच्छानुकूल साधन चुनने का स्वातन्त्र्य, विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता, प्रेस की स्वतन्त्रता, धर्म-पालन की स्वतन्त्रता, शरीर की स्वतन्त्रता और निःशुल्क न्याय, इनमें आते हैं। यदि इनमें से कोई एक या अधिक स्वतन्त्रताएँ उस समाज या संस्कृति में नहीं हैं तो समाज उन्हें लाने का प्रयत्न करेगा।

(४) समाज 'मनुष्य पहिले और धन तथा सम्पत्ति पीछे' के सामान्य सिद्धान्त को माने, उसका प्रथम कर्त्तव्य ही अपने सब सामाजिकों की रक्षा, सुख-सुविधा की व्यवस्था हो। अब इसके लिए जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है वह है 'हितचिन्तक राज' (वेल्फ़ेयर स्टेट)। ऐसा राज्य धनियों की भर्त्सना नहीं करता, यह दृढ़ता से ऐसी व्यवस्था करता है कि धनी वर्ग सम्पूर्ण समाज की आर्थिक सुरक्षा में बाधक न होने पावे। ऐसी शासन-व्यवस्था व्यापारी वर्ग की रक्षा तब तक करती है जब तक वह उचित मूल्य पर जनता की आवश्यकताओं के लिए सामान उत्पन्न करता है। स्वीडेन उसका उत्तम उदाहरण है।

(५) मध्यम मार्गी समाज अर्थशास्त्र की दृष्टि से यथार्थवादी समाज है। वह टूटती हुई संस्थाओं और सार्वजनिक सेवा-संगठनों के परिष्कार या उद्धार में विश्वास रखता है, केवल सैद्धान्तिक कारणों से एकाएक संस्थाओं के परिवर्त्तन में नहीं विश्वास करता। भिन्न आदर्शों के कारण वह समाज को पीड़ित करने में विश्वास नहीं करता। ऐसा समाज ऐसे प्रधान उद्योग का, जिसे व्यक्तिगत पूँजी संचालित करने में असमर्थ है, राष्ट्रीयकरण करने में संकोच न करेगा; किन्तु केवल राष्ट्रीयकरण के सिद्धान्त के लिए ही उद्योगों का राष्ट्रीयकरण न करेगा। उसके सामने प्रश्न यह नहीं है कि 'मार्क्स ने क्या करने को कहा है ?' अपितु यह है कि 'इन कोयलों की खानों के सम्बन्ध में हम क्या करेंगे ?' या कि "उपयुक्त चिकित्सा की सुविधा से रहित इन अस्वस्थ शिशुओं के लिए हम क्या करेंगे ?"

(६) अन्त में, जो समाज मध्यम मार्गानुगामी है वह वैज्ञानिकों तथा वैज्ञानिक रीतियों का आदर करता है। वह वैज्ञानिकों को निर्वासित करने का कभी दोषी न बनेगा जो रूस सरकार ने हाल ही में सन् १९४८ में किया है। वह पूर्ण सतर्क है कि मानवीय सम्बन्धों के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक रीति का प्रयोग ही अणु-युग को पागलपन से बचाने की सर्वोत्कृष्ट और कदाचित् अन्तिम आशा है। और भी, नृशास्त्र-विशारदों द्वारा निर्धारित संस्कृति की यह धारणा, विश्व के विभिन्न राष्ट्रों को एक दूसरे को परस्पर समझने और मिलकर 'एक विश्व' की स्थापना के लिए कार्य करने की प्रेरणा देने वाला कदाचित् सबसे प्रबल यन्त्र है।

मैं आशा करता हूँ कि इस मध्यम मार्ग पर पंडित जवाहरलाल नेहरू हमें आगे बढ़ाते ले चल सकेंगे। नायकों के बिना हमारा निस्तार नहीं। और नायक हमें ऐसे चाहिए जो धीर और विवेकी हों, और उन अश्वारोही दस्युओं का सामना करने में दृढ़ और समर्थ हों जो कि दायें भी और बायें भी तलवारें झनझनाते और मारकाट करते चलते हैं।

मार्च १९४९

स्वतन्त्रता-युद्ध का अनुभवी सिपाही

कमलादेवी चट्टोपाध्याय

पंडित जवाहरलाल नेहरू आज विश्व की सबसे महान् विभूतियों में से एक हैं। राजनीतिकों तथा राष्ट्रनिर्माताओं में उन्हें उच्च स्थान प्राप्त है। जिस असाधारण ढंग से उन्हें यह स्थान प्राप्त हुआ उसे जानना आवश्यक भी है और रोचक भी। इससे एक प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भारत की स्थिति का पता लगता है।

विश्व-राजनीति में व्यक्तियों को इसलिए महत्त्व प्राप्त होता है कि जिन देशों का वे प्रतिनिधित्व करते हैं उन देशों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विशेष प्रभाव या शक्ति होती है। ऐसे व्यक्ति इसलिए प्रभाव रखते हैं कि उनके देशों ने आर्थिक या राजनीतिक अथवा दोनों प्रकार का प्रभुत्व जमा रखा है और उनका प्रत्येक क़दम लाखों या करोड़ों लोगों के भाग्य पर गहरा प्रभाव रखता है। किन्तु गान्धीजी ने एक नये प्रकार के व्यक्तित्व, एक नये प्रभाव, एक नये कर्म का श्रीगणेश किया जिसका प्रभाव इतना ही था किन्तु जिसकी शक्ति एक दूसरी कोटि की थी। उन्होंने एक ऐसा नेतृत्व प्रदान किया जिसके अनुयायी और प्रशंसक सारे संसार में हुए, मगर जिसका आधार मूलतः भिन्न था। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने उनके पद-चिह्नों का अनुसरण किया। गान्धी तथा नेहरू हिन्द के स्वतन्त्र होने के बहुत पहले ही विश्व के प्रतिष्ठित नेताओं में गिने जाने लगे थे, बल्कि जब स्वतन्त्रता अभी धुँधले क्षितिज पर टिमटिमाते एक स्वप्निल तारे के समान थी। कहा जा सकता है कि गान्धी का नेतृत्व विश्व की नैतिक चेतना का प्रतीक था। इस नेतृत्व ने न केवल एक ऐसा दृष्टिकोण विकसित किया जो मनुष्य द्वारा निर्मित संसार की संकीर्ण तथा युक्तिहीन सीमाओं से परे देखता है, बल्कि इसने अधिक विस्तृत क्षेत्र तथा उच्चतर स्तर पर कार्य किया। इसका ऊँचा आदर्शवाद मंचों तथा वैदेशिक विभागों द्वारा प्रचारित कोरी औपचारिक बातों में सीमित नहीं किया जा सकता था। यह तो मानव-जाति के दैनन्दिन जीवन को अनुप्राणित और प्रेरित करनेवाला था। इस आदर्शवाद में प्रत्येक मानवहृदय को झंकृत कर देनेवाला सन्देश था जो उन हृदयों से तत्काल प्रतिध्वनित हुआ। यह कोई दूर का निरर्थक स्वप्न न था, बल्कि एक तात्कालिक अनुभूति। यह नेतृत्व सचाई, ईमानदारी तथा नैतिक आचरण की उन उच्चतर और महत्तर मानवीय मान्यताओं पर आधारित है जो स्थायी महत्त्व रखती है। अत्याचार, अन्याय और बल-प्रयोग के विरुद्ध संघर्ष की जिस नयी पद्धति को गान्धी जी ने शुरू किया उससे मानवता को साँस लेने के लिए एक नया वातावरण मिला। सत्याग्रह ऐसा अस्त्र था जिसका उपयोग साधारण जन बड़ी से बड़ी शक्ति के सामने कर सकता था। यह स्वाभाविक था कि इसका महत्त्व विश्व-व्यापक हो जाय। इसकी सरलता, गतिशीलता और शक्ति परीक्षा में खरी उतरी। इस नेतृत्व ने भारतीय संघर्ष को विश्वसाम्राज्यवाद का विरोध करनेवाले विशालतर औपनिवेशिक संघर्ष के साथ मिला दिया, उसे राष्ट्रीयता के संकुचित दायरे से बाहर निकाल कर मानवता के विस्तृत क्षेत्र में ला पहुँचाया। सरिता ने सागर का रूप ग्रहण किया।

पंडित नेहरू के व्यक्तित्व को हमें इसी भूमिका में देखना चाहिए, नहीं तो हम उनकी अतुलनीय विशेषताओं को नहीं समझ सकते। अब ज़रा हम उनके निजी रूप को भी देखें, क्योंकि निस्सन्देह वह केवल हिन्द के नहीं बल्कि संसार के सबसे रोचक व्यक्तियों में हैं। असाधारण सम्पन्न परिवार में जन्म लेकर भी साधारण जन के लिए अथक परिश्रम करना स्वयं एक ऐसी बात है जिसकी ओर बरबस ध्यान आकृष्ट हो ही जाता है। उनका जन्म किसी अत्यन्त शुभ मुहूर्त में हुआ, उन्हें किसी बात का अभाव नहीं है, यहाँ तक कि अनन्त तरुणाई भी, जो हमारे देश में सर्वथा दुर्लभ है, उनमें प्रचुर मात्रा में विद्यमान है।

अपनी शान-शौक़त से सभी को चकाचौंध कर देनेवाले भव्य आनन्द-भवन में बचपन बिताने के बाद उन्होंने इँगलैंड के एक पब्लिक स्कूल में प्रारम्भ करके ख्यातनामा केम्ब्रिज विश्वविद्यालय तक शिक्षा पायी। इस प्रकार जीवन को वे सब सुविधाएँ, जिन्हें लोग चाहते हैं और जिनके लिए ईर्ष्या करते हैं, उन्हें अनायास मिल गयीं। ये परिस्थितियाँ सर्व-सुलभ तो

नहीं, पर ऐसी अभूतपूर्व भी नहीं हैं, तथापि ईटन के मैदानों में खेलनेवाला, या हैरो का प्रतिनिधित्व करने वाला अथवा केम्ब्रिज के ऐतिहासिक गलियारों में चहलक़दमी करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति जवाहरलाल नहीं बन जाता। कालेज के दिनों के उनके अनेक साथियों ने कहा है, हम सदैव महसूस करते थे कि वे कुछ होकर रहेंगे उनमें कुछ असाधारण प्रतिभा थी।

कितने ही होनहार बच्चों का दुर्भाग्य होता है कि वे पुष्ट व्यक्तित्व वाले पिता की छाया में अपनी प्रतिभा खो बैठते हैं। किन्तु जवाहरलाल एक महत्त्वपूर्ण अपवाद हैं। पंडित मोतीलाल नेहरू के विशाल व्यक्तित्व के बावजूद जवाहरलाल ने विश्व में अपने लिए एक विशेष स्थान बना लिया और दुनिया पर अपने व्यक्तित्व की पूरी छाप डाली है। पिता का असीम प्यार तथा माता का लाड़-दुलार पाकर भी वह बिगड़े नहीं। केवल ऊपरी तौर से देखने वाले आलोचक कह सकते हैं कि उनकी भावी प्रसिद्धि उनके पिता, कुल और परिस्थिति के कारण है। किन्तु उनके जीवन का अध्ययन करने से या उनके व्यक्तिगत परिचय में आने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन सुविधाओं के बिना भी जवाहरलाल वही जवाहर बनते जो आज हैं, भारत के उत्कृष्ट रत्नों तथा विश्व के महान् नेताओं में से एक।

उनके आसपास के वातावरण से जैसा प्रभाव पड़ता है, वास्तव में जवाहरलाल का डील डौल उतना विशाल नहीं है। उनसे मिलने पर सर्व प्रथम उनकी अदम्य तथा पराभूत करने वाली शक्ति की छाप पड़ती है। प्रारम्भ में तो मिलने वाले उनके कुछ तटस्थ तथा चुनौती-सी देनेवाले व्यवहार से कुछ घबड़ा-सा जाता है। कभी कभी वह कुछ ऐसे गर्वीले ढंग से मुँह ऊँचा किये रहते हैं कि दर्शक को अत्यधिक बुरा लगे या फिर उसमें हीन भाव पैदा हो जाय। किन्तु यह कटु भावना अधिक देर तक नहीं ठहर सकती। शीघ्र ही अनजाने ऐसा भास होने लगता है कि जिस चट्टान को हम तोड़ने का इरादा रखते थे उसके सम्मुख हमने आत्म-समर्पण कर दिया है। उनसे कोई सहमत हो या न हो, उनकी उपेक्षा कोई नहीं कर सकता।

उनकी आँखों की खोयी हुई-सी दृष्टि अकथित स्वप्नों का परिचय देती है। एक समय रहा होगा जब उस सधे हुए चेहरे पर मुस्कराहट अधिक खेलती होगी, वे दबे हुए ओठ अधिक कोमल रेखाओं में परिवर्तित हो जाते होंगे, और उन कठोर प्रतीत होनेवाली आँखों में अधिक कोमल प्रकाश नाचता होगा। पर आज तो स्वप्न-दर्शी आत्मा के परिचायक उनके सुघड़ कोमल अवयव भीषण संघर्ष की कठोर छाप से रूखे हो गये हैं। एक राष्ट्र के जन्म की तीव्र वेदना में सशक्त भाग लेने वालों पर ऐसी छाप पड़ना अनिवार्य है।

शायद जवाहरलाल के मानवी पहलू को देखने का सौभाग्य कुछ ही लोगों को प्राप्त हुआ है। किसी बच्चे का साथ देते हुए घुटनों के बल चलते, शिशुओं के साथ लुकाछिपी का खेल खेलते अथवा अपनी पीठ पर किसी बालक को लादे बच्चों के झूठ-मूठ के जुलूस का नेतृत्व करते उन्हें थोड़े लोगों ने देखा होगा। यह सब देखने पर एक नये व्यक्तित्व का परिचय मिलता है मानो हम भीतरी जवाहर को देख रहे हों। हममें से बहुत-से लोग महान् व्यक्तियों को संस्थाओं के रूप में देखते हैं। उन्हें हम इस प्रकार देखते हैं, जैसे कोई खिड़की से झाँक कर कमरे के भीतर देखे, एक सरसरी नज़र दौड़ाये और बढ़ जाय। इस प्रकार भीतर का वास्तविक व्यक्ति छिपा रह जाता है; उसे हम पहिचान ही नहीं पाते। व्यक्ति को जानना असल में उसके मानवी पहलू को जानना है; उसके अव्यक्त विचारों को, उसके मनोभावों की गहराई को, उसके स्वप्नों के प्रस्फुटन को, उसके सहज व्यवहार को, उसके साधारण जीवन को देखें और जानें। यह सम्पूर्ण पृष्ठभूमि ही वास्तविक व्यक्ति को प्रकट करती है। नेतागिरी की ऊपरी टीमटाम नहीं।

राजनीति के क्षेत्र में पंडित नेहरू की देन का विश्लेषण उस भारतीय परिस्थिति के सन्दर्भ में ही होना चाहिए जिसमें उनके सिद्धान्त विकसित हुए। समस्याओं को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने तथा उनका सूक्ष्म विश्लेषण करने का अभ्यास उन्होंने पहिले कर लिया था, और इन दो महत्त्वपूर्ण और प्रेरणादायक गुणों का उन्होंने भारतीय राजनीतिक विचार-परम्परा पर आरोप किया। गान्धीजी के भावनात्मक मानववाद का उन्होंने स्पष्ट निरूपण किया और गान्धीवाद की विशाल विभूति को तराशकर उसे एक निर्दिष्ट रूपाकार दिया। इस अणुयुग के शिक्षित नवयुवकों के लिए उन्होंने उन्हीं की भाषा और शब्दावली में अपने नेता के विशुद्ध तथा स्वच्छ विचारों की व्याख्या की। अभी तक किसी भी शब्द-कोष में न मिलने वाली गान्धीवाद की मौलिक परिभाषाओं को उन्होंने वैज्ञानिक भाषा में निरूपित किया। सम्भव था कि 'सत्य' तथा 'रामराज्य' ऐसे रूढ़ शब्दों को गान्धीवाद के सन्दर्भ ने जो नयी गतिशीलता दी, वह समाप्त ही हो जाती, अगर नेहरू इन्हें मानवी निष्ठा तथा नवीन सामाजिक व्यवस्था का पर्यायत्व न दे देते।

भारतीय राजनीति में जिस तरह गान्धी के आविर्भाव से एक नया युग आरम्भ होता है, उसी प्रकार नेहरू का आगमन एक नये काल का संकेत करता है। गान्धीजी द्वारा प्रतिपादित नवीन समाज-दर्शन को नेहरू ने नया रंग दिया; गान्धीवादी विचार-धारणा को उन्होंने समाजवादी रूप दिया। आज भारतीय समाजवाद की विचारधारा के विकास में अगर गान्धीवाद के सिद्धान्तों या गान्धीजी के ही शब्दों में सत्यों के साथ 'मार्क्सीय पद्धतियों' का सुन्दर योग मिलता है तो उसका काफ़ी श्रेय नेहरू के राजनीतिक प्रभाव को है। वास्तविकताओं के प्रति निरन्तर सजग रहते हुए सोच समझ कर नवीन विचारधाराओं को स्वीकार करने की तत्परता ने उन्हें किसी व्यक्ति या विचारधारा का अन्ध भक्त नहीं बनने दिया। उनकी तीक्ष्ण मेधा जान सकी कि गान्धीवाद की गतिशीलता न केवल भारतीय संघर्ष के लिए बल्कि सभी औपनिवेशिक संघर्षों के लिए, और सारी संघर्ष-रत मानवता के लिए विशेष रूप से उपयोगी है। वर्तमान भारतीय समाजवाद में आदर्शवाद तथा नैतिक आचरण की ओर लक्ष्य की प्राप्ति में साधनों की शुद्धि को जो स्थान मिला है वह इसी श्लाघ्य समन्वय का प्रमाण है। नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना में इस समन्वय की देन बहुमूल्य है। दृष्टिकोण के इस परिवर्तन का—नये पात्रों में बहुमूल्य प्राचीन मधु भरने का अधिकांश श्रेय नेहरू को ही है।

नेहरू आज एक प्रकार से पराधीन जातियों के आन्दोलनों से जन्म लेती हुई नयी दुनिया के केन्द्र बन गये हैं। एक नया मार्ग खोजने में नेतृत्व प्रदान करने के लिए, सामाजिक आचरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों के नये मानदंड स्थापित करने के लिए, आज केवल एशिया ही नहीं बल्कि विश्व के सभी उत्पीड़ित और शोषित लोग उन पर आस लगाये बैठे हैं। निस्सन्देह भारत का प्रधान मंत्री होने के कारण भी नेहरू का स्थान महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भारत एक बड़ा और शक्तिशाली देश है। किन्तु उनके नेतृत्व का आधार इससे बड़ा है। उसका आधार वह आकार तथा व्यावहारिक रूप है जो उन्होंने गान्धीजी के मानव-हितवाद को दिया। इथियोपिया पर आक्रमण होते ही उन्होंने उस देश की जनता के साथ भारतवासियों की पूरी सहानुभूति घोषित की, चीन को स्वयं-सेवी चिकित्सक-दल भेजने का उन्होंने पूर्ण रूप से समर्थन किया और उस काम में बड़ी सहायता की; जब चीन जापानी आक्रमण का शिकार हुआ तो उन्होंने जापानी माल का बहिष्कार किया; इस्पानी गृहयुद्ध के ज़माने में वे स्वयं वहाँ गये और वहाँ के लोकतन्त्रवादी दल के समर्थन में उन्होंने आन्दोलन भी किया। इस प्रकार के कार्यों ने उन्हें संकीर्ण सीमाओं से परे मानव की स्वतन्त्रता की अभिलाषा का प्रतीक बना दिया है। अतः स्वाभाविक ही था कि हिन्देशिया पर डच-आक्रमण होने पर साम्राज्यवाद की इस चुनौती को वह तत्काल स्वीकार करते। एशिया के देशों में भारत ही इस स्थिति में था कि चुनौती स्वीकार कर सके, और नेहरू के नेतृत्व में भारत के आह्वान का एशिया के सभी देशों ने सत्वर उत्तर दिया। नेहरू द्वारा आयोजित हिन्देशिया-सम्मेलन में भाग लेनेवाले एशिया के नेताओं ने दिल्ली आते समय कहा, "हमारी नज़र उन पर इसलिए नहीं टिकी है कि वह भारत के प्रधान मंत्री हैं, बल्कि इसलिए कि हमें भरोसा है कि वह उचित मार्ग प्रदर्शन करेंगे।"

उनकी कीर्ति बिना पुरुषार्थ के नहीं फैली; उन्होंने जयलाभ व्यवस्थापिकाओं के निर्विघ्न वातावरण में नहीं किया, और न आनन्द भवन के मुलायम गद्दों पर ही बैठकर उन्होंने नाम पाया। वह तो अनेक युद्धों में तपकर निखरे हुए सैनिक हैं, और उनके शरीर पर युद्ध की चोटों के चिह्न हैं। लाठियों की मार उन्होंने सही है, लौह हथकड़ियाँ उन्होंने पहनी हैं और बार-बार कारागृह की सैर की है। नेताओं में कदाचित् ही कोई इतनी बड़ी अग्नि-परीक्षा से गुज़रा होगा। प्रायः लोगों के यह पूछने पर कि क्या वे वास्तव में प्रिंस आफ़ वेल्स के सहपाठी रहे, वह मज़ाक़ में कहते हैं कि शायद उनकी लोकप्रियता का कुछ श्रेय इस लोकश्रुति को भी मिलना चाहिए। किन्तु इसका उन हज़ारों ग्रामीणों के लिए क्या महत्त्व है जो उनके दर्शनों के लिए कड़ाके की सर्दी में सारी रात स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर जगकर ही काट देते हैं, चाहे वे देख सकें केवल उस गाड़ी ही को जिस पर पंडित नेहरू सफ़र करते हैं, क्योंकि ऐसा बहुधा होता है कि वे इंजिन के आगे के दीप्त प्रकाश, तथा जाती हुई गाड़ी के पिछले डिब्बे की लाल रोशनी के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख पाते। नहीं, वे उनका सम्मान करते हैं इसलिए कि वे नेहरू में एक बन्धु देखते हैं, अपने दुःख-सुख का एक सहभागी; एक ऐसा सखा जो उनके कष्ट-क्लेश की गहराई नाप सकेगा, और उनके सूने जीवन की व्यथा से सहानुभूति से द्रवित हो उठेगा।

नेहरू का व्यक्तित्व—एक सेतु

इक़बाल सिंह

मानवीय व्यक्तित्व की सीमाएँ केवल शारीरिक ही नहीं होतीं, मानसिक आध्यात्मिक और ऐतिहासिक भी होती हैं। शारीरिक सीमाओं को पहचानना और स्वीकार करना सहज है। दूसरी सूक्ष्मतर सीमाओं का पहचानना और स्वीकार करना कहीं अधिक कठिन है, किन्तु ये किसी तरह भी कम कड़ी और बाधित करने वाली नहीं हैं। इनका पहचानना कठिन इसी लिए है कि जिस संसार में हम रहना चाहते हैं, जिसमें हम कल्पना से मान लेते हैं कि हम रहते हैं, वह व्यक्ति-केन्द्रित संसार है। इसलिए मानव व्यक्ति का अहं अपने को असीम और अबाध मान लेता है, और उसका यह भ्रम इतना व्यापक और इतना गहरा है तथा उसकी छूत इतनी जल्दी लगती है। हम केवल अपने अहं को नहीं बल्कि अपने आत्मीय और प्रिय जनों के अहं को भी उतना ही असीम महत्त्व देते हैं। इस भ्रम से और दूसरी बहुत-सी भ्रान्तियों की एक लम्बी परम्परा उत्पन्न होती है जो कि एक विराट्, सर्वदा उपेक्षा-भरे और बहुधा विरोधी बाह्य जगत् में मानवीय आत्मविश्वास को क़ायम रखने के लिए कदाचित् आवश्यक है, लेकिन जो हमारे दृष्टिकोण को विकृत कर देती है और सम्यक् ज्ञान के लिए जो बोध होना चाहिए उसे नष्ट कर देती है। क्योंकि सम्यक् ज्ञान के लिए मानवीय व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि देश-काल-परिस्थिति की अपेक्षा में बँधा हुआ उसका रूप क्या है। ये सीमाएँ परिवर्तनशील हो सकती हैं, होती हैं; किन्तु विद्यमान हमेशा रहती हैं और उनसे छुटकारा नहीं हो सकता। जो महत्त्वपूर्ण या सार्थक है, वह किसी विशेष देश-काल और परिस्थिति के लिए ही वैसा है। एक व्यक्तित्व को उसकी उचित ऐतिहासिक परिवृति या सीमाओं से बाहर निकाल कर देखने का प्रयत्न उसके अर्थ और महत्त्व को विकृत करके देखना है। और जहाँ किसी समकालीन व्यक्ति का प्रश्न हो, वहाँ तो यह विकृति अपनी सीमा पर पहुँच जाती है।

पंडित जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व को समझने के लिए यह विचार प्रासंगिक है—विशेषकर ऐसे समय जब कि उनका व्यक्तित्व उस बिन्दु पर पहुँच गया है, जहाँ पर जा कर उनकी जैसी आश्चर्यजनक स्फूर्तिवाली और लम्बी जवानी भी अनिवार्यतः कुछ स्थिरता और गुरुता प्राप्त कर लेती है, और वैसे दायित्व अपने पर ले लेती है जो कि प्रायः बुज़ुर्ग राजनीतिकों के होते हैं। यह विचार इसलिए भी आवश्यक है कि आज पंडितजी के बारे में लिखते या बोलते समय भावुक होने की कोई आवश्यकता नहीं है; इस डर से सतर्क और सावधान होने की भी कोई आवश्यकता नहीं है कि अजनबी या विदेशी सुनने वाले या भेदिये बात का उलटा अर्थ न लगा लें। अब हम नेहरू को और दूसरे समकालीन महान् भारतीयों को निरपेक्ष दृष्टि से देखने के अधिकारी हैं। निरपेक्षता स्वाधीनता का एक अनिवार्य अधिकार है, या होना चाहिए; और जिस हद तक हम अपने निर्णय में निरपेक्ष होने का साहस करते हैं उसी हद तक भारत अपने ध्येय की ओर प्रगति कर सका है।

तो नेहरू को किस देश-काल और परिस्थिति का व्यक्ति मानना चाहिए? यह प्रश्न बहुतों को अनावश्यक ही नहीं, धृष्टतापूर्ण भी जान पड़ सकता है। क्योंकि लाखों व्यक्तियों के लिए नेहरू प्रमुख और अकाट्य रूप से आज के—*वर्तमान परिस्थिति और क्षण के—व्यक्ति हैं। आज भारत में सबसे अधिक चित्रित और प्रचारित मुखाकृति उन्हीं की है:* उनका चेहरा हम रोज़ एक से एक नयी भंगिमा में देखते हैं—चिन्तित और शान्त, उदास और प्रसन्न, झल्लाया हुआ और मुस्कराता हुआ। विदेशों में गान्धीजी की मृत्यु के बाद वही सबसे विश्रुत और आदृत भारतवासी हैं। इसमें तो सन्देह नहीं कि आधुनिक जगत् को भारत की बात समझाने में जितना हाथ उनका रहा है उतना किसी दूसरे व्यक्ति का नहीं रहा। यह सब है; किन्तु हमारा प्रश्न ज्यों का त्यों है: उसमें धृष्टता हो या न हो उसका उत्तर देना आवश्यक है।

यह प्रश्न ज्यों का त्यों इसलिए है कि इन नाना रूपों, कार्य-व्यस्तता की इन अनेक दिशाओं, इस सारी शक्ति और चमक-दमक में, जो आज जवाहरलाल के नाम के साथ जुड़ गयी है, कहीं कुछ सन्दिग्ध और अविश्वसनीय खटकता रहता
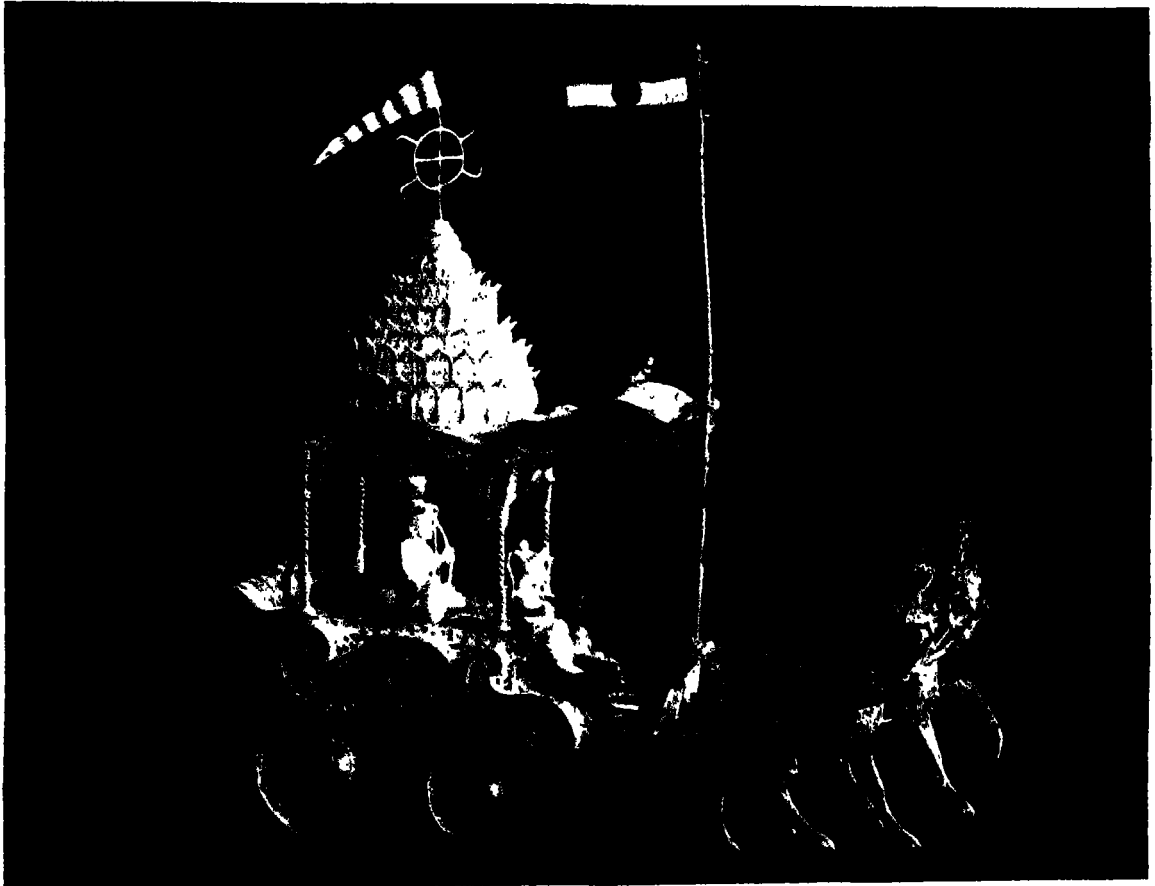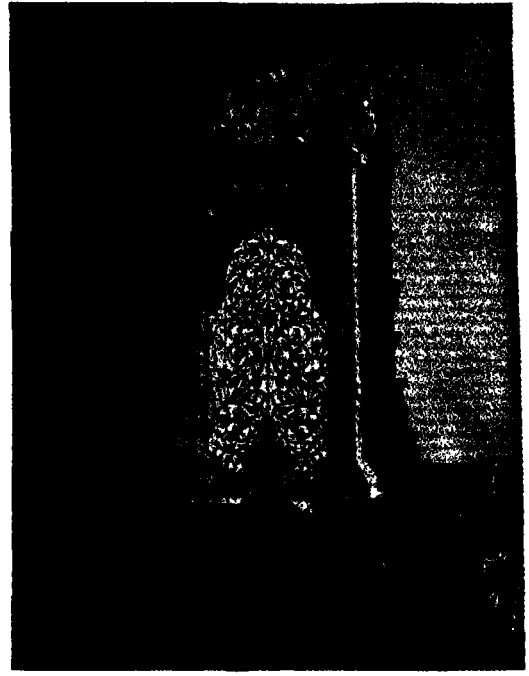
श्रद्धांजलियां

बम्बई, अहमदाबाद और कटक द्वारा भेंट की गयी ये मंजूषाएँ म्युनिसिपल संग्रहालय इलाहाबाद में संग्रहीत हैं।

फ़ोटो : श्री जी० पी० अगेल, म्युनिसिपल म्युज़ियम, इलाहाबाद के सौजन्य से

जवाहरलाल नेहरू के बायें हाथ का छापा

यह छापा प्रेमनारायण त्रिपाठी, जबलपुर, द्वारा लिया गया था ।

जवाहरलाल नेहरू के दाहिने हाथ का छापा

यह छापा प्रेमनारायण त्रिपाठी, जबलपुर ,द्वारा लिया गया था।
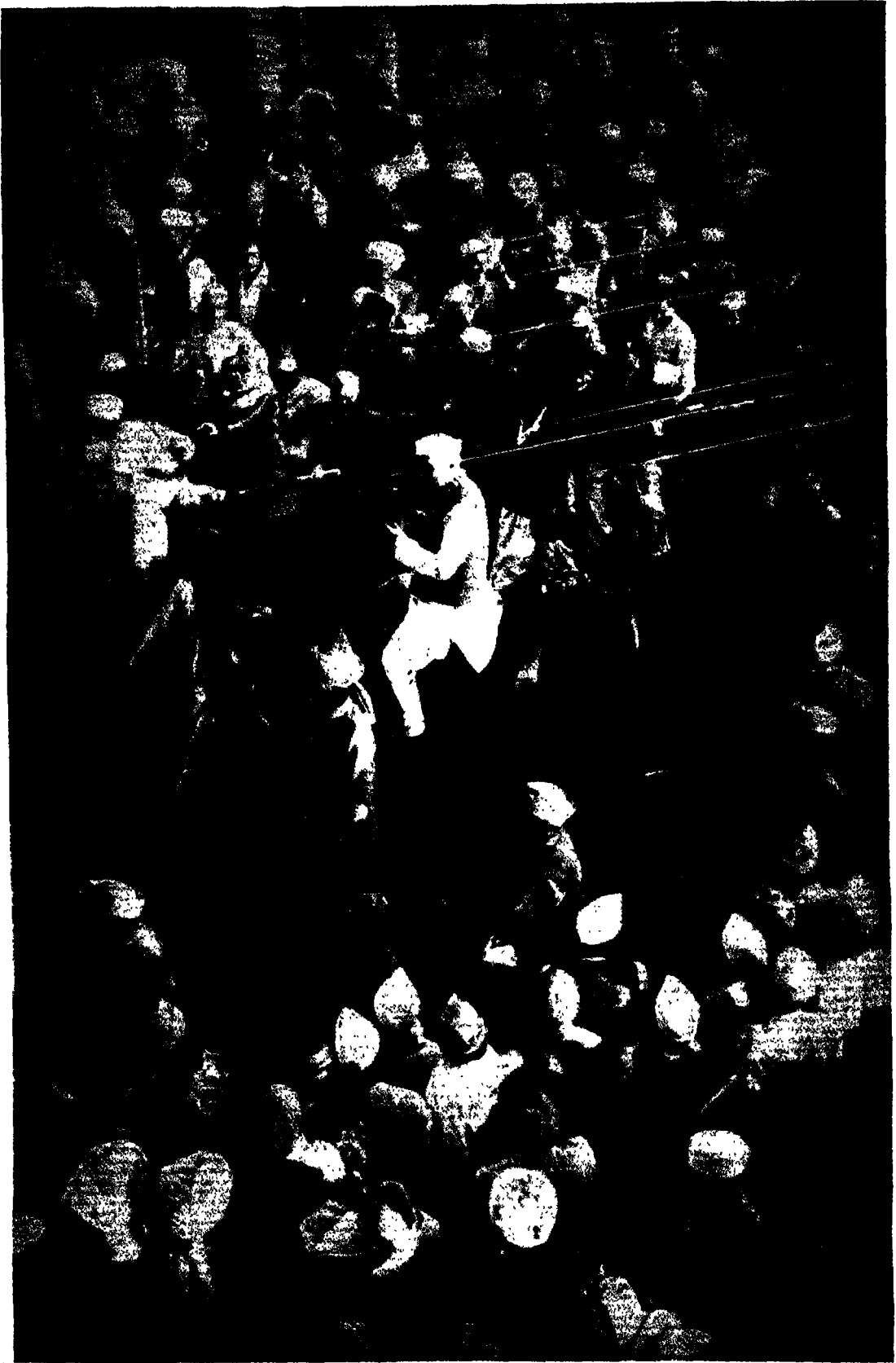
युक्तप्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन, मथुरा १९३६
अस्वारूढ़ सभापति जवाहरलाल नेहरू का जुलूस जा रहा है।

है। न जाने क्यों ऐसी भावना होती है कि जवाहरलालजी इन सब में नहीं हैं, या कि यह सब उनका नहीं है। मानो यह सब एक छाया है, एक माया-रूप है किसी ऐसी वास्तविकता का जो कि स्वयं किसी दूसरे क्षेत्र के किसी दूसरे क्षण के साथ बँधी है, जिसकी सार्थकता अनिवार्यतः किसी दूसरी परिस्थिति के साथ गुँथी हुई है। यह बात कदाचित् रहस्यवादी ढंग की हो गयी—कदाचित् सच्चाई यह है कि एक ही व्यक्ति-जीवन की सीमा में एक नहीं बल्कि कई पृथक्-पृथक् जीवन जिये जाते हैं और उन सब में तीव्रता और सोद्देश्यता का तल एक समान नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में जाँच करके वह विशेष पहलू खोजना पड़ता है जिसमें उसके जीवन का श्रेष्ठ अभिप्राय निहित है, जिसमें वह व्यक्तित्व वास्तव में अपनी अन्तःप्रकृति को अभिव्यक्त करता है, जिसमें अपने अस्तित्व की चरम सम्भावनाओं को निष्पन्न करता है। और निष्पत्ति के या सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के इस बिन्दु को खोज निकालना सदा आसान नहीं होता, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि यह व्यक्ति के जीवन के सबसे अधिक प्रभावोत्पादक काल में ही पाया जाय। जवाहरलालजी के जीवन में यह चरम सार्थकता का क्षण कौनसा है?

इस प्रश्न के अनेक उत्तर होंगे। यह उचित भी है कि अनेक उत्तर हों। किन्तु प्रस्तुत लेखक के लिए जवाहरलाल की चरम सार्थकता का युग लाहौर-कांग्रेस और अगस्त-क्रान्ति के बीच का युग है। इस युग के वर्षों पर जवाहरलाल की अमिट छाप है। इनसे आगे जाते ही अध्येता के मन को अनिश्चय सालता है; ; नाना शंकाएँ चित्त को उद्वेलित कर देती हैं; संशय और विवाद विश्वास को विचलित कर देते हैं। इनसे आगे—यह बात कहनी ही पड़ेगी—वह ज्योतिर्मय स्वप्न मानो टूटने लगता है। किन्तु उन १२ वर्षों को अनिश्चय, सन्देह, विवाद और मोह-भंग की साँस छू भी नहीं सकी है। यह असम्भव है कि इस काल की बात सोची जाय और नेहरू का ध्यान न हो आये। इस काल में उनका व्यक्तित्व निरन्तर विशालतर होता हुआ दीखता था, आशा और सम्भावनाओं के नये क्षितिज प्रकाशमान होते जाते थे। आज जवाहरलाल जहाँ पहुँच गये हैं तब वहाँ पहुँचे नहीं थे, लेकिन उनका मंजिल की ओर बढ़ने वाले यात्री का रूप ही उनका सबसे दिव्य और सच्चा रूप था।

यों तो उसके बाद भी उन्होंने जो कुछ किया है उसका अपना महत्त्व है ही। उसका आज ठीक-ठीक मूल्यांकन सम्भव नहीं है, क्योंकि हम उसके बहुत निकट हैं और उसे तटस्थ भाव से नहीं देख सकते। किन्तु ऐसा लगता है कि उस काम को और भी कई लोग कर सकते थे, उस चरित का निर्वाह और भी कई पात्र कर सकते थे—उतनी चारुता से नहीं तो भी कम से कम उतनी और कदाचित् अधिक दक्षता से। किन्तु उन दिनों जवाहरलालजी ने जो कुछ किया, जो कुछ कहा, उसे कोई दूसरा व्यक्ति उतनी तत्परता से, उतने आग्रह से और उतनी आकर्षक विश्वसनीयता से नहीं कर या कह सकता था। इस पर भी आश्चर्य यह है कि उनकी कही हुई बात या उनके किये हुए कर्म का उतना महत्त्व नहीं था, जितना उनकी निरी उपस्थिति का, इस बात का कि उस महान् संघर्ष में वह भी भागी हैं। उनकी उपस्थिति ही मानों एक साखी, एक प्रतिज्ञा थी—प्रतिज्ञा एक शब्दातीत परिभाषातीत कुछ की, लेकिन ऐसे कुछ की, जिसके बिना उस संघर्ष में वह उद्देश्य और अभिप्राय नहीं रह जाता जो कि उसमें रहा और देश को प्रेरित करता रहा।

व्यापक राजनीतिक आन्दोलन, जिनमें बहुसंख्यक मानव भाग लेते हैं, सर्वदा शुद्ध ध्येयों के पीछे नहीं चलते। उनकी गठन बहुत उलझी हुई होती है : अनेक प्रकार के लोग अनेक प्रकार के उद्देश्य और भावनाएँ लेकर उनमें सम्मिलित होते हैं। बिलकुल शुद्ध अन्तःकरण या कि कोमल आत्मा वाले लोगों के लिए वे उपयुक्त क्षेत्र नहीं हैं। भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन भी इसका अपवाद नहीं था। अपने उच्चतम धरातल पर भी वह लाग-लपेट, अवसरवाद, निष्ठा की कमी, विश्वासों का ढुलमुलपन, और उद्देश्यों में स्वार्थ की भावना से सर्वथा मुक्त नहीं था। किन्तु आशा के उन कई वर्षों में इन सब चीजों के पीछे एक स्वर्णमयी ज्वलन्त अंतःप्रेरणा थी, और प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता था कि नेहरू उस ज्वलन का प्रतीक हैं।

इतना ही नहीं। जवाहरलाल का आसन अद्वितीय था और अद्वितीय रहेगा। उनका स्थान प्रमुखतः भारतीय प्रबुद्ध-वर्ग के हृदय और मन में था। इसमें वह और सब से भिन्न थे, यद्यपि ये दूसरे भी महान् थे। उदाहरणतः गान्धी जी को ले लीजिए : उनमें एक विरोधाभास था कि वह एक साथ ही जनता से एकप्राण भी थे और हमसे बहुत पीछे भी थे। वह एक जीवन-विधि के, एक आदर्श के प्रवक्ता थे, जिसे कोई अपने इच्छानुसार स्वीकार या अस्वीकार कर

सकता था; लेकिन जो उनकी विधि और उनके आदर्श को स्वीकार करते थे उनके लिए भी गान्धीजी मानों एक पृथक् और बाहरी वस्तु—बल्कि एक दुर्लभ वस्तु थे। किन्तु प्रबुद्ध-वर्ग के लिए नेहरू को अपनाने में ऐसी कोई कठिनाई नहीं थी; उनके साथ दूरी या पार्थक्य का कोई प्रश्न नहीं था। मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टि से वह सर्वदा पहुँच के भीतर और सुलभ थे, क्योंकि एक बड़े गहरे अर्थ में वह हमारे अपने व्यक्तित्व का एक अंग थे। हममें से प्रत्येक पाता था कि उसने जो कुछ भी तीव्रता के साथ यद्यपि अस्पष्टतः अनुभव किया है, जो कुछ भी चाहा है, जो कुछ भी आशा-अभिलाषा की है वह सब जवाहरलालजी में मुखरित हुई है; यहाँ तक कि हमारे सन्देह और अनिश्चय भी उनके शब्दों में मूर्त हो उठे हैं। और मूर्त, मुखरित हो उठे हैं ऐसी भाषा में जिसमें सूक्ष्मता है, संवेदना है, प्रांजलता है, कभी-कभी तीखा दर्द भी है और सदैव सम्पूर्ण सार्थकता और व्यापकता है। पिछली चौथाई सदी में जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उनमें नेहरू की 'मेरी कहानी' ही के सबसे दीर्घजीवी होने की सम्भावना है। क्योंकि वह एक व्यक्ति की साखी नहीं है बल्कि एक समूची पीढ़ी की साखी है। जहाँ तक भारतीय प्रबुद्ध-वर्ग का प्रश्न है, उसका प्रतिनिधित्व इन वर्षों में किसी व्यक्ति ने उतनी सम्पूर्णता के साथ नहीं किया जितना कि नेहरू ने—और न कभी कर सकता है।

प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है इसलिए कि उसकी अवधि अब चुक गयी है; वह युग ही समाप्त हो गया है। वह युग, जिसमें प्रबुद्ध-वर्ग तद्वत् एक स्वतन्त्र शक्ति के रूप में घटना-चक्र को प्रभावित कर सकता था, बीत गया। अब एक दूसरा युग आया है और इसमें नये मैदान जीतने होंगे, जिन्हें प्रबुद्ध व्यक्ति नहीं, दूसरे जीतेंगे। भारत में—और अन्यत्र—मानव के एक नये भाग्य-नाटक के लिए रंगमंच तैयार हो रहा है; इसके पात्र व्यक्ति नहीं हैं, व्यक्ति से परे की शक्तियाँ हैं; एक ओर संगठित और सुरक्षित स्वार्थों और सत्ताधिकारों की हठीली शक्ति, और दूसरी ओर संसार के असंख्य निःस्व साधारण जनों की मौलिक आवश्यकताओं और मानवीय प्रतिष्ठा की माँगों का दबाव—उसी निःस्व जनता की, जिस की चर्चा स्वयं जवाहरलालजी ने गोरखपुर में अपने मुक़दमे में बयान देते समय की थी। इस महान् संघर्ष में संसार भर के प्रबुद्ध व्यक्तियों को पक्ष लेना ही पड़ेगा; इस वेगवती धारा के बीच में ऐसा कोई द्वीप नहीं है जहाँ कोई अलग हो कर बैठ सके। यह ऐतिहासिक मोर्चा केवल एक आलंकारिक कल्पना नहीं है, वास्तव में हर किसी को एक पक्ष चुनना है। जवाहरलालजी ने अपना पक्ष चुन लिया है। अब यह कामना अप्रासंगिक है कि उन्होंने दूसरा पक्ष चुना होता। हर किसी को निर्णय की स्वाधीनता है; इतिहास की प्रक्रिया इतनी स्वतन्त्रता का दायित्व व्यक्ति पर छोड़ देती है।

लेकिन असली महत्त्व की बात दूसरी है। वह यह है कि जो लोग उनसे भिन्न निर्णय करेंगे, उनसे भिन्न रास्ता चुनेंगे, उन्हें भी यह स्वीकार करना ही होगा कि उनका ऐसा कर सकना भी कम से कम अंशतः जवाहरलालजी के कारण ही सम्भव हुआ है। यह जवाहरलालजी का ही कर्म है कि हमारे सामने इतनी बातें स्पष्ट हुई हैं; निश्चय और अनिश्चय की इतनी अँधेरी गलियाँ आलोकित हो गयी हैं कि आज हमारे लिए यह सम्भव है कि हम यथार्थ को स्पष्टतया और विश्वास के साथ देख सकें और निर्णय करने की समस्या का निष्कम्प धैर्य के साथ सामना कर सकें। इतना ही नहीं; इससे अधिक भी। जिस तरह देश के विस्तार में खाइयाँ और दरारें होती हैं, उसी तरह काल के विस्तार में भी खाइयाँ-खड्ड होते हैं जिनको पार करने के लिए सेतु की आवश्यकता पड़ती है। नेहरू का व्यक्तित्व एक ऐसा ही सेतु है। वह दो युगों को, दो दुनियाओं को, जिनमें से एक मर चुकी है और एक अभी जन्म लेने को छटपटा रही है, मिलाता है और हमें उनके बीच की खाइयों को पार करने का मार्ग देता है। नेहरू आंशिक रूप से दोनों युगों के हैं और सम्पूर्णतया दोनों में से किसी के नहीं हैं। यह उनके आन्तरिक विभाजन का, उनकी मानसिक द्विधा का कारण है : इसी लिए उनका निर्णय ऐसा है जो कि हमारा नहीं हो सकता। लेकिन इस बात का महत्त्व नहीं है। महत्त्व इस बात का है कि उनके बिना इस खाई को पार करना दुस्तर होता, भविष्य की ओर हमारी प्रगति का मार्ग कहीं अधिक दुर्गम चढ़ाई का होता। इसी लिए, खाई के पार से भी, हमारे मन में उनके प्रति कृतज्ञता जाग्रत होती है; कृतज्ञता ही नहीं—बल्कि स्नेह भी।

मार्च १९४९

एक महान् मानववादी

जॉन सार्जेंट

जहाँ तक विश्व-राजनीतिज्ञ और भारतीय स्वतन्त्रता के समर्थक के रूप में पंडित जवाहरलाल नेहरू की सेवाओं का सम्बन्ध है, अन्य लोग अधिक ज्ञान तथा अधिकार से बात कर सकते हैं। किन्तु मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ कि मुझे यह अवसर मिला कि मैं पंडित नेहरू का एक महान् मानववादी के, तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री-भाव के पोषक के रूप में उन्हें अपनी सच्ची श्रद्धा अर्पित कर सकूँ।

अंग्रेजी भाषा पर उनका पूर्णाधिकार है और अंग्रेजी साहित्य तथा जीवन-प्रणाली में जो कुछ भी उत्कृष्ट है उसके प्रति उनका प्रेम है। इसका पर्याप्त प्रमाण हमें उनके भाषणों तथा लेखों में मिलता है। समय-समय पर उनसे बातचीत करने से मुझे यह भी मालूम है कि अंग्रेजी भाषा और साहित्य के अध्ययन में—और यहाँ मैं अध्ययन का गहरा और विस्तृत अर्थ ले रहा हूँ—उनकी जो दिलचस्पी है वह केवल संकेत-मात्र नहीं। उसका आधार तो उनका यह दृढ़ विश्वास है कि अतीत के अनेक राजनीतिक मतभेदों और वाद-विवाद की गर्मी में कही गयी बातों के बावजूद भारत तथा इँग्लैंड के प्रबुद्ध व्यक्ति कभी भी एक दूसरे के प्रति अपने ऋण को नहीं भूल सकते, और भविष्य में तो पारस्परिक गुण-ग्रहण तथा सौहार्द के स्तर पर उनका मिलना और अधिक आसान हो जायगा। इसके अतिरिक्त, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक सम्बन्धों की स्थापना पर वह जो बल देते हैं, और इसमें जो दिलचस्पी लेते हैं, उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण की आवश्यकता है तो वह पूर्ण रूप से उस स्वागत में मिल जाता है जो उन्होंने ब्रिटिश कौंसिल का किया, जिस संस्था से मैं भी सम्बद्ध हूँ।

अपने देशों के विगत सम्बन्ध के उज्ज्वल पक्ष की ओर संकेत करते हुए—और उसमें सब-कुछ अनुज्ज्वल तो किसी दशा में नहीं था, मैं अपने बहुत-से देशवासियों के साथ यह आशा कर रहा हूँ कि भारत के सौभाग्य ने जिस नयी व्यवस्था का सूत्रधार उन्हें बनाया है, उसमें जवाहरलालजी हमें यह सिखायेंगे कि नये सम्पर्कों और साधनों द्वारा उस उज्ज्वल पक्ष को किस प्रकार और भी पुष्ट और फलप्रद बनाया जा सकता है।

मार्च १९४९

महान् आदर्शों का निर्भीक समर्थक

सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

नेहरू निस्सन्देह संसार के महापुरुषों में से एक हैं। वह राजनीतिक नेता के नाते विख्यात हैं, परन्तु ऐसी ही ख्याति वाले अन्य कई देशवासियों की भाँति, राजनीतिक नेतापन से भी अधिक कुछ विशेषता उनमें है। अब तक उनका मुख्य कार्यक्षेत्र रहा है भारतीय जनता की राजनीतिक उन्नति, परन्तु वह तो उनके अपूर्व बहुमुखी और सम्पूर्ण व्यक्तित्व का एक अंग मात्र है। जो उन्हें निकट से जानते हैं वे उनकी व्यापक जिज्ञासा, और जीवन की प्रत्येक क्रिया के बारे में उनके तीव्र और भावना-युक्त कौतूहल की साक्षी देंगे। मैंने शायद ही और कोई व्यक्ति ऐसा देखा होगा जो इतने विविध विषयों में रुचि रखता हो और छोटी-बड़ी चीज़ों में रस ले सकता हो—विज्ञान और दर्शन, इतिहास और पुरातत्व, सामूहिक खेल और एकान्त भ्रमण। अवकाश से इतना प्रेम, और उसका सदुपयोग करने की इतनी योग्यता भी कम लोगों में पायी जाती है। वह ज्ञान-गरिमा-युक्त आचार्य नहीं हैं, मगर बहुत-सी चीज़ों के बारे में बहुत अधिक जानकारी रखते हैं। सफ़र में पुस्तकें उनके साथ रहती हैं। साठ वर्ष के बाद भी उनके प्रौढ़ चेहरे का सौम्य भाव, आँखों में वह खोजभरी दृष्टि, उनका हार्दिक और संवेदनशील कोमल स्वभाव, (यदि जीवन का अधिकांश राजनीति की कठोर धकापेल में बिताने वाले व्यक्ति को कोमल कहा जा सके।)—ये सब एक चिन्तनशील कलात्मक स्वभाव के सूचक हैं, जो दैनिक जीवन-कर्म में रस लेता है, वह कर्म चाहे भारत में विशाल जन-सभाओं में व्याख्यान देना हो, चाहे लन्दन में प्रधान मन्त्रियों के साथ विचार-विनिमय। मनुष्य के नाते वह भावुक, उदार और दयालु हैं। वे मैत्री निबाहते हैं, और यह निष्ठा कभी-कभी दोष तक बन जाती है। उनकी सचाई और खरापन पारदर्शी है; कभी-कभी वह ऐसी बातें कह जाते हैं जिन्हें न कहना ही अच्छा होता। उनकी कमज़ोरियाँ छिपी नहीं हैं, और उनके कारण वे अधिक प्रिय ही लगते हैं।

उनके मित्र बहुत थोड़े हैं। वे मूलतः एकाकी हैं। भीड़ उन्हें आकर्षित करती है और वह आकर्षित होते हैं; समाज में वह विनोदी और हँसमुख रहते हैं; लेकिन ये आन्तरिक एकाकीपन को ढँकने की सामान्य रीतियाँ हैं।

उनके लेखन से मनुष्यता के प्रति उनकी गहरी आत्मीयता व्यक्त होती है। उसमें भावनाओं की गहराई है, कल्पना का व्यापक प्रसार भी है। वे बार-बार हमारी दृष्टि के सम्मुख विशद क्षितिज खड़े करते हैं, बड़ी-बड़ी दृश्य-परम्पराएँ उपस्थित करते हैं। इतिहास के उनके अंकन में विश्लेषण से अधिक अन्तर्दृष्टि है। उनके मन की गठन छोटी-छोटी बातों की अपेक्षा बड़ी समस्याओं से उलझने के लिए अनुकूल है। क्षणिक वाद-विवादों में निमित्त-रूप तर्काभासों की अपेक्षा व्यापक सिद्धान्तों की चिन्ता वह अधिक करते हैं। क्षुद्र बातों की अनदेखी कर सकना नेतृत्व की प्रतिभा का एक पक्ष है। श्रेष्ठ लेखक का यदि यही लक्षण है कि वह अपनी आत्मा का कम्पन पाठकों तक पहुँचा सके, तो नेहरू एक श्रेष्ठ लेखक हैं। आधुनिक विज्ञान की खोज उन्हें आकर्षित करती है और उनको एक बौद्धिक सन्तुलन और स्थिरता देती है। हमारी यह मानवी सभ्यता—जिसकी परम्परा अधिक से अधिक छः हज़ार वर्ष होगी,—भावी अस्तित्व की, पृथ्वी पर जीव के विकास की, नक्षत्रों की, सौर-मंडल की, उस आकाशगंगा की जिसमें हमारा सौर-मंडल एक रजकण मात्र है; अथवा उससे भी कहीं अधिक विराट् और पुरातन सृष्टि की आयु की तुलना में आखिर क्या चीज़ है ?

उनके लेखन में जहाँ-जहाँ उनका व्यक्तिगत जीवन सामने आता है वहाँ एक बहुत प्रीतिकर विनम्रता है, मन को अस्थिर कर देने वाले कई प्रकार के विचारों और शंकाओं की स्वीकृति है, और परिवर्तन के लिए एक प्रकार की अधीरता है जिसे वह छिपाते नहीं।

मैंने सबसे पहले जब उन्हें सुना था, तब से सार्वजनिक वक्ता के नाते उन्होंने बहुत तरक़्क़ी की है। उनमें जो

निष्ठा का बल, भावना का उत्साह और संवेदना की प्रामाणिकता है वह उन्हें सुनने के लिए एकत्रित समूह पर बहुत प्रभाव डालती है। उनके वे महान् भाषण, जो जीवन की उन बड़ी-बड़ी बातों के बारे में होते हैं जिन्हें वे अपने भीतर से अनुभव करते हैं, वक्तृत्व-कला के उत्कृष्ट नमूने होते हैं। ऐसे अवसरों पर वह अपने विचारों को तो क्रम-बद्ध कर लेते हैं, पर शब्दों को प्रत्युत्पन्न सूझ पर ही छोड़ देते हैं। प्रायः शिकायत सुनी जाती है कि नेहरू बहुत अधिक बोलते हैं। मगर नेताओं को अपने समय का एक बहुत बड़ा भाग जनता की कल्पना को प्रभावित करने में बिताना ही पड़ता है।

यह इस देश का सौभाग्य था कि अगस्त १५, १९४७ के सत्तान्तर में शासन के सूत्रधार नेहरू बने। विभाजन द्वारा दो नयी डोमिनियनों का सूत्रपात होते ही देश के बड़े भाग में साम्प्रदायिक द्वेष की आग भड़क उठी। गान्धीजी ने बंगाल और दिल्ली के शान्ति-प्रयत्नों द्वारा उन ज्वालाओं के शमन का प्रयत्न किया और अन्त में उन्होंने साम्प्रदायिक एकता के दिव्य आदर्श के लिए अपने जीवन का बलिदान दिया। "इससे अधिक बड़ा प्रेम नहीं हो सकता कि मनुष्य अपने बन्धुओं के लिए अपने प्राण दे दे।"....नेहरू ने शान्ति लाने और पीड़ितों की रक्षा के लिए अपनी जान जोखिम में डाली, और उन्हीं आदर्शों पर चले। गान्धीजी की प्रेरणा थी परमात्मा की इच्छा और अन्तरात्मा की पुकार; नेहरू को एक उत्कट भावना और राजनीतिक विवेक प्रेरित करता है, दोनों के मार्ग भिन्न हैं, परन्तु मंज़िल एक है।

दोनों मानते हैं कि अर्थशास्त्र और राजनीति ही जीवन का अथ और इति नहीं है। सब भौतिक स्वार्थों, पंथ-विग्रहों, सामूहिक और व्यक्तिगत अहंता के माया-जालों से परे प्रायः सभी व्यक्तियों में ऐसे नैतिक मूल्यों का, सामाजिक कर्तव्यों का, सौन्दर्य-संवेदन का बोध विद्यमान रहता है जो प्रश्नातीत है और जिन्हें मनुष्य जाति को खोना नहीं चाहिए। उनकी रक्षा के लिए सहिष्णुता और अनुशासन के रूप में चाहे जो क़ीमत देनी पड़े। 'राम राज्य' हमारे भीतर ही है और संसार की पाशवी शक्तियों से लड़ता रहता है। मनुष्य-स्वभाव की मूलगत भलाई प्रेम-नीति से आकर्षित होती रहती है। उस मूल भावना को विकसित करने से हम सत्ता के प्रलोभनों को तज कर आत्मिक निष्ठा और सचाई की ओर बढ़ सकते हैं।

गान्धी और नेहरू दोनों के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता गुण और महत्ता की वृद्धि का साधन है। इस स्वतन्त्रता द्वारा हम जड़ता और कायरता के, विद्वेष और अनुदारता के पापों से मुक्त हो सकेंगे। राजनीतिक स्वतन्त्रता, सामाजिक समता और बन्धुत्व की प्रतिष्ठापना का साधन मात्र है। जो स्वतन्त्रता हमने प्राप्त की है, उसे हमें बढ़ाना और मज़बूत करना चाहिए। हमें सब वर्गों के लिए न्याय प्राप्त करना चाहिए, आर्थिक तानाशाही का अत्याचार मिटाना चाहिए। हमें अहिंसक सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति द्वारा जातिहीन और वर्गहीन समाज तक पहुँचना है।

यद्यपि नेहरू समाजवादी दल के सदस्य नहीं हैं, फिर भी वह देश के समाजवादी आन्दोलन के प्रतिनिधि हैं। जहाँ वह सोवियत क्रान्ति द्वारा घटित सामाजिक कार्य का अभिनन्दन करते हैं, वहाँ उससे उत्पन्न जीवन की यान्त्रिकता की आलोचना भी करते हैं। एक संवेदनशील कलाकार और मानवी स्वतन्त्रता में विश्वास करने वाले के नाते, वह मनुष्यों के जीवन, उनकी कर्म और क्रीड़ा की प्रवृत्तियों के यन्त्रवत् नियमन से सहानुभूति नहीं रख सकते। घर में और शाला में, कारखानों में और खेतों में, सब नागरिकों को एक बँधी हुई लीक पर चलने के लिए बाध्य करने से हम जन-मन में गहरे विसंवाद, तनाव और दमित इच्छाओं के बीज बोते हैं। मानव से मानवीयता को बहिष्कृत करने वाली कोई प्रणाली नेहरू को स्वीकार्य नहीं है।

आज दुनिया के सामने जो प्रमुख समस्या है—एक ओर लोकतन्त्र और दूसरी ओर तानाशाही,—उसमें नेहरू की सहानुभूति स्पष्ट है। लोकतन्त्र का आधार है स्वतन्त्रता और न्याय की स्थापना का अधिकाधिक प्रयत्न, जब कि तानाशाही दोनों के नकार पर आश्रित है। नेहरू लोकतन्त्र के पक्ष में हैं, परन्तु वह यह भी जानते हैं कि साम्यवाद किन कारणों से फैलता है। साम्यवाद केवल सर्वहारा को ही नहीं बल्कि बौद्धिक संशयात्माओं और निराशावादियों को भी आकर्षित करता है। दो विश्वव्यापी महायुद्धों ने जो मानसिक और सामाजिक ध्वंस किया है उसके अवशेषों में साम्यवाद पनपता है। भूख और दैन्य में से घृणा और साम्यवाद पैदा होता है।

जो सरकार परिस्थिति को ध्यान में नहीं रखती, दैन्य और बेकारी, निराशा और असन्तोष को दूर नहीं करती, वह साम्यवाद के प्रसार को आमन्त्रित करती है। सन् १९३० में ही, लाहौर कांग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण देते समय, नेहरू ने अपनी स्थिति स्पष्ट की थी :

"मुझे स्पष्टतया स्वीकार करना चाहिए कि मैं समाजवादी और प्रजातन्त्रवादी हूँ, कि मैं राजाओं और सम्राटों में विश्वास करने वाला नहीं हूँ, न उस व्यवस्था में जो आज ऐसे औद्योगिक प्रभुत्वों को पैदा करती है जिनका मनुष्यों के जीवन और भाग्य पर पुराने सम्राटों से भी अधिक अधिकार होता है, और जिनकी पद्धतियाँ पुरानी सामन्ती धनिकशाही से भी अधिक लुटेरी और प्राणलेवा हैं.... कहा जाता है कि कांग्रेस को पूँजी और श्रम के बीच, ज़मींदार और किसान के बीच सन्तुलन रखना है। लेकिन हमारी तराज़ू के पलड़े ही समान नहीं हैं और स्थिति को ज्यों का त्यों बनाये रखना अन्याय और शोषण को बनाये रखना है। स्थिति को सुलझाने का सही रास्ता यही है कि एक वर्ग पर दूसरे का प्रभुत्व मिटा दिया जाय।"

मित्रों को शिकायत है कि अपने राजनैतिक जीवन में नेहरू बराबर जिन उच्चादर्शों को घोषित करते आये, उनके बारे में उनका उत्साह दिन पर दिन शिथिल पड़ता जा रहा है, शासन के प्रधान के नाते वे न्यस्त स्वार्थों से गठ-बन्धन करने में लगे हैं; और अपनी परिस्थितियों से ऊपर उठने में असमर्थ हैं। किन्तु इन आदर्शों की उपलब्धि कुछ सप्ताहों या महीनों में नहीं हो सकती। पानी उबालने के लिए भी ताप के साथ-साथ समय की आवश्यकता होती है। समाजवादी कार्यक्रम लम्बा है और उस पर हमें उत्साह और दृढ़ता से चलना चाहिए। नेहरू को पदग्रहण किये अधिक समय नहीं हुआ, और उनके कृतित्व पर निर्णय करने का समय अभी नहीं आया। यह सम्भव है कि जल्दबाज़ी में किया गया निर्णय देश में अव्यवस्था पैदा कर दे और हमें उसी खतरे के मुँह में ले जाय जिसे कि हम टालना चाहते हैं। यह दुर्भाग्य है कि समाजवादी दल—जो कर्म, सेवा और त्याग में किसी दल से पीछे नहीं रहा—आज विरोध पक्ष में खड़ा है। कांग्रेस सरीखा प्रत्येक क्रान्तिकारी संगठन सत्ता पाने से पहले अपनी एकता और शक्ति प्रदर्शित करता है, परन्तु शत्रु को हरा कर सत्ता प्राप्त कर लेने पर वह टूटने लगता है और भीतरी विग्रह से खंड-खंड हो जाता है। दलों के नाम या बिल्ले का प्रश्न गौण है; विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न पद्धतियाँ उपयोगी या हानिकर हो सकती हैं। हमें एक समाजवादी प्रजातन्त्र की स्थापना में श्रद्धा नहीं खोनी चाहिए। यदि हम विरोध को कुचलने लगें, आलोचना के प्रति असहिष्णु हो जायें तो सहज ही तानाशाही की ओर हमारा झुकाव होने लगेगा। जो सरकार आलोचना के प्रति उदासीन होती है और अपनी त्रुटियाँ नहीं देख पाती, वह सम्मान खो देती है। नेहरू अभी भी वीर, स्वाभिमानी, भारत की सामाजिक और राजनीतिक गठन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के लिए उत्सुक और अधीर हैं; वह अभी भी भारत और विश्व की भलाई की दिशा में समाजवादी आन्दोलन को ले जा सकते हैं।

हमें मानव जाति को आत्महिंसा के मार्ग से बचाना है। वह केवल प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों के प्रति एकान्त निष्ठा से ही हो सकता है। नेहरू ने सदैव निष्ठा और स्पष्टता से ऊँचे आदर्श का समर्थन किया है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले भी उन्होंने मंचूरिया, चीन, अबीसीनिया, इस्पान और चेकोस्लोवाकिया में फ़ासिवाद और साम्राज्यवाद का विरोध किया था। पीड़ित दलित जनताएँ नेहरू में एक ऐसा बन्धु देखती हैं जिसकी ओर सहानुभूति और परामर्श के लिए, या आवश्यकतानुसार प्रत्यक्ष सहायता के लिए भी वे मुड़ सकती हैं। नेहरू का विश्वास है कि भारत एशिया की आवाज़ का प्रतिनिधित्व करता है और संसार के भविष्य-निर्माण में उसका एक रचनात्मक भाग रहेगा।

दिल्ली में हाल में जो हिन्देशिया-सम्मेलन हुआ, उसका उद्घाटन करते हुए पंडित नेहरू ने कहा : "हम पूर्व की प्राचीन सभ्यता के प्रतिनिधि हैं; और पश्चिम की गतिमान संस्कृति के भी। राजनीतिक दृष्टि से हम विशेषतः लोकतन्त्री स्वतन्त्रता की भावना के प्रतीक हैं जो नये एशिया की एक प्रमुख और अर्थ-गर्भित विशेषता है।" नेहरू सतर्क हैं कि एशिया अपना व्यक्तित्व न खो दे। दूसरे देशों में जो कुछ प्राणवान् है उसे ग्रहण करते हुए भी एशिया को अपना वैशिष्ट्य बनाये रखना है। अतीत और वर्तमान का सम्बन्ध छिन्न करना भविष्य को भी खो देना होगा। नेहरू के नेतृत्व में एशिया संसार की मन्त्रणा-सभाओं में अपना स्थान पुनः प्राप्त कर रहा है।

भविष्य के बारे में हम सब एक-से अज्ञ हैं परन्तु इस बात के बारे में हम आश्वस्त हैं कि नेहरू का कृतित्व ऐसा नहीं है जो समय की गति में विलीन हो जायगा। उन्होंने अपने लिए एक अविनाशी स्मारक स्थापित किया है, और मानवी स्वतन्त्रता के महान् योद्धाओं में उनका नाम चिरकाल तक लिया जायगा।

अप्रैल १९४९

शक्ति तथा तेजस्विता का पुंज

गगनविहारी मेहता

गान्धीजी के पंडित जवाहरलाल नेहरू को अपना उत्तराधिकारी घोषित करने पर कुछ लोगों को आश्चर्य हुआ, कुछ निराश हो गये, और कुछ लोग शंकित भी हुए। सभी की कल्पना में कोई न कोई दूसरा व्यक्ति था। सब का ध्यान गान्धीजी तथा जवाहरलाल के मतभेद पर था जो बीच-बीच में उग्र रूप धारण कर लेता था और फिर पारस्परिक मेल तथा समझौते से शान्त हो जाता था। इसमें सन्देह नहीं कि लोग इस बात को भली भाँति जानते थे कि गान्धीजी जितना उन्हें चाहते हैं उतना ही वह भी गान्धीजी से अनुराग रखते हैं। लोगों को यह भी मालूम था कि वह न केवल गान्धीजी के स्नेह के पात्र हैं वरन् उनके अनेक गुणों के कारण गान्धीजी उनका सम्मान भी करते हैं। समय-समय पर जब मतभेद तीव्र हो जाता था तो गान्धीजी हमेशा उस सहज सहिष्णुता से काम लेते थे जो पिता अपने मनचले बेटे के प्रति रखता है। लगभग सभी मसलों पर चाहे वह गान्धी-अरविन समझौते का रहा हो, चाहे पूर्ण स्वतन्त्रता बनाम डोमिनियन पद का अथवा किसी आन्दोलन को प्रारम्भ करने या समाप्त करने का, जवाहरलाल अन्त में गान्धीजी की पद्धति को स्वीकार करके उनके निर्णयों को शिरोधार्य करते रहे। किसी अन्धविश्वास तथा भक्ति से प्रेरित होकर वह गान्धीजी के सम्मुख नतमस्तक नहीं हुए थे। देश की राजनीति से पृथक् हो जाने अथवा अपना प्रभाव खो देने के डर से भी उन्होंने ऐसा नहीं किया। अपने विश्वासों में जवाहरलाल हमेशा से निर्भीक रहे हैं। गान्धीजी के निर्णय को स्वीकार करने के लिए उन्हें उनके इस सहज विश्वास ने प्रेरित और बाधित किया कि गान्धीजी की बात अन्त में सही साबित होगी, क्योंकि दूसरों की अपेक्षा उनका बोध अधिक विकसित है। वह यह भी मानते थे कि व्यावहारिक मसलों में गान्धीजी चाहे सही हों अथवा ग़लत, पर अन्याय का पक्ष वह कभी नहीं लेंगे। राष्ट्र की बड़ाई उसकी नैतिकता में है, यह जवाहरलालजी जानते थे, और वह अनुभव करते थे कि किसी दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा इस महान् नैतिक नेता में यह नैतिकता अधिक घनी होकर मूर्तिमती थी। अपने संस्मरणों में मार्ले ने डीन चर्च की एक उक्ति उद्धृत की है: "अधिकांश मानवी व्यापारों की भाँति शिष्य-वृत्ति में भी अच्छाइयाँ तथा बुराइयाँ दोनों हैं, इसके मजबूत पक्ष के साथ-साथ कमज़ोर तथा खतरनाक पहलू भी हैं। किन्तु इसका एक पक्ष वास्तव में अच्छा तथा मजबूत है; वह है उसकी बुद्धिसंगत और पुरुषोचित नम्रता; एक महान् गुरु को पाने तथा धारण करने का, उसके इच्छानुसार कार्य सम्पन्न करने का उत्साह।" जवाहरलाल साधारण अर्थ में शिष्य नहीं थे। कुछ वर्ष पूर्व तो उनका विवेकशील मस्तिष्क 'गुरु' अथवा 'दीक्षा' के नाम से विद्रोह करता। किन्तु गान्धीजी के प्रति उनका विश्वास केवल बौद्धिक अथवा राष्ट्रीय अनुशासन की भावना से अधिक गहरा था, यह उनके विश्वास के विकास की प्रतिक्रिया से ही प्रमाणित होता है जिसके कारण वह इधर इस महान् नेता को 'हमारे गुरु' कहने लगे थे।

* * *

इसलिए गान्धीजी ने जवाहरलाल को अपना वास्तविक उत्तराधिकारी चुनकर कोई पक्षपात नहीं किया। सन्त होकर भी गान्धीजी में मनुष्यों को परखने की शक्ति थी। वह जानते थे कि वह क्या कर रहे हैं। वह जानते थे कि जवाहरलाल भावुक हैं, कि आदर्शवाद के पीछे वह राजनीति के व्यवहार पक्ष के प्रति उदासीन भी हो सकते हैं, कि जवाहरलाल के लिए और लोगों के साथ काम करना आसान नहीं, और प्रायः उनके सहयोगी तथा अनुयायी उनसे हताश भी हो जाते हैं। ऐसे लोगों का अभाव नहीं था जो राजनीतिक-चेतना और सूझ-बूझ में तथा संगठन करने की योग्यता और तत्परता में उनसे अच्छे थे। किन्तु जवाहरलाल में एक विशेषता ऐसी थी जिसने गान्धीजी को सबसे अधिक आकर्षित किया: वह थी उनकी आत्मिक उदात्त वृत्ति तथा शालीनता, उनका नैतिक दृष्टिकोण और बौद्धिक खरापन तथा शुद्ध निःस्वार्थता। सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में विरोधी दृष्टिकोण रखते हुए भी इन दो महान् व्यक्तियों में कुछ गुण

समान थे। सच्चाई के प्रति अगाध प्रेम, तथा नैतिक मान्यताओं की गहरी अनुभूति; भारत की स्वतन्त्रता के लिए अदम्य उत्साह; निर्भीकता; त्याग की क्षमता; दलित लोगों के लिए सहानुभूति और साम्प्रदायिक तथा जातीय भावनाओं से परे एक मानवीय भावना, दोनों व्यक्तियों में समान रूप से थीं। गान्धीजी को मालूम था कि जवाहरलाल

'धूपघड़ी के चेहरे की भाँति सूर्योन्मुख—
भले ही सूर्य की धूप उस पर न पड़े'

वाली उक्ति को चरितार्थ करते हैं।

*　　　*　　　*

यह एक महत्वपूर्ण बात है कि जवाहरलाल का दृष्टिकोण मुख्यतः "बौद्धिक" है। उदाहरणार्थ उनके 'समाजवाद' का आधार ग़रीबों के प्रति करुणा नहीं बल्कि एक सिद्धान्त है। इसी प्रकार उनके असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण की नींव किसी स्थायी भावना पर नहीं, इस युक्ति पर टिकी है कि इस प्रकार के कृत्रिम विभाजन असंगत तथा बेहूदा हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य के मनोगठन में युक्ति और भावना को सम्पूर्णतया पृथक् करना आसान काम नहीं, और व्यक्ति जितना ही महान् हो उतना ही यह कार्य और भी दुस्तर होता है क्योंकि महान् व्यक्तियों की वेदना तथा चिन्तना साथ-साथ चलती हैं। किन्तु फिर भी यह सच है कि गान्धी जी के लिए जो बातें विश्वास तथा भावना का विषय थीं, उन्हें जवाहरलाल युक्ति तथा बुद्धि के आधार पर अपनाते हैं।

और आज कौन यह कह सकता है कि गान्धी जी का यह चुनाव सही नहीं साबित हुआ ? स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधान मंत्री के पद को कौन दूसरा व्यक्ति इस योग्यता, शालीनता, उत्साह तथा कर्तव्य-परायणता और ईमानदारी के साथ निबाह सकता था ? दक्षिणी तथा पूर्वी अफ़्रीका में, और न्यून मात्रा में लंका तथा वर्मा में जो घटनाएँ घटी हैं, उनके बावजूद पिछले तीन वर्षों से और विशेषकर पिछले एक वर्ष में अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भारतवर्ष की प्रतिष्ठा बढ़ी है। निश्चित रूप से नेहरू के नेतृत्व में भारतवर्ष एशियायी जनता की आकांक्षाओं का केन्द्र बन गया है। हिन्देशिया-सम्मेलन के आमन्त्रण में उन्होंने जो तत्परता दिखायी तथा इसके संचालन में जिस संयम तथा राजनीतिक विवेक से काम लिया उससे विश्व भर के समझदार लोग प्रभावित हुए हैं। निस्सन्देह जैसा कि सबसे पहले पंडित नेहरू स्वयं स्वीकार करेंगे, सरदार वल्लभभाई पटेल के सहयोग तथा कुशल और दृढ़ कार्य-संचालन के बिना वे शासन-सूत्र नहीं चला सकते। कई दृष्टियों से दोनों की जोड़ी आदर्श है: उसमें अन्तर्राष्ट्रीयता और राष्ट्रीयता का, आदर्शवादिता और व्यावहारिकता का, चिन्तन और संगठन का, उदार भावनाओं और कठोर वास्तविकताओं का सुन्दर योग है। सभी मनुष्यों की भाँति दोनों के अपने-अपने गुण-दोष हैं—बल्कि कभी-कभी गुण ही दोषों के आधार बन जाते हैं; जैसे निष्पक्ष बुद्धि कभी द्विधा का रूप ले सकती है, और निर्मम दृढ़ता तानाशाही बन सकती है। किन्तु साथ मिल कर इन दोनों व्यक्तियों की जोड़ी भारतवर्ष और अराजकता के बीच चट्टान-सी खड़ी है।

*　　　*　　　*

प्रायः पत्रकार लोग नेहरू की आत्मकथा तथा अन्य लेखों से उद्धरण देकर उनमें विरोधाभास दिखाने का प्रयत्न करते हैं, या यह साबित करना चाहते हैं कि पद-ग्रहण के बाद से उनका दृष्टिकोण तथा दृष्टि-परम्परा बदल गयी है। मानों आजीवन परिवर्त्तनहीनता अथवा वैचारिक जड़ता वांछनीय हो, या कि सम्भव भी हो। जड़ नियमनिष्ठता तो शुष्क तथा अनुर्वर बुद्धि की परिचायक है। जीवित व्यक्ति में परिवर्त्तन होता ही है। नहीं तो, जैसा कि ए० जी० गार्डिनर ने कहा है, कोई इस बात पर भी गर्व कर सकता है कि पाँच वर्ष की आयु से उसका ज़रा भी विकास नहीं हुआ। अगर जीवन के समूचे अनुभव के बाद भी हमें किसी भी विषय पर अपना मत बदलना न पड़े, तो समझना चाहिए कि वह मत ही इस योग्य नहीं था और स्फिंक्स की भाँति हम भी एक स्थिर तथा अपरिवर्तनीय विकृति लेकर जनमे थे ! अपने पूर्वजों तथा शिक्षकों से हमने कई पूर्व ग्रह पाये होंगे। वास्तव में परिवर्त्तन का अपने आप में उतना महत्व नहीं है, महत्व की बात यह है कि क्या इस परिवर्त्तन के पीछे किसी विशालतर ध्येय के प्रति अडिग निष्ठा है या नहीं। ऑस्कर वाइल्ड के इस कथन में कि 'अपनी अस्थिरता में ही अपने प्रति सबसे अधिक निष्ठावान् रहता हूँ' एक विरोधाभास दिखाई दे सकता है, पर असल बात यह है कि स्थिरता तथा अस्थिरता का विचार केवल मत को लेकर नहीं बल्कि नैतिक सिद्धान्तों को लेकर होना चाहिए। सर्वथा भिन्न परिस्थितियों में व्यक्त किये गये किसी भी

व्यक्ति के मतों का उद्धरण देकर उस पर 'अस्थिरता' का आरोप हमेशा लगाया जा सकता है। जिस समय वह एक विदेशी शक्ति के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे, परिस्थितियाँ भिन्न थीं, आज जब शासन का उत्तरदायित्व सँभाल रहे हैं तो दूसरी हैं। बाह्य परिस्थितियों ने आकांक्षाओं की पूर्ति की सीमा निर्धारित कर दी है। यों इस सम्बन्ध में यह स्मरण करना भी उचित होगा कि समाजवादी इँग्लैंड के साथ सहयोग की सम्भावना उन्होंने पहले से देखी थी।

"उस समय यह भी हो सकता है कि मुझ जैसे व्यक्ति, जो आज राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के तथा ब्रितानी सम्बन्ध-विच्छेद के समर्थक हैं, अपनी राय बदल दें और समाजवादी ब्रितान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध वांछनीय समझने लगें। हममें से निश्चय ही कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसे ब्रितानी जनता के सहयोग में आपत्ति हो, हम तो उनके साम्राज्यवाद का विरोध करते हैं और एक बार जब वे इसे त्याग देंगे तो पारस्परिक सहयोग का द्वार खुल जायगा।" (—'मेरी कहानी')

कोई भविष्यवाणी शायद ही कभी इतनी सही साबित हुई हो। और इससे भी खास बात यह है कि इस सम्भावना की कल्पना करने वाला व्यक्ति ही आज नाटक का प्रमुख अभिनेता है।

* * *

जैसा कि उन्होंने अपनी जीवनी में लिखा है, जवाहरलाल का विकास निरन्तर होता रहा है:

मैंने हमेशा जीवन को एक अत्यन्त रोचक उद्योग के रूप में देखा है जिसमें सीखने और करने को बहुत कुछ है। मुझे सदैव जान पड़ता रहा है कि मेरा विकास हो रहा है, और आज भी जान पड़ता है। यह भावना मुझे कर्म की ओर अध्ययन की स्फूर्ति देती है और साधारणतया जीवन को ही रुचिकर बनाती है। (—'मेरी कहानी')

उन्होंने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, समाजवाद, अन्तर्राष्ट्रीयता तथा विश्व की दलित जातियों के उद्धार के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्तों को निर्धारित किया था। आज जब एक राष्ट्र का शासन-सूत्र उनके हाथ में है तो उन विचारों को कार्यान्वित करने का, अपने विस्तृत लक्ष्यों को एक स्पष्ट नीति का रूप देने का दुस्तर कार्य उन्हें करना है। कोई भी व्यक्ति, जिस पर इतना बड़ा उत्तरदायित्व आ पड़ता है, कम या अधिक मात्रा में अपने राष्ट्र के भाग्य का निर्माण कर सकता है। जैसा कि विलियम वाट्सन ने ग्लैडस्टन के विषय में सुन्दर ढंग से कहा था,

'संगमर्मर से कहीं श्रेष्ठतर पदार्थ के हे शिल्पी !
जो द्रव और लचीले 'आज' से 'कल' का निर्माण कर रहा है
तू निश्चय ही उसे सुन्दर बनाना चाहेगा !'

आधुनिक भारत के अन्य निर्माताओं की भाँति जवाहरलाल को भी 'आज' से 'कल' का निर्माण ऐसी स्थिति में करना है जब कि उपकरण विशेष द्रव और लचीले नहीं हैं। उनका निर्माण-कार्य राष्ट्रीय संघर्ष की व्यवस्था के बीच हुआ है। इसके लिए उन्हें बहुत कुछ देना पड़ा है: अपने जीवन का श्रेष्ठ भाग, गार्हस्थ्य जीवन का सुख, अपनी सम्पत्ति तथा पेशे की सफलता (जिसका महत्त्व उनके लिए सबसे कम था) और अपने सांस्कृतिक व्यापार तथा आन्तरिक शान्ति (जो वास्तव में बहुमूल्य थी), सब देश की स्वतन्त्रता के लिए उत्सर्ग हुए हैं। जैसा कि गोखले प्रायः कहा करते थे, 'हमें अपनी असफलताओं के द्वारा भारत की सेवा करनी है'। हममें से सबसे आशावादी तथा दृढ़ लोगों पर भी निराशा तथा कुंठा का कुहासा छा जाता रहा है। स्वतन्त्रता-संग्राम में रत किसी जाति का जीवन लम्बी अँधेरी रात्रि की उस दुस्तर यात्रा के समान है जिसका पथ कंटकाकीर्ण तथा शत्रुओं से घिरा हुआ है, और जिसमें मंज़िल तक पहुँचने की आशा इने-गिने भाग्यवान ही कर सकते हैं। किन्तु जवाहरलाल उन्हीं भाग्यवानों में से हैं और आज उन्हें यह सुयोग और दायित्व मिला है कि वह 'आज' के परिश्रम तथा प्रयास से एक स्वतन्त्र जाति के 'कल' का निर्माण करें। कार्य जितना दुस्तर होता है, सेवा उतनी ही महान् होती है। जवाहरलाल कदाचित् बार-बार चाह उठते होंगे कि राजनीति का पचड़ा छोड़ कर पुनः शान्त तथा विवेक-संगत बौद्धिक व्यापारों की ओर यह कहते हुए लौट जायें कि

'नहीं, क्रामवेल, नहीं, यह बोझ बहुत भारी है
उसके लिए जो स्वर्ग की आकांक्षा रखता है !'

यद्यपि जवाहरलाल ऐसे परम्परागत स्वर्ग की आकांक्षा नहीं रखते जो पुण्यवानों के लिए एक प्रकार की रिश्वत ही है,

फिर भी उनकी जिज्ञासु, संवेदनशील आत्मा भी विसंगतियों के बीच में—किसी सामंजस्य के संघर्ष के बीच में—सन्तुलन के लिए व्यग्र हो उठती होगी। घनी रात में वह अपनी खिड़की के बाहर देखते हुए

'तारों भरे आकाश का मौन,
निर्जन पहाड़ियों में बसी शान्ति'

के लिए अधीर हो उठते होंगे।

*   *   *

किन्तु वह जानते हैं कि अब पीछे लौटना सम्भव नहीं। अधिकार की लालसा या हकूमत की तड़क-भड़क नहीं, उन्हें उस दायित्व की भावना रोकती है जो उनके श्रद्धा-पात्र गुरु उन्हें सौंप गये हैं। राष्ट्र की नौका को कर्णधार के दृढ़ हाथों की ही नहीं, एक विस्तृत मानचित्र की भी आवश्यकता होती है जिससे पथ-प्रदर्शन हो सके। वह मानचित्र जवाहरलाल नेहरू ही अपनी निस्स्वार्थता और अधिकार के प्रति अनासक्ति के कारण सफलतापूर्वक बना सकते हैं। विश्व के राजनीतिज्ञों में सम्भवतः एक वही हैं जो राजनीति के यन्त्र, संगठन, की कला के प्रति उदासीन हैं। लॉयड जॉर्ज प्रायः जोसेफ़ चेम्बरलेन के इस कथन को दुहराया करते थे कि 'राजनीति में चाहे जो कुछ करना चाहो, इसका हमेशा ध्यान रखो कि पार्टी का संगठन तुम्हारी पीठ पर रहे।' इस समझदारी के परामर्श की जवाहरलाल ने लगातार उपेक्षा की है। उन्होंने न तो किसी राजनीतिक यन्त्र का संगठन किया है, और न ऐसे व्यक्तिगत अनुयायियों का दल बनाया है जो आड़े समय में उनका साथ दे। फिर भी कांग्रेस में और उसके बाहर हजारों व्यक्ति ऐसे हैं जो उन्हें अपना नेता मानते हैं और उनसे स्नेह करते हैं। वे जानते हैं कि वह ग़लती कर सकते हैं, कभी जोश में उन्हें नाराज भी कर सकते हैं, पर इसके साथ वे यह भी महसूस करते हैं कि उनका दिल स्वच्छ है, और उनके अभिप्राय की पवित्रता सन्देह के परे है। यह उनकी विशेष प्रतिभा है कि वह न सिर्फ़ स्वयं ईमानदार हैं, बल्कि उनकी ईमानदारी पर जन-साधारण को भी पूरा विश्वास है। यह दुर्लभ सौभाग्य है। अन्य देशों में राष्ट्रीय नेता आतंक-मिश्रित प्रशंसा पाते हैं; हमारे यहाँ गान्धीजी श्रद्धा तथा प्रेम के पात्र थे, जवाहरलाल भी सम्मान और स्नेह के पात्र हैं।

जैसा कि एक बार सर तेज बहादुर सप्रू ने कहा था, जवाहरलाल एक 'मानवी डायनेमो' हैं। वह बौद्धिक शक्ति तथा शारीरिक तेज के पुंज हैं। वर्षों तक दिन प्रतिदिन इतने मानसिक तथा शारीरिक परिश्रम को वे किस प्रकार बर्दाश्त करते हैं, यह एक रहस्य है। बचपन में प्राप्त घर की और इँग्लैंड की शारीरिक शिक्षा, तथा कड़े आत्मानुशासन से उन्हें बड़ी सहायता मिली है। वायुयान, मोटर, ताँगे, अथवा बैलगाड़ी से वह लगातार यात्रा कर सकते हैं, घोड़े पर अथवा पैदल वह बिना थकान अनुभव किये हुए मीलों जा सकते हैं और एक दिन में बीसियों सभाओं में भाषण दे सकते हैं। असमय परिश्रम करके बिना सोये हुए भी वे ताजे तथा फुर्तीले रह सकते हैं। इसलिए, अवश्य ही उनमें अज्ञात तथा अक्षय आत्मिक बल का स्रोत होगा। वास्तव में वह रूढ़ अर्थ में धार्मिक न होते हुए भी आध्यात्मिक हैं, उनका दृष्टिकोण शुद्धिवादी न होकर भी मूलतः नैतिक है, यद्यपि उनमें वह नैतिक अहम्मन्यता नहीं है जो नीतिवादी प्रायः प्रदर्शित किया करते हैं।

*   *   *

जवाहरलाल का लेखन उत्कृष्ट है। वह न केवल अपने देश के आधे दर्जन श्रेष्ठ लेखकों में से हैं वरन् आज के अंग्रेजी गद्य के सर्वोत्कृष्ट लेखकों में उनका स्थान है। उनमें कविता का समावेश है और कलात्मकता का विज्ञान-प्रेम के साथ आश्चर्यजनक सम्मिश्रण है : विज्ञान-प्रेम वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही नहीं है। वक्ता के रूप में वह सदैव प्रभावशाली नहीं हो पाते : वह रुक-रुक कर और झिझक के साथ बोलते हैं : वाक्यों को दुहराने तथा प्रसंगान्तर करने की भी उनकी आदत है। कुछ शब्दों का उन्हें मोह है। साथ-साथ नीरस उक्तियों की ओर भी उनका झुकाव रहता है। किन्तु महान् अवसरों पर, जब वह गहरी अनुभूति से बोलते हैं, तब वह जिस ऊँचाई पर पहुँचते हैं वहाँ भारत का कोई और वक्ता नहीं पहुँच सकता। और इसके लिए वह अलंकारों की शरण नहीं जाते। विधान-परिषद् में स्वतन्त्रता के प्रस्ताव पर उनका प्रथम भाषण, तथा राष्ट्रीय झंडे के विषय पर दिया गया व्याख्यान, और ३० जनवरी १९४८ को रेडियो पर और बाद में भारतसंघ की व्यवस्थापिका में गान्धीजी के प्रति श्रद्धांजलियाँ, न केवल राजनीतिक साहित्य में स्थान पायेंगी वरन् विश्व की अमर रचनाओं में इनका स्थान होगा। एशियाई-सम्मेलन में भी

उनका व्याख्यान श्रीमती सरोजिनी नायडू के चमत्कारपूर्ण भाषण से श्रेष्ठ था। तथापि यह सभी अनुभव करते हैं कि ऐसे महत्त्वपूर्ण अवसरों पर, और विशेषतया जब वह भारत के प्रधान मन्त्री की हैसियत से बोलते हैं, अच्छा होता यदि वे अपने वक्तव्य पहले से लिख लिया करते—और नहीं तो इसी कारण कि उनके पूर्व लिखित वक्तव्य साहित्यिक रत्न होते हैं।

अन्य बहुत-से महान् पुरुषों की भाँति जवाहरलाल में भी अनेक अन्तर्विरोध मिलते हैं। उनका व्यक्तित्व परस्पर भिन्न और विरोधी शक्तियों के मेल से बना है। आस्था रखते हुए भी वह सन्देह करते हैं, दृढ़ संकल्प के साथ उनमें दुविधा भी पायी जाती है, समझौते के विरुद्ध होते हुए भी उन्हें जीवन भर समझौता करना पड़ा, और स्वाभाविक नम्रता के साथ उनमें अभिमान भी है। लोग उन्हें छोटी-मोटी कमजोरियों तथा दोषों के बावजूद—बल्कि उनके कारण—पसन्द करते हैं, क्योंकि वह साधारण जनता से अलग, सबसे यन्त्रवत् व्यवहार करने और ईश्वर-प्रदत्त अधिकार का दावा करने वाले किसी राजनीतिक दल के 'प्रभु' नहीं हैं। वह लौकिक हैं, लोक के हैं। वह हँसते हैं, बिगड़ते हैं, जनता से ठेलाठेली करते हैं और किसी की पीठ भी ठोकते हैं। वह हम में से हैं, हमीं जैसे हैं यद्यपि डील में और गुणों में हमसे बहुत-बहुत ऊँचे भी हैं।

हम स्नेह और गौरव के साथ उनकी अभ्यर्थना करते हैं।

अप्रैल १९४९

गान्धी और नेहरू

फ्रेनर ब्रॉकवे

गान्धी और नेहरू का ३० वर्ष से अधिक का सम्बन्ध मानवीय सहयोग की एक भव्य गाथा है। भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहास में उन दोनों के नाम अलग नहीं हो सकते। गान्धी का नाम पहले आता है, क्योंकि वह न केवल अपने युग के संसार के प्रमुख व्यक्तियों में थे बल्कि समूचे मानव जाति के इतिहास में भी। उनके नाम के साथ एक दूसरा नाम जोड़ा जाय, यह अपने आप में नेहरू के महत्व की स्वीकृति है। जब तक इतिहास लिखा और पढ़ा जायगा, दोनों को साथ-साथ स्मरण किया जायगा।

लेकिन कई दृष्टियों से गान्धी और नेहरू परस्पर प्रतिकूल हैं।

यद्यपि गान्धी ने इतिहास की सबसे बड़ी महान् प्रगति की एक घटना पर —इंग्लेंड द्वारा भारत के स्वाधीनताधिकार की स्वीकृति पर—सबसे अधिक प्रभाव डाला है तथापि गान्धी मूलतः स्थितिवादी थे। पिछली शताब्दी में विज्ञान का जीवन पर जो प्रभाव पड़ा है और उसके परिणाम में जो औद्योगिक क्रान्ति हुई, मशीन युग और नया अणु-युग आया, यह सब उन्हें प्रीतिकर नहीं था। उनका आदर्श सरल देहाती जीवन और देहाती गृह-शिल्प का ही था।

इसके विपरीत नेहरू हमेशा मूलतः प्रगतिवादी रहे हैं। वे इतिहास से लड़ाई नहीं मोल लेते। विज्ञान का जो दुरुपयोग हुआ है उससे उन्हें घृणा है; लेकिन मानव की विकसित होती हुई शक्तियाँ उन्हें आनन्द देती हैं। उनका विश्वास है कि इन शक्तियों को मानव जाति के उद्धार में लगाया जा सकता है और इस कार्य में योग देना वह अपना कर्तव्य समझते हैं।

यह कैसे हुआ कि दो मूलतः भिन्न समाज-दर्शन वाले ये दो व्यक्ति इतना घनिष्ठ राजनीतिक सहयोग स्थापित कर सके?

उनके सम्पर्क का आरम्भ तो इस बात से हुआ कि दोनों भारत की स्वाधीनता के लिए यत्नवान् थे, जवानी में ही नेहरू ने दक्षिणी अफ्रीका के जातीय भेद-भाव के विरोध में गान्धी के आन्दोलन की बातें पढ़ीं और उनसे स्फूर्ति और प्रेरणा पायी। गान्धीजी के नेतृत्व में नेटाल और ट्रांसवाल को भारतीय न केवल प्रस्तावों और भाषणों द्वारा बल्कि गत्यात्मक कर्म द्वारा मानवीय समानता का दावा कर रहे थे। उनका दल एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में बिना वह परमिट लिये जाता जो कि 'काले' आदमी के लिए आवश्यक था; सैकड़ों भारतीय खनिक मजदूरों ने हड़तालें कीं; बन्दी भारतीयों से जेल भर गये। उस समय नेहरू ने गान्धी के समाज-दर्शन का विवेचन और परीक्षण नहीं किया; यों उस समय महात्माजी के मूल सिद्धान्त बनने की क्रिया में ही थे। नेहरू ने इस समस्या पर विचार नहीं किया कि आन्दोलन हिंसात्मक हो या अहिंसात्मक। उन्होंने यही देखा कि अफ्रीका में अन्याय को चुनौती दी जा रही है और साहसिक कर्म किये जा रहे हैं और उनका असर पड़ रहा है। गान्धी उनके लिए एक आदर्श बन गये।

जब इस आदर्श पुरुष से नेहरू की भेंट हुई तब उस भव्य व्यक्तित्व का, जिसमें सन्त और राजनीतिक का सम्मिश्रण था, नेहरू पर गहरा प्रभाव पड़ा। गान्धी के अद्वितीय चरित्र पर नेहरू की व्यक्तिगत श्रद्धा ही मुख्यतया वह शक्ति थी जिसने सामाजिक दृष्टिकोण में इतने भेद के बावजूद नेहरू को महात्माजी के साथ रक्खा। महात्मा गान्धी की सम्पूर्ण निःस्वार्थता, सम्पूर्ण निर्भयता, निर्धन किसान और उपेक्षित 'अछूत' के साथ उनकी सम्पूर्ण आत्मीयता, उनके जीवन की सुन्दरता, सरलता और करुणा—इन सब ने नेहरू की श्रद्धा प्राप्त की। फलस्वरूप उनके सम्बन्ध में उनके जीवन-दर्शन का महत्त्व व्यक्तित्व के महत्व के आगे गौण हो गया। सामाजिक प्रगति पर गान्धीजी के विचार क्या हैं, इस प्रश्न का महत्व इस प्रत्यक्ष सत्य के सामने कम हो गया कि वह भारत की स्वाधीनता के लिए आमरण अनशन करने को तैयार हैं।

नेहरू ने यह भी पाया कि गान्धी के और उनके मानवीय मूल्य या मानदंडों में कोई अन्तर नहीं है, यद्यपि महात्माजी उनकी बौद्धिक अभिव्यक्ति दूसरे ढंग से करते हैं। किसान पर गान्धीजी का विश्वास नेहरू का भी विश्वास बन गया जब उन्होंने देखा कि किसान का जीवन किन परिस्थितियों में गुजरता है। गान्धी का हिन्दू-मुस्लिम एकता पर आग्रह था; उस

आदर्श की प्राप्ति नेहरू के जीवन का ध्येय बन गयी जब उन्होंने देखा कि दोनों ही विदेशी शासन से अपमानित और आर्थिक संगठन से शोषित हो रहे हैं। गान्धी का दावा था कि सब मनुष्य समान हैं, चाहे जिस जाति के हों; इस दावे पर नेहरू का आग्रह कम नहीं था। सामाजिक उन्नति की दोनों की परिकल्पना चाहे जितनी भिन्न रही हो, इन मूल सिद्धान्तों में दोनों में कोई भेद नहीं था।

किन्तु इन व्यक्तिगत समानताओं के अलावा गान्धी और नेहरू की राजनीतिक साझेदारी का ऐतिहासिक कारण भी था। भारत का राजनीतिक संघर्ष जिस स्थिति पर पहुँचा था, गान्धी का राजनीतिक दर्शन उसके अनुकूल था और नेहरू इस बात को समझते थे। गान्धी के अहिंसा के सिद्धान्त को वह सम्पूर्णतया स्वीकार करें या न करें, इतना वह जानते थे कि भारत में कोई दूसरी नीति सफल नहीं हो सकती। राजनीतिक समस्याओं पर गान्धीजी के आत्मवादी दृष्टिकोण से उनका चाहे जितना मतभेद हो, वह जानते थे कि इस बात में गान्धीजी भारत की लाखों किसान जनता के मन और आदर्श को प्रतिबिम्बित करते हैं। गान्धी का सन्त चरित्र, उनके विचार और जीवन की परिपाटी, उनका साहस और त्याग का उदाहरण, उनका अपरिग्रह, उनकी धर्म-निष्ठा—ये सब चीजें भारत की आत्मा के साथ मिली दीखती थीं, और भारत में राजनीतिक क्रान्ति से पहले जैसी आध्यात्मिक क्रान्ति की आवश्यकता थी, उसे गान्धी ही निष्पन्न कर सकते थे। नेहरू ने इस बात को समझा और अपने को उस व्यक्ति के अनुसरण के प्रति निष्ठा-पूर्वक समर्पित कर दिया जिसे कि विधि ने, घुटने टेके हुए, भारत को उठाकर सीधा खड़ा होने का और आत्म-गौरव का अनुभव करने का साहस देने के लिए चुना था।

और अब भारत उस स्थिति से आगे निकल आया है। वह न केवल आत्म-विश्वास और गौरव के साथ उठ खड़ा हुआ है बल्कि आगे भी बढ़ रहा है। और इस स्थिति में नेहरू के गुणों की उसे आवश्यकता है।

नेहरू की आधुनिक रचनात्मक बुद्धि, संसार के प्रत्येक भाग में होने वाले सामाजिक परिवर्तनों पर उनकी पकड़, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उनकी सूझ और पहुँच, भारत के स्वाधीनता-संग्राम में नेहरू के ये गुण मानो धरोहर रखे हुए थे और उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे जब भारत को उनकी आवश्यकता होगी। तब भी जब-तब ऐसे अवसर आते थे जब इन गुणों का उपयोग होता था, लेकिन तब वह पनप रहे और पुष्ट हो रहे थे उस दिन के लिए जब उनकी चरम आवश्यकता होगी।

और वह दिन आज आ गया है।

मार्च १९४९

बुद्धि, भक्ति और कर्म का सुमेल

किशोरलाल घ० मशरूवाला

पंडित जवाहरलालजी के बारे में लिखना यों ही मेरे लिए मुश्किल बात है। बात यह है कि पंडित जी के बहुत निकट सम्पर्क में आने का मुझे मौक़ा नहीं मिला। मैं उन्हें पहचानता हूँ, वे मुझे पहचानते हैं। बापू के पास कभी-कभी दोनों साथ में बैठे हैं, कभी-कभी दो-चार वाक्य भी एक दूसरे से बोले हैं, और कार्यपरत्व पत्रव्यवहार भी हुआ है। जो उन्हें और मुझे दोनों को अच्छी तरह जानते हैं, उनके द्वारा मैंने उनके बारे में सुना है। उन्हें मेरे विषय में सुनने का कितना मौक़ा आया होगा, मैं नहीं जानता। बहुत मुमकिन है कि बहुत ही कम। और आश्चर्य है कि उनके ज्यादा सम्पर्क में आऊँ, ऐसी दिल में हमेशा ख़ाहिश रही है, फिर भी इसमें मेरा अपना स्वभाव ही कारण है। सिर्फ़ पंडितजी के बारे में ही ऐसी बात है सो नहीं। पू० बापू के पास बीसों बड़े-बड़े नेता और देश-विदेश के प्रतिष्ठित लोग आते थे, मैं पास ही बैठा रहता, या काम करता। फिर भी बहुत ही कम लोगों से मेरा व्यक्तिगत परिचय हुआ। किसी कार्य के सिलसिले में जब निकट पहुँचना हुआ, तभी मैं किसी से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर सकता हूँ।

मैं पुस्तक पढ़ने में भी सदा सुस्त रहा हूँ। मैं नहीं कह सकता कि मैंने उनके बहुत ग्रन्थ और विविध लेख पढ़े हैं, बल्कि इनका कुछ-कुछ अंश ही पढ़ा है। फिर भी मैं उनका जीवन कम से कम १९३१ से देखता आया हूँ। पू० बापूजी, श्री महादेव भाई, श्री जमनालाल जी बजाज आदि द्वारा कुछ-कुछ सुना है, उनके कोई-कोई पत्र भी देखे हैं। उनके प्रेमविवश होते हुए देखने का तो मौक़ा नहीं मिला, परन्तु चिढ़ते हुए देखा है, और देखा है कि जब वह चिढ़ते हैं, तब आसपास के लोगों का उनपर गुस्सा नहीं उलटता, बल्कि वे उनको अधिक प्यार करने लगते हैं।

सन् १९३२ के लगभग की एक घटना याद आती है, जो मुझे उसके साक्षी बने हुए मेरे एक छोटे भतीजे ने बतायी थी। पू० बापूजी उन दिनों बम्बई में गामदेवी पर मणिभुवन में उतरा करते थे। पंडित जवाहरलालजी वहाँ जा रहे थे या वहाँ से वापिस लौट रहे थे। वह मोटर पर सवार थे। पर सामने भी मोटरों की क़तार थी और रास्ते पर दर्शनार्थियों की बड़ी भीड़ लगी हुई थी। पंडितजी की मोटर का रास्ता रुक गया था, और उन्हें जाने की उतावली थी। बग़ल में एक मोटर थी जिसमें मेरा भतीजा और दूसरे लोग थे। उसे भी हिलने के लिए रास्ता नहीं था, पंडितजी की मोटर के लिए रास्ता कैसे करे? पंडितजी चिढ़े और मोटर में खड़े हो गये। आगे की मोटर वालों को, पड़ोस की मोटर वालों को, रास्ते पर की भीड़ को डाँटने लगे। मेरे भतीजे ने घर लौटने पर मुझे कहा: "पंडित जवाहरलालजी को आज गुस्सा करते देख बड़ा मज़ा आया। मैं समझता था कि मेरे जैसे लड़के को ही ऐसे वक़्त गुस्सा आता है, बड़ों को नहीं आता! परन्तु पंडितजी को चिढ़ते देखकर संतोष हुआ, वे बहुत सुन्दर लगते थे।"

गुस्सा और सौन्दर्य! कैसी जोड़ी? फिर भी पंडितजी के विषय में यह बात किसी तरह हमेशा रही है। वे बहुत गम्भीरतापूर्वक भविष्य के महान् आदर्श और भव्य कल्पनाओं का चित्र खींचते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की बातें समझाते हैं। तब विद्वान्, राजनीतिज्ञ और तरुण मुग्ध होते हैं और उनके प्रति आदर अनुभव करते हैं। लेकिन जब वे ग़ुस्से में आकर कहीं दौड़ जाते हैं, किसी को डाँटते हैं, तो साधारण जनता को उनमें ज्यादा रस आता है मानो तब उन्हें लगता है कि यह तो हम-सा आदमी है, बड़ा साफ़ आदमी है। दिल में आता है, वही बोल और कर डालता है। किसी की परवाह नहीं करता। बहादुर है।

सम्भव है कि उनके इस प्रियकर गुस्से में जनता उस प्रकार का भाव अनुभव करती हो जो इकलौते बेटे की माँ में होता है, और जिसका वर्णन कृष्ण की बाललीला में पाया जाता है। और सम्भव है कि पंडितजी के इस स्वभाव का कारण भी यही हो कि वे इकलौते बेटे रहे। लेकिन यह मनोविज्ञान के जानकारों का विषय है। उसमें मैं अधिकारपूर्वक नहीं बोल सकता।

पंडितजी की राजनीति और अर्थनीति हमें कहाँ ले जायगी ? मैं जानता हूँ कि इस विषय पर कई लोगों को बड़ी चिंता रहती है। न सब समाजवादी उनसे सन्तुष्ट हैं, न पूँजीवादी, न गान्धीवादी। गान्धीजी ने उन्हें अपना वारिस जाहिर किया और वह सन्तोष और गर्व के साथ किया। परन्तु जो खुद को गान्धीवादी मानते आये हैं उन्होंने पंडितजी को अपना बड़ा भाई मानने से क़रीब-क़रीब इनकार कर दिया है। वे खुद को समाजवाद में मानते हैं, परन्तु समाजवादी या मार्क्सवादी उन्हें अपने में का एक मानने के लिए तैयार नहीं। पूँजीवादी भला उन्हें अपना आदमी कैसे मानें ?

तब वे कौन हैं ? यही सवाल पूज्य बापू के विषय में भी था। वे खुद को हमेशा सनातनी हिन्दू बतलाते आये; लेकिन सनातनियों ने उन्हें कभी अपना समझा नहीं, बल्कि हिन्दुत्व का दुश्मन ही समझा, और वैसा समझकर उनका खून किया। जैनी पंडितों को उनकी अहिंसा में कुछ कच्चापन मालूम होता रहा। वे मानते थे कि वह जैन धर्म को पूरा अपनाते तो उनमें रही मिथ्यात्व दृष्टि निकल जाती। ईसाइयों और मुसलमानों की दृष्टि में वही उनकी कमी रही कि उन्होंने (ईसाई की दृष्टि से) ईसा मसीह को और (मुसलमान की दृष्टि से) पैग़म्बर मुहम्मद को स्वीकारा नहीं।

पंडितजी के विषय में ऊपर लिखा विचार और उसकी बापू के साथ तुलना इसी क्षण मन में उठी, और लिखता हूँ तो काँप उठता हूँ। क्या गान्धीवादी उनका त्याग कर देंगे और क्या सनातनी हिन्दू की तरह समाजवादी ही उन्हें अपना दुश्मन तो नहीं समझ बैठेंगे ? परन्तु दिल को आश्वासन देता हूँ कि यह सिर्फ "स्नेहः पापशंकी" का परिणाम है।

लेकिन फिर पंडितजी कौन वादी हैं ? और बापू ने उनमें कौनसी विशेषता पायी जिससे उन्हें ही अपने वारिस के तौर पर स्वीकार करने में उन्हें सन्तोष मालूम हुआ ?

मैं मानता हूँ कि बापू ने जैसी खुद में निष्कपटता और जनसेवा थी वैसी ही उनमें पायी, और उससे वे प्रसन्न हुए। बुद्धि, भक्ति और कर्म का सुमेल उन्हें मालूम हुआ। और जहाँ ये एकत्र होते हैं, वह आखिर में कोई वादी नहीं बन सकता, सिर्फ़ सत्य का उपासक ही बन सकता है। अथवा सत्य की उपासना में श्रद्धा को 'वाद' कहें तो वे बापू की तरह सत्यवादी ही बनकर रह जायँगे।

भगवान् उन्हें चिरायु करें।

मार्च १९४९

एक व्यक्ति-चित्र

लीलावती मुंशी

जवाहरलाल नेहरू को उनके जन्मदिन पर बधाई देना बहुत आसान है, क्योंकि यह प्रत्येक भारतीय बिना किसी संकोच के कर सकता है। महात्मा गान्धी के बाद कोई दूसरा व्यक्ति भारत के प्रधान मन्त्री-सा लोकप्रिय नहीं है।

पंडित नेहरू पर श्रद्धा रखना एक बात है, उनके व्यक्तित्व को समझना दूसरी बात। हम उनके साहस, उनकी स्पष्टवादिता, उनके उदार हृदय के लिए उन पर श्रद्धा कर सकते हैं। वह एक नहीं, दो पीढ़ियों के प्रतिनिधि रहे हैं। पंडित नेहरू भावुक हैं और उनकी कई भावनाएँ उन्हें जनता के निकट लाती हैं। उनके आवेश में किये गये कर्म भी प्रशंसा पाते हैं, क्योंकि लोग समझते हैं, यह उनकी अधीरता, बुराई के प्रति असहिष्णुता का परिणाम है। वह हँसते हैं तो जनता मुदित होती है; उनकी त्यौरी चढ़ती है तो लोग उन्हें प्रसन्न करने के लिए आतुर हो उठते हैं।

पंडित नेहरू बड़े भाग्यशाली हैं, जन्म से ही वह भाग्य के लाड़ले रहे। स्नेही पिता ने उन्हें सब कुछ दिया और उनके राजनीतिक जीवन के निर्माण में मदद की। गान्धीजी ने भी बड़े स्नेह से रखा और नेहरू-परम्परा को आगे बढ़ाने में उनकी सहायता की। जवाहरलाल इन दोनों महान् व्यक्तियों के उत्तराधिकारी हैं जिन्होंने उनकी राजनीतिक प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए कुछ भी उठा नहीं रखा। इसमें सन्देह नहीं कि इन अनुकूल परिस्थितियों के अलावा उनमें अपने अनेक गुण और सहज प्रतिभा थी जो इन परिस्थितियों में विकास पा सकी।

पंडित नेहरू स्पष्टवादी हैं। वह अपने मन की बात निर्भीक होकर कहते हैं,; जनता की भावनाओं के प्रति सजग भी रहते हैं। निजी तौर पर भेंट करते समय उनमें एक गम्भीरता लक्षित होती है, लेकिन मानव-जाति से उन्हें प्रेम है और मानव की उन्नति उन्हें रुचती है। व्यक्तियों के सामने वह भले ही कम शब्द बोलते हों; जनता से बात करना उन्हें हर समय रुचता है। वह स्वभावतः अधीर हैं, लेकिन उनकी अधीरता में भी एक ढंग है। वह एक आकस्मिक बादल की तरह आकर बरस कर चले जाते हैं; उसके बाद निखरी हुई धूप-सी उनकी मुस्कान सारी कटुता और मालिन्य दूर कर देती है।

पंडित नेहरू वीर हैं, उन्हें जोखम उठाना अच्छा लगता है—शारीरिक भी और अन्य प्रकार की भी। कायरता से उन्हें बहुत घृणा है। उनका विश्वास है कि जीवन का पूरा रस लेकर जीना चाहिए और जोखम-भरा जीवन ही सम्पूर्ण जीवन है। वह दूसरों को कोई ऐसी जोखम उठाने के लिए नहीं कहते जो वह स्वयं नहीं उठाते। वह निर्माता भी हैं और कर्त्ता भी। इसलिए वह जनता के लाड़ले हैं।

वह स्वप्न-द्रष्टा हैं; उनके स्वप्न विराट् हैं और कई स्वप्नों को पूरा करने का सौभाग्य भी उन्हें प्राप्त हुआ है। उनकी सहानुभूति गर्म विचार वाले लोगों के साथ है, लेकिन ठीक प्रतिकूल विचार रखने वालों के साथ भी वह काम कर सकते हैं। वह प्रजातन्त्रवादी हैं और जनता की राय से चलते हैं; लेकिन उनकी राजनीतिक कुशलता ऐसी है कि जनमत के और स्वयं अपने मत के विरुद्ध कर्म करके भी वह उसके उत्तरदायित्व से बच सकते हैं।

वह उदार और महान् हृदय रखते हैं; बच्चों से और खेल से उन्हें दिलचस्पी है; बहस-मुबाहिसे से उन्हें रुचि है और हर विषय पर उनके पास कहने के लिए कुछ है। कला और कलाकार के वह पारखी हैं और उनकी उन्नति के लिए हर तरह का उद्योग करते हैं।

पंडित नेहरू प्रजातन्त्रवादी भी हैं, और —यद्यपि इसमें विरोधाभास है—नौकरशाही भी। उनमें पूर्वग्रह बहुत

थोड़े हैं, लेकिन जो हैं उनसे वह बच नहीं सकते। उनका शरीर स्वस्थ और सुगठित है; स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति है जिससे वह जैसा चाहते हैं वैसा करा के ही रहते हैं।

केवल भारत में ही नहीं, विदेशों में भी उनकी प्रशंसा है, क्योंकि संसार में स्थायित्व के लिए उनकी आवश्यकता है। परमात्मा उनको चिरायु करे और भारत उनके अधीन उन्नति कर सके।

मई १९४९

अन्तर्राष्ट्रवादी नेहरू

कालिदास नाग

महात्मा गान्धी के बीस वर्ष बाद और सरोजिनी नायडू के दस साल बाद जनमे पंडित नेहरू को महात्माजी की आध्यात्मिक सन्तान और सरोजिनी देवी का भाई कहा जा सकता है। वह आध्यात्मिक और सांस्कृतिक शिष्य-परम्परा में हैं। और इसलिए नये भारत में अन्तर्राष्ट्रवाद के विकास की दृष्टि से पंडित नेहरू के विश्वराजनीति-सम्बन्धी दृष्टिकोण की परीक्षा करना उपयोगी समझता हूँ। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि भारत जैसे देश में, जहाँ कि १९वीं शती में राष्ट्रवाद ही मुख्य था और पाश्चात्य दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए कोई स्थान ही नहीं था, वहाँ अन्तर्राष्ट्रवाद की चर्चा व्यर्थ है। यह भी कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता पाने के अपने लम्बे और दृढ़ प्रयत्नों के बावजूद भारतीय जाति राजनीतिविज्ञान और अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की दृष्टि से राष्ट्र का पद नहीं पा सकती थी। १५ अगस्त १९४७ तक भारत एक राष्ट्र नहीं था। तब राष्ट्रनिर्माण की इस अवधि में भारतीय नेताओं के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का सवाल ही नहीं उठता। लेकिन इस प्रश्न पर भारत का राष्ट्रवाद के पश्चिमी सैद्धान्तिकों से मतभेद रहा है, जिन्होंने कि राष्ट्रवाद की ऐसी परिभाषा की है जिससे वह सम्पूर्णतया राजनीतिक आत्म-निर्भरता और सैनिक शक्ति पर आधारित हो गया है। ऐसी परिभाषा के बुरे परिणामों का भंडाफोड़ रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सन् १९१५ में प्रकाशित अपने महान् ग्रन्थ 'राष्ट्रीयता' में किया था। कवि होते हुए भी रवीन्द्रनाथ ने ही राष्ट्रीयता के पाश्चात्य सिद्धान्तों की पहली रचनात्मक आलोचना की और एक नयी सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का निरूपण किया जिसका आधार आध्यात्मिक है। एशिया के कविगुरु ने भारतीय मनीषियों की विश्व-परिकल्पना के साथ एशिया के राष्ट्रों के आध्यात्मिक अनुभव का सामंजस्य स्थापित करने की भी कोशिश की। हम देखते हैं कि १९वीं शताब्दी के आरम्भ में राजा राममोहन राय और अन्त में स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त-दर्शन की अपनी व्याख्याओं से मानव जाति की आध्यात्मिक एकता का प्रचार किया था। इस धार्मिक-दार्शनिक अद्वैत का प्रभाव आध्यात्मिक भारत में राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन पर, जिसका प्रतीक पंडित नेहरू का जीवन और उनके विचार हैं, अवश्य ही पड़ा होगा। यद्यपि विधि ने उनको हमारे देश की राजनीति में प्रमुख भाग लेने के लिए वरण किया है, तथापि वह एक छिपे हुए दार्शनिक हैं और ठाकुर तथा गान्धी के योग्य अनुयायी। यह हम सब की जानी हुई बात है कि इन दोनों के जीवन और कर्म के प्रति जवाहरलाल में गहरा सम्मान का भाव रहा है।

लेकिन पंडितजी के अपने जीवन और कर्म का क्षेत्र १९वीं शती के अन्तिम दशाब्द और २०वीं के पूर्वार्ध में रहा है। इस महत्त्वपूर्ण काल में, जैसा कि हम सब जानते हैं, विक्टोरिया युग के रोमानी आदर्शवाद को हमारे राजनीतिक और आर्थिक जीवन की कटु यथार्थता का सामना करना पड़ा जिसके आगे सब भविष्यवाणी बेकार हो गयी। इस युग में यान्त्रिक उद्योग सभी 'अधिकतम संख्या के अधिकतम हित' के आदर्श से स्खलित हो गया है। ऐडम स्मिथ के 'वैल्थ आफ़ नेशन्स' के प्रकाशन के सौ वर्ष के भीतर ही यह परिस्थिति उत्पन्न हो गयी कि थोड़े-से सफल राष्ट्र, अधिकांश कम भाग्यशाली राष्ट्रों पर अपने साम्राज्य और उपनिवेशों को क़ायम रखने के लिए आपस में ही लड़ने लगे। इसके साथ ही 'गोरी जातियों के उत्तर-दायित्व' के जाति-द्वेष पर आधारित और मिथ्या सिद्धान्त का भी प्रचार हुआ, जिसकी निष्पत्ति हिटलर के 'श्रेष्ठ जाति' के सिद्धान्त और दूसरे महायुद्ध में हुई।

जवाहरलाल जब स्कूल में पढ़ते थे, उन दिनों थोड़ी-सी यूरोपीय शक्तियों द्वारा अफ़्रीका के स्वार्थपूर्ण विभाजन के परि-णाम-स्वरूप वहाँ बोअर युद्ध हुआ था। जिन दिनों जवाहरलाल अपनी भूगोल की पढ़ाई के सिलसिले में दुनियाँ का नक़्शा देख रहे होंगे उस समय रवीन्द्रनाथ ने अपनी अमर कविता 'शताब्दी का सूर्यास्त' में पश्चिम के विषय में अपनी भविष्यवाणी कर दी थी। यह कविता ३१ दिसम्बर १८९९ को लिखी गयी थी। यह समय था (सन् १८९३ से) जब कि मोहनदास करम-चन्द गान्धी साउथ अफ़्रीका में दलित मानवता के उद्धार के लिए सत्याग्रह कर रहे थे। सन् १८९६ में गान्धीजी कांग्रेस

में कलकत्ते आये। वहाँ उन्होंने अफ़्रीका के प्रवासी भारतीयों के विषय में पहला प्रस्ताव पेश किया। वहाँ उनका हमारे राजनीतिक नेताओं से परिचय हुआ। कलकत्ते में वह एक महीने गोखले के साथ रहे, जिनके साथ फिर उन्होंने लगभग २० वर्ष (१८९६–१९१६) तक काम किया। इसके बाद उन्होंने विदेशी सत्ता की शस्त्र-शक्ति के विरुद्ध अहिंसा-युद्ध आरम्भ कर दिया। गान्धी जी के सत्याग्रह आन्दोलन ने, जो कि बंग-भंग के स्वदेशी आन्दोलन के लगभग साथ ही साथ आरम्भ हुआ, उस आन्दोलन को निरे राष्ट्रीय संघर्ष के प्रश्न से कहीं ऊँचा उठा दिया, क्योंकि उन्हीं दिनों हम महात्मा जी को टालस्टाय के साथ पत्र-व्यवहार करते हुए पाते हैं। टालस्टाय का, जो पाश्चात्य जगत् में अन्तिम ऋषि थे, सन् १९१० में देहान्त हुआ। गान्धी जी सन् १९१४ में दक्षिण अफ़्रीका से भारत लौटे। उस वर्ष जवाहरलाल जी इँगलैण्ड में अपनी वकालत की दीक्षा पूरी कर रहे थे। हेरो में इतिहास और भूगोल, केम्ब्रिज में विज्ञान और अर्थशास्त्र और लन्दन में क़ानून पढ़ते समय जवाहरलाल सरीखे संवेदनशील युवक ने बहुत-से नये विचार अपनाये होंगे। इतिहासकार जवाहरलाल ने अपनी आत्मकथा में ऐसे कई विचारों का उल्लेख किया है जिनसे वह प्रभावित हुए।[1]

सन् १८८९ में जनमे जवाहरलाल ने रूस-जापान-युद्ध (१९०४-५) के अपने मन पर पड़े प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह युद्ध की ताज़ी खबरों के लिए अखबार की उत्कट प्रतीक्षा किया करते थे; उन्होंने जापान के बारे में कुछ पुस्तकें भी ख़रीदी थीं, उदाहरणतया लेफ़काडियो हर्न की वर्णन-पुस्तकें। कल्पना में वह खड्गहस्त होकर योरोपीय प्रभाव से एशिया को मुक्त करने के लिए और भारत की स्वाधीनता के लिए युद्ध किया करते थे। जापान की विजय में उन्होंने एक यूरोपीय राष्ट्र रूस पर एक पूर्वीय शक्ति की विजय देखी और इसने इन्हें बहुत प्रभावित किया। उस समय उनके मन में वही आक्रामक राष्ट्रवाद छाया हुआ था जो कि लार्ड कर्ज़न के दमनपूर्ण शासन में, जिसमें बंग-भंग हुआ और स्वदेशी आन्दोलन का जागरण हुआ, सारे तरुण भारत को उत्तेजित कर रहा था। मई १९०५ में जवाहरलाल अपने माता-पिता और शिशु बहन के साथ इँगलैण्ड गये। सन् १९०५ में, अन्तिम दिनों में, उन्होंने इँगलैण्ड का आम चुनाव देखा जिसमें कि लिबरल दल विजयी हुआ। सन् १९०६ के आरम्भ में उन्होंने कैम्पबैल-बैनरमैन के पूरे मन्त्रिमंडल के नाम याद से सुनाकर अपने अध्यापकों को चकित किया था। उड्डयन विज्ञान में तभी से उन्हें रुचि हो गयी थी और इँग्लैंड के राइट बन्धुओं तथा पेरिस के ब्लेरियो की प्रभावोत्पादक उड़ानों में वह बड़ी दिलचस्पी ले रहे थे। पंडित मोतीलाल नेहरू के नाम आज से चालीस वर्ष पहले लिखे गये एक पत्र में उन्होंने यह भविष्यवाणी भी की थी कि वह कदाचित् निकट भविष्य में

[1] रवीन्द्रनाथ ठाकुर (१८६१-१९४१), स्वामी विवेकानन्द (१८६३-१९०१) और महात्मा गान्धी (१८६९-१९४८) तीनों ने राष्ट्र के पुनरुत्थान के अलग-अलग क्षेत्र में काम किया लेकिन तीनों ही भावना और दृष्टिकोण के ख़्याल से अपूर्व थे। तीनों ने अपने-अपने ढंग से हमारे पहले अन्तर्राष्ट्रीयवादी राजा राममोहन राय (१७७४-१८३३) के एकाकी उद्योग को पुष्ट किया। राजा राममोहन राय न केवल पहले विश्व-धर्म के चर्च के संस्थापक थे (१८८८) बल्कि हमारे पहले सांस्कृतिक राजनीतिक भी थे। उन्होंने फ़ारसी, बँगला और अंग्रेज़ी में आयरलैंड, इटली और टर्की के प्रति, भारत की किसान प्रजा के प्रति, दक्षिणी अमरीका और अन्य देशों की स्वतन्त्रता के लिए लड़ने वालों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की। इसीलिए जेरेमी बेंटहम ने "मानव जाति की सेवा में रत हमारी अत्यन्त प्रशंसा और स्नेह के पात्र सहयोगी" कहकर उनका अभिनन्दन किया है। अभी हाल में राजा राममोहन राय का फ़्रांस के परराष्ट्र सचिव के नाम लिखा हुआ सन् १८३० का पत्र मिला है जिसमें उन्होंने 'लीग आफ़ नेशन्स' के बारे में कल्पना की है। उन्होंने 'राष्ट्रीय संस्कृतियों के संघ' की बात की है। पाश्चात्य राष्ट्रों से उन्होंने अपील की कि 'मानवीय आदान-प्रदान को सब तरह से सुविधा दें। यथा-सम्भव उसकी सब बाधाएँ दूर करें, ताकि समूची मानव जाति के कल्याण और आदान-प्रदान तथा आनन्द की वृद्धि हो।

राममोहन राय से लेकर महात्मा गान्धी तक के युग में भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को विश्व-मैत्री और स्वातन्त्र्य का यह आदर्श अनुप्राणित करता रहा है और उसे अन्तर्राष्ट्रीय, बल्कि आध्यात्मिक, रूप देता रहा है : न कि संघर्ष और विरोध के केवल नकारात्मक पहलू। राममोहन राय में यही आदर्श अभिव्यक्त हुआ था; पंडित नेहरू उस परम्परा को बीसवीं शती के उत्तरार्ध के आरम्भ तक ले आये हैं, जब कि हम एक तीसरे विश्व-महायुद्ध और मानव जाति के नये विभाजन के किनारे खड़े जान पड़ते हैं।

हेरो से भारत प्रति सप्ताह हवाई जहाज में आ सकेंगे। सन् १९०६-७ में वह स्वदेशी और बहिष्कार के आन्दोलनों का और तिलक, लाजपतराय, अजितसिंह आदि गर्म दल के नेताओं के विचारों का अध्ययन कर रहे थे। यही दिन थे जब सन् १९०६ की कलकत्ता-कांग्रेस में सर्व-सम्मानित नेता दादाभाई नौरोजी ने पहले-पहल स्वराज के आदेश का निरूपण किया था। तभी से जवाहरलाल हेरो स्कूल की चार-दिवारी फाँदकर इटली के देशभक्त गेरीबाल्डी की ट्रेवेलियन-लिखित जीवनी से उलझ रहे थे। स्वतन्त्र इटली के निर्माण में गेरीबाल्डी की वीरता जवाहरलाल के मन में भारत की स्वाधीनता का स्वप्न जगा रही थी जब कि उन्होंने सन् १९०७ में ट्रिनिटी कालेज केम्ब्रिज में प्रवेश किया। यहाँ तीन वर्ष में उन्होंने अपनी भौतिक विज्ञान की शिक्षा सम्पन्न की—रसायन, वनस्पति-शास्त्र और भूगर्भ-विज्ञान उनके विशेष विषय रहे। अनन्तर जवाहरलाल हमारे पहले विज्ञान-विद् राजनीतिक हुए और राष्ट्रीय निर्माण-आयोजन समिति के प्रधान बने, यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। कालेज के दिनों में बर्नर्ड शा, लोज़डिकिन्सन, नीत्शे, क्राफ़्ट-एबिन, हेवेलक ऐलिस आदि उनकी विशेष रुचि के लेखक थे—अर्थात् भौतिक विज्ञान के साथ-साथ वह मानस-शास्त्र और नीति-शास्त्र का भी अध्ययन कर रहे थे। इन्हीं दिनों हम पाते हैं कि पूर्व और पश्चिम के संघर्षों का जवाहरलाल पर गहरा प्रभाव पड़ा और मेरेडिथ टाउनसेंड के ग्रन्थ 'एशिया और यूरोप' ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया। सन् १९४७ की पहली अखिल एशिया कानफ़रेन्स की पूर्व सूचना यहाँ से मिलती है।

सन् १९०७ से आगे, 'ग़दर'—हमारे पहले स्वाधीनता-संग्राम—की ५० वीं वर्षगाँठ के समय से हमारे देश में संघर्ष की जो लहर उठी और जिसने सूरत में काँग्रेस के पुराने संगठन को तोड़ दिया, वह जवाहरलाल को अच्छी तरह स्मरण है। इन्हीं दिनों प्रसिद्ध अंग्रेज पत्रकार नेविनसन, जो भारतीय राष्ट्रवाद के विषय में लिखते थे, पंडित मोतीलाल नेहरू के अतिथि रहे। केम्ब्रिज से दूसरी श्रेणी में ससम्मान उत्तीर्ण होकर जवाहरलाल ने लंडन में दो वर्ष और बिताये। इसमें वह क़ानून का अध्ययन करते रहे और राजनीति तथा फेबियन और अन्य प्रकार के समाजवादी विचारों और आदर्शों का अध्ययन विवेचन करते रहे। यूरोपीय महाद्वीप से उनका पहला सम्पर्क तब हुआ जब वह अपने पिता के साथ सन् १९०९ में बर्लिन गये, जिस समय काउंट ज़ेपलिन ने अपने आविष्कृत अनूठे वायुयान को उड़ाया था। अनन्तर पेरिस में सन् १९१६ में जवाहरलाल ने काउंट लेबिये को ईफ़ेल मीनार के ऊपर से अपना वायुयान उड़ाते देखा। सन् १९१२ की गर्मियों में अपनी क़ानून की शिक्षा सम्पन्न करके जवाहरलाल कुछ दिनों के लिए नार्वे गये और फिर सात वर्ष के प्रवास के बाद, २३ वर्ष की आयु में, बैरिस्टर बनकर भारत लौटे।[1]

सन् १९१६ में जवाहरलाल जी का विवाह हुआ। उनकी पत्नी कमलाजी का अकाल देहान्त सन् १९३६ में हो गया। इन्दिरा उनकी एक मात्र सन्तान है और उनको जवाहरलाल जी ने जेल से सन् १९३०-३३ में एक सुन्दर पत्रमाला

[1] सन् १९१२ में जब जवाहरलाल भारत लौट रहे थे तब उनकी आत्मा उस पीढ़ी की आशाओं और आशंकाओं से व्यस्त थी जो कि पहले महायुद्ध का सामना कर रही थी। सन् १९०७ के हेग के दूसरे महासम्मेलन और सन् १९१० की लन्दन की घोषणा से वह परिचित थे। यूरोप के अन्तिम शान्तिवादी दार्शनिक टालसटाय दिवंगत हो चुके थे; महात्मा गान्धी, गोखले के सहयोग से, स्मट्स-गान्धी समझौते की तैयारी कर रहे थे और आशा कर रहे थे कि बीस वर्ष (१८९३-१९१२) से चले आये दक्षिण अफ़्रीकी सरकार और भारतीय प्रवासियों के संघर्ष का अन्त हो जायगा। लन्दन में विश्व-जाति-सम्मेलन में जाति-द्वेष की दारुण समस्या का विवेचन हो रहा था। इस सम्मेलन की प्रशंसा स्वामी विवेकानन्द, सिस्टर निवेदिता और विद्वान् भारतीय दार्शनिक आचार्य ब्रिजेन्द्रनाथ शील ने की थी। राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद के संघर्ष का चित्रण रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपने उपन्यास 'गोरा' में कर ही चुके थे। सन् १९१२ में ठाकुर लन्दन में ही थे और उनकी 'गीतांजलि' के अंग्रेजी अनुवाद का प्रकाशन हो रहा था—जिस पर उन्हें अगले वर्ष नोबेल पुरस्कार मिला। कवि की असाधारण भविष्यकल्पना इस बीच नाटक 'प्रायश्चित्त' में ारत के भावी असहयोग आन्दोलन का आभास दे चुकी थी। 'डाकघर' और 'अचलायतन' दो और नाटकों में इसका विकास भी हो चुका था। मानवीय यातना की उमड़ती हुई लहर के सामने कोई भी बोझ अडिग होने का दावा नहीं कर सकती थी—ब्रितानी साम्राज्य भी नहीं। ठाकुर की काव्य-वीणा और गान्धी की सन्तवाणी ने इस मानवीय यातना का उन्नयन किया। यह एशिया की जागृति का युग था जिसमें चीन में मांचू शासन का पतन हुआ, चीनी प्रजातन्त्र की नींव पड़ी, भारतीय कांग्रेस का रूपान्तर हुआ।

लिखी जो कि अनन्तर 'विश्वइतिहास की झलक' नाम से प्रकाशित हुई। केम्ब्रिज से शिक्षित वैज्ञानिक के नाते नेहरू सहज ही किसी विश्वविद्यालय में विज्ञान के अध्यापक और अन्वेषक हो सकते थे। विज्ञान के प्रति उनकी लगन उन्हें सहज ही उस क्षेत्र में अग्रणी बना देती। इसी तरह बैरिस्टर होने के और भारत के वकीलों में प्रमुख पंडित मोतीलाल की एक मात्र सन्तान होने के नाते जवाहरलाल थोड़े-से परिश्रम से सहज ही वकालत के क्षेत्र में नाम और धन कमा सकते थे। लेकिन उन्होंने दो में से किसी को नहीं चुना और राष्ट्रीय राजनीति का कंटकाकीर्ण पथ ही चुना। इससे उनका लाभ हुआ या हानि, इसका उत्तर समकालीन इतिहास ही देता है। आज यह असंदिग्ध है कि उन्होंने उचित निर्णय किया, और वह हमारी राजनीति में ऐसा तथ्य लाने में सफल हुए जो कि अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व रखता है।

सन् १९१२ के जाड़ों में उन्होंने पहली बार काँग्रेस के अधिवेशन में भाग लिया। यह अधिवेशन बाँकीपुर-पटना में हुआ। उन्होंने पाया कि यह एक लगभग सामाजिक अवसर है। केवल गोखले की प्रतिभा और शक्ति ने उन्हें प्रभावित किया, बल्कि वह यह भी सोचने लगे कि वकालत छोड़कर 'सर्वेन्ट्स आफ़ इंडिया सोसायटी' के सदस्य बन जायँ। नरम दल का युग समाप्त हो रहा था, पहले महायुद्ध के आरम्भ होते ही तिलक और एनी बेसेंट के नेतृत्व में होमरूल आन्दोलन आरम्भ हो गया। सरकार के कान खड़े हुए और एनी बेसेंट को बन्द कर दिया गया, क्योंकि होमरूल आन्दोलन से सैनिक उद्योग में बाधा पड़ने की आशंका थी। इससे होमरूल लीग का विस्तार और भी बढ़ गया और तेज बहादुर सप्रू, मोतीलाल नेहरू आदि नेता भी उसमें सम्मिलित हो गये। इलाहाबाद में सन् १९१५ में जब जवाहरलाल पहली बार एक राजनीतिक वक्ता के रूप में मंच पर आये और उन्होंने आर्डिनेन्स द्वारा भाषण और प्रकाशन का दमन करने की सरकार की नीति का ज़ोरदार विरोध किया तब डाक्टर सप्रू ने मंच पर ही जवाहरलाल को गले से लगाकर बधाई दी। सन् १९१६ में लखनऊ काँग्रेस ने काँग्रेस और मुस्लिम लीग के सहयोग की नीति को स्वीकार किया।[1]

इसी बीच मांटेगू साहब भारत पधारे। मांटेगू-चेम्सफ़ोर्ड योजना ने भारत की तरक्क़ी के लिए तो विशेष कुछ नहीं किया लेकिन हिन्दू और मुस्लिम नेताओं के बीच में फूट अवश्य डाल दी और सन् १९१८ में दोनों के बीच में खाई स्पष्ट नज़र आने लगी।

पहला महायुद्ध समाप्त हुआ। मित्रराष्ट्रों की जय हुई। भारत ने युद्ध में जन और धन की बहुत बड़ी क्षति उठायी थी और इसलिए भारतीयों को पूरी आशा थी कि उनकी परिस्थिति में कुछ सुधार होगा। लेकिन हुआ ठीक उलटा। जनता के दमन के लिए रौलट क़ानून जारी हुआ और सन् १९१९ में अमृतसर का हत्याकांड हुआ। नरम दल के नेताओं से मोतीलाल जी अधीर हो रहे थे। उन्होंने इलाहाबाद से 'इंडिपेंडेंट' का प्रकाशन आरम्भ किया और कुछ समय के लिए जवाहरलाल जी को उसका संचालन-भार ग्रहण करने के लिए कहा। सन् १९१९ के जाड़ों में काँग्रेस अमृतसर में हुई और इस अधिवेशन को पहला सम्पूर्ण गान्धी-अधिवेशन कहा जा सकता है। गान्धी जी ने हाल ही में छूटे हुए अली-बन्धुओं को गले लगाया और जनवरी १९२० में खिलाफ़त आन्दोलन का नया परिच्छेद आरम्भ किया। १ अगस्त १९२० को गान्धी जी का असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ।

जिस समय भारत की राजनीति में ये महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे, उस समय जवाहरलाल अवध के किसानों की शोचनीय परिस्थिति का पहले-पहल अध्ययन कर रहे थे। रूस में सोवियत शासन की स्थापना के तीन वर्ष बाद ही हम पाते हैं कि जवाहरलाल भारत के औसत राजनीतिक को 'बूर्जुआ राजनीति का शिकार' कहकर उसकी निन्दा कर रहे हैं। उन्होंने यह समझा कि प्रतापगढ़, रायबरेली और फ़ैज़ाबाद के ज़िलों में एक किसान क्रान्ति ही हो रही थी। गान्धी जी ने चम्पारन और केरा में किसान आन्दोलन को जो नया रूप दिया उससे जवाहरलाल जी को यह अनुभव हुआ कि भारत की ८० प्रतिशत किसान प्रजा की वास्तविक परिस्थिति से वह परिचित नहीं हैं, और इसलिए वह अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए उसका अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से करने में लग गये। सन् १९२० से ही हम यह भी देखते हैं कि जवाहरलाल भारत के कारखानों के मज़दूरों की अवस्था की ओर भी ध्यान देने लगे। यह मज़दूर वर्ग विदेशी पूँजीपतियों अथवा उनके भारतीय पिट्ठुओं द्वारा दलित हो रहा था। इस प्रकार समाजवादी जवाहरलाल पहले-पहल

[1] इसी लखनऊ कांग्रेस में जवाहरलाल की पहले-पहल महात्मा गान्धी से भेंट हुई थी और कुछ दिन बाद ही इलाहाबाद में सरोजिनी नायडू के भाषण ने उन्हें प्रभावित किया।

भारत के किसानों और मजदूरों की समस्याओं का अध्ययन, अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आन्दोलनों के परिपार्श्व में, करने लगे। आर्थिक न्याय और सामाजिक सुरक्षा की समस्याओं को, जो कि न प्रादेशिक हैं और न राष्ट्रीय, जवाहरलाल अच्छी तरह समझने लगे। उनकी आत्मकथा और अन्य रचनाओं से लक्षित होता है कि उनके भीतर राजनीतिक राष्ट्रवाद और आर्थिक सामाजिक अन्तर्राष्ट्रवाद का संघर्ष बहुत दिनों तक चलता रहा।[1]

सन् १९२१-२२ में, जब अनेक प्रमुख राजनीतिक कार्यकर्ताओं के साथ महात्मा गान्धी भी जेल भेजे गये, तब इलाहाबाद के जिलाधीश के सामने जवाहरलाल ने एक बयान दिया था जो उद्धृत करने के योग्य है : "इंग्लैंड में लम्बे प्रवास के बाद, दस वर्ष से कम हुए, मैं भारत लौटा था। हेरो और केम्ब्रिज की मानवताएँ और पूर्वग्रह सभी मैंने अपना लिये थे और मेरी रुचियाँ कदाचित् भारतीय से अधिक अंग्रेजों की-सी थीं।" विदेशी संस्कृतिवाला यह युवक भारतीय ही एक दिन विदेशी शासकों के हाथ में से स्वाधीन भारत का शासन-सूत्र लेने को था। बत्तीस वर्ष की आयु में जवाहरलाल ने अपने आदर्श की घोषणा करते हुए कहा था : "दुनिया जानती है कि हमारी शक्ति, हमारी जनता के सहयोग और देशवासियों की सद्भावना में है। हमारे अस्त्र बल और हिंसा के पुराने अस्त्र नहीं हैं। हमारे महान् नेता गान्धी जी ने हमें जो नया अस्त्र दिया है उसका नाम है प्रेम और अहिंसा। हम कष्ट सहकर अपने धैर्य से ही अपने प्रतिद्वन्द्वी का हृदय परिवर्तन करवाना चाहते हैं।.....आज किसी भारतवासी के लिए इससे बड़ा और क्या सौभाग्य हो सकता है....आदर्श के लिए जीवनदान या अपने गौरवमय स्वप्न की साक्षात् प्राप्ति !" भारतीय राष्ट्रवाद के इस अन्तर्राष्ट्रीय पहलू को महात्मा गान्धी ने अहमदाबाद में अपने मुक़दमे के समय अभियुक्त के रूप में बयान देते हुए एक आध्यात्मिक रूप दे दिया। गान्धी-नीति के इस पहलू का विवेचन करने का सौभाग्य मुझे सन् १९२२ में स्विट्ज़रलेंड में मिला, जब 'वीमेन्स इंटरनेश्नल लीग फ़ार पीस एन्ड फ़्रीडम' से व्याख्यान देने के लिए मुझे निमन्त्रित किया गया था। अपने विख्यात भाई रोमैं रोलाँ के साथ कुमारी रोलाँ वहाँ उपस्थित थीं; रोमैं रोलाँ ने आग्रह किया कि महात्मा गान्धी की पहली यूरोपीय जीवनी लिखने में मैं उनकी सहायता करूँ। यह जीवनी यूरोप की सभी भाषाओं में अनूदित हुई। उस समय से गान्धीवाद एक विश्व-आन्दोलन है, और जवाहरलाल के जीवन और भाषणों को इसी परिपार्श्व में देखना चाहिए। सन् १९२६-२७ में श्रीमती कमला नेहरू की बीमारी के कारण, उनके इलाज के लिए, उन्हें लगभग दो वर्ष योरोप में रहना पड़ा। उसका उन्होंने भरपूर उपयोग किया। इन्हीं दिनों वह प्रारम्भिक युग के भारतीय क्रान्तिकारियों के भी सम्पर्क में आये—श्यामजी कृष्ण वर्मा, महेन्द्र प्रताप, श्रीमती कामा, लाला हरदयाल, वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय आदि से उनका परिचय तभी हुआ। इन्हीं दिनों एक धर्मान्ध मुसलमान के हाथों स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या का दारुण समाचार उन्हें मिला और वह भारतीय राष्ट्रवाद के लिए साम्प्रदायिक द्वेष के खतरे को समझकर चिंतित हुए। फ़रवरी १९२७ में जवाहरलाल ने ब्रूसेल्स के 'अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद-विरोधी सम्मेलन' में भाग लिया। उन्होंने स्वाधीनता के लिए लड़ते हुए चीनी राष्ट्रवादियों का उल्लेख किया और बताया कि कैसे भारतीय कांग्रेस भी ब्रितानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारत में स्वाधीनता-आन्दोलन को संगठित कर रही है। ब्रितानी और भारतीय पूँजीपतियों के खतरनाक गठबन्धन का भी उन्होंने उल्लेख किया। कोलोन में भी उन्होंने साम्राज्यवाद-विरोधी सम्मेलन में भाग लिया और नवम्बर १९२७

[1] इस प्रसंग में १४ अगस्त १९४७ की रात को दिये गये उनके भाषण के कुछ वाक्य उल्लेखनीय हैं :

"वर्षों पहले हमने विधि के साथ एक समझौता किया था, और अब समय आ रहा है कि हम अपना वचन पूरा करें। आधी रात को, जब सारी दुनिया सो रही होगी, बारह के घंटे के साथ हिन्दुस्तान में जीवन और स्वातन्त्र्य का नया जागरण होगा। हमें उचित है कि इस गौरवपूर्ण क्षण में हम हिन्दुस्तान और उसकी जनता की सेवा का, उसके प्रति और उससे भी बड़े मानवता के आदर्श के प्रति समर्पण का व्रत लें।...... विदेशी प्रभुता उखाड़ फेंकना ही पर्याप्त नहीं है। जब तक प्रत्येक भारतवासी स्वतन्त्रता की साँस नहीं लेता, जब तक उसका दुख दूर नहीं होता और उसकी कठिन परिस्थिति नहीं सुधरती, तब तक हमारा काम अधूरा है...... कहा गया है कि शान्ति अविभाज्य है : स्वतन्त्रता और प्रगति भी अविभाज्य है। और आज जब कि दुनिया को अलग-अलग खंडों में विभाजित करके नहीं रक्खा जा सकता, तब पराजय की दुर्घटना भी अविभाज्य है।"

में कुछ दिन के लिए मॉस्को गये जहाँ सोवियत जनतन्त्र की दसवीं वर्षगाँठ मनायी जा रही थी। भारत लौटकर कांग्रेस के मद्रास-अधिवेशन में उन्होंने वह युग-परिवर्तनकारी प्रस्ताव उपस्थित किया जिसके अनुसार कांग्रेस ने सम्पूर्ण राष्ट्रीय स्वाधीनता को भारतीय जनता का ध्येय घोषित किया, और इस प्रस्ताव के समर्थन में एक स्मरणीय भाषण दिया। अक्टूबर १९२८ में झाँसी-सम्मेलन में जवाहरलाल ने इस बात पर ज़ोर दिया कि राजनीतिक स्वतन्त्रता ही काफ़ी नहीं है और उसके साथ साथ भारत की करोड़ों जनता के लिए सामाजिक न्याय और आर्थिक सुरक्षा की भी व्यवस्था होनी चाहिए। इस प्रकार वह न केवल नये विचार देश में फैला रहे थे बल्कि भारत में एक नये युवक-आन्दोलन का भी सूत्रपात कर रहे थे जिसका इसी तरह के राजनीतिक आन्दोलनों के साथ सम्बन्ध हो। सन् १९२८ के जाड़ों में कलकत्ता-कांग्रेस के दिनों मुझे पंडित नेहरू से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। जवाहरलाल तब अपना चालीसवाँ वर्ष पूरा कर रहे थे तभी मैंने अनुभव किया कि वह न केवल एक प्रमुख राष्ट्रीय नेता हैं बल्कि उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय गौरव प्राप्त कर लिया है। रोमें रोलाँ से मैं सुन ही चुका था कि यूरोप में अन्तर्राष्ट्रवाद के लिए प्रयत्न करनेवाले लोगों पर उनका कितना गहरा प्रभाव पड़ा है और किस प्रकार उन्होंने जवाहरलाल को भविष्य का नेता मान लिया है। सन् १९३०-३१ में जेनेवा में राष्ट्रसंघ की बैठक में योरोपीय नेताओं से बातचीत करके मेरी यह धारणा और भी पुष्ट हो गयी। सन् १९२९ में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने पंडित नेहरू को सभापति चुना; सन् १९३० में लाहौर-कांग्रेस में उन्होंने एक साथ ही साम्राज्यवाद और पूँजीवाद को चुनौती दी और सम्पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास करते हुए हमें यह भी याद दिलाया कि समूची मानव जाति को तत्कालीन दासता से मुक्त कराने का महान् प्रश्न भी हमारे सामने है। सन् १९३०-३१ में असहयोग आन्दोलन दूसरी बार शिखर पर पहुँचा और दमन-चक्र ज़ोरों से चला। महात्मा गान्धी, जवाहरलाल और उनके साथी बार-बार जेल गये। कमला जी का स्वास्थ्य बिल्कुल गिर गया और उन्हें यूरोप ले जाना पड़ा जहाँ सन्१९३६ में उनका देहान्त हो गया। बीस वर्षों के विवाहित जीवन में कमलाजी के त्याग और तपस्या से जवाहरलालजी में भारतीय नारी के प्रति नया सम्मान जाग्रत हुआ; और किसी नेता की अपेक्षा अधिक तीव्रता से जवाहरलाल ने अनुभव किया कि भारत की स्वाधीनता केवल पुरुषों द्वारा नहीं प्राप्त होगी और सम्पूर्ण स्वाधीनता के लिए भारत की सेवावृत्ति नारी का सहयोग अनिवार्य है। बाडेनवेलर और लौसान के अस्पताल में बीते हुए सन् १९३५-३६ के उन दिनों का दुःखद इतिहास जवाहरलालजी ने बहुत दिनों बाद अपनी 'हिन्दुस्तान की कहानी' में ही लिखा।

भावों की गहराई और भावनाओं की तीव्रता ने मानों जवाहरलाल को बिल्कुल ही बदल दिया, और आत्मकथा या दूसरी रचनाओं में वर्णित उनके निजी जीवन की कहानी एक निजी कहानी न रहकर एक समूची पीढ़ी की कहानी हो गयी। जवाहरलाल की आत्मकथा के बहुत-से विदेशी पाठक उनके जीवन की और भारत के आधुनिक इतिहास की अनेक घटनाओं को ठीक-ठीक नहीं समझते, लेकिन मैं निजी अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि जवाहरलाल ने अपने निजी अथवा सार्वजनिक जीवन में जिन मौलिक सत्यों की प्रतिष्ठापना की उन्हें जवाहरलाल के सभी पाठक अच्छी तरह समझते हैं, और जवाहरलाल का भारत मानव की आज़ादी का प्रतीक है। फ़रवरी १९३६ में लन्दन के 'इंडियन कंसिलिएशन ग्रूप' के सभापति कार्ल हीथ के प्रश्नों का उत्तर देते हुए जवाहरलालजी ने भारतीय राजनीति और समाज की कुछ मौलिक समस्याओं का स्पष्टीकरण किया था। सन् १९३८ में जवाहरलाल इस्पानी गृहयुद्ध के मोर्चे पर गये। उसी वर्ष सितम्बर में वह जेनेवा से म्युनिक-सम्मेलन की आलोचना कर रहे थे। पश्चिम के लोग पंडितजी की इस्पानी साहस-यात्रा को एक सनक समझ सकते हैं; भारत ने न्याय और मानवता के नाम पर इस साहसिक कर्म का अभिनन्दन किया। पश्चिमी अन्तर्राष्ट्रवाद के समझदार नेता इनके आदर्शों की बार-बार उपेक्षा कर जाते हैं। इस लम्बे अनुभव ने जवाहरलाल के राष्ट्रवाद को एक अनूठा अन्तर्राष्ट्रीय रूप दिया जिसे समझने में बाहर के लोगों को कठिनाई हो सकती है, लेकिन जो राममोहन राय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के आध्यात्मिक अनुवर्ती के सर्वथा अनुकूल थी। दक्षिणी अमरीका के इस्पानी उपनिवेश ने जब इस्पानी साम्राज्य से मुक्ति पायी तब रामनोहन राय ने अपने यूरोपीय और भारतीय मित्रों को भोज दिया था। जवाहरलाल ने इस्पानी लोकतन्त्रवाद के संघर्ष को अपने अन्तर्राष्ट्रवाद की परिधि के बाहर नहीं समझा। इसी मौलिक सम्बन्ध के नाते उन्होंने जापानी आक्रमण से पीड़ित चीनियों की सेवा के लिए चिकित्सक-मंडल भेजा। भारत के प्रति चीन की कृतज्ञता मार्शल चांग काई शेक और श्रीमती

चांग ने सन् १९४२ में अपनी भारत-यात्रा के समय प्रकट की। चीन में और अन्यत्र शासनों के उत्थान-पतन के बीच हमें यह याद रखना चाहिए कि दूसरे महायुद्ध के कठिन समय में भी जवाहरलाल ने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि को संकीर्ण राष्ट्रनीति से धुंधला नहीं होने दिया बल्कि किसी भी जाति या धर्म के मानवों के कष्ट को अपना कष्ट समझा। उनके चरित्र की इस विशेषता और उनके विचारों की इस उच्चता की प्रशंसा महात्मा गान्धी ने अपनी सरलतम भाषा में की थी: '*यह स्वीकार किया जाय कि वह (जवाहरलाल) इसे अपनी शान के खिलाफ़ समझते हैं कि किसी दूसरे देश की बलि देकर अपनी स्वाधीनता प्राप्त की जाय। उनका राष्ट्रवाद और उनका अन्तर्राष्ट्रवाद एक ही तल पर हैं।*'

सन् १९२७-२८ में साइमन कमीशन के बहिष्कार से लेकर सन् १९४२ के क्रिप्स प्रस्ताव की अस्वीकृति तक के पन्द्रह वर्षों में भारत ने ब्रितानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ाई लड़ी जिसकी चरमावस्था में जनता का नृशंसता-पूर्ण दमन हुआ और सभी नेता जेल में डाल दिये गये; ये सब तो हमारे निजी इतिहास की बातें हैं। उनमें से कुछ ने अनन्तर एशिया-व्यापी महत्त्व प्राप्त किया। किन्तु जवाहरलाल के कारावास से हमें दो अप्रत्याशित लाभ हुए: एक तो उन्होंने जो आत्मकथा लिखी और दूसरे उनकी हाल ही में प्रकाशित इतिहास-व्याख्या 'हिन्दुस्तान की कहानी'। ये दोनों ग्रन्थ राष्ट्रवाद के भी और अन्तर्राष्ट्रवाद के भी विकास की महत्त्वपूर्ण सीढ़ियां हैं, यद्यपि उनकी विवेचना का यह स्थान नहीं है। इन पुस्तकों का अध्ययन करते हुए हम बार-बार अनुभव करते हैं कि यद्यपि घटनाचक्र ने उन्हें राजनीतिक ही बनाया, तथापि वह दार्शनिक या इतिहासकार—विश्व-आन्दोलनों का समन्वय करने वाले—भी हो सकते थे। उनकी आत्मा की महत्ता और उनकी ऐतिहासिक सूझ उन्हीं के शब्दों में अभिव्यक्त हो सकती है:

"मानव की आत्मा भी कैसी अद्भुत वस्तु है! असंख्य त्रुटियों के रहते हुए भी मानव युगों-युगों से अपने जीवन और अपने प्रिय सब कुछ को एक आदर्श के लिए बलिदान करते आये हैं—सत्य के लिए, विश्वास के लिए, देश के लिए, और धर्म के लिए। वह आदर्श बदल सकता है, लेकिन आत्मत्याग की वह क्षमता बनी रहती है; और इसी के कारण वह क्षमा का पात्र है और उससे निराश होना असम्भव है। विनाश के बीच में खड़ा होकर भी उसने आत्म-सम्मान नहीं खोया है और उसके प्रिय आदर्शों में उसका विश्वास नहीं डिगा है। प्रकृति की महान् शक्तियों के खिलौने, इस महान् विश्व में एक धूलिकण से भी कम होकर भी, मानव ने भौतिक शक्तियों को चुनौती दी है और अपने क्रान्तद्रष्टा मन के सहारे उन पर विजय पाने का यत्न किया है। देवता चाहे जो या जैसे रहे हों, मानव में देवत्व का अंश अवश्य है—जैसा कि उसमें असुर का भी अंश है।

"भविष्य अँधेरा और अनिश्चित है। लेकिन हम उसकी ओर बढ़ते हुए रास्ते का कुछ भाग देख सकते हैं, और उस पर दृढ़ पैर रखते हुए बढ़ सकते हैं; यह विश्वास लिये हुए कि ऐसी कोई घटना नहीं हो सकती जो मानव की आत्मा को परास्त कर दे—मानव की आत्मा को जो इतनी दुर्घटनाओं पर विजयी होती आयी है. . . ."

अप्रैल १९४९

दिल्ली-विश्वविद्यालय के विज्ञानाचार्य (डाक्टर आफ् सायन्स)

पंजाब फ़ोटो सर्विस

जन्मदिवस पर

यह फ़ोटो पिछले जन्मदिवस पर लिया गया था।

पंजाब फ़ोटो सर्विस

हीरक तिथि

सियारामशरण गुप्त

जगमग जगमग यह हीरक तिथि युक्त जवाहर जिसमें ;
सुचिर काल की उज्ज्वल ग्राभा है उज्ज्वलतर इसमें।
ग्राज ग्रनुज कवि का स्वर ऊँचा ग्रग्रज की ध्वनि लेकर,
जियो जवाहर, जियो, जगत को चिर-संजीवन देकर।

जितना कंटकपूर्ण कुटिल पथ चल ग्राये तुम निर्भय,
चलना है ग्रागे उतना ही कठिन क्लिष्ट संकटमय।
ग्रविकृत-वदन निरन्तर तुमने पिया ग्रमृत-सम विष जो,
हुग्रा नहीं निःशेष सभी वह, तुम्हीं पियोगे इसको।

तुम जन-गण के मंगल यात्री, बढ़े जा रहे ग्रविरत,
ग्राँधी पानी तिमिर बीच के होंगे सभी पराहत।
देख रहे हम यहाँ हृदय के प्रेम-प्रदीप जगाये,
मानव, तुम सौ-सौ विघ्नों को जय करते ही ग्राये।

ग्रभिनन्दित हैं स्वयं तुम्हारे जय-ग्रभिनन्दन-कारी,
जयी, तुम्हारे गुण-कीर्तन में कीर्तित कीर्ति हमारी।
ग्राज बन्धुजन भेंट करेंगे जिसका जो मन भाया,
पूछ रहा हूँ मैं निज कवि से, कवि हे, तू क्या लाया ?

लाया है निज शब्दांजलि में वह बापू की वाणी,
"हिंसाग्रसित नाश के पथ पर हैं भूतल के प्राणी।
जीना है तुमको उनके हित ग्रभय ग्रहिंसा लेकर,
जियो जवाहर, होकर सबके, भार बहुत है तुम पर !"

ग्रगस्त १९४९

षष्ठिपूर्तिमहोत्सवाभिनन्दनम्

डिम्भानामिव निर्मलं मृदुतरं योषिन्मणीनामिव ।
प्रोद्यत्साहसविभ्रमं युधिचरद्योधाग्रगानामिव ।
निर्लिप्तं वरयोगिनामिव मुहुर्नानारसं दृश्यते ।
चित्तं पण्डितराड्जवाहरविभोस्तत्तत्क्रियासम्प्लवे ॥१॥

यदि विश्वसिति स्वचेतसा निशितेन प्रविमृश्य कार्यवित् ।
कुरुते करणीयमञ्जसा न च युक्तिं न च तर्कमीक्षते ॥२॥

निहत्य कौरवान्सर्वान् सङ्गरे पाण्डवाग्रजः ।
अजातशात्रवप्रख्यां रूढ्या केवलमन्वभूत् ॥३॥

अजातशत्रुरेवासौ प्रेमावर्जितशात्रवः ।
जातो वा जायमानो वा नास्य शत्रुर्जनिष्यते ॥४॥

द्वेष्टि दुर्वृत्तिमेवासौ जातिं व्यक्तिं न वा क्वचित् ।
अचिन्तयन्नात्मसुखं खिद्यते लोकहेतुना ॥५॥

आङ्ग्लेयहस्तान्निजराज्यलक्ष्मीमरक्तपातं जगृहे सुयोगैः ।
असौ महात्माभिमतानुयायी शार्दूलवक्त्रादिव मांसखण्डम् ॥६॥

नीचैर्गतिं भुवि निरस्य निजप्रजानामुच्चैर्गतिं समुपबृंहयतोऽस्य शक्तिः ।
प्राचीननव्यतरसंस्कृतिसाम्ययोगं सम्पाद्य सर्वजनविस्मयमातनोति ॥७॥

सर्वप्रपञ्चजनतासमताप्रपत्तिसौहार्दशान्तिसुखजीवनसाधनेन ।
तद्रामराज्यमचिरादिव संविधाय गान्धेर्मनोरथमसौ सफलीकरोति ॥८॥

खण्डान्तरोज्ज्वलमहापुरुषप्रशंसासम्भावितात्मगुणसम्पदुदीर्णकीर्तिः ।
क्षेमाय सर्वजगतामुदयाय भूयात् पूर्णायुषा श्रुतिहितेन जवाहरेन्दुः ॥९॥

सर्वं सह्यं निजकुटुम्बमिवाभिपश्यन् प्रेमावतार इव यः परमेश्वरस्य ।
श्रीषष्ठिपूर्तिमहसम्भृतभव्यलक्ष्मीः सोऽयं पुनर्विजयतां परषष्टिपूर्त्या ॥१०॥

अपूर्वा सङ्गतिर्भूयादनपाया गिरां श्रियाम् ।
सत्यं धर्मः समेधेतां पण्डितेन्द्रे प्रशासति ॥११॥

—वासा सूर्यनारायण शास्त्री
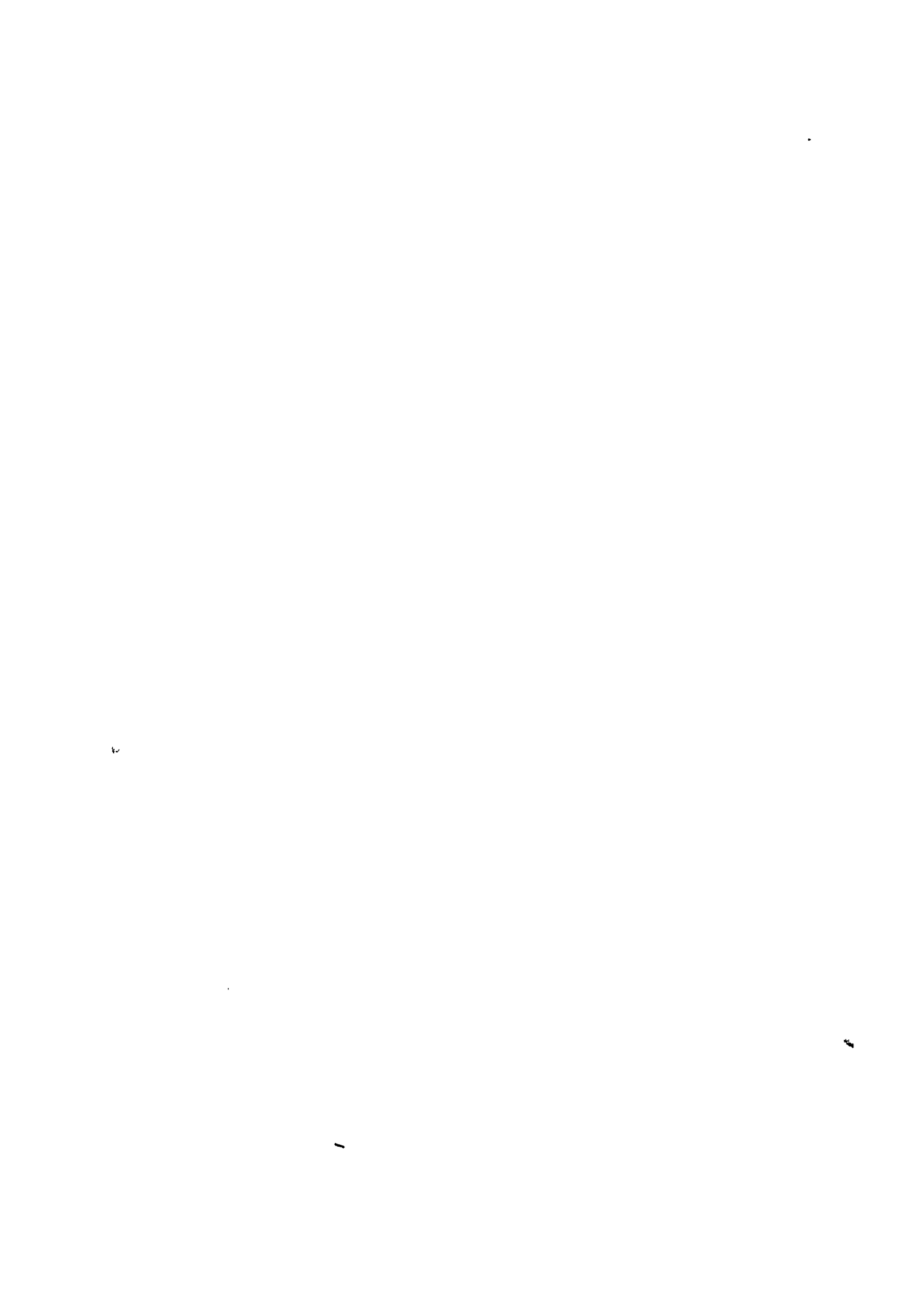
संस्मरण

नरेन्द्र देव

जहाँ तक मुझे स्मरण है, पंडितजी से मेरी सब से पहिली मुलाक़ात सन् १९१६ या, १७ में हुई जब वह प्रान्तीय होम रूल लीग के सेक्रेटरी थे। उस समय में फ़ैज़ाबाद शाखा का मन्त्री था। जब असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ तब पंडितजी फ़ैज़ाबाद आये। उस समय अकबरपुर और टाँडा तहसील में किसान-आन्दोलन का बड़ा ज़ोर था और अकबरपुर में गोहना का मैदान अपनी ऐतिहासिक सभाओं के लिए काफ़ी प्रसिद्धि पा चुका था। मैं उस समय वकालत छोड़ चुका था। पंडितजी पर असहयोग आन्दोलन का गहरा प्रभाव पड़ा था। यदि यह कहा जाय कि उस समय उनका नूतन आध्यात्मिक जन्म हुआ तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसने उनके सारे जीवन पर गहरी छाप डाल दी। पंडितजी वातावरण से बहुत कुछ प्रभावित होते हैं। उनका रहन-सहन बिल्कुल बदल गया। पुराने आनन्द भवन का नक्शा ही कुछ और हो गया। विलायती कपड़ों की होली की गयी। पंडितजी ने सिगरेट पीना छोड़ दिया और उसके स्थान में सुपारी, इलायची का व्यवहार शुरू किया। उन दिनों उनके पास सदा एक बटुवा रहा करता था। वह छोटे से छोटे आदमी के यहाँ ठहर जाते थे और जीवन में एक बड़ी सादगी आ गयी थी। गान्धीजी के व्यक्तित्व का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा था और इसी कारण वह उन दिनों गीता पढ़ा करते थे। उनके घर में लड़कियाँ संस्कृत पढ़ती थीं। पंडित मोतीलालजी की यह विशेषता थी कि जिस काम में वह पड़ जाते थे उसमें पूरे दिल से लग जाते थे। जब असहयोग आन्दोलन में शामिल हुए तो पूरी ताक़त लगा दी। वकालत तो उन्होंने छोड़ ही दी, साथ ही अपना रहन-सहन भी बदल दिया। कहा जाता है कि जवाहरलालजी के कारण उन्होंने असहयोग आन्दोलन में शिरकत की थी। यह बात अंशतः ही ठीक है। वह कोई भावुक व्यक्ति नहीं थे; जिस बात को बुद्धि ग्रहण करती थी उसी को स्वीकार करते थे। किन्तु यह भी सच है कि अपने परिवार से, विशेषकर जवाहरलालजी से, उनको विशेष स्नेह था। जवाहरलालजी इस आन्दोलन में आ गये, इसका भी थोड़ा-बहुत प्रभाव उन पर पड़ा। किन्तु स्वतन्त्र रीति से उन्होंने अपना निर्णय किया था। पंजाब की घटनाओं का उनपर विशेष प्रभाव पड़ा और यह भी सच है कि गान्धीजी के अनोखे व्यक्तित्व का जादू भी उन पर चल गया। मोतीलालजी अन्य पुराने नेताओं की अपेक्षा कुछ पहले आन्दोलन में आये। सी० आर० दास नागपुर में ही अपना निर्णय कर सके। उनके सामने केवल यह समस्या थी कि यदि मैं वकालत छोड़ दूंगा तो सार्वजनिक कार्य के लिए धन कहाँ से आयेगा। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि नागपुर अधिवेशन (सन् १९२०) में मेरे सम्मुख कुछ बंगाली कार्यकर्ताओं ने उन्हें घेर लिया और उनसे आन्दोलन का नेतृत्व करने की प्रार्थना की। उन्होंने यही समस्या उनके सामने रखी और कुछ विचार-विनिमय के बाद तथा नवयुवकों द्वारा यह आश्वासन प्राप्त करने पर कि धन की कमी नहीं रहेगी, उन्होंने अपना अन्तिम निर्णय असहयोग के पक्ष में किया।

जवाहरलालजी का सारा परिवार असहयोग आन्दोलन में शरीक हो गया। इसलिए उनको अपने घर में किसी प्रकार का संघर्ष नहीं करना पड़ा। हम जानते हैं कि कितने ही राजनीतिक कार्यकर्ताओं को घरवालों के विरोध का सामना करना पड़ा है। अपने माता-पिता तथा पत्नी का विरोध होते हुए भी राजनीतिक काम करना कोई आसान बात नहीं है। इनका आशीर्वाद और सहयोग बिरलों को ही मिलता है। जवाहरलालजी जी-जान से आन्दोलन में पड़ गये। अब वह पुराने जवाहरलाल न रहे। यदि वह राजनीतिक क्षेत्र में न उतरते तो ज्यादा से ज्यादा अच्छे बैरिस्टर ही हो सकते थे। वह थोड़े ही दिन वकालत कर पाये थे, किन्तु मोतीलालजी का सहारा पाकर भी उन्होंने वकालत में कोई नाम पैदा नहीं किया था। यह भी कहना कठिन है कि वह अपने पिता के समान कभी नामी वकील हो पाते या नहीं। मध्यम श्रेणी के जैसे अन्य अमीरों के लड़के होते हैं वैसे ही वह भी थे। उसी प्रकार का जीवन था। बड़े लाड़-प्यार से पाले गये थे। छोटी अवस्था में ही इंगलैंड भेज दिये गये थे। उनका रहन-सहन विदेशी था। इंगलैंड में वह प्रायः राजनीति से अलग रहे। उस ज़माने में श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा के प्रभाव में आकर कई भारतीय विद्यार्थी क्रान्तिकारी हो गये थे। उन्होंने इसी काम के लिए 'स्वराज हाउस' खोला था। सावरकर और हरदयाल उन्हीं के प्रभाव में आकर क्रान्तिकारी बन गये। हरदयाल तो गवर्नमेंट से मिली छात्र-

वृत्ति छोड़कर राजनीतिक कार्य करने हिन्दुस्तान लौट आये। इस केन्द्र का प्रभाव जवाहरलालजी पर नहीं पड़ा। वह लोकमान्य तिलक से प्रभावित अवश्य हुए थे। लोकमान्य को सन् १९०८ में छः वर्ष का कठोर दंड हुआ था। उस समय नवयुवकों पर तिलक का बड़ा असर था। फ़ेबियन सोसायटी के काम का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव उनपर पड़ा था। किन्तु यह प्रभाव ऐसा नहीं था जो उनके जीवन की दिशा को मोड़ देता। वह जब भारत लौटे तो अन्य वकीलों की भाँति कांग्रेस के अधिवेशन में शरीक होने लगे। पर उस समय की कांग्रेस कोई क्रियाशील संस्था न थी। तिलक दल के निकल जाने के बाद से उसका प्रभाव बहुत घट गया था। सन् १९१६ में जब दोनों दलों में मेल हुआ तब फिर धीरे-धीरे उसका प्रभाव बढ़ने लगा। होम रूल लीग में जवाहरलालजी ने काफ़ी दिलचस्पी दिखायी, पर इससे भी उनके जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। किन्तु गान्धीजी के व्यक्तित्व और असहयोग आन्दोलन ने उनकी काया पलट कर दी। मैं कई ऐसे सज्जनों को जानता हूँ जिनमें इस प्रकार का परिवर्त्तन घटित हुआ। एक सज्जन हैं जो असहयोग के पहिले शराब पिया करते थे और जुवा खेला करते थे। घर के रईस थे, कोई कामकाज नहीं करते थे। बुजुर्गों की कमायी दौलत उड़ाते थे। राजनीति की गन्ध भी उन तक न पहुँची थी। किन्तु असहयोग आन्दोलन ने उनपर जादू का-सा असर किया। वह राजनीति में आ गये और अपनी पुरानी सब आदतें छोड़ दीं। तारीफ़ यह कि उस दिन से आज तक शराब नहीं छुई। इसे कहते हैं काया-पलट। जवाहरलालजी में भी कुछ ऐसा ही हुआ। वह स्वयं इसे स्वीकार करते हैं। जब हम लोग अहमदनगर के क़िले में बन्द थे तब एक दिन मुझसे उन्होंने कहा कि जेल ने मुझे आदमी बना दिया। और यह बिलकुल सच है। यदि वह असहयोग में भाग न लेते और उनकी ज़िन्दगी में उसके कारण एक गहरी तबदीली न आती तो उनके व्यक्तित्व का विकास कैसे होता और वह एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति कैसे बनते? यूरोप के सन् १९२५-२७ के प्रवास तथा बार-बार जेल-यात्रा ने उन्हें पढ़ने और विचार करने का अवसर प्रदान किया। जेल में उन्होंने काफ़ी अध्ययन किया और लिखा। लिखते भी हैं बहुत तेज़ और सुन्दर। मुझे याद है कि सन् १९३६ में चुनाव-घोषणा का मसविदा तैयार करने का काम ऑल इंडिया पार्लियामेंटरी बोर्ड के सुपुर्द हुआ था। मैं भी उसका सदस्य था। बैठक बंबई में हुई थी। मसविदा मुझे बहुत नापसन्द आया। कुछ संशोधनों के साथ वह मंजूर भी हो गया। भाषा में कोई ओज न था—दिल को हिलाने वाली कोई बात न थी। मैं उस रात को जवाहरलालजी से मिला और एक मसविदा तैयार करने की उनसे प्रार्थना की। उन्होंने कहा, 'कोशिश करूँगा'। दूसरे दिन सुबह उस पर वर्किंग कमेटी और ऑ० इं० कां० क० में विचार होने वाला था। सुबह फिर उनसे मिला और देखा कि मसविदा तैयार है। मसविदा पढ़कर बड़ी खुशी हुई। वही मसविदा स्वीकृत हुआ। मालूम हुआ कि वह रात को २-३ बजे तक उसे लिखते रहे। वर्किंग कमेटी में प्रस्तावों के मसविदे ज्यादातर महात्माजी और जवाहरलालजी तैयार करते थे। कोई-कोई मसविदा औरों के सुपुर्द हो जाता था। मसविदे में काट-छाँट नहीं होती थी।

* * *

सन् १९२१ के आरम्भ में जब जवाहरलालजी फ़ैज़ाबाद आये तब उन्होंने मुझसे काशी-विद्यापीठ का ज़िक्र किया और कहा कि उसके अधिकारी चाहते हैं कि मैं वहाँ अध्यापन का काम करूँ। विद्यापीठ की नींव १० फरवरी १९२१ को महात्माजी ने डाली थी। इसके पहले ही विद्यापीठ की निरीक्षक-सभा का गठन हो चुका था। मेरा नाम भी उसमें रखा गया था। पर उस समय तक मेरे वहाँ काम करने की कोई बात न थी। किन्तु जवाहरलालजी का ऐसा ही ख्याल था कि वे लोग मुझे अध्यापन के लिए चाहते हैं। मुझे उनकी बात पसंद आयी और मैंने, उनके कहने पर, श्री शिवप्रसादजी को लिख दिया कि मैं तैयार हूँ। उन्होंने मुझे बुला लिया और मैं वहाँ काम करने लगा। किन्तु यदि जवाहरलालजी ने मुझसे वहाँ जाने को न कहा होता तो वह सवाल ही न पैदा होता, और यदि मैं विद्यापीठ न जाता तो मेरा भविष्य कैसा होता यह मैं नहीं कह सकता। उस समय जवाहरलालजी से मेरी साधारण ही जान-पहचान थी। विद्यापीठ के कारण घनिष्ठता धीरे-धीरे बढ़ी और जब वह सन् १९२७ में यूरोप से लौटे तो विचार-साम्य के कारण यह घनिष्ठता और भी बढ़ गयी। सन् १९२२ में कौंसिल-प्रवेश के प्रश्न को लेकर कांग्रेस में दो दल हो गये थे। जो असहयोग के कार्यक्रम को बदलना नहीं चाहते थे, वह अपरिवर्त्तनवादी कहलाते थे। इनके अगुवा राजाजी थे। दूसरी ओर पंडित मोतीलालजी और श्री सी० आर० दास थे जो कौंसिल-प्रवेश के पक्ष में थे। महात्माजी उस समय जेल में थे। वाद-विवाद ने बड़ा उग्र रूप धारण किया। जवाहरलालजी दोनों दलों से अलग रहे। वह हृदय से अपरिवर्त्तनवादी थे किन्तु इस विषय को लेकर झगड़ा करना नहीं चाहते थे। उस ज़माने में वर्किंग कमेटी से आये दिन इस्तीफ़े होते थे। स्वराज पार्टी बनी, पर जवाहरलालजी उससे तथा चुनाव से अलग रहे। देश में शिथिलता आ गयी और जगह-जगह हिन्दू-मुस्लिम फ़साद होने लगे। जवाहरलालजी, कमलाजी के साथ, यूरोप चले

गये। प्रवास में उन्होंने काफ़ी अध्ययन किया और यूरोप से समाजवादी हो कर लौटे। आते ही मद्रास में उन्होंने कांग्रेस से पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास कराया। महात्माजी को यह बात पसन्द न आयी। तब जवाहरलालजी ने 'इंडिपेंडेंस ऑफ़ इंडिया लीग' की स्थापना की। मैं भी उसका सदस्य था। यूरोप से लौटने के बाद जवाहरलालजी का मतभेद पंडित मोतीलालजी से बढ़ने लगा। भोजन के समय अक्सर गरम बहस हो जाया करती थी। सन् १९२८ में कलकत्ते में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। वहाँ कांग्रेस के लक्ष्य के बारे में बड़ी बहस हुई। एक दिन जवाहरलालजी और श्रीप्रकाश जी के साथ मैं कलकत्ते में पैदल जा रहा था। थोड़ी दूर पर सुभाष बाबू, अपने साथियों के साथ, आगे-आगे जा रहे थे। उन्हें देख कर जवाहरलालजी ने कहा कि सुभाष बाबू में यह बड़ा गुण है कि वह अपने सहयोगियों के साथ समानता का व्यवहार करते हैं और बजाय इसके कि खुद मोटर से चलें, सबके साथ सभा-भवन में पैदल ही जाते हैं। उन्होंने यह भी संकेत किया कि हम लोगों को भी ऐसा ही करना चाहिए। उस समय आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों को लेकर उनके मन में बड़ी हलचल मची थी और इस विषय में उनका गान्धीजी तथा मोतीलालजी से गहरा मतभेद हो गया था। इससे वह बहुत दुःखी थे। मेरा ख्याल है कि यदि अगले वर्ष लाहौर में उनके सभापतित्व में कांग्रेस का लक्ष्य पूर्ण स्वराज्य न निर्धारित हुआ होता और उसके बाद ही आन्दोलन न छिड़ जाता, जो ४-५ वर्ष चलता रहा, तो जवाहरलालजी की ज़िन्दगी में एक और परिवर्त्तन हुआ होता। वह कांग्रेस के भीतर एक दल के नेता हो जाते। मेरा यह अनुमान मात्र है, किन्तु सन् १९२८-२९ में मैंने जैसी उनकी मनोवृत्ति देखी, उसके आधार पर यह कह रहा हूँ। जब कांग्रेस के महारथियों से मौलिक बातों को लेकर तीव्र मतभेद हो जावे और किसी बात में भी समझौता न हो सके तब दूसरा चारा ही क्या है। किन्तु ऐसी नौबत न आने पायी। महात्माजी जवाहरलालजी की क़ीमत को समझते थे और जवाहरलालजी भी यह जानते थे कि गान्धी-युग में महात्माजी को साथ लेकर ही कुछ हो सकता है। इसीलिए वह जो कुछ मनवा सकते थे उसे मनवा कर सन्तुष्ट हो जाते थे। इसके लिए वह कभी-कभी ज़िद भी कर बैठते थे और झल्ला भी जाते थे। गान्धीजी प्रायः शान्ति के साथ उनकी सख्त बात भी बरदाश्त कर लेते थे। कभी-कभी गान्धीजी भी अपनी राय का स्पष्ट इज़हार कर देते थे और उनका यह संकेत होता था कि अमुक बात नहीं होने पावेगी। सन् १९४२ में जब सत्याग्रह के सम्बन्ध में गान्धीजी से जवाहरलालजी का मत भिन्न था तब एक दिन वह सेवाग्राम, महात्माजी से इस विषय में बातचीत करने, गये थे। उस समय मैं सेवाग्राम में था। जवाहरलालजी ने मुझसे कहा कि गान्धीजी स्वयं वस्तुस्थिति (आब्जेक्टिव सिचुएशन) के मुख्य अंग हैं; इस बात का बड़ा महत्त्व है कि वह क्या सोचते हैं और क्या करना चाहते हैं। जब उन्होंने देख लिया कि गान्धीजी टस से मस नहीं होने वाले हैं तब कुछ बातों को गान्धीजी से साफ़ कराके उन्होंने अपनी मंजूरी दे दी। गान्धीजी ने उनके आने के पहले मुझसे एक दिन पूछा कि जवाहरलाल क्या करेंगे। मैंने उत्तर दिया कि जब आप सत्याग्रह का निश्चय कर लेंगे तब वह पीछे नहीं रहेंगे। गान्धीजी ने कहा कि मैं भी यही समझता हूँ। गान्धीजी को उन्हीं की फ़िक्र थी। जब जवाहरलालजी साथ आ गये तब वह बेफ़िक्र हो गये। परन्तु जवाहरलालजी के दिमाग़ ने कभी नहीं क़बूल किया कि यह काम ठीक हुआ। अहमदनगर क़िले में बातचीत में उन्होंने एक-दो बार यह कहा कि अगर जल्दबाज़ी से काम न लिया जाता तो अमरीका के दबाव से इंग्लैंड से समझौता हो जाता।

सन् १९२९ में लाहौर में कांग्रेस हुई। जवाहरलालजी सभापति थे। मोतीलालजी ने अपनी गद्दी उनको दी और कहा कि जो काम बाप न कर सका उसे लड़का पूरा करेगा। अजीब समा था। शायद ही कोई ऐसे नेता होते हों जिनके लड़के बाप से भी बढ़-चढ़ कर निकलें। उल्टे प्रायः देखा जाता है कि बड़े-बड़े नेताओं के लड़के निकम्मे निकलते हैं। इसकी कई मिसालें अपने देश में ही मिलेंगी। मोतीलालजी की मुराद पूरी हुई; उनका आशीर्वाद सार्थक हुआ। उस समय जवाहरलालजी की माता बड़ी प्रसन्न दिखाई पड़ती थीं। और क्यों न होतीं?—कांग्रेस के सभापति का पद सब से ऊँचा पद रहा है। राष्ट्र द्वारा इससे बढ़ कर और क्या सम्मान हो सकता है? आज भले ही इस पद का गौरव बहुत कम हो गया हो, किन्तु आज़ाद होने के पहले ऐसा न था। जवाहरलालजी बड़े खुश क़िस्मत हैं। उन्हीं के सभापतित्व में 'पूर्ण स्वराज्य' का ध्येय स्वीकार किया गया। जिस दिन प्रस्ताव पास हुआ उस रात को प्रतिनिधियों के कैम्प में वह बहुत देर तक नाचते रहे। पंजाबियों पर मोतीलालजी और जवाहरलालजी का बड़ा प्रभाव था। मार्शल लॉ के दिनों में मोतीलालजी ने पंजाब में जो काम किया था उसी का यह परिणाम था। जवाहरलालजी नवयुवकों के हृदय-सम्राट् हो गये थे। अतः पंजाब में उनका खूब स्वागत हुआ।

* * *

सन् '४२ में मैं उनके साथ पकड़ा गया और अहमदनगर क़िले में रखा गया। हम लोग निरन्तर साथ रहे। जब अहमदनगर का कैम्प टूटा तब भी मैं उनके साथ बरेली सेंट्रल जेल भेजा गया। वहाँ से हम लोगों का तबादला अलमोड़ा हो गया, और एक ही दिन हम लोग वहाँ से छूटे। जेल में रात-दिन का साथ होता है, कोई अपना गुण-दोष छिपा नहीं सकता। लगभग तीन साल के जेल-जीवन में उनको बहुत नज़दीक से देखने का मुझको अवसर मिला। उनका जीवन बड़ा संयत है। नियम से वह कसरत करते थे, स्नान कर चाय पीते थे और तब टेबुल पर बैठ जाते थे। भोजन के बाद तुरंत काम करने लगते और लगभग ३ बजे अगर कभी नींद आयी तों थोड़ा सो जाते थे। जेल में शाम को बैडमिंटन खेलते थे और थोड़ा टहलते थे। रात को ९ बजे से ११ बजे तक फिर काम करते थे। ज्यादातर पुस्तकें और अख़बार पढ़ते थे। पुस्तकों के नोट भी लेते थे। देशी-विदेशी अख़बार खूब आते थे और नयी-नयी पुस्तकें भी आया करती थीं। वह अपने मित्रों और साथियों से बड़ा स्नेह करते हैं। यदि कोई साथी बीमार पड़ जाय तो उसकी शुश्रूषा बड़ी सावधानी से करते हैं। एक बार डाक्टर महमूद बहुत बीमार पड़ गये थे। रात को बारह बजे तक जवाहरलालजी उनके पास बैठे रहते थे और कई बार देखने आते थे। मैं शुरू में लगभग एक साल तक बीमार रहा। हर तीसरे सप्ताह दौरा आ जाता था। इससे काफ़ी कमज़ोर हो गया था। सब को बड़ी चिन्ता हुई। जवाहरलालजी ने मुझ से सलाह की और उनकी राय से मैंने 'हैलिवरोल' लेना शुरू किया। इससे काफ़ी लाभ हुआ और साँस के दौरे बन्द हो गये। 'मेस' का इन्तज़ाम हम लोग बारी-बारी से करते थे। जवाहरलालजी अंडा और चाय बनाना क़ैदियों को सिखलाते थे। हम लोग खास-खास दिन और त्यौहार भी मनाते थे। उस दिन खाने का कमरा सजाया जाता था। इसमें जवाहरलालजी का विशेष हाथ रहता था। हम जहाँ रखे गये थे वहाँ एक बड़ा भारी आँगन था। उसमें जवाहरलालजी ने फूल-पत्तियाँ लगायी थीं। इससे स्थान सुन्दर हो गया था। उनको सफ़ाई और व्यवस्था बहुत पसन्द है। जब जेल के बाहर रहते हैं तब भी उनका जीवन नियमित रहता है। केवल खेलने का मौक़ा नहीं मिलता और पुस्तक पढ़ने का भी समय कम मिलता है। तिस पर भी सफ़र में वह इसके लिए मौक़ा निकाल लेते हैं। जहाँ रात-दिन का साथ हो वहाँ खटपट हो ही जाती है। ऐसे दो-एक अवसर आये पर जल्दी ही लोग शान्त हो गये। कभी-कभी बहस में गर्मी आ जाती थी। हमारा एक काफ़ी क्लब था। उसमें किसी न किसी विषय पर बहस होती थी, या लोग क़िस्से सुनाते थे। डाक्टर महमूद बड़े दिलचस्प क़िस्से सुनाते थे। बहस में कभी-कभी झड़प हो जाती थी। राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं में आपसी बहस में कभी-कभी झगड़े भी हो जाते हैं। हर एक अपनी बात पर अड़ा रहता है, अपने मत के लिए उसका विशेष आग्रह होता है। उसका मत बन गया है। दूसरे की युक्तियाँ चाहे कितनी ही ठीक क्यों न हों, उसकी राय को नहीं बदल सकतीं। मेरी समझ में ऐसे लोगों से बहस करना बेकार है। जवाहरलालजी दूसरे के पक्ष को समझने की कोशिश करते हैं। हर सवाल के दो पहलू होते हैं और दोनों में कुछ सचाई होती है। जिनका ऐसा विचार होता है उनको एक निश्चित मत बनाने में बड़ी कठिनाई होती है। जवाहरलालजी इसी विचार के हैं और इसी लिए वह कभी-कभी निर्णय नहीं कर पाते। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनका किसी बात पर कोई निश्चित मत ही नहीं है। जिस विषय में उनका मत निश्चित हो चुका है उस पर वह दृढ़ रहते हैं। किन्तु कई विषयों में उनको अन्तिम निर्णय करने में दिक्कत होती है।

जवाहरलालजी जनता से शक्ति लिया करते हैं। बड़े-बड़े मजमे उनको अच्छे लगते हैं। अपनी लोकप्रियता देखकर उनको यह विश्वास होता है कि मेरे प्रबन्ध से जनता सन्तुष्ट है। इसमें कभी-कभी धोखा भी हो जाता है। वह जिन लोगों से घिरे रहते हैं उनका विशेष रूप से उन पर प्रभाव पड़ता है। उनकी यूरोपीय शिक्षा-दीक्षा होने के कारण वह इस वर्ग के लोगों के साथ अधिक आत्मीयता का अनुभव करते हैं। परन्तु पिछले १५ साल में प्राचीन भारतीय सभ्यता का उन पर काफ़ी प्रभाव पड़ा है। श्री आर० एस० पंडित ने उनकी अभिरुचि इस विषय में उत्पन्न की थी जो निरन्तर बढ़ती गयी। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था कि मुझे यदि यह विश्वास हो जाय कि भारत के लोग निकम्मे हैं तो मैं उसके लिए क्यों काम करूँ, लेकिन मेरे देश का प्राचीन इतिहास बताता है कि भारत एक महान् देश था, उसने इतिहास का ऊँच-नीच देखा है और उसने बड़े-बड़े आदमी पैदा किये हैं। मध्यम श्रेणी से उनको आशा नहीं थी—उसको वह पतनोन्मुख समझते थे। किन्तु उनको यहाँ की साधारण जनता में जीवन दिखाई पड़ता है। उसी के आधार पर वह देश का भविष्य उज्ज्वल मानते हैं।

अप्रैल १९४९
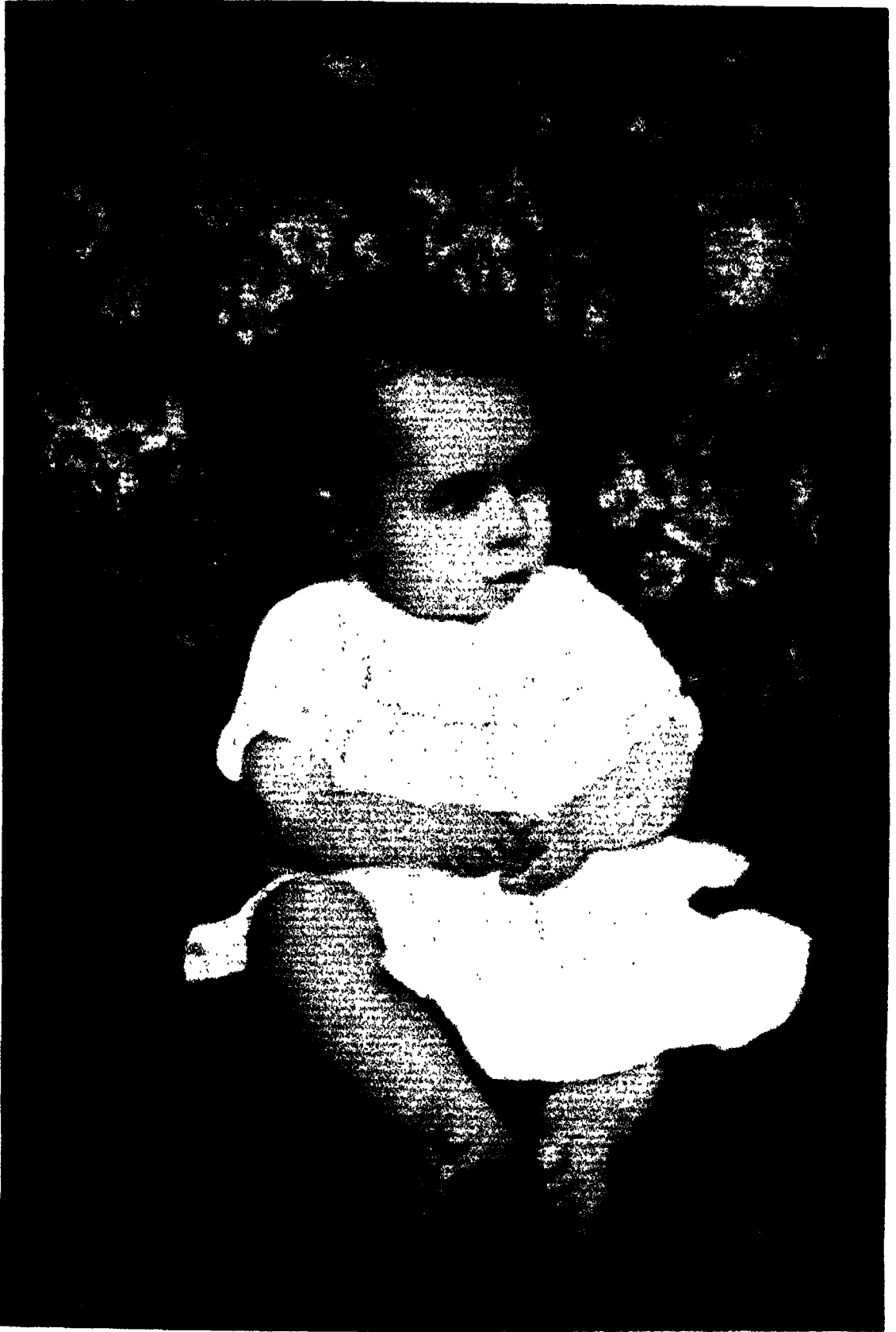
जवाहरलाल नेहरू, एक वर्ष की आयु में

माता स्वरूपरानी देवी के साथ (१८६१)

१८६२

१८६२

१८९३

१८६४

१८६६
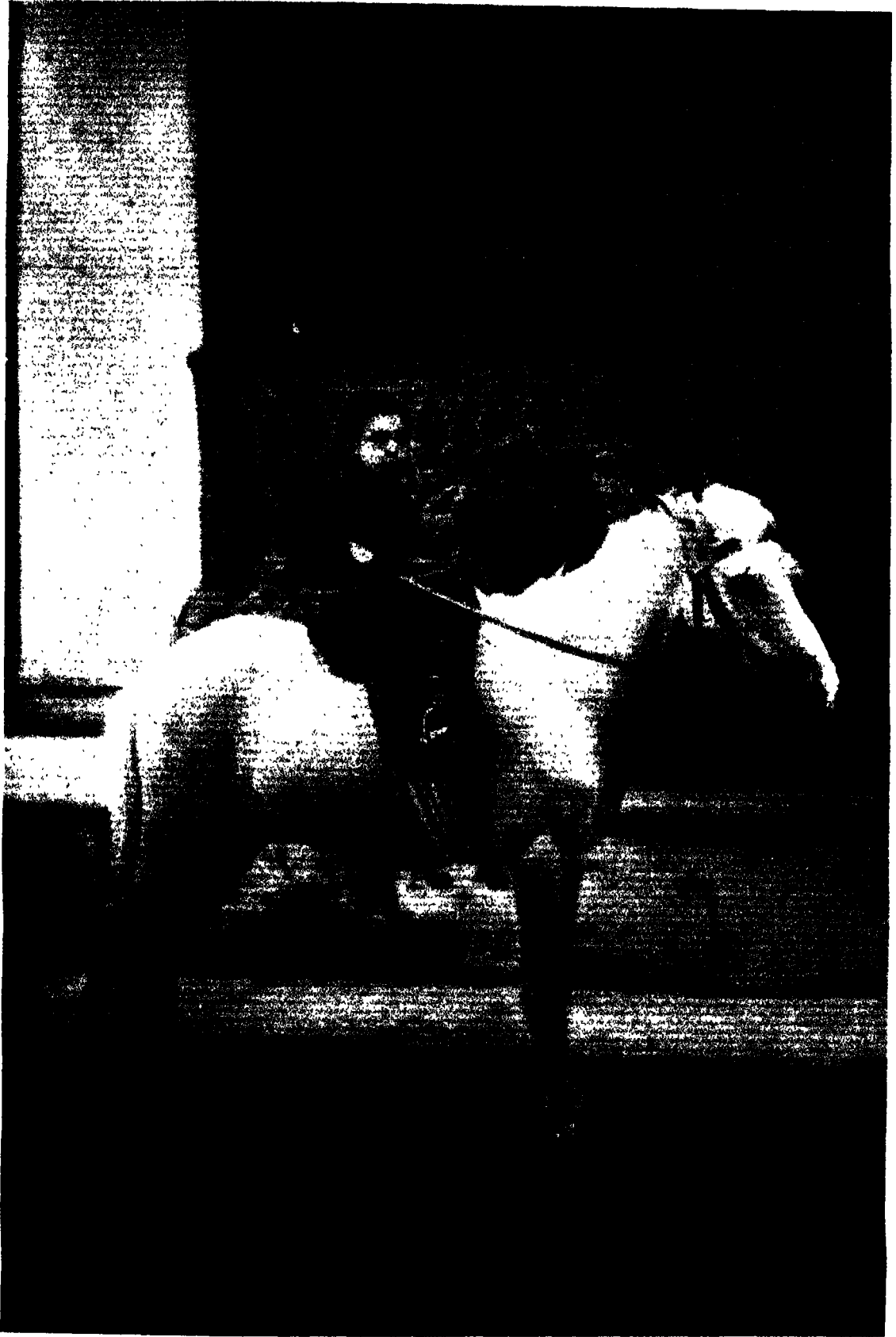
बहन विजयालक्ष्मी के साथ
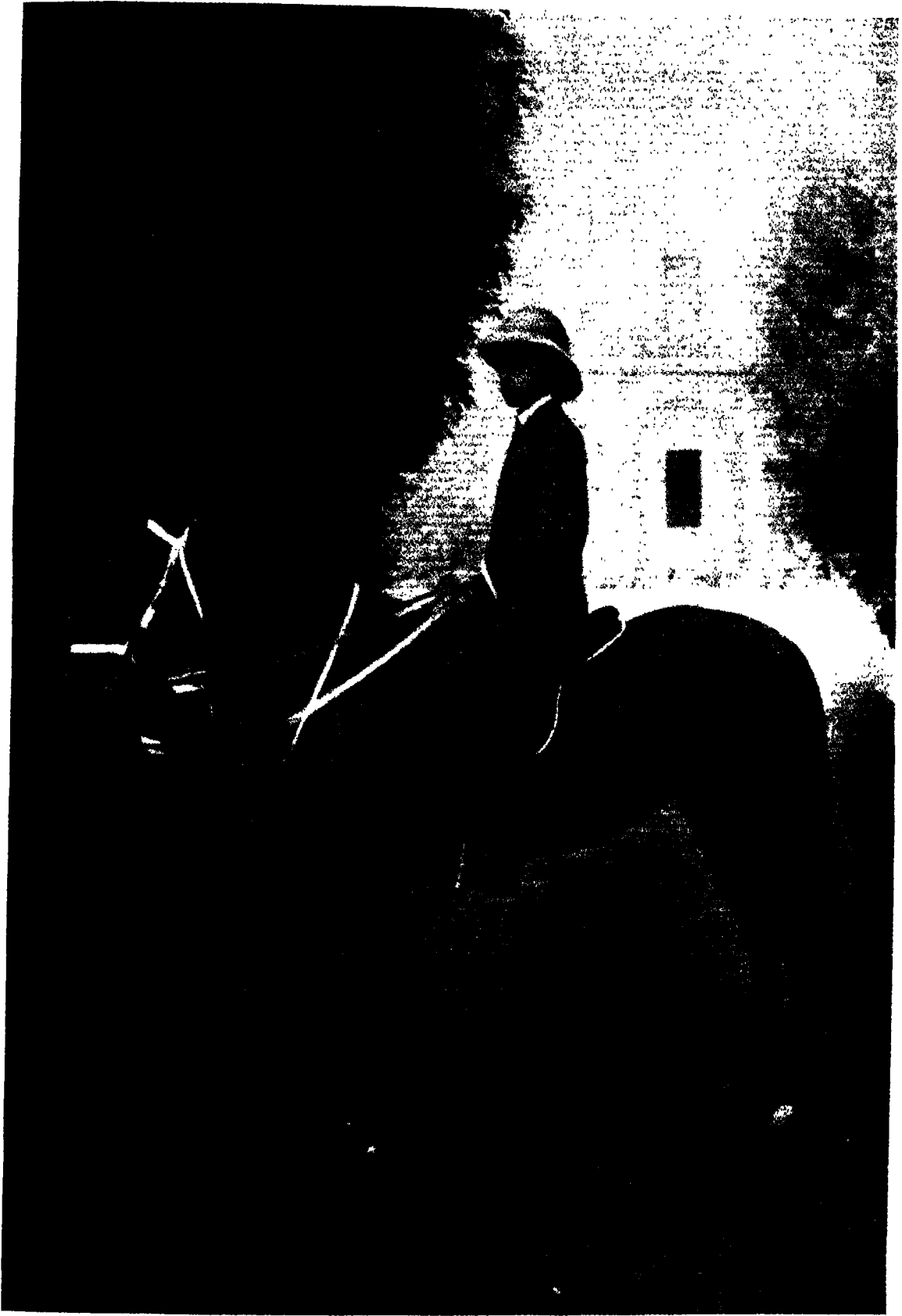
आनन्द भवन के बगीचे में

नेहरू परिवार

खड़े हुए : लाडलीप्रसाद जुत्शी, श्रीमती महाराज बहादुर तकरू, पं० मोतीलाल नेहरू
बैठे हुए : श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, जवाहरलाल, विजयलक्ष्मी
फ़र्श पर : श्रीमती लाडलीप्रसाद जुत्शी

जवाहरलाल—भाई के साथ

माता के साथ

यज्ञोपवीत के पश्चात्

हैरो में सैनिक स्वयंसेवक के रूप में

गोरखा सैनिक वेश में
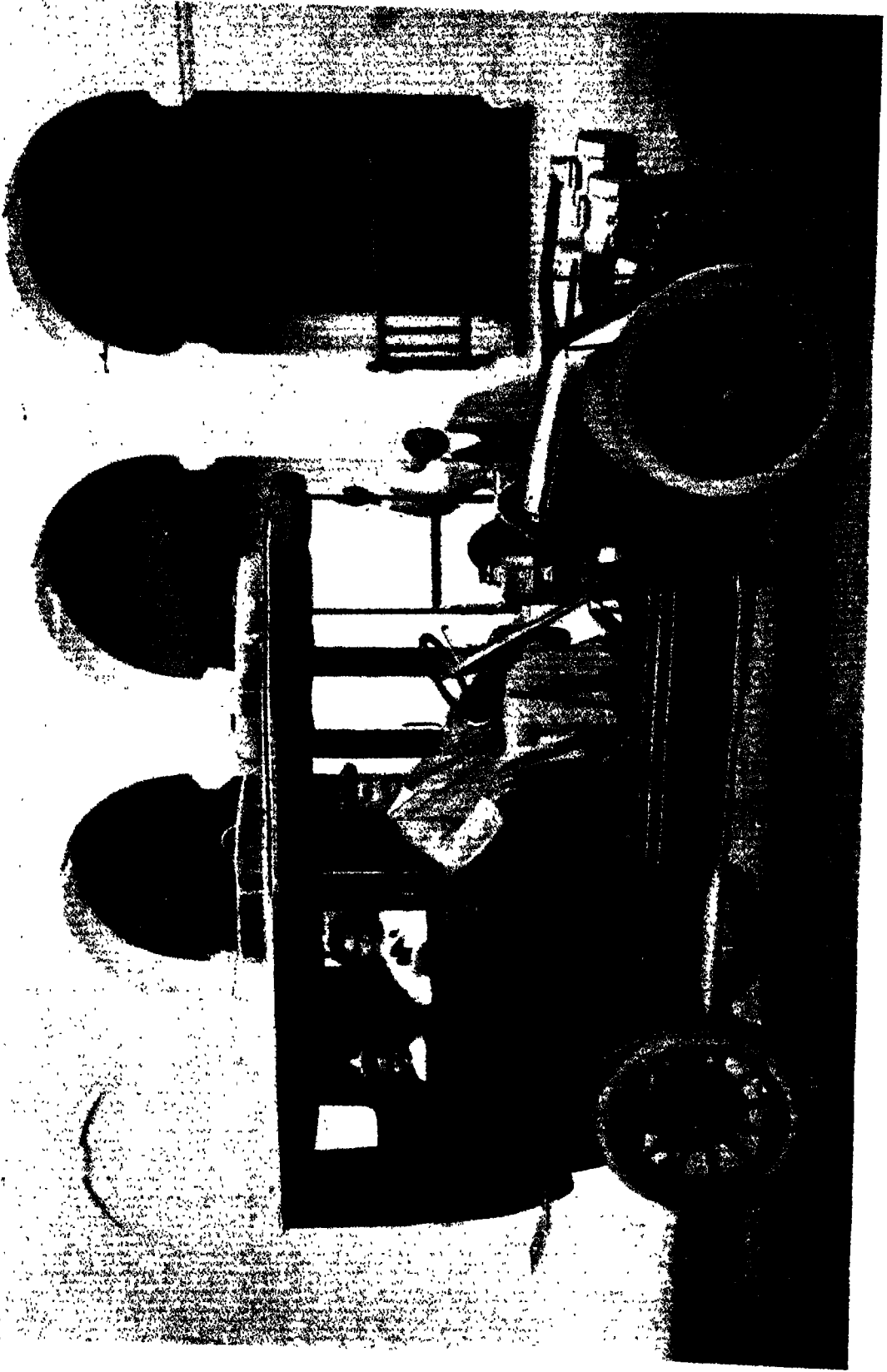
इलाहाबाद की पहली मोटर में पं० मोतीलाल नेहरू

'सब से निराले'

घनश्यामदास बिड़ला

पंडितजी को दूर से तो मैं वैसे कई सालों से देखता आ रहा था, पर पहले-पहल मेरी मुलाक़ात उन से १६२४ में हुई। गांधीजी अपने अपेंडिक्स के आपरेशन के बाद जेल से छूट कर आये थे और स्वास्थ्य-लाभ के लिए जूहू ठहरे हुए थे। एक रोज़ मैं गांधीजी से मिलने को जूहू गया तो बातों ही बातों में उन्होंने मुझसे पूछा, "क्या जवाहरलाल को जानते हो?" "दूर से ही देखा है, कभी मिला नहीं हूं;" मैंने कहा। "तो मिल लो और मैत्री करने की कोशिश करो।" मैं गांधीजी के पास से उठ कर पंडितजी के पास गया। वह बरामदे के एक कोने में बैठे थे। वह दृश्य मुझे स्पष्ट याद है। उनके चेहरे पर ताज़गी थी, सौन्दर्य था और जवानी थी। मुझे ऐसा भी स्मरण है कि उनके हाथ में गीता की पुस्तक थी जिसका वह अध्ययन कर रहे थे। उस समय जो पहली छाप मुझ पर पड़ी उससे मुझे लगा कि मैं उनके हृदय में शायद ही कभी प्रवेश कर सकूं। मेरी वह प्रथम धारणा आज भी मुझे सही ही लगती है।

मैं स्वनामधन्य पंडित मोतीलालजी के पास काफ़ी उठा-बैठा हूँ। लाला लाजपतराय और पंडित मालवीयजी की भी सेवा मैंने की। बापू के चरणों में ३२ साल तक रहा। पर पंडित जवाहरलालजी इन सब से मुझे निराले दिखे हैं। मालवीयजी एक निर्मल जल के सरोवर जैसे लगते थे जिसमें प्रवेश करने में मुझे कभी झिझक नहीं होती थी। बापू ऐसे लगते थे जैसे गंगा की पवित्र धारा। इसमें स्नान करने से सुख और शान्ति मिलती थी और पाप और परिताप से मुक्ति मिलती थी। दोनों ही इन जलों में ग़ोता लगाना मुझे आसान मालूम देता था। पर पंडितजी मेरी दृष्टि में सदा एक अगाध समुद्र रहे हैं जो विशाल है, बृहत् है, अपनी ओर खींचता है, अपने लिए श्रद्धा पैदा करता है, और प्रभावान्वित भी करता है, पर जिसका अवगाहन भयप्रद है।

सन् १६२४ के बाद मैं पंडितजी के काफ़ी परिचय में आया। उनका काफ़ी अध्ययन किया। उनके साहित्य को पढ़ा। पर मैं नहीं कह सकता कि मैं आज भी उन्हें जान पाया हूँ। पंडितजी मेरे लिए सदा ही समुद्र की तरह 'अनवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा' रहे हैं।

एक बार मैंने स्वर्गीय महादेव भाई देसाई से पूछा था, "महादेव भाई, जवाहरलालजी को जानते हो? जानते हो तो बताओ वे क्या हैं।" उन्होंने कहा, "जवाहर ग्रीक फ़िलासफ़र है। वह सौन्दर्य का उपासक है। वह कभी सौन्दर्यहीन काम नहीं कर सकता।"

गोल्डस्मिथ ने कहा है, "सुन्दर वह है जो सुन्दर करता है।" सम्भव है, महादेव भाई का तात्पर्य सत्यं शिवं सुन्दरम् से रहा हो। जो सुन्दर है वह सत्य भी होना चाहिए, कल्याणकारी भी होना चाहिए।

मैंने समालोचक बन कर पंडितजी का अध्ययन किया है और मुझे लगता है कि पंडितजी के सम्बन्ध में महादेव भाई का चित्रण अक्षरशः सही है। पंडितजी चाहे एक क्षण के लिए आवेश में आ जायें पर उनकी न्याय-बुद्धि उन्हें कभी नहीं छोड़ती। एक विशिष्ट पुरुष ने मुझसे एक मर्तबा कहा था, "जवाहरलाल क्रांतिकारी नहीं, एक उच्च कोटि का लिबरल है, जो हर चीज़ के दोनों पहलुओं को मद्देनज़र रख कर निर्णय करता है और कभी-कभी दोनों पहलुओं को इतना तौलता और मापता है कि स्पष्ट निर्णय में भी कठिनाई पाता है।" इन सब वर्णनों के बाद मुझे आश्चर्य नहीं हुआ जब गांधीजी ने अपनी मृत्यु के कुछ ही दिन पहले मुझ से एक बार कहा "जवाहर विचारक है, सरदार कारक है।"

पंडितजी के भीतर जो मंथन और संघर्ष चलता रहता है उसकी छाप हर बारीकी से अध्ययन करने वाले पर पड़े बिना नहीं रहती। हर चीज़ के स्पष्ट निर्णय में जो एक विचारक को कठिनाई पड़ती है उसका आभास उसकी भावभंगी से मिलता है। पंडितजी हँसते हैं तो भी एक तरह की उदासी उनके चेहरे पर से कभी नहीं हटती। दिलीप के बारे में कालिदास ने कहा है कि उसमें 'वृद्धत्वं जरसा विना' था। पंडितजी में 'वृद्धत्वं जरसा विना' और 'बिना बाल्येन

चापल्य' दोनों हैं। नम्रता है तो आवेश भी है। उत्साह है तो थकान भी है। दिल गरीब है तो तबियत रईसाना भी है। हठ है पर समन्वय है। बहादुर हैं तो लोकमत के सामने झुकते हैं। कुशाग्रबुद्धि हैं पर उनमें सीधापन भी है। यह सब द्वन्द्व इस तरह से भीतर संग्राम करते हैं कि इसका प्रतिबिंब पंडितजी के चेहरे पर आ ही जाता है।

साधारण मान्यता है कि पंडितजी को धर्म में कोई श्रद्धा नहीं है, न उन्हें ईश्वर मान्य है। कभी-कभी पंडितजी के सार्वजनिक उद्गारों से इस कथन का समर्थन भी होता है। पर इस में भी मतभेद की क़ाफ़ी गुंजायश लगती है। धर्म क्या है और ईश्वर क्या है, इसकी सम्पूर्ण व्याख्या के बाद ही यह निर्णय हो सकता है कि पंडितजी के ईश्वर सम्बन्धी मन्तव्य क्या हैं। पर गान्धीजी इस कथन का भी विरोध करते थे। बहस में एक बार उन्होंने मुझ से कहा, "जवाहर नास्तिक नहीं है। जो मनुष्य कहता है, आजादी अवश्य मिलेगी उसके इस कथन का आधार विज्ञान नहीं, श्रद्धा है। और श्रद्धा आस्तिकता का प्रदर्शन है, नास्तिकता का नहीं।" यह सही है। कुछ दिन पहले इलाहाबाद साइंस कांग्रेस में व्याख्यान देते समय पंडितजी ने कहा "मैं पन्तजी से सहमत नहीं हूँ जब वह कहते हैं कि कुदरत का कानून अस्थायी है। असल में तो कुदरत का कानून अटल और अजय है। मनुष्य उसे समझने में और उस पर विजय पाने में अब तक निष्फल रहा है। जो कुछ हुआ है वह इतना ही कि मनुष्य कुदरत से सहयोग करके उसका उपयोग करता रहा है।" यह नास्तिकता नहीं, परले सिरे की आस्तिकता है।

साधन और साध्य में सामंजस्य को गान्धीजी ने अपने प्रवचनों में काफ़ी महत्त्व दिया है। अच्छे ध्येय के लिए भी बुरे साधनों का प्रयोग त्याज्य है, इस पर गान्धीजी ने जितना भार दिया है उतना हमारे प्राचीन लोगों ने शायद ही दिया हो।

राजनीतिक दावपेंच हर युग में चलते रहे और हमारे पूर्वज भी इन दावपेंचों से वंचित न थे। देव-दानवों के संघर्ष में देवों की गिरती आयी तो वामन ने बलि को धोखा दिया। इस के पहले भी विष्णु ने मोहिनी बन कर दैत्यों से अमृत चुराया। राम ने छिप कर बालि को मारा। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। भारत की भविष्य की पर-राष्ट्र-नीति इन दावपेंचों का तिरस्कार करेगी, ऐसा मानने की भी कोई गुंजायश नहीं। पर गान्धीजी इस पैंतरेबाज़ी से परे थे और उस नीति का जवाहरलालजी पर भी प्रभाव पड़ा है, ऐसा उनके अनेक उद्गारों से पता चलता है। गान्धीजी का यह सुवर्ण नियम स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कभी कसौटी पर नहीं चढ़ा। जवाहरलालजी यदि इसको व्यावहारिक रूप में सफ़ल कर दिखायेंगे तो अवश्य ही हमारी एक अद्भुत विजय होगी।

जवाहरलालजी एक महान् व्यक्ति हैं। उनमें महत्ता क्या है, इसका विश्लेषण कष्टसाध्य है। सोना या हीरा महज़ अपने बुनियादी तत्त्वों के कारण ही क़ीमती नहीं होता। कहते हैं, जो तत्त्व हीरे में है वह कोयले में भी है। पर कोयला कोयला ही है और हीरा हीरा ही। पंडितजी में अभय है, न्यायबुद्धि है, कुशाग्रता है, तेजस्विता है, विद्वत्ता है और ऊँचे दरजे की साहित्यिक कला-कुशलता है। पर उन्हें किस चीज़ ने बड़ा बनाया, यह बताना असम्भव है। बात यह है कि वह बड़े हैं और इस देश को उनकी सेवा की अत्यंत आवश्यकता है।

वह साठ साल के हो चले, यह घटना किसी को आह्लादित नहीं कर सकती। पर घड़ी की सुई पीछे नहीं घूम सकती। इस तरह हमारे चाहने पर भी पचास के हो जाने की बात ही क्या, जवाहरलालजी साठ में से एक क्षण भी पीछे नहीं जा सकते। इसलिए हम इतने से ही संतोष करें कि ईश्वर उन्हें लम्बी आयु दे।

फ़रवरी १९४९

स्फूर्ति का रहस्य–हठयोग !

आयन स्टीफ़ेन्स

शिमले की बात है, सन् '३१ में गर्मियों की। केम्ब्रिज से निकल कर हिन्दुस्तान आये हुए मुझे एक बरस हो गया था। लेकिन असहयोग आन्दोलन चल रहा था और लोग जेलों में भरे जा रहे थे, इसलिए अभी तक किसी कांग्रेसी से भेंट नहीं हुई थी।

कांग्रेसी कैसे होते हैं, इस बारे में मेरी क्या धारणा थी यह तो याद नहीं आता। इतना कह सकता हूँ कि जिस पहले उल्लेखनीय कांग्रेसी से मेरी भेंट हुई, और जो आज भारत का प्रधान मन्त्री है, कांग्रेसियों के वैसा होने की अपेक्षा मैंने नहीं की थी।

उस समय मैं नहीं जानता था कि वह कौन है। तब मैं सरकारी नौकर था। आज पत्रकार हो कर जितनी मेहनत करता हूँ उससे बहुत कम मेहनत करता था। गॉर्टन कैसल के अपने कमरे से उठ कर उस एक भारतीय सहयोगी के पास गपशप करने के लिए चल दिया। उस समय लंदन गोलमेज़ कानफ़रेंस करने की बातचीत चल रही थी। गान्धी-अरविन समझौते से कांग्रेस के प्रतिनिधित्व की बात पक्की हो गयी थी, और सब लोग यही चर्चा कर रहे थे कि कौन चुना जायेगा।

पहुँच कर देखा, मेरे मित्र के यहाँ कोई मिलने वाले आये हुए थे। मित्र ने परिचय तो कराया, लेकिन मैंने नाम ठीक से नहीं सुना।

नवागन्तुक शान्त, विनयी व्यक्ति जान पड़ा। बातचीत होने लगी। लेकिन थोड़ी देर में ही वातावरण में अद्भुत परिवर्तन आ गया। मैंने पाया कि मैं काग़ज़ों के अम्बार, टेलीफोन, खँखारते हुए लाल वर्दी वाले चपरासियों आदि से भरे हुए गॉर्टन कैसल में नहीं हूँ—मैं भारत में भी नहीं हूँ। अजनबी की मुक्त, विद्वत्तापूर्ण, जिज्ञासा-प्रेरक बातचीत मुझे छः हज़ार मील दूर उड़ा ले गयी है—मैं फिर केम्ब्रिज में बैठा हूँ, नौकरशाही का एक अधिकारी नहीं बल्कि एक विद्यार्थी, जो एक युवा प्रोफ़ेसर के साथ अत्यन्त स्फूर्तिप्रद विचार-विनिमय कर रहा है।

उसके चले जाने पर मैंने बड़े उत्साह के साथ अपने सहयोगी से पूछा, "यह कौन आदमी था? मुझे बहुत अच्छा लगा। उससे बातचीत करते-करते मैं फिर इंग्लैंड के विद्यार्थी-जीवन के दिनों में पहुँच गया था।"

"अरे—मैं तो समझता था कि आप पहिचान गये हैं। जवाहरलाल नेहरू थे।"

× × ×

दिल्ली, सन् '४६ की गर्मियों के दिन। ब्रितानी मंत्रिमंडल का प्रतिनिधि दल, कांग्रेस, मुस्लिम लीग, सभी ऊँची राजनीति में व्यस्त थे। मानसिक उत्तेजना चरम बिन्दु पर थी।

प्रमुख व्यक्तियों से भेंट करने में मुझे बहुत उलझन मालूम होती है। इसे मैं अपने पेशे के कम प्रीतिकर कामों में से एक मानता हूँ।

इच्छा से नहीं बल्कि कर्त्तव्य की भावना से मैंने पंडित नेहरू से भेंट की अनुमति चाही। दिन और समय भी निश्चित हो गया। लेकिन निश्चय और भेंट के अन्तराल में वार्त्ताओं ने एक अप्रत्याशित नया रूप लिया—जैसा कि उन दिनों अकसर होता था। इससे मैं जिस राजनीतिक स्थिति की बातचीत करना चाहता था वह तेज़ी से और बिल्कुल बदल गयी। वार्तालाप में भाग लेने वाले किसी व्यक्ति के लिए किसी पत्रकार से खुल कर बातचीत करना उस परिस्थिति में बिलकुल असम्भव था।

यह एक नयी उलझन थी। दो-एक इधर-उधर की बातें करके मैंने अपनी कठिनाई साफ़-साफ़ जवाहरलाल

जी के सामने रख दी। कोई उत्तरदायी पत्रकार ऐसी परिस्थिति में खुश नहीं होता और एक कार्य-व्यस्त आदमी का मैं व्यर्थ ही समय नष्ट नहीं करूँ, इस विचार से मैंने उठ जाना उचित समझा।

"नहीं नहीं, आप जाइए नहीं, यह मुलाक़ात तो हम लोगों ने पहले से पक्की कर रक्खी थी!" पंडित जी ने सहानुभूति के स्वर में कहा। "राजनीति न सही, और कुछ बात की जाय। बताइए, किस विषय पर बात की जाय?"

मैंने कुछ डरते-डरते कहा, "आपके हठयोग के अभ्यास की बात की जाय—" यह बताने का साहस मैंने नहीं किया कि मैं भी यौगिक व्यायाम करता हूँ।

वह राजी हो गये। और इसी का फल हुआ कि थोड़ी देर बाद ही, ब्रितानी प्रतिनिधि-मंडल की बातचीत के उस सूक्ष्म काल में, दिल्ली के उन चिन्ता-भरे दिनों में से शायद गर्मी के सबसे गर्म एक दिन, मैंने पाया कि भारत के भावी प्रधान मन्त्री के साथ एक ड्राइंग रूम के तख्त पर बैठा हुआ शान्त और स्थिर हो कर प्राणायाम का अभ्यास कर रहा हूँ।

राजनीति से यह बातचीत कहीं अधिक रोचक थी। हम लोग, उड्डियान और नौलि, पूर्वोत्तान और पश्चिमोत्तान की बातचीत करते रहे। यहाँ तक कि अगर एक और मुलाक़ाती के आ पहुँचने से बाधा न पड़ी होती, तो और थोड़ी देर में जवाहरलाल जी शीर्षासन करके दिखा रहे होते और मैं प्रशंसापूर्वक देख रहा होता।

तब से एक महान् सार्वजनिक नेता के और प्रधान मन्त्री के रूप में इतना कठिन परिश्रम करते हुए भी, जो और किसी की कमर तोड़ देता, मैं देखता हूँ कि जवाहरलाल जी एक आश्चर्यजनक, बल्कि बच्चों की-सी फुर्ती बनाये रख सके हैं। मेरी धारणा है कि इसका रहस्य यह है कि इस महान् सार्वजनिक व्यक्ति का शरीर एकान्त के समय में नियमित रूप से कुछ मिनटों का यौगिक व्यायाम करता रहा है।

यह भी सम्भव है—मैं परिहास नहीं कर रहा हूँ—कि उनके सर्वश्रेष्ठ भाषण, उनके शासन के सबसे कठिन निर्णय आदि भी सिर के बल खड़े-खड़े ही तैयार किये गये हों। एक बहुत हीनतर उदाहरण इस विचित्र अनुमान की प्रेरणा देता है—मैं स्वीकार करता हूँ कि स्टेट्समेन के कुछ सम्पादकीय इसी मुद्रा में सोचे गये हैं!

फ़रवरी १९४९

पंडित नेहरू—जेल में और बाहर

अर्ट्रूड एमर्सन सेन

नेहरू की महत्ता को आलोकित करने के लिए मेरी छोटी-सी मशाल की ज़रूरत नहीं है, न मैं उन थोड़े-से भाग्य-शालियों में हूँ जो कह सकते हैं कि वे उनको जानते हैं। ऐसे कितने ही होंगे जिनके पास नेहरू के छोटे-छोटे निजी संस्मरण होंगे जो भुलाये नहीं जा सकते। लाखों नहीं तो हज़ारों व्यक्ति उनके निजी सम्पर्क में आये होंगे, और भारत का प्रधान मन्त्री बन जाने के बाद भी उनकी आदतें बदली नहीं हैं। मैं सोचती हूँ कि क्या और किसी देश का प्रधान मंत्री भी हर किसी के लिए इतना सुलभ होगा? बच्चे उन्हें मालाएँ पहना आते हैं—यद्यपि अवकाश के समय, अवसर मिलने पर, नेहरू उनके साथ खेलना ही अधिक पसन्द करते हैं। किसान बिना फटकार के डर के उनकी मोटर रोक कर उन्हें डाली भेंट करते हैं। विद्यार्थी तो मोटर पर ही चढ़ जाते हैं। उनके निवासस्थान के रास्ते में दोनों ओर शरणार्थी खेमा डाल लेते हैं। नेहरू के निजी सहकारी भरसक सुरक्षा करते हैं यद्यपि बहुत सफल नहीं होते। जवाहरलाल अनुभव करते हैं कि वह जनता के प्रधान सेवक हैं तब फिर वह अलग कैसे रह सकते हैं। इसीलिए वह असंख्य आधार-शिलाएँ रखते हैं, असंख्य सभाओं में जाते हैं, असंख्य भाषण देते हैं—उनके समय, शक्ति, और धैर्य पर जो तक़ाज़ा आता रहता है उनकी क्षति-पूर्ति करने के लिए रात को देर तक जागते हैं और सवेरे बहुत जल्द उठ जाते हैं। वह कहा करते हैं कि 'एकान्त दस हज़ार फ़ुट से कम ऊँचाई पर नहीं मिल सकता', लेकिन नेहरू जैसे व्यक्ति के लिए क्या वहाँ भी वह मिल सकेगा?

मेरी उनसे पहली भेंट पन्द्रह वर्ष पूर्व हुई थी। जनवरी १९३४ में वह कमलाजी के साथ कलकत्ते आये थे। दो जेल-यात्राओं के बीच वह एक छोटा-सा अन्तराल था। वह डाक्टरों से पत्नी के स्वास्थ्य के बारे में परामर्श करना चाहते थे और, जैसा कि उन्होंने बाद में लिखा है, बंगालियों के असाधारण त्याग और स्वाधीनता-आन्दोलन में झेले गये कष्टों का अभिनन्दन भी करना चाहते थे। मैं उस समय कलकत्ते में थी; और 'एशिया' नामक पत्र की—जो अब बन्द हो गया है—भारतीय प्रतिनिधि होने के कारण तथा अच्छी रचना की तलाश में रहने के कारण यह स्वाभाविक था कि जवाहरलालजी से मिलना चाहूँ। मेरी प्रार्थना पर मुझे उसी शाम नौ बजे मिंटो पार्क में, उनके निवास स्थान पर, जाने का निमन्त्रण मिला।

मेरे पति और मैं दोनों ठीक समय पर पहुँच गये। हमें एक तंग ड्राइंगरूम में बैठा दिया गया। मालूम हुआ कि पंडितजी एक सार्वजनिक सभा से देर करके लौटे और भोजन करने जा रहे हैं। लेकिन तत्काल ही वह अपनी परिचित सफ़ेद खद्दर की पोशाक में बाहर निकल आये। पहले उन्होंने हमें नमस्कार किया और फिर पाश्चात्य ढंग से हाथ मिलाये। थोड़ा मुस्कराते हुए उन्होंने हम से क्षमा माँगी कि हमें १०-१५ मिनट और प्रतीक्षा करनी पड़ेगी—इसलिए नहीं कि उन्हें भोजन करना है वरन् इसलिए कि कई अतिथि आये हुए हैं। लेकिन इतने समय के अन्दर ही वह फिर आ गये और उनकी भावभंगी से यह बिल्कुल नहीं जान पड़ता था कि उन्होंने कुछ जल्दी की है या कि अब अनन्त अव-काश लेकर नहीं बैठे हैं। एक-एक करके और लोग भी आकर ड्राइंगरूम में बैठ गये और उनमें मैंने दुबली-पतली किन्तु अत्यन्त सजीव कमलाजी को भी पहचाना। उनकी आँखों के नीचे गड्ढे पड़ गये थे और वह अस्वस्थ दीख रही थीं। हम लोगों का परिचय तो नहीं कराया गया लेकिन कमरे के दूसरी ओर से वह बीच-बीच में बातें करती रहीं। उनको दोबारा देखने का भाग्य मेरा नहीं था लेकिन उस एक की स्मृति मेरे मन में स्पष्ट है।

नेहरू ने कई विषयों पर प्रश्नों के उत्तर दिये। मैंने पाया कि मैं न केवल उनकी बातें बड़े ध्यान से सुन रही हूँ, बल्कि उतनी ही दिलचस्पी से उनका संवेदनशील और गतियुक्त चेहरा भी देख रही हूँ। उनका चेहरा वैसा ही था जैसी मैंने कल्पना की थी। लेकिन पीले चेहरे में से काली भँवें और आँखें मानों नाटकीय ढंग से उभर आती थीं—अभी ही आधे पके बालों से उनका मेल नहीं था। मैं उनके चेहरे की सूक्ष्म रेखाएँ देख रही थी। चेहरा प्रमुखतया गम्भीर और

विचारमय था, लेकिन कभी-कभी अचानक क्षणस्थायी हँसी की एक दमक से दीप्त हो उठता था। प्राच्य चित्रकला में —चीनी, पारसी, मुग़ल शैलियों में—बहुधा रेखाओं की ऐसी सूक्ष्मता देखने में आती है; लेकिन एक जीवित चेहरे की ये रेखाएँ जो अपूर्व अभिप्राय दे देती हैं, वह मैंने तभी देखा। उन रेखाओं में, और साथ ही उस मधुर वाणी में और गुरुतापूर्ण ढंग में स्पष्ट झलकता था कि यह व्यक्ति अभिजात, शालीन और संस्कृत हैं।

एक लोकप्रिय राजनीतिक नेता में, कम से कम अमरीका में, बातचीत करने के ढंग की जो विशेषताएँ पायी जाती हैं, नेहरू में उनमें से कोई नहीं थी। और मैं सोचती रही कि जनता में उनके प्रभाव का आधार क्या है। अपनी स्पष्टतया विदेशी शिक्षा के बावजूद क्या वह जनता की भाषा बोल भी सकते हैं?—अवश्य बोल सकते होंगे, नहीं तो उनके हृदयों में गान्धीजी के बाद का स्थान कैसे पा सकते? मुझे लगा कि यह जनता के ही मूलतः संस्कृत होने का प्रमाण है कि चारित्रिक गुणों को पहचानने के लिए उनमें शिक्षा की अपेक्षा नहीं है। सच्चाई, निष्ठा, ईमानदारी, आत्मसम्मान, साहस और आत्मत्याग इत्यादि गुणों का वह आदर करती है। दूसरी ओर बिना किसी प्रकार की भावुकता के नेहरू उसके हितों का हर वक़्त ध्यान रखते हैं। तब दोनों के बीच ऐसा लगाव क्यों न हो?

उन्होंने एक बार कहा था, "भारतीय जनता का यह मूल स्वभाव है कि वह हर बात ऊपर से किये जाने की प्रतीक्षा करती है। इसलिए शायद सुधार ऊपर से आयेंगे। लेकिन हमारे उद्योग यही रहेंगे कि हम जनता को स्वयं अपना हित सोचना सिखायें। ग्राम और ग्राम-पंचायत से ही हम आरम्भ करेंगे।" बातचीत के सिलसिले में वह फिर इसी विषय पर पहुँचे। "जनता का संगठन उनकी ज़रूरतों और शिकायतों के आधार पर हो सकता है। जनता से भूमि के राष्ट्रीयकरण की बात की जाय तो वह घबड़ा जाते हैं—यह विचार ही उनकी बुद्धि में नहीं समाता। लेकिन अगर किसानों से कहा जाय कि ज़मीन उसकी है जो उस पर खेती करता है, तो वह समझते हैं और सहमत होते हैं।"

उनकी बातचीत से उनकी विश्लेषक बुद्धि स्पष्ट झलकती थी। वह एक ओर अपनी, और दूसरी ओर अपने प्रतिपक्षी की शक्ति और दुर्बलता का अध्ययन और विवेचन कर रहे थे, कुछ-कुछ वैसे ही जैसे कि कुशल सेनापति लड़ाई से पहले दोनों पक्ष के सैन्य का अध्ययन कर के लड़ाई का नक़्शा तैयार करता है। "भारत को मुट्ठी भर अंग्रेज़ों ने हथिया रक्खा है, ऐसा नहीं है। इन मुट्ठी भर अंग्रेज़ों के पीछे समूचे बितानी साम्राज्य का बल है।" लेकिन, उन्होंने कहा, भारत की शक्ति भी अपना महत्त्व रखती है, ऊपरी दृष्टि से चाहे वैसा नहीं जान पड़ता हो। हिन्दुस्तानी फ़ौज के भारतीय मुख्यतया देहातियों में से होते थे—सिपाही के हित किसानों के हित से अलग नहीं थे। पंडितजी ने कहा, "करबन्दी आन्दोलन के दिनों में सिपाही प्रायः चुपके-चुपके गाँव वालों से कहा करते थे कि कर मत दो और चिन्ता मत करो, हम तुम पर गोली नहीं चलायेंगे।" मज़दूर और किसानों में भी इतना अन्तर नहीं था। शहरों के बहुत-से मज़दूर कटनी के समय अपने गाँवों में लौटते थे और यद्यपि उनके लिए मज़दूरी की दर और उसकी शर्तों का प्रश्न ही प्रमुख रहता था, फिर भी उनके और किसानों के मौलिक हितों में कोई विरोध नहीं था। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद अवश्य ही आर्थिक संगठन में भी और समाज-सुधार के मामलों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन करने होंगे।

यह स्पष्ट दीखता था कि नेहरू की दृष्टि दूर भविष्य पर है और वह उसके लिए योजनाएँ बनाने वाले हैं। तत्काल के लिए उनके दूसरे कार्यक्रम थे। उन्होंने सहज भाव से कहा, "मैं तो आक्रमण की नीति में विश्वास रखता हूँ। अगर सरकार के डराने-धमकाने से हम चुप होकर न बैठ जायँ तो सरकार को हमें जेल में डाल देने के पहले काफ़ी सोच-विचार करना पड़ेगा और परिणामों का ख़्याल रखना होगा।"

आज पीछे मुड़ कर देखती हूँ तो विगत पन्द्रह वर्षों में नेहरू की एकरूप प्रगति साफ़ दीखती है: सब से पहले राष्ट्र-हित; भावी भारत की आधारशिला भारतीय किसान के हितों को प्रमुख स्थान; दूरदृष्टि और योजना; व्यक्तिगत साहस; अपनी सुरक्षा और आराम की उपेक्षा।....

भेंट समाप्त करने से पहले मैंने उनके सामने यह सुझाव रक्खा कि अब के जब जेल जायँ और उनके पास साहित्यिक काम के लिए समय हो तो वह अपनी आत्मकथा के रूप में भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन का इतिहास लिखें। उन्होंने टालते हुए कहा, "मैं इस पर विचार करूँगा।"

इसका अवसर भी अप्रत्याशित रूप से जल्दी ही मिला। उसी शाम को जो भाषण देकर वह आये थे, उसके लिए तीन सप्ताह बाद इलाहाबाद में उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया। वह कलकत्ते लाये गये और सातवीं बार जेल

भेजे गये, इस बार दो वर्ष के लिए। लेकिन आत्मकथा उन्होंने लिखी, और संसार के साहित्य ने कारावास में लिखी गयी एक और महान् रचना पायी। यह कहानी कई जेलों में लिखी गयी, क्योंकि जवाहरलालजी की बदली होती रही मानों अधिकारी यह नहीं तय कर पाते हों कि इस क़ैदी का क्या किया जाय।

संयोगवश नवम्बर में वह अल्मोड़ा ज़िला जेल में ले आये गये। यहाँ हम उनसे फिर भेंट कर सके। अल्मोड़ा हमारा घर है; वहाँ मेरे पति ने वनस्पति-रचना की खोज करने के लिए एक छोटी-सी प्रयोगशाला भी बना रक्खी है। पंडितजी के अल्मोड़ा आने पर हमें उनसे मिलने की उत्कंठा तो हुई लेकिन उसकी अनुमति माँगने में संकोच भी होता था, क्योंकि उनसे भेंट करने के कड़े नियम थे और हमारे जाने से उसके एवज़ उनकी लड़की इन्दिरा या परिवार के किसी और व्यक्ति की उनसे एक भेंट काट दी जाती। इस बीच कमलाजी को भी भुवाली के स्वास्थ्य-भवन में ले आया गया था, और नियमित पाक्षिक भेंट के लिए वहाँ से कोई मोटर द्वारा सहज ही आ सकता था। परन्तु एक दिन स्थानापन्न सिविल सर्जन ने एक बहुत अनुकूल प्रस्ताव किया। उन्होंने कहा कि हम लोग जेल देखने तो जा ही सकते हैं और उनके साथ चक्कर लगा सकते हैं। अपने निरीक्षण के दौरान में वह नेहरू को भी देखेंगे ही और उस समय हमें उनसे दो-चार बातें करने का अवसर मिल ही सकेगा। यह योजना कार्यान्वित हुई और हम उस 'शाही बारक' तक जा पहुँचे, जिसका वर्णन जवाहरलालजी ने अनन्तर अपनी आत्मकथा में किया है। उन्होंने लिखा है यह बारक ५१ फ़ुट लम्बी और १७ फ़ुट चौड़ी थी। उसकी सीखचों से भरी पन्द्रह खिड़कियाँ पुराने टाट से ढकी रहती थीं लेकिन जाड़ों की रात में बादल उनसे भीतर घुस आते थे और सारी बारक धुन्ध की नमी से भर जाती थी। अनन्तर इस बारक को दो हिस्सों में कर दिया गया, जिसमें से एक में हमें कुछ वर्षों बाद पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

हमें देख कर पंडितजी को अचम्भा तो हुआ ही, वह कुछ प्रसन्न भी दीखे; लेकिन जेल के अधिकारियों की भीड़ के बीच में वातावरण अनिवार्यतया कुंठित हो गया और बातचीत भी खुल कर नहीं हो सकी। हम लोग अभी खड़े ही थे कि कमलाजी के स्वास्थ्य के बारे में दैनिक सूचना वहाँ आ पहुँची और यह काग़ज़ जेल के एक अधिकारी के हाथ से दूसरे के हाथ में जाकर और प्रत्येक द्वारा पढ़ा जाता हुआ अन्त में पंडितजी को दिया गया। रोष और विरक्ति उनके चेहरे पर झलक गयी, लेकिन उन्होंने बिना देखे ही वह परचा जेब में डाल लिया। इन लोगों को क्या अधिकार है कि उनकी पत्नी की स्वास्थ्य-सूचना को पहले पढ़ें और स्वयं उन्हें बाद में अनुमति मिले? और कदाचित् अपनी सहज विनय के कारण वह हमें उस समय अपना 'अतिथि' भी समझ रहे थे! हम लोगों ने तत्काल विदा ली। मैंने जाते-जाते लक्ष्य किया कि अपनी कोठरी के दरवाज़े पर पहुँचते ही उन्होंने जल्दी से जेब से काग़ज़ निकाला। जैसा कि सिविल सर्जन ने हमें बाद में बताया, उसमें यह सूचना थी कि कमलाजी का स्वास्थ्य गिर रहा है। इससे अगली मई में ही उन्हें यूरोप भेजा गया, लेकिन स्वास्थ्य के सुधार की आशा विफल हुई और सितम्बर में, अल्मोड़ा जेल में, एक वर्ष काटने के बाद और सज़ा पूरी होने से साढ़े पाँच महीने पहले पंडितजी को रिहा कर दिया गया ताकि वह उनसे मिल सकें।

इसके बाद उन अन्तरालों में जब वह जेल से बाहर रहते थे, उनसे कई बार भेंट हुई—कभी-कभी अच्छे वातावरण में, जैसे आनन्द भवन में या लखनऊ में या दिल्ली में। एक बार तो वह अल्मोड़ा में एक रात हम लोगों के साथ रहे। किन्तु ये तूफ़ानी दिन थे, जिनमें जेल की छाया नेताओं से कभी बहुत दूर नहीं होती थी और कड़ी सज़ाएँ सभी की प्रतीक्षा कर रही थीं। लार्ड लिनलिथगो की सरकार, (जिसके पीछे चर्चिल और एमरी की छाया मँडरा रही थी) नेहरू पर प्रसन्न नहीं थी, क्योंकि उसके पास उनकी इस न्याय्य माँग का कोई जवाब नहीं था कि अगर जैसा कि वह कहती है, महायुद्ध पीड़ित राष्ट्रों की स्वाधीनता और लोकतन्त्र के लिए लड़ा जा रहा है, तो भारत को भी आश्वासन मिलना चाहिए कि युद्ध सफलतापूर्वक समाप्त होने पर वह भी स्वतन्त्र होगा। अन्त में अगस्त १९४२ में मामला बढ़ गया और महात्मा गान्धी और कांग्रेस कार्यकारिणी के सब सदस्य जेल में भेज दिये गये—गान्धीजी और सरोजिनी नाइडू पूना के आग़ा ख़ाँ महल के सुनहरे पिंजड़े में और बाक़ी सब अहमदनगर क़िले में। उनकी ख़बर बाहर मिलनी बन्द हो गयी और बाहर की भीषण घटनाओं की ख़बर उन तक न पहुँचने दी गयी। नेताओं के पीछे हज़ारों और लोग जेलों में और कैम्पों में ठूँसे जाने लगे। लेकिन जैसा कि नेहरू ने कलकत्ते वाली भेंट में कहा था, लोग योजनाएँ बनाते हैं और भूल जाते हैं कि 'बाक़ी दुनिया निश्चल खड़ी नहीं रहेगी।' मित्र राष्ट्रों की विजय हुई, लार्ड लिनलिथगो की जगह लार्ड वेवेल आये, इंग्लैंड में कंज़र्वेटिवों की जगह मज़दूर दल की सरकार बनी और तीन आदमियों का केबिनेट मिशन

भारत भेजा गया ताकि यहाँ की विकट परिस्थिति का कोई हल निकाला जा सके। समझौते का वातावरण पैदा करने के लिए बन्दी नेताओं को रिहा करने की माँग की गयी।

मई १९४५ के आरम्भ में अल्मोड़े के जंगलात विभाग के अधिकारी की अंग्रेज़ पत्नी दौड़ी हुई हमारे यहाँ आयीं। उन्होंने सूचना दी कि अल्मोड़ा जेल में अभी-अभी 'कोई बड़ा नेता' लाया गया है। जो पुलिस अधिकारी उन्हें लेकर आया था वह इन भद्र महिला के यहाँ ठहरा था और इसलिए उन्हें तत्काल सूचना मिल गयी थी। स्पष्ट ही यह नेहरू थे, जो कि आचार्य नरेन्द्रदेव के साथ वहाँ रिहाई के लिए लाये गये थे—अल्मोड़े जैसी छोटी जगह में उस बड़े प्रदर्शन की संभावना नहीं थी जो कि अन्यत्र होता। अभी तक पंडितजी की रिहाई की कोई बात अधिकारियों की तरफ़ से नहीं हुई थी, लेकिन हमें इसका इतना पक्का निश्चय था कि हमने उन्हें चिट्ठी लिख भेजी कि उनकी रिहाई पर अगर हम उन्हें रात भर अपने यहाँ ठहरा सकें या और किसी प्रकार उनका आतिथ्य कर सकें तो हम इसको अपना गौरव समझेंगे। उसी रात रेडियो पर सूचना मिली कि कार्यकारिणी के सब सदस्य दूसरे दिन प्रातःकाल आठ बजे छोड़ दिये जायँगे।

अल्मोड़े में बहुत रेडियो नहीं हैं इसलिए शायद सूचना थोड़े ही लोगों को हुई होगी। जो हो, दूसरे दिन सबेरे ही हम लोगों ने इस आशा में जेल का रास्ता पकड़ा कि पंडितजी हमें रास्ते में ही अवश्य मिल जायँगे। मोटर के अड्डे के पास ही हमने लगभग सौ आदमियों का एक छोटा-सा जलूस देखा जिसके आगे-आगे नेहरू और नरेन्द्रदेव थे! उन्होंने हमें हमारी चिट्ठी के लिए धन्यवाद दिया और बताया कि उस समय तो वह कहीं पर चाय पीने के लिए ले जाये जा रहे थे लेकिन अनन्तर दिन में वह अवश्य हमारे यहाँ आयेंगे यद्यपि अभी नहीं कह सकते कि किस समय। लेकिन रात को वह अल्मोड़े नहीं रहेंगे। उन्हें तत्काल नैनीताल चले जाना चाहिए, लेकिन वह रात भर के लिए 'खाली' जाने की सोच रहे हैं। उन्होंने कारण नहीं बताया, लेकिन हम तत्काल समझ गये कि वह स्वर्गीय रणजीत पंडित की बात सोच रहे थे जिनका देहान्त नेहरू के जेल में रहते हुए ही हो गया था।

दोपहर के लगभग एक वाहक पंडितजी के हाथ की लिखी हुई परची लेकर आया कि वह १५ मिनट में हमारे यहाँ पहुँच रहे हैं, और दोपहर का भोजन वहीं करेंगे। हमें कुछ हड़बड़ी हुई, क्योंकि उस दिन दोपहर के भोजन की व्यवस्था हमारे यहाँ विशेष रूप से अपर्याप्त थी। भोजन से पहले मुझे याद आया कि जंगलात अफ़सर की स्त्री ने अनुरोध किया था कि अगर कोई भी सम्भावना हो तो वह और उनके पति पंडितजी से एक बार मिलना चाहेंगे, क्योंकि थोड़े ही दिन में वह हिन्दुस्तान छोड़ कर चले जाने वाले हैं। मैंने उन्हें चिट्ठी लिख भेजी कि अगर वह दोनों तत्काल आ जायें और दस मिनट से अधिक न ठहरें तो भेंट हो सकती है। यों तो यह पंडित नेहरू के साथ ज़बर्दस्ती ही थी, लेकिन मैं जानती थी कि उन लोगों की कामना सच्ची है और दोनों भारत के हितैषी हैं। संयोगवश जंगलात अफ़सर तो काम पर गये हुए थे और उनको इतनी जल्दी खबर नहीं दी जा सकती थी, लेकिन उनकी पत्नी दौड़ी हुई आयीं। मैं इस छोटी-सी बात का उल्लेख इसलिए कर रही हूँ कि इस बात से हमें उस व्यक्ति के व्यक्तित्व की विशाल गहराई का कुछ परिचय मिलता है जो कि शीघ्र ही प्रधान मन्त्री होने वाला था। उनके व्यवहार में ज़रा भी कटुता या अरुचि नहीं थी, यद्यपि जिस व्यक्ति से वह बातचीत कर रहे थे वह उसी जाति की प्रतिनिधि थी जिसके हाथों उनके जीवन के इतने वर्ष जेल में कटे थे। वह एक शालीन मधुरता के साथ बातचीत करते रहे और जब वह भद्र महिला जाने लगीं तो उन्होंने आग्रहपूर्वक उनके साथ कुछ आम भी दिये जो कि उनके पास उसी दिन इलाहाबाद से उनके बग़ीचे से पहुँचे थे और जिन्हें वह जेल से अपने साथ ले आये थे।

अल्मोड़े के डिप्टी कमिश्नर साहब बिल्कुल दूसरी कोटि के थे। पंडित नेहरू जब अल्मोड़ा जेल लाये गये तब वह दौरे पर थे; उनके लौटने तक वह रिहा होकर चले भी गये थे। लेकिन कुछ ही दिन बाद वह हमारे यहाँ यह घोषणा करने के लिए आये कि हमने क्यों नेहरू को अपने यहाँ निमन्त्रित किया था इसलिए उनसे हमारा मिलना-जुलना अब नहीं होगा और साक्षात् कभी अचानक किसी सार्वजनिक स्थान में हो तो हो। चेहरा गुस्से से लाल करते हुए उन्होंने बात यह कह कर समाप्त की कि नेहरू समाज का सबसे बड़ा शत्रु है! मेरे पति ने चुपचाप उठ कर दरवाज़ा खोल दिया कि डिप्टी कमिश्नर साहब हमारे घर से चले जायें। केवल इतना ही कहा कि 'आपकी राय आपकी राय है तो हमारी राय भी हमारी राय है'। कहना न होगा कि कांग्रेस मन्त्रिमंडल स्थापित होने पर यह साहब इस्तीफ़ा देकर चले गये, और 'समाज-शत्रु नम्बर १' लार्ड वेवेल के निमन्त्रण पर अन्तरिम सरकार के प्रधान बने।

उस दिन भोजन के बाद हम लोगों ने एक बड़ी तपस्या की—हमने उनसे कोई प्रश्न नहीं पूछे और इच्छानुसार बात करने दी। उन्हें थोड़ा-सा ज्वर था और वे बड़े दुबले दीख रहे थे। जेल के अनिवार्य एकान्त से वह विश्रान्त भी दीखते थे, उनकी आँखें कमरे के चारों ओर दौड़ती रहीं और छोटी से छोटी बात को लक्ष्य करती रहीं। शान्त स्वर से उन्होंने कहा, "रिहा होना भी अजीब मालूम होता है—शारीरिक दृष्टि से नहीं, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से।" हम बैठे सोच रहे थे कि ऐसे व्यक्ति को कैसे जेल भेज दिया जा सकता है जिसका एकमात्र अपराध देश-प्रेम और देश की आज़ादी की चाह थी। कैसी अकल्पनीय मूर्खता है। लेकिन गान्धीजी तक को जेल भेज दिया गया था। जो हो, अब तो वह सदा के लिए जेल से बाहर आ गये थे। उनसे हमने कहा, "नीचे जाते ही आपको बहुत अधिक काम करना पड़ेगा, अभी थोड़ा-सा विश्राम कर लीजिए।" और उन्हें अतिथिगृह की ओर ले गये और आग्रह किया कि वे थोड़ा सो जायें। उन्होंने कहा, "ठीक तीन बजे मुझे बुला दें।" लेकिन तीन बजे में उन्हें बुलाने की बात सोच ही रही थी कि वह स्वयं ही तैयार होकर बाहर आ गये। उनका कार्यक्रम और मार्ग निश्चित था—वहाँ से खाली, और खाली से अपने नये उत्तर-दायित्व की ओर जिसमें वह भारत की आज़ादी की पतवार सँभालेंगे।

मई १९४९

एशियाई आकाश का स्वर्ण-गरुड़

सुधीर कुमार रुद्र

मुझ जैसे साधारण व्यक्ति को पंडित जवाहरलाल नेहरू के बारे में लिखने के लिए निमन्त्रित करना किसी कीट-पतंग को स्वर्णगरुड़ के विषय में अपना अनुमान व्यक्त करने के लिए कहने के समान है। क्योंकि जवाहरलाल नेहरू सचमुच एशियाई आकाश के स्वर्णगरुड़ हैं। उनका निर्भीक साहस, उनकी पारदर्शक प्रामाणिकता, उनका ज्वलन्त देशप्रेम, उनका अद्भुत दिक्काल ज्ञान, उनकी सर्वोपरि मानवता आदि उनकी मेधा और चरित्र के ऐसे गुण हैं जिनके कारण भारतीय और एशियाई क्षेत्रों में उनके प्रभाव और प्रतिष्ठा का आसन इतना ऊँचा है।

पंडित जवाहरलाल नेहरू से मेरा सम्पर्क राजनीति के नाते नहीं हुआ। मेरे पिताजी का दीनबन्धु एंड्रूज और महात्मा गान्धी से जो निकट सम्बन्ध था उसी के कारण हम नेहरू-परिवार के भी सम्पर्क में आये। सत्ताईस वर्ष पूर्व जब देहली के सेंट स्टीफ़ेन्स कालेज के प्रिंसिपल-पद से मेरे पिता सेवानिवृत्त हुए और इलाहाबाद में आकर मेरे यहाँ रहने लगे, तब पंडित नेहरू कृपा करके उनसे मिलने आये। इस प्रकार हमारा सम्पर्क बढ़ा। लाहौर के फ़ार्मन क्रिश्चियन कालेज के डाक्टर एस० के० दत्त की मारफ़त हमारी मित्रता बढ़ी। इन दो व्यक्तियों में बहुत-से समान गुण थे। डा० दत्त का कार्य उन्हें जेनेवा ले गया था, जहाँ कई ईसाई संस्थाओं के अन्तर्राष्ट्रीय प्रधान कार्यालय हैं और जब भी वह भारत में आते, जवाहरलाल नेहरू से मिले बिना नहीं रहते। मेरा सौभाग्य था कि जब तक वे दोनों मिलते और भारत, ब्रितान और समूचे विश्व के सम्बन्ध में वाद-विवाद करते तब मैं भी वहाँ उपस्थित रहता। मैं इस बात से बहुत प्रभावित हुआ कि घटनाओं के प्रति दोनों का दृष्टिकोण कैसा समान था और उन घटनाओं को वे ऐतिहासिक परिपार्श्व की विद्वत्तापूर्ण बुद्धि से देखते थे।

चार्ली एंड्रूज से संलाप साधारणतया भारतीय स्थिति और प्रवासी भारतीयों की समस्याओं तक सीमित था। किन्तु इन दोनों व्यक्तियों के बीच ये विषय बहुत गम्भीर रूप ग्रहण करते। एक के लिए जातीय अन्याय का प्रश्न और दूसरे के लिए नैतिक मूल्यों का प्रश्न राजनीतिक समस्याओं से अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठता था और बात-चीत इन्हीं पर केन्द्रित हो जाती थी। आज जवाहरलाल जी को हम जिस रूप में जानते हैं, उसके निर्माण में ऐसी मित्रताओं का बड़ा हिस्सा रहा है। उनकी मित्रता की प्रतिभा अभी भी शेष है। यह उनके गुणों से प्रधान है। देश के परराष्ट्र-सम्बन्धों में यह गुण एक अतुल या अपरिमेय निधि है।

पंडित नेहरू के बारे में कुछ भी लिखना, उनके पितृ-श्री के विषय में दो-चार शब्द कहे बिना, असम्भवप्राय है। पंडित मोतीलाल नेहरू निस्सन्देह पितृदेव थे। उनका डील-डौल ख़ासा रौबदार था। उनका बौद्धिक तेज और सभा-चातुर्य तो ऐसा महनीय था कि जो भी स्त्री या पुरुष उनके निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य पाता, वह मन्त्र-मुग्ध हो जाता था। पिता-पुत्र का प्रेम घनिष्ठ था। परन्तु वह कभी भी सार्वजनिक रूप से नहीं प्रदर्शित किया गया। फिर भी वह प्रेम समुद्र-तल की भाँति गहरा और पक्का था। मुझे आज भी बराबर याद आता है कि कैसे एक दिन मैंने पंडित मोतीलाल नेहरू को इलाहाबाद रेलवे स्टेशन पर बहुत परेशान स्थिति में देखा। उन्हें वहाँ देख कर मुझे आश्चर्य हुआ और मैंने उनसे पूछा भी कि आप यहाँ कैसे आये हैं। आँखों में कुछ विचित्र भाव लिये, कुछ गदगद् स्वर से उन्होंने कहा कि वे जवाहर के पीछे-पीछे बम्बई जा रहे हैं। जवाहर उसी सबेरे कोई महत्त्वपूर्ण निश्चय करके बम्बई रवाना हो गये थे। मोतीलाल जी के उस स्वर और दृष्टि में, जिसकी याद इतने वर्षों तक बराबर मुझे है, पिता की चिन्ता-कुलता और देशभक्त का अभिमान-गौरव मिश्रित था। मुझे मोतीलाल जी के अन्तिम दिन भी याद आते हैं। वे मानों एक घिरे संकटापन्न सिंह से दिखाई देते थे। उनका परिवार उनके आसपास था और तत्परता से उनकी सेवा कर रहा था। जवाहरलाल ने उस सेवा का अधिकांश अपने ऊपर लिया था। पंडित मोतीलाल अपने इस लाड़ले

बेटे के बचपन के कई क़िस्से सुनाते। वह निश्चित रूप से विश्वास करते थे कि सावधानी से दी गयी आरम्भिक गृहशिक्षा और बाद में अंग्रेज़ी पाठशाला की शिक्षा के कारण ही जवाहरलाल की मेधा का ऐसा विकास हुआ। वस्तुतः उन्हीं अंग्रेज़ी पाठशालाओं की तरह एक हिन्दुस्तानी सार्वजनिक शाला स्थापित करने की कल्पना पर विचार-विनिमय करने के लिए एक बार उन्होंने डा० ताराचन्द को, जो अब भारत सरकार के शिक्षा विभाग के सचिव हैं, और मुझे चाय पीने को बुलाया था। वह सारी कल्पना योजना के रूप में ही रही, उसने आकार नहीं ग्रहण किया, परन्तु मुझे वह सुखद शाम और वह चाय सदा याद रहेगी।

और माँ, उनके बेटे और बेटियों ने उनके बारे में क्या-क्या कहा है वह हम जानते हैं। परन्तु हम सभी, विशेषतः इलाहाबाद के निवासी, हमारे राजनीतिक या धार्मिक मत-विश्वास चाहे जो रहे हों, सदा उन्हें अपनी माँ मानते थे। उनसे मिलना स्वयमेव एक आशीर्वाद था संघर्ष के उन कठिन दिनों में जब उनके सभी प्रियजन उनसे छिन कर कारागृह में बन्दी थे, तब मैं और मेरी पत्नी उनके घर प्रायः प्रतिदिन जाया करते थे। उस विशाल सुन्दर भवन में उनका एकाकीपन अत्यन्त करुणोत्पादक था। वह प्रायः याद किया करती थीं कि पंडित मोतीलाल कैसे उनकी प्रत्येक इच्छा को यत्नपूर्वक पूरा करते रहे थे। उनका ठाठबाट राजसी था और अब वह नीचे सख़्त, ठंडे फ़र्श पर सोने लगी थीं। इस प्रकार, बन्धु-बान्धवों के समझाने पर भी, वे जेल में अपने प्रियजन के कष्टों की सहभागिनी होने की चेष्टा कर रही थीं। उनकी नातिनें ही, विशेषतः इन्दु, उनके जीवन की सान्त्वना-सम्बल थीं।

कमला जी के सम्बन्ध में कोई भी बिना भाव-विवश हुए कुछ नहीं कह सकता। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम की गाथा में जहाँ तक देशभक्ति और निरे आत्मार्पणमय स्वार्थत्याग का सम्बन्ध है, उनकी तुलना में शायद ही अन्य कोई देवी हों। अपने पति के जीवनादर्श और कार्य में उन्होंने पूरा हाथ बँटाया। अत्यन्त सुकुमार और पुष्पवत् कोमल कमलाजी में देशभक्ति कूट-कूट कर भरी थी। उनकी शक्ति और उनके त्याग की सीमा नहीं थी, वह लाखों के लिए प्रेरणास्रोत थीं। जो भी उन्हें जानता था, आश्चर्य करता था कि वह इतनी शक्ति कैसे और कहाँ से प्राप्त करती हैं। मैंने उन्हें कभी भी पूर्ण स्वस्थ नहीं देखा। मुझे अभी भी जाड़े की वे रातें याद आती हैं जब एल्बर्ट रोड पर मोर्चा लगाये पुलिस पड़ी रहती, कि ज़िलाहाकिम की निषेधाज्ञा के विरुद्ध कांग्रेस का जुलूस सिविल लाइन विभाग में न घुस सके। हर रात यह संघर्ष चलता। कमलाजी उस संघर्ष की नेत्री थीं। स्वास्थ्य गिर रहा था, रोज़ ज्वर रहता था मगर मामूली हल्के कपड़े पहिने वह कठोर ठंडी सड़क पर जुलूस की अगुआ के नाते धरना दिये बैठी रहतीं, और घर में रहने या आराम करने की बात नहीं सुनती थीं। एक दिन, उन्हें इस प्रकार पालथी मारे बैठे देख कर, मैंने निश्चय किया कि पास की गज़दर कम्पनी से एक कम्बल ले आऊँ, और उन्हें नीचे बिछाने को दे दूँ : उन्होंने वचन भी दिया कि वह उसे काम में लायेंगी। कुछ समय बाद मैं उस राह से गुज़रा। कम्बल काम में लाया गया था, परन्तु उस प्रकार नहीं जैसा कि मैंने आग्रह किया था। कमलाजी तो वहीं सड़क पर बैठी थीं, परन्तु स्वयंसेवकों में से एक बुढ़िया का बदन उस कम्बल से पूरी तरह ढँका हुआ था। कमलाजी ने ऊपर देखा और मुस्करा दीं। अन्तिम बार मेरी पत्नी और मैं उनसे भोवाली के सैनेटोरियम में मिले। उनकी दशा अच्छी नहीं थी तो भी वे प्रसन्न थीं और हिम्मत से बोल रही थीं। दूसरे दिन उनके पति अल्मोड़ा जेल से मिलने आने वाले थे, इस विचार से वे बहुत उत्साह में थीं। ऐसी भेंट के अवसर विरले ही होते थे। यह निश्चय होने वाला था कि वे इलाज के लिए स्विट्ज़रलैंड जायें या नहीं। उसके बाद हमने उन्हें कभी नहीं देखा।

अभी हाल में, जब इलाहाबाद के कमला नेहरू अस्पताल के बेगम आज़ाद-कक्ष का उद्घाटन हुआ तब हम देख रहे थे कि उनके पति कितने अधिक उद्वेलित थे। यह अस्पताल भारतवासियों ने कमला जी की अमर स्मृति में कृतज्ञतापूर्वक स्थापित किया है। इलाहाबाद में, हम जानते हैं कि, जवाहरलाल जी ने कितनी चिन्ता और अथक परिश्रमशीलता से स्वयं इस अस्पताल की योजना और निर्माण में भाग लिया है। यह अस्पताल उनके लिए बहुत निजी वस्तु रहा है। इस विशाल भवन की प्रत्येक रेखा और आकृति पर उन्होंने व्यक्तिगत ध्यान दिया है, यहाँ तक कि अस्पताल के सेवकों के लिए एक आमोद-गृह (कॉमन रूम) उन्होंने विशेष आग्रह करके बनवाया और सजाया था। इस प्रकार इस अस्पताल में जिससे कि उनका

नाम सम्बद्ध है, वह समूचा आन्तरिक प्रेम उँड़ेला गया है, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए वर्षों के राष्ट्रीय संघर्ष और समाज-सेवा की व्यस्तताओं के बीच में, इस दम्पति को अवकाश ही नहीं मिला।

जीवन के प्रति कठोर वैज्ञानिक और सर्वथा बौद्धिक दृष्टिकोण के बावजूद पंडित नेहरू गहरी संवेदना और भावनाओं के व्यक्ति हैं। अपने परिवार से उनका गहरा लगाव है। उदाहरणार्थ पुत्री के प्रति उनका प्रेम बहुत भावनामय और सुन्दर है। उनकी बार-बार की लम्बी जेल-यात्राओं में उन्हें अपनी पुत्री इन्दिरा के विछोह से अधिक दुःखदायी कोई घटना नहीं जान पड़ी होगी। उन एकाकी वर्षों के नीरव दुःखों की कोई माप नहीं। उनका रिक्त कभी भी नहीं भरा जा सकता। अपनी दो बहनों के प्रति उनका स्नेह तो सर्वविश्रुत है। अपने बड़े बहनोई, स्वर्गीय श्री आर० एस० पंडित के प्रति भी उनका स्नेह और आदर बहुत अधिक था। अनुशीलन, सांस्कृतिक सौन्दर्य और साहित्य की मर्मज्ञता में दोनों समान-शील-व्यसनी थे। प्रतिभाशाली बहनोई के असामयिक निधन से उन्हें कितनी व्यक्तिगत क्षति का अनुभव हुआ होगा, इसकी हम कल्पना नहीं कर सकते। इस प्रकार नेहरू परिवार में एक दूसरे के प्रति स्नेह-ममता हमारी लम्बी परम्परा में परिवार के स्थान का एक उत्तम उदाहरण है। इस युग में जब कि हमारी सब प्राचीन परम्पराएँ टूट रही हैं, इस विख्यात कुल में पारिवारिक स्नेह-सम्बन्ध का ऐसा सुन्दर निर्वाह श्लाघनीय है और एक महान् आदर्श उपस्थित करता है।

उनकी सम्पूर्ण निर्भयता और मौलिक प्रामाणिकता आदि गुण तो भारतवासियों को आकर्षित करते ही हैं, इनके अलावा उनमें एक प्रकार की क्रीड़ा-वृत्ति भी है। वे सदा जीवनोत्साह से भरे रहते हैं। खुली हवा के प्रति, पहाड़ की ऊँची चोटियों के प्रति, जंगल और फूलों, तारों, बादलों और बहती नदियों के प्रति उनका प्रेम सभी को आकर्षित करता है। वे सच्चे अर्थ में प्रकृति के बालक हैं और प्रकृति के बड़े प्रेमी हैं। उनमें चिर-साहस भरा है। वे सदैव लोगों को चुनौती देते रहते हैं कुछ तो उन्हें चौकाने के लिए और कुछ उन्हें अपनी बँधी हुई लीकों से निकल कर साहसपूर्वक कुछ करने की प्रेरणा देने के लिए। यही जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व का सार है। वह स्वयमेव एक महान् चुनौती हैं। यही उनकी हमेशा ताजा रहने वाली जवानी का रहस्य है। केवल शारीरिक नहीं, वरन् मानसिक और नैतिक क्षेत्र में भी वे सबको अनपेक्षित ढंग से, अनपेक्षित समय चुनौती देना चाहते हैं। जवानों में उनके प्रति जो प्रेम और आकर्षण है वह उनकी इसी मौलिक विशेषता के कारण। शारीरिक दृष्टि से वे समर्थ और फुर्तीले हैं। उन्होंने शरीर-स्वास्थ्य का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया है। हममें से जो लोग खेल-कूद में भाग लेते रहे हैं, या बॉयस्काउट परम्परा में पले हैं, और जो सामूहिक व्यायाम और क्रीड़ा के आदर्श मानते हैं, उनके लिए पंडित नेहरू एक आदर्श नेता हैं। उनकी भंगिमाएँ, उनकी चाल-ढाल, मुँहज़ोर घोड़े पर उनकी सवारी स्वयमेव एक सन्तोषप्रद दृश्य हैं। उनकी चाल सीधी लेकिन लचीली है। उन्होंने मुझे बताया था कि वे नियमित व्यायाम और शीर्षासन करते हैं। अपने शरीर की वह उतनी ही सँभाल रखते हैं जितनी कपड़ों की। उनकी पोशाक सादा होती है, मगर ढीली-ढाली या बेढंगी नहीं। इसमें भी वह हमारे लीडर-सम्प्रदाय से अनूठे हैं। उनमें संन्यासीपन के कोई लक्षण नहीं हैं। जहाँ तक कोई उन्हें समझ सका है, वह अपरिग्रह के दर्शन से बँधे नहीं हैं। वह दैन्य-भाव, जो कि हमारी परम्परा में अनावश्यक रूप से अति प्रशंसित है, उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखता। लेकिन वह दूसरे छोर तक भी नहीं जा पहुँचते। कोमल विलासिता के जीवन से उन्हें घृणा है यद्यपि वह चाहते तो ऐसा जीवन उन्हें सुलभ हो सकता था।

उनका जीवन एक सैनिक और अध्येता का कठोर अनुशासनबद्ध जीवन है। तरुण पीढ़ी की कल्पना पर वह ऐसे छाये हुए हैं जैसे अन्य कोई नेता अब तक नहीं छा सकता। क्योंकि विद्यार्थी-जगत् में क्रान्तिकारी या वाम-पक्षीय वादों के बहुत फैले होने पर भी नेहरू पर उनकी आस्था है। उनमें जो शारीरिक साहस और मानसिक चुनौती का मिश्रण है, वह विद्यार्थी-मन को रुचता है। यह है तो विरोधाभास परन्तु फिर भी उल्लेखनीय है कि नेहरू विद्यार्थियों को मीठे मीठे उपदेश नहीं देते, और न उन्हें बहलाते परचाते हैं; बल्कि उनसे व्यवहार करते हुए वह कठोर भी हो उठते हैं। कभी-कभी वह विद्यार्थियों पर झल्ला उठते हैं, शायद यह बढ़ती हुई उम्र के लक्षण हों। विद्यार्थी ऐसी बातों को सरोष अवज्ञा से सुनते हैं। वह बड़े योद्धा हैं और इस प्रकार लड़ने में व्यस्त हो कर ही वह अपने सही रूप में प्रकट होते हैं। विद्यार्थियों की सभा में वह किस प्रकार उनसे पेश आते हैं, यह तो उन सभाओं में जाकर ही देखा जा सकता

है। वह अपने श्रोताओं को पहचानते हैं। वह एक कुशल कलाकार की भाँति तीक्ष्ण, प्रश्न-भरे और विद्रोही ढंग से श्रोताओं से मिलते हैं। अपनी शान्त, स्पष्ट, विश्लेषण-भरी, कुछ लम्बी-सी वक्तृता द्वारा वह अन्ततः उनकी सहमति प्राप्त कर लेते हैं। वह उन्हें नीत्युपदेश नहीं देते। उनमें हमारे अन्य कई नेताओं में पायी जाने वाली उपदेश-प्रियता नहीं है। वह तो अपने श्रोताओं को चुनौती देते जाते हैं; उनसे मानों कहते हैं, आओ, देश के सुधार और दिमाग़ी आज़ादी के इस बड़े भारी काम में हमारे साथी और सहकर्मी बनो।

सभी कृषिप्रधान देशों की भाँति, भारत की जनता भी वह सुदृढ़ नींव है, जिस पर देश के विद्या-विलास, काव्य-दर्शन, विभव और प्रदर्शन की इमारत खड़ी रहती है। वे किसान तो मानों किसी महापुरातन जराहीन पशु की भाँति निरंतर मेहनत और मशक़्क़त ही करते रहते हैं। वे अपनी झुकी पीठ पर शहराती जनता का बोझ लादे चलते हैं। चाहे वे मध्यकालीन सामन्ती शासन में रहते हों चाहे औद्योगिक पूंजी के शासन में, अन्ततः किसान ही लाखों करोड़ों को अन्न और वस्त्र देने वाले अनाज और कपास की फ़सलें उगाता है, और इस प्रकार सभ्यता को सम्भव बनाता है। विज्ञान और उद्योग में इतनी बड़ी अभूतपूर्व प्रगति करने के बाद भी, देशों का स्थायित्व तो अभी भी ज़मीन गोड़ने वाले किसान के पसीने पर आधारित है। मानव-समाज का मूल-पुरुष अभी भी वही चिरन्तन कृषक ही है। महात्मा गान्धी के बाद इधर जवाहरलाल नेहरू का ही देश की कृषक जनता पर सबसे गहरा और पक्का प्रभाव है। गान्धी जी देहाती जनता के मन में बस गये, यह तो सहज समझ में आने वाली बात है। नेहरू की वह बात नहीं है। नेहरू तो उन्हें सन्तों जैसे नहीं प्रतीत होते। सच बात तो यह है कि गाँव की जनता साधुओं से भी उतनी ही ऊबी हुई है जितनी बन्दरों से जो उनके परिश्रम के फलों पर मोटे होना चाहते हैं। नेहरू न तो देहातियों की ज़बान बोलते हैं, और न उनकी काम और उनकी दैनिक जीवन-पद्धति से उतने परिचित हैं। शहर के श्रमिक या मिल-मज़दूर को वे अच्छी तरह पहचानते और समझते हैं; क्योंकि वे मुख्यतः नागरिक हैं। फिर भी, किसान जनता भी उनकी प्रशंसा करती है। इसका कारण खोज पाना सरल नहीं। यह तो है ही कि वे गान्धी जी के सबसे निकट और प्रिय रहे हैं, परन्तु उनकी विचारधारा में जो चीज़ किसानों को सबसे अधिक अच्छी लगती है वह उनका सीधा और खरा, दो टूक ढंग है। नेहरू जो किसानों के प्रति अपनी चिन्ता व्यक्त करते हैं उसमें कोई अन्य भाव, कोई बनावट नहीं होती। किसान अपने आदमी को तुरन्त पहचान लेते हैं। कृषि-कर्म में पशु और आदमी को देख कर पहचानने का अभ्यास हो ही जाता है। और शहरियों से किसान कतराते हैं। जवाहरलाल भी देखने में तो स्पष्टतया शहरी हैं, मगर उनका खरापन पारदर्शी है; किसान पहचान लेते हैं कि वह अपने आदमी हैं, शोषकों के नहीं। यह कोई बात नहीं कि नेहरू उनके पास मटमैले कपड़े पहन कर या दाढ़ी बढ़ाये या बाल बिखेरे नहीं आता। ऐसी ग़रीबी अब उन्हें बेवक़ूफ़ नहीं बना सकती। वे इतना जानते हैं कि नेहरू उनकी ही तरह कठोर और परिश्रमशील हैं। उन्हें पता है कि नेहरू को उनकी ही तरह कठोर भूमि से जूझना है। उनमें उन्हें एक मानवीयता मिलती है, जो उन्हें प्रिय है। मुझे याद है, एक दिन मैं आनन्द भवन में उनसे मिलने गया था; क्योंकि वह कुछ अस्वस्थ थे, किसी लम्बी थका देने वाली चुनाव-यात्रा से लौटे थे। मुझे आश्चर्य हुआ कि वह पूर्ववत् ताज़गी और स्फूर्ति लिये हुए थे। स्वास्थ्य की बात पूछने पर वह मुस्कुराये। उन्होंने बताया कि कई रातों तक बराबर सोना नहीं मिला था और अनगिनती सभाओं में बोलना पड़ा था, फिर भी उन्हें बहुत स्फूर्ति हो रही थी। मैंने उनसे इसका रहस्य पूछा। सहसा वे गम्भीर और कुछ कटु भी हो उठे। कहने लगे, हम शहर में रहने वाले, ख़ास तौर से यूनिवर्सिटी वाले, देहातों को, वहाँ की सच्ची जनता को क्या जान सकते हैं। हम तो अपने घरों में आराम से रहते हैं, और अपनी वही लीक पीटते रहते हैं। हम तो परोपजीवी हैं, अस्वस्थ और अस्वास्थ्यकारक। वह देहाती जनता के बीच में प्रवास कर रहे थे; देहातियों से बोले थे, देहाती उनसे बोले थे। यही तो वे कई दिनों तक, बिना किसी विश्राम के करते आ रहे थे। नेहरू ने उन देहातियों के चेहरे देखे थे, उनकी आँखें देखी थीं। यह कुछ ऐसा था जो कि उन्होंने कभी पहले नहीं देखा था, उन टुकुर-टुकुर ताकने वाले चेहरों में और उन चमकीली आँखों में उन्होंने ऐसी लाखों आँखें देखी थीं जो उन्हें देख रही थीं। उन्हें जैसे एक नया अनुभव हुआ था। उन किसानों की लाखों आँखों से जैसे उन्हें शक्ति मिली थी। उन किसानों से, जिनकी जड़ें ज़मीन में थीं। इस प्रकार वे और ताज़ा और प्राणमय हो गये थे। भारत में उनसे पूर्व किसने किसानों की आँखों को ऐसे देखा, जाना, अनुभव किया और उसके सम्बन्ध में ऐसी बात

की ? लाखों करोड़ों किसानों की उन आँखों में ही इस व्यक्ति की चिरन्तन ताजगी, यौवन और शक्ति का स्रोत है, जो धरती के पुत्रों से प्रेम करता और उनके लिए कष्ट झेलता है।

उनके जीवन के कई पहलुओं के विषय में यों इस प्रकार न जाने कितना लिखा जा सकता है। इतने कम समय में और ऐसी अभूतपूर्व अड़चनों के बावजूद, उन्होंने सब प्रकार की वैज्ञानिक शोध-शालाओं, सांस्कृतिक संस्थाओं, साहित्यिक और अन्य विद्वत्परिषदों के संस्थापन के सम्बन्ध में जो कार्य किया है उन पर एक यूनिवर्सिटी-शिक्षक के नाते बहुत कुछ कहने का लोभ भी मुझे होता है। इनसे जो जीवन-समृद्धि इस देश में प्रवाहित होगी, उसका अनुमान इस पीढ़ी में हम नहीं कर सकते, परन्तु वह हमारी परम्परा को नयी शक्ति और गौरव देगी। भारत सरकार उनकी ज़ोरदार प्रेरणा के कारण इतने कम समय में, इतना अधिक निर्माण-कार्य कर सकी है।

पंडित नेहरू के कार्य के दो पहलुओं पर मैं विशेष ज़ोर देना चाहता हूँ। पहला अल्पसंख्यकों की समस्या का क्षेत्र है। मैं स्वयं एक अल्पसंख्यक समाज का हूँ, इस कारण मुझे इस विषय पर कुछ कहते संकोच होता है। साम्प्रदायिक या जातीय आधार पर 'अल्पसंख्यक' और 'बहुसंख्यक' का भेद हम जितनी जल्दी भुला दे सकेंगे, उतना ही हमारे देश का हित होगा। परन्तु पीढ़ियों से संचित डर और सन्देह इस प्रकार एक दिन में नहीं मिट सकते। राज्य को सम्प्रदाय की भावना से परे और लौकिक घोषित करना एक बात है और उसे वैसा बना देना दूसरी। सम्प्रदाय और जात-पाँत की भावना से ग्रस्त देश में ऐसा लौकिक राज्य स्थापित करने की दृष्टि और साहस रखना स्वयमेव एक महान् घटना है। उस परिस्थिति में यह और भी श्रेयस्कर तथा महनीय हो जाती है, जब कि हमारे पड़ोस में ही, हमारे ही रक्त-मांस से काट कर अलग किये गये, एक राज्य को शुद्ध साम्प्रदायिक मतवादों और सिद्धान्तों पर आधारित किया गया है। यदि भारत को एक, संघटित, स्थायी राजनीतिक इकाई के रूप में विकसित करना है तो उसे लौकिक सिद्धान्तों से शासित एक आधुनिक राज्य बनाना होगा, अल्पसंख्यक समाजों के मन में विश्वास जमाना होगा। हाल में मुझे स्थानीय मुस्लिम कालेज के विद्यार्थियों में बोलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अपने विद्यार्थी श्रोताओं के मन में मैं चिन्ता और आशंका की भावना अनुभव किये बिना न रह सका। इस संस्था के विद्यार्थियों की पुरानी बेपरवाही का मैंने सर्वथा अभाव पाया। अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में भी जब-जब गया हूँ, वही भावनाएँ मैंने देखी हैं। यह उत्तर दे देना काफ़ी नहीं होगा कि ऐसी ही हिन्दू या सिख संस्थाओं का पाकिस्तान में अस्तित्व ही असम्भव है। भारतीय ईसाई भी, सच कहा जाय तो, अपने भविष्य के विषय में कुछ चिन्तित हैं। उनके प्रति पूरा न्याय होगा, इस बात में उनके विश्वास के आधार बहुत पक्के नहीं हैं। उनकी अपनी कठिनाइयाँ हैं। यह सब आशंका और सन्देह चाहे निराधार ही हों, वे हैं अवश्य। निस्सन्देह स्थिति का सुधार किसी हद तक स्वयं अल्पसंख्यकों के हाथ में है, यदि उनका रवैया सर्वथा राष्ट्रनिष्ठ होगा तो शासन-सत्ता भी उनके प्रति न्याय करेगी। किन्तु बहुसंख्यकों के भी कुछ कर्त्तव्य हैं। विशेषतः राज्य के शासन-प्रबन्ध में उन्हें बहुत सावधानी से इस प्रकार कार्य करना होगा जिससे अल्पसंख्यक आश्वस्त हो सकें। केवल ऊपरी छोर पर ही नहीं, परन्तु शासन-यन्त्र की हर सीढ़ी पर 'न्याय्य व्यवहार' आवश्यक है। हमारी जनतन्त्रात्मकता की यही सच्ची कसौटी होगी। सम्पूर्ण समानता के सिद्धान्त के प्रति पूरी निष्ठा जिस त्रिमूर्ति ने दिखलायी, वह थी महात्मा गान्धी, सरोजिनी नायडू तथा जवाहरलाल नेहरू। इतने भयानक बर्बर, अमानुषी रक्तपात के बाद भी ये नेता अडिग दृढ़ खड़े रहे और सब को आश्वासन देते रहे। महात्मा गान्धी से भी अधिक यदि किसी व्यक्ति में इस सम्पूर्ण न्याय्य व्यवहार के दर्शन हुए तो वह पंडित जवाहरलाल नेहरू में। उनमें अल्पसंख्यकों को पूरा विश्वास है और उनके पीछे वे चलने को राज़ी हैं। फिर भी उनका काम सरल नहीं है। उन्हें सब ओर से सहायता मिलनी चाहिए। अल्पसंख्यकों की निष्ठा और सहायता की उन्हें जितनी आवश्यकता है उतनी शायद ही और किसी दल की हो। और अपने समाज को अच्छी तरह जानता हुआ मैं कह सकता हूँ कि यह उन्हें मिलेगी।

दूसरी बात जो उल्लेखनीय है वह जवाहरलाल का अन्तर्राष्ट्रीयवाद नहीं, यद्यपि भारत में इस क्षेत्र में उनका स्थान अद्वितीय है। एक दूसरा क्षेत्र है जहाँ जवाहरलाल ही कुछ कर सकते हैं। लेकिन उसका उल्लेख करने से पहले मैं अपने सुदूर पूर्व के एक अनुभव का उल्लेख करना चाहता हूँ। युद्धारम्भ से कुछ दिन पहले मैं विदेशों में, ब्रह्मदेश से कोरिया, मंचूरिया तक घूमा था। एशिया के युवकों के, विशेषतः विश्वविद्यालयों के युवकों के मन और

कल्पना पर यदि किसी व्यक्ति की गहरी छाप थी तो वह महात्मा गान्धी की इतनी नहीं जितनी पंडित नेहरू की। विशेषतः चीनी जनता में, चाहे चीन की और चाहे मलय की, पंडित नेहरू के लिए असीम उत्साह था। सुदूर पूर्व की एशियाई जनता के मन में नेहरू का स्थान कितना ऊँचा था, यह देखकर मैं पुलकित हो उठा। इसी की पुष्टि एक दूसरे क्षेत्र से भी हाल में मिली। ब्रितानी विश्वविद्यालयों से एक दल वाद-विवाद-प्रतियोगिता में भाग लेने आया था। उसके नेता ने मुझे बताया कि आक्सफ़ोर्ड और केम्ब्रिज के विश्वविद्यालयों के छात्रों में पंडित नेहरू के प्रति महान् श्रद्धा की भावना है। यहाँ तक कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अपने कई नेताओं की अपेक्षा वे पंडित नेहरू के नेतृत्व को स्वीकार करना चाहेंगे। अस्तु, हमारे और समूचे विश्व के ऊपर जो संकट मँडरा रहा है, वह है कम्युनिस्ट आक्रमण का खतरा। यह तथ्य कि कम्युनिस्टों द्वारा प्रेरित हमारी रेलों और डाक-तार विभागों की हड़तालें आज सफल नहीं होतीं और सरकार उन्हें रोकने में सफल हो भी गयी है, इस बात का आश्वासन नहीं है कि संकट टल गया है। मेरा ऐसा मत नहीं है। मेरी समझ में कम्यूनिस्ट खतरा वास्तविक ही नहीं है बल्कि बढने वाला है। मतवादों की बात छोड़ें, वे तो केवल ऊपर के तल के नेता समझते हैं। पर नीचे की जनता और प्रबुद्ध वर्ग के व्यक्ति भी, स्थिति के दबाव से विवश हो उठे हैं। आज के सामाजिक और राजनीतिक संघर्षों में किसी भी अन्य तत्त्व से आर्थिक परिस्थिति का प्रभाव सर्वाधिक है। जनसाधारण की निराशा अधैर्य की सीमा पर पहुँच गयी है। आवश्यक वस्तुओं की दर बराबर बढ़ती जा रही है और चीजें दुर्लभ भी होती जाती हैं, रहन-सहन का खर्चा बढ़ रहा है, चोर बाज़ार तेज़ी पर है, पैसे वाले आय-कर देने से बच रहे हैं और अनपेक्षित क्षेत्रों में भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी और सिफ़ारिशबाज़ी बढ़ती जा रही है। यह सब रामराज के अरुणोदय से एकदम विपरीत है। इस कारण जनता की सहनशीलता की सीमा पार हो गयी है और वह हताश और अधीर हो गयी है। स्थिति विशेषतः कुछ बड़े शहरों में, इससे अधिक विकट और भयानक कभी नहीं थी। जनता में यह समझने का धैर्य या विवेक नहीं है कि युद्धोत्तर संकटों की चोट केवल, हमीं पर नहीं, कई देशों पर पड़ी है। सचमुच में यदि विभिन्न राजनैतिक मतों के नेता न्यायपूर्वक विचार करते और केवल सत्ता की खींच-तान में येन केन प्रकारेण अपनी स्थिति मज़बूत बनाने में न लगे रहते तो यह स्वीकार करने को बाध्य होते कि शासन ने आश्चर्यजनक योग्यता का ही परिचय दिया है। देश के विभाजन और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जो महान् दायित्व सँभालने पड़े उनके भार से दूसरे किसी देश की कमर टूट जाती। उन सबमें से इस प्रकार कुशलपूर्वक निकल आना और मैदान न छोड़ना बल्कि कई दिशाओं में आगे बढ़ जाना, कोई छोटी मोटी बात नहीं। इस सबका श्रेय न्यायतः हमारे राजनीतिज्ञों को देना चाहिए। यह आशा की जाती है कि जो भी उपाय किये जा रहे हैं उनसे, जनता पर, विशेषतः निम्न तथा मध्यवित्त श्रेणियों पर, जो आर्थिक भार पड़ रहा है वह हल्का होगा। सरकार द्वारा योजित कई दूरव्यापी योजनाओं से जो लाभ होंगे उनकी तो कोई उपेक्षा कर ही नहीं सकता। किन्तु निकट वर्तमान का महत्त्व अधिक होता है। वर्तमान स्थिति से लड़ते समय, केवल भौतिक देश में शीघ्र फलदायी उपायों की योजना ही पर्याप्त नहीं; यह देखना भी ज़रूरी है कि मनोवैज्ञानिक धरातल पर कोई विस्फोट न हो जाय। और भी दो-एक वर्ष आज की सी परिस्थितियाँ रहीं तो परिणाम भयानक होंगे। भौतिक विभिन्नता ही नहीं परन्तु मानसिक विकृति भी जनता पर छा जायगी। असन्तुष्ट व्यक्ति ऐसी दुःस्थिति से लाभ उठाने से नहीं चूकेंगे। क्रान्ति द्वारा सुधार का सिद्धान्त लोकप्रिय हो जा सकता है और उसे बुद्धि से अधिक जोश का समर्थन मिल सकता है। इस भावनात्मक और मानसिक विकृति से उबारने वाला एक ही व्यक्ति है। वही इस स्थिति का सामना कर सकता है; वही इस व्यूह को भेद सकता है, स्थिति को बदल कर आशापूर्ण बना सकता है। और वह व्यक्ति है जवाहरलाल नेहरू। दूसरा कोई इस काम को नहीं कर सकता।

इस प्रकार यह अकिंचन कीट-पतंग भी प्रार्थना कर सकता है कि एशियाई आकाश के स्वर्ण-गरुड़ को दीर्घायु लाभ हो, जिससे वह जनता का सही नेतृत्व कर सके—उसे अपने आदर्श तक ले जा सके जिससे जनसाधारण भय और अभाव से मुक्त होकर जी सकें, श्रम कर सकें और प्रेम कर सकें।

मार्च १६४६

'गान्धी जी की जय !'

हिकमत बयूर

सन् १६३० का प्रारम्भ था। मैं उस समय अफ़ग़ानिस्तान में तुर्क राजदूत था और भारत की सैर कर रहा था। गान्धी जी और पंडित नेहरू उस समय जेल में थे और जनता की उत्तेजना बहुत ऊँचे बिन्दु पर पहुँच चुकी थी। गंगा के मैदानों के एक नगर में रहने वाले एक मुसलमान सज्जन ने मुझे चाय पर आमन्त्रित किया, मैंने खुशी से स्वीकार कर लिया। मेरे मेज़बान मुझे लिवाने के लिए होटल आये और अपने घर ले गये। कुछ ही देर बाद मुझे मालूम हुआ कि ये जेल के सुपरिंटेंडेंट हैं और जेल के बग़ल में ही रहते हैं।

मैं ही अकेला अतिथि नहीं था, और लोग भी थे। बग़ीचे में चाय-पानी हो रहा था और पश्चिम में सूरज डूबने को था। अकस्मात् हम लोगों ने एक ज़ोर का हल्ला सुना। मैं चौंक उठा, मगर लोगों ने बताया कि राजनीतिक क़ैदियों की आदत है कि वे 'गान्धी जी की जय' के नारे के साथ अस्ताचलगामी सूर्य को विदा देते हैं।

जयनाद से मालूम होता था कि भीड़ काफ़ी बड़ी रही होगी, इसलिए मैंने पूछा, "कितने राजनीतिक क़ैदी होंगे ?" लोगों ने आठ से नौ हज़ार के बीच की संख्या बतायी। मैंने फिर पूछा, "ऐसा ही आन्दोलन सन् '२०-'२२ में भी तो हुआ था न ? उस समय कितने राजनीतिक क़ैदी रहे होंगे ?" लोगों ने बताया, "लगभग एक हज़ार।"

"और आपके ख़्याल से दस साल बाद कितने राजनीतिक क़ैदी जेलों में होंगे ?"

वे हँसे। सुपरिंटेंडेंट की ओर इशारा करते हुए उन्होंने कहा, "तब—तब जेल में ये होंगे !"

मार्च १६४६
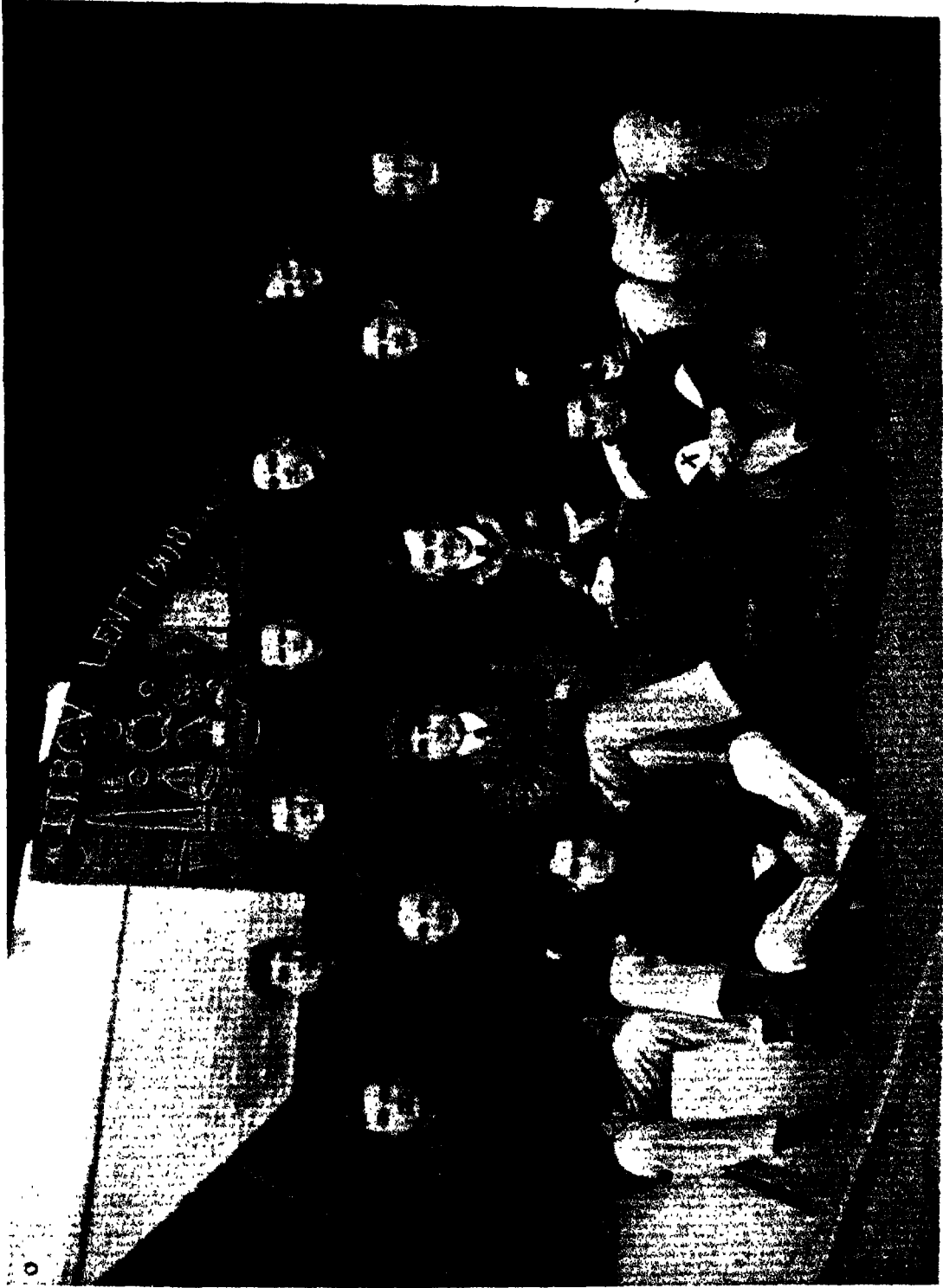
केम्ब्रिज का नाविक दल, १६०८
(जवाहरलाल दायीं ओर भूमि पर बैठे हैं ।)

हैरो में, १९०७

केम्ब्रिज में, १९०८

केम्ब्रिज में, १६०६

कैम्ब्रिज में, १९१०

कैम्ब्रिज में, १९१०

केम्ब्रिज के स्नातक, १९१०

कानून का विद्यार्थी

'भारत की सब से संस्कृत आवाज़'

धूर्जटिप्रसाद मुकर्जी

कहानी का एक रूप यह भी है कि प्रधान अमात्य ने राजकवि को राजवंश की प्रशस्ति लिखने का आदेश दिया और उसने, बाणभट्ट की शैली में, विरुदावलि लिख डाली। उसे सुनने के लिए सभा बुलायी गयी। सुनने वाले आनन्द से पुलकित हो रहे थे। किन्तु अनेक संग्राम जीत कर उपराम हुए राजा निश्चल बैठे रहे। सारा दरबार किंकर्तव्य-विमूढ़ था, कवि निराश हो रहा था। अचानक एक ज़ोर की आवाज़ ने शान्ति भंग की। आवाज़ राजमहल के बाहर से आ रही थी। राजा ने प्रहरी को कारण का पता लगाने का आदेश दिया। उसने लौट कर निवेदन किया, "महा-राज, नीच जाति की बरात जा रही है।" किन्तु शोर कम न हुआ। राजा ने एक दरबारी को भेजा। वह दौड़ता हुआ बाहर गया और लौट कर उसने बताया, "महाराज, लोग आपकी पिछली विजय के उपलक्ष्य में ख़ुशी मना रहे हैं।" दरबारी मुदित हुए; राजा ने फिर वृद्ध अमात्य की ओर इशारा किया कि वह बाहर जाकर देखें। उसने लौट कर गम्भीर मुद्रा से बताया, "महाराज, किसी की अर्थी जा रही है।" राजा ने कवि की ओर देखा, सभा को विस-र्जित किया, और उठ कर उस नये मन्दिर की ओर चला गया जो उद्यान के कोने में बन रहा था। गल्प-रचना की कला पर यह एक टीका थी। आज यह इतिहास तथा जीवनी लेखन पर लागू हो सकती है। अगर प्रत्यक्ष देखने वालों में मतभेद हो सकता है, तो स्मृति का क्या भरोसा?

किन्तु, अगर भावनाओं को नियन्त्रित रखा जा सके, तो स्मृति पर विश्वास किया जा सकता है। इतिहास में तो शोध के ढंग को इतना परिष्कृत किया गया है कि कभी-कभी विधि के नाम पर वस्तु की हत्या ही हो जाती है, जीवनी-लेखन में ऐसा अभी कम होता है। लेकिन व्यक्तिगत संस्मरण तथा वृत्तान्त जो इतिहास और जीवनी दोनों की सामग्री हैं, इस प्रकार के कड़े निरीक्षण से अभी बिल्कुल बचे हुए हैं। उनका सौन्दर्य भी शायद इसी साहित्यिक निर्बन्धता में है। अगर फ्रैंक हैरिस-जैसा सुनाने वाला हो, तो सच्चाई से स्खलन भी क्षम्य हो सकता है; किन्तु प्रस्तुत लेखक ऐसा कलाकार नहीं है। उसने तो प्रसिद्ध व्यक्तियों को मनुष्य मान कर ही उनसे भेंट की है—भेंट की परिधि के बाहर वे भले ही कितने ही विख्यात हों। ऐसे अवसरों को भी उसने जान-बूझ कर कम ही रक्खा है, क्योंकि उसकी धारणा है कि प्रसिद्ध लोग विरले अवसरों पर ही अपने स्वाभाविक मानवीय स्तर पर रहते हैं। यह आत्मत्याग पूर्णतया निष्फल भी नहीं रहा। सेज़ेन के चित्रों की भाँति ऐसे अवसरों की स्मृति ने प्रभावों के एक अपूर्व तथा समृद्ध पैटर्न का रूप ग्रहण कर लिया है। लेखक यह दावा तो नहीं कर सकता कि पंडित जवाहरलाल नेहरू को वह अच्छी तरह जानता है। यह भी हो सकता है कि पंडित जवाहरलाल को इस घटना का स्मरण भी न हो। किन्तु उससे क्या? स्थायी वस्तु तो मिलने वाले पर पड़ी अतीत छाप है और उस छाप का वह व्यापक अर्थ जो व्यक्ति की सीमा से बँधा नहीं है।

दस वर्ष से कुछ अधिक हुए होंगे। मैं अस्थायी रूप से युक्त-प्रान्त की प्रथम राष्ट्रीय सरकार के अधीन काम कर रहा था। उस सम्बन्ध में मुझे जनता तथा राज्य के बहुत-से सेवकों के सहयोग का सुअवसर मिला। यद्यपि, मैं अनेक अधिकारियों में से एक था, तथापि हमारे सम्पर्क मानवीय रहे। उन्होंने एक विश्व-विद्यालय का अध्यापक समझ कर मेरा यथोचित सम्मान किया और मैंने अपने अनुभव को विस्तृत तथा गहरा बनाने के अवसर का उपयोग किया। मैंने बड़ी मेहनत से काम किया, और काफ़ी सीखा। मन्त्रिमंडल का बौद्धिक खरापन तथा नैतिक गठन मुझे प्रायः अभिभूत कर देता। किन्तु इसके साथ ही उसने मेरे विचारों तथा कार्यों के मानदंडों को पुष्ट और परिष्कृत किया। कुछ असाधारण कांग्रेस-जनों तथा योग्य कर्मचारियों से तो मुझे प्रायः दैनिक सम्पर्क में आना पड़ा, और उन्होंने अनेकों ढंग से मुझे मेरा काम सिखाया। इन सब में सब से अधिक मानवीयता मुझे श्रीमती पंडित में मिली। मैं उनसे

सहज-भाव से मिल सकूँ, इसकी अनुग्रहपूर्ण अनुमति उन्होंने दी थी। राजनीति की मारधाड़ से उनकी तटस्थता मुझे प्रिय लगती थी, यद्यपि लोगों में कभी-कभी उसके बारे में ग़लतफ़हमी भी रहती थी जो क्लेशकर होती थी। एक बार तो जब वे बिल्कुल सही थीं और उनके आलोचक ग़लत थे, मुझे हस्तक्षेप भी करना पड़ा था। मामला अधिक नहीं बढ़ा था। जवाहरलाल जी उन्हीं के यहाँ बँदरियाबाग़ में टिके थे। उनसे मेरा परिचय पहले से था; उन्होंने इच्छा प्रकट की कि मैं दूसरे दिन उनके साथ भोजन करूँ और शान्ति से कुछ बातचीत हो।

अतः मैं गया। जाड़ों की शाम थी। पंडित जी अकेले न थे। मैंने तो सोचा कि यह मुलाक़ात भी रफ़ी साहब की मुलाक़ात की तरह होगी, जिनका एक क्षण भी अपना नहीं होता। किन्तु एक-एक करके सभी चले गये और केवल हम लोग रह गये। श्रीमती पंडित ने दूरदर्शिता के साथ एक बग़ल की मेज़ पर बढ़िया सिगरेट के टिन का प्रबन्ध कर रखा था। अँगीठी में लकड़ी चटख रही थी, कमरा गर्म था। श्रीमती पंडित घर को सादगी से सजाने का रहस्य खूब जानती हैं। वे सोफ़े पर सिमट कर बैठ गयीं और हम लोगों को बात करने दिया। मैंने पंडित जी से एक सीधा-सीधा प्रश्न पूछा, "लोगों को नेहरुओं से शिकायत क्या है?" वे सिगरेट की कश लेते रहे; मुस्करा कर उन्होंने कहा, "हम लोग ठीक अपने नहीं हैं।" उनकी आत्मकहानी के बहुत-से अंश मेरे मस्तिष्क में घूम गये। 'हम लोग अपने नहीं हैं'—लेकिन किसके अपने नहीं हैं? क्या भारत के? लेकिन भारत को वह प्रेम करते हैं, और सदैव उसके निर्माण में लगे हुए हैं। और भारत तो उनका है और इस विनिमय में कोई दोष भी नहीं है। तो फिर क्या शिक्षा-दीक्षा, दृष्टि-कोण तथा जीवन-परिपाटी के आभिजात्य के कारण ही वह पराये हैं? सामाजिक दूरी ही मानसिक दूरी की है। तो क्या, यह अपने को वर्ग-चेतना से मुक्त करने की उनकी असफलता है, या ईर्ष्यालु प्रशंसकों की क्षुद्रता या यह सब उनके उस विस्तृत दृष्टिकोण तथा भविष्य परिकल्पना के कारण ही है जो जनता को साधारणतया नहीं रुचता? प्रायः लोगों ने उन्हें स्वप्न-दर्शी, काल्पनिक तथा अन्तर्राष्ट्रीयवादी कह कर उनकी आलोचना की है। परन्तु यह कारण तो पर्याप्त नहीं है। तब क्या इसी परिणाम पर पहुँचना होगा कि प्रेम मूलतः उभय-मुखी होता है, उसमें आकर्षण और विकर्षण दोनों होते हैं....ऐसे प्रश्न उस शाम मेरे मन में घूमते रहे। अब भी मेरे पास उनका कोई उत्तर नहीं है। तथ्य यही रह जाता है कि यद्यपि वह जनता को आकर्षित तो करते हैं, फिर भी गान्धी जी की भाँति जनता के नहीं हैं। जन-समूह में गान्धी जी उसका एक अंग हो जाते थे, उससे अलग नहीं पहचाने जाते थे। जवाहरलाल न केवल जन-समूह में विशिष्ट रहते हैं, वरन् छोटी-छोटी समितियों में भी पृथक् रह जाते हैं। बच्चों के समूह को छोड़ किसी समूह के वह अपने नहीं होते। कितना एकाकीपन है यह! मैंने उनको लाखों की भीड़ से आँखें मिलाते हुए देखा है; उससे उन्हें प्रेरणा मिलती है, जैसे कि वह स्वयं उसको प्रेरणा देते हैं। लेकिन यह सम्पर्क वैसा प्रगाढ़, रहस्यमय नहीं है जैसा गान्धी जी का था। जवाहरलाल का प्रभाव आदान-प्रदान के व्यापार पर आधारित है। वह वाणी के द्वारा परस्परता स्थापित करते हैं। एकप्राणता, अभिन्नता उसमें कदाचित् नहीं होती।

राजनीति से हम लोगों की बातचीत साहित्य के क्षेत्र में चली गयी। उन्होंने इस्पानी कवि लोर्का का ज़िक्र किया। उन्होंने किसानों तथा सैनिकों को उसके गीत गाते हुए सुना था। "हमारे आन्दोलनों से ऐसे जन-गीत नहीं विकसे।" मैंने स्वदेशी-आन्दोलन के दिनों का उल्लेख किया। वह बोले, "हो सकता है कि राजनीति में ही अधिक उलझ जाने का हमें यह दंड मिला, मगर और चारा नहीं था।" अन्तिम वाक्य कहते समय उनकी आवाज़ में जो विषाद था, मुझे आज भी याद है। उनकी आवाज़ कदाचित् भारत की सबसे संस्कृत आवाज़ है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की आवाज़ कुछ बारीक थी और प्रायः तीखी हो जाती थी। गान्धी जी की स्पष्ट आवाज़ अपनी सीधी सादगी से असर डालती थी। श्रीमती बेसेंट की आवाज़ में स्त्रीजनोचित गोलाई थी; सरोजिनी नायडू की निर्मल और संगीत-मय थी। श्रीनिवास शास्त्री के स्वर में चारुता थी और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के स्वर में कड़क, मालवीय जी की वाणी मधुर थी, किन्तु जवाहरलाल की वाणी में संस्कृत स्वर की एक अर्ध-गर्म धुँधली गूँज रहती है जो दमकती नहीं। उसमें विचारमयता का संवेदनशील संकोच है, एक ईषत् विलासिता जो सम्पूर्णतया पौरुषी न होकर भी कदाचित् नारी के लिए अत्यन्त आकर्षक होगी। रोष में भी उस पर विषाद की गहरी छाप रहती है। ऐसी आवाज़ बायरन की ही रही होगी। जो हो, उस साँझ को उस वाणी में मैंने एक ऐसी आत्मा के अन्तर्द्वन्द्व की झाँकी देखी, जो न तो अतीत से एकतान

हैं, न वर्तमान से; जो उस भविष्य से तादात्म्य चाहती है जिसे वह कुछ भावना के और कुछ बुद्धि के सहारे मूर्त करती है। 'और चारा नहीं था'—अगर होता तो अच्छा रहता। जवाहरलाल घटनाओं के सम्मुख झुक कर भी अपना मस्तक ऊँचा ही रखते हैं और अपनी अभिलाषापूर्ण दृष्टि उस भविष्य पर जमाये रखते हैं जब भारत की पुनर्जागृत आत्मा अपनी राजनीति की केंचुल को उतार फेंकेगी। जवाहरलाल इस्पानी दृश्यों की, वहाँ की प्रादेशिक संस्कृतियों तथा लोगों के कठोर व्यक्तिवाद की बातें करने लगे। उनकी सहानुभूति प्रजातन्त्रियों के साथ थी, किन्तु इसकी अभिव्यक्ति केवल उनकी आवाज़ से होती थी।

खाना बहुत अच्छा था। फिर गान्धी जी की बात होने लगी। मैंने पूछा, "क्या गान्धी जी इस्पानी गृह-युद्ध के व्यापक प्रभावों से परिचित हैं ? आपने जो कुछ बताया है उसके अलावा ?"

"कह नहीं सकता। उनका ध्यान भारत पर ही केन्द्रित है। मगर यह क्यों पूछते हैं ?"

"कारण तो स्पष्ट है : इसलिए कि हमारा भाग्य विश्व के घटना-चक्र से बँधा है। मैं नहीं समझता कि गान्धी जी में वह गुण है जिसे आज 'इतिहास का बोध' कहते हैं।"

"कदाचित् नहीं। किन्तु अगर आप यह सोचते हैं कि उनके क्रान्तिकारी प्रभाव का युग समाप्त हो गया है तो आप भूल करते हैं। भारतीय समस्याओं को वह बहुत अच्छी तरह समझते हैं, और उनकी दृष्टि सबसे अधिक पैनी है।"

"किन्तु यह इस देश से बाहर की अनेक बातों पर निर्भर है।"

"किसी हद तक। अजीब बात है कि चारों ओर से विश्व-शक्तियाँ हमें आक्रान्त कर रही हैं लेकिन हम वैसे ही क्षुद्र हैं।"

जवाहरलाल भारतवर्ष की बृहत्तर पीठिका के प्रति अत्यधिक सचेत हैं; किन्तु इससे भी अधिक सचेत वह हैं इस बृहत् पीठिका से उत्पन्न होने वाले हमारे उत्तरदायित्व के प्रति। उनके उस शान्त वाक्य में मुझे एक करुण व्यथा का आभास मिला जो साधारणतया उनसे सम्बद्ध नहीं होती। उनके आवेशों में बहुत-से लोगों को अहंकार दिखाई देता है। मैंने भी उन्हें देखा है। पर इतिहास के सम्मुख वह नम्र हो जाते हैं। इसमें जवाहरलाल चर्चिल के समान हैं। चर्चिल की भाँति जवाहरलाल भी देश-काल की भावना से प्रभावित होते हैं। दोनों में नाटकीय कर्म के प्रति सहज आकर्षण है। किन्तु परिणाम दोनों के भिन्न हैं। जवाहरलाल प्राचीन की रक्षा करना चाहते हैं पर प्राचीनतावादी नहीं हैं। वह लिबरल परम्परा की अन्तिम सीढ़ी पर हैं, यद्यपि पहले समाजवादी अभी नहीं। उनमें केवल समाजवादी झुकाव है, जो कि सामाजिक बीमे के समर्थक चर्चिल में नहीं है। भविष्य की परिस्थितियों के दबाव पर पंडित जी उसे छोड़ने को तैयार हो जायेंगे जिसे आज वह पकड़ते हैं, पर एक दर्द के साथ, जिसके कारण वह उससे अधिक रोमांटिक प्रतीत होने लगते हैं जितने कि वह वास्तव में हैं। आज की परिस्थितियाँ जब विगत कल के मानदंडों से शासित होती हैं, तभी वह रूमानी दर्द पैदा होता है; लेकिन पंडित जी आज की परिस्थिति से भागते नहीं।

हम लोग फिर बैठक में लौटे। उन्होंने मुझे और रुकने को कहा। और उसके बाद के एक घंटे की स्मृति मेरे दिमाग़ में आज भी ताज़ी है। अलमारी में कुछ कविता की पुस्तकें थीं; जहाँ तक मुझे याद है, ऑडेन, वाल्टर ड-ला-मेयर, स्पेंडर, एलियट, और येट्स की। वह अनुराग-भरी उँगलियों से कभी एक को निकालते; कभी दूसरी के पन्ने उलटते; कभी एक पर ज़रा रुके तो कभी दूसरी से कुछ पंक्तियाँ पढ़ सुनायीं। मैंने कितने ही कवियों को कविता-पाठ करते हुए सुना है, परन्तु पंडितजी का कविता पढ़ने का ढंग उन सबसे अच्छा है। कहीं अनावश्यक ज़ोर, कृत्रिम भावुकता, नाटकीयता या अभिनय नहीं; एक शान्त, संवेदनशील, अन्तरंग अलगाव; उचित गुरुता लेकिन भारीपन कहीं नहीं, मानों बात्तिचेली द्वारा अंकित फ़रिश्तों की भाँति गुरुत्वाकर्षण से परे। वाल्टर ड-ला-मेयर के एक गीत को पढ़ते समय उनका स्वर ज़रा-सा उद्वेलित हो उठा था। कविता-पाठ एक घंटे से अधिक चला। हमारे कितने राजनीतिक कविता पढ़ते होंगे ? सन् १९१४ की ३ अगस्त को क्लेमेंसो गीतांजलि की एक प्रति लेकर पेरिस के बाहर एकान्तवास करने के लिए चले गये थे। आग़ा ख़ाँ महल, पूना में बन्दी गान्धी जी से सरोजिनी नायडू ने आग्रह किया था कि वह 'हाउंड आफ़ हेवन' (फ़्रांसिस टॉमसन की एक प्रसिद्ध कविता) पढ़ें; श्री अणे ने देखा कि वह 'कुत्तों के बारे में एक पुस्तक' पढ़ रहे हैं ! श्रीमती नायडू अवश्य अपवाद थीं, किन्तु वे स्वयं कवयित्री थीं। मौलाना आज़ाद,

सुना है, अन्य अच्छी वस्तुओं के अतिरिक्त कविता के भी पारखी हैं। जवाहरलाल कवि नहीं हैं, पर मैं समझता हूँ कि इतिहास के बाद उन्हें कविता ही अधिक प्रिय है, जो कि देश के लिए सौभाग्य की बात है। अध्यापक होने के नाते, मैं आधुनिक कविता पर उनके विचार जानना चाहता था। पर शायद वह मेरी जिज्ञासा टाल गये। केवल एलियट के बारे में उन्होंने कहा कि वह 'व्यथित जीव' है। वह "प्रूफ़ॉक', 'स्वीनी' तथा 'वेस्ट लैंड' का जमाना था। ठाकुर ने अपने को ये कविताएँ पसन्द करने के लिए वाध्य किया था। जवाहरलाल ने भी ऐसा ही किया होगा। जवाहरलाल ने क्या 'क्वार्टेट'[1] न पढ़ी होंगी? अवश्य पढ़ी होंगी। मेरा अनुमान है कि वे उन्हें बहुत अधिक आध्यात्मिक लगी होंगी। उन्हें उत्तरकालीन येट्स भी न रुचता होगा—उसमें ऐन्द्रियिक चेतना का इतना शैथिल्य है। आधुनिक हिन्दी या उर्दू कविता वह पढ़ते होंगे, यह मैं मानने को तैयार नहीं हूँ। उनका काव्यबोध मुख्यतया अंग्रेजी है। सोचता हूँ, अगर कहीं वे बँगला जानते होते,—रवीन्द्रनाथ ठाकुर का काव्य मूल में पढ़ सकते! पर यह तो होने को नहीं—जवाहरलाल गान्धी नहीं हैं। इससे मेरा तात्पर्य यह है कि जवाहरलाल की कल्पना मूलतः ऐतिहासिक अथवा काव्यात्मक शक्तियों से प्रेरित होती है, गान्धीजी की भाँति नैतिक शक्तियों से नहीं।

अर्ध रात्रि बीत चुकी थी। मैं उठना चाहता था। किन्तु कमरे में मानों कुछ सजीव मँड़रा रहा था। वे पढ़ते गये। श्रीमती पंडित विश्राम करने चली गयी थीं। मैं सुनता रहा।

"आपने विज्ञान क्यों लिया था? आपका असल क्षेत्र तो साहित्य है।"

वास्तव में जवाहरलाल एक सृजनशील कलाकार हैं। उनकी आत्म-कहानी या उनके लेखों के कुछ अंशों को पढ़ते हुए सदैव मेरा गला भर आया है; मैं रोमांचित हो उठा हूँ। कला के प्रभाव के बारे में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है? उनके व्याख्यान प्रायः मुझे आकृष्ट नहीं करते; मेरी अध्यापक बुद्धि ऐसी बिना तैयारी की चीज़ को स्वीकार नहीं करती। किन्तु इसी प्रत्युत्पन्न-भाव में उनके लेखन का सौन्दर्य है। उनकी शैली वर्जिनिया वुल्फ़, एलिज़ाबेथ बॉवेन या टी० ई० लारेंस की-सी नहीं। उनकी लेखनी से वाक्य वैसे ही अनायास निःसृत होते हैं जैसे उस रात उनके मुख से दूसरों के शब्द निःसृत हो रहे थे।

मेरे प्रश्न का उत्तर उन्होंने नहीं दिया। हम लोग बरामदे में आ गये। "विश्वविद्यालय में आपकी अनुपस्थिति हमें खटकती है। आपको तो हम लोगों में होना चाहिए था।"

"मुझे सन्देह है।"

क्यों? क्या मुझसे चूक हो गयी? लखनऊ विश्वविद्यालय के छात्रों के बारे में उनकी धारणा मैं जानता था। लेकिन मेरा अपना ख्याल था कि उन पर वे अधिक कठोर हो गये थे। मैंने बात पलट कर कहा, "आप कभी मेरे यहाँ आवें तो मैं आपको युवकों के ऐसे दलों से मिलाऊँ जो सोचने का प्रयास करते हैं।" वह ठिठक गये। दो-एक चक्कर इधर-उधर लगा कर फिर मेरे सामने आकर रुके; मेरी बाँह पकड़ कर उन्होंने कहा, "हाँ, और मेरे भीतर जो अनेक दल हैं सो?" अलिन्द तक मुझे पहुँचा कर उन्होंने बिदा ली।

तब से वह बात मेरे मन में बार-बार गूँज जाती है। 'मेरे भीतर जो अनेक दल हैं सो?"—जिनमें प्रत्येक अपने अलग-अलग ढंग से चीज़ों के बारे में निर्णय करना चाहता है। आत्म-विश्लेषण का यह उत्कृष्ट नमूना था, जिसे कोई चाणक्य ही कर सकता था। प्रत्येक सचेत व्यक्ति बहुवादी है। और यही सापेक्ष्यवाद की सबसे बड़ी कठिनाई है। परन्तु साथ ही साथ चेतना किसी न किसी प्रकार की एकता भी चाहती है। कुछ लोग इसे एक पद्धति में खोजते हैं, दूसरे कर्म में: और अधिकांश श्रद्धा के द्वारा ही एकता प्राप्त करते हैं। जवाहरलाल इन सबसे निराले हैं। फिर भी उनमें एक प्रकार की निष्ठा है। उनके भीतर के दल एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। और उन्हें बाँध रखने वाला सिद्धान्त कभी तो भारतवर्ष के भविष्य में उनकी आस्था है, कभी उनका इतिहास का बोध; पर अधिकतर यह उनका व्यक्तिगत खरापन ही है जो कि आत्म-विश्वास का दूसरा नाम है। यह आत्म-विश्वास कुछ तो उनकी निरन्तर सौभाग्यशीलता का फल है; किन्तु इसके अधिक भाग को उन्होंने स्वयं देश के ऐतिहासिक विकास के साथ स्वेच्छया तादात्म्य स्थापित करके स्वयं प्राप्त किया है। जो लोग केवल उनका सौभाग्य ही देखते हैं, वे नेहरू पर, उनके सहज रोष पर तथा

[1] एलियट की चार लम्बी कविताएँ जो सन् १९३५ और उसके बाद लिखी गयीं।—सं०

उनकी नाटकीयता पर आपत्ति करते हैं। किन्तु जिनमें इतनी कल्पनाशक्ति है कि वे दूसरी बात को समझ सकें, वे इस व्यक्ति के व्यवहार में अनिवार्यतः एक गतिशील पूर्णता देखते हैं, जिसमें मनोभावों और विचारों के समूह विलीन हो जाते हैं, और उनकी परम्पराएँ तथा पूर्वग्रह स्थगित रहते हैं एक परिवर्त्तनशील सन्तुलन में, जो कि भारत के बनते इतिहास की गति है। अगर सामाजिक विकास के नियमों में उनका विश्वास अधिक मताग्रही होता, या विश्वास की पूर्णतया कमी होती, तो वे अधिक सरल व्यक्ति हो सकते थे, और उस दशा में वे कदाचित् अधिक प्रभावशाली, निर्द्वन्द्व तथा कर्मठ भी होते। किन्तु विकासशील शक्तियों तथा प्रेरणाओं की अनन्त परिवर्त्तनशीलता उनके भीतर एक संशय उत्पन्न कर देती है। यही झिझक उनकी आवाज़ में है, उनके अटक-अटक कर बोलने में है, उनके उन व्याख्यानों में है जो वास्तव में स्वगत-भाषण ही होते हैं। सहज भाव से अगले क़दम के बारे में अपना अज्ञान प्रकट करना तथा अपनी ग़लतियों को स्वीकार करना भी इसी अनाग्रही संशय के कारण सम्भव होता है। विश्व का कोई भी राज-नीतिक अपना पतन आमन्त्रित किये बिना इस प्रकार अपनी ग़लतियों को स्वीकार नहीं कर सकता, पर जवाहरलाल की प्रतिष्ठा इससे और बढ़ जाती है। जवाहरलाल अपनी किसी भी बात को अन्तिम अथवा अकाट्य नहीं मानते; कोई भी सच्चा तथा गतिशील व्यक्ति ऐसा नहीं करेगा। सौर मंडल का संक्रमण अभी रुक नहीं गया है, न सत्याचरण की क्रिया समाप्त हो गयी है। यह तो है कि निर्णय स्थगित रखने की योग्यता, महान् कलाकार की यह 'नकारात्मक क्षमता', साधारणतया राजनीतिक गुणों में नहीं गिनी जाती; लेकिन यह क्या आवश्यक है कि राजनीतिज्ञ निरा राज-नीतिक ही हो; कि वह असंख्य विकल्पों के बीच प्रतिक्षण निर्णय करने के गुरुतम दायित्व से आतंकित एक सच्चा कलाकार भी न हो? क्या आज की आवश्यकताएँ इतनी अविलम्ब्य हैं कि वे कल की आशाओं और सम्भावनाओं को कुचल दें?

मार्च १९४९
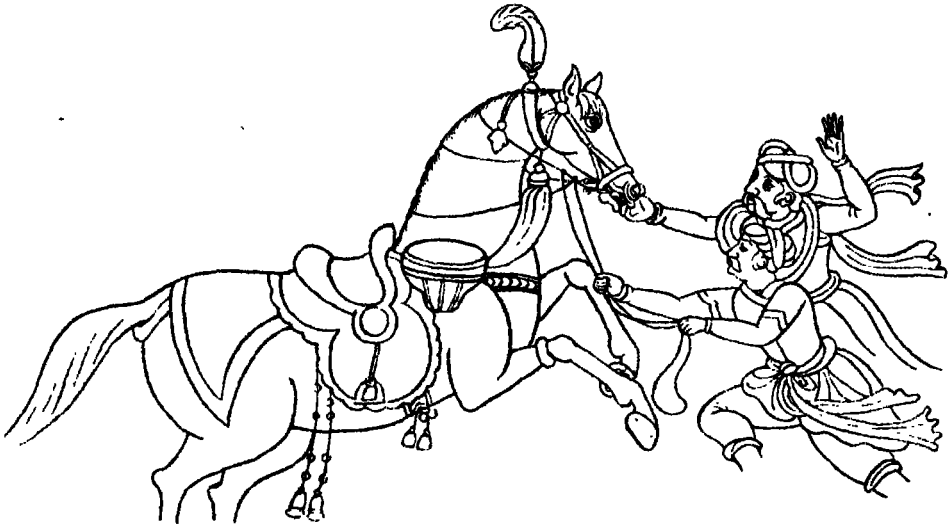
बरें और अहिंसा

म्यूरिएल लेस्टर

जब नया 'किग्सले हाल' बन कर तैयार हो गया तो मैंने बापूजी को उसका उद्घाटन करने के लिए लिखा। सन् १९२८ की बात है; उन्होंने लिखा कि वे उस समय भारत नहीं छोड़ सकते लेकिन वे चाहते हैं कि उनके प्रतिनिधि पंडित नेहरू के हाथों, जो उस समय यूरोप में ही थे, यह समारोह सम्पन्न हो। मैंने जवाहरलालजी को फ़ौरन लिखा। वे तत्काल स्विट्जरलैंड छोड़ कर नहीं आ सकते थे; किन्तु यदि हम उद्घाटन तीन सप्ताह के लिए स्थगित कर दें तो वे प्रसन्नता से आने के लिए तैयार हैं, ऐसा उन्होंने सूचित किया। लेकिन पहले ही से हमारी कमेटी ने इतने लोगों को लिख दिया था और इतने कार्यक्रम निश्चित कर लिये थे कि वह उद्घाटन स्थगित करने में असमर्थ थी। अन्त में उनके स्थान पर मार्क्विस आफ़ केनिल्वर्थ उद्घाटन करने के लिए आये।

मैं पाँच बार भारत गयी। इसमें से एक बार जवाहरलालजी जेल में थे। मैंने वहाँ आधे घंटे के लिए उनसे मुलाक़ात की। बहुत गर्मी थी और वे बहुत विवर्ण दीख पड़ते थे। मैंने उनसे पूछा कि क्या चारों ओर भनभनाती हुई बरों से उन्हें परेशानी नहीं होती? वे मानो कुछ याद करके मुस्कराये और बोले, "हाँ, शुरू-शुरू में इन्होंने बड़ा तंग किया। हमेशा खिड़की में भरी रहती थीं। मैं उन्हें निरन्तर मारता रहता था, मगर उनकी जगह पर हमेशा नयी बरें आ जाती थीं। कई दिनों के युद्ध के बाद फिर मैंने अहिंसा की शरण ली। मैंने एक समझौता कर लिया कि मैं और बरें न मारूँगा और वे कोठरी के अपने वाले इलाक़े, यानी खिड़की, की हद के भीतर रहें। उसके बाद से मुझे कोई परेशानी नहीं उठानी पड़ी।"

मार्च १९४९

भद्र आचरण के मानदंड

माधव श्रीहरि अणे

जहाँ तक लोक-व्यवहार में शिष्ठ आचरण का प्रश्न है, पंडित नेहरू औचित्य और भद्रता का बहुत ध्यान रखते हैं। कांग्रेस के गया-अधिवेशन के कुछ समय बाद अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की एक बैठक बम्बई में हुई। स्वर्गीय देशबन्धु दास उसके अध्यक्ष थे। किसी खास विषय पर, जिसका अब मुझे ठीक स्मरण नहीं, गरमा-गरम बहस हो रही थी। मैं भी उसमें शरीक था। बहस करते समय मेरे एक हाथ में पगड़ी थी और दूसरे हाथ में पान का बटुआ। अक्सर बोलते-बोलते मेरे हाथ हिलाने-डुलाने पर साथ-साथ पगड़ी और बटुआ भी ऊपर-नीचे आ जा रहे थे। मेरे बोलने के बीच में कुछ लोगों को हँसी आ रही थी, यह मैंने लक्ष्य किया था; लेकिन मुझे यह सन्देह नहीं हुआ कि उनकी हँसी का कोई सम्बन्ध मुझसे हो सकता है। मैं मुश्किल से दो या तीन मिनट बोला होऊँगा कि जवाहरलाल जी, जो उस समय कांग्रेस के मन्त्री थे, बहुत झुँझला कर और उत्तेजित होकर उठे। मेरे बोलने के अनोखे ढंग की ओर सभापति का ध्यान आकर्षित करके उन्होंने पूछा कि क्या कमेटी के सदस्यों के सामने बोलते समय किसी सदस्य को सामाजिक शिष्टता के नियमों का ऐसे उल्लंघन करना उचित है? उनके बोलने के बाद ही मैंने अपनी ओर देखा और अपने हास्यास्पद रूप पर सचमुच मुझे बड़ी ही ग्लानि हुई। मैंने तत्काल सहज प्रेरणा से पगड़ी अपने सिर पर धर ली और बटुआ नीचे जमीन पर रख दिया, और अपने 'अभद्रजनोचित, अशिष्ट और कमेटी की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल 'आचरण' के लिए खेद प्रकट किया। इस पर कमेटी के सभी सदस्यों ने तालियाँ पीटीं, और मैं समझता हूँ, पंडित नेहरू भी उसमें सम्मिलित हुए। अध्यक्ष देशबन्धु दास ने कहा कि मन्त्री द्वारा उठाये गये प्रश्न पर निर्णय देने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उसका मतलब पूरा हो गया है; और फिर उन्होंने मुझसे भाषण जारी रखने को कहा। भाषण समाप्त करके जब मैं बैठा तो मेरे मित्र, 'नवा काल' के सम्पादक स्वर्गीय कृष्णाजी पन्त खाडिलकर ने, जो मेरे बगल में बैठे थे, परिहास में कहा, "कहिए बापूजी! आप अब समझ लीजिए कि पुराना जमाना लद गया और जो नया जमाना आ रहा है उसके प्रतिनिधि जवाहरलाल नेहरू की तरह के लोग हैं।"

"बड़ी अच्छी बात है," मैंने कहा; और काका साहब खाडिलकर ने भी सिर हिला कर सहमति प्रकट की।

अप्रैल १६४६

मनसा वाचा कर्मणा लौकिक

निरंजन सिंह गिल

आज 'नेहरू' नाम महत्ता का प्रतीक बन गया है—महत्ता केवल सांसारिक ख्याति की दृष्टि से नहीं बल्कि उदात्त और सुन्दर गुणों की दृष्टि से। सन् १६२८ में, इलाहाबाद में स्थित भारतीय सेना के एक दस्ते में काम करते हुए मैं इस उज्ज्वल कुल के सम्पर्क में आया। बाद में सन् '३० में, मैंने अपने एक परिचित की सहायता से जो कि नैनी जेल के सुपरिंटेंडेंट थे, पंडितजी से जेल में भेंट की। वह वहाँ भी वैसे ही शान्त और अविचलित थे जैसे वे अपने विशाल पितृ-गृह 'आनन्द भवन' में, जो आज राष्ट्र का 'स्वराज्य भवन' है।

जीवन की गति सन् १६३० से भारत, मलय, जापान, चीन, स्याम, ब्रह्मदेश, आज़ाद हिन्द फ़ौज और लाल क़िले के प्रसंगों को पार करती हुई मुझे अप्रैल १६४६ तक ले आती है, जब मैं लाल क़िले से मुक्त हुआ और पंडित जी से दुबारा भेंट कर सका। अब तक पंडितजी से मेरा सम्बन्ध प्राय: निर्वैयक्तिक माना जा सकता है, पर उस काल की दो घटनाओं ने, यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप से ही मुझ पर गहरा प्रभाव डाला था, अतः उनका उल्लेख यहाँ कर दूँ। सन् '३० के ज़माने में नेहरू का नाम भी फ़ौजी क्षेत्रों में वर्जित था। तब सन् १६३१ में बनारस में एक बार फ़ौजी 'मेस' में यह कहने पर कि नेहरू की प्रामाणिकता सन्देह से परे है, मैं क़रीब-क़रीब पदच्युत ही होने वाला था। आज वही वर्जित नेहरू शासन का सिरमौर हो कर इस बात का साक्ष्य दे रहा है कि 'सत्यमेव जयते नानृतम्' और नयी पीढ़ी को निर्भयता और खरेपन का पाठ सिखा रहा है। दूसरा अनुभव था जापान की फ़ौज के उन उच्च अधिकारियों का, जिनके सम्पर्क में मैं आया, पंडित जी के प्रति रुख। वे नेहरू का सम्मान तो करते थे, पर साथ ही नेहरू के नाम से इतने सशंक भी हो उठते थे कि उसे विरोध ही कहा जा सकता है। वे जापानी अफ़सर एक फ़ासिस्ट यन्त्र के अंग थे; और नेहरू के फ़ासिस्ट-विरोधी विचारों को जानते थे कि नेहरू ने मुसोलिनी से मिलने से इनकार किया था, क्योंकि वह सिद्धान्तों के मामले में झुकने या समझौता करने को तैयार नहीं, और यह नहीं मानते कि अच्छे साध्य के लिए बुरे साधन क्षम्य हैं। सच्चे आदमी दूरी पर भी निम्नतर मनोवृत्ति या कर्म वालों से सदा समादृत होते हैं और उनके भय का कारण बनते हैं।

इसके बाद से मैं इस महान् विभूति के निकटतर सम्पर्क में आने लगा। अप्रैल-जून १६४६ के काल में, मैं उनसे कई बार मिला और प्रत्येक मुलाक़ात में उनके पुष्ट चरित्र से और अधिक प्रभावित हुआ। जून १६४६ में संयुक्त सिख प्रतिनिधि पन्थिक बोर्ड का अध्यक्ष बनने के बाद तो मैं पंडितजी के निकटतम सम्पर्क में आया। जून १६४६ में मौलाना आज़ाद के यहाँ उनसे जो भेंट हुई उसे मैं कभी नहीं भूलूँगा। उनके खुले और उत्साहपूर्ण स्वागत से मैं अभिभूत हो गया और मैंने उनसे अनुरोध किया कि मुझे अपना छोटा भाई समझें और सिर्फ़ 'निरंजन' नाम से पुकारें। यह स्वागत किसी व्यक्ति का नहीं था, वरन् राष्ट्रसेवा में लगे एक नये साथी का था; एक सच्चे नेता का यही रास्ता था और यही उसका आकर्षण था।

एक और घटना को ब्यौरेवार कहना होगा, क्योंकि उसका प्रभाव अब भी है। सन् १६४६ में कांग्रेस ने लार्ड पैथिक लारेंस द्वारा लायी गयी ब्रितानी कैबिनेट मिशन की योजना को मान लिया था जिसमें मुस्लिम लीग के दृष्टिकोण को बहुत दूर तक मानते हुए भी भारत को अखंड रखा गया था। कांग्रेस स्वाभाविक रूप से इच्छुक थी कि सिख भी उसकी बात मान लें; इसलिए और भी कि मुस्लिम लीग का रुख कुछ डावाँडोल था। सिखों का बहुमत इन प्रस्तावों को मान लेने के विरोध में था, क्योंकि मुस्लिमों को केन्द्रीय मामलों में जो विशेष मताधिकार दिया गया था, वैसा अधिकार पंजाब में सिखों को नहीं दिया जा रहा था। योजनानुसार विधान-परिषद् में चार सिख जा सकते थे, तीन अकाली और चौथे सरदार प्रतापसिंह जो कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य थे। सिख बोर्ड के अध्यक्ष के नाते मैं सिखों की न्याय्य माँग को स्वीकार कराना चाहता था, और साथ ही यह भी चाहता था कि सब सिख सब मामलों में कांग्रेस का साथ दें। कांग्रेसी के नाते सरदार प्रतापसिंह का कर्तव्य था कि कांग्रेस की आज्ञाओं को मानकर वे विधान-परिषद् का बहिष्कार न करें और उसमें शामिल हों। मैं यह मानता

था कि इससे सिखों में फूट पड़ेगी और उनकी माँग पर भी इसका उलटा असर पड़ेगा। इसलिए मैंने कांग्रेस के तत्कालीन सभापति पंडितजी से प्रार्थना की कि वे सरदार प्रतापसिंह को बहिष्कार करने की स्वतन्त्रता दें। न्याय की तीव्र भावना से उन्होंने यह अनुमति दे भी दी। सब सिखों ने केबिनेट मिशन योजना का बहिष्कार किया; सिखों की आवाज़ का असर हुआ, कांग्रेस ने सिखों की माँग के समर्थन का प्रस्ताव पास किया; बहिष्कार उठा दिया गया और सब सिख कांग्रेस के साथ आ गये। मेरे लिए यह तब भी और अब भी इस बात का प्रमाण था कि पंडितजी कभी भी किसी समूह या व्यक्ति के विचार-स्वातन्त्र्य और कर्म-स्वातन्त्र्य में बाधक नहीं होंगे—जो कि भावी भारत के लिए एक आशा का चिह्न है। इतना ही नहीं, इसका अर्थ यह भी होता है कि पंडितजी भारत माता की सभी सन्तानों की न्याय्य इच्छाओं-आकांक्षाओं को खुशी से मानेंगे; और यदि सिखों को कभी शिकायत का मौक़ा आवेगा तो वह पंडितजी के विचारों या कर्म के कारण नहीं।

एक और घटना ज़रा मनोरंजक ढंग की याद आती है। जुलाई १९४६ में वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी के निकट जो सिख प्रतिनिधि-मंडल मेरे नेतृत्व में गया था; उसके एक सदस्य ने—मैं मानता हूँ कि अनपेक्षित और असंगत ढंग से—यह प्रश्न कर डाला कि क्या कांग्रेस भी विग्रह द्वारा शासन की ब्रितानी नीति का अनुसरण करने वाली है और क्या उसका प्रयोग सिखों पर करने जा रही है? पंडितजी ने एक दम तमक कर उत्तर दिया, "जी हाँ, यही हमारी नीति है। हम विग्रह द्वारा ही शासन करेंगे।" मैं सन्न रह गया। और सब भी चुप थे। पर गान्धीजी की आँखों में मैंने शान्त मुस्कराहट की चमक देखी। एक मिनिट बाद पंडितजी भी मुस्कराये। बात समाप्त हो गयी। स्पष्ट था कि पंडितजी, अपने खरेपन और संवेदनशीलता के कारण नीयत पर ऐसे ग़लत आरोपों और असंगत बातों को सह नहीं सकते। परन्तु यह क्षणिक आवेश तत्काल आकर्षक मुस्कराहट में बदल गया, जिसमें से पारदर्शक आत्मा साफ़ झलकने लगी।

उन दिनों में अक्सर पंडितजी के पास १७ यार्क रोड पर जाया करता था, और उन्हें प्रायः घर से बाहर मोटर तक किसी न किसी को पहुँचाने आते हुए देखता था। वह यह सब इतने सहज विनय के साथ करते थे, कि मैं अब भी अपने को दोष दिया करता हूँ कि मैंने उन्हें अपना मूल्यवान् समय इस प्रकार न खोने के लिए क्यों नहीं कहा। कुछ भी हो, इससे उनके चरित्र पर प्रकाश पड़ता है।

अब तो समूचा भारत और पाकिस्तान भी जान गया है कि पंडितजी मनसा वाचा कर्मणा लौकिक शासन के समर्थक हैं, फिर भी मैं व्यक्तिगत साक्ष्य से बतलाता हूँ कि जनवरी १९४७ में जब मैं गान्धीजी के साथ नोवाखाली में था, तब गान्धीजी और पंडितजी दोनों का आग्रह था कि मैं बिहार के पीड़ित मुस्लिमों की सेवा के लिए वहाँ जाऊँ। उनका १६ फरवरी १९४७ का एक पत्र अब भी मेरे पास है जिसका एक अंश है: "मुझे खुशी है कि तुम बिहार गये हो। तुम्हारा वहाँ जाना उपयोगी होगा। जैसा तुमने लिखा है, सत्य मधुर नहीं होता, परन्तु उसे बलात् लाना सदैव अच्छा होता है। बादशाह खान के निकट सम्पर्क में रहो और उनसे पूरा सहयोग करो। साथ ही, जैसे बापूजी कहते हैं, तुम्हें मन्त्रियों से भी सम्पर्क रखना चाहिए। मुझे आशा है कि तुम्हारा कार्य सफल होगा।" सन् १९४७ के पंजाब के दंगों के बाद जब मैं उनसे मिला, तब उनमें और उन व्यक्तियों में जो उन प्रदेशों से आ रहे थे जहाँ कि मुस्लिमों को तंग किया गया था, एक खाई-सी नजर आती थी। उनकी न्याय भावना, जो कि सदा उच्चादर्शों की ओर बढ़ती है, सहज ही यह मानने को तैयार नहीं होती थी कि यह हत्याकांड मुस्लिम लीग के प्रचार और घृणा और हिंसा के कृत्यों के सीधे परिणाम-स्वरूप उठने वाली सामूहिक आत्मरक्षा की नैसर्गिक भावना का ही विकृत रूप है। एक उच्चतर युक्ति से उनकी बात सही थी, क्योंकि ऐसे दंगों से किसी का भला नहीं होता, उल्टे वे केवल एक दुष्ट वृत्त खड़ा करते हैं। यद्यपि अभी दुनिया बापू के अमर संदेश के योग्य नहीं बनी है, फिर भी सभी महापुरुष उस आदर्श को अपने हृदय के निकट रखते हैं। और उस तक पहुँचने का निरन्तर प्रयत्न करते हैं। इसी लिए महापुरुषों का एक विशिष्ट वर्ग होता है।

नेहरू जैसे आदमी इतिहास बनाते हैं और इतिहास के अंग होते हैं। और इतिहास ही अन्ततः उनका मूल्यांकन करेगा। फिर भी उनके समकालीन अपना यह अधिकार क्यों छोड़ें कि ऐसे विराट् मानव के साथ रहने और कार्य करने का उन्हें जो गौरव मिला है, उसकी झाँकियाँ वे आने वाली पीढ़ियों के लिए छोड़ जायें? गान्धी जैसे बुद्ध और नानक के स्वाभाविक उत्तराधिकारी थे, नेहरू आज के अशोक और अकबर हैं। वे सारी मानव जाति के हैं। ऐसे व्यक्तियों का आविर्भाव सभ्यता की गति को सार्थक बनाता है। भारत का सौभाग्य है कि उसे ऐसे समय में यह नेता मिला है, जब समूचा एशिया महाद्वीप भारत की ओर उसी प्रकार देख रहा है जैसे भारत सन् १९०४ में, रूस पर विजय पाने के बाद, जापान की ओर देखता था। जापान

इस गौरव के अयोग्य ठहरा, क्योंकि उसका दर्शन और कर्म बल के सिद्धान्त पर आधारित था। परन्तु भारत को हमारे परम गुरु महात्मा गान्धी, जिनकी छाया हम पर से उठे वर्ष भर ही हुआ है, एक दूसरे ही पथ पर डाल गये, प्रेम और न्याय की साधना ही जिसका लक्ष्य है। और हमारे प्रधान मंत्री में भारत को इस गौरवशाली पथ पर ले जाने की योग्यता और नैतिक साहस है। परमात्मा उन्हें अवश्य इसका अवसर भी देगा कि एशिया और मानव जाति को व्यापक शान्ति और परस्पर सद्भावना के ध्येय तक ले जावें।

जनवरी १६४६

दिल्ली और मानसिक स्वास्थ्य

लायनेल फ़ील्डेन

पंडित जवाहरलाल नेहरू को उनकी वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में अपनी सद्भावनाएँ अर्पित करना एक हर्ष की बात है जिसका लोभ संवरण नहीं किया जा सकता, लेकिन एक गुरु गम्भीर और विशाल अभिनन्दन ग्रन्थ के उपयुक्त कुछ लिखना दूसरी बात है। मुझे अपनी पात्रता और योग्यता पर विश्वास नहीं है। मैं केवल इतना ही कर सकता हूँ कि अपने अनुशोचनीय अतीत पर स्मृति की मशाल से रोशनी डाल सकूँ। देखूँ, शायद कहीं कुछ छापने के लायक़ निकल आये। इसकी बहुत अधिक सम्भावना नहीं है, क्योंकि जवाहरलाल से मेरा परिचय उतना घनिष्ठ नहीं हो सका जितना मैं चाहता। भारत सरकार रूपी एक बहुत मोटे और अघाये हुए सफ़ेद कीड़े ने मेरे सौहार्द-स्थापन का सब प्रयत्न व्यर्थ कर दिया। और कभी-कभी मुझे ऐसा जान पड़ता है कि स्वयं जवाहरलाल ने ही उन प्रयत्नों पर पानी फेर दिया। जो हो, उन घटनाओं पर मेरी स्मृति की मशाल नहीं अटकती। हाँ, उसके प्रकाश में तीन और छोटी-छोटी घटनाएँ आलोकित हो उठी हैं—तीन नहीं, बल्कि चार।

सन् १९३६ या उसके आसपास एक रात लगभग १० बजे मैं भगवानदास रोड, नयी दिल्ली में अपने कुछ बेढंगे तौर पर बड़े मकान में अकेला बैठा हुआ था जब टेलीफोन की घंटी बज उठी। टेलीफोन पर बोलने वाला स्वर जवाहरलाल का था। मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। मैं सरकारी नौकर, वह सरकार के विरोधी कांग्रेसी दल के एक खतरनाक व्यक्ति! उस स्वर ने कहा, "सुनो जी, हम लोग अभी-अभी इस बेहूदे कैम्प में पहुँचे हैं और यहाँ खाने के लिए कुछ नहीं है, अगर हम तुम्हारे यहाँ आ जायँ तो खाने को कुछ दे सकोगे?"

यह कहना कि मैं इस से पुलकित हो उठा, बात का बहुत घटाकर वर्णन करना होगा। मैं मानों उछल कर सीधे सातवें स्वर्ग में जा पहुँचा, यह सोच कर कि मेरा सद्भावनापूर्ण व्यवहार अन्ततोगत्वा जवाहरलाल को छू सका। मैंने कुछ संकोच के साथ कहा, "नौकर-चाकर तो सब सो गये हैं लेकिन मुझे आशा है कि अंडे वग़ैरह हाज़िर कर सकता हूँ।"

जवाहरलाल बोले, "बहुत ठीक है; लेकिन ध्यान रहे, राजनीति की बात बिल्कुल नहीं होगी।"

मैंने कुछ निराश होकर कहा, "खैर", और रसोई की तरफ़ चल दिया। थोड़ी देर में जवाहरलाल और उनकी बहन दोनों आ पहुँचे। मैंने उन्हें अपने लम्बे सफ़ेद ड्राइंगरूम में बैठाया और पूछा, "कहिये मेरे घर के बारे में आपका क्या ख्याल है?"

जवाहरलाल ने नज़र चारों ओर दौड़ायी, फिर छत की ओर देखा जिसमें छोटे-छोटे रोशनदान—जिनमें से मेरा अनुमान है कि सर जान इवर्ट[1] के जासूस आँखें फाड़-फाड़ कर और कानों पर हथेली लगाये झाँक रहे होंगे कि नीचे कहीं राजद्रोह की बात न हो रही हो।—छत की ओर खुलते थे; फिर बोले, "हूँ, आरामदेह तो नहीं, शानदार ही कहना चाहिए।" बात बिल्कुल ठीक थी। जो हो, हमारा समय अत्यन्त रोचक, यद्यपि राजनीति से दूर की, बातचीत में बीता। याद करने को यह कोई ख़ास बात तो नहीं है, लेकिन फिर भी उस समय की परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए मैं उसे नहीं भूला।

मेरी मशाल एक और कोने के सामने आकर रुकती है। मैं देखता हूँ, जवाहरलाल मेरे उस समय के अजीबोग़रीब छोटे-से रेडियो स्टेशन की सीढ़ियाँ चढ़ रहे हैं—उस समय रेडियो-स्टेशन पुरानी दिल्ली में अलीपुर रोड पर था। उन्हें वहाँ तक आने के लिए राज़ी करने में मुझे भारी परिश्रम करना पड़ा था। उनका आना भी अत्यन्त गोपन रूप से हुआ था। उनकी धारणा थी, और किसी हद तक ठीक ही थी, कि यह इलाक़ा दुश्मन का इलाक़ा है। मेरे उन्हें स्टेशन की सैर

[1] केन्द्रीय गृह विभाग के 'इंटेलिजेंस ब्यूरो' के तत्कालीन अध्यक्ष।

कराते समय वह बहुत कम बोले , और मैं उनकी रुचि आकृष्ट करने के लिए अवश्य इधर-उधर की बहुत-सी बातें करता रहा हूँगा। पूरा घूम कर मुझे इस बात की तीखी भावना हुई कि मैं उनमें जरा भी दिलचस्पी नहीं पैदा कर सका। अन्त में मैंने कहा, "लीजिए, यह सामने माइक रक्खा है : उसे उठा लीजिए, और भारत को जो सन्देश देना चाहें दे डालिए"।

जवाहरलाल जी बाहर धूप में निकल आये और सीढ़ियों पर खड़े सिर हिलाते हुए बोले, "नहीं, मैं तुम्हें तबाह करना नहीं चाहता और फिर मै कहूँगा भी क्या ?" मैंने कहा," सरकार मुझे कल ही बरखास्त कर दे, मुझे इसकी परवाह नहीं; बल्कि अगर आपसे रेडियो भाषण करवा सकूँ तो मैं इतने पर भी इसे मुनाफ़े का सौदा ही समझूँगा।" लेकिन वह सिर हिलाते हुए सीढ़ियाँ उतरते गये, और मैं खड़ा-खड़ा हज़ार बार अपनी घोर अप्रीतिकर परिस्थिति को कोसता रहा।

स्मृति की मशाल फिर रुकती है—सन् १६४० का एक दिन। सर एंड्रू क्लो, जिनकी अधीनता में नौकरी करने का मेरा दुर्भाग्य था, अचानक, लेकिन कुछ झिझकते हुए मुझसे बोले, "मैं—मैं सोचता हूँ कि पंडित जवाहरलाल नेहरू से मिला जाय; क्या खयाल है, तुम ऐसा प्रबन्ध कर सकते हो ?" मैं भौंचक्का रह गया—और क्यों न रह जाता ? क्लो से मेरी पटती न थी, लेकिन उन्हें शायद कोई दूसरा दूत नहीं मिल रहा था। मैं जवाहरलाल जी को ले तो गया ही; लॉन में बैठ कर सामाजिक ढंग की बातचीत भी हुई। श्रीमती एरिएड्नी क्लो चाँदी के चाय के बर्त्तनों से चाय, और नीरस बातचीत बाँटती रहीं। वह बीभत्स दृश्य कभी नहीं भूलूँगा; मेज के एक ओर क्लो अपनी निरर्थक औपचारिक बातचीत की झड़ी लगा रही हैं, और दूसरी ओर जवाहरलाल एक बहुत पुरानी और जर्जर काली अचकन में अपना पीला चेहरा लिये सिमटे हुए बैठे हैं—और उधर महायुद्ध भारत की सीमाओं पर मँड़रा रहा है। फिर क्लो उन्हें 'दफ़्तर में शान्ति से बातचीत करने के लिए' ले गये और वहाँ से जवाहरलाल लौटे तो उनका चेहरा पहले से भी अधिक पीला जान पड़ रहा था। मैंने समझ लिया कि अनुल्लंघनीय खाइयों को लाँघने के लिए मेरे दूसरे प्रयत्नों की तरह यह प्रयत्न भी व्यर्थ गया है।

और अन्त में मेरी मशाल की रोशनी जवाहरलाल की सुन्दर लिपि में लिखी हुई एक चिट्ठी पर आकर रुक जाती है। इस चिट्ठी में दूसरी बातों के सिलसिले में उन्होंने लिखा है :

> "मुझे ऐसा बहुत-कुछ सहना पड़ा है जिससे कि इन्सान का मन खट्टा हो जाय और घृणा से भर जाय लेकिन फिर भी मैं बच गया हूँ। ऐसे अवसर तो बहुत आते हैं जब कि अपने को बहुत अकेला महसूस करता हूँ, लेकिन किसी के प्रति कटुता मेरे मन में नहीं है। तुम क्यों इस कटुता और घृणा के शिकार होते हो ? मैं समझता हूँ कि दिल्ली—शाही दिल्ली—भी इसका कारण है; वहाँ रह कर स्वस्थ-चित्त रहना आसान नहीं है और मैं भी उसे बहुत देर तक नहीं सह सकता हूँ।"

जो हो, अब तो जवाहरलाल खुद वहीं हैं, उसी दिल्ली में ; और यद्यपि परिवर्त्तन वहुत हो गये हैं, फिर भी मैं कह सकता हूँ कि अब भी वहाँ रहकर स्वस्थ-चित्त रहना बहुत आसान नहीं है। लेकिन भारत और दुनिया के सौभाग्य से अभी तक मानसिक अस्वास्थ्य का कोई लक्षण नहीं दीख रहा है। और यह दूरवासी और अकिंचन प्रशंसक जवाहरलाल को और उनके स्निग्ध स्पर्श के नीचे पनपते हुए भारतवर्ष को अपनी हार्दिक सद्भावनाएँ भेजते हुए उनकी इष्ट-कामना करता है।

अप्रैल १६४६

अधूरा भाषण

कैनिक्कर कुमार पिल्लय

यह अट्ठारह वर्ष पूर्व की घटना है, फिर भी मेरी स्मृति में वह ऐसी ताजी है मानो कल घटी हो। तब मैं मध्य तिरुवंकूर में समुद्रतट के एक गाँव करूवत्त के अंग्रेजी हाईस्कूल का मुख्याध्यापक था। करूवत्त क्विलन से अलप्पी जाने वाली सड़क पर पड़ता है।

मई १९३१ के अन्तिम दिनों में पंडित जवाहरलाल नेहरू अपनी पत्नी और पुत्री के साथ तिरुवंकूर आये। जब हमने सुना कि वे करूवत्त के बीच से गुज़रने वाले हैं तो हमने अपने स्कूल में उनके सार्वजनिक स्वागत-समारोह का आयोजन किया और इस उत्सव को उनकी यात्रा के कार्यक्रम में रखवा लिया। हमें कहा गया कि वह यहाँ १५ मिनट ठहरेंगे।

सहज ही इस आयोजन की बात बड़ी दूर तक फैल गयी; दूर और पास के नर-नारी और बच्चे हज़ारों की संख्या में स्कूल में जमा हो गये। जो नेहरू उनके लिए केवल एक उज्ज्वल कहानी था उसी को वे प्रत्यक्ष सजीव देखने वाले थे; और स्वयं उन्हीं के मुँह से उनकी वाणी सुनने वाले थे !

हमारे गाँव में एक बन्दूक़ चलाने वाला था जिसे हम प्रायः उत्सव-प्रसंगों पर बुला लिया करते थे। उसकी बड़ी इच्छा थी कि वह उस महान् अवसर पर कुछ अपना करतब दिखाये और गोले छोड़े। मैंने भी न जाने किस दुर्बल क्षण में उसकी बिनती मान ली।

उसके उत्साह का क्या कहिये। उस नीरव ग्राम प्रान्त में बुधवार २७ मई १९३१ का सबेरा अक्षरशः विस्फोट-पूर्वक हुआ। भोर होते ही उसने सारा अड़ोस-पड़ोस अपने गोलों से गुंजा दिया। वह एक क्षण भर के लिए भी किसी को भूलने देना नहीं चाहता था कि यह विशेष गौरव का दिन है।

क़रीब १० बजे सबेरे, नियत समय पर पंडित जी और उनकी टोली आ पहुँची। सबको खुले में ही बनाये गये ऊँचे मंच पर ले जाया गया। इस विचार से कि जो पन्द्रह मिनट पंडित जी वहाँ देने वाले थे, उसमें अधिकांश समय स्वयं वही बोलते रहें, कार्यक्रम में सब अनावश्यक बातें छोड़ दी गयी थीं। और मैंने निर्ममतापूर्वक कुछ आवश्यक बातें भी काट डाली थीं—हमारा यह आत्मत्याग सर्वथा स्वार्थपूर्ण था। मेरा स्वागत-भाषण संक्षेप की इति था। एक मिनट भी उसमें नहीं लगा। फिर हिन्दी में एक छोटा हस्तलिखित मानपत्र पंडित जी को भेंट किया गया। इसमें भी एक मिनट से अधिक समय न लगा।

इस मानपत्र के बारे में भी एक शब्द कह दूँ, क्योंकि मुझे सन्देह है कि जो कुछ आगे घटित हुआ उसके कारणों में उस मानपत्र का भी कुछ स्थान रहा होगा। मैंने वह मलयालम में लिखा था और अनुवाद किया था हमारे हिन्दी-पंडित ने। मेरा हिन्दी-ज्ञान तब अल्प था, (अब भी है,) अतः अनुवाद की सफलता के बारे में न तो मैं कुछ कह सकता था, न उसके लिए कुछ कर सकता था। यों मैंने उसमें बहुत ऊँची काव्यात्मक बातें कहने का यत्न किया था : जो कि सभी मानेंगे ऐसी स्थिति में स्वाभाविक और क्षम्य था, क्योंकि कौन नहीं जानता कि मानपत्र का उद्देश्य और उद्दिष्ट लोगों को अनायास ही काव्य की उत्तेजना दे देता है। जो हो, अनुवादक का कार्य निस्सन्देह इस कारण बहुत कठिन हो गया होगा। मैंने जो कुछ कहना चाहा था वह सब अनुवाद में सही-सही ढंग से व्यक्त हुआ या नहीं, मैं नहीं कह सकता। पर इतना ज़रूर कह सकता हूँ कि वह पंडित जी को कम मनोरंजक नहीं जान पड़ा। और मेरा ख्याल है कि यहीं से बाक़ी दुर्घटना का सूत्रपात हुआ।

अब पंडित जी जवाब देने उठे। याद रहे कि उनके पास अभी तेरह मिनट का समय शेष था। विशाल भीड़ पर एक घनी उत्सुक नीरवता छा गयी। हवा की स्तब्धता में उनका स्वर ऊपर उठा, मर्मस्पर्शी और गूंजता हुआ और साथ ही एक मधुर, मसृण, वेदनामय भारीपन लिये हुए।

उन्होंने आरम्भ में ही स्वीकार किया कि जो मानपत्र उन्हें दिया गया वह पूरी तरह उनकी समझ में नहीं आया। यहाँ पर उस गूढ़ साहित्य के रचयिता और अनुवादक ने परस्पर कनखियों से देखा। फिर पंडित जी ने देश में चल रहे संघर्ष का उल्लेख करके देश की एकता के लिए हिन्दी के महत्त्व पर ज़ोर दिया। तीन मिनट भी न हुए होंगे, और पंडित जी ज़रा जम कर बात करने ही लगे थे कि सहसा एक बड़े ज़ोर के धमाके ने वातावरण को कँपा दिया; वक्ता और श्रोता दोनों चौंक उठे। हमारा गोलन्दाज चुप नहीं बैठा था!

पंडित जी का जो वाक्य अधूरा रह गया था, वह भी शायद उन्होंने पूरा नहीं किया। वहीं रुक कर मेरी ओर सहसा मुड़कर बोले "यह मुझे चुप कराने का संकेत है शायद!" मुझे अपने गोलन्दाज के करतब से इतना धक्का नहीं लगा था जितना पंडित जी के इस वाक्य से। मैंने लपक कर कहा "नहीं, पंडितजी!" परन्तु वह बोले, "ज़रूर मेरे बोलने का समय पूरा हो गया है।" मेरे बार-बार ज़ोर देकर नहीं-नहीं कहने का कोई असर नहीं हुआ। वह कहते ही गये, "हाँ, हाँ, ज़रूर हो गया है।" उनके ओठों के चारों ओर जो मुस्कराहट खेल रही थी, उन चमकीली बड़ी आँखों में जो विनोदी चमक नाच रही थी, उसे लक्ष्य करके मेरा दिल बैठ गया। स्पष्ट ही उन्हें अब कुछ शरारत सूझ रही थी!

उनका समय-बोध इतना ग़लत नहीं हो सकता था कि वह तीन मिनट और तेरह मिनट के अन्तर को न पहिचान सकें। बात यह थी कि उनकी परिहास-बुद्धि जो मानपत्र की किसी बात से पहले ही जाग उठी थी, इस भयानक धमाके से और ज़ोरों से सजग हो उठी थी। वह इस सारी घटना को एक अच्छा ख़ासा मज़ाक़ समझ कर उसका मज़ा ले रहे थे।

मेरे सब अनुनय-विनय को नम्रता से परन्तु दृढ़ता से टाल कर वह उठे और मंच को पार कर सीढ़ियाँ उतरने लगे। उनकी कर्तव्य-परायणा पत्नी और पुत्री भी पीछे-पीछे चलीं। फाटक तक जाते-जाते मैंने उनसे फिर कहा कि उनके इस प्रकार चले जाने से हमें कितनी निराशा हो रही है। उन्होंने हँसकर कहा "कोई बात नहीं: सब ठीक है।" और चले गये।

लेकिन कोई बात नहीं कैसे? और जहाँ तक प्रतीक्षा में बैठे हुए हज़ारों श्रोताओं का सवाल था, सब ठीक भी नहीं था। परन्तु एक ओर हमारे गोलन्दाज की भोली मूर्खता और दूसरी ओर पंडित जी की विलक्षण परिहास-बुद्धि के ज़बरदस्त योग के विरुद्ध हम लोग कर ही क्या सकते थे?

मैं इसे अपने देश की जनता की मूलतः अहिंसक प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण मानता हूँ कि उस दिन उस विराट् समूह को यह सूझा भी नहीं कि उस गोलन्दाज को मार-मार कर ठंडा कर दिया जाय, या कि भून ही डाला जाय जो उत्तेजित परिस्थिति में अकल्पनीय नहीं था!

उस गोलन्दाज के प्रति मेरी भावनाएँ सदा दो तरह की रहीं। जहाँ उसने मुझे जीवन की सबसे बड़ी निराशाओं में से एक का अनुभव कराया, वहाँ उसने जीवन का सबसे मधुर सुखद आश्चर्य भी दिया—पंडित जी को मैंने एक क्रीडाप्रिय बल्कि शरारतभरी भंगिमा में देख लिया! वह देखना एक प्रकार का साक्षात्कार था, यद्यपि उसकी क़ीमत हमें बहुत देनी पड़ी, फिर भी सौदा घाटे का नहीं रहा।

उसके छः वर्ष बाद, मैंने संसार की श्रेष्ठ आत्मकथाओं में से एक में जब उस किशोर की बात पढ़ी जो सर तेज बहादुर सप्रू जैसे जलभीरु व्यक्तियों को आनन्द भवन के तैरने के जलाशय में धकेल कर या गिराने की धमकी देकर प्रसन्न होता था, तब मुझे अपने गाँव के अधूरे भाषण वाली घटना की याद आ गयी।

मुझे विश्वास है कि आज भी हमारे प्रधान मंत्री की व्यस्त, अपार व्यापकता में वह किशोर कहीं न कहीं छिपा हुआ और क्रीड़ामय अवश्य विद्यमान है और अब भी सुयोग और उचित प्रेरणा मिलते ही जाग पड़ सकता है। मेरी कामना है कि ऐसे सुयोग उन्हें मिलते रहें, ताकि अतिचिन्तित और कार्यभार-ग्रस्त प्रधान मंत्री के जीवन में आवश्यक विश्राम उन्हें मिल सके, और साथ ही उनके आसपास के लोगों को भी कुछ आकस्मिक कौतूहल और दिलचस्पी की सामग्री प्राप्त होती रहे। मैं आशा करता हूँ कि उनका नाती, छोटा गान्धी, अवश्य इस ओर ध्यान देता रहेगा!

अप्रैल १६४६

'बर्रे का छत्ता !'

नाथूराम द्विवेदी

इस छोटे-से अछूत संस्मरण की घटना बुन्देलखंड के भूतपूर्व "चरखारी राज" की राजधानी चरखारी में हुई थी जो कि उस समय सामन्तशाही का एक गढ़ था।

सन् १९३७ के जाड़ों में चरखारी से १५ मील दूर गहरौली गाँव में एक राजनीतिक सम्मेलन हमीरपुर जिला कांग्रेस कमेटी की ओर से हुआ था। पंडित जी उसका उद्घाटन करने वाले थे। इसके लिए महोबे का स्टेशन ही सबसे निकट पड़ता था और वहीं से मोटर का रास्ता चरखारी से होकर गुज़रता था। उन दिनों केन्द्रीय सरकार के संचालन में कांग्रेस का हाथ नहीं था, और प्रान्तों का शासन स्वतन्त्र था ही। हमीरपुर ज़िले के माननीय नेता दीवान शत्रुघ्नसिंह, जो तब प्रान्तीय धारा-सभा के सदस्य थे, सन् १९३० से हमारे सम्पर्क में थे और जब कभी किसी काम में चरखारी वालों को मदद की ज़रूरत होती तो हमें अवश्य कहते थे। कहना न होगा कि सन् १९३१ में असहयोग-आन्दोलन में चरखारी हमीरपुर ज़िले की हलचलों का मुख्य केन्द्र रहा था।

एक दिन सहसा रात को दीवान साहब ने आकर सूचना दी कि पंडितजी चरखारी होकर गहरौली जायेंगे और रास्ते को उनके जाने के लायक़ बनाने के लिए बहुत-से मज़दूरों की तत्काल आवश्यकता होगी। हम लोगों ने तब तक पंडितजी के दर्शन नहीं किये थे, इसलिए हमारे आग्रह करने पर दीवान साहब ने हमें आश्वासन दिया कि अगर हम लोग उस रात महोबे पहुँच सकें जहाँ पंडित जी रात भर टिकने वाले थे तो उनको भोजन कराने का प्रबन्ध वह हमें सौंप दे सकते हैं।

उन दिनों चरखारी के दीवान मेजर पाँडे थे जो पहले मयूरभंज राज्य में भी दीवान रह चुके थे। मैं उनके अधीन एक साधारण कर्मचारी था। तीसरे पहर वह काम में व्यस्त अपने दफ़्तर में बैठे हुए थे तब पंडित जी की गाड़ी दो और गाड़ियों के साथ चरखारी से गुज़री। गाड़ियाँ एक फ़र्लांग भी न गयी होंगी कि पुराने महल के पास और भूतपूर्व राजाओं की समाधियों के सामने महल के एक ओर के फाटक के सन्तरी ने, जिसे हम सब "बरबाद अली" के नाम से पुकारते थे, पंडितजी की गाड़ी को रोक दिया क्योंकि उस पर तिरंगा झंडा फहरा रहा था। ज़िले के नेताओं ने तत्काल उतर कर उसे समझाया कि वह किस के विरुद्ध यह बदतमीज़ी कर रहा है और यह चेतावनी भी दी कि इसका परिणाम उसके लिए बुरा हो सकता है लेकिन वह अपनी हठ पर अड़ा ही रहा। कदाचित् वह समझ रहा था कि वह कोई बड़ा बहादुरी का काम कर रहा है जिसके लिए महाराज उस पर प्रसन्न होंगे। यहाँ तक कि अन्त में स्वयं पंडितजी से उसकी दो-दो बातें हुई। बहुत डाँट-फटकार के और बहस के बाद ही उसने मोटरों को गुज़रने दिया लेकिन मोटरों के जाते ही वह अपनी बहादुरी की सूचना देने के लिए दौड़ा हुआ दीवान साहब की कचहरी में हाज़िर हुआ। किन्तु उसको कितना अचम्भा और निराशा हुई जब उसे प्रशंसा के बदले में फटकारें ही मिलीं! मेजर पाँडे ने इतना ही कहा, "क्यों तुम बर्रे के छत्ते में हाथ देते हो? उन्हें जाने दो।"

पंडितजी ने क़स्बे के बाज़ार में से गुज़रते हुए अपने भाषण में कहा कि अब समय आ गया है कि रजवाड़े अपनी नींद से जागें। क़स्बे के दूसरे छोर पर जनता ने उन्हें मालाएँ पहनायीं। किन्तु गहरौली से पंडितजी फिर चरखारी होते हुए नहीं लौटे। दूसरे रास्ते से लौट गये। महोबे का कार्यक्रम उन्होंने छोड़ दिया। और हम लोग महोबे में रात भर उनकी प्रतीक्षा ही करते रहे। हमें दूसरे दिन अख़बारों से ही ज्ञात हुआ कि वह नहीं आ रहे हैं!

मार्च १९४९

'मुझे बड़ी-बड़ी भीड़ों से वास्ता पड़ा है'

हीरालाल देसाई

"मुझे इस सलून गाड़ी में बन्द कर देने का क्या मतलब है ?" पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपने सुप्रसिद्ध गुस्से का थोड़ा-सा परिचय देते हुए पूछा ।

"पंडितजी, सिंहल में बैसाख की धूप बहुत कड़ी होती है, उससे आपकी और परिवार की रक्षा करने के लिए ही स्वागत समिति ने सलून गाड़ी का प्रबन्ध किया है ।"मैंने अत्यन्त विनीत भाव से उत्तर दिया ।

"यह तो ठीक है और मैं आपकी समिति का कृतज्ञ हूँ, लेकिन यह भी सोचिये कि सलून गाड़ी में बन्द होने से न तो यह इकट्ठी हुई भीड़ मुझे देख सकती है और न मैं ही उनके स्वागत का कुछ उत्तर दे सकता हूँ ।" पंडितजी का स्वर अब भी उतना ही उत्तेजित था । यह कहते-कहते उन्होंने झटके से फूलों से सजी हुई गाड़ी का दरवाजा खोला और फुर्ती से कूद कर भीड़ में आ रहे ।

मैंने मन ही मन सोचा कि भारतीय जेलों के जीवन से ऊब कर ही पंडितजी बन्द गाड़ी पर इतने रुष्ट हुए हैं । जो हो, सन् १९३१ की अपनी सिंहल-यात्रा में पंडितजी बराबर खुली हुई गाड़ी ही पसन्द करते रहे ।

पंडितजी को देखते ही आकाश "जवाहरलाल नेहरू की जय" से गूंज उठा ।

*　　　*　　　*

अप्रैल १९३१ में पंडित मोतीलाल नेहरू के देहावसान के बाद ही गान्धीजी ने पंडितजी को एक महीना विश्राम लेने की राय दी थी । पंडितजी ने इसके लिए "स्वर्ण लंका" और वहाँ के सुन्दर पहाड़ी स्थान नुवारा एलिया को पसन्द किया । बम्बई से लायडट्रिस्टीनों के एक जहाज पर सवार होकर पंडितजी सपरिवार कोलम्बो पहुँच गये ।

उनके इरादे की सूचना मिलते ही न केवल सिंहलवासी भारतवासियों में बल्कि राजनीतिक चेतना रखने वाले सिंह-लियों में भी उत्साह की लहर दौड़ गयी, एक स्वागत समिति बनायी गयी जिसके सभापति तत्कालीन सिंहल धारा-सभा के प्रधान स्वर्गीय सर जय तिलक हुए । सदस्यों में कोलम्बो के सभी प्रमुख नागरिक थे । भारत के महान् देशभक्त का समुचित अभिनन्दन करने के लिए पूरा कार्यक्रम बनाया गया ।

स्वागत समिति ने मुझे आदेश दिया कि छः और सदस्यों के साथ समय पर जहाज पर पहुँच कर पंडितजी की अगवानी करूँ और उन्हें सपरिवार साथ लिवा लाऊँ। तदनुसार मैं जहाज पर पहुँचा और सिन्दिया कम्पनी की मोटर-नौका 'जल-सन्धु' में, जो तिरंगे से सजायी गयी थी, उन्हें लिवा लाया। कोलम्बो बन्दर की गोदी दर्शकों से खचाखच भरी हुई थी।

ये वे दिन थे जब कांग्रेस के नेता भारत सरकार को काँटों-से चुभते थे और विद्रोही समझे जाते थे। ज़रा ज़रा-सी बात पर उन पर राजद्रोह के प्रचार का अभियोग लगाकर उन्हें जेल भेज दिया जाता था । सिंहल की सरकार भी पंडित नेहरू के आने से बहुत खुश नहीं थी यद्यपि सिंहली राजनीतिकों ने उनका सुन्दर स्वागत किया। बन्दरगाह पर पुलिस कम थी और जो भीड़ गोदी तक पहुँच गयी थी उसने बड़ी अव्यवस्था कर रखी थी । जिस क्रम से मुझे स्वागत समिति के प्रधान और दूसरों का परिचय कराना उचित था उस क्रम की रक्षा असम्भव थी । पंडितजी की लोकप्रियता ऐसी थी कि जनता के उत्साह की कोई सीमा नहीं थी और ठेलमठेल में कोई भी काम व्यवस्थापूर्वक कर पाना सम्भव नहीं हो रहा था । मुझे याद है कि स्वागतकारिणी के सम्माननीय सदस्य अप्रसन्न होकर लौट गये । मेरे लिए पंडितजी के साथ चलना भी कठिन हो रहा था, क्योंकि भीड़ में घुसने और बढ़ निकलने के मामले में पंडितजी की फुर्ती विख्यात है । भीड़ पंडितजी के गुजरने के लिए तो रास्ता छोड़ देती थी लेकिन उनके साथ चलनेवाले पिस जाते थे। पंडितजी एक विजेता की तरह सिर ऊँचा उठाये और डग भरते हुए बढ़े चले जा रहे थे और मेरे तथा मेरे साथियों के लिए अपने पैरों पर खड़े रह सकना

जवाहरलाल नेहरू, बार-एट्-ला

१९११

१९१२
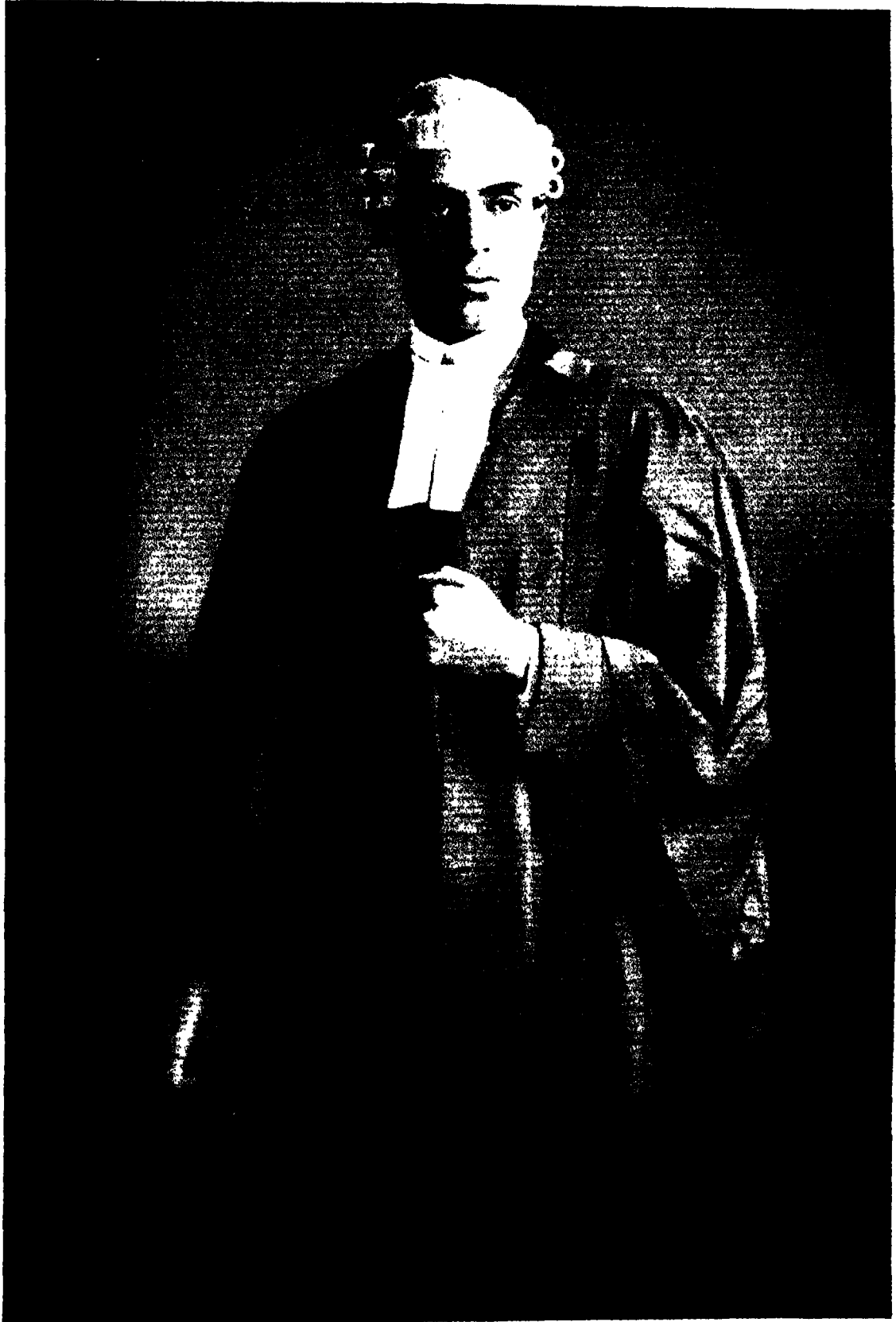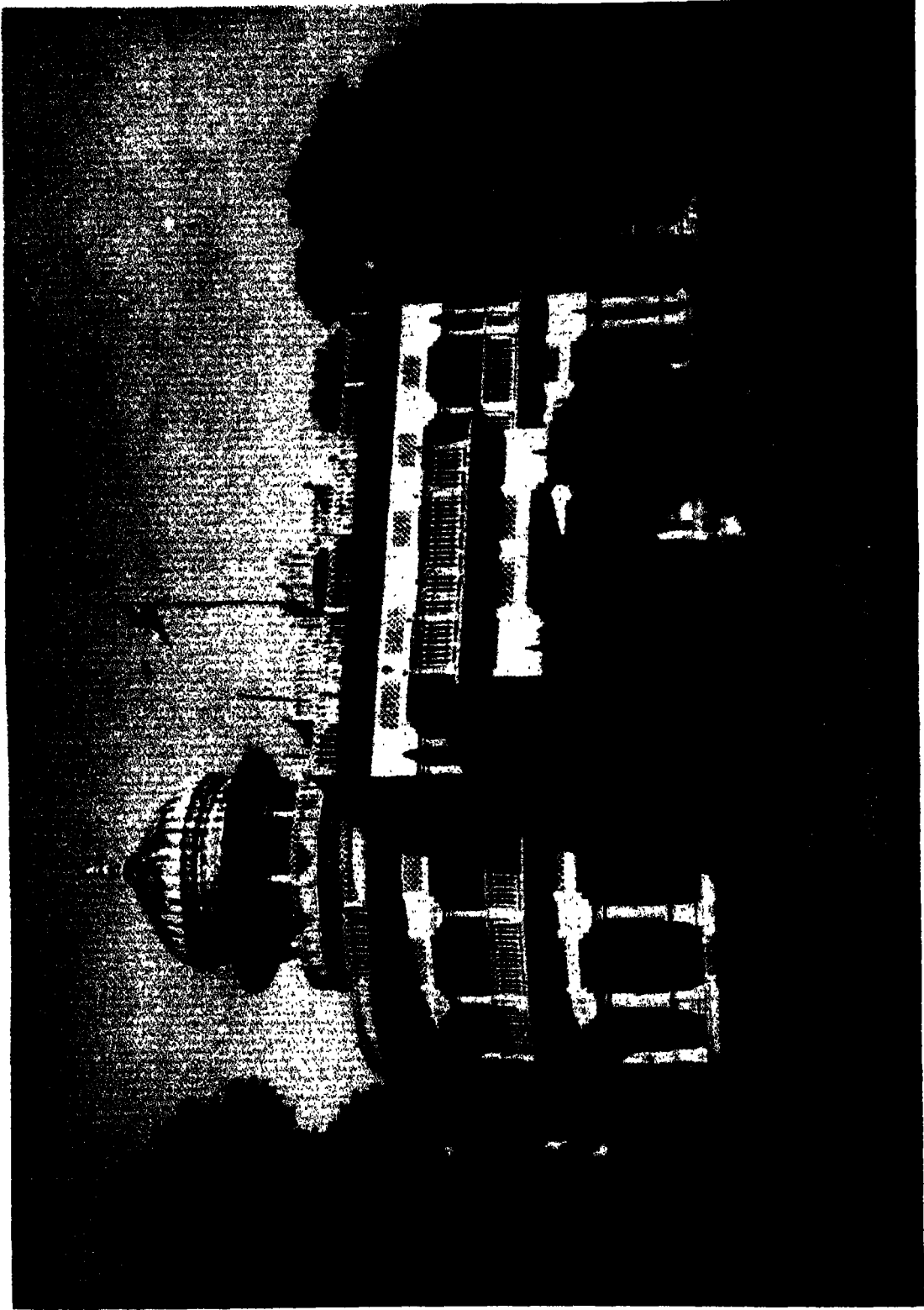
स्वराज्य भवन

यह भवन पहले आनन्द भवन था, किन्तु राष्ट्र को अर्पित किये जाने पर इसका नाम बदल दिया गया।
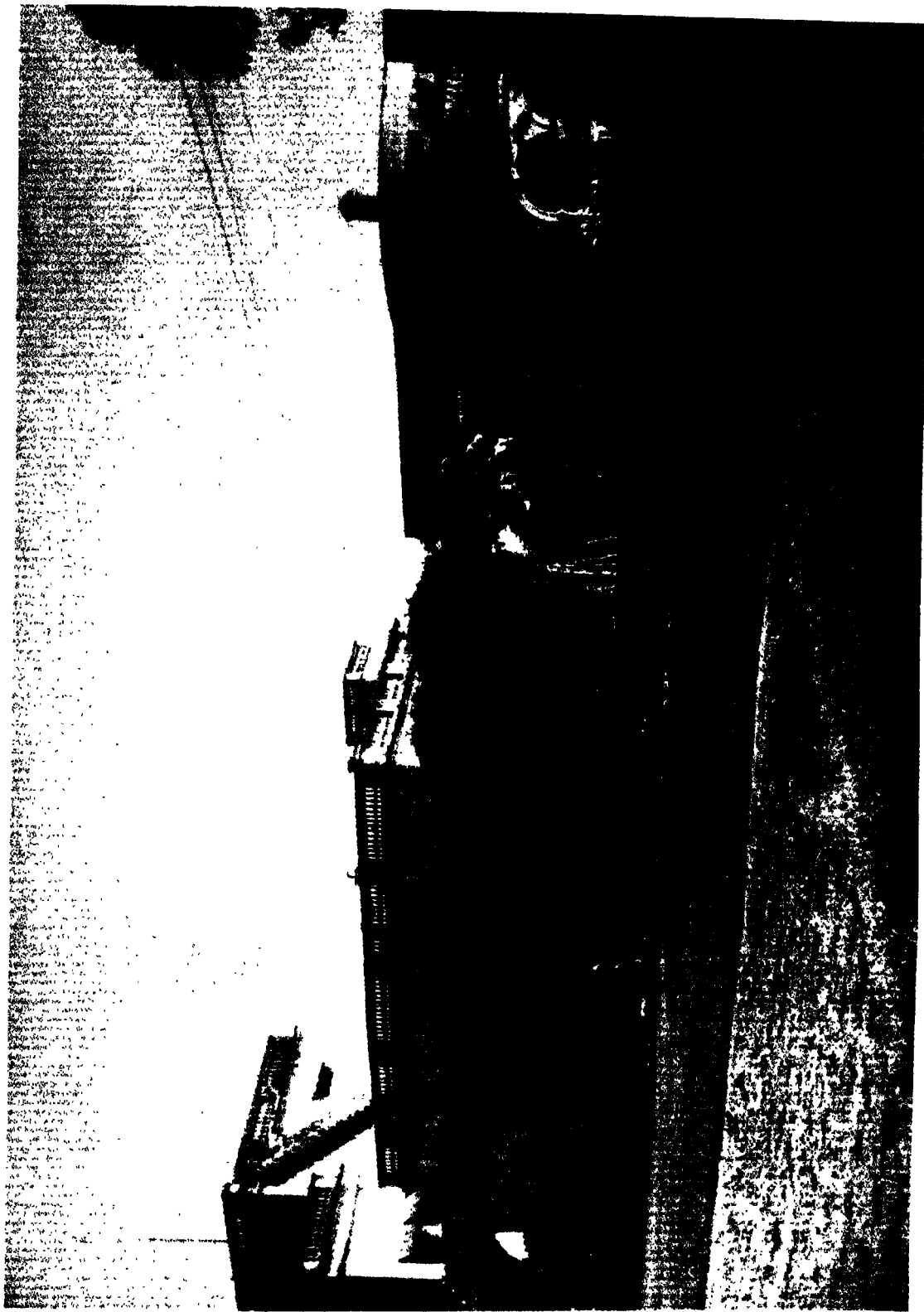
आनन्द भवन—नेहरू-परिवार का पैत्रिक निवास

वर्तमान आनन्द भवन को यह नाम तब दिया गया था जब पिछले को स्वराज्य भवन नाम मिल गया।

माता स्वरूपरानी देवी

श्री नागेश्वर राव के सौजन्य से

कमला जी, १६३०

श्री नागेश्वर राव के सौजन्य से

पिता-पुत्र, १९२९

श्री नागेश्वर राव के सौजन्य से

भी मुश्किल हो रहा था। स्वागत समिति ने कोलम्बो के मुख्य रास्तों से पंडितजी का जुलूस ले जाने के लिए दो सलून गाड़ियाँ फूलों से सजाकर तैयार की थीं। लेकिन जैसा कि मैंने आरम्भ में बताया है, पंडित जी ने सलून गाड़ी में बन्द किये जाने का विरोध किया। जब मैंने उन्हें बताया कि स्वागत समिति ने एक निर्धारित मार्ग से उनका जुलूस ले जाने का प्रबन्ध किया है, तब वह सारे रास्ते पैदल चलने के लिए राजी हो गये लेकिन सेलून गाड़ी में सवार नहीं हुए।

जब एक अंग्रेज सार्जेन्ट, सर रत्नज्योति सखमुथ्यु, मैं और दो स्वयंसेवकों ने मिलकर पंडित जी को घेरे में ले लिया और इस तरह हम लोग पूर्व निर्धारित रास्ते से गये। पंडित जी सिंह-शावक की भाँति फुर्तीले थे और मार्ग के दोनों ओर जुटी हुई जनता उनकी यह भव्य गति देखकर चकित रह गयी। जब जब हमने धूप से बचने के लिए उनसे मोटर में सवार होने के लिए कहा, उन्होंने हमारे सुझाव को हँसी में उड़ा दिया और एक आध बार तो झल्ला भी पड़े। अन्त में जब हम उस बँगले पर पहुँचे जिसमें उनके ठहराने का प्रबन्ध किया गया था तब वह एक आराम कुर्सी पर बैठ गये। लेकिन अहाते के फाटक के बाहर फिर भीड़ जुट गयी। फाटक हमने बन्द करवा दिया था। पंडित जी भीड़ देखकर उठे और लपक कर फाटक तक जा पहुँचे। फाटक पर चढ़कर उन्होंने हिन्दी में भाषण देना आरम्भ कर दिया। लेकिन जब उन्होंने देखा कि लोग उनका भाषण नहीं समझ रहे हैं तब उन्होंने अंग्रेजी में बोलना आरम्भ किया और मुझे तमिल में अनुवाद करने के लिए कहा। यह मेरे लिए तो सम्भव नहीं था लेकिन और किसी ने यह कर दिया।

दो घंटों के लम्बे कार्यक्रम के बाद हम लोगों को थकावट मालूम हो रही थी, लेकिन पंडित जी जरा भी थके नहीं जान पड़ते थे। मुझसे उन्होंने बहुत मीठे और अपनापे से भरे हुए स्वर में हिन्दी में कहा, "देसाई जी, मुझे उम्मीद है कि आप मेरी किसी बात से नाराज नहीं हुए होंगे।" वह शायद अपने गुस्सा होने की बात को लेकर चिन्तित थे। बोले, बात यह है कि मुझे कई बार बड़ी बड़ी भीड़ों से वास्ता पड़ा है और मैं जानता हूँ कि उनके सँभालने के लिए यही एक उपाय है, नहीं तो वे मेरा जीना मुश्किल कर दें।" दोषमार्जन के इस निश्छल ढंग से मैं बहुत प्रभावित हुआ।

सिंहल में अपने एक महीने के प्रवास में पंडित जी १५ दिन नुवाराएलिया में रहे, और शेष पन्द्रह दिन वह कालुतारा, गाले, केन्डी, जाफ़ना, उत्तलम और अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों का दौरा करते रहे। इस तूफ़ानी दौरे में उन्होंने अनेक सभाओं में भाषण दिये, संस्थाओं का उद्घाटन और शिलान्यास आदि किया। बड़ी बड़ी सभाओं में भाषण देने का उनका अभ्यास इतना लम्बा है कि उनके स्वभाव में शामिल हो गया है और उससे उन पर जरा भी जोर नहीं पड़ता। वह बहुत परिश्रम कर सकते हैं। सन् १९३९ में वह जब दोबारा सिंहल आये तब मैंने उनको रोज बीस घंटे काम करते भी देखा है। एक दिन उन्होंने हमें भेंट के लिए रात साढ़े दस बजे का समय दिया था। हमारी बातचीत डेढ़ बजे तक होती रही। हममें से कई थक गये थे लेकिन पंडित जी वैसे ही प्रसन्न और स्फूर्तियुक्त दीख रहे थे।

हमारी बातचीत समाप्त होते ही पंडित जी अपने शयनकक्ष में गये, और मुँह-हाथ धो टोपी पहनकर बाहर जाने के लिए तैयार होकर निकल आये। हमें अचम्भा हुआ। मेरे पूछने पर उन्होंने बताया कि उन्हें किसी पत्र के कार्यालय में जाने और उसके सम्पादक से भेंट करने का वचन दे रखा है; वहाँ जा रहे हैं! उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा है और वह स्वस्थ रहने के लिए सतत यत्नशील हैं। यह देश का सौभाग्य है कि बन्दी-जीवन ने उन्हें कोई शारीरिक व्याधि नहीं दे दी जब कि अन्य राजनीतिक नेता प्रायः जेल से अपना स्वास्थ्य चौपट करके ही आते रहे हैं। सन् १९३१ में नुवाराएलिया में वह पैदल बहुत घूमते थे और गाफ भी खेलते थे। मुझे मालूम है कि वह शीतकालीन खेलों के भी शौकीन हैं और समय होने पर तैरने में भी रुचि रखते हैं।

एक रात लोग केन्डी झील के किनारे होटल स्वीस के बाहर चबूतरे पर बैठे हुए थे। सामने झील पन्नों के फूल में जड़े हुए हीरे-सी चमक रही थी, ऐसे सुन्दर दृश्यों का पंडित जी पर गहरा असर होता है। उन्होंने तरह तरह के विषयों पर बात चीत करना आरम्भ कर दिया। उनकी बातचीत क्रमशः अधिक रोचक होने लगी और हम सब बड़े ध्यान से सुनने लगे। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने हमें बताया कि सन् '३० के असहयोग-आन्दोलन के लिए कैसे स्वयंसेवक दल बनाया गया था और कैसे आन्दोलन समाप्त होने पर वह संगठन तोड़ दिया गया। बम्बई में स्वयंसेवकों ने संगठन तोड़ने पर आपत्ति की और उन्होंने प्रान्तीय कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष श्री नरिमन को तंग करना शुरू कर दिया। उनकी मोटर पर पत्थर फेंके गये और उनको अनुशासन में रखना असम्भव हो गया। पंडित जी उन दिनों बम्बई ही में थे और वह श्री नरिमन की सहायता करने गये। पंडित जी ने हमें बताया कि उन्होंने स्वयंसेवकों को समझाया और कहा कि वह अपने पाँच प्रतिनिधि

चुन कर उनसे बातचीत करने के लिए भेजें; और उन्हें आश्वासन दिया कि उनकी उचित माँगों पर पूरा ध्यान दिया जायगा। अन्त में पंडित जी ने तीखे स्वर में यह भी कहा कि "अगर आप चाहते हैं कि मैं आपकी कठिनाइयाँ दूर करने में आपकी मदद करूँ तो आपके लिए यह रास्ता खुला है। लेकिन अगर आपका यह निश्चय है कि आप अवैध तरीक़े ही अख़्तियार करेंगे जैसा कि आप अभी कर रहे हैं, तो याद रखिये कि मैं भी डरपोक गुजराती बनियाँ नहीं हूँ।"

और हमें यह बात सुनाते सुनाते पंडित जी कैन्डी होटल में बैठे होने पर भी अपनी आस्तीनें ऐसे चढ़ाने लगे मानो बम्बई में स्वयंसेवकों का मुक़ाबिला करने को तैयार हो रहे हैं। तभी उन्होंने मेरी ओर देखा। उनको सहसा ध्यान आया कि मैं भी गुजराती बनिया हूँ और वह अनकहनी कह गये हैं। चेहरे पर क्षमा-याचना का भाव लाते हुए उन्होंने मुस्कराकर कहा, "देसाई जी, माफ कीजिएगा", मेरे साथ और जो सिंहली उपस्थित थे न समझ सके कि पंडित जी क्यों क्षमा याचना कर रहे हैं। यह बताये जाने पर कि मैं भी गुजराती बनिया हूँ, सब खिलखिला कर हँस पड़े लेकिन मुझे सन्तोष नहीं हुआ और मैंने कहा, कोई बात नहीं, पंडितजी, आखिर आप भी तो एक गुजराती बनिये के—महात्मा गान्धी के—अनु-यायी हैं और उन्हें आप डरपोक नहीं कहेंगे ऐसा मेरा विश्वास है।" इस पर फिर हँसी का ठहाका।

जन्म से अभिजात होकर स्वभाव से पंडितजी कट्टर जनतन्त्रवादी हैं। इसका एक उदाहरण दिया जा सकता है। कोलम्बो में बहुत-सी संस्थाओं ने मिल कर टाउन हाल में पंडितजी को अभिनन्दन देने की व्यवस्था की। कमेटी ने यह निश्चय किया कि प्रवेश टिकट द्वारा होगा, क्योंकि सभी को आने देना तो असम्भव होगा। जनतन्त्रवादी पंडितजी यह सूचना पाकर खिन्न हुए। वह टाउन हाल जाकर अभिनन्दन स्वीकार करने को इसी शर्त पर राज़ी हुए कि मैदान में एक दूसरी सभा भी की जायेगी जिसमें सर्वसाधारण बिना किसी रोक के आ सकेंगे।

धर्म और कर्मकांड के लिए पंडितजी को कोई दिलचस्पी नहीं है, यह जानी हुई बात है। अपनी पिछली पुस्तक 'हिन्दुस्तान की कहानी' में भी हिन्दू धर्म के प्रति उनका दृष्टिकोण कट्टर हिन्दुओं को रुचने वाला नहीं है।

मन्दिरों से उन्हें चिढ़ है। एक बार सन् १६३६ में मैंने कोलम्बो में पंडितजी को भोजन पर निमन्त्रित किया था और उस अवसर पर कई एक प्रमुख व्यक्तियों को भी बुलाया था जिनमें कुछ मन्त्री और शासन-परिषद् के कुछ सदस्य भी थे क्योंकि भोजन शुद्ध निरामिष था और प्राच्य ढंग से केले के पत्तों पर परोसा जाने वाला था इसलिए किसी अच्छे होटल में प्रबन्ध नहीं हो सका था और मुझे वेलवती के मन्दिर के चैत्य में व्यवस्था करनी पड़ी। मैं जब पंडितजी को लिवाने गया तो मैंने उनसे कहा, "पंडितजी, चलिये मन्दिर चलें।" पंडितजी ने उत्तेजित होकर कहा "कैसा मन्दिर, क्यों"? मेरे बताने पर कि भोजन की व्यवस्था वहीं की गयी है, उन्होंने भोजन में शामिल होने से भी इन्कार कर दिया। मेरे बहुत समझाने पर कि उन्हें वहाँ पूजा के लिए नहीं ले जाया जा रहा है बल्कि मन्दिर के साथ लगे हुए भवन में केवल भोजन के लिए ले जाया जा रहा है, वह जाने को राज़ी हुए।

भीड़ को सँभालने के अपने अनुभवों का ज़िक्र करते हुए उन्होंने बताया कि एक बार महात्माजी एक तीसरे दर्जे के डिब्बे में पंजाब की यात्रा कर रहे थे तो स्टेशन के प्लेटफ़ार्मों पर दर्शनार्थियों की बड़ी बड़ी भीड़ जमा हो जाती थी। एक जगह रात को गान्धीजी सोना चाह रहे थे मगर लोग ज़बरदस्ती खिड़कियाँ खोल कर टार्च की रोशनी डाल कर गान्धी-जी के दर्शन प्राप्त कर रहे थे। स्वर्गीय श्री महादेव देसाई भीड़ को बहुत समझा रहे थे कि गान्धीजी अस्वस्थ हैं और उन्हें कष्ट न दिया जाय, लेकिन भीड़ नहीं मानती थी। इसी भीड़में से एक व्यक्ति ने पुकार कर कहा, "तो क्या वह हमें दर्शन भी नहीं देंगे? हम लोग मीलों से पैदल चल कर आये हैं सिर्फ़ उनके दर्शन करने के लिए। वह इन्कार कैसे कर सकते हैं, उन्हें दर्शन नहीं देना था तो फिर महात्मा क्यों बने!"

दूसरे डिब्बे में पंडितजी ने यह बात सुन ली। इतनी उत्तेजना काफ़ी थी। वह कूद कर अपने डिब्बे से बाहर निकले और गान्धीजी के डिब्बे पर पहुँच गये। दर्शनार्थियों में से कुछ एक को पकड़ कर डाँट फटकार कर उन्हें डिब्बे के पास से खदेड़ दिया। ऐसी घटनाओं का वर्णन स्वयं पंडितजी के मुँह से सुनते ही बनता है।

जनवरी १६४६

'शुष्क, परिश्रमी, महान्'

गोविन्ददास

पंडित जवाहरलाल नेहरू को मैंने पहले-पहल सन् १९२० में देखा, जब वह अपने पिता पंडित मोतीलाल नेहरू और अपने कुटम्ब के साथ नागपुर कांग्रेस में जाते हुए कुछ समय के लिए जबलपुर ठहरे थे। वह अपने पिता और कुटम्ब के साथ हमारे ही मेहमान थे। मेरे पितामह राजा गोकुलदास के समय जब नर्मदा-स्नान को कई कट्टर सनातन-धर्मी पंडित और साधु तथा राजा-महराजा आते थे तब भी मेरा कुटुम्ब ही उनका मेजवान होता था और राजनीतिक हल-चलों के बढ़ने के बाद नेताओं के सम्बन्ध में भी यही हुआ। फिर पंडित मोतीलाल जी तो हमारे कुटम्ब के वकील भी थे और मेरे पिता के परममित्रों में से एक।

पंडित मोतीलाल जी के दर्शन भी मैंने पहले-पहल उसी समय किये। प्रथम दर्शन में ही कितना स्नेह पाया मैंने उनसे! और जवाहरलाल जी से? लोग कहते हैं कि जवाहरलाल जी बड़े भावुक हैं, उनके अपने कुटुम्बियों से उनका जो सम्बन्ध है वह बड़ा प्रेममय है, परन्तु पंडित मोतीलाल जी के अत्यधिक समीप रहने पर भी और पंडित जवाहरलाल जी से १९२० से आज तक लगातार तीस वर्ष का सम्बन्ध होते भी मैंने न उन में मोतीलालजी वाला वह स्नेह देखा और न वह भावुकता। शायद मैं स्वयं ही इसका दोषी होऊँ, क्योंकि बिना दूसरी ओर के प्रोत्साहन के उस ओर बढ़ने में मैं संकोची स्वभाव का हूँ। परन्तु मोतीलाल जी के सिवा गान्धी जी, मालवीय जी, लाला लाजपतराय और देश-बन्धु दास से भी मेरा सम्बन्ध रहा है। किसी में भी मैंने जवाहरलाल जी वाली शुष्कता नहीं पायी। जवाहरलाल जी से किसी का भी बापू अथवा मोतीलाल जी के सदृश व्यक्तिगत सम्बन्ध है, यह मैंने सुना भी नहीं। जवाहरलाल जी के बड़प्पन का शायद यह एक कारण भी है। सार्वभौम नेता से किसी का व्यक्तिगत सम्बन्ध कैसा? नेता को तो सारे अनुयायियों और जनता को एक ही दृष्टि से देखना चाहिए। इसी लिए कदाचित् जवाहरलाल जी का न अपना कोई दल है और न अपना कोई व्यक्ति। वह किसी दल के दलदल में नहीं हैं और जो उन पर कभी-कभी यह आक्षेप होता है कि वह विदेशों आदि में अपने किन्हीं सम्बन्धियों इत्यादि को भेजते हैं, इसे मैं सर्वथा भ्रमपूर्ण मानता हूँ। व्यक्तिगत सम्पर्क से सर्वथा अलिप्त रहना नेतृत्व का शायद एक बहुत बड़ा गुण है। और यह विरलों में ही हो सकता है।

सन् १९२० से ही कांग्रेस क्षेत्र में मैं भी काम करता रहा। इन तीस वर्षों में क्या-क्या देखा मैंने उन में?

सन् १९२० के कांग्रेस-अधिवेशन और २१ की अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठकों आदि में वह एक शब्द नहीं बोलते थे, इतने चुप जितना शायद कोई नेता नहीं था। अपने संयुक्त प्रान्त के कांग्रेस-संगठन में वह चुप रहते थे या नहीं, मैं नहीं जानता, क्योंकि उनका और मेरा मिलने का क्षेत्र अखिल भारतीय ही था। अखिल भारतीय क्षेत्र में उन्होंने बोलना आरम्भ किया हमारे स्वराजिस्ट होकर असेम्बलियों में जाने और उन के जेल से निकलने के बाद और फिर तो यह बढ़ता ही गया। अब जितना वह बोलते हैं उतना शायद कोई नेता न बोला है और न बोलता है। वर्तमान परिस्थिति में कदाचित् यह आवश्यक भी है।

उनका क्रोध सब से पहले मैंने देखा सन् १९२६ में लखनऊ के सर्वदल-सम्मेलन के समय, जब मोतीलाल जी की अध्य-क्षता वाली 'नेहरू रिपोर्ट' की उस धारा पर विवाद हो रहा था जिसमें यह कहा गया था कि सम्मति वालों को उनके अधि-कारों से वंचित न किया जायगा। जवाहरलाल जी का उस समय कहा हुआ एक वाक्य मुझे अभी तक कई बार स्मरण हो आता है। इस धारा का विरोध करते हुए हाथ-पैर पटकते और झुँझलाती हुई अपनी उस मुद्रा में, जिससे अब हम सब अभ्यस्त हो गये हैं, उन्होंने कहा था, "आई एम सर्प्राइज्ड एट माई ओन माडरेशन'!

सन् १९२८ में जब वही "नेहरू रिपोर्ट" कांग्रेस के कलकत्ते के अधिवेशन में आयी तब "डोमिनियन स्टेटस्" और "इंडिपेंडेंस" का झगड़ा खड़ा हो गया। जवाहरलाल जी ने पूरी शक्ति के साथ मोतीलाल जी का विरोध किया। जब तक

नेहरू रिपोर्ट कांग्रेस में स्वीकृत नहीं हो गयी तब तक मोतीलाल जी बेचैन अवश्य रहे, पर कांग्रेस-अधिवेशन के अन्तिम दिन उन्होंने जवाहरलाल जी के सम्बन्ध में जो कुछ कहा वह भी मैं कभी न भूलूँगा। उनका कथन था, "मुझे अगर किसी बात का सबसे बड़ा फ़ख्र है तो इस बात का कि मैं जवाहरलाल का बाप हूँ।"

पंडित जी को लाहौर-कांग्रेस में मैंने जितना प्रसन्न देखा उतना कभी नहीं। जब वह भारत वर्ष के प्रधान मन्त्री हुए उस समय भी नहीं। जब सभापति के जुलूस के समय लाहौर में माता स्वरूप रानी ने उन पर पुष्प-वर्षा की उस समय का उनका चेहरा मुझे अभी भी स्मरण है। पंडित जी की आन्तरिक शुष्कता का लोप मैंने केवल उसी समय कुछ क्षणों के लिए देखा था।

सन् १९३९ के त्रिपुरी कांग्रेस-अधिवेशन के समय मैंने उनका कार्य देखा। मैं इस अधिवेशन की स्वागत-समिति का अध्यक्ष था अतः मुझ से उस अधिवेशन की सारी कारंवाई का निकट का सम्बन्ध था। अधिवेशन के सभापति सुभाष बाबू की बीमारी के कारण मेरा उत्तरदायित्व और भी बढ़ गया था। कांग्रेस के समस्त प्रस्तावों के मसौदों की प्रधान ज़िम्मेदारी पंडित जी पर थी। कितनी मेहनत करते थे वह, और इतने पर भी कितने स्वस्थ !

उनके प्रधान मन्त्री होने के बाद, मेरे कांग्रेस दल की कार्यकारिणी का एक सदस्य और कोषाध्यक्ष होने के कारण यद्यपि नित्य ही मेरा उनसे मिलने का काम पड़ता है, परन्तु उनके और मेरे बीच दूरी उतनी है जितनी प्रथम दर्शन के समय थी। कांग्रेस दल की कार्यकारिणी की और दल की बैठक में भी सबसे अधिक प्रभाव उन्हीं का रहता है, पर यदि कोई उनकी आवाज़ से भी ऊँची आवाज़ और उनके बल से भी अधिक बलपूर्वक किसी बात का प्रतिपादन करे तो फिर पंडित जी चुप भी हो जाते हैं।

पंडित जी कई बार हमारे मेहमान हुए परन्तु गृह-जीवन में मैंने उनमें कभी किसी प्रकार का क्षोभ नहीं देखा, साथ ही किसी प्रकार का सौहार्द भी नहीं। उन्हें किसी विशेष प्रकार की वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ती, पर यदि कोई उनके आराम इत्यादि की अच्छी से अच्छी व्यवस्था भी करे तो भी वह उसकी सराहना नहीं करते, यहाँ तक कि उनसे धन्यवाद तक की आशा नहीं। इस प्रकार वह कदाचित् सदा निर्लिप्त आकाश में ही विचरण करते हैं।

जवाहरलाल जी को मैं आधुनिक भारत का ही नहीं, इस समय के संसार का एक महान् पुरुष मानता हूँ। उनका यह व्यक्तित्व उनके अनेक असाधारण गुणों से बना है। इतिहास में चाहे वह महान् विचारकों में न बैठाये जा सकें, पर सर्वोच्च कर्मठ व्यक्तियों में वह एक हैं, इस में सन्देह नहीं हो सकता। चरित्र की हर प्रकार की अत्यधिक शुद्धता और असीम त्याग उनके जीवन-रूपी रथ के दो चक्र हैं। वह एक राष्ट्र के नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय हैं। 'डिस्कवरी आफ़ इंडिया' सदृश पुस्तक लिखने के पश्चात् भी मैं उन्हें भारतीय नहीं मानता। संस्कृति और सौन्दर्य के वे पूजक हैं, इस में सन्देह नहीं, पर पश्चिमी संस्कृति और वहाँ का सौन्दर्य ही उनकी आँखों पर अधिक चढ़ा है। हर पश्चिमी वस्तु से उन्हें प्रेम है, यहाँ तक कि आक्सफ़ोर्ड और केम्ब्रिज के सर्टीफ़िकेट-याफ़्ता नवयुवकों तक का अनजाने उन पर बड़े से बड़े भारतीय विद्वानों और साहित्यकों से अधिक प्रभाव पड़ता है। लखनऊ-कांग्रेस के उन के भाषण पर एक अंग्रेज़ी पत्र ने लिखा था, "एन इंग्लिशमैन स्पीक्स"। शायद वह ठीक था।

जुलाई १९४९

पंडित मोतीलाल नेहरू, १९२९

सी० नागेश्वर राव के सौजन्य से
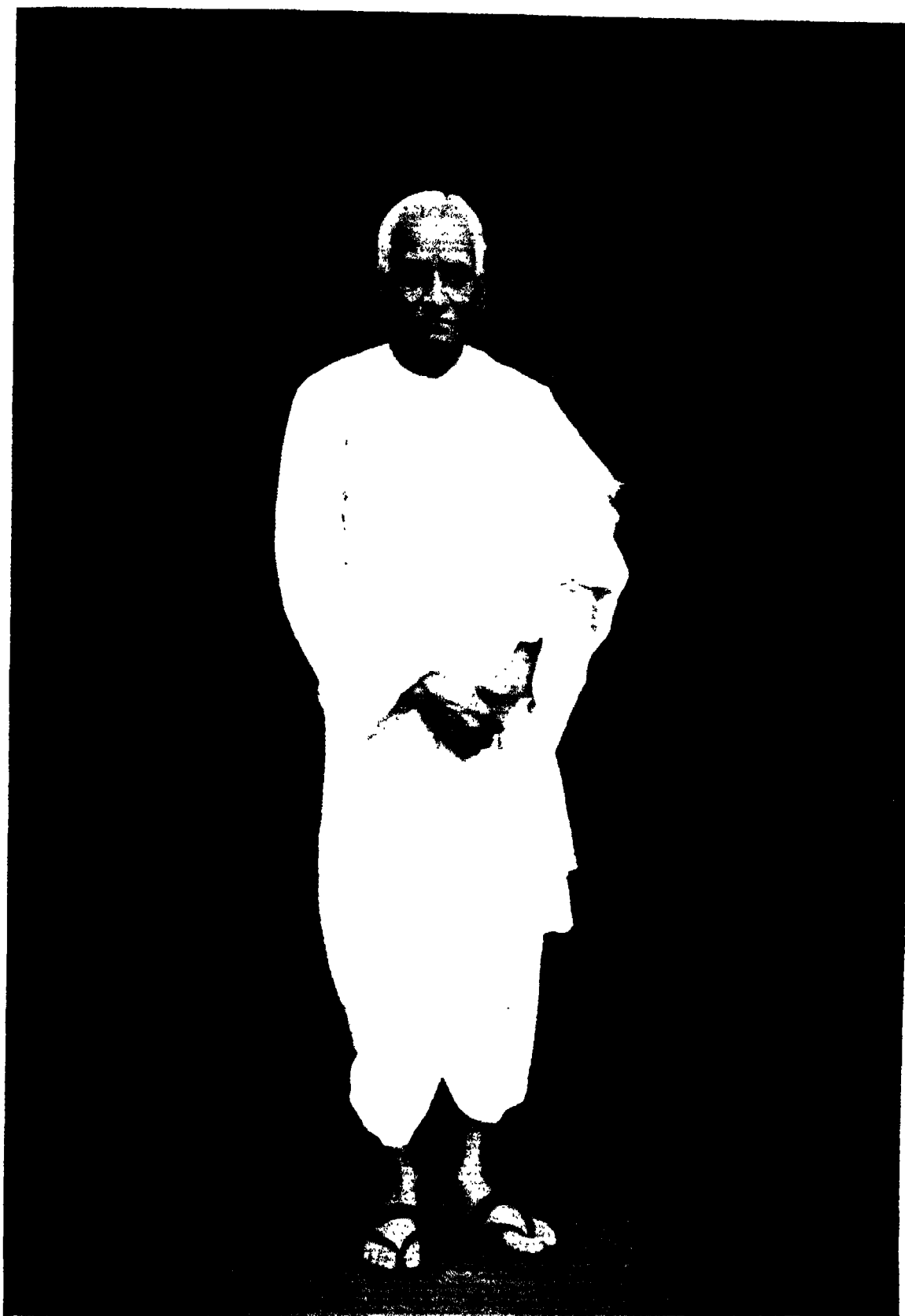
जवाहरलाल नेहरू १९२९

'इश्क़ ने ग़ालिब—'

राय कृष्णदास

घास का एक प्रशस्त मैदान जिसमें दूब के अतिरिक्त दूसरे तृण उगने भी न पाते—हरा-भरा और कटा-छँटा। मख़मली ग़लीचे की उपमा उसके लिए पुरानी पड़ चुकी है। चारों ओर सुन्दर विस्तृन बग़ीचा जिसकी देखभाल और रखवाली में कोई कोर-कसर नहीं रहने पाती।

मैदान में एक पिता अपने लड़के के लिए गुड्डी उड़ाने का प्रयत्न कर रहा है, किन्तु गुड्डी कुछ-कुछ उठ कर गिर-गिर पड़ती है—उसके लिए जितनी हवा की आवश्यकता है उतनी यहाँ नहीं मिलती। वह विलायती गुड्डी है, यहाँ की गुड्डियों से सर्वथा भिन्न। मानों किसी बक्स में से अग़ल-बग़ल के पटरे निकाल दिये गये हों कि उसमें से हवा गुज़र सके।

बालक जवाहरलाल के लिए जो उपहार पंडित मोतीलालजी विलायत से लाये थे, उनमें यह गुड्डी भी थी। किन्तु ब्रितान की समुद्री हवा में उड़ने वाली वह भारी गुड्डी, भला आनन्दभवन में कहाँ उड़ती! पास ही अपने पिता से लगा हुआ मैं भी खड़ा था, जवाहर भाई से दो बरस छोटा। उन दिनों वे जितने शर्मीले थे उससे अधिक मैं. . . .

हम लोग आनन्दभवन के नित्य जानेवालों में से थे. . . .किसी दिन पंडितजी उन्हें टेनिस खिलाते, किसी दिन क्रिकेट, किसी दिन कोई और मैदानी खेल। तीन बरस की नन्हीं-विजयालक्ष्मी-भी आसपास खेला करती थीं। भृत्यवर्ग उन्हें कहता 'नन्हीं बीबी रानी' तो वह अपने नाम के साथ जवाहर भाई को भी सम्मिलित करके और उसका गीत बना कर गाने लगतीं, 'नन्हीं बीबी रानी-ी-ी, नन्हा भैया राना-ा-ा'।

समय की पाबन्दी के कारण पंडितजी अपने व्यस्त वकालती जीवन में से बाल-विनोद के लिए भी समय निकाल लेते। शेष समय के लिए जवाहर भाई का कार्यक्रम घड़ी की तरह निश्चित था। उनके कमरे अलग थे, जहाँ उनके शिक्षक पढ़ाया करते। उनके पाठ्यक्रम में संस्कृत भी थी। उन पुस्तकों में सामवेद की एक बड़ी सुन्दर छपी हुई प्रति आज भी विस्मृत नहीं होती।

उन्हीं दिनों की याद में, चालीस बरस बाद १९४१ के अन्त में, एक चायपानी में जब एक मित्र ने जवाहर भाई से मेरा परिचय कराना चाहा, 'आप कृष्णदास को जानते हैं?' तो उन्होंने उत्तर दिया था, 'प्रायः शैशव से'। इस बात पर, स्वभावतः उनकी असाधारण स्मृतिशक्ति की ओर ध्यान चला जाता है। सभी महान् व्यक्तियों की भाँति उनके मस्तिष्क में पहुँच कर कोई भी विषय लुप्त नहीं हो सकता।

सन् १९४२ के आरम्भिक महीनों में वह तीसरी बार 'भारत कलाभवन' देख गये थे। उसके कुछ ही महीनों बाद देश में भयंकर अन्धकारमय समय उपस्थित हुआ. . . .जेल से छूटने पर १९४५ में जब उनका तूफ़ानी दौरा शुरू हुआ तो वह काशी भी आये और सदैव की भाँति कलाभवन में भी उनका आगमन रक्खा गया। दिन भर के व्यस्त कार्यक्रम के बाद टाउनहाल की विराट् सभा में लम्बा भाषण समाप्त करके जब वह कार से कलाभवन की ओर बढ़े तो उन्होंने पाया कि कुछ महिलाएँ भीड़ में पड़ गयी हैं। अपने स्वभावानुसार, उन्हें बचाने के लिए वह कार से कूद पड़े और कार खाली ही कलाभवन पहुँची।

लपक कर मैं कार के फ़ुटबोर्ड पर चढ़ गया और पूछा, "जवाहर भाई, आप मुझे कै मिनट देंगे?" "आपके जवाहर भाई अभी पीछे हैं", कार में से एक अन्य परिचित ने उत्तर दिया। मैं उनकी प्रतीक्षा में, पुनः अपार भीड़ में मिल गया। कुछ मिनट बाद वह भी लपके हुए आ पहुँचे। उन्हें जिस प्रकार ऐसी भीड़ में धँसना आता है, उसी प्रकार उसमें से निकलना भी। डाँटते-फटकारते तीर की तरह अपना रास्ता करते वह चले आ रहे थे कि मैंने अपना सवाल दोहराया। पहले तो बिना देखे वही तीव्र वाणी, किन्तु उसी क्षण ममतापूर्ण एक दूसरा स्वर उनके कंठ से बहिर्गत हुआ, 'अरे, तुम हो?' और एक आदेश से भीड़ को भेड़ बना कर वह कलाभवन के भीतर पहुँचे।

कई लम्बे टेबुलों पर कलाभवन की सर्वोत्कृष्ट वस्तुएँ सजा दी गयी थीं कि वह कम से कम समय में पूरा आस्वादन कर लें। उनके पास समय न था किन्तु निगाह थी और थी अद्भुत स्मृतिशक्ति। मैं अवाक् रह गया कि सन् '४२ के आरम्भ में वह जो कुछ देख गये थे वह सब इतनी गरमी-सरदी के बाद भी, उन्हें ज्यों का त्यों याद था। उन्होंने प्रत्येक उत्तम वस्तु को तो देखा ही, साथ ही जो कुछ पहले देख गये थे उसे बताते भी गये। ऐसी वस्तुओं को उन्होंने इस प्रकार देखा जैसे पठनीय पुस्तकों के दोहराने का आनन्द लिया जाता है।

सौन्दर्य-प्रेक्षण और आस्वादन उनके स्वभाव का एक विशिष्ट पहलू है। कलाभवन के मूर्तिमन्दिर की भारहुत वाली यक्षिणी को, जो शुंग काल का सचमुच एक अप्रतिम उदाहरण है, उन्होंने पहुँचते ही लक्ष्य किया और जब वह वहाँ से अपनी सहज फुर्ती के साथ बाहर लौटने लगे तो उन्होंने गरदन मोड़ कर जिस प्रकार उसे पुनः भर आँख देखा, उनकी वह मूर्ति स्वयं दर्शनीय थी।

वस्तुतः जवाहर भाई ने भावुक प्रकृति पायी है और उनकी सबसे बड़ी साधना है उस स्वभाव को बदल डालना। फिर भी, यद्यपि यह कुसुमादपि मृदुल स्वभाव वज्रादपि कठोर बना गया है, परन्तु है यह उत्तुंग नगाधिराज हिम-निर्मित ही। जो व्यक्ति यदि उत्कृष्ट कवि या कलाकार नहीं तो अद्वितीय साहित्य-आलोचक या कला-मर्मज्ञ अवश्य होता, वह इतने कंटकाकीर्ण पथ का कितना सफल पथिक हुआ, यह देखकर चकित रह जाना पड़ता है। गत वर्ष उन्होंने दिल्ली की एक प्रदर्शनी में भारतीय दूतावासों के लिए आठ-दस चित्र चुने थे। किसी ननु-नच के बिना यह बात कही जा सकती है कि उससे श्रेष्ठ चुनाव किसी भी कलाविद् के लिए असम्भव था। उनका लिखना श्रमसाध्य नहीं रहता। उनके प्रवहमान भाव आपसे आप पंक्तियों के रूप में मुखरित होते जाते हैं। वे सुन्दरता से क्रमबद्ध रहते हैं। यदि कहीं कोई बात आगे-पीछे हो भी जाती है तो अगले वाक्य उसे इस प्रकार सँभाल लेते हैं कि वह अपने स्थान पर ही फब उठती है और धारा में कहीं-कहीं उच्छल तरंग की भाँति बहुत रुचती है।

उनका एक अपना दृष्टिकोण और मानदंड है। पहला उनके उच्च धरातल के अनुरूप है और दूसरा उनके प्रकांड व्यक्तित्व के। इसी असाधारण दृष्टिकोण और मानदंड से वह व्यक्तियों और घटनाओं का निरख-नाप करते हैं। सन् १९४२ वाले आन्दोलन के बाद जेल से छूटने पर जहाँ बड़े से बड़े नेताओं ने उस कांड को ग़ैरज़िम्मेदारी बतलाया और पराभव-मनोवृत्ति से उसकी नाप करते रहे वहाँ जवाहर भाई का ही हिस्सा था कि उसकी सारी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेने को तैयार हो गये और उस आन्दोलन को शानदार विजय प्रमाणित करके ही रहे।

यदि उन्होंने यह मनोवैज्ञानिक साथ ही तथ्यपूर्ण परिवर्तन उपस्थित न किया होता तो हमारे स्वतन्त्रता-संग्राम में फिर रोड़ा अटक गया होता और दो ही बरस के भीतर यहाँ से अंग्रेज विदा न हुए होते। किन्तु इन बड़ी बातों तक ही नहीं, छोटे-छोटे-से विषयों में भी उनकी यही नाप-जोख है।

स्वतन्त्र सरकार बन जाने पर मैंने उनके सामने कलाभवन के लिए बीस लाख की माँग रखी। कहने लगे, "बीस लाख से तो मैं बीस विद्यार्थियों को विदेश भेज सकता हूँ। मैं उसे जरूरी समझता हूँ।"

"मैं तो अपने काम को जरूरी समझता हूँ।" किसी दूसरे को मैंने ऐसा उत्तर दिया होता तो बहस छिड़ जाती परन्तु जवाहर भाई के दृष्टिकोण को इसकी आवश्यकता न थी। उत्तर मिला, "समझना भी चाहिए।" एकनिष्ठा का मरम वह जानते हैं।

बाज़ाब्तगी और अनुशासन का अडिग पालन करता हुआ भी उनका अंतस उन्मुक्तता के लिए छटपटाया करता है। अभी उस दिन लखनऊ में उन्होंने पुरा-वनस्पति-विज्ञान-परिषद् का शिलान्यास किया था। शिलान्यास के लिए जो करनी बनायी गयी थी उसकी मूठ में साठ करोड़ बरस पुरानी शिलित वनस्पति लगायी गयी थी। संस्कार पूरा करके जवाहर भाई ने परिषद् के संस्थापक (अब स्वर्गीय और चिर-परिशोच्य) डा० बीरबल साहनी से कहा, "साहनी, इस करनी को तुम यहीं रख लो, अन्यथा यह मेरे यहाँ से ग़ायब हो जायगी।" मैं भी वहीं खड़ा था। मेरी ओर इंगित करके कहने लगे, "एक यही हज़रत हैं।" संयोग से उनके हाथ में एक छोटा-सा डंडा था। मैंने कहा, "और कुछ नहीं तो मैं यह डंडा तराट् करने की फ़िक्र में था। अभी जब आपने भाषण देते हुए उसे ज़मीन पर रख दिया था तब मैं तजबीज़ रहा था कि कहीं आप भूल जायें तो मैं इसे तराट् कर दूँ।" "जी हाँ-आँ-आँ, बड़े तराट् करने वाले आये!" मेरे पेट में वह लकड़ी गड़ाते

हुए उन्होंने कहा, "अभी तो मैसूर से किसी ने भेजा है इसे।" उनकी हार्दिकता और आत्मीयता के मार्ग में कभी रोड़ा नहीं अटकता।

किसी अच्छी उक्ति को सुनकर वे विभोर हो जाते हैं। पंजाब वाले नारकीय प्रलय पर बातचीत करते हुए भाई मैथिलीशरण का यह वाक्य मैंने उन्हें सुनाया कि "मनुष्य का इतिहास राक्षसों का इतिहास है'। मर्माहत जवाहर भाई एक लम्बी साँस में इस वाक्य को दोहरा गये। जो भी उक्ति उनके मन में घर कर जाती है, उसे वह इसी प्रकार दुहराते हैं।

एक मित्र के यहाँ उनकी दावत थी। भोजनोत्तर सितार का प्रबन्ध था। उनका वह दिन बहुत ही व्यस्त बीता था, अतएव उनके आतिथेय ने उनसे कहा, "जवाहरलाल सो जाओ; बहुत थक गये होगे।"

"नहीं, अभी सितार सुनूंगा, बहुत दिनों से नहीं सुना है," उनकी प्रयत्न भावुकता ने उत्तर दिया। उसी को लक्ष्य करके मैंने कहा,

'इश्क़ ने ग़ालिब निकम्मा कर दिया,
वर्ना हम भी आदमी थे काम के।"

और, वे भी अपनी उसी एक लम्बी साँस में दोहरा गये

'इश्क़ ने ग़ालिब...

अगस्त १९४९

जवाहरलाल नेहरू की मूर्ति

सुधीर खास्तगीर

सन् १६४६ के अन्तिम दिनों में, पंडित जवाहरलाल नेहरू के नयी दिल्ली में पद-ग्रहण करने के कुछ दिन बाद, मैंने उनके मस्तक की, मिट्टी की, मूर्ति बनाने के लिए अनुमति चाही। वह स्वभावतः बहुत व्यस्त थे और मूर्ति बनवाने के लिए बैठने की फ़ुरसत उन्हें नहीं थी; लेकिन श्रीमती विजया लक्ष्मी पंडित के आग्रह पर उन्होंने बैठना स्वीकार कर लिया। श्रीमती पंडित ने उन्हें समझा दिया कि वह पढ़ना-लिखना जारी रख सकेंगे, और मेरे काम से वह ऊब नहीं जायेंगे!

जनवरी १६४७ के एक ठिठुरते प्रातःकाल में पंडितजी के यार्क रोड वाले बँगले में पहुँचा और उनके दफ़्तर के कमरे में मिट्टी और मूर्ति का आधार जमा कर बैठ गया। मस्तक की मूर्ति के लिए पीठिका जमाने का काम मैंने आरम्भ कर दिया। ६ बजे के लगभग पंडितजी आये और संक्षिप्त अभिवादन के बाद अपने काम पर बैठ गये। हम लोगों की बातचीत बहुत कम होती; मैं अपनी मिट्टी के साथ उतना ही व्यस्त था जितना वह अपने काग़ज़ों के साथ! तथापि मैं बराबर बीच-बीच में उनके बड़े तेजी से बदलते हुए चेहरे को देख लेता था। उनका संवेदनाशील स्वभाव उनके चेहरे पर पूर्णतः प्रतिबिम्बित होता रहता है और इसलिए शिल्पी के लिए उनकी प्रतिमूर्ति बनाना एक बड़ी कठिन परीक्षा है।

उनके चेहरे को देखते हुए विश्वास करना कठिन हो जाता था कि वह एक महान् राजनीतिक नेता, और करोड़ों का भाग्य-सूत्र सँभालने वाले लगभग अधिनायक हैं। उनका चेहरा किसी दार्शनिक या अध्येता का ही है, बल्कि जब वह विचारों में लीन होते हैं तब तो यती-संन्यासी से दीख पड़ते हैं। मैं यद्यपि इस बात का ध्यान रखता था कि मेरे इधर-उधर से, विभिन्न दृष्टिकोणों से उनके चेहरे का अध्यनन करने से उनके काम में बाधा न पड़े, तथापि बार-बार यह स्पष्ट हो जाता था कि वह मेरी उपस्थिति के बारे में सजग हैं। कभी-कभी वह सहसा और भी सजग और सावधान हो जाते थे और उनके चेहरे पर एक तटस्थ दूरी का भाव आ जाता था।

लेकिन मौक़े पर पंडितजी अत्यन्त अपनापे का बर्ताव कर सकते हैं। एक दिन नियमानुसार काम करने पहुँचा तो मुझे सूचना मिली कि पंडितजी बाहर गये हैं। मैं धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करता हुआ मूर्ति के आधार पर काम करता रहा। पंडितजी लगभग १२ बजे लौटे। श्रीमती पंडित उनके साथ थीं। पंडितजी ने खेद प्रकट करते हुए तत्काल मेरे लिए दफ़्तर में आ बैठने की रज़ामन्दी प्रकट की; लेकिन श्रीमती पंडित को भूख लगी थी और उन्होंने प्रस्ताव किया कि बैठक अपराह्न में हो। मैंने उठते हुए कहा, "अच्छी बात है, आप लोग भोजन करें, तब तक मैं भी भोजन करके आता हूँ।" लेकिन पंडितजी ने तत्काल मेरी बाँह पकड़ते हुए कहा, "क्या फ़िज़ूल बात है! चलो, हमारे यहाँ जो कुछ रूखा-सूखा है उसी में तुम भी शामिल हो जाना!"

मेरा अनुभव मनोरंजक था और उसकी याद अब तक आनन्द देती है। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि पंडितजी के निजी सहकारियों पर मुझे बड़ी झल्लाहट होती थी जो बार-बार यह आग्रह करते थे कि मैं पंडितजी के मस्तक पर टोपी अवश्य दिखाऊँ! और मुझे यह भी याद आता है कि यार्क रोड के बँगले में निरन्तर आने-जाने वाली गाड़ियों का शोर सुन कर मैं प्रायः सोचा करता था—और अब भी सोचता हूँ—कि इतनी चहल-पहल के बीच कोई पागल हुए बिना कैसे रह सकता है! यों पंडित नेहरू 'सबसे सुलभ प्रधान मन्त्री' प्रसिद्ध हैं और कोई भी सहज ही उनसे मिल सकता है, लेकिन मुझे तो अपनी शान्ति अधिक प्यारी होती!

लाहौर कांग्रेस १९२९ के सभापति

श्री नागेश्वर राव के सौजन्य से

सन् १९३६ में

जवाहर का जौहर

हरिभाऊ उपाध्याय

१६३० में जेल में मैंने लार्ड ब्राइस की जनतन्त्र पर एक पुस्तक पढ़ी थी। उसका नाम था शायद 'माडर्न डिमाक्रेसीज'। उसमें आदर्श जनतन्त्री व्यक्ति का उत्तम नमूना पेश किया गया था। उसके लक्षण लगभग स्थितप्रज्ञ, गुणातीत या साधु या आदर्श मनुष्य के जैसे थे। उसे पढ़कर पहले तो मेरे सामने गान्धीजी की मूर्ति खड़ी हुई। परन्तु वह तो मुझे अहिंसा के अवतार अधिक दिखाई दिये। आधुनिक जनतन्त्र के सिद्धान्त में उन्होंने यह संशोधन भी पेश किया था कि सच्चे जनतन्त्र का आधार अहिंसा ही हो सकती है। इस संशोधन के साथ ही वह जनतन्त्री की पंक्ति में बैठेंगे। अतः उनके बाद जब मैं दूसरे जनतन्त्री की खोज में निकला तो हमारे हँसमुख जवाहर सामने आये। गान्धी जी की अहिंसा तो इन्हें मान्य है, परन्तु ये मौजूदा हिंसा-अपेक्षित जनतन्त्र के साथ भी अच्छी तरह चल सकते हैं बल्कि पूरी तरह फ़िट होते हैं। बापू केवल सिद्धान्त में ही नहीं, तफ़सील में भी बहुत बार आग्रह रखते थे। किन्तु जनतन्त्र की माँग है—सिद्धान्त में आग्रह, तफ़सील में निराग्रह, बल्कि अपने मत के खिलाफ़ भी पूर्ण सहयोग। यह गुण आज के हिन्दुस्तान में जितना जवाहर पर घटता है उतना और किसी पर नहीं। वे मन्त्रणा के समय कमेटी में अपने विचारों, सुझावों के लिए खूब लड़ लेंगे लेकिन एक बार फ़ैसला हो जाने के बाद, भले ही वह उनके खिलाफ़ हो, उसे पूरा करने के लिए जवाहर जितना तन-मन-धन झोंक देते हैं उतना और कोई नहीं। इस गुण में वे सबसे आगे और सबसे ऊपर साफ़ तौर पर उठे हुए दिखाई देते हैं। धारा सभाओं में जाने और फिर मन्त्रिमंडल बनाने के वह घोर विरोधी थे, किन्तु कार्य समिति के या कांग्रेस के प्रस्ताव पास करते ही वे उनकी पूर्ति में ऐसे जुट पड़े कि लोग दंग रह गये। बल्कि धारा सभाओं की सफलता तो एक मात्र जवाहर की ही ऋणी हो सकती है। सारा भारत इस सत्य को जानता है। अपने विचारों को इतना भूल कर, दूसरे के विचारों और योजनाओं की पूर्ति में इतना तल्लीन हो जाना मामूली साधना नहीं है, बल्कि एक प्रकार से समर्पण की पराकाष्ठा है, जो ऊँचे दर्जे के योगियों और ब्रह्मज्ञानियों में ही पायी जाती है। इसी तरह एक ही क्षण में बड़े ज़ोर से झल्ला कर दूसरे ही क्षण में हँस पड़ना भी ऐसी ही विकट साधना है। जब मैंने "मेरी कहानी" का हिन्दी अनुवाद किया था, तो सारी किताब खत्म कर चुकने पर मैंने बापू को लिखा था कि जवाहरलाल जी तो मुझे आपके सच्चे क़द्रदाँ मालूम होते हैं। आपके उन कई अनुयायियों से सत्य और अहिंसा के ज्यादा भक्त दिखाई देते हैं, जो सत्य और अहिंसा की दुहाई तो बहुत दिया करते हैं पर इनकी तारीफ़ यह कि ये कभी भूले-भटके ही सत्य और अहिंसा का नाम लेते हैं, किन्तु आचरण में उनके पालन का बड़ा ध्यान रखते मालूम होते हैं। बापू ने मेरे इस विचार का समर्थन किया था। बापू ने उन्हें भले ही अपना राजनीतिक उत्तराधिकारी ही घोषित किया हो, परन्तु उनके इस चुनाव में पूर्वोक्त सत्य ने भी अवश्य अपना काम किया है।

जवाहरलाल जी राजनीतिज्ञ भी ऊँचे दर्जे के हैं। चुपचाप अद्भुत संगठन करने में जो कमाल हमारे सरदार को हासिल है उससे जवाहर वंचित हैं, किन्तु राजनैतिक सूझ-बूझ, विश्व-हृदयता, बौद्धिक और चारित्रिक ऊँचाई, पारदर्शक सच्चाई, शुद्ध-हृदयता, व्यापक और जनताई दृष्टिबिन्दु, कूट-कपट और षड्यन्त्रों से परे रहने की उनकी वृत्ति, जनता के हृदय पर अधिकार कर लेने की शक्ति, सुरुचि, सुसंस्कृति आदि अनेक हृदय, बुद्धि, और आत्मा के गुणों के कारण वे अकेले भारत के ही नहीं, सारे संसार के छत्र और मुकुट-मणि होने के योग्य हैं। इन सब गुणों में उनसे बढ़कर संसार में आज कोई व्यक्ति नहीं है। दुनिया के राजनीतिक भी आज इस बात को मानने लगे हैं।

मेरा पहला परिचय भारत के जवाहर से कब हुआ, यह याद नहीं पड़ता। पुरानी से पुरानी याद यह है कि वह सन् १६२३ में शायद साबरमती आश्रम के विद्यार्थियों के साथ कुछ खेल कूद कर रहे थे। मैं भी इत्तफ़ाक से पहुँच गया था। मेरी किसी बात पर खुश होकर वे मुझसे लिपट पड़े थे। यह उनके मुक्त-हृदय और खुले व्यवहार का प्रत्यक्ष और पहला अनुभव मुझे था। बच्चों और साथियों में घुल-मिल कर वे एक-जीव हो जाते थे। आत्मविकास की यह पहली मंज़िल है।

दूसरा स्मरण मुझे होता है एक रेल-यात्रा का, जिसमें अहमदाबाद से अजमेर तक मरा साथ हो गया था । उस समय मैं अजमेर प्रा० कां० कमेटी का प्रधान मंत्री था और कांग्रेस-सम्बन्धी प्रश्नों की ही चर्चा करनी थी। किन्तु और भी बहुत-सी बातें चल पड़ीं । वे कांग्रेस के अध्यक्ष थे । मगर मुझे यह बिल्कुल नहीं प्रतीत होता था कि कोई बड़ा आदमी बहुत मामूली आदमी से बातचीत कर रहा है । समान और खुला व्यवहार उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गया है । आबू स्टेशन पर तो उनकी सादगी एवं सरलता की हद हो गयी । मैं तो बातों और विचारों में ही डूबा हुआ था कि स्टेशन आ गया । वह तुरन्त दरवाज़ा खोलकर प्लेटफ़ार्म पर उतर गये, और हम दोनों के लिए मिठाई-पूरी ले आये । मैं बड़ा शर्मिंदा हुआ । मैंने कहा, "यह आपने क्या किया?" उन्होंने मुस्कुराते हुए जवाब दिया, "क्या मैं खरीदना नहीं जानता ?"

उनकी झुंझलाहट और नाराज़गी के भी कुछ नमूने लीजिए । मौजूदा धारा सभा के चुनाव के पहले कांग्रेस-सदर की हैसियत से वे अजमेर आये । स्थानीय म्युनिसिपेलिटी ने उन्हें मानपत्र देने का आयोजन किया था । भीड़ का क्या पूछना ! पंडित जी हाल में घुस गये और मैं पीछे रह गया । वे झट धक्कामुक्की करके पीछे लौटे, एक वालंटियर या दर्शक को चाँटा रसीद किया और मुझे हाथ पकड़ कर अन्दर ले गये । थोड़ी देर बाद भीड़ काँच तोड़ कर हाल में दाखिल होने लगी । बस जवाहर ने हनुमान का रूप धारण कर लिया, जैसा कि वे ऐसे मौक़ों पर अक्सर कर लिया करते हैं । हाल में चारों तरफ़ कूद फाँद कर भीड़ को रोकने में जुट पड़े ।

इसी यात्रा में मुझ पर खीझ पड़े । ब्यावर के नागरिकों ने बड़े उत्साह से पंडितजी के स्वागत के लिए शहर को सजाया । वे उत्सुक थे कि शहर की सड़कों पर पंडित जी का जुलूस निकाला जाय । रात के कोई ११ बजे होंगे । मेरे द्वारा उन्होंने यह प्रस्ताव उनके सामने रखवाया । पंडित जी वैसे जुलूस और भीड़ भाड़ के बड़े शौकीन हैं, किन्तु उस दिन एकाएक उबल पड़े । 'जुलूस नहीं निकलेगा, वरना मैं ब्यावर का प्रोग्राम रद कर दूंगा ।' और न जाने क्या-क्या कह गये । ऐसी डाँट सुनने का मुझे वह पहला ही मौक़ा था । मुझे इतना बुरा लगा कि यदि वह पंडित जी न होते या मैं उनके स्वभाव से वाकिफ़ न होता तो मैं कभी फिर उनसे बात न करता । जुलूस स्थगित कर दिया गया । लेकिन जब रात को उन्होंने ब्यावर शहर की सजावट और शोभा देखी तो शायद मन में पछताये । फिर तो भरी सभा में उसकी प्रशंसा की और जुलूस के अपने विरोध की अपने ढंग से माजरत भी की ।

जवाहर के "बन्दरपन" का एक क़िस्सा उनके पिता के ही मुँह से सुनिए । पूना-अस्पताल में महात्मा जी का आपरेशन हुआ था । स्व० पं० मोतीलाल जी उनसे मिलने गये । उस समय मैं बापू पर पंखा झल रहा था । और बातों के साथ अपने लाड़ले बेटे की करतूतों का बयान वह महात्मा जी से करने लगे—"मैं जानता हूँ, राजनीतिक विषयों पर तो आप राय नहीं देंगे । परन्तु जवाहर से एक दो बातें तो आपको कहनी ही होंगी ।" बापू ने कहा, "हाँ, इसमें आपको पूरा संतोष दूंगा ।" पंडित जी कहने लगे, "एक तो यह कि वह हमारा तो कहना मानता नहीं । चना-चवेना खा लेता है, भरी गर्मी में भी थर्ड क्लास में सफ़र करता है । यह हमसे कैसे देखा और सहा जा सकता है ? आपका कहना मानता है तो आप उससे ज़रूर कहें । त्याग और कष्ट को मैं भी पसन्द करता हूँ, पर यह जहालत है । इससे मुझे काफ़ी दुःख होता है । दूसरे, उसके बन्दरपन की एक हरकत सुनिए—आपने सुनी भी होगी । माघ मेले पर संगम के किनारे इन्तज़ाम के लिए पुलिस ने बल्लियों से रोक लगा रखी थी; मालवीय जी ने इसका विरोध करने को सत्याग्रह की आवाज़ उठायी । बस, जवाहर भी वहाँ जा पहुँचा, और बन्दर की तरह उछल कर बल्लियों के पार संगम में कूद पड़ा । तब से मैं इन्दु से कहने लगा, तेरा बाप तो बन्दर है । इस तरह वह आव देखता है न ताव, बन्दरपन कर बैठता है । इन दो बातों के लिए आप उससे ज़रूर कहिए ।" बापू ने बहुत विश्वास के साथ उस वत्सल पिता को आश्वासन देकर विदा किया ।

शायद गोरखपुर की एक सभा का भी ज़िक्र पंडित जी ने बापू से किया था जिसमें जवाहर ने अपना अद्भुत जौहर दिखाया था । जन-हृदय पर वह कितना अधिकार कर लेते हैं, यह पंडित जी उन्हें बता रहे थे । बेटे के प्रभाव का वर्णन करते-करते पंडित जी कभी गद्गद भी हो जाते थे । उस सभा में पहले तो जवाहरलाल ने लोगों को ब्रितानी सरकार के खिलाफ़ उभाड़ा और यदि हथियार हों तो उनसे लड़कर भी इस सरकार को उखाड़ फेंकने के पक्ष में हाथ उठवा लिया; फिर तलवार और हथियार के अभाव तथा गान्धी जी की अहिंसात्मक नीति का महत्त्व समझाकर पहले मत के विरुद्ध, इस राय पर सबके हाथ उठवा लिये कि यदि तलवार हो तब भी हम उसे फेंक कर निहत्थे सत्याग्रह करके स्वराज्य पाना पसन्द करेंगे । बापू भी जवाहर की इस शक्ति पर मुग्ध हुए ।

अब न मोतीलाल जी हैं, न गान्धी जी, न सरोजिनी, न जमनालाल जी, जिनसे जवाहर को प्यार, मार्गदर्शन, नेक सलाह मिला करती थी और जवाहर जिनके कन्धों पर अपना भार बोझ डाल कर आराम कर लिया करते थे। परन्तु जवाहर की अदम्य आत्मा इससे थकी और हारी नहीं। उसने राजा जी और सरदार के रूप में इस शक्ति की आंशिक पूर्ति कर ली है। इनके बावजूद भी जवाहर अपनी जगह पर निराली आन व शान से खड़े हैं और बेदाग़ खड़े हैं। भगवान् भारत की इस शान को सौ-सौ साल बनाये रक्खे और सारी दुनियाँ को इसे अपना कहने दे।

मई १९४९

कुछ संस्मृतियाँ

श्रीप्रकाश

'जवाहरलाल नेहरू' नाम के कोई व्यक्ति हैं, इसका पता मुझे प्रथम बार जनवरी सन् १९०६ में लगा था। मेरी अवस्था उस समय सोलह वर्ष से कुछ कम की थी और मैं अपने जन्मस्थान काशी की पाठशाला में पढ़ता था। प्रयाग में कुम्भ मेला लगा हुआ था। बड़े प्राचीन काल से हर बारह वर्ष पर यह मेला होता चला आ रहा है और इस कारण जगत्-प्रसिद्ध है। उस समय काशी में श्रीमती एनी बेसेंट सेंट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना कर उसे सुदृढ़ करने में लगी हुई थीं। मेरे पिता का उनसे अत्यधिक स्नेह और सहयोग था। उनके साथ आंग्ल-देश से कई नर-नारी आकर उनके काम में सहायक थे। मिस विल्सन और मिस डेविस नाम की दो महिलाएँ उन्हीं के साथ रहती भी थीं। इन्हें एकाएक यह इच्छा हुई कि हम इस मेले को देखें। पिताजी ने मुझसे कहा कि तुम इनके साथ चले जाओ। उधर श्रीमती एनी बेसेंट ने पंडित मोतीलाल नेहरू को तार दिया कि आप इन लोगों को अपने यहाँ ठहरा लें। पंडित मोतीलाल की भी श्रीमती एनी बेसेंट से बड़ी मित्रता थी। इलाहाबाद स्टेशन पर उनके आदमी और उनकी शानदार गाड़ी हमें मिली और हम सब उनके प्रसिद्ध वासस्थान 'आनन्द भवन' गये। उस समय मैं यह नहीं सोच सकता था कि बारह वर्ष बाद मैं फिर यहाँ आऊँगा और उसके बाद सदा के लिए मैं यहाँ उसी प्रकार आ सकूँगा जैसे यह मेरा ही घर हो।

सायंकाल में हम सब पंडित मोतीलाल नेहरू से उनके गोल कमरे में मिले। श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू और उनकी बेटी स्वरूपकुमारी, जो अब विजयालक्ष्मी के नाम से प्रसिद्ध हैं, उनके साथ थीं। काशी में उसी के ठीक पहले श्री गोपाल कृष्ण गोखले के सभापतित्व में कांग्रेस का अधिवेशन हो चुका था। मैंने कांग्रेस को प्रथम बार देखा था। वार्तालाप में पंडित मोतीलालजी ने कांग्रेस में सम्मिलित अतिवादियों की भर्त्सना की। मुझे यह अच्छा नहीं लगा। मैं बाल्यावस्था से ही अतिवादी हो चुका था। पर जो अंग्रेज महिलाएँ मेरे साथ थीं, उन्होंने उनका समर्थन किया। श्रीमती स्वरूपरानी ने अपनी बेटी को मेरा परिचय देते हुए कहा—"ये तुम्हारे बड़े भाई हैं, ये जवाहरलाल के मित्र हैं।" बड़े प्रेम के साथ मातृभाव से उन्होंने यह कहा। यह उनका नैसर्गिक प्रकार सदा रहा। मैंने जवाहरलाल का नाम उस समय प्रथम बार सुना और पंडित मोतीलालजी ने हम सब से कहा कि जवाहरलाल उनके पुत्र हैं जिन्हें उन्होंने हाल में ही इँग्लेंड के प्रसिद्ध स्कूल हैरो में भरती किया है। सारा स्थान अंग्रेजी प्रकार से सुसज्जित था और मैंने प्रथम बार ऐसा मकान देखा था; क्योंकि जिन अंग्रेजों को मैं काशी में जानता था—श्रीमती एनी बेसेंट आदि—वे सब पुरातनवादी हिन्दुओं की ही तरह प्रायः रहती थीं और थियॉसॉफ़िकल सोसायटी और हिन्दू कालेज के लिए काम करती थीं। पंडित मोतीलाल जी ने हम सब को बतलाया कि वह स्वयं भी पहले थियॉसॉफ़िस्ट थे। सोसायटी की जन्मदात्री मडाम ब्लैवाट्स्की ने स्वयं उन्हें दीक्षा दी थी। मेरे साथ गयी हुई अंग्रेज महिलाओं की ही तरह वह भी निरामिषभोजी हो गये थे परन्तु स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण उन्होंने आमिष का प्रयोग फिर आरम्भ कर दिया था।

* * *

दिसम्बर सन् १९११ का महीना था। मैं उसी के पहले 'मिकेलमस' सत्र में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में भरती हो चुका था और लंडन में अपने पहले 'क्रिसमस' की छुट्टियाँ बिता रहा था। श्रीमती बेसेंट और उनके सहयोगियों ने हैम्प्स्टेड में एक मकान बना रखा था जहाँ निरामिषभोजी ठहर सकते थे। वहीं मैं भी ठहरता था। उसके पास ही प्रयाग के श्री भगवानदीन दूबे भी सपत्नीक रहते थे। दूबेजी वहाँ वकालत करते थे और दूबे दम्पती से मेरी कई स्थानों पर मुलाक़ात भी हो चुकी थी। वे भी निरामिषभोजी थे और मेरी दशा से उन्हें पूरी सहानुभूति थी। श्रीमती रामदुलारी दूबे मुझे एक दिन सड़क पर मिल गयीं और भोजन के लिए निमन्त्रित किया। किन्तु वह इसे भूल गयीं, क्योंकि जब निर्धारित समय पर मैं उनके यहाँ पहुँचा तो वे लोग भोजन कर चुके थे और आनन्द से वार्तालाप करते हुए अपने गोल कमरे में बैठे हुए

थे। मैं भी वहीं बुला लिया गया और उनसे बात करने लगा यद्यपि मुझे भूख लगी हुई थी और उस स्थिति पर मैं असमंजस में पड़ गया था।

थोड़ी ही देर बाद जवाहरलाल आ गये। वह उच्च श्रेणी के आंग्ल-देशीय सज्जनोचित वस्त्र पहने हुए थे। वस्त्र सादे थे, मँहगे थे और उनके शरीर पर उपयुक्त रूप से फबते थे। परस्पर का परिचय दिया गया। वे बराबर आग की तरफ़ अपनी पीठ किये हुए खड़े ही रहे। अँगरेज़ी घरों में आग तापने के लिए विशेष प्रकार का आयोजन रहता है और उनकी सामाजिक और कौटुम्बिक परम्परा में इसकी बड़ी महिमा है। समझा जाता है कि जब मालिक-मकान आग की तरफ़ अपनी पीठ कर खड़ा होता है तो वह अपने गौरव को विशेष रूप से प्रदर्शित करना चाहता है। उस समय के दृश्य को याद कर मुझे ऐसा मालूम होता है कि बाल्यावस्था से ही जहाँ भी जवाहरलाल जाते थे, प्रथम स्थान ग्रहण कर लेते थे। हम सबने बहुत-सी बातों की चर्चा की और मुझे आज स्मरण आता है कि 'सुख' की परिभाषा करने का भी प्रयत्न किया गया, और जब मैंने यह कहा कि 'दुख का न होना ही सुख है' तो जवाहरलाल ने उसका समर्थन करते हुए फ़्रांसीसी भाषा की एतत्सम्बन्धी उक्ति का उद्धरण किया। इतने में जैसे मेरे आप्यायन के लिए उन्होंने कहा—"मुझे भूख लगी है, क्या थोड़ा खाने को नहीं मिल सकता?" इतने पर अवश्य ही कुछ भोजन का प्रबन्ध किया गया और मेरी भी तृप्ति हुई। वहाँ से हम दोनों अर्द्ध-रात्रि के बाद निकले। यातायात का सब प्रबन्ध बन्द हो चुका था और कोई टैक्सी या किराये की गाड़ी भी नहीं दीख पड़ रही थी। मैंने जवाहरलाल से कहा—"मेरा घर तो बहुत पास ही है, पर तुम कैसे जाओगे?" उस समय भी उन्होंने वही उत्तर दिया जो ऐसी स्थिति में वह आज भी देते, क्योंकि उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है—"मेरी फ़िकर मत करो। मैं चला जाऊँगा।"

* * *

सन् १६१५ की ग्रीष्म ऋतु का समय था। युक्तप्रान्त के राजनीतिक क्षेत्र में बड़ी हलचल मची हुई थी। यह प्रायः निश्चित हो चुका था कि युक्तप्रान्त में भी 'लेफ़्टिनेंट गवर्नर' के साथ-साथ 'एक्ज़ेक्यूटिव कौंसिल' (प्रबन्ध परिषद्) का आयोजन किया जायगा और इसमें एक भारतवासी की नियुक्ति होगी। उन दिनों ऐसे स्थानों पर ऐसी नियुक्ति बहुत बड़ी बात समझी जाती थी। यह प्रायः निर्णय हो चुका था कि प्रयाग के प्रसिद्ध वकील सर सुन्दरलाल इस स्थान को पावेंगे। उन्हें सभी लोग पसन्द करते थे और हममें से अधिकतर नवयुवक उनके व्यक्तित्व को समझ ही नहीं पाते थे। इसी बीच कुछ ऐसी घटना घटी कि सारा प्रस्ताव रह गया और प्रयाग के मेयो हाल में, महमूदाबाद के महाराज के सभापतित्व में, सम्मेलन किया गया जिसमें क्रोधी राजनीतिज्ञों ने इस प्रस्ताव के कार्यान्वित न होने का घोर विरोध किया। काशी के राजनीतिज्ञों के साथ मैं भी इस सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए गया। बड़ी गर्मी पड़ रही थी और जब मैं सभा-स्थान पर पहुँचा तो मैंने देखा कि मेरे केम्ब्रिज के साथी हरकरणनाथ मिश्र और जयकरणनाथ मिश्र के साथ-साथ जवाहरलाल भी सम्मेलन के स्वयंसेवक थे और सम्मिलित प्रतिनिधियों को ठंडा पानी, शर्बत आदि स्वयं ही दौड़ दौड़ कर पहुँचा रहे थे। मेरे केम्ब्रिज जाने के एक वर्ष पहले ही जवाहरलाल वहाँ से चले गये थे और लंडन से बैरिस्टरी पास कर भारत लौट आये थे। जयकरण और हरकरण से यथोचित अभिवादन हुआ और फिर जवाहरलाल से मेरा परिचय कराया गया। उन्होंने मुझसे कहा—"अवश्य ही मेरी तुम्हारी मुलाक़ात कहीं हुई है। मुझे याद नहीं पड़ रहा है।" तब मैंने उन्हें लंडन की मुलाक़ात की याद दिलायी।

* * *

इँग्लैंड से लौटने के बाद क़रीब तीन वर्षों तक मैंने क़ानून और शिक्षा विभागों से खेल खेला। मेरे घर के कुछ लोग चाहते थे कि मैं वकालत करूँ, पर मैं इसे पसन्द नहीं करता था और शिक्षा के कार्य में प्रेम रखता हुआ भी मैं उसके सामयिक प्रकार में अपने को समाविष्ट नहीं कर सका। इसके बाद मैं पत्रकारी और राजनीति में चला गया जिसकी तरफ़ मेरा स्वाभाविक आकर्षण रहा। १६१७ के ग्रीष्म काल में जब मेरे पास कोई निश्चित काम नहीं था, मैंने 'लीडर' के सुप्रसिद्ध सम्पादक श्री सी० वाई० चिन्तामणि को लिखा कि यदि आप अनुमति दें तो मैं प्रयाग में आकर आपसे पत्रकार-कला सीखूँ। उनकी मेरे कुटुम्ब के साथ पुरानी मैत्री थी। मैंने उन्हें विश्वास दिलाया कि मैं उनके ऊपर किसी प्रकार का भार न दूंगा। अपना खर्च मैं स्वयं उठाऊँगा पर मैं कार्य करने का अवसर अवश्य खोज रहा हूँ। उन्होंने कृपा कर मुझे बुला लिया और मैं आठ महीने तक "लीडर"-कार्यालय में बड़ी प्रसन्नता से कार्य करता रहा जिसके लिए मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ। उन दिनों 'लीडर'

पत्र में मैं प्रतिदिन बहुत लिखा करता था। कितने ही सम्पादकीय लेख और पुस्तकों की आलोचना मेरी लिखी होती थी। मेरा नाम नहीं छपता था पर श्री चिन्तामणि उन लोगों में नहीं थे जो दूसरे के कार्य की अवहेलना करते हों, और उन्होंने मेरा बहुत-से लोगों से परिचय कराया जिन्हें मालूम हो गया कि इन सब लेखों का लेखक मैं हूँ। 'लीडर' के कार्यालय में उस समय बहुत-से स्थानीय प्रमुख राजनीतिज्ञ आया करते थे और पंडित मोतीलाल नेहरू, सर तेजबहादुर सप्रू आदि प्रसिद्ध वकील हाइकोर्ट के कार्य के बाद श्री चिन्तामणि से मिलने के लिए आ जाया करते थे और वहीं चाय भी पीते थे। पंडित मदन-मोहन मालवीय और श्री पुरुषोत्तमदास टंडन भी कभी-कभी आ जाते थे। जवाहरलाल तो अक्सर ही आते थे और सायंकाल में बहुत देर तक ठहर कर श्री चिन्तामणि, पंडित कृष्णाराम और मुझसे वार्तालाप किया करते थे।

उन दिनों श्रीमती एनी बेसेंट के होमरूल का बृहत् आन्दोलन हो रहा था। जब वे अपने सहायक श्री ऐरंडेल और श्री वाडिया के साथ उटकमंड में नज़रबन्द कर दी गयीं तो चारों तरफ़ बड़ा जोश फैला। सारे देश में स्थान-स्थान पर विरोध-सभाएँ हुईं और 'लीडर' में प्रायः प्रति दिन ही किसी न किसी रूप में लेख लिखा जाता था और माँग पेश की जाती थी कि उन्हें तत्काल मुक्त कर दिया जाय। उस समय पंजाब के लेफ़्टिनेंट गवर्नर सर माइकेल ओ-ड्वायर थे और भारत-विरोधी भाषणों और कार्रवाइयों के कारण बड़े कुप्रसिद्ध हो रहे थे। प्रयाग में भी पंडित मोतीलाल नेहरू के सभापतित्व में बृहत् सार्वजनिक सभा हुई। स्थानीय अधिकारी इससे काफ़ी अप्रसन्न थे और ऐसा समझा जाता था कि इसकी मनाही कर दी जायगी। जो प्रस्ताव वहाँ स्वीकृत हुआ, उसके सम्बन्ध में यह निर्णय हुआ कि इसकी एक प्रति अन्य अधिकारियों के साथ-साथ सर माइकेल ओ-ड्वायर के पास भी भेजी जाय। मुझे इसमें विशेष रस आया और मैंने श्री चिन्तामणि को घर पर पीछे एक दस रुपये का नोट दिया और प्रार्थना की कि सर माइकेल के पास जो तार भेजा जाय उसका मूल्य इन रुपयों में से दिया जाय। स्थानीय होमरूल लीग के मन्त्री जवाहरलाल थे और मुझे बिना बतलाये यह रुपया उन्हीं के पास भेज दिया गया। दूसरे दिन मुझे उनकी एक चिट्ठी मिली जिसमें इस 'दान' के लिए धन्यवाद देते हुए जवाहरलाल ने लिखा कि यदि तुम्हारी ही तरह और लोग भी 'उदार' होते तो मेरा काम बहुत सरल हो जाता। यह उनकी मेरे पास भेजी हुई पहली चिट्ठी थी। इसके बाद हम लोगों ने एक दूसरे को सहस्रों पत्र लिखे होंगे पर इसकी स्मृति विशेष प्रकार से बनी हुई है। हम दोनों ही बहुत पत्र लिखते रहते हैं और मेरे तो प्रायः सभी पत्रों का उन्होंने उत्तर दिया है, चाहे वह कितने ही व्यस्त क्यों न रहे हों। एक बार उन्होंने 'निराश' होकर परस्पर के एक मित्र से कहा कि पत्र को डाक में डालने के पहले ही श्रीप्रकाश के यहाँ से उत्तर आ जाता है। खेद है, अब मेरे लिए यह सम्भव नहीं है कि मैं सब मित्रों के पत्रों का उत्तर तत्काल दे सकूं। एक तो अवस्था अधिक हो गयी है और कार्य का भार भी बढ़ता ही जा रहा है। वास्तव में मुझे पत्र लिखने का बहुत ही शौक रहा है। पत्रों द्वारा दूसरों से सम्पर्क स्थापित किये रहने में मुझे पर्याप्त आनन्द मिलता है। मैं जब प्रयाग में था तो मेरे मित्र श्री शिवप्रसाद गुप्त वहाँ अक्सर आया करते थे। वह राजनीति में अति-वादियों से भी अधिक अतिवादी थे। उनके साथ में भी कितनी ही बार जवाहरलाल से मिलने आनन्दभवन गया।

*　　　　*　　　　*

सन् १९१७ से आज तक जो कितने ही वर्ष बीते हैं, इनमें जवाहरलाल से मेरा निकटतम सम्पर्क रहा है। यद्यपि आज मैं उनके सम्बन्ध में अपनी स्मृतियाँ लिख रहा हूँ तथापि यह उचित न होगा कि अपनी परस्पर की मैत्री की पवित्रता को मैं सबके सामने उपस्थित करूँ। मैं उन सब बातों को यहाँ नहीं बतला सकता जो मैंने उनसे की हैं और जिनमें उन्होंने व्यक्तिगत, कौटुम्बिक अथवा आर्थिक मामलों में मुझे अपना विश्वास दिया है। मेरे उनके झगड़े भी बार-बार हुए हैं। उनकी उदारता की मैं प्रशंसा करूँगा, क्योंकि उन्होंने झगड़ों को कभी अधिक बढ़ने नहीं दिया और बड़े सुन्दर और स्नेहपूर्ण प्रकार से उसे शीघ्र ही समाप्त कर दिया। परन्तु यह आश्चर्य की बात रही है कि जब कभी उन्हें किसी कारण किसी विशेष कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति मिलने में कठिनाई हुई है तो वह मुझे निमन्त्रित करते रहे हैं। मुझे इसके कारण असमंजस में भी पड़ना पड़ा है पर मैं कदापि उनसे 'नहीं' न कह सका। उन्होंने जैसे मुझे सदा अपने कार्य के लिए सुरक्षित रखा। यह मेरे लिए सराहना की बात हो सकती है पर इस स्थिति से मुझे सन्तोष नहीं हुआ, क्योंकि मुझे कभी भी यह नहीं मालूम हो सकता था कि कब और कैसे काम के लिए मैं आमन्त्रित किया जाऊँगा और कब पूर्व निर्धारित मेरा सब कार्यक्रम अस्त-व्यस्त हो जायगा।

*　　　　*　　　　*

दिसम्बर सन् १९२२ में गया में जो काँग्रेस का अधिवेशन देशबन्धु चित्तरंजन दास के सभापतित्व में हुआ था उसमें बड़ा तूफ़ान मचा। व्यवस्थापक सभा में जाने न जाने के पक्ष में नेताओं में घोर मतभेद था। यहाँ पर श्री राजगोपालाचारी अपनी मानसिक विलक्षण स्फूर्ति के कारण बराबर जीतते ही चले गये। सर्वसाधारण उनके ही साथ हो गया। काँग्रेस के बाद सर्वभारतीय काँग्रेस कमेटी के अधिवेशन बहुत जल्दी-जल्दी होने लगे। असन्तुष्ट सदस्यगण एक अधिवेशन के निर्णयों पर पुनर्विचार करने और उन्हें रद्द कराने की ही इच्छा से ये अधिवेशन कराते थे। गया में श्री राजेन्द्रप्रसाद काँग्रेस के प्रधान मन्त्री निर्वाचित हुए। इसके बाद अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी का जो अधिवेशन बम्बई में हुआ उसमें बड़ी कटुता थी। श्री राजेन्द्रप्रसाद ने इस्तीफ़ा दे दिया। मैं सरदारगृह होटल में अन्य प्रतिनिधियों के साथ ठहरा हुआ था। राजेन्द्रप्रसाद जी पीछे वहाँ आये और कहने लगे कि ज़िम्मेदारी से मुक्त होकर मुझे बड़ा सन्तोष हो रहा है। जवाहरलाल प्रधान मन्त्री नियुक्त हुए। वह गया में नहीं थे। जेल से वह पीछे छोड़े गये थे। थोड़े ही दिनों बाद सदस्यों के आग्रह के कारण नागपुर में अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी का अधिवेशन फिर निमन्त्रित हुआ। बड़े जोश के वातावरण में कार्य होता रहा और हम सदस्यगण सभा-स्थान में ही रात-रात भर बैठे रह जाते थे जिसमें यदि असमय पर एकाएक मत लिया जाय तो भी हम अपना मत देने के लिए तैयार रहें। इस अधिवेशन में जवाहरलाल ने इस्तीफ़ा दे दिया और मुझे स्मरण है कि दुःखभरे शब्दों में उन्होंने कहा—"अच्छा होता यदि हम लोग एक दूसरे का हृदय बार-बार इस प्रकार से बिना कुछ सोचे समझे न तोड़ते रहते"।

वे स्वयं घोर से घोर विरोध और संग्राम के समय आर्योचित सद्भाव रखते हैं और यद्यपि उनकी आतुरता अथवा अविवेक के कारण कभी-कभी दूसरों को बुरा लग जाता है पर यह कोई नहीं कह सकता कि ऐसे किसी व्यक्ति का हृदय वह जानबूझ कर दुखी करते हैं जो सच्ची लोकसेवा में लगा हुआ है। वह हमारे देश के उन थोड़े-से प्रमुख लोगों में हैं जो नवयुवकों को कार्य सीखने में सदा उत्साहित करते रहते हैं, जो सार्वजनिक जीवन में इनकी उन्नति में और अपने कार्य-क्षेत्र को विस्तृत बनाने में सहायक होते हैं। मेरे परिचय के लोगों में वह उन बहुत ही थोड़े लोगों में हैं जो दूसरों के पीठ पीछे उनकी बुराई अथवा उनपर आक्षेप करते रहने का अभ्यास नहीं रखते। इन तीस वर्षों से अधिक के निकट सम्पर्क में मैंने उन्हें दूसरों की निन्दा करते नहीं सुना। कभी-कभी वह मज़ाक़ में अथवा झुँझलाकर दूसरों पर कुछ व्यंग्य अथवा आक्षेप के शब्द कह देते हों, पर वह इनका यही रूप देते हैं कि अमुक व्यक्ति ग़लत मार्ग पर जा रहा है या ठीक प्रकार से विचार नहीं कर रहा है या स्थिति को नहीं समझ रहा है। साथ ही साथ वह सदा इस पर दुःख भी प्रकट करते हैं कि ऐसा सच्चा और योग्य व्यक्ति क्यों इतना अदूरदर्शी हो रहा है, क्यों ग़लत मार्ग पर चल रहा है। विरोध करते हुए भी वे किसी की नीयत पर आक्षेप नहीं करते।

*　　　*　　　*

सन् १९२८ में वे युक्तप्रान्त की प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी के अध्यक्ष हुए। अधिवेशन लखनऊ में हुआ था और मैं उसमें उपस्थित नहीं था। लखनऊ से प्रयाग लौटते हुए उन्होंने रेल पर से मुझे चिट्ठी लिखी कि तुम कमेटी के प्रधान मन्त्री बनाये गये हो और यद्यपि मैं जानता हूँ कि तुम इस काम को पसन्द न करोगे तथापि मैं आशा करता हूँ कि तुम 'नहीं' न कहोगे। मैं तुम्हें 'नहीं' कहने भी न दूँगा। आखिर मैं 'नहीं' कहता ही कैसे, पर उनकी अनुमति से मैं प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी का दफ़्तर, जो उस समय बहुत ही अस्त-व्यस्त हो गया था, प्रयाग से काशी लाया। उसे ठीक करने में मुझे भारी परिश्रम करना पड़ा। जवाहरलाल कोई विश्राम-प्रिय अध्यक्ष नहीं थे। चिट्ठी, तार और टेलीफ़ोन द्वारा उनका मेरा प्रतिदिन सम्बन्ध रहता था और मुझे उनसे हर बात में हर समय सहायता मिलती थी।

सन् १९२९ में प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन का अधिवेशन फ़र्रुखाबाद में हुआ। गणेशशंकर विद्यार्थी इसके सभापति थे। हम सब वहाँ से लौट रहे थे। रास्ते में रेल बदलने के लिए चन्द घंटों के लिए कानपुर ठहरे। स्टेशन से हम सीधे गणेशशंकर के यहाँ गये। गणेशशंकर एक महान् और विशेष नररूप में विभूति थे। जब उनकी नगरी कानपुर में सन् १९३१ में भयंकर साम्प्रदायिक दंगे हो रहे थे उस समय अपने हृदय में उच्चतम आदर्श रखते हुए उन्होंने घोर विप्लव के बीच में अपने को फेंक दिया और अपने प्राणों की आहुति दे दी। उस समय कराची में काँग्रेस का अधिवेशन हो रहा था और उसी समय वह जेल से छोड़े गये थे। वह प्रसिद्ध पत्रकार थे, ज्वलन्त देशभक्त थे और उनकी, मेरी समझ में, जो सबसे बड़ी विशेषता थी वह यह थी कि वह कुशल कार्य-कर्ताओं के निर्माता थे। हमारे प्रान्त का यह दुर्भाग्य है

कि उनकी सच्चाई ने उन्हें वीरोचित पर असामयिक मृत्यु दी। आज की विषम स्थिति में वह सच्चे पथ-प्रदर्शक और सहायक होते। वह हमारे लिए बड़ा भारी उदाहरण छोड़ गये हैं यदि हम उसका अनुसरण कर सकें।

जब हम उनके छापेखाने में पहुँचे, जहाँ वह रहते भी थे तो हमने देखा कि उनके दफ़्तर का टेबुल बिलकुल अस्तव्यस्त पड़ा हुआ है, उस पर धूल लदी है और सब पत्रादि बिखरे हुए हैं। जब गणेश जी अपने अतिथियों के प्रबन्ध के लिए भीतर गये तब जवाहरलाल ने टेबुल के पास जाकर उसे साफ़ किया और सब वस्तुओं को ठीक प्रकार से सुसज्जित किया। जब गणेश जी लौटे तो अवश्य ही वह असमंजस में पड़े और चिरपरिचित प्रकार से क्षमा-याचना करने लगे। उन्होंने अपनी और अपने सहायकों की लापरवाही की भी भर्त्सना की, जिसके कारण उनके दफ़्तर की ऐसी दुर्दशा रहती थी। जवाहरलाल स्वयं बड़े साफ़-सुथरे पुरुष हैं और यद्यपि उनके रहन-सहन में व्यय बहुत होता होगा, पर वे स्वयं बहुत सीधे-सादे पुरुष हैं। किसी भी प्रकार की अव्यवस्थितता अथवा मलिनता उन्हें मार्मिक कष्ट देती है। स्वयं स्वच्छ और सुव्यवस्थित होते हुए उन्हें ऐसा विश्वास है कि मुझे भी उन्हीं की तरह सब वस्तुओं को निश्चित स्थान पर रखने का अभ्यास है, जो विचार ठीक नहीं है।

जो कुछ हो, वह यह अवश्य जानते हैं कि किस स्थान पर मैं अपना कई फल का चाक़ू रखता हूँ, क्योंकि आज कितने ही वर्षों से वह मेरी 'वास्कट' की बायीं तरफ़ की नीचे की जेब में पड़ा रहा है। अंग्रेज़ी 'वास्कट' का थोड़ा रूपान्तर कर जवाहरलाल ने इस नये वस्त्र का प्रचार किया था और इसे "जवाहर बंडी" के नाम से सभी दर्ज़ी जानते हैं। उनकी ही नक़ल करते हुए हम सभी उसे अपने कुर्ते के ऊपर पहनते हैं। मैंने कितनी ही बार कांग्रेस समितियों के अधिवेशनों में देखा है कि जब उन्हें छुरी की आवश्यकता हुई है वह धीरे से मेरे पीछे आकर उसी जेब में हाथ डाल कर इस छुरी को निकाल लेते थे। उन्हें वह सदा मिल भी जाती थी। वह स्वयं सब काम उचित प्रकार से, सावधानी के साथ और ठीक समय से करते हैं और यद्यपि वह दूसरों की कमजोरियों को तरह देते हैं, वह पसन्द यही करते हैं कि सब लोग उन्हीं की तरह सुव्यवस्थित रूप से कार्य करें। वह दयालु और स्नेही पुरुष हैं और मित्रता अच्छी तरह निबाहते हैं। आज वह संसार की इनी-गिनी विशिष्ट विभूतियों में हैं पर चाहे भीड़ में हों, चाहे किसी बड़े ज़ाब्ते के शानदार भवन में हों, वह मित्र को मित्र के ही रूप में पहचानते हैं और अपने भाव को प्रदर्शित करने में उन्हें न संकोच होता है, न असमंजस।

* * *

अक्टूबर सन् १९२९ में जब महात्मा गान्धी युक्तप्रान्त में कड़ा दौरा कर रहे थे, हम सब लोगों ने यह उचित समझा कि मसूरी में उन्हें एक सप्ताह का विश्राम दिया जाय, यद्यपि उनके जीवन में वैसे विश्राम का कोई स्थान नहीं था जिसे हम विश्राम समझते हैं। मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि महात्माजी की कार्य-प्रणाली का यह अंग था कि जब कभी वह कोई आन्दोलन आरम्भ करना चाहते थे तो अपने प्रति जन-साधारण के भाव को परखने के लिए देश का विस्तृत दौरा करते थे। उन्होंने ऐसा ही सन् १९२०-२१ में किया था और फिर १९२९-३० में किया। सन् १९२१ में अंग्रेज़ राजकुमार के बहिष्कार और १९३० में नमक सत्याग्रह की कथा हमें याद है। सन् १९२४ में भी जेल से लौट कर उन्होंने थोड़ा-बहुत दौरा किया था। वह काशी भी आये थे। पर लोगों की तरफ़ से उन्हें पर्याप्त समर्थन नहीं मिला। सम्भव है कि वह किसी बृहत् आन्दोलन का विचार उस समय भी कर रहे थे, पर उन्होंने किसी आन्दोलन का उस समय आरम्भ नहीं किया। हो सकता है, जन साधारण से समर्थन न पाकर उन्होंने विचार छोड़ दिया हो। सम्भव यह भी है कि मैं वस्तुस्थिति का ठीक निदर्शन नहीं कर रहा हूँ।

मसूरी में जवाहरलाल और मैं होटल के एक ही कमरे में ठहरे थे। मुझे सिर के दर्द की शिकायत छोटी अवस्था से है और एक रात्रि को—दस बजे से कम का समय न रहा होगा—मैं बड़ी पीड़ा में अपने बिस्तर पर करवटें ले रहा था और मेरा नौकर नागेश्वरसिंह मेरे सिर को दबाने का प्रयत्न कर रहा था। इतने में जवाहरलाल कमरे में आये और इस अवस्था में मुझे देख कर फ़ौरन ही बाहर चले गये और थोड़ी देर बाद 'वेरामन' नाम की औषधि की एक शीशी लेकर लौटे। दूकान से उसे लाने के लिए उस ठंडी रात में वह अवश्य ही तीन मील चले होंगे। जो लोग उन्हें जानते हैं वे यह भी जानते हैं कि वह अपने पास के लोगों का कितना विचार रखते हैं चाहे वह घर पर हों, जेल में हों, सभा में हों या रेल में सफ़र करते हों। मैंने इसके पहले 'वेरामन' का नाम भी नहीं सुना था, यद्यपि सिर का दर्द मुझे कितने ही वर्षों से होता था। सन् १९११ में उसके दौरे की मुझे पहली याद आती है। इस 'वेरामन' से मुझे थोड़ी ही देर में शान्ति मिली और तब से

वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक, १९३७
खान अब्दुल गफ़्फ़ार, जमनालाल बजाज और जवाहरलाल नेहरू

मथुरा के प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन में जवाहरलाल नेहरू और नरेन्द्रदेव का सम्मान, १९३६

कांग्रेस स्वयंसेवक सम्मिलन, कानपुर १९४०
स्वयंसेवक की वर्दी पहने जवाहरलाल जी का जुलूस निकाला जा रहा है

त्रिपुरी कांग्रेस के शिविर में, १९३९
दाहिनो ओर सेठ गोविन्ददास, पं० जवाहरलाल नेहरू, श्री श्रीनिवास आयङ्गर

मैंने सदा उसे अपने पास रखा है। आज भी मेरा नौकर, जो अब भी मेरे साथ है, इस दवा को मेरे बेग में बराबर रख देता है चाहे मैं बहुत छोटे ही सफर पर क्यों न जाऊँ। बीस वर्षों से लगातार मुझे इससे आराम पहुँचा है और इससे मेरा परिचय कराने के लिए मैं जवाहरलाल का चिरऋणी हूँ।

* * *

पहली जनवरी सन् १९३० का प्रातःकाल था। पिछली मध्यरात्रि के ठीक पल पर जवाहरलाल के सभापतित्व में लाहौर की काँग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव स्वीकार किया था। बाक़ी रात बड़े जोश और प्रदर्शन में बीती थी। उस समय किसी को यह स्वप्न में भी विचार नहीं आ सकता था कि जिस स्थान पर पूर्ण स्वतन्त्रता की पवित्र प्रतिज्ञा की गयी है, वह अठारह वर्ष पीछे भारत का भाग ही न रह जायगा। उसी स्थान पर जो कुछ मैंने अगस्त और सितम्बर सन् १९४७ में देखा, वह मैं कभी भी नहीं भूल सकता। भारत का विभाजन कर उसके एक खंड में जो पाकिस्तान का नव-निर्मित स्वतन्त्र राज स्थापित हुआ उसमें मैं उस समय 'हाइ कमिश्नर' (राजदूत) का काम कर रहा था। सन् १९२९ के दिसम्बर के काँग्रेस के अधिवेशन के जोश और दृश्य का रूप अवश्य ही कुछ दूसरा ही था। मैं आराम के साथ उस दिन प्रातःकाल हजामत बना रहा था और मैंने यह विचार कर रखा था कि कुछ मित्रों से लाहौर के शहर में मिल कर बनारस वापस चला जाऊँगा। इतने में अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के एक सहायक एकाएक मेरे तम्बू में आये और उन्होंने मुझसे कहा—"चलिये, जवाहरलाल बुलाते हैं।" मैंने उत्तर दिया—"कृपाकर उनसे कह दीजिये कि मुझे दूसरी जगह जाना है और मैं उनसे फिर मिल लूंगा।" सन्देशवाहक ने कहा—"सब लोग आपके लिए ठहरे हैं। चलिये, जल्दी चलिये।" मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और जब मैं महात्मा गान्धी के तम्बू में पहुँचा तो मैंने देखा कि कार्य समिति बैठी हुई है और हर प्रकार से, मेरे विरोध करते हुए भी, मैं भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के प्रधान मन्त्री के स्थान पर ज़बरदस्ती बैठा ही दिया गया। सभापति को अपने प्रधान मन्त्री के चुनने का अधिकार रहता है और जवाहरलाल ने मुझे चुना। जब से वह युक्तप्रान्तीय काँग्रेस कमेटी के अध्यक्ष हुए थे, मैं उसका प्रधान मन्त्री था। सम्भव है, उन्होंने समझा हो कि सर्वभारतीय क्षेत्र में भी मैं अच्छी तरह काम कर सकूँगा पर वास्तव में मैं अधिक न कर सका।

वे दिन अत्यधिक कठिनाइयों के थे। नमक-सत्याग्रह शीघ्र ही आरम्भ हुआ और संघर्ष किसी न किसी रूप में कई वर्षों तक चलता रहा। काँग्रेस के प्रधान मन्त्री की हैसियत से सन् १९३१ के आरम्भ में मैं दिल्ली में मौजूद था जब महात्मा गान्धी और वायसराय लार्ड अरविन में समझौते की बातचीत हो रही थी। अर्द्धरात्रि के वे दृश्य मुझे याद हैं जब वार्तालाप के रुख के विवरण को महात्मा जी से सुनकर जवाहरलाल दुःखी होते थे। पंडित मोतीलाल का देहावसान कुछ ही दिन पहले हुआ था और वातावरण में शोक फैला हुआ था। एक अवसर पर तो जवाहरलाल की आँखों में आँसू आ गये जब उनका यह विचार हुआ कि समझौते की बातचीत हमें पथभ्रष्ट कर रही है और वह स्वयं एकाकी-से हो गये हैं। महात्माजी ने बड़े प्रेम से उनका आप्यायन किया और विश्वास दिलाया कि सब ठीक हो जायगा। जब अन्तिम निर्णय हो गया तब उसे श्रद्धा से स्वीकार करने में और उसके उद्देश्यों के पालन में उन्होंने जितनी तत्परता दिखलायी उतनी किसी ने न दिखलायी होगी, यद्यपि जवाहरलाल पहले उसका विरोध कर रहे थे और दूसरे उसके समर्थक थे। कराची में उसके बाद ही सरदार वल्लभभाई पटेल की अध्यक्षता में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ और उसकी समाप्ति पर श्री जयरामदास दौलतराम को प्रधान मन्त्री का कार्य सुपुर्द कर मैं घर वापस आया।

मेरी अनुपस्थिति में जवाहरलाल ने मुझे 'मौलिक अधिकार समिति' का संयोजक बनाया। उसके कार्य की भी मुझे बहुत-सी स्मृतियाँ हैं और आज की स्थिति में उन दिनों के अपने कार्य और अपने सहयोगियों के भाव को स्मरण कर हँसी भी आती है। आज कराची भी भारत में नहीं है और भारत के राजदूत की हैसियत से मुझे वहाँ क़रीब डेढ़ वर्ष रहना पड़ा। अपने दूतावास के आसपास उस स्थान पर मैं अक्सर घूमा करता था जहाँ १९३१ की काँग्रेस हुई थी, जहाँ महात्मा गान्धी की कुटिया का स्मारक चिह्न अब भी मौजूद है, और जहाँ कितने ही छोटे-बड़े सुन्दर भवन बन गये हैं। जिन्होंने इन्हें अपने लिए बनाया वे वहाँ से निष्कासित हो चुके हैं और जिन्हीं लोगों ने आधुनिक कराची का निर्माण किया है और सामाजिक और आर्थिक जगत् में उसे विशेष पद प्रदान किया है, वे ही वहाँ आज अपरिचित और बाहरी हो गये हैं। संसार में मनुष्य बहुत-सी दुःखद घटनाओं को देखता है पर भारत के विभाजन की दुर्घटना ऐसी संकटाकीर्ण है जो कोई भी देखना नहीं चाहेगा। स्वतन्त्रता के आन्दोलन में कराची और लाहौर दोनों का ही बहुत बड़ा भाग रहा है और

कांग्रेसजन की हैसियत से मेरा भी इन नगरों से सम्बन्ध रहा है। भारत का राजदूत होकर, उन्हें विदेश मानकर, वहाँ रहते हुए मेरा हृदय खंड-खंड होता रहा।

*　　　*　　　*

दिसम्बर सन् १९३१ में युक्तप्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन इटावा में होनेवाला था। मैं उसका निर्वाचित सभापति था। प्रान्तीय समिति के अध्यक्ष उस समय तसद्दुक शेरवानी थे। प्रान्तीय गवर्नमेंट के तार आये कि विशेष शर्तों पर ही सम्मेलन होने पावेगा। कितनी ही महत्त्वपूर्ण बैठकों के केन्द्र, चिरपरिचित, आनन्द भवन में स्थिति पर विचार करने के लिए प्रान्तीय समिति की कार्यकारिणी की बैठक हुई। जवाहरलाल उस समय बंबई में थे। इस बैठक में सम्मिलित होने के लिए वह विशेष प्रकार से आ रहे थे और फ़ौरन ही लौटकर बम्बई में गोलमेज़ कान्फ़रेंस से लौटने पर महात्मा जी से भेंट करनेवाले थे। जैसा कि ऐसे समय अनिवार्य है, हमारी कार्य-कारिणी में मतभेद था कि गवर्नमेंट के भाव को देखते हुए सम्मेलन होना चाहिए कि नहीं। तसद्दुक शेरवानी ने कहा—"श्रीप्रकाश पर निर्णय छोड़ दिया जाय, क्योंकि वे ही सभापति होनेवाले हैं।" मैंने कहा कि "मैं कदापि अपने ऊपर निर्णय छोड़ने न दूँगा। मैं इटावा में जेल जाने को तैयार होकर आया हूँ। एक महीने में मेरी कन्या का विवाह होनेवाला है। उसके लिए मैं सब प्रबन्ध करके आया हूँ। मुझे आशा है कि सब काम ठीक तरह हो जायगा। पर यदि आप निर्णय मेरे ऊपर छोड़ेंगे तो, मनुष्य के नाते, सम्भव है मेरी राय पर व्यक्तिगत भावों और आवश्यकताओं का प्रभाव पड़े। निर्णय आप स्वयं कीजिये। जो कुछ निर्णय होगा, मैं आप के साथ हूँ।" मेरी समझ में मैंने कोई ऐसी बात नहीं की जो विशेष प्रशंसा के योग्य हो पर पीछे एक सदस्य ने मेरी बड़ी सराहना की और कहा कि मैंने किसी सार्वजनिक पुरुष को ऐसी स्थिति में ऐसी सफ़ाई से बात करते नहीं सुना था। अवश्य ही मेरे हृदय को इससे सन्तोष हुआ पर मैं अपने को ऐसी बड़ाई के योग्य नहीं समझता। दूसरे दिन प्रातःकाल जवाहरलाल आ गये। उन दिनों बम्बई से प्रयाग आनेवाले यात्रियों को छिउकी स्टेशन पर रेल बदलनी पड़ती थी। अर्द्धरात्रि पर जब रेल से जवाहरलाल उतर ही रहे थे और उनका एक पैर अभी गाड़ी के भीतर ही था, उनको जिला मजिस्ट्रेट का आज्ञापत्र दिया गया कि आप अमुक समय तक प्रयाग के बाहर नहीं जा सकते। ऐसी ही सूचना तसद्दुक शेरवानी को भी दी गयी।

मुझे नहीं मालूम कि पहले दिन की कार्रवाई की कोई सूचना जवाहरलाल को दी गयी थी या नहीं, पर जब प्रबन्ध-कारिणी की फिर बैठक हुई और युक्तप्रान्त की गवर्नमेंट का तार फिर पढ़ा गया तो जवाहरलाल ने कहा कि इस स्थिति में मेरी राय है कि सम्मेलन नहीं होना चाहिए। प्रबन्ध-कारिणी ने भी तब तदनुसार ही निर्णय किया। मेरे हृदय को सन्तोष नहीं हुआ, क्योंकि मुझे ऐसा ही प्रतीत हुआ कि सम्भवतः मेरी व्यक्तिगत सुविधा के लिए ऐसा किया जा रहा है। मैं विचार तो यही करना चाहता हूँ कि सम्मेलन स्थगित इसी कारण किया गया कि महात्मा जी की राय मालूम हो जाय, क्योंकि सर्वभारतीय नेताओं के कार्यक्रम को प्रान्तीय सम्मेलन पहले से नहीं जान सकता था और जब तक केन्द्र से कोई आदेश नहीं मिलता तब तक उस विशेष स्थिति में इटावा-सम्मेलन के सामने कोई कार्य भी नहीं था। अवश्य ही मेरे असमंजस को देखकर जवाहरलाल ने मुझे सहायता देकर स्वागत समिति को पत्र लिखवाया जिसमें दिये हुए सम्मान के लिए मैंने उन्हें धन्यवाद दिया, स्थिति बतलायी और यह आशा प्रकट की कि आगे चलकर सम्मेलन समुचित वातावरण में हो सकेगा। उस समय सम्मेलन को न करने का दुःख बहुतों के हृदयों में रहा। आगे चलकर दिसम्बर सन् १९३४ में यह सम्मेलन आखिर हुआ जिसका मैं अध्यक्ष रहा पर जवाहरलाल उस समय भी जेल में ही थे।

प्रयाग की इस बैठक की एक बात मुझे बहुत अच्छी तरह याद है। जवाहरलाल ने इलाहाबाद के ज़िला मजिस्ट्रेट को, उनकी सूचना के उत्तर में, बहुत ही क्रोध-पूर्ण पत्र लिखा था। उत्तर में जवाहरलाल ने अधिकारियों को सूचना दी कि मैं आज ही रात को महात्माजी के स्वागतार्थ बम्बई जा रहा हूँ और मुझे आपकी निषेधाज्ञा की कोई परवाह नहीं है। उन्हें विशेष कर इस बात पर रोष हुआ कि उनके नाम के हिज्जे ठीक तरह नहीं किये गये थे। उनको इसका बड़ा आग्रह है कि मेरे नाम के हिज्जे सदा ठीक तरह किये जायँ। वह अपना नाम 'जवाहर' लिखते हैं यद्यपि 'जवाहिर' ही शुद्ध है, और वह यह भी चाहते हैं कि 'लाल' शब्द 'जवाहर' से पृथक् कर न लिखा जाय पर उससे संयुक्त कर ही लिखा जाय यद्यपि इस प्रकार उसे पृथक् करने में कोई दोष नहीं समझा जा सकता। तथापि वह यही चाहते हैं कि उनका नाम उसी प्रकार लिखा जाय जैसा वह स्वयं लिखते हैं। इसके लिए उन्हें कोई दोष भी नहीं दे सकता। ज़िला मजिस्ट्रेट ने उनका नाम ठीक

तरह नहीं लिखा था और इस कारण उन्हें काफ़ी फटकार सुननी पड़ी और उनसे यह भी कह दिया गया कि ऐसी ग़लती फिर नहीं होनी चाहिए। प्रबन्ध-कारिणी समिति की अनुमति के लिए उसे उन्होंने पत्र सुनाया। उसकी तीव्र भाषा से किसी को भी सन्तोष नहीं हुआ, पर जवाहरलाल अपनी भाषा में किसी को अन्तर भी नहीं करने देते। मैंने उनसे कहा कि यदि यह पत्र अभी भेजा जाता है तो आप आज रात्रि को तो बम्बई नहीं ही जा सकेंगे। पर उनके हृदय में कोई शंका नहीं थी और उन्होंने यही उत्तर दिया कि मैं अवश्य जाऊँगा और मुझे कोई भी नहीं रोक सकेगा। बात यहाँ समाप्त हुई। मुझे यह निश्चय था कि वे नहीं जा सकेंगे। उन्हें भी निश्चय था कि वे अवश्य जा सकेंगे और मुझसे उन्होंने चलते समय यही कहा--"तुम देखना, मैं अवश्य जा सकूँगा"। खेद है कि मेरा ही अनुमान ठीक निकला और छिउकी से चलने के थोड़ी ही दूर बाद इलाहाबाद ज़िला की सीमा पर गाड़ी रोकी गयी और शेरवानी और वह गिरफ़्तार कर वापस इलाहाबाद लाये गये और राजाज्ञा भंग करने का मुक़दमा उन पर चलाया गया। अदालत में उनका पत्र पेश किया गया और उन्हें दो वर्ष का और शेरवानी को छः महीने कारावास का दंड दिया गया। मजिस्ट्रेट ने अपनी तजवीज़ में पत्र की भाषा के अनौचित्य की चर्चा की और बेचारे शेरवानी ने खेद से कहा--"क्या इन तजवीज़ों में भी साम्प्रदायिक आधार पर विवेक किया जाता है, जिससे मुझे केवल छः महीने का दंड दिया जा रहा है और मेरे साथी को दो वर्ष का ?"

* * *

मेरे बहुत-से मित्रों का ऐसा विचार है कि मैं समय का बहुत पाबन्द हूँ और अवश्य ही बहुतों को ऐसा भी विचार होता होगा कि मैं व्यर्थ उन्हें कष्ट देता हूँ, पर वास्तव में उन्हें ऐसा विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि मैं इतना 'ख़राब' नहीं हूँ। जवाहरलाल को भी ऐसा ख़्याल है कि समय की पाबन्दी मेरा विशेष ख़ब्त है। दो बार एक-सी ही घटना घटी--एक बार प्रयाग में और एक बार नयी दिल्ली में जब अपने प्रधान मन्त्रित्व के प्राथमिक दिनों में वह १७ यार्क रोड पर रहते थे। दोनों ही समय अपने गोल कमरे से उन्होंने देखा कि मैं निर्धारित समय से एक मिनट पहले बरसाती में उतर रहा हूँ। उन्होंने ज़ोर से पुकारा--'देखो प्रकाश, तुम बिलकुल ही समय की पाबन्दी नहीं करते। समय से एक मिनट पहले पहुँचे हो।" मैंने भी उतने ही ज़ोर से उत्तर दिया--"तुम्हारे पास तक पहुँचने में ठीक एक मिनट लगेगा।" एक बार आनन्द भवन में अपने कमरे से वह बड़े ज़ोर से दौड़े और अपनी आँखों को अपनी कलाई की घड़ी पर गड़ाये हुए उन्होंने कहा, जैसे ही मैं गाड़ी से उतर रहा था--"देखो, तुम दो मिनट देर कर पहुँचे हो।" घड़ियों को मिलाने पर पता लगा कि उनकी ही घड़ी दो मिनट तेज़ थी।

एक अवसर पर जब वह बनारस आये और मेरे यहाँ ही ठहरने वाले थे, उनकी गाड़ी निर्धारित समय से पाँच मिनट पहले ही पहुँच गयी और जब मैं उन्हें लेने के लिए स्टेशन की ढाल पर चढ़ रहा था तो मुझे उनको उधर से आते हुए देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने अपनी घड़ी देखी तब वह हँस पड़े और जो मित्रगण उनके साथ थे और जो उनके स्वागत के लिए पहले से गये हुए थे, उनसे वे कहने लगे--"देखो, ये घड़ी देख रहे हैं।" मुझसे उन्होंने पुकार कर कहा--"चिन्ता मत करो, रेल ही समय से पहले आ गयी।" मेरे मित्रों को मेरे देर कर आने पर अवश्य ही मज़ा आ रहा था। उनकी इच्छा यही थी कि मुझे यह न बतलाया जाय कि रेल समय से पहले आ गयी जिससे कि मेरी या मेरी घड़ी की 'बदनामी' हो। जवाहरलाल ने स्वयं ही मेरी 'इज़्ज़त' की रक्षा की।

* * *

सन् १९३६ के आरम्भ के दिन थे। जवाहरलाल थोड़े ही दिन पहले यूरोप से लौटे थे। अपनी स्त्री की अन्तिम बीमारी में उनकी चिकित्सा और शुश्रूषा के लिए वे वहाँ गये थे। गवर्नमेंट ने उन्हें वहाँ इस विषम स्थिति में जाने के लिए जेल से मुक्त कर दिया था। इस समय की रोग-शय्या को कमलाजी ने अपने शरीर को त्याग कर ही छोड़ा। जब वह अपने घर से अन्तिम बार विदेश के लिए चली थीं और उपयुक्त चिकित्सा करा कर रोग से उनके मुक्त होने की सब को ही आशा थी, उस समय प्रयाग के स्टेशन पर उन्हें बिदा करने के लिए मैं भी मौजूद था। जवाहरलाल स्वयं उस समय भी जेल में ही थे। सन् १९३६ में लखनऊ में कांग्रेस का जो अधिवेशन होने वाला था, उसके अध्यक्ष जवाहरलाल ही निर्वाचित किये गये थे। स्थानीय राजनीतिक व्यक्तियों में घोर संघर्ष चल रहा था। दलबन्दी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी। हमारे प्रान्त की इज़्ज़त जैसे लुप्त ही होने वाली थी और जवाहरलाल को स्वयं युक्तप्रान्त की ख्याति और नेकनामी का बहुत ख़्याल रहता है। कश्मीर से भी अधिक युक्तप्रान्त से उन्हें प्रेम है। स्वागतकारिणी समिति के एक अधिवेशन का सभापति मैं हो चुका था जब पदाधिकारी चुने जाने वाले थे। ऐसी तूफ़ानी सभा के संचालन का कार्य

मुझे पहले कभी नहीं करना पड़ा था। बड़े क्रोध और आवेश में सभा भंग हुई। मत लेना असम्भव हो गया। वोट के परचे और बक्स सब तितर-बितर हो गये।

चारों तरफ़ ग्लानि फैली थी और सब को ही यह चिन्ता थी कि क्या होने वाला है। अधिवेशन के दिन शीघ्रता से निकट आने लगे। उस समय केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा की बैठकें हो रही थीं। उसके सदस्य के नाते मैं दिल्ली में ही था। जवाहरलाल किसी कार्य के सम्बन्ध में दिल्ली आये और मुझसे भी मिलने आये। उनके पत्नी-वियोग के बाद यह मेरी उनसे पहली मुलाक़ात थी और मेरा हृदय अवश्य ही दुःखी था। पर इसकी चर्चा उन्होंने मुझे नहीं करने दी और मुझसे तत्काल कहा कि लखनऊ कांग्रेस की स्वागतकारिणी समिति का तुम्हें अध्यक्ष होना होगा। जब मैंने उन्हें स्थिति की कठिनाइयाँ बतलायीं और कहा कि विरोधी लोगों के नियन्त्रण की शक्ति मुझमें नहीं है, तो उन्होंने कुछ नहीं सुना और यद्यपि लखनऊ के कार्य में मैं बहुत ही कम समय दे सकता था तथापि कांग्रेस की स्वागतकारिणी का अध्यक्ष मैं हो ही गया और दिल्ली और लखनऊ के बीच लगातार आता जाता रहा जब तक कि कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त नहीं हो गया। उसकी भीतर की कहानी न कहना ही अच्छा होगा और यह सन्तोष का विषय है कि किसी न किसी तरह सब कार्य हो ही गया। साधारण प्रकार से अधिवेशन सफल ही रहा। सब प्रतिनिधगण और अन्य आगन्तुक लोग हमारी कठिनाइयों को जानते थे और इस कारण उन्होंने अपनी-अपनी फ़िक्र स्वयं ही कर ली।

यद्यपि इतने भीषण दुःख और वियोग का सामना जवाहरलाल उस समय कर रहे थे, उन्होंने अपने व्यक्तिगत कष्टों का प्रभाव किंचित् भी अपने ऊपर नहीं पड़ने दिया और देश के कार्य में इस प्रकार लग गये जैसे कुछ हुआ ही नहीं। कांग्रेस का उनका प्रेम अतुलनीय है पर वह कदापि दलबन्दी में पड़ने को नहीं तैयार हैं। वह सब के ही मित्र हैं और जब कांग्रेस के भीतर छोटे-छोटे समुदाय बनने लगते हैं तो उसका तीव्र विरोध करते हैं, क्योंकि इससे सारी संस्था की हानि होती है। वह अपने प्रति भी किसी प्रकार की भक्ति की प्रवृत्ति को उत्साह नहीं देते, क्योंकि सम्भवतः वह जानते हैं कि इससे देश के प्रति अथवा कांग्रेस के प्रति जो अविच्छिन्न भक्ति होनी चाहिये, उसमें अन्तर पड़ सकता है और यदि किसी व्यक्ति के प्रति हमें अपनी श्रद्धा अर्पित करनी है तो वह महात्मा जी को ही मिलनी चाहिए, क्योंकि वही सारे देश के प्रतीक हैं और देश के हार्दिक भाव और भावी आदर्श जैसे शरीर धारण किये हुए उन्हीं में व्यक्त हो रहे हैं।

यद्यपि जवाहरलाल के लिए यह बहुत सरल था कि वह अपना एक दल निर्माण कर लेते पर उन्होंने ऐसा कभी नहीं किया और यद्यपि हजारों और लाखों स्त्री-पुरुष उन्हें पसन्द करते हैं, उनसे प्रेम रखते हैं, उनकी आराधना तक करते हैं, पर यह सब वे दूर से ही कर पाते हैं। देश के अन्य श्रेष्ठ सभी नेताओं के पास ऐसे लोग रहते हैं जो व्यक्तिगत रूप से उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति की शृंखला में बँधे हैं, पर जहाँ तक मैं जानता हूँ, जवाहरलाल के पास ऐसी कोई गोष्ठी नहीं है। वह ऐसे भावों की उत्पत्ति ही नहीं होने देते जिसके कारण ऐसे समुदाय संघटित होते हैं। वह उन लोगों में हैं जो व्यक्तिगत सेवा की आवश्यकता ही नहीं अनुभव करते, क्योंकि अवश्य ही जब अपनी शक्ति शिथिल होती है तभी दूसरों की आवश्यकता पड़ती है, तभी भक्तों को अवसर भी मिलता है कि आराध्य पुरुष के पास जायँ, अपने प्रेम का प्रदर्शन करें और यथाशक्ति उनकी सेवा करें। मुझे तो ऐसा मालूम हुआ कि वह अपने सेवकों की ही स्वयं सेवा करते हैं। सेवकों को उनकी सेवा करने की जैसे आवश्यकता ही नहीं होती। ऐसे व्यक्ति के आसपास ऐसी किसी गोष्ठी का निर्माण नहीं हो सकता जो उनकी कही जाय, और जहाँ तक मुझे मालूम है यदि मैं ग़लती नहीं कर रहा हूँ, तो उनके पास ऐसे लोग नहीं हैं जो इस प्रकार से उनके कहे जा सकें। मैं चाहता तो यही हूँ कि मेरा निष्कर्ष ग़लत हो, क्योंकि दूसरे लोगों की तरह उनकी भी अवस्था अधिक ही होती चली जा रही है और उन्हें भी अपने एकाकी जीवन में ऐसे सहायकों, पोषकों और रक्षकों की आवश्यकता होगी ही जो अन्तरंग भाव से उनकी सेवा कर सकें, जिसकी अब तक उन्हें आवश्यकता नहीं रही और जिसकी अब तक उन्होंने चिन्ता भी नहीं की।

* * *

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि सामाजिक और बौद्धिक सम्पर्कों में साधारणतः—और सम्भवतः विवश होकर—वह ऐसे ही समुदायों में जीवन व्यतीत करते हैं जो लोकाचार और परम्परा के अनुरूप समझा जा सकता है और जो उनके कुल और उनकी शिक्षा के अनुकूल है, तथापि जवाहरलाल स्वयं इसके इच्छुक रहे हैं कि हर श्रेणी के अपने सहकारियों से उनका सदा सम्बन्ध बना रहे। दूसरों की तरह उन्हें भी इसका दुःख रहा है कि गान्धीयुग के हमारे स्वतन्त्रता-आन्दोलन

में संसार की विचार-धाराओं और समस्याओं के अध्ययन के प्रति हम सब प्रायः उदासीन रहे हैं। मुझे इस समय ठीक तिथि स्मरण नहीं आ रही है, पर मुझे अच्छी तरह याद है कि एक अवसर पर जेल की लम्बी यात्रा से वापस आकर उन्होंने प्रयाग के अपने वासस्थान पर व्याख्यानमाला का आयोजन किया जिसमें प्रान्त के सब स्थानों से कांग्रेस-कार्यकर्तागण आवें और लाभ उठावें। बहुत-से हमारे भाई उस समय आये और हमारे विद्वानों ने लाभदायक भाषण किये। वह समय ऐसा था जब कम्यूनवादी शास्त्र बड़ा लोकप्रिय हो रहा था और आधुनिक रूस की विचारधाराएँ हमारे वातावरण को छाये हुए थीं। हमारे सुशिक्षित उच्च श्रेणी के कांग्रेसजनों ने मार्क्स और एंगेल्स और उनके समर्थक साहित्य का अपने पिछले कारावास में विशेष प्रकार से अध्ययन किया था। मैं ही एक अपवाद स्वरूप था। सम्भव है, मैं उतना विद्याव्यसनी नहीं हूँ जितना मेरे कुछ मित्र हैं। जवाहरलाल द्वारा आयोजित इन सभाओं में सभी लोग, जहाँ तक मैं समझ सका, इस उद्देश्य से आये थे कि मार्क्सवाद का प्रचार और प्रतिपादन हो और हमारा राजनीतिक विचार और कार्यक्रम नये मार्ग पर प्रवाहित किया जाय। जिन लोगों को भाषण देने का कार्य सुपुर्द किया गया था, उनमें से सब से कम विद्या से परिचय रखने वाला मैं ही था; और सम्भव है इसी कारण व्याख्यानमाला का आरम्भ करने का कार्य मुझे दिया गया और मेरे भाषण का विषय समाजवाद ही रखा गया। मैंने इसके बहुत प्राथमिक सिद्धान्तों और आधारों की चर्चा की और अवश्य ही जो विद्वान् लोग मेरे सामने बैठे हुए थे, उन्हें मेरी बातें बड़ी ही प्रारम्भिक-सी मालूम पड़ी होंगी यद्यपि मेरे अन्य श्रोताओं को, जिन्हें उच्च शिक्षा का अवसर नहीं मिला था, समाजवाद के मूल सिद्धान्तों को समझने में कुछ सहायता भी मिली हो।

भाषण के बाद जवाहरलाल ने मुझसे बड़े दुराग्रह से पूछा कि तुम किस प्रकार के समाजवादी हो। वहाँ पर सभी लोग मार्क्सर्मतानुसार समाजवादी थे। मैं ऐसा नहीं था और मुझे यह कहना पडा कि मैं केवल फ़ेबियन मतानुसार समाजवादी हूँ। जवाहरलाल मेरे ऊपर हँसे और साथ ही साथ उन्होंने फ़ेबियन सोसाइटी के संस्थापकों—बर्नार्ड शा, सिडनी वेब, मिसेज़ बेसेंट आदि—का मज़ाक़ उड़ाया जिन्होंने इस समाजवाद का प्रचार इंग्लैंड में किया था। मेरे मस्तिष्क का विकास जैसे रुक गया है और अपने जीवन और विचार में मैं बहुत कुछ स्थिर-सा हो गया हूँ। बाल्यावस्था और युवावस्था में जिन विशेष स्थानों में मैं पड़ गया, वहीं पड़ा हुआ हूँ। उन दिनों जो कुछ मैंने पढ़ा था, उसका अपरिहार्य प्रभाव मेरे ऊपर पड़ा हुआ है और आधुनिक पुस्तकों का अध्ययन उन पुराने संस्कारों से मुझे नहीं हटा पाता। मैं उन्हीं को बार-बार स्मरण करता हूँ और मेरी धारणा है कि पुराने विद्वानों ने सत्य का रूप अधिक स्पष्टता और उत्तमता से देखा था। भाषण के बाद मेरी जो स्थिति हुई उसे मैंने शान्ति से बर्दाश्त किया। बड़े-बड़े विद्वानों के सामने मैं विद्या की दृष्टि से सम्भव है छोटा प्रतीत हुआ, पर नैतिक दृष्टि से मेरी समझ में मेरा पद सुदृढ़ और सुरक्षित रहा।

मुझे मार्क्सवाद में विश्वास नहीं है। मैं इतिहास की विवेचना केवल भौतिक आधार पर नहीं करता, न मैं श्रमजीवियों के अनन्याधिकार के सिद्धान्त को ही उचित समझता हूँ क्योंकि इससे तो वर्ग-विशेष का ही राज्य हो जायगा। उन्नति का एकमात्र साधन भी मैं संघर्ष को नहीं मानता और न मैं यही समझता हूँ कि कभी भी ऐसा समय आ सकता है जब राज की आवश्यकता ही न रहेगी। आज भी मेरा यही विश्वास है कि सब समस्याओं का विचारपूर्वक अध्ययन होना चाहिए और सार्वजनिक शिक्षा और निर्वाचित व्यवस्थापक परिषदों द्वारा मनुष्य के नैसर्गिक विकास का समुचित रूप से प्रबन्ध होना चाहिए। मैं आज भी फ़ेबियन मतानुसार ही समाजवादी हूँ। मुझे जवाहरलाल से तो इस सम्बन्ध में बात करने का अवकाश नहीं मिला, पर नरेन्द्रदेव जी से मैंने अवश्य बातें कीं। मेरी समझ से, मेरी पीढ़ी के हममें से सबसे बड़े विद्वान् वही हैं। व्याख्यानमाला के दिनों से लेकर आज तक जो घटनाएँ घटी हैं और कम्यूनवाद ने जो उग्र रूप आज धारण किया है, उन सब को देखते हुए उनका विचार अवश्य है कि सम्भव है जो कुछ मैंने कहा था वही ठीक हो। अन्य बातों के सम्बन्ध में जवाहरलाल आज भी मुझसे और सारे संसार से यही कहते हैं कि उन्नति का एकमात्र प्रकार क्रान्ति है। पर क्रान्ति का वह अपना विशेष अर्थ लगाते हैं और सम्भव है कि उनकी राय ठीक हो, विशेष कर जब मैं यह देखता हूँ कि विशेष स्थिति में जिन घटनाओं को मैं नैसर्गिक विकास का द्योतक समझता हूँ, उन्हें वह सच्ची क्रान्ति मानते हैं। मैं तो अक्सर असमंजस में पड़ जाता हूँ, जब मैं देखता हूँ कि गान्धीवाद में जो साधारण तौर से स्थिर हितवाद अथवा क्रमोन्नतिवाद ही नहीं पर पुरातनवाद कहा जा सकता था, वह परिणाम में केवल विशिष्ट अतिवाद ही नहीं साबित हुआ पर उसने घोर क्रान्तिवाद का रूप धारण कर लिया।

इस प्रकार से जवाहरलाल सदा चिन्ता में तो रहते ही थे कि सहकारियों से बौद्धिक विनिमय होता रहे, साथ ही

उनको इसकी भी बड़ी फ़िक्र थी कि हम उचित नियन्त्रण और आत्म-संयम में अपने जीवन को बिताने का अभ्यास करें और साथ ही समुचित शारीरिक शिक्षा भी पावें। नैनी (इलाहाबाद) में उन्होंने सेवा-दल शिक्षा-शिविर का आयोजन किया और इसमें विभिन्न ज़िलों के स्थानीय नायकों को सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया गया। मुझे खेद है कि इसमें बहुत थोड़े लोग आये। मेरे हृदय में स्वयं उस सप्ताह की बड़ी मधुर स्मृतियाँ बनी हुई हैं जब अपने कितने ही सहयोगियों का रात-दिन का निकटतम साथ रहा जिसके कारण हमें एक दूसरे को समझने में सहायता मिली और परस्पर का भ्रातृभाव फैला। जवाहरलाल उन लोगों में नहीं हैं जो दूसरों से कोई ऐसा काम करने को कहते हैं जो वह स्वयं करने को तैयार नहीं हैं। दूसरों की ही तरह वह भी इस शिविर के नियन्त्रण में रहते थे, निर्धारित वर्दी में क़वायद करते थे, खेल खेलते थे और निश्चित समय पर विभिन्न कक्षाओं में प्राथमिक चिकित्सा की शिक्षा लेते थे तथा सूत कातते थे, और सायंकाल के समय जब मन बहलाव का आयोजन होता था तो स्काटलैंड का नाच नाचकर सब को प्रसन्न करते थे। मेरी तो बड़ी इच्छा थी और है कि परस्पर के भ्रातृभाव के प्रचार के ऐसे बहुत-से आयोजन हुआ करते जहाँ सब कृत्रिमता को छोड़ कर हम वास्तविक स्वाभाविक जीवन व्यतीत कर सकते।

* * *

सन् १६४०-४१ का व्यक्तिगत सत्याग्रह नामक आन्दोलन समाप्त हो चुका था। इस प्रकार के विरोध का विचार महात्मा जी के लिए कोई नयी बात नहीं थी। सन् १६३३ में जब १६३२ का आन्दोलन समाप्त हुआ था और जब पूना में बापूसाहब श्री माधव अणे ने सम्मेलन आमन्त्रित किया था, तब भी महात्मा जी ने इस प्रकार के आन्दोलन की चर्चा की थी। उस समय इसके समर्थक नहीं मिले, पर सन् १६४० में बहुत-से श्रेष्ठ राजनीतिज्ञों के शंका उपस्थित करने पर भी यह आरम्भ किया ही गया। साल भर में इसका वेग जाता रहा और जैसा हर आन्दोलन के बाद हुआ करता था, हम युक्तप्रान्त के कार्यकर्तागण स्थिति पर विचार करने के लिए लखनऊ में एकत्र हुए। जैसा कि हमारा अनुचित अभ्यास है, कार्यकारिणी की बैठक में कितने ही सदस्यों ने बहुत-से कांग्रेसजनों की निन्दा करना आरम्भ किया और वे यह दर्शाने लगे कि अमुक ने अमुक अनुचित काम किया अथवा अमुक ने अमुक उचित काम नहीं किया। यह व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन विशेष प्रकार से विचित्र-सा था और किसी को यह ठीक तरह से नहीं मालूम हो रहा था कि क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए। मेरा तो यही विचार था और है कि यदि गवर्नमेंट ने ही हमें सहायता न दी होती और हमारे ही आदेशानुसार हमें गिरफ़्तार न करती तो सम्भवतः यह आन्दोलन कुछ भी न चल सकता।

जो कुछ हो, इस आन्दोलन के बाद का वातावरण बहुत-से परस्पर-विरोधी विचारों से आच्छादित था और इन सब का प्रदर्शन इस कार्यकारिणी की बैठक में हुआ जब ज़ोरों से यह प्रस्ताव पेश हो रहा था कि बहुत-से कांग्रेसजनों पर कड़ी कार्रवाई करनी चाहिए। मैं जवाहरलाल के चेहरे से देख रहा था कि वह इन सब बातों को दुःख से सुन रहे थे। मुझे तो बड़ा क्रोध आ रहा था। मेरा विचार सदा ऐसा रहा है कि अपने आन्दोलन के विशेष रूप और प्रकार को देखते हुए और साथ ही अपने कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन पर भी ध्यान रखते हुए, हमें अपने भाइयों की व्यक्तिगत कठिनाइयों का सदा स्मरण रखना चाहिए और उनसे हर प्रकार से सहानुभूति करनी चाहिए। हमारे कितने ही बड़े भाइयों ने उतनी समझदारी नहीं दिखलायी जितनी उन्हें दिखलानी चाहिए थी; और हमारे छोटे भाइयों को इस कारण बहुत कष्ट उठाना पड़ा है, क्योंकि इनके थोड़े दोष भी देखे जाते थे और बड़ों के बड़े दोष को भी तरह दे दिया जाता था। मैं अपने छोटे भाइयों की प्रशंसा मुक्तकंठ से करता हूँ, क्योंकि ये ही वास्तव में हमारे आन्दोलन के आधारस्तम्भ रहे हैं और हर प्रकार का संकट सहते हुए, सदा अपने कर्तव्यों का दृढ़ता से पालन करते रहे हैं।

जब कई सदस्य भाषण दे चुके तो मैंने सभापति से कहा—जहाँ तक मुझे स्मरण आता है, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल उस समय अध्यक्ष थे—कि मैं भी कुछ कहना चाहता हूँ। सम्भव है, मेरे मित्रों ने समझा हो कि कुछ कड़वी बात अब कही जायगी क्योंकि सभी ने मेरी बातें सुनने के लिए अपने कान आगे बढ़ाये। मैंने भी बड़ी सफ़ाई से बातें कहना शुरू किया और कहा कि यदि मेरे मित्र ऐसे सूक्ष्मदर्शी हैं तो मैं भी अपने लोगों के ही सम्बन्ध में कुछ कहना चाहूँगा। अपनी बात स्वयं पहले कहकर एक-एक उपस्थित सदस्य की चर्चा करूँगा। सम्भव है, मैंने अपनी आतुरता में बहुत अधिक कह डाला, क्योंकि मैं कह ही क्या सकता था। जवाहरलाल ने मेरी और सभी की रक्षा की और बीच में ही उन्होंने कहा—"जाने दीजिए। ये सब बातें समाप्त कीजिए। दूसरी बात पर ध्यान दीजिए। श्रीप्रकाश से छेड़-छाड़ मत कीजिए। ये हम सब को जानते

इन्दिरा नेहरू की विदेश यात्रा, १९३७

चित्र में कृष्णा हठीसिंह, इन्दिरा, शान्ता गान्धी, जवाहरलाल नेहरू और हठीसिंह हैं
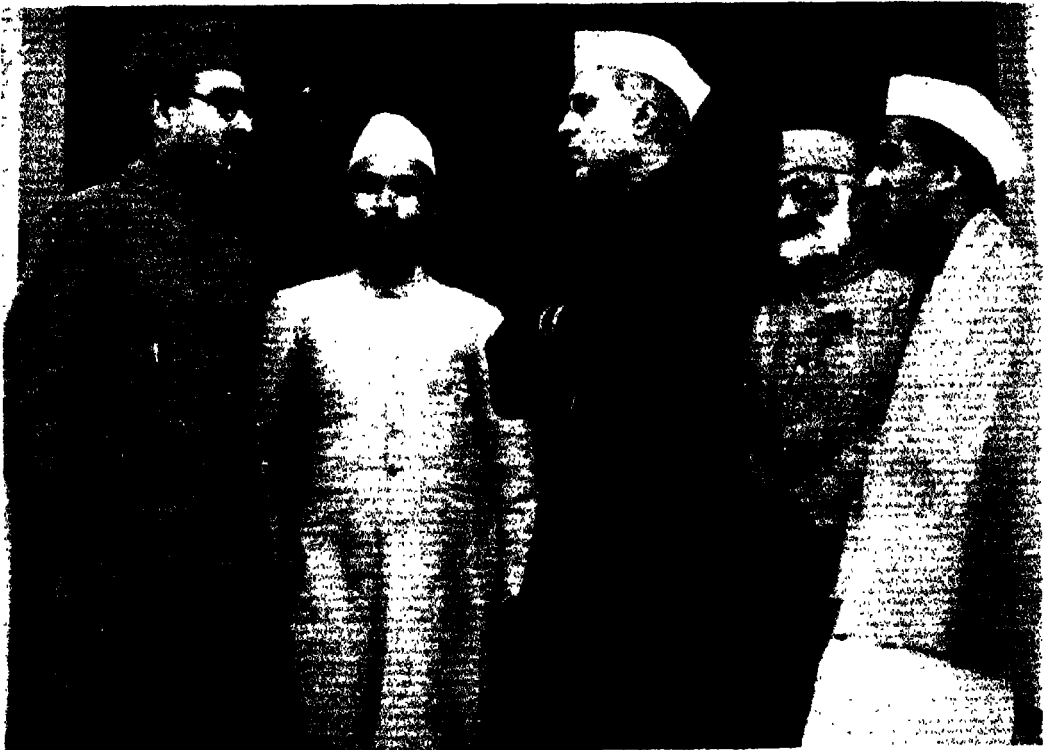
त्रिपुरी कांग्रेस से पहले १९३९

दिल्ली में डा० अन्सारी के बंगले पर सहकर्मियों के साथ जवाहरलाल नेहरू,
जिन्हें महात्मा गान्धी ने विशेष परामर्श के लिये बुलाया था

कार्यकारिणी की बैठक, वर्धा १९३८
पट्टाभि सीतारमैय्या, सुभाष बोस और जवाहरलाल नेहरू

राष्ट्रीय योजना समिति की पहली बैठक
बायीं ओर पंडित जवाहरलाल नेहरू बैठे हैं

हैं और सब के ही पत्र उनके पास मौजूद हैं। ये ऐसी बात कहेंगे जो हम सुनना न चाहेंगे। हम सब लोगों की बातें प्रकट हो जायेंगी।" इन वाक्यों ने आकाशवाणी का काम किया और मामला वहीं समाप्त हुआ और उन सब भाइयों की रक्षा हुई जो नियन्त्रण समिति की कसौटी पर कसे जाते। वे असामयिक राजनीतिक मृत्यु से बचे और आगे चलकर उन लोगों ने उस कंटकाकीर्ण समय में देश की सेवा की जो शीघ्र ही आनेवाला था।

* * *

हमारे लिए स्थिति विषम थी। सन् १९४२ के आरम्भ का समय था। लखनऊ के हमारे 'नेशनल हेरल्ड' समाचार-पत्र से बारह हज़ार रुपये की ज़मानत माँगी गयी। गवर्नमेंट का आदेश था कि थोड़े ही दिनों में यह जमा हो जानी चाहिए, नहीं तो पत्र प्रकाशित न हो सकेगा। संचालकों की बैठक जल्दी से लखनऊ में बुलायी गयी। सभी चिन्तित थे, क्योंकि कोई भी पत्र बन्द करना नहीं चाहते थे। साथ ही इतनी रक़म पाने का कोई साधन भी सामने नहीं देख पड़ता था। बैठक समाप्त होने पर जवाहरलाल ने मुझसे कहा कि जब तक कुछ हो नहीं जाता, तब तक हम दोनों को लखनऊ में ही ठहरे रहना चाहिए। मैं श्री कृष्ण नारायण के यहाँ और वह डाक्टर अटल के यहाँ ठहरे हुए थे। सभी लोग बड़ी आतुरता से चारों तरफ़ सहायता की खोज में दौड़-धूप कर रहे थे। दस बजे रात्रि के क़रीब एक मित्र मेरे पास दस हज़ार रुपये के नोट लेकर पहुँचे और उन्होंने मुझसे कहा कि अमुक सज्जन का यह गुप्त दान है। वह अपना नाम प्रकट नहीं होने देना चाहते। मुझे आश्चर्य हुआ, प्रसन्नता भी हुई, और मेरा यह पूछना स्वाभाविक था कि इस दान के साथ कोई शर्त तो नहीं लगी हुई है, क्योंकि पत्र की नीति में कोई अन्तर करने के लिए हम तैयार नहीं थे।

मुझे यह विश्वास दिलाया गया कि दान देने वाले की तरफ़ से कोई शर्त नहीं है। उन्हें किसी प्रकार की सहायता अथवा समर्थन की अभिलाषा भी नहीं है। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक एक अच्छे काम में मदद देनी चाही है। उनकी इच्छा केवल इतनी ही है कि उनका नाम किसी को न मालूम हो। रात बहुत हो चुकी थी जब मैं जवाहरलाल के यहाँ पहुँचा और उनको यह सुखद समाचार दिया कि इस प्रकार से दस हज़ार मिल गया है। मैंने यह भी कहा कि बाक़ी दो हज़ार में से एक वह दे दें और एक मैं दे दूंगा। अब हम शान्ति से घर जा सकते हैं। हमारे प्रबन्धक संचालक श्री कृष्ण नारायण थे जिनके पास यह रुपया जमा कर दिया गया। वास्तव में इसकी आवश्यकता नहीं पड़ी, क्योंकि "नेशनल हेरल्ड" में सहायता के लिए जो प्रार्थना प्रकाशित की गयी उसके उत्तर में बारह हज़ार की ज़मानत देने के लिए पचास हज़ार से अधिक रुपया मिल गया। जब मैंने जवाहरलाल को सूचना दी थी तो उन्होंने मुझसे पूछा कि जो नोट मिले हैं वे कितने कितने के हैं? प्रश्न अद्भुत मालूम पड़ा, पर इससे यह भी प्रतीत होता है कि सब छोटी-बड़ी बातों में उनकी बुद्धि कितनी कुशाग्र है। जब मैंने बतलाया कि सब नोट दस-दस रुपये के हैं, तो वह हँसे और कहने लगे कि पुलिन्दा तो बहुत बड़ा होगा। मैंने उन्हें विश्वास दिलाया कि मैं सबको अच्छी तरह अपने बेग में रखकर आया हूँ और वे सुरक्षित हैं। विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त दान छोटे-छोटे नोटों में ही देना उचित है। बड़े नोटों के मालिकों का पता लग सकता है।

* * *

बड़े दुःख और अन्धकार के दिन आये। फिर मेघाच्छन्न आकाश को फाड़कर सूर्य निकला। हमें स्वराज मिला पर उसके साथ-साथ नाना प्रकार की कठिनाइयाँ और ज़िम्मेदारियाँ भी आ गयीं। जवाहरलाल हमारे प्रधान मन्त्री बने। सन् १९४७ के ग्रीष्मकाल में मुझे उनका तार और पत्र मिला और मसूरी से टेलीफ़ोन आया—सब जल्दी-जल्दी एक के बाद एक आये—जिनमें मुझसे कहा गया कि मैं नेपाल चला जाऊँ और वहाँ के विधान को बनाने में सहायता दूँ, क्योंकि वहाँ के प्रधान मन्त्री श्री ३ महाराज बहादुर यह चाहते हैं कि हमारे देश की भी वैधानिक उन्नति हो। इस प्रकार मैं नेपाल पहुँचा और जिस भूमि का नाम मात्र ही मैंने सुना था, उससे और उसके शासक राणाओं से मेरा सम्पर्क हुआ। श्री ५ महाराज से भी मेरी मुलाक़ात हुई। उनके विचित्र विधान को भी मैंने देखा जो वह बड़ी सतर्कता के साथ आज सौ वर्षों से अधिक से चलाये जा रहे हैं। मैंने उस तलवार को भी देखा जिसका लोहा ऐसा अद्भुत प्रकार से कमाया गय था कि उसकी दोनों नोकें सरलता से मिल जाती हैं और जिसके सम्बन्ध की दन्तकथा है कि नेपाल के प्रधान मन्त्री और वास्तविक शासक के वंश के प्रवर्तक राणा जंग बहादुर को मेरे उस समय के पूर्व-पुरुष ने इसे प्रदान किया था। ऐसा कहा जाता है कि नेपाल के प्रभु होने के पहले राणा जंग बहादुर का मेरी जन्मनगरी काशी से बहुत सम्बन्ध था और इस तलवार के सम्बन्ध में यह परम्परा है कि मेरे पूर्व-पुरुष ने सन् १७९९ में श्रृंगापट्टम के युद्ध में इसे पाया था। ईस्ट इंडिया

कम्पनी के वह उस समय महाजन (ख़ज़ानची) और कमसरियट एजेंट थे और जब टीपू सुल्तान मारे गये तो उनके बदन पर यह तलवार थी।

मैंने अपना विवरण और प्रस्तावित विधान का मसविदा काशी से प्रधान मन्त्री के पास भेज दिया और कुछ ही दिन बाद जब जुलाई सन् १९४७ में विधान परिषद् का अधिवेशन दिल्ली में हुआ तब मैं उनके यहाँ भोजन पर गया और नेपाल के सम्बन्ध में उनसे और बातें कीं। बहुत देर कर रात्रि में जब मैं चला तो वह दरवाज़े तक मुझे पहुँचाने आये और जाते समय उन्होंने मुझसे पूछा—'क्या तुम हमारे प्रथम राजदूत बनकर नेपाल जा सकते हो ?' मैं इस प्रकार की ज़िम्मेदारियों से इतना घबड़ाता हूँ कि ऐसे निमन्त्रण के उत्तर में "नहीं" ही कह देता हूँ और ऐसा ही मैंने उनसे कहा भी। जब उन्होंने मुझ से यह पूछा कि 'क्या किसी का नाम बतला सकते हो ?' तो मैंने वादा किया कि मैं अवश्य कोई नाम दूँगा। दो दिन पीछे मैंने एक नाम का प्रस्ताव करते उन्हें पत्र लिखा और धन्यवाद दिया कि आप मुझ पर इतना विश्वास रखते हैं और यह भी कहा, जो उस समय मैंने समझा था कि केवल मज़ाक़ है, कि पाकिस्तान के स्थापित होने पर यदि आप मुझे वहाँ भेजना चाहेंगे तो मैं विचार करूँगा। सच्ची बात तो यह है कि मुझे उस समय भी विश्वास नहीं था कि देश का विभाजन होगा। मेरे लिए यह मज़ाक़ कड़वा निकला और अगस्त के आरम्भ में दिल्ली से टेलीफ़ोन आया जब मुझे मेरे पत्र की याद दिलायी गयी और मुझ से कहा गया कि स्वतन्त्रता के उत्सव में सम्मिलित होने के लिए कराची जाओ और भारत के राजदूत (हाइ कमिश्नर) होकर वहीं रहो। जब मैं दिल्ली में जवाहरलाल से मिला और अपनी व्यक्तिगत कठिनाइयाँ बतलायीं तो उन्होंने मुझसे ऐसे स्वर में कहा जो मैं कभी भी नहीं भूल सकता—'यदि इस विषम स्थिति में मेरे मित्र ही मेरी सहायता नहीं करेंगे तो दूसरा कौन करेगा ?' इस पर न मैं कुछ कह सकता था, न मैंने कहा ही। पर उसके बाद डेढ़ वर्ष तक मुझे ऐसे ऐसे दृश्य देखने पड़े और ऐसे ऐसे अनुभव हुए जिनके वर्णन का यह स्थान नहीं है, पर जिनका मुझे स्वप्न में भी अनुमान नहीं हो सकता था और कम से कम मैंने अपने जीवन में कभी भी ऐसी आशंका नहीं की थी कि मुझे यह सब देखना और सहना पड़ेगा।

* * *

स्वराज—देश-विभाजन—पाकिस्तान—के बाद जो दिन बीते हैं वे बड़े ही कठिन थे। अगस्त के आख़िर में और सितम्बर के आरम्भ में मैं पंजाब में था और जलते हुए ग्रामों को और शरणार्थियों से भरे हुए शिविरों को मैंने देखा और उन निर्दोष स्त्री-पुरुषों और बच्चों के संकटों पर दुःख किया जो इन नये परिवर्तनों के शिकार हो रहे थे। नव-स्थापित पाकिस्तान में मैंने लाहौर, गुजराँवाला और स्यालकोट ज़िलों का दौरा किया और भारत में ही अब भी सम्मिलित पूर्वी पंजाब में फ़ीरोज़पुर, लुधियाना और जलन्धर देखा। जलन्धर में गवर्नर के वास-स्थान पर मेरा दौरा समाप्त हुआ। सब कुछ देख सुन कर हृदय भारी था, शरीर थक गया था। दोनों ही तरफ़ के मन्त्री और सेनानायक दौरे में मेरे साथ थे। इतने में ही भारत और पाकिस्तान के प्रधान मन्त्री—जवाहरलाल और लियाक़त अली—भी दौरा करते हुए वहीं पहुँचे। उनके साथ पत्रकारों का भी बड़ा दल था। मैं बहुत दुःखी था और मुझमें उस समय कुछ बोलने की शक्ति नहीं थी। प्रारम्भिक अभिवादन के बाद मैं एक कोने में एक सोफ़े पर चुपचाप बैठा रहा। जवाहरलाल मुझसे कुछ दूर पर बैठे। थोड़ी ही देर बाद वह मेरे पास आये। मैं नहीं कह सकता वह क्यों आये। सम्भव है मेरे दुःख से वह भी दुःखी हुए। मेरे पास बहुत प्रेम से बैठ कर बोले—"प्रकाश, इस स्वराज और पाकिस्तान के बारे में तुम्हारी क्या राय है ?" मैं कुछ उत्तर न दे सका। मेरे विचार कुछ दूसरी ही जगह चक्कर खा रहे थे। तब उन्होंने कहा—"हमारे सामने दो ही मार्ग हैं—या तो हम हार मान जावें, या स्थिति को क़ाबू में लावें, और हम हार नहीं ही मान सकते।" यह जवाहरलाल के ही उपयुक्त था। इससे मुझको भी कुछ बल मिला। मेरे गिरते हुए हृदय में कुछ दम आया और हम एक दूसरे से पृथक् हुए।

कुछ महीने पीछे, मुझसे गवर्नर-जनरल लार्ड माउन्टबैटन से कराची में मुलाक़ात हुई। अंग्रेज़ राजकुमारी के विवाह के बाद वे भारत लौट रहे थे। मैं हवाई अड्डे पर उनसे मिला और बहुत देर तक घूम-घूम कर विभिन्न विषयों पर उनसे बातें करता रहा। कोई आश्चर्य नहीं कि जवाहरलाल की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा—"सत्पुरुष के रूप में मैं जवाहरलाल को कुछ दिनों से जानता था पर उनकी वास्तविक विभूति मैंने पन्द्रह अगस्त के बाद ही देखी।" वास्तव में जवाहरलाल सदा से विशिष्ट पुरुष रहे हैं। क्या बड़ी बातें और क्या छोटी बातें, सब में ही वह बड़ी दृढ़ता, बड़ी

तत्परता और चरित्र की स्वच्छता रखते हैं। कर्त्तव्य और सत्य के वह अविचल उपासक रहे हैं। अत्यधिक परिश्रम और मस्तिष्क की एकाग्रता की शक्ति उनकी वैसी ही है जो संसार के सब समय के वास्तविक विशिष्ट पुरुषों की होती है। संसार उनके इन गुणों को अच्छी तरह जानता है। मैं उनकी चर्चा यहाँ नहीं करूँगा, यद्यपि उनको देख कर मैं अक्सर आश्चर्यान्वित हुआ हूँ। जब जब मैंने उनसे इनके सम्बन्ध में बातें की हैं तो उन्होंने मज़ाक़ में उन्हें उड़ा दिया।

* * *

सन् १९४६ की २७ जनवरी का प्रातःकाल था। सवेरे से ही अपने टेबुल पर बैठा हुआ कराची में मैं मिसलों और पत्रों को देख रहा था और हृदय में यही अभिलाषा रखे हुए था कि यह संकट शीघ्र ही समाप्त हो। इतने में मेरी बग़ल में रखे हुए टेलीफ़ोन की घंटी बजी। मैंने टेलीफ़ोन उठाया। टेलीफ़ोन-संचालक ने कहा—"दिल्ली से बात कीजिए।" थकी हुई आवाज़ में मैंने उत्तर दिया—"अच्छा लगा दीजिए", क्योंकि दिल्ली से रोज़ ही मुझे बार-बार बातें करनी पड़ती थीं, और मैंने यही समझा कि विदेश मन्त्री के कार्यालय से कुछ नये आदेश मुझे मिलेंगे।

"प्रकाश ?"—उधर से आवाज़ आयी।

"जवाहरलाल, क्या तुम बोल रहे हो ?"

"क्या बात है ?" (वास्तव में मैं कुछ भयभीत हुआ। मैंने समझा, कोई कठिन समस्या उपस्थित हो गयी है।)

"शिलांग जाओगे ?" (वे हिन्दी में ही बात कर रहे थे)

"नहीं, शिलांग मैं क्यों जाऊँ ? यहाँ मुझे काफ़ी काम है।"

"गवर्नर होकर।"

"तुम जानते हो कि मैं यहाँ का काम समाप्त कर घर जाना चाहता हूँ। बहुत हो चुका। मुझे गवर्नर नहीं होना है।"

"शिलांग बड़ी सुन्दर जगह है। तुम्हें पसन्द आवेगी।"

"क्या तुम्हारा ऐसा विचार है कि मैं इस उमर में सुन्दर स्थानों की खोज में हूँ। मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूँ और अब विश्राम और शान्ति चाहता हूँ।"

"पर मैं तो तुमसे अधिक बूढ़ा हूँ। (जवाहरलाल मुझसे ठीक दस महीने बड़े हैं) काम तो करना ही होगा। उसे छोड़ा नहीं जा सकता।"

इसके बाद मैं और क्या कहता। मैंने इतना ही उत्तर दिया—"मैं तुम्हारे साथ बत्तीस वर्ष से बराबर रहा हूँ। अब मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता। जहाँ कहोगे वहाँ जाऊँगा। पर तुम्हें मेरी कठिनाइयाँ मालूम हैं। मैं अपने वृद्ध माता-पिता के लिए चिन्तित रहता हूँ और उन्हीं के पास रहना भी चाहता हूँ। इन बातों को तुम अवश्य ही सदा याद रखोगे।"

"मैं विश्वास दिलाता हूँ कि मैं अवश्य याद रखूँगा।"

"पर यह संकट कब तक मेरे ऊपर रहेगा ?" मैंने पूछा।

"क्या तुम यह जानना चाहते हो कि तुम्हें वहाँ कितने दिन रहना पड़ेगा ? मेरी समझ में जब तक नया विधान कार्यान्वित नहीं होता।"

"पर वह न जाने कब होगा। जो हो, मैं एक साल और सेवा कर सकूँगा। इतना क्या पर्याप्त होगा ?"

उन्होंने कहा—"ठीक है, एक साल ही सही पर किसी से अभी कहना मत।" (क्योंकि मैं अपने पिता के पास तार देकर उनकी इच्छा जानना चाहता था।)

मैं ऐसी अवस्था में घर कोई सूचना नहीं भेज सका। मैं स्वयं चुप था पर मालूम पड़ता है कि टेलीफ़ोन की बात सुन ली गयी और शाम तक बहुत-से लोगों ने पूछताछ की। कुछ ने बधाइयाँ देना आरम्भ किया। कुछ खेद के साथ कहने लगे कि समाचार ग़लत हो तो अच्छा हो। मुझे उस समय जितनी बार बात सुनी-अनसुनी करनी पड़ी, उतनी पहले अपने जीवन में कभी नहीं करनी पड़ी थी। पर प्रधान मन्त्री की इच्छा का पालन करना मेरे लिए आवश्यक था। अधिक समय बीतने नहीं पाया। दो दिन पीछे २९ जनवरी को ठीक मध्यरात्रि के समय, जब मैं दिन भर का कार्य समाप्त कर

सोने जा ही रहा था, मेरे दफ़्तर और सोने के कमरे के बीच में दौड़ कर मेरे हाथ में गुप्त तारों का अर्थ लगाने वाले मेरे सहायक ने मुझे प्रधान मन्त्री का "अत्यधिक आवश्यक" अंकित तार दिया जिसमें मुझे आदेश दिया गया कि मैं १५ फ़रवरी तक शिलांग पहुँच कर वहाँ का शासन-भार सँभालूँ और जाते हुए रास्ते में दिल्ली में आवश्यक बातें करने के लिए उनके साथ ठहरता जाऊँ। इस प्रकार मैं यहाँ पहुँचा हूँ। नयी-नयी मिसलें रट रहा हूँ। नयी-नयी समस्याओं का सामना कर रहा हूँ और हृदय में सदा यही प्रार्थना और आशा करता रहता हूँ कि मैं इस प्रकार काम कर सकूँ जिससे कि मेरे ऊपर जो विश्वास रखा गया है, उसके योग्य अपने को साबित कर सकूँ और उन लोगों को भी सन्तोष और सुख दे सकूँ जो बिना जाने ही मेरे सुपुर्द कर दिये गये हैं।

* * *

यहाँ पर मेरे कार्यभार उठाने के प्रायः तीन महीने बाद गवर्नर-जेनरल राजाजी ने प्रान्तीय गवर्नरों का अपना पहला सम्मेलन आमन्त्रित किया। बहुत-से भोज हुए और एक दिन संकेत हुआ कि मैं सायंकाल के समय जवाहरलाल के यहाँ जाकर आसाम की पर्वतीय जातियों के सम्बन्ध में बातें करूँ। उनके सहायक मन्त्री केसकर ने एक वक्तव्य तैयार किया था जो प्रधान मन्त्री से बातचीत करने के निर्धारित समय से कुछ ही पहले हमें दिया गया था। प्रति दिन की तरह उस दिन भी प्रधान मन्त्री अपने दफ़्तर में बहुत देर तक रुके रह गये और मैं उनके बड़े कमरे में एक कोने में बैठ कर उस वक्तव्य का अध्ययन करने लगा। अन्य बहुत-से मिलने वाले भी आये जो कमरे में बैठ गये। मैंने पढ़ना समाप्त नहीं किया था जब प्रधान मन्त्री आ गये। वे सबका ही अभिवादन करते और सबसे ही एक-दो शब्द बोलते हुए मेरी तरफ़ आये। उनके सम्मानार्थ सभी लोग खड़े हो गये। जब वे मेरे पास उस दूर के कोने में पहुँचे जहाँ मैं बैठा था तो उन्होंने मुझसे कहा—"तुम बैठ क्यों नहीं जाते।" वास्तव में मैं कैसे बैठता, क्योंकि जब सब लोग खड़े थे तो मैं यह नहीं दर्शाना चाहता था कि मेरी इनकी बड़ी मैत्री है। इतने में ही प्रधान मन्त्री ने एकाएक मेरे पेट पर एक घूँसा मारा और कहा—"बैठ जाओ।" मैं अपने को सँभाल ही नहीं सका और विवशता की हालत में सोफ़े पर गिरा। पीछे मैंने अपने सरकारी सलाहकार श्री रुस्तमजी का, जो मेरे ही साथ शिलांग से दिल्ली गये थे, प्रधान मन्त्री से परिचय कराया और उन्होंने मेरे दल के अन्य सदस्यों से पीछे कहा कि जब वह आरम्भ में कमरे में गये तो उन्हें कुछ विस्मय और भय-सा था क्योंकि जगत्-प्रसिद्ध प्रधान मन्त्री को वह पहली ही बार देखने वाले थे। उनको यह आशा कभी भी नहीं थी कि उनकी प्रकृति और उनका व्यवहार ऐसा मानवोचित है और वह स्वयं इतने सरल और स्नेही पुरुष हैं। जब उस घूँसे ने मुझे अपने स्थान पर बैठाया तो मैंने भी अपने मन में कहा कि चाहे कोई प्रधान मन्त्री हो, चाहे कोई गवर्नर हो, पुराने दिन अभी बने हुए हैं, पुरानी मैत्री अभी जीवित है, पुराना बन्धन अभी भी हमें बाँधे हुए है और चाहे कुछ ही हो, यही रूप हमें सदा बनाये रखना है।

* * *

कोई मुझसे पूछ सकते हैं कि जवाहरलाल की तरफ़ तुम क्यों आकर्षित हुए? साधारण तौर से मैं व्यक्तिवादी ही समझा जा सकता हूँ और 'किसी की कुछ परवाह नहीं' का रूप प्रायः धारण किये रहता हूँ। जैसा कुछ मैं हूँ और जो कुछ मेरे पास है, उस सब से ही मैं सन्तुष्ट प्रतीत होता हूँ। मेरी तरफ़ से यह विचार हो सकता है कि यह किसी के प्रति अत्यधिक प्रेम नहीं रख सकता और अपने को किसी के पीछे पागल नहीं बनावेगा। बात तो ऐसी है कि कभी-कभी सम वस्तु एक दूसरे को आकर्षित करती हैं और कभी-कभी विरोधी प्रकृतियाँ एक दूसरे को परस्पर खींचती हैं। जो गुण प्रधान रूप से मुझे उनकी तरफ़ आकृष्ट करता रहा वह उनका असीम साहस है। भय किसे कहते हैं इसका तो उन्हें जैसे पता ही नहीं है और मैंने स्वयं देखा है—और उनका जीवन इसका ज्वलन्त साक्षी भी है—कि वह किसी भी स्थिति में पीछे हटना या हार मानना जानते ही नहीं। उनका शारीरिक, मानसिक और नैतिक साहस अतुलनीय है और जब वह यह निश्चय कर लेते हैं कि अमुक मार्ग ठीक है, उचित है, सच्चा है, तो उस पर चलते हुए उन्हें यदि कोई बाधा पहुँचाना चाहता है तो वह उसका बिना आगा-पीछा देखे, घोर विरोध करने को सदा प्रस्तुत रहते हैं। मुझ में यह गुण किंचित् भी नहीं है और उनमें इसके इतने अधिक मात्रा में होने के कारण अवश्य ही मेरा उनकी तरफ़ बड़ा आकर्षण भी रहा है।

दूसरी बात जो मुझे बड़ी प्रिय है, वह उनकी बाल्य-तुल्य प्रकृति है और यद्यपि वह आज साठ वर्ष के हो रहे हैं और भारत राष्ट्र के मुखिया हैं, जिनके ऊपर संसार की आँख सदा लगी हुई है और जो जब भ्रमण करते हैं, बड़े-बड़े नगरों के सब आबाल-वृद्ध-वनिता को अपनी तरफ़ खींच लेते हैं, पर वास्तव में उनका हृदय बच्चे की तरह है। खेल-तमाशा करने

को वह सदा तैयार रहते हैं; हँसी-मजाक़ में उन्हें बड़ा रस आता है; बच्चों से वह बड़ा प्रेम रखते हैं; हर प्रकार के खेल में भाग लेने को वे प्रस्तुत रहते हैं। अपने सम्बन्ध में वह किसी से बड़े या किसी से छोटे होने का भाव नहीं रखते और अत्यधिक चिन्ता के समय भी नाच-गाने में सम्मिलित होने को उद्यत रहते हैं। व्यक्तिगत और सार्वजनिक दोनों ही रूपों में उनकी सचाई का मानदंड बहुत ही ऊँचा है और व्यक्तिगत सज्जन के रूप में तथा सार्वजनिक नेता के रूप में, उन पर पूरी तरह भरोसा किया जा सकता है। अपने मित्रों और सहयोगियों का साथ वह बड़ी दृढ़ता से देते हैं और चाहे अपनी स्वयं कुछ भी हानि क्यों न हो, उन्हें नहीं छोड़ते।

वह भावुक हैं, एकाएक अकारण और अनुचित क्रोध कर बैठते हैं पर यह बहुत देर तक नहीं ठहरता। वह उन लोगों में नहीं हैं जो यह समझते हैं कि हम ग़लती कर ही नहीं सकते। उनमें यह गर्व नहीं है कि मैंने जो कुछ किया या कहा वह सदा के लिए कर डाला या कह डाला; मुझे किसी बात को वापस लेने की या किसी के लिए खेद प्रकट करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैंने देखा है कि कांग्रेस समितियों के किन्हीं सदस्यों के विरुद्ध वे इस प्रकार से एकाएक रोषपूर्ण व्यवहार कर बैठते हैं जो उन्हें शोभा नहीं देता, जब उनकी समझ में कोई व्यर्थ ही काम में रुकावट डाल रहा है या अनुचित व्यवहार कर रहा है। मैंने यह भी देखा है कि वह फ़ौरन ही अपने आचरण पर दुखी हो जाते हैं और अविवेक में कहे हुए शब्द या किये हुए कार्य के लिए क्षमा-याचना करने लगते हैं जिससे वातावरण तुरन्त मधुर हो जाता है और सब कार्य शान्ति और प्रसन्नता से होने लगता है।

सारांश यह कि वह मनुष्य हैं, मानवोचित ही उनका व्यवहार है और वह अपने को मनुष्य के परे नहीं समझते। जब कोई व्यक्ति इतने ऊँचे पहुँच जाता है जितना वह पहुँच गये हैं और तब भी अपने को साधारण मनुष्य ही बनाये रहता है, तो वह अवश्य ही जो कुछ होना चाहिए वह सब है। वास्तव में इससे अधिक उनकी प्रशंसा नहीं की जा सकती कि वह मनुष्य हैं और जब मैंने इतना कह दिया तो जो कुछ कहने को था सब कह डाला। उनकी आन्तरिक मानवता ही आज संसार को उनकी तरफ़ आकृष्ट किये हुए है और जो लोग उन्हें जानते हैं, उनके हृदय में यही अमूल्य सम्पत्ति है और यही मेरी समझ में संसार की विचार-धारा में और संसार के कार्यक्रम में उनकी देन है, जिसका आगे आने वाली पीढ़ियाँ स्मरण और अनुसरण करती रहेंगी।

सितम्बर १९४९

नेहरू-चरित

'शंकर' की दृष्टि में

यहाँ भारत के प्रमुख व्यंग्य-चित्रकार 'शंकर' के कुछ चुने हुए व्यंग्य-चित्र दिये जा रहे हैं, जिनका चुनाव स्वयं 'शंकर' ने अपने पिछले कुछ वर्षों के चित्रों से किया है। जिन चित्रों पर सितम्बर १९४९ की तारीख है, वे विशेष रूप से प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए बनाये गये हैं।

यह तो स्वाभाविक ही है कि इन चित्रों का केन्द्र पंडित नेहरू हों; किन्तु प्रस्तुत चित्र एक प्रकार से भारत के तथा एशिया के स्वाधीनता-संग्राम का भी प्रतिबिम्ब उपस्थित करते हैं।

'शंकर' के चित्रों की यह विशेषता है कि जिस व्यक्ति का वह चित्र बनाते हैं, उसके व्यक्तित्व के मानवी पहलू पर विशेष बल देते हैं और प्रायः चित्रों का विषय स्वयं भी उनकी पैनी आलोचना और सूझ पर दर्शक और चित्रकार के साथ हँस सकता है। —मं०

मर्कस दुर्घटना
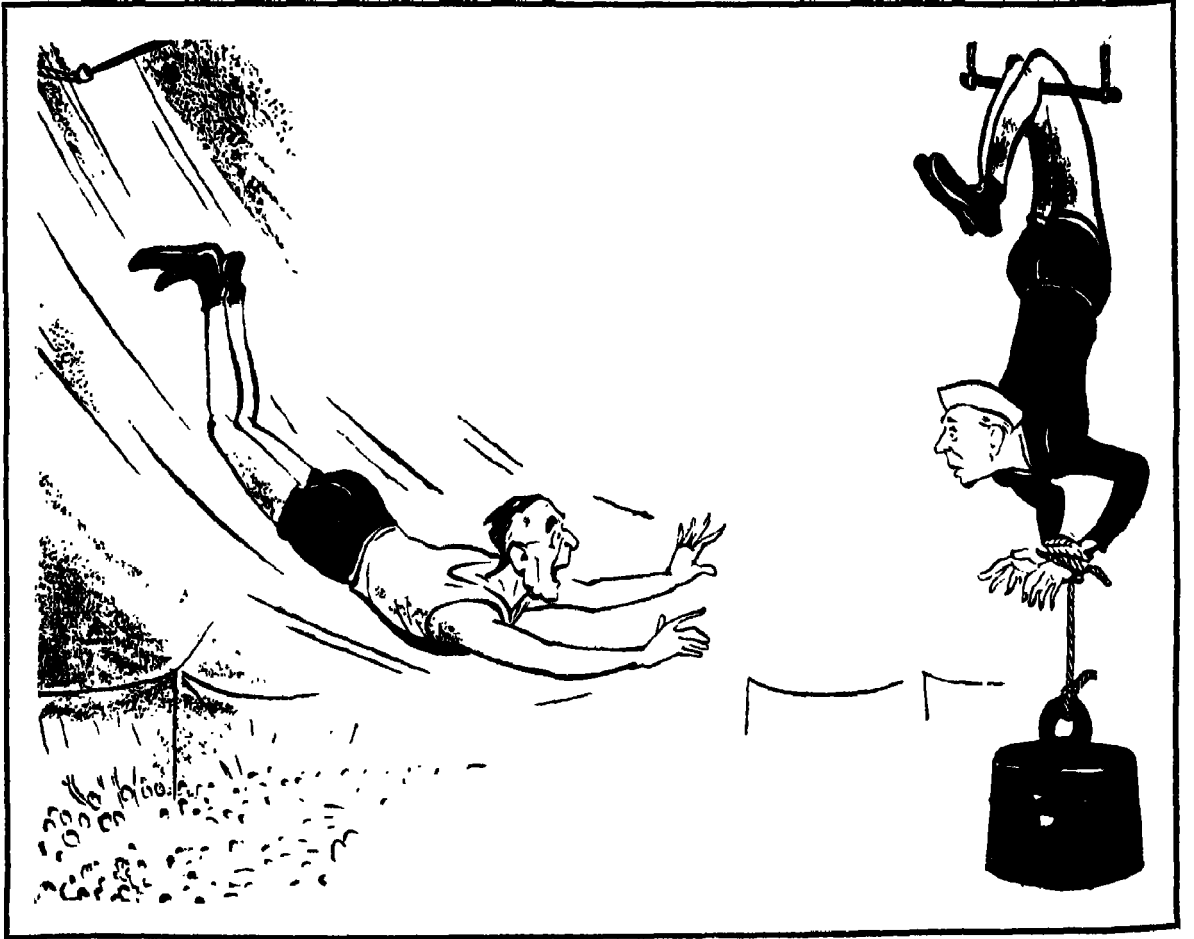
खिलाड़ी चूक गया !

क्रिप्स प्रतिनिधि-मंडल की असफलता (८ अप्रैल १९४२)

उदासीन
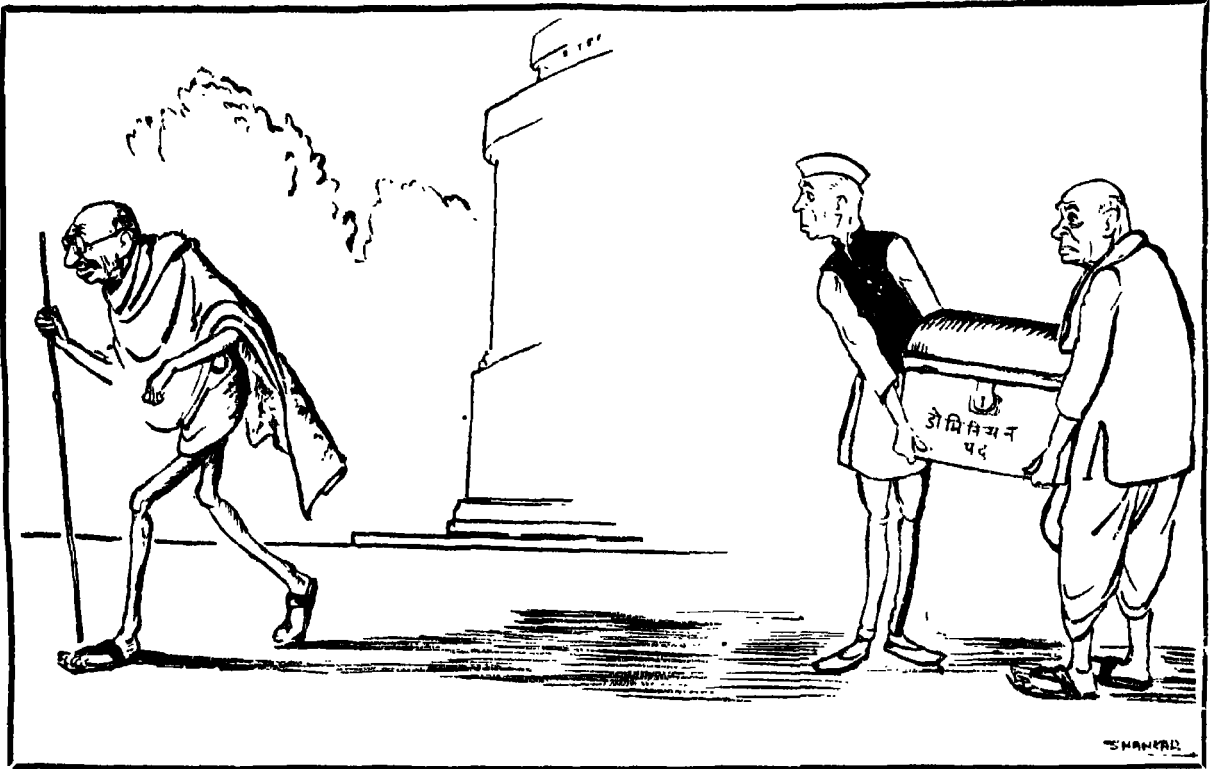
माउंटबैटन काल का आरम्भ (जून १६४७)

आधुनिक डेलाइला
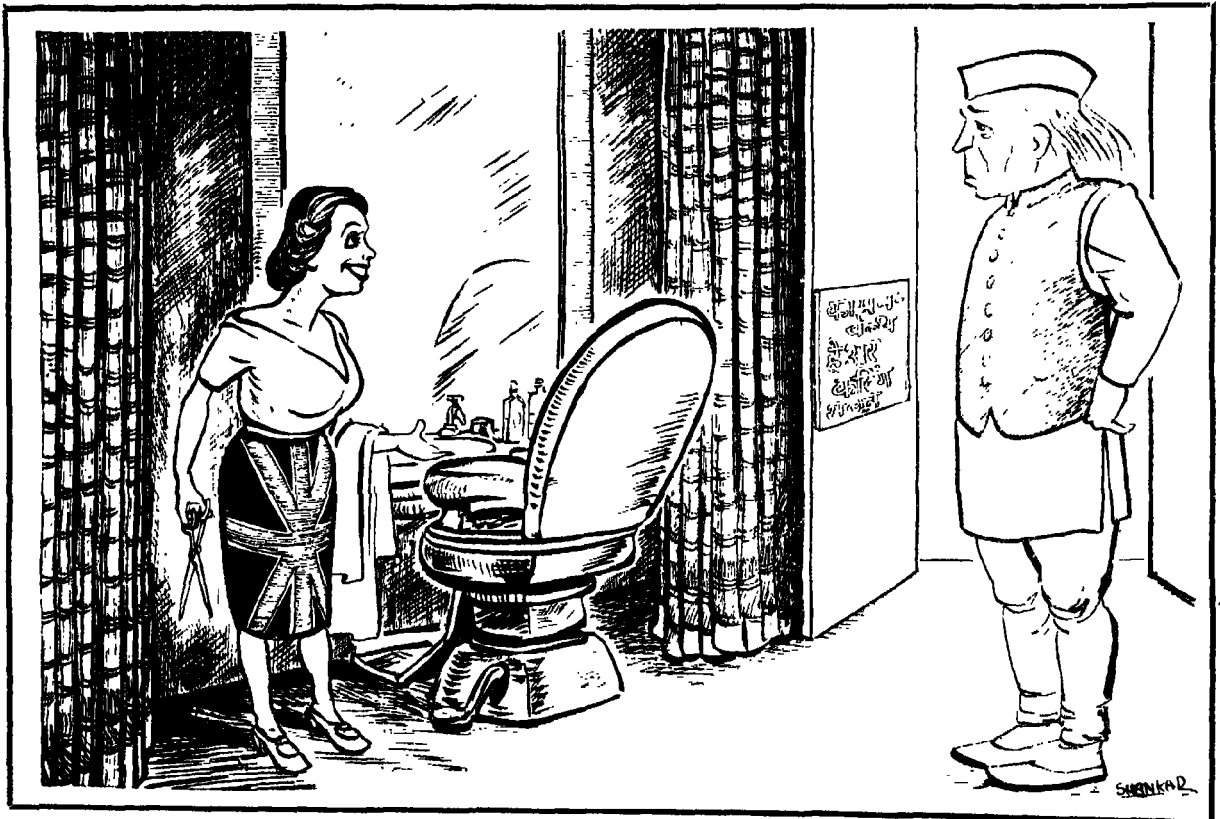
कॉमेनवेल्थ प्रधान-मन्त्री सम्मेलन (२४ अक्तूबर १६४८)

 [सैम्सन और डेलाइला की कथा में मोहिनी डेलाइला ने परम बली सैम्सन को उसके बाल काट कर पराभूत कराया था।]

फलक ८

पूर्व का प्रहरी

(२० सितम्बर १९४९)
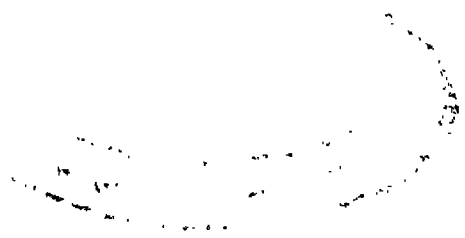
भारतीय विश्वविद्यालयों में नेताओं को डिग्रियाँ देने की होड़ लग गयी थी।

(१२ दिसम्बर १९४८)

पंडित नेहरू के जीवन की तीन घटनाएँ जिन्हें शंकर ने स्वयं देखा था।

साबुन के बुल्ले

अंग्रेज़ चित्रकार मिल्ले के एक चित्र की विडम्बना

(१६ दिसम्बर १६४८)

नेहरू बाबा के खेल

"पंडितजी अपने भवन के बगीचे में बच्चों का स्वागत करते हैं और उनके साथ खेल कर बहुत प्रसन्न होते हैं।"
(२३ जनवरी १९४७)

आँख-मिचौनी
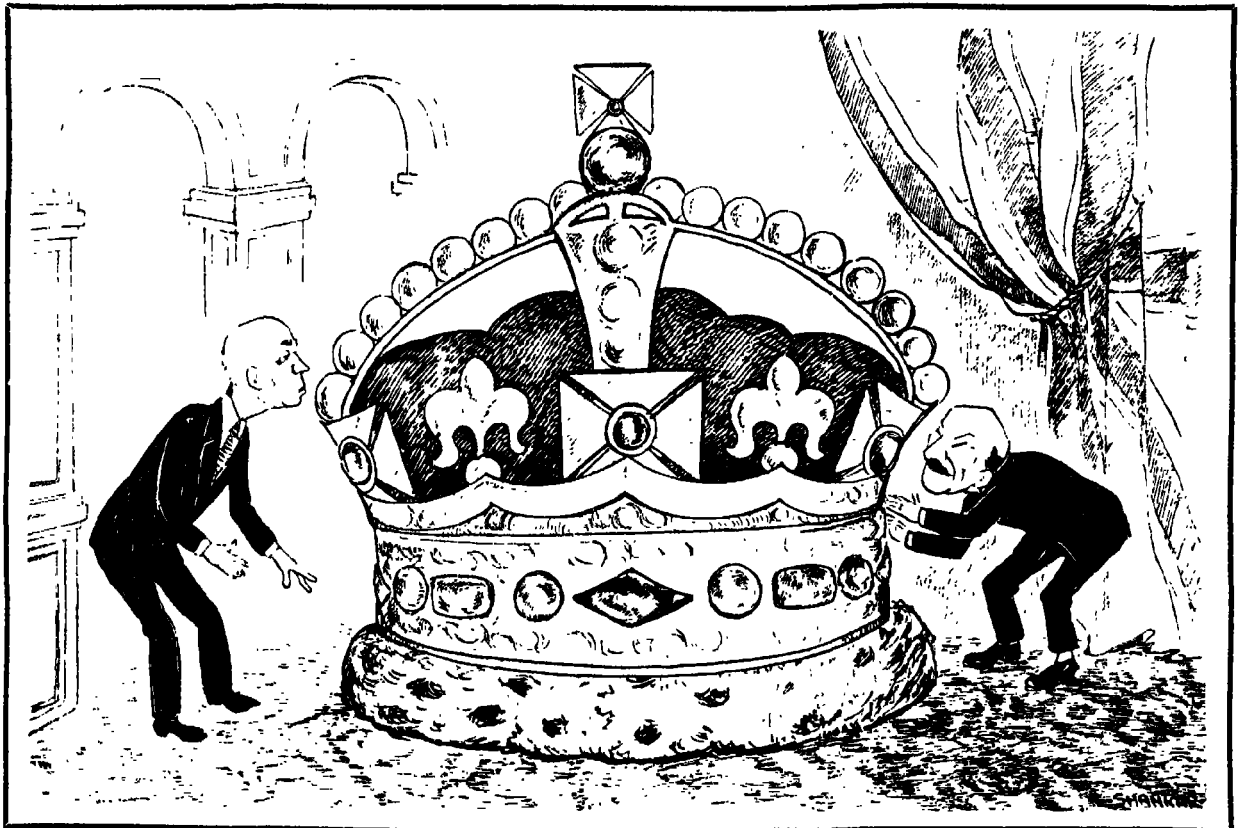
डोमिनियन मन्त्रियों का सम्मेलन (२४ अप्रैल १९४९)

(२० सितम्बर १९४९)

नानालाल चमनलाल मेहता

प्रस्तुत खंड में मैंने पंडित नेहरू के बहुमुखी जीवन के कुछ प्रमुख पहलुओं का अध्ययन करने का प्रयत्न किया है। यह अध्ययन निरी प्रशस्ति न होकर एक समालोचना हो, ऐसा मेरा उद्देश्य रहा है। इतने संक्षिप्त अध्ययन में उनके विभिन्न कार्यों और प्रगति की सम्पूर्ण समीक्षा और मूल्यांकन तो सम्भव नहीं था; किन्तु इन पृष्ठों को लिखते समय पिछले तीस वर्षों के प्रत्यवलोकन में मैं बार-बार गान्धीजी के नेतृत्व में सम्पन्न किये गये अपने देशवासियों के महान् कार्यों पर गर्व का अनुभव कर सका हूँ। गान्धीजी के कार्य-भार को उनके दो महान् शिष्य—पंडित जवाहरलाल नेहरू और सरदार वल्लभभाई पटेल योग्यतापूर्वक वहन कर रहे हैं।

—लेखक

सितम्बर १९४९

सूची

१

प्रारम्भिक जीवन और विवाह

भारत के अन्य प्रमुख कश्मीरियों की भाँति जवाहरलाल ने भी एक मध्यवर्गीय भद्र कुल में जन्म लिया। उनके पूर्वज पहले से हिमालय के क्रोड़ में अपना घर छोड़ कर दक्षिण की उर्वरा समतल भूमि की ओर चले गये थे। विचित्र बात है कि कश्मीर के प्राचीन राज्य की लगभग एक सहस्र वर्ष की अविच्छिन्न परम्परा, शासन की अयोग्यता और अव्यवस्था का इतिहास रही है। यद्यपि भारत के इस सुन्दर प्रदेश को सजाने में प्रकृति ने कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी, किन्तु वहाँ के अभागे निवासियों ने सैकड़ों वर्षों से धैर्यपूर्वक केवल दैन्य और दुःख ही सहा है, जिसमें भावी उन्नति की आशा की एक किरण भी कभी नहीं दीखी। मुग़ल बादशाहों में विशेष रूप से जहाँगीर को कश्मीर की उपत्यका से बड़ा प्रेम था, और वह बहुधा प्रवास के लिए यहाँ आता था। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा 'तुजुक-इ-जहाँगीरी' में प्रकृति की इस लीला-भूमि के निर्झरों और फूलों का रोचक वर्णन किया है। उसने अपने दरबारी चित्रकारों को, जिनमें नादिर-उल-असर और उस्ताद मंसूर मुख्य थे, इस सुन्दर प्रदेश के फूलों और पक्षियों का चित्रण करने की आज्ञा दी। इन चित्रों में से कुछ अब भी प्राप्य हैं। कश्मीर की जनता अब भी सैलानियों से होने वाली आमदनी पर ही मुख्यतया निर्भर करती है, किन्तु जीविका का यह साधन अगस्त सन् १९४७ में भारत के विभाजन के समय से बहुत क्षीण हो गया है। तभी से कश्मीर उत्कट संघर्ष और वैमनस्य की रंगभूमि बना है। यह संघर्ष अब भी चल रहा है और कल तक जो एक था वह दो में बँट कर भी उनकी शान्ति और समृद्धि का शत्रु हो रहा है।

राजतरंगिणी के कवि कल्हण ने कश्मीर का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'यह देश आत्मबल से जीता जा सकता है, सैन्य-बल से नहीं; अतः यहाँ के निवासी केवल परलोक-भीरु हैं। यहाँ की नदियाँ जल-जन्तुओं के संकट से मुक्त हैं ....विद्या, ऊँचे प्रासाद, केसर, शीतल जल और द्राक्षा—स्वर्ग में भी दुर्लभ ये वस्तुएँ यहाँ सुलभ हैं।' शासन-कुशल न होने पर भी कश्मीर के राजा सदैव विद्याप्रेमी रहे और शताब्दियों से यह प्रदेश भारत के लिए एक तीर्थस्थान माना जाता रहा। कल्हण के शब्दों में 'यहाँ तिल भर भी भूमि ऐसी नहीं मिलती जहाँ तीर्थ न हो।'

कश्मीर के पंडित अर्थात् ब्राह्मण एक अल्पसंख्यक समाज हैं। कश्मीरी पंडित सुरूप, सुसंस्कृत, शान्ति-प्रेमी और मृदुभाषी होते हैं। इस समाज के जिन व्यक्तियों ने साहसपूर्वक अपना सुन्दर किन्तु निर्धन देश छोड़ कर समतल भूमि में जीविका की खोज की, वे प्रायः सफल ही हुए और विभिन्न कार्यक्षेत्रों में उन्होंने नाम कमाया। भारत में कश्मीरी मुख्यतया पंजाब और युक्तप्रान्त में ही बसे। उनका छोटा-सा प्रवासी समाज अपनी आदिभूमि, अपने शारीरिक सौन्दर्य और अपनी कुशाग्र बुद्धि पर उचित गर्व करता है। नेहरू भारत में १८वीं शती के आरम्भ में आये, जब धर्मान्ध किन्तु कुशल शासक औरंगज़ेब की मृत्यु के साथ-साथ मुग़ल सम्राटों का भाग्य-सूर्य निश्चित रूप से अस्त हो गया। नेहरुओं का प्राचीन नाम कौल था। अनन्तर यह बदल कर कौल-नेहरू हो गया, और फिर केवल नेहरू। अधिकांश कश्मीरियों की भाँति नेहरू भी सरकारी नौकरी ही करते थे, और जवाहरलाल के पितामह पंडित गंगाधर दिल्ली के नगर-कोतवाल रहे। सन् १८६१ में, ३४ वर्ष की आयु में, पं० गंगाधर का देहान्त हुआ। उनके परिवार की स्थिति बहुत तंग थी। अतः वे दिल्ली छोड़ कर आगरे जा बसे। जवाहरलाल के पिता पं० मोतीलाल ने अपनी लगन, अध्यवसाय और कठिन परिश्रम के सहारे इतनी उन्नति की कि वकालत में उनका नाम सर्वप्रथम लिया जाने लगा। मोतीलालजी से मेरा परिचय दिसम्बर सन् १९१५ में हुआ; उस समय उनकी वकालत अपने चरम उत्कर्ष पर थी और उनका आलीशान घर, आनन्द-भवन, मानों युक्तप्रान्त की एक प्रमुख संस्था थी। इलाहाबाद में उस समय कई उल्लेखनीय वकील थे जिनमें मोतीलालजी के अलावा सर सुन्दरलाल, सतीश बनर्जी, आलस्टन और तेजबहादुर सप्रू का नाम लिया जा सकता है। मोतीलालजी ने किसी विश्वविद्यालय की डिग्री नहीं ली थी, अपने प्रतिद्वन्द्वी सुन्दरलाल की भाँति वह क़ानून के

विशारद नहीं थे। परन्तु उनके व्यक्तित्व, उनकी अद्भुत मेधाशक्ति और सहनशीलता ने और पेचीदा मामलों को आसानी से समझने और सुलझाने की शक्ति ने उन्हें देश के प्रमुख वकील का स्थान दे दिया था। मोतीलालजी का जन्म आगरे में ६ मई सन् १८६१ को हुआ, जो कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का भी जन्मदिन है। १४ नवम्बर सन् १८८९ को जब जवाहरलाल का जन्म हुआ तब वकालत में मोतीलालजी की धाक जम गयी थी।

उन दिनों का सफल वकील स्वभावतया पाश्चात्य रहन-सहन को अपना लेता था। भारत पर इंग्लैंड ने सम्पूर्ण सामाजिक आधिपत्य क़ायम कर लिया था, क्योंकि भारत के रूढ़िवादी जीवन और विचार में भी पाश्चात्य रीति ने घर कर लिया था। तथापि भारतीय संस्कृति इतनी हल्की नहीं थी कि उसे पुरानी केंचुल की तरह दूर फेंका जा सके। यद्यपि ऊपरी इमारत पाश्चात्य ढंग की थी, तथापि उसकी अवचेतन आधार-शिला भारतीय ही रही। सफल और सम्पन्न वकीलों, डाक्टरों, सरकारी कर्मचारियों और व्यापारियों की सन्तान प्रायः रोमन कैथलिक कान्वेंट या एंग्लो-इंडियन स्कूलों में भेजी जाती थी, और घर पर भी सम्भव हुआ तो यूरोपीय या एंग्लो-इंडियन शिक्षिकाओं की देखरेख में पढ़ती थी। भारतीयों के एक नये समाज का जन्म हो रहा था, जिसके सदस्य संस्कृति के लिए पश्चिम का मुँह जोहते थे और अपने कम भाग्यवान् बन्धुओं से क्रमशः अलग होते जा रहे थे। यह समाज शासक-वर्ग के रहन-सहन की नक़ल करता था, क्योंकि शिक्षा और संस्कृति का मानदंड यह हो गया था कि कौन कितनी अच्छी अंग्रेज़ी और किस हद तक अंग्रेज़ी लहज़े से बोल सकता है। इस समाज की राजनीति का केन्द्र था वह घृणित और अखरने वाला भेदभाव जो कि क्लबों, नौकरियों और पेशों में उनके विरुद्ध उनके गोरे शासक बरतते थे। जो समाज इतनी लगन और श्रद्धा के साथ यूरोपीय रहन-सहन और संस्कृति को अपनाने में लगा हो, उसी के विरुद्ध इस जातीय नीति का प्रयोग इन लोगों को बहुत अधिक खलता था। देश के तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक संगठन में यह सम्पूर्ण काल अंग्रेजों के साथ समान सुविधा और समान व्यवहार की माँग का था; छोटे-से शासकवर्ग के आसपास बनी हुई इस छोटी-सी और क्षुद्र दुनिया में जनता के लिए कोई स्थान नहीं था। यद्यपि सन् १८८५ में ऐलन आक्टेवियन ह्यूम नामक एक अवकाशप्राप्त सिविल सर्विस के अधिकारी के हाथ कांग्रेस का सूत्रपात हो चुका था, तथापि स्वाधीन भारत की कल्पना उसे नहीं प्रेरित करती थी।

जैसा कि एक सम्पन्न और प्रगतिशील परिवार की सन्तान के लिए स्वाभाविक था, जवाहरलाल नेहरू कभी किसी भारतीय स्कूल में नहीं गये। उनकी शिक्षा एफ़० टी० ब्रूक्स नामक एक अंग्रेज़ ट्यूटर के हाथ आरम्भ हुई। यह सौभाग्य था कि ब्रूक्स थियॉसॉफ़िस्ट थे, क्योंकि थियॉसॉफ़िकल सोसायटी (जिसकी स्थापना सन् १८७५ में मडाम ब्लैवाट्स्की ने न्यूयार्क में की थी और जो सन् १८८२ में मद्रास में आ गयी) उन इनी-गिनी संस्थाओं में से थी जो यूरोपीय संचालकों द्वारा अनुशासित होने पर भी भारत के अतीत को महत्त्व देती थीं और प्रेरणा देने वाला मानती थी, और जिसमें भारतीय भी सदस्य होकर गोरे सदस्यों के साथ समानता पाते थे। मोतीलालजी भी इस संस्था के सदस्य हो गये थे। जब श्रीमती एनी बेसेंट ने सोसायटी का अध्यक्ष-पद ग्रहण किया तब से विशेष कर शहरी क्षेत्रों में थियॉसॉफ़ी का प्रभाव विशेष महत्त्व रखने लगा। स्वयं जवाहरलाल नेहरू ने १३ वर्ष की आयु में श्रीमती बेसेंट के द्वारा ही सदस्यता की दीक्षा पायी; कदाचित् यह एक मात्र प्राय धार्मिक संस्था थी जिसके सदस्य जवाहरलालजी हुए। आज की पीढ़ी के लिए थियॉसॉफ़ी के आन्दोलन का महत्त्व आँकना कठिन है। वह यह भी ठीक-ठीक नहीं समझ सकती कि आयर्लैंड से आकर भारत में बसी हुई इस अद्भुत स्त्री ने, जिसका समर्पित जीवन मद्रास में अडयार नदी के तट पर शेष हो गया, भारत की कितनी महत्त्वपूर्ण सेवा की। सन् १९१७ में श्रीमती बेसेंट द्वारा आरम्भ किया गया 'होमरूल' आन्दोलन ही गान्धीवादी राजनीति के गतिशील युग का सन्देश-वाहक था। भारत में ब्रितानी साम्राज्य का विरोध करने के लिए नज़रबन्द किया जाने-वाला पहला व्यक्ति श्रीमती एनी बेसेंट ही थीं। उन्होंने जो बीज बोया था वह गान्धीजी के एकनिष्ठ और प्रेरणादायक संरक्षण में पनपा और फूला-फला। सन् १९२१ में भारत के राजनीतिक आन्दोलन ने आश्चर्यजनक बल का संचय कर लिया था।

जवाहरलाल नेहरू के बचपन में कोई विशेषता नहीं थी। मई १९०५ में नेहरू परिवार इंग्लैंड चला गया। अक्टूबर १९०७ में जवाहरलाल जी हैरो स्कूल में दो वर्ष बिताने के बाद केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालेज में भरती हुए। यहाँ से २१ वर्ष की आयु में उन्होंने प्रकृति-विज्ञान की डिग्री दूसरी श्रेणी में प्राप्त की। रसायन, भूगर्भ, और वनस्पति-शास्त्र उनके विषय रहे। मैं अप्रैल १९०९ में केम्ब्रिज में भरती हुआ, और जवाहरलाल सन् १९१० के मध्य तक वहाँ रहे,

किन्तु उनसे भेंट हुई हो इसका मुझे स्मरण नहीं। मैं सन् १६१५ के अन्त तक केम्ब्रिज में रहा किन्तु जवाहरलाल जी का कोई विशेष प्रभाव विश्वविद्यालय के जीवन पर या वहाँ रहने वाले सौ-एक भारतीय विद्यार्थियों पर भी न देखने में आया। केम्ब्रिज में भारतीयों का एक संगठन 'इंडियन मजलिस' नाम का था जो कि उनका सामाजिक क्लब भी था और राजनीतिक विवादों का केन्द्र भी; परन्तु जवाहरलाल इतने संकोची और सभा-भीरु थे कि उन्होंने न तो कभी मजलिस में भाग लिया, न अपने कालेज की विवाद-सभा 'मैगपाई एंड स्टम्प' में ही। यद्यपि जवाहरलाल ने अपने को 'पिता की भाँति कुछ-कुछ जुए का शौकीन' बताया है—पहले पैसे के जुए का, फिर जीवन के खेल में अधिक बड़े दाँव का—तथापि भारत लौटने के कुछ वर्ष बाद तक उन्होंने सार्वजनिक सभा में भाषण देने का साहस नहीं किया। जब वे सन् १६१५ में पहले-पहल इलाहाबाद की एक सभा में बोले तब स्वर्गीय सर तेजबहादुर सप्रू उनके इस असाधारण कृतित्व पर इतने चकित हुए कि उन्होंने मंच पर ही जवाहरलाल को गले से लगा कर चूम लिया!

बीसवीं शती के पहले दशाब्द में केम्ब्रिज का जीवन सुखी और बौद्धिक जिज्ञासा से भरा हुआ होता था। योग्य विद्यार्थी इबसन, स्ट्रिंडबर्ग, ब्योर्नसन, अनातोल फ़्रांस, डास्टाएवस्की, टाल्स्टाय, तुर्गनेव, चेखोव, हार्डी, जार्ज मेरेडिथ, हेनरी जेम्स, गाल्सवर्दी, लोज़ डिकिन्सन, फ़ार्स्टर, वेल्स, बर्नार्ड शा, सिडनी वेब, एक्टन, बर्गसों, बर्ट्रेंड रसेल आदि की रचनाएँ और 'स्पेक्टेटर' अथवा 'नेशन ऐंड ऐथीनियम' आदि पत्र पढ़ते थे। विद्यालय के यूनियन का पुस्तकालय नये से नये अंग्रेज़ी प्रकाशन और यूरोपीय भाषाओं के पत्र-पत्रिकाओं से भरा रहता था। जवाहरलाल ने भी तरह-तरह की बहुत-सी चीज़ें पढ़ीं लेकिन कोई असाधारण रुचि उन्होंने नहीं दिखायी। विश्वविद्यालय का इनका जीवन साधारण ही रहा। लेकिन केम्ब्रिज का वातावरण निःसन्देह उन भारतीयों के लिए विशेष स्फूर्तिप्रद रहा जो उन वर्षों में विश्वविद्यालय में रहे। आगे चलकर इनमें से अनेक विद्यार्थियों ने जीवन के भिन्न-भिन्न कार्यक्षेत्रों में यश पाया। प्राकृतिक विज्ञान, अर्थशास्त्र और दर्शन में केम्ब्रिज की विशेष प्रतिष्ठा थी। उन दिनों कैवेंडिश प्रयोगशाला के अध्यक्ष, प्रसिद्ध भौतिकशास्त्रविद् सर जे० जे० टॉमसन थे और रसायन के क्षेत्र में जेम्स डेवार ने हैड्रोजन को तरल रूप देने में नयी-नयी सफलता पायी थी। केम्ब्रिज अपने अध्ययनशील वातावरण के लिए प्रसिद्ध था और इसलिए सिविल सर्विस प्रतियोगिता की परीक्षा पास करने के इच्छुक भारतीय विद्यार्थी, आक्सफ़ोर्ड या अन्य ब्रितानी विश्वविद्यालयों की अपेक्षा केम्ब्रिज में ही जाते थे। उस समय के प्रतिभाशाली भारतीय विद्यार्थी की सबसे बड़ी आकांक्षा इंडियन सिविल सर्विस में नौकरी ही होती थी। तरुण जवाहरलाल ने भी सिविल सर्विस प्रतियोगिता का विचार किया था, किन्तु डिग्री लेने के समय उनकी आयु केवल २० वर्ष होने के कारण उन्हें परीक्षा के लिए और दो वर्ष रुकना पड़ता, और इसके अलावा मोतीलाल जी भी स्वभावतः यह चाहते थे कि उनका इकलौता बेटा उन्हीं का अनुसरण करे और वकालत करे। फलतः फ़ैसला क़ानून-शिक्षा के पक्ष में हुआ, और जवाहरलाल बैरिस्टर हो गये। वकालत के क्षेत्र में जवाहरलाल का प्रभाव विशेष नहीं पड़ा; इसका कारण चाहे यह रहा हो कि उनको इस पेशे में दिलचस्पी नहीं थी, चाहे यह कि उनके पिता के तेजस्वी व्यक्तित्व ने उन्हें छाया में डाल दिया। प्रसिद्ध वकीलों के वकील लड़कों को अपने पिता की-सी सफलता पाते हुए कम ही देखा जाता है और इसकी सम्भावना तभी हो सकती है जब कि वे अपने पिता के कार्यक्षेत्र से दूर कहीं जाकर वकालत करें। जवाहरलाल ने अपने पिता के सहयोगी के रूप में ही कुछ काम किया, लेकिन यह स्पष्ट था कि उनकी रुचियाँ और उनके जीवन की परिपाटी ऐसी नहीं थी कि उन्हें सफल वकील बनाने में सहायक हो।

फ़रवरी १६१६ में वसन्त पंचमी के दिन, २६ वर्ष की आयु में, जवाहरलाल का विवाह कर दिया गया। भोली वधू कमला की आयु केवल १७ वर्ष की थी। किन्तु वय, शिक्षा और दृष्टिकोण के भारी अन्तर के बावजूद विवाह बहुत सफल रहा। उन दिनों की प्रथा के अनुसार निर्वाचन माता-पिता ने ही किया था और विवाह भी पिता की प्रतिष्ठा के अनुकूल धूम धाम के साथ दिल्ली में सम्पन्न हुआ। विवाह के बाद जवाहरलाल सपत्नीक कश्मीर गये, जहाँ उन्होंने हिमालय की अद्वितीय पर्वत-श्रेणियों और उपत्यकाओं की सैर की। जवाहरलाल जी साहसिक कर्मों के सदा शौक़ीन रहे हैं, और उनका विवाह कदाचित् उनके घटना-बहुल जीवन का भी एक विशेष महत्त्वपूर्ण साहसिक कर्म था। दोनों ही संवेदनाशील और प्रचंड स्वभाव के थे; फिर भी उनमें गहरा स्नेह था। विवाह के लगभग दो वर्ष बाद उनकी एकमात्र सन्तान इन्दिरा प्रियदर्शिनी का जन्म हुआ। किन्तु दाम्पत्य-सुख के ये प्रारम्भिक दिन जवाहरलाल के जीवन में दुबारा नहीं आये, क्योंकि सन् १६१६ के

अन्तिम दिनों में जवाहरलाल की भेंट गान्धी जी से हो चुकी थी, और उनके भीतर महान् परिवर्तन हो रहा था। उसके बाद से जवाहरलाल के और समूचे नेहरू परिवार के जीवन में एक नयी और असाधारण गति और तीव्रता आयी। जवाहरलाल के वैवाहिक जीवन का अन्त २८ फ़रवरी १९३६ को हुआ, जब कमला जी ने स्विट्जरलेंड के बाडेनवाइलर स्थान में शरीर छोड़ दिया। विवाहित जीवन के २० वर्ष बहुत जल्दी ही बीत गये, क्योंकि जवाहरलाल खेल की चिड़िया की तरह जेल के अन्दर-बाहर ही होते रहे और कमला जी का स्वास्थ्य क्रमशः गिरता रहा। सन् १९१७ के बाद से जवाहरलाल की राजनीतिक व्यस्तता के कारण उन्हें पारिवारिक मामलों को देखने का बहुत कम समय मिलता रहा, यहाँ तक कि अपनी बेटी के कोमल और संवेदनाशील मन के विकास का भी ध्यान वे न रख पाते। राजनीतिक हलचलों के कारण उनके पास दाम्पत्य सुख के लिए समय ही न रहा। यह तो निरन्तर जेल के लम्बे-लम्बे एकान्तवास के समय ही जवाहरलाल ने जाना और अनुभव किया कि उन्होंने क्या खोया है; और किस प्रकार जो परिवर्तन सारे देश में और विशेष रूप से नेहरू परिवार में हुआ उसने उनके सुखी जीवन के स्वप्न को बिल्कुल नष्ट कर डाला। जवाहरलाल ने मार्मिक ढंग से लिखा है :

"हमारे विवाह के साथ-साथ राजनीति में नयी हलचल शुरू हुई और मेरा ध्यान अधिकाधिक उधर जाने लगा। वह होमरूल के दिन थे : शीघ्र ही पंजाब में मार्शल लॉ और फिर असहयोग का जमाना आ गया, और मैं सार्वजनिक जीवन के संघर्ष में और भी उलझता गया। और इन कामों में मेरी एकाग्रता यहाँ तक पहुँची कि मैं अनजाने ही उसकी (कमला की) उपेक्षा ठीक उस समय करने लगा जब कि उसे मेरे सहयोग की सबसे अधिक ज़रूरत थी। फिर भी उसके प्रति मेरा स्नेह बढ़ता ही रहा, और मुझे यह सोचकर बहुत सन्तोष मिलता था कि वह अपने शीतल प्रभाव के साथ मेरी सहायता कर रही है। मुझे उससे बल मिला, लेकिन उसे कष्ट अवश्य हुआ होगा और उपेक्षा का भी बोध हुआ होगा। बल्कि इस अनमनेपन से तो स्पष्ट उपेक्षा ही कदाचित् कम कष्टकर होती।

"फिर उसकी लम्बी बीमारी आरम्भ हुई और मेरी जेल-यात्राएँ, जिनके दौरान में हम लोग केवल जेल की नियमित मुलाक़ात ही कर सकते थे। सविनय अवज्ञा आन्दोलन में मैंने भी प्रमुख रूप से भाग लिया, और जब उसे भी जेल भेजा गया तो वह बहुत प्रसन्न हुई। हम लोग एक दूसरे के और भी निकट आ गये। हम लोगों की दुर्लभ मुलाक़ातें और भी मूल्यवान् हो गयीं और हम उनकी प्रतीक्षा करते हुए दिन गिनने लगे। अतः एक दूसरे से ऊबने का प्रश्न ही नहीं था, क्योंकि हम लोगों की मुलाक़ातों और अल्पकालिक सहवास में सर्वदा एक नयापन रहता था। हम लोग मानो एक दूसरे के विषय में नया आविष्कार करते रहते थे, भले ही वह आविष्कार सदैव रुचिकर न होता हो! हम लोगों के वयस्क मतभेदों में भी कुछ बच्चों का-सा भाव रहता था।"

राष्ट्र की पुकार के उत्तर में कमला ने भी अपने पति का अनुसरण किया, यद्यपि उनका स्वास्थ्य गिर रहा था। सन् १९३४ से वह और भी तेजी से गिरने लगा, और जवाहरलाल को उनसे भेंट करने के लिए देहरादून जेल से ११ दिन की मोहलत मिली।

"मेरी रिहाई के बाद का ग्यारहवाँ दिन था—अगस्त २३; पुलिस की मोटर आ पहुँची और पुलिस के अधिकारी ने मेरे पास आकर कहा कि मेरी अवधि पूरी हो चुकी और मुझे उसके साथ नैनी जेल चलना होगा। मैंने परिवार के लोगों से बिदा ली। जब मैं पुलिस की गाड़ी पर सवार हो रहा था तो मेरी बीमार माँ फिर बाहें फैलाये दौड़ी हुई मेरी ओर आयीं। उनका वह चेहरा बहुत दिनों तक मेरी आँखों के सामने घूमता रहा।"

वर्षों के वियोग ने जवाहरलाल और कमला के सम्बन्ध को और भी गहरा कर दिया था। अपनी प्रिय जीवन-संगिनी की क्रमशः बढ़ती हुई दुर्बलता से जवाहरलाल का भावुक हृदय दुश्चिन्ताओं से भरा रहता था। वह दिन पर दिन और हफ़्ते पर हफ़्ते कमला जी के स्वास्थ्य की खबर की प्रतीक्षा करते रहते : "अन्त में सितम्बर का महीना समाप्त हुआ; वे मेरे जीवन के सबसे लम्बे और सबसे कष्टकर ३० दिन थे।" अक्टूबर के आरम्भ में उनसे फिर भेंट होने वाली थी और यह निश्चय किया गया था कि कमला जी को भुवाली ले जाया जाए, जहाँ का वातावरण अनुकूल होगा और जहाँ यक्ष्मा का इलाज भी अच्छा हो सकेगा। बन्दी जवाहरलाल को भी अलमोड़ा भेज दिया गया ताकि वे कमला जी के निकटतर रह सकें।
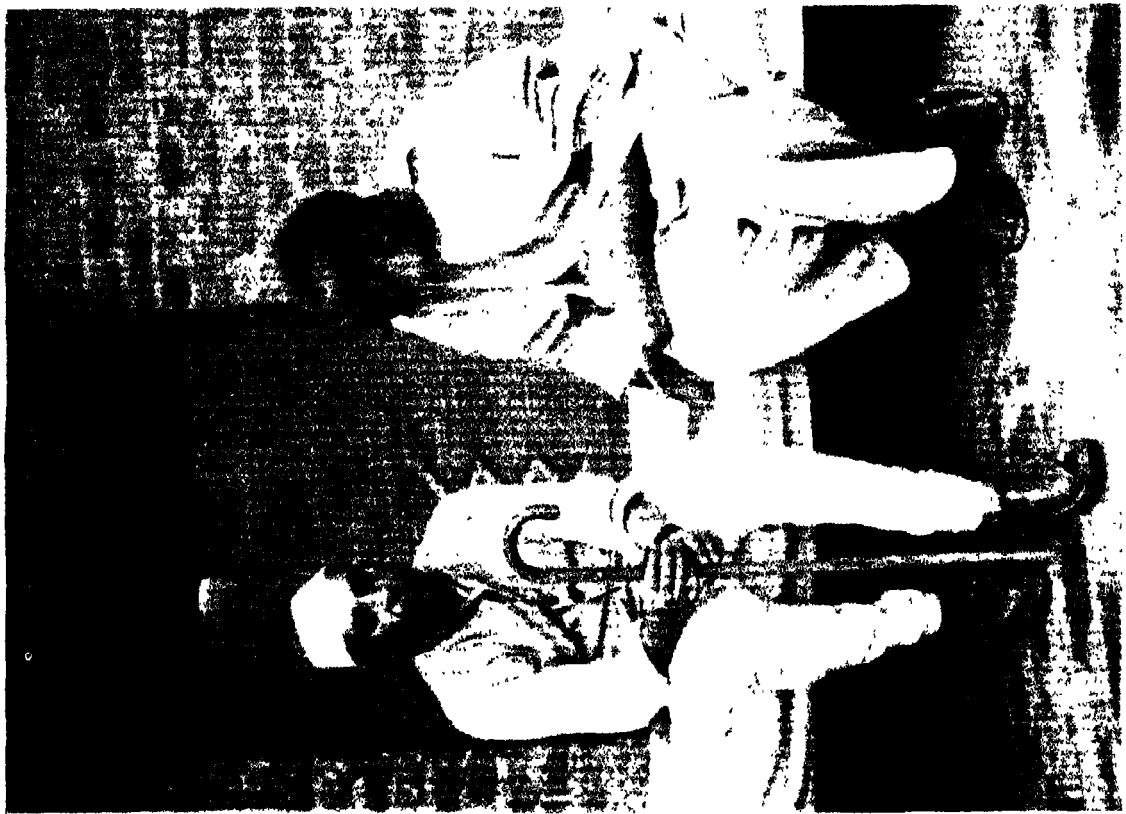
नेहरू और खान अब्दुल गफ्फ़ार, पेशावर १९४०

नेहरू और नरेन्द्रदेव

मालवीयजी की रोग शय्या के पास
महात्माजी के द्वार पर
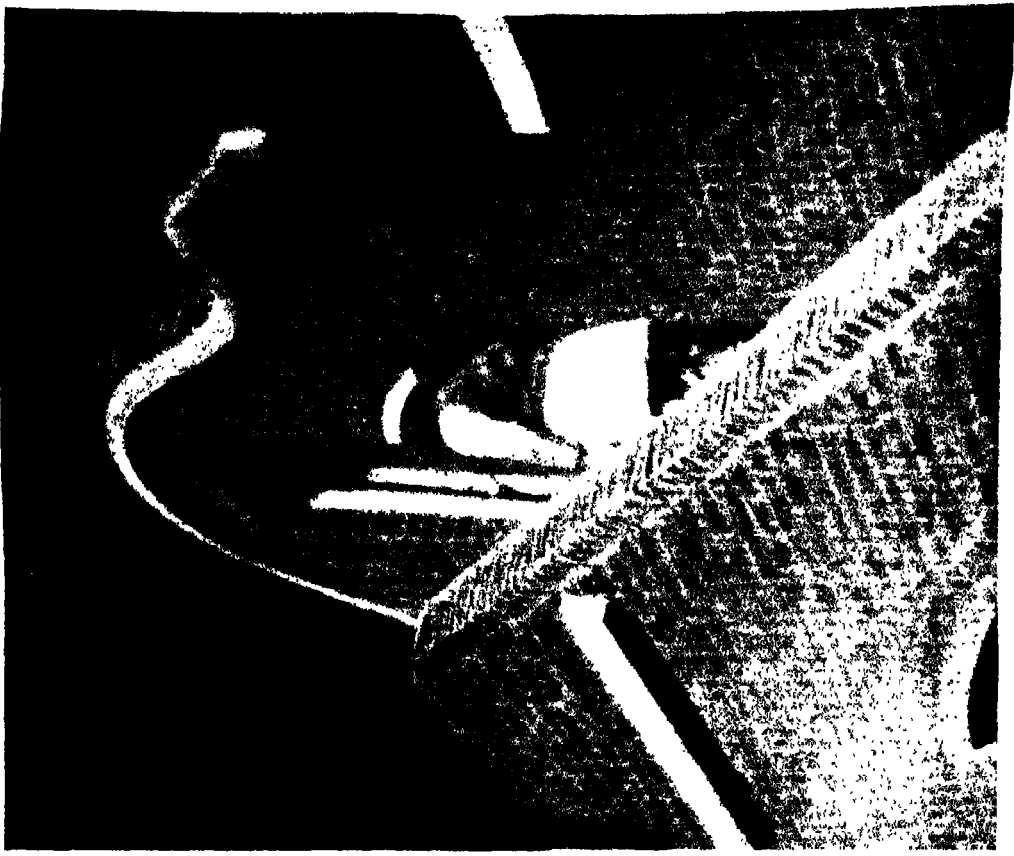
जवाहरलाल सभा से पहले महात्मा जी से विशेष परामर्श के लिये
उनके कमरे की ओर जा रहे हैं

पहाड़ों में पहुँच कर उन्हें सान्त्वना और स्फूर्ति मिली। निरन्तर बदले हुए पर्वतीय दृश्य को, सूखे पहाड़ों और हरी-भरी वादियों को जवाहरलाल प्यासी आँखों से देखते रहते। जेल के उन अकेले दिनों में जवाहरलाल का सहज प्रकृतिप्रेम और भी बढ़ गया। बादलों, झरनों, बर्फ़, धूप, पक्षियों, वनस्पतियों और फूलों में उनकी दिलचस्पी और भी तीव्र हो उठी और दैनिक जीवन के विरक्तिकर व्यापारों से अन्तर्मुख हो कर उन्होंने अपने भीतर शक्ति और आनन्द के चिरन्तन स्रोतों का आविष्कार किया। अल्मोड़े का छोटा-सा जेल एक ऊँची पहाड़ी पर बना हुआ है, और उन्हें रहने के लिए एक "शानदार बैरक" मिली थी, ५१ फ़ुट लम्बी और १७ फ़ुट चौड़ी, जिसमें १५ खिड़कियाँ और एक फाटक था। वह एक भव्य एकान्त में रह रहे थे। लेकिन अकेले नहीं, क्योंकि "कम से कम दो कोड़ी गौरैया चिड़ियों ने टूटी हुई छत में घोंसला बना रखा था। कभी-कभी कोई भटकता बादल भी मुझ से भेंट करने आता था; उसके असंख्य बाहु खिड़कियों और दरारों में से धीरे-धीरे सरकते हुए भीतर आते और सारी बैरक को एक गीली धुन्ध से भर जाते।"

अल्मोड़ा जेल में अपने जीवन के बारे में उन्होंने लिखा है :

> "और सूरज के उठने के साथ-साथ उसकी स्निग्ध गर्मी से पहाड़ मानो अपनी दूरी खोकर सौहार्द से उमड़ आता था। किन्तु दिन ढलते ही उसका रूप कैसे बदल जाता था! 'जब रात लम्बे-लम्बे डग भरती हुई छा जाती,' तब पहाड़ का रूप भी कैसा ठंडा और रूखा हो आता! सभी जानवर तब पहाड़ों की शरण लेते और वन्य प्रकृति शिकार पर निकलती। चाँदनी अथवा तारों के धुँधलके में पहाड़ रहस्यमय, डरावने, विराट् हो आते; लेकिन साथ ही साथ मानो अपार्थिव भी हो जाते, और उपत्यकाओं में हवा की आहें सुनाई पड़ने लगतीं। पथ का अकेला यात्री सहसा मानो वैमनस्य की कल्पना से सिहर उठता। हवा की आवाज़ मानो उसे चिढ़ाती और ललकारती। दूसरे अवसरों पर हवा निश्चल होती; ऐसी निस्तब्ध शान्ति फैल जाती कि उसके बोझ से मानो दम घुटने लगता। केवल बिजली के तार कभी-कभी काँप जाते, और तारे और भी उज्ज्वल हो कर चमकने लगते। पहाड़ों की कठोर रुखाई देखकर जान पड़ता कि कोई आतंककारी रहस्य सामने खड़ा है। पैस्काल की भाँति व्यक्ति कह उठता, 'विराट् शून्य का चिर-मौन कितना भयानक है!' समतल प्रदेश की रातें कभी इतनी मौन नहीं होतीं, वहाँ फिर भी जीवन का स्वर सुना जा सकता है और असंख्य पशुपक्षियों और कीट-पतंगों की गुन-गुनाहट रात की शान्ति को भंग करती रहती है।"

जवाहरलाल का पारिवारिक जीवन उनके पिता के प्रबल व्यक्तित्व के भार से दबा हुआ था। मोतीलालजी का व्यक्तित्व भव्य और तेजस्वी था और उससे आत्मविश्वास मानो टपका पड़ता था। वह जैसे कमाते थे वैसे ही खुले हाथों खर्च भी करते थे। उनके स्वभाव में दब्बूपन या अधिक विनम्रता नहीं थी, और अपने सिवा किसी का नेतृत्व उन्हें मुश्किल से सहन होता था। वकीलों के तो वह निर्विवाद नेता ही थे। भारतीय धारासभाओं के विजयी कांग्रेस दल के भी वह नेता रहे और उस क्षेत्र में उनके क़ानून और विधान सम्बन्धी ज्ञान और गहरी सूझ तथा उनकी समर्थ पैरवी का बहुत प्रभाव पड़ा। लेकिन यह सब होते हुए भी उनके व्यक्तित्व की निष्पत्ति इस क्षेत्र में न हुई। यह गान्धी जी का रूपान्तरकारी जादू ही था कि मोतीलाल नेहरू, और कलकत्ते के वकीलों के अग्रणी स्वर्गीय चित्तरंजन दास जैसे व्यक्ति, गान्धी जी के अनुगामी और सहकर्मी हो गये; और सब तरह के ऐश्वर्य और विलास का भोग करने वाले व्यक्ति उसे त्याग कर कठोर तपस्या और निर्धन जनता के साथ एकप्राणता का जीवन बिताने लगे। मोतीलाल जी ने अपने नये जीवन को भी उसी उत्साह और तन्मयता के साथ स्वीकार किया जिसके साथ उन्होंने वकालत के क्षेत्र में इतना धन और यश कमाया था। उन्होंने भी बिना शिकायत के हँसते-हँसते कारावास की यातनाएँ और प्रियजनों से वियोग सहा। मोतीलाल जी का देहान्त लखनऊ में हुआ। एक वीर और ऐश्वर्यवान् व्यक्तित्व के उठ जाने पर देश में शोक की जो लहर फैली, और दिवंगत मोतीलाल जी की शवयात्रा में जो लाखों की भीड़ गयी, उसका दृश्य मुझे अब भी याद है। स्वतः आमन्त्रित कष्ट और संघर्ष में ही मोतीलाल जी का चारित्रिक बल और उत्कट जीवनप्रेम सम्पूर्ण निष्पत्ति पा सका।

अपने पिता के महान् व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव जवाहरलाल पर पड़ा। माता का प्रभाव, जैसे कि भारतीय परिवार में होता है अधिक सूक्ष्म, गहरा और अदृश्य रहा। भारतीय माता एक अद्वितीय विभूति है। सन्तान के कष्ट के समय वह अपने आप को भूल कर उसकी सेवा में लीन हो जाती है। पति और सन्तति के साथ उसका लगाव और एकात्मता अवर्णनीय है। जवाहरलाल की माता स्वरूपरानी देवी, भारतीय नारी के त्याग और निःस्वार्थ सेवा के युगव्यापी आदर्श का

मूर्त रूप थीं। उनका जीवन पति और सन्तान के प्रति समर्पित था। जब आनन्द-भवन के जीवन की परिपाटी बदल गयी और मोतीलाल तथा जवाहरलाल बार-बार जेल जाने लगे, तब स्वरूपरानी को अपने नये समर्पण का एक और अवसर मिला। अपने वय:प्राप्त और दुर्बल शरीर की चिन्ता न करके उन्होंने अपने को भी उसी महान् संघर्ष में अर्पित कर दिया जिसमें उनके प्रियजन भाग ले रहे थे। एक आदर्श के प्रति ऐसा सहज समर्पण आज भी भारतीय नारी की विशेषता है।

परिवार के भीतर जवाहरलाल और उनकी बहन विजयालक्ष्मी में स्नेह और विचार-साम्य का एक सूक्ष्म तन्तु है। देशदूत विजयालक्ष्मी को अपने मनचले, झक्की, लापरवाह और अत्यन्त परिश्रमी भाई का घर सँभालने में बहुत रस मिलता है। उनका आतिथ्य अद्वितीय है, क्योंकि वह न केवल दक्ष और सभा-चतुर हैं बल्कि अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों की रुचियों को समझने की सहज क्षमता रखती हैं। बहन की उपस्थिति में जवाहरलाल जी एक गहरे सन्तोष का अनुभव करते हैं, क्योंकि उसी में उन्हें उस पारिवारिक घनिष्ठता का रस मिलता है जिसकी उन्हें यदा-कदा झाँकियाँ ही मिल सकी हैं।

आनन्द-भवन का वातावरण अतुलनीय था। परिवर्तित देश-काल में उसकी पुनः स्थापना असम्भव है। विलास और शालीनता का वह स्फूर्तिमय जीवन मानो किसी भूले हुए युग की चीज़ है। पिछली एक पीढ़ी में जीवन की गति कहीं अधिक प्रखर हो गयी है, और आज के जीवन की तीव्रता, संघर्ष और कटुता ने जीवन के सन्तुलन, भव्यता और शान्ति को सदा के लिए नष्ट कर दिया है।

२
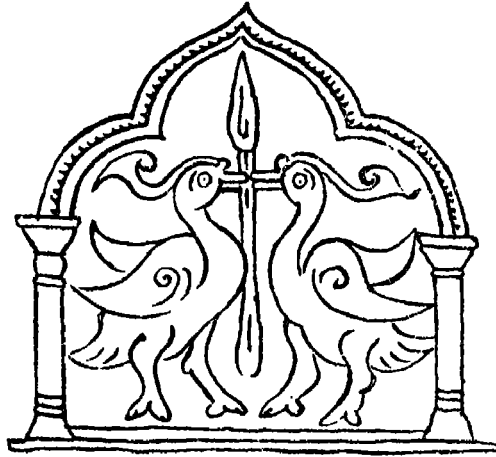
गान्धीजी का प्रवेश

गान्धीजी से मेरी भेंट पहले पहल सन् १६११ में लंडन के बेजवाटर नामक मुहल्ले के छोटे-से मकान में हुई। मैं सन्ध्या के समय बापू से भेंट करने गया था—उस समय भी वह बापू कहलाने लगे थे—महात्माजी के दक्षिणी अफ़्रीका के शिष्य श्री कालेनबाक ने मेरे लिए दरवाजा खोला। वह इस समय बग़ैर कोट के थे और हाथ में एक सेब लिये खा रहे थे। वह हमें उस कमरे में ले गये जहाँ पर गान्धीजी कम्बल ओढ़े भूमि पर बैठे थे। उन्होंने हमें कुर्सी दी, लेकिन हमने भी नीचे बैठना पसन्द किया। उस समय की मुझे केवल इतनी ही याद है कि कालेनबाक ने महात्माजी से जिज्ञासा की थी कि वैध साधनों से कभी कहीं राजनीतिक आजादी नहीं प्राप्त की जा सकी; और अपनी दलील के पक्ष में आयरलेंड का उदाहरण दिया था। बापू ने केवल इतना ही कहा कि कालेनबाक के लिए यही जानना पर्याप्त होना चाहिए कि गान्धीजी का मत वैसा नहीं। मेरे युवा मस्तिष्क को यह कथन अधिकार का दुरुपयोग जान पड़ रहा था, लेकिन वास्तव में गान्धी जी की बात ही निराली होती थी।

मुझे उनका केम्ब्रिज-आगमन अच्छी तरह याद है। उन दिनों गुजरात राजनीतिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था। बंगाल, पंजाब, और महाराष्ट्र बहुत आगे थे। गुजराती केवल व्यापारी थे या कुछ साधारण कोटि के राजनीतिक; लेकिन कोई उल्लेखनीय विद्वान्, लेखक, वकील या हाईकोर्ट के जज भी नहीं थे। इसलिए जब केम्ब्रिज की इंडियन मजलिस ने गान्धी जी को भाषण देने के लिए निमन्त्रित किया तब मेरे प्रान्तीय गुजराती अभिमान को उत्तेजना मिली, और औरों के साथ मैं भी भारत के राजनीतिक आकाश के इस नये तारे का स्वागत करने गया। लेकिन स्टेशन पहुँच कर मुझे कितनी निराशा हुई जब मैंने देखा कि हमारे अतिथि एक दुबले-पतले और अत्यन्त साधारण दीखने वाले व्यक्ति हैं जिन्होंने अंग्रेज़ी भद्र-समाज का परम्परागत वेश पहन रखा है। उनके साथ पारसी वेश में स्वर्गीय सोहराबजी थे और एक प्रौढ़ मुसलमान सज्जन जो लाल तुर्की टोपी पहने हुए थे। यूरोपीय वेश में गान्धीजी ऐसे लगते थे मानों थैकरे के 'वेनिटी फ़ेयर' का कोई पात्र सामने आ गया है! हमने उन्हें दोपहर के भोजन का निमन्त्रण दिया था, लेकिन खाने बैठने पर मालूम हुआ कि वह कट्टर शाकाहारी हैं, और इसलिए उनके लिए जल्दी से आलू और प्याज़ के चाप तैयार किये गये। ढाई बजे उन्हें भाषण देना था! सभा भी सर्वथा असाधारण थी। लच्छेदार अंग्रेज़ी भाषणों के हम अभ्यस्त थे, लेकिन उस दिन जैसी सभा हुई वह हमारे लिए एक बिल्कुल नया अनुभव था जिसकी स्मृति आज भी बिल्कुल ताज़ी है। गान्धीजी के साथी, जो सब चलती हिन्दुस्तानी में बातें करते थे, गान्धीजी को 'बापू' और कस्तूर बा को 'बा' कहते थे।

गान्धीजी बोलने उठे। उनका स्वर असाधारण था और उसमें गहरे आत्म-विश्वास की गूंज थी। उस पीढ़ी के श्रोताओं के लिए उनके भाषण का ढंग अपरिचित था; क्योंकि उसमें वक्तृत्व-कौशल नहीं था बल्कि एक दुर्लभ शान्ति-मय व्यक्तित्व की अन्तःशक्ति का एक जलता हुआ प्रतिबिम्ब। दक्षिणी अफ़्रीका में जनरल स्मट्स की सरकार द्वारा जारी किये गये अन्यायपूर्ण क़ानूनों के विरुद्ध आन्दोलन कर के महात्माजी बहुत काफ़ी ख्याति पा चुके थे, तथापि भारत में उनका नाम उतना सर्व-विदित नहीं था और स्वर्गीय गोपाल कृष्ण गोखले द्वारा की गयी प्रशंसा तक ही सीमित था।

गोखले स्वयं एक असाधारण व्यक्ति थे। आज के भारतवासी के लिए उनके महत्त्व को ठीक-ठीक समझना और उनकी सेवाओं का मूल्य आँकना कठिन है। उन्होंने अत्यन्त विनीत और अनाडम्बरपूर्ण ढंग से देश की सेवा की। तत्कालीन व्यवस्थापिका में वह अग्रणी थे, और मुहम्मद अली जिन्ना के निकट सहयोगी। एक उदार और निर्भीक राजनीतिज्ञ तथा भारत की आर्थिक समस्याओं के विशेषज्ञ के रूप में गोखले की बहुत ख्याति थी। बीसवीं शती के आरम्भ में करेंसी कमीशन के सामने उन्होंने जो बयान दिया था उसका उल्लेख केम्ब्रिज के स्कूल ऑफ़ इकनामिक्स में प्रायः होता था, क्योंकि भारतीय अर्थशास्त्र के अध्येता के लिए वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। गोखले सर्वथा नपी-तुली बातें कहते थे और कभी

भावुकता के प्रवाह में बह नहीं जाते थे। उन्होंने बम्बई के विल्सन कालेज में भाषण देते हुए गान्धीजी का परिचय यह कह कर दिया था कि 'संसार के एक सुदूर कोने में उन्होंने भारतवासियों के लिए वह काम किया है जिसकी उनके देशवासी कल्पना भी नहीं कर सकते; और आन्दोलन को ऐसे तल पर चलाया है जिस पर कोई बिरला ही राजनीतिक कार्यकर्त्ता पहुँच सके।'

इस भाषण ने बम्बई के एक असाधारण मेधावी और प्रतिभावान् व्यक्ति का भविष्य निर्णय कर दिया। वह व्यक्ति थे गान्धीजी के आजीवन सहयोगी, श्रेष्ठ अनुयायी और परम मित्र स्वर्गीय महादेव देसाई। महादेव भाई सन् १९४६ में यरवदा जेल में अपनी मृत्यु तक गान्धीजी के साथ रहे, और जिस गुरु के प्रति उन्होंने अपने को सम्पूर्णतया समर्पित कर दिया था, उसी के हाथों दाह-कर्म का गौरव उन्होंने पाया।

गान्धीजी ने गोखले को अपना गुरु कहा था, और गुरु ने शिष्य के विषय में कहा था कि वह 'साधारण मिट्टी से वीरों का निर्माण करता है।' दिसम्बर १९०९ में लाहौर में कांग्रेस के २४वें अधिवेशन के समय गोखले ने गान्धीजी के विषय में कहा था :

> "गान्धीजी उन लोगों में से हैं जो सत्य, न्याय और लोक-कल्याण के आदर्शों के प्रति समर्पित होकर तपस्या का जीवन बिताते हुए अपने साधारणतर भाइयों को नयी दृष्टि देते हैं। वह उस कोटि के व्यक्ति हैं जिन्हें हम मानवों में मानववर, वीरों में वीरवर, देशभक्तों में शिरोमणि कह सकते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि उनमें भारतीय जाति ने अपने विकास का उच्चतम शिखर छू लिया है।"

फ़रवरी १९१५ में गोखले का देहान्त हो गया। राजनीतिक क्षेत्र में उनके कट्टर विरोधी बाल गंगाधर तिलक ने उनको श्रद्धांजलि देते हुए कहा था :

> "यह आँसू बहाने का अवसर नहीं है। भारत का यह हीरा, महाराष्ट्र की यह मणि, राष्ट्रकर्मियों का यह अग्रणी आज चिताभूमि पर अनन्त शयन कर रहा है। उनकी ओर देखें और उन जैसा बनने का व्रत लें। आप में से प्रत्येक को उनका जीवन आदर्श के रूप में सामने रखना चाहिए, और उनकी मृत्यु से जो स्थान रिक्त हो गया है उसे भरने का यत्किंचित् प्रयत्न करना चाहिए। आप अगर निष्ठापूर्वक यह उद्योग करेंगे तो स्वर्ग में उनकी आत्मा को शान्ति मिलेगी।"

सन् १९१५ में भारत लौटने से पहले मैं और भी दो-एक बार गान्धीजी से मिला था, पर इन मुलाक़ातों का मुझे ठीक-ठीक स्मरण नहीं है। सन् १९१५ में मैं अहमदाबाद लौटा तो मुझे ज्ञात हुआ कि गान्धीजी नगर के बाहर कोचरब नाम की बस्ती में एक बँगले में रहते हैं। वहीं मैं उनसे भेंट करने गया। कस्तूर बा चक्की पीस रही थी, और गान्धीजी—जहाँ तक मुझे याद है—कुछ हरिजन बच्चों को अक्षरज्ञान करा रहे थे। उन्होंने मुझे बताया कि अछूतों को घर में प्रवेश करने देने के गुरु अपराध पर मकान-मालिक ने उन्हें मकान छोड़ने का नोटिस दे रखा था। इंडियन सिविल सर्विस परीक्षा पास करने वाले अहमदाबाद के प्रथम युवक के नाते मुझे नगर के लोगों से अभिनन्दन-पत्र मिलने वाला था, और मेरे चचा ने तथा मैंने गान्धीजी से सभा में सम्मिलित होने का अनुरोध किया। कदाचित् वही एक मात्र ऐसा उदाहरण था कि गान्धीजी किसी ऐसी सभा में गये हों जो किसी के सिविल सर्विस में उत्तीर्ण होने पर बधाई देने के लिए बुलायी गयी हो! जैसा कि दुर्भाग्य से अब भी ऐसे अवसरों पर प्रायः होता है, मेरे गुणों का लम्बा-चौड़ा बखान सभा में किया गया। मैंने गान्धीजी से, जो काठियावाड़ी अँगरखा और पगड़ी पहने मंच पर मेरे पास ही बैठे थे, अनुरोध किया कि वह इसके निराकरण में कुछ कहें। उन्होंने उठ कर कहा, और उचित ही कहा, कि अगर मेरे बारे में जो कुछ कहा गया उसका शतांश भी ठीक हो, तो अहमदाबाद के नागरिकों को दुःखी होना चाहिए कि मैं सरकारी नौकरी में चला गया! मुझे याद है कि सभापति सर चिनूभाई मोतीलाल ने 'दक्षिण अफ़्रीका के इस नवागन्तुक' की अशिष्टता की बात मुझे कही थी। तब से गान्धीजी के देहान्त तक मेरा उनसे सम्पर्क रहता ही रहा।

गान्धीजी के बढ़ते हुए राजनीतिक प्रभाव की मेरी पहली स्मृति सन् १९१८ की है, जब उन्होंने अहमदाबाद के मज़दूर संघ का, जिसे श्री अनुसूया साराभाई ने संगठित किया था, संचालन अपने हाथों में ले लिया था। मज़दूरों ने अनुशासन का नया पाठ अच्छी तरह सीखा था, और मुझे याद है कि गान्धीजी का निर्णय जब उनके विरुद्ध हुआ तब उन्होंने किस धैर्यपूर्ण मौन के साथ उसे सुन लिया। ऐसी ही थी दक्षिण अफ़्रीका से आये हुए उस व्यक्ति की शक्ति—ऐसे समय में

कमला नेहरू अस्पताल का शिलान्यास

सांवल वर्मा के सौजन्य से

ख़ान अब्दुल गफ़्फ़ार, जवाहरलाल नेहरू और पं० मदनमोहन मालवीय

आज़ाद हिन्द फौज के पैरवीकार

कैलाशनाथ काटजू, तेजबहादुर सप्रू और जवाहरलाल नेहरू हाथ में हाथ डाले लाल किले में प्रवेश कर रहे हैं।

परीक्षा में बेतवा के बाँध पर

चिरगांव यात्रा के समय मैथिलीशरण गुप्त के साथ

जब कि भारतीय राजनीति मुख्यतया कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में दिये गये भाषणों और कोरे प्रस्तावों तक ही सीमित होती थी। जवाहरलाल की प्रतिभा उस समय इलाहाबाद बार में मोर्चा खा रही थी। वकील का चोग़ा पहन कर वह कभी पिता के सहकारी के और कभी स्वतन्त्र रूप में हाईकोर्ट के चक्कर अवश्य काटते थे, किन्तु जीविका, या नाम भी कमाने का प्रश्न मोतीलाल नेहरू के इकलौते बेटे के लिए कोई महत्त्व नहीं रखता था। जवाहरलाल नये अनुभव और नये साहसिक कर्म के लिए ललक रहे थे। प्रचलित राजनीतिक ढर्रे में उन्हें उतनी ही कम रुचि थी जितनी हाईकोर्ट की वकालत में। सन् १९१६ के जाड़ों में गान्धीजी से उनकी भेंट हो चुकी थी। सन् १९१७ में गान्धीजी ने अपनी नयी कार्य-परिपाटी के दो प्रयोग, यद्यपि छोटे पैमाने पर, कर लिये थे—एक चम्पारन ज़िले में और एक खेड़ा (गुजरात) में। किन्तु भारत के राजनीतिक विकास की साधारण गति में ये दो घटनाएँ अपवाद ही थीं। सन् १९१७ में श्रीमती एनी बेसेंट ने 'होमरूल लीग' की स्थापना करके सरकार की सत्ता को चुनौती दी। वृद्धा महिला को नज़रबन्द कर दिया गया। राजनीतिक असन्तोष का पारा चढ़ने लगा, और क्रमशः स्पष्ट होने लगा कि दक्षिण अफ़्रीका से आये हुए एक बहुत साधारण दीखने वाले और लगभग अज्ञात व्यक्ति का भारत के राजनीतिक जीवन में प्रमुख स्थान होने वाला है। सन् १९१९ में गान्धीजी बहुत बीमार हुए। सरकार तब राजनीतिक नेताओं और पत्रों का दमन करने वाले नये क़ानून जारी करने का निश्चय कर चुकी थी और ये क़ानून 'रौलट एक्ट' के नाम से विख्यात हो गये थे। गान्धीजी ने रोगशय्या से ही विरोध की आवाज़ उठायी, और वायसराय से अपील की कि वह इन आपत्तिजनक क़ानूनों को अपनी स्वीकृति न दें। देश के इतिहास में वह बड़े महत्त्व का क्षण था, क्योंकि वहाँ से राजनीति का दिशा-परिवर्तन हुआ। उस समय तक नेतृत्व सुशिक्षित और प्रतिभाशाली वकीलों का था, जो नाप-तौल कर ऐसे ढंग से भाषण देते थे कि प्रभाव तो गहरा पड़े पर उनकी निजी तरक़्क़ी पर उसका कोई प्रतिकूल असर न पड़े। उस समय का राजनीतिक नेतृत्व लड़खड़ाता हुआ और भीरु था, जोखिम उठाने से डरता था और शहरी जनता के ऊपरी अंश तक ही सीमित था। स्वतन्त्रता की प्यास और कसक तो थी, पर उसे प्राप्त करने का निश्चय और साहस नहीं था। परिणामतः देश के नौजवान कांग्रेस के नेतृत्व से भीतर ही भीतर असन्तुष्ट होते जा रहे थे या विरोध की भी तैयारी कर रहे थे। जब गान्धीजी ने 'सत्याग्रह सभा' का आरम्भ किया और एक ऐसे कार्यक्रम के लिए स्वयंसेवक भरती करने शुरू किये जिसकी अप्रीतिकर सम्भावनाएँ स्पष्ट दीखती थीं, तब जवाहरलाल को मानों एक नया स्वर सुनाई पड़ा "जो कि दूसरे स्वरों से सर्वथा भिन्न था। वह शान्त और धीमा था, मगर भीड़ की चिल्लाहट में भी सुना जा सकता था; मधुर और कोमल था, मगर उसमें कहीं इस्पात की कठोरता भी छिपी हुई थी; विनीत और द्रावक था पर साथ ही गम्भीर और आतंकित कर देने वाला भी। प्रत्येक शब्द अर्थ-भरा और दृढ़ता-सूचक होता था। शान्ति और मैत्री की भाषा के पीछे कर्म की और अन्याय न सहने के निश्चय की स्पन्दित छाया मँडराती थी। आज हम उस स्वर को अच्छी तरह पहचानते हैं; पिछले चौदह वर्षों में हमने उसे अनेक बार सुना है। पर फ़रवरी-मार्च १९१९ में वह स्वर हमारे लिए नया था; हम नहीं जानते थे कि उसे कैसे लें किन्तु उससे हममें बिजली की लहर दौड़ जाती थी। यह हमारी तब तक की राजनीति से कितना भिन्न था, जिसमें शोर और निन्दा के सिवा कुछ नहीं था, जिसमें लम्बे-लम्बे भाषणों के बाद विरोध के प्रभावहीन प्रस्ताव पास होते थे जिनकी कोई परवाह नहीं करता था। यह वचन की नहीं, कर्म की राजनीति का स्वर था।"

पंडित मोतीलाल नेहरू की राजनीति में दिलचस्पी थी, किन्तु प्रवृत्ति से वह नरम मत के थे, और उस अंग्रेज़ के लिए उनके मन में प्रशंसा का भाव था जिसकी भाषा और जीवन-परिपाटी उन्होंने अपना ली थी। मुझे याद है, सन् १९१५ में उन्होंने मुझसे कहा था कि इंडियन सिविल सर्विस के भारतीय सदस्यों का आदर करते हुए भी उनकी दृष्टि में उनमें ऐसे कम थे जो ज़िलाधीश होने की भी योग्यता रखते हों। यह मत उस समय काफ़ी प्रचलित था, क्योंकि यह प्रायः मान लिया जाता था कि भारतीयों में अंग्रेज़ों की-सी प्रबन्ध-पटुता और संचालन-शक्ति नहीं है और नहीं हो सकती। पंडित मोतीलाल मुख्य रूप से अपनी वकालत में ही व्यस्त रहते थे; इस बात की उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी कि ऐश-आराम में पला और विलायत में शिक्षित उन्हीं का इकलौता बेटा, ऐसा कर्म-क्षेत्र चुनेगा जिसमें क़दम-क़दम पर जेल-जीवन की यन्त्रणाएँ मुँह बाये खड़ी होंगी। मोतीलालजी दृढ़, आत्म-विश्वासी, शासन-प्रिय, तेजस्वी और विनोदी स्वभाव के थे; आनन्द-भवन में उनका अखंड साम्राज्य था। मुझे याद है, एक बार सवेरे नाश्ते पर किसी कारण वह नौकर पर क्रुद्ध हो गये और उसे उन्होंने वहीं खूब पीटा। मुझ जैसे विलायत से सद्यः लौटे हुए व्यक्ति के लिए यह अनहोनी बात थी;

इंग्लैंड में नौकरों से बिल्कुल दूसरे ढंग का बर्त्ताव किया जाता है। लेकिन उन दिनों भारत से अभी बेगार और निर्धनों की दासता का जमाना गया नहीं था।

आनन्द-भवन में प्रायः अतिथि आते रहते थे, और भवन के पुस्तकालय, बैठक, या कभी बरामदे में सभा जुटा करती थी। कमरों की सजावट उस काल की रुझान के अनुसार बिल्कुल यूरोपीय होती थी, भारतीय उसमें कुछ न होता था। ऐश्वर्य के लक्षण सर्वत्र दीखते थे, लेकिन भारतीय संस्कृति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था बल्कि भारतीय वस्तुओं की उपेक्षा ही होती थी, और भारत की चित्रकला या मूर्तिकला के गौरव की तो कल्पना भी किसी को न थी। उन दिनों इंग्लैंड के सस्ते छपे हुए चित्र ही भारत के सम्पन्न घरों की सजावट थे। घर की स्त्रियों का जीवन अलग ही था। आनन्द-भवन में भी जवाहरलाल की माता स्वरूपरानी का जीवन-क्षेत्र अलग था। विजयालक्ष्मी फ़ाक पहनती थीं और एक गवर्नेस उनकी शिक्षा के लिए नियुक्त थी। जिस कर्त्तव्य मात्र से वह पियानो पर संगीत के पाठ दुहराया करती थीं, वह मुझे अभी याद है।

संसार में सन्तों की कभी कमी नहीं रही, और भारत में तो उनकी विशिष्ट परम्परा है—गौतम बुद्ध, महावीर, कबीर, और अन्य कई सन्त यहाँ हुए हैं। अतः केवल सन्त-स्वभाव के कारण ही मोहनदास करमचन्द गान्धी उस उच्च शिखर पर न पहुँचते जिस पर वह पचीस वर्ष तक रहे। इस नये पैग़म्बर की विशेषता यह थी कि जहाँ उसके पूर्ववर्त्ती मानव-जीवन की असारता पर ही ज़ोर देते थे, और उसके कष्ट-क्लेश से मुक्ति पाने के लिए भगवद्भजन का मार्ग बताते थे, वहाँ गान्धीजी के लिए किसी का भी दुःख-क्लेश असह्य था और उन्होंने सहज श्रद्धा के साथ अपने जीवन और शक्तियों को जन-साधारण के कष्ट-निवारण के लिए समर्पित कर दिया था। प्राचीन सन्तों के लिए धर्म का अर्थ था ऐहिक जीवन और उसके काम-क्रोधादि विकारों से मुक्ति; किन्तु गान्धीजी की साधना और तपस्या भिन्न प्रकार की थी। उनका जीवन अत्यन्त सरल और स्वच्छ था। अपने अन्य देशवासियों के प्रतिकूल स्वच्छता, स्वास्थ्य और समय-पालन के विषय में उनके विचार बिल्कुल आधुनिक थे। किन्तु उनकी करुणा सर्वव्यापिनी थी, और वह इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि "एक भूखे राष्ट्र का न कोई धर्म होता है, न कला, न संगठन।" "लाख-लाख भूखी जनता के लिए जो उपयोगी है, वही मेरी दृष्टि में सुन्दर है। आज पहले हम जीवन की आवश्यक वस्तुएँ देने का प्रयत्न करें; जीवन का सौन्दर्य और प्रसाधन अपने आप आ जायगा।....मैं वह कला और साहित्य चाहता हूँ जो लाखों को छू सकता है।....लाखों के लिए जीवन चिरन्तन चौकसी या चिरन्तन बेहोशी है।" गान्धीजी का उद्देश्य था कि प्रत्येक आँख का प्रत्येक आँसू पोंछ डालें।

यदि वह अपने कार्यक्षेत्र को अपने प्रतिवेश या अपने देश से बाहर नहीं फैला सके, तो इसका कारण मानवी उद्योग की सहज मर्यादा ही था। प्राचीन सन्तों से भिन्न गान्धीजी उन लोगों के लिए आशा का सन्देश लाये जो न केवल अपनी सीमाओं के कारण कष्ट पा रहे थे बल्कि जो शासकों के प्रभुता-मद के कारण शोषित और प्रपीड़ित थे। अन्य सन्तों की तरह गान्धीजी ने परलोक में मुक्ति के आश्वासन नहीं दिये। उनका सन्देश था कि हमें यहीं और अभी अपने को स्वयं मुक्त करना है। इसमें वह कदाचित् लेनिन के ही अधिक निकट थे, जिसका उद्देश्य था साधारण जड़ की जीवनोन्नति में राज्य के सारे साधनों को लगा देना। लेनिन और गान्धी में अन्तर यही था कि गान्धीजी केवल साध्य पर ही नहीं, साधन पर भी बल देते थे। नैतिक जीवन के मानदंडों का उन्हें पूरा ज्ञान था, और उनकी दृष्टि में सत्य और परमात्मा पर्यायवाची शब्द थे। इसीलिए अपने जीवनकाल में, अपने सन्देश की सफलता के उतार-चढ़ावों में उन्होंने कभी सत्य पर अपना आग्रह नहीं छोड़ा; उनके लिए व्यक्ति के लिए भी और राज्य के लिए भी सत्य ही एकमात्र व्यावहारिक नीति थी। उचित साध्य के लिए भी केवल नीति-सम्मत साधनों के उपयोग पर गान्धीजी का यह निष्कम्प आग्रह ही उन्हें अन्य राजनीतिक नेताओं से पृथक् करता है। महात्माजी के मनःसंगठन की इस विशेषता को लक्ष्य करके ही गोपाल कृष्ण गोखले-जैसे पारखी ने कहा था कि गान्धीजी जिस तल पर हैं उस पर साधारण व्यक्ति की पहुँच नहीं है; और यह उस समय कहा था जब गान्धीजी अभी प्रायः अज्ञात थे!

आज जनवरी १९१५ के उस काल का प्रत्यवलोकन करें जब गान्धीजी भारत लौटे थे, तो इन वर्षों में होने वाले परिवर्त्तन कल्पना में ही नहीं समाते। क्रान्ति के बीज निस्सन्देह उस समय भी मौजूद थे; किन्तु वे पहले-पहल बोये तब गये जब वायसराय द्वारा रौलट एक्ट की स्वीकृति को चुनौती मान कर उसका सामना करने के लिए सत्याग्रह सभा का निर्माण किया गया। रौलट एक्ट में कोई असाधारण बात नहीं थी—सिवा इसके कि उसने गान्धीजी के नैतिक रोष

को भड़का दिया। गान्धीजी ने वायसराय से अपील की थी कि इस दमन क़ानून को स्वीकृति न दें, किन्तु जब उनकी बात की अनसुनी हुई तब कर्मवीर गान्धी मैदान में आये और उन्होंने जनता को, इस अपमानकारी क़ानून को अमान्य करने की, प्रेरणा दी। निरे विरोध के प्रस्तावों की राजनीति में यह क्रान्तिजनक परिवर्त्तन था।

जवाहरलाल ने गान्धीजी का आह्वान सुना और उससे पुलकित हो उठे। वह तो तत्काल ही नये संगठन में भरती हो जाने के पक्ष में थे—जवानी परिणामों की बात नहीं सोचती, उसकी भावुकता नये साहसिक कर्म के अवसर खोजती है। किन्तु मोतीलालजी क़ानून भंग करने और साम्राज्य की शक्ति से लोहा लेने के इस आन्दोलन के परिणामों को भली भाँति समझते थे। यह स्वाभाविक था कि वह अपने एकमात्र सन्तान द्वारा ऐसे किसी काम का विरोध करें, जिससे न केवल उसकी वकालत की सम्भावनाएँ नष्ट होंगी बल्कि जेल, जब्ती और घोर कष्ट का जीवन हर वक़्त मुँह बाये सामने खड़ा रहेगा। धन और ऐश्वर्य सदैव साहसिकता के शत्रु होते हैं। किन्तु सौभाग्य से पिता-पुत्र दोनों ने गान्धी जी के कर्म-विश्वास का महत्त्व समझा; और घटनाक्रम ने ही उन्हें कर्म की प्रेरणा दी। गान्धीजी ने बहुत अनुकूल समय चुना था। ६ अप्रैल को सत्याग्रह दिवस सारे देश में मनाया गया; हज़ारों ने उस दिन व्रत रखा और लगभग सभी बड़े शहरों में हड़ताल रही। जनता के हृदय में एक नयी ज्योति जगमगा रही थी। ब्रितानी शासन-सत्ता ने अपने ख़तरे को समझा। दिल्ली-अमृतसर में गोलियाँ चलीं और अनेक हताहत हुए। गुजराँवाला, कसूर और अमृतसर में दंगा हुआ; १३ अप्रैल को जलियाँवाला बाग़ का हत्याकांड हुआ और पंजाब में मार्शल लॉ का घोर दमन-चक्र चला। पंजाब को बाक़ी देश से बिल्कुल अलग कर दिया गया और माइकेल ओड्वायर को, नये आन्दोलन को कुचलने के लिए, मनमानी करने की छूट दे दी गयी।

जब सैनिक शासन हटाया गया तब कांग्रेस ने, जिसने मार्शल लॉ के पीड़ितों की सहायता का प्रबन्ध कर लिया था, पंजाब की घटनाओं की जाँच के लिए कांग्रेस के प्रमुख सदस्यों को भेजा। उस समय तक पंजाब अत्यन्त राजभक्त रहा था, और इंग्लैंड को भारत से जितनी सेना की आवश्यकता होती थी, सब पंजाब ही देता था। कांग्रेस की ओर से जाँच का संचालन मोतीलालजी और चित्तरंजन दास कर रहे थे। जवाहरलाल भी क़ानून के इन महारथियों के साथ थे, और इस जाँच के दौरान में उन्हें जो अनुभव और ज्ञान प्राप्त हुआ उसकी उन पर अमिट छाप पड़ी। जलियाँवाला में बहाये गये रक्त ने गान्धीजी के सत्याग्रह आन्दोलन की शपथ को पक्का कर दिया था। अपनी अजेयता का दावा करने में ही ब्रितानी सत्ता ने समाधिलेख भी तैयार कर दिया था।

सत्याग्रह आन्दोलन के कारण जो घटनाएँ घटीं, उनसे गान्धीजी को गहरा क्षोभ हुआ। उन्होंने स्वीकार किया कि उन्होंने महान् भूल की है, जिसके कारण ऐसे लोगों को गड़बड़ फैलाने का अवसर मिला जो वास्तव में सत्याग्रही नहीं थे। उन्होंने आन्दोलन स्थगित कर दिया।

कांग्रेस का अगला वार्षिक अधिवेशन अमृतसर में ही होने को था। सभी पुराने नेता और लोकमान्य तिलक भी वहाँ उपस्थित हुए, लेकिन भारत के राजनीतिक आकाश पर एक नये सितारे का उदय हुआ था, और वातावरण 'गान्धीजी की जय' के उस नारे से गूँज रहा था जो कि सन् १९४८ में गान्धीजी के देहान्त तक भारत के राजनीतिक वायुमंडल में गूँजता रहने को था; बल्कि उसकी गूँज उनकी मृत्यु के बाद भी नहीं बन्द हुई। उनकी आत्मा भारतीय जनता की विचार-परम्परा को प्रभावित कर रही है और कदाचित् आज भी कांग्रेस की सबसे बड़ी पूँजी वही है।

अमृतसर-कांग्रेस के सभापति पंडित मोतीलाल नेहरू हुए। यहाँ का कार्यक्रम विशेष नहीं था, क्योंकि सारा देश हंटर कमेटी की रिपोर्ट की प्रतीक्षा कर सकता था जो पंजाब की घटनाओं की जाँच के लिए नियुक्त हुई थी। दस वर्ष बाद लाहौर-कांग्रेस के सभापति पंडित जवाहरलाल हुए; उस समय कांग्रेस ने पहले-पहल सम्पूर्ण स्वाधीनता का अपना ध्येय घोषित किया। तब तक की राजनीतिक विचार-परम्परा ब्रितानी साम्राज्य के अन्तर्गत डोमिनियन पद को ही अपना इष्ट मानती आयी थी।

जवाहरलाल चालीस वर्ष की आयु में कांग्रेस के सभापति हुए; कांग्रेस को इतना युवा सभापति पहले नहीं मिला था। दस प्रान्तों के मत गान्धीजी के पक्ष में थे, पाँच के वल्लभभाई पटेल के, और तीन के जवाहरलाल जी के पक्ष में; किन्तु गान्धी जी की इच्छा थी कि सभापति कोई युवा और जोशीला व्यक्ति हो, और वल्लभभाई जवाहरलाल के पक्ष में चुनाव से हट गये। कांग्रेस तब भी अभी डोमिनियन पद की बातें सोचती थी। जवाहरलाल ने अपने सभा-

पति के अभिभाषण में स्पष्ट घोषित किया कि वह समाजवादी और प्रजातन्त्रवादी हैं, और राजों-रजवाड़ों में उन्हें आस्था नहीं है। अहिंसा में उन्हें श्रद्धा थी, क्योंकि देश के पास 'संगठित हिंसा के लिए न तो साधन ही हैं न शिक्षा ही, और व्यक्तिगत हिंसा या आतंक निराशा का द्योतक है।' उनके लिए अहिंसा सिद्धान्त की नहीं, राजनीति की बात थी। 'कोई भी महान् स्वाधीनता-उद्योग संगठित विद्रोह की अवस्था को छोड़ कर शान्तिपूर्ण ही होता है। असल बात शक्ति पर अधिकार करने की है, उसे चाहे जो नाम दिया जाय।' कांग्रेस के ध्येय में जो आमूल परिवर्तन हुआ, उसका परवर्ती नीति और आन्दोलन पर असर होना स्वाभाविक था। जवाहरलाल के अनुसार देश की तीन प्रमुख समस्याएँ थीं अल्प-संख्यक समाजों की समस्या, देशी राज्य, और किसान-मज़दूर।

हिन्दू-मुस्लिम-सम्बन्ध सन् १९२० के बाद ही बराबर बिगड़ते गये थे। उस समय यह सम्भव था कि स्वामी श्रद्धानन्द सरीखा कट्टर हिन्दू दिल्ली की जुमा मस्जिद में सम्मिलित मुसलमान जनता के सामने भाषण दे सके; किन्तु राजनीति ने साम्प्रदायिक मेल के मूल-स्रोतों को ही विषाक्त कर दिया। सन् १९२६ विशेष रूप से साम्प्रदायिक दंगों और अशान्ति का वर्ष रहा था, और ब्रितानी शासन-सत्ता की नीति यह थी कि राजनीतिक दृष्टि से जागृत हिन्दुओं के बढ़ते हुए प्रभाव के विरुद्ध सदैव मुसलमानों को उभाड़ती रहे। पंडित मोतीलाल नेहरू और अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत 'नेहरू रिपोर्ट' पर अमल नहीं हो सका था, और साम्प्रदायिक सम्बन्धों के प्रश्न पर नये विचार की आवश्यकता थी। किन्तु दुर्भाग्यवश दोनों मुख्य सम्प्रदायों के आपसी झगड़े अनेक रियायतों के बावजूद भी नहीं मिटाये जा सके, और अन्त में बढ़ती हुई तनातनी का अन्त देश का विभाजन करा के ही रहा।

सन् १९१५ में भारत आने के बाद से गान्धी जी के विकास का अध्ययन अत्यन्त रोचक है। वह हमेशा इँग्लैंड के मित्र रहे; और पिछले महायुद्ध में की गयी अपनी सेवाओं के लिए उन्होंने तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंज द्वारा प्रदत्त कैसर-इ-हिन्द पदक भी स्वीकार किया था। जनरल स्मट्स ने भी उन्हें एक पदक दिया था। राज-सेवा के ये दोनों प्रतीक उन्होंने अगस्त १९२० में लौटा दिये—जब जलियाँवाला बाग़ की घटनाओं पर हंटर कमेटी की रिपोर्ट से उन्हें विरक्ति हुई। सन् १९२१ देश के जीवन में विशेष महत्त्वपूर्ण रहा—वैसी हलचल पहले नहीं हुई थी। सर्वत्र 'गान्धी जी की जय' और 'हिन्दू-मुस्लिम एकता की जय' के नारे गूँज रहे थे। मैं उन दिनों अलीगढ़ में नियुक्त था; मुझे स्मरण है कि स्कूल और कालेजों के लड़के भी किस धैर्य के साथ पुलिस की लाठियों और घुड़सवार पुलिस के धक्कों के सामने डटे रहते और नारे लगाते रहते थे। दोनों सम्प्रदायों में ऐसा मेल कभी नहीं देखा गया था। किन्तु खेद! वह अवस्था बहुत दिन नहीं रही। फिर भी उसने यह तो दिखा दिया कि जनता का विश्वास कर्म में है, केवल उपदेश में नहीं; और देश में त्याग की सामग्री प्रचुर है अगर कोई नेता उसका ठीक उपयोग करना जानता हो। यह सही है कि जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य कई लोग यह नहीं समझते थे कि भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन के साथ तुर्की के सुलतान की खिलाफ़त का प्रश्न गान्धी जी क्यों जोड़ रहे हैं, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि गान्धी जी की नीति ने देश में जागृति फैलायी और जनता को सिर ऊँचा उठाना सिखाया। उनकी शिक्षा के मुख्य सिद्धान्त थे भय का परित्याग, शराब का परित्याग, अछूतों का उद्धार, विदेशी माल और विशेषतया कपड़े का बहिष्कार, सरकारी पदवियों-उपाधियों, कचहरियों, मुकदमेबाज़ी और यहाँ तक कि वकालत तक का बहिष्कार। अन्तिम दो बातें वकील-समुदाय की परीक्षा के लिए एक कसौटी साबित हुईं, जो अब तक राजनीतिक नेतृत्व सँभाले हुए थे और बिना किसी कष्ट या दंड की आशंका के नेतृत्व की शोहरत पाते थे। गान्धी जी के इस अद्भुत और निश्चित कार्य-क्रम से देश में बिजली दौड़ गयी। एटा ज़िले में विदेशी कपड़ों की होली जलाने के लिए सरोजिनी नायडू का आगमन मुझे अभी तक स्मरण है। गान्धी जी ने भारतीय मानस में गहरे कहीं खरा सोना पहचान लिया था।

जवाहरलाल की बहन विजयालक्ष्मी के विवाह का दिन भी सन् '५७ के विद्रोह की स्मृति में १० मई (१९२१) निश्चित किया गया था। देश की हलचल से सरकार सचमुच भयभीत हो गयी थी, और खास-खास मौक़ों पर गोरी फ़ौजों का संचय किया जा रहा था। आवश्यकता पड़ने पर अंग्रेज़ों को इलाहाबाद के क़िले में रखने का प्रबन्ध किया गया था। यद्यपि गान्धी जी द्वारा राजनीति के साथ धर्म के गठबन्धन से बहुत कम लोग सहमत थे, तथापि ऐसे व्यक्ति के प्रति सभी आकृष्ट थे जो वचन में नहीं, कर्म में विश्वास रखता था। महात्मा जी का अग्निपूत नेतृत्व सबको अपने साथ बहा ले चला; और मानव की नैतिकता की उनकी अपील उनके अन्तिम क्षण तक कभी अकारथ नहीं गयी।

प्रत्यवलोकन में पिछले तीस वर्ष का इतिहास रंग-बिरंगे और स्फूर्तिप्रद दृश्यों का एक उलझा हुआ अनुक्रम जान

नेहरू और स्टैफोर्ड क्रिप्स, १९४६

तीन राष्ट्र नायक, नयी दिल्ली १९४७

पड़ता है जिसमें अर्थहीन और तुच्छ बातें बीच-बीच में किसी सारगर्भ सौन्दर्य से दीप्त हो उठती हैं। यह आश्चर्य ही जान पड़ता है कि एक पददलित निर्धन देश, जिसमें सार्वजनिक सेवा की ओर महान् तथा गतिशील नेतृत्व की अत्यन्त कमी थी, एक पीढ़ी की अल्प अवधि में मुक्ति-लाभ कर ले। आज वे घटनाएँ गौण महत्त्व की जान पड़ती हैं जिन्होंने एक दिन इतनी उत्तेजना दी थी और जिनके साथ इतनी यन्त्रणा और कष्ट-क्लेश की कहानी गुँथी हुई है। नेताओं की बार-बार जेल-यात्रा, कचहरियों में न्याय-विचार की विडम्बना, जायदाद की जब्ती और कुर्क़ी, बेतों की मार, जन-सभाओं का भंग किया जाना, लाठी चार्ज—ये सब आज की समस्याओं के आगे छोटी बातें जान पड़ती हैं। ऐसा जान पड़ता है मानों इतने दिनों का संघर्ष केवल अपनी शक्ति और कार्यशीलता के स्वतन्त्र उपयोग के लिए एक पासपार्ट लेने के निमित्त था; और उस उद्देश्य की पूर्ति के बाद उसके लिए की गयी झंझट और तपस्या का उतना महत्त्व नहीं रहा जितना तब जान पड़ता था। अतएव जवाहरलाल की नौ जेल-यात्राओं का पूरा विवरण देना यहाँ अनावश्यक जान पड़ता है। वैसे अपनी जेल-यात्राओं के बारे में जवाहरलाल ने स्वयं भी लिखा है। अन्तिम बार वह अगस्त १९४२ में जेल गये, उनकी रिहाई १५ जून १९४५ को हुई। जवाहरलाल सन् १९१८ से अ० भा० कांग्रेस कमेटी के सदस्य और वर्षों तक उसके मन्त्री भी रहे; इस अवधि में कई बार अपने गुरु और नेता की कार्य-परिपाटी से उनका मतभेद हुआ लेकिन प्रत्येक अवसर पर अनुशासित सैनिक की भाँति उन्होंने गान्धीजी का अनुसरण किया। गान्धीजी के कार्यक्रम की एक अद्भुत विशेषता यह थी कि वह सदैव किसी छोटी-सी और नगण्य बात से शुरू करते थे जो अन्त में महान् और गुरुत्वपूर्ण निकलती थी। उनके लिए सदैव कर्म पहले और तर्क-संगति पीछे होती थी। गान्धीजी के जीवन में यह क्रम-विपर्यय बहुतों के लिए एक पहेली था; लोग इसे उनके मानसिक गठन का वैचित्र्य कह कर स्वीकार कर लेते थे।

राजनीति में गान्धी-युग की एक विशेषता यह थी कि एक व्यक्ति ने स्थायी रूप से अनेक ऐसे व्यक्तियों को अपना अनुगत बना लिया था जो कि ज्ञान, बुद्धि, अनुभव अथवा राजनीतिक सूझ में बढ़े-चढ़े थे। मोतीलाल नेहरू और चित्त-रंजन दास जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने अपनी सफल वकालत छोड़ कर गान्धीजी का अनुसरण किया। महात्माजी वास्तव में भारतीय जनता की नाड़ी पहचानते थे; और ऐहिक साध्यों के लिए भी त्याग और तपस्या पर ज़ोर देते थे। इसी लिए उनके अनुयायियों की प्रतिष्ठा भी उनके त्याग के अनुपात में ही होती थी। मोतीलाल नेहरू तथा जवाहरलाल के आसपास जो प्रभामंडल बन गया था, उसका प्रमुख कारण यही था कि उन्होंने एक आदर्श के लिए तथा गान्धीजी का अनुसरण करने के लिए कितना बड़ा त्याग किया है। नीति के किसी भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर जवाहरलाल, वल्लभभाई या राजगोपालाचारी गान्धीजी को प्रभावित कर सके हों, ऐसा कदाचित् ही कोई अवसर हुआ होगा; गान्धीजी किसी अन्त-र्दृष्टि के सहारे चलते थे और अपनी आत्मा की प्रेरणाओं पर उनका सम्पूर्ण विश्वास था, भले ही उसने 'हिमालय-सी बड़ी भूल' करायी हो! यह भारत के नेताओं के अनुशासन का ही नहीं, गान्धीजी के चरित्र का भी प्रमाण है कि लग-भग ३० साल तक सब एक ही ध्येय के लिए संगठित उद्योग कर सके।

जवाहरलाल कई बार गान्धीजी पर झल्लाते थे। उदाहरणतया फ़रवरी १९२२ में चौरीचौरा में एक उत्तेजित भीड़ द्वारा थाने को आग लगा दिये जाने पर असहयोग आन्दोलन को ही स्थगित कर देना जवाहरलाल को पसन्द नहीं था। वह पहला असहयोग आन्दोलन था, और दिसम्बर १९२१ तथा जनवरी १९२२ के दो महीनों में ही लगभग ३० हज़ार व्यक्ति जेल जा चुके थे। जेल स्वाधीनता के पुजारियों के लिए मन्दिर बन गया था; और देश-सेवा तथा त्याग का यह नया मापदंड स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद तक भी व्यवहार में आता रहा है। मोतीलालजी भी, जो उस समय जेल में थे, इस निश्चय से अप्रसन्न हुए; पर ऐसे महत्त्वपूर्ण अवसरों पर गान्धीजी औरों से राय कम ही लेते थे। गान्धीजी ने आश्वासन दिया कि उनकी सब शर्तें पूरी की जायँगी तो एक वर्ष में स्वराज्य मिल जायगा; किन्तु उस आरम्भ से आन्दोलन को निष्पत्ति तक पहुँचने में २५ वर्ष लग गये। इस अवधि में गान्धीजी के प्रति लोगों की श्रद्धा बराबर बढ़ती ही गयी।

जवाहरलाल पहले-पहल सन् १९२१ में हड़ताल के नोटिस बाँटने पर गिरफ़्तार हुए। किन्तु किसी क़ानूनी हीले के कारण वह शीघ्र ही छोड़ दिये गये; यद्यपि मोतीलालजी जेल ही में रहे। सन् १९२२ में वह दुबारा गिरफ़्तार हुए। मोतीलालजी ने वकालत १९२० में ही छोड़ दी थी, और उसे पुनः आरम्भ करने का कोई प्रश्न ही नहीं था। नेहरू परि-वार सम्पूर्णतया गान्धीजी के साथ था। सभी ने अपना अंश दान किया; मोतीलालजी के अलावा उनकी पत्नी, पुत्रियाँ और दामादों ने भी जेल काटी और स्वाधीनता-संग्राम में प्रमुख भाग लिया।

सन् १९२४ के आरम्भ में गान्धीजी सख्त बीमार हुए। अपनी छः वर्ष की सजा के दो वर्ष वह काट चुके थे। नेहरू परिवार उनसे मिलने जुहू गया जहाँ वह स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे। जुहू से बुद्धिवादी जवाहरलाल निराश लौटे, क्योंकि गान्धीजी उनकी शंकाओं का निवारण नहीं कर सके थे। गान्धीजी के लिए आज्ञापना करना कोई असाधारण बात नहीं थी, उनके राजनीतिक गठन का वह एक स्वाभाविक अंग था जैसा कि उनके अनुयायियों और मित्रों ने वर्षों के अनुभव में क्रमशः जाना।

प्रत्येक राष्ट्र के राजनीतिक संघर्ष में उतार-चढ़ाव हुआ ही करता है। सन् १९२१ का उत्साह मन्दा पड़ गया और देश फिर मूक असन्तोष से सुलगने लगा। साइमन कमीशन आया और चला गया। लाठी चार्ज हुए और लोग जेल गये। युक्तप्रान्त के लिबरल मन्त्रिमंडल तक ने इसे अपमानजनक समझा कि भारत के भावी वैधानिक विकास की नीति निर्धारित करने वाले साइमन कमीशन (नवम्बर १९२७) में कोई भारतीय सदस्य न हो। जनता में भी बड़ी उत्तेजना थी, क्योंकि लाठी-चार्जादि उत्तेजना फैलाने वाली चीज़ ही थे, विशेष कर जब लाठियाँ खाने वाले प्रत्याघात न करने के लिए वचन-बद्ध हों। कम से कम परिश्रम से अधिक से अधिक जनमत संगठित करने का गान्धीजी ने उत्तम उपाय निकाला था। सन् १९२९ में गान्धीजी ने खादी-प्रचार के लिए युक्तप्रान्त का दौरा किया। जवाहरलाल उनके साथ नहीं गये, क्योंकि उनकी तर्कबुद्धि यह नहीं समझ सकी कि गान्धीजी क्यों अप्रधान बातों को इतना महत्त्व देते हैं, जैसे अस्पृश्यता-निवारण, चरखा, हरिजनों का मन्दिर-प्रवेश आदि। जवाहरलाल को भीड़ से कोई शिकायत न होती थी, पर उन्हें अकारण धक्के खाना पसन्द नहीं था जो कि गान्धीजी के साथ यात्रा करने वालों को साधारणतया मिलता था। गान्धीजी का यह दौरा ऊपरी दृष्टि से राजनीतिक नहीं था, पर इसके द्वारा वह सभी वर्गों का सहयोग प्राप्त कर सके, यहाँ तक कि अधिकारियों का भी। अंग्रेज़ अफ़सरों की बीबियाँ भी उनकी सभाओं में आतीं, और गान्धीजी को जो मंजूषाएँ आदि भेंट की जाती थीं उनकी नीलामी में बोलियाँ बोलतीं। जन-मानस पर गान्धीजी के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने में सरकार सर्वथा असमर्थ थी। जहाँ भी गान्धीजी जाते, भीड़ों में अनुशासन आता, और उनमें उत्साह, आशावाद और त्याग की तत्परता उदित होती। ऐसा दीख पड़ने लगा कि फिर संग्राम के शंखनाद का समय आ गया है।

प्रतीक्षा केवल उचित अवसर की थी। महात्माजी की अद्भुत सूझ ने सहसा नमक के प्रश्न को चुन लिया, और बिना सरकारी रोकथाम के अपनी आवश्यकतानुसार नमक बना सकने के हर व्यक्ति के अधिकार को लेकर संग्राम की तैयारी हो गयी। भारत के स्वाधीनता-संग्राम का यह एक महत्त्वपूर्ण परिच्छेद था, यद्यपि ऐसा जान पड़ सकता है कि यह केवल प्रसंगान्तर था। संग्राम छिड़ने से पहले वायसराय के साथ गान्धीजी के पत्र-व्यवहार की भूमिका यथाविधि रची गयी। अ० भा० कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन अहमदाबाद में बुलाया गया, किन्तु इससे पूर्व ही १२ मार्च १९३० को गान्धीजी ने ७९ साथियों को लेकर डांडी के लिए कूच कर दिया था। डांडी अहमदाबाद से २०० मील समुद्रतट पर एक छोटा-सा गाँव है। जवाहरलाल अपने पिता के साथ गान्धीजी से जम्बूसर में मिले; यहीं उनकी कुछ घंटे बातचीत हुई। ६ अप्रैल को—जलियाँवाला बाग़ के स्मृति-दिवस पर महात्माजी ने पहले समुद्र में स्नान किया और फिर नमक-क़ानून भंग किया। सारे देश में लोग इस अवांछित क़ानून को तोड़ने का उपक्रम कर रहे थे। विदेशी कपड़े और शराब की दुकानों पर पिकेटिंग का काम विशेष रूप से स्त्रियों ने अपने हाथ में ले लिया था। हज़ारों ने सहर्ष पुलिस के लाठी-चार्ज सहे। शहादत का रास्ता खुला था। ५ मई को महात्माजी गिरफ़्तार हो गये। उनका डांडी-कूच भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन का एक उज्ज्वल परिच्छेद रहेगा, क्योंकि वह पहला अवसर था कि देश की स्त्रियाँ भी आन्दोलन में सहभागी होकर पुरुषों के साथ कन्धा मिला कर चली हों। ६ फ़रवरी १९३१ को लखनऊ में मोतीलालजी का देहान्त हो गया। अभिमानी पिता ने पुत्र के अनुशासन में चल कर ही कीर्ति पायी थी!

नमक सत्याग्रह से भारत के जेल खचाखच भर गये। कुल दंडितों की संख्या एक लाख से अधिक थी—जिनमें १२ हज़ार मुसलमान थे। नवम्बर १९३० में गोलमेज़ कान्फ़्रेंस हुई और भारत को क़िस्तों में स्वराज्य देने का वचन दिया गया। आम रिहाई घोषित हुई, और गान्धीजी भी कुछ समय के लिए जेल से बाहर आये। उन्होंने कुछ सप्ताह दिल्ली में वायसराय लार्ड अर्विन से बातचीत करने में बिताये। जवाहरलाल और कांग्रेस कार्यकारिणी के अन्य सदस्यों को भी दिल्ली बुलाया गया। इस समय जवाहरलालजी को महात्माजी के मन की प्रक्रियाओं को समझने का पूरा अवसर मिला। वह उचित ही इस परिणाम पर पहुँचे कि गान्धीजी 'दुनिया की साधारण धातु के नहीं, एक भिन्न और दुर्लभ धातु के बने.

हैं; और कई बार हमें उनकी आँखों में से कुछ रहस्यमय झाँकना नज़र आता था।' सन् १९३० असाधारण जागृति का वर्ष रहा था, और पिता की मृत्यु के बाद से जवाहरलाल अपने को गान्धीजी के निकटतर पाते थे। ४ मार्च की रात को वर्किंग कमेटी वायसराय के भवन से महात्माजी के लौटने की प्रतीक्षा कर रही थी। वह रात के लगभग दो बजे लौटे, और उन्होंने सूचित किया कि समझौता हो गया है। ५ मार्च १९३१ के दिल्ली-समझौते की दूसरी धारा पढ़ कर जवाहरलाल को गहरा आघात पहुँचा, क्योंकि उससे ऐसा जान पड़ता था कि कांग्रेस ने अपना स्वाधीनता का महदुद्देश्य छोड़ कर फिर डोमिनियन पद के ढंग का समझौता करने की स्वीकृति दे दी है। जवाहरलाल की प्रतिक्रिया को गान्धीजी समझते थे, क्योंकि सन् १९२९ में लाहौर-कांग्रेस ने जवाहरलाल के सभापतित्व में ही सम्पूर्ण स्वाधीनता का ध्येय घोषित करके तिरंगा फहराया था। समझौते की शर्तों के औचित्य का प्रश्न तो था ही, जवाहरलाल ने गान्धीजी को यह भी कहा कि गान्धीजी का इस प्रकार पहले से निश्चय करके अपने सहकर्मियों को सूचित करने का रवैया उन्हें शंकनीय जान पड़ता था, और गान्धीजी के कामों की पूर्वकल्पना उनके निकटतम सहयोगी भी नहीं कर सकते थे। किन्तु विरोध की धुन्ध शीघ्र ही धुल गयी। आन्दोलन उठा लिया गया और जेल खाली हो गये। गान्धी-अर्विन समझौता स्वाधीनता-पथ का एक मील का पत्थर था। सन् १९३२ की कराची-कांग्रेस के सभापति वल्लभभाई पटेल हुए, और गान्धी-अर्विन समझौते के अनुमोदन का प्रस्ताव जवाहरलाल ने ही पेश किया। इसी समझौते के अवसर पर चर्चिल ने लिखा था :

"यह देख कर शंका होती है—और ग्लानि भी—कि मिस्टर गान्धी, जो पहले मिडल टेम्पल के राजद्रोही बैरिस्टर थे और अब पूर्व के सुपरिचित नंगे फकीरों का भेष बनाये फिरते हैं, असहयोग आन्दोलन और लड़ाई का संगठन करते रहने पर भी सम्राट् के प्रतिनिधि के साथ समानता के पद पर समझौता करने नंगे बदन वायसराय के महल में घुस आ सकें!"

यही नंगा फ़क़ीर २७ अगस्त १९३१ को यूरोप गया और अपने इसी साधारण वेष में बकिंगहम महल में बादशाह से तथा अन्य प्रमुख लोगों से मिला, केवल चर्चिल से उसकी भेंट नहीं हुई।

गोलमेज कान्फ़रेन्स में महात्मा जी को भारत का एकमात्र प्रतिनिधि बनाकर भेजा गया था। यह कदाचित् भारी भूल थी, क्योंकि गान्धी जी राजनीतिक नहीं थे और सरदार पटेल अथवा स्वर्गीय सर नृपेन्द्रनाथ सरकार-जैसे व्यक्ति शायद राजनीतिकों के उस जमाव में अधिक उपयोगी हो सकते। पैग़म्बर अच्छा सन्धिकारक नहीं होता, और स्वयं जवाहरलाल ने भी स्पष्ट स्वीकार किया है कि सौदा करने में वह सर्वथा अयोग्य नहीं तो अपटु अवश्य हैं। गान्धी जी २८ दिसम्बर १९३१ को बम्बई लौटे। नये वायसराय लार्ड विलिंगडन गान्धी जी के प्रभाव के प्रसार को एकदम रोक देने के लिए कृतनिश्चय थे। ४ जनवरी १९३२ को गान्धी जी तथा सरदार पटेल फिर बन्दी कर लिये गये और यरवदा जेल भेज दिये गये। जनवरी में ही दंडितों की संख्या १४,८०० हो गयी, और १९३२ के अन्त तक यह संख्या ७० हज़ार तक पहुँच गयी। मई १९३२ में अल्पकाल के लिए आन्दोलन स्थगित किया गया। संघर्ष का दबाव कुछ मद्धम पड़ गया था; १५ जुलाई को सामूहिक सत्याग्रह बन्द कर देने का निश्चय हुआ लेकिन लोगों को व्यक्तिगत रूप से जेल जाने की छूट दी गयी। यह एक प्रकार से आन्दोलन का अन्त था; किन्तु अगस्त १९३२ में रैम्से मैकडॉनल्ड ने साम्प्रदायिक बँटवारे का जो निर्णय किया था, और जिसके अनुसार परिगणित जातियाँ सदा के लिए हिन्दू जाति से पृथक् कर दी गयी थीं, गान्धी ने उसके विरुद्ध आमरण उपवास करने का निश्चय घोषित किया। २० सितम्बर १९३२ को उन्होंने उपवास आरम्भ किया; २६ सितम्बर को विभिन्न दलों के नेताओं ने—जिनमें डा० अम्बेदकर भी थे—आपस में समझौता कर लिया और गान्धी जी ने उपवास छोड़ दिया क्योंकि 'अब हिन्दुओं में किसी को जन्म के कारण अछूत नहीं समझा जायगा'।

जवाहरलाल उस समय जेल में थे। गान्धी जी के उपवास की सूचना उन्हें वज्रपात-सी लगी। विवश क्रोध से वह सोच-सोचकर रह गये, पर कुछ निश्चय न कर पाये कि उन्हें क्या करना चाहिए। हर किसी से वह झल्लाये रहते, और अपने ऊपर तो सबसे अधिक। वह लिखते हैं :—

"तब एक आश्चर्यजनक बात हुई। मेरी भावनाएँ चरम तनाव तक पहुँचकर सहसा शान्त हो गयीं, और भविष्य उतना अँधेरा न रहा। बापू में ठीक समय पर ठीक काम करने की अद्भुत सूझ थी।..और बापू न भी रहें तो भी हमारा स्वाधीनता-युद्ध चलता रहेगा।..यह निश्चय कर लेने पर मैं गान्धी जी के निधन को

भी बिना काँपे सह लूँगा, मुझे शान्ति का अनुभव हुआ और मैंने अपने को अनागत का सामना करने के लिए सर्वथा प्रस्तुत पाया।"

निश्चय कर लेने के बाद गान्धी जी को भी जिज्ञासा हुई कि उनके प्रिय शिष्य का क्या मत है, और उन्होंने इस आशय का तार दिया :

> "इन क्लेशपूर्ण दिनों में तुम बराबर मेरी दृष्टि के सामने रहे हो। तुम्हारा मत जानने की प्रबल उत्कंठा है। तुम जानते हो कि मेरे लिए उसका कितना मूल्य है। इन्दु (और) स्वरूप के बच्चों से मिला था। इन्दु प्रसन्न और स्वस्थतर दीखती थी। सब कुशल है। उत्तर तार से देना। स्नेह।"

मई १९३३ में गान्धी जी ने फिर इक्कीस दिन का उपवास आरम्भ किया। उपवासों में नूतनता अब नहीं रही थी; और अन्य असंख्य देशवासियों की भाँति जवाहरलाल भी आत्म-पीड़न के इस विधान को नहीं समझ पाते थे जिसका बहुत दुरुपयोग भी हो सकता था। जवाहरलाल ने अपनी सम्पूर्ण असहमति को दबाने का भरसक प्रयत्न किया, और गान्धी जी को तार द्वारा केवल स्नेहपूर्ण नमस्कार भेज कर ही सन्तोष किया। यह स्पष्ट था कि गान्धी जी के उपवासों से उनके बहुत-से सहयोगी कर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे, क्योंकि वे उनके इस अस्त्र को न तो पसन्द ही करते थे न समझ ही सकते थे; उन्हें यह दबाव डालने का एक घटिया ढंग जान पड़ता था। अन्त में १९३१ के अन्तिम दिनों में गान्धी जी ने कांग्रेस से ही अलग हो जाने का निश्चय किया, यद्यपि कांग्रेस से अलग होकर भी वह अपने जीवन-काल में स्वयं कांग्रेस थे।

सन् १९३५ में कांग्रेस की स्वर्ण-जयन्ती थी, लेकिन अधिवेशन १९३६ में लखनऊ में हुआ। सभापति जवाहरलाल हुए। मार्च १९३६ में वह कमला जी की अस्थियाँ लेकर भारत लौटे थे। यह वर्ष भी दमन का वर्ष था। जवाहरलाल अपने को पहले की अपेक्षा मार्क्सवाद के अधिक निकट पाते थे। "आपस के भेद की बात करना मूर्खता है। स्वाधीनता की पुकार हम सब ने सुनी है और उसकी लय पर हमारा रक्त नाचता है; आपसी फूट की कोई गुंजायश नहीं है। मतभेद होते रहते हैं, कभी-कभी हम अलग भी हो जा सकते हैं। मगर फिर भी उस पुकार के ताल पर हम सब एक साथ चलते रहेंगे।" जवाहरलाल निस्सन्देह कांग्रेस के अपने वयोवृद्ध सहकर्मियों से कुछ दूर चले गये थे। लेकिन सन् १९२० से गान्धी जी ही कांग्रेस के सर्व-सर्वा थे। कांग्रेस के सभापति का अपना महत्त्व होता था अवश्य, लेकिन वास्तविक शक्ति और प्रेरणा महात्मा जी के अजस्र प्रेरणा-स्रोत से ही मिलती थी। अतः विभिन्न नेताओं की दृष्टि और मनोवृत्ति के भेद का महत्त्व विशेष नहीं था। जहाँ तक राजनीतिक कार्यक्रम की बात थी, उसका निश्चय महात्मा जी ही करते थे। कांग्रेस ने सन् १९३७ का चुनाव लड़ने का निश्चय किया था, और आगामी कुछ-एक महीनों के लिए जवाहरलाल का कार्यक्रम स्पष्ट था—और उनकी मनोदशा के अनुकूल भी।

सन् १९२०-२१ में अपना राजनीतिक जीवन आरम्भ करने के समय से जवाहरलाल जी ने युक्त प्रान्त का दौरा करना आरम्भ किया। उन्होंने हर मौसम में देहाती इलाक़ों की पूरी छान-बीन की। जैसा कि उन्होंने कहा है :—

> "इन यात्राओं और दौरों ने मेरे अध्ययन की भूमिका के साथ मिलकर मुझे अतीत के प्रति एक अन्तर्दृष्टि दी। नीरस बौद्धिक ज्ञान को एक रागात्मक ग्रहणशीलता मिली, और धीरे-धीरे भारतवर्ष के मेरे मानसिक चित्र में एक नयी यथार्थता आयी। मेरे पूर्वजों की इस भूमि में ऐसे सजीव प्राणी आ बसे जो हँसते-रोते थे, प्रेम करते और क्लेश भोगते थे। और उनमें ऐसे भी व्यक्ति आये जो जीवन को जानते और उसके रहस्यों को समझते थे, और जिन्होंने अपने ज्ञान के आधार पर वह इमारत खड़ी की थी जिससे भारत को सहस्रों वर्षों का सांस्कृतिक स्थायित्व मिला। इस अतीत के चित्र मेरे मन में छा गये, और जब भी मैं उनसे सम्बद्ध किसी स्थान पर जाता तो वे मेरे सामने मूर्त हो उठते। बनारस के निकट सारनाथ में मैं बुद्ध को पहला उपदेश देते हुए मानों अपनी आँखों देख सकता, और उनके शब्द ढाई हज़ार वर्ष का व्यवधान पार करके आती हुई दूर प्रतिध्वनि से मेरे मन में गूँज जाते। अशोक के स्तम्भ के शिलालेख मानो मुझ से उस व्यक्ति की कहानी कहते जो सम्राट् होकर भी राजाओं और सम्राटों से अधिक महान् था। फ़तहपुर-सीकरी में अकबर अपना साम्राज्य भूलकर सब धर्मों के धर्मज्ञों के साथ तत्त्व-विवेचन करता और मानव के शाश्वत प्रश्नों के नये उत्तर खोजता हुआ दीखता।
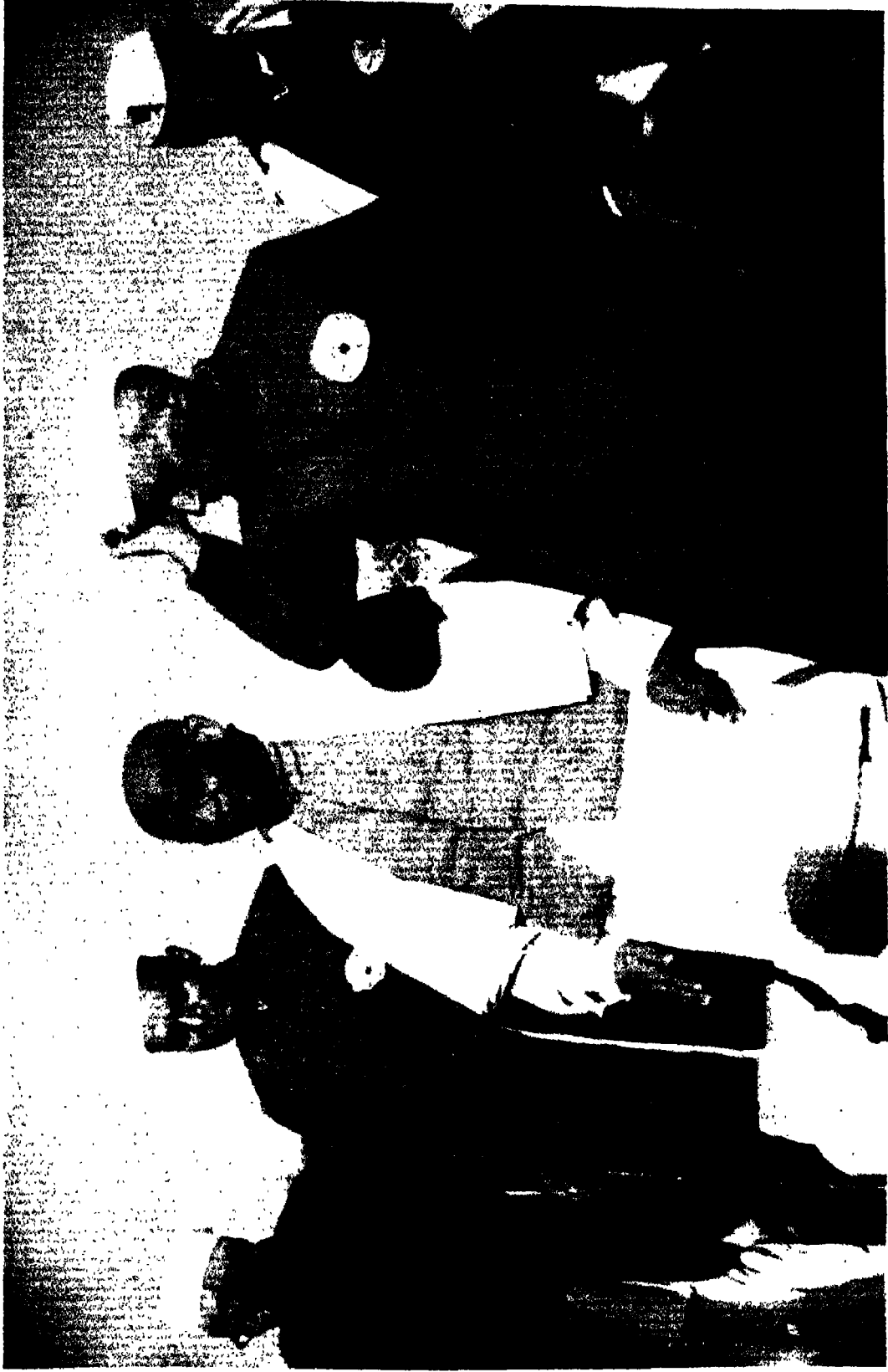
मेरठ कांग्रेस में, १९४७

जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल, राजेन्द्रप्रसाद, जयप्रकाशनारायण और गाडगिल

कोरीया की नारियों की ओर से

अखिल एशिया सम्मेलन १९४७ में कोरीया की प्रतिनिधि जवाहरलाल नेहरू को गुड़िया भेंट कर रही हैं

सुल्तान शहरयार के साथ, १९४७

"इस प्रकार धीरे-धीरे भारत के इतिहास की दृश्यावली—उसके उत्थान-पतन, उसकी जय-पराजय—मेरे सामने उद्घाटित हुई। मुझे लगा कि पाँच हज़ार वर्षों के इतिहास में, आक्रमणों और उथल-पुथल में, अविच्छिन्न बहती रहनेवाली सांस्कृतिक परम्परा में अवश्य ही कुछ महत्त्वपूर्ण और अद्वितीय हैं, और उस परम्परा से देश की जनता प्रभावित और अनुप्राणित रही है। सांस्कृतिक जीवन की ऐसी अविच्छिन्न परम्परा केवल चीन में और देखी गयी है।"

जवाहरलाल के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण अनुभव था, विशेषकर इसलिए कि वह बचपन से ही भारतीय जीवन के प्रेरणा-स्रोतों से दूर रहे थे। राजनीतिकों को भारतवर्ष को समझने के लिए ग्रामों में भेजना गान्धीवादी राजनीति का प्रधान अंग था, और इसी के द्वारा देश का पुनरुज्जीवन हुआ। गान्धी जी वास्तव में देश के लिए नया राजनीतिक सन्देश लाये थे, और उन्होंने जीवन के उदाहरण द्वारा यह दिखाया कि सच्चा महत्त्व कर्म का है, न कि उसके परिणाम का। इतना ही नहीं, गान्धी जी अपने असंख्य अनुयायियों को भी इसी उच्च नैतिक आदर्श से न्यूनाधिक प्रेरित कर सके। जैसा कि जवाहरलाल जी ने लिखा है:

"हम लोगों के आदर्श ऊँचे थे और लक्ष्य दूर। अवसरवादी राजनीतिक दृष्टि से हम कदाचित् बड़ी-बड़ी भूल करते थे, लेकिन हम यह कभी नहीं भूले कि हमारा मुख्य उद्देश्य भारतीय जनता के जीवन के स्तर को ऊँचा उठाना है, न केवल राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी। हम जनता की सच्ची आन्तरिक शक्ति को ही दृढ़ करना चाहते थे, क्योंकि हम जानते थे कि इसी से और सब ध्येय भी प्राप्त होंगे। हमें एक विदेशी शासन की दीन और लज्जाजनक दासता की कई पीढ़ियों का प्रभाव दूर करना था।"

जवाहरलाल ने आँधी की तरह खैबर से लेकर कुमारी अन्तरीप तक सारे देश का दौरा किया। उन्होंने यह समझा कि भारत की जिस यथार्थता को वह पकड़ नहीं पा रहे थे, उसका रहस्य भारत के विस्तार में या उसके निवासियों की विविधता में नहीं, बल्कि किसी अथाह गहराई में छिपा हुआ था, जिसको वह माप नहीं सके थे और जिसका उन्हें आभास-मात्र कभी-कभी मिल जाता था। जवाहरलाल में आध्यात्मिक परिवर्तन हो रहा था। भारत उनके लिए बौद्धिक अवधारणा नहीं रहा था, बल्कि एक गहरी रागात्मक अनुभूति का सजीव रूप ले रहा था। निस्सन्देह भारत की मानवाकार रूप-कल्पना मूर्खता-पूर्ण थी; लेकिन भारत-माता का जो कल्पना-रूप लाख-लाख सरल भारतीय जनता के लिए एक जीवित सत्य था, वह उसे अपने गौरवपूर्ण अतीत और सीमाहीन भविष्य को समझने में सहायता देता था, यह बात भी भुलाई नहीं जा सकती थी।

सन् १९३७ का चुनाव-आन्दोलन जवाहरलाल की इस दिन-रात की दौड़-धूप का तात्कालिक कारण था। लेकिन फिर भी जवाहरलाल केवल एक सन्देशवाहक थे, और असली शिक्षा उनके गुरु की थी। निष्ठावान् शिष्य गुरु के आदेश से प्रकाश और आशा का सन्देश देश की कोटि-कोटि अबोध जनता तक पहुँचा रहा था।

चुनावों में कांग्रेस को शानदार विजय प्राप्त हुई। ग्यारह में से पाँच प्रान्तों में कांग्रेस का स्पष्ट बहुमत था—अर्थात् मद्रास, युक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त, बिहार और उड़ीसा में—और बम्बई, बंगाल, आसाम तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में कांग्रेस दल और किसी भी दल से बड़ा था। केवल सिन्ध और पंजाब में कांग्रेसदल अल्पसंख्यक था। कांग्रेस की कार्य-कारिणी ने देश को इस निर्णय पर बधाई देकर उचित ही किया। कांग्रेस दल की इस विजय का श्रेय बहुत कुछ जवाहरलाल को था। किन्तु दुर्भाग्य से शीघ्र ही कठिनाइयाँ आरम्भ हो गयीं। जवाहरलाल किसी भी प्रान्त में और विशेषकर युक्त-प्रान्त में कांग्रेस-लीग का संयुक्त मंत्रिमंडल बनाने के विरुद्ध थे। एक महत्त्वपूर्ण अवसर हाथ से जाने दिया गया जो कदाचित् देश के सारे इतिहास को बदल देता; और कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच की खाई बराबर चौड़ी होती गयी।

प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमंडलों की स्थापना से जनता के प्रतिनिधियों को पहले-पहल वास्तविक राजनीतिक शक्ति का आंशिक संचालन करने का अधिकार मिला। किन्तु यूरोपीय क्षितिज पर युद्ध के बादल घिर रहे थे। मुस्लिम लीग शक्तिच्युत होकर तिलमिला उठी थी। विरोध-पक्ष राजनैतिक मत-भेद के बदले साम्प्रदायिक संघर्ष का रूप ले रहा था। युद्ध आरम्भ होने पर जब कांग्रेसी मन्त्रिमंडलों ने पदत्याग कर दिया, तब जिन्ना साहब ने मुसलमानों को मुक्ति दिवस मनाने का आदेश दिया। उस दिन से कांग्रेस और मुस्लिमलीग के मार्ग समानान्तर रेखाओं की भाँति हो गये और फिर

कभी मिल नहीं सके। जिन्ना की प्रतिकूलता बढ़ती गयी और उन्होंने लीग को कांग्रेस के अधीन पद लेने देने से इनकार किया। वह भारत के शासन में पश्चिम लोकतन्त्र सिद्धान्त मानने को तैयार नहीं थे, और हिन्दू बहुमत का शासन उन्हें कदापि स्वीकार नहीं था। एक दक्ष अवसरग्राही सेनानी की तरह उन्होंने अनुकूल परिस्थितियों से लाभ उठाकर लीग की स्थिति को मजबूत बनाया और ब्रितानी सत्ता तथा कांग्रेस के राजनीतिक संघर्ष में निर्णायक का पद उसे दिया। अप्रैल १९४० में लाहौर-अधिवेशन में लीग ने पाकिस्तान को अपना ध्येय घोषित कर दिया।

दूसरे महायुद्ध ने भारत के राजनीतिक आन्दोलन को एक नया और स्पष्ट रूप दिया। अब क्रमोन्नति का कोई प्रश्न नहीं था। जनता में उत्तेजना बढ़ रही थी, और आजादी की हवा थी। आरम्भ में ही एक मौलिक वैधानिक संघर्ष उठ खड़ा हुआ। देश भर में कांग्रेसी-मन्त्रिमंडलों ने ब्रितानी सरकार को बिना शर्तों के योग-दान की प्रतिज्ञा लेने से इन्कार कर दिया, और घोषित किया कि उनका युद्ध में भाग लेना या न लेना सबसे पहले भारत के हितों पर ही निर्भर करेगा। इसका परिणाम पूर्व-निश्चित था। इँग्लैंड ऐसे किसी आन्दोलन को सहन करने, या उन राजनीतिक भारतीयों से बातचीत करने के लिए, जो युद्ध के लिए देश के सम्पूर्ण साधनों को लगा देने में सहमत नहीं हों, बिलकुल तैयार नहीं था। गान्धी जी की इस घोषणा ने कि वह विश्व-युद्ध में भी अहिंसक ही रहेंगे, आग में घी का काम दिया। इससे इँग्लैंड की यह धारणा और भी पक्की हो गयी कि महात्मा जी एक गहरी सूझवाले चतुर राजनीतिज्ञ भर हैं; यद्यपि गान्धी जी की घोषणा में जर्मनी के सैन्यबल के विरुद्ध एक आत्मबल पर आधारित अहिंसात्मक युद्ध की कल्पना की गयी थी।

३

विभाजन और स्वाधीनता

सन् १६२० में देश में इतनी प्रबल जागृति की लहर उठी थी कि डोमिनियन पद की प्राप्ति बहुत निकट जान पड़ने लगी थी। लेकिन जैसे-जैसे साम्प्रदायिक वैमनस्य बढ़ा, वैसे ही वैसे स्वाधीनता का स्वप्न दूर भविष्य की ओर सरकता गया। यहाँ तक कि जब सन् १६३२ में अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रि-मंडल स्थापित हो गये, तब भी लोग पहले की तरह आशा नहीं कर सके कि भारत शीघ्र ही स्वाधीनता प्राप्त कर सकेगा। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऐसी घटनाएँ घटित हो रही थीं जिन्होंने भारत के राजनीतिकों के काम को आसान कर दिया। सन् १६३८-३६ इँग्लैंड के लिए बड़े संकट का समय था। उसके पास इतनी शक्ति नहीं थी कि बिना सहायता के जर्मनी का सामना कर सके, और इसलिए उसे डोमि-नियनों, उपनिवेशों और भारत के पूरे सहयोग की सख्त ज़रूरत थी। सारे यूरोप की जनता की आवाज़ बन्द कर दी गयी थी; और लोकतन्त्र के गढ़ एक-एक करके परास्त हो रहे थे। भारत की राजनीति उसी लीक पर चल रही थी जिस पर स्वाधीनता के लिए लड़ने वाले देशों की राजनीति चलती है; अर्थात् इँग्लैंड के साथ लड़ाई और कटुता के बावजूद कांग्रेस की सहानुभूति पश्चिमी लोकतन्त्रों के साथ थी। कांग्रेस की कार्यकारिणी ने ११-१२ अगस्त १६३६ को वर्धा में एक प्रस्ताव पास किया जिसका मसविदा जवाहरलाल ने तैयार किया था और जिसमें घोषणा की गयी थी कि 'भारत उन जातियों के साथ सहानुभूति रखता है जो लोकतन्त्र और स्वाधीनता के लिए लड़ रही हैं, लेकिन साथ ही वह अपनी स्वाधीनता का भी दावा करता है।' इसके बाद घटना-क्रम तेज़ी से चलने लगा। ३ सितम्बर १६३६ को इँग्लैंड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी, और फ़ौरन् ही तत्कालीन वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने बिना भारत के नेताओं की सहमति के, या बिना सलाह तक लिये, भारत को युद्ध-रत देश घोषित कर दिया। यह एक बहुत ही बड़ी भूल थी।

इसके बाद वायसराय ने गान्धीजी को बातचीत के लिए शिमले आमन्त्रित किया। गान्धीजी को इँग्लैंड और फ़ांस से गहरी सहानुभूति थी। पार्लियामेंट के भवन तथा वेस्टमिंस्टर एबी के ध्वंस की कल्पना भी उन्हें दहला देती थी। वायसराय को यह बताते हुए उन्होंने यह भी कहा कि वह केवल भारत की स्वतन्त्रता की बात नहीं सोचते थे। "भारत की स्वतन्त्रता तो आयेगी ही, लेकिन उसका क्या मूल्य होगा अगर इँग्लैंड और फ़ांस हार गये या कि उन्होंने विजयी होकर जर्मनी को कुचल दिया ?" गान्धीजी सन् १६३४ से ही कांग्रेस की सदस्यता से अलग हो गये थे, लेकिन वास्तव में वह स्वयं ही कांग्रेस थे। कांग्रेस की कार्यकारिणी ने जवाहरलालजी द्वारा तैयार किया हुआ एक प्रस्ताव पास किया जिसका आशय था कि

> "सारा प्रश्न भारत की समस्या पर निर्भर है। भारत वैधानिक साम्राज्यवाद का प्रमुख उदाहरण है, और दुनिया का कोई पुनःसंगठन सफल नहीं हो सकता जो इस महत्त्वपूर्ण समस्या की उपेक्षा करता है। भारत इतना विशाल और साधन-सम्पन्न देश है कि विश्व के पुनःसंगठन की किसी भी योजना में वह महत्त्वपूर्ण भाग लेगा; लेकिन ऐसा वह एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप ही में कर सकता है जिसको इस महान् कार्य में अपनी शक्तियाँ लगाने के लिए मुक्ति दी गयी है।"

गान्धीजी पर यह आरोप लगाया गया कि वह राजनीतिक चाल चल रहे हैं, लेकिन वास्तव में वह साधारण अर्थ में राजनीतिक थे ही नहीं। उनके लिए राजनीतिक चालों का बहुत कम महत्त्व था, और इसीलिए उन्होंने अपनी भावनाओं को अपने तर्क पर हावी हो जाने दिया था। लेकिन शीघ्र ही वह भी कांग्रेस से सहमत होकर इस परिणाम पर पहुँचे कि 'कांग्रेस को फिर तपस्या का मार्ग पकड़ना होगा ताकि वह अपने ध्येय तक पहुँचने की शक्ति पा सके।' २२ अक्तूबर १६३६ को प्रान्तों के कांग्रेस मन्त्रिमंडल को आदेश दिया गया कि वे त्यागपत्र

देकर शासन से अलग हो जायें। यह कदाचित् कांग्रेस की बहुत बड़ी राजनीतिक भूल थी, क्योंकि इसके कारण युद्ध की पूरी अवधि में कांग्रेस शासन-संचालन से अलग रही और ब्रितानी सरकार के पास इसके सिवा दूसरा चारा नहीं रहा कि वह मुस्लिम लीग को पुचकारे और प्रसन्न करे। कांग्रेस कदाचित् भीतर से अधिक सफलता के साथ स्वाधीनता का आन्दोलन चला सकती, या कम से कम जिन्ना के बढ़ते हुए प्रभाव को तो रोक ही सकती। ज्यों-ज्यों युद्ध का दबाव बढ़ता गया और कांग्रेस का विरोध उग्रतर होता गया, त्यों-त्यों जिन्ना का प्रभाव और सौदा करने की शक्ति दृढ़तर होती गयी।

जिन्ना ने परिस्थिति का उपयोग करने की पूरी योग्यता दिखायी और लीग की बिखरी हुई शक्तियों को संगठित किया। वास्तव में पाकिस्तान के आविर्भाव का श्रेय जिन्ना के योग्य संचालन, गहरी लगन और दृढ़ नेतृत्व को ही है। वह एक सरल और सीधे समाज के नेता थे जिसकी विशेषता उसकी मेधा नहीं बल्कि उसका धर्म-आग्रह है। इस समाज में जिन्ना केवल अपनी दृढ़ता और लगन के कारण ही अद्वितीय पद पा सके। उनकी प्रतिभा साधारण थी, स्वभाव गम्भीर, तटस्थ और नीरस। बातचीत में वह मिलनसार जान पड़ते थे; और अपनी वकालत के उत्कर्ष के ज़माने में नये वकीलों में उनका बहुत अधिक सम्मान था क्योंकि वह सब की सहायता करते थे। एक समय वह बम्बई की जनता के लाड़ले और श्रीमती सरोजिनी नायडू के शब्दों में 'हिन्दू-मुस्लिम एकता के संदेशवाहक' थे। लेकिन वैचारिक क्षेत्र में उन्हें पश्चिमी लोकतन्त्र से बिल्कुल सहानुभूति नहीं थी। उनकी अहन्ता असीम थी। इसी ने चारित्रिक दृढ़ता और राजनीतिक कटुता के साथ मिलकर उनकी निजी आकांक्षाओं को वह सफलता दी जो कि बहुत कम व्यक्तियों को प्राप्त होती है। दुर्भाग्य से उनकी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की प्राप्ति में न केवल देश का विभाजन शामिल था बल्कि कई लाख मानव प्राणियों का बलिदान भी। कटुता का जो दाय वह छोड़ गये उसके मिटाने में अभी बरसों लगेंगे। उन्होंने सन् १९२० में कांग्रेस छोड़ी; १९२४ से १९२८ तक वह लंडन में बैरिस्टरी करते रहे। सन् १९३६ में वह मुस्लिम लीग के प्रधान चुने गये, और उस समय से मुस्लिम लीग उनकी पर्याय हो गयी। गान्धीजी और जवाहरलाल ने बार-बार उनको मनाने की कोशिश की, उनकी माँगें जाननी चाहीं, उनको संयुक्त भारत का शासन-सूत्र सौंपने को राज़ी हुए; लेकिन जिन्ना साहब गान्धीजी के स्वभावतः प्रतिकूल थे, और जवाहरलाल को वह कभी महत्त्व नहीं दे सके।

जनवरी १९४० में गान्धीजी ने एक बार फिर राष्ट्र-निर्माण के लिए उनका सहयोग पाने की कोशिश की। जिन्ना साहब ने उत्तर दिया, "आपकी बात शुरू ही होती है भारतीय राष्ट्र के सिद्धान्त से जो कि कोई अस्तित्व नहीं रखता।" गान्धीजी ने ठीक ही उत्तर दिया था कि "एकता की अन्तिम आशा भी नष्ट हो गयी।" २४ मार्च १९४० को अ०भा० मुस्लिम लीग ने लाहौर अधिवेशन में पहले-पहल यह दावा किया कि "भारत के जिन इलाक़ों में मुस्लिम बहुसंख्य हैं, यथा उत्तर-पश्चिमी और पूर्वी प्रदेशों में, उन्हें 'स्वाधीन राज्यों' के रूप में संगठित किया जाय जिनके अंग प्रान्तों के शासन भी स्वायत्त हों"। कांग्रेस के राजनीतिक और गान्धीजी तथा जवाहरलाल बार-बार कोशिश करते रहे कि जिन्ना की माँग का ठीक-ठीक रूप और विस्तार जान सकें, लेकिन जिन्ना का रवैया बराबर नकारात्मक ही रहा। सम्भव है कि जिन्ना के जीवन की मुख्य प्रेरणा उनकी असीम महत्वाकांक्षा ही रही हो और उन्होंने उसी के लिए अपने सम्प्रदाय की सरलता, सहज अनुशासन और संगठन का फ़ायदा उठाया हो। जिन्ना के पास गान्धीजी अथवा जवाहरलाल को बताने के लिए कुछ था ही नहीं, क्योंकि उनमें आपस में कोई समानता नहीं थी। जिन्ना के लिए तो यह व्यक्तिगत भाग्य-साधना का प्रश्न था। अतएव गान्धी जी और जवाहरलाल की समझौता करने की सब कोशिशें व्यर्थ गयीं; किसी भी रियायत से जिन्ना को तुष्ट नहीं किया जा सका। किन्तु दुर्भाग्य से बार-बार की असफलता से भी अन्त तक कोई शिक्षा नहीं ग्रहण की गयी। वास्तव में जिन्ना के राजनीतिक प्रतिपक्षी यह नहीं मानते थे कि वह अपने उद्देश्य अर्थात् पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए इतने हृदयहीन साधन सचमुच बरतेंगे। लेकिन जिन्ना जानते थे कि वह क्या चाहते हैं, और मानते थे कि उसके लिए जो मूल्य चुकाना पड़े, थोड़ा है। इसीलिए जब शासनशक्ति के हस्तान्तरित करने का समय आ गया, तब तक गवर्नर-जनरल या कांग्रेस कार्य-कारिणी के सदस्य कोई यह नहीं समझ सके थे कि जिन्ना साहब ने बराबर जो रवैया रखा है उसका अन्तिम परिणाम क्या होगा। जब अगस्त १९४६ में साम्प्रदायिक विद्वेष और प्रतिहिंसा की आग देश में भभक उठी और कोने-कोने में फैल गयी, तब भी लोग ठीक-ठीक कल्पना नहीं कर सके कि जिन्ना द्वारा प्रचारित दो पृथक् राष्ट्रों के सिद्धान्त का कैसा दारुण दुष्परिणाम निकलने वाला है।

मूर्ति और मूर्तिकार

ऊपर : एप्स्टाइन. नीचे : सुधीर खास्तगीर

मूर्तिकारों के सौजन्य से
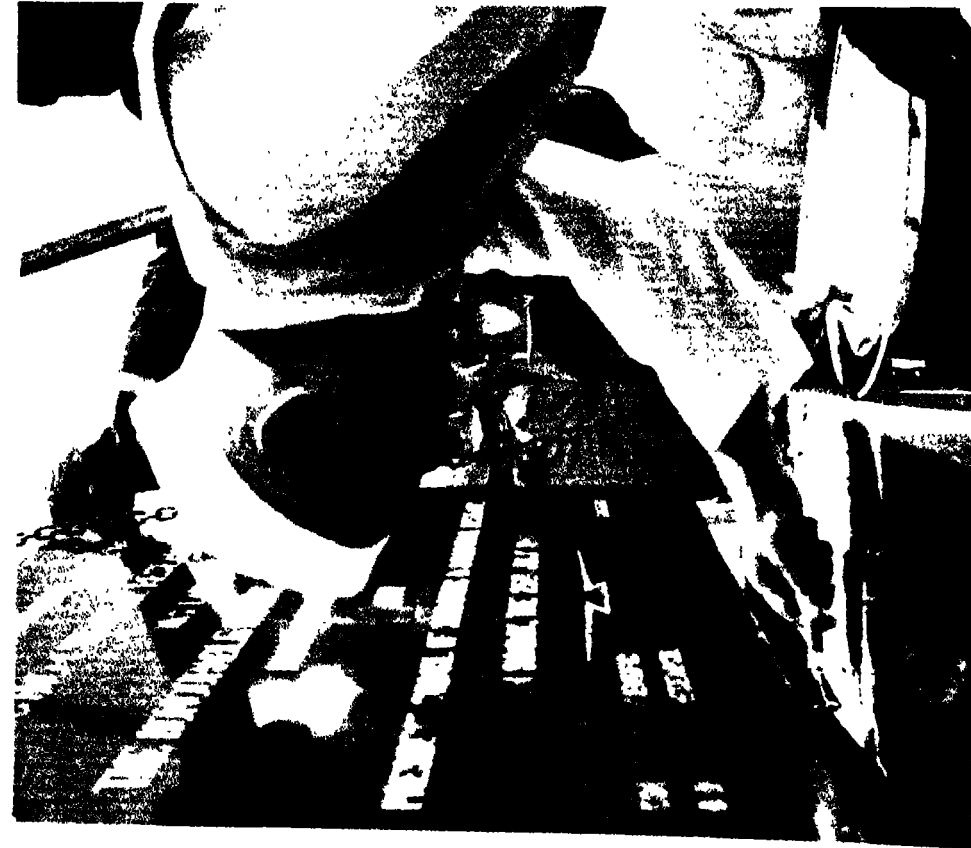
करैकुडी अनुसन्धान केन्द्र का शिलान्यास
जुलाई १९४८
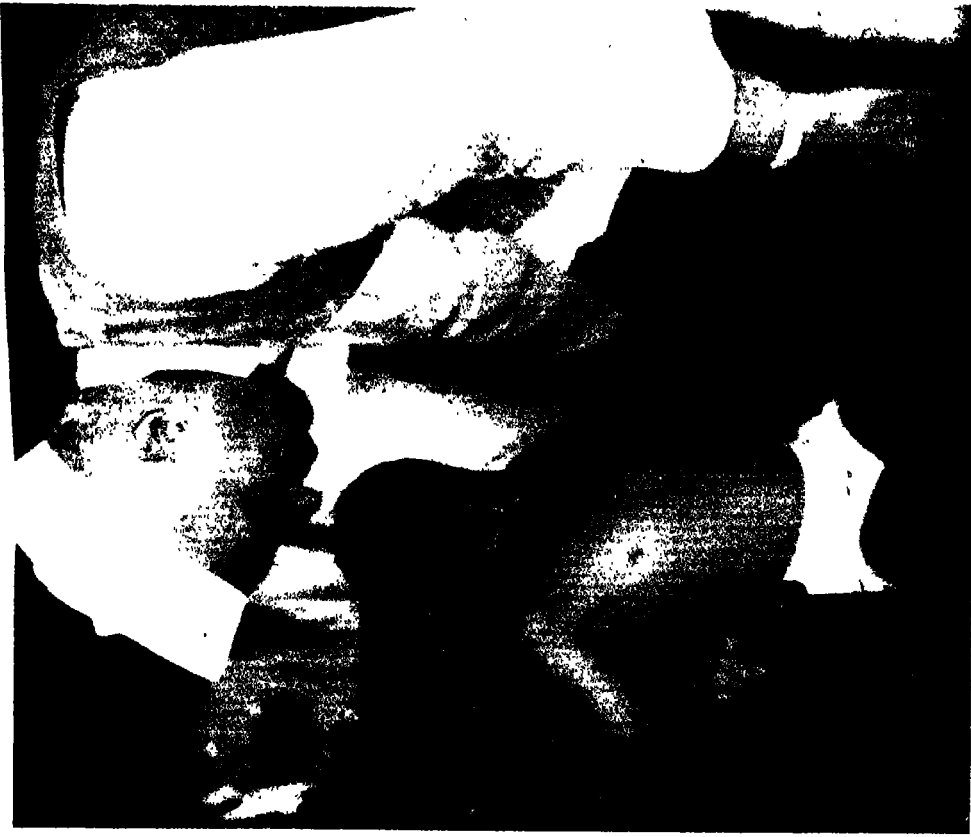
बम्बई के शिशु-पक्षाघात चिकित्सालय में एक रोगी के साथ

युद्ध के दौरान में कांग्रेस के नेता यह सोच रहे थे कि सरकार को संकट में न डाला जाय। कांग्रेस ने जो भी क़दम उठाया वह केवल प्रतीकात्मक विरोध का था। लेकिन इस प्रतीकात्मक विरोध के लिए भी सन् १९४०-४१ में तीस हज़ार नर-नारी जेल भेजे जा चुके थे। कांग्रेस की नीति स्पष्टतया निष्क्रिय और नकारात्मक थी, और उसके द्वारा राजनीतिक जोश या उत्साह नहीं पैदा किया जा सकता था। गान्धी जी निरन्तर इसी समस्या पर विचार करते रहे थे। ७-८ अगस्त १९४२ को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने अपने बम्बई के अधिवेशन में 'भारत छोड़ो' का प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव में सरकार से माँग की गयी थी कि वह ऐसा अस्थायी मन्त्रिमंडल क़ायम करे जो भारत का नया संघ-विधान तैयार करने के लिए एक विधान-परिषद् की योजना बनाये। यह ब्रितानी सरकार को एक चुनौती थी; और प्रस्ताव स्वीकृत होने के कुछ घंटों के अन्दर ही, ९ अगस्त को गान्धी जी और कार्यकारिणी के सब सदस्यों को गिरफ़्तार कर लिया गया। महात्मा जी को ६ मई १९४४ को उनकी अस्वस्थता के कारण ही रिहा किया गया।

गान्धी जी उस अवरोध की परिस्थिति से बहुत असन्तुष्ट थे। उनका मत था कि 'ब्रितानी शासन की यह नियमित क़ानूनी अराजकता हटनी चाहिए; उसके परिणाम में यदि देश में सम्पूर्ण अराजकता भी फैले तो उसका जोखिम उठाने को मैं तैयार हूँ, क्योंकि मेरा विश्वास है कि अहिंसा की २२ वर्ष की शिक्षा व्यर्थ नहीं जायगी और अव्यवस्था में से देश नयी और सच्ची जन-व्यवस्था का निर्माण कर सकेगा।' बम्बई में ७ अगस्त को अ० भा० कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में गान्धीजी सवा घंटे हिन्दी में और फिर बीस मिनट अंग्रेज़ी में बोले; उन्होंने यह कहकर भाषण समाप्त किया :

> "प्रत्येक को अहिंसा का पालन करते हुए हड़ताल और दूसरे सब साधन बरतने की छूट है। सत्याग्रही मरणव्रती होकर ही निकले। व्यक्ति जब मरने को तैयार होते हैं, तभी देश बचता है। करेंगे या मरेंगे!"

सरकार की प्रतिक्रिया तत्काल हुई। जहाँ तक साधारण जनता का प्रश्न था, उसने अहिंसा का बिल्कुल ध्यान नहीं रखा; अनेकों की जानें गयीं और माल की क्षति भी हुई। परिस्थिति बिगड़ती ही गयी। अपनी गिरफ़्तारी के छः मास बाद गान्धी जी ने २१ दिन के उपवास की घोषणा की, पर इसका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा; देश में असन्तोष, विद्रोह और निराशा फैलती ही गयी। सन् १९४३ के शरद् में लार्ड वेवेल वायसराय नियुक्त हुए, तब जनता को कुछ-कुछ आशा होने लगी। लार्ड लिनलिथगो का शासन अत्यन्त रूखा और वन्ध्य रहा था। गान्धी जी का इस बार का कारावास—पूना के आग़ा-खाँ भवन में—अत्यन्त दुःखमय रहा था। अगस्त १९४२ में ही उन्होंने अपने जीवन-सहचर, बन्धु और सहायक महादेव देसाई को खो दिया; २ फरवरी १९४४ को प्रेम और भक्ति की मूर्ति, गान्धी जी की जीवन-संगिनी कस्तूर बा ने भी इह-लीला समाप्त कर दी। गान्धी जी ६ मई १९४४ को रिहा हुए और रिहाई के बाद शीघ्र ही उन्होंने जिन्ना से पत्र-व्यवहार आरम्भ किया, लेकिन उससे कोई फल नहीं हुआ। जिन्ना साहब को प्रसन्न करने का प्रत्येक उद्योग उनकी हठ को और बढ़ाता ही गया और जनता की उत्तेजना भी बढ़ती गयी। सितम्बर १९४४ में गान्धी जी ने जिन्ना से भेंट की। बातचीत दो सप्ताह तक चलती रही। गान्धी जी रोज़ जिन्ना के यहाँ जाते; लोगों ने रोष के साथ यह लक्ष्य किया कि जिन्ना ने एक बार भी गान्धी जी से भेंट करने जाने की शिष्टता नहीं दिखायी। गान्धी जी जिन्ना की समझ में ही नहीं आते थे; लार्ड विलिंगडन की भाँति जिन्ना भी गान्धी जी से डरते थे—विशेष कर उनके सन्त-राजनीतिक रूप से। जिन्ना के लिए भारत की एकता की कल्पना मात्र ज़हर थी; गान्धी जी के लिए वह जीवन की साध थी। यह दुर्भाग्य ही था कि गान्धी जी को, या जवाहरलाल को भी, जिन्ना से साम्प्रदायिक समझौते की बातें करनी पड़ीं, क्योंकि इन के बीच ऐसी कोई समानता नहीं थी जिसके आधार पर बातचीत चल सके। इसीलिए, जैसा कि सबको अन्देशा था, वह निष्परिणाम ही रही भी।

विभाजन का एक मुख्य कारण यही था कि जिन्ना की मनोवृत्ति को ठीक-ठीक समझा नहीं गया और उनके कट्टर मताग्रह और असन्दिग्ध संगठन-शक्ति के भावी दुष्परिणामों की काट नहीं की गयी।

सन् १९४५ में, युद्ध का अन्त होने पर, घटनाचक्र और भी तेज़ी से चला। भारत के राजनीतिक समझने लगे थे कि इँग्लैंड सचमुच शासन-भार हस्तान्तरित करना चाहता है। इसलिए रचनात्मक दृष्टि से विचार करने का समय सामने आता जा रहा था। दोनों मुख्य सम्प्रदायों के आपसी सम्बन्ध बिगड़ते जा रहे थे; जिन्ना के अहंकार ने परिस्थिति को बहुत बिगाड़ दिया था और दोनों दलों को निकट लाने के महात्मा जी के सारे उद्योग तनाव को और भी बढ़ाते ही जा रहे थे। जहाँ तक भारत-स्थित अंग्रेज़ अधिकारियों की बात है, वे यह समझ ही नहीं सकते थे कि ब्रितानी सरकार में कितना बड़ा परिवर्तन आ गया है। उन सब की सहानुभूति मुसलमानों के साथ थी, क्योंकि आधी शताब्दी से हिन्दू ही ब्रितानी

शासन के विरुद्ध विद्रोह करते रहे थे। इसके अलावा अंग्रेज अफ़सरों के राजनीतिक गठन के एक अंग की यह धारणा थी कि दब्बू और शान्तिप्रेमी हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान एक अधिक समर्थ और लड़ाकू जाति हैं और अगर कभी संघर्ष होगा ही तो मुसलमान अपनी अल्पसंख्या के बावजूद सारे देश पर अधिकार जमा लेंगे। जिन्ना को गान्धी जी से विशेष चिढ़ थी। और जवाहरलाल को तो यह अपने सहयोगी और मित्र पंडित मोतीलाल का लड़का होने के कारण बच्चा समझते थे और उनसे समानता के तल पर बातचीत करने को तैयार न थे। मार्के की बात है कि भारत के निर्माता गान्धी और पाकिस्तान के निर्माता जिन्ना दोनों काठियावाड़ी थे; दोनों गुजराती-भाषी थे और दोनों व्यापारी वर्ग की सन्तान थे। दोनों ने ख्याति पायी लेकिन उनके गुण सर्वथा भिन्न थे। किन्तु एक बात में दोनों समान थे—बुनियादी प्रश्नों पर एक बार निश्चय कर लेने पर फिर दोनों ही उस पर अटल रहते थे। जिन्ना सन् १९२० से ही कांग्रेसी विचारधारा से अलग होते जा रहे थे; उत्तर काल में तो उनके जीवन का राजनीतिक ध्येय ही मुसलमानों को हिन्दुओं से अलग करके उनका अलग देश स्थापित करना हो गया था। दो राष्ट्रों का सिद्धान्त उन पर छा गया था। धर्म की तरह राजनीति के क्षेत्र में भी किसी नारे की निरन्तर आवृत्ति से वैसी ही मनोविकृति पैदा हो जाती है। आरम्भ में यही समझा जाता रहा कि पाकिस्तान का नारा केवल राजनीतिक मोल-तोल के उद्देश्य से लगाया जाता है। भारत को दो देशों में बाँटने के तर्क में त्रुटियाँ दिखाने पर जिन्ना और उनके अनुयायी बहुत बिगड़ते थे। यह स्पष्ट था कि स्वाधीन भारत में अगर धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर ही सत्ता का वितरण होगा तो मुसलमानों का अल्पमत होगा; ब्रितानी शासन में उन्हें जो विशेषाधिकार मिले हुए थे वे छिन जायेंगे। यह युक्तप्रान्त के मुसलमानों को विशेष रूप से असह्य था, जहाँ के निवासी पाकिस्तान के प्रधान मन्त्री लियाक़त अली खाँ हैं। युक्तप्रान्त में मुसलमान कुल जन-संख्या के १४ प्रतिशत होते हुए भी शासन-व्यवस्था के हर विभाग में प्रमुख पदों पर आरूढ़ थे। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि मुस्लिम लीग को सबसे अधिक उत्साही अनुयायी और नेता भी या तो युक्तप्रान्त से मिलें, या फिर बंगाल और मुख्यतया कलकत्ता से जहाँ मुसलमान हिन्दुओं की अपेक्षा अकिंचन थे, विशेष कर व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में।

युद्ध के अन्तिम दिनों में यह स्पष्ट हो गया था कि पाँच वर्षों की निरन्तर लड़ाई के दबाव ने इंग्लैंड में भारी मानसिक परिवर्तन कर दिया था। अंग्रेज जाति की मनोवृत्ति वैसी नहीं रही थी जिसकी कल्पना साम्राज्यवादी जाति के लिए की जाती है। अंग्रेज साम्राज्य की बातें नहीं सोच रहे थे। अंग्रेज नर-नारियों ने कन्धे से कन्धा भिड़ा कर अपनी स्वाधीनता और अपने अस्तित्व ही के लिए संग्राम किया था; अपने इतिहास की सबसे बड़ी परीक्षा उन्होंने दी थी और वर्षों के कष्ट-क्लेश ने उनके चरित्र के उत्तम गुणों को निखार दिया था। इंग्लैंड की आत्मा कभी इतनी दीप्त नहीं हुई थी जितनी इस संकटकाल में। चर्चिल अब भी देश के कर्णधार थे और पार्लमेंट पर इस महान् नेता का, जिसकी दृढ़ता और तेज ने देश को खून-पसीने और आँसू के सागर से उबारा था, व्यक्तित्व छा गया था। यह भी उल्लेखनीय है कि चर्चिल के मन्त्रि-मंडल के मुख्य पदों पर ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने भारत में शासन का अनुभव प्राप्त किया था, यथा जेम्स ग्रिग (युद्ध-मन्त्री) और सर जान एंडरसन (गृह-मन्त्री)। युद्धकालीन इंग्लैंड में भारत के अवकाश-प्राप्त शासकों की बड़ी माँग थी, क्योंकि उन्हें बड़े पैमाने की समस्याओं का अनुभव था। अच्छे सैनिकों और शासन-प्रबन्धकों की शिक्षा और ट्रेनिंग के लिए साम्राज्य को उपयोगी क्षेत्र पाया गया था। भारत-मन्त्री एमरी विचित्र व्यक्ति थे—स्वभाव से वह अध्येता थे और भारत तथा भारत की संस्कृति में उन्हें बड़ी दिलचस्पी थी लेकिन उनका दृष्टिकोण अत्यंत संकुचित और संवेदना-विहीन था। उनका अध्ययन-कक्ष नीचे से ऊपर तक भारत और पूर्वी देशों से सम्बन्ध रखने वाले साहित्य से भरा पड़ा था, और फ़ारसी चित्रकला से उनका घर विभूषित था पर भारत की स्वाधीन राष्ट्र के रूप में कल्पना उनके लिए असम्भव थी। वैधानिक बारीकियों, साम्प्रदायिक विभेद, रजवाड़ों के भविष्य और भारत की सैनिक दुर्बलता के प्रश्न उन्हें उलझाये रहते, और उन्हें निस्तार का कोई मार्ग न दीखता। अजीब बात है कि राजनीतिक प्रतिक्रियावादियों को वैसे भारत से बहुत प्रेम रहा है, जैसा कि एमरी को भी था। और श्रीमती एमरी ने युद्धकाल में यूरोप-प्रवासी भारतीय सैनिकों के लिए जो उद्योग किया वह उल्लेखनीय है। चार वर्ष तक हज़ारों स्वयंसेविकाएँ इंडिया हाउस में श्रीमती एमरी की देखरेख में भारतीय सैनिकों की सहायता के लिए काम करती रहीं। मैंने एक बार स्वयं एमरी साहब से कहा था कि अगर उनके भाषणों के बदले श्रीमती एमरी के कार्यों का ही विज्ञापन किया गया होता. तो कदाचित् ब्रिटेन के प्रति भारत का रवैया भिन्न होता! लेकिन एमरी में न तो इतनी उदारता थी, न इतनी शक्ति कि चर्चिल पर प्रभाव डाल सकें। चर्चिल

भारत के बारे में बिलकुल अन्धे थे और ग्रिग तथा एंडरसन, जिनके विचार उतने ही अनुदार थे, चर्चिल का अनुमोदन करते थे।

फ़रवरी-मार्च १९४५ में यद्यपि लंडन पर जर्मनी के आविष्कृत 'वी-२' बरसाये जा रहे थे, तथापि युद्ध का परिणाम स्पष्ट दीखने लगा था। मैं उन दिनों कॉमनवेल्थ सम्मेलन के एक प्रतिनिधि की हैसियत से सर मुहम्मद ज़फ़रुल्ला, कुँवर महाराजसिंह और सरदार पणिक्कर के साथ वहीं पर था। वह मेरे लिए एक महत्त्वपूर्ण अनुभव था, क्योंकि कॉमन-वेल्थ के राजनीतिकों के सम्पर्क से यह स्पष्ट हो गया कि भारत की स्वाधीनता निश्चित है अगर भारतवासी सचमुच उसे चाहते हैं—कम से कम आस्ट्रेलिया, कैनाडा और न्यूज़ीलैंड उसका विरोध नहीं करेंगे। बल्कि कैनाडी प्रतिनिधि-मंडल के नेता ने यह प्रस्ताव भी किया था कि भारत के साथ प्रवासियों के सम्बन्ध में समानता की सन्धि कर ली जाय, किन्तु इस प्रस्ताव को भारत की तत्कालीन सरकार ने ताक में रख दिया। इंग्लैंड के जनमत में गम्भीर परिवर्तन आ गया था, और लार्ड लेटन प्रभृति उत्तरदायी राजनीतिकों को यह सुनकर बड़ा क्लेश होता था कि युद्ध के बाद स्वाधीनता के वायदे पर भारत के नेताओं को विश्वास नहीं है। किन्तु इँग्लैंड के निवासियों में चार वर्षों के घोर युद्ध और दारुण संकट की अवधि में जो मानसिक क्रान्ति हुई थी, उसे प्रवासी अंग्रेज़ों ने भी नहीं समझा था, तो इसमें कोई अचम्भे की बात नहीं थी अगर भारतीय नेता इँग्लैंड की नीयत के बारे में अनाश्वस्त हों। हमारे सबसे दूरदर्शी नेता भी इँग्लैंड की नीयत पर विश्वास नहीं करते थे, और यह कोई नहीं सोचता था कि भारत पर ब्रितानी आधिपत्य तीन वर्षों के अन्दर ही अतीत की बात हो जायगा और भारत कॉमनवेल्थ के अन्तर्गत स्वाधीन प्रजातन्त्र का पद प्राप्त कर लेगा।

सन् १९४६ भारत के इतिहास में असाधारण उथल-पुथल और क्लेश का वर्ष रहा। वर्ष के पूर्वार्ध में तो देश के केन्द्रीय शासन में द्रुत परिवर्तन हुए। २० फ़रवरी को ब्रितानी सरकार ने पार्लमेंट में घोषणा की कि लार्ड पेथिक-लारेन्स के नेतृत्व में एक मन्त्रिदल भारत भेजा जा रहा है जो सत्ता के हस्तान्तरण के सर्वोत्तम उपायों पर विचार करेगा। विचार-विनिमय के बाद भी यह दल कांग्रेस और मुस्लिम लीग की विरोधी विचार-धाराओं को मिला न सका, और अन्त में १६ मई को उसने स्वयं अपना फ़ैसला एक अखिल भारतीय संघ के पक्ष में दे दिया। यह स्पष्ट घोषित किया गया कि सत्ता भारतीयों को सौंप दी जायगी, और इसके लिए १४ सदस्यों की अन्तरिम केन्द्रीय सरकार बनायी जायगी—६ प्रतिनिधि कांग्रेस के, ५ लीग के, और तीन वायसराय द्वारा नियुक्त। मुस्लिम लीग ने अनुभव किया कि अब ब्रितानी सरकार या कांग्रेस या दोनों से सौदा करने का समय नहीं रहा, और जिन्ना साहब को तत्काल ही यह निर्णय करना होगा कि वह सरकार की स्थापना में योग देंगे या एक नये देश पाकिस्तान के अधिनायक बनेंगे। हिन्दू-मुस्लिम तनाव और बढ़ रहा था। २९ जुलाई १९४६ को मुस्लिम लीग के विशेष अधिवेशन में जिन्ना साहब ने घोषित किया:

> "आज हमने अपने इतिहास का सबसे ऐतिहासिक निर्णय किया है। लीग के इतिहास में हमने कभी वैधानिक उपायों को छोड़ कर दूसरे उपाय नहीं बरते थे। लेकिन आज हम बाध्य हैं। आज हम वैधानिक उपायों को बिदा देते हैं।"

दूसरे शब्दों में वैधानिक वकील मिस्टर जिन्ना, जो सदैव गान्धी जी के असहयोग का विरोध करते रहे थे, अब उसी पथ पर चलने जा रहे थे, जिसे वह बरसों से त्याज्य मानते आये थे। उस समय से घटनाएँ जल्दी-जल्दी घटित होने लगीं।

कैबिनेट मिशन की योजना के अनुसार अन्तरिम सरकार की स्थापना जुलाई १९४६ में हुई; जवाहरलाल उपाध्यक्ष हुए। लेकिन मुस्लिम लीग ने २६ अक्टूबर को जाकर शामिल होने का निश्चय किया, क्योंकि उसके नेताओं ने अनुभव किया कि विरोध बाहर की अपेक्षा शासन के भीतर से अधिक सफलतापूर्वक हो सकेगा। जिन्ना के मनोनीत प्रतिनिधि लियाक़तअली खाँ हुए, जो अब पाकिस्तान के प्रधान मन्त्री हैं। ऑक्सफ़ोर्ड के ग्रेजुएट, चतुर, मिलनसार, शौकीन, स्थूल और शिथिल लियाक़तअली में ठोस व्यावहारिक समझ यथेष्ट है। वर्षों तक युक्त-प्रान्तीय कौंसिल के उपाध्यक्ष रहकर उन्होंने पहले-पहल ख्याति तब पायी जब कानपुर के सन् १९३२ के दंगों की जाँच के लिए प्रान्तीय सरकार द्वारा नियुक्त कमेटी के सदस्य की हैसियत से उन्होंने निर्भीक और स्वतन्त्र आलोचक बुद्धि का परिचय दिया। कानपुर के दंगे ज़िलाधिकारी मिस्टर सेल की कमज़ोरी और अत्यन्त संकुचित मनोवृत्ति के प्रान्तीय गवर्नर सर जार्ज लैम्बर्ट के विचित्र अनुशासन के ही परिणाम थे। लैम्बर्ट भारतीयों को यह सबक़ सिखाना चाहते थे

कि स्वराज मिलने पर उनकी क्या गति होगी। लियाक़त अली की चारित्रिक दृढ़ता और साहस उल्लेखनीय था—इस-लिए और भी अधिक कि तत्कालीन शासक-वर्ग की धारणा थी कि, जब अच्छी नौकरियों का या उपाधियों का प्रश्न आता है तब मुस्लिम राजनीतिक नेता काफ़ी लचकीले साबित होते हैं। लियाक़त अली सहिष्णु, ग्रहणशील, उदार और दृढ़-चरित्र थे; उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील था और धर्म के मामलों में—जिन्ना की ही भाँति—उनकी दिलचस्पी कम थी। लेकिन राजनीतिक स्थिति और व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा का मेल विस्फोटक हो जाता है। आज लियाक़त अली इस्लामी राष्ट्र की क़समें उठाते हैं; लेकिन कम से कम दो वर्ष पहले तक उनमें या उनकी गुणवती पत्नी दोनों में ज़रा भी मतान्धता नहीं दीखती थी—और मैं दोनों को वर्षों से घनिष्ठ रूप से जानता हूँ। देश के विभाजन ने ही गहरे वैमनस्य को जमाकर लाखों साधारण और उदार व्यक्तियों को साम्प्रदायिक विद्वेष और प्रतिहिंसा की विनाशक आँधी की लपेट में ले लिया। सन् १९४६ के अन्तिम दिनों का खिचड़ी मन्त्रि-मंडल सर्वथा अक्षम और असमर्थ था; आपसी फूट ने उसे पंगु बना दिया था।

शासन में सम्मिलित होने में लीग का स्पष्ट और घोषित उद्देश्य यह था कि अखंड भारत का संगठन तोड़ डाला जाय और प्रत्येक सम्भव उपाय से पाकिस्तान के निर्माण का उद्योग किया जाय। १६ अगस्त को दिल्ली के मुस्लिम लीगी पत्र डॉन ने चार पृष्ठ के एक क्रोड़पत्र में घोषित किया कि प्रत्यक्ष कर्म ('डायरेक्ट एक्शन') का समय आ गया और अब मुस्लिमों को बलपूर्वक अपने अधिकार प्राप्त करने होंगे। लीग ने १६ अगस्त को प्रत्यक्ष कर्म दिवस मनाने का आदेश अपने अनुयायियों को दिया था। यह भारत के इतिहास के सबसे रक्तरंजित और लज्जाजनक अध्यायों में से था। साम्प्रदायिक द्वेष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया, विशेष कर कलकत्ते में शाहिद सुहरावर्दी के प्रधान-मन्त्रित्व में मुस्लिम लीगी सरकार ने नागरिक जीवन में अन्धेर मचा दिया। क़ानून और व्यवस्था कहीं नाम को न थी, और हर क्षेत्र में भ्रष्टाचार का बोलबाला था। १६ अगस्त को सार्वजनिक छुट्टी घोषित कर दी गयी थी। दिन का आरम्भ अत्यन्त नृशंसतापूर्ण हत्याओं और छुरेबाज़ी के साथ हुआ; घरों में आग लगायी गयी और लूट-पाट हुई। यह क्रम तीन-चार दिन तक रहा, लगभग ५००० मरे और १५००० घायल हुए। हताहतों में हिन्दू और मुसलमान प्रायः समान रहे। सरकार हाथ पर हाथ धरे बैठी रही, क्योंकि अधिकारियों के मन से अपनी शक्ति दृढ़ करने का यही उपाय था कि अल्प-संख्यकों को बलात् कुचल डाला जाय! अराजकता और भ्रातृघात की लपटें कलकत्ते से देश भर में फैल गयीं; नोवाखाली और पूर्वी बंगाल के अन्य ज़िलों में भी ऐसे ही कांड हुए। बिहार में इसकी प्रतिक्रिया हुई। पहला बड़ा दंगा मुज़फ़्फ़रपुर के निकट बेनियावाद में २७ सितम्बर को हुआ। २५ अक्टूबर तक दंगे सारे बिहार में फैल गये। प्रान्तीय सरकार की दृढ़ता और सैनिक शक्ति के उपयोग से ही इस प्रतिहिंसा का दमन किया जा सका। बिहार में मुसलमानों की ही अधिक क्षति हुई। मर्माहत जवाहरलाल ने सारे बिहार का दौरा किया। पटने में उन्हें एक अत्यन्त उत्तेजित और असन्तुष्ट सभा का सामना करना पड़ा—उत्तेजित जनता विवेक और सहिष्णुता की बात सुनने को तैयार नहीं थी। कलकत्ते की हत्याओं के जो वृत्तान्त लोगों ने सुने थे, उससे वे क्रोध से पागल हो रहे थे। ९ नवम्बर को जवाहरलाल बिहार से लौटे। हिंसा से प्रतिहिंसा उत्पन्न हुई थी और अविवेक और व्यक्तिगत पापाकांक्षाओं पर हज़ारों निर्दोष प्राणियों को बलिदान होना पड़ा था।

गान्धी जी सदैव विभाजन-योजना के विरोधी रहे थे। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के इस विधायक ने, जिसने सन् १९२० में अपना आदर्श लगभग पा लिया था, अपने जीवन-भर के कार्य को अपनी आँखों के आगे मिट जाते देखा—एक सामूहिक उन्माद देश पर छा गया और हज़ारों को ले गया। नोवाखाली-कांड यद्यपि कलकत्ते जैसा विनाशक नहीं हुआ, तथापि देश पर साम्प्रदायिक उन्माद की जो लहर छा रही थी उसका वह सूचक था। दिल्ली, बम्बई और अन्य स्थानों से भी चिन्ताजनक समाचार आ रहे थे। अपनी महान् करुणा से द्रवित, सरल और साहसी महात्मा ने नोवाखाली के गाँव-गाँव का दौरा करने का निश्चय किया और ६ नवम्बर १९४६ को वहाँ पहुँच गये। चार महीने वह नोवाखाली में ही रहे। उनकी उपस्थिति ने एक गहरी मानसिक क्रान्ति पैदा की।

उधर पंजाब में तूफ़ान उमड़ रहा था। पंजाब के लोग वीर, साहसी और परिश्रमी थे। जनसंख्या का अधिकांश कृषिजीवी था; २ करोड़ ८४ लाख प्रजा में १ करोड़ ६० लाख मुस्लिम थे; ८५ लाख हिन्दू, और ३७ लाख सिख। यह पंजाब दो खंडों में बाँट दिया गया था—पश्चिमी पंजाब, जिसका क्षेत्रफल ६२,००० वर्गमील था और आबादी १ करोड़
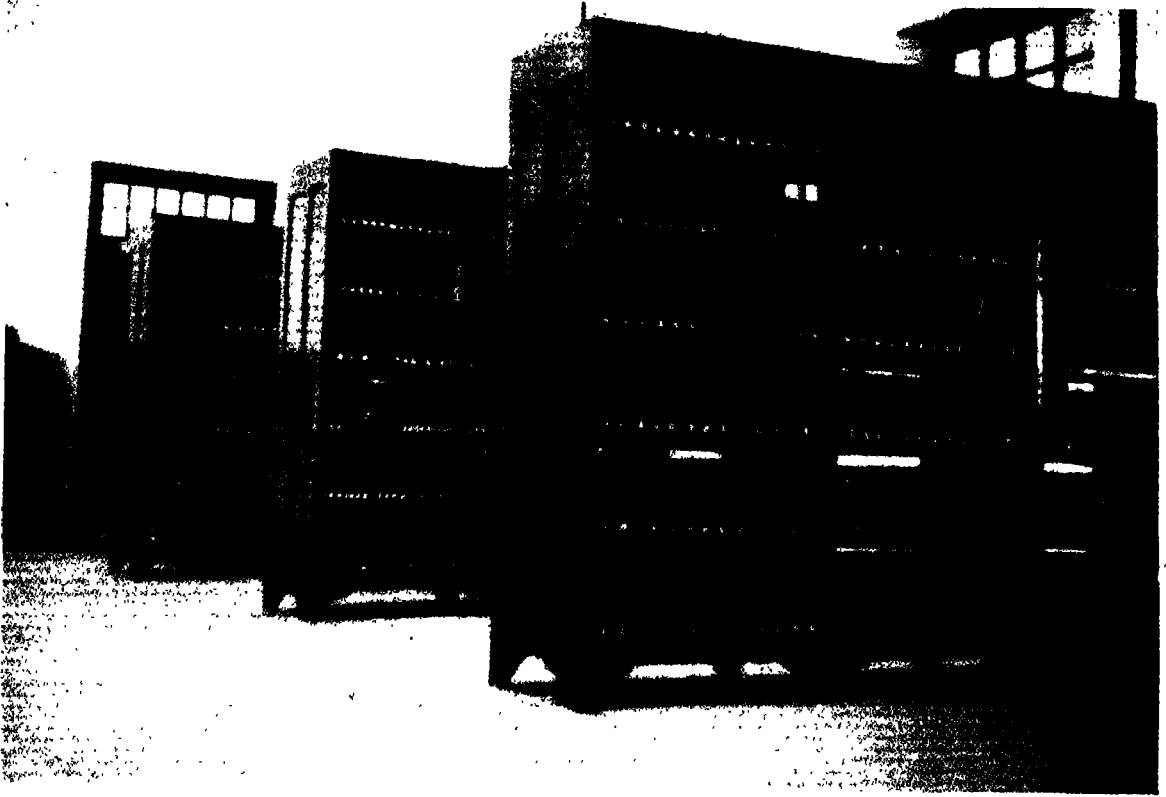
नेहरू-कानूनी पुस्तक संग्रह

यह संग्रह जवाहरलालजी ने अपने पिता तथा रणजीतसिंह पंडित की स्मृति में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय को भेंट दिया था।

पुस्तकाध्यक्ष के सौजन्य से

मैसूर के बनचारी आदिवासियों में

इलाहाबाद में (१९६७)

५९ लाख; और पूर्वी पंजाब—क्षेत्रफल ३७,००० वर्गमील और आबादी १ करोड़ २५ लाख। इसी प्रकार बंगाल के भी दो टुकड़े कर दिये गये थे: पश्चिमी बंगाल—क्षेत्रफल २८२१५ वर्गमील, आबादी २ करोड़ १२ लाख; पूर्वी बंगाल—क्षेत्रफल ४९४०० वर्गमील, आबादी ३ करोड़ ९१ लाख। अखंड भारत की कुल आबादी के लगभग ३ प्रतिशत को विभाजन के दिनों देशान्तरित होना पड़ा। अनुमान किया जाता है कि सवा करोड़ प्राणी अपने घरों से उत्पाटित होकर प्रवासी शरणार्थी बने। इन अभागों को पुनरावासित करने की समस्या ने दोनों देशों की अर्थ नीति पर भी और मनोदशा पर भी गहरा प्रभाव डाला है, और परिस्थिति को आंशिक रूप से भी सुधारने में अभी वर्षों लगेंगे।

प्रजा में विभिन्न वर्गों के धर्म भिन्न-भिन्न रहते हुए भी उनमें घनिष्ठ सम्बन्ध था। क्योंकि पंजाब की दो मुख्य कृषिजीवी जातियों—जाट और गूजरों—में हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। पंजाब की राजनीति में व्यावहारिक लेन-देन बराबर होता रहा था और इसलिए राजनीतिक दृष्टि से पंजाब अत्यन्त शान्त और स्थिर प्रदेश था, और वहाँ कांग्रेस का प्रभाव भी बहुत कम हो सका था। दूरदर्शी नेतृत्व के कारण वह जिन्ना और मुसलिम लीग के घातक प्रलोभनों से भी बचा रह सका था। मुसलमान राजपूत फ़ज़्ली हुसेन, और हिन्दू जाट छोटूराम, दोनों ने परस्पर सहानुभूति और मेल-मिलाप की परम्परा स्थापित की थी। किन्तु दुर्भाग्य से हिंसा की जो आग कलकत्ते में फैली, उसने शीघ्र पंजाब को भी ग्रस लिया, और पंजाबियों में उसकी प्रतिक्रिया और भी घातक हुई। पंजाब का गवर्नर जैंकिन मुसलमानों के पक्ष में था, और उसने इस अत्यन्त संकट की परिस्थिति में भी संयुक्त मन्त्रि-मंडल की सहायता के लिए कुछ नहीं किया। प्रधान मन्त्री खिज़र हयात खाँ जागीरदार होने के बावजूद स्वयं अपने सम्प्रदाय के विरोध और गवर्नर की तटस्थता के कारण निस्सहाय हो गये।

पंजाब में सम्प्रदायों का खास सन्तुलन था, लेकिन शासन-कर्मचारी प्रधानतया मुसलमान थे। एक बार साम्प्रदायिक विष के सरकारी अधिकारियों में और विशेष कर पुलिस में घुस जाने के बाद परिस्थिति शीघ्र ही हाथ से बाहर हो गयी। सन् १९४७ के आरम्भ में मुस्लिम लीग ने 'मुस्लिम नेशनल गार्ड' नामक एक सशस्त्र स्वयंसेवी दल का संगठन किया। सरकार की ओर से इन स्वयंसेवकों की क़वायद पर जो मनाही थी उसकी उपेक्षा की गयी। नेशनल गार्ड ने मुस्लिम पुलिस के साथ मिल कर पंजाब के इतिहास के सबसे लज्जाजनक काले कारनामे किये। पंजाब का हत्याकांड ४ मार्च १९४७ को आरम्भ हुआ और कई महीने तक चला। हिंसा, बर्बरता और ध्वंस के इतने क्रूर उदाहरण भारत के इतिहास में दूसरे नहीं मिलेंगे। सशस्त्र मुस्लिम पुलिस और संगठित मुस्लिम जनता के सामने हिन्दू और सिखों के लिए कोई रक्षा नहीं थी। जो पंजाब उस समय तक देश का सबसे समृद्धिशाली प्रान्त रहा था, स्वयं अपनी सन्तान के द्वारा नृशंसतापूर्वक उजाड़ दिया गया! पंजाबियों ने स्वयं उस घातक कटुता और प्रतिहिंसा की कल्पना न की थी जिसके वे शिकार हुए। उनकी वीरता और साहस ने ही साम्प्रदायिक प्रतिहिंसा की आग को और भड़काया। प्रान्तों का ब्रितानी शासन, और केन्द्र में वायसराय, अपनी सारी सैनिक शक्ति लिये ताकते रह गये, और पंजाब के सुन्दर प्रान्त में लहू की नदियाँ बह गयीं। कदाचित् ब्रितानी शासक यह सोचते थे कि भारतवासियों ने साम्राज्य-शक्ति को चुनौती देकर अलग हो जाने की जो धृष्टता की है उसकी इतनी सजा तो उन्हें मिलनी ही चाहिए! उन्होंने मार-काट को चलने दिया। और पंजाब के एक भाग से दूसरे भाग में जाने वाली लाखों जनता की सहायता और रक्षा के लिए जो सीमा-रक्षक सेना (बाउंडरी फ़ोर्स) संगठित की गयी थी वह भी अविश्वसनीय और असफल सिद्ध हुई।

सिख सम्प्रदाय ने मुग़लों के समय से ही विशिष्ट विकास किया था। वीर, व्यावहारिक और परिश्रमी सिख, पंजाब की किसान जनता की रीढ़ थे। शेखूपुरा, लायलपुर, गुजराँवाला और मांटगुमरी ज़िलों से, जो सब पश्चिमी पंजाब को दे दिये गये थे, उनका घना सम्बन्ध था क्योंकि उन्हीं के परिश्रम से यह प्रदेश उपजाऊ और समृद्ध बना था। किन्तु किसान सर्वत्र और सदैव झगड़ालू और संकुचित विचारों के होते हैं; छोटी-छोटी बातों पर भी वह हँस नहीं सकते—खास कर जिनका सम्बन्ध भूमि से हो। पंजाब में भी राजनीतिक कटुता बढ़ती ही गयी, और मतान्धता ने साम्प्रदायिक द्वेष को और भी भड़काया। पंजाब के विभाजन का क्या परिणाम होगा इसकी कल्पना किसी ने नहीं की थी; और प्रान्तों तथा केन्द्र की सरकारें अपनी दीर्घसूत्रता की लपेट में ही फँस गयीं। पंजाब की सरकार तो स्वयं अपने अधिकारियों पर भी अनुशासन रखने में असमर्थ हो गयी। अधिकारी भी साधारण जनता की तरह तर्कहीन घृणा और मानव जीवन के प्रति उपेक्षा से भर गये थे।

पंजाब का गृह-युद्ध अगस्त १९४७ तक चला। लाहौर का दंगा ५ मार्च को आरम्भ होकर १२ मार्च तक चला था; उसके साथ ही साथ अमृतसर, रावलपिंडी, अटक, झेलम और मुल्तान में भी दंगे शुरू हो गये। अन्तरिम सरकार के प्रमुख जवाहरलाल नेहरू और रक्षा-मन्त्री सरदार बलदेवसिंह लाहौर गये। लेकिन परिस्थिति डाँट-फटकार से सुधरने वाली अब नहीं रही थी और बारूद की ज़रूरत थी। लेकिन भाग्य से भारत का ब्रितानी शासन अपने अन्तिम दिनों में असहाय ही नहीं हो गया था बल्कि घटनाओं को उपेक्षा से देखता था। दूसरी ओर भारतीय मन्त्रिमंडल अभी इतनी अच्छी तरह स्थापित नहीं हो सका था कि सैन्य-शक्ति का ठीक-ठीक संचालन कर सके और देश में फैली हुई गड़बड़ को कुचल दे सके। अनोखी बात है कि ठीक उस समय, जब अधिकार के निर्मम प्रयोग से एक बहुत बड़े राष्ट्र-संकट का निवारण किया जा सकता, तब गवर्नर-जनरल के मन में 'वैधानिक औचित्य' के सूक्ष्म प्रश्न उठने लगे और उन्हें ध्यान हुआ कि क़ानून और रक्षा की व्यवस्था तो प्रान्तों के उत्तरदायित्व के क्षेत्र में है! कदाचित् उनके मन में भी यह भावना छिपी रही हो कि ब्रितानियों की मदद के बिना भारतवासी अपना शासन नहीं कर सकते। अपने शासन की समाप्ति के समय भी ब्रितानी अधिकारी पक्षपाती और अयोग्य साबित हुए, और जिस देश के साथ उनका १५० वर्षों का सम्बन्ध रहा था उसके हितों के प्रति उन्होंने सम्पूर्ण उपेक्षा दिखलायी। १५ अप्रैल १९४७ को गान्धीजी और जिन्ना ने एक संयुक्त अपील निकाली कि जनता यह अकारण हत्या और बर्बरता बन्द करे। लेकिन दोनों नेताओं की यह पुकार भी व्यर्थ गयी। कुछ ही दिनों पहले, २ अप्रैल को, पंजाब में हिन्दू-सिख नेताओं ने समझ लिया था कि वह मुसलमानों के साथ नहीं रह सकेंगे और हत्याकांड को बन्द करने का एक मात्र उपाय उनकी भूमि का विभाजन ही है। २२ जुलाई को लार्ड माउंट-बैटन लाहौर गये और उन्होंने पूर्वी पंजाब की सरकार को शिमले चले जाने का आदेश दिया। पंजाब के हिन्दू-सिख और मुसलमानों ने अलग हो जाने का निश्चय कर लिया था, और दोनों दिशाओं में बहुत बड़े पैमाने पर शरणार्थियों के कारवाँ आने-जाने लगे। मुसलमानों ने पूर्व से पश्चिमोत्तर को चलना शुरू किया और हिन्दू तथा सिख उत्तर-पश्चिम से पूर्व को आने लगे। लगभग ६० लाख हिन्दू और सिख शरणार्थी पश्चिमी पंजाब में अपना घर-बार छोड़ कर चले आये। संसार के इतिहास में यह अपने ढंग की एकमात्र घटना थी। ११ और १२ अगस्त को लाहौर का रेलवे स्टेशन मानों एक बहुत बड़ा पिंजड़ा बन गया था! लाहौर के लगभग ३ लाख मुस्लिमेतर निवासियों में से केवल १२ हज़ार वहाँ रह गये थे। महीने के अन्त तक उनकी संख्या उँगलियों पर गिनी जा सकती थी और ये भी निकल आने का मौक़ा ही देख रहे थे। कई जगह सामूहिक हत्याएँ हुईं। अकेले शेख़ूपुरा में लगभग २०,००० आदमी मारे गये। भारत और पाकिस्तान की जनता के इतिहास में यह घोर बर्बरता का अत्यन्त लज्जाजनक अध्याय है। जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल के शासन के लिए भी यह परीक्षा का समय था। भारतीय सेना और उसके युवा अफ़सरों के साहस, संगठन, और तत्परता की भी परीक्षा हो गयी। नेताओं के प्रोत्साहन से भारतीय सैनिकों ने अपने श्रेष्ठ गुणों का परिचय दिया और अपने अभागे भाइयों की भरपूर सहायता की। एक समय ऐसा आया था कि जब जान पड़ता था कि स्वाधीनता हमें बहुत महँगी पड़ेगी और हम उसका मूल्य नहीं चुका सकेंगे; लेकिन नयी सरकार की शक्ति, तत्परता और लचीलापन इस गहरी चोट को झेल गया। आज दो वर्ष के बाद उस बिभीषका की कल्पना करना भी कठिन है जिसमें से देश १९४६ के अन्तिम दिनों में और १९४७ के अधिकांश में गुज़र रहा था। इन अत्यन्त संकटपूर्ण महीनों में जवाहरलाल और वल्लभभाई अविचल भाव से अपने काम पर डटे रहे और नये राष्ट्र के महान् संकट पर विजयी हो सके।

सन् १९४७ के आरम्भ से स्पष्ट हो गया था कि भारत को अपनी रक्षा के लिए विभाजन स्वीकार करना ही होगा। ब्रितानी सरकार ने तो भारत की समस्या से पिंड छुड़ाने का निश्चय कर ही लिया था। फ़रवरी १९४७ में प्रधान मन्त्री एटली ने कामंस में बयान देते हुए इस बात पर खेद प्रकट किया कि अन्तरिम मन्त्रिमंडल में कांग्रेस और मुस्लिम लीग, दोनों के प्रतिनिधि होने के बावजूद भी हिन्दू और मुसलमानों का वैमनस्य दूर नहीं हो सकता है। उन्होंने यह भी घोषणा की कि उनकी सरकार ने जून १९४८ से पहले-पहले सत्ता भारत को सौंप देने का निश्चय कर लिया था। इस प्रकार इस महान् देश के शासन के लिए अब ब्रितानी सरकार की ज़रूरत नहीं रही थी और अपने भाग्य-निर्माण का भार भारतीय जनता के प्रतिनिधियों पर आ पड़ा था। यह तो स्पष्ट था कि मुस्लिम लीग का नेतृत्व जिन्ना साहब के हाथों में रहते हुए अखंड भारत के पक्ष में कोई समझौता नहीं हो सकता। वर्षों के विषैले प्रचार के कारण लोग यह मानने लग गये थे कि केवल सम्प्रदाय के भेद से ही जीवन, संस्कृति और राजनीतिक भविष्य में कोई मौलिक अन्तर आ जाता है। कांग्रेस

ने लम्बे और कटु अनुभव से सीख लिया था कि सबसे बड़ी आवश्यकता तीसरे दल से छुटकारा पाने की है और उसके लिए जो भी मूल्य देना पड़े, थोड़ा है। जब तक शासन विदेशी सत्ता के हाथ में था तब तक यह स्वाभाविक ही था कि वह सारे राष्ट्र-विरोधी प्रतिक्रियावादी दलों को अपने साथ रखे। इसलिए १६ अगस्त १९४६ से देश के विभिन्न भागों में जो घटनाएँ होती रही थीं उन्हें ध्यान में रखते हुए कांग्रेस के आगे इसके सिवा दूसरा उपाय नहीं था कि जिसे प्रकृति ने एक बनाया था उसका विभाजन स्वीकार कर ले। अगर विभाजन से ही दो खंडों की, उसके निवासियों की इच्छानुसार, उन्नति हो सके तो विभाजन स्वीकार कर ही लेना चाहिए। ३ जून १९४७ को ब्रितानी सरकार ने विभाजन की योजना घोषित कर दी और यह भी घोषित किया कि जो विधान-परिषद् ९ दिसम्बर १९४६ को सम्मिलित हुई थी उसका काम जारी रहेगा।

१४ जून १९४७ को अ० भा० कांग्रेस कमेटी ने नयी दिल्ली के अधिवेशन में विभाजन को स्वीकार कर लिया। नये गवर्नर-जनरल लार्ड माउंटबैटन ने, जिनकी नियुक्ति २२ मार्च १९४७ को हुई थी, परिस्थिति को बहुत जल्दी समझ लिया था। यह स्पष्ट था कि निष्क्रियता की नीति से कुछ भी अच्छा था, क्योंकि उसका परिणाम सम्पूर्ण विनाश ही हो सकता था। ब्रितानी सरकार ने भारतीय स्वाधीनता बिल का मसविदा तैयार किया और १२ जुलाई को वह स्वीकृत भी हो गया। इस क़ानून का संक्षेप आश्चर्यजनक था—उसमें कुल २२ धाराएँ और ३ परिगणनाएँ थीं। भारत की अन्तरिम सरकार ने विभाजन-समिति नियुक्त की, और १५ अगस्त १९४७ तक कुछ ही बातों का फ़ैसला बाक़ी रह गया।

१४ अगस्त १९४७ को स्वाधीनता के लम्बे संग्राम का अन्त हो गया। भारत का नया भाग्योदय हुआ, यद्यपि मुक्ति का दाम उसे बहुत अधिक चुकाना पड़ा। अपने सारे ऐतिहासिक काल में भारत अपनी भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता की रक्षा कर सका था। भाग्य के अनेक उतार-चढ़ाव उसने देखे थे। अनेक विदेशी आक्रमण उसने झेल लिये थे और आक्रमणकारियों को आत्मसात् कर लिया था: उसकी सांस्कृतिक एकता ज्यों की त्यों बनी रही थी। घमासान संघर्ष के लम्बे दिनों में भी नेताओं ने भारत की एकता का झंडा सदा ऊँचा रखा था। लेकिन इतिहास की गति नहीं रुकती, और मानवों के अहंकार और मनोविकृतियों का मूल्य चुकाना ही पड़ता है। जिस भारत को प्रकृति ने एक महान् अखंड इकाई बनाया था, उसी को असम्भव, अव्यावहारिक और विरोधी टुकड़ों में बाँट दिया गया। राजनीति अन्ततोगत्वा समझौते और काम-चलाऊ उपायों का खेल है; और भारत के नेताओं ने एक अत्यन्त अप्रीतिकर, तर्कहीन, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से अनिवार्य सुलझाव को स्वीकार करके उचित ही किया। यह दूसरी बात है कि, साम्प्रदायिक द्वेष और प्रतिहिंसा को जान और माल का इतना बड़ा बलिदान देना पड़ेगा, इसका अनुमान किसी को नहीं था। सरकार, नेताओं और स्वयं जनता की इस शिथिलता के कारण ही इतनी बड़ी ध्वंस-लीला हुई।

सन् १९४६ के अन्तिम महीनों पर दुःख और निराशा का जो परदा पड़ गया था, वह कम से कम कुछ समय के लिए तो १४-१५ अगस्त १९४७ को उठ गया। सारा देश आनन्द की घंटा-ध्वनि से निनादित हो उठा। बड़े शहरों ने बड़ी धूमधाम से उस स्वाधीनता का अभिनन्दन किया जिसकी लालसा उन्होंने वर्षों से की थी लेकिन जिसको अपने जीवनकाल में देखने की आशा बहुत कम लोगों को थी। देश में आनन्द और उत्साह की एक लहर दौड़ गयी और यह स्पष्ट दीखा कि स्वाधीनता की भावना जनता की गहरी और स्थायी भावना थी, केवल राजनीतिक प्रचार से पैदा की गयी कृत्रिम उत्तेजना नहीं। भारतीय जनता ने स्वाधीनता का गर्व अनुभव किया—ऐसी स्वाधीनता का जो कि उन्होंने स्वयं प्राप्त की थी, किसी विदेशी सत्ता से उपहार-स्वरूप नहीं पायी थी। यह स्वाधीनता उनके पुरुषार्थ का फल थी, और उनकी तपस्या और आत्म-बलिदान से उसकी रक्षा होगी। महात्माजी इस स्वाधीनता के निर्माता और प्रतीक दोनों थे। उनके सरल शुद्ध चरित्र, उदात्त मानस और दृढ़ प्रतिज्ञा ने भारत के सारे नर-नारियों को स्वाधीनता-संग्राम के वीर सिपाही बना दिया था। भारत की असंख्य जनता ने राष्ट्र की एकता को पहचाना था, और इस एकता का वैसा प्रदर्शन कभी नहीं हुआ था जैसा १४ अगस्त १९४७ की रात को हुआ। रात के ठीक १२ बजे भारत की स्वाधीनता का घंटा बजा और भारत में एक नया युग आरम्भ हुआ। लेकिन गान्धीजी दूर नोआखाली में बैठे थे, क्योंकि उनका हृदय भारत के दो महान् सम्प्रदायों के वैमनस्य के क्रूर परिणामों से मर्माहत था। देश के विभाजन की बहुत गहरी छाप महात्माजी की चेतना पर पड़ी थी। जिस क्लान्त, दुःखी, और एकाकी व्यक्ति को 'राष्ट्र का पिता' घोषित किया गया था, वह उस राष्ट्र की स्वाधीनता के—जिसे उसी के उद्योग ने सम्भव बनाया था—उत्सव में शामिल नहीं हुआ! भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री जवाहरलालजी ने जनता के आनन्द को बड़े मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया।

जिस समय दोनों नये राष्ट्रों की जनता खुशियाँ मना रही थी उस समय गान्धीजी को केवल अन्धकार दीख रहा था। वह जानते थे कि उन्होंने जिन्ना के साथ जो संयुक्त अपील १५ अप्रैल को निकाली थी वह व्यर्थ हुई थी। इस अपील में कहा गया था :

> "राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए बल-प्रयोग की हम सदा के लिए भर्त्सना करते हैं। और हम भारत के सब सम्प्रदायों और मतों के लोगों से अनुरोध करते हैं कि वे न केवल हिंसा के काम छोड़ें बल्कि ऐसा कोई शब्द भी न लिखें या बोलें जिससे ऐसे कामों को प्रोत्साहन मिले।"

जिस समय राजनीतिक लोग विभाजन की बातें करते थे, उस समय उन्होंने प्रान्तों के भी विभाजन की कल्पना नहीं की थी; स्वयं जिन्ना ने भी नहीं, क्योंकि ३० अप्रैल १९४७ को उन्होंने पंजाब और बंगाल के विभाजन का विरोध किया था। गान्धीजी नोआखाली जाते हुए कुछ दिनों के लिए कलकत्ते में रुके और एक मुसलमान के घर रहे। कलकत्ते के लीगी पत्र "मार्निंग न्यूज़" ने उस समय ठीक ही लिखा कि गान्धीजी "इसके लिए मरने को तैयार हैं कि वे (शहर के २३ प्रतिशत मुसलमान निवासी) शान्तिपूर्वक जी सकें।" सितम्बर में गान्धीजी दिल्ली लौटे और अक्तूबर में उन्होंने ७८वीं वर्षगाँठ मनायी। लेकिन उनका हृदय व्यथित था, क्योंकि वातावरण में अब भी हिंसा भरी थी। वह पंजाब जाना चाहते थे। जवाहरलाल और उनके सहयोगी व्यवस्था के प्रश्नों से जूझ रहे थे, लेकिन लाख-लाख संत्रस्त शरणार्थियों की आँखें बिड़लाभवन के दुबले-पतले अतिथि पर ही लगी थीं। लोग जानते थे कि गान्धीजी में अथाह करुणा और परदुःख-कातरता है। गान्धीजी बराबर प्रार्थना-सभाओं में जाते और जनता को शान्ति और मेल के साथ रहने को कहते थे। साम्प्रदायिक वैमनस्य के कारण गान्धीजी के दैनिक श्रोताओं की संख्या घट कर कुछ सौ हो गयी थी; शरणार्थियों में इतनी कटुता थी कि वे गान्धीजी की बातें सुन कर धैर्य खो बैठते थे। क्रोधोन्मत्त होकर वे सोचते थे कि गान्धीजी केवल मुसलमानों को बढ़ावा देते हैं और हिन्दुओं की यन्त्रणाओं की ओर नहीं देखते। सारे राजनीतिक और नेहरू भी इस कटुता के आगे असमर्थ थे; उनका वह प्रभाव नहीं था जो गान्धीजी का हो सकता था। गान्धीजी इस परिस्थिति को अधिक नहीं सह सके और १२ जनवरी १९४८ को उन्होंने आमरण अनशन करने का निश्चय कर लिया। भारत के मन्त्रिमंडल के निर्णय और इच्छा के विरुद्ध ५० करोड़ रुपया पाकिस्तान को दे दिया गया। गान्धीजी के विचार-दर्शन में घृणा के लिए स्थान नहीं था और जैसे को तैसा की नीति उसके साथ निभ नहीं सकती थी। १३ जनवरी को अनशन प्रारम्भ हुआ और १८ को समाप्त हो गया, क्योंकि उन्हें आश्वासन दिया गया कि सम्प्रदायों के मनोभाव बदल गये हैं। मैं तब बिड़ला-भवन में था। गान्धीजी के मित्र उनके इस उपवास की तर्क-संगति नहीं देख पाते थे, लेकिन यह भी जानते थे कि बाधा देना या समझाना व्यर्थ है। गान्धीजी के और उनके उपवास के विरुद्ध जनता के एक वर्ग में कटुता बढ़ रही थी; और २० जनवरी को इसकी चेतावनी भी हो गयी जब प्रार्थना-सभा में एक बम फेंका गया। ३० जनवरी को सायंकाल ५.४५ पर जब महात्माजी बिड़ला-भवन से प्रार्थना-मंच की ओर जा रहे थे तब नाथूराम गोडसे ने भीड़ में से निकल कर उनपर गोली चलायी। गान्धीजी ने राम-राम कहते हुए प्राण छोड़ दिये। मैं अपने दफ़्तर से सीधा बिड़ला-भवन पहुँचा। गान्धीजी अपने ही कमरे में चिर-निद्रा में सोये थे, और उनके शान्त अविचल चेहरे के चारों ओर जुटी हुई भीड़ में सब रो रहे थे जिनमें गान्धीजी के नाती और जवाहरलाल भी थे। वल्लभभाई और मणिबेन भी वहीं थीं। वल्लभभाई भी दुख से बेबस हो रहे थे। देश की ज्योति बुझ गयी थी और अन्धकार हो गया था। थोड़ी देर में लार्ड माउंटबैटन भी आ गये; उन्हीं ने दूसरे दिन की शवयात्रा का प्रबन्ध किया। जैसा कि ट्रूमैन ने लिखा, 'मानव-बन्धुत्व और शान्ति का एक और वीर रक्षक गिर गया'। अमरीका के गृह-सचिव मार्शल ने गान्धी को 'मानव जाति की आत्मा का प्रतिनिधि' कहा; और लीगी पत्र 'डॉन' ने लिखा कि इस दारुण अन्त पर सारा मुस्लिम जगत् शोक-भार से झुक गया है। गान्धीजी का दाह-कर्म राजघाट में हुआ। सारे संसार में लोगों ने अनुभव किया कि गान्धीजी जीवन में जितने महान् थे, मृत्यु में उससे भी महान् हो गये हैं। १२ फ़रवरी को उनकी अस्थियाँ प्रयाग संगम में प्रवाहित कर दी गयीं।

गान्धीजी की मृत्यु का जवाहरलालजी पर गहरा असर हुआ। उन्होंने कहा है :

> "उनकी मृत्यु भी महान् और कलापूर्ण थी। प्रत्येक दृष्टि से वह उनके जीवन की समुचित निष्पत्ति थी। बल्कि ऐसी मृत्यु ने उनके जीवन के सन्देश को और भी बल दिया। वह अपनी शक्ति के उत्कर्ष पर और प्रार्थना के क्षण में मरे—जैसी मृत्यु उन्होंने चाही होगी। उन्होंने अपने को एकता के लिए बलिदान कर दिया,
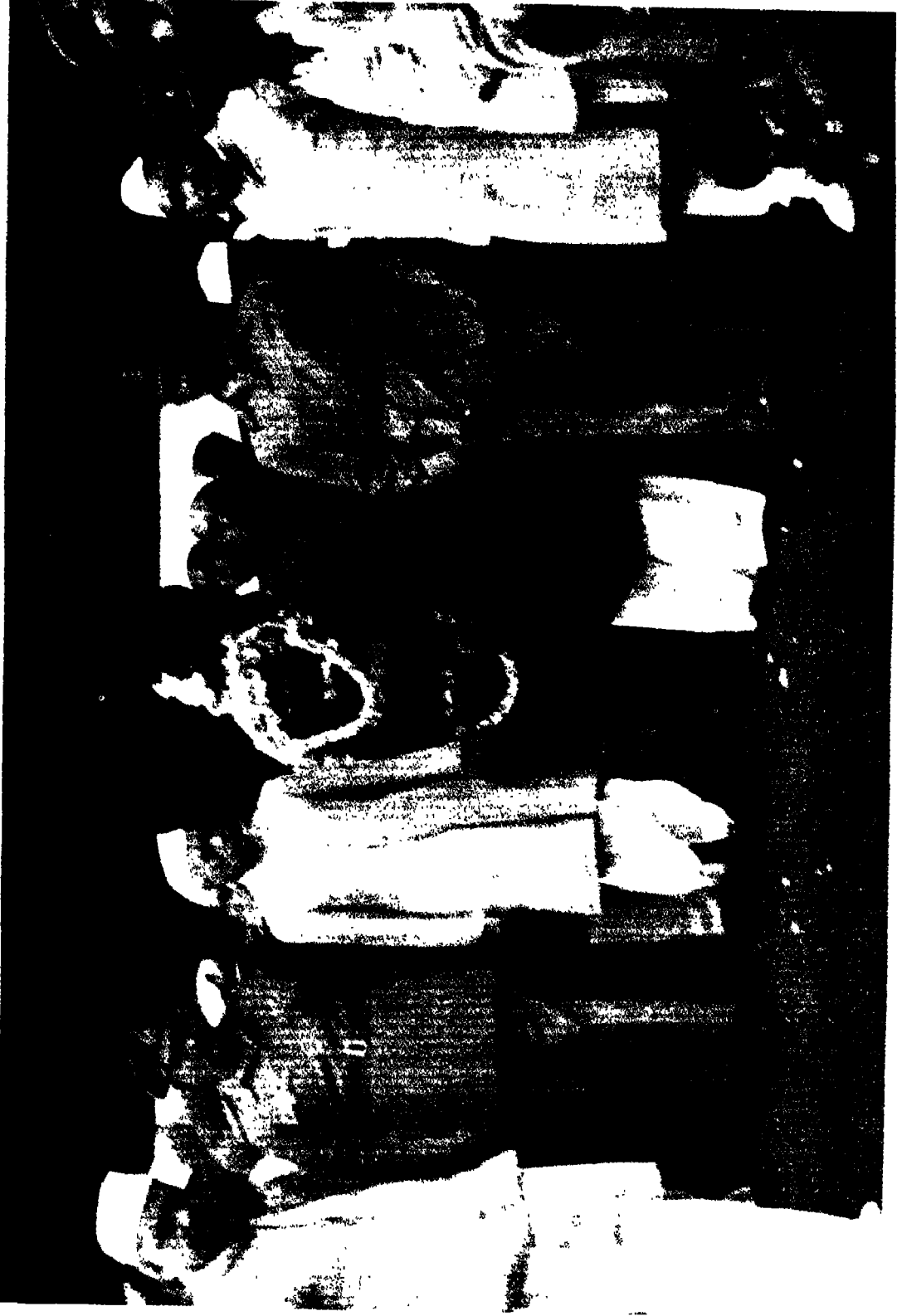
गान्धीजी के प्रयाण के बाद इलाहाबाद स्टेशन पर गान्धीजी की अस्थियाँ गाड़ी से उतारी जा रही हैं।

अस्थियों का विसर्जन

दाहिनी ओर पंडित जवाहरलाल नेहरू; श्री गान्धी अस्थियाँ लिये हुये हैं।
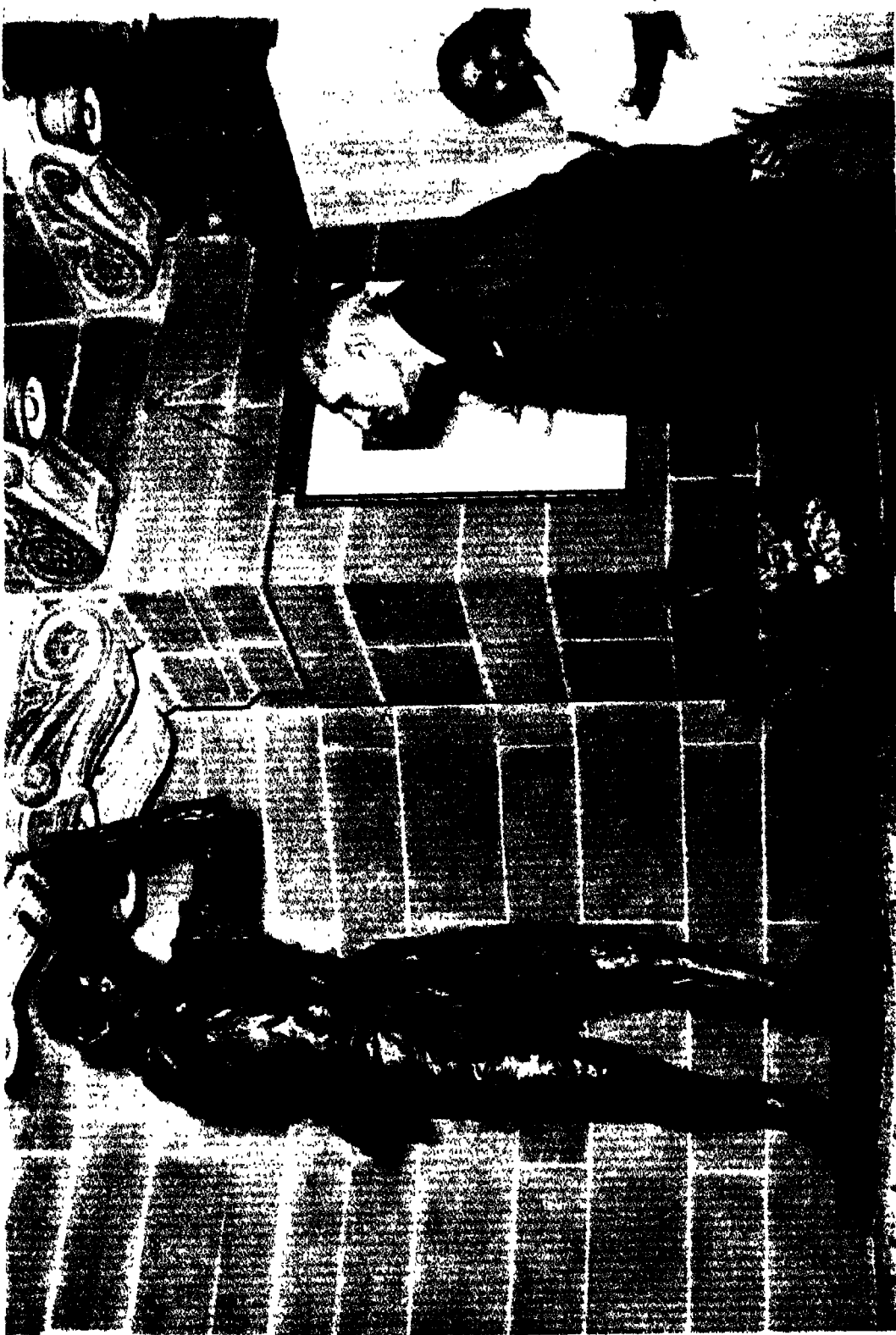
लन्दन की गान्धी प्रदर्शनी में, १९४८

जवाहरलालजी महात्मा गान्धी की एक मूर्ति का निरीक्षण कर रहे हैं।
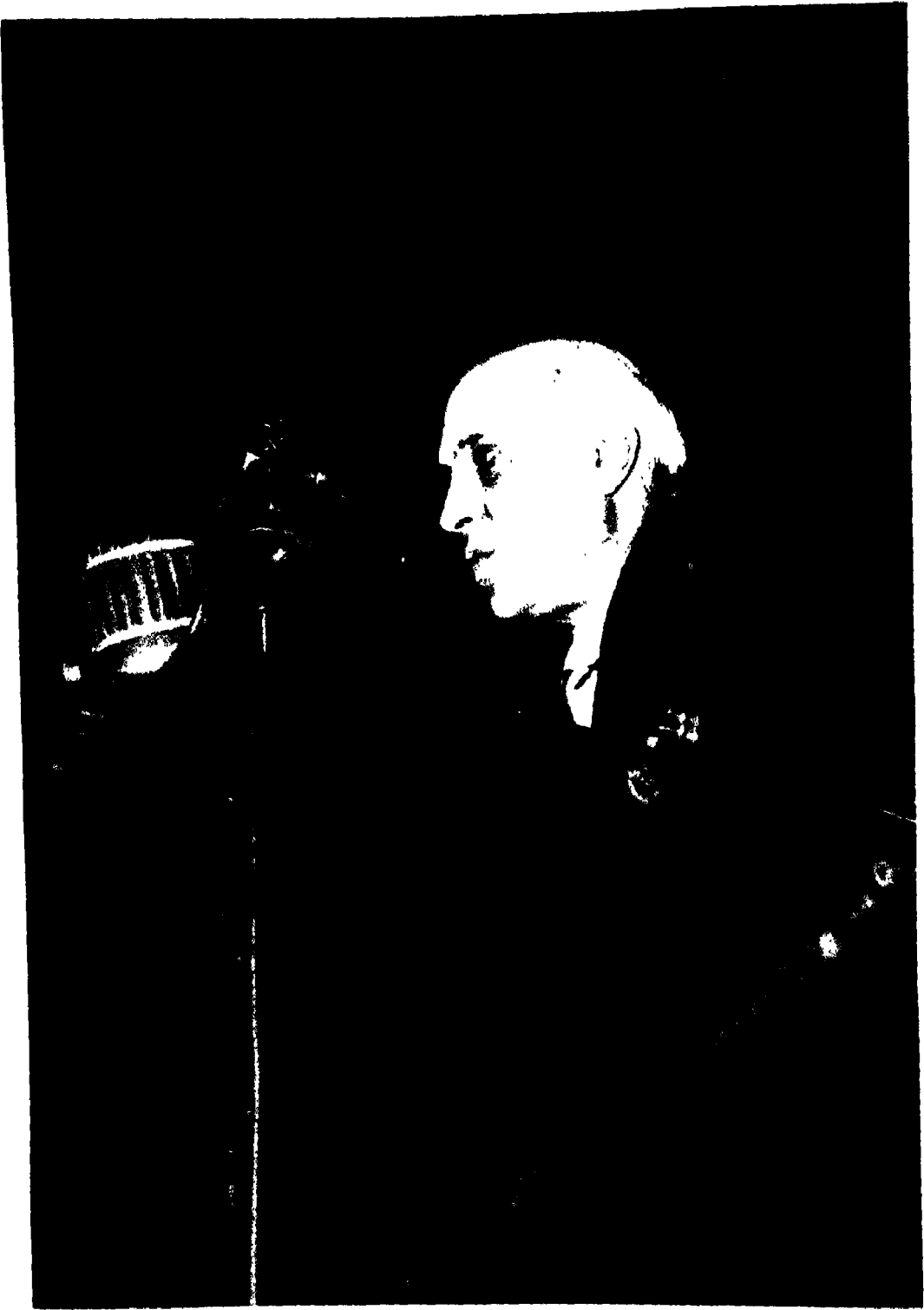
संयुक्त राष्ट्रों के अधिवेशन में

नवम्बर १९४८ में पंडित नेहरू ने संयुक्त राष्ट्रों की सभा में अभिभाषण किया था।

जिसके लिए वह जिये और निरन्तर कर्म करते रहे, विशेष कर अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में। मृत्यु उन्हें अचानक ही ले गयी—जैसे चले जाने की कामना हर किसी को करनी चाहिए। उन्होंने शरीर को धीरे-धीरे जड़ होते नहीं देखा, लम्बी बीमारी नहीं भोगी, वह मानसिक दुर्बलता नहीं जानी जो वय के साथ आती है। हम उनके लिए दुःख क्यों करें? हम उन्हें उस गुरु की भाँति स्मरण करेंगे जिसके क़दम अन्त तक गतिमान रहे, जिसकी मुस्कान संक्रामक थी, जिसकी आँखों में हँसी थी। शरीर या मन की कोई दुर्बलता हम उनके साथ नहीं जोड़ेंगे। वह अपनी शक्ति के उत्कर्ष पर ही जिये और मरे, और हमारे तथा हमारे युग के मन पर एक छाप छोड़ गये जो कभी मिट नहीं सकती।

"वह छाप कभी नहीं मिटेगी। लेकिन उनकी देन इससे बड़ी है। वह हमारे मन और आत्मा में प्रविष्ट हो गये, और उनको बदल गये, नये ढाँचे में ढाल गये। गान्धी जी की पीढ़ी गुज़र जायगी, लेकिन गान्धी की देन बनी रहेगी और परवर्ती पीढ़ियों को भी बदलती रहेगी, क्योंकि वह भारत की आत्मा का अंग बन गयी है। ठीक उस समय, जब हमारी आत्माएँ क्षीण हो रही थीं, बापू ने आकर हमें बल दिया, हमारी आत्मा को समृद्ध बनाया; और उन्होंने हमें जो शक्ति दी वह क्षणों या दिनों या वर्षों की नहीं थी बल्कि हमारे राष्ट्रीय दाय का अंश बन गयी थी।"

नये राज्य का भार नेहरू और पटेल के कन्धों पर था। महात्माजी की उपस्थिति का नैतिक प्रभाव अब नहीं रहा था। भारत के सामने यह खतरा था कि वह भी दूसरे साधारण राज्यों की तरह एक हो जायगा; लेकिन मृत्यु के बाद भी गान्धीजी मानों एक दाय छोड़ गये हैं जिसे कम से कम उनके अनुयायी नहीं भूल सकते—विशेष कर जवाहरलाल नेहरू और वल्लभभाई पटेल तो कदापि नहीं। दोनों का शासन-प्रबन्ध के मामलों में गान्धीजी से कई बार मतभेद हुआ; कभी-कभी उन्होंने गान्धीजी के दृष्टिकोण में बड़ी कठिनाई देखी, क्योंकि व्यावहारिक मामलों पर नीति के आरोप में सदा कठिनाई होती है। लेकिन गान्धीजी की बात सदा मान्य हुई, क्योंकि वह तात्कालिक लाभ या अवसर की ओर नहीं बल्कि किसी उच्चतर तत्त्व की ओर देखते हुए चलते थे। यही कारण है कि आज भी जनता का नैतिक स्तर उठाने के लिए गान्धीजी का नाम लिया जाता है। जवाहरलालजी ने गान्धीजी के प्रभाव को उनकी मृत्यु के बाद और भी अधिक अनुभव किया है। दोनों सम्प्रदायों को मिलाने का, भारत को उसके निवासियों के लिए भूस्वर्ग बनाने का उत्तरदायित्व अब इस महान् आदर्शवादी के कन्धों पर ही है।

३० जनवरी १९४९—गान्धीजी की हत्या की पहली बरसी थी, और संयोग से मैं फिर बिड़ला-भवन में ठहरा हुआ था। तड़के तीन बजे मैं महात्माजी के प्रिय प्रार्थना-गीत सुन कर जागा। बिड़ला-भवन के पीछे की विस्तृत हरियाली में, जिस स्थल पर महात्माजी उनकी महत्ता को समझने में असमर्थ एक देशवासी के हाथों गोली खाकर गिरे थे ठीक उसी स्थल पर, भारत के प्रधान मन्त्री के साथ एक छोटी-सी भीड़ जमा थी। जिस स्थान पर बैठ कर गान्धीजी नित्य प्रवचन किया करते थे, वह बत्तियों से जगमगा रहा था, और बीसियों जन वहाँ उस जाड़े के भोर में उस महान् व्यक्ति को श्रद्धांजलि देने जुटे थे जो प्रेम और सत्य का प्रतीक बन गया है और जिसका समर्पित जीवन अनेकों को प्रेरणा देता है।

जवाहरलाल अत्यन्त संवेदनशील व्यक्ति हैं, बल्कि भावुक भी। और कदाचित् उनमें श्रद्धा भी जितनी वह स्वीकार करते हैं उससे अधिक है। उन्होंने बार-बार लिखा है कि वह महात्माजी की धर्मचर्चा और राजनीति के साथ आध्यात्मिकता के मिश्रण की चेष्टाओं को नहीं समझ पाते थे। किन्तु प्रार्थना-सभाओं में गीता का नियमित पाठ उन्हें प्रभावित करता था और धार्मिकता के निकटतर लाता था। ऐसी सभाओं में ही गान्धीजी का व्यक्तित्व अपने सच्चे रूप में सामने आता था। वहीं पर यह स्पष्ट लक्षित होता था कि उनके पैर धरती पर जमे होने पर भी उनका मन किसी दूर उच्चतर वायुमंडल में विचरण करता है; वहीं पर दीखता था कि उनकी अशेष शक्ति, असीम स्फूर्ति और आशावाद, और अनवरत कर्म की प्रेरणा का उद्भव कहाँ से होता है। जवाहरलाल ने अनेक बार कहा है कि उनकी मानसिक प्रवृत्तियाँ उनकी पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा के कारण गान्धीजी से मूलतः भिन्न थीं, किन्तु एक ही सांस्कृतिक भूमि पर पले हुए व्यक्तियों की रागात्मक प्रवृत्तियों में मौलिक समानता होना अनिवार्य है; और जवाहरलाल यद्यपि राजनीति के साथ धर्म की खिचड़ी से घबराते हैं तथापि हैं वह भी मूलतः श्रद्धालु और निष्ठावान् व्यक्ति, और इस निष्ठा ने ही उनके तूफ़ानी जीवन के लम्बे वर्षों में उनको बल दिया है।

उस दिन तड़के जो भजन गाये जा रहे थे उन्हें सुनते-सुनते जवाहरलाल बिल्कुल द्रवित हो गये थे; क्योंकि गान्धीजी के प्रभाव ने ही जवाहरलाल के जीवन को नये साँचे में ढाला था। जवाहरलाल ने उससे पूर्व कभी कल्पना न की होगी कि परम्परागत भारतीय राजनीति के मंच पर इस लघुकाय व्यक्ति के आते ही उनका बौद्धिक विलासिता का सम-प्रवाही जीवन इस प्रकार उच्छिन्न और ध्वस्त हो जायगा! किन्तु उन्हें इस किसान-वेशी अजनबी सन्त की श्रद्धा ने नहीं अभिभूत किया बल्कि उसके अन्दर छिपी एक अद्भुत और पवित्र सनातन दीप्ति ने, जिसकी दमक उसकी मृत्यु के बाद भी बिड़ला-भवन की हरियाली पर जाड़े के इस भोर में भी, अनुभव की जा सकती थी! जवाहरलाल विचारों में खोये हुए-से और विषण्ण दीखते थे, और भजनों का स्वर मानों उनके संवेदनाशील अन्तःकरण में पैठता जा रहा था। जवाहरलाल श्रेष्ठ शिष्य थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में योग्य शिष्यत्व का एक और उदाहरण स्वामी विवेकानन्द में देखा गया था; किन्तु उनका अपने गुरु परमहंस रामकृष्ण के साथ सम्बन्ध बिल्कुल आध्यात्मिक तल पर था, और महान् शिष्य के कर्म-व्यापारों का संचालन करते हुए भी गुरु पृष्ठभूमि में ही रहते थे—जीवन के संघर्ष से अलग और उपासना में लीन। गान्धीजी और जवाहरलाल का सम्बन्ध सर्वथा भिन्न था। दोनों का जीवन कर्म-रत था और दोनों कर्म द्वारा साधना के पक्ष पर चल रहे थे। ९ जनवरी १९१५ को भारत आने के दिन से ३० जनवरी १९४८ को देह त्याग के समय तक गान्धीजी का जीवन अनवरत कर्म का जीवन था, जिसके परिणामों के बारे में वह सर्वथा अनासक्त थे। हो सकता है कि भारत के इतिहास के एक ऐसे मोड़ पर वह प्रकट हुए हों, जब देशवासी—कम से कम आंशिक रूप से—उस व्यक्ति से नयी आशा का सन्देश सुनने के लिए तैयार हों जो कि जाति के श्रेष्ठ गुणों का साकार पुंज था। गान्धीजी ने समूचे राष्ट्र के जीवन पर कई दिशाओं में प्रभाव डाला और साधारण जीवों को भी वीर नायक बना दिया।

गान्धीजी की प्रतिभा ने भारतीयों को एक नये प्रकार की स्वाधीनता दिलायी जिसे उन्होंने अपने लम्बे इतिहास में पहले कभी नहीं जाना था। उनकी नयी आन्दोलन-परिपाटी ने देश के ग़रीब से ग़रीब नर-नारियों को स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेने की और उसके साथ एकप्राण होने की शक्ति दी। एक समूची पीढ़ी पर उनका व्यक्तित्व छाया रहा—केवल राजनीति के क्षेत्र में नहीं बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में। भारत में राजनीति कभी धर्म से बहुत दूर नहीं रही, क्योंकि जनता के जीवन पर धर्म की गहरी छाप रही है, चाहे व्यवहार में धर्म कितना ही क्षीण क्यों न रहा हो। गान्धीजी ने भारत की समस्याओं को नयी दृष्टि से देखा। वह हमेशा किसी छोटी-सी बात को लेकर आरम्भ करते थे। चम्पारन, खेड़ा, डांडी का नमक-सत्याग्रह, सब इसी के उदाहरण हैं। आज यह देख कर अचम्भा होता है कि अतीत के जो विजेता डेढ़ सौ वर्ष से अधिक इस देश पर शासन करते रहे, अन्त में मित्रभाव से चले गये; इस आश्चर्य को घटित करने का श्रेय मुख्यतया महात्मा गान्धी को ही है।

राजनीति साधारणतया मानव स्वभाव के श्रेष्ठ गुणों को नहीं उभारती; और राजनीतिक दलों में कालान्तर में फूट होती ही है, क्योंकि व्यक्तिगत स्वार्थ और आकांक्षाओं में संघर्ष होने लगता है जिसे मिटाना आदर्शों या सिद्धान्तों के विरोध दूर करने से भी अधिक दुष्कर होता है। भारतवासियों में भी दलबन्दी की प्रवृत्ति संसार की किसी अन्य जाति से कम नहीं है; किन्तु दक्षिण अफ़्रीका से स्थानीय ख्यातिमात्र लेकर आये एक अत्यन्त साधारण दीखने वाले व्यक्ति ने न केवल विभिन्न स्वार्थों के विरोध को शान्त कर दिया बल्कि सब को एकता के सूत्र में बाँध कर एक महान् राजनीतिक संगठन खड़ा कर दिया, जिसके वीर योद्धा उच्च या शिक्षित वर्ग से ही नहीं बल्कि सर्व-साधारण से भरती किये हुए लोग थे। निःस्वार्थ कर्म, उक्ति और कर्म के सम्पूर्ण सामंजस्य और सेवा के जीवन का देश पर इतना गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा जो कदाचित् विश्व के इतिहास में अतुलनीय है। राजनीति में गान्धीजी सूर्य की भाँति छायाहीन देदीप्यमान थे, या अगर उनकी छाया थी भी तो नये स्वस्थ जीवन के निवास में कभी बाधक नहीं थी। यह भारत का सौभाग्य है कि देश के स्वाधीन होने पर नये लोकतन्त्र को गान्धीजी जवाहरलाल और वल्लभभाई जैसे दो असाधारण योग्य नेता दे सके। इन दोनों ने देश की जो सेवा की है, उसके साथ आज की अपेक्षा भावी पीढ़ियाँ ही समुचित न्याय कर सकेंगी। स्वाधीनता का दाय कम भारी नहीं था; लेकिन गान्धीजी के इन दोनों शिष्यों की लगन और दूरदृष्टि ने ही तूफ़ान में राष्ट्र-पोत को सँभाला और शान्ति के नये तीर पर लगाया। स्वाधीनता-आन्दोलन का वास्तविक आरम्भ अगर जनवरी १९१५ में गान्धीजी के भारत आगमन के साथ हुआ, तो उसका वास्तविक अन्त भी जनवरी १९४८ में, गान्धीजी के कर्म-क्षेत्र से उठ जाने पर, हुआ। संग्राम का पूरा नक़्शा उन्हीं का तैयार किया हुआ था, और उसकी प्रेरणा भी वही थे। महात्माजी के व्यक्तित्व की प्रबल शक्ति

ने ही उनके अनुयायियों को उनकी योग्यता और प्रतिभा के अनुसार ठीक पदों पर तैनात किया ! पिछले तीस वर्षों का इतिहास गान्धीजी के नेतृत्व का और उसके अनुशासन में उनके दो प्रमुख शिष्यों के विकास का, इतिहास है। महात्माजी की इहलीला के साथ-साथ देश के इतिहास का एक उज्ज्वल परिच्छेद भी समाप्त हुआ। गान्धीजी जैसे नेता बार-बार नहीं जन्मते, और निरी नैतिक प्रेरणा के सहारे एक समूचे राष्ट्र को लम्बे युद्ध और कठोर यातनाओं के पार विजय तक पहुँचा देने के दृश्य रोज़ नहीं देखे जाते। मानवता का एक साधारण साँचा है, और भारतवासी भी उसी में ढले हैं। राजनीतिक दल प्रायः शक्ति-लाभ की संगठित लालसा मात्र होते हैं, जिनमें सिद्धान्तों और नीतियों की आड़ में व्यक्तिगत स्वार्थ पनपते हैं। महात्माजी के उठ जाने से जवाहरलालजी के कन्धों पर एक बहुत बड़ा दायित्व आ पड़ा है। गान्धीजी ने एक विशेष राजनीतिक ध्येय की प्राप्ति के लिए जो विराट् राजनीतिक यन्त्र गढ़ा था, उसे उतना ही शुद्ध और गतिशील बनाये रखने के लिए जवाहरलाल को अपनी पूरी शक्ति और राजनीतिक प्रतिभा लगा देनी होगी। जैसा कि गान्धीजी सदैव कहते थे, जनता की सेवा ही असल चीज़ है और लोकतन्त्र के सिद्धान्त और व्यवहार उसी से सार्थक बनते हैं।

४

साहित्यिक और पत्रकार

जवाहरलाल का साहित्यिक लेखन प्रायः विभिन्न जेलों में बितायी हुई लम्बी अवधि में ही हुआ। उस अनिच्छित अवकाश में उनकी सहज जिज्ञासा और तीव्र बुद्धि को उत्तेजना मिली कि वह मानवी सभ्यता के लम्बे इतिहास का पर्यवलोकन करें और साथ ही साथ अपने तूफ़ानी जीवन के उतार-चढ़ाव का विश्लेषण भी ! एकाकी जीवन बहुधा आध्यात्मिक जिज्ञासा को उभारता है, और मानव का मन वस्तुओं और परिस्थितियों को एक तटस्थ दूरी से देखने लगता है। ऐसे प्रकाश के क्षणों में चेतना मानो कहीं दूर से आयी हुई विशुद्ध और प्रखर अन्तर्दृष्टि से प्रेरित होती है। प्रत्येक रचनाशील प्रतिभा को कभी न कभी ऐसा अनुभव होता है; और तब वह स्वयं अपनी कृति को पहचान नहीं पाता, क्योंकि वह उसकी सारी सीमाओं के पार किसी ज्ञानातीत अपर सत्य से आयी हुई जान पड़ती है। एक अत्यन्त संवेदनाशील और सहज शब्द-कौतूहल रखने वाले लेखक के रूप में जवाहरलाल जी ने भी ऐसे क्षणों का अनुभव किया है। उनका लेखन मँजा हुआ और शैली प्रवाहमयी है; उसमें प्रसाद भी है और निष्ठा भी। कभी-कभी उनका लेखन अत्यन्त भावना-संकुल हो उठता है। वह अपने भीतर देखने से और आत्म-विश्लेषण करने से घबराते नहीं। इसलिए उनके बिना तैयारी के भाषणों से उनकी लिखित रचनाएँ सर्वथा भिन्न होती हैं और साहित्यिक लालित्य से युक्त होती हैं। उनमें अलंकार कम होता है और शब्दों का अनायास प्रवाह उनके विचारों को सफलतापूर्वक व्यक्त करता है। किसी दूसरे और अधिक अवकाश के युग में जवाहरलाल अंग्रेज़ी के लेखक के रूप में बहुत ऊँचा स्थान पा सकते, क्योंकि मानवी भावनाओं के नीचे जाकर मानव के कार्य-व्यापारों की मूल प्रेरणाओं का अध्ययन कर सकने के लिए उनके पास शिक्षा-दीक्षा भी है और संवेदना तथा अन्तर्दृष्टि भी। वह इन गुणों को बार-बार अपने ही आन्तरिक जीवन के विवेचन में लगाते हैं और उसका एक सुन्दर और सहज चित्र उपस्थित करते हैं।

जवाहरलाल बहुत पढ़ते हैं, या कम से कम अपने नये पद का दायित्व-भार लेने के समय तक पढ़ते थे। अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य का उनका ज्ञान विस्तीर्ण भी है और गम्भीर भी। यूरोप तथा अमेरिका के मुख्य साहित्यिक या कलात्मक आन्दोलनों और हलचलों से वह अच्छी तरह परिचित हैं। बाल गंगाधर तिलक, श्री अरविन्द, गान्धी जी और अन्य अनेक राजनीतिक नेताओं की भाँति जवाहरलाल ने भी चिन्तन, विश्राम और मार्मिक लेखन के लिए जेल-जीवन का सदुपयोग किया है। बन्दी-जीवन के विषय में उन्होंने अपने विचारपूर्ण ढंग से लिखा है :

> "जेल में मानों काल का स्वभाव बदल जाता है। वर्त्तमान मानो नहीं रहता, क्योंकि ऐसी कोई भावना या संवेदना ही नहीं रहती जो कि अतीत से अलग उसका बोध कराये। यहाँ तक कि बाहर के गतिशील, जीते और मरते जगत् के समाचारों में भी एक सपने की सी असारता, जड़ता और परिवर्तनहीनता आ जाती है। बाहर का निरपेक्ष काल अपना अस्तित्व खो देता है। व्यक्ति की चेतना ही बनी रहती है लेकिन वह भी एक निचले स्तर पर। केवल कभी-कभी विचार की तीव्रता उसे वर्तमान से ऊपर उठा कर अतीत में या भविष्य में एक वास्तविकता का बोध कराती है।
>
> "अतीत में एक स्थिरता और स्थायित्व होता है, वह बदल नहीं सकता और मानों शाश्वत होता है; जैसे कि कोई चित्र या कि पत्थर या काँसे की मूर्त्ति। वर्त्तमान के तूफ़ान और उथल-पुथल से अप्रभावित वह अपनी शान्ति और शालीनता बनाये रहता है, और दुखी आत्मा और पीड़ित मानस को अपनी चिर शान्तिमय समाधि-गुफा में शरण लेने के लिए आकर्षित करता है। वहाँ शान्ति है, सुरक्षा है, और एक आध्यात्मिक भाव का भी आभास मिल सकता है।

आज़म पाशा से भेंट

पंडित नेहरू काहिरा में अरब लीग के प्रधानमन्त्री आज़मपाशा से गले मिल रहे हैं।
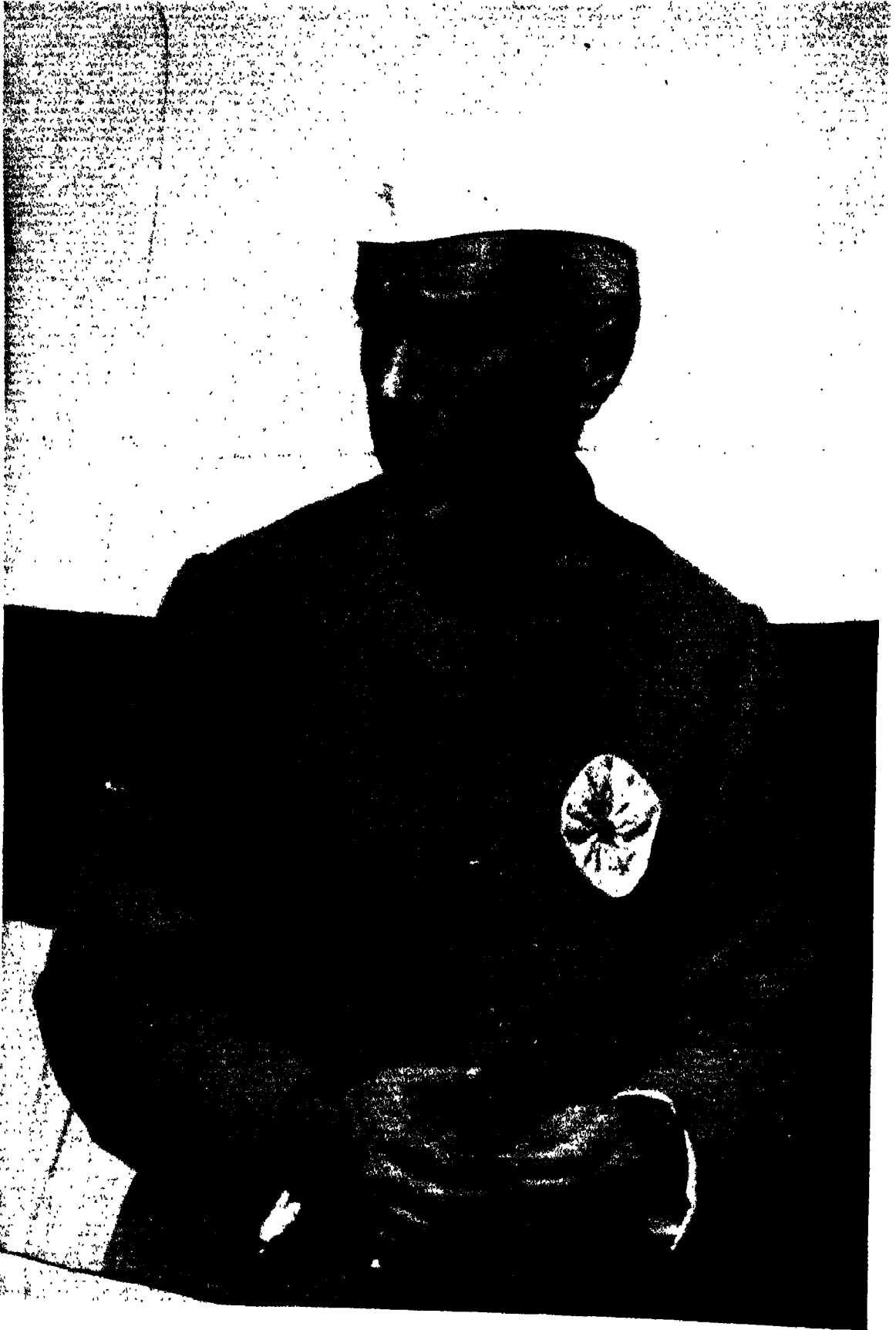
मेरठ कांग्रेस में

श्री नारायण राव कुलकर्णी के सौजन्य से

"लेकिन वह जीवन नहीं है, जब तक कि हम उसके और वर्तमान के संघर्ष और समस्याओं के बीच की आवश्यक कड़ी न खोज निकालें। वह मानों 'कला के लिए कला' है, जिसमें वह तीव्रता और कर्म-प्रेरणा नहीं है जो कि जीवन का सार है। उस तीव्रता और प्रेरणा के बिना आशा और जीवन धीरे-धीरे बूँद-बूँद बह जाता है, और व्यक्ति अनस्तित्व में लीन हो जाता है।"

जवाहरलाल मानों जीवन का प्रत्यवलोकन एक ऐसे दृष्टिकोण से कर रहे हों, जिसमें केवल भारत का ही नहीं बल्कि अपनी आत्मा का भी शोध है।

सन् १९१६ में जवाहरलाल की वरयात्रा की स्पेशल ट्रेन में इलाहाबाद से दिल्ली जाने का निमन्त्रण मुझे अब तक याद आता है। विवाह प्रचलित रीति के अनुसार माता-पिता ने ही निश्चित किया था, और जवाहरलाल ने अपना दायित्व स्वीकार कर लिया था। यह बात उनकी कल्पना में नहीं आयी थी कि उनका विवाह कुछ असाधारण होगा, क्योंकि उनका जीवन सदैव सूक्ष्म परिस्थितियों से ही गुज़रता रहा। जेल में लिखी हुई अपनी आत्मकथा का समर्पण उन्होंने किया है "कमला को —जिसकी अब याद ही रह गयी है"। 'भारत का शोध' ('हिन्दुस्तान की कहानी') के एक मार्मिक परिच्छेद में जवाहरलाल ने विवाह के बीस वर्ष बाद बाडेनवाइलर के स्वास्थ्य-भवन में अन्तिम साँसें लेती हुई कमला जी के साथ अपनी अन्तिम भेंट का वर्णन किया है। ४ सितम्बर १९३५ को वह अल्मोड़ा जेल से रिहा किये गये, और रिहाई के पाँच दिनों के भीतर वह कमला जी के पास पहुँच गये। वह लिखते हैं :

"हमारे विवाह के लगभग बीस वर्ष बीत चुके थे, फिर भी न जाने कितनी बार मैं उसके मन और आत्मा के नये रूपों को देख कर अचम्भे में आया था।....मुझे अकसर सन्देह भी होता था कि मैंने उसे पहचाना भी या नहीं। उसमें परियों जैसी भेदभरी बातें थीं जो सच्ची होते हुए भी ऐसी थीं कि उन्हें ग्रहण नहीं किया जा सकता। कभी-कभी उसकी आँखों में झाँकता हुआ मैं पाता कि मेरे सामने एक अजनबी खड़ा है।"

जवाहरलाल जैसे गम्भीर भावना वाले व्यक्ति के लिए कमला जी के चले जाने से बन जाने वाला शून्य असह्य होना ही स्वाभाविक है। विवाह के अल्प काल बाद ही वह क्रियात्मक राजनीति के भँवर में आ गये, और विवाहित जीवन के बीस वर्ष अनिवार्य वियोग के अन्तरालों से भरे हुए रहे। त्याग, निराशा, कष्ट और खतरा गान्धी जी की राजनीति में निहित ही था। जवाहरलाल ने स्वयं कमला जी का चित्र इन शब्दों में खींचा है :

"कुछ थोड़ी-सी स्कूली तालीम के अलावा उसे क़ायदे से शिक्षा नहीं मिली थी। उसका दिमाग़ शिक्षा की पगडंडियों में से होकर नहीं गुज़रा था। हमारे यहाँ वह एक भोली लड़की की तरह आयी और ज़ाहिरा उसमें कोई ऐसी जटिलताएँ नहीं थीं जो आजकल आम तौर से मिलती हैं। चेहरा तो उसका लड़कियों जैसा बराबर बना रहा, लेकिन जब वह सयानी होकर औरत हुई तब उसकी आँखों में एक गहराई, एक ज्योति, आ गयी और इस बात की सूचक थी कि इन शान्त सरोवरों के पीछे तूफ़ान चल रहा है। वह नयी रोशनी की लड़कियों जैसी न थी; न तो उसमें वे आदतें थीं न वह चंचलता थी। फिर भी नये तरीक़ों में वह काफ़ी आसानी से घुल-मिल जाती थी। दरअस्ल वह एक हिन्दुस्तानी और खास तौर पर कश्मीरी लड़की थी। चैतन्य और गर्वीली, बच्चों जैसी और बड़ों जैसी, बेवक़ूफ़ और चतुर। अजनबी लोगों से और उनसे जिन्हें वह पसन्द नहीं किया करती थी, वह संकोच करती, लेकिन जिन्हें वह जानती और पसन्द करती थी उनसे वह जी खोल कर मिलती और उनके सामने उसकी खुशी फूटी पड़ती थी। चाहे जो शख्स हो, उसके बारे में वह झट अपनी राय क़ायम कर लेती। यह राय उसकी हमेशा सही न होती, और न हमेशा वह इंसाफ़ की नींव पर बनी होती, लेकिन अपनी इस सहज पसन्द या विरोध पर वह दृढ़ रहती। उसमें कपट नाम को भी न था। अगर वह किसी व्यक्ति को नापसन्द करती और यह बात ज़ाहिर हो जाती, तो वह उसे छिपाने की कोशिश न करती। कोशिश भी करती तो शायद वह इसमें कामयाब न होती। मुझे ऐसे इनसान कम मिले हैं जिन्होंने मुझपर अपनी साफ़-दिली का वैसा प्रभाव डाला हो जैसा कि उसने डाला था।

"रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटक की चित्रा की तरह वह मुझसे यह कहती जान पड़ती थी : 'मैं चित्रा हूँ, देवी नहीं हूँ कि मेरी पूजा की जाय। अगर तुम खतरे और साहस के रास्ते में मुझे अपने साथ रखना मंजूर

करते हो, तो तुम मेरे असली आत्मा को पहचानोगे।' लेकिन उसने यह बात मुझसे शब्दों में नहीं कही। धीरे-धीरे यह सन्देशा मैं उसकी आँखों में पढ़ पाया।"

ऐसे अवतरणों में दीखता है कि जवाहरलाल अपने भाव-जगत् के संघर्षों का वर्णन किस कुशलता और वाक्चातुर्य के साथ कर सकते हैं। अपने मन की चिर-परिवर्तित दशाओं का भी वह सुन्दर और सहज वर्णन कर सकते हैं। उनका लेखन बहुमुखी होते हुए भी अनियमित रहा है। कविता के लिए स्थायी प्रेम रहते हुए भी उन्होंने उसे कभी लिखने का यत्न किया नहीं जान पड़ता। उन्होंने कर्म के द्वारा आत्म-दर्शन का मार्ग ही चुना था, और सन् १९१६ के अन्तिम दिनों में गान्धी जी से भेंट होने पर उनमें जो गहरा आध्यात्मिक परिवर्त्तन हुआ उसके लिए वह अनजाने भीतर ही भीतर तैयारी करते रहे थे। गान्धी जी की भेंट से उनकी अन्तरात्मा के बन्धन खुल गये, और वह अद्भुत स्फूर्ति और उत्साह से दीप्त हो उठी। तब से उनका जीवन एक अपूर्व शोभा-यात्रा ही रहा है, चाहे लेखन के क्षेत्र में या राजनीति में, या स्वतन्त्रता-संग्राम के एक सैनिक के रूप में, या कि भारत के पहले प्रधान मन्त्री की हैसियत से एक गतिमान जन-नेता के रूप में। सन् १९२९ में कॉंग्रेस का अध्यक्ष चुने जाने पर गान्धी जी ने ठीक ही कहा था कि वह स्फटिक की तरह शुद्ध हैं और उनकी सत्य-निष्ठा सन्देह से परे है। यह सत्य-निष्ठा ही उनके लेखन और उनके जीवन का संवादी स्वर है।

अन्य राजनीतिकों की भाँति जवाहरलाल ने भी बहुत-सा ऐसा विविध लेखन किया है जो कि किसी विशेष सामयिक उद्देश्य से प्रेरित रहा है।

मुझे इलाहाबाद के 'इंडिपेंडेंट' के दिन अच्छी तरह याद हैं, जब जवाहरलाल, सम्पादक सैयद हुसेन और मैं रोज शाम को भोजन के बाद 'इंडिपेंडेंट' के दफ़्तर में जाया करते थे। तब मैं कुछ दिनों की छुट्टी पर "आनन्द-भवन" में ठहरा था। 'इंडिपेंडेंट' नेहरू परिवार का पत्रकार-जगत् में पहला जोखिम था। इसका प्रारम्भ पंडित मोतीलाल नेहरू ने ६ फ़रवरी १९१९ को वसन्त पंचमी के दिन किया। उसका मुख्य उद्देश्य था उस समय के सर्वशक्तिमान् दैनिक 'लीडर' की नरम राजनीति का विरोध। 'लीडर' इलाहाबाद से स्वर्गीय श्री चिन्तामणि के तेजस्वी सम्पादन में निकलता था। चिन्तामणि कट्टर लिबरल थे। और गोखले तथा श्रीनिवास शास्त्री की भाँति उनका यह मत था कि भारत का भाग्य ब्रितानी संरक्षण में ही सुरक्षित रूप से चमकेगा। 'लीडर' असन्दिग्ध रूप से युक्तप्रान्त का सबसे प्रभावशाली पत्र था, और श्री चिन्तामणि का देहावसान होने तक उसकी धाक जमी रही। स्वर्गीय सैयद हुसेन के सम्पादन और देख-रेख में 'इंडिपेंडेंट' केवल दो वर्ष चला। सैयद हुसेन रूपवान् थे, अच्छे वक्ता थे, और उन में सनसनीदार सुर्खियाँ तथा तीखी आलोचना लिखने की विशेष प्रतिभा थी। प्रेस-क़ानूनों के बढ़ते हुए जुल्म के कारण 'इंडिपेंडेंट' का प्रकाशन बन्द करना पड़ा।

जवाहरलाल सिद्धहस्त पत्रकार हैं और उन्होंने वर्षों तक नियमित रूप से अनेक प्रकार के पत्रों के लिए लिखा है। अपने राजनीतिक जीवन के आरम्भ से ही वह पत्रों के प्रवर्तक, संचालक और व्यवस्थापक रहते आये हैं। लखनऊ के 'नेशनल हेरल्ड' ने पिछले कई वर्षों से उनका स्नेह और संरक्षण पाया है। किन्तु पत्रकारों का लेखन स्वभावतया अस्थायी होता है और गान्धी जी तथा जवाहरलाल का लेखन भी इसका अपवाद नहीं हो सका। जवाहरलाल का इस ढंग का लेखन मात्रा में प्रचुर और वस्तु की दृष्टि से सामयिक रहा; लेकिन न तो गान्धीजी की भाँति नियमित और लगातार रहा, न उस ऊँचे तल पर। गान्धी जी गुजराती, हिन्दी, और अंग्रेज़ी तीनों भाषाओं के अद्वितीय पत्रकार थे। मानवी उद्योग के इस सीमित क्षेत्र में भी उन जैसा फिर कोई होगा, इसमें सन्देह है। गान्धी जी जो कुछ लिखते वह देश की हर भाषा में और हर प्रकार के पत्रों में अनूदित हो कर छपता। उनके जीवन की भाँति ही उनका लेखन भी अत्यन्त ईमानदारी का और सत्य-परायण रहा। वह अत्यन्त संक्षेप में केवल काम की बात कहते; शब्दाडम्बर की प्रचलित शैली के वह बिल्कुल अपवाद थे और अपने विभिन्न पत्रों का—अंग्रेज़ी के 'यंग इंडिया' गुजराती, अंग्रेज़ी और हिन्दी के 'नव जीवन' और 'हरिजन' का—संचालन उन्होंने जिस ढंग से और जिस स्तर पर किया वह उनके चरित्र का प्रतिबिम्ब है और उनके समय-यापन के कड़े नियम को सूचित करता है।

५

वक्ता

पंडित नेहरू का अंग्रेज़ी शब्द-भंडार बहुत बड़ा है। लेकिन बड़ी-बड़ी सभाओं में या रेडियो पर हिन्दुस्तानी में भाषण देते समय वह एक संकुचित भंडार से ही काम लेते हैं। उनकी वाणी मधुर, कोमल और सम है, यद्यपि कभी-कभी वह तीव्र भावना का वर्णन करते हैं। उसमें उच्च कोटि की वक्तृत्व शक्ति के गुण नहीं हैं। इसके अलावा उनकी एक और भी कठिनाई है। वह यह कि जहाँ उनकी मातृभाषा फ़ारसी झुकाव वाली हिन्दुस्तानी यानी उर्दू कही जा सकती है, वहाँ आज भारत के प्रमुख राजनीतिज्ञों से संस्कृतमयी हिन्दुस्तानी अर्थात् हिन्दी की अपेक्षा होती है। फलत: जवाहरलाल के हिन्दुस्तानी भाषणों में भाषा-प्रवाह समान और सहज नहीं होता, और उनका भाषण लम्बा और विशृंखल होता है। संस्कृत के सीमित ज्ञान के बावजूद हिन्दी पर उनका अधिकार उस कोटि का नहीं है जैसा कि अंग्रेज़ी पर, तथापि उनके व्यक्तित्व और उनके विचारों के पारदर्शी खरेपन के कारण, तैयारी की कमी और शब्द-चयन के ढीलेपन के दोषों का मार्जन हो जाता है। गान्धी जी का हिन्दी-ज्ञान भी सीमित था, लेकिन वह इस न्यूनता का उपाय कर लेते थे क्योंकि वह कम से कम शब्दों से काम लेते थे। इसके अलावा उनमें वचन और कर्म का वह सम्पूर्ण सामंजस्य था जो किसी भी उक्ति को वक्तृत्व-कौशल के तल से ऊँचा उठा देता है। सरदार पटेल का भाषा-ज्ञान गान्धी जी या जवाहरलाल दोनों से कम है, लेकिन उनमें परिहास और व्यंग्य का दुर्लभ गुण है। उनकी चलती हुई हिन्दी के वाक्य छोटे-छोटे और पैने होते हैं। वही एक वक्ता हैं जिनसे कि मरहूम मुहम्मद अली जिन्ना सचमुच डरते थे, क्योंकि जिन्ना साहब जानते थे कि जहाँ तक दो-टूक बात करने और खरी-खरी सुनाने का प्रश्न है, वहाँ सरदार जब अपना सहज व्यंग्य और कटाक्ष का हथियार सँभालेंगे तो उनके सामने कोई नहीं टिक सकता। लच्छेदार व्याख्यानों का ज़माना गुज़र चुका है, और भारत भी अपने वक्तृत्व-प्रेम के बावजूद नये फ़ैशनों का अभ्यस्त हो गया है। स्वर्गीय सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के लम्बे-लम्बे अंग्रेज़ी वाक्यों वाले वक्तृत्व का ज़माना इतिहास की बात हो गयी है। स्वर्गीय पंडित मदनमोहन मालवीय के मधुर शब्दाडम्बर-भरे व्याख्यान आज का भारतीय श्रोता नहीं सुनना चाहेगा। स्वर्गीय श्रीनिवास शास्त्री के मँजे हुए साहित्यिक भाषण, श्री चिन्तामणि या तेजबहादुर सप्रू के युक्तिपूर्ण प्रवचन अब कोई असर नहीं रखते। आज जनता साधारण आवाज़ वाले और वक्तृत्वशक्ति-रहित राजनीतिज्ञों की बातें भी ध्यान से सुनती है, अगर उन्होंने स्वाधीनता-संग्राम में उल्लेखनीय भाग लिया हो और अगर उनके वचन और कर्म में कुछ सामंजस्य रहा हो। स्वर्गीय सरोजिनी नायडू के कर्ण-मधुर भाषणों को उनकी सुललित पदावली का श्रेय तो दिया जायगा लेकिन उनसे जनता प्रभावित न होगी। श्रीमती एनी बिसेंट का वक्तृत्व भी मुझे याद है। दिसम्बर १९१५ में जवाहरलाल के साथ मैं एक जनसभा में उनका भाषण सुनने गया था। सभा-स्थान इलाहाबाद का थियेटर हाल था जो खचाखच भरा हुआ था। पं० मोतीलाल नेहरू और पं० मदनमोहन मालवीय भी मौजूद थे, लेकिन भीड़ तथा शोर इतना था कि ये दिग्गज भी कार्यारम्भ नहीं कर पा रहे थे। अन्त में शोर-गुल और अव्यवस्था के बीच में वृद्धा श्रीमती बिसेंट खड़ी हुईं। उन्होंने कुछ ही शब्द कहे होंगे कि सभा में नि:स्तब्धता छा गयी और एक घंटे तक लोग शान्ति से उनका भाषण सुनते रहे। श्रीमती बिसेंट का वाक्कौशल अद्भुत था, लेकिन वह दिन अब सदा के लिए चला गया। अब निरे वाक्-चातुर्य का कोई प्रभाव तब तक नहीं होता जब तक कि लोग यह भी अनुभव न करें कि वक्ता उनके आदर्शों और आशाओं का भी प्रतिनिधि है। गान्धी जी भारत की असंख्य जनता के चेतन और अवचेतन विचारों और आकांक्षाओं के ऐसे ही पुंज थे। इसलिए यद्यपि उनकी आवाज़ कमज़ोर थी और वह शायद ही कभी खड़े हो कर बोलते थे तथापि श्रोताओं पर उनके शब्दों का ऐसा असर होता था जैसा कदाचित् ही किसी बड़े से बड़े वक्ता का असर होता हो। उनके शब्दों में अटल निष्ठा की आग होती थी। गान्धी जी का वक्तृत्व इसलिए सर्वोच्च था कि उनकी उपस्थिति मात्र से लाखों जनता न केवल प्रभावित हो जाती थी बल्कि अपना रवैया भी

बदल देती थी। यह अन्ततोगत्वा विचार और गहरे विश्वास की ही विजय है, विचार और कर्म के सामंजस्य की विजय। ऐसी दुर्लभ वक्तृत्व-शक्ति इतिहास में इने-गिने लोगों के भाग्य में ही रही है।

श्रोताओं पर गान्धी जी के सम्मोहन का वर्णन जवाहरलाल ने इस प्रकार किया है :

"...क्योंकि यह ज़ाहिर था कि इस दुबले-पतले आदमी में फौलाद का अंश है, कुछ चट्टान-सा अटल जो बड़ी से बड़ी भौतिक शक्ति के आगे भी नहीं झुकता। अपनी साधारण मुद्रा, लंगोटी और नंगे शरीर के बावजूद उनमें एक सहज आभिजात्य था जो कि बरबस दूसरों को श्रद्धा-विनत कर देता था। वह स्वयं नम्र और विनीत रहते थे, लेकिन उनमें शक्ति और अधिकार था, और वह इसे जानते हुए ऐसी आज्ञापना करते थे जिसे मानना ही पड़ता था। उनकी शान्त गहरी आँखें दूसरे व्यक्ति को बाँध कर उसकी गहराई टटोल लेती थीं; उनके स्पष्ट स्वर दिल में बैठ जाते थे और भावना को छूकर जगा देते थे। उनका श्रोता एक व्यक्ति हो या हज़ार, उनका जादू-भरा आकर्षण सब को छू जाता था और प्रत्येक को अनुभव होता था कि विशेषतः उसी से बात की जा रही है। इस अनुभव का बुद्धि से कम सम्बन्ध है, यद्यपि बुद्धि के लिए भी वह मसाला देते थे। लेकिन बुद्धि और तर्क का स्थान गौण ही होता था। यह सम्मोहन वक्तृत्व के कौशल से या कि लच्छेदार फ़िक़रों के जादू से नहीं किया जाता था, क्योंकि उनकी भाषा सर्वदा सीधी-सादी होती थी और वह सिर्फ़ काम की बात कहते थे; फ़ालतू शब्द का प्रयोग वह शायद ही कभी करते रहे हों। उनकी मोहिनी शक्ति उनके व्यक्तित्व में और उनके निश्छल खरेपन में ही थी। उनकी बात सुनते हुए हमेशा ऐसा जान पड़ता था कि उनके भीतर शक्ति का विशाल भंडार भरा हुआ है।"

इस प्रसंग में जवाहरलाल ने एल्सीबियाडिस का एक उद्धरण दिया है। अपने गुरु सुकरात के भाषणों का प्रभाव बताते हुए वह कहता है :

"जब हम और किसी को बात करते हुए सुनते हैं, वह चाहे कितना अच्छा बोलने वाला हो पर उसकी बात की ज़रा भी परवाह नहीं करते। लेकिन जब हम आपकी बात सुनते हैं या जब और कोई पहले की कही हुई आपकी बात को दुहराता है—चाहे कितने ही अटपटे ढंग से, और चाहे सुनने वाले पुरुष या स्त्री या बच्चे हों,—हम बिलकुल मुग्ध हो जाते हैं। और जहाँ तक मेरी बात है, अगर मुझे यह डर न होता कि लोग मुझे पागल समझेंगे तो मैं क़सम खा कर कहता कि आपके शब्द मुझ पर कितना असर रखते हैं। ..जब से मैंने उनको बोलते सुना है तब से जैसे मुझे धर्मोन्माद-सा हो रहा है, दिल मुँह को आता है और आँखों से आँसू बहते हैं। और केवल मेरी ही नहीं, बहुतों की यही हालत है।

"हाँ, मैंने पेरिक्लीज़ और दूसरे बड़े-बड़े वक्ताओं को भी बोलते सुना है, और निस्सन्देह उनके व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली थे, लेकिन मुझ पर उनका ऐसा असर कभी नहीं हुआ। मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि मेरी आत्मा में उथल-पुथल मच गयी हो और मुझे दीनों से दीन बना गयी हो। लेकिन यह नये वक्ता मुझे बार-बार ऐसी मानसिक स्थिति में ले आते हैं जब मैं अनुभव करता हूँ कि अपने जीवन को बिलकुल बदले बिना मैं नहीं रह सकता।

"एक बात और भी है जो पहले कभी नहीं हुई और जो मेरे साथ स्वाभाविक भी नहीं है। वह है लज्जा की भावना। दुनिया में सुकरात ही एक ऐसा आदमी है जिसके सामने मैं लज्जित होता हूँ। लेकिन उनसे कोई छुटकारा नहीं है। मैं जानता हूँ कि मुझे वही करना चाहिए जो सुकरात कहते हैं, लेकिन उनकी आँखों की ओट होते ही मैं औरों की तरह हो जाता हूँ। इसलिए मैं भागे हुए दास की तरह उनसे कतराता रहता हूँ। और फिर जब उनसे दुबारा भेंट होती है तब मुझे पिछली सब बातें याद आ जाती हैं और मैं शर्मिन्दा हो जाता हूँ।....

"मुझे साँप से भी ज़हरीला कुछ काट गया है। बल्कि संसार का सबसे विषैला जन्तु, जो सीधे हृदय में काटता है या कि मन में—या उसे जो चाहे कह लो!"

सन् १९३० के आरम्भ में भारत में राजनीतिक मानदंडों में आमूल परिवर्तन हो गया था। नेतृत्व उस अंग्रेज़ी-भाषी प्रबुद्ध-वर्ग के हाथों से चला गया था जो कि कर्म की अपेक्षा शब्दों में अधिक विश्वास रखता था, आदर्श के लिए लड़ने की अपेक्षा मत-प्रकाशन पर ज़ोर देता था और जिसकी दिलचस्पी गौण चीज़ों में ही थी। गान्धी-युग में ऐसे आराम-पसन्द राजनीतिकों के लिए कोई स्थान नहीं था।

अखिल एशिया विद्यार्थी सम्मेलन के प्रतिनिधियों के साथ, १९४७

कामनवेल्थ के अन्य प्रधान मन्त्रियों के साथ १० डाउनिंग स्ट्रीट में
सामने (बायीं ओर से) श्री लियाकतअली खां, मि० एटली, डा० एवट और पंडित नेहरू
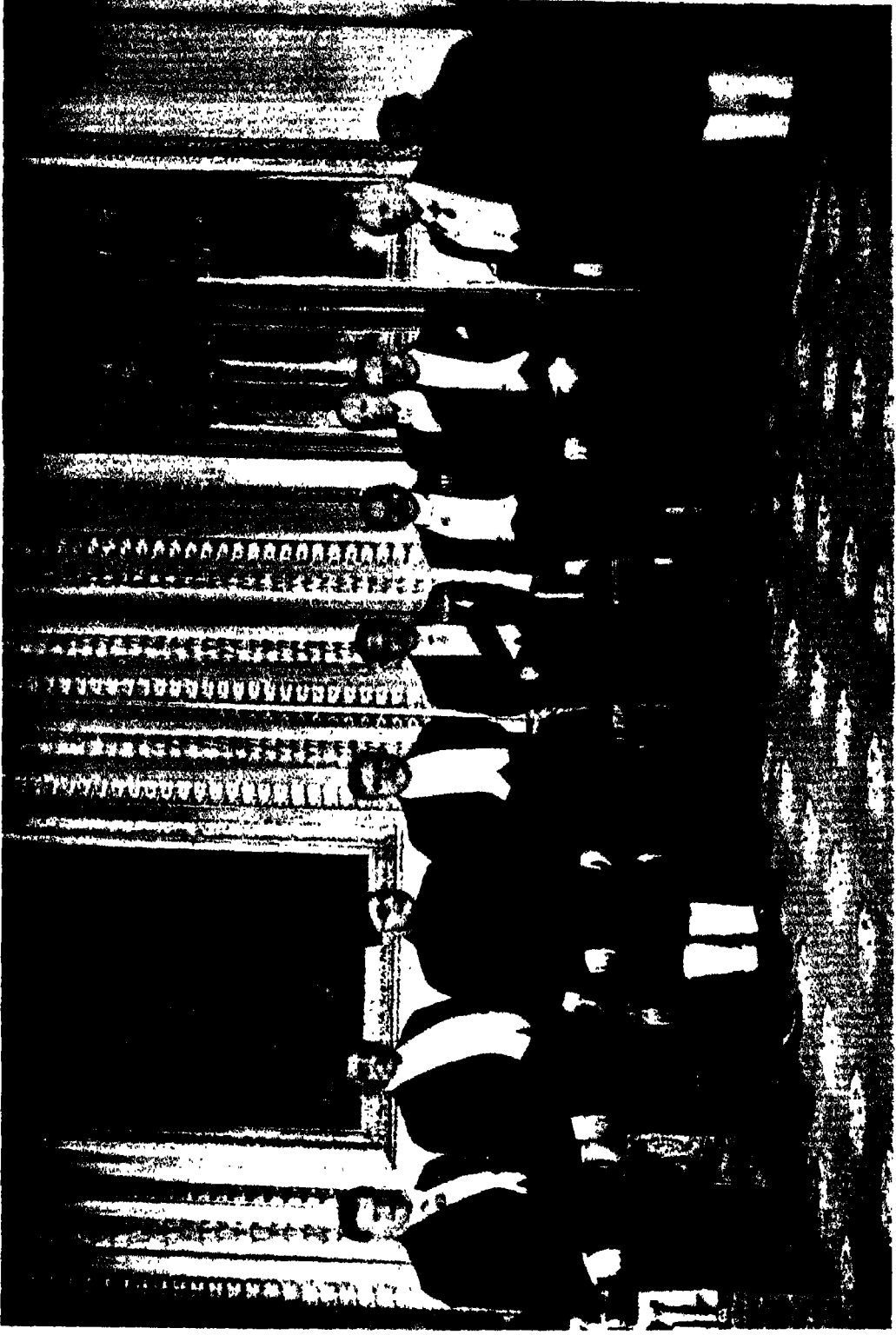
बकिंगहम महल में

बायीं ओर से : सर गाडफ्रे हगिंस, श्री सेनानायक, श्री लियाकतअली खां, डा० एवट, राजा षष्ठम् जार्ज, मि० एटली, मि० राबर्टसन, मि० लूफ़, मि० पीटर फ्रेजर, पंडित नेहरू
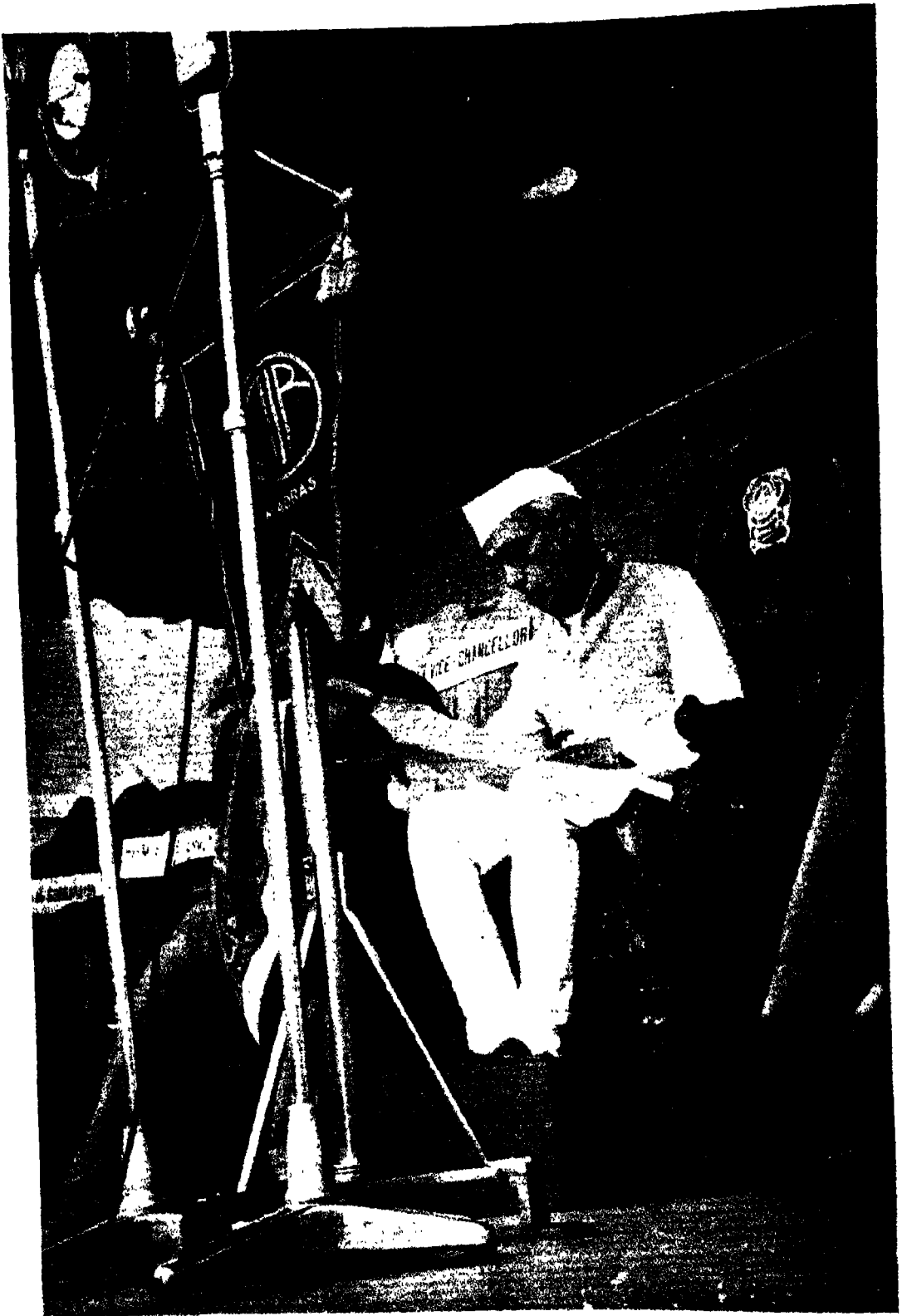
आन्ध्र विश्वविद्यालय में

'जल उषा' के सन्तरण के समय जवाहरलालजी विजगापट्टम पधारे थे। चित्र में उनकी दायीं ओर उपकुलपति डा० सी० आर० रेड्डी हैं।

डा० टी० कामेश्वर राव के सौजन्य से

गान्धी जी ने भारत का प्रतिनिधित्व ऐसे ढंग से किया जैसे कभी किसी ने नहीं किया था, और जिसमें इस महान् प्राचीन और पीड़ित देश की आत्मा की अभिव्यक्ति होती थी। "वह मानों स्वयं हिन्दुस्तान थे। उनके दोष हिन्दुस्तान के दोष थे। उनकी अवज्ञा कोई व्यक्तिगत बात नहीं थी, बल्कि समूचे राष्ट्र का अपमान था।"

> "इसमें अचम्भे की कोई बात नहीं है कि इस अद्भुत सजीव व्यक्ति ने, जिससे आत्मविश्वास और असाधारण शक्ति टपकी पड़ती थी, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए समानता और स्वाधीनता चाहता था लेकिन जो इसकी माप सबसे ग़रीब प्रजा के पैमाने से करता था, भारत के जन-साधारण को मुग्ध कर लिया और चुम्बक की तरह अपनी ओर आकर्षित किया। उनकी दृष्टि में वह व्यक्ति अतीत का भविष्य के साथ सम्बन्ध जोड़ता था, और दुःखद वर्तमान को जीवन और आशा के उस उज्ज्वल भविष्य की केवल एक सीढ़ी बना देता था। और ऐसा केवल साधारण जनता के लिए नहीं, बल्कि प्रबुद्ध वर्ग के लोगों के लिए भी, यद्यपि उनका मन बहुधा आशंकित भी रहता था और उनके लिए पीढ़ियों से बनी हुई आदतों और संस्कारों को बदलना ज्यादा मुश्किल था। इस प्रकार उन्होंने न केवल अपने अनुयायियों में बल्कि अपने विरोधियों में और ऐसे तटस्थ लोगों में भी एक मानसिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी, जो तय न कर पाते थे कि क्या सोचें और क्या करें।"

गान्धी जी ने जनता की नाड़ी को ठीक-ठीक पहचाना था। सन् १९१५ में भारत लौट कर उन्होंने चम्पारन और खेड़ा (बम्बई) के किसानों में सत्याग्रह का सफल प्रयोग भी किया था। जवाहरलाल स्वयं उस समय कर्मरत जीवन के लिए ललक रहे थे। क़ानूनी पेशे में उनकी दिलचस्पी नहीं थी। सन् १९१६ के अन्तिम दिनों में उनकी गान्धी जी से भेंट हुई। यह वर्ष हिन्दुओं और मुसल्मानों में पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र के आधार पर किये गये दूरदर्शिता-हीन और घातक समझौते के लिए स्मरणीय रहेगा। इस तथा-कथित साम्प्रदायिक समझौते के दुष्परिणाम का निराकरण मई १९४९ में जाकर हुआ, जब भारतीय नागरिकता को नागरिक के धर्म या सम्प्रदाय से पृथक् अधिकार माना गया।

जवाहरलाल युक्त-प्रान्त के प्रतापगढ़ ज़िले के किसानों के सम्पर्क में आये। ज़मींदारों की लालच से कुचले हुए उन किसानों ने जवाहरलाल को अपने सुख और सुविधा के जीवन से निकाल कर दुखी और पीड़ित देहातों की ओर खींचा, जहाँ भारत का जन-साधारण रहता और मेहनत करता था। गर्मियों की चिलचिलाती धूप में इस इलाक़े में भटक कर जवाहरलाल ने अपने देशवासियों की ग़रीबी और क्लेश को समझा। उन दिनों किसान हज़ारों की संख्या में बाबा रामचन्द्र नामक एक किसान नेता के भाषण सुनने के लिए जुटा करते थे। किसानों की तीव्र अशान्ति के उन दिनों में बाबा रामचन्द्र का नाम बहुत प्रसिद्ध था। लेकिन जनता का नेतृत्व कभी-कभी बहुत अस्थायी होता है, और शीघ्र ही रामचन्द्र भी अपने उच्च पद से गिर गये। अवध के किसानों की माँगें कांग्रेस आन्दोलन का अंग बनीं। जनता के सामने प्रकट होने में जवाहरलाल का संकोच क्रमशः मिट गया और शीघ्र ही वह भारत के सबसे अधिक बोलने वाले और व्याख्यान के लिए चिर-तत्पर नेताओं में गिने जाने लगे। उनके संकोच और मौन के दिन चुक गये। इतना ही नहीं, उनके श्रोता लच्छेदार अंग्रेज़ी भाषा पर मुग्ध होने वाले पढ़े-लिखे शहराती नहीं, बल्कि ग़रीब अनपढ़ किसान हुए, जो कि सीधी और खरी बात ही समझ सकते थे। इधर सार्वजनिक भाषणों का नया युग आ रहा था, जिसमें गान्धी जी, जवाहरलाल, वल्लभभाई पटेल और अन्य नेता देश की लाख-लाख जनता को इसलिए प्रभावित करते थे कि उनके भाषणों में जनता के ही विचार और जनता की माँग मुखर होती थी। देश में घूम-घूम कर और निरन्तर भाषण देते हुए स्वयं जवाहरलाल ने 'भारत का शोध' किया, और देशवासियों पर उनका प्रभाव कालान्तर के साथ बढ़ता ही गया है। वह जनता पर अपने प्रभाव को जानते हैं, उनकी मनोदशा को समझते हैं और उनकी दरिद्रता और बेबसी को महसूस करते हैं। वह कभी रुष्ट और अधीर भी हो उठते हैं, लेकिन जनता उनके स्वभाव को और उनके स्नेह को जानती है। वह उनकी बात सदा न भी समझे तो भी उनके जोश से प्रभावित होती है और प्रेरणा पाती है। प्रबुद्ध वर्ग के लोग उनके भाषणों की बहुलता और तीखेपन से चकित हो सकते हैं, लेकिन वे नहीं जानते कि उनमें और जनता में कैसा सूक्ष्म और गहरा सम्बन्ध है।

जवाहरलाल और जनता की यह सहज सहानुभूति एक आश्चर्यजनक वस्तु है और बहुत-से लोगों को अचम्भा होता है कि यह सुसंस्कृत और शालीन व्यक्ति कैसे ग़रीब और अशिक्षित लोगों की भीड़ में प्रसन्न रह सकता है। जवाहरलाल ने स्वयं इसका विवेचन करते हुए कहा है:

"मुझमें बहुत-सी बातों का अहंकार है ही, लेकिन सरल जनों की इस भीड़ के सामने अहंकार का कोई सवाल ही नहीं उठता। उनमें कोई दिखावा या बनावट नहीं होती, जैसे कि अपने को उनसे अच्छा समझने वाले मध्यवर्गीय लोगों में होती है। वे मूढ़ तो होते हैं, और व्यक्ति-रूप में दिलचस्प नहीं होते; लेकिन समूह के रूप में वे एक गहरी करुणा और आसन्न दुर्घटना की भावना जगाते हैं।"

जनता से मिलने वाली प्रशंसा अस्थायी होती है, और बहुत जल्दी उबाने वाली भी। साधारण जन के प्रति गान्धी जी अथवा जवाहरलाल के प्रेम का इस सार्वजनिक प्रशंसा से कोई सम्बन्ध नहीं है। जवाहरलाल के लिए जनता का सम्पर्क एक नया अनुभव था और प्रतापगढ़ के किसानों ने उनकी शिक्षा का एक नया अध्याय आरम्भ किया। इस शती के तीसरे दशाब्द में देश के राजनीतिक जीवन को गान्धी जी की सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने नेतृत्व के आकांक्षी सब लोगों को सिखाया कि भारत के सात लाख ग्रामों में जाकर जनता से सम्पर्क क़ायम करें। शहरों के पढ़े-लिखे लोग असल में इन देहातियों के उपजीवी थे। केम्ब्रिज का संकोची युवक भी अपना संकोच छोड़कर देहात के लोगों से हिल-मिल गया और दिन में दस-बारह देहाती सभाओं में भाषण देना उसके लिए साधारण बात हो गयी। उसने जन-सम्पर्क के मज़े को, जनता को प्रभावित करने की शक्ति को, पहचान लिया। जैसा कि जवाहरलाल ने लिखा है :

"मैं धीरे-धीरे जन-मानस को, शहर के लोगों और देहातियों के भेद को समझने लगा। बड़ी-बड़ी सभाओं की धूल और बेआरामी और ठेलमठेल का मुझे अभ्यास हो गया, यद्यपि उनमें अनुशासन की कमी पर कभी-कभी मुझे बहुत झुँझलाहट होती थी। और तब से कभी-कभी मुझे उत्तेजित और विरोधी भीड़ का भी सामना करना पड़ा है जिस में कभी-कभी उत्तेजना इतनी तीव्र होती थी कि ज़रा-सी चिनगारी से आग भड़क उठने का डर हो, लेकिन ऐसे अवसरों पर मेरे प्रारम्भिक अनुभव ने और उससे पाये हुए आत्म-विश्वास ने मेरी मदद की है। मैं सदा विश्वास-पूर्वक भीड़ में जा घुसता हूँ और अब तक मुझे सदैव विनय और सम्मान ही मिला है, भले ही भीड़ मुझसे सहमत न रही हो। लेकिन भीड़ का स्वभाव अविश्वसनीय होता है और भविष्य में भिन्न अनुभव भी हो सकता है।

"मैं भीड़ की ओर और भीड़ मेरी ओर आकृष्ट होती, लेकिन मैं कभी भीड़ में नहीं खोया और हमेशा अपने पार्थक्य को महसूस करता रहा। एक मानसिक दूरी से मैं उसे आलोचनात्मक दृष्टि से देखता और हमेशा आश्चर्य करता कि अपने आस-पास की हज़ारों जनता से आदतों, इच्छाओं और दृष्टिकोण में सर्वथा भिन्न होकर भी मैं कैसे उनकी सद्भावना और विश्वास प्राप्त कर सकता हूँ। क्या इसलिए कि वे मुझे जो मैं हूँ, उससे भिन्न समझते हैं? अगर वे मुझे अधिक अच्छी तरह जानते तो भी क्या ऐसे ही रहते? क्या मैं धोखे में उनकी सद्भावना पा रहा हूँ? मैं उनके प्रति सच्चा होने की पूरी कोशिश करता; कभी-कभी रूखे ढंग से पेश आता और उनके विश्वासों और रीति-रस्मों की कटु आलोचना भी करता, लेकिन वह मेरी हर बात सह लेते। लेकिन फिर भी मेरे मन से यह विचार न जाता कि उनका मेरे प्रति स्नेह, जैसा मैं हूँ वैसे व्यक्ति के लिए नहीं बल्कि मेरे एक कल्पित रूप के लिए है। यह मिथ्या कल्पना कब तक बनी रहेगी? और क्यों बनी रहे? और जब वह खंडित होगी और वे यथार्थ रूप देखेंगे, तब?"

जन-आन्दोलनकारी के रूप में जवाहरलाल के कर्मों का अध्ययन करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि वह ऐसी भाषा ही बोलते थे कि जो देश में अधिक से अधिक लोग समझ सकें। गान्धी जी अथवा सरदार पटेल की अपेक्षा उनकी भाषा अधिक मँजी हुई होती थी। उनके भाषण अधिक लम्बे भी होते थे। नेता के रूप में या भारत के प्रधान मन्त्री के रूप में जवाहरलाल सदैव बड़ी से बड़ी सभाओं के सामने जाने को प्रस्तुत रहे हैं। लेकिन वह वक्ता नहीं हैं। उनके स्वर और उनके बोलने का ढंग बातचीत का ही है। उनके भाषण का प्रभाव होता है तो उनकी ईमानदारी के कारण और छोटी-छोटी बातों को भी बौद्धिक विश्लेषण के तल पर उठा ले जाने के उनके ढंग के कारण। वह इतने अधिक भाषण देते हैं, और प्रायः बिना तैयारी या लिखित सामग्री के, कि आश्चर्य होता है वह कैसे ऐसी मार्मिक और महत्त्व की बातें कह जाते हैं। उनके बोलने में एक और भी विशेषता है। उनके विचार उनके शब्दों से बहुत अधिक तेज़ी से चलते हैं, और इसलिए उनके भाषणों के छपे हुए वृत्तान्त पढ़ने से उनमें आवृत्ति और विशृंखलता दीखती है। ऐसा जान पड़ता है कि वक्ता को बीच-बीच में नयी बातें याद आती जा रही हैं जिसे वह पहले भूल गये थे, और इसी से भाषण में तारतम्य नहीं रहा है।

जन-सभाओं में ही पंडित जी मानों अनुकूल वातावरण में होते हैं। जनता से बात करते हुए, उनके विचार पढ़ते हुए और उनकी भावना को भाँपते हुए मानों उनकी प्रतिभा जाग उठती है। उनकी बढ़ती हुई उत्तेजना से जान पड़ता है कि जनता के साथ उनके सम्बन्ध की एक नयी कड़ी तैयार हो रही है। मैंने यह भी लक्ष्य किया है कि ऐसे अवसरों पर जवाहरलाल शारीरिक क्लेश और पीड़ा को भूल जाते हैं। प्रधान मन्त्री के रूप में वह अपने सम-पदस्थ दूसरे देश के नेताओं से कदाचित् अधिक बोलते हैं। वह यह जानते हैं कि विशाल देश के प्रधान मन्त्री को अपनी बात तौलनी चाहिए, जैसा कि इतना अधिक और प्रत्युत्पन्न भाषण करने पर अधिक से अधिक प्रतिभावान् व्यक्ति के लिए भी सम्भव नहीं होता। लेकिन जनता के साथ उनका सम्बन्ध उनके राजनीतिक जीवन का ऐसा अभिन्न अंग है कि वह भीड़ के बीच में ही अधिक मुक्त और सहज भाव से बातचीत कर सकते हैं। सार्वजनिक भाषणों में साहित्यिक बारीकियों के लिए कम गुंजाइश रहती है, लेकिन जवाहरलाल शब्द-संगीत के बारे में बहुत सजग रहते हैं। शब्दों पर उनका अधिकार उनके लेखन से प्रमाणित होता है। जिस व्यक्ति को बार-बार गम्भीर विचारपूर्ण भाषण देना पड़ता है उसके लिए भाषण सहज नहीं होता; और जवाहरलाल पर इसका ज़ोर पड़ता है। लेकिन ऐसे स्नायविक तनाव के बिना वक्तृत्व निखरता भी नहीं। शब्द और वाक्य मन में दौड़ने लगते हैं और तनाव तभी दूर होता है जब भाषण समाप्त हो जाय। सुसंगठित वाक्यों के प्रवाह से उस तनाव से मुक्ति होती है। उन इने-गिने अवसरों पर जब जवाहरलाल जी को लिखित भाषण देने पड़ते हैं, उनकी रचना में वह कलात्मकता और शालीनता प्रकट होती है जो जवाहरलाल के स्वभाव का एक अंग है। ऐसे भाषणों का एक उदाहरण उनका वह अभिभाषण है जो ३० जनवरी १९४९ को हिन्देशिया-सम्मेलन के सामने दिया गया था :

> "हम पूर्व की प्राचीन सभ्यता के भी और पश्चिम की गतिशील सभ्यता के भी प्रतिनिधि हैं। राजनीति में हम विशेष रूप से स्वाधीनता और लोकतन्त्र की उस भावना के प्रतीक हैं जो नये एशिया की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इतिहास का लम्बा विस्तार मेरी दृष्टि के सामने एशिया के विभिन्न देशों के उत्थान-पतन के दृश्य बिछा देता है; वर्तमान के छोर पर खड़ा हुआ मैं उस भविष्य की ओर देखता हूँ जो कि धीरे-धीरे प्रस्फुटित हो रहा है। हम इतिहास की लम्बी परम्परा के उत्तराधिकारी हैं, लेकिन साथ ही हम आगामी कल के निर्माता भी हैं। उस भविष्य का बोझ हमें सहना है, और दिखाना है कि उस महान् उत्तरदायित्व के हम अधिकारी हैं। अगर यह सम्मेलन आज महत्त्व रखता है तो कल इसका महत्त्व और भी अधिक होगा। एशिया बहुत दिनों तक दूसरे देशों के अधीन और परमुखापेक्षी रह चुका, अब वह अपनी स्वाधीनता में किसी का हस्तक्षेप नहीं सहेगा।"

तीव्र भावना के तनाव में पंडित नेहरू का वक्तृत्व अपने श्रेष्ठ साहित्यिक रूप में प्रकट होता है। १४ अगस्त १९४७ को विधान परिषद् के सामने भाषण देते हुए उन्होंने कहा था :

> "वर्षों पूर्व हमने विधाता के साथ एक समझौता किया था; आज वह समय आया है कि हम अपने उस वचन को पूरा करें—अक्षरशः नहीं तो भी पर्याप्त मात्रा में। ठीक आधी रात के समय, जब संसार सोता होगा, भारत नये जीवन और स्वातन्त्र्य के युग में प्रवेश करेगा। वह मुहूर्त आ रहा है, ऐसा मुहूर्त जो इतिहास में कभी-कभी ही आता है, जब हम प्राचीन युग से नवीन में प्रवेश करते हैं, जब युग-परिवर्तन होता है, जब एक राष्ट्र की शतियों से कुचली हुई आत्मा मुखर हो उठती है। यह उचित ही है कि इन गम्भीर अवसरों पर हम भारत की और भारत की जनता की—मानव-जाति मात्र की—सेवा के प्रति समर्पण की शपथ लें।
>
> "इतिहास के उषःकाल में भारत ने अपनी अन्तहीन खोज आरम्भ की थी; और उसकी साधना, उसकी विजय और असफलता की महत्ता धुँधली शताब्दियों तक व्याप्त हो रही है। सौभाग्य में और दुर्भाग्य में भारत कभी अपनी साधना को नहीं भूला; कभी उन आदर्शों को नहीं भूला जिनसे उसे शक्ति और प्रेरणा मिली है। आज हमारे दुर्भाग्य का एक युग समाप्त होता है और भारतवर्ष फिर अपने आप को पाता है। . .आज हम जिस सफलता का आनन्द मना रहे हैं वह केवल एक सीढ़ी है, एक अवसर है उस बृहत्तर कृतित्व और विजय का जो हमारे सामने है। उस अवसर को ग्रहण करने का, भविष्य की चुनौती को स्वीकार करने का, साहस और विवेक क्या हममें है?"

१५ अगस्त के भाषण में उन्होंने फिर इन्हीं विचारों को दोहराया :

"आज हम पहले-पहल इस स्वतन्त्रता के निर्माता, भारत के राष्ट्रपिता का स्मरण करते हैं, जो भारत की आत्मा के प्रतीक-पुरुष थे; जिन्होंने स्वाधीनता की ज्योति जगा कर हमारे चारों ओर छाये हुए अन्धकार को दूर किया। उनके अनुसरण में हम बहुत अधिक अयोग्य सिद्ध हुए हैं, और उनके सन्देश की हमने उपेक्षा भी की है; लेकिन हमीं नहीं बल्कि आगामी पीढ़ियाँ भी उस सन्देश को याद करेंगी और अपने हृदय पर भारत की इस महान् सन्तान की छाप धारण करेंगी जिसका विश्वास और शक्ति और साहस और विनय सभी भव्य था। स्वाधीनता की इस ज्योति को हम कभी नहीं बुझने देंगे, चाहे कैसा ही आँधी-तूफ़ान क्यों न आये।"

किन्तु पंडित नेहरू की वक्तृत्व-कला अपने शिखर पर तब पहुँचती है जब वह शोकग्रस्त होते हैं। अपने परम बन्धु और गुरु का देहावसान एक ऐसा ही अवसर था। ३० जनवरी १९४८ को गान्धीजी की हत्या के थोड़ी ही देर बाद मैं बिड़ला-भवन पहुँचा था। सरदार पटेल को मैंने वैसा दीन और शोक से टूटा हुआ कभी नहीं देखा था। उस समय उनसे कुछ भी पूछना व्यर्थ था, क्योंकि वह उस आघात से बिल्कुल जड़ हो रहे थे। मानों एक ही बात उनके मन पर छायी हुई थी—कि इस संसार से एक साथ बिदा होने के उनके समझौते को बापू ने तोड़ दिया है। सरदार पटेल ने कदाचित् जीवन में पहली बार अपने को अनाथ अनुभव किया।

जवाहरलाल उस समय भी क्रियाशील थे, तथापि बड़ी कठिनाई के साथ मैं देश के लिए रेडियो पर उनके सन्देश के लिए समय निर्धारित करा सका। बापू ने सायंकाल ५-४५ पर शरीर छोड़ा, और रेडियो भाषण का समय रात ८ बजे रखा गया। मैं चाहता था कि देश तक दोनों नेताओं का सन्देश जल्दी से जल्दी पहुँचे, लेकिन इससे अधिक कुछ करना सम्भव नहीं था, क्योंकि बिड़ला-भवन में जितने लोग पहुँचे थे—जिनमें सारे मन्त्री और सचिव और लार्ड माउंट-बैटन भी थे—उस दुर्घटना से बिल्कुल पराभूत हो गये थे। पंडित नेहरू और सरदार पटेल को बिड़ला-भवन से निकल कर, भीड़ पार करके, अपनी मोटर तक पहुँचने में काफ़ी कठिनाई हुई। लेकिन रेडियो स्टेशन पर पहुँच कर जवाहर-लाल ने भावनाओं की तीव्रता से काँपते हुए स्वर में स्मरणीय भाषण दिया :

"बन्धुओ ! हमारे जीवन का आलोक बुझ गया है और सर्वत्र अन्धकार छा गया है। मैं यह नहीं जानता कि इस समय मैं आप से क्या कहूँ और कैसे कहूँ। हमारे प्रिय नेता, हमारे बापू, हमारे राष्ट्र के पिता अब नहीं हैं। लेकिन यह कहना कदाचित् अनुचित है. . . .मैंने कहा कि आलोक बुझ गया है; लेकिन वह मेरी भूल है। क्योंकि इस देश में जो आलोक दीप्त हुआ था वह कोई साधारण आलोक नहीं था। पिछले कई वर्षों से जो आलोक इस देश को आलोकित कर रहा था वह अभी बहुत वर्षों तक प्रकाश देता रहेगा। आज से हज़ार वर्ष बाद भी वह आलोक इस देश में दीखेगा, सारे विश्व में दीखेगा और असंख्य हृदयों को सान्त्वना देगा। क्योंकि वह आलोक केवल वर्तमान का नहीं था, वह चिरन्तन जीवित शाश्वत सत्य का आलोक था, और वह आलोक इस प्राचीन देश को स्वतन्त्रता के पथ पर ले जाते हुए ठीक रास्ता दिखाता था और पथभ्रष्ट होने से हमारी रक्षा करता था।"

विधान परिषद् में २ फ़रवरी १९४८ को उन्होंने अधिक संयत और गम्भीर भाषण दिया। यहाँ भी वह मौखिक भाषण ही दे रहे थे, लेकिन परिषद् स्तब्ध हो कर उनके सुन्दर किन्तु शोक-सन्तप्त चेहरे को, उनके कुछ आगे झुके हुए शरीर को देखती रही। उन्होंने कहा :

"एक विभूति हमारे बीच से उठ गयी है। जो सूर्य हमें आलोक और स्निग्ध गर्मी देता था वह अस्त हो गया है; और हम अन्धकार में ठिठुर रहे हैं। लेकिन वह स्वयं न चाहते कि हम ऐसा महसूस करें। क्योंकि इतने वर्षों तक हमने जिस विभूति को देखा, हमारे बीच जो दिव्य ज्योति-सम्पन्न व्यक्ति रहा, उसने हमें भी बदल दिया। आज हम जैसे भी हों, उन्हीं के वर्षों के परिश्रम से बनाये हुए हैं। उनकी उस दिव्य हुताग्नि में से हम में से कइयों ने एक-एक छोटी चिनगारी ली, जिसने हमें शक्ति दी और उन्हीं के बनाये हुए मार्ग पर कुछ दूर चलने की प्रेरणा दी। इसलिए आज उनकी प्रशंसा में कहे गये हमारे शब्द उनके सामने क्षुद्र हो जाते हैं और हमारी प्रशंसा आत्म-प्रशंसा का रूप ले लेती है। महापुरुषों के स्मारक पत्थर और धातु से निर्मित किये जाते हैं; लेकिन इस हुतात्मा ने अपने जीवन-काल में ही कोटि कोटि हृदयों में अपना स्थान बना लिया, यहाँ तक कि हममें से प्रत्येक उसका अंश धारण किये हुए है। इस प्रकार वह सारे भारत में छा गया, केवल प्रासादों

दिल्ली विश्वविद्यालय से विज्ञानाचार्य की उपाधि मिलने पर
पंडित नेहरू के साथ लार्ड और लेडी मारंटबेटन भी हैं ।

लद्दाख में

लेह पहुँचने पर स्पोटुक के लामा पंडित नेहरू को शाल भेंट करके उनका स्वागत कर रहे हैं।

में नहीं, केवल विशिष्ट स्थानों में नहीं, बल्कि प्रत्येक गाँव और झोपड़ी में और दीनों और दुखियों में। आज वह कोटि-कोटि जनता के हृदय में जीवित हैं और युगों तक जीवित रहेंगे।

"आगामी युगों में इतिहास हमारे युग पर अपना निर्णय देगा, हमारी सफलता और असफलता का फ़ैसला करेगा। हम इतने निकट हैं कि क्या हुआ और क्या नहीं हुआ, इसका ठीक-ठीक विवेचन नहीं कर सकते। हम इतना ही जानते हैं कि हमारे बीच एक विभूति थी, और वह अब नहीं है। हम इतना ही जानते हैं कि यह क्षण अँधेरा है—इतना बहुत अँधेरा भी नहीं, क्योंकि हम अपने हृदयों में झाँक कर देखते हैं कि उनकी जलायी हुई ज्योति वैसे ही जल रही है। और अगर ये जीवित ज्योति-शिखाएँ बनी रहें तो हमारे देश में अन्धकार नहीं होगा, और उनको स्मरण रखते हुए और उनका अनुसरण करते हुए हम अपने उद्योगों से फिर देश को आलोकित करने में समर्थ हो सकेंगे—हम, जो क्षुद्र हैं, लेकिन अभी उस ज्योति को धारण किये हुए हैं जो उन्होंने हममें ज्वलित की थी।"

गान्धीजी का स्मारक सचमुच अद्वितीय है—मानवों के हृदय में, जहाँ उनकी कभी धुँधली न होने वाली स्मृति निरन्तर प्रेरणा देती रहती है। वह मानों देशवासियों के जीवन-सूत्र के साथ गुँथ गयी है।

बापू के प्रयाण के कुछ दिन बाद जवाहरलाल ने कहा था :

"लोग ताँबे या पत्थर की मूर्तियों या स्तम्भों के रूप में उनका स्मारक बनाने की बातें करके उनका अपमान करते हैं और उनके सन्देश की अवहेलना करते हैं। उन्हें ऐसी क्या श्रद्धांजलि हम चढ़ायें जो उन्हें भी रुचती? उन्होंने हमें जीने का और मरने का ढंग सिखाया है; और अगर हमने वह पाठ नहीं सीखा तो यही अच्छा होगा कि हम उनका कोई स्मारक न बनायें, क्योंकि एक मात्र उपयुक्त स्मारक यही हो सकता है कि हम श्रद्धापूर्वक उनके दिखाये हुए मार्ग पर चलें और अपना कर्त्तव्य पूरा करें—जीवन में भी और मृत्यु में भी!"

१२ फ़रवरी १६४८ को गान्धीजी की अस्थियाँ प्रयाग संगम में प्रवाहित की गयीं। उस अवसर पर जवाहरलाल ने कहा :

"गान्धी जी सप्ताह में एक दिन मौन रखा करते थे और अब उनका स्वर सदा के लिए मौन हो गया है और मौन अनन्त है। फिर भी वह स्वर हमारे कानों में और हमारे हृदय में गूँजता है, और भावी युगों में भी हमारे देशवासियों के मन और हृदय में, और भारत की सीमाओं के बाहर भी, गूँजता रहेगा। क्योंकि वह स्वर सत्य का स्वर है, और सत्य को यद्यपि कभी-कभी छिपाया जा सकता है पर सदा के लिए दबाया नहीं जा सकता।

"इस नदी-तट से हम लोग उदास और अकेले होकर लौटेंगे। लेकिन साथ ही हम अपने इस सौभाग्य पर गर्व भी करेंगे कि हमें अपने नेता, अग्रणी और बन्धु के रूप में इतना महान् व्यक्ति मिला, जो हमें सत्य और स्वाधीनता के उच्चतम शिखरों तक ले गया। और उसने हमें संघर्ष का जो मार्ग दिखाया, वह भी सत्य का मार्ग था। याद रखो कि उनका दिखाया हुआ मार्ग असत् के विरुद्ध और सत् के लिए लड़ते रहने का मार्ग था, हिमालय की ऊँची चोटियों पर जाकर समाधि लगाये बैठे रहने का मार्ग नहीं। हमें अपना-अपना कर्तव्य करना है, और उनको दिया हुआ अपना वचन निवाहना है। हम भी सत्य और धर्म के पथ पर चलें; हम भारत को एक महान् राष्ट्र बनायें जिसमें शान्ति और मैत्री का साम्राज्य हो और जिसमें प्रत्येक पुरुष और स्त्री—वह चाहे जिस जाति या समाज की हो—स्वाधीन और सम्मानित जीवन व्यतीत कर सके।"

६

विदेश-मन्त्री

पंडित जवाहरलाल नेहरू की परराष्ट्र-नीति का विवेचन करते समय उनका वह वक्तव्य याद करना उपयोगी होगा जो उन्होंने २ सितम्बर १९४६ को अन्तरिम शासन का सूत्र सँभालते हुए दिया था। अन्तरिम शासन ही भारत की स्वाधीनता की भूमिका थी, किन्तु वह खुशी मनाने का समय नहीं था, क्योंकि पराधीनता से निकल कर स्वाधीनता में प्रवेश का काल एक बड़े पैमाने पर बर्बरता और लूट की विकृतियों से कलंकित हो गया था। अन्तरिम सरकार की स्थापना के छः दिन बाद जवाहरलाल ने भाषण में कहा :

> "कलकत्ते की भयानक दुर्घटना और भाई से भाई की लड़ाई के कारण हमारा दिल दुखी है। हमने जिस आज़ादी की कल्पना की थी, जिसके लिए हमारी कई पीढ़ियों ने त्याग करके और कष्ट झेल कर परिश्रम किया था, वह आज़ादी सारी भारतीय जनता की आज़ादी है, न कि किसी एक फ़िरक़े या वर्ग या एक धर्म के मानने वालों की...."

उन्होंने स्वाधीन भारत की वैदेशिक नीति का निरूपण इन शब्दों में किया :

> "जहाँ तक सम्भव होगा, हमारा निश्चय है कि हम उन राजनीतिक गुटबन्दियों से दूर रहेंगे जो परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हैं, जो अतीत में विश्वव्यापी युद्ध का कारण बनी हैं और जो आगे उससे भी बड़ी दुर्घटना का कारण बन सकती हैं। हमारा विश्वास है कि शान्ति और स्वतन्त्रता अविभाज्य हैं, और कहीं भी स्वतन्त्रता का दमन दूसरी जगहों की स्वतन्त्रता को खतरे में डालता है और संघर्ष और झगड़ों का बायस बनता है....
>
> "हमारे लम्बे संघर्ष के इतिहास के बावजूद भी हम आशा करते हैं कि स्वाधीन इँग्लेंड और कॉमनवेल्थ के अन्य देशों से भारत का मैत्री और सहयोग का सम्बन्ध होगा। लेकिन यह भी ध्यान में रखना उचित होगा कि कॉमनवेल्थ के एक हिस्से में आज क्या हो रहा है। दक्षिणी अफ़्रीका में जातिवाद ही राष्ट्रीय नीति हो गया है, और एक अल्पसंख्यक जाति के ज़ुल्म के साथ हमारे भाई बड़ी बहादुरी के साथ लड़ रहे हैं।
>
> "संयुक्त राष्ट्र अमरीका की जनता का, जिसे भाग्य ने अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में एक विशेष उत्तरदायित्व दिया है, हम अभिवादन करते हैं। आधुनिक जगत् के उस दूसरे महान् राष्ट्र, सोवियत रूस का भी हम अभिवादन करते हैं जिस पर भावी विश्व के निर्माण का भारी उत्तरदायित्व है....
>
> "पुरानी परिपाटी बदल रही है। हम एशिया के हैं और एशिया के राष्ट्र औरों की अपेक्षा हमारे अधिक अपने हैं। भारत की स्थिति ऐसी है कि वह पश्चिमी, दक्षिणी, और दक्षिण-पूर्वी एशिया की धुरी है....चीन, उज्ज्वल अतीत वाला वह महान् पड़ोसी देश, युगों से हमारा मित्र रहा है और वह मैत्री आगे भी बनी रहेगी और बढ़ेगी....
>
> "भारत आगे बढ़ रहा है। पुरानी परिपाटी बदल रही है। बहुत दिनों तक हम कठिनाइयों के निष्क्रिय दर्शक और दूसरों के हाथों के खिलौने बने रहे। अब निर्णय हमारे हाथ में है और हम अपनी इच्छा के अनुसार इतिहास बनायेंगे।"

भारत की असाधारण परराष्ट्र-नीति का महत्त्व अभी हाल में लंदन में हुए कॉमनवेल्थ प्रधान मन्त्री-सम्मेलन से और भी स्पष्ट हो गया है। यहाँ पर मुख्य प्रश्न यही था कि अब तक जो ब्रितानी कॉमनवेल्थ के नाम से प्रसिद्ध था, उसके साथ भारत का सम्बन्ध क्या होगा। जनता के सामने भाषण में दिये गये अपने वचन को व्यावहारिक रूप देने का मौक़ा राजनीतिकों को कम ही मिलता है, लेकिन जवाहरलाल के सन् १९४६ में प्रधान मन्त्री और विदेश-मन्त्री का पद ग्रहण करने के समय से भारत की परराष्ट्र-नीति भी उस नये और उच्चतर नैतिक तल पर विकसित हुई है जिस पर कि

महात्माजी के संचालन में भारत का स्वाधीनता-संग्राम चलता था। जवाहरलालजी की ईमानदारी और सत्यनिष्ठा को कुछ लोगों ने अनुभवहीनता या कूटनीति-निपुणता की कमी ही समझ लिया है, जैसे कि उनके भारत को एक अलग इकाई न मान कर अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि में देखने के आग्रह को कोरे आदर्शवादी की बात समझा गया है। लंडन के प्रधान मन्त्री-सम्मेलन के सामने जो समस्या थी वह कॉमनवेल्थ के लिए ही नहीं, स्वयं भारत के लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण थी। राजनीतिक स्वतन्त्रता ने भारत को केवल सम्भाव्य शक्ति दी है, लेकिन उन सम्भावनाओं को प्रत्यक्ष रूप देकर भारत को राष्ट्रों की पंक्ति में उसके उचित स्थान पर बैठने के लिए समय चाहिए। स्वतन्त्रता के बाद कुछ महीनों में ही भारत को इतने बड़े और गम्भीर प्रश्नों का सामना करना पड़ा जिनके आगे बड़े-बड़े अनुभवी राष्ट्र भी कांप उठते। इन प्रश्नों का न केवल सफलतापूर्वक सामना किया गया, बल्कि नये राष्ट्र की नींव ऐसी दृढ़ता के साथ डाली गयी कि लोग विभाजन के बाद की दुर्घटनाओं और अंग्रेज़ों के सहसा चले जाने के बाद की आशंकाओं को भूल गये। भारत के प्रधान मन्त्री इस बात पर ज़ोर देते हुए नहीं थकते कि किसी एक गुट के साथ बँध जाने की नीति भारत की नहीं है, कि भारत शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री के लिए यत्न करेगा, कि भारत की विदेश-नीति राष्ट्रपिता गान्धीजी के बताये हुए सिद्धान्तों पर ही आश्रित होगी। महात्माजी ने यह कभी स्वीकार नहीं किया कि व्यक्तियों के नैतिक आचरण के नियम, और राष्ट्रों के आचरण के नियम अलग-अलग होते हैं। कांग्रेस वर्षों पहले इस नतीजे पर पहुँच चुकी थी कि भारत कॉमनवेल्थ के अन्तर्गत डोमिनियन होकर नहीं रह सकेगा। कैनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड और दक्षिणी अफ़्रीका भी, जातीय और सांस्कृतिक एकता के कारण वैसा सम्बन्ध पर्याप्त समझते हैं। भारत की स्वतन्त्रता की मांग डोमिनियन पद से पूरी नहीं होती। उसका विशाल प्रसार, और सभ्यता के इतिहास में—विशेष कर एशिया में—उसका उच्च स्थान इसे अनिवार्य बना देते हैं कि वह अपनी परम्परा और सम्भाव्य शक्ति के अनुकूल पद प्राप्त करने के लिए उससे भिन्न रास्ता पकड़े जो डोमिनियनों ने अपनाया है।

कांग्रेस के नेताओं की घोषणा के अनुसार, और जनता के सामने जो आदर्श रखा गया था उसे पूरा करने के लिए, विधान-परिषद् ने सबसे पहले ध्येय-सम्बन्धी एक प्रस्ताव पास किया। इसका अभिप्राय यह था कि स्वतन्त्र भारत एक प्रजातन्त्र राज्य होगा। इससे यह प्रश्न उठता था कि मौजूदा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति को, और भारत की सम्भाव्य सैनिक-शक्ति के बावजूद उसकी तात्कालिक दुर्बलता को, देखते हुए क्या यह सम्भव होगा कि भारत अपने प्रजातन्त्र के आदर्श को भी प्राप्त कर सके, और साथ-साथ ब्रितानी कॉमनवेल्थ से बाहर हो जाने का जोखिम भी उठा सके? यह विकट समस्या केवल भारत के प्रधान मन्त्री और उनके साथियों के सामने ही नहीं थी जिन्होंने तेज़ी से बदलती हुई विश्व-परिस्थिति को ध्यान में रखा था, बल्कि इंग्लैंड के राजनीतिज्ञों के लिए भी थी। इंग्लैंड की जनता और अन्य डोमिनियनों की अंग्रेज़ी-भाषी जनता इंग्लैंड के राजा के प्रति भक्ति के प्रश्न को भी महत्त्व देती थी; और वह उचित ही था, क्योंकि क्रान्तिकारी आन्दोलनों और विचारों से भरे हुए जगत् में इंग्लैंड का राजत्व एक स्थायी व्यवस्था और राजनीतिक उन्नति का दृढ़ आधार बना रह सका था। लेकिन ब्रितानी राजनीतिज्ञता की प्रौढ़ता और प्रत्युत्पन्नमति का साक्षी इतिहास है। प्रत्येक सूक्ष्म परिस्थिति में अंग्रेज जाति ने ऐसे साहस और उदार दृष्टि से काम लिया है जो राष्ट्रों के राजनीतिक इतिहास में अपना सानी नहीं रखता। अगर भारत से अंग्रेज़ों का हट जाना ऊँची कोटि की राजनीति का उदाहरण है, तो अप्रैल १६४६ में प्रधान मन्त्री-सम्मेलन का निश्चय इस बात का प्रमाण था कि कॉमनवेल्थ के राजनीतिज्ञ एक बड़ी जटिल समस्या का सामना बड़ी योग्यता के साथ कर सकते हैं। लंडन में जुटे हुए राजनीतिज्ञों के सामने यह बात स्पष्ट थी कि पिछले १५० वर्षों के सम्पर्क के परिणाम-स्वरूप भारत और इंग्लैंड के बीच मैत्री, और राजनीतिक दृष्टिकोण तथा परम्पराओं की समानता पैदा हो गयी; और लम्बे स्वाधीनता-संग्राम तथा नीति और संस्कृति के भेदों के बावजूद समान उद्देश्यों और आदर्शों की बुनियाद ज्यों की त्यों है। इन सम्बन्धों को और भी पुष्ट करना वांछनीय था, न कि एक ऐसे प्रश्न के कारण तोड़ देना, जो वास्तव में शब्द और युक्ति से ही सम्बन्ध रखता है और जिसका व्यावहारिक प्रभाव उतना अधिक नहीं था। स्वाधीन प्रजातन्त्र के पद पर भारत का आग्रह देख कर इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री राष्ट्रों के इस महान् संगठन के नाम से न केवल 'ब्रितानी' का विशेषण निकाल देने के लिए राज़ी हो गये, बल्कि और भी आगे बढ़ कर इसके लिए भी तैयार हो गये कि भारतीय प्रजातन्त्र उसी कॉमनवेल्थ का अंग बना रहे जिसके प्रत्यक्ष प्रतीक इंग्लैंड के वैध राजा रहते आये हैं। भारत से अंग्रेज़ों के हटने का ढंग, भारत के अन्तिम वाइसराय लार्ड माउंटबैटन का चरित्र और भारत

के प्रधान मन्त्री और उप-प्रधान मन्त्री से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध, इन सब कारणों से इंग्लैंड और भारत एक दूसरे के निकटतर आ गये थे। इसलिए यह न केवल भारत के हित में ही था, बल्कि भारत चाहता भी था, कि दोनों देशों का पिछले कुछ महीनों में बढ़ा हुआ बन्धुभाव और भी मजबूत होकर स्थायी रूप ले ले—बशर्त कि इससे भारत का स्वाधीन प्रजातन्त्र-पद जोखिम में न पड़े और साथ ही राजभक्ति की शर्त का आग्रह न रहे। उप-प्रधान मन्त्री सरदार वल्लभभाई पटेल ने १८ अप्रैल को प्रेस कान्फ़रेंस में बयान देते हुए ठीक ही कहा था :

"हमें याद रखना चाहिए कि अपने सारे इतिहास में कॉमनवेल्थ कभी एक नियम से जकड़ी हुई संस्था नहीं रही है। नये राष्ट्रों के वैचारिक विकास के साथ-साथ उसने भी आश्चर्यजनक परिवर्तनशीलता दिखलायी है। इसमें उसकी सच्चाई और ताक़त रही है, और इतिहास की कई नाजुक परिस्थितियों में वह बची रह सकी है।

"इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर हमारा जितना वाद-विवाद हुआ, उसमें ब्रितानी सरकार और अन्य डोमिनियनों की सरकारों ने बराबर हमारे दृष्टिकोण को समझा है। दूसरी डोमिनियनों से हमारा विचार-विनिमय पहले ही हो चुका है। हमारी विशेष वैधानिक परिस्थिति के अनुकूल फ़ैसला करने की इच्छा सबने प्रकट की है। उन सबसे जो सहयोग मिलता रहा है उसके लिए मैं आभार प्रदर्शन करता हूँ।

"प्रधान मन्त्री ने समय-समय पर इस मसले पर अपना मत प्रकट किया है, और इस पर हमारे दृष्टिकोण के बुनियादी विचारों का खुलासा किया है। सम्मेलन में भाग लेने के लिए भारत छोड़ने से पहले उन्होंने हमारी स्थिति का वर्णन किया था। मुझे विश्वास है कि आप लोग यह जान कर खुश होंगे कि सम्मेलन में जो निर्णय हुआ है उसमें हमारे दृष्टिकोण की रक्षा हुई है....

"हमारी कॉमनवेल्थ की सदस्यता बनी रही है। हमारी सदस्यता दूसरे सदस्यों की भाँति स्वाधीन और समान पद वाली है....

"भारत और कॉमनवेल्थ के दूसरे राष्ट्रों ने एक साहस-भरा और महत्त्वपूर्ण क़दम उठाया है....

"अन्त में इन निश्चयों तक पहुँचने में हमारे प्रधान मन्त्री ने जो भाग लिया है उसके बारे में कुछ कहना चाहता हूँ। बहुत हद तक यह सफलता उनकी निजी विजय है। इस प्रश्न पर भारत का रवैया समझाने के लिए उन्होंने बहुत मेहनत की है, और उस निश्चय का स्वीकार हो जाना तथा उसमें भारत की वैधानिक परिस्थिति की रक्षा होना इस बात का सूचक है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में उनका स्थान कितना ऊँचा है।"

सरदार पटेल ने अपनी स्वभावगत दक्षता से एक जटिल समस्या के मुख्य सूत्रों को पकड़ लिया है। पंडित जवाहरलाल तथा कॉमनवेल्थ के अन्य प्रधान मन्त्रियों की दूरदर्शी राजनीति और विवेक की उन्होंने उचित ही प्रशंसा की है। संसार के राजनीतिक इतिहास में पहली बार राज्यों का ऐसा महान् संगठन हुआ है जो जातीय अथवा सांस्कृतिक समानता पर नहीं बल्कि समान उद्देश्यों और दृष्टिकोण की बुनियाद पर आधारित है। यह राजनीतिक संगठन विश्व-शान्ति की रक्षा के लिए स्वेच्छा से गढ़ा हुआ एक महान् यन्त्र है, और इसका श्रेय बहुत कुछ ब्रितानी जनता के अद्भुत राजनीतिक यथार्थवाद और सूझ को ही मिलना चाहिए। प्रायः लक्ष्य किया गया है कि किसी भी सूक्ष्म काल में इंग्लैंड के राजनीतिज्ञ एक दूसरे के समीप आ जाते हैं; और इस अवसर पर भारत की आजादी के पुराने और कट्टर विरोधी विंस्टन चर्चिल तक ने इस नयी व्यवस्था को आशीर्वाद दिया है जिसके अनुसार इंग्लैंड का राजा राज्यों के एक महान् संगठन की एकता का प्रतीक हुआ है। इस प्रकार की मैत्री, शान्ति की रक्षा के लिए किसी भी राजनीतिक सन्धि से अधिक शक्तिशाली साधन है, क्योंकि ऐसी सन्धियाँ प्रायः उसी समय तोड़ दी जाती हैं जब उनकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए पिछले महायुद्ध की रूस-जर्मन सन्धि और उसके टूटने के बाद सोवियत रूस, इंग्लैंड और अमरीका की सन्धि का स्मरण किया जा सकता है। रीतिगत कूटनीति में ईमानदारी और नैतिक सच्चाई की कमी रहती आयी है। किन्तु भारत का और दुनिया का सौभाग्य है कि एक ऐसा द्रष्टा पैदा हुआ जिसने व्यक्ति की नैतिकता और राष्ट्र की नैतिकता का भेद मिटा दिया। यह भी हमारा सौभाग्य है कि भारत के पहले प्रधान मन्त्री और विदेश-मन्त्री ने साहस और विवेक के साथ 'शक्ति की राजनीति' की पुरानी परिपाटी को छोड़ कर एक नयी नीति का प्रतिपादन किया है, जिसकी बुनियाद है सत्य और सब देशों के प्रति सद्भावना—विशेष कर उन देशों के प्रति जो अपनी आजादी के लिए लड़ रहे हैं।

शंकर गोम्पा में १९४९

लद्दाख यात्रा के समय पंडित नेहरू ने लेह के निकट शंकर गोम्पा के बौद्धविहार का भी निरीक्षण किया था।

लद्दाखी वेश में

यह पोशाक पंडित नेहरू को लेह के बौद्ध संघ के प्रधान तथा उनके भाई ने भेंट की थी।

बौद्ध शिष्यों के धातु का समादर
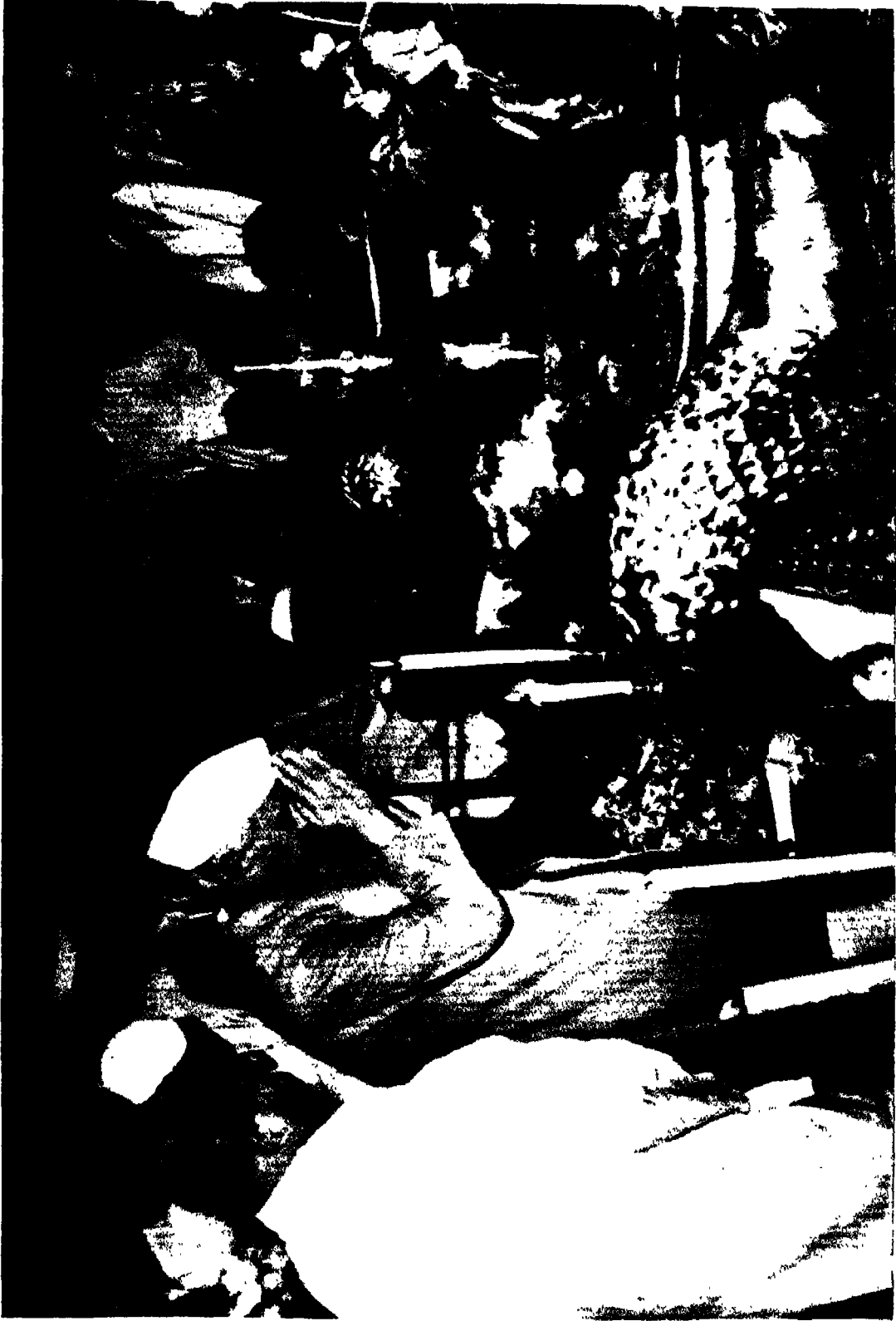
सारिपुत्त मोग्गल्लान के धातु इंगलैंड से लौटाये जाने पर कलकत्ते में रखे गये थे।
वहीं पर पंडित नेहरू ने उनका दर्शन किया

मिलनसार प्रधान मन्त्री

चेचोंट, लद्दाख में दर्शनार्थ जुटी हुई भीड़ के साथ
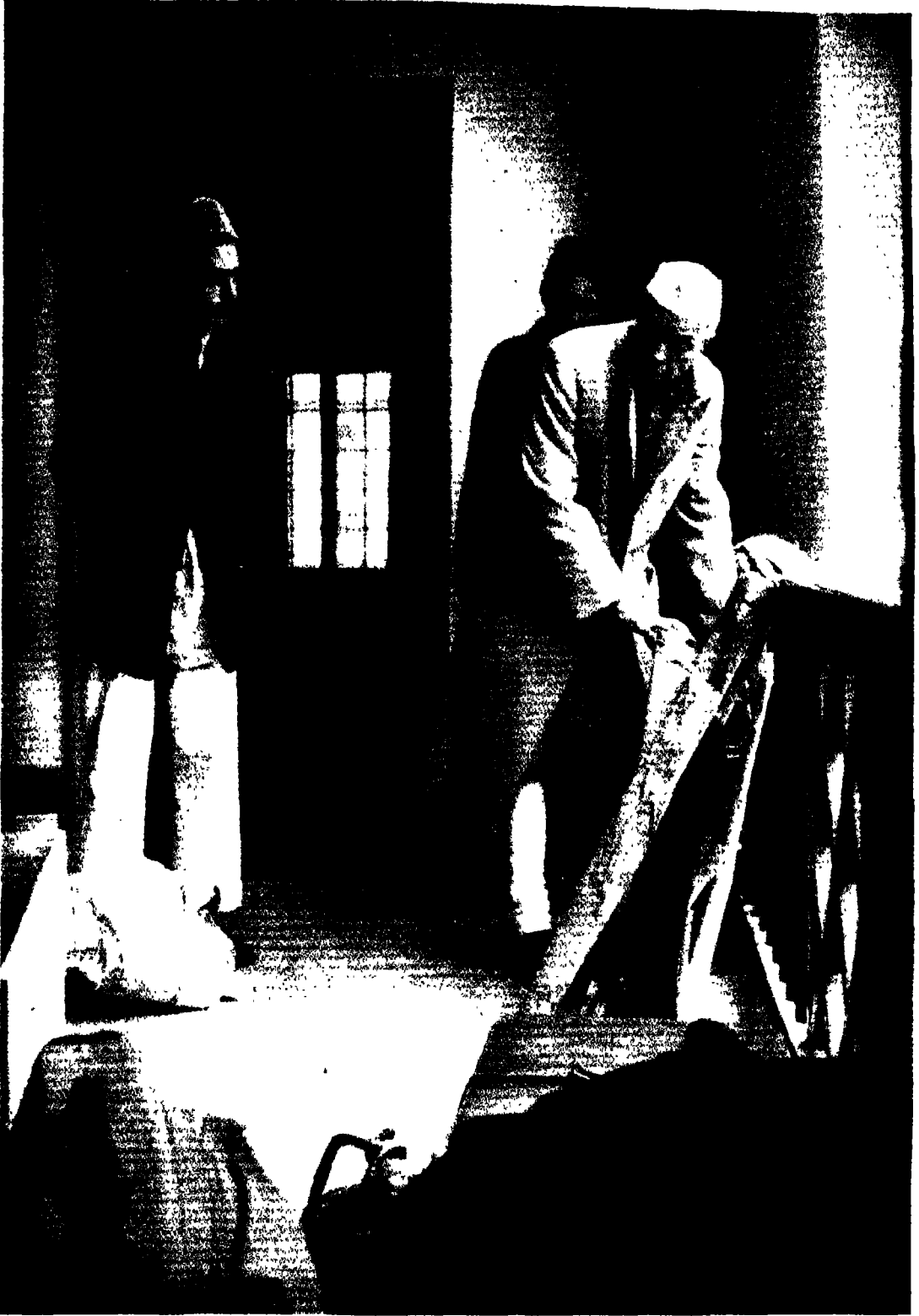
श्रीनगर की अतिथिशाला में

जल्दी के कारण पंडितजी स्वयं अपना सामान बांध रहे हैं।

१९४९

वेद एण्ड कंपनी के सौजन्य से

पुत्री और पौत्रों के साथ

पब्लिकेशन डिवीज़न, फोटो विभाग के सौजन्य से

घर पर "१९४१"

पब्लिकेशन्स डिवीज़न, फोटो विभाग के सौजन्य से

भारत में घटनाओं की गति इतनी तीव्र रही है कि उन्हें ठीक-ठीक क्रम में देखना कठिन है। विशेष कर अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंग में उनका महत्त्व आँकना तो और भी कठिन है। लेकिन इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि एक स्वाधीन प्रजातन्त्र के रूप में भारत को कॉमनवेल्थ का सदस्य स्वीकार किया जाना पंडित नेहरू की नीति की भारी विजय है। इस निर्णय का परिणाम महत्त्वपूर्ण होगा ऐसी सम्भावना है; क्योंकि जातीय, सांस्कृतिक और राजनीतिक झगड़ों का निपटारा करने के लिए इससे अधिक शक्तिशाली साधन संसार ने अभी तक नहीं देखा। आज कॉमनवेल्थ केवल मित्र राष्ट्रों का एक ऐसा संगठन है जिसका कोई विशिष्ट कर्तव्य या अधिकार नहीं है, लेकिन वह दिन दूर नहीं जब उसमें इतनी शक्ति आ जायेगी कि वह न केवल अंग राष्ट्रों के आपसी झगड़ों का बल्कि संसार के इतर राष्ट्रों के झगड़ों का भी निपटारा कर सकेगा। बल्कि इस नवजात और लचकीले संगठन में भावी विश्व-शान्ति-संगठन के बीज पाये जा सकेंगे; क्योंकि यह न केवल विश्व के कुछ सबसे अधिक बसे हुए प्रदेशों का पुंज है बल्कि इसमें विभिन्न महाद्वीपों के सबसे समर्थ इलाक़े भी सम्मिलित हैं। यह स्वाभाविक है कि इस ढंग का कोई संगठन, जिसका अमरीका के और पश्चिमी देशों के साथ गहरा सम्बन्ध है, सारे संसार के आर्थिक और राजनीतिक विकास में एक बड़ा शक्तिशाली साधन प्रमाणित हो। इसलिए विश्व के राजनीतिक इतिहास में इतनी महत्त्वपूर्ण घटना के सफल समापन पर भारत अपने आप को और अपने प्रधान मन्त्री को बधाई दे सकता है। यह अजीब बात है कि जहाँ भारत और ब्रितान के सम्बन्ध इतने हार्दिक और घनिष्ठ हो गये हैं, वहाँ पाकिस्तान से भारत का सम्बन्ध अब भी आशंका और सन्देह की गुंजाइश रखता है। लेकिन दुर्भाग्य से देश के विभाजन की परिस्थिति ही ऐसी थी कि अपने पीछे एक कटुता छोड़ गयी है जिसको मिटाने में समय लगेगा। इसके अलावा पाकिस्तान अपने राज्य-संगठन के इस्लामी स्वभाव पर ज़ोर देता रहा है। यह मध्यकालीन परिकल्पना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की वर्तमान प्रगति से बिल्कुल मेल नहीं खाती। जहाँ तक भारत के प्रधान मन्त्री का प्रश्न है, उन्होंने बार-बार स्पष्ट कहा है कि अतीत में उनका मत चाहे जो रहा हो पर अब वह वर्तमान व्यवस्था को कदापि नहीं बदलना चाहते। यह ज़ाहिर है कि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के राजनीतिज्ञों के पास अपने-अपने क्षेत्र में बहुत काम करने को पड़ा है और यह काम आपसी सद्भावना के द्वारा ही ठीक-ठीक सम्पन्न हो सकता है।

२७ अप्रैल १९४९ को १०, डाउनिंग स्ट्रीट से जो बयान प्रकाशित हुआ उसमें प्रधान मन्त्री-सम्मेलन के निर्णयों का खुलासा इस प्रकार दिया गया :

> "युनाइटेड किंग्डम, कैनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, दक्षिणी अफ़्रीका, भारत, पाकिस्तान और सिंहल की सरकारों ने, जिनके देश ब्रितानी कॉमनवेल्थ के सदस्य हैं और अपने स्वतन्त्र सहयोग के प्रतीक रूप में एक ही राजा के प्रति भक्ति रखते हैं, भारत में होने वाले वैधानिक परिवर्तनों पर विचार किया है।
>
> "भारत सरकार ने कॉमनवेल्थ की दूसरी सरकारों को सूचित किया है कि शीघ्र स्थापित होने वाले नये विधान के अन्तर्गत भारतीय प्रजा की इच्छा है कि भारत एक स्वाधीन प्रजातन्त्र हो। लेकिन भारत सरकार ने भारत की यह इच्छा और निश्चय भी घोषित किया है कि वह कॉमनवेल्थ का पूरा सदस्य बना रहेगा, और उसके सदस्य स्वाधीन राष्ट्रों के सहयोग के प्रतीक, और इसलिए कॉमनवेल्थ के प्रमुख, के रूप में राजा को स्वीकार करेगा।
>
> "कॉमनवेल्थ के अन्य देशों की सरकारें, कॉमनवेल्थ की जिनकी सदस्यता में कोई अन्तर नहीं आया है, इस घोषणा के अनुसार भारत की सदस्यता का पूर्ववत् बने रहना स्वीकार करती हैं।
>
> "तदनुसार युनाइटेड किंग्डम, केनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, दक्षिणी अफ़्रीका, भारत, पाकिस्तान और सिंहल यह घोषणा करते हैं कि वे कॉमनवेल्थ के समान और स्वाधीन सदस्यों के रूप में सम्मिलित होकर शान्ति, स्वतन्त्रता और प्रगति की साधना में सहयोग करेंगे।"

इस विनम्र घोषणा के द्वारा भारत के और कदाचित् दुनिया के इतिहास में एक परिवर्तन-काल का आरम्भ होता है। यह निश्चय निस्सन्देह भारत के विदेश-मन्त्री के रूप में पंडित नेहरू के उल्लेखनीय कार्यों में से एक है; क्योंकि यह मुख्यतया उनकी नैतिकता, स्पष्ट विचार और राजनीतिक यथार्थवाद का ही परिणाम है। यहाँ पर इस बात पर भी ज़ोर देना उचित होगा कि महात्माजी का प्रभाव उनके दोनों प्रधान शिष्यों की नीति पर स्पष्ट है—वैदेशिक क्षेत्र में जवाहरलाल नेहरू के और आन्तरिक राजनीति में सरदार पटेल के नीति-संचालन पर। जहाँ पंडित नेहरू यह दोहराते हुए

नहीं थकते कि भारत को अपनी सीमा से बाहर के प्रदेशों पर कोई लोभ नहीं है और वह अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में सब राष्ट्रों के, और विशेष कर राजनीतिक आज़ादी के लिए यत्न करने वाले देशों के, मित्र के रूप में ही खड़ा है; वहाँ वल्लभभाई पटेल बार-बार यह दोहराते रहे हैं कि भारत को एक संयुक्त इकाई बनाना है और राजाओं तथा किसानों के सहयोग से उसे एक बली राष्ट्र का पद दिलाना है। दोनों नेताओं ने जन-साधारण की सरल नैतिकता से प्रेरणा ली है, न कि मेकियावेली, टेलीरांड, मोटरनिख, कैसलरे, बिस्मार्क, डिज़राएली, या कि कावूर से भी।

एशियाई राष्ट्रों के लिए, या कि अफ़्रीका की जातियों के अधिकारों के लिए, जवाहरलालजी की वकालत किसी अव्यावहारिक आदर्शवादी जोश का परिणाम नहीं है। वह एक गहरे विश्वास और आन्तरिक शक्ति का युक्ति-संगत परिणाम है; क्योंकि महात्माजी की सीख यही थी कि अन्ततोगत्वा तोप की शक्ति नहीं बल्कि मानव की अजेय आत्मा ही जयी होती है। दुर्भाग्यवश अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में न तो इन्साफ़ का कुछ असर होता है, न परिस्थिति की तर्क-संगति का; इसलिए संसार इतना कष्ट भोग रहा है और अभी भोगेगा। पिछले महायुद्ध के बाद भारत में जो नयी परिस्थिति पैदा हो गयी है उसके अनुकूल न तो फ़्रांसीसी अपने को ढाल सके हैं और न पुर्तगाली। ये देश अब भी भारतीय भूमि पर अपने बीते साम्राज्य के खोखले और असम्भव अवशेषों से चिपटे हुए हैं और वह सबक़ सीखने से इनकार करते हैं जो इँग्लैंड देता है। समय के परिवर्तन को समझने—भले ही कभी-कभी बहुत देर से!—और उसके अनुसार काम करने का राजनीतिक विवेक केवल अंग्रेज़ जाति ने ही दिखाया है। भारत अपनी भूमि पर विदेशी सत्ता के घरौंदे कदापि नहीं सह सकता और इन्हें शीघ्र ही विलीन हो जाना होगा। दूर अतीत से लम्बी-लम्बी परम्परा लिये हुए आने वाली बड़ी से बड़ी रियासतों को भी विलीन होना पड़ा है। बर्मा, सिंहल और पाकिस्तान के सम्बन्ध में भारत की नीति जवाहरलालजी ने स्पष्ट शब्दों में घोषित की है। भारत के कर्णधारों के सामने महान् और जटिल समस्याएँ हैं। उनका आदर्शवाद और राजनीतिक यथार्थ-दर्शन भी परिपक्व है। इसलिए वे देश की जनता की उन्नति में अपनी सारी शक्ति केन्द्रित कर रहे हैं। अपने पड़ोसियों के प्रदेशों की ओर लोलुप दृष्टि डालने या उनके घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करने की फ़ुरसत ही उन्हें नहीं है। यह भारत की परम्परा रही है—'सत्यमेव जयते'। यह वाक्य राष्ट्र की भावी नीति का निचोड़ है।

दक्षिणी अफ़्रीक़ा के भारतवासियों का प्रश्न एक बहुत पुराने रोग का लक्षण है जिससे दुनिया सदियों से पीड़ित है। इस्लाम ने पहले-पहल अपने अनुयायियों में इस रोग पर विजय पायी, लेकिन दुर्भाग्य से उसने विश्व की जातियों को मुस्लिम और काफ़िर की दो परस्पर-विरोधी श्रेणियों में बाँट कर एक नयी बीमारी फैलायी। आधुनिक काल में साम्यवाद (कम्युनिज़्म) ने इस रोग को दबाने के लिए अपने विशेष ढंग से उद्योग किया है। यह स्पष्ट है कि अगर विश्व को शान्ति और सुरक्षा से रहना है तो जातीय समानता बहुत ज़रूरी है। गान्धीजी ने अपना राजनीतिक जीवन दक्षिणी अफ़्रीका में जातीय समानता के संघर्ष से ही शुरू किया। इस प्रश्न पर भारत का रवैया हमेशा बिल्कुल स्पष्ट रहा है और वह समान मानवीय अधिकारों का कट्टर समर्थक है। व्यावहारिक आदर्शवाद ही मानव जाति के लिए एकमात्र आशा की किरण है, और यह जवाहरलालजी द्वारा प्रतिपादित भारतीय परराष्ट्र-नीति की आधार-शिला है। 'सब की स्वतन्त्रता' ही जवाहरलालजी के हृदय की पुकार है।

७

प्रधान मन्त्री

भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री पंडित नेहरू १४ नवम्बर १९४९ को साठ वर्ष के हो जायेंगे, लेकिन वह अब भी युवा, सुदर्शन, भावुक, जोशीले और फक्कड़ हैं; कभी प्रसन्न और कभी चिन्तित, प्रायः अकेले और सदैव व्यस्त। बच्चों से उन्हें बहुत प्रेम है और अपनी सरलता और निष्कपटता में वह स्वयं बच्चों-से हैं। उनका स्वभाव विनोदी है, लेकिन खेद की बात है कि उन्हें अपने पद के उत्तरदायित्व और चिन्ताओं से कभी इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि वह स्वच्छन्द भाव से जीवन का और प्रकृति का आनन्द ले सकें। अपने प्रिय स्वप्न देखने का अवकाश भी उन्हें नहीं है। पक्षियों, फूलों और पर्वतों, झरनों और हिम-प्रदेशों से उन्हें प्रेम है, लेकिन उनकी पुकार सुनते हुए भी वह इस नये और प्राचीन राज्य की अनेक विकट समस्याओं से अनवरत लड़ते रह जाते हैं। जीवन एक अद्‌भुत व्यापार है और उसने जवाहरलालजी को बहुत भटकाया है। एक प्रतिभाशाली, तेजस्वी और प्रचंड स्वभाव के इकलौते बेटे जवाहरलाल का बाल्यकाल बहुत सुरक्षित और घटना-विहीन रहा। बहन विजयालक्ष्मी का आगमन उनके जीवन में काफ़ी देर से हुआ, और नेहरू परिवार जब सन् १९०५ में इँग्लैंड गया तब विजयालक्ष्मी बहुत छोटी थीं। जवाहरलाल बड़े संकोची युवक हुए। बच्चों से खेलना उन्हें बचपन में तो मिला ही नहीं, अपनी एकमात्र सन्तान के साथ क्रीड़ा करने का अवसर भी विधि ने उन्हें नहीं दिया, क्योंकि इन्दिरा की बाल्यावस्था में जवाहरलाल अपनी राजनीतिक दीक्षा विभिन्न जेलों में पूरी कर रहे थे। अत्यन्त भावुक स्वभाव के जवाहरलाल को कठोर एकाकी जीवन के लिए अपने को तैयार करना पड़ा, और अपनी भावनाओं और रोमानी प्रवृत्तियों को मौन आदर्श-कल्पना में, या लेखन में या कठिन परिश्रम में परिणत कर देना पड़ा। कभी-कभी जवाहरलाल उदास दिखाई देते हैं और तब उनके अन्तस् की गहराई का कुछ-कुछ अनुमान हो सकता है। यह सुसंयोग ही था कि सफल विवाह के बाद जब ऐसा दीख रहा था कि वह अभिजात, संस्कृत और ऐश-आराम की ज़िन्दगी से सन्तुष्ट हो जायेंगे, तब महात्माजी के संसर्ग से उनमें नयी स्फूर्ति और जागृति का उदय हुआ। गान्धीजी के लिए सत्य, अनुशासन, तपस्या और आचार-शुचिता स्वभावगत थे। विचारों का महत्त्व तभी तक था जब उन पर अमल किया जाय। राजनीतिक संघर्ष के जीवन के आरम्भिक वर्षों की कठिनाइयों ने जवाहरलाल के चरित्र को फ़ौलाद की दृढ़ता दी और उनकी सहज ईमानदारी को और भी निखार दिया। भविष्य की चिन्ता या सन्देह उन्हें कभी विचलित नहीं करता था, और लगभग एक पीढ़ी के अनवरत और तीव्र संघर्ष और निराशाओं के बाद भी जवाहरलाल का व्यक्तित्व वैसा ही अम्लान, अछूता और प्रज्वलित दीख पड़ा। उनकी अन्तःस्फूर्ति कभी कम न हुई। अपने गुरु की तरह वह कभी-कभी रोष कर सकते हैं, लेकिन कीना नहीं रखते और प्रतिशोध की भावना उनमें कभी नहीं होती। भावुक तो वह हैं ही, कभी-कभी अधीर भी हो जाते हैं, लेकिन दूसरों का सदा ध्यान रखते हैं और सहज ही क्षमा भी कर देते हैं। काव्य से उन्हें प्रेम है, क्योंकि उनके तूफ़ानी जीवन की भावनाएँ और अनुभूतियाँ ही काव्यमयी हैं। ६० वर्ष के होकर भी उनका शरीर छरहरा, सुन्दर और फुर्तीला है, यद्यपि कभी-कभी उन्हें अपने चेहरे की गहरी होती हुई रेखाओं और खल्वाट कपाल का ध्यान हो आता है। अपने गम्भीर, तटस्थ और अन्तर्मुखी स्वभाव के बावजूद वह विनोदप्रिय हैं और कभी-कभी रूठते भी हैं। उनमें अभिजात व्यक्ति की सामाजिकता, अभिमान और विनय है। उनकी बातचीत आकर्षक और विचार-प्रेरक है। उनमें सरदार वल्लभभाई पटेल का-सा अभिप्राय भरा मौन या तीखा व्यंग्य नहीं है। उनके मनोभाव शरद् के बादलों-से जल्दी ही बदल या गल जाने वाले हैं, और उनमें और उनकी बातों में डंक कभी नहीं होता। अपने गुरु की भाँति उनकी हँसी उन्मुक्त होती है; उसमें एक निश्छल उदारता और ऐसी गूँज होती है कि विरोधी को शान्त कर देती है और उनके खरेपन की साक्षी देती हैं। उनकी यह हँसी उनके मित्रों और सहयोगियों को बार-बार मुग्ध कर देता है और उनके देशवासियों की

चिन्ता और नाराजी को दूर कर देती है, क्योंकि वे जानते हैं कि यह व्यक्ति भेद नहीं रखता और छल-कपट करना नहीं जानता।

स्त्रियाँ जवाहरलाल की ओर स्वभावतः आकृष्ट होती हैं, क्योंकि उनके रूप के अलावा उनकी हँसती हुई आँखों में एक आश्चर्यजनक आकर्षण है। प्रसन्न और सुन्दर युवतियों और हँसमुख बच्चों के बीच जवाहरलाल बहुत प्रसन्न रहते हैं। गान्धीजी का भी स्त्रियों और बच्चों पर बहुत स्नेह था। लेकिन दोनों का ही आकर्षण आध्यात्मिक आनन्द और नैतिक प्रेरणा के तल पर होता था। सरल, स्वल्प-भाषी और सहनशील भारतीय नारी के कोमल बाह्य के नीचे जो दृढ़-प्रतिज्ञ आत्मत्याग और गम्भीर विवेक है उसको दोनों ने समझा है। स्वतन्त्रता-युद्ध में सहस्रों नारियों को भी सम्मिलित कर लेना महात्माजी की बहुत भारी विजय थी। उन पर स्त्रियों को बहुत श्रद्धा थी, क्योंकि वे जानती थीं कि महात्मा जी उनकी शक्ति और दुर्बलता को पहचानते हैं और उनके दुःख और सुख के सहभागी हैं। जवाहरलाल का आकर्षण भी कुछ कम नहीं है और उनकी मुख-मुद्रा की प्रशंसा स्त्रियाँ निःसंकोच भाव से करती हैं। कोई-कोई प्रगल्भा तो यहाँ तक कहती है कि सन् १६३६ में कमला जी का देहान्त होने के बाद इतने दिनों तक अकेले रहने का उन्हें कोई हक़ नहीं था! किन्तु इस प्रशंसा और आग्रह के नीचे मातृ-हृदय का यह गहरा सहज-ज्ञान भी है कि उनका लाड़ला एक महान् संस्कृति के आदर्शों का प्रतीक है, और स्वच्छ, सुन्दर, सरल, निर्भय, भावुक और खरा है; कि वह एक स्नेही पति, पिता और भाई रहा है। जवाहरलाल ने विभिन्न देशों के विभिन्न सामाजिक स्तरों के असंख्य लोगों को जाना है और अपने मिलनसार स्वभाव के कारण असंख्य बन्धु बनाये हैं, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें से कितने स्थायी और अन्तरंग सखा बन सके हैं। उनका स्वभाव स्नेहाकांक्षी है और वह संस्कृत और संवेदनाशील व्यक्तियों के प्रति सहज आकृष्ट होते हैं। जीवन में भी उन्हें रंगीनी पसन्द है। उनके लिखित या भाषित शब्दों का चयन उनके संवेदनाशील और गम्भीर मानस को प्रतिबिम्बित करता है। उनकी मुद्रा शान्त और स्थिर कदाचित् ही दिखाई देती है; वह प्रायः या तो विचारों में लीन दिखाई देते हैं या मानसिक उत्तेजना और तनाव की मुद्रा में। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही कहा था कि

> "जवाहरलाल ने राजनीतिक संघर्ष के क्षेत्र में, जहाँ बहुधा छल और आत्म-प्रवंचना चरित्र को विकृत कर देते हैं, शुद्ध आचरण का आदर्श निबाहा है। उन्होंने कभी सत्य से मुँह नहीं मोड़ा, चाहे उस में कितना ही खतरा रहा हो; न उन्होंने कभी झूठ के साथ समझौता किया है चाहे उसमें कितनी ही सुविधा रही हो। उनकी प्रतिभाशाली बुद्धि सर्वदा कूटनीति के उस रास्ते से मुखर अवज्ञापूर्वक हट जाती रही है जहाँ सफलता सस्ती और तुच्छ होती है।"

उनके जीवन की गति सितम्बर १६४६ में पद ग्रहण करने के बाद के घटना-संकुल काल में भी वैसी ही द्रुत रही है जैसी कि राजनीतिक संघर्ष के जीवन में थी। अब भी उन्हें बहुत कम अवकाश और उससे भी कम एकान्त मिलता है। अपनी आरम्भिक शिक्षा से बने हुए संकोची स्वभाव को बदल कर अब वह निर्बाध रूप से साधारण जनों से मिलते और बातचीत करते हैं, और आज जन-नेता के रूप में जवाहरलाल देश में अद्वितीय हैं। राजनीतिज्ञ और प्रधान मन्त्री के रूप में उनके आसपास विभिन्न बौद्धिक स्तरों के और विभिन्न स्वार्थों के लोगों की भीड़ जुटी रहती है। प्रवृत्ति और बुद्धि से जवाहरलाल संकोची और तटस्थ हैं लेकिन जनता के निकट आने का कोई अवसर भी नहीं चूकते। किन्तु ऐसा सम्पर्क ऊपरी ही होता है, क्योंकि अधिकारियों से मिलते समय लोग बिल्कुल दूसरी तरह पेश आते हैं और उनके चरित्र और योग्यताओं को ठीक-ठीक या समुचित रूप से नहीं नापा जा सकता। किन्तु कुछ लोगों में अपने सम्पर्क में आये हुए व्यक्तियों के चरित्र को भाँप लेने की असाधारण प्रतिभा होती है। उदाहरणतया गान्धीजी अपने आसपास के लोगों को ज्यों का त्यों स्वीकार करते हुए भी उन्हें अपनी सीमाओं से बाहर निकल कर और अपनी दुर्बलताओं से ऊपर उठ कर कर्म करने की प्रेरणा देते थे, जिससे साधारण जन भी असाधारण वीरत्व का परिचय दे जाता था। उनके व्यक्तित्व का जादू एक सूक्ष्म प्रेरणा की तरह काम करता था और भावी कर्म का रूप निश्चित करता रहता था। गान्धीजी के पास रहते हुए उनके प्रभाव को दूर कर सकना लगभग असम्भव था। सहस्रों साधारण नर-नारी उनके सामीप्य में ऐसा कर्म करते थे मानों साहस और सत्याचरण के किसी भारी लहर के ताल पर चल रहे हों। ऐसे ही प्रभावाविष्ट संघर्ष से स्वाधीनता-संग्राम में विजय मिली। फिर भी गान्धीजी कदाचित् राजनीतिक नेताओं में सबसे कठोर अनुशासक थे और जो लोग उनकी कसौटी पर खरे नहीं उतरते थे, उन्हें दूर करने या निकाल फेंकने में ज़रा भी संकोच नहीं करते थे। इस लघुकाय महामानव में अपनी शान्त और करुण मुद्रा के बावजूद इस्पात का तत्त्व था; वह मानवों के निर्माता थे।

सरदार पटेल इससे भिन्न हैं। यद्यपि भारत के मौजूदा नेताओं में से किसी में यह प्रतिभा नहीं है कि अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों को आविष्ट और उन्नत कर दे, तथापि सरदार पटेल अपने महान् कार्य में योग देने वालों से भरपूर काम ले सकते हैं। वह बहुत कम बोलते हैं, लेकिन उनके मित्र जानते हैं कि वह हर परिस्थिति में उनका साथ देंगे—केवल छल-पाखंड नहीं सहेंगे। अपने सहकारियों को चुनने में उनकी दृष्टि अचूक है, वह आदमी पहचानते हैं और काम लेना भी जानते हैं। वह उदार हैं, दूसरे की युक्ति सुनने को सदैव तत्पर हैं, सहिष्णु हैं और दृढ़ हैं। निश्चय करने में उन्हें कभी देर नहीं लगती और छोटी-छोटी बातों से वह पराभूत नहीं होते। हर मामले में उनकी दृष्टि व्यावहारिक होती है और तात्कालिक समस्या को देखती है। वह दूर और अस्पष्ट भविष्य के दिवास्वप्न देखने वाले कोरे बौद्धिक नहीं हैं। वह मूलतः व्यवस्थापक हैं, श्रेष्ठ संगठनकारी हैं; उनका कठोर निश्चय और प्रत्युत्पन्न बुद्धि कभी विचलित नहीं होती। उनका सहज साहस संकट-काल में और भी बढ़ जाता है। उनके मौन शंकनीय होते हैं और उनका रोष या व्यंग्य भयानक विस्फोटकारी। अगर वह श्रद्धा जगाते हैं तो उनसे डर भी होता है, क्योंकि किसी भी परिस्थिति में उनसे खिलवाड़ नहीं किया जा सकता। महात्माजी के उठ जाने से उनका महत्त्व और भी बढ़ गया है। इधर उनके कर्म और वचन से ऐसी ध्वनि निकलती है कि वह उस महान् उत्तरदायित्व को, जिसे उन्होंने उठाया था, जल्दी ही पूरा कर डालना चाहते हैं।

जवाहरलाल का साहस दुस्साहस की सीमा तक पहुँच जाता है। वह हमेशा घमासान के बीचों-बीच रहना चाहते हैं। अपने सहकारियों पर वह स्नेह करते हैं और उनकी उपस्थिति हमेशा जनता को स्फूर्ति और प्रेरणा देने वाली होती है। लेकिन लोगों का मोल आँकने में उनकी भावुकता और उदारता कभी-कभी दोष भी बन जाती हैं और उनकी मित्र-भक्ति कभी-कभी सीमोल्लंघन भी कर जाती है। जिस उच्च आसन पर नियति ने उन्हें बिठाया है, अचम्भा नहीं कि उस पर से उनकी खुली उदारता का कुछ लोग लाभ उठायें। स्वभाव और शिक्षा से उनका स्थान बौद्धिकों, राजनीतिज्ञों, वैज्ञानिकों, कलाकारों और साहित्यिकों में है। वह भारत की समस्या को देश-काल की परम्परा में देखते हैं और किसी तरह की संकीर्णता उन्हें अप्रीतिकर है। बौद्धिक, सांस्कृतिक, धार्मिक या प्रान्तिक, किसी भी क्षेत्र में संकुचित मताग्रह उनके रोष को जगाता है और किसी तरह की क्षुद्रता और ओछापन उन्हें असह्य है। उनकी चिन्तक प्रवृत्ति उन्हें प्रश्नों को तटस्थ-भाव से देखने की ओर प्रेरित करती है और किसी समस्या के विभिन्न पहलुओं का विमर्श कभी-कभी आवश्यक तात्कालिक निर्णय में बाधक हो जाता है। राजनीति एक अद्भुत खेल है और खरे ईमानदार आदमियों के लिए उसकी स्थायी चुनौती है। यहाँ नीतिकता पर व्यावहारिकता ही बहुधा विजय पाती है। फिर भी एक विचलित दुनिया में पंडितजी असाधारण मानसिक सन्तुलन, विवेक और विचार-स्पष्टता लाने में समर्थ हुए हैं। दो वर्षों से कम समय में भारत की वैदेशिक नीति के अपने संचालन से उन्होंने उन गिने-चुने राजनीतिकों में अपना स्थान बना लिया है जो कि विश्व की भावी प्रगति में निर्णायक प्रभाव रखते हैं।

जवाहरलाल की बुद्धि और प्रवृत्ति चिन्तक और अध्येता की है; वह स्वभावतः अशान्त हैं और मानों हमेशा जल्दी में रहते हैं। उन पर काम का बोझ बहुत अधिक है और कदाचित् उन्हें इस अति-व्यस्तता में ही रस मिलता है। पर किसी देश के प्रधान मन्त्री के लिए, विशेषतया भारत के लिए जहाँ कि शक्ति, दृष्टि, साहस और निष्ठा वाले लोगों की बहुत कमी है, यह अच्छी बात नहीं है। वह प्रायः रात को बहुत देर तक काम करते हैं और बहुधा उनके चेहरे से दीखता है कि कुछ दिनों का निर्बाध विश्राम और नींद उनके लिए बहुत जरूरी हो रही है। लेकिन उन्होंने कभी अपनी शक्ति की किफ़ायत नहीं की और अपनी देह से भरपूर काम लेते रहे हैं। तथापि अब समय आ गया है कि उनके असीम उत्साह और सीमित शक्ति को राष्ट्र के हितार्थ सँभाल कर रखा जाय। उनकी बहुमुखी प्रवृत्तियाँ, मिलनसार स्वभाव और जनता से दैनिक सम्पर्क बनाये रखने की अद्भुत तत्परता उनके स्वास्थ्य को खतरे में डाल रही है। भारतीय जनता ऐसे मामले में अनुभवहीन है और अपने नेताओं की सुविधा-असुविधा की बात बहुत कम सोचती है। गान्धीजी सप्ताह में एक दिन मौन रहते थे। जवाहरलालजी जैसे दायित्व वाले सभी लोगों को विश्राम और चिन्तन के लिए समय निकालने के इस उपाय की सिफ़ारिश की जा सकती है!

जवाहरलालजी पर काम का बोझ आवश्यक से कुछ अधिक ही जान पड़ता है। एक महान् देश के शासन-यन्त्र का प्रमुख समूचे राज्य-संचालन का भार अकेले नहीं वहन कर सकता और उसे योग्य सहकारी चुनने पड़ते हैं। काम को विकेन्द्रित कर के योग्य अधिकारियों को सौंपना आवश्यक होता है। यह भारत का सौभाग्य है कि स्वाधीनता-प्राप्ति के

समय से ही उसे जवाहरलालजी और सरदार पटेल जैसे दो योग्य सेवक मिले हैं। स्वभाव, दृष्टिकोण और आयु के भारी अन्तर के बावजूद (वल्लभभाई इसी अक्तूबर ३१ को ७४ वर्ष के हो जायेंगे,) राज्य-संचालन में इन दोनों का सहयोग असाधारण रूप से फलप्रद और रचनात्मक हुआ है। जवाहरलाल ने भारत की परराष्ट्र-नीति की रूप-रेखा विवेक और दृढ़ता के साथ निर्धारित की है, और सत्य और निष्काम सेवा के आदर्श में अपनी दृढ़ निष्ठा के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भारत का गौरव बढ़ाया है। वल्लभभाई ने अपनी दूरदर्शिता, एकान्त कर्त्तव्य-निष्ठा और मानव-स्वभाव के गहरे ज्ञान के द्वारा देशी राजाओं के हृदय में स्थान पाया है, और उन्हें अपनी पृथक् रियासतों को एक भारतीय राष्ट्र में विलीन कर देने के महात्याग की ओर प्रेरित किया है। यह महत्त्वपूर्ण काम शान्ति और शीघ्रता के साथ और भारत सरकार तथा राजाओं के मैत्री-सम्बन्ध की रक्षा करते हुए पूरा किया गया है। भविष्य में भारत के नक़शे का एक ही रंग होगा और उसके राजनीतिक भविष्य में जो भी आँधी-तूफ़ान आयेगा उसका सामना वह एक राष्ट्र के रूप में ही करेगा। उसी की सन्तान का शौर्य, त्याग और विवेक उसके भाग्य का निर्माण करेगा। इस प्रसंग में भूतपूर्व नरेन्द्र-मंडल के एक पिछले प्रमुख, स्वर्गीय बीकानेर-महाराज के कुछ शब्द याद आते हैं जो उन्होंने २२ नवम्बर १९३३ को, एक भाषण में, कहे थे और जिनका सन्दर्भ जवाहरलाल ने अपनी आत्मकथा में दिया है :

> "हम, भारत की रियासतों के शासक, दस्यु नहीं हैं। और मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि हमें, जिन्होंने सदियों के शासन के अनुभव का दाय पाया है और जिनमें शासन-प्रवृत्ति और राजनीतिज्ञता स्वभावगत हो गयी है, जल्दी या हड़बड़ी में कोई निश्चय कर लेने से सावधान रहना चाहिए. . . .मैं विनयपूर्वक कहना चाहता हूँ कि हम भारतीय राजाओं को कोई नहीं मिटा सकता, और अगर कभी दैवयोग से ऐसा समय आया जब ब्रितानी सरकार अपनी सन्धियों के अनुसार भारतीय रियासतों की रक्षा करने में असमर्थ हुई, तो राजा और रियासतें अपने अधिकारों के लिए आख़िरी दम तक लड़ेंगी।"

ऐसी रियासतों के प्रश्न पर अपने विचार जवाहरलाल ने कभी अस्पष्ट नहीं रखे, जैसा कि निम्नलिखित अवतरण से सिद्ध होता है;

> "देशी रियासतें आज शायद संसार में निरंकुश शासन का एक अद्वितीय उदाहरण हैं। वे ब्रितानी आधिपत्य के अन्दर तो हैं, लेकिन ब्रितानी सरकार केवल ब्रितानी हितों की रक्षा या तरक़्क़ी के लिए हस्तक्षेप करती है। ये पुराने सामन्तवाद के गढ़ बिना किसी परिवर्त्तन के बीसवीं सदी के बीच में कैसे आ पहुँचे, यह आश्चर्य का विषय है। वहाँ का वायुमंडल निश्चल और भारी है, वहाँ नदियाँ भी अलसायी हुई बहती हैं। गति का अभ्यस्त नवागन्तुक वहाँ आते ही मानों ऊँघने लगता है और विश्रान्ति का सोंधा आकर्षण उस पर छा जाता है। सब कुछ अयथार्थ जान पड़ने लगता है, मानों आँखों के सामने एक चित्र है, जिसका देश-काल कभी बदल ही नहीं सकता। अनजाने ही दर्शक अतीत की ओर मुड़ जाते हैं और बचपन के स्वप्न देखने लगते हैं। कवच-कृपाणधारी वीरों, सुन्दरी वीरांगनाओं और दुर्गों, साहस और शौर्य और अभिमान के अद्भुत विचारों से उसका मन छा जाता है। विशेषतया राजपूताना में ऐसा होता है, जो ज्वलन्त वीरता और असम्भव पराक्रम की भूमि है।
>
> "लेकिन शीघ्र ही ये दृश्य मिट जाते हैं और तबियत भारी हो उठती है; दम घुटने लगता है कि मन्द-प्रवाहित अथवा खड़े पानी में सड़ाँध और दुर्गन्ध है। आगन्तुक अपने को दबा हुआ, मन और देह से बँधा हुआ अनुभव करता है। और वह देखता है कि राजमहल की निर्लज्ज छाया में दीन जनता कराह रही है। राज्य की आय का कितना बड़ा भाग राजा के ऐश-आराम के लिए महल में चला जाता है और कितना कम अंश सेवा के रूप में जनता को वापस मिलता है? हमारे राजाओं को तैयार करने और उनकी देख-भाल में बड़ा ख़र्च होता है; और इस ख़र्च के बदले में वह हमें क्या देते हैं?"

अब ये राजा-महाराजा शक्तिच्युत हो कर साधारण नागरिक हो गये हैं जिन्हें भारतीय राजकोष से बड़ी पेंशन मिलती है। उन्होंने परिस्थिति को स्वीकार किया है और उसमें यथेष्ट समझदारी भी दिखायी है। कुछ को उनकी योग्यता के कारण राष्ट्र की सेवा में उच्च और सम्मानित पद भी दिया गया है। इस मामले में भारत सरकार का कृतित्व आधुनिक राजनीतिक इतिहास में अद्वितीय है और ५६२ छोटी-बड़ी रियासतों का फ़ैसला करने में सरदार वल्लभभाई पटेल ने जो राजनीति-निपुणता दिखायी है वह जर्मनी और इटली का एकीकरण करने वाले बिस्मार्क और कावूर की

याद दिलाती है। सरदार पटेल का क़द तो नहीं लेकिन चेहरे की कठोर मुद्रा बिस्मार्क से मिलती है जो 'आयरन चांसलर' कहलाते थे। सरदार पटेल में वैसी ही दृढ़ता और कड़ाई है। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि सरदार पटेल की असाधारण दूरदर्शिता ने संयुक्त भारत की नींव को बिस्मार्क के जर्मनी की नींव से कहीं अधिक मजबूत बनाया है।

जवाहरलालजी पर बहुधा आरोप लगाया जाता है कि वह आदमी नहीं पहचानते, लेकिन उनके सहयोगियों को देखने से यह आरोप पुष्ट नहीं होता। यह उनकी सफलता का प्रमाण है कि वह न केवल वल्लभभाई पटेल जैसे तेजस्वी व्यक्तित्व का स्नेहपूर्ण सहयोग पा सकते हैं बल्कि डाक्टर अम्बेडकर जैसे कुशल, व्यवहार-पटु, हठी और स्वाधीन विचार के व्यक्ति की भी सेवा प्राप्त कर सकते हैं। यह उचित ही है कि भारतीय लोकतन्त्र के विधान का संचालन कांग्रेस के इस विद्वान् और कटु आलोचक तथा दलित जातियों के निर्भीक समर्थक को सौंपा गया। जवाहरलालजी के मन्त्रि-मंडल का निर्वाचन उनके उदार विचार, मनुष्यों की पहचान, राजनीतिक सूझ, और साथ मिलकर काम करने की शक्ति का प्रमाण है। प्रान्तों और अन्य राज्यसंघों की परस्पर-विरोधी आकांक्षाओं के बीच नेहरू मन्त्रिमंडल ने असाधारण आन्तरिक शक्ति और सहयोग का परिचय दिया है, और विशेष कर राजनीतिक क्षेत्र में तथा देश में शान्ति-रक्षा के लिए उल्लेखनीय कार्य किया है। विदेश-मन्त्री के रूप में नेहरू का निजी कृतित्व भी विलक्षण है, क्योंकि भारत के परराष्ट्र-विभाग का देश-देशान्तर-व्यापी समूचा संगठन उन्हीं का बनाया हुआ है। और इस कार्य में उनका मार्ग-दर्शन करने के लिए न तो अनुभवी कर्मचारी ही थे न कोई पूर्व-परम्परा। उनकी कल्पना-शक्ति, उनके ज्वलन्त आदर्शवाद और अदम्य स्फूर्ति के कारण ही भारत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आज इस आसन पर पहुँचा है। यह हो सकता है कि भारत के परराष्ट्र-विभाग के कर्मचारियों की बढ़ती हुई संख्या पर उनका व्यक्तित्व हावी हो, लेकिन यह भी सच है कि आज वह भारत के उन इने-गिने राजनीतिज्ञों में हैं जिनकी नीति-निर्धारित करने में विभागीय उच्चाधिकारियों का बहुत कम प्रभाव पड़ा है। इंडियन सिविल सर्विस के बारे में उनकी धारणा बहुत अच्छी नहीं थी; विशेषतया प्रथम महायुद्ध में मेसोपोटेमिया और द्वितीय महायुद्ध में बर्मा के उनके कारनामों के बाद से। उन्हें हमेशा उन बड़ी-बड़ी मौलिक समस्याएँ सुलझाने की उसकी योग्यता पर सन्देह रहा है, जिनके लिए साहस, दायित्व-भावना, प्रेरणाशीलता और लोक-मन को समझने की शक्ति जरूरी होती है। इस कारण प्रधान मन्त्री का कार्य-भार बहुत बढ़ गया है और उन्हें बहुत अधिक काम भी करना पड़ता है। जवाहरलालजी को शुरू से ही रात बहुत देर तक काम करने की आदत रही है और कदाचित् उन्हें इस अति-परिश्रम में रस भी मिलता है, क्योंकि वह एक आदर्श के लिए है और एक विशाल राष्ट्र के ऐतिहासिक भाग्य-निर्णय के लिए। स्वभावतया वह अपने ही ऊपर बहुत अधिक काम ले लेने वाले हैं। फलतः यह मानना कठिन है कि उनके उत्तुंग व्यक्तित्व की छाया में से कोई और उल्लेखनीय व्यक्ति निकलेगा। 'बड़ा वृक्ष अपने आसपास की मिट्टी का रस सोख लेता है।' तथापि लोकतन्त्र की सफलता, स्थिरता और गतिशीलता के लिए आवश्यक है कि उसे निरन्तर ऐसे योग्य और निःस्वार्थ सेवक मिलते रहें जिन्होंने राज्य-संचालन के उच्चतर दायित्व की शिक्षा पायी हो और जो नीति-निर्वाह करने में कुशल हों।

आधुनिक भारत में योग्य, शिक्षित और अनुभवी अधिकारियों की बहुत कमी है और प्रान्तों में अव्यवस्था की शिकायतों के कारण ऐसे अधिकारियों की माँग और भी बढ़ रही है। ऐसी परिस्थिति में, केन्द्र के कुछ एक अधिकारियों के हाथ शक्ति के केन्द्रीकरण में भी खतरा है। भारत जैसे विशाल देश में यह आवश्यक है कि युवा और उत्साही अधि-कारियों की भरती का क्षेत्र सारे देश में फैला हुआ हो और भरती भी निरन्तर होती रहे। थोड़े-से अनुभवी उच्चाधि-कारियों को हर तरह के काम सौंपते रहना भूल होगी। और भारत के प्रधान मन्त्री ने वैदेशिक विभाग के उच्चतर पदों पर बाहर से नये आदमी बुला कर उचित ही किया है। निर्वाचन में भूलें हो सकती हैं लेकिन देश की राजनीति को विकसित करने का यह एक उपाय है। पिछले महायुद्ध में इँग्लैंड और अमरीका का अनुभव जवाहरलालजी की विदेशी कूटनीतिक सेवा के लिए कर्मचारी चुनने की नीति का समर्थन करता है।

भारत जैसे नये राज्य के परराष्ट्र विभाग के काम की यह कह कर आलोचना करना बहुत सहल है कि उसका प्रसार बहुत अधिक या बहुत संकुचित है। दो विरोधी संगठनों में बँटे हुए संसार में भारत की जो परिस्थिति है, उसमें अनिवार्य है कि उसकी विदेशी नीति बहुत सावधानी से अपने को बचाते हुए चले। और इतनी छोटी अवधि में उसका कोई विशेष उल्लेखनीय परिणाम नहीं हो सकता। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में ही जवाहरलाल के व्यक्तित्व की छाप सबसे अधिक स्पष्ट दीख पड़ती है; यद्यपि विदेश-मंत्री की हैसियत से किये गये उनके कुछ निर्णयों का

विरोध अपने देश में कहीं-कहीं हुआ है। जवाहरलाल साहसी और सिद्धान्त के मामलों में दृढ़प्रतिज्ञ हैं। बहानेबाजी और दम्भ से उन्हें घृणा है, यद्यपि बहुधा उन्हें अनिच्छापूर्वक देश के प्रचलित राजनीतिक मतवादों के सामने झुकना पड़ जाता है—विशेषतया सामाजिक सुधार के मामलों में। पुराने समाज ह्रास के लम्बे युगों के बाद अपने अतीत से और भी चिपटने लगते हैं, और दुर्बलता और निराशा की स्थिति में उनका मताग्रह इसलिए और बढ़ जाता है कि अतीत के ज्वलन्त गौरव के कारण वर्तमान परिस्थिति और कृतित्व नगण्य जान पड़ते हैं। फलतः सत्ता हाथ में आते ही उनमें कुछ ऐसा अद्भुत और असाधारण करने की बाल्योचित इच्छा पैदा होती है जिसमें अधिक अनुभवी लोग असफल हो चुके हैं। या फिर ये समाज एक नैतिक श्रेष्ठता का दावा करने लगते हैं और भूल जाते हैं कि उसका असर जनता के हीन आर्थिक जीवन पर क्या पड़ेगा। भारतीय लोकतन्त्र की गान्धीजी की परिकल्पना व्यावहारिक थी, जवाहरलाल जी द्वारा उसकी व्याख्या भी सर्वथा व्यावहारिक है। लोकतन्त्र का अर्थ केवल मत-गणना है, यह परिभाषा तो सर्वत्र खोखली सिद्ध हो चुकी है और यह सम्भव है कि जब सत्रह करोड़ अधिकतर अशिक्षित मतदाताओं की राय से निर्वाचन किया जायगा तब यह और भी स्पष्ट लक्षित होने लगेगा कि लोकतन्त्र को केवल बैलट-बक्स, दलगत प्रचार, वोटों के संगठन और गणना आदि का यान्त्रिक प्रबन्ध भर मान लेना कितनी बड़ी भूल और कितना अव्यवहारिक है। जवाहरलाल जी के अनुसार गान्धी जी की लोकतन्त्र की कल्पना कुछ-कुछ आध्यात्मिक थी और संख्या, बहुमत या प्रतिनिधित्व से उसका सरोकार नहीं था। गान्धी जी ने लिखा था:

"हमें यह समझना चाहिए कि कांग्रेस को लोकतन्त्रात्मक रूप का गौरव उसके वार्षिकोत्सव में आने वाले प्रतिनिधियों और दर्शकों की संख्या के कारण नहीं, बल्कि उसकी निरन्तर बढ़ती हुई सेवाओं के कारण मिला है। पश्चिमी लोकतन्त्र अगर असफल ही नहीं हो चुका तो भी आज उसकी परीक्षा हो रही है। लोकतन्त्र के सच्चे विज्ञान का विकास भारतवर्ष ही, उसकी सफलता के प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा, करे।

"कोई कारण नहीं है कि लोकतन्त्र का अनिवार्य परिणाम दुराचार और पाखंड हो, जैसा कि आज होता है और न बहुसंख्या लोकतन्त्र की कुंजी है। सच्चा लोकतन्त्र तभी हो सकता है अगर थोड़े-से व्यक्ति उन सबों की आकांक्षाओं और आशाओं का प्रतिनिधित्व करें जिनके प्रतिनिधि होने का वे दावा करते हैं। मेरी धारणा है कि लोकतन्त्र बल-प्रयोग से नहीं स्थापित किया जा सकता। लोकतन्त्र की भावना बाहर से नहीं लायी जा सकती, भीतर से ही उत्पन्न हो सकती है।"

यह रीतिगत पाश्चात्य लोकतन्त्र नहीं है, किन्तु जवाहरलाल जी जानते हैं कि गान्धी जी लोकतन्त्रवादी चाहे रहे हों चाहे नहीं, वह अपने करोड़ों देशवासियों के चेतन और अवचेतन आदर्श और आकांक्षा के प्रतीक अवश्य थे।

सिद्धान्तों और मतवादों के संघर्ष में लोग प्रायः भूल जाते हैं कि शासन का एक मात्र उद्देश्य होता है साधारण जन के हितों की रक्षा और उन्नति—शासन-यन्त्र के निर्माण और नियन्त्रण की परिपाटी चाहे जो हो; और भारत जैसे विशाल, आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए, और अविकसित देश के लिए इसका महत्त्व और भी अधिक है। सौभाग्य से जवाहरलाल जी और सरदार पटेल दोनों ही भारत के उत्पादन को शीघ्र बढ़ाने की आवश्यकता के बारे में सजग हैं। हमारे प्रधान मन्त्री अपने देशवासियों की कमजोरियों और विशेषतया उनमें अनुशासन तथा लगातार परिश्रम की कमी को भली भाँति जानते हैं, लेकिन फिर भी देश के भविष्य में उनका दृढ़ विश्वास है। इसलिए जब वह संसार के सामने भारत की नीति की व्याख्या करते हैं तब उनकी युक्तियों में कल्पना की विशालता और एक शान्त आत्म-विश्वास झलकता है। किसी भी वैदेशिक नीति का आधार अन्ततोगत्वा सत्ता है—वह सत्ता चाहे प्रत्यक्ष हो चाहे सम्भाव्य—इसे वह खूब जानते हैं। वह यह भी जानते हैं कि भारत की सत्ता अभी मुख्यतया सम्भाव्य ही है। भारत की नीति की उनके द्वारा की गयी व्याख्या में सदैव गहरा विश्वास और उच्च आदर्श प्रकट होता है, और उस पर एक सजीव, उत्साही, कभी-कभी भावुक किन्तु सदैव दृढ़-निश्चय व्यक्तित्व की छाप दीखती है। उनके कर्म और वचन में एक जोश और रोबीला-पन रहता है, क्योंकि वह भारतवासियों की प्राचीन आग को फिर से उत्तेजित करना चाहते हैं और शतियों की जड़ता, अज्ञान, अन्ध-विश्वास और दरिद्रता से कुचली हुई उनकी आत्माओं को जगाना चाहते हैं।

गान्धीजी के पट्ट शिष्य और सहकारी स्वर्गीय महादेव देसाई ने उनके बारे में लिखा था;

"उनके जटिल और गुथीले व्यक्तित्व में निश्चयात्मकता और सन्देह का, विश्वास और उसकी कमी का, धर्म और धर्म के प्रति असहिष्णुता का अद्भुत मेल है। अविश्राम कर्म, तपस्या और दुःख से भरा

वृक्ष रोपण

पंजाब फ़ोटो सर्विस के सौजन्य से
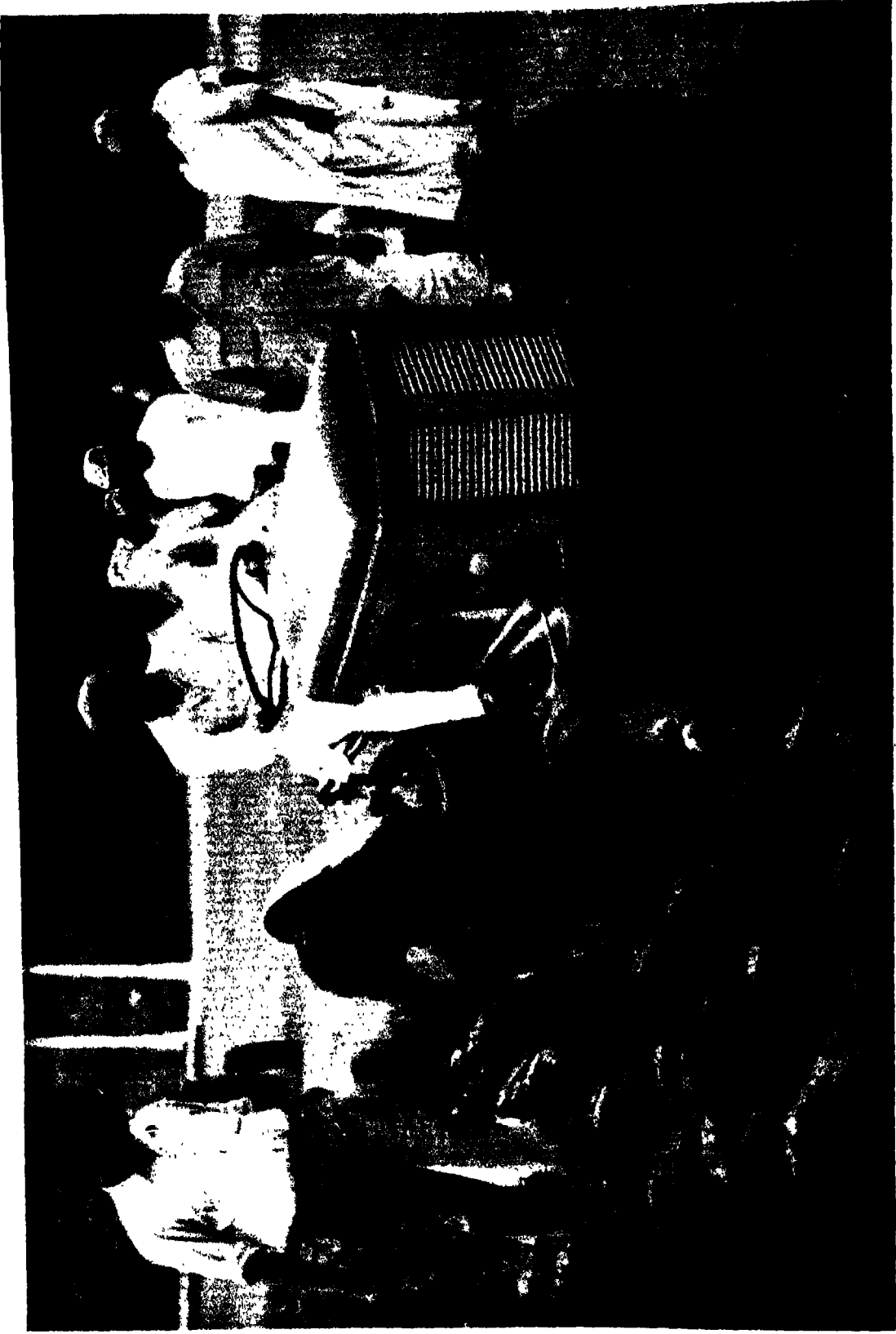
"अधिक अन्न उपजाओ"
प्रधान मंत्री अपने निवास की हरियाली उपाट कर खेती करने के लिये ट्रैक्टर चला रहे हैं।

वाशिंगटन के हवाई बन्दर पर

प्रेसिडेण्ट ट्रूमैन द्वारा पंडित नेहरू का स्वागत (अक्टूबर १९४९)
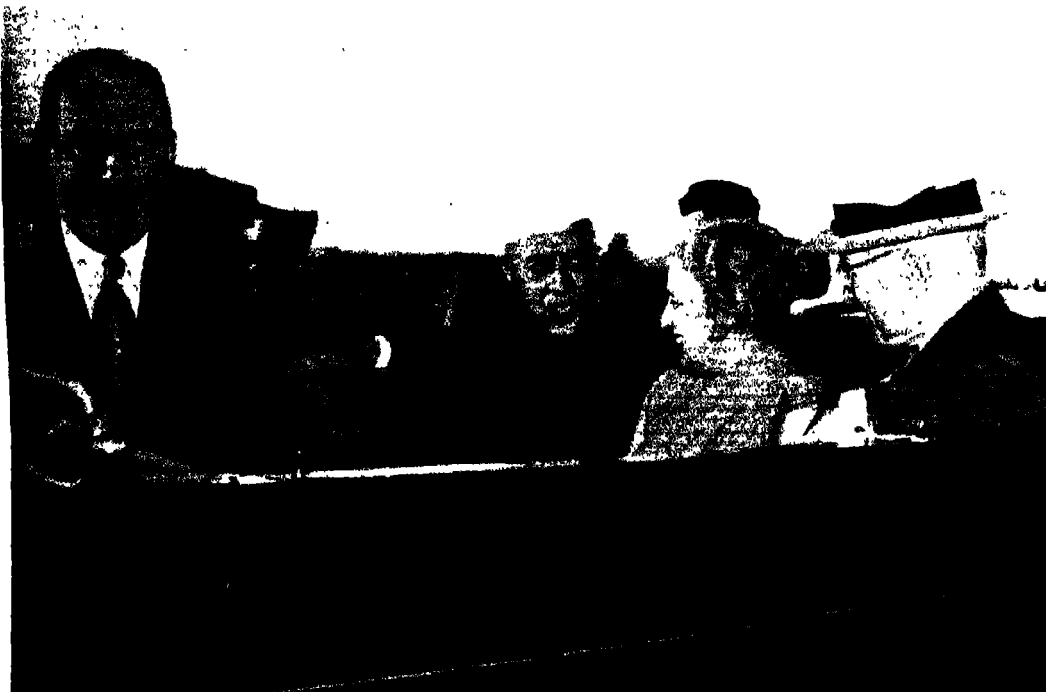
वाशिंगटन द्वारा अभिनन्दन

पंडित जवाहरलाल नेहरू, श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित, प्रेसिडेण्ट ट्रूमेन तथा डीन एचिसन के साथ वाशिंगटन के हवाई बन्दर से प्रस्थान कर रहे हैं।

नियागरा प्रपात के नीचे

बायीं ओर से : श्री एल० बी० पियर्सन, पंडित नेहरू, श्री राबर्ट सैंडर्स और श्रीमती इन्दिरा गान्धी।

वाशिंगटन की समाधि पर

माउंट वर्नन में अमरीका के प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन तथा मार्था वाशिंगटन की समाधि पर पंडित जवाहरलाल ने फूल चढ़ाये थे।

वाल्डार्फ़-एस्टोरिया, न्यूयार्क के भोज में

बायीं ओर से : श्रीमती इन्दिरा गान्धी, श्री रिचर्ड वाल्श, पंडित जवाहरलाल नेहरू, श्रीमती पर्ल बक, श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित श्री लाय हेंडरसन और श्रीमती कृष्णा हठीसिंह (अक्टूबर १५, १९४९)

न्यूयार्क नगर की ओर से अभिनन्दन के बाद

अक्टूबर १७, १९४९

सोवियट विदेश-मंत्री वाइशिन्स्की के साथ
(न्यूयार्क, अक्टूबर, १९४९)

अमरीका के इंडिया लीग और इंस्टिट्यूट आफ़ फारेन रिलेशन्स ने पंडित जवाहरलाल नेहरू को भोज दिया था। चित्र में पंडितजी के साथ श्रीमती रूजवेल्ट और श्री फिलिप जेसप हैं। (अक्टूबर १९, १९४९)
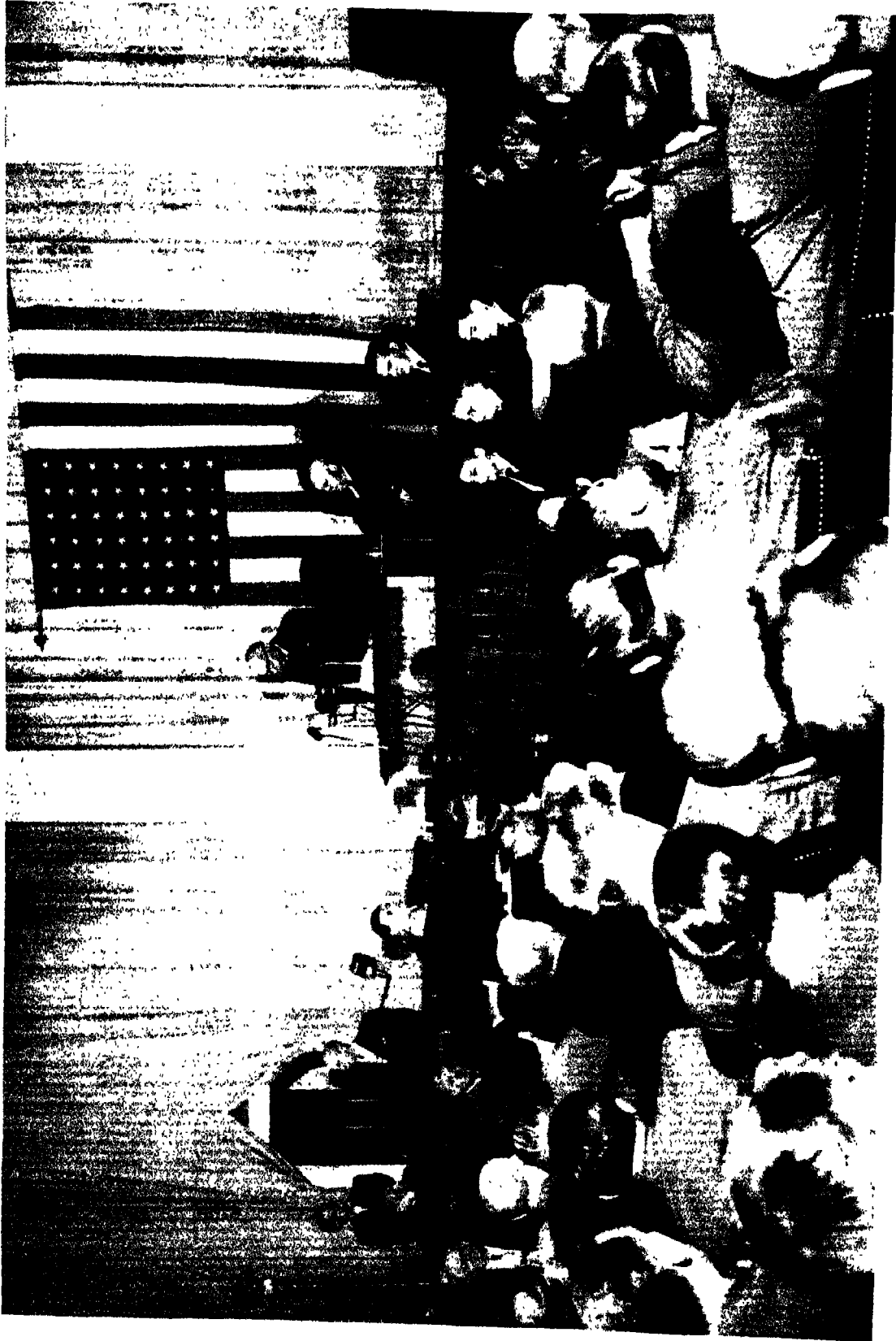
अमरीका की धारा-सभा में भाषण

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपने भाषण में भारत की ओर से 'स्वतन्त्रता न्याय और शान्ति' की सेवा की प्रतिज्ञा की।

जीवन अन्यथा हो भी नहीं सकता था। . . .जवाहरलाल जैसे गतिशील और निरन्तर विकासशील व्यक्ति को अपनी धमनियों में रक्त का प्रवाह शिथिल होने का कोई अन्देशा नहीं है। लेकिन उनके लिए भी खतरे हैं जिनसे सतर्क रहना आवश्यक है।"

जवाहरलाल की शिक्षा मुख्यतया पाश्चात्य थी और उनका मानसिक गठन अब भी यूरोपीय है यद्यपि संघर्ष और भ्रमण के लम्बे वर्षों, तथा देश की निर्धन और अपढ़ जनता के घनिष्ठ सम्पर्क ने उनको भारत के प्रति एक नयी अन्त-र्दृष्टि दी है। धर्म और दर्शन में उनकी रुचि मुख्यतया बौद्धिक है, और भारत के कलाशिल्प और वाङ्मय का उनका ज्ञान एक रसिक का ही है। किन्तु मूलतः वह तपस्वी हैं, क्योंकि इसके बिना यह सम्भव नहीं था कि वह एक पीढ़ी तक अपने को सम्पूर्णतया गान्धी जी के प्रति समर्पित कर दें। किन्तु उनका शिष्यत्व वल्लभभाई पटेल से सर्वथा भिन्न था। जवाहर-लाल जी को कई बार गान्धी जी की कार्य-परिपाटी के बारे में शंकाएँ होती थीं, और वह महात्मा जी की आत्मा की प्रेर-णाओं को भी स्वीकार नहीं कर पाते थे। उनका बुद्धिवाद बहुधा गुरु की सीख से विद्रोह कर उठता, क्योंकि उसमें उन्हें राज-नीतिक वास्तविकता और तात्कालिक आवश्यकता की उपेक्षा नजर आती। किन्तु इन सामयिक शंकाओं, असन्तोष और आस्था की कमी के बावजूद जवाहरलाल आदर्श सैनिक रहे। और यह अनुशासन में रहने वाले सैनिक का रूप उनके दायित्व, चरित्र और निःस्पृह सेवाभाव को जितनी अच्छी तरह प्रतिबिम्बित करता है उतना कदाचित् उनके प्रधान मन्त्रित्व का समय नहीं करता। भारत के प्रधान मन्त्री के रूप में वह प्रायः चित्र-फलक के बीच में इसी लिए रहते हैं कि वह स्वयं ही चित्र हैं।

जवाहरलाल की परिहास-बुद्धि सदैव सजग रहती है। मुस्लिम संस्कृति की विशिष्टता के बारे में वह कहते हैं:

"जनता की ओर देखें तो मुस्लिम संस्कृति के मुख्य चिह्न मालूम होते हैं—एक खास क़िस्म का पैजामा जो न बहुत लम्बा हो और न बहुत छोटा, दाढ़ी रखते हुए मूँछों को सँवारने या काटने का एक खास ढंग, और एक टोंटी-दार लोटा; जब कि इसके मुक़ाबले में हिन्दू संस्कृति के प्रतीक हैं धोती, चोटी और एक दूसरी क़िस्म का लोटा।"

केम्ब्रिज से लौटने पर, ऐसा उन्होंने स्वयं कहा है, उनमें अहंकार बहुत था और खूबी कोई नहीं थी। अपने जीवन के प्रत्येक काल में वह अपने को बिल्कुल तटस्थ होकर देख सके हैं, और कुछ वर्ष पहले 'माडर्न रिव्यू' में 'चाणक्य' के छद्म नाम से उन्होंने अपना जो चित्र खींचा था, बड़ा मार्मिक है।

यह छद्म नाम भी सारगर्भित जान पड़ता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के महामात्य चाणक्य को कभी-कभी भारत का मेकिया-वेली कहा जाता है। जवाहरलाल और चाहे जो हों, चाणक्य या मेकियावेली नहीं हैं। उनमें चाणक्य का सा निःस्वार्थ-भाव तो है लेकिन न तो वैसी तटस्थता है और न वैसी चतुराई; और न कदाचित् शत्रुओं को परास्त करने की या फोड़ लेने की विशेष योग्यता, क्योंकि जवाहरलाल मूलतः सीधे और खरे स्वभाव के हैं। उनके डिक्टेटर बनने का कोई खतरा नहीं है, क्योंकि भारत की वर्तमान परिस्थिति में अगर इसकी गुंजायश भी होती तो भी उनकी बौद्धिकता और विमर्श-शीलता ही इसके प्रतिकूल पड़ती। वास्तव में भारतीय जनमत भी अन्य प्रजातन्त्री देशों की भाँति चंचल और परि-वर्तनशील है और उसे इच्छानुसार संचालित किया जा सकता है। असंख्य देवताओं को मानते रहने पर भी उसकी नैस-र्गिक प्रवृत्ति मूर्त्तिभंजक है; हाल का राजनीतिक इतिहास भी इस खंडनात्मक प्रवृत्ति का निदर्शन करता है। कांग्रेस के मौजूदा संचालकों को भी अपनी लोकप्रियता में अनपेक्षित परिवर्तनों के लिए तैयार रहना चाहिए।

भारत की स्वाधीनता एक बहुत भारी उत्तराधिकार साबित हुई है। नेहरू और उनके सहकर्मियों को बहुत कठिनाई और असाधारण रूप से उलझी हुई समस्याओं का सामना करना पड़ा। लेकिन दो वर्षों के समय में ही जवाहरलाल के नेतृत्व में भारतीय मन्त्रिमंडल ने अराजकता और अव्यवस्था की विस्फोटक शक्तियों को इस हद तक वश में कर लिया है कि अब सन् १६४७ के अन्तिम दिनों की अँधेरी निराशा और नर-हत्या की कल्पना करना भी कठिन हो गया है। शान्ति-स्थापना और देश-रक्षा करने, कश्मीर पर बढ़ते हुए पाकिस्तानी आक्रमण को रोकने, और देश के हृदय में हैदराबाद में चल रहे षड्यन्त्र को कुचलने का उत्तरदायित्व पंडित जवाहरलाल और सरदार पटेल पर ही था। इन सब मामलों में उन्हें आश्चर्यजनक सफलता मिली है। उतनी ही उल्लेखनीय सफलता रियासतों और रजवाड़ों का विलीनीकरण करके राजनीतिक गठन को दृढ़ करने के काम से मिली है।

आधी शती से अधिक समय से भारत राजनीति की संघर्ष-भूमि रहा है। और आर्थिक परिस्थिति या तो ज्यों की त्यों है या और बिगड़ती रही है। और आर्थिक क्षेत्र में नारों से काम नहीं चलता—निर्धनता और दुर्भिक्ष के संकट को

किसी झाड़-फूंक से दूर नहीं किया जा सकता। युद्ध के पाँच वर्षों के निर्मम शोषण ने भारत की आर्थिक नीति को चौपट कर दिया था। युद्ध का अन्त होते ही स्वाधीनता की देहरी पर खड़े भारतवर्ष ने पाया कि कृषि-प्रधान देश हो कर भी अपनी करोड़ों जनता का पेट भरने के लिए उसे बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों से अन्न खरीदना होगा, भले ही इसके लिए दाम भी बहुत अधिक देना पड़े और विदेशों से अपने व्यापार को भी संकुचित करना पड़े। विभाजन के फलस्वरूप वह खाद्य पदार्थ और अपने दो मुख्य उद्योगों—जूट और कपास—के कच्चे माल के लिए दूसरों का मुँह जोहने को लाचार हो गया। अपनी प्राणरक्षा के लिए भारत को एक ओर तो अपनी आवश्यकता-भर खाद्य वस्तु पैदा करने की समस्या हल करनी थी, और दूसरी ओर इतने तैयार माल की निकासी भी करनी थी जिससे कि वह संसार के औद्योगिक राष्ट्रों की प्रतियोगिता में भी विदेशी पूंजी कमा सके। अपने भावी विकास के लिए उसे विदेश से जो माल और यन्त्र खरीदना आवश्यक है वह इसी पूंजी के सहारे मिल सकता है। हमारे देश के दुर्भाग्य से स्वतन्त्रता-युग से पहले की सरकार आर्थिक क्षेत्र में बिल्कुल कोरी और निकम्मी रही थी। फलतः नयी सरकार के पास इन अत्यन्त जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिए न तो यथेष्ट साधन थे और न आवश्यक अनुभव। इनका सामना करने के लिए निरपेक्ष विश्लेषण, अनुभव, मनोवैज्ञानिक सूझ, लचीली बुद्धि और देश के हित में अप्रीतिकर साधनों को बरतने का साहस आवश्यक है। अभी तक नयी सरकार की आर्थिक नीति की त्रुटियाँ ही स्पष्ट दीख पड़ती हैं और स्पष्टतर होती जाती हैं, जिससे जनता में असन्तोष फैलता है और देश के मौजूदा औद्योगिक संगठन की उत्पादक-शक्ति और कम होती है। अर्थशास्त्र निरी भावना या सदुद्देश्यों पर निर्भर नहीं करता और फलतः आश्वासनों, नेक इरादों की घोषणाओं और भावी विकास की बड़ी-बड़ी योजनाओं से जनता की बेचैनी और असन्तोष दूर नहीं हो सकता; न इन उपायों से वह जड़ता दूर की जा सकती है जो आज देश के व्यापार-क्षेत्र पर छायी हुई नज़र आती है।

जवाहरलाल जी का उदार दृष्टिकोण, और अमरीका जैसे उन्नत औद्योगिक देश के अनुभवों से लाभ उठाने की तत्परता शायद वर्तमान दुर्बलता का सुधार करने में सफल हो सकेगी। अगर कैनाडा, जो सन् १९३९ में एक करोड़ आबादी का कृषि-प्रधान देश था, सन् १९४९ में सवा करोड़ आबादी का संसार का चौथा औद्योगिक देश बन जा सकता है, तो कोई कारण नहीं कि भारत की असंख्य जनशक्ति को विदेशी सहायता और स्वदेशी संकल्प के सहारे संगठित करके देश का औद्योगिक विकास न किया जा सके। लेकिन यह तभी सम्भव है जब जनता और सरकार अपनी शक्ति को राजनीतिक की अपेक्षा आर्थिक मोर्चे पर ही केन्द्रित करे। जवाहरलाल जी जानते हैं कि किसी राष्ट्र के राजनीतिक मामलों में विभिन्न, और यहाँ तक कि विरोधी, मतवादों के लिए भी गुंजाइश रह सकती है, जब उनका ध्येय एक ही हो—अर्थात् जनता का कल्याण। लेकिन राजनीतिक लोग स्वभावतया बातून होते हैं और उनके चरम लक्ष्यों की बातचीत कभी-कभी हानिकर भी होती है, विशेषतया जब व्यापारिक जगत् में यों ही मन्दी आ रही है। इन प्रश्नों पर बहुत अधिक विचारविमर्श और दृढ़ संकल्प तथा कर्म की आवश्यकता है, क्योंकि इन्हीं समस्याओं के हल पर यह निर्भर करता है कि भारत एक सम्पन्न और शक्तिशाली राष्ट्र होगा या कि केवल दुनियाँ के पिछड़े हुए और दरिद्र इलाक़ों में से एक जो ग़रीबी, अकाल और मँहगी के कारण निरन्तर लड़खड़ाते हुए चलता है।

अतः जवाहरलाल जी के सामने जो मुख्य काम है, और जिसे पूरा करने में साहस और दृढ़ता की ज़रूरत है, वह यह है कि जनता में प्रचलित मौन असन्तोष और अनिच्छापूर्ण सहमति, निराशापूर्ण उदासीनता या अबोध आलोचना को दूर करें।

प्रत्यवलोकन करने से दीखता है कि जवाहरलाल जी का भारत साधारण राष्ट्र-राज्य के रूढ़ ढाँचे में ही ढलता जा रहा है; लेकिन जब तक भारत के भाग्य-विकास पर महात्मा जी की छाया है तब तक सरकार की नीति में न्याय, सच्चाई और सन्तुलन की रक्षा होती रहेगी। पंडित मोतीलाल नेहरू ने गान्धीवादी राजनीति में प्रवेश करने के पश्चात् एक बार कहा था कि वह इसी में परम सन्तुष्ट होंगे कि उनकी और उनके प्रिय जनों की अस्थियाँ स्वाधीन भारत की आधार-भूमि में मिल जायें। उनकी इच्छा पूर्ण हुई है। नेहरूओं ने बहुत उदारता से अपने को देश के लिए उत्सर्ग किया है, और यह उचित ही है कि आज जवाहरलाल भारत के प्रधान मन्त्री के रूप में भारत के उज्ज्वल भविष्य के प्रतीक बनकर संसार के सामने खड़े हैं। वह अब भी युवा हैं, और यह आशा करना उचित है कि उन सरीखा समर्पित सेवा-व्रती और प्रेरणाशील व्यक्तित्व भविष्य में भी इस देश के इतिहास के निर्माण में महत्त्वपूर्ण स्थान रखेगा।

संयुक्त राष्ट्रों के कार्यालय में

रूज़वैल्ट की समाधि पर

श्रीमती इन्दिरा गान्धी, श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित और श्रीमती एलिनो रूज़वेल्ट पंडितजी को समाधि पर फूल चढ़ाते देख रही हैं। (अक्टूबर १६, १९४९)

भारत तथा उसकी वैदेशिक नीति

ए० रामस्वामी मुदलियर

स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने पर भारतवर्ष के सम्मुख वैदेशिक नीति तथा पर-राष्ट्रों से सम्बन्ध का प्रश्न उपस्थित हो गया है। ब्रितानी आधिपत्य से मुक्त होकर जितनी स्वतन्त्रता देश को वैदेशिक नीति के क्षेत्र में मिली है उतनी अन्य किसी क्षेत्र में नहीं। किसी भी राष्ट्र के स्वतन्त्र होने का विशेष लक्षण यही है कि उसे अपनी वैदेशिक नीति निश्चित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा अधिकार है।

अब तक तो पुरानी व्यवस्था का स्वभाव ही ऐसा था कि भारत को वैदेशिक कार्यों के सम्पादन का न तो कोई अनुभव मिल सका और न मिल सकता ही था। इससे आज देश तथा उसके राजनीतिज्ञों को हानि तथा लाभ दोनों हुए हैं। आज हमारे राजनीतिज्ञों को वैदेशिक नीति की एक परम्परा का निर्माण करना है, उन्हें दूसरे राष्ट्रों के राजनीतिज्ञों के साथ नये सम्पर्क स्थापित करना है; विदेशी सरकारों के दृष्टिकोणों को भली भाँति समझना और उनकी वैदेशिक नीति की पृष्ठभूमि का अध्ययन करना है। लाभ भी समान रूप से स्पष्ट हैं और सम्भवतः वैदेशिक कार्यों में अनुभव की कमी से होने वाली हानि से अधिक ही हैं। भारत को सौभाग्य से अछूता क्षेत्र मिल रहा है; वह नीतियों के बन्धन से मुक्त है, और युक्ति तथा आदर्शों के अनुकूल उचित मार्ग चुनने को स्वतन्त्र है। प्रेज़िडेंट रूज़वेल्ट की बुद्धिमत्ता तथा राजनीति-कुशलता का एक महत्त्वपूर्ण फल यह था कि जून १६४५ में विश्व के शान्ति-प्रेमी राष्ट्रों ने मिल कर संयुक्त राष्ट्रों के चार्टर पर हस्ताक्षर किये; संयुक्त राष्ट्र-संगठन का जन्म हुआ। इसने विभिन्न देशों के वैदेशिक सम्बन्धों पर छाये हुए जंजाल को बहुत कुछ दूर कर दिया। यह सच है कि तीस-एक वर्ष पूर्व स्थापित राष्ट्र-संघ (लीग ऑफ़ नेशन्स) के उद्देश्य भी समान थे। उसका भी सिद्धान्त था कि कोई सन्धि या सैनिक अथवा अन्य प्रकार का समझौता गुप्त रूप से नहीं किया जायगा, और किसी भी प्रकार का समझौता आत्मरक्षा अथवा आक्रमण के हेतु नहीं होगा जो कि विश्व के राष्ट्रों के सामने प्रकाश्य हो। किन्तु फिर भी, कुछ तो अन्तर्राष्ट्रीय संघ के संगठन की त्रुटियों के कारण और बहुत कुछ विभिन्न राष्ट्रों के राजनीतिज्ञों के व्यक्तिगत दोषों के कारण जिस आधार पर लीग का निर्माण हुआ था वह स्थायी न रह सका और जिन उद्देश्यों को लेकर इस संघ की स्थापना की गयी थी वे पूर्ण न हो सके। समस्त राष्ट्रों को आशा है कि लीग की अपेक्षा संयुक्त राष्ट्र-संगठन उस कार्य को अधिक मात्रा में तथा अच्छी तरह पूरा कर सकेगा।

भारत ने अपने वैदेशिक मन्त्री के द्वारा कई बार यह घोषित किया है कि संयुक्त राष्ट्र-संगठन में उसका पूर्ण विश्वास है, उसके चार्टर के अनुसार कार्य करने की उसकी आन्तरिक इच्छा है और संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर द्वारा सौंपे गये उत्तरदायित्वों का पालन वह पूर्ण रूप से करेगा। उसकी वैदेशिक नीति पूर्णतया अडिग रूप से संयुक्त राष्ट्र-संगठन के चार्टर पर आधारित है।

अतः संयुक्त राष्ट्रों के चार्टर के आधारभूत सिद्धान्तों तथा उस संस्था की अब तक की कार्य-पद्धति को समझना आवश्यक है। अपने जीवन के तीन वर्षों में यह संगठन प्रशंसा का, तथा दुर्भाग्यवश उससे अधिक आलोचना का, विषय रहा है। राजनीतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कितने ही प्रथम श्रेणी के व्यक्तियों ने संयुक्त राष्ट्र-संगठन के कार्यसम्पादन तथा विश्व-शान्ति की रक्षा के महान् उत्तरदायित्व को वहन कर सकने की इसकी क्षमता के सम्बन्ध में गहरी निराशा प्रकट की है। किन्तु अगर यह स्मरण रखें कि अभी इस संस्था को बने कितना समय हुआ है और पिछले विश्वयुद्ध से उत्पन्न होने वाली समस्याएँ कितनी विकट थीं; साथ ही राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में भी इस संस्था द्वारा किये गये प्रयासों का पूर्ण अध्ययन करें, तो यह भरोसा होता है कि यह घोर निराशावादिता उचित नहीं है। संयुक्त राष्ट्र-संगठन की प्रतिज्ञा है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति हो, जिसका अस्तित्व मात्र आक्रमणकारी देश को रोक दे। किन्तु इसकी कमज़ोरी उस मूल आधार में ही है जिस पर इस अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण किया जायगा, और उस पद्धति में

है जिससे सुरक्षा समिति अपने निर्णयों पर पहुँचती है। सैन फ़्रांसिस्को के वाद-विवाद में संयुक्त राष्ट्रों को आमन्त्रित करने वाले चार राष्ट्रों तथा फ़्रांस का यह मत था कि सुरक्षा सम्बन्धी सभी विषयों पर पाँचों राष्ट्रों का एक-मत होना आवश्यक है। कई राष्ट्र, जिनमें भारत भी था, इस सर्व-सम्मति पर इतना ज़ोर देने की बुद्धिमत्ता के बारे में अत्यन्त शंकित थे। किन्तु सैन फ़्रांसिस्को कान्फ़्रेंस के समय स्थिति यह थी, जैसा कि इन बड़े राष्ट्रों के कुछ प्रतिनिधियों ने साफ़-साफ़ कहा, कि अगर एक-मत होने की अनिवार्यता को स्वीकार नहीं किया जाता तो कोई संगठन भी नहीं बन सकता। अन्य देशों के प्रतिनिधियों के सम्मुख इस प्रस्ताव को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग ही न था और उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। किन्तु परवर्त्ती घटनाओं ने यह प्रमाणित कर दिया कि जिन देशों ने एक-मत की आवश्यकता पर शंका प्रदर्शित की थी वे ठीक ही थे। और ऊपर हमने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए संयुक्त राष्ट्र-संगठन की उपादेयता तथा सामर्थ्य के सम्बन्ध में जिस निराशावादिता की चर्चा की है, उसका कारण मुख्यतया इन बड़े देशों का क्रमशः स्पष्ट होता हुआ पारस्परिक मतभेद ही है। इसी मतभेद के कारण प्रायः ऐसा होता रहा है कि सुरक्षा समिति द्वारा प्रस्तावित कितनी ही व्यावहारिक योजनाओं को इन बड़े देशों में से कोई न कोई विफल कर देता रहा है। किन्तु इस प्रकार के गतिरोधों द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों के बावजूद भी संयुक्त राष्ट्रों के खुले अधिवेशन (जनरल असेम्बली) की कार्यवाहियों से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है कि इस प्रकार की एक संस्था का होना आवश्यक है और उसने अब तक कितना महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया है।

जनरल असेम्बली, सुरक्षा समिति, सामाजिक-आर्थिक समिति और ट्रस्टीशिप समिति के अधिवेशन सर्व साधारण के लिए खुले होते हैं। सर्वोच्च पदों के राजनीतिज्ञों से यह आशा की जाती है कि वे वहाँ अपने स्वतन्त्र विचारों को लोगों के सम्मुख रखें, और वे ऐसा करते भी हैं। विचारों तथा सिद्धान्तों का यह स्पष्ट संघर्ष ही कदाचित् उस निराशावादिता को जन्म देता है जिसके कारण आलोचक संयुक्त राष्ट्र-संघटन की बुराई करते हैं। किन्तु युद्ध के पूर्व क्या परिस्थिति होती—बल्कि थी? कल तक के कूटनीतिक जगत् की विशेषता यही थी कि विविध राष्ट्रों में गुप्त लिखा-पढ़ी तथा समझौते हुआ करते थे; गुप्त संधियों की अफ़वाहें कूटनीतिक क्षेत्रों से फैल कर यूरोप के शासकों के मन में आतंक उत्पन्न कर देती थीं, और जनता मिथ्या शान्ति तथा सुरक्षा का आश्वासन लिये रहती थी। सुरक्षा कौंसिल तथा जनरल असेम्बली के विवादों में आज के राजनीतिक कितने ही उत्तेजना भरे और गरम व्याख्यान क्यों न दें, पर शब्दों तथा विचारों के इस खुले संघर्ष की अपेक्षा पुरानी गुप्त सन्धियाँ, समझौते और मनोमालिन्य कहीं अधिक ख़तरनाक थे और रहेंगे। संयुक्त राष्ट्रों की सभाओं को वह 'वाल्व' कहा जा सकता है जिसके द्वारा विश्वशान्ति को भंग कर सकने वाली गरमी और तेज़ी निकल जाती है। इसके अलावा आज संसार के लोगों को भी यह पता रहता है कि किन समस्याओं पर विचार हो रहा है और किन प्रश्नों पर कितना गहरा मतभेद है।

संयुक्त राष्ट्र-संगठन की कार्यवाहियों की आलोचना करते समय प्रायः कहा जाता है कि विश्व के अधिकांश देश दो दलों में विभाजित हो गये हैं, एक सोवियत दल और दूसरा प्रजातान्त्रिक दल। यह अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है कि इस प्रकार का विभाजन किया जाता है। सिद्धान्तों तथा मतवादों के संघर्ष से विश्वशान्ति को स्थापित करने में सहायता नहीं मिल सकती। गत युद्ध के दौरान में अमरीका तथा इँग्लैंड ने इस मत का खंडन किया था कि वे सैद्धान्तिक युद्ध में संलग्न हैं; युद्ध तो जर्मनी द्वारा किये गये उन व्यावहारिक कार्यों का फल था जिन्हें प्रजातन्त्री राष्ट्र चुपचाप हाथ पर हाथ धरे बैठे रहकर नहीं देख सकते थे, क्योंकि उनकी अन्तिम परिणति स्पष्ट थी। प्रजातन्त्र विविध प्रकार का हो सकता है। प्रजातन्त्रता का दावा करने वाले तथा वास्तव में प्रजातन्त्र होने वाले देशों में प्रजातन्त्र के रूप अलग-अलग हैं। प्रजातन्त्र की मूल कसौटी यह है कि देश का शासन सर्व-साधारण की इच्छा पर आधारित हो, और उस इच्छा को जानने की समुचित व्यवस्था हो। प्रजातन्त्र राज्य तथा साम्यवादी राज्य को एक दूसरे का विरोधी समझना अथवा यह कहना कि साम्यवादी राज्य अनिवार्यतः प्रजातन्त्र-विरोधी होते हैं, उतनी सीधी बात नहीं जितनी ऊपर से मालूम पड़ती है। किसी देश के शासन का रूप अन्ततः वहाँ की प्रजा की पात्रता पर ही निर्भर होता है, जनता की राजनीतिक शिक्षा जितनी अधिक हो, राज्य की आन्तरिक व्यवस्था उतनी ही उन्नत होती है। दोषपूर्ण तथा अवांछनीय स्थिति तो तब पैदा होती है जब कोई देश गुप्त अथवा प्रकट साधनों से, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दबाव से, अपनी विशेष शासन-प्रणाली को दूसरे किसी पर लादने का प्रयास करता है। अगर कोई राज्य खुले प्रचार और अपने सिद्धान्तों के स्पष्ट समर्थन को छोड़ गुप्त साधनों से या 'पाँचवें

दस्तें' के उपयोग से दूसरे देशों की शासन-व्यवस्था को बलपूर्वक प्रभावित करने का और वहाँ की राजनीतिक प्रणाली को बदलने का प्रयत्न करता है, तो वह राज्य वास्तव में विश्व-शान्ति तथा सुरक्षा के प्रति सबसे गम्भीर अपराध का दोषी है। और इस प्रकार के शान्ति-नाशक कार्यों को प्रत्येक सम्भव उपाय से तथा प्रत्येक अवस्था पर रोकना चाहिए। दोषी देश चाहे कोई हो, यह निश्चित करने के लिए कि कौन-सा कार्य निन्दनीय है और कौन नहीं, यह समझना आवश्यक होगा कि किसी विशेष राज्य की आन्तरिक शासन-प्रणाली कैसी है और उसके वैदेशिक कार्य किस प्रकार उसके सिद्धान्तों का दबाव अन्य देशों पर डालते हैं।

अतः भारत ने अपने को किसी भी दल में सम्मिलित न करके उचित मार्ग का अनुसरण किया है। जैसा कि यहाँ के प्रधान मन्त्री ने कई बार कहा है, भारत यह आशा करता है कि वह विरोधी दृष्टिकोणों के बीच मध्यस्थ का कार्य कर सकेगा और दो विरोधी सिद्धान्तों को मिलाने में पुल का कार्य करेगा। जहाँ तक विरोधी सिद्धान्तों का प्रश्न है, अगर इनके कार्यक्षेत्र भली भाँति निर्धारित हैं और उनको लोग अच्छी तरह से समझते हैं तो उनसे किसी प्रकार की हानि न होगी और किसी को कोई आपत्ति न होनी चाहिए। मध्यस्थता का कार्य सरल नहीं है और इससे देश की सद्भावना पर प्रायः सन्देह तथा शंका होने की सम्भावना है। कहा जाता है कि स्वर्गीय जॉन मैसारिक से जब लोगों ने यह कहा कि उनका देश दो देशों को परस्पर मिलाने का कार्य कर सकता है तो उन्होंने उत्तर दिया था कि 'पुल को दोनों किनारों के लोग पैरों तले रौंदते हैं।' यद्यपि चेकोस्लोवाकिया के विदेश-मन्त्री के इस कथन को शब्दशः नहीं लेना चाहिए, तथापि भारतवर्ष को यह जानते हुए भी अपने कार्य के लिए तैयार रहना चाहिए कि मित्र देश भी उसकी स्थिति का ग़लत अर्थ लगा सकते हैं।

एशिया तथा सुदूर पूर्व में भारत की स्थिति अद्वितीय है। भारत की वास्तविक स्थिति का सही वर्णन यही विशेषण करता है; भारत 'एशिया के देशों का नेता' अथवा इन देशों में सब से महत्त्वपूर्ण कहना उतना सार्थक नहीं है। हाल ही में स्विटज़रलेंड में हमारे प्रधान मन्त्री ने कहा था कि किसी देश की लम्बाई-चौड़ाई तथा वहाँ की जन-संख्या देश को महत्त्वपूर्ण नहीं बनाती; देश अपने निवासियों के कार्यों द्वारा ही गौरव पाता है :—उनके कठिन परिश्रम से, देश के औद्योगिक विकास और सामाजिक स्थिरता से, तथा विश्व-शान्ति की रक्षा के हेतु लोगों के दृढ़ संकल्प से। भौगोलिक स्थिति के कारण तथा विश्व के इस भाग में शान्ति स्थापित करने और आसपास के देशों में शान्ति का सन्देश पहुँचाने की जो आशा भारतवर्ष से की जा रही है उसी से भारत का स्थान अद्वितीय होता है। अगर भारत को एशिया का नेतृत्व मिलता है तो वह अपने कहने से नहीं मिलेगा, नेतृत्व मिलने के लिए आवश्यक है कि इस विशेष क्षेत्र की तथा विश्व की शान्तिमय उन्नति के लिए भारत द्वारा आज तक की गयी अथवा भविष्य में भी की जाने वाली सेवाओं को अन्य देशों के लोग स्वीकार करें। किसी भी देश की वैदेशिक नीति मुख्यतया वहाँ की आन्तरिक शक्ति, उन्नति तथा सम्पन्नता पर आधारित होती है। विदेश में भारत के प्रतिनिधियों को देश के अन्दर की व्यापक शान्ति तथा शक्ति से ही बल मिलता है। इस शान्ति का प्रमाण राष्ट्र की एकता तथा दृढ़ता है, और शक्ति का पता समय पर एकत्र किये जा सकने वाले सैनिकों की संख्या की अपेक्षा देश की आर्थिक सम्पन्नता से ही अधिक चलता है। अतएव विश्व-शान्ति तथा सुरक्षा स्थापित करने के कार्य में भारत, अथवा जो भी दूसरा देश योग देना चाहता है, उसमें आन्तरिक शान्ति तथा सुरक्षा का होना अत्यन्त आवश्यक है।

भारत के दो प्रमुख नेताओं ने, जो आज देश के प्रधान मन्त्री, तथा उप-प्रधान मन्त्री के पद को सुशोभित कर रहे हैं, जिस दृढ़ संकल्प तथा तत्परता से नये शासन के प्रथम कर्त्तव्य को निभाया है और देश की शक्ति को संगठित करके आन्तरिक शान्ति की रक्षा की है उससे विश्व के राजनीतिज्ञ विशेष प्रभावित हुए हैं। इन नेताओं ने देश को फिर से एकता तथा समानता के सूत्र में बाँध दिया है। प्रारम्भ में देश की केन्द्रीय सारी शक्तियों को देखकर कुछ ऐसे राष्ट्रों की, जो भारत के प्रति मित्रता की भावना नहीं रखते थे, यह धारणा थी कि देश अव्यवस्था तथा अशान्ति का शिकार होगा। पर हमारे नेताओं के प्रयास से ही पुनः विश्व के राजनीतिज्ञों में यह विश्वास उत्पन्न हो रहा है कि भविष्य में भारत को महत्त्वपूर्ण कार्य करना है। नारों की अधिक परवाह न करके, तथा शासन के स्थायित्व तथा राज्य की एकता से सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं पर अत्यधिक तर्क-संगति का मोह न करके, देश ने अपने प्रमुख नेताओं के परामर्श से एकता की पुनः स्थापना की है और इस प्रयास में बाधा डालने वाली शक्तियों का दृढ़ता-पूर्वक मुक़ाबला किया है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में आज

इन्हीं बातों का प्रभाव अधिक है; किसी भारतीय द्वारा देश की महत्ता अथवा नेतृत्व के दावे का इतना असर न हो सकता। देश की आन्तरिक शक्ति तथा प्रगति अनिवार्यतः विदेशी सम्बन्धों को अधिक मजबूत बुनियाद पर स्थापित करती है। यद्यपि यह दुःख की बात है कि विदेशों से पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता का देश में उचित स्वागत नहीं किया जा रहा है। प्रायः वही लोग जो भारत की महत्ता की डींग मारते हैं तथा यह कहते हैं कि भारतवर्ष को भविष्य में शानदार कार्य करने हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारों में उल्लेखनीय योग देना है, विदेशों से जोड़े गये दौत्य सम्बन्ध की बड़ी आलोचना भी करते हैं। अगर इस बात की ओर ध्यान दिया जाय कि लातीनी अमरीका तथा यूरोप के कितने छोटे से छोटे देश क्षेत्रफल, जनसंख्या और साधनों में छोटे होते हुए भी विश्व के प्रायः सभी देशों से दौत्य सम्बन्ध स्थापित किये हुए हैं, और भारत ने अभी उनकी अपेक्षा कम ही दूतावास स्थापित किये हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ये आलोचनाएँ दूतावासों के कर्तव्यों अथवा कार्य-प्रणालियों के विषय की अनभिज्ञता के कारण ही होती हैं। दूसरे देशों की नीति को समझने, भारत तथा अन्य देशों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने, ऐसे देशों से भारत के वाणिज्य-व्यवसाय के सम्बन्ध को प्रोत्साहन देने, तथा इन सबके अतिरिक्त संसार में वैदेशिक नीति की दिशा को भली भाँति समझने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि भारत संसार के सभी देशों से दौत्य सम्बन्ध स्थापित करे।

भारत के प्रधान मन्त्री यहाँ के वैदेशिक मन्त्री भी हैं। यह कहना उनकी अतिप्रशंसा नहीं होगी कि अन्य भारतीयों की अपेक्षा वह बहुत अधिक समय से वैदेशिक मामलों के अध्येता रहे हैं और अन्तर्राष्ट्रीय नीति सम्बन्धी गहरी दिलचस्पी लेते रहे हैं। विश्व-शान्ति की स्थापना, और राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रों में उचित स्थिति पैदा करने के लिए उन्होंने जो उत्साह दिखाया है वह सबको ज्ञात है। आजादी की आशा से वर्षों पहले, जब अभी यह कल्पना भी न की जाती थी कि अगले दो-चार दशकों में भारत की अपनी पर-राष्ट्रनीति हो सकेगी, पंडित नेहरू अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में दिलचस्पी ले रहे थे और इस देश की वैदेशिक नीति को प्रभावित करने का प्रयास करने लगे थे। सन् १९३८ में जब गत युद्ध के पूर्व उन्होंने यूरोप की यात्रा की थी तो उन्होंने फ्रांको के शासन के विरुद्ध इस्पानी विद्रोह में अत्यधिक दिलचस्पी ली थी और प्रजातन्त्र शासन तथा जीवनानुकूल परिस्थितियों के लिए लड़ने वालों को प्रोत्साहन देने वहाँ गये भी थे। वैदेशिक मामलों का सूत्र उनके हाथों में होने से यह निश्चित है कि भारत शान्ति के मार्ग का ही अनुसरण करेगा और संयुक्त-राष्ट्रसंगठन तथा अन्य साधनों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में उस शान्ति तथा सद्भावना का प्रचार करेगा जिसकी आज मानवता को अत्यधिक आवश्यकता है।

जून १९४९
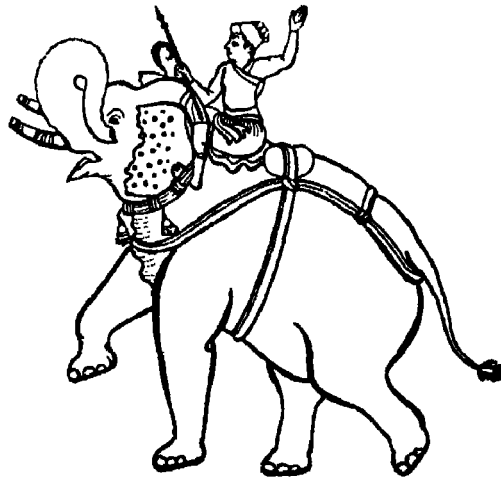
साम्राज्यवाद या केन्द्रवाद

आर्थर आर० एम० लोअर

एक कैनाडा के निवासी के लिए यह सम्मान की बात है कि उससे एक ऐसे ग्रन्थ के लिए लेख माँगा गया है जो भारत के एक महान् और कुशल शासक पंडित नेहरू के चरणों में अर्पित किया जाने वाला है। किन्तु यह सम्मान युक्ति-संगत भी है। क्योंकि कैनाडा ही वह प्रथम देश था जिसने केन्द्र के साथ मित्रता रखते हुए स्वतंत्र शासन की वह लीक डाली जो आज एक प्रशस्त मार्ग बन गयी है और जिसका सबसे नया यात्री भारत ही है तथा जिसने समान विचार रखनेवाले देशों के साथ स्वेच्छा-सम्बन्ध का नाता जोड़ा है।

अठारहवीं सदी में केन्द्र और उपनिवेश का सम्बन्ध एक विकट समस्या थी। जार्ज तृतीय की ब्रितानी सरकार पूरा प्रभुत्व या कम से कम प्रभुत्व के क़ानूनी प्रतीक चाहती थी। तेरहों उपनिवेश स्वायत्त शासन का आग्रह कर रहे थे, यद्यपि वह राजा के प्रति भक्ति का नाता रखना चाहते थे। लार्ड नार्थ की टोरी सरकार और टोरी सम्राट् जार्ज तृतीय की कट्टरता के कारण पुराना शिथिल सम्बन्ध असम्भव हो गया था। दोनों पक्ष अपने अधिकारों पर अड़े थे। परिणाम हुआ अमरीका की क्रान्ति और प्रथम ब्रितानी साम्राज्य का पतन।

अक्सर कहा जाता है कि ब्रितान ने अमरीका को खो कर साम्राज्य का भेद सीखा कि किस प्रकार स्वाधीनता दे कर भी एक सीमित नियंत्रण रखा जा सकता है। सन् १७८४ से लेकर आज तक का ऐतिहासिक अनुक्रम इस का समर्थन करता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि उपनिवेश के हाथ से चले जाते ही इंग्लैंड की नीति में आमूल परिवर्तन हो गया और वह सम्पूर्ण प्रभुता से स्थानीय स्वराज्य की ओर चल पड़ा, बल्कि उस समय तो ठीक इसके विरुद्ध हुआ। अमरीका की क्रान्ति के समय जो व्यक्ति उपनिवेशों के लिए उत्तरदायी थे उनकी सन् १७८३ के पश्चात् से ही यही धारणा रही कि उपनिवेश उनके हाथ से इसलिए निकल गये कि उनको बहुत अधिक स्वतन्त्रता थी, न कि बहुत कम। वहाँ लोकतन्त्रात्मकता अधिक थी, अभिजात वर्ग नहीं था, धार्मिक स्वच्छन्दता अधिक थी और स्थापित चर्च धार्मिक-नियन्त्रण कम; और कुछ प्रान्त बहुत विस्तृत और शक्तिशाली हो गये थे। फिर सन् १७८९ में फ़्रांस में क्रान्ति हुई, जिसने उस समय के इंग्लैंड में प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियों को और भी प्रज्वलित कर दिया। प्रधान मन्त्री विलियम पिट एक महान् उदारपन्थी का पुत्र होकर भी धीरे-धीरे कट्टरपन्थी बन गया। उदारपन्थियों में अग्रणी एडमंड बर्क भी अन्ततोगत्वा कट्टरपन्थी हो गये, नाम से नहीं तो कर्म से। फ़्रांस की क्रान्ति ने उसी समय के उदार विचार वालों पर वैसा ही प्रभाव डाला जैसा कि आज साम्यवाद डाल रहा है। उसने उत्तेजक का काम किया : कुछ उदार दलीय पूरे वामपक्षी बन गये और याकोबिन दृष्टिकोण को अपनाने लगे, कुछ दक्षिण पक्ष की ओर गये और कट्टर प्रतिक्रियावादी बन गये। अधिकांश भ्रान्त और प्रायः निष्क्रिय रह गये।

इसलिए क्रान्ति के बाद के प्रथम औपनिवेशिक कार्यक्रम की प्रवृत्ति (यदि हम पिट् के सन् १७८४ के इंडिया एक्ट को छोड़ दें) अनुदार ही थी, और वह प्रतिक्रियावादी नहीं तो निश्चित रूप से परिवर्तन-विरोधी था। विभाजन द्वारा शासन की नीति पर उसने नोवास्कोटिया को तीन छोटे सूबों में बाँट दिया—नोवास्कोटिया, नया ब्रंसविक, और केप ब्रिटेन (१७८४)। सन् १७९१ के कैनाडा वैधानिक एक्ट नामक महत्त्वपूर्ण शासन द्वारा उसने पुराने क्वेबेक प्रदेश को ऊपरी और निचले कैनाडा में विभाजित कर दिया। यद्यपि यह अंग्रेज़ी और फ़्रेंच भाषाभाषी प्रदेशों के आधार पर ही किया गया था। इस क़ानून में उपनिवेश में एक नये सामन्त वर्ग की व्यवस्था की गयी थी, (सौभाग्य से उस पर कभी अमल नहीं किया गया) और इंग्लैंड की चर्च को जागीरें भी दी गयी थीं। इंग्लैंड के चर्च तर्केविश्ल पहले से ही प्रतिष्ठित हो चुके थे। व्यवस्थाओं के भार को हलका करने वाली एक बात यह थी कि दोनों प्रान्तों को व्यवस्थापिका सभाएँ दी गयी थीं। अंग्रेज़ी भाषाभाषी प्रान्त को यह अधिकार देना, और वह भी फ़्रांस की क्रान्ति के दिनों में, एक साहसपूर्ण और उदार क़दम था।

अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत इस प्रथम ग़ैर-अंग्रेजी सभा को मार्गदर्शक का कार्य करना था। ऐसी व्यवस्थापिका की, जिसे वाद-विवाद का और अर्थसंचालन का अधिकार तो हो किन्तु अपने क़ानून बनाने का या शासन यन्त्र के नियन्त्रण का अधिकार न हो, बिना चिमनी की आग के साथ तुलना की जाती है। बिना चिमनी की आग वह सचमुच में सिद्ध हुई, और प्रतिनिधि सरकार के प्रारम्भ होने के आधी शताब्दी बाद सन् १८३७ के विद्रोह में वह खतम हो गयी। ये विद्रोही अंशतः ही जातीय थे, क्योंकि कैनाडा के दोनों भागों में ठीक एक-से कारणों ने विद्रोहों को प्रेरित किया। दोनों विद्रोह मामूली थे और विद्रोहियों की संख्या अल्प थी, किन्तु उनके परिणाम बहुत गम्भीर थे। वास्तव में सन् १८३७ के नवम्बर-दिसम्बर में गिराये गये थोड़े-से रक्त के बिन्दु ही थे जिन्होंने ब्रितानी साम्राज्य के बाद के इतिहास की दिशा निश्चित की। क्योंकि उसी के तत्काल परिणाम-स्वरूप लार्ड डर्बन को अनुसन्धान करने के लिए भेजा गया और उन्होंने अपनी प्रसिद्ध रिपोर्ट में कैनाडा के राजनीतिज्ञ राबर्ट बाल्डविन द्वारा सुनायी हुई नीति का अनुमोदन करते हुए उत्तरदायी सरकार की सिफ़ारिश की जिसके लिए बाल्डविन लगभग दस वर्ष से आन्दोलन कर रहे थे।

उत्तरदायी सरकार—अर्थात् कैनाडा की सरकार पर सम्राट् के उन मन्त्रियों का पूर्ण अधिकार जिन्हें व्यवस्थापिका सभा में बहुमत प्राप्त हो—साम्राज्य के सम्बन्धों में एक नवीन युग का मूल सिद्ध हुई। किन्तु यह विकास एकाएक नहीं हुआ। सन् १८४१-४६ की सर राबर्ट पील की अनुदार सरकार के उपनिवेश-मन्त्री लार्ड स्टैनली का मत था कि यह तो कैनाडा के अलग हो जाने के तुल्य है, और उसने गवर्नरों को आदेश दिया कि जहाँ तक हो सके, सत्ता उन स्थानीय विशेषाधिकार युक्त गुटों के हाथ में ही रखी जाय जिनके कारनामों के कारण ही विद्रोह हुआ था। लार्ड जान् रसेल के उदार मन्त्रिमंडल के पदासीन होने के बाद ही पूर्ण और स्पष्ट रूप से स्वायत्तशासन दिया गया। जॉन रसेल का उपनिवेश-मन्त्री अर्ल ग्रे इसी लिए इंग्लैंड के सब से अधिक दूरदर्शी राजनीतिज्ञों में गिना जाता है।

उत्तरदायी शासन देने का एक कारण उस समय प्रचलित कर्म-स्वच्छन्दता (लेसेफ़ेयर) की विचारधारा थी। इस विचारधारा का मूल सिद्धान्त यह है कि हर लोटे को अपनी पेंदी पर खड़ा होना चाहिए। अर्ल ग्रे इस मत के प्रधान प्रचारक थे।

उत्तरदायी शासन दिये जाने के पश्चात् कैनाडा की प्रगति अनवरत एक ही दिशा की ओर जा रही है—पूर्ण स्वराज्य की ओर। प्रत्येक विवाद में कैनाडा ने विकेन्द्रीकरण का पक्ष लिया है। साम्राज्य परिषद् (एम्पायर कौंसिल) का कैनाडा द्वारा विरोध इसका उल्लेखनीय उदाहरण है। और सन् १९१७-३१ के पुनर्निर्माण काल में कैनाडा का रुख और भी स्पष्ट हो गया। इसी के फलस्वरूप वेस्टमिंस्टर का विधान बना जिसने साम्राज्य को कॉमनवेल्थ के रूप में परिणत कर दिया।

अभी हाल के सम्मेलन के निर्णयों में, जिसके कारण भारत ने एक ही परिवार के अन्य देशों के साथ रहना स्वीकार किया, कैनाडा का कितना भाग था यह अभी अज्ञात है। तथापि भारत की मनोनीत शासन-पद्धति को कैनाडा के प्रतिनिधियों ने अधिक महत्त्व न दिया होगा। कैनाडा के अधिकांश निवासी राजतन्त्र के समर्थक होंगे, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारा राजतन्त्र प्रत्यक्ष कभी नहीं दीखता। हमारी शासन-व्यवस्था राजतन्त्रमूलक तो है पर व्यवहार में लोकतन्त्र से उसका भेद करना कठिन है। अतएव यदि भारत के निवासी एक पारिभाषिक राजतन्त्र की अपेक्षा एक पारिभाषिक लोकतन्त्र को अधिक पसन्द करेंगे तो हम इसे उनकी अपनी पसन्द कह कर छोड़ देंगे। वास्तविक कसौटी दो तरह से हो सकती है: क्या भारत मित्र बनाने योग्य है, क्या भारत वैसी स्वतन्त्रता क़ायम रखेगा जिसे कैनाडा परम्परा से जानता है? पहले प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता है और दूसरे का भी एक ही उत्तर होगा, ऐसी हम आशा करते हैं।

इस प्रकार कैनाडा यह मान ले सकता है कि वह स्वयं अपने द्वारा निर्मित संगठन में भारत का स्वागत कर रहा है। उसी ने यह आविष्कार किया कि किस प्रकार बिना मनोमालिन्य के स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है; और इस आविष्कार के कारण कॉमनवेल्थ सम्भव हुई। अब भारत ने उसी का पदानुसरण किया है। भूतपूर्व ब्रितानी साम्राज्य के और कई भागों ने भी उसी पथ की यात्रा की है। एक ही भाषा और जाति वाले प्रदेशों के लिए यह यात्रा सुकर थी। क्वेबेक (निचला कैनाडा), दक्षिणी अफ़्रीका, आयरलैंड, और अब भारत, पाकिस्तान तथा बर्मा के लिए वह अधिक क्लेशपूर्ण रही है, पर वे भी मंज़िल पर पहुँच गये हैं। इतिहासज्ञों को यह लक्ष्य करने में चूकना न चाहिए कि प्रगति की विभिन्न अवस्थाएँ ब्रितान में उदार, लिबरल या मज़दूर सरकार के साथ ही आयी हैं।

यूरोप के प्रसार के विवेचन में प्रायः मान लिया जाता है कि प्रसार का अर्थ है साम्राज्यवाद, और साम्राज्यवाद राष्ट्रीय, जातीय और सैनिक होता है, और उसका मुख्य लक्षण है एक राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र का आधिपत्य। कैनाडा का अनुभव इस पूर्व धारणा को बदल देता है। कैनाडा का आविर्भाव फ्रांसीसी अमल में खालों के व्यापार और धर्मप्रचार के जोश के कारण हुआ। सन् १७६३ की ब्रितानी विजय के पश्चात् ब्रितान के साथ कैनाडा के सम्बन्ध का आधार सैनिक उतना नहीं था जितना कि आर्थिक और भावना-मूलक। भारत की स्थिति स्पष्टतया भिन्न रही किन्तु यहाँ भी आर्थिक सम्बन्ध प्रमुख रहा। वह सैनिक सम्बन्ध से डेढ़ शताब्दी पहले आया, और इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि ब्रितानी सैनिक शासन की स्मृति तक मिट जाने पर भी यह सम्बन्ध बहुत दिनों तक बना रहेगा।

यदि अमरीका की खोज से लेकर आज तक आर्थिक जगत् के इतिहास का अध्ययन किया जाय तो, लेखक के मत से, यही निष्कर्ष निकलेगा कि साम्राज्यवाद की कल्पना को, जो सरसरी तौर पर इस काल की प्रधान विशेषता जान पड़ती है, परिष्कृत और उदात्त करके अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। हमारे सामने सुविधाजनक परिस्थितियों में पनपने वाले समाजों के चार शताब्दियों के गतिशील विकास का दृश्य है। ये समाज कहीं अर्धराष्ट्रीय हैं, जैसे फ़िलिप द्वितीय का इस्पान, कहीं सम्पूर्ण राष्ट्रीय जैसे एलिज़बेथ का इंग्लैंड, और कभी बड़े-बड़े व्यापार केन्द्र नगर, जैसे सेवील, एंटवर्प और लंडन। पूरे काल का विवेचन करने से यही परिणाम निकलेगा कि राष्ट्रीय राज्यों की अपेक्षा व्यापारिक केन्द्रों का महत्त्व अधिक रहा है। व्यापारिक नगरों के निवासियों के अध्यवसाय से वे नगर धीरे-धीरे उस क्षेत्र का प्रसार बढ़ाते रहते हैं जहाँ से उन्हें उपयोगी माल मिल सकता है। वे इस क्षेत्र पर अपना अधिकार भी दृढ़तर करते जाते हैं, और इसका रूप आर्थिक से बदल कर राजनीतिक होता जाता है। बहुधा ये नगर उस देश की नीति को भी निर्धारित करने की शक्ति रखते हैं जिसके वे स्वयं एक भाग हैं। एक महानगर का ऐसा प्रभाव-विस्तार तो यहाँ तक बढ़ा कि सारी दुनिया में छा गया। यह महानगर था लंडन, जो अपने ढंग का श्रेष्ठ उदाहरण है।

किन्तु दूसरे देशों में भी यही क्रम घटित हुआ। कैनाडा में लारेंस नदी के मुहाने पर बसे हुए मांटरीएल ने व्यापार, आवागमन और अर्थ का ऐसा विस्तार फैलाया, कि महाद्वीप के पार प्रशान्त महासागर के तट पर बसे हुए वेंकूवर में उसका प्रभाव हुआ। भारत में गंगा के समतल प्रदेश पर कलकत्ते का कदाचित् वैसा ही आधिपत्य है। हाँ, जब यह व्यापारिक प्रसार इतना बढ़ जाता है कि गोला-बारूद की मदद आवश्यक हो जाती है, तब सैनिक, लाटगवर्नर और हाकिम भी आते हैं और तब नगर केन्द्रवाद भी एक दूसरा ही रूप धारण कर लेता है, जिसे कदाचित् साम्राज्यवाद कहना अधिक युक्तिसंगत है।

किन्तु रचना का ताना-बाना वही रहता है। नगर केन्द्र अपने हितों की रक्षा करना चाहता है और सारे पृष्ठवर्ती प्रदेश का उपयोग अपने कार्य के लिए करना चाहता है। अन्त में पृष्ठवर्ती प्रदेश अपने पृष्ठवर्ती रूप को पहचान लेता है, और तब कहीं कोई संगठित सामूहिक रूप लेकर उपनिवेश, प्रान्त, डोमिनियन कुछ भी नगर केन्द्र के विरुद्ध उठ खड़ा होता है। नगर केन्द्र, चाहे दब जाता है, चाहे लड़ता है। अन्ततोगत्वा उसमें विशेष अन्तर नहीं होता। क्योंकि नया संगठन फिर अपने जीवन का नियंत्रण आरम्भ करता है, उससे नयी ऐतिहासिक स्थिति उठ खड़ी होती है, और एक नया विकासक्रम आरम्भ हो जाता है।

अंग्रेज़ी-भाषियों के लिए इस चक्र का आरम्भ अमरीका के स्वाधीनता के युद्ध से हुआ। कैनाडा ने इसके आवर्तन को बल दिया, और अब हिन्द महासागर के नये देश उसे पूरा कर रहे हैं। अब इतिहास का एक नवीन क्रम प्रारम्भ होने वाला है। इतिहासज्ञ केवल यह आशा कर सकते हैं कि उस क्रम के प्रवर्तक पिछले अनुभव से लाभ उठा कर उससे श्रेष्ठतर मार्ग पकड़ेंगे।

मई, १९४९

आर्थिक अनुसन्धान तथा शिक्षण-संस्था

चन्दूलाल नगीनदास वकील

आर्थिक सेवा विभाग की आवश्यकता

द्वितीय महायुद्ध के दौरान में भारत सरकार के आर्थिक कार्यों में बड़ी द्रुत गति से वृद्धि हुई। शीघ्र ही यह अनुभव किया जाने लगा कि नयी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत सरकार के आर्थिक परामर्शदाता का कार्यालय, जो कुछ वर्ष पहले स्थापित किया गया था, पर्याप्त नहीं है। फलस्वरूप आर्थिक विवरण तथा आँकड़ों के संग्रह करने के लिए समय-समय पर कई विभागों ने अपने-अपने अलग उपविभाग खोले। जब भारत सरकार ने युद्धोत्तर आर्थिक पुनःसंगठन-योजना बनाने का कार्य हाथ में लिया तब इस प्रकार के विभाग की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया। कुछ अंश तक प्रान्तों में भी ऐसा ही हुआ। राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के पश्चात् तो राज्य के आर्थिक कर्तव्यों में मौलिक परिवर्तन हुए, और इन कर्तव्यों का क्षेत्र और भी व्यापक हो गया। इसी कारण एक कुशल आर्थिक अनुशीलन विभाग की आवश्यकता अधिक महसूस की जाने लगी। इसके लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है कि आँकड़ों तथा अन्य विवरणों का संग्रह करने, या मन्त्रियों और सचिवालयों के लिए नीति-निर्धारण अथवा कार्य-संचालन के लिए टिप्पणी आदि तैयार करने के लिए उपविभाग स्थापित कर दिये जायें। इसके अतिरिक्त आज हमें ऐसे कुशल शिक्षाप्राप्त अधिकारियों की आवश्यकता है जो स्वतन्त्र व्यवस्था और प्रबन्ध की योग्यता रखते हों, और स्वयं उन विभागों का उत्तरदायित्व ले सकें जिनमें आवश्यक आर्थिक महत्त्व के कार्यों का समावेश हो। ब्रितानी शासन-काल में तो भारतीय सिविल सर्विस का सदस्य प्रत्येक काम के योग्य समझा जाता था। उसका अध्ययन और शिक्षा चाहे जिस विषय की क्यों न रही हो, यह मान लिया जाता था कि वह सभी विभागों के उत्तर-दायित्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन भली भाँति कर सकता है। यह स्थिति ऐसी शासन-व्यवस्था में शायद ठीक ही थी जिसमें नौकरशाही शासन-प्रबन्ध का अनुभव ही शासन-यन्त्र की मुख्य आवश्यकता समझी जाती थी, और जहाँ सर-कार का एकमात्र कर्त्तव्य विदेशी सत्ता के लिए देश में शान्ति तथा नियम क़ायम रखना होता था। यह मानना ही पड़ेगा कि भारतीय सिविल सर्विस के कुछ सदस्य ऐसे मामलों में भी कुशल प्रबन्धक साबित हुए जिनमें आर्थिक सूझ और ज्ञान अपेक्षित था, पर इसके साथ-साथ यह भी उतना ही सच है कि इसी सर्विस के कहीं अधिक सदस्य, युद्धकाल में भी और उसके बाद भी, ऐसे कार्यों को सँभालने में बुरी तरह असफल रहे। यह कहना सिविल सर्विस के सदस्यों पर व्यक्तिगत आरोप लगाना नहीं है, यह तो केवल इस बात पर ज़ोर देना है कि देश की बदली हुई परिस्थिति के लिए आवश्यक आर्थिक अनुशीलन की योग्यता तथा शिक्षा उस शिक्षा से सर्वथा भिन्न होगी जो भारतीय सिविल सर्विस के सदस्यों में अपेक्षित होती थी। आज जिस भारतीय शासन-प्रबन्ध सर्विस (इंडियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस) का संगठन किया जा रहा है, उसकी रूपरेखा भी पुरानी आई० सी० एस० पर ही आधारित है। इसका भी मुख्य उद्देश्य शासन-प्रबन्धक तैयार करना ही है।

हाल में भारत सरकार तथा प्रान्तों के उत्तरदायी मन्त्रियों ने इस बात की शिकायत की है कि कई प्रकार के कार्यों के लिए उन्हें योग्य व्यक्ति ही नहीं मिलते। उदाहरणार्थ आज विदेशों के लिए व्यापारिक प्रतिनिधि (ट्रेड कमिश्नर) के पद के योग्य व्यक्ति मिलना कठिन हो रहा है। इसी प्रकार विभिन्न सरकारी विभागों तथा अर्ध-सर-कारी संस्थाओं के लिए समुचित आर्थिक शिक्षा पाये हुए लोग नहीं मिलते। व्यवहार में तो यह होता है कि आई० सी० एस० या आई० ए० एस० के सदस्य विभिन्न सरकारी विभागों के प्रमुख पदों पर पहुँचकर अपने अधिकार तथा प्रभुत्व को छोड़ना नहीं चाहते और बनाये रखने के लिए संगठित चेष्टा करते हैं, चाहे उस कार्य-विशेष के लिए

वे कितने ही अयोग्य हों या उनकी अयोग्यता सर्व-विदित ही हो। परिणाम यह होता है कि सरकारी विभागों में जो इने-गिने अर्थशास्त्रज्ञ हैं वे केवल परामर्शदाता ही रहते हैं। न तो वे नीति-निर्माण में अपनी राय जाहिर कर सकते हैं और न उनको उन नीतियों को कार्यान्वित ही करने दिया जाता है। जिन क्षेत्रों का कार्य विशेष वैज्ञानिक शिक्षा तथा टेकनीकल ज्ञान माँगता है, उनमें तो साधारणतया ऐसी परिस्थिति नहीं आती, क्योंकि विशेष टेकनीकल कार्यों में हस्तक्षेप करने से अधिकारी स्वभावतः घबराता है और ऐसे मामलों में विशेषज्ञ की राय मानने या उसी को कार्य-भार सौंपने के लिए तैयार रहता है। पर इसके विपरीत ऐसे मामलों में, जहाँ आर्थिक शक्तियों को समझने की आवश्यकता रहती है, कोई सामान्य व्यक्ति भी अपनी राय देने की कोशिश करता है। व्यापारी यह समझता है कि अर्थशास्त्र सम्बन्धी उसके मत और निर्णय, अर्थशास्त्रज्ञ के मत या निर्णय से अधिक अच्छे तथा युक्तियुक्त होते हैं, क्योंकि उसके पास सम्पत्ति अधिक है। सरकारी अधिकारी अपने ही विचारों तथा निर्णयों को अधिक मूल्यवान समझता है, क्योंकि वह तथा-कथित व्यावहारिकता के आधार पर अर्थशास्त्रज्ञ की बातों में मीन-मेख निकाल सकता है। वास्तव में होता यह है कि परिस्थिति-विशेष के बदलते हुए तथ्यांकों तक तो अर्थशास्त्रज्ञ को पहुँचने नहीं दिया जाता और उन पर उससे राय तथा सुझाव माँगे जाते हैं। जब वह अपने सीमित ज्ञान के आधार पर कोई राय दे देता है तो सरकारी अधिकारी उसे अव्यवहारिक क़रार देते हैं। अधिकारी वर्ग अर्थशास्त्रज्ञ को निरा सिद्धान्त-शास्त्री घोषित करने में बड़ा आनन्द पाता है, क्योंकि 'सिद्धान्त-पंडित' उसके लिए 'बुद्धू' का ही पर्याय है। किन्तु जब कोई सरकारी अधिकारी आवश्यक ज्ञान अथवा विवेक के अभाव से कोई ऐसी भारी गलती कर बैठता है जिससे लाखों मनुष्यों का वारा-न्यारा हो जाता है, तो उससे प्रायः कोई जवाब नहीं माँगा जाता, क्योंकि इस बीच उत्तरदायी अधिकारी सरकारी नौकरी के नियमानुसार, अपनी सेवादीर्घता के नाते प्रायः और ऊँचे पद पर जा चुका होता है! इस खींचतान में शिकार बनती है देश की जनता, जिस पर प्रायः अयोग्यतम व्यक्तियों द्वारा भ्रान्त आर्थिक नीतियों का आरोप और व्यवहार होता है। ऐसे उदाहरण भी दिये जा सकते हैं जहाँ साधारण सिविल पदाधिकारियों तथा एकाउंट अफ़सरों को ऐसे कार्य सौंप दिये जाते हैं जिनके उचित सम्पादन के लिए उच्च कोटि का टेकनीकल ज्ञान तथा अर्थ-सम्बन्धी योग्यता और शिक्षा नितान्त आवश्यक होती है। ऐसा भी होता है कि व्यापार तथा उद्योग-सम्बन्धी ज्ञान से पूर्णतया अनभिज्ञ लोगों को उद्योग-व्यापार सम्बन्धी कार्य सौंप दिया जाय।

अगर भारत तथा प्रान्त की सरकारों को देश का आर्थिक विकास करना है और धीरे-धीरे शासन के आर्थिक कर्तव्य-क्षेत्र को फैलाना है, तो यह उनका अनिवार्य कर्तव्य है कि योग्य नवयुवकों को प्रथमतः विषय के मूल सिद्धान्तों की और फिर उसकी विशेष शाखाओं की समुचित शिक्षा का प्रबन्ध करें। ऐसे शिक्षाप्राप्त लोगों को अगर आर्थिक शासन-प्रबन्ध के कार्य के अनुभव की भी सुविधा दी जाय, तो वे अब तक के प्रबन्धकों से कहीं अच्छा काम करेंगे और आज की अपेक्षा बहुत कम भूलें करेंगे। स्पष्ट है कि अब तक जो स्थिति क्षन्तव्य थी, अब नहीं सही जायगी, क्योंकि भविष्य की प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था में अनुभवी लोग मौजूदा परिस्थिति की कमज़ोरी तथा इस संकुचित दृष्टि-कोण की नीति के अनर्थकारी प्रभाव को अच्छी तरह समझेंगे।

आर्थिक अनुसन्धान

इस प्रकार के आर्थिक प्रबन्धक वर्ग की आवश्यकता के अतिरिक्त अर्थशास्त्रीय खोज, अनुसन्धान और शोध की सुविधाओं का भी विकास और प्रसार करना पड़ेगा, जिससे परिवर्तन-शील आर्थिक परिस्थितियों का और शासन की आर्थिक नीति तथा कार्यों के प्रभावों का, लगातार अध्ययन और परीक्षण होता रह सके। आधुनिक युग में आर्थिक समस्याएँ इतनी जटिल हो गयी हैं कि प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं में प्रायः धाक जमा लेने वाले साधारण राजनीतिकों के हाथ में आर्थिक नीति-निर्धारण का कार्य सौंपने का परिणाम अनर्थकारी होगा। अगर राजनीतिकों को इन समस्याओं पर योग्य व्यक्तियों द्वारा वैज्ञानिक अध्ययन निष्कर्ष और शोध पर आधारित प्रामाणिक तथ्य नहीं प्राप्त होते, तो भयानक त्रुटियों की सम्भावना बनी रहती है। इँग्लैंड तथा अमरीका में राजनीतिक दलों के नेता नीति निश्चित करते समय विशेषज्ञों के निर्णय स्वीकार करने को तैयार रहते हैं। राजनीतिक दबाव से ऊपर उठ कर इन जटिल

समस्याओं पर पूरे तौर से ध्यान दे सकने के लिए आवश्यक है कि इन विशेषज्ञों का पद तथा वेतन दोनों अच्छे हों। इसके साथ-साथ सभी राजनीतिक दलों को भी चाहिए कि वे इनके कार्य में किसी प्रकार की बाधा न डालें। इंग्लैंड तथा अमरीका में विश्वविद्यालयों तथा विशेष अनुसन्धान-संस्थाओं में इस प्रकार का कार्य हो रहा है। सरकारी विभागों तथा बड़ी व्यावसायिक कम्पनियों के भी अपने अनुसन्धान विभाग रहते हैं जहाँ इस प्रकार का कार्य कुछ अंश तक होता रहता है। इन विशेषज्ञों को इस बात की पूरी सुविधा दी जाती है कि वे व्यावहारिक समस्याओं से अपना आवश्यक सम्बन्ध क़ायम रख सकें। बड़े व्यवसायी और उद्योगपति, राजनीतिक और सरकारी कर्मचारी सभी इनका विश्वास करते हैं, बिना छिपाव के पूरी ज्ञातव्य सामग्री देते हैं, और सामयिक समस्याओं का हल प्राप्त करने में इनकी सहायता लेते हैं। समाज में इनका प्रतिष्ठित स्थान रहता है। लोग इनका उचित आदर तथा सम्मान करते हैं। शिक्षण-संस्थाओं से प्राप्त अपने साधारण वेतन के अतिरिक्त इन्हें व्यवसायियों तथा उद्योगपतियों अथवा सरकार को परामर्श देने के लिए शुल्क या पारिश्रमिक स्वीकार करने की स्वतन्त्रता रहती है। इस प्रणाली से बहुत बड़ी संख्या में ऐसे लोग निकल आते हैं जो विशेष उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद अपना समय आर्थिक समस्याओं के अध्ययन तथा अनुशीलन में लगाते हैं। अपने विचारों द्वारा ये लोग लोकमत को राष्ट्रहित के अनुकूल प्रभावित करने में सहायता देते हैं।

हमारे देश में बहुत थोड़े विश्वविद्यालय हैं जहाँ अर्थशास्त्र के विषयों पर ऊँचे स्तर का अनुसन्धान कार्य हो रहा हो। यह भी सर्वविदित है कि उन थोड़ी-सी संस्थाओं में भी जहाँ इस प्रकार का कुछ कार्य हो रहा है, योग्य व्यक्तियों की तथा रुपये की कमी रहती है। उन्हें वह प्रोत्साहन या सुविधाएँ भी नहीं दी जातीं जो उन्हें मिलनी चाहिए। दो-एक अपवादों को छोड़ अर्थशास्त्र के क्षेत्र में अनुसन्धान का कार्य करने वालों को बहुत थोड़ा वेतन मिलता है। इसके अलावा व्यावहारिक जीवन में अधिक उपयोगी होने के लिए व्यवसाय, उद्योग तथा सरकार से उनका जो सम्पर्क होना चाहिए उसकी कोई सुविधा नहीं दी जाती। बल्कि उनके अधिकारी ऐसे किसी भी सम्पर्क का विरोध करते हैं, ख़ासकर अगर उससे उनकी आय में किसी वृद्धि की सम्भावना हो। अजीब बात है कि एक तरफ़ तो ऐसे व्यक्तियों को कोरा सिद्धान्तवादी कहकर उनकी अवहेलना की जाती है, और दूसरी ओर उन्हें इस बात का अवसर नहीं दिया जाता कि वे सामयिक समस्याओं को व्यावहारिक दृष्टिकोण से देख-समझ कर अपने ज्ञान तथा कार्य को सर्वसाधारण के लिए अधिक उपयोगी बना सकें!

जहाँ तक विज्ञान तथा यान्त्रिक उद्योग सम्बन्धी अनुसन्धान और शिक्षण के विकास का प्रश्न है, केन्द्र तथा प्रान्तों की सरकारों ने सही दिशा में क़दम उठाया है। इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान संस्था (कौंसिल ऑफ़ सायंटिफ़िक एंड इंडस्ट्रियल रिसर्च) ने, जो सीधे प्रधान मन्त्री की देख-रेख में काम करती है, जो कुछ भी किया है वह उचित प्रगति का द्योतक है। मौजूदा यान्त्रिक उद्योग की संस्थाओं का विकास, अनुसन्धान के कार्य-क्षेत्र का प्रसार, नयी संस्थाओं का निर्माण तथा विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के लिए राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं की स्थापना, इस संस्था के कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। कुशल संचालक डाक्टर शान्तिस्वरूप भटनागर के निर्देशन में संस्था विज्ञान तथा शिल्प को देश के जीवन में उचित स्थान दिलाने में सफल रही है। नयी परिस्थितियों में देश को उन्नति के मार्ग पर ले जाने में यह विकास महत्त्वपूर्ण सहायता देगा। पर यह ध्यान दिलाना ज़रूरी है कि जब तक आर्थिक अनुसन्धान तथा शिक्षण के क्षेत्र में भी इसी प्रकार का विकास नहीं होता, तब तक उन समस्याओं को हल करने का हमारे पास कोई प्रबन्ध न रहेगा जो इसी नवीन विकास की प्रक्रिया से ही उत्पन्न होती जायेंगी।

आर्थिक अनुसन्धान तथा शिक्षण संस्था

इसलिए समय आ गया है कि 'वैज्ञानिक औद्योगिक अनुसन्धान तथा शिक्षण-संस्था' की तरह की एक केन्द्रीय संस्था की स्थापना की जाय जो आर्थिक अनुसन्धान तथा शिक्षण का विकास करे। इस संस्था के पास पर्याप्त धन तथा अधिकार होने चाहिए। इस प्रकार की संस्था को सर्वप्रथम देश के सभी विश्वविद्यालयों में आर्थिक अनुसन्धान तथा शिक्षण की सुविधाओं को बढ़ाने की योजना बनानी पड़ेगी। दूसरे, इसे अनुसन्धान के उपयुक्त ऐसे विषयों की विस्तृत सूची बनानी होगी जिन पर इसके संरक्षण में विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा अनुसन्धान संस्थाओं में कार्य किया

जायगा। आवश्यकतानुसार परिषद् आर्थिक सहायता का प्रबन्ध करेगी। इसको इस बात का भी ध्यान रखना पड़ेगा कि आर्थिक शासन-प्रबन्ध के लिए आवश्यक व्यक्तियों के शिक्षण का समुचित प्रबन्ध है, और शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् उन्हें उन सरकारी विभागों में सेवा का समुचित अवसर दिया जाता है जिनको उनके ज्ञान की आवश्यकता है। देश की विभिन्न संस्थाओं में होने वाले तद्विषयक कार्यों में सामंजस्य स्थापित करने का काम भी परिषद् ही का होगा। भारत सम्बन्धी आर्थिक तथ्यांकों और भारत की आर्थिक प्रगति की पूरी जानकारी का प्रचार भी उसके ज़िम्मे होगा। यह संस्था अन्य देशों की ऐसी ही संस्थाओं से निकट सम्पर्क रखेगी तथा हमारे आर्थिक जीवन पर बाह्य घटनाओं के प्रभाव का भी निरीक्षण और अध्ययन करती रहेगी। इस प्रकार हमारी आर्थिक नीति तथा कार्यों को सही ढंग पर ले जाने में सहायता देने तथा आवश्यक शिक्षित कार्यकर्ता तैयार करने के अतिरिक्त यह संस्था उन बुनियादी तथ्यांकों का संग्रह भी करेगी, जिनके आधार पर देश के लिए आर्थिक योजना का निर्माण किया जा सकता है। इस संस्था को 'आर्थिक अनुसन्धान तथा शिक्षण-संस्था' (कौंसिल आफ़ इकॉनॉमिक रिसर्च एंड ट्रेनिंग) कहा जा सकता है, और इसका संगठन 'वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान संस्था' के ढाँचे पर होना चाहिए।

मार्च १९४९

भारत—एक लौकिक राज्य

गुरुमुख निहाल सिंह

भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री ने जनता के, और विधान परिषद् में उसके प्रतिनिधियों के सामने जो आदर्श रखा है वह एक लौकिक राज्य का आदर्श है, न कि साम्प्रदायिक अथवा वर्गिक राज्य का। भारतीय राज्य पर धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक शासन का सन्देह भी न किया जा सके इसलिए नेताओं ने राज्य को हिन्दुस्तान न कह कर इंडिया कहना पसन्द किया यद्यपि बहुसंख्यक हिन्दू पहले ही नाम के पक्ष में थे।

बहुत-से लोग लौकिक राज्य की कल्पना की निन्दा यह कह कर कर रहे हैं कि वह मेकियावेली अथवा मार्क्स के आदर्शों पर चल रहा है, या कि वह अनैतिक अथवा अधार्मिक है, या कि वह भौतिकवादी है और भौतिक उन्नति और शक्ति के लिए आध्यात्मिक और नैतिक आदर्शों को छोड़ रहा है। लेकिन ऐसे सब उद्योग पूर्वग्रहों के कारण ही लौकिक राज्य के आदर्श की निन्दा करते हैं और उनके मन में या तो पाकिस्तान के नये इस्लामी राज्य का समर्थन करने की भावना है या भारत में ही प्राचीन परिपाटी का हिन्दू शासन स्थापित करने की इच्छा।

*   *   *

पाकिस्तान विधान परिषद् में ७ मार्च १९४९ को उद्देश्य सम्बन्धी प्रस्ताव पेश करते हुए पाकिस्तान के प्रधान मन्त्री ने यह मत प्रतिपादित किया कि 'सब सत्ता ईश्वर के अधीन होनी चाहिए'। उन्होंने कहा :

"यह बिल्कुल सच है कि यह कथन उन मेकियावेलीय विचारों के प्रतिकूल है जिसके अनुसार शासन में आध्यात्मिक और नैतिक आदर्शों का कोई स्थान नहीं है। यह याद दिलाना भी शायद आज के फ़ैशन के बाहर की बात होगी कि राज्य को लोक-कल्याण का साधन होना चाहिए, न कि पाप का।"

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि कोई ऐसी बात इस बीसवीं शती में कहे, जब कि राज्य का सर्वस्वीकृत उद्देश्य श्रेष्ठ अर्थ में नैतिक है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व की उच्चतम सम्भावनाओं की प्राप्ति कराने का साधन बनना। जो हो, पाकिस्तान के प्रधान मन्त्री ने और भी फ़रमाया :

"लेकिन हम पाकिस्तान के निवासियों में ऐसा मानने का साहस है कि सम्पूर्ण सत्ता का उपयोग इस्लाम द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार ही होना चाहिए, ताकि उसका दुरुपयोग न हो। सत्ता हमें ईश्वर-प्रदत्त निधि है, जो मानव की सेवा में लगानी चाहिए ताकि वह अत्याचार और स्वार्थपरता का साधन न बन जाय।"

पाकिस्तान के प्रधान मन्त्री 'संसार को यह दिखा देना चाहते हैं कि आज मानवता के जीवन में जो कई रोग घुस गये हैं, इस्लाम उनकी अक्सीर दवा है'।

अगर इस्लाम कोई नया विधान होता और अगर पाकिस्तान संसार का पहला इस्लामी राज्य होता तो कदाचित् पाकिस्तान के प्रधान मन्त्री के दावे को बड़ी आशा के साथ सुना जाता। लेकिन इतिहास मुस्लिम और ग़ैरमुस्लिम दोनों प्रकार के ऐसे सत्ताधारियों के उदाहरण देता है जिनका दावा था कि उनकी सत्ता ईश्वर-प्रदत्त है, चाहे 'सीधे-सीधे' चाहे 'जनता के माध्यम से', और जो उसे 'ईश्वर के नाम पर एक निधि के रूप में' धारण करने का वादा करते थे। और मानव-जाति ने भीषण क्षति उठा कर यह सबक़ सीखा है कि ऐसी किसी सत्ता पर जनता के हित में शक्ति का व्यवहार करने का विश्वास नहीं किया जा सकता जो कि केवल ईश्वर के सामने उत्तरदायी होने का दावा करती है। लोक-हित की रक्षा तभी हो सकती है जब कि जनता बराबर सतर्क रहे और बराबर इस बात पर स्थिर रहे कि राज्य-सत्ता जनता के ही सामने उत्तरदायी है।

इसलिए यह उल्लेखनीय है कि जहाँ पाकिस्तानी विधान का उद्देश्य-सम्बन्धी प्रस्ताव सगर्व यह दावा करता है कि

फलक २
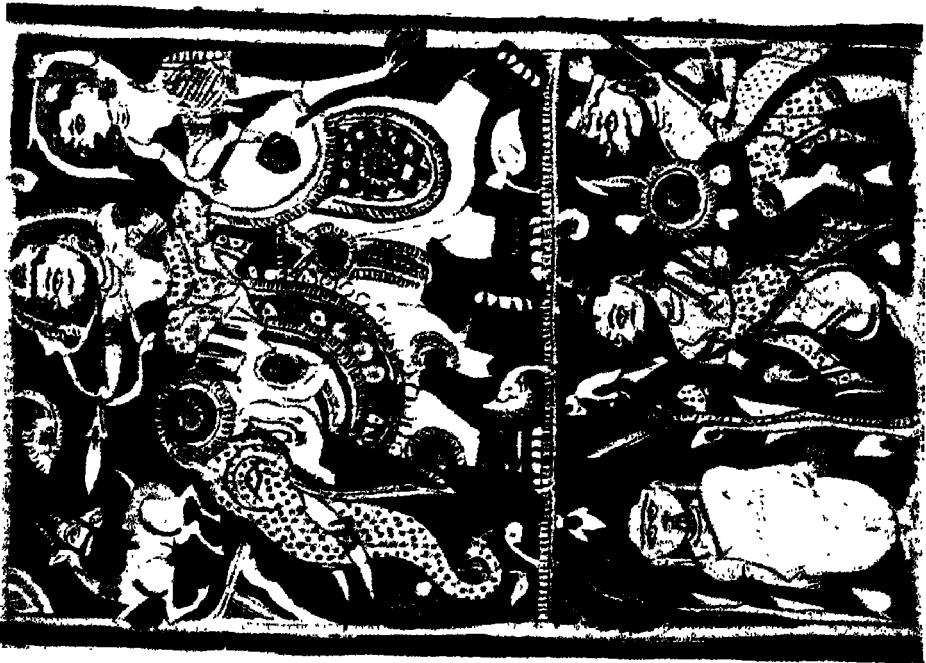
"राज्य अपनी सत्ता और शक्तियों का प्रयोग जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा करेगा", वहाँ वह जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्व के बारे में बिल्कुल चुप है। प्रजातन्त्र-शासन की बुनियादी शर्त केवल यही नहीं है कि सत्ता का प्रयोग जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा हो जिस पर कि कई पाकिस्तानी मन्त्रियों ने ज़ोर दिया; बल्कि इससे भी अधिक महत्त्व की शर्त यह है कि सत्ता का प्रयोग करने वाले लोग जनता के सामने उत्तरदायी हों। इस शर्त को केवल अपने लोकतन्त्र को 'इस्लामी' अथवा 'इस्लाम पर आधारित' कह कर ही नहीं टाल दिया जा सकता।

* * *

इस सम्बन्ध में पाकिस्तान के राजनीति-विशारद डाक्टर कुरैशी के, जो कि पहले दिल्ली विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रोफ़ेसर थे, विचारों का उल्लेख प्रासंगिक होगा। पाकिस्तान विधान-परिषद् में ६ मार्च १९४९ को ध्येय सम्बन्धी प्रस्ताव पर भाषण देते हुए डाक्टर कुरैशी ने कहा :

"यह भूमिका में आरम्भ में ही स्वीकार किया गया है कि सर्वसत्ता ईश्वर ने पाकिस्तान की जनता के माध्यम से पाकिस्तान के राज्य को सौंप दी है। बीसवीं शती में सम्पूर्ण सत्ता की बात करना अनुचित है। अतएव ऐसे सम्पूर्ण अधिकार से बचने का उपाय यही है कि सर्वव्यापी नैतिक सिद्धान्तों पर ज़ोर दिया जाय।"

इसके बाद उन्होंने लौकिक जनतन्त्र के विषय में अपने विचारों का प्रतिपादन किया :

"लौकिक का अर्थ यह है कि राज्य-संचालन पुजारियों-संन्यासियों के हाथ में न हो। जब हम कहते हैं कि इस्लाम किसी पुजारी वर्ग को नहीं मानता, तब यह कहने का कोई कारण नहीं रह जाता कि हमारा जनतन्त्र लौकिक नहीं है। हाँ, लौकिक का अगर यह अर्थ है कि इस्लाम के विचारों को न माना जाय, तब शायद इस तरह का जनतन्त्र हम पाकिस्तानियों को स्वीकार न होगा।"

यह विश्वास करना कठिन है कि विद्वान् डाक्टर साहब को 'लौकिक' और 'इस्लामी' जनतन्त्र का भेद मालूम नहीं है, या कि वह 'पाश्चात्य प्रतिनिधि-शासन' और 'इस्लाम द्वारा प्रतिपादित जनतन्त्र' का भेद नहीं समझते या कि 'सर्वव्यापी नैतिक सिद्धान्तों पर ज़ोर' और 'क़ानूनी और राजनीतिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त' में अन्तर नहीं देखते। हमें तो यह दीखता है कि यह एक अनुत्तरदायी शासन को 'इस्लामी जनतन्त्र' का नाम देकर उसके लिए जनता का समर्थन पाने की एक कोशिश है।

* * *

पाकिस्तान के प्रधान मन्त्री का यह कथन स्वीकार किया जा सकता है कि 'सच्चे इस्लामी समाज में नीच या अपात्र कोई नहीं होता। छोटे से छोटा व्यक्ति ऊँचे से ऊँचे पद पर पहुँच सकता है।' लेकिन ऐसे इस्लामी समाज में ग़ैरमुस्लिमों की कोई सत्ता होगी? पाकिस्तान के ध्येय वाले प्रस्ताव में कहा गया है कि :

"मुसलमानों को अधिकार होगा कि व्यक्तिगत और समष्टि जीवन के क्षेत्र में अपने जीवन की व्यवस्था इस्लाम के आदर्शों के अनुसार करें जो कि क़ुरान शरीफ़ और सुन्ना में दी गयी है।"

स्पष्ट ही इसका अर्थ यह होता है कि इस्लाम धर्म का सुन्नी विधान पाकिस्तान का राज्य-धर्म है और दूसरे सब धर्मों का स्थान गौण है। यह तो है कि ध्येय के प्रस्ताव में 'अल्पसंख्यकों' को अपने धर्म पर अमल करने और अपनी संस्कृति का विकास करने के लिए यथेष्ट सुविधा देने की बात कही गयी है और 'जनतन्त्र, स्वतन्त्रता, समानता, सहिष्णुता और सामाजिक न्याय' के पालन का भी उल्लेख है; लेकिन इन सब के साथ यह शर्त भी है कि यह पालन 'इस्लाम द्वारा अनुमोदित' ढंग से ही होगा। पाकिस्तानी विधान-परिषद् में १२ मार्च १९४९ को भाषण देते हुए सर ज़फ़रुल्ला ख़ाँ ने स्वीकार किया :

"यह बड़े दुख की बात है कि बहुधा भ्रान्त धर्माग्रह के कारण अपने ह्रास के काल में मुसलमान अपनी असहिष्णुता के लिए बदनाम हो गये थे।"

दुर्भाग्य से यह बात केवल अतीत की नहीं; बल्कि आज भी पाकिस्तान की परिस्थिति बहुत नहीं बदली, जैसा कि विरोधी पक्ष के नेता श्री चट्टोपाध्याय ने पाकिस्तान विधान-परिषद् में भाषण देते हुए कहा :

"मैंने कई रातें जागकर यह सोचते काटी हैं कि मैं अब अपने उन भाइयों को क्या कहूँगा जिनसे मैं अब तक यह कहता आया था कि अपनी जन्मभूमि को न छोड़ें। आज वह ऐसी अनिश्चय की स्थिति में दिन काट रहे हैं जिसे देखा और अनुभव किया ही जा सकता है, यहाँ परिषद् में बैठे-बैठे कल्पना के सहारे नहीं सोचा जा सकता। जो अधिकारी थे, उन्होंने नौकरी के लिए भारत का वरण किया; जो समर्थ थे वह भी छोड़ कर चले गये। अब आर्थिक परिस्थिति भयानक है, दुर्भिक्ष का राज्य है, स्त्रियों के तन पर कपड़ा नहीं है, प्रजा के पास जीविका के साधन नहीं हैं, शासन ने घोर साम्प्रदायिक रूप ले लिया है; जनता की संस्कृति, भाषा और लिपि को कुचला जा रहा है। इस सब के ऊपर आप इस प्रस्ताव के द्वारा उन्हें सदा के लिए हीन पद दे रहे हैं। आशा की किरणों के सामने एक मोटा पर्दा पड़ गया है और समान जीवन की सब सम्भावनाओं को मिटाया जा रहा है।"

लेकिन डाक्टर कुरैशी फरमाते हैं:

"जहाँ तक "क़ानूनी रक्षा" का प्रश्न है उन्हें तो प्रस्ताव में स्थान दिया गया है। जो बातें राजनीतिक रक्षाओं से सम्बन्ध रखती हैं वे तो विधान में ही आ सकती हैं। लेकिन किसी भी अल्पसंख्यक जाति के लिए सबसे अच्छी राजनीतिक रक्षा तो यह है कि वह बहुसंख्यकों की स्नेह-प्राप्ति करे।"

इस पर टिप्पणी व्यर्थ है। यह साम्प्रदायिक राज्य की कल्पना का और किसी धर्म को-यहाँ पर सुन्नी इस्लाम को —राज्य-धर्म का स्थान देने का परिणाम है कि दूसरे धर्म और उन धर्मों के अनुयायी चिरस्थायी हीन पद पायें। और यह वास्तविक परिस्थिति कोरे युक्तिवाद से या कि विधान में बुनियादी अधिकारों की सूची में तरह-तरह के अधिकार शामिल कर देने से तनिक भी नहीं बदल सकती।

* * *

साम्प्रदायिक राज्य के समर्थक कई पाकिस्तानी मुसलमान और कई सम्प्रदायवादी हिन्दू या सिख, एक और भी दलील देते हैं। वह यह है कि धर्म सर्वव्यापी है और उसे राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता।

ध्येय के प्रस्ताव पर भाषण देते हुए पाकिस्तान के विदेशी मन्त्री ने कहा:

"धर्म और राजनीति अलग-अलग हैं और रहने चाहिए, यह भावना इसलिए फैली कि धर्म का पूरा महत्त्व समझा नहीं गया। धर्म का काम है एक ओर मानव और उसके स्रष्टा में, दूसरी ओर मानव और मानव में सबसे अधिक कल्याणकारी सम्बन्धों को स्थापित करना और बनाये रखना। राजनीति मानव और मानव के सम्बन्ध का केवल एक पहलू है। जो धर्म और राजनीति को परस्पर विरोधी मानकर उनके अलग-अलग क्षेत्र निर्धारित करना चाहते हैं वह धर्म के स्थान को बहुत संकुचित कर देना चाहते हैं।"

ऐसे ही विचार नागपुर विश्वविद्यालय के राजनीति शास्त्र के प्रोफ़ेसर श्री पुणतम्बेकर ने अपने लेख "लौकिक राज्य: एक समीक्षा" में प्रकट किये हैं:

"लौकिक राज्य की अवस्था वह है जिसमें धर्म राज्य के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करे और राज्य धर्म के मामलों में। लेकिन इतिहास दिखाता है कि ये दोनों शर्तें सम्पूर्णतया पूरी नहीं हो सकतीं। धर्म और राज्य दोनों ही जनता के सामाजिक और नैतिक, आर्थिक और शैक्षिक मामलों पर प्रभाव डालते हैं। जब तक भारत की जनता सम्पूर्णतया नास्तिक, भौतिकवादी, और इहलौकिक नहीं हो जाती तब तक लौकिक राज्य स्थापित करने की चेष्टा कोई माने नहीं रखती।

"भारत में जनता के जीवन और संस्कृति के, सामाजिक सिद्धान्तों के और आचार-व्यवहार के निर्माण में धर्म का बहुत बड़ा स्थान रहा है। आज क्या हम धर्म के साम्राज्य से निकल सकते हैं, सारी मान्यताओं और जीवन-परिपाटी को सहसा बदल सकते हैं?"

यहाँ पर दूसरे विधानों और धार्मिक या राजनीतिक नेताओं के उद्धरण देने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि सिख नेता मास्टर तारासिंह भी मानते हैं कि सिख धर्म और भावना की रक्षा राजनीतिक शक्ति के बिना नहीं हो सकती, कि जहाँ तक सिखों का प्रश्न है धर्म और राजनीति को अलग नहीं किया जा सकता और सिखों के स्वतन्त्र राजनीतिक संगठन की रक्षा करनी ही होगी, उसके लिए चाहे जो क़ीमत देनी पड़े।

* * *

जान पड़ता है कि धर्म के स्थान के बारे में ऐसी भावनाएँ किसी एक जाति या सम्प्रदाय तक सीमित नहीं हैं। वास्तव में प्राचीन और मध्य युग में यह दृष्टिकोण सारे संसार में व्याप्त था। लेकिन विज्ञान की उन्नति, आपसी व्यवहार और मत-प्रकाशन की स्वतन्त्रता, जातियों के मिश्रण और विश्वासों के परिवर्तन से परिस्थिति बिल्कुल बदल गयी है। धर्म का क्षेत्र बहुत कुछ संकुचित हो गया है और आधुनिक युग का आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक और राजनीतिक जीवन लौकिक हो गया है। आज राज्य एक धर्म पर आग्रह नहीं करता। राष्ट्रीयता की परिभाषा आज भौगोलिक और सांस्कृतिक है, न कि धार्मिक या जातीय जैसी कि वह प्राचीन काल में थी। आज यह व्यावहारिक नहीं होगा कि राजनीतिक शक्ति का वितरण धर्म के आधार पर हो। वैसी चेष्टा का परिणाम होगा राष्ट्रजीवन का विसंगठन और साम्प्रदायिक सम्बन्धों में घृणा और द्वेष का प्रचार। भारत के ब्रितानी शासन के अनुभव से हम जानते हैं कि भेदनीति पर आधारित शासन का यही परिणाम हो सकता है, और सन् १९४६-४७ का दारुण विस्फोट तथा देश का विभाजन इसी नीति का परिणाम है। यह सच है कि पाकिस्तान में आज भी धार्मिक इस्लामी राज्य की स्थापना का आयोजन हो रहा है। इस नीति के दुष्परिणामों का वर्णन विरोधी पक्ष के नेता श्री चट्टोपाध्याय ने अपने मर्मस्पर्शी भाषण में किया था, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अतः यह स्पष्ट है कि आधुनिक राज्य में धर्म और राजनीति का गठबन्धन अनिष्टकारी है। उसका परिणाम या तो यह होगा कि अल्पसंख्यकों को राज्य से निकल जाना होगा, या फिर उन्हें राज्य में रह कर सदा के लिए एक हीन और अपमान-जनक परिस्थिति में रहना होगा। या फिर निरन्तर द्वेष फैलेगा और जब-तब भयानक दंगे और विस्फोट होते रहेंगे। आज के बहुसम्प्रदायी राज्य को अगर अपनी एकता और संगठन की रक्षा करनी है, और अपने नागरिकों को बिना भेद-भाव के समान पद देना है तो उसे लौकिक राज्य होना ही होगा; धर्म को राजनीति से बिल्कुल पृथक् रखना होगा।

* * *

अब तक भारत में जो परिस्थिति रही है उसको ध्यान में रखते हुए लौकिक राज्य की कल्पना एक क्रान्तिकारी कल्पना है। विदेशी शासन ने भारतीय मन को विकसित होकर आधुनिक नहीं बनने दिया। जनता के अधिकांश को शिक्षा के प्रकाश से वंचित रखा गया और उन्हें छोटे-छोटे अलग और परस्पर विरोधी दायरों में रहकर पुरानी लीक पीटने को प्रोत्साहित किया गया। धार्मिक और साम्प्रदायिक शासन की कल्पना को बना रहने दिया गया और इस बात का कोई यत्न नहीं किया गया कि शासन और क़ानून की भौगोलिक कल्पना का विकास हो। राष्ट्र के प्रति भक्ति की भावना को बढ़ावा न देकर जान-बूझ कर कोशिश की गयी कि सम्प्रदाय और दलों के प्रति संकीर्ण आस्था की भावना पनपती रहे। भारतीय राष्ट्रीयता की भावना के विकास में तरह-तरह की रुकावटें डाली गयीं। और जब राजनीतिक जाग्रति आयी और प्रातिनिधिक संस्थाओं की स्थापना और ऊँचे पदों का भारतीयकरण रोके रखना असम्भव हो गया, तब एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया कि भारत की विशेष सामाजिक परिस्थिति में भौगोलिक प्रतिनिधित्व और योग्यता के आधार पर नियुक्त करने की प्रथा खतरनाक साबित होगी। अल्पसंख्यक सम्प्रदायों में साम्प्रदायिकता का विष फैलाया गया और उन्हें सिखा-पढ़ा कर उनसे साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व और ऐसी विशेष रक्षाओं की माँग करवायी गयी जिनके रहते उत्तरदायी जनतन्त्र का और एक संगठित राष्ट्रीय भावना का विकास होना असम्भव था। अल्पसंख्यक सम्प्रदायों में जो थोड़े-बहुत पढ़े-लिखे लोग थे उनको इन बातों से बहुत लाभ हुआ, और इसलिए उन्होंने इस नीति का प्रचार साधारण जनता में भी इतने उत्साह और कौशल के साथ किया कि साम्प्रदायिक विद्वेष और घृणा की आग सारे देश में फैल गयी। सन् १९४७ की भीषण दुर्घटनाओं के और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति दूर नहीं हुई है और आज भी हमारे देश के विभिन्न सम्प्रदायों के आपसी सम्बन्धों को और देश के वातावरण को ही विषाक्त कर रही है। मेरी धारणा है कि केवल साम्प्रदायिकवाद की निन्दा या साम्प्रदायिक संगठनों के दमन की नकारात्मक नीति से हमारा उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता, बल्कि ऐसे संगठनों के प्रति सहानुभूति भी फैल सकती है। सबसे अधिक ज़रूरत इस बात की है कि हमारी नीति और कार्यक्रम रचनात्मक हों, और हमारे पास ऐसे संगठन हों जो एक व्यापक राष्ट्रीय राजनीति और सार्वजनिक संस्कृति के निर्माण और एक सच्चे राष्ट्रीय दृष्टिकोण के प्रचार का काम करें। ऐसे विराट् देशव्यापी, सार्वजनिक संगठन की बहुत अधिक आवश्यकता है जिसके पास प्रचारकों का उत्साह हो और जिसका कार्य-क्रम ऐसी परिस्थिति पैदा कर देना हो जिसमें विभिन्न संस्कृतियों और सम्प्रदायों का सम्मिलन और सच्ची भारतीय राष्ट्रीयता का विकास हो।

* * *

भारत में लौकिक राज्य का आदर्श तभी स्थापित हो सकता है जब हम सम्प्रदायवाद के भूत को भगा सकें और खास कर उन लोगों के मन से साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को दूर कर सकें जो देश में सत्ता और अधिकार के पदों पर बैठे हैं। साधारण जनता में "लौकिक राज्य" के ठीक-ठीक अर्थ और अभिप्राय के विषय में बड़ी ग़लत धारणाएँ फैली हुई हैं। बहुत लोग स्वार्थवश इन भ्रान्तियों को यह कह कर बढ़ा रहे हैं कि यह मेकियावेली के सम्पूर्णतया स्वार्थ-प्रेरित और जड़वादी राज्य-संगठन का ही नाम है। इसलिए यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि लौकिक राज्य की कल्पना का मेकियावेली के मतवाद से या जड़वाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। लौकिक राज्य के लिए ऊँचे नैतिक और आध्यात्मिक आदर्श जरूरी हैं। भारतीय नेतागण आज भारतीय राज्य की स्थापना गान्धी जी के सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त के आधार पर करने का यत्न कर रहे हैं। वे सचमुच इस के लिए उत्सुक जान पड़ते हैं कि विश्वशान्ति की रक्षा के, राष्ट्रों में भाई-चारे के, छोटे-छोटे उन्नतिशील राष्ट्रों के लिए न्याय, स्वतन्त्रता और समता की प्राप्ति के, और पिछड़े हुए प्रदेशों और जातियों के लोगों की उन्नति के लिए, दूसरे देशों के साथ सहयोग करें।

लौकिक राज्य और साम्प्रदायिक राज्य में यही भेद है कि लौकिक राज्य में एक नागरिक और दूसरे नागरिक में भेद नहीं किया जाता। सब नागरिकों को समान माना जाता है, और शक्ति तथा सरकारी पदों का वितरण आवश्यकता और व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर होता है, न कि जाति, धर्म, वर्ण और सम्प्रदाय जैसे इतर कारणों के आधार पर, जैसा कि साम्प्रदायिक राज्यों में होता है।

लौकिक राज्य की कल्पना में व्यक्ति ही समूचे सामाजिक संगठन का केन्द्र होता है, और राज्य जो अधिकार देता है वह नागरिक व्यक्तियों को ही देता है न कि सम्प्रदायों, फ़िरक़ों या साम्प्रदायिक संस्थाओं को। यह सही है कि व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को दूसरे व्यक्तियों के साथ संस्थाओं में सम्मिलित हुए बिना पूरा नहीं कर सकता; इसलिए व्यक्तियों को संगठन की स्वतन्त्रता दी जाती है। लेकिन कुछ ऐसी बुनियादी आवश्यकताएँ हैं, यथा सुरक्षा, व्यवस्था, आर्थिक स्वतन्त्रता इत्यादि, जिनकी पूर्ति के लिए ऐसे संगठनों में भागी होना आवश्यक है जिसमें एक ही प्रदेश के रहने वाले लोग सम्मिलित हों। ये आवश्यकताएँ असल में प्रादेशिक या भौगोलिक हैं; और इनकी पूर्ति प्रादेशिक लौकिक संगठनों से ही हो सकती है, न कि वर्ण, धर्म या जाति के आधार पर बने हुए संगठनों से।

जनतन्त्री लौकिक राज्य की कल्पना का यही आधार है। वह समानतावादी है और श्रेष्ठ अर्थ में नैतिक है, क्योंकि वह व्यक्ति और व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं मानता, और शक्ति तथा पदों का वितरण व्यक्ति की योग्यता और आवश्यकता के अनुसार करता है। भारतीय विधान-परिषद् ने इस लौकिक आदर्श को मान लिया है और नये विधान में इसे स्थान देने का यत्न किया जा रहा है। यह सच है कि कुछ मामलों में प्रस्तावित विधान इस आदर्श से हटता है, लेकिन यह स्वीकार किया जाता है कि विधान की ऐसी धाराएँ एक अस्थायी परिवर्तन काल के लिए हैं और आवश्यकता न रहने पर एक निश्चित अवधि के भीतर रद्द हो जायँगी। लेकिन लौकिक जनतन्त्र के इस भारत-व्यापी प्रयोग की सफलता इसी पर निर्भर है कि हम कहाँ तक साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को सर्व-साधारण के मन से निकाल देने में समर्थ होते हैं और एक व्यापक सामान्य संस्कृति और सामान्य राष्ट्रीय भावना पैदा कर सकते हैं।

मार्च १९४९

स्वतन्त्र भारत का राजस्व

के० टी० शाह

स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद भारत की स्वतन्त्र सरकार को कितनी ही समस्याओं को सुलझाना पड़ा, किन्तु सबसे जटिल समस्या राजस्व-सम्बन्धी थी और इसके निवारण में सबसे अधिक प्रयास करना पड़ा। 'सुसंगठित राजस्व ही योग्य तथा अच्छे शासन की कुंजी है' यह एक साधारण उक्ति है। सुसंगठित राजस्व किसे कहते हैं, इस बारे में हमारी धारणाएँ बदल गयी हो सकती हैं। किन्तु जहाँ तक सार्वजनिक कोष के व्यय तथा उद्देश्यों का प्रश्न है, संख्या तथा विविधता के अतिरिक्त उनमें कोई अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। साथ ही सार्वजनिक कोष की पूर्ति करनेवाले साधनों की भी समय-समय पर वृद्धि तो हुई ही है, उनके क्षेत्र का भी विकास हुआ है; किन्तु आय के इन साधनों का व्यय से उचित सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या अब भी प्रायः वही है। तथापि स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के बाद से भारतीय राजस्व का प्रबन्ध किसी दशा में भी इस बात का प्रमाण नहीं देता कि उपर्युक्त सत्य पर उचित ध्यान दिया गया है या कि राजस्व-विज्ञान के नियमों का उचित रूप से पालन किया गया है।

१५ अगस्त १९४७ से गिनें तो हमारी स्वतन्त्रता को मुश्किल से दो वर्ष हुए हैं। यदि प्रथम सम्पूर्ण भारतीय अन्तरिम मन्त्रिमंडल की स्थापना से भी गिनें तो भी देश के लोगों को राष्ट्रीय कोष का प्रबन्ध करते हुए अभी मुश्किल से तीन वर्ष होते हैं। पूर्ण रूप से स्वतन्त्र राष्ट्र हो जाने के पश्चात् भारत के राजस्व जैसे जटिल यन्त्र के प्रबन्ध के लिए आवश्यक ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त करने के लिए यह अवधि पर्याप्त नहीं समझी जा सकती। इसके अतिरिक्त इसी काल में देश को सारे संसार में छायी हुई छः बरस की युद्धोत्तर अव्यवस्था, मन्दी तथा असन्तोष का सामना ऐसी परिस्थितियों में करना पड़ा जो सर्वथा अप्रत्याशित थीं और जिनके लिए भारत के नये शासक तैयार न थे। यद्यपि युद्ध को समाप्त हुए आज चार वर्ष से अधिक हो रहे हैं किन्तु सार्वजनिक कोष पर अभूतपूर्व भार डालने वाली परिस्थितियों का स्वभाव या मात्रा अभी नहीं बदली है। इन परिस्थितियों का विचार करके स्वातन्त्र्य लाभ के बाद की भारतीय राजस्व-व्यवस्था का आलोचक प्रबन्ध के दोषों को क्षम्य समझ सकता है। किन्तु दोष का क्षम्य होना निर्दोषता नहीं है। राजस्व के क्षेत्र में पिछले दो वर्षों की घटनाओं तथा विकास का यहाँ हम संक्षिप्त सिंहावलोकन करेंगे और यह जानने का प्रयास करेंगे कि नीति तथा प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों की आत्मतुष्टि के लिए क्या वास्तव में कुछ आधार हैं?

प्रारम्भ में ही यह स्वीकार किया जा सकता है कि इस क्षेत्र में साहसिक प्रयोग करने तथा आय-व्यय या ऋण की दिशा में नये मार्ग अपनाने का यह उचित समय नहीं था। स्वतन्त्रता के प्रथम चरण में भारत का शासनसूत्र सँभालने वालों की दीक्षा राजस्व के सम्बन्ध में प्रचलित तथा रूढ़ सिद्धान्तों को मानने की ही थी। अतः उनसे नयी दिशा की आशा नहीं की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त उनकी वर्ग-सहानुभूतियाँ भी, चाहे परोक्ष रूप से ही, स्थापित परम्पराओं के साथ थीं। इसमें सन्देह नहीं कि शरणार्थी-समस्या के रूप में जो सूक्ष्म परिस्थिति उनके सामने आयी उसने उनके ऊपर असाधारण दायित्व-भार डाला और उनको सर्वथा नये उपायों को सोचने के लिए बाध्य किया। किन्तु इन सब परिस्थितियों पर ध्यान देते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि उनके दृष्टिकोण, अनुभव तथा विचार समान रूप से नवीन तथा मौलिक प्रयोगों के विरुद्ध थे।

वास्तविक हस्तान्तरण की अवधि के वर्ष भर में अन्तरिम सरकार के शासन में आर्थिक मामलों में किसी प्रकार के महत्त्वपूर्ण परिवर्तन तथा नये प्रयोगों की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। क्योंकि एक तो अभी पूर्ण रूप से अधिकार नहीं मिल सका था, और दूसरे प्रथम भारतीय मन्त्रिमंडल भी दो पृथक् तथा विरोधी दलों में विभाजित था। नीति-सम्बन्धी बुनियादी प्रश्नों में भी इन दलों का दृष्टिकोण तथा प्रवृत्तियाँ भिन्न थीं। प्रारम्भ के दो मास में जब तक वर्तमान अर्थमन्त्री के हाथ में इस विभाग का उत्तरदायित्व रहा, किसी नवीन प्रयोग अथवा सुधार की ओर

ध्यान नहीं दिया जा सका। किन्तु १९४६-४७ के अधिकांश भाग में अर्थ-विभाग का सूत्र एक ऐसे मन्त्री को सौंपा गया जो बहुसंख्यक दल के अपने सहयोगियों से सहमत होने को तैयार ही न था। १९४७-४८ का बजट, जो अविभाजित भारत का अन्तिम बजट था, इसी परिस्थिति में पेश किया गया था। इस बजट के कई मौलिक सुधार तथा सनसनी फैलाने वाले प्रस्ताव महत्त्वपूर्ण थे। किन्तु यह सन्देह का विषय है कि ये प्रस्तावित परिवर्तन तथा उपाय राजस्व-सम्बन्धी सिद्धान्तों में दृढ़ विश्वास द्वारा प्रेरित थे, अथवा दलबन्दी की भावना के लक्षण-मात्र। इस उभय-दली मन्त्रिमंडल के अर्थमन्त्री श्री लियाक़तअली ख़ाँ इसके पूर्व राजस्व-सम्बन्धी विषयों पर किसी क्रान्तिकारी विचार के लिए विख्यात न थे। सम्भवतः जैसा कि उनके उत्तराधिकारी ने एक बार कहा था, उनका बजट ऐसा था मानो कुएँ की गहराई नापने के लिए किसी दूसरे के बच्चे को उसमें डाल दिया जाय। नवाबज़ादा द्वारा प्रस्तावित १९४७-४८ के बजट में पर्याप्त मात्रा में साहसपूर्ण मौलिकताएँ थीं जिनसे न्यस्त स्वार्थों वाले वर्ग क्रुद्ध और हताश हो गये। नये करों के सुझाव, तत्कालीन करों में वृद्धि, प्रस्तावित पुनःसंगठन, तथा कर से बचने की तरकीबों की काट, और स्वार्थान्ध पूंजीपतियों द्वारा अनुचित ढंग से रोके गये राज्य के उचित अंश को प्राप्त करने के लिए सुझाये गये तरीक़ों से यही पता चलता था कि सरकार बड़े उद्योगपतियों से लोहा लेने को सन्नद्ध हो रही है। बाद के अर्थ-मन्त्रियों ने इस मार्ग को छोड़ दिया। यदि यह मान भी लिया जाय कि श्री लियाक़तअली ख़ाँ के प्रयत्न साम्प्रदायिक पक्षपात द्वारा ही अनुप्राणित थे, फिर भी यदि उनकी दृढ़ता को क़ायम रखा जाता तो राष्ट्रीय कोष को पर्याप्त मात्रा में लाभ होता। सन् १९४७-४८ के बजट में दलबन्दी तथा व्यक्तिगत विचारों का कितना ही बड़ा प्रभाव क्यों न रहा हो पर उससे यह स्पष्ट हो गया कि स्वतन्त्र भारत के राजस्व के प्रबन्ध में सुधार तथा नयी दिशा के अनुसरण के लिए बड़ी गुंजाइश है। अब तक की राजस्व-सम्बन्धी नीति विशेष स्वार्थों तथा ब्रितान द्वारा स्थापित विशेषाधिकार-प्राप्त वर्गों के आधार पर निर्मित की गयी थी। और इस रूढ़िवादी राजस्व-नीति में आय तथा व्यय में सन्तुलन रखा जाता था। यह बात तो नहीं कि राष्ट्रीय कोष में कभी घाटा हुआ ही न हो, विशेषकर दोनों विश्वयुद्धों के पश्चात् ऐसे अवसर आये और विश्वव्यापी मन्दी ने तो उस राजस्व-प्रणाली के आधार को ही हिला दिया। पर कम से कम सिद्धान्त में अब भी बजट तैयार करते समय घाटा न देने का बुनियादी सिद्धान्त स्वीकार किया जाता था। यदि कभी किसी अप्रत्याशित, असाधारण और आवश्यक माँग की पूर्ति के लिए अधिक क़ाग़ज़ी मुद्रा छापनी ही पड़ जाती थी तो राजस्व-शास्त्री इस परिस्थिति का अन्त यथा-शीघ्र करने का दम भरते थे। जब से भारतीय राजस्व ने व्यवस्थित रूप लिया तब से अंग्रेज़ी राजस्व-शास्त्रियों ने इन आदर्शों पर बार-बार इतना ज़ोर दिया था कि ब्रितानी आधिपत्य के समाप्त हो जाने पर भी भारतीय राजस्व का प्रबन्ध अंग्रेज़ों द्वारा निर्मित सिद्धान्तों के आधार पर ही चलता रहा।

इसके अतिरिक्त नये शासन के लिए यह आसान भी न था कि वह ९० वर्ष से अंग्रेज़ी आदर्श पर विकसित होते रहे राजस्व-प्रबन्ध की आधार-भूत धारणाओं तथा उसके संगठन को सहसा बदल दे। वास्तव में परवर्ती अर्थमन्त्रियों तथा भारतीय मन्त्रिमंडल का सामाजिक-दर्शन भी वैसा ही था, और इसलिए वे स्वयं राजस्व-प्रबन्ध की स्थापित प्रणाली तथा स्वीकृत परम्पराओं में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने को उत्सुक भी न थे। और इसके साथ सत्तान्तरण तथा स्वतन्त्रता की स्थापना के बाद भी विशेषज्ञ पदाधिकारी वही रहे। इसके यह अर्थ नहीं कि सचिवालय में कोई हेरफेर नहीं हुआ; कहने का तात्पर्य केवल यह है कि इन पदाधिकारियों के दृष्टिकोण, विचार तथा नीति में कोई परिवर्तन नहीं आया। और क्योंकि भारतीय मन्त्री टेकनीकल तथा गम्भीर प्रतीत होने वाली समस्याओं पर इन्हीं से राय तथा परामर्श ले सकते थे, इसीलिए उन्होंने स्वभावतः उसी स्थापित परम्परा को चलने दिया जिससे ये भली भाँति परिचित थे।

नये मन्त्रियों ने, जो अब तक विरोध पक्ष के राजनीतिज्ञ रहे थे, बड़ी-बड़ी प्रतिज्ञाएँ की थीं। किन्तु जब राजस्व के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व उन पर आया तो उन्होंने अपना स्वतन्त्र मार्ग निर्धारित करना अगर सम्भव नहीं तो अनुचित अवश्य समझा। सर्वप्रथम राजस्व का प्रबन्ध एक ऐसे पेशेवर अर्थशास्त्रज्ञ को सौंपा गया जो भटकता हुआ उद्योग-पतियों में जा पहुँचा था। किन्तु जब मुस्लिम लीग के शामिल हो जाने के पश्चात् मन्त्रिमंडल का पुनःसंगठन हुआ, तो ऐसा व्यक्ति अर्थमन्त्री हुआ जो सबसे पहले राजनीतिक था और वह भी पूर्ण रूप से दलबन्दी की भावना से ओतप्रोत। पूरे नौ मास तक राजस्व का प्रबन्ध उसके हाथ में रहा, और इस काल में ऐसे विचारों ने उस के कार्यों को

प्रभावित किया जो कि अर्थ अथवा राजस्व से सम्बन्ध नहीं रखते थे। इसलिए उसने अपने को ऐसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने के लिए स्वतन्त्र समझा जिनका आधार प्रगतिशील राजस्वनीति में उतना नहीं था जितना कि दलगत राजनीति में। उसका उत्तराधिकारी तो स्पष्टतया वर्ग-स्वार्थों से प्रेरित था और विशेष हितों के अधिकारों का खुला समर्थक था। यह समर्थन कई रूपों में प्रकट हुआ और इसने राजस्व के प्रबन्ध के हर पहलू तथा अर्थविभाग के प्रायः प्रत्येक कार्य को प्रभावित किया। श्री लियाक़तअली खाँ ने सन् १९४७-४८ का बजट तैयार किया था और उन्होंने उसे व्यवस्थापिका के सम्मुख प्रस्तुत किया था। अविभाजित भारत का यह अन्तिम बजट था। यह स्पष्ट रूप से सनसनी पैदा करने वाला बजट था जिसने सुरक्षित स्वार्थों वाले वर्ग को चौंका दिया और अपनी आत्म-सन्तोष, निर्बाधता और प्रगल्भ उपेक्षा की मनोवृत्ति छोड़ने को बाध्य किया। इनके विरोध के कारण बजट में कई परिवर्तन हुए जिसमें उनके साथ रियायत की गयी। मगर बजट के पास होने के छः मास पश्चात् ही देश का बँटवारा हो गया। नये राजस्व-मन्त्री श्री षण्मुखम् चेट्टी की विचारधारा बिल्कुल दूसरी थी। उनका राजस्व का ज्ञान भी अधिक विस्तृत था और उनकी सूझ भी अधिक गहरी; और उनकी वर्ग-सहानुभूति भी बिल्कुल प्रकट थी और उस पर वह अधिक दृढ़ भी थे। जन्म और उत्तराधिकार से धनी इस व्यक्ति ने राजनीतिक जीवन का आरम्भ स्वराज पार्टी के सदस्य के रूप में किया था; किन्तु जब स्वराज पार्टी व्यवस्थापिकाओं से अलग हुई तब वह दूसरी तरफ़ हो गये, और ऐसे सिद्धान्त-हीन लोग अवसरों से जितना लाभ उठाया करते हैं, सब उन्होंने उठाया। और जब काल-चक्र घूमा और कांग्रेस दल ही देश में सबसे अधिक शक्तिशाली हुआ, तब अपनी पुरानी भक्ति और सम्बन्धों के आधार पर उन्हें फिर उस दल की सरकार में शामिल होने में कोई झिझक नहीं हुई जिसके सिद्धान्तों तथा प्रोग्रामों का वह मज़ाक़ उड़ाया करते थे और जिसके नेताओं को तुच्छ समझा करते थे। किन्तु पदासीन होकर उन्हें क्या करना है, यह वह सोचे हुए थे, और अपने रास्ते पर वह बेधड़क होकर बढ़ भी चले। सन् १९४७-४८ के शेषांश के लिए उन्होंने जो बजट तैयार किया उसमें दीखता स्पष्ट था कि सरकार अपनी नीति से पश्चात्पद हो रही है; और स्वतन्त्रता के प्रथम पूरे वर्ष सन् १९४८-४९ के बजट में तो यह बात बिल्कुल ही स्पष्ट हो गयी। राजस्व-सम्बन्धी प्रस्तावों को प्रस्तुत करते समय अर्थमन्त्री ने अपनी वर्ग-चेतना को छिपाने की कोई कोशिश नहीं की। भूतपूर्व अर्थमन्त्री के ज़माने से चली आने वाली कुछ कार्रवाइयों, जैसे कर से बचने वाले लोगों के विरुद्ध जाँच, से तो निस्तार नहीं था। किन्तु इन जाँच की कार्रवाइयों को चलाने पर बाध्य होते हुए भी अर्थमन्त्री ने अपने दृष्टिकोण को असंदिग्ध रूप से स्पष्ट कर दिया जब उन्होंने ऐसे कुछ लोगों के विरुद्ध कार्रवाई रोक लेने का यत्न किया जिन पर कर से बचने के दंडनीय कार्यों के आरोप थे। एक विशेष वर्ग के या यों कहिये कि एक वर्ग के कुछ विशेष व्यक्तियों के साथ यह प्रकट पक्षपात इसलिए सफल न हो सका, कि इसके विरुद्ध लोगों का असन्तोष बहुत बढ़ गया था। इसके अलावा बड़े पूँजीपतियों के अन्दर भी ईर्ष्या के कारण दो दल हो गये थे। अर्थमन्त्री प्रथमतः तो वर्ग-स्वार्थों से प्रेरित थे, दूसरे व्यक्तिगत पक्षपात की भावना से; साथ ही वह उन सब बातों के कट्टर विरोधी थे जो उनके निजी पूर्वग्रहों के प्रतिकूल होती थीं। अतएव जब उनके विशेषज्ञ परामर्शदाताओं तथा सचिवालय के सहायकों ने उन्हें इस क़दम के परिणामों के प्रति सावधान किया तो कहा जाता है कि उन्होंने साफ़-साफ़ घोषित कर दिया कि वह इस प्रकार पिछवाड़े से समाजवाद को प्रवेश करने देने के लिए राज़ी नहीं हैं।

अर्थमन्त्री ने बड़े दाँव खेले और हार गये। शीघ्र ही भुगताने का समय आ गया। दल के दबाव के सम्मुख उन्हें झुकना पड़ा और इस क्षेत्र से अपमानित होकर हटना पड़ा। उनके उत्तराधिकारी उनकी अपेक्षा कदाचित् कम योग्य हैं, या कम से कम राजस्व के टेकनिकल पहलुओं के उतने विशारद नहीं हैं, पर साथ ही अवसरवादी होने के लांछन से भी वह बचे हैं और अत्यधिक वर्गचेतना की भावना से भी मुक्त हैं। इसके साथ अपनी पूर्ण ईमानदारी के कारण भी उनकी ख्याति है जिस पर उनके सैद्धान्तिक संशयवाद का असर नहीं पड़ा है। अर्थशास्त्रज्ञों में उनका स्थान सरकारी पद के कारण ही अधिक है, व्यक्तिगत प्रतिभा के कारण कम। किन्तु यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। व्यापार-जगत् में उन्होंने अपना स्थान स्वयं बनाया है, जन्माधिकार अथवा विरासत में नहीं पाया। भारतीय कपड़े के उद्योग को संरक्षण दिलाने के लिए उन्होंने बड़ा प्रयास किया था और इसके लिए उन्हें तत्कालीन शासकों के क्रोध को भी सहना पड़ा था। इन सब कारणों ने मिलकर उनके नेतृत्व में भारतीय राजस्व के उसी ढाँचे को क़ायम रखा है जो अंग्रेज़ी शासन-काल से चला आ रहा था। डाक्टर जॉन मथाई ने लाल अथवा गुलाबी किसी भी प्रकार के समाजवादी होने का

दावा कभी नहीं किया; लेकिन उनके कट्टर दुश्मन भी उन पर पूंजीवादी होने या परिस्थितियों के परिवर्तन की अनदेखी करने वाले कट्टरपन्थी होने का आरोप नहीं लगा सकते, न यह कह सकते हैं कि वह केवल अपने वर्ग के स्वार्थों की रक्षा करते हैं।

इस व्यक्तिगत आलोचना और विवेचन का एक मात्र उद्देश्य यह दिखाना था कि राजस्व के आधारों तथा उसकी व्यवस्था पर इन व्यक्तियों के आने-जाने का क्या प्रभाव पड़ा। नहीं तो व्यक्तियों के विचारों की अपेक्षा परम्परा और परिस्थितियाँ ही अधिक बलवती होती हैं, और अगर कभी राजस्व के उद्देश्यों का स्पष्ट निरूपण किये बिना ही मन्त्रि-मंडल नीति-निर्धारण करता है तो उस पर व्यक्ति की छाप उतनी अधिक नहीं पड़ती। स्पष्ट निर्धारित और दृढ़तापूर्वक कार्यान्वित नीति की अनुपस्थिति में राजस्व अनिवार्यतः ऐसे लोगों की चालों का शिकार हो जाता है जो विशेष स्वार्थों की सेवा कर रहे हों।

आज भारतीय अर्थमन्त्री के सम्मुख जो मुख्य कठिनाइयाँ हैं उन का सम्बन्ध उन पूर्णतया आकस्मिक तथा सर्वथा अप्रत्याशित व्ययों से है जो भारत सरकार को निम्नलिखित कारणों से करने पड़े :

(१) देश के बँटवारे के फल-स्वरूप असंख्य शरणार्थियों का आगमन, और उससे उत्पन्न उनके खाने, रहने तथा व्यवसाय की जटिल समस्या;

(२) कश्मीर की सैनिक कार्रवाइयाँ;

(३) देशव्यापी मँहगी। (उसके कारण शासन का बढ़ता हुआ खर्च इन्हीं पर आधारित है, स्वयं मौलिक कारण नहीं, किन्तु इससे उसकी गम्भीरता कम नहीं होती।)

लम्बे युद्ध के बाद परिस्थितियों के प्रभाव से भी हम अभी मुक्त नहीं हो सके हैं, और स्वतन्त्र आत्मनिर्भर राष्ट्र होने के परिणाम-स्वरूप कई अन्य समस्याएँ भी हमारे सम्मुख आ गयी हैं जिन सब का हमें एक साथ ही सामना करना है।

शरणार्थियों की समस्या के कई पहलू हैं जिनमें केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों पर खर्च का प्रत्यक्ष बोझ तो सबसे कम महत्त्व का प्रश्न है यद्यपि ऊपरी तौर पर यही प्रश्न सब से अधिक तथा तात्कालिक निकटवर्ती कठिनाई उपस्थित कर रहा है। इस समस्या को प्रारम्भ हुए दो वर्ष बीत रहे हैं किन्तु अभी उसके हलका होने का कोई निशान नहीं है, यहाँ तक कि आर्थिक पहलू पर भी अभी कोई हल नहीं मिल सका है। हठात् अपने घरों से तथा पुश्तैनी पेशों से उखाड़ दिये गये लाखों लोगों के खाने तथा बसाने का प्रबन्ध करने, उनको एक जगह से दूसरी जगह ले जाने और उनकी देख-भाल करने के सही व्यय का अनुमान लगाना असम्भव था, और इससे भी असम्भव था इस व्यय से बचना। स्पष्ट, प्रत्यक्ष तथा तात्कालिक अनुमान ही कई करोड़ रुपये का था। वर्ष के आरम्भ के अनुमान तथा वर्ष के वास्तविक व्यय में ५० प्रतिशत से अधिक का अन्तर हो जाता है। आवास तथा नौकरी की व्यवस्था के परिणामों का अभी अनुमान भी नहीं हो सकता; न यही तय हो सका है कि कितने समय में इस समस्या का पूर्ण रूप से निवारण होगा।

इसी प्रकार कश्मीर की सैनिक हलचलों के कारण जो व्यय हो रहा है उसका भी कोई अन्त नहीं दिखाई देता। विराम-सन्धि तथा संयुक्त राष्ट्र-संघ की मध्यस्थता को स्वीकार कर लेने पर भी कश्मीर-स्थित भारतीय सेना में कोई कमी नहीं हुई है। सन् १९४९-५० के बजट में भी रक्षा के निमित्त उसी बढ़ी हुई संख्या का अनुमान किया गया है जो सन् १९४८-४९ के संशोधित अनुमानों तथा पूरक बजट में थी। कश्मीर सरकार को दी जाने वाली आर्थिक सहायता, ऋण तथा पेशगी में भी किसी कटौती की सम्भावना नहीं दिखाई दे रही है, कम से कम आम मत संग्रह के बाद तक। और यद्यपि इस व्यय को प्राप्त अथवा प्रत्याशित परिणामों से मापना उचित न होगा, तथापि समकालीन घटना-चक्र के अध्येता को यह सोचने पर बाध्य होना पड़ता है कि हम करोड़ों रुपया एक अन्धे कुएँ में डालते जा रहे हैं। सैनिक सफलता से भी भौतिक लाभ की कोई सम्भावना नहीं दिखाई देती। यह भी आशा नहीं की जा सकती कि इससे हमारी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में कुछ वृद्धि होगी और न राष्ट्र की सुरक्षा अधिक दृढ़ होने के कोई लक्षण दिखाई देते हैं। आर्थिक दृष्टि से देखने पर कश्मीर स्पष्ट रूप से घाटे का सौदा है; राजनीतिक दृष्टि से देखें तो मानना पड़ता है कि हमने भूल की है, और नैतिक दृष्टि से देखें तो भी कश्मीर अभी एक मँहगा प्रश्नचिह्न ही है।

स्वतन्त्रता के साथ रक्षा के क्षेत्र में कुछ ऐसे उत्तरदायित्व उत्पन्न हुए हैं जिसके लिए पहले से कोई तैयारी

निवसामि न गणितवनवेतसा
तमधुसूदनो मामपि न चेतसा ॥७
हरिचरणशरणजयदेवकविभारती वसतु हृदि युवतिरि
व कोमलकलावती ॥८॥२३

फलक ३

फलक ४
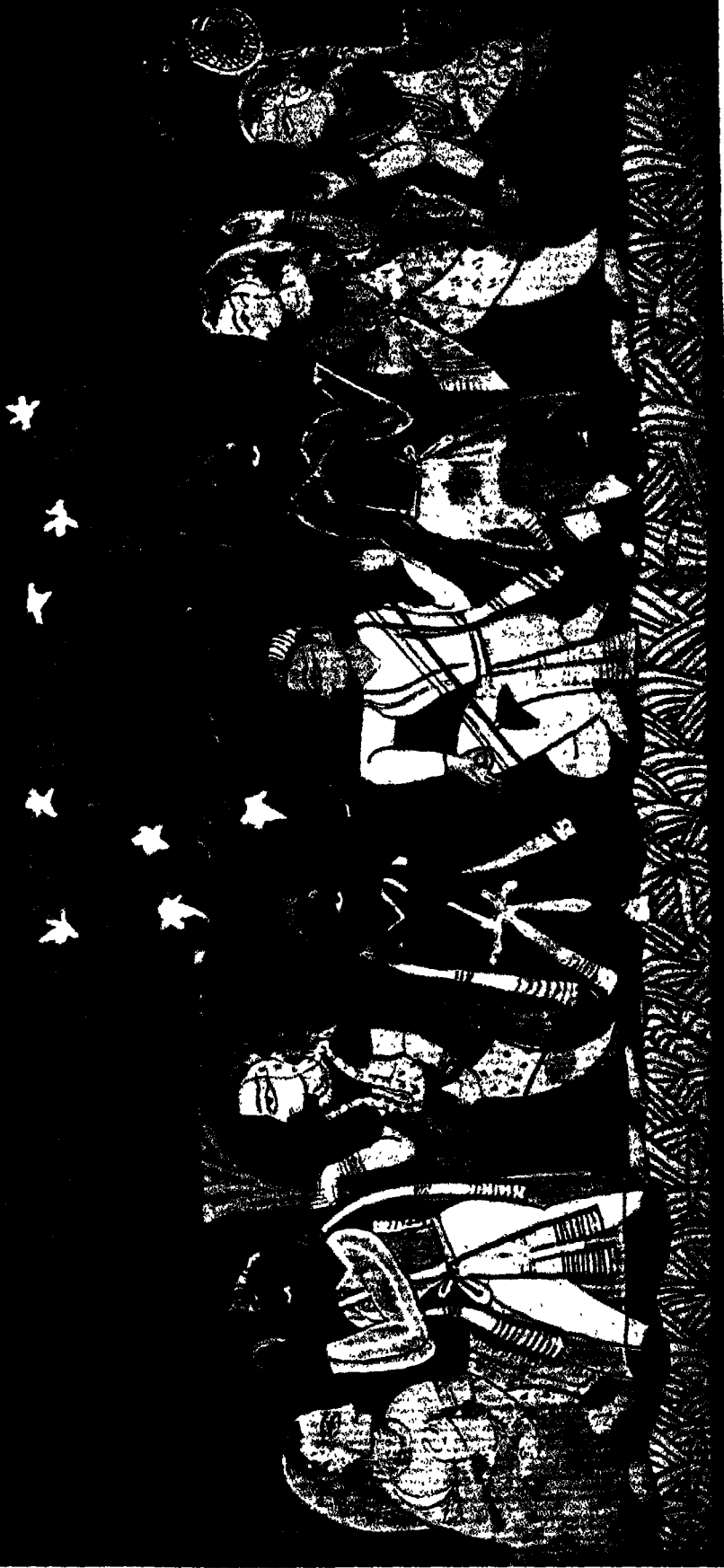
नहीं थी, न उचित पृष्ठभूमि ही थी। आज राष्ट्रीय नीति की सबसे कठिन समस्या यह है कि क्या भारत भी शस्त्रीकरण की उस दौड़ में शामिल होगा जिसमें सारे विश्व के राष्ट्र खुल्लम-खुल्ला अथवा छिपकर लगे हुए हैं, या नहीं ? अंग्रेजी शासन-काल में हम उन सभी संगठनों तथा उलझनों के मूक और बेबस साझीदार होते थे जो शोषण तथा शक्ति की साम्राज्यवादी राजनीति में हुआ करते थे। अधिकार हस्तान्तरित हो जाने तथा स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के समय से हमारी उद्घोषित नीति पूर्ण तटस्थता की है। किन्तु आज की परिस्थिति में, जब विश्व के पूर्वी भाग में सोवियत तथा आँग्ल-सैक्सनी गुट के बीच खुला हुआ संघर्ष दिन प्रति दिन बढ़ता ही जा रहा है, और हम अंग्रेजी शासन के अवशेषों के साथ कॉमनवेल्थ से अपना सम्बन्ध भी क़ायम किये हुए हैं और साथ ही अनेक परोक्ष रूपों से उस गुट में खिंचते चले आ रहे हैं, इस तटस्थता का अधिक दिनों तक क़ायम रहना सन्दिग्ध हो जाता है। और यह प्रश्न तो बना ही रह जाता है कि आखिर कब तक भारत अपनी रक्षा की व्यवस्था का दायित्व टालता रहेगा ?

भारत को हर दशा में राष्ट्र-रक्षा की नीति के आधार निश्चित करने हैं। अभी तक उसकी नीति बदलती परिस्थितियों का शिकार है। जनसंख्या की दृष्टि से भारत की सम्भाव्य सैन्यशक्ति, उसकी आबादी, विस्तार और सीमा-रेखा के अनुपात में यथेष्ट है किन्तु आधुनिक युद्धों का परिणाम केवल सैन्य-संख्या पर निर्भर नहीं करता। आधुनिक युग में रक्षा के लिए आवश्यक सामान, शस्त्र तथा विविध प्रकार के सहायक साधनों के लिए उन्नत औद्योगिक पृष्ठभूमि का होना अत्यन्त आवश्यक है। और इस देश में इसका अब भी अभाव है। हमारे सभी शस्त्रास्त्र तथा युद्ध की सामग्री प्रायः विदेशों से खरीदी जाती है। इस यन्त्र युग में इस स्थिति का परिणाम यह होता है कि जिस देश से ऐसी सामग्री ली जाती है, उसी का मुँह जोहना पड़ता है जब तक हम उस सामग्री का उपयोग करते हैं, क्योंकि प्रत्येक कल-पुर्जे का एक निश्चित स्थान और उपयोग है और उसका स्थान दूसरा नहीं ले सकता। किन्तु अगर हमारे पास पर्याप्त मात्रा में बुनियादी साधन, यन्त्र-कौशल तथा वैज्ञानिक ज्ञान हो भी जाता है, तो भी विश्व-युद्ध में देश-रक्षा की आवश्यकताएँ पूरी करने लायक औद्योगीकरण करने में वर्षों लग जायँगे। इसलिए यह विचारने योग्य है कि क्या स्थल, जल और वायु सेना के संगठन की होड़ में शामिल होने या आँग्ल-सैक्सनी गुट में जा मिलने की अपेक्षा गान्धीजी के अहिंसा सिद्धान्त पर निःशस्त्रीकरण करना ही आर्थिक दृष्टि से अधिक सस्ता तथा राजनीतिक दृष्टि से भी अधिक वांछनीय न होगा !

आज का साधारण रक्षा-बजट युद्ध से पहले के बजट का तिगुना है और इसमें असाधारण खर्चों की गणना नहीं की गयी है। किन्तु इसमें भी राष्ट्र-रक्षा के नाम पर देश पर पड़ने वाले बोझ की इति नहीं होती है। युद्ध-यन्त्रों की और सैनिक विज्ञान की शिक्षा, तथा अनुसन्धान का प्रबन्ध किया जा रहा है। साथ ही नौ-शक्ति, तथा विमान-शक्ति के विकास का आयोजन है और स्थल का यन्त्रीकरण किया जा रहा है। इसके लिए हमें विदेशों से पुराने शस्त्र और यन्त्रादि खरीदने पड़ते हैं जिन की क़ीमत अधिक है, उपयोगिता कम। हमारे पास इतने साधन नहीं हैं कि हम किसी आधुनिक युद्ध-नौका अथवा जंगी-विमान की मरम्मत भी कर सकें। एशिया के नेतृत्व की मरीचिका का आकर्षण सहज ही हमारी नयी स्वतन्त्रता को अहंकार और युद्ध-लिप्सा का रूप दे सकता है। वह नेतृत्व हमें मिल भी जाय तो उसके उत्तरदायित्व का भार सँभालने की शक्ति आज हममें नहीं है।

इस अवस्था में यह देश ऐसे काल्पनिक ध्येयों की प्रतिज्ञा लेने की क्षमता रखता है या नहीं, इसका निर्णय तो हमारे नेताओं के हाथ है। लेकिन जहाँ तक राजस्व-व्यवस्था का सम्बन्ध है, निष्पक्ष विचारकों को तो यही दिखाई देता है कि इस प्रकार की महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने के साधन हमारे पास नहीं हैं।

युद्धेतर अन्य क्षेत्रों में भी स्पष्ट नीति-निर्धारण का अभाव प्रत्यक्ष है। जिन लोगों ने आर्थिक स्वाधीनता के संग्राम में सक्रिय भाग लिया था, उन्होंने यह आशा की थी कि विदेशी शोषक को देश से बाहर निकाल देने के पश्चात् बड़ी-बड़ी आर्थिक तथा सामाजिक योजनाएँ कार्यान्वित की जायँगी, और देश में शान्ति तथा समृद्धि आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय के नये युग का उदय होगा। किन्तु अभी तक इस आशा की पूर्ति के कोई लक्षण नहीं दिखाई दे रहे हैं। राजस्व के अधिकारियों ने यह नहीं स्वीकार किया है कि राजस्व का उपयोग राष्ट्रीय आय के उचित विभाजन के सामाजिक न्याय की रक्षा और समाप्ति तथा अवसर के वैषम्य को कम करने के लिए भी होना चाहिए। विद्युत्-शक्ति के उत्पादन, नदियों के सीमा-बन्धन, और सिंचाई के साधनों और ज़मीन की पैदावार तथा खाद्य-पदार्थों को बढ़ाने के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएँ आरम्भ कर दी गयी हैं। किन्तु इन विषयों के विशेषज्ञों को सन्देह है कि विविध योजनाओं के अनुमानित व्यय तथा

उपयोगिता तथा खर्च की पूरी पड़ताल नहीं की गयी। न तो इस प्रकार नियुक्त किये जानेवाले व्यक्तियों की संख्या, वेतन तथा भत्ते के बारे में ही अधिक सोचा-विचारा गया, और न इस प्रकार खोले जाने वाली संस्थाओं के प्रबन्ध, और सरंजाम पर होने वाले खर्च की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया। नियन्त्रण के इस अभाव अथवा शिथिलता के कारण भ्रष्टाचार भी बढ़ा, और इससे कर्मचारियों में शिथिलता आयी, फ़िज़ूलख़र्ची बढ़ी, और असन्तोष उग्र हो गया।

युद्ध समाप्त हो जाने पर भी शासन तथा उसके विभागों के कार्यों में वृद्धि की गति एक न एक कारण से चलती ही रही। स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद विशेष कर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में कितने ही नये कार्य आरम्भ किये गये हैं। इसके अलावा समय-समय पर मन्त्रियों, अधिकारियों तथा ग़ैर सरकारी लोगों के सम्मेलनों और परामर्श-मंडलों के लिए अनेक अवसर निकाले जाने लगे हैं। इस प्रकार व्यय में सर्वथा अनियन्त्रित वृद्धि होती रही है और हो रही है और उसे रोकने का प्रयत्न नहीं किया जा रहा है।

व्यय में यह वृद्धि जनता को प्राप्त होने वाली सेवाओं के अनुपात में कहीं अधिक है; इसीलिए चारों ओर से किफ़ायत की माँग हो रही है। लोग यह महसूस करने लगे हैं कि सरकारी विभागों की संख्या और पसारा बहुत अधिक हो गया है, उनमें आवश्यकता से अधिक कर्मचारी हैं और उन्हें जरूरत से ज्यादा उदारता से वेतन तथा भत्ते दिये जा रहे हैं; और जैसे भी हो, कहीं न कहीं कटौती और छँटनी होनी ही चाहिए। लेकिन देश-रक्षा के विभाग का खर्च चाहे जितना अधिक हो, उसमें हम कमी करने के लिए तैयार नहीं हैं; न हम दूसरे आवश्यक विभागों में कमी करने का जोखिम उठाना चाहते हैं अतएव सम्भावना यही है कि कटौती वहाँ की जायेगी जहाँ लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होगी।

खर्च घटाने की बढ़ती हुई माँग का देशव्यापी परिस्थिति से न तो कोई सम्बन्ध रखा जा रहा है और न उस पर इस दृष्टि से विचार हो रहा है कि कौन-सी सेवाएँ आवश्यक हैं, किधर हमें उन्नति करनी है या कौन-सी खामियाँ हमें भरनी हैं। खर्च घटाने का अर्थ अगर यान्त्रिक ढंग से कटौती करते चलना ही लिया गया तो इससे उपकार की अपेक्षा अपकार अधिक होगा। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इँग्लैंड में गेडिस कमेटी ने और लगभग उसी समय भारत में इंचकेप कमेटी ने व्यय कम करने के लिए जो आदर्श पेश किया था, आज उसकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता। इधर जो लोग इस काम के लिए सलाहकार नियुक्त हुए हैं उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा विचार-परिपाटी उनके दृष्टिकोण को संकीर्ण बनाती है और वह मितव्यय का अर्थ केवल कटौती समझते हैं। रोज़गार का अर्थ वह मालिकों के लिए मुनाफ़े का साधन मात्र समझते हैं; और इस प्रकार वे एक प्रगतिकायी आधुनिक राज्य की, जिसे राष्ट्रीय विकास के अनेक क्षेत्रों में अपनी भारी कमियों को पूरा करना है, सार्वजनिक व्यय-सम्बन्धी जटिल समस्याओं पर विचार करने के लिए सर्वथा अयोग्य हैं। प्रत्येक विभाग के खर्च की प्रत्येक मद के स्वभाव, क्षेत्र तथा उद्देश्य का एक ऐसा पहलू भी होता है जिसे केवल व्यापारी दृष्टिकोण से नहीं देखा जाता। अगर केवल व्यापारी पहलू से ही सलाह ली जायगी तो इसके परिणाम-स्वरूप एकाएक बड़े पैमाने पर ऐसे लोगों में बेकारी फैल जायगी जिनके पास जीविका की कोई दूसरी गुज़र या जमा-पूंजी नहीं है। इससे अव्यवस्था, असन्तोष और कष्ट होगा, उसका निराकरण शासन के खर्च में की जाने वाली बचत से किसी प्रकार नहीं हो सकेगा।

उदाहरण के लिए युद्ध-जनित परिस्थिति का सामना करने के लिए खोले गये कंट्रोल, रसद, अनुसन्धान आदि के विभागों में बड़ी संख्या में लोगों को नौकरियाँ मिली हैं। आरम्भ से ही उनकी नियुक्ति अस्थायी तौर पर की गयी थी। यद्यपि अधिकांश कर्मचारी ५ से १० वर्ष तक नौकरी कर चुके हैं, तथापि उनकी नौकरी अब भी अस्थायी ही है। मितव्यय कमेटी की दीक्षा, मनोवृत्ति तथा दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए यह आशंका स्वाभाविक है कि थोड़ी किफ़ायत के नाम पर इन तथाकथित अस्थायी कर्मचारियों में से बड़ी संख्या को नौकरी से अलग कर दिया जायगा। दूसरी ओर सरकार की उस कार्य-परिपाटी पर आश्चर्य होता है जिसके अधीन इस परिस्थिति में भी इन्हीं विभागों के लिए नये उम्मीदवार बुलाये जा रहे हैं, और जो अवकाश लेने की आयु पार कर चुके हैं उन्हें भी अपने पदों पर क़ायम रखा जा रहा है! इन दोनों बातों से विभागों का कोई लाभ नहीं होगा और कटौती में आने वाले अस्थायी कर्मचारियों को अनावश्यक कष्ट अलग होगा। बार-बार माँग करने पर भी अभी तक केन्द्रीय सरकार के सिविल विभागों में भी ऐसे अस्थायी कर्मचारियों के आँकड़े नहीं मिल सके हैं। विश्वस्त सूत्रों से ज्ञात हुआ है कि केन्द्रीय सरकार के सिविल विभागों में लगभग १५,००० अस्थायी कर्मचारी हैं जो ३ वर्ष से लेकर १० वर्ष तक सेवा कर चुके हैं लेकिन जिनकी नौकरियाँ अब भी अस्थायी कहलाती हैं और

विज्ञापित लाभ के हर पहलू को अच्छी तरह सोच समझ लिया गया है। विशेषज्ञों के मत को हम ईर्ष्या-प्रेरित कह कर अमान्य भी कर दें, तो साधारण व्यक्तियों की मित-व्यय समिति की सिफ़ारिशों पर ध्यान देना ही पड़ता है। इस समिति की भी राय है कि इन योजनाओं में किसी प्रकार का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया गया; और न इनका राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों तथा माँगों के साथ सन्तुलन किया गया है। यह भी सन्दिग्ध है कि खाद्य-पदार्थों की वृद्धि के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ' के कार्यक्रम को चलाते समय इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि खाद्य-पदार्थों की पैदावार तथा देश के मुख्य उद्योगों को कच्चा माल देने वाली पैदावार का अनुपात ठीक रहे। और यह उस परिस्थिति में, जब कि ये योजनाएँ सफल भी हों तो भी इन्हें पूरा करने में वर्षों लगेंगे। और इस बीच बड़ी अव्यवस्था, बेकारी तथा असन्तोष फैलेगा। इन योजनाओं के कार्यान्वित होने से बेकार होने वाले असंख्य व्यक्तियों का अगर और अच्छा नहीं तो कम से कम उनके वर्त्तमान स्तर की आजीविका का प्रबन्ध करने की समस्या पर उत्तरदायी लोगों को गम्भीरतापूर्वक सोचना चाहिए। अगर यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि इन योजनाओं के सफल हो जाने पर राष्ट्र की पूरी सम्पत्ति में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हो जायगी तो भी इन योजनाओं में इस बात का समुचित प्रबन्ध नहीं किया गया कि उस सम्पत्ति का उन लोगों में जिन पर योजनाओं का असर पड़ेगा, या देश की साधारण जनता में समान तथा न्यायोचित विभाजन हो। इससे भी अधिक गम्भीर समस्या जन-वृद्धि की है जिसका प्रमाण पिछली तीन जन-गणनाओं में मिलता है। यद्यपि यह समस्या राजस्व के क्षेत्र के बाहर की है फिर भी राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था का यह महत्त्वपूर्ण अंग है और राजस्व के प्रबन्धकों को शीघ्र ही इसकी ओर ध्यान देना पड़ेगा। पिछली जन-गणना के अनुसार हमारी जन-संख्या में प्रति वर्ष १५ प्रतिशत के हिसाब से वृद्धि हो रही है; और हमारे खाद्य-पदार्थों का उत्पादन कम हो रहा है। उपर्युक्त योजनाओं के बावजूद खाद्य-पदार्थों के उत्पादन में जन-संख्या की इस वृद्धि के बराबर वृद्धि होना सम्भव नहीं है। बढ़ती जन-संख्या की समस्या को उचित रूप से सुलझाने के लिए सामाजिक व्यवस्था को आमूल बदलना पड़ेगा। हमारे अधिकांश देशवासियों का जीवन-स्तर यों ही बहुत नीचा है, फिर इस प्रारम्भिक कठिनाई के अतिरिक्त यह भी आशंका है कि जन-संख्या की वृद्धि सर्वत्र समान नहीं होगी; और देश में खाद्य-पदार्थों के उत्पादन में जो वृद्धि होगी भी वह जन-संख्या की वृद्धि के कारण निरर्थक हो जायगी।

इस कोटि के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। सबसे महत्त्व का प्रश्न तो यह है कि क्या हमारी आवश्यकता या महत्त्वाकांक्षा और हमारे साधन तथा सामर्थ्य में सन्तुलन स्थापित किया गया है या नहीं? वर्षों पहले कर-नीति के सम्बन्ध में जाँच-समिति बनाने का प्रस्ताव किया गया था किन्तु इस लेख के लिखते समय तक इस दिशा में केवल एक आंशिक प्रयत्न आयात-निर्यात-कर कमीशन की नियुक्ति के रूप में हुआ है। इस कमीशन की जाँच के क्षेत्र तथा इसके उद्देश्यों को निश्चित करते समय भी यह आदेश नहीं दिया गया है कि कमीशन आयात-निर्यात-कर तथा राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के राजस्व सम्बन्धी पहलू के परस्पर सम्बन्ध पर विशेष ध्यान देगा।

अभी तक नये उद्योगों के निर्माण, पुराने उद्योगों के विकास तथा देश के आर्थिक साधनों की उन्नति के लिए राज्य द्वारा दी गयी सहायता भी आकस्मिक तथा अनियमित होने के कारण उपयोगी नहीं हो पाती। इसी प्रकार आवश्यक सार्व-जनिक सेवा-कार्यों का विकास भी—जिसकी ओर पूर्ववर्ती शासकों की सम्पूर्ण उपेक्षा रहती थी और जो इसलिए विशेष उद्योग माँगता था—अभी तक अव्यवस्थित, असंगठित और अपर्याप्त रहा है। कहने को तो केन्द्र तथा प्रान्तों में निर्वाचित सरकार की स्थापना के पश्चात् इन कार्यों पर काफ़ी अधिक व्यय हो रहा है पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि इस व्यय का कितना अंश आलीशान संस्थाएँ खड़ी करने में या अधिकारियों के कृपाभाजनों को मोटी-मोटी तनख्वाहों वाले पद देने में खर्च हो रहा है? अब तक व्यय के अनुपात में परिणाम कुछ भी नहीं है।

इसलिए कोई आश्चर्य नहीं है कि चारों ओर से शासन का व्यय कम करने की माँग की जा रही है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक विभाग का खर्च बहुत अधिक बढ़ गया है, जिसके कई कारण हैं। क़ीमतें बहुत बढ़ी हैं और हर चीज़ में लागत युद्ध पूर्व की अपेक्षा तिगुनी या चौगुनी हो गयी है। सरकारी कार्यालयों तथा पदों की संख्या बहुत बढ़ गयी और लड़ाई के पहले की अपेक्षा कहीं अधिक लोगों को नौकरियाँ दी गयीं। नये विभाग खोले गये और युद्ध-जनित आवश्यक-ताओं को विभिन्न ढंग से पूरी करने के लिए नये-नये मार्ग निकाले गये। क्योंकि इनमें से अधिकांश की उत्पत्ति युद्ध-जनित परिस्थितियों के कारण हुई थी इसलिए इन विभागों, कार्यालयों तथा पदों की स्थापना करते समय उनकी आवश्यकता,

बिना किसी पूर्व सूचना के किसी भी समय छुड़ा दी जा सकती हैं। लेकिन ऐसा कोई भी क़दम उठाया जायगा तो उससे राष्ट्र को कोई लाभ नहीं पहुँचेगा और केवल इन व्यक्तियों पर मुसीबत आ जायगी।

मितव्यय कमेटी की रिपोर्ट अभी तक सरकारी तौर पर नहीं प्रकाशित की गयी है। सुना जाता है कि उसकी पहली सिफ़ारिशों में केवल वेतनों में ही २० करोड़ की कटौती का सुझाव था। हाल के समाचारों से पता लगता है कि इसमें से ६ करोड़ की कटौती मन्त्रिमंडल ने स्वीकार की है। जब तक कमेटी की सिफ़ारिशों पर विचार करके सरकारी व्यय और मानवी आवश्यकताओं पर उसके प्रभावों के अनुसार निश्चय होगा, तब तक वास्तविक और स्थायी किफ़ायत की बची-खुची सम्भावनाएँ भी समाप्त हो जायँगी।

सन् १९४८-४९ के बजट में तत्कालीन अर्थ-मन्त्री ने खर्च में २.५ प्रतिशत कमी करने का वादा किया था। ३५० करोड़ रुपये के कुल व्यय में यह लगभग ८ करोड़ के होता। किन्तु यह बचत सम्भव न हो सकी और पिछले बजट में नये अर्थ-मन्त्री ने ऐसी बचत की आशा नहीं दिलायी।

बिना किसी निश्चित योजना तथा सिद्धान्त के जहाँ-तहाँ कटौती शुरू कर देने से अपरिमित हानि की सम्भावना है। सार्वजनिक व्यय में प्रत्येक सम्भव ढंग से किफ़ायत करनी चाहिए, इसमें तो कोई भी आपत्ति नहीं कर सकता। आर्थिक सुव्यवस्था का यह एक बुनियादी सिद्धान्त है। किन्तु राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की सांगोपांग सफलता के लिए यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि राज्य के साधनों की परताल उसके दायित्वों की पृष्ठभूमि में की जाय, और दोनों को ध्यान में रख कर वैज्ञानिक आधार पर साधनों का उपयोग किया जाय। राष्ट्रीय आय-व्यय की हमारी वर्त्तमान व्यवस्था में ऐसा कोई सन्तुलन नहीं है। वह किसी सिद्धान्त या दीर्घकाल-व्यापी नीति के बिना, केवल काम-चलाऊ और अटकल-पंच्चू ढंग से चल रही है। विगत ६० वर्षों में भारतीय राजस्व की व्यवस्था में बहुत-से करों के प्रकार और महत्त्व में भारी परिवर्तन हो गया है। उदाहरणार्थ आय पर प्रत्यक्ष कर ही है; जब पहले-पहल नियमित करव्यवस्था की गयी तब कोई प्रत्यक्ष आय-कर नहीं लगाया था। अगर मालगुज़ारी को ही प्रत्यक्ष कर माना जाय तो इसे भी कोई वैज्ञानिक रूप नहीं दिया गया था; न तो उसके नैतिक आधार सोचे गये थे न उसमें देने वाले की सामर्थ्य के अनुपात में कर निश्चित करने का यत्न किया गया था। इसके अलावा प्रत्येक प्रान्त की भूमिकर-प्रणाली और मालगुज़ारी की दर में बड़ा अन्तर रहा था। मृत्यु-कर अथवा दाय-कर का प्रचलन अभी नहीं हुआ है। अतिरिक्त कर, अतिरिक्त लाभ कर, तथा पूँजी-वृद्धिकर आदि युद्धकालीन आविष्कार हैं जिन्हें देश की कर-प्रणाली में आत्मसात् करना अभी बाक़ी है। उपार्जित तथा अनुपार्जित आय पर विभिन्न दर से कर लगाने की प्रथा भी केवल कुछ वर्ष पुरानी है। कम आय वाले लोगों से वसूल किये गये कर का आनुपातिक अंश वापस करने की उचित व्यवस्था अभी भी नहीं हुई है। और जब तक राजस्व के सम्बन्ध में वर्तमान दृष्टिकोण चलता रहेगा, पूंजी पर कर लगाने की तो बात भी नहीं की जा सकती। परोपजीवी ज़मींदार वर्ग के उन्मूलन का काम कुछ आगे बढ़ रहा है, पर क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने से इन समाज-विरोधी तत्त्वों का वास्तविक उन्मूलन अभी एक दूर का स्वप्न ही रह जाता है।

आबकारी कर, चुंगी तथा नमक कर आदि अप्रत्यक्ष कर आरम्भ से ही भारतीय राजस्व के अभिन्न तथा महत्त्वपूर्ण अंग रहे हैं। नमक कर तो दो वर्ष पूर्व हटा लिया गया, लेकिन बाक़ी कर अब भी हैं। आबकारी की मुख्य आय मद्य-निषेध के कारण बन्द हो रही है; लेकिन नये केन्द्रीय आबकारी कर बढ़ रहे हैं। राजकीय उद्योगों से, यथा अफ़ीम, रेलवे, डाक-तार, टकसाल और मुद्रा, जंगल और फुटकर विभागों से होने वाली आय में आरम्भ से ही उतार-चढ़ाव आते रहे हैं। केन्द्रीय सरकार की चुंगियों और आबकारी करों से लगभग उतनी ही आय हो रही है जितनी प्रत्यक्ष करों से होती है। सन् १९२१-२२ के फिस्कल कमीशन तथा सन् १९२४-२५ की कर कमेटी के सिवा राष्ट्रीय आयात-निर्यात-कर की नीति के प्रश्नों पर वैज्ञानिक ढंग से विचार नहीं किया गया है और यह नहीं सोचा गया है कि इस प्रकार के करों का उद्देश्य केवल आय बढ़ाना ही नहीं होता। हाल में अप्रैल १९४९ में एक नये फ़िस्कल कमीशन की नियुक्ति हुई है और कर सम्बन्धी कमीशन की नियुक्ति का आश्वासन दिया गया है। किन्तु ऐसे कमीशन स्वतन्त्र रूप से काम करते हैं और उनके कार्य का समीकरण और संयोजन नहीं होता।

राज्य की आय के उपरोक्त सभी साधन आज भी बरते जाते हैं यद्यपि उनके आनुपातिक महत्त्व में काफ़ी परिवर्तन होता गया है। प्रत्यक्ष कर अब प्रथम महत्त्व के हैं और केन्द्रीय सरकार की आधी आय इन्हीं से होती है। किन्तु चुंगी तथा

आयात-निर्यात-कर जैसे अप्रत्यक्ष साधन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। फिर भी गत वर्षों में पूँजीपति तथा विशेष स्वार्थों वाले लोग यह दुहाई देते रहे हैं कि कर का इतना बड़ा भार राष्ट्र की औद्योगिक उन्नति के मार्ग में बाधा डालता है; और सरकार ने इस आरोप को लगभग स्वीकार भी कर लिया है। इस प्रकार शासनाधिकारियों ने जानबूझ कर अपने को विशेष स्वार्थों वाले लोगों के हाथों सौंप दिया है। सन् १९४९-५० के बजट में कई करों में रियायतें; कई वस्तुओं पर नियन्त्रण में हेर-फेर या नियन्त्रण का उठा लिया या उठा कर फिर लगाया जाना, आयात-निर्यात और औद्योगिक नीति के परिवर्तन; श्रमिक वर्ग को धमकियाँ—ये सब कार्य सरकार की दुर्बलता और पूँजीपतियों के सामने झुकने के लक्षण हैं। यहाँ तक कि दो वर्ष पहले कर से बचने वाले लोगों के विरुद्ध जो आदेश सिंह-गर्जना के साथ दिया गया था उस पर प्रगति मेमने की मिमियाहट के साथ हो रही है। उस समय यह अनुमान लगाया गया था कि ग़ैर क़ानूनी ढंग से जो द्रव्य राजकीय कोष में आने से रोका गया है, उसको ठीक-ठीक कूता जाय और कड़ाई के साथ वसूल किया जाय, तो राज्य को कम से कम ५०० करोड़ रुपये की आमदनी होगी। यह धन विकास की चालू समस्त योजनाओं के ख़र्च के लिए पर्याप्त होता और साथ ही इससे मुद्रा-स्फीति की बुराइयों-दोषों को भी काफ़ी हद तक रोकने में सहायक होता। किन्तु अभी तक कोई बड़ी रक़म एकत्र नहीं की जा सकी और जिन लोगों से उगाही होने को थी वे दिन प्रति दिन क़ानूनी हीले निकालते जा रहे हैं। उधर मन्दी का अन्देशा निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

मुद्रा-स्फीति के अस्तित्व को हर कोई स्वीकार करता है और पिछले दो वर्षों में इसमें १०० प्रतिशत वृद्धि हो गयी है। किन्तु अगस्त १९४८ में अर्थशास्त्रियों की समिति ने सुधार के जो उपाय सुझाये थे उनमें से थोड़े ही पूर्ण रूप से स्वीकार किये गये हैं और दृढ़ संकल्प के साथ बरता तो एक भी नहीं गया। वास्तव में तो इस मुद्रा-स्फीति के लिए स्वयं सरकार की शिथिलता, अतिव्यय तथा पूँजीपतियों के सम्मुख अविवेकपूर्ण आत्म-समर्पण ही अधिक उत्तरदायी है, श्रमिकों की उत्पादन-शिथिलता कम, जैसा कि बहुधा आरोप लगाया जाता है। आज बड़े उद्योगपतियों और रटे हुए सरकारी तोतों का सबसे प्रिय नारा है 'उत्पन्न करो या मरो,' लेकिन जहाँ तक श्रमिकों का सम्बन्ध है, इस नारे का अधिक सच्चा रूप यही होगा कि 'उत्पन्न करो और मरो'।

इन सब कारणों से सरकार की साख पर भी अनावश्यक बट्टा लगा है। सूद की दर गिर रही है, और ऋण लेने की सरकारी योजना का भी प्रत्याशित परिणाम नहीं निकला। इसका अर्थ यह समझा गया है कि पूँजीपति वर्ग करों के बढ़ते हुए और असह्य भार के कारण असहयोग कर रहा है। लेकिन यह निष्कर्ष कितना पोच और निराधार है, इसको स्पष्ट करने के लिए राजस्व का प्रबन्ध करने वाले या तो तैयार नहीं हैं, या उन्हें इतनी समझ नहीं है।

ब्रितानी शासन-काल में तो यह दलील समझ में आ सकती थी कि रचनात्मक उद्योगों के लिए भारतीय पूँजी मिलना कठिन है, लेकिन राष्ट्रीय तथा निर्वाचित शासन में अगर यह आरोप सही है तो देश-द्रोह का प्रमाण है और मिथ्या है तो इस लांछन का तुरंत खंडन होना चाहिए। इस देश में पूँजी का अभाव नहीं है। केवल उसे उचित ढंग से खोजने तथा वैज्ञानिक रूप से संचालित करने और उत्पादक कार्यों में लगाने की आवश्यकता है। एक विस्तृत योजना के अन्तर्गत पूँजी का उचित तथा उत्पादक उपयोग करते हुए पूँजी पर उचित मुनाफा भी दिया जा सकता है। किन्तु जब तक पूँजीपति वर्ग अपने को समूचे देश से अलग समझता और विशेष व्यवहार तथा रियायत की माँग करता रहेगा, तब तक न तो सरकार की साख ही बढ़ सकती है और न उत्पादक सरकारी कार्यों को पूर्ण रूप से सफल बनाने की ही आशा की जा सकती है।

इसके लिए एक ऐसी सुनिश्चित तथा सन्तुलित राष्ट्रीय नीति की आवश्यकता है जो देश के समस्त भौतिक साधनों, सामाजिक सेवाओं और सरकारी उद्योगों का एक साथ और समान भाव से अनुसन्धान, अन्वेषण और विकास कर सके। अगर सरकार हर मामले में केवल तात्कालिक आवश्यकता देखती हुई कामचलाऊ निश्चय करती रहेगी, और राष्ट्रीय आर्थिक-व्यवस्था के अन्य पहलुओं से उसका सामंजस्य न करेगी, तो हमारी सब विकास-योजनाएँ अधकचरी, असन्तुलित और डगमगाती रह जायेंगी। ब्रितानी शासन-काल में परस्पर सम्बद्ध प्रश्नों को अलग-अलग करके देखने की जो दुष्ट-स्वार्थपूर्ण परिपाटी चली थी, उसका हमें अन्त करना ही होगा। सरकारी आय को व्यय से, आयात-निर्यात करों को अन्य करों से, रेल को अन्य यातायात साधनों से, मुद्रा और बैंकों को सरकार की साख से अलग कर के देखने की नीति हमें छोड़ देनी होगी। सब एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और किसी एक क्षेत्र की समस्याओं का हल ढूंढ़ने के लिए भी हम

केवल उसी क्षेत्र तक सीमित नहीं रह सकते। कहने को तो बार-बार कहा गया है कि योजनाएँ राष्ट्रीय पैमाने पर हों और उस पर काम भी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से किया जाय; किन्तु व्यवहार में न तो ऐसी योजनाएँ ही बनी हैं और न उनको कार्यान्वित करने का संकल्प ही कहीं नजर आता है।

अप्रैल १९४९

मानववादी राजनीति

मानवेन्द्रनाथ राय

व्यक्ति और राज्य का सम्बन्ध राजनीति-दर्शन का बुनियादी प्रश्न है। यद्यपि सभी आधुनिक प्रजातन्त्रवादी विधानों में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य एक आदर्श के रूप में स्वीकार किया जाता है, और न्यूनाधिक मात्रा में उसे सुरक्षित करने की भी व्याख्या की जाती है, पर वास्तव में संगठन और शक्ति की आवश्यकता के आगे वह गौण हो जाता है। सामूहिक हितों की रक्षा और उन्नति की स्पष्ट अनिवार्यता मानों व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की कल्पना के ही प्रतिकूल जाती है। ऐसा मान लिया जाता है कि सामूहिक हित के लिए जो सहयोग और संगठन अपेक्षित है, व्यक्ति की स्वतन्त्रता के साथ उसका निर्वाह नहीं हो सकता और उसके लिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को सीमित करना अनिवार्य है। इस प्रकार यह मान लिया जाता है कि ऐसे जिस विधान में व्यक्ति पर इस प्रकार के अनिवार्य बन्धन अपेक्षया सब से कम हैं, वह विधान प्रजातन्त्र के आदर्श के निकटतम है और उसी में आदर्श सुरक्षित है।

किन्तु वास्तव में ऐसी सुरक्षा बिल्कुल काल्पनिक होती है। क्योंकि जब एक बार यह मान लिया जाय कि सामूहिक हित के लिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को सीमित करना उचित हो सकता है, तब यह सहज ही परिणाम निकाला जा सकता है कि इन दो विरोधी आदर्शों में एक की सम्पूर्ण उपेक्षा के द्वारा दूसरे की सम्पूर्ण सिद्धि हो सकती है। समूहवादी सभी राजनीतिक सिद्धान्त इसी स्पष्ट परिणाम पर पहुँचे भी हैं—उनकी राष्ट्रीयता चाहे समाजवादी हो, चाहे वर्गवादी। आज की प्रत्येक देश की राजनीति का आधार इन दोनों में से किसी एक प्रकार का समूहवाद है।

'दृढ़ व्यक्तिवाद' का देश अमरीका भी इसका अपवाद नहीं है। बड़े से बड़े अमरीकी से भी अमरीका बड़ा है, और तथाकथित 'अमरीकी जीवन-परिपाटी' का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक अमरीकी व्यक्ति का जीवन एक कल्पित सामूहिक अहं की इच्छा के अनुसार नियमित हो और उस अहं के बनाये हुए ढर्रे पर चले। व्यवहार में ये 'राष्ट्र राज्य' भी वर्गवादियों और समाजवादियों के 'वर्ग राज्य' से कुछ भी अधिक महत्त्व व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के आदर्श को नहीं देते। कोई आधुनिक प्रजातन्त्र राज्य अभी राष्ट्रीय समूहवाद से आगे नहीं बढ़ा है। परिणामतः राजनीति-दर्शन का मूल प्रश्न, व्यक्ति के स्वातन्त्र्य और सामाजिक संगठन की आवश्यकता के समन्वय का प्रश्न, आज भी ज्यों का त्यों बना है और हल नहीं हो सका है।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को प्रजातन्त्र की भित्ति माना जाता है। किन्तु प्रजातन्त्र राज्य की, बल्कि समाज की भी कल्पना समष्टि-मूलक की जाती है। लेकिन समष्टिवाद और व्यक्तिवाद परस्पर-विरोधी सिद्धान्त है, अतः प्रजातन्त्र राज्य की कल्पना ही अन्तर्विरोधी है; और प्रजातन्त्रवाद यथार्थवादी हो ही नहीं सकता। इसी लिए मार्क्स इस परिणाम पर पहुँचा कि राज्य-शक्ति मूलतः एक बाध्य करने वाला यन्त्र है: आधुनिक प्रजातन्त्र राज्य समाज पर पूँजीवाद के आधिपत्य के साधन अथवा यन्त्र हैं और उसके स्थान पर इसलिए श्रमिक वर्ग की सर्व-सत्ता स्थापित होनी चाहिए। अगर प्रजातन्त्रवादी सिद्धान्त और व्यवहार का अन्तर्विरोध सचमुच न मिट सकनेवाला हो तब तो मार्क्सीय राजनीति-दर्शन की युक्ति अकाट्य है, भले ही उसकी यह कल्पना हमें अग्राह्य हो कि आगे चल कर एक वर्गातीत समाज में इस राज्य-रूपी यन्त्र की आवश्यकता नहीं रहेगी।

प्रजातन्त्रवाद का आधुनिक आदर्श अपनी व्युत्पत्ति के अन्तर्विरोधों के कारण ही ह्रासगत हुआ है। रूसो ने 'सार्वजनिक इच्छा' की जो उद्भावना की, और प्रजा को ही शक्ति-प्रमाण मान कर जो प्रजातन्त्रवाद का सिद्धान्त प्रचारित किया उसी में सर्वसत्तावाद और तानाशाही का नैतिक और सैद्धान्तिक समर्थन निहित है। समष्टि को शक्ति-प्रमाण मानने की दलील यह थी कि समाज का आधार एक समझौता अथवा प्रतिश्रुति है, और रूसो के अनुसार इस समझौते का अभिप्राय यही था कि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत अधिकार और हितों का त्याग कर देता है। इस प्रकार

'आधुनिक प्रजातन्त्रवाद का सन्देशवाहक' कहलाने वाला रूसो ही तानाशाही का वैचारिक आधार भी प्रस्तुत करता है। आधुनिक राजनीति-दर्शन सब के सब इसी भ्रान्त धारणा पर, व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध की इस भ्रान्त परिभाषा पर, आश्रित होते हैं: और इसी से वैधानिक प्रजातन्त्रवाद, फ़ासिवादी सर्वसत्तावाद, वर्गवादी डिक्टेटरशाही सब आरम्भ होते हैं। इस बुनियादी भ्रान्ति को स्वीकार कर लेने से एक सिरे पर सर्वसत्तावाद—चाहे फ़ासिस्ट चाहे कम्यूनिस्ट—और दूसरे सिरे पर अराजकवाद दोनों ही को युक्तियुक्त प्रमाणित किया जा सकता है। उदारवाद जब अराजकवाद की सीमा तक न जाकर पहले ही रुक जाता है, तो कहा जा सकता है कि उसने व्यक्तिवाद का बुनियादी सिद्धान्त छोड़ दिया, क्योंकि व्यक्तिवाद की चरम निष्पत्ति ही अराजकवाद है; इस प्रकार प्रजातन्त्रवाद की खिल्ली उड़ायी जाती है और उसके निन्दक किसी न किसी प्रकार के स्पष्ट या छिपे सर्वसत्तावाद का समर्थन करने लग जाते हैं। प्रजातन्त्रवाद की व्यावहारिक असफलता से चारों ओर फैली हुई गड़बड़ और कुंठा में सर्वसत्तावाद का यह समर्थन इसलिए असर रखता है कि वह डूबते को तिनके का सहारा जान पड़ता है।

किन्तु फिर भी आज तक प्रस्तुत की गयी शासन-प्रणालियों में प्रजातन्त्र से श्रेष्ठतर कोई नहीं है। सैद्धान्तिक रूप से वह समाज का सर्वोत्तम सम्भव राजनीतिक संगठन है। इसलिए प्रजातन्त्र के आदर्श की पुनः स्थापना, और उसकी सैद्धान्तिक भूमिका के साथ उसके व्यवहार का सामंजस्य करना, आज की प्रथम आवश्यकता है। राजनीतिक विचारकों और समाज-निर्मायकों के सामने चुनौती देता हुआ प्रश्न यह है कि 'क्या प्रजातन्त्र सम्भव है ?" किन्तु आज तक का सामाजिक अनुभव, सांस्कृतिक उन्नति और राजनैतिक दर्शन प्रजातन्त्र के आदर्श के प्रति इतनी गहरी आस्था रखता है कि डिक्टेटरी के समर्थक भी उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। आधुनिक राजनीतिक-दर्शन के इस मूल सिद्धान्त को मूलतः अस्वीकार केवल हिटलर और मुसोलिनी जैसे गौरवोन्मादियों ने ही किया है। और सब आलोचक या विरोधी अपने-अपने नये मतवादों का समर्थन इसी आधार पर करते हैं कि उनके बिना समर्थ और स्थायी प्रजातन्त्रवादी शासन की स्थापना नहीं हो सकती। प्रजातंत्र के विरुद्ध अभी तक सब से अधिक समर्थन पाने वाला मतवाद वर्गवादी मजदूर डिक्टेटरशिप का है, किन्तु उसका समर्थक भी कहता है कि वह सच्चे प्रजातन्त्र का आधार होगी, क्योंकि उसमें राजनीतिक स्वतन्त्रता आर्थिक समानता द्वारा पुष्ट होगी। अतः इस मतवाद में भी प्रजातन्त्र का अस्वीकार नहीं है। यह दूसरा प्रश्न है कि सर्वसत्तावाद से जनसत्तात्मक प्रजातंत्र कभी उत्पन्न हो भी सकता है या नहीं। इस सबसे सिद्ध होता है कि सर्व-सम्मति से, जिसमें विरोधियों की सम्मति भी शामिल है, प्रजातन्त्र ही समाज का श्रेष्ठ राजनीतिक संगठन है। उसे सफल करने के प्रयत्न 'हारी हुई पाली के लिए लड़ना' नहीं है। किन्तु उसकी सफलता तभी हो सकती है जब वे प्रयत्न साहस-पूर्ण, मौलिक, ईमानदारी और आत्मविश्वास से पूर्ण हों।

प्रजातन्त्रवाद की पुनःप्रतिष्ठा के लिए सब से पहले व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का नया निरूपण करना आवश्यक है। बल्कि इस प्रश्न को ठीक-ठीक परिपार्श्व में देखने के लिए और भी गहरे जाकर यह देखना आवश्यक है कि मानव और समाज का मूल सम्बन्ध क्या था। राज्य क्योंकि मानवी समाज का एक राजनीतिक संगठन है, अतः राज्य और व्यक्ति का सम्बन्ध समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध का ही एक प्रस्फुटन है। सभ्य समाज के विकास के जितने लौकिक सिद्धान्त हैं, सभी मानते हैं कि इस सम्बन्ध में व्यक्ति पहले आता है। नृतत्त्व की खोज से यह मालूम हुआ है कि समाज की बुनियाद आदिम मानव की सहयोग-चेष्टाएँ ही हैं जिनके द्वारा वह अस्तित्व के संघर्ष को सफलतापूर्वक चला सके। अर्थात् समाज व्यक्ति ही की रचना है। इस अनुभव-सिद्ध तथ्य से व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध का निरूपण अपने आप स्पष्ट हो जाता है। मानवी समाज के राजनीतिक संगठन के रूप में राज्य भी मानवी रचना ही है, और उसका व्यक्ति को सर्वथा गौण और अधीन बनाने का दावा करना रचना और रचयिता के सम्बन्ध को उलट देने का प्रयत्न है।

आदिम राज्य न तो किसी सामाजिक प्रतिश्रुति या समझौते का परिणाम था, और न समाज पर प्रभुत्व क़ायम करने के लिए कुछ विशेष व्यक्तियों या वर्गों द्वारा प्रस्तुत किया गया यन्त्र। वह एक सहज स्वाभाविक और लगभग यान्त्रिक क्रिया थी, जिसकी मूल प्रेरणा सभी का यह अनुभव था कि सब की सुरक्षा और सार्वजनिक मामलों की व्यवस्था के लिए सहयोग आवश्यक है। कालान्तर में शरीर से समर्थ और अधिक विकसित बुद्धि वाले सदस्यों ने नेतृत्व अपने हाथों में ले लिया। उनको राज्य की रक्षा और व्यवस्था का काम सौंपा गया। इस प्रकार राजवंशों की और पुरोहित वर्गों की नींव पड़ी, जिन्होंने फिर शासन के अधिकार को ईश्वर-प्रदत्त बताया—जिस दावे का अनन्तर प्रजातन्त्रवाद के

राजनीतिक दर्शन ने खंडन किया। प्रजातन्त्रवाद यही है कि राज्य मानव की सृष्टि है और इसलिए व्यक्ति को हीन और अधीन रखने की उसकी माँग अन्याय्य है; बल्कि इसके प्रतिकूल राज्य ही नागरिकों द्वारा नियन्त्रित होना चाहिए जिससे वह व्यक्तिस्वातन्त्र्य की रक्षा और सार्वजनिक हितों की साधना का अपना कर्त्तव्य ठीक से निबाह सके।

हुआ यह है कि सामाजिक और राजनीतिक संगठन की बढ़ती हुई पेचीदगी के साथ-साथ व्यक्ति की पराधीनता भी बढ़ती गयी है। सदियों के अनुभव का निष्कर्ष यह निकाला गया है कि सुरक्षा की प्राप्ति स्वतन्त्रता के विनाश में ही हो सकती है। किन्तु क्या राज्य सचमुच ऐसा दानव है ? क्या वह सचमुच हँडिया में से निकलनेवाला जिन्न है ? क्या मानव अपनी सृष्टि का गुलाम हो गया है ? नया राजनीति-दर्शन इसी चुनौती का उत्तर है जो व्यक्ति के स्वतन्त्र होने की सम्भावना को ही अस्वीकार करती है। नये दर्शन के अनुसार सामाजिक और राजनीतिक संगठन का उद्देश्य है मानवी व्यक्तित्व के विकास में सहायक होना; और इस मूल उद्देश्य की पूर्ति के उद्योग द्वारा ही समाज समता के उस आदर्श के निकट पहुँच सकता है जो अभी काल्पनिक जान पड़ता है। इस दिशा में बढ़ने के लिए पहला क़दम यह है कि राज्य का पुनःसंगठन इस सिद्धान्त के आधार पर किया जाय कि सत्ता का मूल प्रमाण जनता है, कि जनता व्यक्तियों का समूह है, अर्थात् अन्ततो गत्वा सत्ता का प्रमाण वे व्यक्ति हैं जो कि राज्य के अंग हैं।

सिद्धान्ततः सत्ता के मूल प्रमाण की बात ठीक थी, किन्तु व्यवहार में जनता की सत्ता की बात एक बात ही बन कर रह गयी, क्योंकि यथार्थ जीवन की कटु वास्तविकता ने प्रजातन्त्रवादी राजनीति-दर्शन के मानवी सारभाग को ही दूषित कर दिया। मानव-मानव की समता की —चाहे न्याय की दृष्टि में, चाहे निरे सिद्धान्त की—घोषणा तो की गयी, किन्तु वास्तव में असमानता विद्यमान रही। सिद्धान्त में राज्य की सत्ता पर व्यक्ति मात्र का अधिकार था, किन्तु वास्तव में शासन की सत्ता पर कुछ एक व्यक्तियों का ही अधिकार था, और कुछ एक ही उसे अधिकार के रूप में जानते थे। ऐसी स्थिति में प्रजा की सत्ता की बात एक क़ानूनी कल्पना मात्र ही थी। व्यवहार यह था कि "क्योंकि समूह का बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास असमान है, इसलिए साधारण प्रजा की सत्ता निधि-रूप में थोड़े-से व्यक्तियों में न्यस्त कर दी जाय जो कि सार्वजनिक मामलों में निपुण हैं; ये थोड़े-से व्यक्ति शासकों का वर्ग बन जाते थे और प्रजा की सत्ता को हथिया लेते थे। जन्म से ही प्रजातन्त्र रूसो के सर्वसत्तावाद के प्रेत से आविष्ट था। सामयिक चुनावों द्वारा प्रजा की सत्ता को कुछ एक व्यक्तियों में न्यस्त करना इतना आवश्यक होता था कि उसे सहज ही उचित भी मान लिया जाता था, और इसी के लिए व्यक्ति के हितों की उपेक्षा उस समष्टि की इच्छा के नाम पर कर दी जाती थी जिसका प्रतिपादन एक भ्रान्त परिभाषा के इस रूमानी पैग़म्बर ने किया था।

किन्तु रूसो के साथ न्याय करने के लिए यह भी याद रखना आवश्यक है कि उसने प्रजातन्त्र और तानाशाही को इसलिए मिला दिया कि प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र, जो प्राचीन यूनान के नगर राज्यों में चालू था, आधुनिक जगत् की इतनी विशाल राजनीतिक इकाइयों में नहीं चल सकता था। व्यवहार में प्रजातन्त्र को दार्शनिक व्यक्तिवाद के सिद्धान्त के प्रतिकूल ले जाने का एक और कारण भी था। वह था रोमन साम्राज्य और कैथलिक चर्च-सत्ता के विरुद्ध राष्ट्र-राज्यों का विद्रोह। राष्ट्रवाद के साथ सम्बद्ध होने के कारण प्रजातन्त्रवाद पर भी समष्टि भावना का रंग छा गया। राष्ट्र-राज्यों ने, चाहे वे एकराज्य हों चाहे प्रजातन्त्र, यह दावा किया कि वे समष्टि की इच्छा के प्रतीक हैं और इसलिए क़ानून और नीति दोनों की दृष्टि से अधिकार रखते हैं कि व्यक्ति नागरिक की सुविधा की उपेक्षा कर सके। राष्ट्र की एक आध्यात्मिक परिकल्पना हुई—वह अपनी अवयव इकाइयों के, मानव व्यक्तियों के, योग से अधिक बड़ा मान लिया गया। प्रजातन्त्रवाद अपने मानववादी खूँटे से छूट गया। राजनीतिक उदारवाद का व्यक्तिवादी सिद्धान्त भी, यद्यपि अलक्षित रूप से, मानववादी पीठिका से च्युत हो गया। मानव को आर्थिक दृष्टि से निरे श्रमी हाथ, और राजनीतिक दृष्टि से निरे वोट, समझ लिया गया; जिनको समय-समय पर चुनाव के लिए फुसलाना-वरग़लाना ही इष्ट है।

प्रजातन्त्र के राजनीति-दर्शन की प्रतिज्ञाएँ इसलिए नहीं पूरी हुईं कि व्यवहार में यह भुला दिया गया कि प्रजातन्त्री राज्य की इकाई मानव व्यक्ति है। अतः प्रजातन्त्री आदर्श की पुनःप्रतिष्ठा करके उसे एक व्यावहारिक सत्य बनाने के लिए यह आवश्यक है कि राजनीति-दर्शन के बुनियादी प्रश्न को फिर से मानववादी दृष्टिकोण से देखा जाय —इतना ही नहीं, जीवन की नयी मानववादी व्याख्या की जाय।

मानव मात्र की समानता का आदर्श केवल एक कल्पना ही रह जाय, या केवल क़ानून के सामने समानता का

रूप ले लें, यह आवश्यक नहीं है। उस आदर्श को व्यवहार में अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि जीव वैज्ञानिक इकाई के—प्राणी के—रूप में मानव में प्रतीक रूपेण विकास करने की समान अन्तःशक्ति विद्यमान है। इस मानवी अन्तःशक्ति या सम्भावना की प्रकट अभिव्यक्ति में सहायक होना ही सामाजिक संगठन का उद्देश्य और धर्म है। राज्य का धर्म या कर्तव्य भी इसी से निरूपित होता है; सार्वजनिक सम्बन्धों का ऐसे ढंग से नियमन करना कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधा डाले बिना वह समष्टि की हित-साधना कर सके। प्रजातन्त्रमूलक नियमों से निर्धारित सामाजिक सहयोग क्योंकि मानवी अस्तित्व की सम्भावनाओं के विकास में सहायक होता है, इसलिए ऐसे समाज-संगठन और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में कोई विरोध नहीं रह जाता। दूसरे शब्दों में, प्रजातन्त्र तभी सम्भव है जब उसका आधार मानववादी दर्शन हो। इस दर्शन के अनुसार प्रजातन्त्री समाज, और उसका राजनीतिक संगठन व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के आदर्श की साधना करते हुए मानव के स्वेच्छित, बुद्धिमूल, और सोद्देश्य सहयोग की नींव पर खड़ा किया जा सकता है।

प्रजातन्त्रवाद की सफलता की पहली शर्त है शिक्षा का प्रसार, जैसा कि आधुनिक प्रजातन्त्री युग के आरम्भ से सदियों पहले प्लातू ने अनुभव किया था। इस प्रसंग में शिक्षा का अर्थ है समाज के अंग व्यक्तियों का ऐसा मानसिक और सांस्कृतिक विकास जिससे वह स्वातन्त्र्य की अन्तःप्रेरणा का अनुभव कर सके और उसे क्रमशः बढ़ती हुई मात्रा में प्राप्त करने की अपनी शक्ति का उन्हें बोध हो। ऐसे व्यापक बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास की क्रिया केवल मानववादी दर्शन द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है, जो आधुनिक वैज्ञानिक शोध के प्रमाण से सिखाता है कि मानव मूलतः बुद्धिजीवी और रचनाशील प्राणी है। अपने जैविक अस्तित्व की अन्तहीन अपरिमेय सम्भावनाओं के कारण ही कोई एक मानव किसी दूसरे मानव के समान हो सकने की सामर्थ्य रखता है। इस प्रकार मानववादी दर्शन मानव मात्र की समानता के प्रजातन्त्री आदर्श की व्यावहारिक उपलब्धि को सम्भव बनाता है।

मानववाद केवल एक चिन्तन की पद्धति नहीं है। वह राजनीतिक कर्म को प्रेरित कर सकता है और प्रजातन्त्र की सफलता को निश्चित कर सकता है। बल्कि केवल मानववादी राजनीतिक व्यवहार ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर आधारित प्रजातन्त्र-मूलक राज्य की स्थापना कर सकता है; वही समाज को स्वाधीन मानवों के ऐसे सहयोग-मूलक समवाय का रूप दे सकता है जो दूसरों की स्वतन्त्रता की सजग रक्षा के द्वारा ही अपनी स्वतन्त्रता को भी अक्षुण्ण बनायेगा।

मानव अगर समाज का रचयिता और राज्य की सत्ता का अन्तिम प्रमाण और स्रोत है, तब समाज के किसी भी पुनःसंगठन, राज्य की पुनर्रचना के लिए पहले मानव का नया विकास अपेक्षित है। इस के लिए वैज्ञानिक ज्ञान का प्रचार, और इतिहास की इस शिक्षा का ग्रहण कि मानव स्वयं अपने भाग्य को बनाता या बिगाड़ता है, आवश्यक है। इससे उसका दृष्टिकोण बदलेगा, उसमें अपनी रचना-शक्ति का बोध जागेगा, और उसकी अकथित सम्भावनाओं का प्रस्फुटन हो सकेगा। तब प्रजातन्त्र केवल राजनीतिक शक्तिलोलुप दलबन्दियों के शिकार मतदाताओं का झुंड न रह कर ऐसे नर-नारियों का समाज बनेगा जो अपनी सर्वोपरि सत्ता को पहचानते हैं और स्वतन्त्र रूप से उसका संचालन भी कर सकते हैं; प्रातिनिधिक शासन के मिथ्या प्रजातन्त्री सिद्धान्त के नाम पर उस सत्ता को किसी प्रभु वर्ग या पेशेवर राजनीतिक समुदाय के हाथ नहीं सौंप देते। आधुनिक जगत् की बड़ी बड़ी राजनीतिक इकाईयों में और जटिल समाज-संगठनों में भी छोटे-छोटे सहयोगी समवायों के जाल के द्वारा प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सम्भव होगा। आज के कोरे प्रातिनिधिक प्रजातन्त्र के अकेले असहाय मतदाता का स्थान ये सहयोगी समवाय लेंगे। राज्य का ऐसा संगठन, शक्ति का ऐसा केन्द्रीकरण नहीं होने देगा जो वास्तव में प्रजातन्त्रवाद का खंडन है।

आधुनिक राजनीतिक दर्शनों ने प्रजातन्त्र की बात करते हुए वास्तव में किसी न किसी प्रकार के समष्टिवाद का ही प्रचार किया है। इसी लिए उसने एक ओर हेगेल और दूसरी ओर मार्क्स की राज्य-परिकल्पना को जन्म दिया; दोनों ही सर्वसत्तावादी और अधिनायकतन्त्र-मूलक हैं। कोई भी समष्टिवाद प्रजातन्त्रता के मूल सिद्धान्त का खंडन करता है, क्योंकि वह व्यक्ति को गौण मानता है। बल्कि प्रजातन्त्रवाद के साथ ही समष्टि-भावना ऐसी बद्धमूल हो गयी है कि उसे अलग करने के लिए व्यक्ति की प्राथमिकता पर जोर देना आवश्यक है। अतः प्रजातन्त्रता की पुनःप्रतिष्ठा की बुनियादी शर्त है उसकी मानववादी परम्परा की पुनःस्थापना। और स्वतन्त्र व्यक्तियों के स्वतन्त्र समाज के चिर-पोषित आदर्श को कोरी कल्पना ही नहीं बने रहना है, तो राष्ट्रवादी, समाजवादी, वर्गवादी राजनीतियों का स्थान मानववादी

राजनीति को लेना होगा। मानववादी राजनीति इन दूसरी राजनीतियों के सभी रचनात्मक पहलुओं को अपनाती है, और उससे अधिक बहुत कुछ देती है। 'प्रजातन्त्रवाद' शब्द द्वयर्थक हो गया है, इसलिए मानववादी राजनीति ही सामाजिक उन्नति का अधिक उपयोगी साधन हो सकती है।

अब तक राजनीति-दर्शन राष्ट्रों और वर्गों की बात सोचता आया है। इसका परिणाम हुआ है कि मानवी व्यापारों से मानव ही बहिष्कृत हो गया है। अब राजनीति-दर्शन को अन्ततोगत्वा मानवों की ही बात सोचनी होगी, और समाजनिर्मायिकों को समझना होगा कि जिस भवन का निर्माण वे करना चाहते हैं उसकी ईंट मानव व्यक्ति है, और स्वतन्त्र समाज का निर्माण केवल स्वतन्त्र मानवों के आधार पर और उन्हीं के द्वारा हो सकता है। सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का मानववादी विवेचन, मुक्त मानवों की संख्या में वृद्धि करेगा और इस प्रकार विश्वव्यापी सहयोग-मूलक जन-संगठन के आदर्श की प्राप्ति में निर्णयात्मक सिद्ध होगा।

अप्रैल १९४९
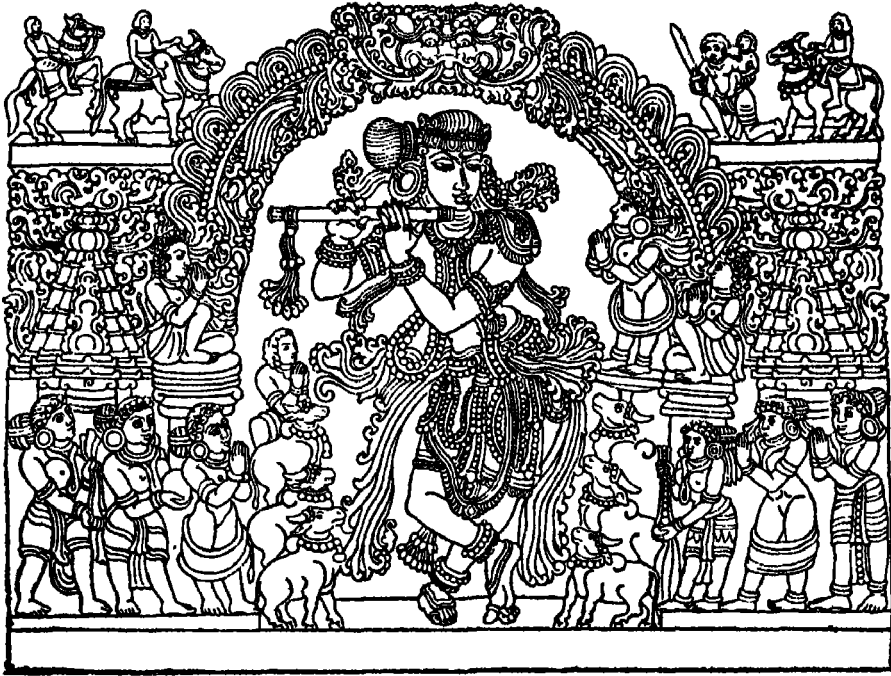
भारत में प्रजातन्त्र

क० अ० नीलकंठ शास्त्री

एक राष्ट्रव्यापी शासन-पद्धति के रूप में प्रजातन्त्र का जन्म अमरीका की स्वाधीनता के साथ हुआ। फ़ान्स की क्रान्ति ने उसकी नींव दृढ़ कर दी। उन्नीसवीं शती नाना संघर्षों और तनावों के बावजूद प्रजातन्त्र के परिणामों से खूब सन्तुष्ट दिखाई पड़ी। किन्तु ऐसी धारणा थी कि प्रजातन्त्र प्रणाली गोरी जातियों का विशेषाधिकार है—यद्यपि क़ैसर, ज़ार तथा कुछ अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व ने उस दावे को काफ़ी खोखला कर दिया था। जो हो, यह उस समय स्वयंसिद्ध बात मानी गयी थी कि काली जातियों को राजनीतिक स्वतन्त्रता अथवा लोकसत्तात्मक जीवन का कुछ ज्ञान भी नहीं है, और वे उसके योग्य नहीं हैं। उनकी सँभाल 'गोरी जातियों का बोझ' समझा जाता था। इस विचार ने प्रतिद्वन्द्वी साम्राज्यों को जन्म दिया जिनकी परिणति विश्व-युद्ध में हुई। निरंकुश एकसत्तावाद से प्रजातन्त्र खतरे में पड़ गया, और राष्ट्रपति विल्सन, इँग्लैंड तथा पूर्वी जगत् ने प्रजातन्त्र की सुरक्षा के लिए एक युद्ध में सहयोग किया। इसी का परिणाम यह हुआ कि लार्ड मार्ले द्वारा प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली के त्याग के २० वर्ष से भी कम समय बाद, भारत में ब्रितानी नीति का ध्येय यह घोषित किया गया कि भारत में उत्तरदायी स्वराज्य की क्रमिक स्थापना हो। इसके बाद का इतिहास तो हमारे अपने जीवन-काल की घटना है। सन् १९१९ के शासनसुधार आये, कांग्रेस ने उनका बहिष्कार किया। जिन लोगों ने निष्ठापूर्वक उन सुधारों को कार्यान्वित किया वे भी उनसे सन्तुष्ट न थे। फिर देश की राजनीतिक हलचलों के बीच साइमन कमीशन आया और गोलमेज़ सम्मेलन किये गये। फिर १९३५ का ऐक्ट पास हुआ, नये चुनावों के बाद अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारें स्थापित हुईं जिन्होंने भारत के, उसकी राय लिये बिना, दूसरे विश्व-युद्ध में घसीटे जाने पर इस्तीफ़े दे दिये। इसके बाद स्थिति को सुलझाने में असफलता, गान्धीजी द्वारा 'भारत छोड़ो' की माँग और युद्धोत्तर मज़दूर-दली सरकार द्वारा उसकी स्वीकृति, ये सब घटनाएँ एक के बाद एक द्रुत गति से हुईं। और आज स्वतन्त्र भारत को अपनी पसन्द की सरकारें मिली हैं, और विधान सम्मेलन नये विधान को अन्तिम रूप दे रहा है। वयस्क मताधिकार स्वीकार कर लिया गया है और उसके आधार पर सन् १९५० में चुनाव होने का आदेश कर दिया गया है।

घटनाओं की इतनी तीव्र प्रगति—विशेष कर इस दशक में जो अब समाप्त होने जा रहा है—संसार के इतिहास में कम दिखाई पड़ेगी। नेताओं को फूंक-फूंक कर चलने का समय अथवा अवसर कम ही मिला है। किन्तु बड़े-बड़े आदेश जारी कर देना आसान है, उनको कार्यान्वित करना इतना सुगम नहीं है। विधान सम्मेलन ने जब वयस्क मताधिकार का प्रस्ताव पास कर दिया और उसके आधार पर सन् १९५० में चुनाव करने का निश्चय किया, तब कुछ ही समय बाद ज्ञात हुआ कि कांग्रेस के अध्यक्ष ने मतदाताओं का रजिस्टर तैयार करने के मार्ग में व्यावहारिक कठिनाइयों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। जब मद्रास जैसे बड़े नगरों में सूची बनाने की कारंवाई आरम्भ हुई तो सामयिक पत्रों में उस प्रणाली की त्रुटियों की बड़ी शिकायतें आने लगीं। यह समझने के लिए अधिक विचार या कल्पना की आवश्यकता नहीं कि इस देश के बालिग़ों की सन्तोष-जनक पूर्ण परिगणना कराने में, नाम-पते सहित सब मतदाताओं की सूची छपाने में, और उनकी सहायता से सारे देश के अन्दर वर्तमान अवस्था में, जब कि साक्षरता इतनी कम है, चुनाव का संचालन करने के मार्ग में कितनी भारी कठिनाई है। फिर भी निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि निरक्षरता के बावजूद आज का साधारण व्यक्ति भी राजनीतिक चेतना रखता है। उसको राजनीति तथा स्वाधीनता में प्रवेश कराने का श्रेय गान्धी जी के मौलिक तथा प्रेरणाप्रद नेतृत्व को है। यदि नयी राजनीतिक व्यवस्था में देश के कार्यों के संचालन में उसकी कोई आवाज़ नहीं रहने दी गयी तो वह हताश होगा। मेरी धारणा हो चली है कि पाश्चात्य शैली के बालिग़ मताधिकार में गणना की कठिनाई को ध्यान में रखकर ही गान्धी जी बहुधा 'पंचायत राज' की चर्चा करते थे। इससे यह लाभ भी है कि वर्तमान का सम्बन्ध भूत की राजनीतिक परम्पराओं से जुड़ जाता है। आधुनिक युग में पश्चिम में प्रतिनिधि-शासन का जो रूप विकसित हो

गया है उससे प्रजातन्त्र कहीं अधिक व्यापक अर्थ रखता है। वह जीवन की ऐसी पद्धति है जो मतभेदों को सहन करती है और सार्वजनिक कार्यों के संचालन में बल-प्रयोग की अपेक्षा तर्क, और सहज स्वीकृति की नीति को श्रेयस्कर समझती है। इसमें यह भी मान लिया जाता है कि किसी विषय पर अन्तिम निर्णय किये जाने के पूर्व उससे सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति अथवा दल को अपनी राय प्रकट करने का अवसर मिलेगा। यदि हम प्रजातन्त्र को इस व्यापक अर्थ में लें तो परीक्षा करने पर विदित होगा कि भारत तथा पूर्व में साधारण तौर पर प्राचीन काल से ही ऐसी अनेक संस्थाएँ काम करती रही हैं जो पर्याप्त मात्रा में प्रजातन्त्र की सच्ची भावना से प्रभावित हैं। यहाँ यह भी जान लेना कदाचित् लाभदायक होगा कि प्रजातन्त्र का जो अर्थ हमने समझा है, उस अर्थ में आधुनिक जगत् में उसका ठीक से निर्वाह नहीं हुआ—कम से कम बीसवीं शती के प्रारम्भ से।

आधुनिक यान्त्रिक उद्योग ने जो महान् प्रगति की है उससे ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं जिन्हें हल करने की नैतिक क्षमता मनुष्य में नहीं आयी है। प्रजातन्त्र को न केवल बड़े-बड़े प्रदेशों से विभिन्न प्रकार की तानाशाही से हार खाकर हटना पड़ा; बल्कि जिन देशों में प्रजातन्त्र ने जनता की संस्कृति और परम्परा में मजबूती से अपनी जड़ जमा ली जान पड़ती थी, उन्हें भी बाध्य होकर अपने पुराने विचारों में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी। हमारे युग के एक प्रसिद्ध विचारक अलेक्सिस कैरेल ने कहा है, "हम अपनी आँखों से अपनी नैतिक, बौद्धिक तथा सामाजिक पराजय देख रहे हैं। हम इस भ्रम में पड़े रहे हैं कि अपढ़ लोगों के निर्बल और संकीर्ण प्रयत्नों के बावजूद प्रजातन्त्र जीवित रहेगा; लेकिन हम अब देख रहे हैं कि उसका ह्रास हो रहा है।" जेरल्ड हर्ड, स्टाइनर तथा वाटरमैन जैसे अन्य व्यक्तियों का ख्याल है कि आधुनिक औद्योगिक समाज में किसी स्पष्ट व्यावहारिक सामाजिक आदर्श का अभाव है, और वे पूर्व के उन समाजों पर उत्सुकतापूर्ण दृष्टि डालते हैं जिनमें कुटुम्ब की भावना स्थायी आदर पाती है और कार्य अथवा पेशे की समानता एक स्थायी और स्वयं नियमित सम्बन्ध पैदा करती है। कुछ और लोग वर्तमान अशान्ति के लिए धार्मिक भावना के अभाव को दोषी ठहराते हैं। "भौतिक दृष्टि से हम जो कुछ कार्य सम्पन्न कर सके हैं, उसी पर अहंकार करके बहुत-से लोग धर्महीनता को ही उत्तरदायित्व का रूप देने का प्रयत्न करते रहे हैं। नास्तिकता का उन्होंने चलन कर दिया है।" (ड्यूई) आज का पश्चिम किसी भी दृष्टि से सामाजिक अथवा राजनीतिक स्वास्थ्य का चित्र नहीं है। इस बात का अनुभव उन प्रयत्नों को रोकने में सहायक होगा जो पश्चिम की संस्थाओं को ज्यों का त्यों पूर्व में ला जमाने के लिए किये जा रहे हैं।

इसके विपरीत, प्रजातन्त्र के मूलभूत आदर्श भारत के लिए इतने नये नहीं हैं जितना कि हम कभी सोचते हैं। पेरिक्लीज के एक अन्त्येष्टि भाषण का सन्दर्भ है: "स्वतन्त्रता हमारे सामाजिक जीवन का सिद्धान्त है। अपने दैनिक जीवन में हम एक दूसरे पर सन्देह नहीं करते, अपने पड़ोसी पर इसलिए क्रोध नहीं करते कि वह अपने ढंग से जीवन यापन करता है, और न उसे ऐसी अवहेलना से ही देखते हैं जो हानिकर भले ही न हो, क्लेशप्रद अवश्य होती है।" एथेन्स एक नगर-राज्य था जिसके नागरिकों की संख्या हजारों में थी। भारत सदैव इससे कहीं बड़े-बड़े राज्यों का देश रहा, जिन सब की राजनीति की बुनियादी इकाई ग्राम थे, और जिनमें स्थानीय विभिन्नताओं के रहते हुए भी एक समान सामाजिक संगठन था। किन्तु व्यक्तियों की जगह समूहों को रखने पर पेरिक्लीज की उक्ति प्राचीन भारत पर भी उतनी ही लागू होती है जितनी उस समय के एथेन्स पर। मनु ने कहा है कि "दूसरे की इच्छा की अधीनता दुःख है। अपने से जो कुछ भी तुम कर सकते हो उसे यत्न के साथ करो। जो कुछ तुम्हें दूसरे के इच्छानुसार करना पड़े उससे जहाँ तक तुमसे हो सके, बचो। जो काम करने में तुम्हें आनन्द मिलता हो, उसी को करो। इसके प्रतिकूल काम से बचो।" यह आदर्श सार्वभौमिक है; कला और उद्योग के क्षेत्र में भी यह उतना ही लागू होता है जितना राजनीति के बारे में। इसी प्रकार रूजवेल्ट ने आधुनिक प्रजातन्त्र का ध्येय 'चार स्वतन्त्रताओं' को बतलाया है, अर्थात् भाषण की स्वतन्त्रता, धर्म की स्वतन्त्रता, अभाव से मुक्ति तथा भय से स्वतन्त्रता। इन चारों में से प्रथम दो स्वतन्त्रताओं के लिए तो भारत के लम्बे इतिहास में कभी कोई खतरा नहीं पैदा हुआ। हाँ, हाल में विदेशी शासन में अलबत्ता उन्हें खतरा हुआ था। जहाँ तक अभाव से मुक्ति का प्रश्न है, हमारे प्राचीनतम स्मृतिकारों में से एक, आपस्तम्ब ने राजा के दायित्वों में यह भी रखा है कि उसके राज्य में कोई प्रजाजन अभाव-ग्रस्त हो कर—क्षुधा, रोग, शीतातप आदि के पीड़न से—न मरने पावे, चाहे अपने अभाव के कारण, चाहे और किसी के उत्पीड़न से। इस प्रकार राजा से यह आशा की

जाती थी कि वह दीनों, रोगियों और पीड़ितों का संरक्षक बने। मनु ने यह भी स्पष्ट लिखा है कि सामाजिक सुरक्षा के हित में व्यापारिक तथा श्रमिक वर्गों को यथेष्ट वेतन पर पूर्ण रूप से कार्य-संलग्न रखना चाहिए।

यहाँ उन बातों के दुहराने की आवश्यकता नहीं है जो प्राचीन काल के भारतीय प्रजातन्त्र राज्यों तथा प्राचीन भारतीय शासन के अन्य रूपों में पाये जाने वाले प्रजातन्त्रीय तत्त्वों से सम्बन्ध रखती हैं। इसके लिए विभिन्न कालों में भारतीय राजनीति पर जो बहुत-से ग्रन्थ लिखे गये वे काफ़ी हैं। किन्तु वयस्क मताधिकार की दृष्टि से इस बात पर जोर देने की आवश्यकता है कि न केवल भारत में बल्कि चीन, जावा आदि पड़ोसी देशों में ग्राम-सभा का सदैव महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। चीन में ग्राम-पदाधिकारी खुले चुनाव द्वारा निर्वाचित होते थे। कार्यकाल समाप्त होने पर पदाधिकारी स्वयं अपने उत्तराधिकारियों के नाम प्रस्तावित करते थे। किन्तु ये स्वीकार्य न होने पर नये नाम सामने रक्खे जाते थे। जिसका नाम सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया जाता था, उसे पद ग्रहण करने से इन्कार करने की स्वतन्त्रता नहीं रहती थी। यह उद्देश्य सदैव सामने रखा जाता था कि अधिक से अधिक लोगों की सहमति प्राप्त की जाय। जावा में गाँव के मुखिया के चुनाव में वे सब लोग मत दे सकते थे जो गाँव में भूमि रखते थे। यदि किसी स्त्री का भूमि पर अधिकार होता था तो वह भी चुनाव में भाग ले सकती थी। मत देने के लिए अलग-अलग उम्मीदवारों के अलग-अलग रंगीन बक्स रहते थे। अवकाश लेने वाला मुखिया निर्वाचन से पहले सभा को उचित चुनाव के महत्त्व पर भाषण देता था। उम्मीदवारों को नहीं बोलने दिया जाता था। मत-प्रदान बाँस की शलाकाओं द्वारा होता था। मतदाता अपनी पसन्द के उम्मीदवार के लिए नियत रंग वाले बक्स में उसे डाल देते थे। भारत में ग्राम-संस्थाएँ दक्षिण भारत के चोल सम्राटों के शासन-काल में अपने विकास के चरम बिन्दु तक पहुँच गयी थीं। उत्तरमेरुर के जैसे उन्नत विधान के विवेचन से ज्ञात होता है कि व्यवस्थापिका की विभिन्न कार्यकारिणी समितियों के वार्षिक चुनाव में विभिन्न अवस्थाओं में ये उपाय काम में लाये जाते थे: निर्धारित योग्यता के अनुसार उम्मीदवारों की छाँट, 'चिट्ठी' डाल कर चुनाव, और आम चुनाव। हमारा यह आग्रह नहीं कि इनमें से कोई तरीक़ा हमें ज्यों का त्यों अपना लेना चाहिए; किन्तु निश्चय ही सब मिला कर ये तरीक़े हमें शासन के कामों में जन-साधारणकी इच्छा का सहयोग प्राप्त करने का उपाय बता सकते हैं—स्थानीय कार्यों के लिए प्राथमिक प्रजातन्त्रों के रूप में; और अधिक व्यापक उद्देश्यों के लिए ऐसे उम्मीदवारों में से प्रतिनिधि निर्वाचन करके, जिनका जीवन-चरित्र और पूर्व-वृत्त मतदाताओं का जाना हुआ है। उदाहरण के लिए, प्रत्येक गाँव से यह कहा जा सकता है कि वह स्थानीय शासन के लिए अपने पदाधिकारियों का चुनाव कर ले, जैसा कि जावा अथवा प्राचीन उत्तरमेरुर में होता था। ये निर्वाचित अधिकारी स्वयं, अथवा उसी प्रकार चुने गये अतिरिक्त व्यक्तियों के साथ, निर्वाचक-मंडल बना सकते हैं और संघ तथा अंग राज्यों की व्यवस्थापिकाओं के लिए अपने यहाँ से प्रतिनिधि चुन कर भेज सकते हैं। १०० अथवा ५० व्यक्तियों के पीछे एक प्रतिनिधि लिया जाय, तो ऐसा निर्वाचक-मंडल बन सकता है जिसे सँभाला जा सके। साथ ही यह बड़ा लाभ भी होगा कि आरम्भिक निर्वाचन उम्मीदवार की योग्यता और चरित्र के स्थानिक ज्ञान पर आधारित होगा। यदि हम अपने आर्थिक और सामाजिक विकास की योजना समुचित रूप से बनावें तो ग्राम-समिति तथा पदाधिकारियों के सामने, करने के लिए, बहुत-सा काम होगा। प्राचीन काल की तरह वे भूमि और सिंचाई के अधिकारों और कृषि-कार्यों का नियमन करने, बहुमुखी सहयोग-समितियों का संचालन करने, विद्युत्शक्ति का वितरण करने, मजदूरी की परिस्थितियों का नियमन करने, सामाजिक बीमा योजनाओं को कार्यान्वित करने तथा छोटे-मोटे झगड़ों का निपटारा करने में सहायता कर सकते हैं। बड़े-बड़े नगरों को सुविधाजनक हलकों (वार्डों) में विभक्त किया जा सकता है और ये वार्ड भी उसी ढंग पर काम कर सकते हैं। विदेशी आदर्शों का कोरा अनुकरण न करके, इन साधनों के द्वारा हम अपने प्रजातन्त्र को कहीं अधिक वास्तविक और उत्तरदायी बना सकते हैं। उन विदेशी ढाँचों की नक़ल हमारे लिए व्यर्थ है जो न केवल हमारे देश की परिस्थिति के लिए उपयुक्त नहीं हैं बल्कि स्वयं अपने अपने देशों में भी तिरस्कृत हो रहे हैं। ऊपर प्रस्तावित योजना में एक बड़ा लाभ यह भी है कि वह हमारे देशी आदर्शों और परम्पराओं के सर्वथा अनुकूल है। क्या ऐसी किसी योजना पर विचार करने का समय निकल गया है?

फ़रवरी १९४९

भारतीय समाज-व्यवस्था के नैतिक आधार

लक्ष्मण शास्त्री जोशी

भारतीय समाज-व्यवस्था की नैतिक नींव बहुत तेजी से टूटती जा रही है। एक शती पूर्व से विघटन की जो प्रक्रिया शुरू हुई थी उसका हानिप्रद परिणाम हमारे समय में अधिकाधिक स्पष्ट हो रहा है। ब्रितानियों की लायी हुई औद्योगिक सभ्यता के प्रभाव से यहाँ की पुरानी व्यवस्था विघटित होने लगी जिसमें सामाजिक आचार नैतिक मान्यता से निर्धारित होता था। आज वह व्यवस्था पूरी तरह विकीरण की अवस्था तक पहुँच चुकी है और समय के परिवर्तन को न देखकर पुरानी नैतिक भावना को पुनः जगाने की कोई भी चेष्टा विफल होगी।

हमारे सामाजिक जीवन का पुराना आधार नैतिक रहा, इसका कारण यह है कि हम अपने समाज को एक स्वतः सम्पूर्ण सामाजिक इकाई समझते थे जिसमें बाहरी व्यक्ति का प्रवेश निषिद्ध था। अपने समाज के नियमों को हम सहज ही आचार के प्राकृतिक नियम भी मान लेते थे। ऐसा स्वकेन्द्रित समाज अपने नियमों को निरी रूढ़ियाँ या मानव-निर्मित मानदंड नहीं मान पाता। उसकी विचार-परम्परा का आरम्भ इस श्रद्धा से होता है कि समूचा विश्व कर्म के पारलौकिक नियम से अथवा दैवी विधान से संचालित है; सामाजिक जीवन के नियम भी उसी विधान के अंगमात्र हैं, अतः रूढ़ या पारम्परिक आचार के पीछे एक पारलौकिक अथवा अतिप्राकृतिक मान्यता है। हिन्दू तथा मुस्लिम समाज अपनी आचार-नीतियों को इसी प्रकार प्रकृत और शाश्वत मानते रहे हैं। हिन्दू वर्णव्यवस्था या मुस्लिम आचार का प्रमाण अलौकिक विधानों या पैग़म्बर की आज्ञा में पाया जाता रहा है। इससे रूढ़ियों को धार्मिक पावित्र्य और महत्त्व मिल गया और उनकी जकड़ इस्पात-सी मज़बूत हो गयी।

ऐसे युग में, जब विधान की प्रगति बिल्कुल मन्द थी और सदियों तक ज्ञान की सीमाएँ ज़रा भी प्रसारित नहीं होती थीं, जब विश्व का ज्ञान उसी कल्पना-प्रधान और मिथ्या रूप में विद्यमान था, यह स्वाभाविक था कि सामाजिक चेतना स्थितिशील और जड़-प्राय हो। इसका परिणाम था मनुष्य का उसी समाज में विश्वास और यह धारणा कि उसका भाग्य उसके अपने हाथों में नहीं बल्कि परमात्मा के या कर्म के नियमों से संचालित होता है। मानव की विवेक-बुद्धि इस प्रकार केवल उन ईश्वरीय आज्ञाओं अथवा बाह्य प्रमाणों का ही आन्तरिकीकरण थी जिन्हें उसका मन जान लेता और आत्मसात् करता था। शास्त्रीय विधान और निषेध और तज्जन्य व्यवहार-नियम उसके मनोलोक को पूरी तरह शासित करते रहते। ऐसी पर-निर्भरता से बँधा हुआ नैतिक दृष्टिकोण स्वभावतः ऐहिक स्वातन्त्र्य को माया और ऐसी स्वतन्त्रता की इच्छा को पाप-मूल मानता और मुक्ति तथा अमरत्व के चरम लक्ष्यों की ओर झुकता। यह सच है कि शरीर की एषणाएँ कभी-कभी मनुष्य को रूढ़ शास्त्रीय नियमों से स्खलित कर देतीं, परन्तु इसका परिणाम सदा अनुताप या प्रायश्चित्त होता; क्योंकि शरीर की एषणाएँ पाप का मूल मानी जाती थीं। क्योंकि प्राणि मात्र मरणधर्मा है, इसलिए अमरत्वाकांक्षी मानव ने शरीर को गौण, निम्न और हेय माना। निस्सन्देह कुछ सन्त या भक्त ऐसे भी हुए जिन्होंने अमरत्व की खोज से स्फूर्ति पाकर, रूढ़ नियमों को त्याग कर उच्चतर नैतिक आदर्शों की साधना की; किन्तु उनका यह नियम-भंग अपवाद रूप माना गया। और उस युग की नैतिक चिन्ताधारा इस दृढ़ विश्वास से प्रेरित रही कि न केवल रूढ़ व्यवहार के नियम बल्कि ये उच्चतर नैतिक आदर्श भी अलौकिक सत्ता से परिचालित हैं।

ऐसा समाज उनके शास्त्रसम्मत सदाचार की परिधि के बाहर रहनेवाले समाजों के मनुष्यों को सम्मान या बन्धु-भाव से नहीं देख सकता था, न उन्हें सहयोग का पात्र मान सकता था। कुछ प्रवासी व्यापारियों, विजेताओं या धार्मिक उपदेशकों को छोड़कर शेष समाज ऐसे व्यक्तियों को ग़ैर या म्लेच्छ मानता था। हिन्दू तो उस हिन्दू तक को समाज-भ्रष्ट मानते थे जो समुद्र-यात्रा पर जाता था या अपने देश से बाहर जाता था। मुस्लिमों को भी इसमें कोई अनौचित्य नहीं दीखता था कि वे इस्लामेतर धर्मानुयायियों को केवल दास बनाने योग्य समझें। यद्यपि हिन्दुओं

और मुसलमानों के ऊँचे धर्म-सिद्धान्तों में मानवी समानता का सिद्धान्त भी एक था, तथापि उनके प्रत्यक्ष आचार-व्यवहार से उसका कोई सम्बन्ध न था। चार हज़ार वर्षों से 'हिन्दू' समाज-नीति मूलतः श्रेणीबद्ध रही है। हिन्दुओं के परस्पर व्यवहार में भी इतने बन्धन और विधि-निषेध हैं मानों प्रादेशिक या प्रान्तीय भेदभाव भी जाति-व्यवस्था के समान ही महत्त्वपूर्ण हों। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के ब्राह्मण भी एक दूसरे के साथ बैठकर नहीं खा सकते; विवाह-सम्बन्ध तो दूर की बात है। हिन्दुओं का समस्त आचार ऐसा है कि एक ही प्रदेश, प्रान्त या स्थान में भ्रातृत्व का विकास नहीं हो पाता और उलटे भेदभाव तथा संकीर्ण मनोवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। अवश्य यह संकीर्णता विरोध या शत्रुता नहीं है। हिन्दू परम्परा में इस भिन्नता की भावना को काफ़ी बढ़ावा दिया गया है लेकिन दूसरों के प्रति द्वेष या शत्रुता की भावना को उसने कभी प्रश्रय नहीं दिया।

हिन्दू आचारशास्त्र के दो हिस्से हैं, एक तो कर्मगत आचारशास्त्र और दूसरा आन्तरिक श्रेणीबद्ध सम्बन्धों में ऐसी श्रद्धा मानों वे प्राकृतिक नियम हों। ब्राह्मण आदर्श ब्राह्मण बने और क्षत्रिय आदर्श क्षत्रिय, यह पहले प्रकार के आचारशास्त्र का उदाहरण है। कर्मवाद ने इस कर्मगत आचारशास्त्र को आध्यात्मिक आधार दिया, और साथ ही उस आचारशास्त्र की नींव पर रची गयी सामाजिक श्रेणीबद्धता को भी पुष्ट किया। हिन्दू समाज का इतिहास सदियों तक इसी इस्पाती ढाँचे के अन्दर आवर्तन और घुटन का इतिहास है। मुस्लिम आक्रमण और शासन ने इसे झकझोर अवश्य दिया, परन्तु बहुत थोड़े समय के लिए ही; उसके मूल स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आया। हिन्दुओं ने मुसलमानों को पड़ोसी के रूप में तो ग्रहण किया; पर वर्णव्यवस्था की दृष्टि से उन्हें एक अलग जाति माना। हिन्दुओं की यह पुरानी विशेषता है कि अपने संगठन से बाहर के सभी समूहों से मैत्रीपूर्ण अहस्तक्षेप की नीति बरतते हुए भी वे उन्हें एक भिन्न जाति मानकर चलते हैं। वे कभी स्वयं आक्रान्ता नहीं बने, पर अपना जातीय दृष्टिकोण भी उन्होंने कभी नहीं छोड़ा, क्या अपने आन्तरिक सम्बन्धों में, और क्या दूसरों के साथ। हिन्दू-चरित्र ही इस जातीय दृष्टिकोण और वैदिक अध्यात्म का संयुक्त परिणाम है। वैदिक अध्यात्म जाति-संकीर्णता के अत्याचार से पीड़ित आत्मा को मुक्ति का आश्वासन देकर आचार की कड़ाई को कुछ कम करता है। बन्धनों से जड़ बनाने वाली समाज-व्यवस्था के पाश से मुक्ति के उद्योग में लगे मानवी पुराणों की आशा ही तो वेदान्त है।

शासकों के नाते ब्रितानियों ने देश में जिस आधुनिक औद्योगिक सभ्यता का प्रचार किया, उसने एक विशेष प्रदेश तक सीमित इस पुरानी सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था को भीतर से खोखला कर दिया। पारम्परिक जीवन का सन्तुलन बिगड़ गया; उसकी लय टूट गयी। इसका परिणाम हुआ व्यक्तियों की रूढ़ नैतिक भावना की विकृति। नयी क़ानूनी व्यवस्था ने पुराने नियमों को कुछ सुधारा अवश्य; परन्तु रूढ़ जीवन को झकझोरने वाला मुख्य तत्त्व तो था पाश्चात्य सभ्यता का गतिशील स्वरूप, क्योंकि रूढ़ व्यवस्था का स्वभाव मूलतः स्थितिशील था। आधुनिक यन्त्रोद्योग ने आर्थिक जीवन को विशृंखल कर दिया, दस्तकारियों और कला-शिल्पों का नाश होने लगा। स्वतन्त्रता का विचार उस समाज-व्यवस्था में उदित होता है जिसमें व्यक्ति और समूह के सम्बन्ध स्थितिशील न रहकर निरन्तर बदलते रहते हैं। ऐसे समाज में विज्ञान सदा विकसित होता रहता है, विश्व का चित्र बदलता हुआ अधिकाधिक स्पष्ट और सार्थक बनता जाता है। प्राचीन व्यवस्था का स्थान इसी प्रकार की सभ्यता ने लिया; परम सत्य होने का दावा करने वाले उसके जड़ वैज्ञानिक ज्ञान और दर्शन के स्थान पर अपना आसन जमाया। इस प्रक्रिया का स्वाभाविक परिणाम था परम सत्य की कल्पना में परिवर्तन; और इस प्रकार बढ़ते हुए बन्धनों ने ही भारतीय समाज की रूढ़ आचार-नीति-नियमावली को तोड़ दिया। परन्तु इससे कोई नयी नैतिक चेतना नहीं जागृत हुई। प्राचीन समाज-व्यवस्था तो टूटने लगी, परन्तु उसके स्थान पर कोई नयी स्वस्थतर व्यवस्था या नया विश्वव्यापी दृष्टिकोण नहीं स्थापित हुआ। अभी वही जीर्ण-जर्जर ढाँचा चला आ रहा है। इस प्रकार एक नैतिक शून्य स्थापित हो गया है, जिसके कारण स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से नैतिक अधःपतन की प्रक्रिया और भी अधिक तेज़ी से बढ़ने लगी है।

ऐसा जान पड़ता था कि पुरानी सामाजिक-धार्मिक चेतना का स्थान राष्ट्रवाद ले रहा है। पर राष्ट्रवाद भी नयी मानवी सभ्यता का कोई स्वस्थ परिणाम नहीं है। पारम्परिक नैतिक चेतना या नियमावलियों में तार्किक असंगतियाँ नहीं थीं। उनकी रचना मानव के ज्ञान, अनुभव और योग्यता के तत्कालीन विकास से संगत थी। इसीलिए वे रूढ़ियाँ सदियों तक सामाजिक जीवन का निर्देशन करती रह सकीं। इसके प्रतिकूल राष्ट्रीय चेतना आधुनिक सभ्यता की
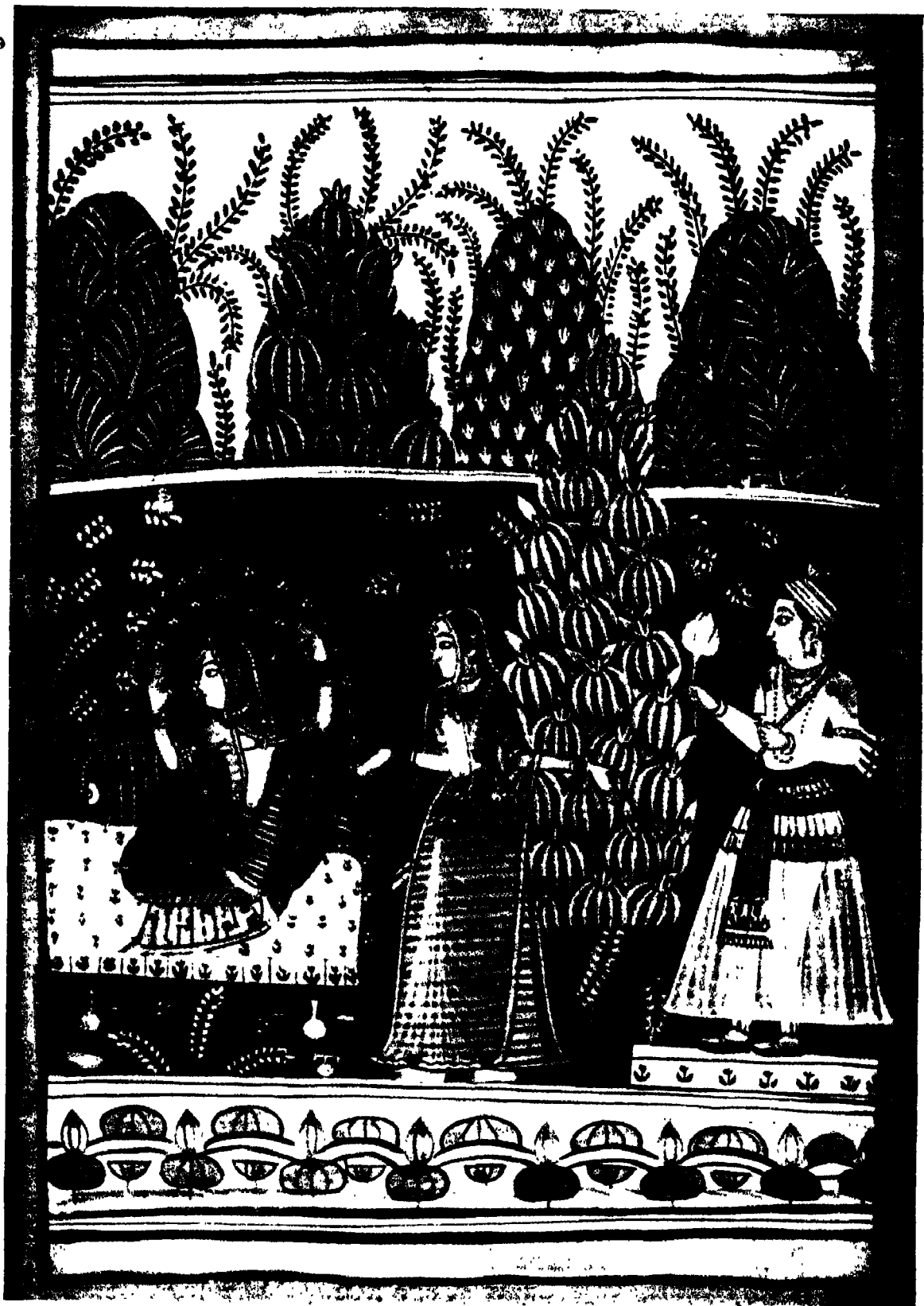
फलक ७

फलक ८

फलक ६

फलक १०

मौलिक प्रवृत्तियों और आदर्शों के विरुद्ध जाती है। इस विरोध के कारण राष्ट्रवाद कभी-कभी उत्पीड़न और विकृति की सीमा तक पहुँच जाता है। उसकी आन्तरिक प्रवृत्तियाँ परस्पर-विरोधी हैं और ऐसे मानसिक संघर्षों की जननी हैं जिनका हल नहीं किया जा सकता। साथ ही वे बाह्य परिस्थितियों से भी मेल नहीं खातीं। परिणाम है मनोविकृति। राष्ट्रवाद मानसिक जीवन को दमन और उत्तेजना के द्वारा नियमित करना चाहता है। इनमें पहला साधन रूढ़ सभ्यता भी है। दमन और उत्तेजना उन राष्ट्रवादी शासनों के अस्त्र बन जाते हैं जो अपने स्थायित्व के बारे में आशंकित हैं। इस प्रकार राष्ट्रवाद विवेक अथवा नैतिक चेतना को विकसित करने में अक्षम है; क्योंकि सदसद्विवेक उस नैतिक भावना से सम्बद्ध है जो मनुष्य के व्यापक ज्ञान और विश्व के साथ मनुष्य के सम्बन्ध के बोध पर आधारित है। राष्ट्रवाद एक भूखंड का, अथवा वहाँ की राजसत्ता का उपासक होता है, और 'मानवमात्र की एकता' के उस विचार से मेल नहीं खाता जिसकी अन्तःप्रेरणा नैतिक होती है। राष्ट्रवाद वैज्ञानिक, कलात्मक अथवा आर्थिक विचारों के निर्बाध, संसार-व्यापी विनिमय के विरुद्ध है, क्योंकि इसी से तो राष्ट्र से परे मानव मात्र के प्रति श्रद्धा की भावना जागृत और पुष्ट होती है। विश्वोत्पत्ति के विभिन्न धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त और परिकल्पनाएँ नैतिक चेतना को जगाने और सार्थक बनाने में असमर्थ सिद्ध हो रही हैं, क्योंकि सभी भावनाओं के लिए विश्व का ज्ञान अधिकाधिक मात्रा में समान हो रहा है। राष्ट्र-भावना द्वारा स्थायित्व की कल्पना निषेध-मूलक प्राचीन व्यवस्था की ही एक देन है। वह स्वतन्त्र व्यक्तियों के सचेतन और विवेकपूर्ण सहकार का विरोध करती है। उस प्राचीन संगठन में मानवों का स्थान मन्द चेतना वाले ऐसे यन्त्र-चालित प्राणियों का-सा था, जो अभ्यासवश अपने काम करते चलें। राष्ट्रवाद फिर से मनुष्यों को ऐसे ही यन्त्र-चालित निर्बुद्धि प्राणी बना देना चाहता है। अतः वह किसी नैतिक चेतना की चिरस्थायी नींव नहीं रख सकता।

सामाजिक पुनर्निर्माण के नये सिद्धान्त, जैसे साम्यवाद या समाजवाद नैतिक प्रेरणाओं से प्रेरित होकर भी मूलतः निर्नैतिक हैं, क्योंकि वे पूर्वनैश्चित्यवादी हैं और संस्थागत विचार-सरणि से शासित हैं। उनका मत है कि नैतिक भावना सर्वथा सामाजिक परिस्थिति द्वारा नियन्त्रित है। वह उत्पादन व्यवस्था पर आधारित सामाजिक सम्बन्धों का एक प्रतिबिम्ब मात्र है। इसके विपरीत प्राचीन विकसित धर्मों में तथा आधुनिक नीतिशास्त्र में भी इच्छा-स्वातन्त्र्य एक बुनियादी सिद्धान्त के रूप में माना जाता है। अपने और अपनी परिस्थितियों के बारे में मनुष्य का ज्ञान उसकी स्वतन्त्र इच्छा को परिचालित करता है जिससे वह परिपक्व होकर नैतिक चेतना बन जाती है। इस प्रकार मानवी स्वातन्त्र्य ही नीति की नींव है। समाजवाद या साम्यवाद, राष्ट्रवाद की भाँति ही समूहवादी होने के कारण, नीतिशास्त्र को गौण स्थान देता है। वस्तुतः नीतिशास्त्र का स्वतन्त्र अस्तित्व उनके साथ निभ ही नहीं सकता।

कोई भी समूहवादी दर्शन अहिंसा के सिद्धान्त को, जिसे सब विकसित धर्म स्वीकार करते हैं, प्राथमिक महत्ता नहीं दे सकता। वह तो सामूहिकता को ही उच्चतर वास्तविकता मानता है, और फलतः व्यक्ति की स्थिति एक प्राणी के अन्दर एक जीव-कोश की सी हो जाती है। इसी कारण समूहवादी चेतना व्यक्ति की बलि आसानी से दे सकती है। यह इतिहास का अनुभव है कि जो भी समूहवादी बनकर चले वे अन्ततोगत्वा प्रपीड़क आततायी बनकर रहे। वास्तव में मनुष्य ही सर्वोच्च नैतिक मान है। क्योंकि समूहवाद उसकी अवमानना करता है, इसलिए समूहवादी प्रवृत्ति के लोग भेड़िये बन जाते हैं।

> "तब जो रक्षक है, वही आततायी भक्षक कैसे बन जाता है? ऐसा तब होता है, जब वह आर्केडिया के ज्यूस मन्दिर की कथा वाले आदमी-सा काम करता है।"
>
> "कौन-सी कथा?"
>
> "कथा है कि एक बार जो व्यक्ति दूसरी नर-बलियों के रक्त के साथ मिले हुए नर-बलि के रक्त का स्वाद चख लेता है, वह निश्चय ही भेड़िया बनता है।"

प्लातू, 'प्रजातन्त्र'

इस प्रकार समूहवाद रूढ़ कट्टर धर्म के कठमुल्लेपन से बदतर मनोविकृति पैदा करके हमें एक नैतिक अराजकता की ओर ले जाता है; क्योंकि मनुष्य की प्राथमिकता और महत्ता को वह अस्वीकार करता है। व्यक्ति को दमन द्वारा सामाजिक पिंड के एक जीव-कोश में बदल देना ही समूहवाद का ध्येय है। समाजवाद या साम्यवाद जैसे सिद्धान्तवादों का प्रसार, विचार

के विकास की दृष्टि से भले ही शुभ लक्षण हो, यह आशंका तो है ही कि नैतिक समस्या के समाधान में सहायक होने के बदले वे नैतिक जीवन में आज जो अराजकता है उसे और भी विकट बना देंगे।

आज की आवश्यकता यह है कि हम एक ऐसे नये नीतिशास्त्र की नींव डालें जो समष्टि, परमात्मा या अन्य किसी भी अतिलौकिक या दैवी सिद्धान्त की सहायता का प्रार्थी न हो। हम ऐसा नीतिशास्त्र चाहते हैं जो मनुष्य को स्वयं अपना सामाजिक जीवन स्थापित कर सकने की अपनी शक्ति में विश्वास करा सके। अपने आप को पूरी तरह से समाज अथवा राष्ट्र में विलीन करना या मिटा देना चाहने वाला व्यक्ति एक नैतिक प्राणी के रूप में विकसित नहीं हो सकता। रूढ़ धर्म मानवता को विभाजित करके अर्थशून्य सामाजिक रीति-रिवाजों में स्वयं ऐसे खो गये, कि अब उन्हें इस योग्य नहीं बनाया जा सकता कि वे नैतिक जीवन के विकास में सहायक हों। फिर उनका शुद्ध रूप भी उनके आविर्भाव के समय की बुराइयों और सीमाओं से दूषित हो गया है। अतः उन्हें पुनर्जीवित करने का प्रयत्न सफल भी हुआ तो भी आधुनिक परिस्थितियों में मनुष्य की जो नैतिक आवश्यकताएँ हैं उन्हें वे शायद ही पूरा कर सकेंगे।

नीतिशास्त्र मनुष्य के निश्चयात्मक ज्ञान पर आधारित होना चाहिए। 'आत्मानं विद्धि' उपनिषद् का प्राचीन सूत्र है जिसे मनुष्य और प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों से सम्बन्धित वैज्ञानिक ज्ञान के प्रकाश में और भी अर्थपूर्ण बनाया जा सकता है। नृतत्त्वशास्त्र ने इस नैतिक तत्त्व को सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य के विकास की सम्भावनाएँ असीम हैं और उसकी विधायक, सृजनात्मक प्रतिभा की सहज प्रवृत्ति शिव की ओर है। इस अपरिमेय मानवी रचनाशीलता का स्वभाव तभी स्पष्ट होगा जब मानवता ऐक्य तक पहुँच जायगी। नियम-संचालित और सुन्दर विश्व के बारे में अपने ज्ञान की वृद्धि करके उसके द्वारा अपनी परिस्थितियों को बदल कर अपनी उन्नति और प्रगति के अनुकूल बनाने का मानव का अनवरत प्रयत्न उसकी रचनात्मकता की एक अभिव्यक्ति है। मनुष्य की असीम रचनाशीलता तब तक नहीं जानी जा सकती जब तक मनुष्य को अन्तिम, स्वतःप्रमाण मूल्य न मान लिया जाय। अतएव नया नीतिशास्त्र इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मानवता ही अन्तिम और सर्वोच्च मूल्य है। यह तभी स्वीकार किया जा सकता है जब यह भी समझा जाय कि मनुष्य ही अकेला वह चिरन्तन तीर्थयात्री है जो सत्य की शाश्वत खोज में विश्व के सौन्दर्य के अपरिमित रसास्वादन में निरत है, और उसमें मानवता की दुर्बलताओं और दोषों को दूर करने की ओर प्रवृत्त अमित सृजनशीलता भरी हुई है। मानवता की सर्वश्रेष्ठता का यह ज्ञान ही सन्तुलन रखने और अराजकता, आर्थिक अनैश्चित्य तथा सामाजिक दुर्व्यवस्था में अपना आत्मविश्वास क़ायम रखने में मानव का सहायक होगा।

स्वार्थ और परमार्थ के द्वैत पर आश्रित परम्परागत दृष्टिकोण, जो नैतिक प्रवृत्तियों का मूल स्वार्थ के विलयन को मानता था, आज आवश्यक नहीं है। आज मनुष्य अपनी सृजनशीलता के बढ़ते हुए अनुभव के द्वारा दूसरे मनुष्यों के प्रति प्रेम को पा सकता है। अपनी सन्तान के लिए माता का प्रेम ऐसे ही अनुभव का परिणाम होता है। पारस्परिक नैतिकता ने इन्द्रियों को और देह को पाप-मूल माना, क्योंकि उनकी ऐहिक आवश्यकताएँ कई बार मनुष्य को अनैतिक आचरण की प्रेरणा देती हैं। परन्तु मानवी आवश्यकताओं को एक व्यापक दृष्टि से देखने पर शारीरिक और नैतिक जीवन का यह विरोध मिट जाता है, बल्कि भौतिक आवश्यकताओं को अस्वीकार करना जीवन की नींव को ही हटाने के बराबर होगा। आर्थिक समृद्धि, कामोपभोग, यश, सत्ता और अधिकार या अगाध पांडित्य सब अपने आप में मनुष्य को शाश्वत सुख या मानसिक शान्ति देने के लिए अपर्याप्त हैं। मानवी असन्तोष फिर भी बना रहता है। मार्क्स, फ़्रायड और एडलर यह नहीं बतला सकते कि मनुष्य का उद्वेग किस प्रकार पूर्णतया मिट सकता है। मनुष्य जब अपनी परिस्थितियों में अपनी सुप्त सम्भाव्य शक्तियों के पूर्ण विकास के लिए पर्याप्त क्षेत्र पाता है, और स्वयं अपने तथा विश्व के बारे में अपने ज्ञान के आधार पर अपने, विश्व के और अन्य मानव प्राणियों के साथ एकलयता का अनुभव करता है, तब उसे अपनी कृति से आनन्द मिलता है। दूसरी ओर इस संगति में ज़रा भी गड़बड़ होने से, मनुष्य दुःखी, चिन्ताकुल, असन्तुष्ट, या उत्तेजित हो जाता है, या फिर उसमें वैराग्य के मनोभाव जागते हैं। दूसरे शब्दों में स्वातन्त्र्य के साम्राज्य में वह सुखी रहता है और बन्धनों में वह दुखी हो जाता है। अतः मानवी-स्वतन्त्रता ही सर्वोच्च नैतिक मानदंड है।

मनुष्य की स्वतन्त्रता उसकी अपने प्रति ज़िम्मेवारी और कर्तव्य के ज्ञान के साथ-साथ बढ़ती है। जिस प्रकार

स्वास्थ्य, संगीत, कलाकृतियाँ, उत्तम पौष्टिक भोजन, स्वस्थ बच्चे उसके जीवन की आवश्यकताएँ हैं, उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह और उसके प्रतिवेशी मानव बिना एक दूसरे का अहित किये अपनी-अपनी हित-साधना करते रहें। यह नैतिक आवश्यकता शरीर की वासनाओं से किसी तरह कम दुर्दम और अनिवार्य नहीं है। जिस प्रकार एक बद्धकोष्ठता से पीड़ित व्यक्ति अन्न से अरुचि अनुभव करता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति अपने विकास के सार्थक अनुभव से अनभिज्ञ है वह नैतिकता की आवश्यकता नहीं अनुभव करता। जिस प्रकार संगीत के रसास्वादन के लिए मनुष्य की प्राकृतिक शक्तियों का संस्कार और विकास आवश्यक होता है, उसी प्रकार नैतिक आचरण का महत्त्व समझने के लिए भी मनुष्य अन्तर्ज्ञान से उत्तम स्वास्थ्य का महत्त्व जानते हुए भी वैयक्तिक शरीर-स्वच्छता के नियमों को अवहेलना कर सकता है। उसी प्रकार वह नैतिक आचार का मूल्य जान सकता है, भले ही वह उसके नियमों के अनुसार आचरण न करे। शिव भी सौन्दर्य की भाँति स्वयमेव इष्ट है, अपने आप में ईप्सित है।

नैतिक नियम वस्तुतः उच्चतर जीवन-कला के नियम हैं। मनुष्य में ऐसी ध्वंसात्मक शक्तियाँ भी हैं, जो कभी कभी उसकी स्वाभाविक नैतिक प्रेरणा पर हावी हो जाती हैं; और उनके कारण मनुष्य नैतिक जीवन में आनन्द प्राप्त करने से वंचित रह जाता है। ऐसी स्थिति में वह अपनी रचनात्मक क्रियाशीलता को भूल जाता है और आलस्य, वासना, लोभ, ईर्ष्या, आत्मवंचना और युयुत्सा का शिकार हो जाता है। मानव अपने जीवन की कला का कलाकार भी है और कला का उपकरण भी। इसी में उसका अपने प्रति उत्तरदायित्व स्पष्ट सूचित होता है। उसका अपने प्रति प्रेम, विश्व के प्रति उसके प्रेम का उद्भव है। नैतिकता और मुक्ति दोनों का स्रोत उसी के भीतर विद्यमान है; परमात्मा में या अन्य किसी लोक में नहीं। जीवन एक कला है, इसकी तीव्र और गहरी अनुभूति ही मनुष्य के अपने प्रति और मानवमात्र के प्रति प्रेम को विकसित और पुष्ट करती है। यह कलात्मक दृष्टिकोण किसी विकृति को पनपने नहीं देगा; स्वार्थपरता को सहन नहीं करेगा। तारामंडित आकाश का सौन्दर्य जिसमें उदात्त भावनाएँ जगाता है, वह धरती पर अपने पड़ोसी का कष्ट और भूख कैसे सह सकेगा? नैतिकता मानवी अस्तित्व का सौन्दर्य है। वह मानव-जीवन की लय और छन्द है।

मनुष्य के लिए प्रकाश या मुक्ति का सन्देश न पूर्व से आयेगा, न पश्चिम से। उसका अतीत भी उसे बहुत अधिक नहीं सिखायेगा। उसे प्रकाश केवल अपने भीतर से ही मिल सकता है। उसका आत्मज्ञान ही उसमें सृजनशीलता जगा सकता है। उसे अभी एक उत्तम समाज और उत्तम जगत् का निर्माण करना है। हिन्दुओं का कर्मवाद और अन्य धर्मों के विकसित रूप भी स्वीकार करते हैं कि मानव अन्ततः व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी है। एकाकीपन के भय से मुक्ति में ही उसका कल्याण हो सकता है।

जून १९४९

भारत की आन्तर्जातिकता

सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

इसे सभी लोगों ने स्वीकार किया है कि भौगोलिक दृष्टि से एक स्वतःपूर्ण क्षेत्र के रूप में भारत का स्थान भूमंडल में अद्वितीय है। दक्षिण में सागरावृत तथा उत्तर में पर्वत-शृंखला एवं मरुभूमि से आवेष्टित होने के कारण यह प्रतिवेशी प्रदेशों से पृथक् है, और इसी पार्थक्य ने इसे स्वतःपूर्ण बना दिया है। भारत का प्रायद्वीपी भाग उन उत्तरी मैदानों का एक विस्तृत अंश है, जो एशिया की प्रधान भूमि से अलग वेष्टन की भाँति हैं। इसकी स्थिति दक्षिणी एशिया के केन्द्र में है। एक ओर ईरान और अरब के देश हैं, और दूसरी ओर बरमा, हिन्दचीन (कम्बोडिया तथा विएत्-नाम), मलाया तथा इंदोनेशिया के द्वीप। इसी प्रकार पुरानी दुनिया के दक्षिणार्द्ध (अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा सागरीय प्रदेश के द्वीपी भागों) के भी केन्द्र में यही है। एशिया की समस्त प्रधान भूमि अपने सम्पूर्ण विस्तार के साथ इसी में केन्द्रित होती-सी ज्ञात होती है, जो उत्तर में एक प्रकार से इसकी पृष्ठ-भूमिका बनाती है। भारत के दक्षिणी तट के स्नापक समुद्र का अन्त इसी भूमि में होता है। इस दक्षिणी समुद्र का भारत के नाम पर आधारित नामकरण सर्वथा उपयुक्त ही है; क्योंकि, भारत इस सागरीय त्रिभुज का शीर्ष-बिन्दु है, जिसका आधार कुमेरु या दक्षिणी महासागर है, और जिसकी दो भुजाएँ हैं अफ्रीका तथा आस्ट्रेलो-इंदोनेशिया के समुद्रांश।

एशिया, अफ्रीका तथा सागरीय प्रदेश, इन तीन महाद्वीपों के केन्द्र में स्थित होने के अतिरिक्त, भारत प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं से भी सम्पन्न है, जिसके कारण यह आदि युग से भौतिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिए इच्छित महत्त्व-पूर्ण सामग्रियों से एशिया, यूरोप, अफ्रीका तथा कुछ दिनों से सागरीय प्रदेश के निवासियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहा है। इसकी कृषि तथा वनोत्पन्न वस्तुएँ, खनिज-पदार्थ, लोहे और रुई से बनी चीजें, इंदोनेशिया के मसाले और चीन का रेशम आदि पड़ोसी देशों से आयी सामग्रियाँ, विभिन्न देशों, विशेषतः पश्चिम के लिए खाद्य और वस्त्र, ललित और उपयोगी कला, तथा वैभव एवं व्यवसाय के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। प्राचीन एवं मध्ययुगीन इतिहास की यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि अनेक शताब्दियों तक पड़ोसी पूर्वी देशों, तथा पश्चिमी और भूमध्यसागरीय यूरोप के इतिहास की गति-विधि, भारत के व्यापार-मार्ग के नियमन एवं भारतीय व्यापार पर आधारित रही है जो पहले केवल स्थलीय पर बाद में स्थलीय और सागरीय दोनों था। भारत का यह आन्तर्जातिक या अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व विश्व में अप्रतिम है, और इसकी छाप यहाँ के इतिहास एवं संस्कृति पर भी पड़ी है।

इस प्रकार भारत की यह स्वतःपूर्णता तथा उसका अन्तर्राष्ट्रीय स्थान दोनों ही उसकी भौगोलिक स्थिति के ही कारण हैं। भौगोलिक स्थिति एवं प्राकृतिक सम्पन्नता के अतिरिक्त अपने इतिहास एवं संस्कृति की मानवीयता के कारण भी यह एक आकर्षण का केन्द्र रहा है, जिसमें अनेक राष्ट्र और सभ्यताएँ खिंच-खिंच कर मिलती रही हैं। यहाँ आदि काल से ही सांस्कृतिक एवं जातीय आन्दोलन बाहर को प्रकाशित करते रहे हैं। प्राचीन समय से ही अपनी संस्कृति और भाषा के साथ विभिन्न जातियाँ आयीं, बसीं, और पारस्परिक संमिश्रण तथा जलवायु के कारण परिवर्तित होकर लगभग एक हो गयीं, जिसमें संस्कृति और विचारों ने जाति और भाषा की मौलिक विभिन्नता को मिला दिया। इस मिश्रित मूल के भारतीय मनुष्य ने ऐसी संस्कृति को जन्म दिया जो अपने विशिष्ट गुणों के कारण विश्व की प्रमुख सभ्यताओं में एक है। मानव के उत्थान तथा उसके मानसिक एवं आध्यात्मिक विकासार्थ, भारत में ही नहीं अपितु बाहर के लिए भी यह एक बड़ी शक्ति हुई। पुरानी दुनिया की बहुत-सी महत्त्वपूर्ण जातियों ने इस अनोखे भारतीय मनुष्य के विकास में अपना हाथ बँटाया। इस प्रकार एशिया, यूरोप तथा सागरीय प्रदेश के अधिकांश भागों की मानवता का भारत की मानवता से कुछ न कुछ सम्बन्ध है। संस्कृति और सभ्यता के क्षेत्र में पड़ोसी लोगों को भारतीयता की भेंट तथा उसके द्वारा की गयी दूरवर्ती लोगों की सेवा के कारण अतिरिक्त सम्बन्ध स्थापित हो गया है जिसे हम कभी-कभी अटूट पाते हैं।

भारत की स्थिति, प्रकृति-प्रदत्त समृद्धि, तथा भारतीयों द्वारा किये गये कार्य, इन सभी का सम्मिलित फल है भारत की आन्तर्जातिकता या अन्तर्राष्ट्रीयता, जो इसकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

इस अन्तर्राष्ट्रीयता के प्राप्त्यर्थ किये गये मानव-प्रयत्नों की रूपरेखा देने का प्रयास प्रस्तुत लेख में किया जायगा।

यह सोच कर आश्चर्य होता है कि भारतभूमि में नराकार वनमानुष से किसी मनुष्य का विकास नहीं हुआ। नृतत्त्व-वेत्ताओं को इस सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। भारत की कोई आदिवासी जाति नहीं है। यहाँ के सभी निवासी बाहर से (कुछ पूरब से, पर अधिकतर पश्चिम से) आये और इसे अपनी कर्म-भूमि बनाया। मनुष्य की विभिन्न जातियाँ अपनी विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों के साथ भिन्न-भिन्न कालों में आयीं और यहां की स्थायी अधिवासिनी बन गयीं। उष:प्रस्तर युग से, अब तक सात भिन्न-भिन्न जातियों का नौ शाखाओं में और कम से कम पाँच स्वतन्त्र भाषावर्गों का अपनी संस्कृतियों के साथ भारत में पदार्पण हुआ।

इन सभी जातियों के आगमन पर विस्तार के साथ विचार करना आवश्यक नहीं है, पर अधिक महत्त्वशाली वर्गों और भारतीय संस्कृति के विकास में उनके द्वारा किये गये कार्यों की ओर संकेत कर देना इस संस्कृति के मूल और इसकी प्रकृति को समझने में सहायक होगा।

भारत में आने वाली प्रथम जाति अफ्रीका की निग्रो जाति थी जो अफ्रीका और ईरान की तट-भूमि से होती हुई भारत में आयी। ये लोग खाद्योत्पादक-अवस्था में न होकर खाद्य-संग्रहावस्था में थे, और इनकी संस्कृति बहुत ही आरम्भिक और पिछड़ी हुई थी। भारत की प्रधान भूमि पर अब या तो ये लोग समाप्त हो गये हैं या बाद की आने वाली जातियों में मिल गये हैं, और इनकी भाषा का भी अवशेष नहीं है। केवल अंडमन में कुछ सौ निग्रो-वर्गी हैं जो उन्हीं की सन्तान हैं और जो येन केन प्रकारेण सम्भवतः दक्षिणी बरमा के रास्ते से वहाँ चले गये थे। भारतीय सभ्यता के निर्माण में इन लोगों का बहुत ही कम हाथ रहा है। सत्य तो यह है कि अपने को इस योग्य बनाने का इन्हें अवसर ही नहीं मिला।

निग्रो-वर्गीय मानवों के आगमन के पश्चात् सीरिया और फ़लस्तीन से प्रोटो-आस्ट्रेलायड लोग आये, जो भूमध्य-सागरीय जाति की एक अत्यन्त प्राचीन शाखा के थे। ये लोग काले, लम्बे सिर वाले, चपटी नाक और मध्यम ऊँचाई के थे। भारत में इनकी भाषा प्रोटो-आस्ट्रिक भाषा में परिवर्तित हो गयी। यही भाषा भारत की कोल या मुंडा भाषाओं (जैसे संथाली, मुंडारी, हो, कोर्कू, सवर गदबा आदि), और आसाम, बर्मा तथा हिन्द-चीन की मोन-ख्मेर भाषाओं (आसाम की खसिया, बर्मा की मोन या तलैंग, पलोउंग और वा, और हिन्द-चीन की कम्बोडियन या ख्मेर और स्टींग बहनर इत्यादि), जावी, नीकोबारी तथा द्वीपमय अंचलों की इंदोनेशियन (मलय इत्यादि), मेलानेशियन और पालीनेशियन भाषाओं की जननी है। प्रोटो-आस्ट्रेलायड (या भारतस्थित विकसित रूप पर विशिष्टत: ज़ोर देने के लिए 'आग्नेय') लोग पूरे भारत में फैल गये। देश की जनता का आधार उन्हीं से बना है। यह बात निम्न श्रेणी के लोगों में बहुत ही स्पष्ट है। उत्तरी भारत की नदियों के मैदानों में विशेष रूप से इनकी संख्या अधिक थी। भारत की कृषि-विषयक और ग्रामीण संस्कृति मूलत: इन्हीं आग्नेय लोगों पर आधारित है। धान तथा कुछ अन्य अन्नों की खेती, रुई और उसके द्वारा कपड़े की बुनाई, कुछ जानवरों (मुर्ग़ी और सम्भवतः हाथी भी) को पालतू बनाना आदि इनकी ही देन है। यहाँ इनकी पौराणिक गाथाओं और परम्पराओं के भंडार, तथा मनुष्य, स्थूल जगत्, सूक्ष्म जगत् एवं भावी जीवन विषयक इनकी धारणाओं को कुछ परिवर्तित होना पड़ा, और इस परिवर्तित रूप ने मिश्रित हिन्दू या ब्राह्मण्य धर्म, दर्शन, अध्यात्म, और संस्कृति, के—जो उत्तरी भारत में सहस्र वर्ष ई० पू० के पश्चात् आग्नेय, द्राविड़, आर्य और भारतीय मंगोल लोगों के सामंजस्य से विकास पाते रहे—सृजन और विकास में बहुत महत्त्वपूर्ण उपकरणों को उपस्थित किया। ये आर्यों के पूर्व आने वाले आग्नेय लोग आर्य आक्रमणकारियों की भाषा स्वीकार कर, और द्राविड़ लोगों से, जो सम्भवतः इनके पश्चात् भारत आये, पारिवारिक सम्बन्ध एवं संस्कृति में मिल कर नवीन हिन्दू जनता में खप गये। उन आग्नेय लोगों ने, जो पूर्वी और मध्य भारत की पहाड़ियों और जंगलों में रहते थे, या जो द्राविड़ों और आर्यों के आकर मैदानों के स्वामी बन जाने के पश्चात् वहाँ भाग कर गये थे, अपनी प्राचीन संस्कृति के कुछ अंशों को तथा अपनी भाषा को सुरक्षित रखा है; पर देश के एक बड़े भाग में, और विशेषतः उत्तरी भारत में हिन्दू जाति को बनाने वाले अनेक उपकरणों में से ये लोग भी एक उपकरण हो गये।

प्रोटो-आस्ट्रेलायड या आग्नेय लोगों के पश्चात् द्राविड़ लोगों का आगमन हुआ। ये लोग भी पश्चिम से आये। जिस भूमध्य-सागरीय जाति की एक अत्यन्त प्राचीन शाखा प्रोटो-आस्ट्रेलायड रूप में भारत आयी थी, उसी

की बाद की कई शाखाओं के ये द्राविड़ भी थे। इस प्रकार ये लोग ग्रीस और एशिया-माइनर के पूर्व-हेलेनिक लोगों के भी परिवार के थे। ये लोग अपने मूल निवास-स्थान से ही बहुत विकसित सभ्यता अपने साथ लाये जो आग्नेयों की भाँति निरी ग्रामीण नहीं थी। आश्चर्यचकित कर देने वाली सभ्यता के अवशेष, जो दक्षिणी पंजाब और सिन्ध के हड़प्पा और मोहेन-जो-दड़ो स्थानों में मिले हैं, हमको बहुत ही विकसित संस्कृति,—जो पक्के और कभी-कभी एक से अधिक मंज़िल के मकानों, सड़कों, भूमि के भीतर की नालियों से परिपूर्ण, और नागरिक थी,—का परिचय देते हैं। यह सभ्यता ३००० ई० पू० के भी पहले की है। ऐसा लोगों का विश्वास है कि पूर्वीय-भूमध्यसागरीय शाखा की द्राविड़-भाषी जाति ने भारत में इस सभ्यता को जन्म दिया। ये लोग नागरिक थे। आर्य जब १५०० ई० पू० आक्रमणकारी के रूप में ईरान से आये, तो इन लोगों को 'दास' या 'दस्यु' कहा। द्राविड़ लोग दक्षिणी भारत तथा पश्चिमी भारत में बड़े-बड़े वर्गों में बसे थे। दक्षिण में तेलुगू, कन्नड, तमिल और मलयालम आदि प्रधान द्राविड़ भाषाओं के ठोस क्षेत्र हैं, जिन्हें आर्य छिन्न-भिन्न नहीं कर सके थे। हाँ, केवल उत्तरी दकन के अविकसित गोंड लोगों में इन भाषाओं के क्षेत्र को आर्य भाषाओं ने जीर्ण-शीर्ण कर दिया; पर पश्चिमी भारत में, बलूचिस्तान के ब्राहुई-भाषी द्राविड़ लोगों को अपवाद स्वरूप छोड़ कर, आर्य भाषाओं की पूर्ण विजय हुई। द्राविड़ लोगों ने पूर्वी बंगाल तक गंगा के मैदान पर अधिकार किया था। इसका प्रमाण यह है कि गंगा की घाटी के सभी स्थानों में द्राविड़ भाषा के नाम मिलते हैं, और हिन्दी, बंगाली आदि उत्तरी भारत की आधुनिक आर्य भाषाओं की बनावट पर द्राविड़-प्रभाव भी यथेष्ट है। भौतिक संस्कृति में द्राविड़ लोग आर्यों (जो उनके बाद पश्चिम से भारत आये) की अपेक्षा अधिक आगे थे। उनके पास नियमित नगर और गृह थे। उनकी गृह-निर्माण-पद्धति और कला भी पूर्णतः अपनी थी। उनकी धार्मिक धारणाएँ तथा रीतियाँ उत्तरकालीन हिन्दू धर्म में, जिसे 'पौराणिक हिन्दू धर्म' (यह वैदिक काल के विशुद्ध आर्य धर्म से, जो अनार्य प्रभावों से अधिक प्रभावित नहीं था, भिन्न था) कहते हैं, अधिकांशतः सुरक्षित हैं। हिन्दू धर्म की महत् दैवी शक्तियों, जैसे शिव और उमा, विष्णु और श्री की मूल और प्रधान प्रकृति आर्यों की न होकर द्राविड़ों की है। हिन्दू कर्मकांड की जल तथा पुष्प, पत्र, अन्न आदि भूमिज सामग्रियों द्वारा सम्पन्न होने वाली 'पूजा'—जो 'होम' या पशुवध और अग्नि में पशुमांस, घृत, यव के पुरोडाश, सोमरस आदि जलाकर देवाराधना की रीति से भिन्न है—और यौगिक रहस्यवाद तथा योगाचार विषयक हिन्दू धारणा भी—बहुत सम्भव है—मूलतः द्राविड़ों की हो। आर्योत्तर मिश्रित हिन्दू संस्कृति के कुछ सार तत्त्व भी द्राविड़ों की देन हैं।

इनके पश्चात् भारत में आने वाले लोग आर्य हैं। ये लोग उन मौलिक इन्दो-यूरोपीय लोगों की एक शाखा हैं, जिनका आदि स्थान ऊराल पर्वत के दक्षिण यूरेशिया के मैदान के सूखे पठारों पर था। वहाँ उन्होंने ३००० ई० पू० अपनी अर्द्धसभ्य संस्कृति और भाषा का विकास कर लिया था। यहाँ इन लोगों ने भौतिक सभ्यता में अधिक उन्नति नहीं की। इनकी सर्वोपरि देन यही थी कि इन्होंने ही सर्वप्रथम घोड़े को पालतू बना कर मानव-कार्योपयोगी बनाया। इनके पास भेड़ और सूअर भी थे। सम्मी और सुमेरी आदि दक्षिणी लोगों से इन लोगों ने गाय और बकरी ली थी। इनकी भाषा उच्च कोटि की, अभिव्यंजना सुसंस्कृत मस्तिष्क की, तर्कसंगत, उपयोगी और कल्पनाशील थी। इनका सामाजिक जीवन बहुत ही विकसित था। विशिष्टतः इनके पितृनिष्ठ समाज में स्त्रियों को दिये गये स्थान द्वारा यह बात और स्पष्ट हो जाती है। २५०० ई० पू० के पश्चात् ये इन्दो-यूरोपीय लोग अपने मूल स्थान से दक्षिण और पश्चिम दिशा की ओर वर्गों में जाने लगे। पश्चिम जाने वाली शाखा के लोग स्थानीय लोगों से मिल कर केल्टिक, इटैलिक, जर्मेनिक, तथा बाल्टो-स्लाव आदि हो गये। यूनान में ये लोग हेलेन या ग्रीक हुए। हेलेन लोग १००० ई० पू० के लगभग यूनान के मूल निवासी अगीयन तथा भारोपीय लोगों के मिश्रण से बने। भारोपीय परिवार का दूसरा वर्ग, जो अन्य वर्गों के पूर्व मूलस्थान को छोड़ चुका था, तथा अपने नवीन स्थान के लोगों से अपेक्षाकृत अधिक मिश्रित हुआ, कनीशियन कहलाया। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के आरम्भ से एशिया माइनर के हित्ती लोगों के शासक ये ही कनीशियन हुए। आर्य या भारत-ईरानी लोग इन्दो-यूरोपीय लोगों की दूसरी शाखा के थे। तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के समाप्ति-काल से ये लोग पूर्वी एशिया माइनर तथा उत्तरी मेसोपोटामिया में धीरे-धीरे बसने लगे। ये लोग छोटे-छोटे वर्गों में घोड़ों के व्यवसायी एवं यायावर साहसिकों के रूप में वहाँ आते थे, स्थानीय मामलों में भाग लेते थे और कुछ स्थानीय लोगों के शासक बनने में सफल हो जाते थे। इन आर्यों ने, जो अपने विशुद्ध रूप में लम्बे, गोरे, नील-नेत्र, हिरण्य-केश, तथा सीधी नाक और लम्बे सिर वाले थे, उन दूसरी जाति के लोगों को आत्मसात् कर लिया जिन्होंने संसर्ग के कारण इनकी भाषा सीख ली थी। ये दूसरी जाति के लोग

छोटे सिर वाले थे जिन्हें नृतत्त्ववेत्ता अल्पाइन की संज्ञा देते हैं। जो आर्य मेसोपोटामिया तथा एशिया-माइनर में स्थायी रूप से रह गये, वहाँ के स्थानीय लोगों ने उन्हें आत्मसात् कर लिया। पर उनकी कुछ शाखाएँ ईरान और फिर भारत में चली आयीं, और इस प्रकार ये लोग अपनी भाषा तथा स्वतन्त्र संस्कृति को सुरक्षित रख सके। ईरान से भारत में आकर बसने के उपरान्त भारत की पृथक् संस्कृति का आरम्भ हुआ।

भारत में आर्यों का अनार्यों से संसर्ग पहले तो शत्रुतात्मक था, पर जब आर्य यहाँ स्थायी रूप से बस गये तो पारस्परिक प्रभाव और संमिश्रण अवश्यम्भावी था। आर्य भाषा समस्त उत्तर भारत में अफ़ग़ानिस्तान से बिहार तक ६०० ई० पू० तक फैल गयी। वर्त्तमान पूर्वीय पंजाब तथा पश्चिमी संयुक्त-प्रान्त में १००० ई० पू० के पूर्व से धर्म, संस्कृति, एवं जनता का संमिश्रण आरम्भ हो गया था; और आग्नेय, द्राविड़ तथा आर्य लोग एक नवीन जाति—प्राचीन भारत के हिन्दू—तथा एक नवीन संस्कृति—प्राचीन ब्राह्मण्य या हिन्दू संस्कृति (अपनी नवीन दो शाखाओं, बौद्ध और जैन, के साथ) —के निर्माणार्थ मिल रहे थे। इस नूतन जाति और नवीन संस्कृति ने आर्यों की भाषा को अपनाया, जो आग्नेय और द्राविड़ बोलियों से पूर्णतः प्रभावित थी। सभी क्षेत्रों में इन तीन विभिन्न जातियों या 'भाषा-संस्कृति' वर्गों द्वारा प्रदत्त विरोधी तत्त्वों का सज्ञान सामंजस्य हुआ। जब इस प्रकार का मिश्रण पोषित हो रहा था तो निरी जातीयता के लिए स्थान की कोई सम्भावना न थी, और न अपनी जाति के सम्बन्ध में व्यर्थ दर्प की या उसे ऐतिहासिक चेतना के द्वारा स्थायी रखने की। इसी कारण इस प्राचीन इतिहास का, विशेषतः उस समय के जब संस्कृति का निर्माण हो रहा था, हमारे लिए विशेष उपयोग नहीं है।

जब आग्नेय, द्राविड़ और आर्य लोगों का यह एकीकरण हो रहा था, मंगोल नामक एक दूसरी जाति उत्तर-पूर्व से भारत में आयी। इनकी भाषा चीन-तिब्बत परिवार की थी। आर्य लोगों ने इनको 'किरात' (इसी प्रकार आर्य लोग आस्ट्रिक या आग्नेय लोगों को 'निषाद' और बाद में भिल्ल तथा कोल और द्राविड़ लोगों को पहले 'दास' या 'दस्यु' और बाद में द्राविड़ कहते थे।) की संज्ञा से विभूषित किया था। ये लोग उस बृहत् 'भाषा-संस्कृति' की शाखाएँ थे, जिसके अन्तर्गत चीनी, स्यामी, बर्मी तथा तिब्बती हैं। ये आसाम और बंगाल के रास्ते पूरब से भारत में घुसे और १००० ई० पू० तक आसाम और बिहार के अतिरिक्त हिमालय के दक्षिणी ढालों तक व्यवस्थित ढंग से बस चुके थे। इन्होंने मिश्रित हिन्दू या ब्राह्मण्य (निषाद-द्राविड़-आर्य) धर्म और संस्कृति को स्वीकार करके भारतीय सभ्यता के अंचल का स्पर्श किया; साथ ही उसे नेपाल, बंगाल, और आसाम में प्रभावित भी किया, पर यह प्रभाव अधिक भीतर तक नहीं जा सका। कुछ लोगों का विश्वास है कि वर्त्तमान नेपाल, उत्तरी बिहार, उत्तरी तथा पूर्वी बंगाल एवं आसाम के अधिक लोगों की भाँति स्वयं बुद्ध भी मिश्रित 'किरात' या इन्दो-मंगोल रक्त के थे।

भारत जैसी मिश्रित संस्कृति, जिसमें इतने विरोधी सिद्धान्तों को स्थान मिला, अपने आरम्भ से ही बहुत सहनशील प्रकृति की थी। इतना ही नहीं, इस संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सिद्धान्तों को स्वीकार करने में, (विशेषतः अध्यात्म के सम्बन्ध में) यह बहुत ही तर्कपूर्ण रही है। दूसरे की स्थिति या उसके दृष्टिकोण के सम्बन्ध में समादर की भावना एक भारतीय के लिए बहुत ही स्वाभाविक है। भारतीय मस्तिष्क के प्रतीक भारतीय साहित्य के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति ने अपनी प्रांजल अभिव्यंजना के रूप में महत् दर्शन और महती कला को अपनाया, और इन सभी में भारतेतर मानवता के लिए भी सन्देश है। भारत ने उदासीन भाव से आक्रमणकारियों का स्वागत किया, और उन्हें जो कुछ देना था भारत ने लिया, और उनमें से बहुतों को तो भारत आत्मसात् करने में भी सफल हुआ। उसने बाह्य जगत् को भी, केवल कला, विद्या, और विज्ञान ही नहीं अपितु अध्यात्म का बहुमूल्य उपहार, अपनी प्रकृति, सामाजिक दर्शन, मानवता के कष्टों का हल, जीवन के पीछे छिपे शाश्वत सत्य की प्राप्ति आदि अपनी सर्वोत्तम भेंट दी। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्म के आदर्श सिद्धान्तों ने एक ऐसे पथ का निर्माण किया, जिस पर चल कर भारत ने अतीत में मानवता की सेवा की, और अब भी कर रहा है। भारत ने इस्लाम के रहस्यवादी दर्शन एवं सूफ़ी मत को कुछ तत्त्व दिये; और जब ये तत्त्व पश्चिम की इस्लामी भूमि में विशिष्ट रूप धारण कर चुके तो फिर पुनः लिये भी। इसके पास जो भी विज्ञान या सायंस था, विशेषतः गणित, रसायनशास्त्र तथा चिकित्साशास्त्र में, इसने पश्चिम को दिया; और अब इस क्षेत्र में भी मानवता की साधारण पैत्रिक सम्पत्ति को धनवती बनाना चाहता है।

एक भारतीय, जो अपने सांस्कृतिक मूल से अवगत है, और जातीय शाखाओं को जानता है, साथ ही स्वभाव और

दृष्टिकोण की दृष्टि से पूर्णतः आधुनिक है, अवश्य ही अपने को विश्व की सब से प्रधान आन्तर्जातिक या अन्तर्राष्ट्रीय जाति का सदस्य अनुभव करेगा। इस प्रकार हम भारतीयों के लिए, हमारी वर्तमान आर्य भाषाएँ—जैसे हिन्दी और बंगाली, मराठी और पंजाबी आदि, और विशेषतः संस्कृत—यूरोप और अमरीका के साथ हमारा महत्तम आध्यात्मिक और मानसिक सम्बन्ध स्थापित करती हैं। जाति के विचार से इन्दो-यूरोपीय या आर्य के रूप में हम यूरोप और भारत के सभी लोगों के समीप नहीं आ सकते, पर आर्य-भाषा-भाषी के रूप में हमारा अंग्रेज़, जर्मन, स्कैन्डेनेवियन, फ्रेंच, इटालियन, स्पेनी, पुर्तगाली, रूसी और अन्य स्लाव, लेट्, लियुआनी, अल्बानी, ग्रीक तथा आर्मेनी लोगों से विशिष्ट और निकटतम सम्बन्ध है। हमारी जातीय रचना में आग्नेय संस्कृति तथा भारतीय आग्नेय भाषा, ये दोनों बरमा, स्याम, दक्षिणी चीन, हिन्द-चीन, मलाया, इन्दोनेशिया और यहाँ तक कि दूरवर्त्ती मेलानेशिया और पालीनेशिया के मूल निवासियों से हमें सम्बन्धित कर देते हैं। किरात या इन्दोमंगोल संस्कृति-मिश्रित या शुद्ध, पूर्ण आत्मसात् या उत्तरी और पूर्वी भारत में आत्मसात् होने के पथ पर—चीनी, स्यामी, बरमी, तिब्बती (और सम्भवतः ऊराल-अल्टाइक) लोगों को यदि हमारे निकट सम्बन्धी नहीं तो दूर के सम्बन्धी समझने को बाध्य करते हैं। उत्तरी और दक्षिणी भारत की हमारी जनता के मूल में द्राविड़ संस्कृति, पूर्वी भूमध्य-सागरीय, एशिया माइनर और ईरान के बहुत ही सभ्य लोगों से हमारे निकट सम्बन्ध की सूचना देती है। हमारी संस्कृति में शक्तिशाली आर्य उपादान ईरान और अफ़ग़ानिस्तान (या आर्याना) के लोगों के मस्तिष्क में हमारे प्रति भ्रातृत्व और सामीप्य की एक नवीन भावना उसी प्रकार जागृत कर रहे हैं, जिस प्रकार एक सभ्य यूरोपीय ऋग्वेद की भाषा के प्रति, उसे ग्रीक, लैटिन, गाथिक, प्राचीन आयरिश, प्राचीन स्लाव तथा प्राचीन आर्मेनी की बड़ी बहिन समझ कर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है। भारतीय इस्लाम अपने बारह शताब्दियों के भारत में बने इतिहास एवं अनेक साधकों और दार्शनिकों तथा हिन्दू-विचार के संसर्ग के कारण पूर्णतः हमारा है, और साथ ही यह अपने मूल सिद्धान्तों एवं कर्मकांडों में बाह्य इस्लामी. . . .जगत् से बँधा है, विशिष्टतः अरब से, जहाँ. . . . इस्लाम और राष्ट्रीय संस्कृति यथार्थतः एक हैं। तुर्कों के साथ, जो भारत के बड़े शासकों तथा इतिहास के श्रेष्ठ लोगों में से एक हैं (अकबर अंशतः तुर्की रक्त का था) हमारा दीर्घकालीन सम्बन्ध तूरानी जगत् के सम्बन्ध में हमारे हृदय में मैत्री-भाव उत्पन्न करता है। हमारा बौद्ध धर्म, हमारे और तिब्बत, चीन, कोरिया, विएत्-नाम, कम्बोडिया, स्याम तथा बरमा और सिंहल के बीच एक अतिरिक्त सम्बन्ध स्थापित करता है। ब्राह्मण और बौद्ध विचार, तथा इंदोनेशिया एवं हिन्द-चीन की सांस्कृतिक भाषा के रूप में हमारी संस्कृत भाषा इन दोनों देशों से दर्शन, संस्कृति तथा विचारधारा की एकता के द्वारा ऐतिहासिक संपर्क प्रकट करते हैं।

१९वीं सदी के आरम्भ से, जब से हम सर्वप्रथम इतिहास में अपने किये गये कार्यों एवं भारतेतर मानवता की अतीत में की गयी सेवाओं से पुनः परिचित हुए हैं, हमारे नेताओं ने इस महान् सत्य—अतीत, वर्तमान और भविष्य में भारत की अन्तर्राष्ट्रीयता—का अनुभव किया है। राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, केशवचन्द्र सेन, गान्धी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रत्येक ने धर्म या दर्शन, राजनीति या साहित्य, सहनशीलता की भावना या ईश्वर को मनुष्य-प्राप्य बनाने का प्रयास, अपने-अपने विशिष्ट मार्ग या मार्गों से इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भारत के श्रेष्ठतम मस्तिष्क इसी आधार—भारत की आन्तर्जातिकता या अन्तर्राष्ट्रीयता एवं भारत का अखिल मानवता के लिए संदेश—पर कार्य कर रहे हैं। सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जैसे हमारे अध्येता दार्शनिक यह संदेश फिर एक बार पश्चिम को दे रहे हैं। इस संबंध में पश्चिमी लोगों की स्वीकृति के पर्याप्त प्रमाण मिल रहे हैं कि राष्ट्रों की आध्यात्मिक एकता के संबंध में भारत की आवाज़ अनुपम रही है। स्वयं भारत में इस विश्वबन्धुत्व एवं आन्तर्जातिकता की भावना की प्राप्ति के भाव, जो भारतीय संस्कृति के आधार हैं, सौभाग्य से भारत और बाहर दोनों ही के लिए अपने राष्ट्रमनीषी पंडित जवाहरलाल नेहरू को अनुप्राणित कर रहे हैं, जो आज भारतीय शासन के प्रमुख संचालक हैं और जिनके महान् व्यक्तित्व का आज हम समादर कर रहे हैं।

मार्च १९४९

हिन्दूधर्म : स्थितिशील ढाँचा, या गतिशील शक्ति ?

अ० स० अलतेकर

यह प्रसिद्ध है कि हिन्दूधर्म की प्राचीनता सुदूर भूतकाल के पीछे तक चली गयी है, इसलिए युगयुगानुक्रम से प्राप्त इसकी दृढ़ता ने अनेक विचारों एवं धारणाओं को जन्म दिया है। भारतीय पुराणपन्थी सम्प्रदाय की धारणा है कि इसका सतत एवं सदैव विद्यमान अस्तित्व, इसके सनातन अथवा शाश्वत होने के कारण है; अन्य सम्प्रदाय वालों का मत है कि हिन्दूधर्म ने अनेक सहस्राब्दियों के परिवर्तनों और क्रान्तियों को अपने में आत्मसात् करके ही अपने को जीवित रखा है। क्योंकि यह सदैव नवीन परिस्थितियों तथा विचारों के अनुकूल ही परिवर्तन करता रहा है। एक बार जब कि भारत स्वतंत्र राष्ट्र की भाँति पुनः अवतीर्ण हुआ है, उस समय भारत में और विदेशों में इसकी चिरस्थायी सभ्यता की आदि-शक्ति का उचित ज्ञान प्राप्त करने की सहज जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी है। हम इस लेख के हेतु स्वीकृत अल्प स्थान में ही इसकी समस्याओं का परीक्षण करते हैं।

पुराणपन्थी दृष्टिकोण के अनुसार, हिन्दूधर्म सनातन है; किन्तु इस शब्द का यह अभिप्राय नहीं कि हिन्दू-संस्कृति परिवर्तनशील नहीं है। यह मिथ्या धारणा है। यह तो केवल उसके शाश्वत एवं चिरस्थायी गुण का महत्त्व ही प्रकट करता है। हिन्दूधर्म के धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक ढाँचे पर दृष्टिपात करने से इस वाक्य का स्पष्टीकरण हो जायगा।

धर्म के क्षेत्र में, प्रारम्भिक वैदिक स्तोत्र प्रकट करते हैं कि 'बहुदेववाद' ही अवतारवाद की मध्य की सीढ़ी से होकर कदाचित् एकेश्वरवाद में सन्निहित हो गया था। ऋग्वेद में हम पाते ही हैं कि धार्मिक सुधारक अग्नि, यम, मात-रिश्वन् इत्यादि की, जो केवल उसी परम सर्वशक्तिमान सत्ता के नाम हैं, पूजा करते थे। किन्तु जैसे शताब्दियाँ व्यतीत होती गयीं, एकेश्वरवाद बढ़ती हुई धार्मिक चेतना की तुष्टि नहीं कर सका, परिणामस्वरूप शुद्धाद्वैत का विकास हुआ। ब्रह्म द्वैत है, केवल एक नहीं, जिसका प्रतिबिम्ब व्यक्ति और जगत् दोनों में विद्यमान है; व्यक्ति और जगत् दोनों में जिसकी चेतना का आभास मिलता है। तो भी हिन्दूधर्म, धर्म के क्षेत्र में विचारों के प्रकार में विश्वास नहीं करता; इसने उन सम्पूर्ण व्यक्तियों को भी पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की, जो शुद्ध बुद्धि से ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं कर सकते थे। हिन्दू-धर्म विश्व में कदाचित् केवल एक ही धर्म होने का अद्वितीय चमत्कार उपस्थित करता है, जहाँ मतमतान्तर पुराणपंथी संकीर्ण दृष्टिकोण के समान समझे जाते हैं, जो ईश्वर के अस्तित्व के सिद्धान्त में योग नहीं देते हैं। सांख्य दर्शन ईश्वर को मान्यता नहीं देता है; पूर्वमीमांसा ने भी संदेहप्रद और सीमित मान्यता दी। तो भी दोनों संकुचित पुराणपंथियों के समान समझे जाते हैं।

धर्म और दर्शन की यह सतत प्रवाहित धारा और विकास बौद्धमत का भी एक विशेष गुण है। प्रारम्भ में बौद्ध-मत नास्तिक और आत्म-निषेधक रीति का व्यक्तिगत मोक्ष के लिए मार्ग प्रदर्शित करता था। तत्पश्चात् इसका विकास 'महायान' रीति की ओर हुआ, जिसने आत्म-निषेधक गौतम बुद्ध को 'बोधिकाय' के अवतार में परिवर्तित कर दिया। आत्मा अजर-अमर है, इस सिद्धान्त को उन्होंने स्वीकार किया और यह घोषणा की कि 'बोधिसत्व' मानवता की मोक्ष के हेतु पुनः पुनः जन्म धारण करते हैं।

हिन्दू दर्शन ने ११वीं शताब्दी के पूर्व ही अद्भुत जीवन-शक्ति का प्रदर्शन किया; शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क निस्सन्देह केवल प्राचीन धर्मग्रन्थों पर ही टिप्पणी करते हुए प्रतीत हुए हैं; किन्तु वास्तव में प्रत्येक ने एक नवीन और पूर्ण दर्शन-रीति का प्रतिपादन किया है। तीन या चार शताब्दियों तक तो बाहरी परिस्थितियों के कारण विकास में अस्थायी बाधा पड़ी; किन्तु मध्ययुग की अन्तिम शताब्दी से हिन्दू-दर्शन ने अपनी युग-पर्यन्त जीवन-शक्ति तथा प्रगतिशील शक्ति का प्रदर्शन करना आरम्भ कर दिया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामतीर्थ,

अरविन्द घोष, राधाकृष्णन् और टेगोर आधुनिक युग के कुछ दार्शनिक व्यक्ति हैं, जिनकी जीवन-सम्बन्धी दार्शनिकता एवं मूल्यवान् विचारों ने पूर्व-पश्चिम दोनों के आधुनिक दार्शनिकों को आकर्षित करना आरम्भ कर दिया है।

भारत के धार्मिक और दार्शनिक इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालने से यह भली भाँति प्रकट हो जाता है कि हिन्दू-धर्म स्थायी नहीं किन्तु गतिशील शक्ति है। फिर भी इसका यह तात्पर्य नहीं है कि यह अपना अस्तित्व या उद्देश्य-नियम नहीं रखता है। इसका विकास कुछ सुनिर्धारित उद्देश्यों के द्वारा ही शासित रहा है। यह इस बात की चिन्ता नहीं करता कि कोई 'मत' या प्रणाली ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखती है या नहीं। तो भी यह विश्व-व्याप्त नैतिक-नियमों एवं उद्देश्यों का नियमन करने के लिए उत्सुक रहा है। बौद्धमत, जैनमत, और सांख्यमत की नास्तिकता भी भारतीय संस्कृति और धर्म के संरक्षकों को विचलित नहीं कर सकी, क्योंकि इन सब मतों एवं प्रणालियों ने 'कर्मवाद' के सिद्धान्तों में निहित नैतिक-नियमों को स्वीकार कर लिया था। 'चार्वाक' ने केवल 'भोगवाद' की प्रणाली का प्रतिपादन करने के कारण ही ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार किया था। उसने भी भारतीय दार्शनिकों के समक्ष अपने तुच्छ पापों को स्वीकार किया था। 'कर्म' सिद्धान्त अपने पक्ष में 'पुनर्जन्म' के सिद्धान्त की भी कल्पना करता है, जो भारतीय धर्म और दर्शन की अधिकांश प्रणालियों द्वारा किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है। नैतिक-नियम की मान्यता उस शाश्वत 'तत्त्व' की मान्यता की कल्पना करती है, जिसे ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म, प्रकृति या शून्य अथवा मुक्त आत्मा कहते हैं। ऐसा सिद्धान्त समस्त भारतीय प्रणालियों एवं रीतियों ने स्वीकार किया है।

हिन्दूधर्म में देश और विदेश दोनों के उत्पन्न अनेक विश्वास और सिद्धान्त सन्निहित हैं। किन्तु यह ईसाई मत और इस्लाम को अपनाने में असफल रहा। सबसे सम्भाव्य कारण, इन धर्मों द्वारा कर्म, आवागमन एवं आत्मा की शाश्वतता, अजरता-अमरता के सिद्धान्त की—जो अपने प्रधान विशेषणों में ईश्वर के समकक्ष हैं—अमान्यता का है।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में, हिन्दूधर्म प्रधानतः अपने उदार 'लोकमत' के कारण ही गतिशील शक्ति रहा है। यह एकेश्वर, एक मसीहा और एक बाइबिल के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन एवं प्रचलन नहीं करता था। हिन्दूधर्म ने स्वीकार किया कि ईश्वर स्वयं विभिन्न रूपों में तथा विभिन्न युगों में अवतार लेता है। ईश्वर का सन्देश किसी युग या काल की एक ही पुस्तक में निहित नहीं है, किन्तु भिन्न युग के विभिन्न कार्यों में प्रकट होकर विभिन्न भाषाओं में लिखा रहता है। मनुष्यों का यह पवित्र कर्तव्य है कि वे इन पुस्तकों में निहित तथा विभिन्न धर्मों एवं मतमतान्तरों के अनुयायियों द्वारा भाष्य किये हुए इस सन्देश को समझने का प्रयास करें। यह केवल तभी सम्भव होगा, जब कि हम केवल विभिन्न मतमतान्तरों के प्रति सहानुभूति ही नहीं रखें किन्तु शुद्ध हृदय से उनका आदर करें और उनके दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करें। महान् अशोक, जिसका धर्मचक्र स्वतन्त्र भारत का राजमुकुट है, इस प्रकार अपनी प्रजा को शुभ सन्देश देता है,—"यदि कोई व्यक्ति अपने धर्म की प्रशंसा करता है या दूसरे मतों की बुराई करता है, तो वह अपने मत के प्रति पूर्ण श्रद्धा और भक्ति होते हुए भी उसे हानि पहुँचाता है, इसलिए यह उचित है कि विभिन्न मतों एवं धर्मों के अनुयायियों को आदरपूर्वक दूसरे के सिद्धान्तों को विचार करने की दृष्टि से सुनना चाहिए"।[1] इसी हेतु भारत महान् सम्राट् के इस विश्व-विख्यात एवं न्याय-सिद्ध उपदेश का पालन कर रहा है, साथ ही विभिन्न मतों एवं विश्वासों के व्यक्ति भारत में सख्यभाव तथा सौजन्य से रह रहे हैं, और इसी कारण वे इसी प्रकार रह कर, विचार-विचार का, सिद्धान्त-सिद्धान्त का और आदर्श-आदर्श का सामंजस्य उत्पन्न करते हैं। इसी के फलस्वरूप धार्मिक, दार्शनिक विचार इतने प्रगतिशील, सम्पन्न, विभिन्न तथा सहायक हो सके।

फिर भी हिन्दूधर्म केवल एक सिद्धान्त या एक दार्शनिक प्रणाली ही नहीं रहा, किन्तु इसमें जीवन का कार्यक्रम भी है, जो सामाजिक रचना का प्रदर्शन करती है। क्या यह रचना स्थायी है या गतिशील?

इतिहास पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि हिन्दू समाज का ढाँचा कभी भी स्थायी नहीं रहा। यह सत्य है कि वर्तमान पुराणपन्थी दृष्टिकोण सदैव के लिए प्रकाशित वेद-नियमों द्वारा शासित है और इसी लिए वह स्वतः ही सत्य है। हिन्दू रीति और संस्थान स्थायी हैं, फिर भी इस दृष्टिकोण को धार्मिक ग्रन्थों ने स्वयं ही निरुत्साहित किया है। उदाहरण के लिए 'मनु' ने यह स्वीकार किया है कि सामाजिक रचना के लिए परिवर्तन आवश्यक हो सकता है और

[1] दे० अशोक का १२वाँ धर्मलेख।

समाज के नेताओं को अधिकृत किया है कि वे सम्पूर्ण स्थिति का निरीक्षण-परीक्षण करने के पश्चात् उनको स्वीकार करें। हमारे पवित्र ग्रन्थों ने यह कार्य दस नेताओं की एक स्थायी समिति को निर्णय के लिए सौंप दिया था। ये नेता पवित्र ग्रन्थों के विषय में उतने ही पारंगत होते थे, जितने कि नवीन काल की आवश्यकताओं से सुपरिचित। ईसवी संवत् के प्रारम्भ के लगभग, जब हिन्दू-शासन इतना अधिक विकासशील हो गया था, कि इस जन-समिति का कार्य सचिव-मंडल के एक सदस्य को, जिसको विभिन्न प्रान्तों में और विभिन्न प्रकार से 'धर्ममहामात्य', 'धर्मांकुश' या पंडित कहा जाता था, सौंप दिया था। आठवीं शताब्दी का स्मृतिग्रन्थ शुक्रनीति, इस सचिव के कार्यों का, इस प्रकार वर्णन करता है :

> "समाज में कौन-से प्राचीन और नवीन रीति-रिवाज प्रचलित हैं? उनमें से कौन-से पवित्र धर्म-ग्रन्थों द्वारा स्वीकृत हैं? उनमें से कौन-से उनकी आज्ञा का उल्लंघन करते हैं? उनमें किसको वेद-प्रचालित रीति-रिवाज ने निरुत्साहित कर दिया है? सचिव को, जिसे पंडित कहते हैं, सम्पूर्ण स्थिति का पूर्ण ज्ञान रखना पड़ता है और वह राजा को परामर्श देता है, ताकि वह अपनी प्रजा के इहलोक और परलोक जीवन दोनों में कल्याण की वृद्धि के लिए उचित कार्य ग्रहण कर सके।" (१।९९-१००)

हिन्दू नेता और शासन हिन्दू समाज के ढाँचे में उचित परिवर्तन स्वीकार किया करते थे, और इसी लिए उसने शताब्दियों से अपने को जीवित रखा। वास्तव में मध्ययुग की स्मृतियाँ, जैसे नारद, बृहस्पति, तथा भाष्य और नीति-संग्रह—जैसे मिताक्षरा, दायभाग और कल्पतरु—केवल नवीन प्रबन्ध-निबन्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, जिन्होंने सम-कालीन समाज और शासन की स्वीकृति से विभिन्न नवीन परिवर्तनों की आज्ञा दी है। उनमें से कुछ परिवर्तन तो अधिक क्रान्तिकारी और स्थायी थे, जिनका उल्लेख संक्षेप में किया जा सकता है। वैदिक ग्रन्थ विधवा को अपने पति की सम्पत्ति का अधिकारी होने के अधिकार को स्वीकार नहीं करते थे। याज्ञवल्क्य स्मृति ने तीसरी शताब्दी में इसका दृढ़ता से प्रति-पादन किया। लगभग दो शताब्दी के पश्चात् बृहस्पति और कात्यायन ने तो इसका प्रतिपादन किया कि चल और अचल दोनों प्रकार की सम्पत्ति पर उसका अधिकार होना चाहिए। और बारहवीं शताब्दी में दायभाग ने तो यहाँ तक इसका पक्ष-समर्थन किया है कि मृत्यु के समय तक पति के केवल सम्मिलित परिवार में सदस्य के समान जीवित रहने के कारण ही यह अधिकार उपेक्षित नहीं किया जा सकता। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के शिलालेख प्रकट करते हैं कि यद्यपि धर्मग्रन्थ भी इस बात पर मौन थे, तो भी समाज ने विधवा के अचल-संपत्ति को हस्तान्तर के अधिकार को मान्यता देना प्रारम्भ कर दिया था, यदि वह धार्मिक और सांस्कृतिक उद्देश्यों की वृद्धि करने के लिए किया गया हो। वैदिक ग्रन्थों ने भाई की सन्तानहीन विधवा के विवाह को, जो उस समय लगभग संसार के समकालीन युगों में किया जाता था, मान्यता दी थी। किन्तु इस नियमानुमोदित रीति-रिवाज ने स्मृतियों को इसका पशुतुल्य वर्णन करने एवं इसके विरुद्ध प्रबल धर्मयुद्ध प्रारम्भ करने से नहीं रोका; स्मृतियों ने भी जब तक इस रीति का अस्तित्व नहीं मिटा, तब तक विरोध समाप्त नहीं किया। प्रारम्भिक युग में विदेशी जातियाँ जैसे शक, पार्थियन और कुशन अधिक संख्या में भारत आयीं और यहाँ बस गयीं। हिन्दू धर्म ने इन सबको अपनी परिधि में सम्मिलित कर दिया। तत्पश्चात्, जब इस्लाम इस देश में आया उस समय हिन्दूधर्म, कई कारणों से, जिनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जा सकता, इसको अपने में सम्मिलित करने में असमर्थ था। जब नवीन धर्म की धर्म-परिवर्तन की क्रिया ने एक नवीन परिस्थिति उत्पन्न की, तो हिन्दू समाज के नेताओं ने इस समस्या का हल प्राप्त करने के लिए वैदिक-ग्रन्थों एवं स्मृतियों की छान-बीन नहीं की। उन्होंने दृढ़तापूर्वक एक नवीन स्मृति की रचना की, जो 'देवल-स्मृति' के नाम से प्रसिद्ध है। उसने यह घोषणा की कि जो व्यक्ति शक्तिपूर्वक या छलपूर्वक दूसरे धर्म में परिवर्तित हो गये हैं, वे पुनः हिन्दू-परिधि में सम्मिलित किये जा सकते हैं। किन्तु प्रतिबन्ध यह था कि वे २० वर्ष के भीतर इसमें पुनः प्रवेश प्राप्त कर लें। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी तक सैकड़ों-हज़ारों परिवर्तित व्यक्ति हिन्दू धर्म में पुनः सम्मिलित किये जाते रहे हैं।

इस लेख में लिखित सूक्ष्म ऐतिहासिक निरीक्षण ने कदाचित् पाठकों को यह प्रदर्शित किया होगा कि किस प्रकार हिन्दूधर्म स्थायी रचना नहीं किन्तु गतिशील शक्ति है। दुर्भाग्य से, हिन्दुओं ने स्वयं इस वाक्य के सत्य का पर्याप्त अनु-भव नहीं किया। पुराणपन्थी हिन्दुओं का यह विश्वास है कि हिन्दू-धर्म सदैव के लिए सुदूर प्राचीनता के प्राचीन शास्त्रों द्वारा ही निर्मित हुआ है; शिक्षित हिन्दू अपनी संस्कृति एवं धर्म का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए पर्याप्त रीति से परिचित नहीं हैं। जब प्रजा की परिवर्तन-प्रमाणीकरण-शक्ति स्मृतियों की 'दशावरा-परिषद्' को शासकीय विभाग ने

स्थानापन्न कर दिया और वह धर्म-सचिव की अध्यक्षता में लायी गयी, क्योंकि तेरहवीं शताब्दी में हिन्दूराज्य समाप्त हुआ उस समय यह विभाग भी नष्ट हो गया था और गत ६०० वर्षों के बीच हिन्दू-धर्म, कम या अधिक, स्थायी रहा। किसी अधिकृत एवं प्रज्ञासम्पन्न समिति द्वारा पथ-प्रदर्शन न होने के कारण ही साधारण हिन्दू उन्हीं विश्वासों, दार्शनिक-सिद्धान्तों और सामाजिक रीति-रिवाजों में श्रद्धा रखता था, जो बारहवीं शताब्दी में या सुदूर पूर्व-प्राचीनता में प्रचलित थे। उसका विश्वास था कि ये सब रीति-रिवाज वेद-ग्रन्थों द्वारा मान्य हैं (जिन्हें वह नहीं समझता) और उनसे विचलित होना एक अक्षम्य पाप है। हिन्दू-धर्म के वास्तविक स्वरूप की पूर्ण एवं दयनीय अज्ञता ही 'हिन्दू कोड' जैसे आलेख के विस्मयकारी विरोध की मूल है, जिसने अभी कुछ समय पूर्व शिक्षित-समुदाय के क्षेत्र में भी विरोध उत्पन्न कर दिया है।

हिन्दू-समाज के लिए यह श्रेष्ठ अवसर है कि वह अपने समाज की इमारत को व्यवस्थित रूप में रखे। हमारे प्राचीन ऋषियों ने यह आशा कभी भी नहीं की थी कि जिन नियमों की उन्होंने रचना की थी, वे उनके उत्तराधिकारियों द्वारा सदैव के लिए स्थायी समझे जायेंगे। उन्होंने स्वयं उनमें सामयिक परिवर्तन करने की आवश्यकता का संकेत किया है। मनु ने यह घोषणा की थी कि "यदि धार्मिक आदेश जनमत के या समाज के स्थायित्व के विरुद्ध हों तो उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए।" हिन्दू विचारकों ने विश्वास नहीं किया था कि दार्शनिक सत्य सदैव के लिए एक बार ही प्रकाशित होते हैं और उनमें कुछ विकास नहीं होता। हिन्दू-धर्म, दर्शन, एवं उसकी सामाजिक रचना, समय के बीच में निरर्थक हुए मानव-मस्तिष्क को स्वतः अपनी सीमाओं से मुक्त करने, मनुष्य के सतत विस्तृत-दृष्टिकोण के द्वारा प्रकाशित अधिक से अधिक गौरवशाली उत्कर्ष को प्राप्त करने के शिक्षाप्रद संघर्ष एवं गौरवशाली गाथाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह निस्सन्देह है, कि हिन्दू-धर्म पुनः एक बार संसार की बड़ी शक्ति बनेगा। जिस समय यह चेतना वर्तमान हिन्दू मस्तिष्क की आवश्यक अंग बनेगी, उसी समय वह अपनी क्रियाओं को जीवन के प्रत्येक प्रान्त में ढालने एवं प्रभावित करने लगेगी।

मई १९४९
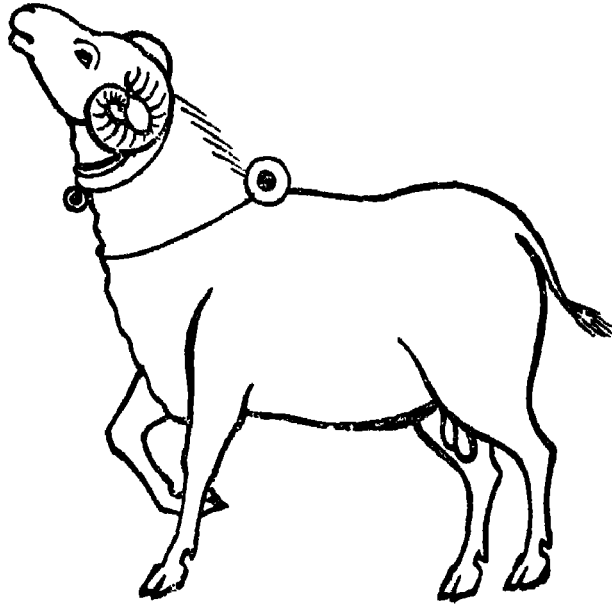
भारतीय मुसलमानों का भविष्य

श्रीधर व्यंकटेश पुणताम्बेकर

मेरे लिए भारतीय मुसलमानों की समस्या सारी मुस्लिम जातियों के भविष्य की बड़ी समस्या का एक अंग-मात्र है। यदि भारत में मुसलमान केवल मुसलमान बन कर ही रहना चाहते हों, और तुर्कों की तरह संसार-व्यापी आधुनिक जीवन-प्रगति के साथ न चलना चाहें तो उनके लिए तीन रास्ते सम्भव हैं। पहला तो यह कि वे इतिहास के एक विशेष काल में अपनाये गये बन्धनों और सिद्धान्तों के अनुसार मुसलमान बन कर रहें—उस परिपाटी को हम चाहें तो प्राचीन या शुद्ध इस्लाम धर्म कह सकते हैं। दूसरा रास्ता यह है कि पाकिस्तान की तरह वे इस्लाम का राष्ट्रीयता के साथ गठ-बन्धन करें और उसे आधुनिक सभ्यता के सम्पूर्ण गुणों से सम्पन्न ठहरायें। तीसरा यह है कि वे ज्ञान, आचार और सभ्यता के नये विश्व-व्यापी विकास की धारा में अवगाहन करें, विश्व-बन्धुत्व की भावना को अपनायें और उसका विस्तार करें; और उन मानवी आकांक्षाओं और साधनाओं को प्रश्रय दें जो कि किसी प्राचीन मतवाद की रूढ़ियों से अधिक महत्त्व रखती हैं। यूरोप में ईसाइयों ने तथा एशिया में हिन्दुओं और चीनियों ने इस तीसरे मार्ग को अपनाया है। अपने धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन के मूलभूत सिद्धान्तों को छोड़े बिना ही उन्होंने एक ऐसे सामान्य मानववादी अथवा सभ्यता-मूलक रास्ते को अपनाया है जो मानव जाति को ऊँच-नीच, धर्म-भाई और काफ़िर में विभाजित नहीं करता। इस प्रवृत्ति में अन्धविश्वास, रूढ़िवाद तथा अन्धेपन की जगह लचीलापन, उदारता तथा प्रगतिशीलता है। हमें यह मानना पड़ेगा कि हमारे धर्मों ने चाहे जिस मात्रा में आध्यात्मिक तत्त्वों का उद्घाटन किया है, उन्होंने हमारे ऐहिक अथवा लौकिक जीवन की शान्ति, स्वतन्त्रता और सुख में कभी बाधा उपस्थित नहीं की, और न उनका वैसा उद्देश्य ही रहा। हर धर्म-ग्रन्थ में कुछ ऐसे तत्त्व मौजूद हैं जो कि तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन पर आधारित हैं और जिनका उद्देश्य जीवन के इन पहलुओं का मार्ग-प्रदर्शन करना है। यह कोई नहीं कह सकता कि ये उन नयी परिस्थितियों और जीवन-परिपाटियों में भी उतने ही समीचीन होंगे जो कि इतिहास की गति के कारण प्रकट होंगी—चाहे नये लोक-सम्पर्क और शोध के कारण, चाहे दूसरी जातियों के दबाव अथवा अनुकरण से। किसी भी राष्ट्र के जीवन की ऐतिहासिक तथा मनुष्यता के पहलू की उपेक्षा नहीं की जा सकती और इसी लिए मनुष्यों की समस्याओं को हल करने के लिए की गयी प्रगति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह बग़दाद के ख़लीफ़ाओं के आरम्भिक युग अथवा हारूँ और मामूँ के काल में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जब तक ज्ञान और विद्या के प्रति स्वतन्त्र सहानुभूतिपूर्ण, सहिष्णु और ग्रहण-शील दृष्टिकोण रहा तब तक उनकी प्रजा विद्या और ज्ञान में उन्नति करती रही और उससे उसका तथा संसार का कल्याण होता रहा। इसलिए हमें सम्पूर्ण मुस्लिम जाति की अथवा भारत के मुसलमानों की, समस्या पर विशालतर ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए। इसके लिए हमें आध्यात्मिक सत्यों अथवा परम्पराओं को छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। मानसिक-स्वतन्त्रता के विकास में या विचारों की उदारता और इतर धर्मों के प्रति सम्मान की भावना के प्रसार में वे सत्य बाधक नहीं होते।

अतः मेरी दृष्टि में भारत में और अन्यत्र मुसलमानों के भविष्य की समस्या इस बात पर निर्भर करती है कि आध्यात्मिक जीवन और उसके आवश्यक तत्त्वों को वे क्या समझते हैं; और लौकिक जीवन की आवश्यकताओं से उनको किस प्रकार अलग करते हैं? आध्यात्मिक जीवन का सम्बन्ध ईश्वर से अथवा लोकातीत तत्त्वों से है, और लौकिक जीवन का सम्बन्ध मुख्यतया सामाजिक आचरण से होता है। आध्यात्मिक जीवन नैतिक भी होता है और इसलिए उसे लौकिक जीवन में व्यक्ति के श्रेष्ठ गुणों के विकास में भी सहायक होना चाहिए, किन्तु वह स्वयं लौकिक नहीं होता। जब तक यह स्पष्ट न समझा जायगा तब तक मुसलमानों का लौकिक जीवन अतीत के बन्धन से मुक्त न होगा। वह स्वयं भी नष्ट होगा और उनके धर्म द्वारा प्रतिपादित नैतिक और आध्यात्मिक जीवन को भी नष्ट कर देगा। और फिर किसी धर्म की शिक्षा

मानव-जीवन के मूलभूत सिद्धान्त—स्वतन्त्रता और बन्धुत्व—के विरुद्ध नहीं जा सकती, क्योंकि ये आध्यात्मिक जीवन के भी आधार हैं। यह मेरा विनम्र सुझाव है कि प्राचीन चीनियों और हिन्दुओं ने, और आधुनिक ईसाइयों ने अपने पुराने धार्मिक विश्वासों के बावजूद इस बात को स्वीकार किया है। इसी कारण उनके धार्मिक और नैतिक विश्वास उनके ज्ञान, विज्ञान और विद्या की वृद्धि में बाधक नहीं होते। जिस हद तक हिन्दू और चीनी पुरानी रूढ़ियों, विचारों में बँधे रहे, उस हद तक उन्होंने कोई उन्नति भी नहीं की। फिर भी ज्ञान और विद्या की खोज में उनके सामाजिक अथवा धार्मिक नियमों ने बाधा नहीं दी। उन्होंने मानवता को सम्मानित या ऊँच, और अपमानित या नीच की दो श्रेणियों में नहीं बाँटा। उन्होंने जीवन की समस्या के हल के मानवी दृष्टिकोण को समझा था। उन्होंने यह मान लिया था कि जीवन की स्वीकृत परिपाटियाँ एकाधिक और विभिन्न हैं, न कि एकरूप। इसी लिए उनके सामाजिक और नैतिक नियम अनेक थे और उनके जीवन-दर्शन भी विभिन्न थे। चीन के लाओ-त्से, कुङ्फू-त्से, मो-त्से और च्वाङ्-त्से को ही ले लीजिए; सभी सम्मानित और अनुमोदित हैं। लाओ-त्से का नास्तिकवाद, कुङ्फू-त्से का समाजवाद, मो-त्से का मानववाद और च्वाङ्-त्से का अराजकतावाद सभी चलते हैं। पीछे बौद्ध, इस्लाम और ईसाई धर्म भी वहाँ फूले-फले। उनके दृष्टिकोण में कट्टरता की जगह मानवोचित लचीलापन और स्वातंत्र्य था। उसी प्रकार भारत में विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न प्रकार के तत्त्वज्ञान प्रचलित हुए; विभिन्न प्रकार के सामाजिक नियमों और आचारों ने मान्यता पायी। मुसलमानों और ईसाइयों का दमन न करके उनका स्वागत किया गया; उनकी शिक्षा और उनके दर्शन का अध्ययन किया गया। भारतीय मस्तिष्क स्वतन्त्र, आलोचनापूर्ण और ग्रहणशील था; भारतीय धार्मिक दृष्टिकोण एक नहीं, अनेक थे। इसलिए उनमें नवीन विचारों और नये तरीक़ों का आसानी से विकास हो सका और वे उन्हें ग्रहण कर सके; और इसी कारण ये जातियाँ भी सृजनशील और सम्पन्न, बौद्धिक और आध्यात्मिक जातियों के रूप में बहुत दिनों तक बनी रहीं।

मेरे मत से किसी भी समाज का भविष्य उसी सीमा तक है जितनी उसमें मानसिक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता है, और जितनी उसमें नैतिक और सामाजिक संग्रहिकता और सहिष्णुता है।

जब तक एशिया के स्वतन्त्र मुसलमान अपने दिलों को न टटोलें, इतिहास के पृष्ठों को पलट कर न देखें और अपने तथा दूसरे देशों के अनुभव से प्राप्त और विकसित मानवी स्वतन्त्रता और उन्नति के नियमों को न समझें; जब तक वे जीवन, सुरक्षा और शान्ति तथा समृद्धि के बारे में अपनी धारणाओं की तुलना दूसरों के साथ न करें, तब तक उनके भविष्य के सम्बन्ध में किसी प्रकार की सलाह देना सम्भव नहीं है।

मानव-संस्कृति एकमुखी नहीं होती, और न हो सकती है। उसमें स्वतन्त्रता और सम्मिश्रण दोनों ही होते हैं। यह पाठ जिसे चीनी, हिन्दू और ईसाई सीख चुके हैं, मुसलमानों को भी सीखना है। तभी उनका भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। किन्तु वह एक विशेष प्रभुत्वशाली सम्प्रदाय के रूप में नहीं वरन् एक नवीन मानव-भ्रातृत्व के सदस्य के रूप में होगा जिसके अनेकत्व में ही एकत्व की स्थिति है।

एशिया के मुसलमान देशों और वहाँ के निवासियों को यह समझकर उच्च वैज्ञानिक अध्ययन और मानवी दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए। अब उन्हें साम्प्रदायिक शासन अथवा तुर्क शासन के तबेले से बाहर निकलना है। जनतन्त्रीय कह देने से ही ये बन्द गुफाएँ वैसी नहीं हो जायँगी। उनके अन्दर भी समानता का प्रजातन्त्र काफ़ी नहीं है, क्योंकि मानवीय स्वतन्त्रता और कल्याण के दृष्टिकोण से अधिक महत्त्व इस बात का है कि उनमें सम्प्रदाय से बाहर भी समानता या स्वतन्त्रता है कि नहीं।

स्वतन्त्र मुसलमानी राज्य क्यों एक होकर संसार-व्यापी प्रगति को प्रभावित न कर सके? इसका मूल कारण यही है कि उनके लौकिक अर्थात् राजनीतिक, आर्थिक तथा बौद्धिक जीवन के मानदंड खोखले और निराधार हो गये हैं और उनकी उपयोगिता तथा प्रेरक-शक्ति समाप्त हो गयी है। घृणा और दूसरों के दमन पर ही कोई जीवित नहीं रह सकता। उसे रचनात्मक आदर्शों और जीवन की योग्यताओं का विकास करना ही पड़ेगा। स्वर्ण-युग केवल अतीत काल में ही नहीं, भविष्य में भी हो सकता है। अतीत में भी वह इसलिए आ सका कि वह कभी भविष्य था। मसीहाई अथवा पैग़म्बरी का सिद्धान्त इसका उदाहरण है। मानव-जीवन की कोई एक स्वीकृत परिपाटी जीवन की अन्तिम या सर्वोत्तम गतिविधि नहीं मानी जा सकती। आगे बढ़ने की आकांक्षा और नयी परिस्थितियों में अपनी भलाई के लिए यत्न करने की स्वतन्त्रता, मानव का सहज अधिकार है। उसे कटु अनुभवों और असफल प्रयोगों के पश्चात् नये तरीक़े,

नये मूल्य, नया आचार और नयी जीवन-परिपाटी का विकास करने की बुद्धि प्राप्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

क्या संसार, जिसमें भारत भी सम्मिलित है, मुसलमानों को मुसलमान रहकर अच्छे पड़ोसी की तरह जीवन बिताने की सुविधा देता है ? मैं कहूँगा हाँ, और इसी लिए मुसलमानों का भविष्य में स्थान है। किन्तु प्रश्न यह है कि वे नये युग की नवीन स्वतन्त्रता और नये मूल्यों को कहाँ तक अपनाते हैं ? भारत में एक मुसलमान को सभी मौलिक अधिकार प्राप्त हैं जिसमें धर्म, विश्वास, पूजा की स्वतन्त्रता; समाज और संस्कृति की स्वतन्त्रता; और विचार तथा सभा करने की स्वतन्त्रता भी सम्मिलित है। भारत का शासन लौकिक है, वह किसी धर्म-विशेष से न तो सम्बद्ध है और न किसी को प्रश्रय देता है। किसी के धार्मिक तथा सामाजिक आचरण में बाधा नहीं दी जाती। सभी को नागरिक जीवन और शासन के हर क्षेत्र में समान पद प्राप्त है। मुसलमानों को इसलिए असन्तुष्ट नहीं होना चाहिए कि अब उन्हें अतिरिक्त सुविधाएँ और राजनीतिक या नागरिक विशेषाधिकार नहीं दिये गये। उन्हें अब पुराने राजनीतिक प्रभुत्व और नये राजनीतिक अलगाव तथा परराष्ट्र-भक्ति की मनोवृत्ति छोड़ देनी चाहिए और देश के सार्वजनिक, सांस्कृतिक और लौकिक जीवन में स्वतन्त्रतापूर्वक पूरा भाग लेना चाहिए। उन्हें याद रखना चाहिए कि भारतीय संस्कृति की प्रवृत्ति बहिष्कार की नहीं, समन्वय की है; उसे कई धाराओं ने मिलकर सींचा है। वे भी उस संस्कृति के साझी और उत्तराधिकारी हैं। उनका जीवन केवल उनके धर्म से ही नहीं बना है बल्कि उनके देश के इतिहास, भूगोल और निवासियों ने भी उसको रूप दिया है। राजनीतिक प्रभुत्व और विशेषाधिकार ही जीवन का मूल्य या उद्देश्य नहीं है। अधिक महत्त्व की बात यह है कि मनुष्य कैसे श्रेष्ठ जीवन की साधना करता है, उसके लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न और प्राप्त करने के लिए क्या उद्योग करता है, ताकि उसे न केवल अतीत से प्रेरणा मिले बल्कि वर्तमान से शक्ति और भविष्य से उत्साह भी। मेरा विनम्र मत यही है कि यदि हिन्दुओं, ईसाइयों और दूसरे वर्गों के साथ मुसलमान इस नागरिक और आध्यात्मिक भावना को लेकर सामूहिक जीवन में योग दें तो न केवल उनका ही भविष्य उज्ज्वल होगा बल्कि उस देश का भी जिसके वे नागरिक या निवासी हैं, और उस मानव-जाति का भी जिसके वे स्वाभाविक अंग हैं।

जून १९४९

फलक १३

फलक १४

फलक १९

फलक १६
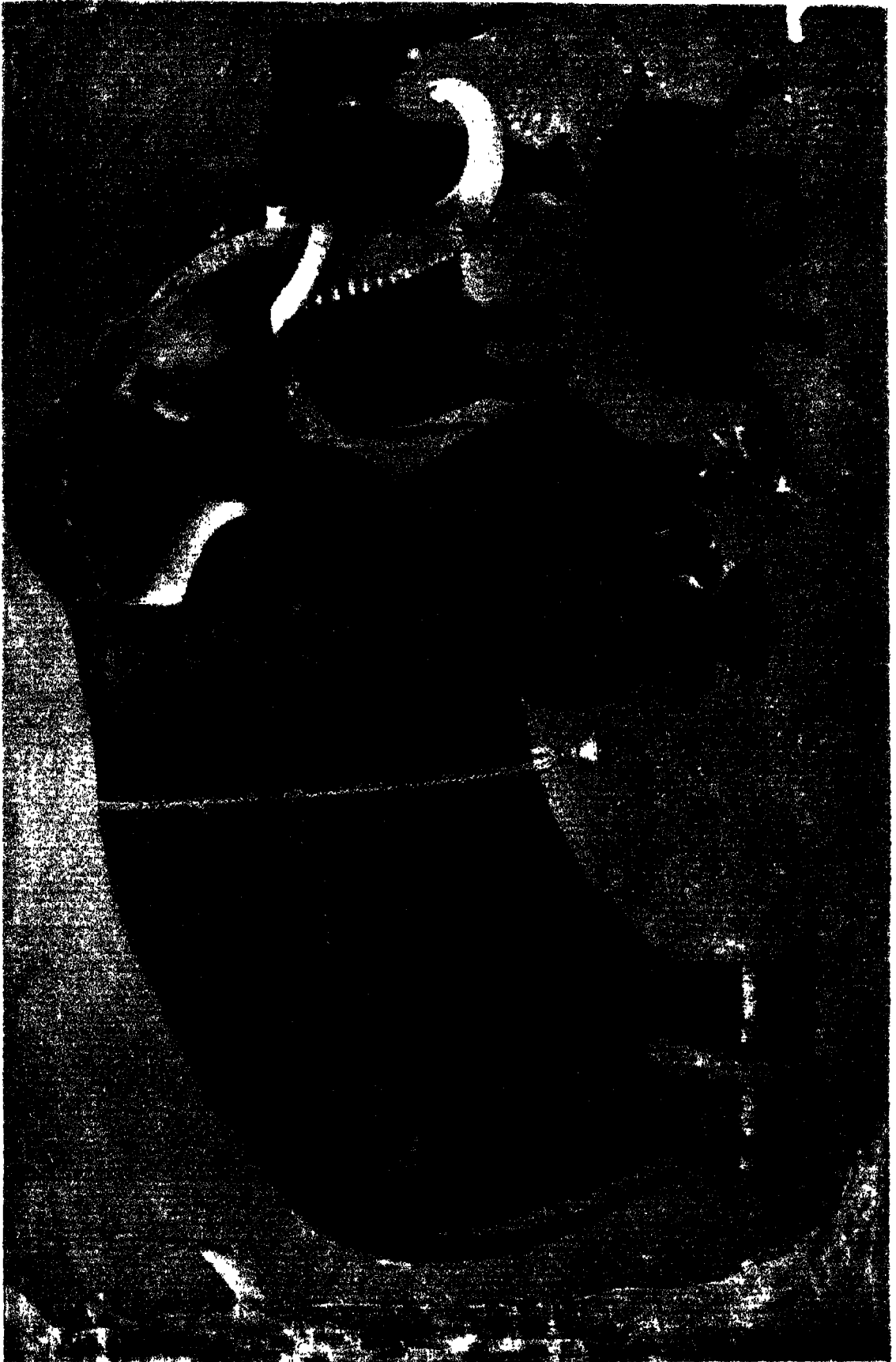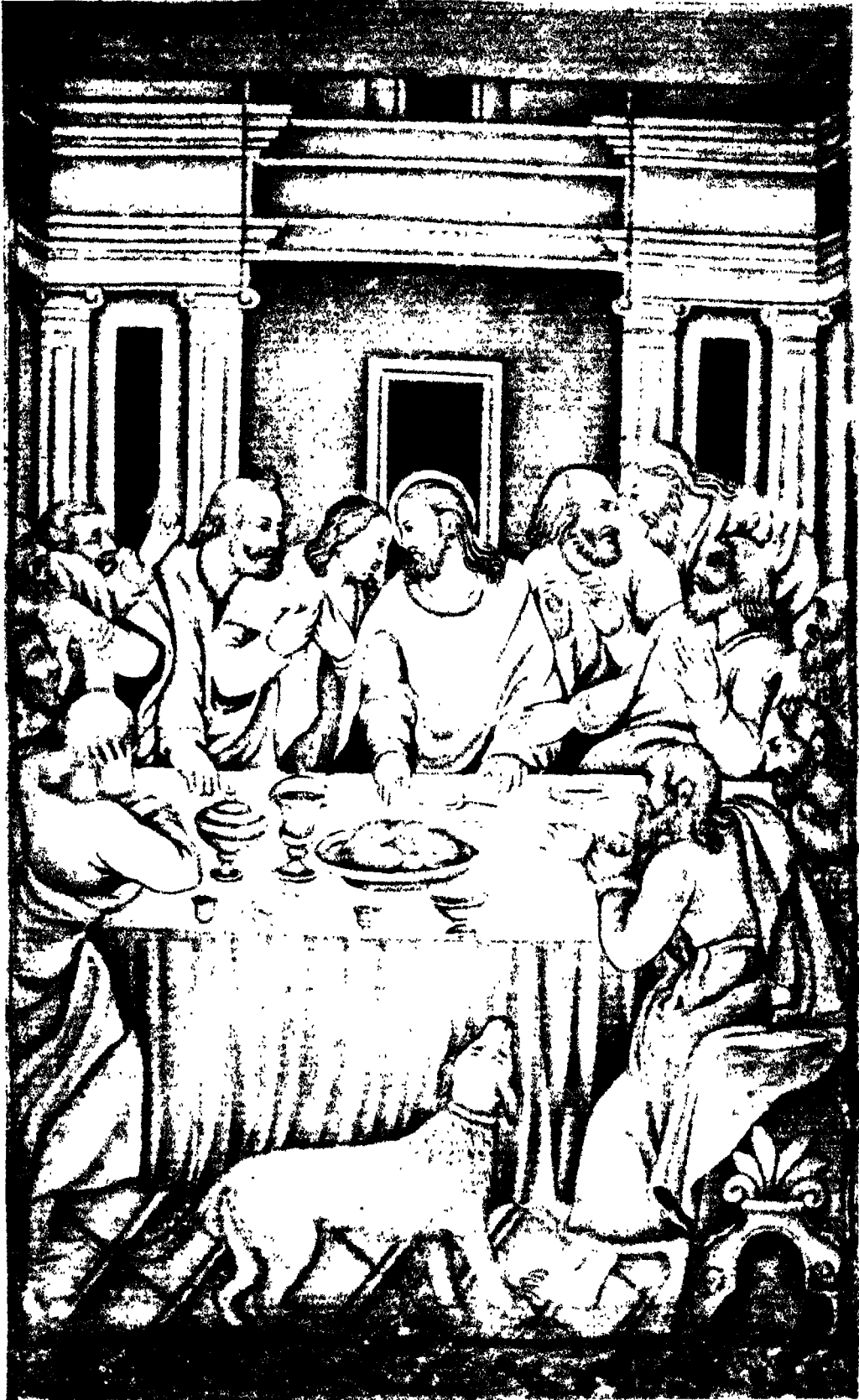
अकबर के शासन-काल में कश्मीर पवित्र परम्पराओं का तथा हिन्दू और मुस्लिम साधु-सन्तों का देश जान पड़ता था। यहाँ के ब्राह्मणों द्वारा संस्कृत के अध्ययन का क्रम कई शताब्दियों तक बिना किसी रोक के चलता रहा था जिसके परिणाम-स्वरूप बहुमूल्य साहित्य का तथा एक विशिष्ट लेखन-शैली का विकास हुआ। अनेक विख्यात संस्कृत कविताओं तथा कहानियों के नये कश्मीरी संस्करण तैयार हुए। संस्कृत साहित्य के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि कश्मीर में ऐसी अनेकों संस्कृत हस्तलिपियाँ सुरक्षित रहीं जो मुस्लिम आधिपत्य में हिन्दुस्तान से लुप्त हो गयीं। भारतवर्ष के विख्यात वैज्ञानिक आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय को प्राचीन हिन्दू रसायनशास्त्र की खोज के सम्बन्ध में रसों पर एक प्राचीन संस्कृत पुस्तक की अत्यन्त आवश्यकता थी। इसकी एक मात्र हस्तलिपि का उल्लेख स्टाइन के कश्मीर की हस्तलिपियों के सूचीपत्र में मिला। इसी प्रकार मुस्लिम धार्मिकों, सूफ़ी कवियों की भी एक परम्परा कश्मीर में थी और यह दुर्रानी विजय तक चलती रही। कश्मीर के कितने ही विद्वान् लोग क़ुरान तथा अन्य अरबी तथा फ़ारसी की पुस्तकों को मशहूर कश्मीरी काग़ज़ पर लिख कर जीविका निर्वाह करते थे। सन् १८३१ में विक्टर जाकमों ने लिखा है: "कश्मीर में सात-आठ सौ कुशल कातिब हैं जो किसी से आज्ञा मिलने पर ही प्रतिलिपियाँ तैयार करते हैं. . . . वे क़ुरान, शाहनामा तथा कुछ अन्य पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ तैयार करते हैं जिन की माँग बराबर रहती है। सबसे अच्छा लिखने वाले को शाहनामा या हाफ़िज़ के प्रति सहस्र बन्दों पर एक रुपया दिया जाता है। उनकी अधिक से अधिक रफ़्तार दिन में २०० पदों की है। इस प्रकार वे एक दिन में तीन आना कमा लेते हैं। काग़ज़ का मूल्य दो रुपया फ़ी दस्ता है। पहले प्रतिलिपि तैयार करने वाले आठ से दस आने रोज़ तक कमा लेते थे। सुलेखन का व्यापार अफ़ग़ानों के शासन-काल में १८वीं शताब्दी में अधिक व्यापक था।"[1]

सन् १७८३ में "करघे पर एक साधारण शाल का मूल्य ८ रुपया था। अच्छे शाल १५ से लेकर २० रुपये तक के रहते थे, बहुत बढ़िया शाल की क़ीमत ४० रुपये तक होती थी। पर जब से बेल-बूटेदार पल्ले बनने लगे तब से इनका मूल्य अधिक (१५० रुपये तक) बढ़ गया।"[2]

प्रजा की दशा

किन्तु प्रकृति की इस अनमोल देन तथा उच्चवर्गीय लोगों की कुशाग्र बुद्धि के बावजूद कश्मीर की साधारण जनता अज्ञान तथा दारिद्रय के गर्त में डूबी रही। कितने ग्रामीण असभ्य आदिवासियों का सा जीवन व्यतीत करते थे और वस्त्राभाव के कारण प्रायः नंगे ही घूमा करते थे। पायजामा ख़रीदने की सामर्थ्य न रखने के कारण वे अपने नग्न शरीर पर कम्बल लपेट लिया करते थे। जैसा कि बटाला के सुजान राय भंडारी ने सन् १६९५ में कहा है, "लोगों की दरिद्रता तथा क्षुद्रता लोकप्रसिद्ध है। जहाँ तक पहिरावे का प्रश्न है, चमड़े का एक कोट बरस भर काम देता है।" देहातियों का जीवन अत्यन्त दरिद्रता, अज्ञता तथा गन्दगी में व्यतीत होता था। शहर वालों की दशा भी इससे बहुत अच्छी न थी। "झील में अचानक आ जाने वाली भयानक बाढ़ों के कारण सभी लोगों को झील या नदी के तल से ऊँची श्रीनगर की थोड़ी सी जगह में रहना पड़ता था। बेहद ग़रीबी तथा बार-बार आने वाले भूचालों के कारण यहाँ के निवासियों के लिए यह भी आवश्यक हो जाता था कि वे अपने मकानों को हल्का, लकड़ी का और लकड़ी या छाल से छता हुआ बनावें। अधिक शीत के कारण वर्ष के कई महीनों में रात-दिन आग का रखना भी अनिवार्य होता था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता था कि बहुधा आग लग जाती थी, और एक घर में आग लगने पर वह राजधानी के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल कर इन घास-फूस और लकड़ी के मानवी दरबों को एकदम साफ़ कर देती थी।" इस प्रकार सन् १६९५ के पूर्व ही जुमा मसजिद बार-बार जल चुकी थी। यहाँ पहुँचकर फॉर्स्टर ने देखा कि "श्रीनगर की सँकरी गलियाँ यहाँ के प्रसिद्ध गन्दे निवासियों की गन्दगी से भरी हुई हैं।" यह तो सन् १७८३ की बात है। इसके उनतालीस वर्ष पश्चात् यूरोप के एक दूसरे विख्यात पर्यटक डा० मूरक्राफ़्ट ने भी राजधानी को इसी शोचनीय स्थिति में पाया। उन्होंने लिखा है, "नगर का साधारण रूप बदसूरत मकानों के समूह मात्र का है। सँकरी तथा गन्दी गलियाँ मिल कर भूल-भुलैया बना लेती हैं। गली के बीच में एक नाला होता है जिसके अन्दर गन्दगी भरी रहती है और दोनों किनारों पर कीचड़ का ढेर

[1] 'ल'एंद दु नार्द' पृ० ४३४

[2] फ़ॉर्स्टर, 'ट्रावेल्स' पृ० ११, १८

लगा रहता है। अधिकांश मकान खस्ता हालत में हैं, दरवाज़े या तो टूटे हुए हैं या हैं ही नहीं। खिड़कियाँ दफ़्ती काग़ज़ अथवा चिथड़ों से ढकी रहती हैं. . . .पूरा नगर दारिद्रय और दुर्दशा का चित्र है।"

सन् १८३१ में फ़्रांसीसी वैज्ञानिक जाकमों भी इस नगर को देख कर समान रूप से दुखी हुआ। उसने लिखा है: "इतनी निर्धनता तथा इस प्रकार के गन्दे झोंपड़े मैंने अब तक नहीं देखे थे। मकानों में एक भी ऐसा नहीं है जो सम-कोण पर बना हुआ हो।"

अफ़ग़ान सत्ता के कुशासन के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न आर्थिक संकट का दु:खद प्रभाव देश के हर कोने पर पड़ा। मूरक्राफ़्ट लिखता है: "प्रत्येक स्थान पर लोग अत्यन्त हीन दशा में हैं। खेती के योग्य ज़मीन के सोलहवें भाग से अधिक का उपयोग नहीं हो पाता। भूख से पीड़ित होकर वहाँ के निवासियों को बड़ी संख्या में हिन्दुस्तान के समतल प्रदेश में आना पड़ता है। किसानों की दशा अत्यन्त दयनीय है मुख्यतया मालगुज़ारी की प्रथा और हुकूमत के दमन के कारण। . . . .प्राकृतिक दृश्य के सौन्दर्य तथा किसानों की दशा में घोर असंगति है। उनके झोंपड़े इंग्लैंड में पशुओं के बाड़ों से भी घटिया हैं, उनके वस्त्र शीत ऋतु के लिए बिल्कुल नाकाफ़ी!"

लोगों का नैतिक पतन तो उनकी दरिद्रता से भी अधिक बुरा था। मूरक्राफ़्ट, जो स्वयं एक कुशल चिकित्सक था, लिखता है: "प्रत्येक शुक्रवार को मैं अपना समय रोगियों की सेवा में व्यतीत करता था। एक बार तो मेरी सूची में रोगियों की संख्या ६,८०० थी। इनमें से अधिक संख्या में लोग दरिद्रता, और दुराचार से पैदा होने वाले घृणित रोगों के शिकार थे।"

जुलाई १८३१ में विक्टर जाकमों ने भी यही शोचनीय दशा देखी। उसने भी लिखा है: "वहाँ लौटने पर रोगियों की बहुत बड़ी संख्या ने मेरे डेरे को घेर लिया। उनके फोड़े, प्रायः मैथुनज रोगों के थे; इसके अलावा गंडमाला, सफ़ेद गिल्टी तथा आँख की तरह-तरह की बीमारी के रोगी उनमें थे। अन्धों में मोतियाबिन्द वाले कम थे, अन्य रोगों से अन्धे हुए ही अधिक थे। मैथुनज रोग वालों में मुसल्मानों तथा पंडितों की संख्या भी कम न थी।. . . .उन्होंने बताया कि उनके लिए इस रोग से बचना सम्भव नहीं, क्योंकि प्रदेश की सभी स्त्रियों को रोग की छूत लग चुकी है। ऐसे रोग पंजाब की अपेक्षा कश्मीर में अधिक हैं।"

कश्मीरियों का चरित्र

कुशल फ़्रांसीसी चिकित्सक बेर्नियर ने इस जाति का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है। वह लिखता है: "अपनी हाज़िर-जवाबी के लिए कश्मीरी विख्यात हैं, और हिन्दुस्तानियों से अधिक बुद्धिमान् तथा चतुर समझे जाते हैं। ये बड़े क्रिया-शील तथा उद्योगी भी होते हैं।" इसके एक शती पश्चात् जार्ज फ़ॉर्स्टर ने लिखा, "कश्मीरी खुशदिल तथा मौजी लोग हैं। विलासिता की ओर इनकी प्रवृत्ति अधिक है। धन की लालसा और धन पैदा करने के नये उपाय करने में या ऐश-आराम में धन व्यय करने के नये ढंग निकालने में, कश्मीरी अद्वितीय हैं।" किन्तु इस चित्र का एक दूसरा पहलू भी था। फ़ॉर्स्टर ने आगे लिखा है, "कश्मीर के निवासियों में सामूहिक रूप से जितनी बुराइयाँ व्याप्त हैं, उतनी मैंने किसी समाज में न देखी थीं।. . . .स्वभावतः घमंडी तथा लोभी कश्मीरी, सरकारी अधिकार पा जाने पर अपने सभी कार्यों में कपट, विश्वासघात तथा उस मँजी हुई क्रूरता का परिचय देता है जो कापुरुषों में प्रायः होती है। और यह भी कहा जाता है कि उस पर किसी बात का भरोसा नहीं किया जा सकता। सैनिक कर्म में इस प्रान्त का शायद ही कोई निवासी भाग लेता हो। इनकी प्रवृत्ति ही युद्ध के प्रतिकूल मालूम पड़ती है। अफ़ग़ान हुकूमत का तो यह एक नियम है कि कभी किसी कश्मीरी को अपनी फ़ौज में न लिया जाय।"

मूरक्राफ़्ट का अनुभव भी ऐसा ही कटु था। फ़ॉर्स्टर के केवल उनतालीस वर्ष पश्चात् उसने लिखा:

"कश्मीरी लोग सर्वदा एशिया के सबसे चतुर तथा मनमौजी लोगों में गिने जाते रहे हैं और यह ठीक भी है . . . .कश्मीरी स्वभाव से ही स्वार्थी, अन्धविश्वासी, अज्ञान, चंचल, चालबाज़, बेईमान तथा झूठा होता है।" (II, १२८).

जाकमों ने जब कश्मीर के स्वामी राजा रणजीत सिंह से वहाँ जाने की आज्ञा माँगी तो उन्होंने कहा, "'यह पृथ्वी का स्वर्ग है। मगर वहाँ सँभल कर रहना। वहाँ के लोग बड़े धूर्त, झूठे, और चोर हैं, आदि आदि। किन्तु वहाँ की स्त्रियाँ अत्यन्त सुन्दर होती हैं। देखिए इनके बारे में आपकी क्या राय है?'"

ऐसा कहते हुए "उन्होंने मुझे पाँच सुन्दर लड़कियाँ दिखायीं जो पास के खेमे से निकल कर हम लोगों की ओर आयीं. . . .भारतवर्ष में मैंने जितनी स्त्रियाँ देखी थीं उन सबसे वे कहीं अधिक सुन्दर थीं। प्रत्येक देश में उनकी प्रशंसा होती।"

नारी का पतन

किन्तु मुस्लिम शासन-काल में कश्मीरी जीवन का सबसे दुःखद पहलू वहाँ की नारी का पतन था। लोगों को अपनी बहिनों तथा बेटियों की लाज का कुछ ख्याल न रह गया था। पृथ्वी का यह स्वर्ग, चिर वसन्त का यह उद्यान स्त्रियों की बिक्री की मंडी हो गया था जहाँ से सारे भारतवर्ष में व्यापार होता था। सन् १६६३ में ही बेर्नियर ने लक्ष्य किया था, "रंग और सुगठित देह के लिए कश्मीर के लोग मशहूर हैं। उनके शरीर की गठन यूरोप वालों से किसी बात में कम नहीं होती। विशेष कर औरतें तो बहुत खूबसूरत होती हैं और मुग़ल सम्राट् के दरबार का प्रत्येक व्यक्ति यहीं से अपनी पत्नियाँ या उपपत्नी चुनता है।" अवध का नवाब भी अपने हरम को कश्मीरी रूपसियों से भरा रखता था (जैसा कि टामस ट्वाइनिंग ने सन् १७९४ के अपने यात्रा-वृत्तान्त में लिखा है)। इसी प्रकार कश्मीर के उत्तर पूर्व में हिमालय की पहाड़ियों में सुन्दर औरतों का व्यवसाय ज़ोरों से चलता था। जैसा कि जाकमों ने लिखा है, "लुधियाना इस बात के लिए विख्यात है कि वहाँ प्रत्येक अंग्रेज़ी रेजिमेंट के सिपाहियों के लिए औरतों का प्रबन्ध हो जाता है। वहाँ के कुल २०,००० निवासियों में ३००० वेश्याएँ हैं. . . .इनमें से अधिकांश पहाड़ों से आती हैं, जहाँ से इस प्रकार का रोज़गार करने वाले लोग उन्हें बचपन में ही चुरा अथवा ख़रीद लाते हैं। हिमालय की पहाड़ियों पर अंग्रेज़ी आधिपत्य स्थापित हो जाने के पश्चात् यह व्यवसाय कम तो अवश्य हो गया पर बिल्कुल समाप्त न हो सका।" मूरक्राफ़्ट के अतिरिक्त फ़ॉर्स्टर तथा जाकमों ने जो दुराचार यहाँ प्रचलित देखा उसका ज़िक्र तो किया जा चुका है।[1]

इतिहासकार का यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात का पता लगाने का प्रयास करे कि आख़िर कश्मीरियों जैसी प्रतिभावान जाति इतनी नीचे कैसे गिर गयी। इसका एकमात्र उत्तर शताब्दियों का मुस्लिम शासन है। प्रान्त के शासक स्वार्थी होते थे जिनमें न तो राजनीतिक योग्यता होती और न देशभक्ति की भावना। जनता के स्वाभाविक नेता, पुरोहित-मौलवी अनपढ़ भी थे और विषयी भी। जैसा कि मूरक्राफ़्ट ने लिखा, "दोनों सम्प्रदायों के नेता मुल्ला अथवा पंडित अत्यन्त मूर्ख हैं और लोगों पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं है।" इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि लोगों में अन्धविश्वास बढ़ता गया और मूर्तियों तथा पीर-फ़क़ीरों की पूजा ने अरब के पैग़म्बर के विशुद्ध एकेश्वरवाद को पनपने का अवसर ही न दिया।

अज्ञान और धर्मान्धता

अकबर की विजय के पूर्व से ही कश्मीर में शिया-सुन्नी के झगड़े बराबर होते आये थे। इस प्रान्त के बारे में हमें जो सबसे प्राचीन मुग़ल बयान मिलता है उससे पता चलता है कि दोनों फ़िरक़े "आपस में निरन्तर लड़ते रहते थे।" (आईन-इ-अकबरी, २, ३५२) औरंगज़ेब के लम्बे शासन-काल में होने वाले इन फ़िरक़ेवाराना झगड़ों का पूरा बयान आज़मी के इतिहास में मिलता है। शिया[2] लोग, जो अल्पसंख्या में थे, हसनाबाद और जदबल के मुहल्लों में इकट्ठा हो गये थे। फिर भी जब कभी दोनों फ़िरक़ों के लोग व्यापार अथवा यात्रा में मिलते थे तो प्रायः साधारण बातचीत से झगड़ा शुरू हो जाता था; और मोल-तोल के झगड़े भी साम्प्रदायिक रूप ले लेते थे। लड़ने वाले एक दूसरे के मज़हब पर आक्षेप करने लगते थे। शियों पर पहले तीनों खलीफ़ों की भर्त्सना (तबर्रः) का आरोप लगाया जाता था; दो विरोधी फ़िरक़ों के व्यक्तियों की लड़ाई सामूहिक झगड़े का रूप ले लेती थी और क़ाज़ी की बातों से उत्तेजित सुन्नी जनता शिया मुहल्लों को लूटती, जलाती और जितने भी शिया मिलते उनको क़त्ल कर डालती थी। दिल्ली का प्रतिनिधि शासक

[1] यह अवस्था सन् १८७० तक रही। इसी वर्ष सर रिचर्ड टेम्पल ने लिखा, 'अरगांव तथा बातल जातियों से उत्तरी भारत के वेश्या-समाज को अनेक रंगरूट मिलते हैं।' ('जर्नल्स', २, २७६)

[2] तिब्बत तथा उत्तर का पूरा व्यापार फ़ारस से आये हुए शिया लोगों के हाथ में था—जाकमों

निष्पक्ष होने पर भी अपने थोड़े से अमले की सहायता से कुछ नहीं कर सकता था। कभी-कभी तो दंगाइयों और हुकूमत के सिपाहियों में सड़क पर खुली लड़ाई हो जाती थी।

इस प्रकार का सबसे भयानक दंगा सन् १६८४ में इब्राहीम खाँ के प्रबन्ध-काल में हुआ। दयालु तथा विद्वान् इब्राहीम, अली मर्दान खाँ का पुत्र था जो दिल्ली की नहर बनवाने के लिए विख्यात है। वह फ़ारस में पैदा हुआ और शिया सम्प्रदाय का अनुयायी था। उसने पूरे १४ वर्ष तक कश्मीर का शासन किया। आज़मी ने इस दंगे का वर्णन इस प्रकार किया है :

"शिया मुहल्ला हसनाबाद के निवासी अब्दुश्शकूर और उसके लड़के सादिक़ का एक सुन्नी से पुराना झगड़ा चला आ रहा था। इस झगड़े के दौरान में इन शियाओं ने कुछ ऐसे काम किये जो क़ुरान के विधान के प्रतिकूल थे। सादिक़ ने पैग़म्बर के साथियों (पहले तीन खलीफ़ों) के लिए कुछ अपशब्दों का भी प्रयोग किया। फिर भी इब्राहीम खाँ ने सादिक़ की रक्षा की, यद्यपि उसे धार्मिक न्यायालय के सम्मुख उपस्थित होने का हुक्म दिया गया। इस पर क़ाज़ी मुहम्मद यूसुफ़ को गुस्सा आया और उन्होंने शहर की सुन्नी जनता को भड़काया। एक बड़ा दंगा शुरू हो गया। अभियुक्त को पकड़ने में असफल क्रुद्ध जनता ने हसनाबाद के मुहल्ले में आग लगा दी। इसी बीच हसनाबाद के निवासियों के रक्षार्थ फ़िदायी खाँ पहुँच गया। दंगाइयों को स्थानीय सुन्नी मनसबदारों तथा तिब्बत के हमले से लौटे हुए काबुली अफ़सरों से सहायता मिली। दोनों पक्ष के कितने ही लोग मारे गये और कितने ही घायल हुए। दंगे ने प्रचंड रूप धारण किया और दंगाइयों के ऊपर से क़ाज़ी का प्रभाव भी जाता रहा। अन्त में अपने को निरुपाय देख इब्राहीम खाँ ने अब्दुश्शकूर तथा अन्य शिया अभियुक्तों को क़ाज़ी के हवाले कर दिया, जिसने अब्दुश्शकूर, उसके दो लड़कों तथा एक दामाद को ईश्वर-निन्दा के अपराध में मृत्युदंड दिया....शहर पर सुन्नी दंगाइयों का अधिकार बना रहा। शिया लोगों के गुरु बाबा क़ासिम को दंगाइयों ने सड़क पर पकड़ लिया और बुरी तरह मार डाला। इस भीड़ को दंड देने के लिए फ़िदायी खाँ घुड़सवार फ़ौज लेकर निकला और खुली सड़क पर दूसरी लड़ाई हुई। इसी बीच शेख बक़ा बाबा ने एक और सशस्त्र जन-समूह इकट्ठा कर लिया था जिसने गवर्नर के महल में आग लगा दी....औरंगज़ेब ने गवर्नर को पदच्युत किया और सुन्नी क़ैदियों को छोड़ दिया।" (आज़मी लिपि २०, ४, पृ० १३१-१३२)।

इस प्रकार के हिंसापूर्ण तथा बर्बरतायुक्त व्यवहार लोगों की धर्मान्धता तथा धार्मिक असहिष्णुता का परिचय देते हैं। दूसरी क़िस्म की घटनाएँ भी मिलती हैं जो वहाँ के निवासियों के अन्ध-विश्वास तथा अज्ञान की परिचायक तथा इस्लाम के बुनियादी उसूलों के प्रतिकूल हैं। सन् १६६८ में मुहम्मद साहब के तथाकथित लोम, जो अब तक बीजापुर की एक मस्जिद में रखे हुए थे, कश्मीर में लाये गये। म० इ० मुबारक के नाम से विख्यात ये लोम लाल रंग के थे और इनकी परछाईं नहीं पड़ती थी! इसके आगमन से सम्पूर्ण देश में हलचल मच गयी। "सारी मुस्लिम जनता खुदा और उसके पैग़म्बर की प्रशंसा करते हुए इस पावन धातु के दर्शनार्थ आ जुटी। पुरुषों तथा स्त्रियों के इस अगाध जन-समूह ने बाढ़ की भाँति सड़कों तथा गलियों को आच्छादित कर लिया। विद्वान्, साधु, धर्मशास्त्रज्ञ तथा फ़क़ीर उस पालकी को कन्धा देने में एक दूसरे से होड़ लगा रहे थे जिसमें धातु ले जाये जा रहे थे। पालकी को एक बार छू पाने पर भी लोग अपने को धन्य समझते थे।" (आज़मी पृ० १४०) इसमें तथा अल-लात और अल-उज्ज़ा अथवा अन्य भौतिक वस्तुओं की पूजा में क्या अन्तर है जिसे पैग़म्बर मुहम्मद बराबर निन्दनीय बताते रहे?

दिल्ली के मुसल्मान शासक कश्मीरियों को सदैव उपेक्षणीय समझते रहे। इसी धारणा का फल था कि सन् १७०० तक कोई भी कश्मीरी, हिन्दू अथवा मुसलमान, कभी मनसबदार यानी केन्द्रीय शासन का कर्मचारी नहीं नियुक्त हो सका। पहले-पहल गवर्नर फ़ाज़िल खाँ (१६६७-१७०१) की सिफ़ारिश पर औरंगज़ेब ने कुछ कश्मीरियों को अपनी सेवा में स्वीकार किया और वह भी बहुत छोटे पदों पर। कुछ बरस पश्चात् औरंगज़ेब ने अपने मन्त्री को लिखा, "कश्मीरी होते हुए भी अज़ीज़ खाँ में कुछ तमीज़ है।"[1] यह कश्मीरियों के बारे में औरंगज़ेब की धारणा का परिचायक है। कश्मीरी चरित्र के बारे में आम लोगों की धारणा का परिचय निम्नलिखित कहावत से मिलता है:

एके अफ़ग़ान, दोअम कम्बू, सियम बदज़ात कश्मीरी।

[1] कलीमत-इ-औरंगज़ेब, रामपुर वाली पांडुलिपि, पृष्ठ ९

मुग़ल शासकों की उपेक्षा के पश्चात् दुर्रानियों के नृशंसतापूर्ण अत्याचार की बारी आयी। भूमि-कर बहुत बढ़ा दिया गया, भूमि उजड़ने लगी, जनसंख्या कम हो गयी और व्यापार तथा उद्योग मद्धिम पड़ने लगा। डोगरा शासन की स्थापना के पूर्व मूरक्राफ़्ट तथा फॉर्स्टर ने देश की जो दशा देखी वह अत्यन्त निराशापूर्ण थी। अहमद शाह अब्दाली का कृपापात्र वायसराय हाजी करीम दाद खाँ "अपनी क्रूरता तथा लालच के लिए प्रसिद्ध था। प्रायः साधारण अपराधों के लिए वहाँ के निवासियों को दो-दो की पीठ सटाकर बाँधकर नदी में फेंक दिया जाता था, उनकी सम्पत्ति लूट ली जाती थी और उनकी स्त्रियों के साथ प्रत्येक प्रकार का अत्याचार किया जाता था।" (फॉर्स्टर) उसका उत्तराधिकारी उससे भी बढ़कर क्रूर तथा अत्याचारी निकला। उसके समय यह एक नियम सा हो गया था कि अपने फरसे के उल्टे सिरे से प्रहार किये बिना अफ़ग़ान अफ़सर किसी कश्मीरी को कोई आदेश न देता था।

इस प्रकार कश्मीर के लोगों को मातृभूमि छोड़ने के बाद ही अपनी प्रतिभा का उपयोग करने तथा धन और यश कमाने का अवसर मिलता था।

मुग़ल शासन, अफ़ग़ान शासन तथा डोगरा शासन सभी आये और गये। आज कश्मीर एक नये भवन की देहरी पर है। क्या यह भवन कश्मीर के लिए स्वतन्त्रता तथा आधुनिक प्रगति का मन्दिर होगा, अथवा मध्यकालीन अन्धविश्वास तथा सरकारी दमन का अन्धकूप ? कश्मीर के निवासियों को इस विकट परिस्थिति का सामना करके सही दिशा में कदम उठाना है। वहाँ के नेता आज जो निर्णय करते हैं उसका परिणाम भविष्य की पीढ़ियों को भोगना पड़ेगा। क्या इस सुन्दर प्रदेश तथा प्रतिभा-शाली जाति के शुभेच्छुओं को दुःखी होकर कहना पड़ेगा :

> निष्परिणाम है संघर्ष
> व्यर्थ है परिश्रम और बलिदान,

—अथवा दिल्ली में खड़े होकर हम इंगित कर सकेंगे :

> सामने, सूर्य उठ रहा है—धीरे, बहुत धीरे,
> किन्तु पश्चिम को देखो, वहाँ की भूमि चमक उठी है !

फ़रवरी १९४९
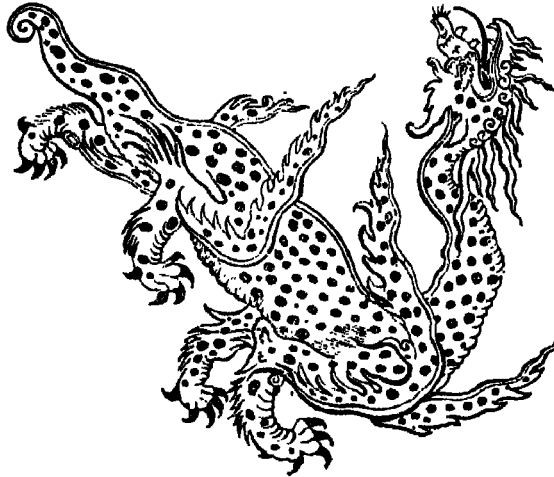
भारत में सैनिक और असैनिक जातियाँ

रमेशचन्द्र मजूमदार

१९वीं शती के उत्तरार्ध में भारत की ब्रितानी सरकार ने सैनिक भरती की एक नीति का आरम्भ किया। इस नीति का मूल सिद्धान्त यह था कि भारतीय जनता को सामान्यतया दो वर्गों में बाँटा जा सकता है जिसमें से एक सैनिक कर्म के लिए उपयुक्त है और दूसरी नहीं। इस नीति का व्यावहारिक परिणाम यह हुआ कि भारतीय सेना की भरती गोरखों, सिखों, पठानों, मराठों, राजपूतों आदि थोड़े से विशिष्ट वर्गों से होने लगी और पूर्व तथा दक्षिण बंगाल, बिहार, उड़ीसा, आसाम, पूर्वी युक्तप्रान्त, मध्य प्रान्त और मद्रास से रंगरूट या तो बिल्कुल ही नहीं लिये गये या बहुत ही नगण्य संख्या में।

इस नये सिद्धान्त की जड़ में यह धारणा थी कि पहली श्रेणी के लोगों में सैनिक वृत्ति की ओर सहज झुकाव था और उपयुक्त गुण भी मौजूद थे जब कि दूसरी श्रेणी के लोग शारीरिक अथवा मानसिक हीनता के कारण सैनिक जीवन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थे। यह स्मरण रखना चाहिए कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन और व्यवहार पहले पहल सन् ५७ की महाक्रान्ति के—जिसे सिपाही-विद्रोह कहा जाता है—बाद ही हुआ। यह लक्षणीय है कि गोरखों और सिखों को, जिन्होंने विदेशी सत्ता के प्रति बड़ी राजभक्ति दिखायी, अब प्रमुख सैनिक जाति समझा गया और पूर्व प्रदेशों के लोग, जिन्होंने विदेशियों से लोहा लिया, इस पद के लिए अयोग्य करार दे दिये गये।

यह भी स्मरण रखना होगा कि जो 'जातियाँ' इस प्रकार 'असैनिक' करार दी गयीं, वे वही थीं जिनकी मदद से ब्रितानियों ने भारत में अपना साम्राज्य कायम किया था। क्योंकि यह सुपरिचित ऐतिहासिक तथ्य है कि अंग्रेजों की ओर से भारत में जो भारतीय सैनिक लड़े वे मुख्यतया मद्रास, बंगाल, बिहार और युक्त प्रान्त के लोग थे। अगर ये लोग मराठों, सिखों और गोरखों को, जिनके पास अपनी सुगठित सेनाएँ थीं, हरा कर अंग्रेजों के लिए साम्राज्य स्थापित कर सके, तो कम से कम राज्य-रक्षा की दृष्टि से ऐसी कोई तात्कालिक आवश्यकता नहीं थी कि साम्राज्य की स्थापना होते ही और भारतीय राज्यशक्ति उन्मूलित होते ही इन लोगों को सेना से निकाल दिया जाय। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए यह सन्देह करना स्वाभाविक ही है कि सैनिक और असैनिक का भेद राजनीतिक विचारों से प्रेरित हो कर किया गया न कि किसी फ़ौजी आवश्यकता के कारण अथवा किसी ऐसे विश्वास के कारण (प्रमाण की तो बात ही क्या!) कि भारतीयों के कुछ वर्गों में कोई ऐसा दोष है जो उन्हें सैनिक भरती के अयोग्य बना देता है।

जो हो, क्योंकि ऐसी धारणा गहरे जाकर बस गयी है इसलिए उसकी पड़ताल करना आवश्यक है। यहाँ इतिहास के निर्मम आलोक में उसकी जाँच की जायेगी।

भारतीय इतिहास की मोटी-मोटी बातों का साधारण ज्ञान रखने वाला भी जानता है कि गोरखों, सिखों, और मराठों की सैनिक कीर्ति की परम्परा तुलनात्मक दृष्टि से बहुत पुरानी नहीं है। १८ वीं शती के उत्तरार्ध से पहले गोरखों का नाम ही नहीं सुना जाता था; सिखों ने १७ वीं शती के अन्तिम वर्षों में ही एक सैनिक दल का रूप लिया; मराठों को एक सैनिक संगठन का रूप शिवाजी ने ही दिया जिनकी मृत्यु सन् १६८० में हुई। इस प्रकार आज जो जातियाँ प्रमुख सैनिक जातियाँ कहलाती हैं, ३५० वर्ष पहले उनका उस रूप में अस्तित्व भी नहीं था। भारतीय इतिहास की समूची परम्परा में यह एक बहुत ही छोटा काल है; बल्कि हमारे इतिहास के दो सहस्र वर्षव्यापी उस अंश की तुलना में भी, जिससे हम अच्छी तरह परिचित हैं, यह अवधि बहुत लम्बी नहीं है। सैनिक जातियों के इस नये सिद्धान्त का मतलब तो यह होगा कि भारतीय इतिहास का इससे पहले का युग, जो कि वास्तव में हमारे इतिहास का गौरव-युग है, भारतीय जाति की सैनिक-निपुणता की दृष्टि से बिल्कुल कोरा था। किन्तु वास्तव में यह युग सैनिक-कृतित्व और वीरताओं की गाथाओं से भरा हुआ है। इतना ही नहीं, और भी महत्त्व की बात यह है कि यह कीर्ति भारत के उन लोगों ने उपार्जित की जिनको आजकल असैनिक समझा जाता है। इस सत्य की पुष्टि के लिए थोड़े से प्रमाण देना उपयुक्त होगा।

भारत की महान् सैनिक शक्ति का पहला ठीक-ठीक वर्णन हमें सिकन्दर के आक्रमण के समय के यूनानी इतिहास-कारों की रचनाओं में मिलता है। उन्होंने पूर्वी भारत की दो सैनिक महच्छक्तियों का वर्णन किया है और उनकी सेना का ब्यौरा भी दिया है। दो-एक इतिहासकारों ने यह भी संकेत किया है कि इन्हीं के आतंक के कारण सिकन्दर पंजाब से आगे नहीं बढ़ा। इन महच्छक्तियों का आपसी सम्बन्ध चाहे जैसा हो, इसमें सन्देह नहीं कि उनका क्षेत्र आधुनिक बंगाल और बिहार का क्षेत्र था।

सिकन्दर के चले जाने के बाद भारत में जो महान् साम्राज्य—प्राचीन भारत का महत्तर साम्राज्य—स्थापित हुआ, वह मौर्यों का था, जो कि बिहार के वासी थे। गुप्त साम्राज्य के बारे में भी यह बात कही जा सकती है।

गुप्तों के पतन के बाद समय-समय पर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में राजनैतिक शक्ति केन्द्रित होती रही। उन दिनों किसी जाति की, अपने देश से बाहर, विशालतर राजनैतिक प्रभुता का एक मात्र आधार उस जाति की सैनिक शक्ति होता था। इसलिए किसी जाति का सैनिक-योग्यता और निपुणता का अनुमान राजनैतिक इतिहास में उस जाति के स्थान से सहज ही लग सकता है। इस दृष्टि से भारत के कई विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न समयों पर सैनिक जातियों का उत्थान हुआ है। ईसवी ७वीं शती में कन्नौज में हर्षवर्धन का साम्राज्य पंजाब से बंगाल तक रहा। ८वीं शती में ललितादित्य के अधीन कश्मीरियों ने उत्तर भारत के बड़े अंश पर अपना अधिकार स्थापित किया। ८वीं-९वीं शती में बंगाल के पालवंशी धर्मपाल और देवपाल की विजयी सेनाएँ सिन्धु नद तक पहुँची थीं और लगभग आधी शती तक उत्तर भारत में उनके साम्राज्य की शक्ति बनी रही। कन्नौज के प्रतिहारों ने उनके तत्काल बाद इससे भी बड़ा साम्राज्य स्थापित किया। १०वीं शती के आरम्भ में इस साम्राज्य के विघटित होने पर योग्य नेताओं के अधीन विभिन्न जातियों ने अपनी सैनिक योग्यता और पराक्रम का परिचय दिया। इनमें बुन्देलखंड के चन्देलों (यशोवर्मन और ढंग, १०वीं शती) और मध्य भारत के कलचुरियों (*गांगेयदेव और कर्ण, ११वीं शती*), मालवा के परमारों (*मुंज और भोज, १०वीं-११वीं शती*), अजमेर के चौहानों (विग्रहराज और पृथ्वीराज, १२वीं शती), और युक्त प्रान्त के गढवालों (चन्द्रदेव और गोविन्दचन्द्र, ११वीं-१२वीं शती) तथा गंगों (अनन्तवर्मन, ११वीं-१२वीं शती) का उल्लेख किया जा सकता है। गुजरात के चालुक्य भी उल्लेखनीय हैं जिन्होंने, और बंगाल के सेनों ने, तुर्कों का तब भी दृढ़ विरोध किया था जब कि बाक़ी उत्तर भारत में वे अधिकार जमा चुके थे। इन महान् नेताओं की सैनिक विजय और पराक्रम को ध्यान में रखते हुए इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं रहती कि उस समय में वे जातियाँ सैनिक दृष्टि से अत्यन्त निपुण थीं।

विन्ध्य के दक्षिण में भी यह बात देखी जाती है। इस प्रदेश के पूर्व में पल्लवों की सैनिक शक्ति की धाक ४०० वर्षों तक रही। उनके बाद १०वीं-११वीं शती में चोल राज्य भारत की प्रमुख सैनिक शक्ति रहा। राजराज तथा राजेन्द्र के शासन-काल में चोलों की विजयी सेनाएँ उत्तर में बंगाल और दक्षिण में सिंहल तक पहुँचीं और उनकी नौ-सेना के बेड़ों ने सागर पार सुमात्रा और मलय प्रायद्वीप में साम्राज्य स्थापित किया। पश्चिमी तट पर चालुक्यों और राष्ट्रकूटों ने न केवल दक्षिण में सैनिक कीर्ति उपार्जन की बल्कि एकाधिक बार उत्तर भारत के शक्तिशाली राज्यों को भी हराया।

मुस्लिम काल से भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। राजपूतों को, जिनकी सैनिक योग्यता अब भी स्वीकार की जाती है, छोड़ भी दें तो हम देखते हैं कि विजयनगर के कर्णाटों, पूर्वी गंगों, और उड़ीसा के गजपतियों ने बड़े-बड़े राज्य स्थापित किये थे और महान् शासकों से लोहा लिया था। कई बार उन्होंने अपने शक्तिशाली महान् पड़ोसियों पर स्वयं आक्रमण करके उन्हें करारी हार दी। इस प्रसंग में उड़ीसा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आज उड़िया जाति को सैनिक जाति मानने के लिए कोई भी तैयार नहीं है, लेकिन कदाचित् थोड़े ही व्यक्ति जानते हैं या स्मरण रखते हैं कि १३वीं से १५वीं शती तक उड़िया जाति न केवल तेलुगु प्रदेश के बहुत बड़े अंश पर शासन करती थी बल्कि बहुधा अपने उत्तर और पश्चिम के महान् राज्यों पर आक्रमण भी करती थी।

भारतीय इतिहास के कुछ मुख्य तत्त्वों का यह संक्षिप्त और द्रुत सिंहावलोकन एक ऐतिहासिक सत्य को अकाट्य रूप से प्रमाणित करता है, और वह सत्य यह है कि सैनिक निपुणता भारत में किसी वर्ग या प्रदेश का विशेषाधिकार नहीं है बल्कि विभिन्न प्रदेशों के और विभिन्न जातियों के लोगों ने समय-समय पर अपनी सैनिक शक्ति और योग्यता का परिचय दिया है। हम यह भी कह सकते है कि इस सैनिक योग्यता का कारण किसी यथार्थ अथवा कल्पित मूलगत जातीय विशेषता में न खोज कर योग्य नेतृत्व, समुचित सामग्री और अनुकूल परिस्थिति में ही खोजना अधिक युक्ति-संगत है।

यह कथन इतिहास के एक दूसरे सत्य से भी पुष्ट होता है। उपर्युक्त सभी सैनिक शक्तियाँ कालान्तर में ह्रास को प्राप्त हुईं। किसी जाति या वर्ग की सैनिक अयोग्यता प्रायः किसी ऐसी घटना से सिद्ध की जाती है जिसमें वह पूरी तरह पराजित हुई हो। लेकिन लोग प्रायः भूल जाते हैं कि तथा-कथित सैनिक जातियों के साथ भी ऐसी अपमानजनक घटनाएँ घटित हुई हैं। संग्राम सिंह के अधीन ८०,००० वीर राजपूत, बाबर के १२,००० मुग़लों द्वारा पराजित हुए थे। इसी प्रकार वीर तुर्कों को मुग़लों ने और मुग़लों को मराठों ने परास्त किया था। लेकिन खिड़की में ढाई हज़ार अंग्रेज़ सैनिकों ने पेशवा की अपने से दस गुनी बड़ी मराठा फ़ौज को हराया। सीताबल्डी में इस घटना की आवृत्ति हुई, जब १,६०० अंग्रेज़ सैनिकों ने नागपुर के भोंसले सरदार के १८,००० सैनिकों को हराया। इन घटनाओं से सिद्ध होता है कि सैनिक गुण प्राप्त भी किये जा सकते हैं और गँवाये भी जा सकते हैं; और सैनिक निपुणता जातीय विशेषताओं के अलावा दूसरे कारणों पर भी बहुत कुछ निर्भर करती है।

डील-डौल, आदतें, रीति-रस्म और व्यक्तिगत रुचियाँ निस्सन्देह अपना महत्त्व रखती हैं लेकिन यह गुण किसी विशेष जाति या जन-समूह या वर्ग को चिरन्तन दैवी वरदान के रूप में नहीं मिलता बल्कि साधना द्वारा प्राप्त किया जाता है और उपेक्षा द्वारा खो दिया जाता है। इसके अतिरिक्त इन दिशाओं में किसी कमी की पूर्ति उत्साह, लगन और दृढ़ता द्वारा की जा सकती है। उच्च आदर्शों से प्रेरित, योग्य नेताओं द्वारा संचालित और यथेष्ट साधनों से सम्पन्न कोई भी जाति एक उच्च कोटि का सैनिक संगठन तैयार कर सकती है।

कभी-कभी किसी जाति की सैनिक योग्यता के बारे में इस भ्रान्त धारणा का आधार इतिहासिक तथ्यों की भ्रान्त व्याख्या होती है। एक उदाहरण लिया जा सकता है। बख़्तियार खिलजी द्वारा बंगाल की विजय को इस बात का प्रमाण समझा जाता है कि बंगालियों में सैनिक गुणों का सर्वथा अभाव था। लेकिन १८ अश्वारोहियों द्वारा बंगाल की विजय की बात तथ्यों को बिल्कुल ग़लत समझना है, क्योंकि असल में मुस्लिम इतिहासकार ने जो लिखा है उसका अर्थ होता है कि बख़्तियार ने नदिया नगर में अधिकार किया था और वह भी १८ घुड़सवारों द्वारा नहीं बल्कि एक पूरी सेना द्वारा जिसका अगला दस्ता १८ व्यक्तियों का था और शहर में इसलिए प्रवेश पा सका कि उन्हें घोड़ों का व्यापारी समझा गया। इस घटना को बंगालियों की सैनिक योग्यता आँकने के लिए यथेष्ट समझा जाता है लेकिन उस समय स्पष्ट ही यह बात लोग भूल जाते हैं कि जब समूचा उत्तर भारत मुस्लिम साम्राज्य में शामिल हो चुका था तब भी पूर्वी और दक्षिणी बंगाल में बंगाली १०० वर्ष तक अपनी स्वाधीनता क़ायम रख सके थे और मुसलमानों से लड़ते रहे थे।

अगर हम यह मान भी लें कि एक आकस्मिक हमले द्वारा नदिया पर क़ब्ज़ा करने का मुस्लिम वर्णन अक्षरशः ठीक है—जिस पर सन्देह करने का यथेष्ट कारण है—तो भी उतने ही से बंगालियों की सैनिक अयोग्यता प्रमाणित नहीं हो जाती है, क्योंकि ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसके अलावा यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि ऐसे आकस्मिक हमले से प्रमाणित सैनिक योग्यता वाले लोगों का भी ऐसा ही हाल होता रहा है। उदाहरणतया बख़्तियार की मृत्यु के अनति-काल पीछे बंगाल की तुर्क सेनाएँ उड़ीसा के २०० सैनिकों के आकस्मिक हमले के सामने तितर-बितर हो गयी थीं। यह कटासिन में तुग़रल तुगन ख़ाँ की सेना की पराजय की घटना है। बंगाल और उड़ीसा का उदाहरण विशेष रूप से इस लिए दिया जा रहा है कि आजकल इन दोनों प्रान्तों के लोगों को 'असैनिक जातियों' के अनुक्रम में भी बहुत नीचे स्थान दिया जाता है। लेकिन इतिहास दिखाता है कि कभी यह सैनिक दृष्टि से बहुत निपुण थे और कोई कारण नहीं है कि वे दोबारा वही निपुणता नहीं प्राप्त कर सकते। यह तो ठीक है कि किसी समूह की योग्यता हमेशा उसके अतीत के आधार पर नहीं आँकी जा सकती; लेकिन यह भी उतना ही सच है कि केवल वर्तमान के आधार पर उसका भविष्य भी नहीं आँका जा सकता। कोई जाति किसी समय सैनिक दृष्टि से निपुण रही, इतने ही से यह प्रमाणित हो जाता है कि उसे स्थायी रूप से 'असैनिक जाति' घोषित करना अन्याय है। और यह भी इस बात से इंगित होता है कि अनुकूल और उचित अवसर मिलने पर वह जाति कदाचित् फिर अच्छे सैनिक दे सकती है। इन युक्तियों और भारतीय इतिहास के उपयुक्त तथ्यों को ध्यान में रख कर हम इस परिणाम पर पहुँचने को बाध्य हैं कि भारतीय प्रजा को सैनिक और असैनिक दो वर्गों में बाँट देना समूचे ऐतिहासिक साक्ष्य के विरुद्ध जाना है।

मार्च १९४९

फलक १ ६

बापू विट्ठल महादेव : एक महाराष्ट्रीय राजनीतिज्ञ

रघुवीरसिंह

आर्थर वेलेजली (बाद में ड्यूक ऑफ़् वेलिंगटन) को आठ वर्षों के अपने महत्त्वपूर्ण कार्यकाल में भारत के जिन-जिन नेताओं, राजनीति-विशारदों तथा कूटनीतिज्ञों से पेश आना पड़ा, उनमें से जिस व्यक्ति का प्रभाव उसके मानस पर अमिट रूप से पड़ा, वह था महाराष्ट्र का एक प्रौढ़ राजनीतिज्ञ बापू विट्ठल महादेव, जो दौलतराव सिंधिया के शासनकाल में अक्टूबर १८०३ से अक्टूबर १८०४ तक केवल एक वर्ष के लिए प्रधान मन्त्री के उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर रहा। वैसे उनके व्यक्तित्व में न तो कोई विशेष आकर्षण था और न अपने समकालीनों से उन्हें बहुत अधिक सम्मान ही प्राप्त हुआ—जो थोड़ा-बहुत प्राप्त हुआ, वह केवल उनके ओहदे के कारण। यही कारण है कि तत्कालीन किसी भी व्यक्ति ने न तो उनके आरम्भिक जीवन का कोई विवरण प्रस्तुत किया और न उनके जीवन के अन्तिम अंश का ही। यहाँ तक कि अपने सीमित कार्यकाल में पदाधिकारी की हैसियत से भी उनके द्वारा किये गये कार्यों का कोई विवरण मराठी सूत्रों से नहीं प्राप्त होता। इस असाधारण व्यक्ति के सम्बन्ध में जो कुछ भी थोड़ी-बहुत सूचनाएँ प्राप्त होती हैं वे या तो सिंधिया के सन्धि-प्रस्ताव के विवरण से या सन् १८०४ में उनके दरबार में रहनेवाले अंग्रेज़ी-रेज़ीडेंट के विस्तृत अभिलेखों से।[1]

पुराने और विश्वस्त कर्मचारी के नाते बापू विट्ठल के प्रति दौलतराव सिंधिया का व्यक्तिगत स्नेह था, किंतु प्रधान मंत्री के पद पर नियुक्त होने के पूर्व वे सिंधिया के एक साधारण खासनवीस मात्र थे—अर्थात् घरेलू कारबार की देख-रेख किया करते थे। यह पद उत्तरदायित्वपूर्ण होते हुए भी बहुत ऊँचे स्तर का नहीं था; किंतु सभी लोग उनकी बड़ी इज्जत किया करते थे और दौलतराव सिंधिया का तो उनपर सोलहों आने विश्वास था, जिसे बापू विट्ठल भी बड़ी लगन से निभाते थे। फलतः जब सिंधिया के तत्कालीन प्रधान मन्त्री यादवराव भास्कर का असई के युद्ध में २३ सितम्बर, १८०३ को देहांत हो गया तो ऐसी विकट परिस्थिति में यादवराव भास्कर के स्थानापन्न के रूप में वे ही नियुक्त किये गये। माल्कम साहब के कथनानुसार यह नियुक्ति इसलिए नहीं हुई कि वे बहुत योग्य थे बल्कि इसलिए हुई कि दूसरे अयोग्य थे। स्पष्ट रूप से ऐसे उच्च पद पर वे किसी अन्य कारण से नहीं, केवल इसी लिए पहुँचे कि उनके मालिक का उनपर पूरा भरोसा था।

इस महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त हो जाने के बाद ही उनका सबसे प्रमुख कर्त्तव्य यह हुआ कि वे सन्धिप्रस्ताव पर अंग्रेज़ों से ऐसी चालाकी से बातचीत चलावें जिसमें अपने हितों की रक्षा हो, यद्यपि असई के भाग्यनिर्णायक युद्ध में सिन्धिया की अंग्रेज़ों के हाथ करारी हार हुई थी। सिन्धिया और अंग्रेज़ों के बीच लड़ाई बन्द करने के लिए २२ नवम्बर, १८०३ के समझौते के अनुसार सन्धि की शर्तों पर बातचीत शुरू हो गयी थी और कुछ समय तक चली भी, किन्तु बापू विट्ठल के रंग-मंच पर आने के पूर्व उसमें कोई विशेष प्रगति नहीं आ पायी थी। उनके आने के पश्चात् इस कार्य में कुल गिनकर एक सप्ताह लगा और ३० दिसम्बर, १८०३ को प्रातःकाल सरजी अंजनगाँव में सन्धि पर दोनों पक्षों के हस्ताक्षर हो गये। इन दिनों आर्थर वेलेज़ली बापू विट्ठल के आमने-सामने बैठकर सन्धि की शर्तों पर बातचीत करता था। माल्कम साहब भी इस बहस में सम्मिलित होकर पूरा भाग लेते थे।

इन दिनों बापू विट्ठल ने सिन्धिया के खोये हुए हितों का पुनरुद्धार कर बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उस समय तक अत्यंत वयोवृद्ध होते हुए भी उनमें शक्ति का अजस्र प्रवाह था, और वे स्वभाव तथा प्रकृति से ही निष्णात कूटनीतिज्ञ लगते थे। उनका आत्मसंयम आश्चर्यजनक था। उनके गम्भीर, रूखे-सूखे चेहरे को बहुत ध्यान से देखने पर भी कोई पता नहीं लगा

[1] पूना रेज़ीडेंसी करेस्पांडेंस सीरीज़ :—

जिल्द १०—बेसिन की सन्धि तथा १८०३-'०४ का दक्षिण-युद्ध (अप्रकाशित), सम्पादक श्री रघुवीरसिंह; तथा जिल्द ११—दौलतराव सिंधियाज़ अफ़ेयर्स, —सं० श्री एन० बी० राय।

सकता था कि अन्दर भावनाओं की कोई कोमल क्षीण रेखा भी विद्यमान है या नहीं। उनका व्यक्तित्व वास्तव में बड़ा ही रहस्यमय था। उनके लिए बड़े से बड़ा लाभ और भयंकर से भयंकर हानि बिना किसी शारीरिक प्रतिक्रिया के समान भाव से ग्रहणीय थे। माल्कम साहब कहते थे कि ताश के 'ब्रैग' नामक खेल के लिए उनसे अधिक उपयुक्त मुखाकृति वाला दूसरा कोई व्यक्ति उनके देखने में नहीं आया था, अतएव तभी से अंग्रेज़ी शिविर में वह 'ओल्ड ब्रैग' के नाम से प्रसिद्ध हो गये।[१]

भड़ोंच और सिन्दखेड़ के परगनों पर यथावत् अधिकार रखने का उनका सारा प्रयत्न असफल रहा। इसी प्रकार होलकर के विरुद्ध अंग्रेज़ों की सहायता प्राप्त करने में भी वे असफल ही रहे। किन्तु अपनी राजनीतिक चालों से उन्होंने सिंधिया के इनाम वाले प्रदेशों की रक्षा पेशवा के राज्य में ही नहीं, धौलपुर के उत्तरी परगने तक में की, जो अब अंग्रेज़ों को सौंपे जा रहे थे। अंग्रेज़ लोग सिंधिया के उन पुराने अफ़सरों को जागीर देने पर भी राज़ी हो गये जो पेरों द्वारा अधिकृत उत्तरी ज़िलों की अदला-बदली में अपनी ज़मीन खो चुके थे। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ लोग इस बात पर भी राज़ी हो गये कि उनकी सेना की जो टुकड़ी सिंधिया की रक्षा के लिए रहेगी उसका खर्च भी अंग्रेज़ लोग ही देंगे और वह सरजी अंजन-गांव की संधि में प्राप्त प्रदेशों की आमदनी से भरा जायगा।

आर्थर वेलेज़ली के साथ सन्धि की बातचीत चलाने में बापू विट्ठल जिस नीति का अवलम्बन करते थे उसकी चर्चा उन्होंने स्वयं माल्कम के साथ अपनी बातचीत के सिलसिले में एक बार की थी। "आरम्भ ही में मैंने जनरल वेलेज़ली से यह पूछा कि अपने मालिक के राज्य के संबंध में उसके क्या विचार हैं? उत्तर में उसने कहा कि यह उसकी बिल्कुल इच्छा नहीं है कि यह राज्य नष्ट कर दिया जाय; बल्कि इसके विपरीत वह उसका उत्थान उस सीमा तक करना चाहता था जहाँ तक वह उसके राष्ट्रीय हितों के लिए घातक न सिद्ध हो। इस आश्वासन से सन्तुष्ट हो कर मैंने यह सोचा कि अंग्रेज़ों की सज्जनता पर विश्वास कर लेना ही उस समय महाराज के लिए हितकर था। उनके विभिन्न प्रस्तावों को सुनकर मैं अपने कर्त्तव्यों के अनुसार उन दुष्परिणामों की ओर संकेत करता था जो इस प्रकार का निर्णय कर लेने पर सिंधिया को हो सकते थे; किन्तु अपनी ओर से मैंने किसी भी अवसर पर संधि की किसी भी शर्त पर अस्वीकृति नहीं प्रकट की, और जनरल वेलेज़ली द्वारा प्रस्तुत किये हुए मूल प्रस्ताव में जो भी परिवर्तन सिंधिया के पक्ष में हुए थे, स्वयं जनरल के ही सुझावों पर आधारित थे, जो बराबर इस बात पर ज़ोर देते रहे कि अब तक जो कुछ हो गया उसके अतिरिक्त सरकार को नयी विपत्तियाँ मोल न लेनी पड़ें।" फलस्वरूप अंग्रेज़ जनरल स्वयं सिंधिया के साथ अच्छा व्यवहार रख कर उसे अपना सहायक मित्र बनाने के लिए उत्सुक रहता था। आर्थर वेलेज़ली को सिंधिया के प्रति इतना शुभेच्छु बनाने में बापू विट्ठल का कम हाथ नहीं था, और सन्धि-सम्बन्धी इन सफलताओं के कारण महाराज के दरबार में उनका सम्मान भी खूब बढ़ा।

दौलतराव द्वारा सरजी अंजनगाँव की संधि अंगीकार कर लेने के बाद ही माल्कम साहब रेज़ीडेंट बनाकर दरबार में मुख्य रूप से इसी लिए भेजे गये कि सुरक्षा-संबंधी समझौते को शीघ्र ही सुलझा लिया जाय जिसके लिए सिंधिया भी बहुत ज़ोर दे रहे थे। इस बार भी बापू विट्ठल ने माल्कम को इस बात पर राज़ी कर लिया कि सिंधिया की रक्षा के लिए अंग्रेज़ों की जो भी सहायक सेना रखी जाय वह राज्य की सीमा के बाहर रहे, यद्यपि गवर्नर-जनरल बिल्कुल इसके विपरीत चाहते थे। ग्वालियर का क़िला और गोहद का प्रांत, जिन्हें सिंधिया ने खो दिया था, उनके दिल में काँटे की तरह कसक रहे थे, और विट्ठल पंत बहुत प्रयत्न करने पर भी उन्हें वापस लेने में सफल न हो सके। फिर भी माल्कम को समझा बुझाकर उन्होंने पूर्ण रूप से आश्वस्त कर दिया कि सिंधिया ने इसी आशा और विश्वास पर सरजी अंजनगाँव की संधि की है कि ग्वालि-यर, जो लड़ाई के पहले उनके राज्य में था, संधि के पश्चात् उन्हें वापस कर दिया जायगा। फलतः गवर्नर-जनरल ने जब यह घोषणा की कि ग्वालियर और गोहद सिंधिया को लौटा देना 'जनता के प्रति विश्वासघात' करना होगा तो माल्कम साहब असंतुष्ट ही रहे। कलकत्ता में यह झगड़ा आर्थर वेलेज़ली और बापू विट्ठल के बीच खींचतान के रूप में समझाया गया और गवर्नर-जनरल इस बात को सिद्ध करने पर तुले हुए थे कि ग्वालियर सिंधिया को न लौटा कर जनरल वेलेज़ली ने विट्ठल पंत से ज्यादा बुरी संधि नहीं की।

[१] के द्वारा सम्पादित सर जॉन माल्कम की जीवनी और उनके पत्र-व्यवहार।

किंतु प्रत्यक्ष रूप से इतने अधिक सफल होते हुए भी बापू विट्ठल सिंधिया के दरबार में निष्कंटक न रह पाये। राज्य की बागडोर पर अपना ही पूरा स्वत्व जमाने की महत्त्वाकांक्षा में उनमें और उनके प्रतिद्वंद्वियों में निरन्तर संघर्ष चलता रहा। सन् १८०४ के फरवरी महीने में वे एक बार शिविर छोड़ कर यही दिखलाने के लिए बुरहानपुर चले गये कि उनके प्रतिद्वंद्वी, जो ऊँची कुर्सियों पर बैठने के लिए इतना तड़फड़ा रहे थे, वास्तव में कितने अयोग्य थे। किंतु कई महीनों के लंबे समय में भी कोई विट्ठल पंत को उस पद से अलग न कर सका। राज्य के कार्यों में दौलतराव ने उन्हें पूरी स्वतन्त्रता दे रखी थी, किंतु पूर्ण अधिकार मिल जाने पर भी विट्ठल पंत उनका उपयोग इस प्रकार करते थे जैसे उन्हें कुछ भी अधिकार न मिला हो। सभी राजकीय समस्याओं में वे नियमानुसार और भी सम्मान्य पदाधिकारियों की राय ले लिया करते थे, जो उनसे ईर्ष्याभाव नहीं रखते थे। इससे दौलतराव भी प्रसन्न रहते थे और राज्य का संचालन भी बिना किसी बाधा के होता था।

बापू विट्ठल यह भली भाँति समझते थे कि सिंधिया और अंग्रेज़ों के बीच जो मैत्रीभाव चल रहा था, वह चारों ओर से विपरीत परिस्थितियों द्वारा घिरा हुआ था और तनिक भी असावधानी से वह ढह कर गिर सकता था। इसी लिए वे अंग्रेज़ी रेज़ीडेंट के छोटे से छोटे सुझाव पर भी पूरा ध्यान देते थे। आरंभ में जब यशवंतराव होलकर के विरुद्ध आक्रमण करते समय अंग्रेज़ों ने उनका सहयोग माँगा तो उसे तुरन्त उन्होंने मान लिया और तत्संबंधी आज्ञाएँ भी निकलवा दीं। किन्तु कुछ समय बाद सिंधिया का सारा उत्साह ठंडा पड़ गया। उन्होंने अपने यहाँ होलकर का वकील रखना आरंभ कर दिया और उनके राज्य में से होकर जब अँग्रेज़ सेनाएँ होलकर के विरुद्ध आक्रमण करने लगीं तो सिंधिया की ओर से उन्हें कोई सहायता न मिली। यहाँ तक कि बापूराव सिंधिया ने, जो लार्ड लेक के सहयोग के लिए भेजा गया था, कुछ नहीं किया। उलटे अंग्रेज़ों को उन्होंने अपनी शक्ति भर तंग किया। बापू विट्ठल को इन सब दुर्व्यवहारों के लिए सफ़ाई देनी पड़ी। वे बड़े ही व्यवहार-कुशल थे और चिकनी-चुपड़ी बोल कर अपना मतलब साधने में बड़े ही दक्ष थे। उन्होंने इस विपरीत परिस्थिति से भी लाभ उठाने का प्रयत्न किया। वे एक ओर तो अंग्रेज़ी रेज़ीडेंट को यह पट्टी पढ़ाया करते थे कि उनका राजा अंग्रेज़ों का बड़ा ही शुभचिन्तक और फ़रमाबरदार है और दूसरी ओर अपने सारे काले कारनामों पर यह कह कर सफ़ेदी चढ़ाते थे कि सिंधिया की सरकार के ऊपर बड़े ही आर्थिक संकट पड़े हैं और वह बड़ी ही विकट परिस्थिति से गुज़र रही है। अतः स्वाभाविक रूप से बापू विट्ठल के समय में सिंधिया की वैदेशिक राजनीति में सदैव कुछ लचरपन और द्विविधा रही। किंतु इस दुर्बलता का कारण केवल मात्र विट्ठल का अंग्रेज़ों के प्रति पक्षपात ही नहीं था। इसका प्रधान कारण सिंधिया की शासन-प्रबन्ध सम्बन्धी कठिनाइयाँ थीं; यद्यपि माल्कम ने एक बार यही लिखा था कि "बापू विट्ठल अंग्रेज़ों से मैत्री बनाये रखने का पूरा ध्यान इसलिए रखते थे कि एक तो इससे उनकी व्यक्तिगत स्थिति मज़बूत पड़ती थी और दूसरे उनके महाराज की सरकार का भी इसी में हित था।"

बापू विट्ठल में न तो योग्यता का ही अभाव था और न शक्ति का ही; किन्तु शारीरिक अस्वस्थता के साथ ही उनका स्वभाव भी बड़ा चिड़-चिड़ा था। उनका व्यक्तिगत दुराग्रह कभी कभी राज्य के हित की दृष्टि से बिल्कुल निरर्थक होता था; और यद्यपि वे कुछ ऐसे लोगों से मनमाना व्यवहार नहीं कर सकते थे जिनपर सिंधिया की कृपा रहती थी; किन्तु उनसे भी अपने व्यक्तिगत विद्वेष का बदला चुकाने का वे भरसक प्रयत्न करते थे। किंतु बापू विट्ठल की जो सबसे बड़ी कमी थी और जो उनके विरोधियों को उभड़ने का अवसर देती थी, वह थी उनकी निरंतर अस्वस्थता जिसके कारण वे कई कई दिनों तक लगातार दरबार में अनुपस्थित रहा करते थे। अतः जब ११ अगस्त, १८०४ को दौलतराव सिंधिया के श्वशुर और भूतपूर्व प्रधान मंत्री शरज़ाजी घाडगे सिंधिया के शिविर में पहुँचा तो उनकी व्यक्तिगत मन्त्रणाओं में उसका भी सम्मिलित होना स्वाभाविक था। इसी बीच बापू विट्ठल संयोगवश बीमार पड़ गये और निरंतर कई दिनों तक दरबार में अनुपस्थित रहे। इस अवसर से लाभ उठा कर शरज़ाजी ने एक बार फिर सिंधिया के ऊपर अपना पुराना रंग जमा लिया, क्योंकि उनका दिल ग्वालियर और गोहद के लिए अब भी मसोस रहा था और उनका मन अंग्रेज़ी रेजीडेण्ट से बिल्कुल फटा हुआ था जो बार-बार होलकर के वकील को वापस करने और सिंधिया के उज्जैन लौट चलने पर बड़ा ज़ोर देता था। अंग्रेज़ी रेज़ीडेण्ट की इच्छाओं का दृढ़तापूर्वक विरोध करने के कारण शरज़ाजी सिंधिया को और भी जँचता था। फलतः १८०४ के अक्टूबर महीने में जब बापू विट्ठल बहुत ही बीमार पड़ गये और चलने-फिरने में असमर्थ हो गये तो दौलतराव ने उन्हें वहीं छोड़कर आगे कूच कर दिया। इन परिस्थितियों में

बापू विट्ठल, जो अब लगभग मृत्युशय्या पर थे, कार्यभार से मुक्त हो गये और शरजाजी उनका स्थानापन्न बनाया गया। कुछ स्वस्थ होने पर बापू विट्ठल भी हरदा (नर्मदा के दक्षिण तट पर खण्डवा से ६४ मील पूर्व) चले गये और वहीं पर २१ नवबंर सन् १८०४ ई० को उनका देहान्त हुआ।

इस प्रकार सिंधिया दरबार के एक प्रौढ़ राजनीतिज्ञ का अन्त हुआ—दुनिया की आड़ में जहाँ उसे न किसी ने देखा और न उसकी मृत्यु पर आँसू बहाया। उनके महाराज ने उनकी मृत्यु का समाचार सुनकर शोक का नाटच अवश्य किया, किन्तु वे भोपाल की रियासत पर आक्रमण करने के सम्बन्ध में अपने नये मन्त्री से परामर्श करने में अत्यधिक व्यस्त थे !

किन्तु कई वर्ष बाद, भारत के समुद्र-तट से सहस्रों मील दूर, बापू विट्ठल के गुणों की प्रशंसा एक ऐसे व्यक्ति ने की जिसे न केवल दिसंबर १८०३ की सन्धि में ही उनके सम्पर्क में आने का सुयोग प्राप्त हुआ था, प्रत्युत जिसे यूरोप के अन्य प्रख्यात राजनीतिज्ञों की समानता में रखकर उनके व्यक्तित्व को परखने का भी पर्याप्त अवसर मिला था। के साहब लिखते हैं कि "बरसों बाद जब मालकम साहब जनरल वेलेज़ली से, जो उस समय वेलिंग्टन के ड्यूक हो गये थे, मिले और एक दिन वार्तालाप के प्रसंग में जब फ़्रांस के महान् व्यक्तियों के चरित्र के सम्बन्ध में चर्चा चली तो टैलीरांड के सम्बन्ध में प्रश्न किये जाने पर ड्यूक ने कहा कि वह बहुत कुछ "ओल्ड ब्रैग" (बापू विट्ठल) जैसा ही था—लेकिन उतना चतुर नहीं था ![1] क्या ही सुन्दर होता कि बापू विट्ठल की सहायता के लिए नेपोलियन जैसा कोई जनरल होता या कम से कम वह फ़्रांस जैसे स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्य की ओर से समझौते की बातचीत करने वाले प्रतिनिधि ही होते !

[1] के द्वारा सम्पादित सर जॉन मालकम की जीवनी और उनके पत्रव्यवहार; जिल्द १, पृ० २४०—१

मार्च १९४६

भारत में प्राचीन और आधुनिक मानव

वेरियर एल्विन

अत्यन्त सुसंस्कृत मानव और अविकसित आदिवासी में एक आश्चर्यजनक सम्बन्ध-सूत्र होता है, इस बात को पर्यटकों और अन्वेषकों ने प्रायः लक्ष्य किया है। कारण, जो व्यक्ति सर्वदा एक उदार शिक्षित जीवन-विधि के अनुशासन में रहता आया है, उसमें एक संवेदना, एक विवेकशील पर-दुःख-कातरता होती है जो किसी दूसरे प्रकार से प्राप्त नहीं की जा सकती। दूसरी ओर आदिवासी जीवन की यथार्थताओं से अपने मौलिक सम्पर्क के कारण, सहज बोध से ही उन बातों का अनुभव करता है जिन्हें संस्कृत मानव वर्षों की साधना से सीख पाता है। आदिवासी को समझने में कठिनाई एक चपरासी को होती है, एक प्राध्यापक को नहीं; जंगल विभाग का चौकीदार, न कि विभागीय उच्चाधिकारी अपने को सहानुभूति देने में असमर्थ पाता है और इस प्रकार वनवासी जातियों के दमन और उत्पीड़न का कारण बनता है।

मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यह सहज परिचय और अपनापे की भावना जवाहरलाल नेहरू में भी जागती होगी जब-जब किसी आदिवासी से उनका साक्षात् होता होगा। भारत के तीन करोड़ तथा-कथित 'असभ्यों' के लिए यह परम सन्तोष का विषय है कि तीव्र सांस्कृतिक परिवर्त्तनों के इस काल में, देश की बागडोर एक ऐसे व्यक्ति के हाथ में है जिसमें उदार मानवता और वैज्ञानिक बुद्धि का योग है।

यह तो जानी हुई बात है कि आज भौतिक विज्ञान, नैतिक और सामाजिक विज्ञानों से कहीं आगे निकल गया है। हम लोग प्रकृति पर तो विजयी होते जा रहे हैं, किन्तु अपने पर विजय अभी बहुत दूर है। हम अणु-स्फोटक यन्त्र तो बना सकते हैं, पर समाज का निर्माण नहीं कर सकते। और सरल आदिवासियों से व्यवहार में उतनी ही सावधानी आवश्यक है जितनी एक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में किसी सूक्ष्म स्थिति में बरतता है। क्योंकि यह भी एक प्रयोगशाला है, पर जिसके पदार्थ और रसायन मानव प्राणी हैं, और प्रयोग के परिणाम पर सुख और दुःख, मुक्ति और विनाश, जीवन और मरण निर्भर हैं।

भारत के आदिवासियों की व्यवस्था का प्रश्न अब भी सेक्रेटेरियटों की अनाथ सन्तान है। इस बात का अनुभव अब भी बहुत कम किया जाता है कि यह समाज-विज्ञान के गुरुतर प्रश्नों में से एक है। अब भी यह धारणा घर किये बैठी है कि थोड़ा-बहुत चलता सुधार और 'भलाई का काम' ही काफ़ी होगा। किन्तु संस्कृति के अति-शीघ्र आरोप से दूसरे देशों में जो दारुण सांस्कृतिक दुर्घटनाएँ हुई हैं, उनसे भारत को बचना है, तो यह नितान्त आवश्यक है कि आदिवासी प्रजा का शिक्षण, शासन, और रूप-परिवर्त्तन ऐसे शिक्षित और अनुभवी विशेषज्ञों के हाथ में हो जो समस्या से सम्बद्ध खतरों को अच्छी तरह समझते हों।

और इस बीच ग़लत रास्ते पर चलने की अपेक्षा धीरे-धीरे चलना श्रेयस्कर होगा। अपने वनों-पर्वतों के सुन्दर स्वच्छन्द वातावरण में आदिवासी एक स्वस्थ गतिमय जीवन बिताते हैं। जन-साधारण उनके जीवन में बुराइयों की जैसी कल्पना करते हैं, वह प्रायः अतिरंजित होती है, और यह तो निश्चित है कि आधुनिक सभ्य समाज की बुराइयाँ उससे कहीं अधिक भयानक और शोचनीय होती हैं। बिना समुचित नियमन और योजना के शिक्षण और 'सुधार' से आदिवासी समाज की कोई उन्नति नहीं हो सकती, वरन् हानि और अधःपतन की ही सम्भावना अधिक है। योजना एक बार बन जाय, कार्यकर्त्ता एक बार शिक्षित हो जायें, एक बार यह निश्चित हो जाय कि अनुसरण उन्नति की ओर होगा, अधोगति की ओर नहीं, तभी बेझिझक आगे बढ़ा जा सकता है। मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो आदिवासियों को 'ज्यों का त्यों' रखना चाहते हैं ताकि उनका वैज्ञानिक अध्ययन हो सके; आदिवासियों को बढ़ना, विकसित होना, परिवर्तित होना ही होगा। किन्तु सदैव उन्नति के पथ पर, ह्रास के नहीं।

उत्तरी अमरीका की इंडियन जातियों की शासन-व्यवस्था का अध्ययन हमारे लिए बहुत शिक्षाप्रद होगा।

सन् १९३४ में 'इंडियन जाति के पुनःसंगठन का विधान' बनने तक इंडियनों के प्रति अमरीका की राजनीति की मूल प्रेरणा उनकी भूमि और उनके साधनों को हथिया लेने का लोभ ही था। यह भी दावा किया जाता था कि इंडियन लोग अपने साधनों का लाभकर उपयोग करने की योग्यता नहीं रखते और उन्हें आधुनिक समाज में मिला कर पचा लेना उनके लिए हितकर होगा।

आर्थिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से इस नीति का परिणाम दारुण हुआ। इंडियनों की सारी भू-सम्पत्ति उनके हाथों से चली गयी और उसके साथ ही उनके आत्म-सम्मान और आत्म-निर्भरता की सम्भावना का भी लोप हो गया। इंडियनों की जीवन और विचार-परिपाटी, जो उनकी बौद्धिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं के अनुकूल सुन्दर और सारपूर्ण थी, नष्ट हो गयी। इंडियन राजनीतिक संस्थाएँ और आचार, जिन पर इंडियन जनता का ही आधिपत्य था, नष्ट हो गये और उन पर एक विदेशी व्यवस्था का जूआ पड़ गया।

मिलाकर पचा लेने की नीति, जिसकी पैरवी आज भी भारत में कुछ लोग आदिवासियों के लिए करते हैं, सम्पूर्णतया असफल हुई। उसके आधारभूत सिद्धान्त ही ग़लत थे। परिणाम यह हुआ कि 'नवाजो' और 'पुएब्लो' आदि दो-एक जातियों को छोड़ कर न केवल इंडियन जातियों का समूचा आर्थिक ढाँचा ही टूट गया, वरन् इंडियनों का राजनीतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक विघटन हो गया। यह विघटन आंशिक रूप में तो आर्थिक बेबसी का अनिवार्य परिणाम था ही, लेकिन उसके कारण दूसरे भी थे। इंडियनों के रीति-व्यवहार में और सामाजिक संगठन में जो कुछ भी सहज, स्वाभाविक और विशिष्ट था उस सब को कुचलने और नष्ट करने की एक व्यापक प्रवृत्ति काम कर रही थी, यद्यपि बहुधा लोग इस प्रवृत्ति को स्वीकारते या पहचानते भी नहीं थे। इस दलन के साथ-साथ दूसरी ओर इंडियनों को कोई ऐसा समाज-संगठन और व्यवस्था इसके बदले में नहीं दी जा रही थी जिसका कि उनके जीवन के और उसकी समस्याओं के साथ सम्बन्ध हो और जो उनको सुलझाने में उनकी सहायता कर सके। असल में इंडियनों के सम्बन्ध में नीति का संचालन एक ऐसे विवेक-शून्य और भोंडे दृष्टिकोण से हो रहा था जिसके लिए इंडियन जाति खूँख्वार जंगलियों की जाति थी, या अधिक से अधिक साधारण जनता से बहुत नीचे तल के हीनतर प्राणियों की जाति। भारत में भी आज के दिन इस दृष्टिकोण का नितान्त अभाव नहीं है।

संसार के कुछ दूसरे भागों में—उदाहरणतया जावा में या कि ब्रितानी पूर्वी अफ़्रीका के कुछ भागों में—इस से बिल्कुल भिन्न नीति बरती जा रही थी। यहाँ पर अधिकारी वर्ग आदिवासियों के सामाजिक संगठन का अध्ययन करके उसे स्वीकार करते हुए उसे प्रगति के काम में लगाते थे, और यह काम ऐसे व्यक्तियों को सौंपा जाता था जिन्होंने उनकी संस्कृति का अध्ययन किया हो और जो उनकी विचार-परिपाटियों के प्रति संवेदनशील हों।

किन्तु सन् १९३४ में, मुख्यतया जॉन कॉलियर के आजीवन परिश्रम और आन्दोलन के कारण, इंडियन जाति के प्रति एक बिल्कुल नयी नीति बरतने का निश्चय हुआ। इस नयी नीति के तीन मुख्य सिद्धान्त थे :

(१) इंडियनों को फिर से, मुख्यतया भूमि पर, बसाना और आर्थिक स्थिरता देना;

(२) कबीलों का पुनःसंगठन, जिससे वे अपना समाज-संचालन स्वयं कर सकें;

(३) नागरिक और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता और सुविधा।

इस नयी नीति ने कबीलों का सामाजिक जीवन और अनुशासन फिर से स्थापित करने का भरसक प्रयत्न किया है। उनको बसाने के लिए नयी ज़मीनें दी गयी हैं और उनकी सब ज़मीनों को सुरक्षित क्षेत्र घोषित कर दिया गया है। उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप ही उनकी सांस्कृतिक प्रतिष्ठा को बढ़ाने का यत्न किया गया है। उनको सम्पूर्ण धार्मिक स्वाधीनता का आश्वासन दिया गया है। उनकी संस्कृति, भाषा, शिल्पकला और दस्तकारियाँ और उनके आमोद-प्रमोद न केवल सुरक्षित हैं बल्कि प्रोत्साहन भी पाते हैं। क्योंकि, जैसा कि कॉलियर ने कहा है, यह स्पष्ट है कि 'केवल मतान्धता ही ऐसा दुराग्रह कर सकती है कि इंडियन भाषाओं, शिल्पकलाओं, काव्य, संगीत, रीति-रस्म, दर्शन और धर्म का और भी विनाश किया जाय। इन चीज़ों में सौन्दर्य और गौरव है जो कि प्रकृति की गोद में पले हुए, कल्पना और नैतिक सहज बोध के सहारे जीवन के मर्म तक पहुँचने वाले आदिवासियों की अगणित पीढ़ियों का धैर्यपूर्वक किया हुआ संचय है। इस विभूति का विनाश आर्य जातियों की महान् सांस्कृतिक देन के—उनके काव्य और संगीत, धर्म और दर्शन,

मन्दिर और भवनों के—विनाश से तुलनीय होगा। फिर भी, पीढ़ियों तक सरकार जानते-बूझते इंडियन जातियों की सांस्कृतिक विभूति को नष्ट करने का यत्न करती रही, और इंडियन संस्कृति यह सब सह कर भी बची रह सकी तो केवल इसलिए कि उसकी जड़ें इंडियन आत्मा में इतनी गहरी प्रवेश कर गयी थीं; केवल इसलिए कि विचार और अभिव्यक्ति की युगों पुरानी सहज परिपाटियों को नष्ट करना व्यक्ति का जीवन नष्ट करने से कहीं दुस्तर काम है।"

नयी नीति जातीय पाठशालाओं और अन्य साधनों से इंडियन आदिवासियों के विशिष्ट सांस्कृतिक मानदंडों को बनाये रखने का यत्न करती है। अभी हाल में एक नये 'इंडियन कला-शिल्प विधान' के द्वारा एक स्थायी कला विभाग बना दिया गया है, जिसका उद्देश्य होगा नष्टप्राय किन्तु अनूठी शिल्पकलाओं को कारखानों की बनी हुई नक़लों से बचा कर क्रमश: विकसित और उन्नत करना।

अमरीका के इस नाटकीय नीति-परिवर्तन से भारत बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकता है। आदिवासियों को प्रतिवेशी सभ्य समाज में पचा लेने की पुरानी नीति छोड़ दी गयी है; यह स्वीकार किया गया है कि आदिवासियों के कबीलों के जीवन की शक्ति, नैतिकता और सुन्दरता के मानदंड आधुनिक जगत् के लिए महत्त्वशाली हैं। आज कोई शिक्षित अमरीकी अपने देश की आदिवासी प्रजा के लिए लज्जित नहीं है, बल्कि उस पर अभिमान करता है क्योंकि वह उसे ठीक-ठीक पहचान सका है। भारतवर्ष में भी यही होना होगा। भारत के आदिवासी भी शक्ति और गति के स्रोत हैं, दुर्बलता के नहीं। हमें उन पर गर्व करना चाहिए। वे आदर और स्नेह के पात्र हैं, 'जंगली' या 'पिछड़ी हुई' जाति के नाम पर अवज्ञा के नहीं। वे 'प्रकृति की गोद में पले हुए, कल्पना और नैतिक सहज बोध के सहारे जीवन के मर्म तक पहुँचने वाले' हैं। प्रश्न उन्हें पड़ोसियों के धरातल तक उठाने का नहीं, असल प्रश्न इन 'सभ्य' पड़ोसियों को शिक्षित करने का है कि उनका शोषण न करें। मुझे विश्वास है कि जवाहरलाल नेहरू के विशाल हृदय और वैज्ञानिक मानस में आदिवासियों का स्थान चिर-सुरक्षित रहेगा।

फ़रवरी १९४९

भूमि का सुधार

नीलरत्न धर

इतिहास का उदय जब से हुआ, भूख की समस्या मानव जाति के पीछे लगी ही रही है। मध्य काल में तो यह मान लिया गया था कि भूख और अकाल मानव-जीवन के अनिवार्य अंग हैं और उन्हें वैसे ही सहना होगा : सीमित खाद्य-सामग्री पर जनसंख्या के बढ़ते हुए दबाव का यही परिणाम हो सकता है।

प्रोथेरो ने मध्यकालीन इंग्लैंड में कृषि की अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा : "शीतकाल में खाद्य-सामग्री की कमी से कोई निस्तार नहीं था—न मानव के लिए न पशु के। कृषि कर्म के प्रारम्भिक दिनों की विशेषता उसके परिवर्तनों की तीव्रता ही थी : भूमि में खाद इतनी कम होती थी कि उस में पशुओं के चारे या शलगम की खेती भी कई सौ वर्ष बाद ही शुरू हो सकी। भूमि को या तो निरन्तर खेती के कारण उजाड़ कर दिया जाय, या वर्षों तक परती पड़ी रहने देकर काश्त के लायक़ बनाया जाय, इसके सिवाय कोई रास्ता नहीं था।"

पिछले ५० वर्षों में ही मानव को कुछ आशा होने लगी है कि विज्ञान के आविष्कार की मदद से भूख और अकाल पर विजय पा सकेगा। हाल में 'ब्यूरो आफ़ प्लांट इंडस्ट्री' के प्रधान डाक्टर राबर्ट साल्टर ने अपने एक लेख में (साइंस, भाग १०५, संख्या २७३४, मई २३, १९४७) आँकड़ों के आधार पर यह भविष्यवाणी की है कि संसार के सबसे अधिक जन-संख्या वाले तीन देशों में कृषि के उत्पादन में इस प्रकार उन्नति होगी :

कृषि-साधनों के सुधार से उत्पादन की अनुमानित उन्नति की तालिका

शस्य		उत्पादन	
		१९३५-३९ (औसत)	१९६० (अनुमानित)
चीन			
गेहूँ	(बुशेल)	१४·०	१८·०
चावल	,,	५२·५	७०·०
मकई	,,	२४·२	३५·०
जौ	,,	२१·८	२४·०
मूँगफली	(पौंड)	७६८·०	१०००·०
सोया	(बुशेल)	१६·८	२०·०
दिदल	(पौंड)	७३०·०	१०००·०
आलू	(बुशेल)	१००·०	१५०·०
भारत			
गेहूँ	(बुशेल)	१०·७	२०·०
चावल	,,	२६·२	४०·०
मकई	,,	१२·९	२०·०
जौ	,,	१६·५	२०·०
मूँगफली	(पौंड)	४००·०	६००·०

सोवियट रूस

गेहूँ	(बुशेल)	१०·०	१२·०
बाजरा	"	१२·७	१३·५
मकई	"	१६·३	२०·०
मोट	"	२२·२	२८·०
जौ	"	१४·६	१८·०
चुकन्दर	(टन)	६·१	८·०
आलू	(बुशेल)	१२१·५	१८०·०

लेकिन यह भविष्यवाणी पूरी हो सके और कृषि की उन्नति के द्वारा मानव जाति का कल्याण हो सके, इसके लिए क्या भारतीय विज्ञान और नेतृत्व आगामी दस वर्षों में यथेष्ट उन्नति कर सकेगा ?

अभी तक तो सारे संसार की कृषि के योग्य भूमि के केवल ७ से १० प्रतिशत तक में खेती होती है। अगर उत्पादन का खर्च बहुत अधिक न हो तो कृषि की भूमि के बढ़ाये जाने की असीम गुंजायश है, केवल कुछ मरुस्थल या दुर्गम और हिमाच्छादित पर्वत ही खेती के अयोग्य हैं।

भारतीय भूमि की मिट्टी क्रमशः कितनी जीर्ण और अशक्त होती जा रही है, यह प्रश्न कई बार उठाया गया है, लेकिन अभी तक इसका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया गया। सन् १८९३ में डाक्टर बुलकर ने अपने ग्रन्थ "भारतीय कृषि का सुधार" (इम्प्रूवमेंट ऑफ़ इंडियन अग्रीकलचर) में रायेमस्टेड (इंग्लैंड) में बगैर खाद की खेती में गेहूँ की उपज के ५० वर्षों के आँकड़े दिये थे, जिनसे सिद्ध होता है कि भूमि क्रमशः जीर्ण होती गयी और उत्पादन कम होता गया :

	उपज (बुशेल प्रति एकड़)
८ वर्ष (१८४४-५१) का औसत	१७·०
२० वर्ष (१८५२-७१) का औसत	१३·६
२० वर्ष (१८७२-९१) का औसत	१०·१

१ बुशेल = ३० सेर

डाक्टर बुलकर ने इससे यह परिणाम निकाला कि भारत में कृषि की परिस्थिति देखते हुए समझ लेना चाहिए कि भूमि की शक्ति क्रमशः कम होती जाती है।

इसके प्रतिकूल हावर्ड और वेड ने अपने ग्रन्थ 'कृषि के उच्छिष्ट' (वेस्ट प्रॉडक्ट्स ऑफ़ एग्रीकलचर, १९३१) में लिखा है :

> "बिना खाद के खेती करने की इस प्रणाली का अच्छा उदाहरण युक्त प्रान्त की नदी-तटवर्ती भूमि के उत्पादन में मिलता है। यहाँ की दस शताब्दियों की उपज के आँकड़ों से सिद्ध होता है कि भूमि से प्रत्येक वर्ष साधारणतया अच्छी फ़सल मिल जाती है और धरती की उर्वरा शक्ति में कोई कमी नहीं हो रही है। इसका अभिप्राय यह है कि फ़सल के लिए आवश्यक खाद के परिमाण और धरती को पुनः उपजाऊ बनानेवाली प्राकृतिक क्रियाओं में ठीक-ठीक संन्तुलन हो गया है।"

भारत में दूसरे देशों की अपेक्षा अन्न की प्रति एकड़ उपज बहुत कम है। अनुसन्धान से सिद्ध होता है कि हमारी धरती में पोटास या फ़ास्फ़ेट अंश की विशेष कमी नहीं है लेकिन नेत्रजन का अंश वास्तव में बहुत कम है। सन् १९२८ में भारतीय कृषि में अन्वेषण के लिए जो रायल कमीशन नियुक्त हुआ था वह भी इस नतीजे पर पहुँचा था कि भारतीय भूमि में मुख्यतया रासायनिक नेत्रजन की ही कमी है और इस दशा में खाद की समस्या वास्तव में नेत्रजन की कमी की समस्या है। अभी तक धरती में नेत्रजन का अंश बढ़ाने के लिए उसमें, खाद के रूप में, नेत्रजनवाले रसायन मिलाना ही एकमात्र उपाय माना जाता है : जैसे यूरिया, नाईट्रेट, अमोनियम सल्फ़ेट, इत्यादि। लेकिन हमने अपने २५ वर्ष के अनुसन्धान और शोध के द्वारा

धरती में नेत्रजन की बढ़ती करने का एक बिल्कुल नया और बहुत किफ़ायत का उपाय ढूंढ़ निकाला है। यह है मिट्टी में कार्बन-युक्त पदार्थ मिलाकर मिट्टी को ही वायविक नेत्रजन ग्रहण करने के समर्थ बना देना। वायुमंडल से नेत्रजन ग्रहण करने की इस क्रिया में सूर्य का प्रकाश सहायक होता है।

यह सर्व-विदित है कि प्रत्येक फ़सल की कटनी के समय पौधों की जड़ों का अधिकांश ज़मीन में ही रह जाता है और इससे मिट्टी को सेलुलोज़ मिलता है। हमारा प्रयोग और अनुसन्धान सिद्ध करता है कि ऐसा सेलुलोज़मय पदार्थ, और गोबर, पुआल, सूखे पत्ते, राब या इस प्रकार के अन्य पदार्थ मिट्टी में मिलकर वायविक नेत्रजन को बाँधने में सहयोगी होते हैं। ये पदार्थ जब ओषजन ग्रहण करते हुए जीर्ण होते हैं तब शक्ति अथवा गर्मी पैदा करते हैं और इसी शक्ति के सहारे मिट्टी नेत्रजन ग्रहण कर लेती है। यही नेत्रजन अगली फ़सल के पौधों की आवश्यकता पूरी करती है। इस प्रकार गर्म देशों में फ़सल की नेत्रजन-सम्बन्धी आवश्यकता वायविक नेत्रजन से ही पूरी हो सकती है, जिसे मिट्टी, कटनी के बाद, जड़ों आदि के जीर्ण होने से उत्पन्न शक्ति के सहारे ग्रहण कर लेती है। इतना ही नहीं, ठंडे देशों की अपेक्षा गर्म देशों में मिट्टी और बरसाती पानी में उपयोगी नेत्रजन का अंश कहीं अधिक होता है। उदाहरणतया भारत की मिट्टियों में कुल नेत्रजन का १० प्रतिशत से अधिक फ़सल के लिए उपयोगी होता है, जब कि ठंडे देशों में कुल नेत्रजन का केवल १-२ प्रतिशत फ़सल द्वारा ग्राह्य रूप में होता है। इसके अलावा ठंडे देशों में मिट्टी में मिले हुए सेलुलोज़मय या अन्य गर्मी पैदा करने वाले पदार्थ भी बहुत धीरे-धीरे जीर्ण होते हैं, क्योंकि धूप की कमी और अधिक सर्दी के कारण 'अज़ोटोबेक्टर' जीवाणु उतने कार्यशील नहीं होते। इसलिए ठंडे देशों में प्राकृतिक साधनों के द्वारा वायविक नेत्रजन को बाँधना सम्भव नहीं होता। रोथेमस्टेड की, बिना खाद की खेती की क्रमिक अवनति का यही कारण है।

इस विवेचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारे देश-जैसे गर्म देशों में बिना खाद के भी एक लगभग नियमित फ़सल पैदा की जा सकती है (यद्यपि बहुत अच्छी नहीं), क्योंकि धरती प्रत्येक बार वायविक नेत्रजन ग्रहण करती रह सकती है—चाहे पौधों के बचे हुए अंश के जीर्ण होने के कारण, चाहे ऊपर से मिलाये गये कार्बन-युक्त पदार्थों के कारण।

प्राप्य आँकड़ों से ज्ञात होता है कि सारे संसार में प्रति वर्ष ३५,००० करोड़ किलोग्राम सेलुलोज़मय पदार्थ धरती में मिलाये जाते हैं। अगर हम यह मान लें कि इसका लगभग ४० प्रतिशत अंश ज़मीन की सतह पर ही जीर्ण होता है; और धूप की उपस्थिति में सेलुलोज़-द्रव्यों के द्वारा नेत्रजन ग्रहण की दर १५ मान लें (अर्थात् १ ग्राम कार्बन के जीर्ण होने से प्राप्त होनेवाली नेत्रजन का परिमाण, मिलीग्राम में), तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रति वर्ष पृथ्वी में ७०० लाख मेट्रिक टन नेत्रजन सम्मिलित होती है, और इसका आधा भाग सूर्य की किरणों के प्रभाव से गृहीत होता है। दूसरी ओर रासायनिक उद्योग की क्रियाओं से एक वर्ष में जो नेत्रजन प्राप्त की जाती है उसका परिमाण सन् १९३७ के आँकड़ों से ३५½ लाख टन सिद्ध होता है। प्राकृतिक क्रियाओं द्वारा सूर्य की किरणों से प्राप्त होने वाली नेत्रजन का यह केवल दसवाँ हिस्सा है।

एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिए। अमोनियम सल्फ़ेट, अमोनियम नाइट्रेट, यूरिया इत्यादि कृत्रिम खादों से, जिनके भारत में बनाने की बात हो रही है, धरती की उत्पादन-शक्ति स्थायी रूप से नहीं बढ़ती। इंग्लैंड में भी अमोनियम सल्फ़ेट के रूप में मिट्टी में मिलायी गयी नेत्रजन का ६० प्रतिशत बिना धरती या फ़सल के किसी उपयोग में आये नष्ट होता है। हमारे अपने प्रयोगों से दीखता है कि यहाँ पर इससे भी अधिक अनुपात में नेत्रजन व्यर्थ जाती है। बराबर खेती करने के लिए और धरती में नेत्रजन का अनुपात एक ही तल पर क़ायम रखने के लिए आवश्यक है कि प्रति एकड़ १०० पौंड नेत्रजन के हिसाब से अमोनियम सल्फ़ेट उसमें मिलाया जाय; लेकिन इसका दो-तिहाई अंश नेत्रजन गैस के रूप में अकारथ जायगा। इसलिए ऐसी कृत्रिम खाद देने से आरम्भ में फ़सल भले ही अच्छी हो, किन्तु क्रमशः वह कम होती जायगी और धरती में नेत्रजन का अनुपात भी कम होता जायगा।

इसके प्रतिकूल गोबर, राब अथवा अन्य प्राकृतिक खाद मिट्टी में मिलाये जाने पर न केवल अपनी नेत्रजन मिट्टी को देती है बल्कि वायविक नेत्रजन को बाँधने में भी सहायक होती है। राब या गोबर का महत्त्व मुख्यतया इसलिए है कि वह वायविक नेत्रजन को बाँध लेने में समर्थ है। इलाहाबाद में और अन्यत्र प्रयोगों से पाया गया है कि यह प्राकृतिक खाद नेत्रजन-मय रासायनिक खाद से कहीं अच्छा परिणाम देती है और धूप की मदद से धरती में नेत्रजन अंश को बढ़ाती है। प्राकृतिक खाद न केवल वायु से नेत्रजन ग्रहण करती है बल्कि मिट्टी की नेत्रजन की भी रक्षा करती है, क्योंकि वह गैस के रूप में मुक्त होकर उड़ नहीं जाती। सेलुलोज़, कार्बोहाईड्रेट और चर्बियाँ नेत्रजन को नष्ट

होने से बचाती हैं, ऐसा हमारे प्रयोगों से सिद्ध हुआ है। इसीलिए अमोनियम सल्फ़ेट और प्राकृतिक खाद का मिश्रण, निरे अमोनियम रसायनों से श्रेष्ठ प्रमाणित होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मिट्टी के सुधार के लिए गोबर की खाद सर्वश्रेष्ठ है। अगर उसका ठीक-ठीक उपयोग किया जाय तो वह निर्धन भारतीय किसान के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है, क्योंकि उससे बहुत सस्ती खाद के द्वारा अच्छी और नियमित फ़सल पैदा की जा सकती है। यह बड़े खेद की बात है कि गोबर को, जो सबसे अच्छी और सस्ती खाद है, हमारा किसान ईंधन के रूप में फूंक देता है। वह नहीं जानता कि वह अपना धन फूंक रहा है।

ऐसा सुझाया जा चुका है कि खेतों में व्यवहार के लिए पत्तियों की खाद बना कर रक्खी जा सकती है, लेकिन संसार भर में किसानों का अनुभव यही है कि ऐसी खाद तैयार करने में समय और श्रम बहुत लगता है। खेती की मिट्टी में हरी और सूखी पत्तियाँ, काग़ज़, घास-फूस इत्यादि मिलाकर नेत्रजन को बाँधने के जो प्रयोग हमने किये हैं, उनसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पत्तियों आदि को खाद बनाकर नहीं, सीधे ही मिट्टी में मिला देना चाहिए। बरसात से पहले ये चीज़ें खेतों में डालकर हल चलाकर मिट्टी उलट दी जाय तो ३ महीने में वे काफ़ी जीर्ण हो जाती हैं और उनका कार्बन अंश मिट्टी की सतह पर जीर्ण होते हुए इतनी गर्मी उत्पन्न कर देता है कि मिट्टी नेत्रजन को ग्रहण कर सके।

कुछ कृषि-वैज्ञानिकों का मत है कि मिट्टी में जो नेत्रजन है उसका कारण फली या छीमी धारण करने वाले पेड़-पौधे ही हैं, न कि उनसे सम्बद्ध जीवाणु। इंग्लैंड में उन्होंने सिद्ध किया था कि मिट्टी को नेत्रजन ऐसे ही छीमी वाले पौधों से प्राप्त होती है। किन्तु अमरीका के सूखे प्रदेशों में छीमी वाले पौधों के द्वारा नेत्रजन के ग्रहण का कोई स्पष्ट प्रमाण वे नहीं पा सके। हमने अपने अनुसन्धान से सिद्ध किया है कि ऐसे पौधों की छीमियों से धरती पर कोई स्थायी असर नहीं होता, जब कि गोबर, लीद, राब, पत्तियाँ, पुआल और अन्य कार्बनमय खादों से धरती के नेत्रजन अंश में स्थायी वृद्धि होती है। इस क्रिया में धरती को नेत्रजन वायविक नेत्रजन के ग्रहण से भी प्राप्त होता है और कटनी से बचे हुए पौधों के अंश में पाये जाने वाले नेत्रजन-मय पदार्थों से भी। हमारी इस स्थापना को राथेमस्टेड और वोबर्न में किये गये प्रयोग भी पुष्ट करते हैं।

धरती में सुधार की एक दूसरी समस्या है खार वाली अथवा ऊसर भूमि का उद्धार। ऐसी 'कल्लर' या ऊसर भूमि का दोष उसमें खार का आधिक्य ही है। हमने ऐसी कई मिट्टियों का रासायनिक निरीक्षण करके देखा है कि उनमें खार का अनुपात बहुत अधिक होता है और उनमें अज़ोटोबेक्टर, अथवा नाइट्राइट पैदा करने वाले जीवाणु नहीं पनप सकते। इसके अतिरिक्त इन मिट्टियों में केल्सियम पदार्थ बहुत कम होता है। पानी सोखने की शक्ति बहुत कम होती है और उत्पादन शक्ति बढ़ाने वाले जीवाणु नहीं होते। केवल युक्त प्रान्त में ऐसी ऊसर भूमि ४० लाख एकड़ से अधिक है। पंजाब, बिहार, बम्बई और मैसूर में भी ऐसी ऊसर जमीनें हैं। इन प्रदेशों का उद्धार भारत के लिए बहुत महत्त्व रखता है। युक्त प्रान्त में डाक्टर जे० डब्ल्यू० लेदर ने अपने प्रयोगों से परिणाम निकाला था कि मिट्टी में जिप्सम (एक केल्सियम पदार्थ) मिलाने से ऊसर भूमि का उद्धार हो सकता है। इसकी लागत सात-आठ सौ रुपया प्रति एकड़ आती थी जो कि स्पष्ट ही बहुत अधिक है। गहरी खुदाई और अधिक खाद का भी कोई असर नहीं हुआ : इससे केवल सतह की मिट्टी में कुछ सुधार हो सके लेकिन नीचे की ज़मीन वैसी ही ख़राब रही। ऊपर से खाद डालने का उद्योग व्यर्थ है। ऐसी खार-युक्त भूमि का उद्धार कानपुर, इलाहाबाद, मेरठ और मैसूर में राब मिला कर किया गया है। प्रति एकड़ १ से १० टन तक राब मिला कर उस धरती से धान की अच्छी फ़सल पैदा की गयी जिसमें कभी कोई पौधा नहीं उगा था। इलाहाबाद में किये गये प्रयोगों से निश्चित रूप से प्रमाणित होता है कि राब मिली हुई मिट्टी में बिना राब की मिट्टी से कहीं अधिक नमी रहती है। राब के साथ मिट्टी में जो चूना मिलाया जाता है वह राब से उत्पन्न हुए ऐसे एसिड के द्वारा मिट्टी में घुल जाता है और मिट्टी को केल्सियम-मय बना देता है। यह केल्सियम रसायन धीरे-धीरे केल्सियम कार्बोनेट के रूप में परिणत हो जाता है। साथ ही राब में पाये जाने वाले गन्धकाम्ल (सल्फ्युरिक एसिड) के कारण मिट्टी का केल्सियम कार्बोनेट, केल्सियम सल्फ़ेट में परिणत हो जाता है, जो फिर खार को नष्ट करता है और धरती का उद्धार करता है।

चीनी की मिलों का कचरा, जिसमें कार्बोहाइड्रेट और केल्सियम रसायन बड़े अनुपात में होते हैं, राब के

साथ बराबर मिलाकर भी खारे या ऊसर प्रदेश के उद्धार में उपयोगी होता है। प्रति एकड़ १/२ से १ टन खली मिलाकर भी ऊसर धरती को धान की खेती के योग्य बनाया जा सकता है।

वैज्ञानिक पत्रिका 'नेचर' ने अपने ११ अप्रेल १९३६ के अंक में भूमि-सुधार सम्बन्धी हमारे अनुसन्धानों पर टिप्पणी करते हुए लिखा था :

> "प्रोफ़ेसर धर उस मत के अग्रणी हैं जिसका विश्वास है कि धरती में वायविक नेत्रजन का ग्रहण, विशेषकर गर्म देशों में, धूप के रासायनिक प्रभाव से होता है, केवल जीवाणुओं की क्रिया से नहीं। अपनी बात की पुष्टि करने के लिए प्रो० धर ने सबल प्रमाण भी दिया है....प्रो० धर के अनुसन्धान की मुख्य स्थापनाएँ ये हैं कि (१) भारत की भूमि में नेत्रजन का अनुपात सर्वदा कम होता है, कि (२) भारत की चीनी की मिलों में प्रति वर्ष ५ लाख टन से अधिक राब नष्ट होती है, (३) मिट्टी में राब मिलाने से उसका नेत्रजन अंश दुगुना तो किया ही जा सकता है, शायद तीन-गुना भी किया जा सके; कि (४) इससे फ़सल में बहुत वृद्धि हो सकती है....प्रो० धर का मत है कि खार वाली या ऊसर ज़मीन के उद्धार के लिए भी राब का प्रयोग बहुत महत्त्व रखता है। राब के जीर्ण होने से जो अम्ल बनता है वह खार को दूर कर देता है और साथ ही धरती के नेत्रजन में वृद्धि करता है, जैसा कि जिप्सम या गन्धक के प्रयोग से नहीं होता ....ऊसर भूमि का उद्धार देश की प्रमुख कृषि-समस्याओं में से एक है; प्रो० धर के अनुसन्धान उसके सुलझाने का मार्ग इंगित करते हैं।"

हमारे अनुसन्धान को महात्मा गान्धी का आशीर्वाद प्राप्त हुआ था। १७ अगस्त १९४७ के 'हरिजन' में हमारी खोजों का ब्यौरा देते हुए उन्होंने लिखा था : "इस निबन्ध में दिये गये सुझाव ध्यान देने और व्यवहार में लाने के योग्य हैं। मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं कि हमारी धरती का ठीक-ठीक उपयोग अकाल और दुर्भिक्ष के डर को दूर कर सकता है।"

फ़रवरी १९४९

ईरान और भारत के सम्बन्ध

सैयद नफ़ीसी

आधुनिक ग्रन्थों में, भूगोल-सम्बन्धी वर्णन में, दो नाम प्रायः साथ-साथ पाये जाते हैं : भारत और ईरान। वास्तव में इन दोनों देशों का केवल भौगोलिक अथवा ऐतिहासिक सम्बन्ध ही नहीं है बल्कि जब से दोनों देशों के इतिहास का आरम्भ हुआ तभी से उनमें घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्बन्ध रहता चला आया है।

आर्य जाति की उत्पत्ति के बारे में जितना अनुसन्धान और शोध कार्य अब तक हुआ है, उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि इस जाति की दो प्रमुख शाखाएँ, भारतीय आर्य और ईरानी आर्य, अपनी सभ्यता के आरम्भ काल में साथ रहती थीं। ऋग्वेद और जन्द-अवस्ता की देवमाला इसका प्रमाण है।

ऐतिहासिक शोध से निश्चित होता है कि आर्यों की जन्मभूमि ईरान और भारत के बीच के प्रदेश में, अर्थात् मध्य एशिया में, कहीं पर थी। ईरान में आर्यों की पहली लहर ई० पू० ६००० के लगभग आयी; और यह सहज ही सिद्ध होता है कि प्रथम ईरानी और भारतीय आर्य मध्य एशिया की उच्च भूमि में इससे पहले से रहते थे। ईरान में भारत देश सर्वदा आशा और आकांक्षा की क्रीड़ाभूमि माना जाता रहा है। हिन्दुस्तान का नाम हाखामनेशी पुराखंडों में और जरदुश्त्री धर्मग्रन्थों में मिलता है।

ईरानी संगीत में भारतीय राग पाये जाते हैं, और इतिहास यह भी बताता है कि वे घुमन्तू कलावन्त, जो अनन्तर समस्त सभ्य देशों में फैल गये, पहले पहल सासानी सम्राट् बहराम पंचम के आमन्त्रण पर भारत से ईरान गये थे।

जहाँ तक वैज्ञानिक सम्पर्क की बात है, यह ज्ञात है कि भारतीय गणित और भिषक् उस समय ईरान में पहुँच चुके थे जब 'फ़विल्हा पीलपाइ' का पहलवी अनुवाद हुआ जो कि समस्त यूरोपीय और सम्मी अनुवादों का आधार है। यहाँ हमें बुद्ध की गाथा के उस प्रथम पहलवी अनुवाद का भी उल्लेख करना चाहिए जिससे गसफ़ात बरलाम के सारे वृत्तान्तों का उद्भव है।

भारतीय ज्योतिष ग्रन्थों का भी पहलवी में अनुवाद हुआ था। लगभग इसी समय बौद्ध धर्म भी ईरान पहुँचा और बमियान के प्रदेश में प्रतिष्ठित हो गया।

बल्ख नगर में 'नव विहार' नाम का एक विशाल बुद्ध मन्दिर था। अब्बासी खलीफ़ाओं के ख्यातनामा मन्त्रियों का परिवार इसी के प्रतिपालकों की सन्तति था। ये मन्त्री 'प्रमुख' कहलाते थे, इसी का फ़ारसी रूपान्तर 'बर्मसीदी' है। जिस समय इस प्रदेश पर अरबों ने अधिकार किया उस समय बौद्धमत ही यहाँ सर्वाधिक प्रचलित था और उसके अनुयायी सगरकन्द तक फैले हुए थे।

ईरान में ईरानी और भारतीय के सम्मिश्रण से जो यूनानी-बलोदी सभ्यता विकसित हुई वह तो विख्यात है।

समूचे इस्लामी युग में भारत और ईरान के मुस्लिम साम्राज्यों का सम्पर्क घनिष्ठ रहा। भारत में साहित्य और अध्ययन की भाषा फ़ारसी रही। फ़ारसी में अनेक भारतीय कवियों और लेखकों ने रचना की। भारत के इतिहास के लगभग सभी ग्रन्थ फ़ारसी में लिखे गये, और फ़ारसी के लगभग सभी कोष भारत में ही प्रस्तुत हुए।

भारतीय सूफ़ी मत ने अपने धर्म-दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए फ़ारसी का ही उपयोग किया। फ़ारसी साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय भारतीय कवियों द्वारा लिखी गयी फ़ारसी कविता से ही पूरा होता है। उर्दू और हिन्दुस्तानी ने ही नहीं, गुजराती और प्राकृतों तक ने ईरानी शब्दों को ग्रहण किया।

सन् १५२६ में जब ईरान में जन्मे और पले तैमूरवंशी बाबर ने भारत में अपना साम्राज्य जमाया, तब से मुग़लों के शासन के अन्त तक साम्राज्य की दरबारी और साहित्यिक भाषा फ़ारसी ही रही।

इस प्रकार इन सभी युगों में, और विशेष कर १५वीं-१६वीं शती में, भारतवर्ष ऐसे सब ईरानी कवियों तथा साहित्यिकों को शरण देता रहा जिनका ईरान में रहना कठिन हो गया था।

ईरान एक और बात के लिए भी भारत का ऋणी है। १९वीं-२०वीं शती में यूरोप के महान् राष्ट्रों ने फ़ारसी साहित्य का अध्ययन करना केवल इसलिए आवश्यक समझा कि वह भारतवर्ष की साहित्यिक और राजभाषा रही थी, और उससे बहुत-से लाभ होने की सम्भावना थी। इसी कारण भारत में जमने वाले फ़्रांसीसियों तक ने अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए ही फ़ारसी सीखना आवश्यक समझा।

भारत और ईरान को जो चिरन्तन और अखंड सम्बन्ध सूत्र बाँधे हुए हैं, उनमें से ये केवल कुछ एक हैं।

मुझे पूरा विश्वास है कि ये सूत्र क्रमशः दृढ़तर होते रहेंगे और ऐसा घनिष्ठ सौहार्द उत्पन्न करेंगे जो दोनों को एक दूसरे के प्रति खरा और निश्छल व्यवहार करने में सहायक होगा।

अप्रैल १९४९

सिंहल में हिन्दू देवता

एम० डी० राघवन्

यद्यपि सिंहल में अनेक देवता हैं तथापि प्रमुख हिन्दू देवता वही हैं जो वहाँ के आज के सामाजिक जीवन में अपना विशेष महत्त्व रखते हैं और जिनकी उपासना सिंहली और तमिल दोनों एक ही निष्ठा से करते हैं। विशेष रूप से ये हैं हतरवरन देवियों या चार दिशाओं के रक्षक देवता—पश्चिम में विष्णु, पूर्व में सामन्, दक्षिण में स्कन्द और उत्तर में अय्यनार। इनके साथ पत्तिनी देवी को, जिनकी उपासना सिंहल की जनता बहुत अधिक करती है, और रावण के देवत्व-प्राप्त भाई विभीषण को रख सकते हैं। समस्त बौद्ध-बिहारों की सीमा में ऐसे पवित्र स्थान बने हुए हैं जो हिन्दू देवताओं, महाविष्णु, कतरगम (स्कन्द), विभीषण और सामन् को समर्पित हैं। इन हिन्दू देवताओं के अतिरिक्त सिंहल के ग्रामों में अनेक उपदेवता देवलों में प्रतिष्ठापित हैं जिनको सिंहली कपुराल लोग उचित कर्मकांड द्वारा प्रसन्न करने का यत्न करते हैं।

विष्णु

सम्पूर्ण लंका के संरक्षक देवता के रूप में समादृत होने के साथ ही, विष्णु का पश्चिमी सिंहल के संरक्षक देवता के रूप में एक पृथक् महत्त्व है। वह सिंहल में उप्पलवन्न या उपुलवन (उत्पलवर्ण अर्थात् नीले कमल के रंग के देवता) के नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

परिनिर्वाण के समय भगवान् बुद्ध को ज्ञान हुआ कि उनके धर्म के मौलिक गौरव की रक्षा श्री लंका के द्वीप में ही होगी, और उन्होंने अपने शासन की रक्षा का भार विष्णु को सौंप दिया। आज विष्णु का मुख्य तीर्थस्थान दक्षिणी-पश्चिमी तट पर देवुन्देरा या दोन्द्रा में महाविष्णु देवल है। ऐसी कथा है कि देवता की एक चन्दन की मूर्ति, जो आश्चर्यमयी शक्तियों से युक्त थी, बह कर देवुन्देरा के तट पर आ लगी, और तभी से वह विष्णु का पीठ-स्थान हो गया। ऐसा अनुमान है कि पुर्तगालियों ने जब मन्दिर का ध्वंस किया तब यह मूर्ति भी नष्ट हो गयी। विष्णु की एवं उनके चमत्कारों की प्रशंसा से सिंहली साहित्य भरा पड़ा है। इस प्रकार सतर-देवल-देवी-पुवथ में यह वर्णन है कि विष्णु ने सिंहल में आकर यक्कों को पराजित किया और देवताओं में अकेले वही थे जिन्होंने मार की विजय में बुद्ध की सहायता की। वली-यक-कवि से हमें मालूम होता है कि बुद्ध ने उन्हें सिंहल की रक्षा का भार दिया, और बुद्ध-बल-दयन कहता है कि बुद्ध ने उन्हें ५००० वर्षों तक अपने धर्म की रक्षा करते रहने का आदेश किया। जब विजय अपने सात सौ अनुयायियों के साथ सिंहल में पहुँचे तो, ऐसा कहा जाता है, वे विष्णु के संरक्षण में थे। विष्णु ने यक्कों की राजकुमारी कुवेनी के जादू भरे प्रभावों से उनकी रक्षा की। कुवेनी का अनादर करने के कारण विजय को जिस व्याधि (दिविदोस) ने आक्रान्त किया उससे भी उन्होंने ही उसे मुक्ति दिलायी। लंका-पुवथ से ज्ञात होता है कि शक संवत् १६२० में विष्णु जलूस के साथ कैंडी लाये गये। पाखी-सन्देसय नाम की एक कविता में विष्णु या उपुलवन की पवित्र भूमि के देवुन्देरा या देविनुवारा में, जो आजकल दोन्द्रा है, होने का प्रसंग है।

सिंहली सामाजिक जीवन में विष्णु इतने अधिक प्रविष्ट हो गये हैं कि विष्णु का स्तवन या विष्णु अष्टकों का गान सिंहली विवाहों में विवाहित दम्पति को आशीर्वाद देते समय होता है। 'सासन-वरवु विष्णु देवयाने'—लंका में धर्म-शासन के रक्षक हैं विष्णु'—प्रचलित आवाहन का यह एक ढंग है जो विष्णु के सम्बन्ध में जनता के मनोविज्ञान को प्रदर्शित करता है।

सामन्

सामन् लंका के चार रक्षक देवताओं में से एक हैं और सबरगमुआ प्रान्त के संरक्षक हैं। सामन्त कूट (एडम्स

पीक) जिसकी चोटी पर बुद्ध का पवित्र चरण है, उनका विशेष स्थान है। ऐसा कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध के पहले-पहल सिंहल में आने पर महियंगाना स्थान में सामन् ने उनकी सेवा की थी। महियंगाना में सिंहल का सबसे प्राचीन 'डगोबा' है जिसमें बुद्ध के केशों की एक लट सुरक्षित है। सामन्त कूट के स्वामी होने के कारण सामन् वहाँ के उप-देवताओं और प्रेतात्माओं—'कुम्बन्दों"—पर शासन करते हैं। लोक-विश्वास सामन् को राम का भाई लक्ष्मण ही मानता है। सामन् की अनिष्ट-निवारण की शक्ति में लोगों का ऐसा प्रबल विश्वास है कि सबरागमुआ की ओर जाते हुए लोग सड़क के किनारे एक बो-वृक्ष के पास, जो उस प्रदेश की सीमा पर है, गाड़ी रोक कर पैसा चढ़ा कर ही आगे बढ़ते हैं।

अय्यनार

अय्यनार, हरिहर-पुत्र हैं। वह विष्णु के मोहिनी रूप और उस पर मोहित हो जाने वाले शिव की सन्तान है, जो कृषि-रक्षक अश्वारोही देवता के रूप में दक्षिण भारत के परिचित ग्राम्य देवता हैं। सिंहल में वह वन-देवता हो गये हैं और वनों में से होकर जाने वाले ग्राम-वासियों की रक्षा करते हैं। सिंहल के निविड़ वन-प्रदेशों में से गुजरते हुए बहुधा घने वृक्षों के नीचे लताओं के आर-पार हरी-भरी टहनियों के बन्दनवार टँगे दिखाई पड़ते हैं, या कभी जमीन में गाड़ी हुई बीच से फटी हुई लकड़ियाँ मिलती हैं जिन पर आर-पार और एक लकड़ी रख कर उससे बन्दनवार लगे होते हैं। ऐसे स्थलों पर कभी-कभी अय्यनार के साथ-साथ गणेश की भी मृण्मूर्ति दिखाई पड़ेगी। अय्यनार का चढ़ावा यद्यपि बहुत साधारण है, तथापि उनमें श्रद्धा प्रबल है और यात्रियों तथा पथिकों को उनके संरक्षण का बड़ा सहारा रहता है। सिंहल में सामन् का उपयुक्त वाहन हाथी ही माना जाता है, यद्यपि घोड़ा भी कहीं-कहीं देखा जाता है। किंवदन्ती है कि पांड्यों की राजधानी मधुरा से जलयात्रा करके वह जाफ़ना पहुँचे जहाँ से वह अपने श्वेत हाथी पर चढ़ कर सामन्त-कूट गये। वन्नीपुष्प में ऐसा विवरण मिलता है कि वह राजा भुवेनकबाहु के समय में सिंहल आये, और बली देविय अर्थात् बलि के देवता के नाम से प्रसिद्ध हुए।

यद्यपि ये चार देवता परम्परा से चार संरक्षक देवताओं के रूप में प्रसिद्ध हैं तथापि विभीषण और पत्तिनी की उपासना का भी काफ़ी प्रचार है।

विभीषण

विभीषण केलानीया के मन्दिर के देवता हैं। ऐसी कथा है कि बुद्ध ने सिंहल-प्रवास के समय युद्ध में संलग्न दो नाग-राजकुमारों को मिलाया और नागों का रत्न-जटित सिंहासन और पवित्र बो-वृक्ष विभीषण को दे दिया। साललिनी-सन्देसय के वर्णन के अनुसार विभीषण देवियय रावण के भाई थे। रावण के विरुद्ध युद्ध में भूत, वर्तमान और भविष्य को सोच कर विभीषण ने राम के सत्य-पथ का पक्ष लिया और अपने भाई के असत्य और अन्यायपूर्ण मार्ग का विरोध किया।

कटरगम

सिंहल के बौद्ध तीर्थों में और विशेषतया दक्षिण-पूर्वी-सिंहल के कटरगम देविय नामक ग्राम के देवालय में हिन्दू देवता अथवा कटरगम देविय की पूजा होती है। सिंहली परम्परा के अनुसार, ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में राजा दुटुगमुनु ने कटरगम के मन्दिर को फिर से बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा की। ऐसा उसने देवता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए किया, जिनकी कृपा से वह तमिल राजा एसल को हराकर अनुराधापुर में पुनः सिंहली राज्य स्थापित कर सका। ऐसा कहा जाता है कि उसे स्वप्न में आदेश हुआ कि बिना कटरगम के देवता को प्रसन्न किये वह एसल के विरुद्ध युद्ध न करे। वर्ष में एक बार भारतवर्ष और सिंहल के भक्तों का समूह दो सप्ताह के लिए कटरगम में जुटता है। कथा है कि देवी पार्वती के सात बेटे हुए। शिव ने एक साथ सब को गले लगाना चाहा। एक किसी प्रकार अलग हो गया, शेष छः मिल कर एक शरीर हो गये। यह स्कन्द स्वामी हैं जिनके छः मुख और बारह हाथ हैं, और जिनका वाहन मयूर है। जो लड़का अलग हो गया था वह लंका के उत्तर मध्य प्रान्त में वानियर के एक देवता कदवार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कटरगम देविय के दो पत्नियाँ हैं। एक देवी है—देवयानी; दूसरी मर्त्य है—वल्ली अम्मा। ऐसा विश्वास है कि कोविलवानम जाति के वेद्दा ने वल्ली अम्मा को कटरगम के जंगल में एक बच्चे के रूप में पाकर उसे तब तक पाला-

फलक १८
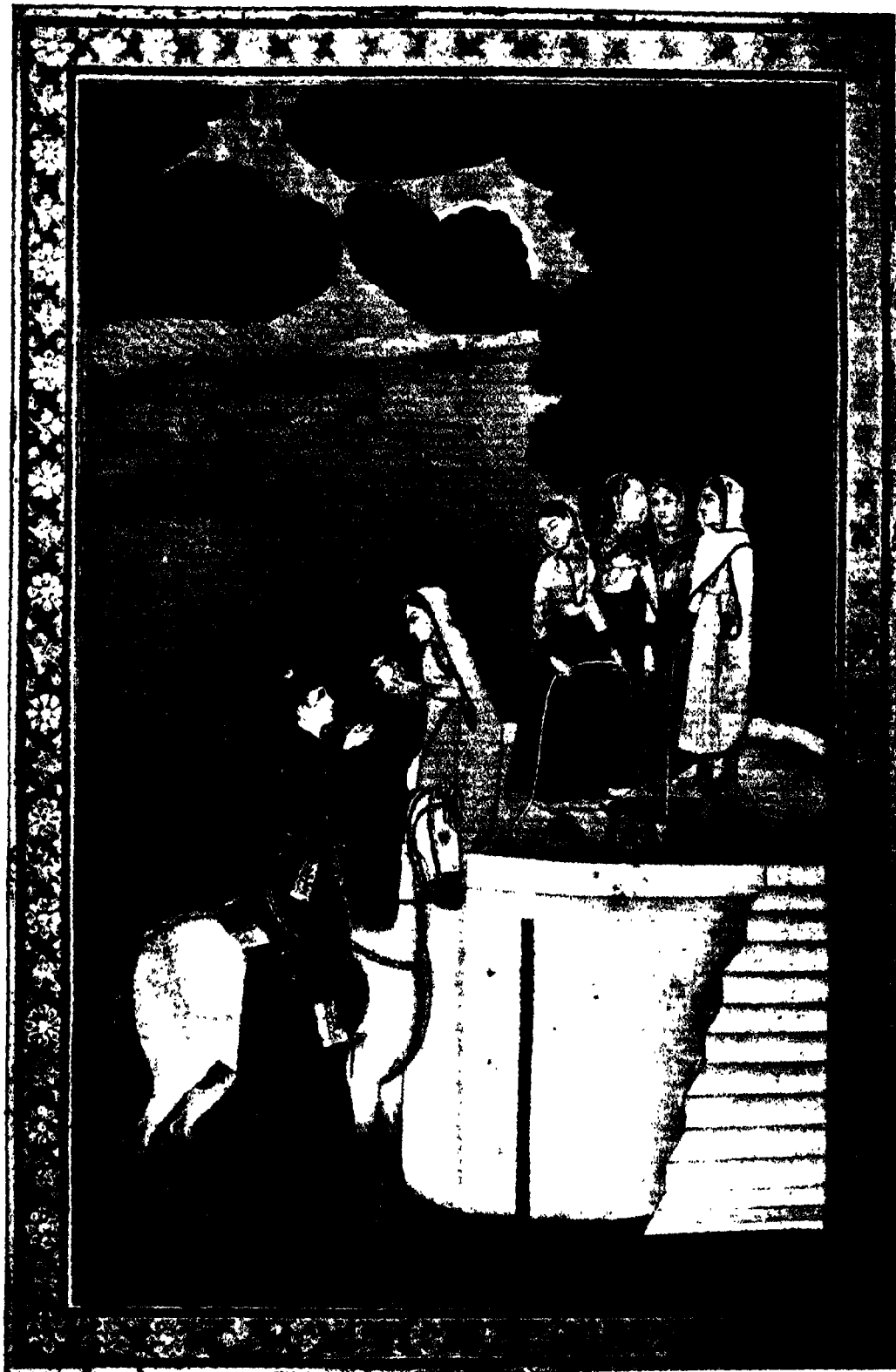
पोसा जब तक स्वयं युद्ध के देवता स्कन्द ने एक वेद्दा का रूप धारण कर उससे विवाह न कर लिया। वल्ली-माल में स्कन्द के एक संन्यासी के रूप में आने का और वल्ली अम्मा के वरण तथा कटरगम में विवाह का वर्णन मिलता है।

पत्तिनी

सिंहल में पत्तिनी का आगमन सिंहल-राज गजबाहु के चोल देश पर सफल आक्रमण के फलस्वरूप हुआ। गजबाहु की इस विजय का सांस्कृतिक प्रभाव गहरा हुआ, क्योंकि राजा अपने साथ पत्तिनी देवी की मूर्ति, उनके पवित्र पायल और उनसे सम्बन्ध रखने वाली धार्मिक पुस्तकें साथ ले आया। इस प्रकार पत्तिनी की पूजा आरम्भ हुई और आज सिंहल के हिन्दू देवी-देवताओं में उसी की पूजा का प्रचार सर्वाधिक है। पत्तिनी दक्षिण भारत की पौराणिक देवी 'कन्नगी' हैं, जो कोवलन (सिंहली 'पलंग') की पत्नी हैं। कथा है कि उसने प्रवास पर जाते हुए पति को दुश्चरित्र स्त्रियों से बचने तथा सुनारों से बात न करने का आदेश दिया था पर उसकी अवज्ञा करके पति ने अपनी पत्नी का सोने का पायल एक सुनार के हाथ बेच दिया, जिसने उस पर चोरी का अभियोग लगाया। राजा ने भी उसके शिरश्छेदन की आज्ञा दे दी। इस आज्ञा को क्रियात्मक रूप देने में अपने को अशक्त पाकर बधिक डर गया, पर कोवलन ने स्वयं ही उसे स्त्री द्वारा दिये हुए मन्त्र का रहस्य बताया जिससे बधिक अपना काम कर सका। किन्तु तत्काल ही साध्वी कन्नगी के शाप से सारे प्रदेश में अनेक प्रकार की व्याधियाँ, महामारी और अग्नि फैलने लगी; तभी से पत्तिनी की पूजा होने लगी। नयी देवी की मूर्ति पाण्डय राज्य में स्थापित की गयी और कहा जाता है कि इस अवसर पर वहाँ अन्य लोगों में सिंहल-राज गजबाहु भी था। सिंहल में पत्तिनी की पूजा का प्रचार बड़ी तीव्रता से हुआ और अनेक देवलों में उन्हें स्थापित किया गया।

इन देवलों के पुजारी पत्तिनी-हामी कहलाते हैं। पत्तिनी का अन्य लोक-देवताओं—यथा 'किरि-अम्मा' मातृकाओं की पूजा से भी सम्बन्ध है। महामारी फैलने पर गाँव वाले त्राण के लिए देवी की पूजा करते हैं, और संकट टल जाने पर सात बूढ़ी स्त्रियों की पूजा करके उन्हें दान आदि देते हैं। ये स्त्रियाँ उस समय के लिए 'किरि-अम्मा' मातृकाएँ कही जाती हैं। इन स्त्रियों को खीर, मिठाई, पान, केले और नारियल दिये जाते हैं। पूजा के समय सात बत्तियों के नारियल-तेल के दीपक जलाये जाते हैं, और जाते समय एक-एक स्त्री एक-एक बत्ती बुझा कर दीपक के तेल का स्पर्श कर परिवार के सदस्यों को टीका लगाती है और उनके लम्बे जीवन और स्वास्थ्य की कामना के लिए पत्तिनी तथा अन्य देवताओं की वन्दना करती है। इस पूजा का प्रचलित नाम 'अम्मा कुरंगे दान' है।

सिंहल में पत्तिनी सम्बन्धी कथाओं के अनेक रूपान्तर मिलते हैं। अंकेलि-उपथ लिखता है कि पत्तिनी का जन्म एक आम की गुठली से हुआ और उनका विवाह पलंग से हुआ था। एक दिन पलंग ने एक फलों के बाग़ में एक फूल को तोड़ने के लिए, जो वह पत्तिनी को देना चाहता था, सीढ़ी लगायी; किन्तु फिर भी वहाँ तक न पहुँच सका। पत्तिनी उसकी सहायता के लिए चन्दन की लग्गी लायी। पत्तिनी और पलंग की लग्गियाँ आपस में उलझ गयीं और दोनों की खींच-तान में पलंग की लग्गी टूट गयी। पत्तिनी और उसकी सखियों ने प्रसन्न होकर खूब नृत्य किया। यह कथा सिंहल के जन नाटक अंकेलिय में प्रतीक के रूप में मिलती है जिसमें हिरन के सींग या लकड़ी की लग्गी से रस्सियाँ बाँध कर खींचा जाता है।

सिंहल के देवलों में अधिकतर उत्सव आषाढ़ में होते हैं। ये उत्सव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवसर होते हैं। उनमें बहुत ही सुन्दर सजधज के जुलूस निकाले जाते हैं। जुलूसों में, जिन्हें पेराहेरा कहते हैं, सब से प्रसिद्ध कैंडी का पेराहेरा होता है, जो पखवाड़े भर चलता है और देश के सर्वोत्कृष्ट दृश्यों में से एक है। यह वास्तव में चार स्पष्ट पेराहेरों का, अर्थात् बुद्ध के धातु (दन्त) तथा महाविष्णु, पत्तिनी और कटरगम की शोभा-यात्राओं का सुन्दर और सामजंस्यपूर्ण मिश्रण है।

बनारस कला के प्रभाव

अद्रीशचन्द्र बन्द्योपाध्याय

लोग मुझसे अक्सर यह प्रश्न पूछते हैं कि "आप पुरातत्त्वज्ञों की दृष्टि में प्रभाव शब्द के अर्थ क्या हैं ?" पुरातत्त्व को जाने दीजिए, मैं पूछता हूँ कि प्रभाव का सामान्य अर्थ क्या होता है ? जैसे कला पर, साहित्य पर अथवा संस्कृति पर प्रभाव के क्या मानी ? बेकन, डा० जॉन्सन या मैथ्यू आरनल्ड का उनके बाद आने वाली पीढ़ियों पर क्या प्रभाव पड़ा है ? सीधे-सादे शब्दों में, प्रभाव मौलिक कृतियों द्वारा प्राप्त होने वाली प्रेरणा है। सच्ची कलाकृति एक सौन्दर्य-विधान की सृष्टि करती है, उसी प्रकार जब कोई वीर्यवती कला अपर कलाओं के सम्पर्क में आती है तो उन पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है। यह छाप राजनीतिक आधिपत्य या सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण पड़ती है। खुतन और मध्य एशिया के रेतीले भूखंडों को कल्पना में भी कोई ग्रीक साम्राज्य का अंग न मानेगा। किन्तु सर ऑरियल स्टीन्स की खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि वे ग्रीक संस्कृति से प्रभावित हैं। प्राय: कोई विशेष शैली या चित्रण, कलाकार को—चाहे वह चित्रकार हो या मूर्तिकार—अत्यधिक आकृष्ट करता है और वह अपनी कलाकृतियों में उन्हीं का उपयोग करता है। मूल कृति से भली भाँति परिचित किसी पारखी की आँखें इस अनुकृति में मूल की छाप तत्क्षण पहचान लेती हैं। मेरे ध्यान में प्रभाव का यही अर्थ है। किन्तु भारतीय कला को अन्य कलाओं की अपेक्षा एक बड़ी सुविधा प्राप्त थी—ईसाई कला की भाँति यह भी धार्मिक कला थी। वस्तु-विधान चाहे हिन्दू हो या बौद्ध, अभिप्राय चाहे हिन्दू मन्दिर में हो, या बौद्ध विहार में अथवा मुसलमानी मस्जिद में, धर्म से सम्बद्ध होने के कारण ऐसी प्रवृत्ति हो गयी थी कि वे मूल की विशेषताओं का पालन अवश्य करें। फिर हिन्दू और बौद्ध धर्मों का जन्म इसी भारत भूमि में हुआ था। इस कारण यहाँ के अभिप्राय और मूर्तियाँ धर्म-प्रचारकों और उपनिवेश-अन्वेषकों के साथ अन्य देशों में गयीं। इनमें से कई देशों में पहले से ही मूल-निवासियों के कला-विधान प्रचलित थे और नवीन कला का स्वरूप सम्भवत: स्वत: परिवर्तित होता गया। इसका कारण वे अज्ञात शक्तियाँ थीं जो उन देशों की सांस्कृतिक और धार्मिक विचारधाराओं में युगान्तर उपस्थित कर रही थीं। जहाँ मूल परम्परा की जड़ मजबूत थी, वहाँ नयी और पुरानी कलाओं का सुन्दर सामंजस्य दिखायी पड़ता है, जैसे चीन में हम मंगोल और भारतीय अवधारणाओं का सुन्दर सम्मिश्रण पाते हैं। इस सम्बन्ध में एक दूसरी बात भी ध्यान में रखने योग्य है। वह यह है कि भारत से निकल कर अपने सांस्कृतिक साम्राज्य के सुदूर प्रदेशों तक पहुँचने में यहाँ के अभिप्रायों और शैलियों में बराबर परिवर्तन होते गये। इस लेख में हम मूर्तिकलावाली बनारस शैली के प्रभावों का विवेचन करेंगे; शैली, चित्रण और अभिप्राय को आधार मानकर पहले हम स्वदेश के ही भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इसके दृष्ट प्रभावों का विवेचन करेंगे। मूर्तिकला की बनारस शैली, यह प्रयोग मैं जानबूझ कर कर रहा हूँ। सम्यक् रूप से गुप्त मूर्तिकला के प्रभावों का विवेचन तो बहुतों ने किया है; किन्तु अब हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट हो चुका है कि उस काल की संस्कृति में मौलिक एकता और सामान्य एकरूपता होते हुए भी देश की कलात्मक चेतना कई शैलियों में विभाजित थी—पाटलिपुत्र, बनारस, मथुरा, मध्यभारत आदि। यहाँ हमारा उद्देश्य केवल बनारस शैली के प्रभावों की विवेचना करना है।

इस शैली की विशेषताओं के सम्बन्ध में जो कुछ हम पहले कह आये हैं, उसकी मुख्य बातों को फिर से दुहरा लेना अच्छा होगा। पहली बात तो यही है कि इस शैली में बुद्ध की मूर्तियों का एक विशेष प्रकार देखने में आता है जो अपनी सादगी और सन्तुलन के कारण अन्य मूर्तियों से स्पष्टत: अलग है।[1] बनारस वाली बुद्ध मूर्तियों की ये विशेषताएँ हैं—

[1] डा० बी० सी० लाहा प्रेजेंटेशन ग्रन्थ, भाग १, पृ० ५०४-१८

(क) सिर पर पेचदार अलकें और उभरी हुई खोपड़ी जो कुषाण कालीन मूर्तियों में घोंघे के आकार की और मुड़ी हुई होती थी।

(ख) मुख के ऊपरी भाग का आकार स्पष्टतः मंगोल, विशेषकर लम्बी खिंची हुई भौंहें।[2]

(ग) कानों का रूढ़िगत उत्कीर्णन।

(घ) पूरे अधरोष्ठ, जिनमें लटका हुआ अधर।

(ङ) बड़ी-बड़ी आँखें और नुकीली बरौनी।

(च) नीची गर्दन होने के कारण सिकुड़न दिखाने के लिए गले में संयोजित रेखाएँ।

(छ) झीने वस्त्रों में सिकुड़न का न होना। अन्य शैलियों से बनारस शैली को पृथक् करनेवाली यह मुख्य विशेषता है।

(ज) परवर्ती गुप्तकाल को छोड़ कर, मुख्य आकृतियों में अनावश्यक अलंकरण का न होना।

(झ) अलकों के घुमाव में मौलिकता, जैसी खोह के एकमुख-लिंग में है।

(ञ) उनकी उत्कृष्ट ढलाई और सादगी ।

(ट) गढ़न में ब्योरों की सादगी और चमत्कार का अभाव जो कला की प्रारम्भिक शैलियों का लक्षण है।

बनारस शैली के व्यापक प्रभाव का अध्ययन राखालदास बनर्जी के परिश्रम से हमारे लिए आसान हो गया है। सच पूछिए तो उन्होंने ही हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। उन्होंने ही सर्वप्रथम मथुरा शैली पर बनारस शैली के प्रभाव और फलस्वरूप उस शैली में हुए परिवर्तनों का दिग्दर्शन कराया। मथुरा शैली की, भारतीय संग्रहालय की मूर्ति सं० एम० ५ की ओर सबसे पहले हमारा ध्यान जाता है, जिसमें हमें पहले-पहल मंगोल विशेषताएँ दिखायी देती हैं।[3] मथुरा की अन्य मूर्तियों की भाँति इसमें भी वस्त्रों की सिकुड़न का रूढ़िगत प्रदर्शन है। सम्भवतः लखनऊ संग्रहालय की सं० जे ७१ इससे पहले की है। यह बुद्ध की बिना सिर की मूर्ति है। इसके पैर छितरे हुए हैं और उनके बीच में मैत्रेय बोधिसत्त्व की मूर्ति है (चित्र सं० ३)। वस्त्रों की सिकुड़न की संयोजना भी इसमें है, किन्तु एक विभिन्नता भी स्पष्ट लक्षित होती है। संघाटी का किनारा मूर्ति के साथ लगा न होकर स्पष्टतः उभरा हुआ है। बनारस शैली के अन्य प्रभाव भी स्पष्ट हैं, जैसे, मुख के चारों ओर के प्रभामंडल में परिवर्तन और भिक्षुओं के मुण्डित मस्तक के स्थान पर पेचदार अलकें। प्रतिनिधि कुशाण मूर्तियों की अपेक्षा एम० ५ का प्रभामंडल अधिक अलंकृत है। मथुरा की शक प्रभाव वाली प्रसिद्ध शैली से भिन्न अन्य उदाहरण ये हैं—जमालपुर वाले बुद्ध तथा मथुरा के कर्जन संग्रहालय की सं० ए० ६, ८, १० और १३। लखनऊ संग्रहालय के ओ० ७२ और दक्षिणवाली बृहत् जैन मूर्ति से यह स्पष्ट है कि ये परिवर्तन सभी मूर्तियों में पाये जाते हैं। यह मूर्ति कायोत्सर्ग मुद्रा में है। हथेली और उस पर की रेखाएँ सफ़ाई से उत्कीर्ण हैं, किन्तु लखनऊ संग्रहालय की सं० ४६४ से तुलना करने पर विदित होता है कि इसके लम्बे कान गुप्त प्रभाव के द्योतक हैं।

प्रस्तुत उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि बनारस से प्रभावित होकर मथुरा के कलाकारों ने अपनी परम्परागत हथौटी छोड़ कर नयी शैली अपनायी। ये विशेषताएँ हैं—सिर पर घुँघराले बाल, मंगोल आँखें और उभरी खिंची हुई भौंहें, मस्तक और उसके चतुर्दिक् प्रभामंडल के बीच सुन्दर, स्वाभाविक अलंकरण, वस्त्रों के उभरे किनारे; उत्तरीय की सिकुड़नें जो बाहुमूल तक आते-आते समाप्त हो जाती थीं, अब सारी देह पर फैली रहती हैं। पेंचदार अलकों का होना विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अभी तक यह लक्षण मथुरा का प्रभाव ही माना जाता रहा है। इस ओर लोगों का ध्यान नहीं गया कि मथुरा शैली की यह विशेषता बनारस शैली का प्रभाव हो सकती है। मथुरा शैली की विवेचना समाप्त करने के पहले इन प्रभावों की ऊर्ध्व सीमा निर्धारित कर लेना अच्छा होगा, क्योंकि इसके बिना हमारे निष्कर्ष महत्त्वहीन होंगे। इस दृष्टि से मानकुँवर की मूर्ति (चित्र सं० ६) हमारे बड़े महत्त्व की है। इस पर अंकित लेख के अनुसार यह मूर्ति बुद्ध की है, बोधिसत्त्व की नहीं, जैसा कुषाण-काल की प्रथा थी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय बौद्ध इन मूर्तियों को बिना

[2] राखालदास बनर्जी—'द एज आफ़ द इम्पीरियल गुप्तज', बनारस १९३३, पृ० १६४

[3] ऐंडर्सन—'हैंडबुक ऐंड कैटलाग ऑफ़ द आर्कियोलाजिकल कलेक्शन इन इंडियन म्यूजियम', भाग १, पृ० १८१; रा० बनर्जी—'द एज आफ़ द इम्पीरियल गुप्तज', पृ० ११५

हिष्क के पूर्ण बुद्धत्व-प्राप्त महात्मा की प्रतिकृति स्वीकार करने लगे थे। साथ ही 'यह उदाहरण यह भी प्रकट करता है कि पाँचवीं शती के मध्य में भी मथुरा में संकीर्ण विचारों की परम्परा प्रचलित थी। सिंहासन, चक्र और उसकी बैठकी तथा बुद्ध की गढ़न स्पष्टतः कुषाण है जिसमें न तो गुप्तकालीन प्रतिमा वाला सौन्दर्य है और न सन्तुलन।'[3] गुप्त संवत् ११३ वाली बिना सिर की जैन मूर्ति के सम्बन्ध में भी, जो अब लखनऊ संग्रहालय में है, यही बात है।[4] मानकुँवर मूर्ति का समय गुप्त संवत् १२६ (=४४८-४६ ई०) होने के कारण यह तो कहा ही जा सकता है कि कम से कम प्रथम कुमारगुप्त के समय तक कुषाण शैली की परम्परा का बोलबाला था।[5] इसी समय से मथुरा शैली के उदाहरण कम होने लगते हैं, और इसका कारण सम्भवतः गुप्त साम्राज्य की अवनति और हूणों का आक्रमण था जिसके कारण सीमान्त में सांस्कृतिक सुस्थिरता सम्भव न रही। और पश्चिम की ओर चलने पर गुप्त प्रभाव बिलकुल ग़ायब हो जाता है यद्यपि स्वर्गीय सर ऑरियल स्टीन ने पंजाब के कुछ स्थानों में गुप्तकालीन पुरातत्त्व-सामग्री प्राप्त की हैं।[6] किन्तु यह प्रान्त प्रसिद्ध गान्धार शैली और हिंद-अफ़ग़ान शैली का क्षेत्र रहा है, और इनके प्रभाव कदाचित् यहाँ से कभी मिट न सके। ज़िला बरेली (प्राचीन अहिच्छत्रा) के रामनगर में बहुत-से मिट्टी के टिकरे पाये गये हैं, किन्तु अभी इनके विषय में कुछ भी कहा नहीं जा सकता।[7] फिर भी, यहाँ गुप्तकालीन मथुरा का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है, क्योंकि श्री ए० घोष के साथ मैंने रामनगर के गाँवों में जो मूर्तियाँ देखीं, वे सभी रवादार पत्थर (सैंडस्टोन) की बनी मथुरा शैली की हैं। उनमें एक छोटी मूर्ति मैत्रेय (पहली शती ईस्वी) की भी है, जो स्थानीय ज़मींदार की छावनी की दीवार में लगी हुई है। इनके अतिरिक्त कांगड़ा से एक कांस्य मूर्ति भी मिली है,[8] जिसके धड़ और वस्त्रों का संविधान सारनाथ संग्रहालय की सं० बी (बी) १८१ से बहुत मिलता है।

"जहाँ तक मूर्ति की गढ़न का सम्बन्ध है, बनारस शैली का प्रभाव मध्य भारत में कम दिखायी पड़ता है। वहाँ के नागौद राज्य के खोह और भूमरा नामक स्थान में प्राप्त 'एकमुख-लिंग' (चित्र सं० ५) में लेखक ने कुछ हद तक यह प्रभाव पाया है। खोहवाले लिंग के मुख की भौंहें कुछ उठी हुई हैं किन्तु भूमरा वाले लिंग में अधिक खिंची हुई हैं। ग्वालियर में भिलसा के पास उदयगिरि की गुहा २ में विष्णु की जो एक पुरानी-सी मूर्ति है, उससे इसका कोई साम्य नहीं।"[9]

पूर्व में, गुप्त साम्राज्य के मुख्य प्रमंडलों में बनारस शैली के दो प्रकारान्तर दिखायी देते हैं, जो पाटलिपुत्र शैली के नाम से विख्यात हैं। पहला प्रकारान्तर हमें नालन्दा, कुर्किहार आदि से पायी गयी सुन्दर कांस्य मूर्तियों में मिलता है। वे अधिकतर झीने वस्त्र में वेष्टित बुद्ध की खड़ी या बैठी मूर्तियाँ हैं। किन्तु संघाटी के कोर बनारस शैली की भाँति मुड़े या उभरे हुए हैं और उनका उत्कीर्णन रूढ़िगत है। भौंहें आँखों से सटी हुई हैं। किन्तु पाटलिपुत्र शैली के इस प्रकारान्तर और बनारस शैली में एक अंतर ह। पाटलिपुत्र-प्रकारान्तर में वस्त्रों की सिकुड़नें समानान्तर लहरियों द्वारा दिखायी जाती थीं। ग्रीक प्रभाव वाली मथुरा शैली में सिकुड़नें उभरी हुई होती थीं, जैसा मथुरा संग्रहालय में जमालपुर वाली बुद्धमूर्ति में हम देखते हैं, किन्तु इस शैली में वे खुदी हुई होती थीं। नालन्दा में प्राप्त कांस्य मूर्ति और बरमिंघम संग्रहालय की सुलतानगंज वाली मूर्ति इसके उदाहरण हैं।[10] मनियार मठ, नालन्दा और गृद्धकूट की खुदाइयों में हमें एक भिन्न प्रकार मिलता है, जिन पर बनारस शैली का प्रभाव स्पष्ट है। उदाहरण के लिए, हम नालन्दा में, मन्दिर सं० १२ के बग़ल में स्थित छोटे मन्दिर में स्थापित पद्मपाणि-बोधिसत्त्व की मूर्ति का उल्लेख कर सकते हैं, जिसका समय सम्भवतः

[4] बनर्जी—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० १६२, फलक २५, चित्र (बी); 'एपिग्राफ़िया इंडिका', भाग २, पृ० २१०; सं० ३६

[5] यह राखालदास बनर्जी का मत है। मेरा ख्याल है कि मानकुँवर की मूर्ति में उस समय की नवीन विचार-धारा भी दृष्टिगत होती है।

[6] 'आर्कियोलाजिकल रिकानेसेंसेज़'

[7] अब वे डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा 'एंशंट इंडिया' में प्रकाशित हो चुके हैं।

[8] डा० कुमारस्वामी, 'हिस्ट्री ऑफ़ आर्ट इन इंडिया एंड इंडोनेशिया' चित्र १६३।

[9] बनर्जी, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १७०-७१।

[10] आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, १९३५-३६, फलक ३७, चित्र (बी) तथा (सी)।

ईस्वी छठी शती है ।[11] शैली और प्रकार की दृष्टि से केवल शरीर के भारीपन को छोड़कर यह सारनाथ संग्रहालय की बी (डी) १ के ही समान है, जिसका विवरण डा० बी० सी० लाहा वाले स्मारक ग्रंथ में प्रकाशित हो चुका है ।[12] जटा, अलंकरण, मुद्रा, यहाँ तक कि पहनावा भी वैसा ही है । इस मूर्ति के वस्त्रों की लटकी हुई सिकुड़नें सारनाथ संग्रहालय में तीसरी शती ईस्वी वाली सं० बी (ए) ३ के समान हैं । दूसरा उदाहरण राजगिरि के मनियार मठ की नागिनी है ।[13] इस मूर्ति में बनारस और पाटलिपुत्रशैलियों के मिश्रित प्रभाव लक्षित होते हैं । गढ़न की रमणीयता और झीने वस्त्रों का सौन्दर्य, बनारस कला की आत्मा का प्रतिबिम्ब है, मगध कला का नहीं ।

मगध के बाहर, बनारस शैली के प्रभाव का विस्तार प्रदर्शित करने वाले उदाहरण यदा-कदा मिल जाते हैं । वरेन्द्र रिसर्च सोसायटी, राजशाही के अधिकारियों के उत्साह से बिहरौल में एक बुद्ध-मूर्ति का पता लगा है, जो निस्सन्देह बनारस वाली शैली की है । इसकी तुलना सारनाथ संग्रहालय के १७८ ई० से की जा सकती है । यह बात ध्यान देने की है कि यह चुनार के रवादार पत्थर की नहीं है । पाँचवीं शती वाली सारनाथ की मूर्तियों से इसकी इतनी समानता है कि लोगों को इसे बनारस शैली का उदाहरण होने का भ्रम हो जाता है ।[14] और पूर्व में चलने पर 'दह पर्वतीया' तक इस शैली का विस्तार मालूम होता है । यह आसाम के तेजपुर ज़िले में है । यहाँ गुप्तकाल का एक पत्थर का द्वार मिला है जिसके बग़ली स्तम्भ में नीचे की ओर देवीरूप गंगा और जमुना का उत्कीर्णन बनारस कला की याद दिलाता है ।[15] उड़ीसा में प्राप्त कुछ मूर्तियों का उल्लेख प्रोफ़ेसर हाराणचन्द्र चक्लधर ने बंगाली पत्रिका 'प्रवासी' में किया है, जो गढ़न और शैली की दृष्टि से बनारस के गुप्तकालीन उदाहरणों से बहुत मिलती हैं । किन्तु न तो उनका कोई ठीक विवरण प्रकाशित हुआ है, न उनके चित्र । उनके वर्तमान स्थान का भी पता नहीं है, इसलिए उनका अधिक विवेचन सम्भव नहीं ।[16]

पश्चिम में कन्हेरी की गुहा सं० ६७ की अवलोकितेश्वर और तारा वाली मूर्तियों के केशकलाप और वस्त्रों में बनारस शैली की स्पष्ट छाप है । ताखों में निर्मित बुद्ध की मूर्तियाँ बनारस वाली मूर्तियों के ही समान हैं ।[17] सारनाथ संग्रहालय के उड़ते हुए विद्याधरों वाले प्रस्तरखंड को देख कर, श्री टी० एन० रामचन्द्रन ने भी यही मत व्यक्त किया है ।[18] दक्षिण में, अजन्ता के कलामंडप में बनारस शैली के प्रभाव बड़े व्यापक दिखाई देते हैं । बुद्ध का जैसा सीधा-सादा सौम्य अंकन उन्होंने किया, वह उपासकों के हृदय को बहुत ही प्रिय लगा । मालूम होता है, सारनाथ से कुछ भिक्षु कारीगर वहाँ जाकर बस गये थे और उन्होंने ही इनका निर्माण किया था । गुहा सं० १९ के सामने दीवालों में बनी बुद्ध की आकृतियाँ, उनके झीने आवरण में संयोजित सिकुड़न का अभाव, सिर पर पेचदार अलकें और उभरा मस्तक, संघाटी के स्पष्ट रूप से मुड़े किनारे साफ़ बतला रहे हैं कि इनकी प्रेरणा का मूल कहाँ है ।[19] गुहा सं० २६ में, भद्रासन में स्थित बुद्ध की मूर्ति, उसका सौम्य भाव और उसके शरीर से सटे वस्त्र को देख कर सारनाथ की मूर्तियाँ आँखों के आगे आ जाती हैं ।[20] रामेश्वर गुहा की स्तम्भों में उत्कीर्ण रमणियाँ और एलोरा की दाहिनी ओर वाली स्त्रीमूर्ति आकृति की स्थूलता में ग्वालियर के पथारी नामक स्थान से प्राप्त 'माता और पुत्र' वाली मूर्ति के अधिक समान

[11] वही, १९३०-३४, फलक ६८, चित्र (१) ।

[12] 'गुप्त स्कल्पचर इन बनारस—ए स्टडी'

[13] कुमारस्वामी, 'हिस्ट्री ऑफ़ आर्ट इन इंडिया ऐंड इंडोनेशिया, चित्र १७६ ।

[14] 'ए कैटलाग आफ़ आर्कियोलाजिकल रेलिक्स इन द म्यूज़ियम ऑफ़ वरेन्द्र रिसर्च सोसायटी', राजशाही, १९१९, पृ० १, सं० ए (ए) १; बनर्जी, ई० आई० एस० एम० एस० चि० १९ (ए) ।

[15] आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, १९२४-२५, पृ० ९८-९, फलक ३२, चि० (ए) और (सी) ।

[16] प्रवासी जिल्द २७, भाग १, पृ० ८११-१८, विशेष कर तारा, हेरुक (जिसे भैरवी कहा गया है) देवी आदि की मूर्तियाँ ।

[17] कुमारस्वामी, चित्र १६४ ।

[18] आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया १९३५-३६, पृ० ११९, फलक ३५, चि० १ ।

[19] काह्न; 'इंडिशे प्लैस्टिक', टैफ़ेल २९ ।

[20] वही, टैफ़ेल ३२; कुमारस्वामी, पूर्वोक्त पुस्तक, चि० १८९ ।

है।[२१] यथेष्ट सामग्री न प्राप्त होने के कारण हम अन्य शैलियों का विवेचन नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में किसी नयी बात के प्रकाश में आने की संभावना भी कम ही है, क्योंकि वेंगी और दक्षिण की अन्य शैलियाँ बिलकुल भिन्न परम्पराओं पर आधारित हैं।

बृहत्तर भारत की ओर दृष्टि जाने पर सबसे पहले बर्मा पर ध्यान जाता है। बोस्टन संग्रहालय की एक मूर्ति को छोड़कर, जिसका स्थान सन्दिग्ध है, बर्मा और बनारस में कोई सम्बन्ध नहीं दिखायी पड़ता। किन्तु पेगान के आनन्द मन्दिर में कई प्रस्तर मूर्तियाँ हैं, जिनकी समानता बनारस शैली से कुछ लक्षित होती है। बर्मा से सम्पर्क स्थापित होने के तीन मार्ग थे। पहला अराकान से होकर, दूसरा काचिन देश के उस स्थल से जिसे अब 'मोगांग की घाटी' कहते हैं, और तीसरा समुद्र मार्ग। थाईलेंड के नाम से ख्यात श्याम का नाम भी लिया जा सकता है, किन्तु उसकी बात दूसरी है। उसका इतिहास बड़ा अव्यवस्थित और असम्बद्ध रहा है।[२२] वहाँ की कला और वृत्तियों को समझने के लिए उनकी विषम परिस्थितियों का भी ज्ञान आवश्यक है। ईस्वी सन् के आरम्भ से ही समस्त मेनाम वैली मनख्मेर प्रभावान्तर्गत थी, जिनका आधिपत्य कम्बोडिया से लेकर दक्षिण बर्मा तक, सभी स्थानों पर था। इस कारण श्याम की कलाकृतियों में बर्मी और कम्बोडीय प्रभाव मिले हो सकते हैं।[२३] आगे चल कर थाइयों का प्रभाव बढ़ा और समस्त डेल्टा कम्बोडिया और अधिकांश मलय उनके अधिकार में आ गया। कुमारस्वामी के अनुसार राजबुरी, प्रपथन, चन्तबुरी, केदाह, तकुआपाह और लिगोर में भारतीय प्रभाव (गुप्त और पल्लव) मिलते हैं। दक्षिणी श्याम में गुप्तकालीन भारतीय प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। महत्त्वपूर्ण उदाहरणों में, विएनसा के विष्णु, जैया के एकलोकेश्वर, आयूथिया के संग्रहालय में रोमलक शैली के पूर्व ख्मेर बुद्ध, लोपबरी संग्रहालय में द्वारावती के बुद्ध, इत्यादि हैं।[२४] श्यामी कला में गुप्त प्रभाव के विषय में साल्मनी का कथन है, "गुप्तकाल रूढ़ियों का पोषण नहीं करता, जाग्रति का आह्वान करता है! जाति की सर्जनात्मक चेतना को उद्बुद्ध कर उसे क्रियाशील बनाता है।"[२५] यहाँ हमें समूची गुप्तकला से काम नहीं; हमें तो केवल उसकी उस शैली से मतलब है जिसका यहाँ पर महत्त्व है। आयूथिया की स्लेट-निर्मित मूर्ति बाहरी समझी गयी है; किन्तु दोनों ओर से ढका शरीर, ग्रीवा की समकेन्द्रीय रेखाएँ, गढ़न और सब के ऊपर वस्त्रों में सिकुड़नों का अभाव बनारस शैली की याद दिलाते हैं। किन्तु मूर्ति स्लेट की होने के कारण यह स्पष्ट है कि यह उन कारीगरों की कृति नहीं जिनका किसी विशेष पत्थर पर ही काम करना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है।[२६] खंडित बुद्धमूर्ति में "वस्त्र का ऐसा असाधारण निधड़क अंकन कि वे पंख की भाँति उभरे हुए मालूम पड़ते हों", सारनाथ शैली का ही प्रकारान्तर है जिसमें सिकुड़न का अभाव होता है।[२७] सुकोथाई की कांस्य मूर्ति की गढ़न सारनाथ वाली, श्रमण बन्धुगुप्त द्वारा समर्पित, बुद्धमूर्ति के ही समान है। किन्तु इसमें स्पष्टतः दक्षिण भारतीय प्रभाव है, विशेष कर दाहिने कन्धे पर वस्त्र की सिकुड़नों का संविधान।[२८] यह वस्त्र-विधान बिलकुल नया है। इस नवीनता का कारण यह नहीं है कि यह नयी संस्कृति, उच्चतर प्राचीन संस्कृति की कला-वृत्तियों का विरोध करना चाहती थी, वरन यह है कि यह संस्कृति उस कला की प्रतिमाशास्त्र सम्बन्धी बारीकियों को समझने में असमर्थ रही। बनारस शैली का प्रभाव, अन्य क्षेत्रों से होता हुआ, थोड़े परिवर्तन के साथ इस जाति पर—जिसकी कल्पनाशक्ति अभी विस्तृत नहीं हुई थी—जम गया।

आरम्भ में ही 'मान ख्मेर' जाति द्वारा विजित हो जाने के कारण आधुनिक कम्बोडिया का पुराना नाम कम्बोज था। ख्मेर कला का स्वरूप स्थिर होने के पहले ही वहाँ भारतीय प्रभावों का युग था, जो या तो श्याम से आये होंगे

[२१] कुमारस्वामी, चि० १७८।

[२२] वही, पृ० १७०।

[२३] बर्मी प्रभावों के लिए देखिए, साल्मनी, फलक १६। ख्मेर प्रभाव के लिए दे० फलक १५ (ए)।

[२४] वही।

[२५] ए० साल्मनी—स्कल्पचर इन स्याम, लन्दन, १९२५, पृ० २।

[२६] साल्मनी, २।

[२७] वही, ९।

[२८] साल्मनी, पृ० १४, फ० १०। जर्नल ऑफ़ द बाम्बे हिस्टॉरिकल सोसाइटी, भाग ३, पृ० १७३-८६।

या सीधे भारत से। चीनी ग्रन्थों में इसे 'फूनन' कहा गया है, और वहीं से हमें इसकी जानकारी प्राप्त होती है। इस भारतीय युग की प्रमुख कृतियों में बुद्ध की दो मूर्तियाँ हैं। इनमें एक तो बुद्ध का मस्तक है और दूसरी एक बैठी हुई बिना सिर की छोटी मूर्ति है। तत्कालीन एशिया के अन्य समृद्ध देशों द्वारा पद-दलित होने के पहले की तो ये कृतियाँ हैं ही। ये सब ता-क्यू के पास रोमलक की खुदाई से निकली हैं और उस कला की उदाहरण समझी जाती हैं जिसका आरम्भ-काल ईसा की छठी शती माना जाता है।[९] पहले बुद्ध-मूर्तियों को लीजिए। इनके सम्बन्ध में ऑसवल्ड साइरेन का कथन है : "केनम पेन्ह वाले संग्रहालय से इस धारणा को कोई प्रश्रय नहीं मिलता कि उत्तरी वी काल के अन्त की इन चीनी मूर्तियों और इनसे कुछ पहले की कृतियों में समानता है। उनमें जो प्रभाव लक्षित होते हैं, वे सिर से स्पष्ट नहीं हैं, और सम्भव है तत्कालीन न हों। एक बड़ी सुन्दर और कलात्मक छोटी आकृति हमें भारतीय कारीगरी की विशेष याद दिलाती है। इसका लम्बा, अण्डाकार सिर ऊपर दिये गये विवरण से मेल नहीं खाता, और चीनी शैली से तो इसका कोई सम्बन्ध नहीं दिखायी पड़ता। दोनों मूर्तियाँ आभंग मुद्रा में हैं, उनके वस्त्र बारीक और चिकने हैं। उनमें सिकुड़न बिलकुल नहीं दिखायी गयी हैं। ये बहुत कुछ बैंकाक-संग्रहालय की द्वारावती मूर्तियों के समान हैं। जिस स्थानिक शैली में इनका निर्माण हुआ है, उसका आरम्भिक श्यामी कला से अवश्य सम्बन्ध रहा होगा, किन्तु उनका ठीक उद्‌गम निश्चित करना मेरे लिए सम्भव नहीं।"[१०]

इन दोनों सुन्दर मूर्तियों के झीने वस्त्र में सिकुड़न या परत का अभाव है और संघाटी के छोर मूर्ति के दोनों ओर निकले हुए हैं। इनकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए आसवल्ड साइरेन ने दो बातें कही हैं। पहले तो उन्होंने मेरे इस सुझाव की पुष्टि की है कि श्यामी कला भारत द्वारा प्रभावित है। दूसरे, कम्बोडीय कला और उससे सम्बद्ध चीनी कृतियों पर भारत का क्या प्रभाव है, इसे उन्होंने स्पष्ट किया है। आनन्दकुमार स्वामी ने भी इन कृतियों की तुलना अजन्ता, गुहा १९ की पत्थर में कटी बुद्ध मूर्तियों से की है।[११] इसके सांस्कृतिक दाय का विवेचन मैं अन्यत्र कर चुका हूँ। मुझे बड़ा खेद है कि कुमारस्वामी ने बनारस और अजन्ता का सम्बन्ध स्थिर नहीं किया। फिर भी, यह सम्भव है कि श्याम और जावा ने अजन्ता और एलोरा से प्रेरणा ली हो, जिसका स्वरूप वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते थोड़ा बदल गया हो। इन दोनों बुद्ध-मूर्तियों और सारनाथ की बी (बी) ९ की तुलना अपेक्षित है।

उसी स्थान से भगवान् बुद्ध का एक बहुत सुन्दर मस्तक मिला है। इसमें उनके गाल भरे हुए, ओष्ठ कुछ लटके हुए और नेत्र अर्धोन्मीलित हैं।[१२] इस मस्तक के विषय में ओस्वल्ड साइरेन का कथन है : "अनेक विद्वान्, जिनमें कोड्स, ग्रॉसलियर वाशोफर आदि सम्मिलित हैं, इस मस्तक को अमरावती शैली के एक विशेष कँड़े के आधार पर बना मानते हैं। म्यूसी ग्वीमेट वाला संगमरमर का छोटा मस्तक ऐसा ही है। फिर भी इस बात को कोई अस्वीकार न करेगा कि आरम्भिक छठीं शती में निर्मित कम्बोज की यह कृति भारतीय कृति से बहुत भिन्न है। अमरावती वाले मस्तक की अपेक्षा यह अधिक पूर्ण एवं ज़ोरदार है। इसकी आँखें अधिक घनी, नाक चौड़ी तथा ओष्ठ अधिक गोल और लटके हुए हैं। इन विभिन्नताओं के कारण यह मस्तक बुद्ध के चीनी मस्तकों के अधिक समीप है जो छठीं शती के उत्तरार्ध के बाद से मिलने लगते हैं. . . .।"[१३] वस्तुतः अमरावती शैली से इसकी तुलना ठीक नहीं। इस सम्बन्ध में कुमारस्वामी का मत अधिक समीचीन है। उनके अनुसार इस पर मथुरा का प्रभाव है। किन्तु यहाँ मथुरा से तात्पर्य है गुप्त-कालीन मथुरा का जब कि भारतीय-शक शैली पर बनारस शैली का प्रभाव पड़ चुका था। यह जमालपुर वाली बुद्ध-मूर्ति से स्पष्ट है।[१४] जो हो, हमको यह देखना है कि रोमलक वाले बुद्ध-मस्तक की विशेषताएँ बनारस शैली में विद्यमान हैं या नहीं। बनारस के दो उदाहरण लीजिए—बी (बी) १० तथा १५१ ई०। इनमें वे सब विशेषताएँ मौजूद हैं जिनकी ओर साइरेन ने

[९] ग्रॉसलियर, 'ला कलेक्शन्स ख्मेर्स डु म्यूसी अलबर्ट सरौ', आर्स एशियाटिका, भाग १६।

[१०] ऑस्वल्ड साइरेन, 'स्टडीज आन चाइनीज आर्ट ऐंड सम इंडियन इन्फ़्लुएंसेज', पृ० ३४, चित्र ४९-५०।

[११] कुमारस्वामी—पृ० १८२।

[१२] वही, चित्र १००।

[१३] 'स्टडीज ऑन चाइनीज आर्ट ऐंड सम इंडियन ऐंड अदर इन्फ़्लुएंसेज' पृ० ३३-३४।

[१४] वोगेल, 'ला स्कल्पचर द मथुरा'।

संकेत किया है। आरम्भिक गुप्त सम्राटों की कला का विवेचन करते हुए अन्यत्र मैं बतला चुका हूँ कि आगामी शती में त्रिकोण सदृश ओष्ठ धनुष की तरह घूमे हुए ओष्ठ के रूप में बदल जायेंगे।[१५] यह विशेषता १५१ ई तथा ११० ई दोनों उदाहरणों में हम पाते हैं, जैसा कि हम बाद के गुप्त सम्राटों की कला में देखेंगे।

श्याम द्वारा विजित होने के पूर्व की प्राचीन मूर्तियाँ मलाया में बहुत कम हैं। फिर भी इनमें से कई बड़े महत्व की हैं। इनमें वींग-सा से प्राप्त रवादार पत्थर का बना एक बुद्ध-मस्तक है।[१६] इसकी आकृति, पीछे का अंडाकार पीठक एवं झीना वस्त्र सारनाथ संग्रहालय के बी (बी) ६ से बहुत साम्य रखता है। केवल बालों में अन्तर है। वींग-सा की विष्णु-प्रतिमा भी महत्व की वस्तु है। इसका केश-विन्यास रूमेर शैली से प्रभावित है। वस्तुतः यह कृति है बनारस वाली गुप्त परम्परा की।[१७] भारतीय प्रभाव के मलाया पहुँचने के दो मार्ग थे। पहला मार्ग स्थल का था जो बर्मा और श्याम के बीच से होकर जाता था। विष्णु की प्रतिमा इसी मार्ग की ओर संकेत करती है। दूसरा मार्ग समुद्र से था। बोर्नियो में अब तक प्राप्त मूर्तियों में सर्वश्रेष्ठ म्वारा कमन के समीप कोटा-बंगन नामक स्थान से मिली बुद्ध की धातु प्रतिमा थी। दुर्भाग्य से यह प्रतिमा १६३१ ई० वाली पेरिस प्रदर्शनी में, डच प्रतिष्ठान में आग लग जाने के कारण, जल कर नष्ट हो गयी।[१८] इसमें बुद्ध सीधे खड़े हैं। उनका दाहिना पैर किंचित् झुका हुआ है। वे स्वच्छ पारदर्शक वस्त्र पहने हैं। वस्त्र के कोर उठे हुए हैं। उनके मस्तक पर ऊर्ण नहीं है किन्तु पूरा सिर घुंघराली लटों से ढका है। उनके बायें हाथ में भिक्षा-पात्र है और दाहिना वितर्क मुद्रा में है। उनकी उँगलियाँ, बत्तख या चमगादड़ की उँगलियों की भाँति, आपस में मिली हुई हैं। 'जालबद्धांगुलि' गुप्तकालीन प्रतिनिधि मूर्तियों की विशेषता है। डा० मजूमदार का कथन है कि 'मलयेशिया में प्राप्त कोटा-बंगन वाली कांस्यमूर्ति ही एक ऐसा उदाहरण है जिसमें यह विशेषता पायी जाती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कलाकार ने इसकी प्रेरणा भारत से ग्रहण की थी।' भारत की जिस शैली का प्रभाव इस पर है वह उसके मस्तक और वस्त्र से स्पष्ट है, यद्यपि डा० मजूमदार ने इसका उल्लेख नहीं किया है। यहाँ वस्त्र में ग्रीक परम्परा वाली उभरी हुई बारीक सिकुड़न या लहर नहीं है, न मथुरा शैली की शक प्रभाव वाली संयोजित मुड़ान है जो बग़ल के नीचे पहुँच कर समाप्त हो जाती है और न गुप्त-कालीन मथुरा शैली अथवा पाटलिपुत्र शैली की वृत्ताकार रेखाएँ ही उस पर हैं। इसमें तो केवल संघाटी है जो शरीर को स्वाभाविक ढंग से इस प्रकार ढके है कि उसके प्रकृत उभार-दबाव निखर आये हैं। इस पद्धति में यथार्थता का अपूर्व सौन्दर्य रहता है, जो अतिरंजित शैलियों में नहीं मिलता। बनारस वाले गुप्त कलाकार इसी पद्धति का अनुसरण करते थे।

जावा का राजनीतिक एवं कला-विषयक इतिहास मध्य जावा तथा पूर्वी जावा में विभक्त है। भारतीय प्रभाव का युग हम मध्य जावा की कला-कृतियों में पाते हैं। पूर्वी कला अपनी स्थानीय शैली की ओर अधिक झुकी है, यद्यपि उसका आधार भी मध्य वाली अनुभूति ही है। मूर्तिकला में जावा का लोकप्रभाव "चन्दीस जागो, सुरवान तथा पनत्रान की विकृत, भद्दी एवं बेकेंड़ी उकेरियों (रिलीफ़)"[१९] से प्रकट है। मैं समझता हूँ कि उसकी इतनी कटु-आलोचना उचित नहीं। ऐसी आलोचना करके हम वही ग़लती करते हैं जो यूरोपीय विद्वानों ने यह कह कर की है कि भारतीय कलाकार केवल विकृताकृतियों का सृजन कर सकते हैं। प्रत्येक जाति को पूरा अधिकार है कि वह अपनी अनुभूतियों का अपने मौलिक ढंग से प्रकाशन करे। उसकी कला अपने वातावरण, विचार-धारा, रूढ़ियों एवं भौगोलिक अवस्था के अधीन रहेगी ही। संस्कृत अध्येताओं की भाँति, हमें भी इन क्षेत्रों में भारतीय प्रभाव देख कर परम प्रसन्नता होती है, किन्तु हमें यह भूलना न चाहिए कि यहाँ के निवासियों को भारतीय अनुभूति के आधार पर अपनी निजी कला निर्मित करने का भी पूरा अधिकार है। इस कार्य में उनकी सफलता या असफलता की जाँच हमें उन्हीं के दृष्टिकोण से करनी होगी, भारतीय दृष्टिकोण से नहीं। भारतीय प्रभाव वाले युग के बाहर की कला-कृतियों का मूल्यांकन हमें भारतीय कला के

[१५] डा० बी० सी० लाहा प्रेजेंटेशन ग्रन्थ पृ० ५०४—, चित्र पृ० ५०४ तथा ५०८ के सामने।

[१६] आर० सी० मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप', भाग २, फलक ७४—चित्र १।

[१७] वही, फलक ७३, चित्र १ तथा ३।

[१८] वही, फलक ७१, चित्र ३।

[१९] मजूमदार, वही, पृ० ३५२।

चित्र १ : बुद्ध (सारनाथ, १५० ई०)

चित्र २ : बुद्ध, बनारस शैली (बिहरौल, ज़िला राजशाही)
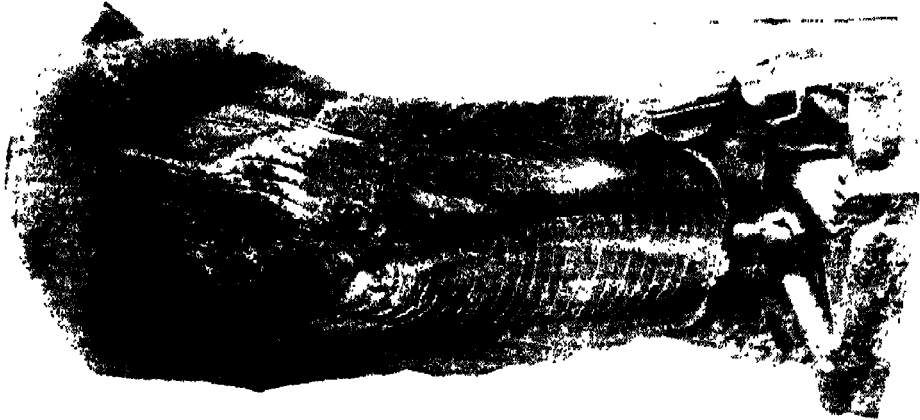
चित्र ३ : शीर्षहीन बुद्धमूर्ति
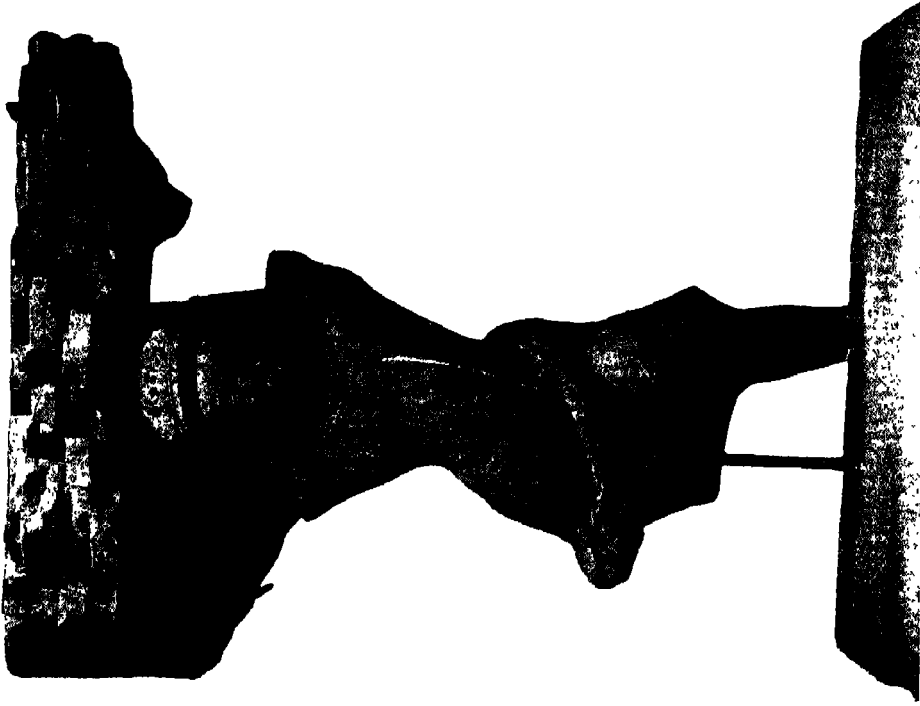
चित्र ४ : गोवर्द्धनधारी कृष्ण
(भारत कलाभवन, बनारस)

बनारस कला के प्रभाव
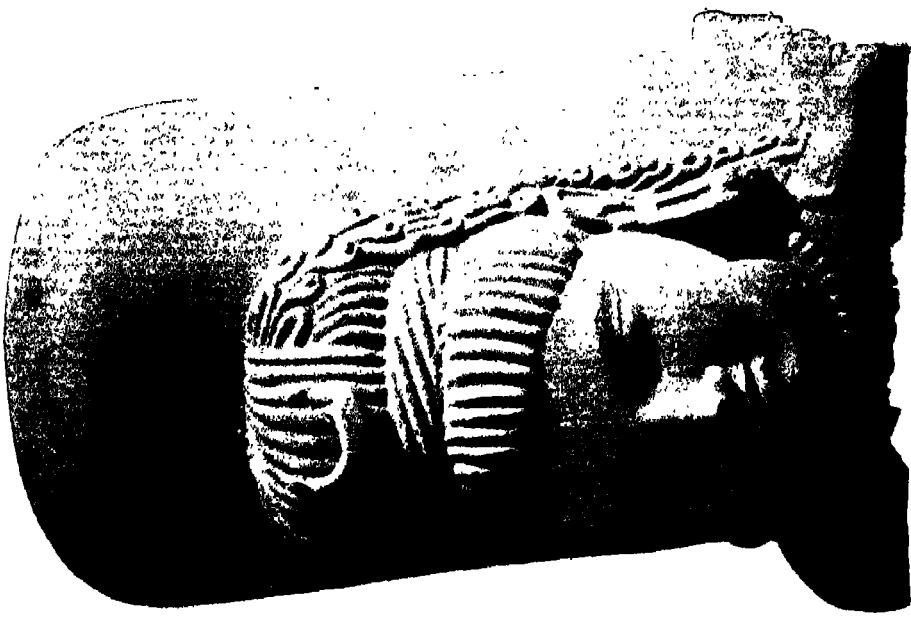
चित्र ५ : एकमुख-लिंग
(प्राप्तिस्थान--खोह। फ़ोटो--स्व० राखालदास बनर्जी)

[देखिये पृष्ठ ३५०-३६१

चित्र ६: बुद्धमूर्त्ति
(प्राप्तिस्थान मानकुँवर, इलाहाबाद)

चित्र १०: बोधिसत्त्व-पद्मपाणि

चित्र ८: मैत्रेय बोधिसत्त्व
(सारनाथ)
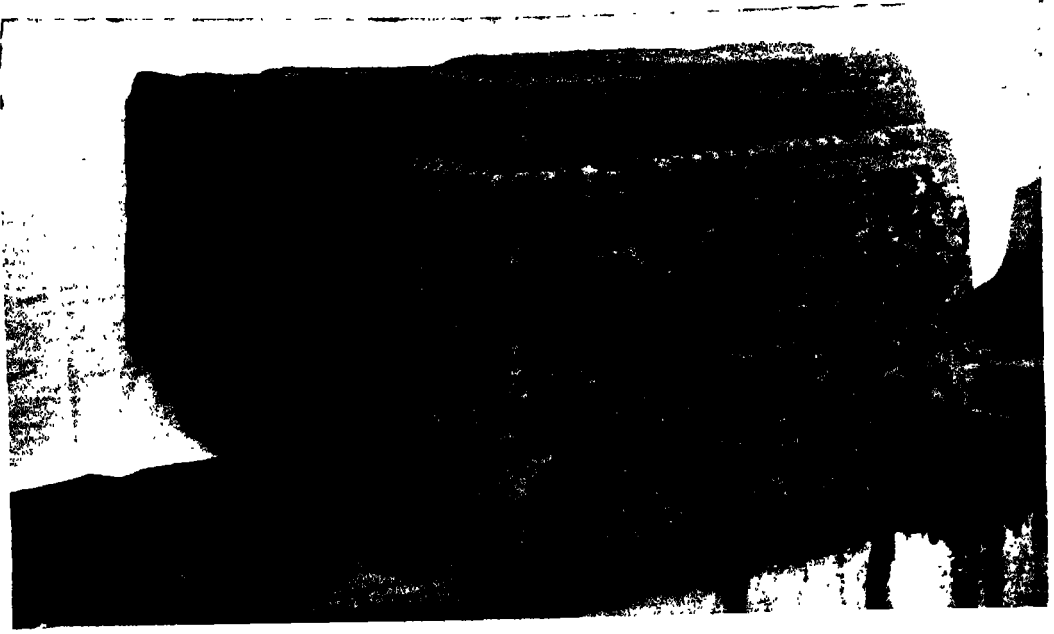
चित्र ९ : अलंकृत शिला-खंड, गुप्त शैली
(सारनाथ)

चित्र १० : कीर्तिमुख
(सारनाथ)

बनारस कला के प्रभाव
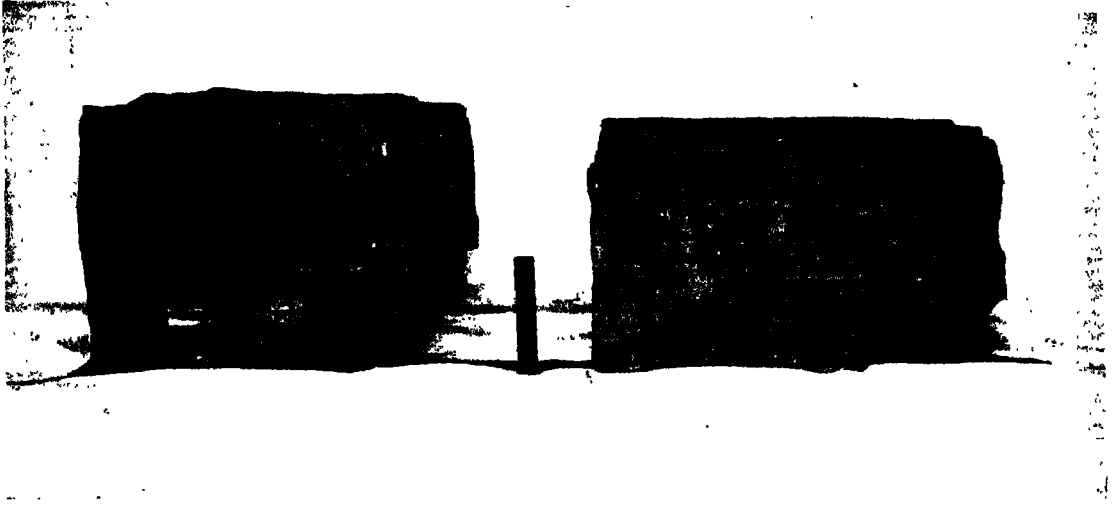
देखिये पृष्ठ ३५०–३६१]

चित्र ११ : (बायें) कीर्तिमुख। (दाहिने) सिंहमुख
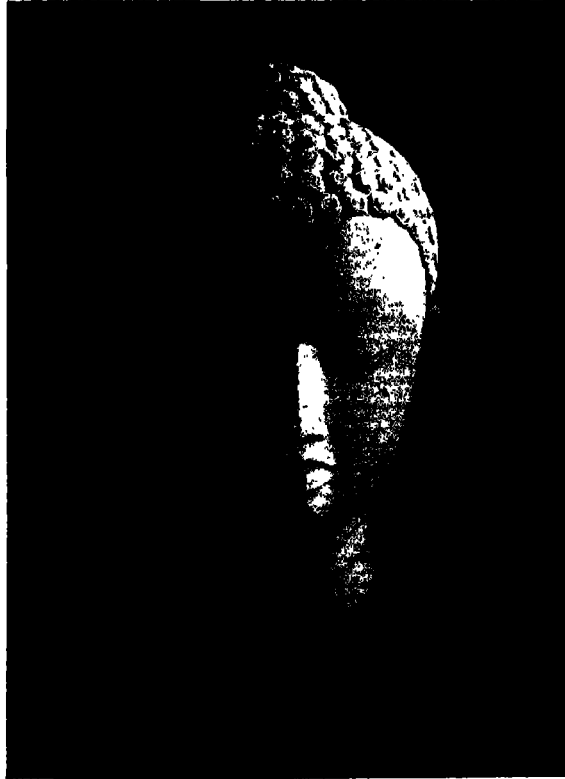
चित्र १२ : बुद्ध-शीर्ष (सारनाथ)

बनारस कला के प्रभाव

[देखिये पृष्ठ ३५०–३६१

मान-दण्ड से नहीं करना चाहिए, यद्यपि वहाँ का धर्म मूलतः भारतीय ही था। इन मूर्तियों एवं उकेरियों के ठीक-ठीक, वैज्ञानिक मूल्यांकन के लिए हमें आलोचना का नवीन मानदण्ड स्थिर करना होगा। इस लेख में हमारा अभीष्ट है मध्य जावा की कला का बनारस शैली से सम्बन्ध दिखलाना। इसका अध्ययन तीन शीर्षकों के अन्तर्गत उचित होगा : मूर्तियाँ, उकेरियाँ तथा आलंकारिक आभूषण।

मेरे विचार से बनारस शैली का सबसे अधिक सम्बन्ध संसार-प्रसिद्ध बोरोबदर की महती बुद्ध-प्रतिमाओं से है। इन मूर्तियों में भगवान् बुद्ध भूमिस्पर्श, ध्यान, वरदान या अभय मुद्रा में खड़े अथवा बैठे हैं। वे संघाटी पहने हुए हैं जो बायें कन्धे से लटकती हुई नीचे पैर तक पहुँच गयी है और इस प्रकार पुरानी रूढ़ि का पालन करती है। उनका सिर बाल की संयोजित लटों से आच्छादित है तथा मुख पर हल्की मुसकान है, जैसा हमने पहले-पहल सारनाथ संग्रहालय वाली सं० बी (बी) १८१ में देखा था। कण्ठ में घूमी हुई तीन रेखाएँ हैं। वस्त्र झीने हैं और उनमें वैसी मुड़ान या सिकुड़न नहीं है[40] जो पाटलिपुत्र या ग्रीक तथा शक प्रभाव वाली शैलियों की खास विशेषता है। बग़ल के समीप से वस्त्र घूमा हुआ नहीं है। इसके अभाव में इन शैलियों की कोई भी विशेषता पाना मुश्किल है। इन मूर्तियों की आकर्षक गढ़न, इनका भव्य सौन्दर्य एवं अलौकिक प्रभा स्वतन्त्र रूप से तथा संयुक्त रूप से इनका उद्गम बनारस शैली ही स्थिर करती हैं। इन्हें देख कर हमें कॉड्रिङ्गटन के ये शब्द स्मरण हो आते हैं : "गुप्तकला की बौद्धिकता की प्रशंसा तो हम करते हैं; किन्तु अधिक उपयुक्त यह होगा कि हम उसे उस प्राचीन भारतीय कला के स्वाभाविक विकास के रूप में देखें जिसमें आकार और स्वरूप का विशेष महत्त्व था। इसके साथ ही उस कला में, चेतन जगत् में परिव्याप्त संतुलन एवं ताल-लय का भी विशेष ध्यान रखा जाता था।"[41] सारनाथ एवं बोरोबदर के बारे में अकेले मेरा ही ऐसा मत नहीं है। डा० मजूमदार भी यही विचार रखते हैं।[42] चंडी मेंदूत की सुन्दर मूर्तियाँ भी बहुत आकर्षक हैं। ये मूर्तियाँ सम्भवतः जावा की कला में भारतीय प्रभाव का 'क्लासिकल' स्वरूप प्रदर्शित करती हैं। वे हमें केवल बनारस का ही नहीं, पश्चिमी घाट वाले गुहा-मन्दिरों का स्मरण भी कराती हैं। जैसा हम आगे विवेचन करेंगे, सिंहासन की सम्पूर्ण अलंकरण-योजना बनारस की गुप्त कला से ग्रहण की गयी है, या यों कहिए कि उससे नक़ल की गयी है। इन मूर्तियों में, बिना सिकुड़न वाले शरीर के चर्म से मिले हुए वस्त्र एवं इनकी शान और भव्यता देखकर हमारी दृष्टि बार बार बनारस कला की ओर जाती है जिसने अपनी आकर्षक सादगी के कारण सदा लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचा है।[43] लीडेन के संग्रहालय में एक कांस्य मूर्ति है जिस पर थोड़ा ध्यान देने की आवश्यकता है। इसमें बुद्ध झीना वस्त्र पहने सम्भवतः अभय-मुद्रा में खड़े हैं (उनकी भुजाएँ खंडित हैं)। संघाटी बायें कन्धे से लटकी हुई है, दाहिना कन्धा खुला हुआ है। वस्त्र में मोड़ या परत दिखलाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। गढ़न की सादगी एवं सौन्दर्य की रमणीयता में इसकी तुलना केवल बनारस की बुद्ध मूर्तियों से ही नहीं बल्कि बोस्टन संग्रहालय की उस मूर्ति से भी की जा सकती है जो, सुना जाता है, बरमा से स्थानान्तरित कर दी गयी है।[44]

जहाँ तक अलंकरण का सम्बन्ध है पुष्प-मालिकाएँ, कमल-दल तथा पल्लव गुप्त कला की सब शैलियों में विद्यमान हैं। उनका प्रदर्शन इतना सजीव है कि वे अपने मूल स्वरूप का सौष्ठव ज्यों का त्यों प्रदर्शित करते हैं। बोरोबदर में गुलाब की पंखुड़ियाँ, चक्र एवं बेलन की ज्यामितिक आकृतियाँ, तथा उनके बीच में काढ़ी हुई मानव एवं पशु आकृतियाँ देखकर हमें धमेक स्तूप के रमणीय अलंकरण का स्मरण हो आता है।[45] बोरोबदर, डींग और चंडी मेंदूत नामक स्थानों

[40] कॉह्न—'इंडीशे प्लैस्टिक', टैफेल १४८-४६; कार्ल विथ—'जावा', हेग, १६२०, चित्र २, ८-१२; क्रॉम—'इनलेडिंग टॉट डी हिन्दू-जावानीश कंस्ट', चित्र २८, ३२।

[41] कॉडरिंगटन—'एंशंट इंडिया', पृ० ६२।

[42] मजूमदार—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० २३५।

[43] कार्ल विथ—'जावा', चित्र ४० तथा ४१; कॉह्न—'इंडीशे प्लैस्टिक', २१, ३२-; क्रॉम—'इनलेडिंग टॉट डी हिन्दू-जावानीश कंस्ट', चित्र २१।

[44] कार्ल विथ—चित्र ८६; कुमारस्वामी—पूर्वोक्त पुस्तक, चित्र १५६।

[45] मजूमदार—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २३४।

में अन्य अभिप्राय हैं काल मकर, गौखों में बनी मानव आकृतियाँ, व्यालक-मकर सिंहासन, तथा मकरमुख पनालियाँ। चंडी बीमा वाले बुर्ज के ताखों में बनी मानव आकृतियों को लेकर विद्वानों में विवाद उठ खड़ा हुआ है। फर्गुसन इन्हें बुद्ध की आकृति समझते हैं और हैवेल इन्हें भीम मानते हैं। डा० वोगेल ने इन विचारों का खंडन किया है। यहाँ इस बात की ओर हम ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि यद्यपि ये अभिप्राय अपने मूल भारतीय स्वरूप के सर्वथा अनुरूप नहीं फिर भी देव-स्थानों के ऐसे अलंकरण का भारत में अभाव नहीं है। इस विषय में डा० मजूमदार का कथन है—

"हैवेल द्वारा की गयी इसकी अतिरंजित प्रशंसा से विरला ही सहमत होगा। किन्तु इतना तो कोई भी अस्वीकार न करेगा कि इन आकृतियों की गढ़न उत्कृष्ट कोटि की कारीगरी और कलात्मक कल्पना की परिचायक है। इन कलाकारों में भाव-प्रकाशन की अद्भुत क्षमता है। उनकी कृतियाँ सजीव और ओजस्वी हैं। उन्होंने ऐसी बहुत-सी आकृतियाँ प्रस्तुत की हैं जिन्हें हम शबीह और ख्याली देव-चित्रों के बीच की चीज कह सकते हैं। इनमें प्रकृत स्वाभाविकता का अभाव नहीं। साथ ही इन कृतियों में अलौकिकता और आदर्श आरोपित करने का प्रयत्न भी है। ये अंकन विशुद्ध भारतीय नहीं, फिर भी इनके मूल में भारतीय कला की परम्परा स्पष्ट झलकती है। कलाकार की भावना एवं पद्धति उतनी भारतीय नहीं जितनी प्रम्बनम और बोरोबदर की मूर्तियों में है, तथापि इस कला ने भारतीय कला के उत्कृष्टतम तत्वों और उसकी शैली को पूरी तरह ग्रहण किया है।"[४६]

सारनाथ में, गुप्तकाल में तथा उत्तर गुप्तकाल में, निर्मित अनेक इमारतों की शैली एवं रचना आज विवाद का विषय है, तथापि यह बहुत कम लोग जानते हैं कि उनमें अलंकरण की एक खास विशेषता है—ताखों में मस्तकों का बना होना। ख्याल है कि इनकी रचना इमारत के आगे की दीवाल में छज्जों के रूप में होती थी। सम्भव है, इनका मूल प्रयोग चंडी भीमा के बुर्ज में हुआ है क्योंकि इन में से अनेक इतनी छोटी हैं कि वे छोटे बुर्ज में भली भाँति फब सकती हैं। उपरोक्त आकृतियाँ हैं सारनाथ संग्रहालय की सं० डी० (आई) १२, १५, १३०/१४-१५, १५२/१४-१५।[४७] इनमें से कइयों को लोग भगवान् बुद्ध का मस्तक समझते हैं। किन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि बौद्ध संघ बुद्ध-प्रतिमा की इतनी अप्रतिष्ठा किस प्रकार स्वीकार कर सकता था। जिस स्थान पर भगवान् की पूजा हो वहीं पर उनकी आकृति अलंकरण के मुख्य अभिप्राय के रूप में बनायी जाय यह कैसे हो सकता है? एक बात और। सारनाथ संग्रहालय की सं० १३०/१४-१५ को उसकी ओजस्वी बनावट एवं अन्य विशेषताओं के कारण हम बुद्ध का मस्तक नहीं मान सकते।[४८] 'काल-मकर' वाले अभिप्राय के बारे में डा० जे० पी० वोगेल का कथन है: "इन द्वारों की सबसे प्रमुख विशेषता है द्वार के ठीक ऊपर बनी एक महत् आकृति जो काल नामक भयानक देवता का स्वरूप समझी जाती है. . . .।"[४९] यह आकृति हम पवॉन, कालसन, पोयन्तदेव, बोरोवदर आदि कई चंडियों के द्वार पर पाते हैं। इस बात की ओर कई विद्वानों ने संकेत किया है कि इसका मूल सिंह-मस्तक वाला भारतीय अभिप्राय है जो गुप्त परम्परा के प्रभाव के कारण वहाँ पहुँचा था। किन्तु इसे निश्चित रूप से किसी ने सिद्ध नहीं किया है। इतना मैं कहूँगा कि ऐसा करना युक्तिसंगत न होगा, क्योंकि अलंकरण के लिए इसका प्रयोग समस्त भारत में गुप्त कलाकारों द्वारा होता था। मूँछवाले सिंह-मस्तक सारनाथ संग्रहालय की संख्या डी (आइ) २१, ५२ और ५४ में मिलते हैं। साथ ही, सं० डी (आइ) ६१ में हम गुप्त-काल के कई सुन्दर मस्तक पाते हैं। जो हो, जावा में प्राप्त मूँछ-दार कीर्तिमुखों का सबसे अधिक सादृश्य मुंगेर ज़िले के राजौना नामक स्थान से प्राप्त एक स्तम्भ में है। इस स्तम्भ में अर्जुन की तपस्या का दृश्य खचित है।[५०] चंडी मेंदूत की आकृतियों के सिलसिले में डा० वोगेल का अलंकरण के लिए उत्कीर्ण सिंहासनों के

[४६] मजूमदार, वही, पृ० २३२।

[४७] साहनी—कैटलाग।

[४८] 'चंडी भीमा' के मस्तकों के लिए देखिये एन० जे० क्रॉम—चित्र २; कॉह्न—१६२; कार्ल विथ—चित्र ५७-५६ इस लेख में प्रकाशित चित्र सं० ११ भी देखिए।

[४९] 'द इन्फ्लूएंसेज ऑफ़ इंडियन आर्ट', लन्दन, १६२५, पृ० ६०; कार्ल विथ—चित्र ५।

[५०] आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, वार्षिक रिपोर्ट, १६११-१२, चित्र ७३-७५ अथवा 'द एज ऑफ़ द इम्पीरियल गुप्तज', चित्र ३०-३३।

बारे में कथन है कि "ये प्रतीक भारतीय कला से ग्रहण किये गये हैं। जिस सिंहासन पर भगवान् बुद्ध आसीन हैं उनके अलंकरण के ब्योरे भी वहीं से लिये गये हैं। इनमें कनखियों से देखते हुए हाथी के ऊपर व्यालक बने हैं। व्यालक के सहारे पीठक का सिरदल, जो दो मकर मस्तकों से अलंकृत रहता है, स्थित होता है।"[५१] सारनाथ संग्रहालय के बी (बी) १८१, बी (सी) २ तथा अन्य सैकड़ों मूर्तियों की अलंकरण-योजना से इनकी तुलना करने पर बनारस तथा जावा की कला का सम्बन्ध अधिक प्रकट होने की सम्भावना है। बोरोबदर वाली मकराकृत पनाली भी मेरे विचार से सारनाथ वाली आकृति के अनुरूप है, यद्यपि इसका प्रचार दक्षिण भारत में भी बहुत अधिक था।[५२] बनारस की गुप्त कला से जब यहाँ इतना साम्य मिलता है तो यह कहना, कि यह अलंकरण आरम्भिक चोल कला से ग्रहण किया गया है, ठीक नहीं प्रतीत होता। इन दो उदाहरणों की ओर विद्वानों ने काफ़ी ध्यान दिया है। मैंने इनके अतिरिक्त और कई समानताएँ खोजी हैं किन्तु यहाँ मैं केवल एक की ओर ध्यान आकृष्ट करूँगा। यह अद्भुत साम्य हम सारनाथ वाली सं० डी (१) ४, ८५, ९१ तथा विकृत अर्ध-मानव मस्तक 'लार जौंगरंग' की बनावट में पाते हैं।[५३]

अन्त में चीन को लीजिए। प्राचीन भारत में यह देश महाचीन के नाम से लोक-विदित था। भारतीय प्रभाव के यहाँ पहुँचने के कई मार्ग थे। भारत और चीन के व्यापारिक सम्बन्ध के प्रमाण मिले हैं। इस विषय में ऑसवल्ड साइरेन का कथन उल्लेखनीय है। "बुद्ध धर्म को जन्म देनेवाला देश मध्य प्रदेश से बहुत दूर था। एक स्थान से दूसरे की यात्रा बहुत कठिन थी। यात्रा के लिए उस समय दो मार्ग थे। एक तो दक्षिण से जल-मार्ग था जो हिन्द चीन के तट से होकर जाता था और दूसरा उत्तर से काफ़िलों वाला मार्ग था। इस मार्ग से जाने वालों को गोबी का मरुस्थल और मध्य एशिया पार करना पड़ता था। चूँकि इन प्रदेशों में बौद्धकला चीन से पहले ही पहुँच चुकी थी अतः यह स्वाभाविक था कि चीन पहुँचने तक उसने एक ऐसा रूप धारण कर लिया जो नितान्त भारतीय नहीं। जहाँ तक आधारभूत भावना और प्रतिमा-लक्षण का संबन्ध है, उनमें परिवर्तन नहीं हुआ; किन्तु कलात्मक अभिव्यक्ति में प्रत्येक देश की अपनी विशेषता है। यह अभिव्यक्ति उस राष्ट्र की सर्जना शक्ति और दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रभावित है। ऐसा प्रतीत होता है कि चीन वालों ने बौद्ध मूर्तियों के शास्त्रीय पक्ष में उतनी दिलचस्पी नहीं ली जितनी उनकी कलात्मक अभिव्यंजना में।"[५४] चीनी कला में भारतीय स्वरूप का अनुसन्धान करते समय निम्नलिखित तत्त्व सामने आते हैं—(१) चीन की अपनी लम्बी यात्रा में भारतीय कला पर बीच-बीच में पड़ने वाले प्रभाव। मध्यवर्ती देशों में बसने वाली जातियों की पृथक् सौन्दर्य-अवधारणाओं के कारण ये प्रभाव अवश्यम्भावी थे। (२) इन देशों की संस्कृति, विशेषकर अफ़ग़ानिस्तान, मध्य एशिया और पामीर की मिश्रित संस्कृति। (३) वहाँ की मूल कला का स्वरूप तथा उसकी अन्य कलाओं से ग्रहण करने की प्रवृत्ति। इन्हीं कारणों से विशुद्ध भारतीय अभिप्राय नहीं मिलते और सबसे अधिक प्रभाव तथाकथित ग्रीक शैली का मिलता है। इस विषय में लेंग्डन वार्नर का यह कथन है, "इस थोड़े-से समय में, भारत से प्रशांत बौद्ध धर्म मध्य एशिया होता हुआ किस प्रकार चीन पहुँचा, इस पर विचार करना समीचीन होगा। हमें मूर्तियों की आकृति के अध्ययन से यह भी देखना है कि किस प्रकार अफ़ग़ानिस्तान और सीमाप्रान्त में इसका अन्त हुआ। क्योंकि इसी प्रदेश में बौद्ध मूर्तियों के बहिःस्वरूप में अर्ध-पश्चिमी जातियों का क्षीण प्रभाव पड़ा जिसके कारण उनका सारा प्रतीकत्व लुप्त हो गया। इससे उसका प्रक्षालन क्रमशः होता रहा। ग्रीक कला का रचना-चातुर्य और अपूर्व सौन्दर्य अपटु जातियों की कला में सच्चा नहीं उतर सकता था। जब स्वयं रोमवाले उन्हें नहीं ग्रहण कर सके तो फिर अनिश्चित पूर्वजों वाले संगतराशों के लिए तो यह और भी मुश्किल था, जो बौद्ध प्रतिपालकों की सेवा में तथा सिकन्दर द्वारा छोड़े क्षत्रपों की अधीनता में रहते थे......।

[५१] 'द इन्फ्लुएंस ऑफ़ इंडियन आर्ट', पृ० ६५-६६।

[५२] तुलना के लिए देखिए साहनी वाले कैटलाग में प्रकाशित डी (आई) १०७-११४ (पृ० २६०-६१), तथा कार्ल विथ की पुस्तक का चित्र ३। जावा वाली कृति में पनाली पर केवल नक़्क़ाशी अधिक घनी है। साथ ही, आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, वार्षिक रिपोर्ट, १९०३-४, पृ० २२७-३१ भी देखिए : "काल-मकर वाले अलंकरण का उद्गम निस्सन्देह भारतीय कला है, यद्यपि इसका स्वरूप स्थानीय परम्परा और विकास से प्रभावित है।" (वोगेल, पृ० ६२)।

[५३] एन० जे० क्रॉम, पूर्वोक्त पुस्तक, चित्र ३८; कार्ल विथ, चित्र ६१।

[५४] ऑसवल्ड साइरेन, 'स्टडीज़ ऑन चाइनीज़ आर्ट ऐंड सम अदर इन्फ़्लुएंसेज़', पृ० २२-२३।

हजार में एक ही नमूना वास्तविक कारीगरी का मिलता है। ऐसे विरले ही उदाहरण मिलते हैं जिनके अप्रतिम सौन्दर्य में वह अपार्थिव तत्त्व निहित हो जो कलाकार के हृदय में उद्भूत परब्रह्म के स्वरूप की झाँकी करा सके।"[५५]

मैं समझता हूँ कि यह उद्धरण मेरे मत को स्पष्ट कर देता है। इस विषय की प्रत्येक छोटी-बड़ी बात को बार-बार दुहराने की अपेक्षा यह अधिक उपयुक्त होगा कि हम अपने मत को पुष्ट करने वाली एक एक बात लें और उन पर पृथक्-पृथक् विचार करें। किसी भी चीनी मूर्ति में आप मथुरा वाली ग्रीक और शक शैलियों का बहुत अधिक प्रभाव पावेंगे। यह बामियन वाले वस्त्र-विन्यास के सिद्धान्त से स्पष्ट है जिसे साइरेन ने स्वीकार किया है। किन्तु मेरे ख्याल से साइरेन महाशय उसका वास्तविक मूल निश्चित नहीं कर पाये हैं। मेट्रोपोलिटन संग्रहालय (न्यूयार्क) की कांस्य मूर्तियों में[५६] वस्त्र की मुड़ान या सिकुड़न का जिक्र करते हुए साइरेन ने स्व० जे० हैकिन महोदय के कथन की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। अफ़ग़ानिस्तान अभी तक अभेद्य ही रहा है किन्तु हैकिन ने वहाँ का गहन अध्ययन करके भारतीय, ग्रीक और ससानीय कला पर यथेष्ट प्रकाश डाला है।[५७] इस सिद्धान्त के अनुसार वस्त्र को वृत्ताकार परतों में दिखाने की पद्धति बामियन से ग्रहण की गयी है।[५८] जहाँ तक चीनियों का सम्बन्ध है, मेरे ख्याल से साइरन का मत ठीक है, क्योंकि यह पद्धति पहले पहल मथुरा में आरंभ हुई और फिर वहाँ से बामियन पहुँची।[५९] हैकिन महाशय बैग्राम में प्राप्त हाथीदाँत की चीजों पर मथुरा वाली शक शैली का प्रभाव पहले ही दरसा चुके हैं।

मथुरा शैली के प्रभावों और पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं। अब हमें तुमचुक से प्राप्त काष्ठ मूर्ति पर ध्यान देना है जो लड़ाई के पहले बर्लिन संग्रहालय में थी। तुन-ह्वांग की १११वीं गुफा वाली बुद्ध मूर्तियों पर भी दृष्टिपात करना है। इनके सादे, शरीर से चिपके हुए वस्त्र के बारे में साइरन ने अपना मत प्रकट किया है।[६०] तुमचुक वाली मूर्ति में भगवान् बुद्ध ध्यान-मुद्रा में बैठे हैं। उनका वस्त्र इतना झीना है कि नाभि तक दिखलायी पड़ती है। किन्तु इतनी लम्बी यात्रा में मूल परम्परा का स्वरूप बदल जाने के कारण उनका वस्त्र पैरों को भी ढँके है (जो एक ठंडे देश के लिए उपयुक्त ही है)। अतः यह निश्चित नहीं जान पड़ता कि मूर्ति पद्मासन में है या नहीं। दूसरा अन्तर यह है कि इसका मस्तक मुंडित है। संभव है, वह मानकुँवर वाली मूर्ति की भाँति किसी प्रकार की टोपी हो। दोनों कन्धे वस्त्र से ढके हैं। वस्त्र का एक छोर दूसरे छोर को मूर्ति की दाहिनी ओर ढके है। उसके कोर पर सारनाथ संग्रहालय के १७८ ई तथा अन्य उदाहरणों की भाँति समानांतर लहरिया रेखाएँ बनी हैं। संघाटी का निचला छोर हथेली के नीचे समकोण चतुर्भुज के आकार में है। इस प्रकार वह गुप्त मूर्तियों एवं उनकी प्रतिकृतियों से भिन्न है, क्योंकि उनमें वही चीज पंखे के आकार में रहती है।[६१] जैसा हम पहले कह चुके हैं, ये भेद मूर्तिकला में यात्राजन्य परिवर्तन के कारण उत्पन्न हुए।

भारतीय अभिप्रायों का चीन में दूसरा उदाहरण हम मीन-चू (ज़ी-च्वां) की बैठकियों के अलंकरण में पाते हैं।[६२] एम. सीगेलन के मतानुसार इनका मूल यून-कुंग और लुंग में की वाई कला में है। विलियम काह्न ने सर्वप्रथम बतलाया कि चीन की सातवीं शती वाली बुद्ध कला भारतीय अतीत के गौरवपूर्ण युग गुप्त काल से सबसे अधिक प्रभावित है।[६३] एच०

[५५] एल० वार्नर, 'स्टडीज ऑन चाइनीज आर्ट ऐंड सम अदर इन्फ़्लुएंसेज' में 'ऐन एप्रोच टू चाइनीज स्कल्पचर', पृ० ४१।

[५६] साइरेन, पूर्वोक्त पुस्तक, चित्र २८।

[५७] 'ईस्टर्न आर्ट', भाग १, संख्या २; हैकिन के अन्य प्रकाशनों के लिए देखिए—'नोवेल्स रिसर्चेस आर्कियोलाजिक अ बामियन', पेरिस, १९३३।

[५८] साइरेन, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २५।

[५९] देखिए—लखनऊ संग्रहालय की सं० ओ ७१ तथा जमालपुर वाली बुद्ध प्रतिमा।

[६०] साइरेन, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २८।

[६१] वॉन ला कॉक, 'बुद्धिस्टीश स्पेटमाइक', भाग १, चित्र ४२; साइरेन, पूर्वोक्त पुस्तक, चित्र ३२।

[६२] 'प्रीमियर डी रिजल्टेट्स आर्कियोलाजिक आबटेनस डान्स ला चाइना औक्सिडंटल पार ला मिशन', जिलबर डी वोयजिन्स आदि (१९१४), पृ० ३६१।

[६३] विलियम काह्न—'इंडीशे प्लैस्टिक', बरलिन, १९२२, पृ० ३१-३५।

एफ़० ई० विस्सर ने भी इनके उद्गम पर विचार किया है और एम० सीगेलन से उनका भी मतैक्य नहीं।[६४] इन गौखों के बीच में बुद्ध की एक मूर्ति बनी है। यह सारनाथ वाली उन बुद्ध-मूर्तियों की भाँति है जो उनके जीवन की कोई एक घटना प्रदर्शित करती हैं। ये मूर्तियाँ पत्तियों के ऊपर पुष्पित कमलासन पर आसीन हैं। कमल के ठीक नीचे सिंह-मस्तक एवं उसके अगले पंजे बने हैं। बुद्ध के दोनों ओर परिचर्या करते हुए बोधि-सत्व बने हैं। बनावट एवं प्रकृति में यह समूची कृति, विशेष-कर सिंह एवं उसके पंजे, आमूल भारतीय हैं। वास्तव में, मिस-क्ली के मत को अस्वीकार करना असम्भव है।[६५] इनकी पत्तियाँ रूढ़ि-गत हैं, तथापि वे हमें द्वितीय कुमार गुप्त एवं बुधगुप्त के समय में बनी मूर्तियों तथा धमेक की याद दिलाती हैं। किन्तु सबसे अधिक आकर्षण की वस्तु है सिंह एवं उसके पंजे। यह सच है कि इसकी आकृति सिंह की अपेक्षा व्याल के अधिक निकट है किन्तु मेरे विचार से वे लोग, जिन्होंने चीनी कला में 'बोग्राज-कोइ' सिंह के स्वरूप-परिवर्तन के बारे में साइरेन वाले कथन का अध्ययन किया है, इस बात को स्वीकार करेंगे कि उसकी उत्पत्ति बनारस कला से हुई है। बनारस शैली में ही हम चैत्य की खिड़कियों में बने वृत्ताकार गौखों में इस प्रकार के सिंह एवं पंजे पाते हैं। गुप्तकला की किसी अन्य शैली में इस अभिप्राय का इतना व्यापक प्रचलन नहीं मिलता[६६] सिंह-मुख तो अवश्य समूचे भारत में प्रचलित था किन्तु अगले पंजों के सहित सिंह का प्रदर्शन बनारस शैली की विशेषता थी। श्री टी० एन० रामचंद्रन को यह अभिप्राय बंगाल के त्रिपुरा ज़िले में मैनामती के भग्नावशेष में मिला है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह अभिप्राय बर्मा और स्याम के रास्ते चीन पहुँचा था। यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि यह अभिप्राय बंगाल में और कहीं नहीं मिला है। सम्भव है कि काह्ल का मत अधिक समीचीन न प्रतीत हो, किन्तु इसके कारण मेंन-चू और बनारस कला के निकट सम्बन्धों का अध्ययन करने में कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए।

मई १९४९

[६४] 'द इन्फ़्लुएंसेज ऑफ़ इंडियन आर्ट,' पृष्ठ १०५, लन्दन, १९२५, चित्र ४।

[६५] वही, पृ०, १०६।

[६६] ये हैं, डी (आइ) १, २१, ५२, तथा ११/१-१२/११।
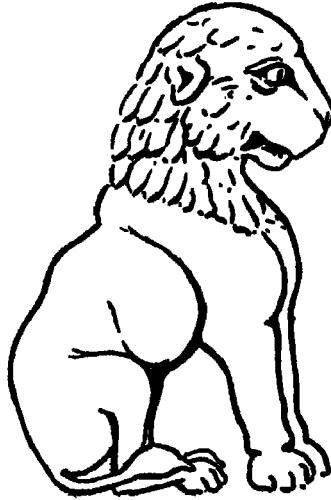
आन्ध्र प्रदेश के बौद्ध केन्द्र

वारणासि राममूर्ति 'रेणु'

यदि वैशाली की पवित्र भूमि भगवान् गौतम की क्रीड़ास्थली और धर्म-प्रवर्तन का प्रधान केन्द्र मानी जावे, तो आन्ध्र प्रदेश की अंगुल-अंगुल जमीन बौद्ध धर्म को पाल-पोस कर विश्व-धर्म में परिणत करने के समस्त श्रेय का अधिकार रखती है। वास्तव में अब तक उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणों के बल पर विचार करें तो यह सिद्ध होता है, कि आन्ध्र आचार्यों तथा प्रचारकों के मनोयोग, अध्यवसाय और लगन ही उस धर्म के अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए उत्तरदायी रहे हैं। मौर्य साम्राज्य के पतन के दिनों में राजाश्रय के कम होने के साथ-साथ ब्राह्मण धर्म के उत्थान के कारण बौद्ध धर्म अवसन्न दशा को पहुँचने लगा। उसके विहारों का वातावरण धीरे-धीरे कलुषित होता गया। बौद्ध भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों में अनाचार प्रबल होने लगा। चरित्रहीनता तथा नैतिक पतन आदि विषैले कीड़े संघ-जीवन में घुस कर भीतर ही भीतर से उसे खोखला बनाते गये। समय तथा परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ धर्म के रूप में भी ऐसे परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव होने लगी जो कि नूतन लोक-रुचि के साथ मेल रखता हो, और अपनी उदार परिधि के भीतर भ्रान्त जनता को स्थान देकर ठीक-ठीक दिशा-दर्शन कर सकता हो। धार्मिक क्षेत्र में, मालूम पड़ता है, दो प्रकार के मनस्तत्त्व, उस समय, काम करने लगे थे। प्रथम पक्ष वाले पुरानी लकीर के फ़क़ीर बनकर गौतम के प्रवचनों की व्याख्याओं को रूढ़ परम्परा के अनुकूल ही बनाये रखने के पक्ष में थे। उनमें जौ भर का भी परिवर्तन उन्हें इष्ट न था। दूसरे दलवाले उनकी अपेक्षा अपनी दृष्टि अधिक उदार बनाकर नूतन परिस्थितियों तथा लोक-रुचि के अनुरूप उन प्रवचनों की पुरानी व्याख्या में संशोधन की जरूरत अनुभव करने लगे। ऐसी दशा में साधारण जनता का दूसरे दल का समर्थन करना सहज था। प्रथम पक्षवालों के अनुसार, अपना सर्वस्व त्यागकर 'विनय', 'सुत्त' तथा 'अभिधम्म' नामक त्रिपिटकों की पूर्ण-ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा 'अर्हत' पद पानेवाला साधक ही निर्वाण-प्राप्ति का अधिकार रखता था। फिर उस मार्ग के नियम इतने जटिल और कठिन रहते थे कि साधारण जनता उनका पालन नहीं कर पाती थी। कुछ पहुँचे हुए साधकों की साधना के बल पर संघ का भी उद्धार हो सके, इसकी गुंजायश उसमें न थी। अतः लोगों की, ऐसे धर्म के प्रति, आस्था घटती गयी। ऐसे लोगों का दल 'अर्हतयान' या 'हीनयान' कहलाने लगा।

दूसरे पक्षवालों के अनुसार, अपना सर्वस्व त्याग किये बिना ही गृहस्थी में रह कर सत्य, अहिंसा, दया, प्रेम, लोक-कल्याण आदि बौद्ध सिद्धान्तों के अनुसार चलनेवाला व्यक्ति, चाहे वह कोई भी हो, निर्वाण पा सकता था। इसे 'महायान' शाखा कहते थे। इसी शाखा ने अगाध बौद्ध दर्शन को जन्म दिया; कायत्रय सिद्धान्त का निर्माण किया। हीनयान के अनुसार जहाँ धर्म, बुद्ध और संघ ये तीनों चरित्र यानी धर्म की प्रधानता के कारण शरण्य बने, वहाँ दूसरी ओर महायान में वे बुद्ध की प्रधानता के कारण शरण्य बने, और बोधिसत्त्वों के आदर्श का महत्त्व संघ-जीवन में प्रतिष्ठित हो गया। भगवान् बुद्ध के अलावा, उन्हीं की तरह मानव-कल्याण तथा समस्त प्राणियों के निर्वाण के हेतु जीवन अर्पण करने वाले, कुछ अन्य साधु भी जनता के लिए आराध्य बने। ये महात्मा अपने वर्तमान जन्म में अथवा भविष्य जन्म में बुद्धत्व को प्राप्त हो जायेंगे। ऐसे व्यक्ति बोधिसत्त्व कहलाते थे जिनकी कृपा-दृष्टि के बिना साधारण प्रजा का उद्धार असम्भव माना जाता था। ये बोधिसत्त्व , भक्तों के वशवर्ती बन कर, उनके निर्वाण में सहायक बनते थे। इस प्रकार भगवान् बुद्ध के अतिरिक्त अन्य देवताओं की आराधना का महत्त्व बढ़ा। यही कारण है कि महायान 'बोधिसत्त्वयान' भी कहलाता था। 'अवलोकितेश्वर' और 'मंजुश्री' इन में प्रसिद्ध माने जाते थे।

आन्ध्र प्रान्त में महायान शाखा का पूर्ण विकास 'माध्यमिकवाद' के नाम से हुआ था। इस वाद के प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन माने जाते हैं। कुछ पंडितों के अनुसार महायान शाखा के भी यही स्रष्टा माने जाते हैं। किन्तु अशोक के समय तृतीय 'बौद्ध संगीति' के उपरान्त आन्ध्र देश में भेजे गये महादेव भिक्खु—चैत्यकवाद के जन्मदाता—के हाथों ही इस शाखा का

श्रीगणेश हुआ था, ऐसा भी एक मत है। चाहे जो भी हो, यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि आर्य नागार्जुन का समय ही महायान के विकास का मध्याह्न काल रहा। इन आचार्य के निवास-स्थान तथा समय को लेकर पुरातत्त्व के पंडितों में अभी मतैक्य नहीं हो पाया है। कुछ लोगों के अनुसार ईसा के पूर्व प्रथम शतक, दूसरों के अनुसार ईसा के बाद द्वितीय शतक, इनका जीवन-समय माना जाता है। किन्तु इन दोनों में दूसरे मतवालों का अनुमान ही समीचीन लगता है। फिर नागार्जुन नामक दो-तीन व्यक्ति भी रहे, ऐसा भी एक मत है। मगर 'माध्यमिकवाद' के प्रतिपादक नागार्जुन का वासस्थान आन्ध्र-प्रान्त का कृष्णा-तीरस्थ 'श्रीपर्वत' या 'श्रीगिरि' था, ऐसा वहाँ पर उपलब्ध शिला-लेखों के बल पर प्रमाणित हो गया है। आजकल 'नागार्जुन कोंडा' नाम से व्यवहृत पर्वत दुर्ग ही 'श्रीपर्वत' था। यह स्थान गुन्टूर जिले की 'माचर्ला' बस्ती से १५ मील दूर, कृष्णानदी के किनारे पर है। तत्कालीन आन्ध्र महाराजा 'सातवाहन' इन नागार्जुन के बड़े भक्त थे। प्रसिद्ध चीनी यात्री 'ह्युयन् संग्' के अनुसार इन्हीं राजा ने इन आचार्य के लिए मशहूर अमरावती स्तूप का जीर्णोद्धार कराया था और 'श्री-गिरि' के पास कुछ विहारों का निर्माण भी करा दिया था।

आचार्य नागार्जुन का जिक्र 'महावंश', 'बृहत्कथा', 'कथा-सरित्सागर', 'सिद्धविनोदन' और 'राजतरंगिणी' नामक अनेक ग्रन्थों में पाया जाता है। सभी ग्रन्थ इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा एवं अलौकिक शक्तियों की प्रशंसा करते हैं। बौद्ध-दर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रज्ञापारमिताओं की रचना इन्हीं के हाथों हुई थी। 'सुहृल्लेखा' नामक एक संस्कृत काव्य में इन्होंने भगवान् बुद्ध की जीवनी का अत्यन्त रोचक वर्णन प्रस्तुत किया था। मूल ग्रन्थ इस समय अप्राप्त हैं, किन्तु तिब्बत तथा चीनी भाषाओं में उसके अनुवाद हो गये हैं। सुना जाता है कि इसका एक अनुवाद अंग्रेजी में भी हुआ है।

हम प्रारम्भ में कह आये हैं, कि बौद्ध धर्म को विश्व-धर्म के रूप में बदलने का बहुत सारा श्रेय आन्ध्र देश को प्राप्त होता है। उस धर्म की लोकप्रिय तथा वर्तमान समय में जीवित शाखा 'महायान' का प्रचार चीन, बरमा, लंका, जावा आदि बाहरी देशों में आन्ध्र भिक्षुओं के ही द्वारा हुआ था। अमरावती, घंटसाला (कंटक शैल), जग्गय्यपेटा, नागार्जुन कोंडा, भट्टिप्रोलु आदि स्थान उन कर्मठ प्रचारकों के प्रधान केन्द्र रहे। यों तो दक्षिण भारत भर में, सम्राट् अशोक के शासन-काल से ही, अकेले आन्ध्र प्रान्त ने इस धर्म को अपना लिया था और इसके प्रचार तथा विकास का अथक प्रयत्न किया। डाक्टर पी० ब्राउन साहब कहते हैं कि कृष्णा, गोदावरी नदियों के बीच पूर्वी समुद्री किनारे वाले प्रदेश को छोड़, समूचे दक्षिण में और कहीं भी बौद्ध धर्म ने अपनी अमिट छाप नहीं छोड़ी थी।[1] अब यहाँ संक्षेप में उन प्रधान स्थानों का उल्लेख किया जायगा, जो आन्ध्र प्रान्त में बौद्ध धर्म के शक्तिशाली केन्द्र रहे थे। गुंटुपल्ली, संकराम, जग्गय्यपेटा, घंटसाला, भट्टिप्रोलु, अमरावती, नागार्जुन कोंडा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पुरातत्त्व की दृष्टि से विचार करने पर आन्ध्र प्रान्त के बौद्धक्षेत्रों में प्राचीनतम 'गुंटुपल्ली' तथा 'संकराम' निकलते हैं। दोनों स्थानों में पार्वतीय स्मारक ('रौक-कट मौनूमेंट्स') अवशिष्ट है। 'गुंटुपल्ली' विहार कृष्णा जिले में एलोर नगर से उत्तर की ओर २८ मील पर है। यह दो पर्वतमालाओं पर निर्मित है। यहाँ पहाड़ियाँ तीन मंजिलों में कटी हैं। कुल मिलाकर लगभग ३००० घर (गुफाएँ) बने हैं जिनमें १२००० लोग रह सकते हैं। दोनों पर्वतमालाओं के बीच की उपत्यका में बड़े-बड़े बृहदाकार भवनों की बुनियादें दिखाई देती हैं। अनुमान किया जाता है, कि इस स्थान पर एक भारी विश्व-विद्यालय रहा था। विद्यालय के भवन बीच मैदान में निर्मित थे और आचार्यों तथा छात्रों के आवास पहाड़ियों पर। 'गुंटुपल्ली' में एक जगह एक पत्थर के स्तूप के ऊपर गुम्बज के आकार वाला छतरी जैसा पत्थर का छत्र बना है जो कि चैत्य-गृह-निर्माण का प्रारम्भिक नमूना माना जाता है। यह चीज़ अपने ढंग की एक ही है। इस विहार के बनाने का समय ई० पू० २०० माना जाता है। पश्चिमी घाटियों की 'कान्हेरी' तथा 'कार्ला' गुफाएँ 'गुंटुपल्ली' और 'संकराम' से मिलती-जुलती हैं।

'संकराम' भी, ठीक 'गुंटुपल्ली' ही की तरह एक पार्वत्य विहार है। यह वर्तमान विशाखपट्टण जिले की अनकापल्ली नामक बस्ती से एक मील पर पूरब की ओर है। 'संघाराम' शब्द का ही विकृत रूप 'संकराम' है। यहाँ भी पहाड़ के ऊपर गुफाएँ कटी हैं। चारों तरफ़ प्रकृति के रमणीय दृश्य हैं; स्वच्छ जलवाली नदियाँ हैं। ये स्थान बड़े ही प्रशांत रहते हैं। यहाँ के भग्नावशेषों में अनेक शिलास्तूप हैं, जो एक-एक चट्टान को काट कर बनाये गये हैं। उनमें सबसे बड़े

[1] देखिये 'इंडियन आर्किटेक्चर' अध्याय ८, पृष्ठ ४३

शिलास्तूप का व्यास ६५ फ़ुट का है। इनके अतिरिक्त, अनेक ईंट के बने भवनों के निशान भी बीच मैदान में मिलते हैं। इन विहारों का निर्माण-समय ई० पू० प्रथम शतक माना जाता है। ई० सन् ४५० के आसपास यह संघाराम अपने वैभव की पराकाष्ठा को पहुँच गया था। 'संकराम' तथा 'गुंटुपल्ली' विहारों का महत्त्व उनकी ऐतिहासिक प्राचीनता ही के कारण है, किन्तु शिल्पकला की उत्तमता के विचार से ये बहुत ही साधारण कोटि के माने जाते हैं।

ईसा के बाद वाली प्रारम्भिक शताब्दियों में आन्ध्र बौद्ध शिल्पकला अपनी उन्नत दशा में रही। बौद्ध इतिहास का वह समय स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। उसी समय वर्तमान एलोर के चारों ओर ७५ मील तक के घेरे में, यहाँ के प्रसिद्ध विहारों और स्तूपों का निर्माण हुआ था। धार्मिक दृष्टि के अलावा शिल्पकला के विचार से भी इन स्थानों का महत्त्व अपूर्व है। यहाँ पर शिल्पकला का जैसा भव्य और परिणत विन्यास मिलता है, वैसा अन्यन्त्र बहुत ही कम देखने में आता है। उतने अल्प विस्तार वाले प्रदेश में जितने (५२) बौद्ध स्मारक पाये जाते हैं, उतने अधिक भारतवर्ष के और किसी भी प्रान्त में नहीं मिलते। मालूम होता है, उस समय आन्ध्र भूमि की चप्पा-चप्पा जमीन स्तूपों तथा विहारों से भरी-पूरी थी। ये शिल्पशेष इस प्रान्त में बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के प्रबल प्रमाण हैं। यहाँ सिर्फ़ अमरावती और 'नागार्जुन कोंडा' के स्तूपों का परिचय करायेंगे।

अमरावती क्षेत्र तथा वहाँ का स्तूप बौद्ध-संसार में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यह स्थान उस समय 'धान्य-कटक' नाम से विख्यात था और दुनियाँ भर के बौद्ध यात्रियों के लिए परम पवित्र क्षेत्र माना जाता था। यहाँ का स्तूप संसार की उत्तमोत्तम कलाकृतियों में एक माना जाता है। पश्चिमी देशों के पुरातत्त्व के पंडितों ने इस अमर कृति की जितनी प्रशंसा की है, उतनी और किसी भी वस्तु की नहीं। इसका निर्माण पहले-पहल ईसा के पूर्व दूसरे शतक के आसपास हुआ था, ऐसा माना जाता है। फिर बाद को ई० सन् १५०-२०० में इसका जीर्णोद्धार हुआ था। कुछ पंडितों का कहना है, कि हीनयानियों के ही हाथों सर्वप्रथम इसका निर्माण हुआ था। बाद को क्रमशः महायान की प्रगति के साथ साथ इसके शिल्प-निर्माण में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे। कलात्मकता के विचार से इसका महत्त्व इतना बढ़ गया है कि उसके नाम पर एक विशिष्ट शिल्प-शैली ही की स्थापना हो गयी है। अमरावती शिल्पपद्धति अपने ढंग की निराली मानी जाती है। इस स्तूप के आकार-प्रकार तथा शिल्पपद्धति की विशेषताओं का परिचय कराने के पूर्व 'स्तूप' शब्द का मतलब समझाना आवश्यक है।

'स्तूप' शब्द का अर्थ संस्कृत में टीला है; पाली में इसे 'थूपो' कहते हैं। किन्तु बौद्धों में इस शब्द का प्रयोग ईंट अथवा पत्थर से बने हुए अर्द्ध गोलाकार वाले समाधि जैसे घन-निर्माण (सॉलिड स्ट्रक्चर) के लिए ही रूढ़ हो गया है। स्तूप दो प्रकार के होते हैं, शारीरिक अथवा धातुगर्भ स्तूप और स्मारक स्तूप। भगवान् बुद्ध अथवा अन्य पहुँचे हुए अर्हतों के दाँत, केश, हड्डियाँ वग़ैरह शारीरिक धातुओं तथा उन महात्माओं के दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले कमंडल, भिक्षापात्र, दंड, खड़ाऊँ आदि 'परिभोगिक' वस्तुओं को जमीन में निक्षिप्त कर, उनपर बनायी जाने वाली ठोस इमारतें 'धातुगर्भ' स्तूप हैं। केवल किसी महान् 'अर्हत' अथवा बुद्ध की स्मृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के उद्देश्य से निर्मित धातुरहित स्तूप स्मारक-स्तूप हैं। लंका में स्तूप के लिए 'दागब' (दागोबा) शब्द प्रयुक्त होता है। यह शब्द 'धातुगर्भ' ही का विकृत रूप है।[1] स्तूप-निर्माण का यह कार्य, बौद्धों में, भगवान् बुद्ध के प्रति अपनी भक्ति प्रकट करने का एक सुन्दर उपकरण बन गया था। भक्त शिल्पकार अपनी समस्त शक्तियों को केन्द्रित कर उन स्तूपों को उत्तमोत्तम विधान से सजाते-सँवारते थे। आन्ध्र प्रान्त के स्तूपों में और उत्तर भारत के स्तूप-विधान में थोड़ा-सा अन्तर पाया जाता है। इधर अमरावती, घंटसाला, भट्टिप्रोलु, नागार्जुन कोंडा, जगय्यपेटा वग़ैरह स्थानों में जितने स्तूपों का अब तक पता लगा है उन सबके आकार-प्रकार एक-से रहे। इन सबों में शिल्पकला की दृष्टि से श्रेष्ठ होने के कारण अमरावती का स्तूप इनका सिर-मौर माना जाता है।

संसार भर में मशहूर अमरावती स्तूप, आन्ध्र प्रान्त के और सभी स्तूपों से बड़ा है। इस अंडे की आकृति-वाले स्तूप के बीच की चौड़ाई की माप अर्थात् व्यास जमीन पर १६२ फ़ुट की थी। उसके चारों तरफ़ १५ फ़ुट चौड़ा एक प्रदक्षिण-पथ था। इस प्रकार समूचा स्तूप १९२ फ़ुट व्यासवाले वृत्ताकार चबूतरे पर खड़ा था।

[1] देखिये आन्ध्रचारित्रिक व्यासमुल, पृष्ठ ४३
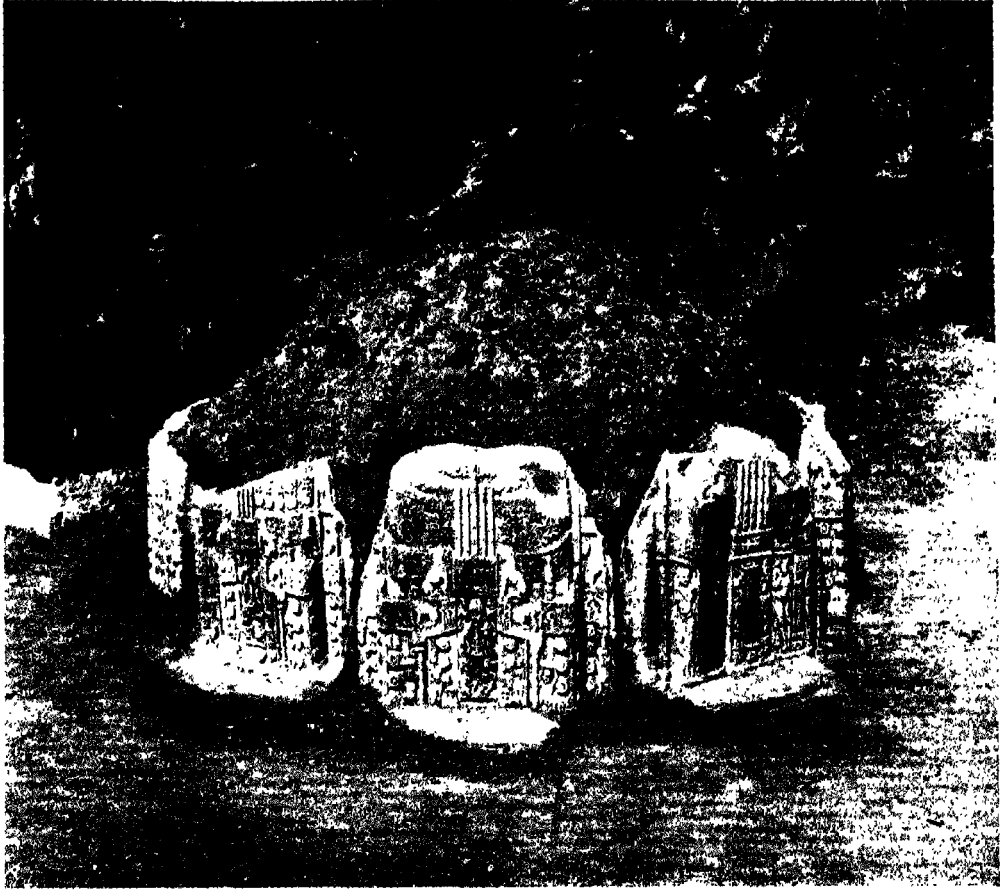
चित्र १ : अमरावती का स्तूप
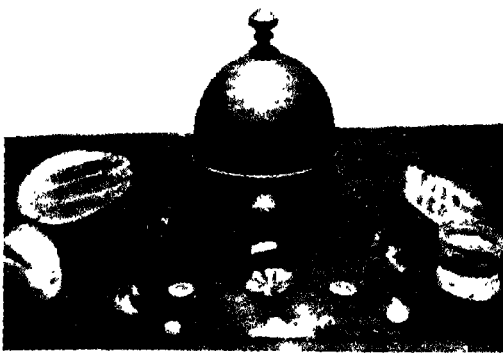
चित्र २ : नागार्जुन कोंडा में प्राप्त बुद्ध के धातु और मंजूषाएं
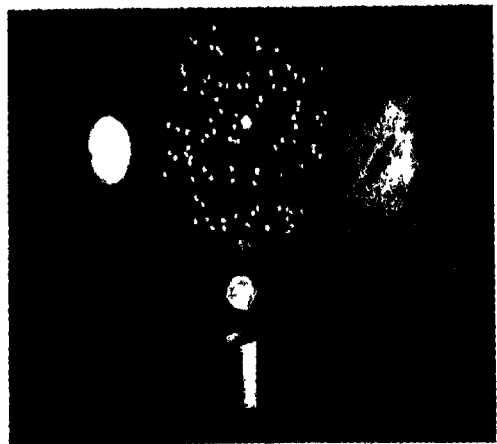
चित्र ३ : नागार्जुन कोंडा में प्राप्त स्वर्ण-मंजूषा और अस्थियां

आन्ध्र के बौद्ध के केन्द्र

देखिये पृष्ठ ३६२-३६६]

इस हिसाब से अनुमान किया जाता है कि स्तूप लगभग ९०,१०० फ़ुट ऊँचा रहा होगा। जमीन से २० फ़ुट की उँचाई पर, ऊपर, स्तूप से सटकर उसकी परिक्रमा करने के अनुकूल एक प्रदक्षिण पथ और था जिसके चारों ओर, चार स्थानों पर, प्रधान दरवाज़ों से अभिमुख होकर पाँच-पाँच पतले पत्थर के स्तम्भ खड़े थे। ये 'आयक स्तम्भ' या 'आर्यक स्तम्भ' कहलाते थे और वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि तथा अक्षोभ्य नामक पाँच ध्यान बुद्धों के प्रतीक माने जाते थे।[1] स्तूप के चार प्रधान पार्श्वों पर इन आयक स्तम्भों की स्थापना, भगवान् बुद्ध की जीवनी की चार प्रधान घटनाओं की ओर—महाभिनिष्क्रमण, संबुद्धि, धर्मचक्र-प्रवर्तन, महापरिनिर्वाण—संकेत करती है। इन आयक स्तम्भों पर नीचे, बाहर की ओर स्तूप, धर्मचक्र तथा बोधि वृक्ष के चित्र खुदे रहते थे। आयक स्तम्भों का यह विधान उत्तर भारत की स्तूपनिर्माण-कला के लिए सर्वथा नूतन वस्तु रहा। प्रसिद्ध साँची, सारनाथ अथवा अन्य किसी भी स्थान पर ये नहीं दीखते हैं। स्तूप के चार प्रधान द्वारों के आकार-प्रकार में भी इसी प्रकार कुछ अन्तर दिखाई पड़ता है। उत्तर में मिलनेवाले तोरण सहित दरवाज़ों की जगह., जैसा कि साँची में देखा जाता है, अमरावती स्तूप की चहारदीवारी से लग कर, चार दूसरे प्रकार के सुन्दर द्वार बने थे, जो कि चार स्तम्भों के सहारे आगे की ओर फैले रहते थे (पोर्टिको)। चारों स्तम्भों पर चार सिंह की मूर्तियाँ थीं। यह भी आन्ध्र स्तूप-कला की एक विशेषता मानी जाती है। अमरावती स्तूप के चारों तरफ़ एक विस्तृत आँगन था जिसमें कुछ छोटे किन्तु विभिन्न आकारवाले स्तूप बने थे। यह विधान भी उत्तर में नहीं मिलता। स्तूप के ऊपर के अंडाकार हिस्से को छोड़कर, जो कि सफ़ेद चमकदार गारे से पुता रहता था और जिसके ऊपर एक दंड और ध्वज सहित छत्र था, स्तूप का शेष भाग बाहर की ओर सुन्दर शिल्पों से शोभित संगमरमर के फलकों से ढका रहता था। इन फलकों में चतुर आन्ध्र शिल्पकार ने छेनी के द्वारा अपनी आत्मा ही उँडेल दी थी! ये शिल्प बड़े सजीव और भाव-प्रवण उतरे थे। देखनेवालों को ऐसा लगता है कि शिल्पकार की छेनी और हथौड़े जड़ साधन नहीं रहे, अपितु उसके शरीर ही के अंग बने थे! पत्थर भी मानों अपनी सारी परुषता त्यागकर मोम-से नरम बन, अपने उद्धारक के इंगित के अनुरूप कटे थे। मायादेवी का स्वप्न, तथागत का जन्म, महाभिनिष्क्रमण, मार-प्रलोभन वृत्त, धर्म-प्रवर्तन, महापरिनिर्वाण, बुद्धधात्वाराधना आदि प्रसंग कितनी ही जगह उन फलकों पर अंकित थे। इनकी प्रचुरता का यही कारण मालूम होता है, कि बुद्धदेव की जीवनी के ये प्रसंग भक्तों को बहुत प्रिय थे। इनके अलावा, अनेक जातक-कथाएँ भी सजीव एवं आकर्षक रूप से उन पर खुदी थीं।

नागार्जुन कोंडा का स्तूप आकार में छोटा होने पर भी और विषयों में अमरावती स्तूप से मिलता-जुलता है। वहाँ का महाचैत्य, जिसमें भगवान् बुद्ध की मटर के आकार की हड्डी की टुकड़ी निक्षिप्त थी, अमरावती शिल्प-शैली ही का अद्‌भुत नमूना है। बुद्धदेव के जीवन-प्रसंग, जातक-कथाओं के अलावा बोधि वृक्ष, चामर, शून्य सिंहासन, बुद्ध-देव के चरण, धर्मचक्र, त्रिशूल आदि प्रतीकों की इतनी प्रचुरता वहाँ लक्षित होती है कि दर्शक विस्मय-विमुग्ध रह जाते हैं। इन शिल्पों के मध्यान्तर में सुन्दर मिथुनों की आकृतियाँ खुदी हैं, जो कि शृंगारपूर्ण होने के साथ साथ अश्लीलता की गन्दगी से साफ़ बची हैं! नागार्जुन कोंडा में प्राप्त एक लेख से स्पष्ट होता है कि आन्ध्र इक्ष्वाकु राजकन्याओं द्वारा वहाँ से 'क्षुद्र धर्मगिरि' पर जो सुन्दर विहार बनाया गया था, वह उस समय संसार भर के बौद्धों का पवित्र यात्रा-स्थल बना था। वहीं पर, कहा जाता है, आचार्य नागार्जुन ने अपनी जीवनी का सांध्य-काल बिताया था। उक्त लेख में यह भी बताया गया है कि दुनियाँ के १५ मुल्कों से बौद्ध संन्यासी लोग वहाँ आ जाते थे। नागार्जुन कोंडा की खुदाइयों के परिणामस्वरूप, अब तक ९ स्तूप, एक महाचैत्य तथा आठ विहारों का पता लगा है। तत्कालीन रूम देश के कई 'दीनार' सिक्के मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि उस समय, यानी ईसा के बाद तीसरे-चौथे शतकों में, विदेशों से खूब व्यापार चलता था। कृष्णा नदी का पाट उस समय वहाँ पर खूब चौड़ा था; नदी में वहाँ तक नावें बराबर आती-जाती थीं। नागार्जुन कोंडा से सटकर नदी पर जो चौड़ा घाट आज भी दीखता है वह इस विषय की पुष्टि करता है।

नागार्जुन कोंडा में मदरास के पुरातत्त्व विभाग की ओर से अब तक जो कुछ किया गया है, वह बहुत ही कम है।

अमरावती शिल्प-पद्धति कई बातों में श्रेष्ठ मानी जाती है। सबसे पहली बात यह है, कि वह उत्तर भारतीय शिल्प-

[1] देखिये—'इंडियन आर्किटेक्चर', पृष्ठ ४५

कला (साँची जैसे स्थानों की) तथा यूनानी कलाओं का एक समरसपूर्ण समन्वय है। यूनानियों का यथार्थवादी चित्रण तथा भारतीय विधान का आदर्शवादी चित्रण दोनों को मिलाकर, अपनी प्रतिभा की भट्टी में गलाकर आन्ध्र कलाकार ने एक अनोखे साँचे में ढाल लिया था, जिसकी चमक से दुनियावालों की आँखें चौंधिया जाती हैं। यह शिल्प-पद्धति व्यंग्य-प्रधान है। दूसरी विशेषता यह है, कि अमरावती पद्धति परम्परा का उच्छिष्ट नहीं रही। उदाहरण के लिए भगवान् बुद्ध की अनेक मूर्तियाँ अनेक प्रकार की मुद्राओं में यहाँ मिली हैं। अन्य स्थानों की तरह कुछ-एक निश्चित परम्परा-भुक्त मुद्राओं में नहीं। नागार्जुन कोंडा की शिलाओं पर, एक मायादेवी ही के स्वप्न के चित्रण बीस भिन्न-भिन्न रूपों में अंकित हुए हैं। अद्भुत कलात्मक मौलिकता का निर्वहण अमरावती शैली की विशेषता है। तीसरी बात अमरावती कलाकृतियों की यह है कि वे गत्यात्मक (डाइनामिक) हैं। प्रत्येक मूर्ति का अंग-प्रत्यंग, पोर-पोर स्पंदन-सहित है, जीवन से छलकता प्याला। एक-एक प्रस्तर-खंड, शिल्पकार की छेनी का स्पर्श पाकर एक-एक सुन्दर काव्य बना है: भगवान् बुद्ध तथा दूसरे बोधिसत्त्वों के जीवन-प्रसंगों की विशद व्याख्या प्रस्तुत कर गया है। मानसिक भावनाओं की बारीकियों को दिखाने तथा अल्प मूर्त आधार पर कोई एक जीवन-प्रसंग समग्र रीति से काटने (मिनिएचर आर्ट) की क्षमता, अमरावती शिल्पियों की निजी सम्पत्ति रही। दुर्भाग्य से घंटसाला, अमरावती आदि स्थानों में प्राप्त शिल्प-कृतियाँ विदेशी पुरातत्त्व-संग्रहालयों की शोभा बढ़ा रही हैं। उनकी गृध्र-दृष्टि से नागार्जुन कोंडा की निधियाँ, हमारे सौभाग्य से, बची हैं। उन्हें भी यहाँ से हटाने का विफल प्रयत्न कुछ वर्ष पूर्व अंग्रेज़ी सरकार की ओर से किया गया था। नागार्जुन कोंडा में एक पक्का संग्रहालय बनाकर, आन्ध्र प्रान्त में उपलब्ध सभी कलाकृतियों को लंदन, कलकत्ता और मदरास आदि संग्रहालयों से मँगवाकर, फिर वहाँ रखना बड़ा आवश्यक काम है। अभी नागार्जुन कोंडा में एक छोटा-सा म्यूज़ियम बना है जिसमें अब तक प्राप्त चीज़ें मात्र रखी हुई हैं। पता नहीं, कितनी विभूतियाँ अभी उस सुन्दर उपत्यका में दबी पड़ी हैं। यदि केन्द्रीय सरकार की ओर से बड़े पैमाने पर खुदाइयाँ चलेंगी, तो निस्सन्देह अतीत के इतिहास के कितने ही काले अध्याय चमक उठेंगे; कितनी ही खाइयाँ पट जायँगी। स्वतन्त्र भारत के प्रधान मन्त्री, पुरातत्त्व के प्रेमी, माननीय पंडित जवाहरलाल नेहरू जी से, उनकी हीरक जयन्ती के अवसर पर हार्दिक अभिनन्दन भेजते हुए, मैं यह निवेदन करूँगा कि वे इस ओर अपना ध्यान दें। एक बार आन्ध्र देश के इस अपूर्व ऐतिहासिक क्षेत्र की यात्रा कर जावें।

भगवान् से प्रार्थना है कि वे हमारे प्रधान मन्त्री जी को मानवता के उद्धार के हेतु चिरंजीवी रखें।

मई १९४९

पद्मा श्री

मोतीचन्द्र

हिन्दुओं के यहाँ देवियों में लक्ष्मी का बड़ा सम्मान है। ऐसा कोई भी मांगलिक अवसर नहीं होता जब सुख-समृद्धि के लिए लक्ष्मी का पूजन न किया जाता हो। उनके सम्मान में बनारस में एक विशेष मेला लगता है जो सोलह दिनों तक चलता है, जब भक्त लोग उनके मन्दिर में पूजन के लिए टूटे पड़ते हैं। इस मेले में देवी की चटकीले रंगों में रँगी हुई मृण्मूर्तियाँ बिकती हैं जिन्हें लोग ख़रीद कर पूजन के लिए घर ले जाते हैं। दीपावली के त्यौहार पर तो वर्ष भर की समृद्धि के लिए विशेष रूप से लक्ष्मी का पूजन किया जाता है। हिन्दुओं में ऐसा विश्वास प्रचलित है कि दीवाली की रात को लक्ष्मी अपने भक्तों के घर जाती हैं और जो लोग उनके स्वागत-सत्कार में लगे रहते हैं उन्हें समृद्ध रहने का वर देती हैं। बनारस के कुछ परिवारों में चन्दन से गज-लक्ष्मी का चित्र खींच कर दीवाली की रात को कुछ समय तक कोठे (कोषागार) में रख दिया जाता है और उसके बाद चित्र को जल में घोल कर वह जल चारों ओर छिड़क दिया जाता है। ऐसा विश्वास है कि इससे वर्ष भर तक लक्ष्मी का निवास रहता है।

अन्य देवी-देवताओं की तरह 'श्री-लक्ष्मी' भी हिन्दुओं के यहाँ देवी मानी जाती हैं किन्तु 'श्री' का ऐतिहासिक अनुशीलन करते समय कई नयी बातें हमारी दृष्टि में आती हैं। पहली तो यह कि प्राचीन वैदिक साहित्य में 'श्री' के समान 'लक्ष्मी' से भी केवल सौन्दर्य का बोध होता था। किन्तु आगे चलकर वह एक सुन्दर देवी के रूप में गृहीत हुई और उसमें उस 'मातादेवी' (ग्रेट मदर गॉडेस) के कुछ गुण आरोपित हो गये जिसकी अर्चना भारत से लेकर भूमध्य सागर तक होती थी।

सिन्धु सभ्यता के अवशेषों में इस बात के प्रमाण मिले हैं कि उस समय मातादेवी की पूजा मेखला-युक्त नग्न स्त्री मृण्मूर्तियों के अतिरिक्त पत्थर फल्ली और छोटी नालों (रिंगस्टोन) के रूपों में प्रचलित थी।[1] हड़प्पा से प्राप्त एक मुहर में वह इस प्रकार अंकित है कि उसकी नाभि से एक पौधा निकल रहा है। यह उर्वरता या पैदावार से उसका सम्बन्ध प्रदर्शित करता है। उसी मुहर में नर-मेध का दृश्य सम्भवतः मातादेवी सम्प्रदाय से सम्बद्ध बलि की प्रथा की ओर संकेत करता है।

मातादेवी सम्प्रदाय से सम्बन्वित सम्भवतः सबसे महत्त्व की वस्तु मोहेंजोदड़ो से प्राप्त पत्थर की बहुत-सी नालें (रिंगस्टोन) हैं जिनके व्यास आधा इंच से लेकर चार फ़ुट तक हैं। सर जान मार्शल के अनुसार, इन्हें स्त्री-योनि का प्रतिरूप समझना चाहिए जो मातृत्व और उर्वरता की प्रतीक है। इस सम्बन्ध में यह जान लेना चाहिए कि ऐतिहासिक काल में तक्षशिला, कोसम, संकीसा, बसाढ़, राजघाट आदि से प्राप्त छेदवाले या बिना छेद के तवे (डिस्क) निश्चित रूप से मातादेवी सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं। हथियल वाले तवे में मध्यवर्ती छिद्र में चार नग्न देवियों का अंकन, जिनके बीच-बीच में पुष्पलताएँ हैं, देवी की मुख्य विशेषता का द्योतन करता है। राजघाट वाली मुहर में एक सुंदर अलंकरण है, एक ताड़ वृक्ष, बग़ल में एक घोड़ा और एक स्त्री की आकृति है। उसके आगे बढ़े हुए हाथ में एक कली है और उसके बाद क्रम से एक छोटी पूंछ वाला लम्ब-कर्ण पशु, एक सारस, पुनः देवी, तत्पश्चात् एक पंखों वाला काल्पनिक पशु और अन्त में एक सारस है जिसके पैरों के पास कोई कर्कट जैसी वस्तु है।[2] यह ध्यान देने की बात है कि तक्षशिला वाली मुहर की भाँति इसमें कोई मध्यवर्ती छिद्र नहीं है। राजघाट से प्राप्त एक दूसरी टूटी हुई मुहर में, बीच में, एक छिद्र है जिसके चारों ओर दो नग्न स्त्री-आकृतियाँ अंकित हैं जिनके हाथ फैले हुए हैं। चिपटी और दो बन्दर जैसी आकृतियाँ हैं जिनके मध्य में एक मकर है।

[1] बैनर्जी, 'द डिवेलपमेंट ऑफ़ इंडियन आइकॉनोग्राफ़ी' पृष्ठ १८३

[2] वही, पृ० १८७

इसकी गड़ारी पर एक ब्राह्मी लेख है किन्तु दुर्भाग्यवश वह पढ़ा नहीं जाता। 'भारतकला-भवन' में कोसम से प्राप्त एक दूसरा कुछ खंडित तवा है जिसमें मातादेवी की नग्न आकृति और मकरों की एक पंक्ति अंकित है। दुर्भाग्यवश इस पर अंकित लेख के पाठ से कोई भी अर्थ की बात नहीं ज्ञात होती। इसमें कोई संदेह नहीं कि ये टिकरे सम्प्रदाय-प्रतीक हैं। जैसा मार्शल ने कहा है, "इन छोटी-छोटी नालों में, जो सम्भवतः संकल्पित भेंट होती थीं, उर्वरता की देवी की नग्न आकृतियाँ बड़ी सफ़ाई और कारीगरी से मध्यवर्ती छिद्र के भीतर इस प्रकार खुदी हुई हैं कि उनका और प्रजनन का सम्बन्ध स्पष्ट लक्षित होता है।"[3]

ऊपर वर्णित तवों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ताड़वृक्ष, सारस, कई विशिष्ट काल्पनिक जन्तु और घोड़ों का मातादेवी से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। इस सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त स्थिर करने के पहले, इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि महाभारत में १,६६,६५ आकाशचारी घोड़ों को लक्ष्मी का मानस पुत्र कहा गया है। यह भी ध्यान देने की बात है कि आज भी गाँवों में कुछ मातादेवी के मन्दिरों में घोड़ों की मृण्मूर्तियाँ चढ़ायी जाती हैं। उसी प्रकार मकर के साथ भी उसका सम्बन्ध स्पष्ट है। हरिवंश (१२४८२) में लक्ष्मी को कामदेव की जननी कहा गया है जिसका निशान (पताका) मकर है (म. भा. ३, २८१,७)। काम की भाँति मकर प्रद्युम्न का भी निशान है (म. भा. ३, १, २; ८, ३, २५)। मकर श्री के हाथ में एक शकुन चिह्न तो है ही (म. १३, ११, ३)। यह वरुण का तथा कुछ अन्य यक्ष-यक्षियों का वाहन भी है।[4]

मकर पुरुषत्व और समुद्र की शक्ति का प्रतीक है और इस कारण उसका 'काम' से सम्बन्धित होना स्वाभाविक है। अस्तु, यह निर्विवाद है कि श्रीलक्ष्मी में प्राचीन देवीमाता और वरुण के सम्प्रदाय से सम्बधित अनेक विचारों और भावनाओं की गुत्थी आरोपित है। यह धन और उर्वरता की देवी समझी जाती है। यह गुण उसे आर्यों के पूर्व से पूजित देवी से मिले और जिसके अन्य गुणों को भी उसने धीरे-धीरे अपना लिया। इसे देखते हुए मकर से, जो पुरुषत्व और रत्नों का प्रतीक है, उसका सम्बन्ध बिलकुल स्वाभाविक जान पड़ता है।

यद्यपि प्राचीनतम विश्व-संस्कृति में मध्य यूरोप से लेकर गंगा तक भारी नितम्बों वाली नग्न आकृतियाँ पायी जाती हैं किन्तु भारतीय नग्नदेवी किसका प्रतीक है, यह नहीं कहा जा सकता। भारी नितम्बोंवाली नग्न आकृतियों के सम्बन्ध में ग्लॉट्ज़ का यह मत बड़ा समीचीन है : "वह आदि माता है। वही समस्त जड़-चेतन की जननी है। उसी से समस्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। अपने दैवी पुत्र को लिये हुए या उसे निरखती हुई वही मैडोना है। वही मनुष्यों और पशुओं की माता है। वह वन्य पशुओं, सर्पों, नभचरों, जलचरों, सभी की स्वामिनी है इसलिए ये सब सर्वदा उसके साथ रहते हैं। वही समस्त वनस्पतियों की उद्गम है, उसी के विश्वव्यापी स्तन्य से पलकर वे पोषित-पोषित होती हैं।"[5]

पश्चिमी एशिया में वह 'अनहित' या 'इश्तर' के नाम से अभिहित होती थी और बहुत सम्भव है कि प्राचीन काल में यह भारत में ही वहीं की भाँति पूजित होती रही हो। जैसा डा० कुमारस्वामी ने कहा है, "भारतीय देवी 'अदिति' और बाबुली 'इश्तर' बहुत-सी बातों में मिलती-जुलती हैं।"[6]. साथ ही, चाहे साहित्य में हो अथवा मूर्तिकला में, दोनों देवियों को दुग्ध देनेवाली देवी के रूप में चित्रित किया गया है और अक्सर उनकी समानता गौ से दिखायी गयी है। हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि भारतीय नग्न देवी मातृत्व (उर्वरता) की देवी थी, क्योंकि उसकी मूर्तियों से ऐसा स्पष्ट लक्षित होता है; उस पर लोग श्रद्धा रखते थे और सम्भवतः वह घर-घर पूजी जाती थी; वह उन आर्येतर देवियों में सम्भवतः सबसे महान् थी जो आगे चल कर अनेक कठिनाइयों के बाद क्रमशः ब्राह्मण और बौद्ध पंथों में 'शक्ति' के रूप में गृहीत हुई है। सब कुछ विचार-विमर्ष के बाद वही तन्त्र की मुख्य अधिष्ठात्री भी ठहरती है। तीन सहस्राब्दियों से धार्मिक विप्लवों और विदेशी संस्कृतियों के झकोरों में पड़ कर भी स्त्री शक्ति के रूप में मुख्य देवी की धारणा आज तक अविचलित है।

फिर भी इस महान् मातादेवी को पहचाना नहीं जा सकता, क्योंकि हमारे सबसे प्राचीन पथ-प्रदर्शक वेदों में भी 'अदिति'

[3] एम० आई० सी० १, ६२-६३

[4] कुमारस्वामी, 'यक्ष', २, पृ० ५३

[5] ग्लॉट्ज़, 'एजियन सिविलिज़ेशन', पृ० २४५

[6] 'आरकेइक इंडियन टेराकोटाज़'—पृष्ठ ७२-७३; आइपेक, लिपज़िग १९२८

को छोड़ कर अन्य किसी देवी को महत्त्व नहीं दिया गया है। हाँ, गृह्यसूत्रों में अवश्य कहीं-कहीं देवियों का वर्णन है। वहाँ देवताओं की स्वसा पुष्ट नितम्बिनी 'सिनीवाली' से सन्तान की याचना की गयी है; 'पुरन्धि' समृद्धि की देवी मानी गयी है, और 'वासिनी' ही, जो विभिन्न गृह्यसूत्रों में 'मुख्य देवी' कही गयी है, "सम्भवतः मातादेवी ही है जो वैदिक संस्कारों के बावजूद लोक की मुख्य आध्यात्मिक शक्ति मानी जाती रही है और जो अन्य कोई नहीं, विभिन्न रूपों में शिव की स्त्री 'शक्ति' ही है।" (हापकिंस)। उमा ही मातादेवी है, यह सुझाव भी महत्त्वपूर्ण है। किन्तु किसी को भी मातादेवी मानने के पहले यह न भूलना चाहिए कि ये सभी समृद्धि की देवियाँ हैं अतः यह कहना कठिन है कि इनमें से वस्तुतः कौन मातादेवी है।

अब हम श्रीलक्ष्मी के सौन्दर्य और मूर्ति-इतिहास की ओर फिर से आते हैं। प्राचीन वैदिक साहित्य[7] और उसके परवर्ती साहित्य दोनों में श्री लक्ष्मी शिवम् और सुन्दरम् के प्रतीक के रूप में आयी है। अवस्ता में बहुत-सी बिल्कुल विभिन्न प्रकार की संज्ञाओं को 'श्रीर' कहा गया है। इससे ऐसा भान होता है कि इस शब्द का अर्थ सुन्दर ही है और वह भी सामान्यतया भौतिक सौन्दर्य। ऋग्वेद में आये हुए 'श्री' शब्द का भी यही अर्थ है; किन्तु वैदिक युग की सौन्दर्य-भावना और आज की सौन्दर्य-भावना वही है या उनमें भेद हो गया है यह नहीं कहा जा सकता।[8] किन्तु 'दृश्'[9] धातु के प्रत्ययान्तों से उसका सम्बन्ध देखकर यह मानना पड़ता है कि 'श्री' में भौतिक सौन्दर्य की भावना निहित है। शुद्धि और सजावट के अर्थ में भी 'श्री' का प्रयोग होता है।[10]

ऋग्वेद के इस सम्बन्ध के समस्त अवतरणों की छानबीन और विवेचन करने के बाद ओल्डेनबर्ग इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'श्री' में बड़प्पन और प्रतिष्ठा की अपेक्षा नेत्रों को सुखकर होने की भावना अधिक है। यद्यपि यह शब्द स्थान-स्थान पर मनुष्य के उन शारीरिक गुणों के लिए प्रयुक्त हुआ है जिनके कारण वह नेत्रों को अच्छा लगता है या उन अलंकरणों के लिए हुआ है जिनसे उसमें यह विशेषता आ जाती है तथापि सौन्दर्य और सौन्दर्यवान होने की भावना इसमें अनिवार्य रूप से लगी है।[11] यही नहीं, 'श्री' श्रव्य-सौन्दर्य का भी द्योतन करती है। एक स्थान पर जीवन में शान-शौकत और तड़क-भड़क से प्राप्त होनेवाली प्रतिष्ठा[12] की ओर भी 'श्री' संकेत करती है, किन्तु वहाँ भी शारीरिक सौन्दर्य का भाव इसमें निहित है।

'श्री' और सोम का सम्बन्ध स्थिर करना कठिन है। जब सोम और दुग्ध मिश्रित किया जाता था तब इसके लिए 'श्री' या उसका प्रचलित रूपान्तर श्रिन् प्रयुक्त होता था। मिश्रित करना 'श्रृणाति' क्रिया का अर्थ है। ओल्डेनबर्ग ने कई उद्धरण देकर इसका अर्थ 'पुष्ट करना' बतलाया है। 'श्री' और 'श्रृणाति' की समानता को देखकर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि ऋग्वेद के युग में 'श्री' का प्रयोग महत्त्व, प्रतिष्ठा और ठाट-बाट के अर्थ में होता था। बहुत सम्भव है कि संज्ञा के समान क्रिया में भी धीरे-धीरे अपार सुख और समृद्धि के प्राप्त होने का भाव आरोपित हो गया है।[13]

परवर्ती वैदिक साहित्य में भी 'श्री' के साथ सौन्दर्य की भावना बराबर लगी मिलती है, किन्तु इसमें मुख्यतः इसकी अभिधा है 'सांसारिक जीवन में प्रतिष्ठा।' भूति,[14] राष्ट्र, क्षत्र, अन्नाद्य आदि से भी 'श्री' का सम्बन्ध स्थापित हो गया है और यशस् से तो विशेष रूप से। शतपथ ब्राह्मण (११, ४, ३, १) की एक कथा में तो 'श्री' मूर्त रूप में हमारे सामने आती है। इस कथा में प्रजापति की 'श्री' उनकी तपस्या के बल से उनके अन्तस् से निकल कर दैदीप्यवती ओजस्वी देवी

[7] एच० ओल्डेनबर्ग 'वैदिक वर्ड्स फ़ार ब्यूटिफ़ुल एंड ब्यूटी एंड द वैदिक सेंस ऑफ़ द ब्यूटिफ़ुल'; रूपम् अक्टू० १९२७, पृ० ९८-१२१

[8] वही, ९८-९९

[9] ऋग्वेद, ७, १५, ५; १०, ४५, ८; ४, १०, ५, इत्यादि

[10] वही, ५, ३, ३; ८, ७, २५; १०, ७२, २, इत्यादि

[11] ओल्डेनबर्ग, वही, पृ० १००

[12] काठक, ३८, २

[13] वही, १०४ से

[14] अथर्व वेद, १२, १, ६३

के रूप में सामने खड़ी हो जाती है। यहाँ हम स्पष्ट देखते हैं कि सौन्दर्य की भावना देवी के रूप में हमारे सामने मूर्त हो जाती है। सम्भवतः यही देवी आर्य-पूर्व भारत की देवी माता है जिसके देवत्व में सौन्दर्य और समृद्धि का भाव निहित है।

इस युग की सब से महत्त्वपूर्ण बात 'श्री' और लक्ष्मी के व्यक्तित्वों का एकीकरण है। 'लक्ष्मी' और 'लक्ष्मन्'—चिह्न—का सम्बन्ध स्पष्ट है। जैसा शतपथ (८, ४४, ११; ५, ४३) में कहा है, लक्ष्मन् अच्छे या बुरे स्वभाव का दृश्य चिह्न है; लक्ष्मी स्वतः स्वभाव है, जो लक्ष्मन् देख कर बतला दिया जाता है या बतलाया जा सकता है। अथर्ववेद (८, ११५) के अनुसार प्रत्येक मनुष्य उत्पन्न होने के समय एक सौ एक लक्ष्मियों से युक्त रहता है। वे अपने पंखों पर उसके पास उड़ आ सकती हैं; जैसे काई पेड़ से चिपकी रहती है वैसे ही वे उससे संयुक्त हो सकती हैं। जादू-टोने[१५] से बुरी लक्ष्मी निकल कर शत्रुओं से संयुक्त हो जाती है; लेकिन अच्छी लक्ष्मी का निकल जाना कोई नहीं चाहता। भद्रा, शिवा, पुण्या जैसे शब्द अच्छी लक्ष्मी का द्योतन करते हैं। पापा जैसे बुरी लक्ष्मी का द्योतन करने वाले शब्द धीरे-धीरे लुप्त हो गये, और अन्त में लक्ष्मी के साथ केवल उसकी मंगलात्मक अभिधा रह गयी। फिर भी, लक्ष्मी की अमंगल वाली अभिधा पूर्णतया लुप्त नहीं हुई, और कुलक्ष्मी, अलक्ष्मी जैसे शब्दों में लक्षित होती है जिनका प्रयोग लक्ष्मी के अमंगलात्मक रूप के लिए होता है। लक्ष्मी का यह मंगलात्मक अर्थ श्री की भावना के बहुत समीप है। दोनों ही, जीवन में कल्याण और समृद्धि की प्रतीक हैं। इन बातों को देखते हुए यह स्वाभाविक जान पड़ता है कि श्री जो सुख का द्योतन करती है और लक्ष्मी, जो उसे पा सकने की प्रवृत्ति का द्योतन करती है, एक में मिल जायें। आशीर्वाद का द्योतन करने वाले कई मन्त्रों में 'श्रीश्च-लक्ष्मीश्च' साथ-साथ आते हैं। तैत्तिरीय आरण्यक (आन्ध्र रि. १०, ६४) और वाजसनेयी ३१,१ में श्री और लक्ष्मी, दो देवियाँ साथ-साथ प्रकट हुई हैं और इसी साथ से आगे चलकर दोनों एक हो जाती हैं।

ऋग्वेद से सम्बद्ध खिल श्रीसूक्त में, जिसका समय कम से कम पाली बौद्ध ग्रन्थों से पहले का है, श्री देवी और लक्ष्मी में कोई अन्तर नहीं; दोनों को ही आर्द्रा और पद्ममालिनी कहा गया है (५, ११, १४)। श्रीसूक्त में कहा गया है कि श्री हस्तिनाद से प्रबुद्ध होती हैं (हस्तिनादप्रबोधिता), सोने के घड़ों से गजेन्द्र उनका अभिषेक करते हैं (गजेन्द्रैः ..स्नापिता हेमकुम्भैः)। सरोवर में कमलों से घिरी हुई...कमल-वदना...कमल के ही समान कन्धों और नेत्रों वाली, कमल से ही उत्पन्न, विष्णु-प्रिया....महालक्ष्मी....अपने चरण-कमल हमारे हृदयस्थल में स्थित करो।[१६] इस प्रकार हम देखते हैं कि शतपथ वाली श्री का अस्पष्ट दैवी स्वरूप, आगे चल कर स्पष्ट और पूर्ण हो जाता है, यहाँ तक कि कमल उनका प्रतीक भी हो जाता है। सूत्र साहित्य (गृ. सू. ४, २१, ७) में पर्यंक के सिरहाने श्री की भेंट चढ़ायी जाती है, जिससे उसे उर्वरता की देवी माने जाने की पुष्टि होती है। उसकी दानशील प्रकृति का परिचय तैत्तिरीय उपनिषद् (१, ४) में भी मिलता है जहाँ वह वस्त्र, गौ, खाद्यान्न और रस लुटाने वाली कही गयी है, "इसलिए मुझे श्री प्राप्त हो।"

श्री के साथ विष्णु का सम्बन्ध वैदिक साहित्य में नहीं मिलता, हाँ तैत्तिरीय संहिता में ७, ५, १४ जैसा डा० कुमारस्वामी ने कहा है,[१७] विष्णु की स्त्री के रूप में अदिति को भेंट चढ़ायी गयी है। तै. सं. ४, ४, १२ में उसका वर्णन यों है:.... सरलता से दुग्ध देने वाली, दुग्ध में प्रचुर, देवी..विष्णु-पत्नी, कृपालु, संसार की शासिका...अदिति हमारे ऊपर अनुग्रह करें। मातृत्व उसकी विशेषता है। कहीं-कहीं उसकी तुलना पृथ्वी से की गयी है। उसके सहस्रों स्तनों से स्फूर्तिदायक दुग्ध की धारा निकला करती है। अदिति और श्री की एकता के सम्बन्ध में हम कुछ न कहेंगे, लेकिन दोनों में असाधारण समानता है, यह मानना ही पड़ेगा। अदिति पूर्ण रूप से श्री नहीं है क्योंकि उसमें भू के अधिक गुण हैं, किन्तु उसके कुछ गुण बाद में आकर श्री में अवश्य मिलने लगते हैं, जैसे उसकी स्वतन्त्र सत्ता, विष्णु की भार्या होना और कुछ मूर्तियों में उसके स्तनों से दुग्ध दोहन। भरहुत मूर्तिमंडप में एक स्थान पर उसे माता (सिरिमा देवता) कहा गया है, इससे भी उसके मातृत्व की धारणा पुष्ट होती है।

[१५] कौशिक सू० १८, १६ से

[१६] भट्टाचार्य, 'एलिमेंट्स ऑफ़ बुद्धिस्ट आइकॉनोग्राफ़ी', पृ० ७१

[१७] कुमारस्वामी, 'अर्ली इंडियन आइकॉनोग्राफ़ी', २, 'श्री लक्ष्मी', ईस्टर्न आर्ट, जन. १९२९, पृ० १७५

महाकाव्यों में आकर देवी श्री लक्ष्मी का स्वरूप पूर्ण रूप से निखरा है। ऐसा कहा गया है कि समुद्र-मन्थन से उसका जन्म हुआ।[१८]

जैसा कहा जा चुका है, वह कामदेव की माता समझी जाती है[१९] और इस नाते उसके हाथ में मकर का शकुन चिह्न रहता है। वही रुक्मिणी नाम से कृष्ण की भार्या और प्रद्युम्न की माता है।[२०] वह इन्द्र और कुबेर से भी सम्बद्ध है, किन्तु उनकी भार्या के रूप में नहीं जैसा परवर्ती साहित्य में मिलता है।[२१] वैश्रवण कुबेर की भार्या भद्रा है।[२२] रामायण में[२३] वह हाथ में कमल लिये कुबेर के रथ पर प्रदर्शित की गयी है। महाकाव्यों में उसके आचार सम्बन्धी गुणों पर भी काफ़ी ज़ोर दिया गया है। वह धर्म की व्याख्या करती है।[२४] किन्तु अत्यधिक नैतिकता को वह महत्त्व नहीं देती। वह निर्यति भी है।[२५] महाभारत में[२६] एक स्थान पर उसका कथन है "सभी गुण मेरी तरह होना चाहते हैं। मैं सफलता हूँ, मैं कर्मठता हूँ, मैं ही समृद्धि हूँ। विजयी राजाओं, धर्मात्माओं और सत्यवादियों के यहाँ मैं निवास करती हूँ। जब तक असुर पुण्यात्मा थे तब तक उन्हीं के यहाँ मेरा निवास था, किन्तु जब से वे पाप मार्ग पर आरूढ़ हुए उन्हें त्याग कर मैं इन्द्र के पास चली आयी।" पद्मालया, पद्महस्ता आदि शब्दों से भी उसका कमल से दृढ़ सम्बन्ध लक्षित होता है।

बौद्ध साहित्य में इस देवी का विशेष आदर नहीं; 'मिलिन्द प्रश्न' (१९१) में उसका सम्प्रदाय गुह्य कहा गया है, और 'ब्रह्मजाल सूत्र' में[२७] उसकी उपासना वर्जित है। किन्तु आरम्भिक बौद्ध कला में इस प्रकार के नियन्त्रण नहीं हैं और अभिप्राय के रूप में श्री लक्ष्मी बराबर गृहीत हुई है। जातक ५३५ में वह पूर्व दिशा से सम्बद्ध है; दक्षिण में आसा से सम्बद्ध है, पश्चिम में सद्धा से सम्बद्ध है और उत्तर में हिरि से; उसे मिथ्या-भाषिणी कह कर निन्दा की गयी है और कहा गया है वह आँख मूँद कर विद्वानों और बुद्धिमानों के साथ साथ अकर्मण्य, नीच तथा कुरूप व्यक्तियों को भी बिना किसी भेद के धन लुटाती है। कोलकण्णी जातक (सं० ३९२) में सिरिमाता पूर्व के अध्यक्ष धतरट्ठ की पुत्री कही गयी है। वह कहती है, "मैं मनुष्यों की नियति संचालिका हूँ, जो उन्हें प्रभुत्व और अधिकार देती है। मैं श्री (सिरि) हूँ, लक्ष्मी हूँ, और बुद्धि हूँ (भूरिप्रज्ञा)। जातक ५३५ में एक कथा है कि आसा, सद्धा, सिरि और हिरि देवियाँ एक राजा के पास अपने एक झगड़े का निर्णय कराने आयीं। प्रभात-नक्षत्र जैसी सुन्दर सिरि ने कहा, "जिसके ऊपर मैं प्रसन्न हो जाती हूँ, वह समस्त सुखों का भोग करता है।" किन्तु दूसरी ने यह कह कर उसकी निन्दा की, "मेरे बिना विद्वान् और बुद्धिमान् भी सफल नहीं होते, परन्तु तेरे अभय पंखों के नीचे अकर्मण्य और कुरूपों को भी सफलता मिल जाती है।" और इस प्रकार योग्य-अयोग्य का विचार न करने के कारण उसे हिरि से हार खानी पड़ी। धम्मपद अट्ठ-कथा में (२, १७) वह साम्राज्य को समृद्धि प्रदान करने वाली देवी कही गयी है, (रज्ज-सिरि-दायिका-देवता) गुप्त काल में उसकी जो मान्यता थी उसके लिए यह विशेषण बहुत उपयुक्त है।

जैन साहित्य में श्रीलक्ष्मी का कल्याणकारी रूप मिलता है। कल्पसूत्र में (३६) महावीर के जन्म के पूर्व त्रिशला के चौदह पुण्य स्वप्नों में एक श्री का भी है। उसका विवरण उसके स्वरूप के अनुसार ही है। वर्णन यों है 'पउमद्दह कमल-वासिनीम् श्रीम् भगइंम पिठई-हिमवन्त-सेल-सिहरे दिसाग बईदोरु-पियर-करभि-सिच्चमानीम्'। इसके बाद उसके शारीरिक सौन्दर्य का सविस्तर वर्णन किया गया है।

[१८] महाभारत, १, ११०, १११
[१९] वही, १, ६१, ४४; ६७, १५६
[२०] वही, १३, ११, ३
[२१] वही, ३, १६८, १३
[२२] वही, १, १९९, ६
[२३] रा०, ५, ७, १४
[२४] म०, १३, ८२, ३
[२५] म०, ५, १२५, ५
[२६] म०, १२, ८३, ४५
[२७] दीघनिकाय, १, २

महाकाव्यों में श्रीलक्ष्मी का जो स्वरूप है वही मध्यकालीन हिन्दू साहित्य में भी मिलता है। समृद्धि की देवी के रूप में यह राजाओं के साथ आसीन होती थी।[१८] उसके सौन्दर्य से नायिकाओं के सौन्दर्य की तुलना की जाती थी।[१९] हाँ, चंचला होने के लिए कहीं-कहीं उसकी निन्दा भी की गयी है।

वैष्णव धर्म में वह पुरुष या नारायण की 'प्रकृति' मानी गयी है अथवा पंचरात्र सम्प्रदाय की तरह विष्णु की शक्ति मानी गयी है। कृष्ण के साथ वह पूर्ण प्रेम की आदर्श राधा के रूप में सामने आती है। दक्षिणी भागवतों में सर्वमाता लक्ष्मी के पूजन की बड़ी महत्ता बतलायी गयी है।

इस सम्बन्ध के समस्त साहित्य का अध्ययनन करने के बाद श्रीलक्ष्मी के सम्बन्ध में डा० कुमारस्वामी का यह मत[२०] बिल्कुल ठीक है कि श्रीलक्ष्मी के मातादेवी वाले मूलरूप में आगे चल कर वैदिक काल की बहुत-सी मान्यताएँ अन्तर्भुक्त हो गयीं। भक्ति सम्प्रदाय में यही अवधारणा अध्यात्म-परक होने लगी और होते-होते यहाँ तक बढ़ी कि सौन्दर्य और कल्याण की देवी आद्या शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी।

मूर्तियों में श्रीलक्ष्मी का निरूपण

श्रीलक्ष्मी के सम्बन्ध में एक विशेष बात है जल के प्रतीक कमल के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध।[२१] जैसा डा० कुमारस्वामी ने कहा है, कमल से संयुक्त उसकी तीन प्रकार की आकृतियाँ मिलती हैं। १—'पद्महस्ता' जिसमें वह दाहिने हाथ में कमल लिये है; २—खिले हुए कमलपीठ पर वह बैठी या खड़ी है; ३—'पद्मवासिनी या कमलालया' जिसमें वह कमलनाल और पत्रों से घिरी है; कहीं-कहीं वह सभी हाथों में कमल लिये हुए भी मिलती है।[२२]

प्राचीनतम मूर्तियों में पहले प्रकार की मूर्तियाँ कम विशिष्ट हैं और तीसरे प्रकार की अधिक। दूसरे प्रकार की मूर्तियाँ कुषाण काल के पहले से यथेष्ट विशिष्ट हैं। कमलासन या कमल की बैठकी इस युग से प्रचलित हुई। भरहुत में वेष्टनी वाले स्तम्भों पर आलंकारिक आकृतियों में भी ऐसा स्वरूप पाया जाता है।

गज-लक्ष्मी या अभिषेक-लक्ष्मी के स्वरूप में श्रीलक्ष्मी के साथ हाथी भी बहुत आता है। भरहुत में कमल जैसे कोमल पुष्प पर एक हाथी खड़ा दिखाया गया है और वह इसी लिए कि कमल जीवन के प्राणभूत तत्त्व जल का प्रतीक है। मध्यकाल में विकसित कमल को व्यक्त जगत् और कमल को पवित्रता का प्रतीक मानने की अवधारणा काफ़ी पीछे की है। डा० कुमारस्वामी के कथनानुसार, "उत्तर वैदिक साहित्य और प्रारम्भिक प्रतिमाओं में यह अवधारणा थी कि जल समस्त जीवन का भौतिक एवं चरम आधार है, और विशेष रूप से पृथ्वी का। इसी कारण आसन या पीठ का प्रयोग चल पड़ा।"[२३]

भरहुत की मूर्तियों में सिरिमादेवता अकेली ही प्रदर्शित है, यद्यपि उसके उठे हुए दाहिने हाथ में सम्भवतः कमल है (चित्र १)। श्रीलक्ष्मी से सम्बद्ध सौन्दर्य की अवधारणा का भी उसमें अन्तर्भाव है। "प्राचीन मृण्मूर्तियों में माता देवी की नग्न आकृतियाँ निर्माण करने की परम्परा का यहाँ भी हमें प्रत्यक्ष दर्शन होता है। यद्यपि हम उसे पहचान नहीं सके हैं, फिर भी यह निश्चित है कि वह उर्वरता की देवी है और उसकी कल्पना सर्वदा किसी सुन्दरी के रूप में ही की जा सकती है।[२४] भरहुत की एक स्त्री-मूर्ति जो दाहिने हाथ में कमल लिये है और स्वयं एक पूर्ण उत्फुल्ल कमल पर खड़ी है, बहुत कुछ श्रीलक्ष्मी जैसी ही है (चित्र २)।[२५]

[१८] रघुवंश ४, ५
[१९] मालविकाग्निमित्र ५,३०
[२०] 'श्री लक्ष्मी' पृ० १७८
[२१] एस. बी. ७, ४, १, ८
[२२] कुमारस्वामी, 'श्री लक्ष्मी' पृ० १७८
[२३] वही, पृष्ठ १७९
[२४] वही, पृष्ठ १८१
[२५] वही, चित्र १४

चित्र १ : सिरिमा देवता, भरहुत

चित्र ३ : श्रीलक्ष्मी, साँची

चित्र ४ : श्रीलक्ष्मी, साँची

चित्र २ : देवी मूर्ति, भरहुत

पद्मा श्री

[देखिये पृ० ३६७-३८०

चित्र ६ (क) : श्रीलक्ष्मी, मथुरा (मुख)

चित्र ५ : श्रीलक्ष्मी, साँची
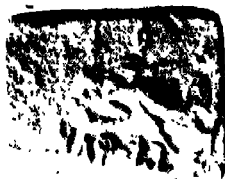
चित्र ७ : श्रीलक्ष्मी
(तक्षशिला का एक सिक्का)

चित्र ८ : पुष्कलावती देवी
(गान्धार सिक्का)

चित्र ६ (ख) : श्रीलक्ष्मी, मथुरा
(पृष्ठ)

पद्मा श्री

[देखिये पृ० ३६७-३८०

चित्र ९ : श्रीलक्ष्मी, साँची

चित्र १० : श्रीलक्ष्मी, साँची

चित्र ११ : साँची

पद्मा श्री

[देखिये पृ० ३६७-३८०

चित्र १२ : गजलक्ष्मी, सांची

चित्र १३ : गजलक्ष्मी, सांची
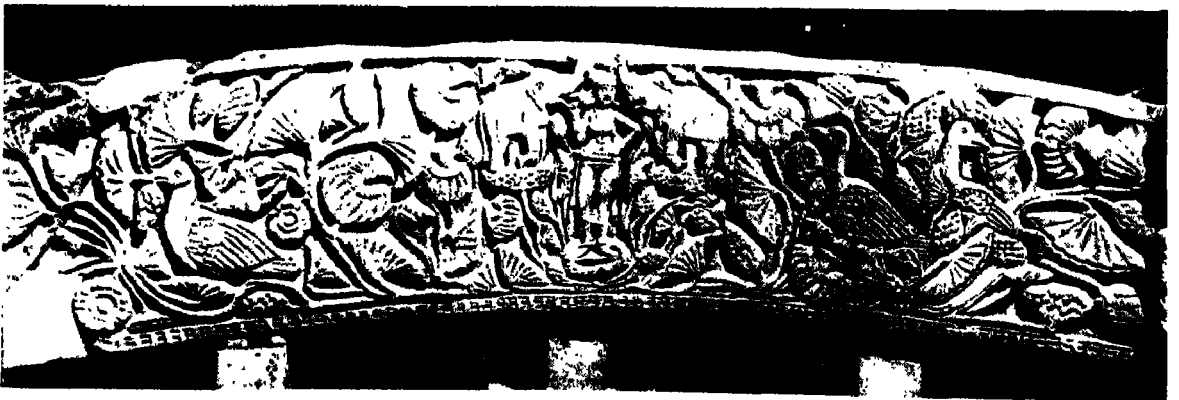
चित्र १४ : गजलक्ष्मी, सांची

पद्मा श्री

देखिये पृ० ३६७-३८०]

चित्र १५ : गजलक्ष्मी, सांची

चित्र १६ : गजलक्ष्मी, सांची

चित्र १७ : गजलक्ष्मी, सांची

पद्मा श्री

देखिये पृ० ३६७-३८०]

चित्र १८ : गजलक्ष्मी
(अज़ोलिसेज़ का सिक्का)

चित्र १९ : लक्ष्मी
(गुप्त कालीन सिक्का)

चित्र २० : लक्ष्मी
(गुप्त कालीन सिक्का)

चित्र २१ : लक्ष्मी
(कुमारगुप्त का सिक्का)

चित्र २२ : लक्ष्मी
(गुप्त कालीन सिक्का)

चित्र २३ : देवी
(गुप्त कालीन सिक्का)

चित्र २४ : लक्ष्मी (गुप्त कलीन मुद्रा)

चित्र २५ : लक्ष्मी (गुप्त कालीन मुद्रा)

चित्र २६ : लक्ष्मी, अमरावती

पद्मा श्री

देखिये पृ० ३६७-३८०]

सांची के शुंग कालीन स्तूप २ में एक स्थान पर श्रीलक्ष्मी की कमलालया वाली मूर्ति है। वह घने कमलवन में खड़ी है और उसके दोनों हाथों में उत्फुल्ल कमल पुष्प हैं (चित्र ३)।[३६] एक दूसरी मूर्ति में उसके दाहिने हाथ में कमल है और बायें में सम्भवतः अंग-वस्त्र (चित्र ४)।[३७] इसी अभिप्राय का एक दूसरा प्रकार भी है (चित्र ५)। इसी का विकसित रूप गुप्त कालीन सिक्कों पर देखने को मिलता है जहाँ श्रीलक्ष्मी के हाथ में अक्सर अंगवस्त्र या फ़ीता रहता है। एक स्थान पर वह उत्फुल्ल कमल पर बैठी है (चित्र १०)।

श्रीलक्ष्मी की आकृति हमें बसाढ़ से प्राप्त शुंग कालीन मृण्मूर्तियों में भी मिलती है। इनके समय का ठीक निर्णय नहीं हो सका है। कुछ लोग तो उनका समय सौ वर्ष बाद निर्धारित करते हैं। एक खण्डित मृण्मूर्ति (सं. ५५०)[३८] में खड़ी हुई स्त्री की आकृति है जो अपने हाथ नितम्बों पर रखे है। उसके चारों ओर कमल के पुष्प हैं। हाँ, उसके पंखों का रहस्य अवश्य कुछ समझ में नहीं आता; यह निश्चित रूप से अभारतीय प्रभाव है। देवी श्रीलक्ष्मी को पर कैसे हो गये, कुछ कहा नहीं जा सकता। डा० ब्लॉख का मत है कि यह फ़ारस का प्रभाव है जो लिच्छिवियों के फ़ारस-सम्पर्क के कारण आया। किन्तु ऐसे एक-दो उदाहरणों के आधार पर कोई सिद्धान्त नहीं स्थिर किया जा सकता। सम्भावना इस बात की है कि ई० पू० प्रथम शती में उत्तरी भारत पर शकों के आक्रमण के बाद बिहार में ईरानी प्रभाव घुसा। इस प्रकार के विशिष्ट ईरानी प्रभाव वाले उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि शक संस्कृति का क्षेत्र मथुरा के बहुत आगे तक था।

बसाढ़ की एक दूसरी टूटी हुई मृण्मूर्ति में[३९] किसी कृश स्त्री का निचला अर्धांग प्रदर्शित है। इसमें उसका दाहिना हाथ बग़ल में है और बायाँ नितम्बों पर लटकती मेखला को कसकर पकड़े है। मूर्ति कोई कसी चोली पहने रही, ऐसी सम्भावना है। इस मृण्मूर्ति की सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कमल की बैठकी। यह श्रीलक्ष्मी का मुख्य लक्षण है, किन्तु मूर्ति टूटी होने के कारण निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

मथुरा से प्राप्त श्रीलक्ष्मी का एक नमूना सबसे अधिक कलात्मक है। पूर्ण घट से फलते-फूलते कमल के पुष्पों और पत्रों का एक गुच्छा निकल रहा है; बीचवाले पत्र पर मोर का एक जोड़ा है और आगे की ओर एक स्त्री की अत्यन्त रमणीय आकृति है जिसका प्रत्येक चरण एक पुरुष पर स्थित है। यह स्पष्टतः हमारी सौन्दर्य और समृद्धि की देवी ही है। बायाँ स्तन दबा रखना देवी के दुग्ध-धाम होने की पुरानी अवधारणा को प्रकट करता है (चित्र ६ क-ख)।

उज्जयिनी के सिक्कों पर लक्ष्मी की ऊपर उल्लिखित तीनों प्रकार की आकृतियाँ मिलती हैं—फुल्ल कमल पर बैठी लक्ष्मी, कमल की बैठकी पर खड़ी और हाथ में कमल लिये लक्ष्मी तथा गजलक्ष्मी। ये आकृतियाँ अन्यत्र भी मिलती हैं, यथा मथुरा के हिन्दू राजा सूर्यमित्र, विष्णुमित्र, पुरुषदत्त, उत्तमदत्त, बलमूर्ति रामदत्त और कामदत्त के सिक्कों पर; मथुरा के क्षत्रप शिवदत्त, हगमस, रंजुबुल और सोडस के सिक्कों पर; राजन्य जनपद के सिक्कों और पंचाल के भद्रघोष के सिक्कों पर।[४०] इंडोग्रीक सम्राट् पेटेलियन और अगथोक्लीस (चित्र ७) के सिक्कों पर की तथाकथित नर्तकी को डा० कुमारस्वामी ने श्रीलक्ष्मी ठीक ही माना है। दुर्लभ इंडोसीथियन सिक्के पर (चित्र ८) पुष्कलावती देवी[४१] की जो आकृति है उसे डा० कुमारस्वामी ने श्रीलक्ष्मी माना है। भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी सम्राटों के सिक्कों पर श्रीलक्ष्मी को देखकर यह सिद्ध होता है कि इस देवी के सुख और समृद्धि दात्री होने में सबको विश्वास था।

अभी तक हमने श्रीलक्ष्मी की जिन मूर्तियों का विवेचन किया है, उनमें परिचारक नहीं है किन्तु साँची के[४२] एक वेष्टनी स्तम्भ में (चित्र ९), जिसमें तीनों प्रकार की श्रीलक्ष्मियाँ हैं, खाने-पीने की वस्तुएँ लिये दो परिचारक-परिचारिकाएँ भी हैं। फ़ूशे का निष्कर्ष है कि यह बुद्ध की माता माया का अंकन है और उनके साथ की पुरुष और स्त्री

[३६] मार्शल, 'साँची' ३, चित्र ७५, ९ ए

[३७] वही, चित्र ७६, १२ बी० १५ ए; चित्र ७८, २० बी

[३८] ए० एस० आर०, ए० आर०, १९१३-१४, पृष्ठ ११६, चित्र ४४

[३९] वही, पृष्ठ ११७, चित्र ४४ ई

[४०] बैनर्जी, पृ. १२३

[४१] बी० एम० सी०, पृष्ठ १६२

[४२] मार्शल, 'साँची' ३; ७८, २२ ए

की आकृतियाँ परिचारक हैं।[४४] उनके मत का विवेचन हम आगे करेंगे। इस आकृति को छोड़कर अन्य जहाँ कहीं भी भोजन और पेय लिये हुए देवी की आकृति है, वह निश्चित रूप से यक्षी की है।[४५] ऐसी मूर्तियों में श्रीलक्ष्मी और यक्षी को अलग-अलग करना बड़ा कठिन होता है। एक बात इस उदाहरण से और अन्य उदाहरणों से लक्षित होती है। वह यह कि श्रीलक्ष्मी का यक्षों से भी कुछ सम्बन्ध है।

अभिषेक या गजलक्ष्मी वाला स्वरूप बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह बराबर मृण्मूर्तियों और मुहरों तथा भरहुत, साँची, बोधगया, मनमोड़ी और उड़ीसा में मिलती हैं। हाँ, अमरावती और मथुरा में अवश्य यह कहीं नहीं मिलती। इस भाँति मुख्यतः उत्तर में ई० पू० २०० या इस के कुछ पहले से ही लेकर आज तक गजलक्ष्मी का स्वरूप प्रचलित है। कभी-कभी यह देवी चतुर्भुजी मिलती है और चार हाथी उनका अभिषेक कर रहे होते हैं। मध्यकाल की कुछ रचनाओं में उनके साथ बहुत-से परिचारक हैं, जिनमें वरुण भी हैं। किन्तु इस हेर-फेर के होते हुए भी, गजलक्ष्मी की मूल अवधारणा ज्यों की त्यों है।

भरहुत में[४६] दो स्थानों पर गजलक्ष्मी के अंकन में आसन या बैठकी का कमल पूर्ण घट से निकल रहा है जो जल और समृद्धि का द्योतक है। एक उदाहरण में देवी पूर्ण घट से निकले हुए उत्फुल्ल कमल पर हाथ जोड़े बैठी है; उसके दोनों ओर दो गज उत्फुल्ल कमलों पर खड़े हैं, और ये कमल भी पूर्ण घट से निकले हैं। एक दूसरे उदाहरण (चित्र ११) में भी क़रीब-क़रीब यही विधान है, पूर्ण घट से निकले कमल पर भली भाँति वस्त्राच्छादित देवी खड़ी हैं और अपना बाँया स्तन दबाये हैं, जिसमें वही दुग्धधाम होने की भावना निहित है। साँची के स्तूप में भी (चित्र १२)[४७] एक स्थान पर देवी की ऐसी अवधारणा है। अन्तर इतना ही है कि वह एक खिले कमल पर हाथ जोड़े खड़ी है और दोनों ओर कमलों पर गज खड़े हैं। ये कमल एक ही शाख से निकल रहे हैं। इस अंकन में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसमें दो घटों के बीच एक यक्ष मिथुन भी है और पुरुष के हाथ में एक कमल-कलिका है। नीचे की ओर जीवन-कमल-वृक्ष है, साथ ही दो सिंह, दो हरिण, और तल में कच्छप है जो जल से अभिप्राय का सम्बन्ध प्रदर्शित करता है। फ़ूशे ने अन्यत्र सब स्थानों की भाँति इसे भी बुद्ध-जन्म का चित्रण समझा है। किन्तु यह दृश्य 'समृद्धि की देवी' वाली परम्परा में ही है, इसमें सन्देह नहीं। साथ ही मिथुन का दृश्य उर्वरता की देवी को प्रदर्शित करता है।

साँची के स्तूप २ में[४८] देवी की एक और आकृति है (चित्र१३)। इसमें केवल देवी ही नहीं यक्ष भी (यक्षी दाहिनी ओर हो गयी है) कमल की बैठकियों पर खड़े हैं; यक्ष बायें हाथ में और यक्षी दाहिने हाथ में कमल-कलिका लिये है। यह भी ध्यान देने की बात है कि सं० ४९ क (चित्र१२) में हाथियों के ऊपर दो कमल हैं, यहाँ एक के स्थान पर छत्र है। यह गजलक्ष्मी के राज्याभिषेक का द्योतक है। पैनल के नीचे एक दूसरे के ऊपर रखे हुए दो पंजक हैं।

पहली शती ई० पू० में भी गजलक्ष्मी का अंकन खूब प्रचलित था। साँची के दक्षिणी द्वार पर (चित्र १४) एक बड़ी सुन्दर आकृति है[४९] जिसमें सघन कमलवन के मध्य गजलक्ष्मी खिले पद्म पर खड़ी है। उसका बाँया हाथ कटि पर है और उसकी अगल-बग़ल दो हंस हैं। उत्तर द्वार के पूर्वी किनारे पर[५०] उसकी जो आकृति है उसमें वह दाहिने हाथ में कमल-कली लिये है और बायें में अंगवस्त्र। उत्तर द्वार की ही एक अन्य आकृति में[५१] (चित्र १५) गजलक्ष्मी उत्फुल्ल कमल पर बैठी है और दोनों ओर दो गज अपनी सूँड़ों में घट लिये हुए उसका अभिषेक कर रहे हैं। कला की दृष्टि से पूर्वी द्वार पर[५२]

[४४] वही, चित्र ७८.
[४५] कुमारस्वामी, चित्र २८ तथा बी०
[४६] बरुआ, 'भरहुत', ३, ७९ और ९०
[४७] मार्शल, 'साँची' ३; ८८, ४९ ए०
[४८] मार्शल, वही, ३, ८७, ७१ ए०
[४९] मार्शल, वही, २, चित्र ११
[५०] वही २, चित्र २४
[५१] वही २, चित्र २५
[५२] वही

गजलक्ष्मी की बैठी हुई आकृति विशेष रूप से द्रष्टव्य है (चित्र १६)। चित्र १७ में गजलक्ष्मी दाहिने हाथ में कमलपुष्प लिये पूर्ण घट से निकलते हुए एक कमलछत्र पर बैठी है। कमलघट पर खड़े दो गज उसका अभिषेक कर रहे हैं। लक्ष्मी की कान्ति और आकृति का सन्तुलन सचमुच प्रशंसनीय है।

भारतीय सिक्कों पर गजलक्ष्मी की आकृति प्राचीनतम समय से ही मिलती है, जैसे कौशाम्बी के एक सिक्के पर (तीसरी शती ई० पू०) जिस पर कोई आलेख नहीं है, अयोध्या के विशाखदेव, शिवदत्त, और वायुदेव के सिक्कों पर (पहली शती ई० पू०) और उज्जयिनी के बिना लेख वाले सिक्कों पर (दूसरी-तीसरी शती ई० पू०) यह आकृति द्रष्टव्य है। यह अभिप्राय इतना लोकप्रिय था कि उत्तरी भारत के अजीलिसेज (चित्र १८) राजुबुल, और सोडस प्रभृति विदेशी राजाओं ने भी इसे अपने सिक्कों पर स्थान दिया है।[५२]

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि खिले हुए कमल-पुष्पों को विशेष महत्त्व दिया गया। दो कमलों पर उठी सूंड़ों में घट लिये गज खड़े रहते हैं और इन घटों से देवी के ऊपर जलधार गिरा करती है। ये गज, घट और जल, मेघ और वर्षा के प्रतीक हैं। प्राचीन काल में ये हस्ती दिग्गजों में गिने जाते थे किन्तु मूर्तियों में वे इस प्रकार नहीं प्रदर्शित किये गये हैं। अपवर्तित घट बराबर वर्षा-मेघ के प्रतीक समझे जाते रहे हैं। कभी उनसे वरुण[५३] जल बरसाते हैं, कभी मरुत; मरुत[५४] वायु के उद्गम का द्योतन करते हैं। इस भाँति आधे घटों से जल का गिरना जीवनदायिनी वर्षा का संकेत है।

बसाढ़, भीटा और राजघाट की खुदाई में प्राप्त मुहरों और सिक्कों पर श्रीलक्ष्मी और गजलक्ष्मी की आकृति बहुत मिलती है। गुप्त सिक्कों में उसके भिन्न-भिन्न स्वरूप मिलते हैं और उनमें एक तो ओर्दोक्षो का बिल्कुल भारतीय प्रतिरूप है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में, जो क़रीब-क़रीब गुप्त काल की रचना है, चित्रकला और मूर्तिकला पर एक खंड है।[५५] गुप्त सिक्कों में आयी श्रीलक्ष्मी का अध्ययन करने के पहले हम इस सम्बन्ध में विष्णुधर्मोत्तर के ही पृष्ठ उलटते हैं।

विष्णुधर्मोत्तर में शची के रूप में लक्ष्मी का इन्द्र से सम्बन्ध है।[५६] वही गन्धारी या विष्णु की माया भी है[५७] और वह काल की भार्या भी मानी गयी है।[५८] वह समस्त विश्व की जननी है और विष्णु की स्त्री है। मूर्तियों में सौन्दर्य की दृष्टि से उसके दो हाथ बनाये जाते थे और हाथ में कमल होता था। लेकिन यह स्वरूप केवल गुप्त सिक्कों और मुहरों में मिलता है। मूर्तियों में उसके चार हाथ होने चाहिए जो कमल, अमृतपात्र, शंख और बिल्व से युक्त हों। बैठकी अष्टदल कमल की होनी चाहिए; उनके ऊपर कमल का छत्र होता था और उनके पीछे दो गज सूंड़ों में घट लिये उनका अभिषेक करते होते थे। विष्णुधर्मोत्तर में देवी के हाथ की वस्तुओं के प्रतीकत्व का भी महत्त्व प्रतिपादित किया गया है; शंख समृद्धि और सौभाग्य का सूचक है; बिल्वफल समस्त ब्रह्माण्ड का तथा कमल और अमृत जल का। कमल और शंख समुद्र के भी प्रतीक माने जाते हैं। गज राज्यश्री के प्रतीक माने जाते हैं।[५९] लक्ष्मी का एक दूसरा स्वरूप भी था। इसमें गज नहीं दिखाये जाते थे। देवी के दो हाथों में कमल और शंख रहते थे। ऊपर दो विद्याधर उड़ते थे। चार अन्य देवियाँ राजश्री, स्वर्गलक्ष्मी, ब्राह्मी लक्ष्मी और जयलक्ष्मी[६०] उसकी परिचर्या में दिखायी जाती थीं। श्रीलक्ष्मी, इन चार देवियों द्वारा पूजित होती थी। इसका प्रमाण हमें मामल्लपुरम् की एक मूर्ति से मिलता है (सातवीं शती ई०)[६१] जिसमें चार देवियाँ लक्ष्मी की परिचर्या कर रही हैं। इन में से दो घट लिये हैं।

[५२] बैनर्जी, पृष्ठ १२२
[५३] ऋग्वेद, ५, ८५, ३-४
[५४] वही, ५, ५३, ६
[५५] अनुवाद, स्टेला क्रैमरिश, कलकत्ता, १९२६
[५६] वही, पृष्ठ ७४
[५७] वही, पृष्ठ ८४
[५८] वही, पृष्ठ १०२
[५९] वही, पृष्ठ १०६-१०७
[६०] वही, पृष्ठ १०७
[६१] कुमारस्वामी, वही, चित्र ४२

विष्णुधर्मोत्तर में लक्ष्मी और शंख का सम्बन्ध विशेष महत्त्व रखता है। शंख समृद्धि और समुद्र दोनों का प्रतीक है, अर्थात् शंख समुद्र-व्यवसाय को इंगित करता है। आगे चल कर हम देखेंगे कि शंख सहित श्रीलक्ष्मी एक गुप्तकालीन मुहर में आयी भी है जिस पर जलपोत अंकित है।

गुप्त काल में श्रीलक्ष्मी के पूजन का इतना महत्त्व उस युग की चेतना के अनुरूप ही है। गुप्त साम्राज्य के तीन उद्देश्य थे—राज्यों की विजय और साम्राज्य का विस्तार, उत्पादन और व्यापार द्वारा सम्पत्ति-संचय तथा सौन्दर्य की उपासना, जो केवल साहित्य और कला में ही नहीं, जीवन के सभी क्षेत्रों में द्रष्टव्य है। ये तीनों उद्देश्य सौन्दर्य और समृद्धि की देवी श्रीलक्ष्मी में पुंजीभूत थे। इसी लिए वह शासक और व्यवसायियों दोनों द्वारा समृद्धि की प्रतीक मान कर पूजित होती थी। गुप्त सिक्कों में वह भिन्न-भिन्न रूपों में प्रदर्शित है। समुद्र गुप्त के उत्पताक परशुधर वाले प्रकार में और चन्द्रगुप्त द्वितीय के उत्पताक प्रकार में वह ढीला वस्त्र और आभूषण पहने हुए सिंहासन पर बैठी है और उसके पैर कमल पर हैं। उसके दाहिने हाथ में पाश है और बाँयें में विषाण[६२] (चित्र १९)। समुद्र गुप्त[६३] और चन्द्रगुप्त द्वितीय[६४] के कुछ सिक्कों में उसके हाथ ऊपर उठे हैं और उन में कमल है (चित्र २०)। चन्द्रगुप्त द्वितीय[६५] और कुमार गुप्त[६६] के कुछ सिक्कों में वह कमल पर बैठी है और उसके दाहिने हाथ में पाश है तथा बाँयें में कमल (चित्र २१)। कभी-कभी उसका कमल वाला हाथ कटि पर रहता है[६७] और दाहिना हाथ खाली रहता है।[६८] कभी-कभी कमल दाहिने हाथ में रहता है और बायाँ हाथ घुटनों पर।[६९] एक दूसरे प्रकार में वह बेंत की चौकी पर बैठी है। उसके दाहिने हाथ में पाश और बायें में विषाण है (चित्र २२)[७०]; अक्सर इस प्रकार में पाश दाहिने हाथ में रहता है और बायें में कमल[७१]; इसके एक दूसरे उपभेद में कमल दाहिने हाथ में है और बायाँ हाथ बगल में है।[७२] एक और प्रकारान्तर में बायें हाथ में कमल है और दाहिने से देवी मयूर को फूल दे रही है (चित्र २३)।[७३]

जिन सिक्कों में लक्ष्मी की खड़ी आकृति है, उनका अंकन इस भाँति है : (१) देवी कमल पर खड़ी है; दाहिनी ओर दाहिने हाथ में कमल-नाल पकड़े है, जिससे निकला कमल बाईं ओर है।[७४] (२) देवी कमल से निकल रही है; उसके दाहिने हाथ में पाश और बायें हाथ में सनाल कमल है।[७५] (३) देवी वामाभिमुख खड़ी है; दाहिने हाथ में कमल; पीछे की ओर कमल-गुच्छ और पैरों के पास हंस।[७६] (४) देवी वामाभिमुख; दाहिने हाथ में कमल और बायें में विषाण।[७७] (५) कमलगुच्छ में खड़ी, बायें हाथ में कमल और दाहिने से मयूर को फल खिलाती हुई।[७८]

[६२] एलेन, 'गुप्त कॉयन्स', पृष्ठ १-७, १२-१४, २४-२५
[६३] वही, पृष्ठ १४-१५
[६४] वही, पृष्ठ २६-३७
[६५] वही, पृष्ठ २६-९
[६६] वही, पृष्ठ ६४-६६
[६७] वही, पृष्ठ २८, २९-३२, ६१-६३, ६७-६८, ११४-११९
[६८] वही, पृष्ठ ६२-६३
[६९] वही, पृष्ठ ६३-६७
[७०] वही, पृष्ठ १९-२०
[७१] वही, पृष्ठ ४५-४९
[७२] वही, पृष्ठ ६९
[७३] वही, पृष्ठ ७१-७६
[७४] वही, ८८
[७५] वही, ३५
[७६] वही, १५०
[७७] वही, १५-१७
[७८] वही, ८१-८३

(६) कमल पर खड़ी, दाहिने हाथ में पाश और बायें में कमल[७९]; (७) बैठकी पर खड़ी, दाहिने हाथ में पाश और बायें में कमल।[८०]

हाँ, अभिषेक-प्रकार केवल शशांक और जय के सिक्कों में मिलता है।[८१] लेकिन बसाढ़, भीटा और राजघाट से प्राप्त गुप्त मुहरों पर यह प्रकार बहुत मिलता है। बसाढ़ से प्राप्त[८२] कुमारामात्याधिकरण की एक मुहर में लक्ष्मी एक वृक्ष-गुच्छ में खड़ी है, गज उसका अभिषेक कर रहे हैं और दो बौनी आकृतियाँ बटुए जैसी वस्तु हाथ में लिये हैं। एक अन्य उदाहरण में[८३] बौने परिचारक के साथ श्रीलक्ष्मी अंकित है। यह श्रेष्ठि सार्थवाह-कुलिक-निगम की मुहर है जो व्यवसायियों और महाजनों के साथ उसका सम्बन्ध प्रदर्शित करती है। श्री-युवराज-भट्टारकपादीय-कुमारामात्याधिकरण[८४] की एक मुहर में भी गजलक्ष्मी दोनों ओर पुरुष आकृतियों के साथ आयी है। ये पुरुष दोनों ओर झुककर अपने बटुए से मुद्राएँ लुटा रहे हैं। बहुत-सी अन्य सरकारी मुहरों में[८५] भी दोनों ओर एक-एक यक्ष के साथ श्रीलक्ष्मी आयी हैं जिनमें यक्ष अपने बटुओं से धन लुटा रहे हैं (चि० २४)।

भीटा की मुहरों में[८६] या तो गजलक्ष्मी अकेली आयी है[८७] या गरुड़ के साथ। फिर भी उदाहरण सं० ३२ के विषय में डा० बैनर्जी[८८] का मत है कि वह गरुड़ नहीं, चौरी है। मुहर सं० ४२ के विषय में दो महत्त्वपूर्ण बातें ध्यान में रखनी चाहिए। पहली तो यह कि लक्ष्मी दाहिने हाथ में शंख लिये है और बायें में गरुड़ : ये दोनों सम्भवतः विष्णु से उसका सम्पर्क प्रदर्शित करते हैं। दूसरी यह कि इसमें कोई यक्ष नहीं वरन् दो बटुवे हैं जिनसे रुपये झर रहे हैं। एक दूसरी सुन्दर मुहर में अलबत्ता कमल बैठकी पर बैठे दो यक्ष प्रदर्शित हैं[८९] (चित्र २५)।

राजघाट की प्रसिद्ध वारणस्याधिष्ठानाधिकरण वाली मुहर में देवी सामने मुख किये कमल पर खड़ी है; उसकी दाहिनी ओर शानदार बैठकी पर एक तेजस्वी गोला है और बायीं ओर कई अस्पष्ट वस्तुएँ हैं; देवी के नीचे लटके हुए हाथों से सिक्के झर रहे हैं।[९०]

उपर्युक्त मुहरों से एक महत्त्व-पूर्ण बात का पता लगता है और वह है लक्ष्मी का धन तथा यक्षों के देवता कुबेर से सम्बन्ध। साँची में हम उसे यक्ष और यक्षिणियों के साथ देख चुके हैं जो या तो भोज्य-सामग्री लिये है या मिथुन आकृतियाँ हैं। किन्तु गुप्त काल में, ऐसा मालूम पड़ता है, उसके अन्य दैवी गुण दब गये थे और सबसे अधिक उसका सम्मान धन की देवी होने के ही कारण था। इसी लिए यक्ष आदि सर्वदा रुपये लुटाते हुए दिखाये गये हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि जिस पर देवी प्रसन्न होती है, उसका घर धन से पाट देती हैं। ब्लॉख की इस धारणा में कोई दम नहीं कि लक्ष्मी और कुबेर के सम्बन्ध का कोई पता नहीं लगता। डा० बैनर्जी ने मारकंडेय पुराण से एक उद्धरण दिया है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि निधियों से सम्बद्ध पद्मिनी विद्या की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी ही थीं। इनके नाम पद्म, महापद्म, मकर, कच्छप, मुकुन्द, नील, आनन्द और शंख हैं।[९१]

[७९] वही, पृष्ठ ३४.

[८०] वही, पृष्ठ ३६.

[८१] वही, पृष्ठ १४८, १५१.

[८२] ए. एस. आर, ए. आर. १९०३—४, पृष्ठ १०७

[८३] वही, पृष्ठ १०७, सं. ४

[८४] वही, सं. ६, पृष्ठ १०७

[८५] वही, चि. ४०, ७, ८, १०, ११, १३

[८६] वही, १९११—१२, १८, १९

[८७] वही, चि. १८, ३२, १९, ४२

[८८] बैनर्जी, वही, पृ. २१२

[८९] ए. एस. आर. १९११—१२ चित्र १९, ३५

[९०] बैनर्जी, पृ. ११६, २१०-११.

[९१] बैनर्जी, पृ. ११६, २१०—२११.

बसाढ़ से प्राप्त एक अद्वितीय मुहर[१२] में एक देवी की आकृति है, जो सम्भवतः श्रीलक्ष्मी की ही है (चित्र २७)। उसका प्रतिरूप (रिप्रोडक्शन) बहुत खराब उठने के कारण हम उस मुहर का स्पूनर द्वारा दिया विवरण उद्धृत कर रहे हैं। "इसका अंकन बहुत ब्योरेवार है। उभार इतना नीचा और जटिल है कि विवरण देना बड़ा दुष्कर है। सर्वप्रथम, अंड-वृत्त की निचली बड़ी गोलाई के साथ लगा एक लम्बा, भारी, सींग के आकार का बेलन है जो सम्भवतः किसी बड़ी नौका या
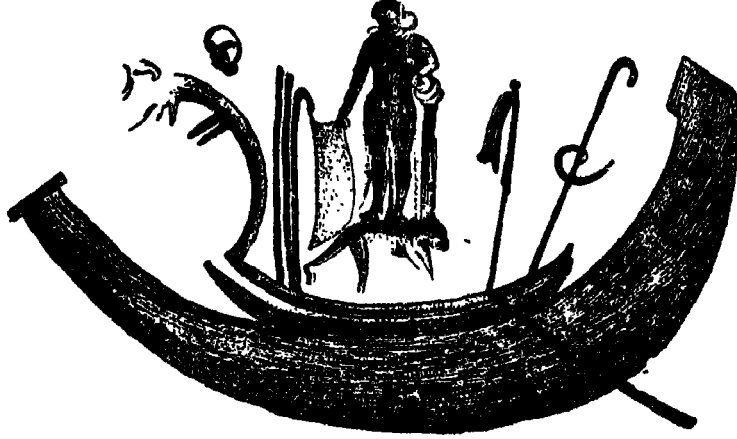
चित्र २७

बेड़े का निचला भाग है। बेड़े का बगली हिस्सा अगाड़ी या पिछाड़ी की अपेक्षा बीच में ऊँचा दिखाया गया है जहाँ ऊपर-नीचे दो समानान्तर पंक्तियाँ, जो मुख्य पंक्ति से हल्की और छोटी हैं, जहाजों के यात्री-डेकों की याद दिलाती हैं। बेड़े का अग्र-भाग स्पष्टतः बायीं ओर है। दाहिनी ओर, अर्थात् पश्चभाग की ओर, एक पतवार-सी मालूम पड़ती है जो तीन बेलनों (रोल्स) पर तिरछी रखी हुई जल में डूबी है। सबके ऊपरवाले बेलन के दाहिने हाथ आगे की ओर चंद्राकार निकली हुई दो समानान्तर रेखाएँ हैं। ये पश्चभाग तक चली गयी हैं। इनके ठीक पीछे तीन अन्य पतले दंड हैं जो सीधे खड़े हैं और पिछले दोनों की अपेक्षा अधिक ऊँचे हैं। ये पश्चभाग की दिशा में पीछे चंद्राकार मुड़े हैं। दर्शक की बायीं ओर से पहला सबमें लम्बा है और इसके सिरे की टोपी अन्य दोनों की टोपियों को ढक लेती है। बेड़े के पश्चभाग की ओर एक दंड-सा है जिससे लम्बी पताकाएँ लटक रही हैं। ऊपर बतलाये गये तीन टोपी वाले दंडों और इस दंड के बीच के स्थान में तथा बेड़े के मध्य भाग में पायों पर एक मंच-सा खड़ा है। यह मंच चौखूटा प्रतीत होता है। इस पर, नौका से काफ़ी ऊँची, सामने मुख किये एक देवी खड़ी है जिसका बायाँ हाथ कटि के नीचे है और दाहिना ऊपर उठा है। पहले तो देवी नग्न मालूम होती है, किन्तु ध्यान से देखने पर निचले अर्धांग पर समानान्तर रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं जो स्पष्टतः झीने परिधान की परिचायक हैं। ऊपर बायीं ओर खाली स्थान में एक छोटे शंख का प्रकृत अंकन है और उसके भी बायें एक पशु खड़ा है। यह पंखयुक्त सिंह है या कूबड़दार बैल है, निश्चित नहीं कहा जा सकता।" शंख के कारण इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि देवी श्रीलक्ष्मी ही हैं। प्राचीन काल में समुद्री व्यवसाय से भारत में अपार धन आता था अतः उसके प्रतीक जलपोत को श्रीलक्ष्मी के साथ दिखलाना बिलकुल उपयुक्त है। संस्कृत की उक्ति भी है 'व्यापारे वसति लक्ष्मी'।

श्रीलक्ष्मी से सम्बद्ध कलात्मक, प्रतीकात्मक और धार्मिक धारणाओं का विवेचन कर चुकने के बाद फ़ूशे के इस सिद्धान्त पर विचार करना है कि आरम्भिक बौद्ध मूर्ति कला की तथाकथित अभिषेक लक्ष्मी का अर्थ और कुछ नहीं केवल बुद्धजन्म का प्रतिनिधित्व करना है।[११] उनके अनुसार यह अभिप्राय गुप्तकाल की कला ने भी ग्रहण किया है। साँची पर अपनी अन्तिम कृति में भी वे डा० कुमारस्वामी के इस मत से सहमत नहीं हैं कि श्रीलक्ष्मी का बुद्धजन्म से कोई

[१२] ए. एस. आर.; ए. आर. १९१३—१४, पृ. १२९—१३०; चित्र ४४, ९३

[११] 'इमाज' आँदिएन द ला फारचुन', एशिया ओरिएंटेल', १, १९१३; 'बिगिनिंग ऑफ़ बुद्धिस्ट आर्ट', दे० बुद्धिस्ट मेडोना

सम्बन्ध नहीं। वे अपनी पूर्व धारणा पर ही दृढ़ हैं। मार्शल ने[१४] फ़ूशे और कुमारस्वामी के मतों के बीच का मार्ग ग्रहण किया है। उनके अनुसार "वेष्टनियों और द्वारों पर उत्कीर्ण मायादेवी की कई आकृतियाँ कमल पर खड़ी या बैठी श्रीलक्ष्मी के प्रचलित स्वरूप के बिल्कुल समान हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह स्वरूप बौद्ध धर्म के पहले से प्रचलित है। इसे भी बौद्धों ने अन्य अनेक अभिप्रायों और सूत्रों की भाँति उस काल की कला से ग्रहण किया।" सम्भव है, बौद्ध मूर्तिकला में कहीं-कहीं श्रीलक्ष्मी की अवधारणा बुद्धजननी माया देवी में आरोपित हुई हो। जैसा प्रो० ई० एच० जान्स्टन[१५] ने सौन्दरानन्द २, ४७ में बतलाया है कि बुद्ध की माता को 'मायेव दिवि देवता' कहते हैं। अश्वघोष द्वारा उल्लिखित माया नाम्नी देवी को डा० जान्स्टन ने एक अप्रत्याशित स्थान पर खोज निकाला है। यह है 'आक्सीरिंकस पैपीरस' सं० १२८० (ईसा की तीसरी शती)। इसमें देवी आइसिस का आवाहन करते हुए उसकी समता में ग्रीस की अनेक माता देवियों का उल्लेख हुआ है, जैसे साइबेला, अतरगेतिस, अस्तार्ते, ननिया आदि। इन्हीं के साथ भारत की 'माया' (Maia) का भी उल्लेख है। जान्स्टन ने झट इस माया को सौन्दरानन्द वाली माया समझ लिया। किन्तु यह विचारने की बात है कि क्या यह माया (Maia) अपने यहाँ की मैया (Maiyyā) नहीं है जो यहाँ माता देवियों के लिए आज भी प्रयुक्त होने वाला साधारण शब्द है। उक्त पुस्तक में बाद में, यद्यपि ग़लत रूप में, यह भी बतलाया गया है कि उसकी पूजा भारत में कहाँ-कहाँ होती है। यह है २२१ से २३१ पंक्तियों का अनुवाद : "धरती माता ! तूने ही नदियों में पानी भरा...मिस्र में नील, ट्रिपोली में एल्यूथिरस, भारत में गंगा..समस्त वर्षा, हिम, ओस, नाले-सोते इन्हीं के तो वरदान हैं"[१६] इससे स्पष्ट है कि माया (Maia) गंगा काँठे की देवी थी और जल, तथा इसी लिए पेड़ पौधों एवं उपज से उसका निकट सम्बन्ध था। यह कहना कठिन है कि माया (Maia) और श्रीलक्ष्मी का क्या सम्बन्ध है, फिर भी दोनों के वर्षा तथा उपज की देवी होने से उनमें निकट सम्बन्ध की सम्भावना हो सकती है।

कुमारस्वामी ने श्रीलक्ष्मी की पूर्व-बौद्ध कालीन विशेषताओं को स्वीकार किया है, फिर भी श्रीलक्ष्मी तथा अन्य कई आकृतियों को एक मानने में उनका सन्देह बना रहा। इस सम्बन्ध में उन्होंने अमरावती की दीवारों पर उत्कीर्ण पुष्प-मालाओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। ये मालाएँ मकर या बौने यक्ष के मुख से निकली हैं और सुन्दर युवक या दिव्य आकृतियों के रूप में यक्ष ही इनका भार वहन कर रहे हैं। यह अभिप्राय भरहुत और साँची में भी मिलता है। वहाँ पुष्पित एवं किसलय युक्त कमलनाल मकर के मुख से निकला दिखलाया गया है। अमरावती में यही चीज़ भाले के रूप में है। यह अभिप्राय उन यक्षों का प्रतीक है जो जल से पेड़-पौधे, फूल-पत्ती उत्पन्न करने के कार्य में संलग्न हैं। यक्ष सदा पुरुष रूप में दिखलाये गये हैं किन्तु एक उदाहरण (चित्र २६) ऐसा भी है जिसमें हम यक्ष के स्थान पर यक्षिणी पाते हैं। "विकसित कमल पर आसीन यह दिव्य रमणी पीछे झुक कर बड़े वेग से मालाएँ ऊपर निकाल रही है। मकर के ऊपर भी कमल के अनेक उक्षुप हैं। कमलों का यह समूह जल का एक स्पष्ट वातावरण उत्पन्न करता है। उन्मुक्तता तथा ब्योरों के विस्तार में यह अंकन अद्भुत है; तथापि यह प्रकट है कि उक्त देवी स्वयं श्रीलक्ष्मी या कमला के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकती। यक्षों के बीच में यदि वह भी यक्षिणी बन गयी तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं; हमने ऊपर साहित्य के अनेक उद्धरण दिये भी हैं जिनसे उसका यक्षों से सम्बन्ध प्रकट होता है। यहाँ तक कि एक परम्परा उसे स्वयं हारिति की कन्या मानती है।[१७] यहाँ पर जल के प्रतीक मकर के साथ उसका सम्बन्ध हमें मिस्र देशीय पेपीरस वाली माया की याद दिलाता है। कुछ भारतीय मुहरों में मकर के साथ अंकित नग्न मातादेवी भी इसी परम्परा में है।

साहित्य और मूर्ति दोनों में श्रीलक्ष्मी का विस्तृत अध्ययन कर चुकने पर हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं : (१) श्री लक्ष्मी की परम्परा सिंधु-काँठे से प्राप्त नग्न स्त्री मृण्मूर्तियों और पत्थर की नालों में प्रदर्शित मातादेवी की परम्परा का अंग है। साथ ही इसका सम्बन्ध बसाढ़, तक्षशिला, राजघाट आदि से प्राप्त छोटी नालों में उत्कीर्ण नग्न देवियों की आकृति से भी है जो अक्सर मकर तथा अन्य पशु-पक्षियों के साथ प्रदर्शित की गयी है। किन्तु भारत में यह माता देवी किस नाम से

[१४] 'साँची', भाग १, पृ. ९६, १

[१५] जर्नल ऑफ़ द इंडियन सोसाइटी ऑफ़ ओरिएंटल आर्ट, भाग १० (१९४२), पृ. १०१

[१६] वही, पृ. १०२

[१७] कुमारस्वामी, 'श्री लक्ष्मी' पृ० १८८

अभिहित होती थी, इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। (२) ऋग्वेद में श्री एक भावमात्र है जो सौन्दर्य, सुख और शारीरिक आकर्षण आदि गुणों का द्योतन करता है। धीरे-धीरे इसमें समृद्धि और सम्पत्ति का भाव आरोपित हो गया। परवर्ती वैदिक साहित्य में, श्री में सौन्दर्य की भावना तो निहित है किन्तु यह शब्द सांसारिक प्रतिष्ठा के अर्थ में अधिक प्रयुक्त होने लगा। श्री और प्रजापति की कथा में सौन्दर्य जो भाव-मात्र था, जीता-जागता दैवी शरीर का रूप ग्रहण कर लेता है। सम्भवतः यह मातादेवी का ही रूप है। (३) परवर्ती वैदिक काल में सौन्दर्य इंगित करनेवाली श्री और प्रसन्न चित्त को इंगित करने वाली लक्ष्मी मिल जाती है। यह भी ध्यान रखने की बात है कि लक्ष्मी के कल्याणकारी और अकल्याणकारी दोनों रूप होते थे और कल्याण-भावना की प्रधानता होते हुए भी अकल्याण-भावना पूर्णतः मिट न सकी। प्रसन्नता का द्योतन करती हुई श्री, और उसे प्राप्त करने की प्रवृत्ति का द्योतन करती हुई लक्ष्मी, दोनों का मिलकर एक हो जाना स्वाभाविक था। (४) श्रीसूक्त में हमें श्रीलक्ष्मी का मूर्तियों वाला स्वरूप भी निखरता दिखाई देता है। कमल के साथ, और अभिषेक करते हुए गजों के साथ, मूर्तियों में प्रचलित उसके दोनों स्वरूप हमें यहाँ मिलते हैं। (५) वैदिक साहित्य में श्री विष्णु की भार्या के रूप में कहीं नहीं आयी है, किन्तु उसके स्थान पर हम दूसरी वैसी ही देवी दुग्ध-धाम अदिति को पाते हैं जिसे कई स्थानों पर विष्णु की भार्या कहा गया है। (६) महाकाव्यों और पुराणों में विष्णु के साथ तो उसका सम्बन्ध है ही, वह कामदेव की माता भी कही गयी है और कुबेर तथा इन्द्र के साथ भी उसका सम्बन्ध दिखलाया गया है। साथ ही वह प्रेम की भी देवी है। कमला, पद्मा, श्री आदि नामों से कमल के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध भी प्रकट होता है। (७) बौद्ध साहित्य में श्री कोई बहुत सम्मान की दृष्टि से नहीं देखी गयी। उसकी चंचलता की निन्दा ही की गयी है। किन्तु जैन साहित्य में उसका कल्याणकारी स्वरूप बना हुआ है और उसे त्रिशला के चौदह स्वप्नों में भी स्थान मिला है। (८) प्राचीन मूर्तियों में वह या तो हाथ में कमल लिये उत्फुल्ल कमल-पीठ पर खड़ी दिखायी गयी है या पद्मवासिनी रूप में। गजलक्ष्मी वाले प्रकार में गज उसका अभिषेक कर रहे हैं। बसाढ़ से प्राप्त कुछ शुंग मृण्मूर्तियों में उसे पंख भी दिखाये गये हैं। ऊपर लिखित सभी प्रकार सिक्कों पर भी मिलते हैं। (९) मूर्तियों और उकेरियों में कहीं-कहीं उसके साथ भोज्य-सामग्री लिये परिचारक भी हैं। (१०) गुप्तकाल में सौभाग्य और विजय की देवी के रूप में श्रीलक्ष्मी का अभिप्राय बहुत ही प्रचलित था। उस काल के सिक्कों तथा मुहरों पर वह भिन्न-भिन्न स्वरूपों में दिखायी पड़ती है। बसाढ़ और भीटा से प्राप्त मुहरों में उसके साथ के यक्ष बटुओं से रुपये लुटा रहे हैं। यह दृश्य इस युग में उसके धन-दात्री देवी होने की धारणा दृढ़ करता है। जैसा बसाढ़ से प्राप्त एक मुहर पर आये उसके प्रतिरूप से स्पष्ट है, वह समुद्री व्यवसाय करने वाले महाजनों की भी इष्ट देवी है। (११) फ़ूशे की इस धारणा का कि श्रीलक्ष्मी और बुद्ध-जननी माया एक ही है, कोई समुचित प्रमाण नहीं; फिर भी इन दोनों अभिप्रायों का मिल जाना नितान्त असम्भव नहीं। (१२) अमरावती में श्रीलक्ष्मी का केवल एक अंकन है जिसमें वह जल के प्रतीक मकर के मुँह से निकलती दिखायी गयी है। यह दृश्य यक्षों के साथ उसका सम्बन्ध दृढ़ करता है।

मई १९४९

फलक १६

फलक १२०
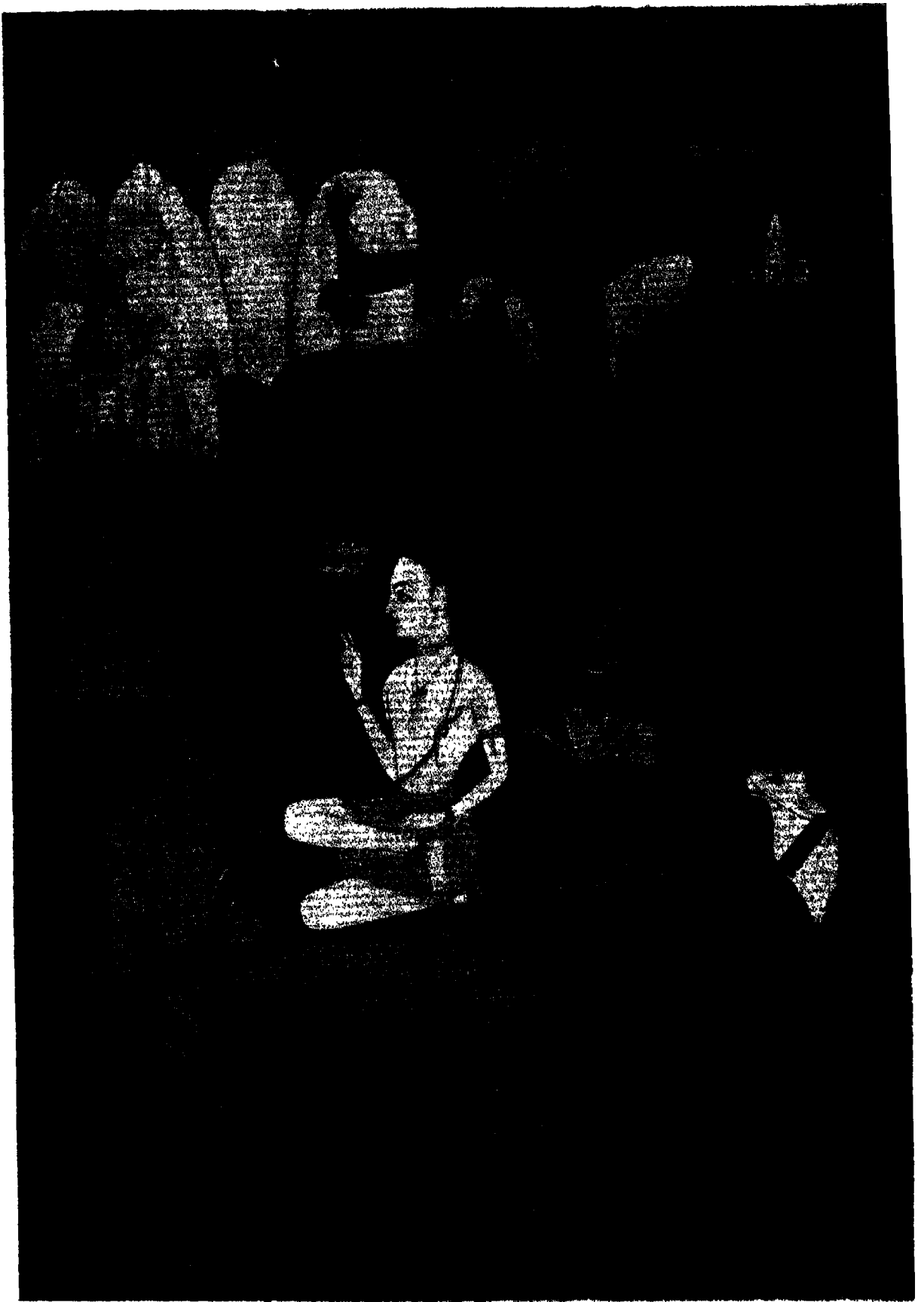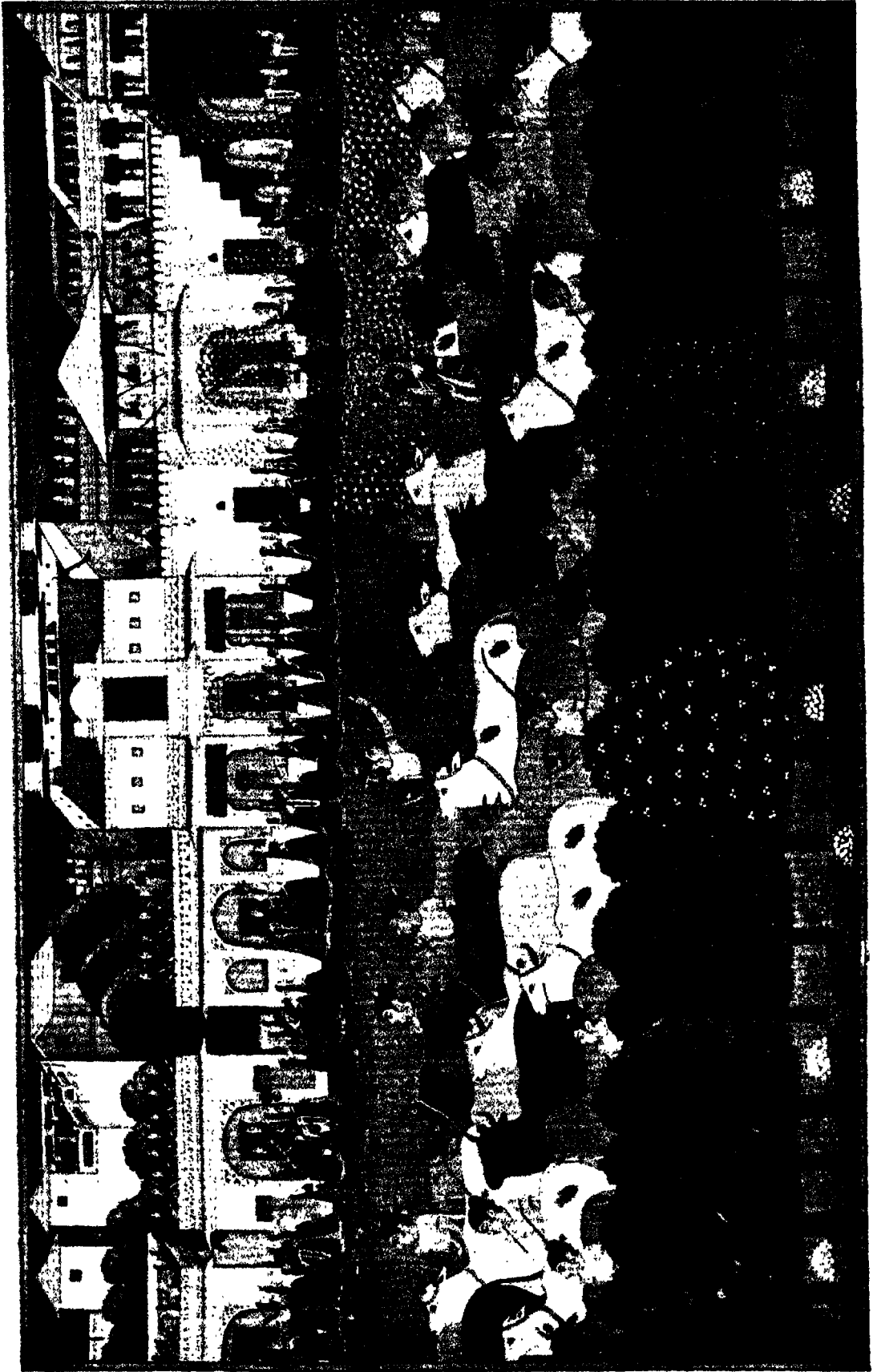
राष्ट्रवाद और सामयिक शिल्प

विनोदबिहारी मुकर्जी

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में, आज हम जातीयता और अन्तर्जातीयता, इन दो मतवादों का प्रभाव अनुभव करते हैं। यद्यपि इन दो आधुनिक मतवादों का प्रथम दर्शन राष्ट्रीय जागृति के लिए हुआ था, किन्तु क्रमशः राष्ट्रीय परिधि की अवहेलना कर, दोनों ही मतवाद आज संस्कृति-सम्बन्धी नाना प्रांगणों एवं समाज-संगठन के नाना स्तरों में कार्य-निरत दिखाई पड़ते हैं।

वर्तमान कालीन साहित्य, कला, धर्म-मत, दार्शनिक चिन्ता एवं शिक्षा-समस्या आदि सभी क्षेत्रों में इन दोनों मतवादों की प्रतिद्वन्द्विता मिलती है। किन्तु विरोधी दलों की यह तनातनी जिस समस्या को हल करने के लिए जातीयता और अन्तर्जातीयता का नाम लेकर प्रज्वलित हुई है, वह समस्या या वह प्रश्न न तो नवीन ही है और न एकान्त रूप से आधुनिक राष्ट्रीय जगत् की कोई स्वरचित देन है।

एक दिन व्यक्ति और समाज के संघर्ष का, एक दूसरे की स्वाधीनता के लिए जो प्रश्न सभ्यता के इतिहास में उठा था, वही प्रश्न आज फिर एक दीर्घ पथ पारकर जातीयता और अन्तर्जातीयता में रूपान्तरित हो, सामने आ खड़ा हुआ है; किसी भी रूप में व्यक्ति या समाज का एकोन्मुखी अधिकार हो पाया है ऐसा प्रतीत नहीं होता। और जिस कारण उस समय व्यक्ति या समाज को समूल उन्मूलित नहीं किया जा सका, उसी कारण आज भी, जातीयता और अन्तर्जातीयता, किसी एक को काट-छाँट कर फेंक देना हमारे लिए सम्भव नही। व्यक्तिवादी अनुयायियों ने जिस वस्तु की अभिलाषा की थी, आज अन्तर्जातीयता के पुजारी उसी की खोज में उत्कंठित हैं। दोनों ही का लक्ष्य था मानवता को विकास-पथ की ओर उत्प्रेरित करना।

आज जिस वस्तु को हम जातीयता के नाम से पुकारते हैं वह केवल समाजवादियों का दूसरा संस्करण नहीं तो और क्या है? उस समय उस युग के नेताओं ने नाना विधानों की शरण ले समाज को पक्की दीवार की तरह शक्तिशाली बनाने की चेष्टा की थी, और वह था आचार-व्यवहार, खानपान और वस्त्राभूषणों पर समान रंग चढ़ाने का प्रयत्न। राजनीतिक कारणों का शिकार बन आज जातीयता के कर्णधार भी उसी प्रवाह के अनुकरण में तल्लीन हैं। व्यक्ति और समाज का चिरन्तन संघर्ष एवं उसकी हार-जीत उनका एकमात्र लक्ष्य नहीं, बल्कि इस संघर्ष के गर्भ में व्यक्ति और समाज में सामंजस्य की एक आशा झलकती है। साहित्य और कला के इतिहास पर बारम्बार इस संघर्ष की छाप पड़ी है और अनेक क्षेत्रों में साहित्य तथा कला की सहायता ले विरोधी मतवादियों को समझौता करना पड़ा है। आज भी जहाँ एक ओर राष्ट्रीय प्रांगण के दो दलों में होड़ चली है वहाँ दूसरी ओर साहित्य कला जगत् द्वारा, दोनों विरोधी दलों में सामंजस्य लाने की एक हार्दिक चेष्टा की जा रही है।

पाश्चात्य सभ्यता की प्रतिक्रिया में, जातीयता और अन्तर्जातीयता से हमारी प्रथम मुठभेड़ अंग्रेज़ी राज्य में हुई। समाज-संगठन की ओट में जब यह दो राष्ट्रीय मतवाद विकसित हुए, वह था राममोहन राय का युग। अंग्रेज़ी शिक्षा से प्रभावित उदार दृष्टि वाले राजा राममोहन राय तथा उनके सहधर्मियों को उस समय टक्कर लेनी पड़ी थी सनातनी मतावलम्बियों से। वही प्रगतिवादी और सनातनियों की झपट आज फिर जातीयता और अन्तर्जातीयता में साकार हुई है। आधुनिक साहित्य और कला किस प्रकार राष्ट्रीय मतवादों को लेकर प्रभावित हुए, यह आलोचना करने से पूर्व यह आवश्यक है कि एक बार हम राजा राममोहन राय के युग का सिंहावलोकन करें, जहाँ इस विरोध का अंकुर छिपा हुआ है।

अंग्रेज़ों द्वारा पाश्चात्य सभ्यता का आघात पा भारतवर्ष में व्यक्तिवाद की एक दृढ़ चेतना आयी थी। उस समय भारतवर्ष सामाजिक संस्कारों की शृंखलाओं में जकड़ा हुआ था। इस प्रबल बाह्य आघात द्वारा यह जड़ता शिथिल

हो चली और संस्कृति उन प्रचलित संस्कारों के बन्धन से मुक्त हो स्वतन्त्र रूप से बह निकली। यही था व्यक्तिवादी युग का प्रारम्भ।

मुट्ठीभर अंग्रेज़ी शिक्षित व्यक्तिवादियों ने यूरोपीय सभ्यता का अवलम्बन करने की चेष्टा की और उसी कारण साहित्य में विदेशी ढाँचे का रोमांटिसिज्म तथा कला में वास्तविकता आयी। उन्होंने अपने सामाजिक संस्कार को भी अंग्रेज़ी सभ्यता के अनुरूप गढ़ने का प्रयत्न किया। अपनी सामंजस्यशील उदार प्रवृत्ति तथा प्रगतिशील चिन्ताधारा द्वारा राजा राममोहन राय इस अल्पसंख्यक अंग्रेज़ी-शिक्षित पाश्चात्य सभ्यता से रंजित सम्प्रदाय को समाज-संगठन के दृढ़ पथ पर अग्रसर कर चले। उनके प्रभाव से हमारी रूढ़िगत निष्प्राण बुद्धि जाग्रत् हो उठी और हमारी दृष्टि संस्कृति के विशाल प्रांगण में प्रवेश कर पायी।

समाज का इस नवीन चिन्ताधारा से परिचय राजा राममोहन राय ने उपनिषद्-वाणी का आश्रय लेकर कराया। ठीक-ठीक अवस्था देखने से पता चलेगा कि राजा राममोहन राय का यह संदेह तत्कालीन समाज के विरुद्ध व्यक्ति की स्वाधीनता का सन्देश था। किन्तु यह व्यक्तिगत उद्दंडता समाज को सहनीय नहीं, अतएव राममोहन राय एवं उनके अनुगामियों के साथ-साथ प्रतिक्रियाशील सनातनी दल भी दृष्टिगोचर होता है।

जो आधुनिकता अंग्रेज़ी प्रभाव द्वारा समाज में घुसी थी वही आधुनिकता, चिन्ता एवं भाव का सहारा पा साहित्य-संसार में आत्म-प्रकाश कर निकली; और मधुसूदन दत्त की काव्य-प्रतिभा ने एक नूतन साहित्य द्वारा इन दोनों मत-वादों के आघात-प्रघातों में सामंजस्य ला दिया। राजा राममोहन राय की उदार चिन्ताधारा एवं मधुसूदन दत्त की प्रतिभा द्वारा पाश्चात्य सभ्यता को पचाने की यह चेष्टा प्रथम चेष्टा थी। किन्तु कुसंस्कारों से आच्छादित समझ जिन समाज-संस्कारों को राजा राममोहन राय और मधुसूदन दत्त अतिक्रम करने की चेष्टा कर रहे थे, उन्हीं बृहत् संस्कारों से अतिरुद्ध समाज में ही छिपी थी एक कर्म-शक्ति—जाति-धर्म—और उसी बल पर समाज ने भारतीय कला और भारतीय साहित्य को जन्म दिया।

यद्यपि भारतीय समाज अंग्रेज़ी शिक्षा एवं नवीन भावों द्वारा चिन्ता-जगत् में जागृति प्राप्त कर रहा था, किन्तु अभी कर्मभूमि में प्रवेश करने में उसे कुछ देर थी। इस प्रवेश की सूचना हमें मिली अतीत और वर्तमान में सामंजस्य लाने की चेष्टा के साथ। इस कर्मभूमि की रचना का श्रेय एक ओर विवेकानन्द को है और दूसरी ओर साहित्यिक बंकिमचन्द्र को। कहा जा सकता है कि विवेकानन्द और बंकिमचन्द्र के समय से सनातनी और प्रगतिशील चिन्ताधारा धीरे-धीरे संकुचित और निर्बल हो गयी।

इससे पूर्व राजा राममोहन राय और मधुसूदन दत्त की प्रतिभाशक्ति द्वारा नवागत पाश्चात्य सभ्यता को आत्म-सात् करने की तो चेष्टा दिखाई पड़ी थी; किन्तु उसमें प्राचीन और नवीन संस्कृतियों के एकीकरण की शक्ति न थी। नवीन धारा से प्रभावित सम्प्रदाय अतीत को तोड़-फोड़ कर फेंक देना चाहता था और इधर सनातनी केवल तत्का-लीन संस्कारों के मोह में फँसे थे। विवेकानन्द और बंकिमचन्द्र के द्वारा अतीत को सुधार कर वर्तमान आवश्यकताओं के अनुसार उपयोगी बनाने का प्रयत्न हुआ और साथ में वर्तमान को अतीत के सामने रख उसके गुण-दोषों की जाँच-पड़ताल भी की गयी। विवेकानन्द और बंकिम का यह प्रयत्न चिन्ताधारा और कर्मभूमि पर निर्भर था, और उसमें थी जातीय जागरण की गम्भीर आवाज़। एक ही अभिप्राय को लक्ष्य कर विवेकानन्द नूतन समाज-संगठन में लगे और बंकिम साहित्य-रचना में।

चारों ओर से इस शक्ति-संचय के समय राजा राममोहन राय की उदार चिन्ता केशवचन्द्र के सम्मुख पड़ संकु-चित समाजवाद में परिणत हो गयी है। किन्तु बंकिम, विवेकानन्द और केशवचन्द्र कालीन सीमा को लाँघ एक और नवीन युग भारतवर्ष के इतिहास में लिखा जा रहा था। भारतवासियों की चिन्ता-धारा और अन्तर्निहित कर्म-शक्ति का साकार आत्म-रूप था जातीय आन्दोलन। साहित्य, कला, राजनीति, समाज, जाति सब एकचित्त हो एक बड़े कर्मस्थल के निर्माण में संलग्न हुए। अतीत और वर्तमान के सामंजस्य से अंग्रेज़ी काल के अन्तर्विरोध को नष्ट करना ही था। इस आन्दोलन को उत्तेजित करने के लिए ही भारत के विभिन्न प्रदेशों और विविध विचार-शैलियों को एकत्र होने का अवसर मिला। साहित्य-शिक्षा और कला-शिक्षा पर जातीयता की छाप पड़ी। इसी जातीयता के रंग में रँगे दिखाई पड़े कवि रवीन्द्रनाथ और शिल्पी अवनीन्द्रनाथ।

रवीन्द्रनाथ के साहित्य और अवनीन्द्रनाथ की कला द्वारा हमें आत्मीकरण करने की अद्भुत शक्ति मिली। उस समय भारतवर्ष में रवीन्द्रनाथ का साहित्य और अवनीन्द्रनाथ की कला को स्थान मिला, क्योंकि वे जातीय रचना-शक्ति के प्रतीक थे। उस समय न तो हमें गुटबन्दी और प्रान्तीयता का प्रश्न सताता था और न अपनी अपनी व्यक्तिगत मौलिक रचना-शक्ति पर ध्यान गया था। इसी कारण उस समय घर-घर में कला ने विकास पाया और भारतीय जाति साहित्य-साधना में लगी।

जातीय स्वाधीनता का यह प्रथम आन्दोलन भले ही राजनीतिक दृष्टि से असफल रहा हो किन्तु संस्कृतिक्षेत्र में स्वतन्त्रता की हवा लग चुकी थी, और संस्कारों के कठोर आडम्बरों को तोड़ लुप्त संस्कृति की खोज आरम्भ होने लगी। गुरुकुल आश्रम और रवीन्द्रनाथ के ब्रह्मचर्य आश्रम की स्थापना हुई। उद्देश्य था जातिसंगठन।

अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भिक काल में प्रगतिवादियों तथा सनातनियों में जो झगड़ा समाज और व्यक्ति को लेकर हुआ था, वही समस्या अब फिर जाति-आन्दोलन के समय जातीयता और अन्तर्जातीयता के भेष में आ उपस्थित हुई। जातीयवाद ने इस बार राजनीतिक क्षेत्र में जोर पकड़ा, और संस्कृति-क्षेत्र में अन्तर्जातीयता ने डेरा जमा दिया। यह दोनों ही मत-भेद उस समय के इतिहास में छाती खोल कर आये और साथ ही एक दूसरे की ओर आकर्षित भी हुई। जहाँ एक ओर रवीन्द्रनाथ ने अन्तर्जातीयता को अवलम्बन दिया वहाँ दूसरी ओर जातीयता गान्धीजी में केन्द्रित हो चली।

सन् १९२०–१९३० तक भारत का एक युग समाप्त हो गया और एक दूसरे नवजात युग का शुभागमन हुआ। यूरोपीय सभ्यता के प्रभाव से जो युग प्रारम्भ हुआ था यहाँ उसकी परिपक्व अवस्था हो निष्पत्ति हुई और एक नवीन यूरोपीय सभ्यता ने भारत में प्रवेश किया।

यूरोपीय सभ्यता के परिवर्तन-काल में इस नवीन समाजवाद ने एक बार फिर यन्त्र-युग की असाधारण शक्ति ले भारतीय चिन्ता-निधि को आलोड़ित कर दिया। रवीन्द्रनाथ और महात्मा गान्धी ने इसी समय जाति के जीवन में स्थान पाया। रवीन्द्रनाथ और गान्धीजी के विरोधी विचार जो हमारे जीवन में प्रतिबिम्बित हुए वह उन्नीसवीं शती की विभिन्न चिन्ताओं का ही पूर्ण रूप था। तत्कालीन कला, साहित्य एवं संस्कृति के नाना क्षेत्रों और समाज-विधान में जातीयता और अन्तर्जातीयता का जो प्रभाव और संघर्ष दृष्टिगोचर होता है वह एक प्रकार से गान्धीजी और रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व में अन्तर्निहित है। दूसरी ओर नवीन रूप के अनुकरण की चेष्टा भी की जा रही थी; किन्तु हमारी इस आलोचना का विषय तो केवल इस परिवर्तन का वही अंग है जो गान्धीजी और रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व द्वारा हमारी कला, साहित्य और समाज व्यवहार में हमें मिला।

विश्वभारती शिक्षा-केन्द्र द्वारा रवीन्द्रनाथ की अन्तर्जातीयता चिन्ता-जगत् को पार कर कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण हुई। उनकी चेष्टा थी एक ऐसी शिक्षा-प्रणाली की सृष्टि करना जहाँ जातीयता का बन्धन उसे सीमित नहीं कर पाता, जो शिक्षा विशाल मानवता के संग आदर्श सम्बन्ध रख सके और जो शिक्षा असंकुचित रूप से आत्मत्राण प्रदान कर सके। संक्षेप में यही उनकी आदर्श शिक्षा का ध्येय था और यही था उनके अन्तर्जातीयवाद का मूलमन्त्र। संस्कृति क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ की विचार-धारा एवं शिक्षा के आदर्श ने जो अभिनव सृष्टि की उसका एक अच्छा उदाहरण है आधुनिक काल की शिल्प-कला। एक दिन जब जातीयता का नाम ले अवनीन्द्रनाथ ने जनता को जातीय कला का आदर्श सिखाया था, उसी समय से भारतवर्ष आधुनिक कला का जातीय रूप गढ़ सका। किन्तु जिस कला में अपनी असाधारण तन्मय शक्ति द्वारा अवनीन्द्रनाथ प्राण संचारित कर सके, वही कला जातीयता की संकुचित सीमा में आबद्ध हो, इच्छा और चेष्टा के रहने पर भी, कलाजगत् में शिथिल हो चली; और जातीयता की चार-दिवारी द्वारा बाह्य संस्कारों से कला को बचाने के अनेक प्रयत्न किये जाने लगे।

अपनी उदार विचार-प्रणाली तथा शिक्षा के आदर्श द्वारा रवीन्द्रनाथ ऐसे कलाजगत् में एक परिवर्तन लाये। शिल्पियों का एक दल देशी और विदेशी कलाओं के संग आत्म-परिचय कर जड़ता के जंजाल से बाहर निकल आया और आधुनिक कला विभिन्न प्रकार से शक्ति-संचय कर आगे बढ़ निकली। इस प्रयत्न के फलस्वरूप तत्कालीन कला में नवीन रूप से प्राण-स्फूर्ति आयी और अवनीन्द्रनाथ से जो उपक्रम और दृष्टिभंगी, जातीयता के रूप में, भारतवर्ष को मिली थी, एक नूतन शक्ति पा अविरल वेग से प्रवाहित हो सकी। रवीन्द्रनाथ के विचार में साहित्य और शिल्प ही कोई विशेष प्रधान स्थान नहीं; वह शिल्प, साहित्य, संगीत, और नृत्य इत्यादि सभी को समाज में सामंजस्य लाने के लिए आवश्यक मानते हैं। उनके विचार से आत्म-विकास के पथ में शिल्प-संस्कृति की आवश्यकता थी और यही कारण था कि उनकी आदर्श शिक्षा शिल्प-क्षेत्र में

जिस प्रकार उदार भाव ला सकी उसी प्रकार जीवन के नाना क्षेत्रों में शिल्प की सहायता से सौन्दर्य सजन करने में वह प्रयत्नशील रहे।

कला-जगत् में समाज की यह सचेतनता भारतीय कला, कौशल, अलंकार और अन्य कार्यों को नूतन स्फूर्ति दे सकी। जब रवीन्द्रनाथ का शिक्षा-केन्द्र आधुनिक संस्कृति, संगीत, नृत्यकला आदि अनेक प्रकार के कौशलों में जीवन संचार कर रहा था उस समय देश में गान्धीजी क्रोधहीन, भयहीन कठिन साधना द्वारा आर्थिक समस्याओं के समाधान की एकान्त चेष्टा आरम्भ कर चुके थे। तत्कालीन आन्दोलन का प्रभाव यद्यपि उस समय की कला पर नहीं पड़ा तथापि साहित्य पर यह प्रभाव पर्याप्त मात्रा में स्पष्ट है। भारत के सभी प्रान्तों के साहित्य में आन्दोलन के साथ ही साथ एक नवीन चेतना दिखाई पड़ती है। कभी तो इस चेतना ने जातीयता को उत्तेजित किया और कभी-कभी जातीय समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न।

समाज-संस्कार के रूप में गान्धीजी का प्रथम दर्शन हम असहयोग आन्दोलन के प्रथम खंड में दाँडी-मार्च के साथ पाते हैं। आर्थिक क्षेत्र में यह आदर्श गान्धीजी द्वारा कल्पित एक नूतन समाज की सूचना देता है। रवीन्द्रनाथ द्वारा निर्देशित शिक्षा-प्रणाली की उदारता से, गान्धीजी के समाजवाद की यह नम्रता किसी भी प्रकार कम नहीं। उन्होंने इसी पथ का अनुसरण कर सामूहिक तौर से दुर्बलता, असत्यता और दरिद्रता से मुक्ति पाने की आशा की। किन्तु भारत का शुभाकांक्षी होने पर भी, उनकी बतायी जातीयता का स्थान यहाँ नहीं था। और जिस सामाजिक आदर्श को लक्ष्य कर गान्धीजी अग्रसर हुए थे उस समाज की आर्थिक समस्याओं के समाधान-स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति को स्वावलम्बी करने के लिए आवश्यकता पड़ी घरेलू धन्धों, ग्राम्य उद्योगों और कला-कौशल की। रवीन्द्रनाथ के शिक्षा-केन्द्र में शिल्पी सम्प्रदाय जो संस्कृति सर्जन कर रहा था उसका परिचय अभी हमें नहीं मिला था। गान्धीजी को आवश्यकता पड़ने पर उनके समाजवाद का संकेत पा उस शिक्षा-केन्द्र का शिल्पी-सम्प्रदाय कर्म-क्षेत्र में कूद पड़ा। और इस प्रकार नवीन कालीन शिल्प-संस्कृति का भावी समाज के साथ सम्पर्क हो चला। शिल्प-संस्कृति एवं समाज का यह संपर्क रवीन्द्रनाथ और गान्धीजी के आदर्श और लक्ष्यों का सुन्दर सम्मिश्रण था।

कुछ दिन तक, तत्कालीन जातीयवादियों ने रवीन्द्रनाथ के जिस शिक्षा आदर्श को व्यर्थ समझा था एवं जो शिल्प-कला जीवन-युद्ध से विमुख दिखाई पड़ी थी वही शिल्प-कला आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए नितान्त आवश्यक बन गयी। इधर यन्त्रयुग से प्रभावित गान्धीजी के समाज-आदर्श के प्रतिद्वन्द्वी कलाकार, जो चेष्टा कर पथ में रोड़े अटकाते रहने पर भी गान्धीजी को असफल न कर सके, आज अग्रगामी होने पर भी पथभ्रष्ट दिखाई पड़ते हैं। दूसरी ओर गान्धीजी के समाजवाद में छिपी सांस्कृतिक सम्प्रदाय की दुर्बलता प्रान्तीयता बन कर सामने आयी है।

साहित्य, शिल्प इत्यादि सभी से सम्बद्ध जो मतवाद यूरोप से एशिया की ओर अग्रसर हुआ वही मतवाद ठीक अवसर पा रवीन्द्रनाथ की अन्तर्राष्ट्रीयता और गान्धीजी के समाजवाद द्वारा पोषित हो हमारे यहाँ घर बना बैठा। अतएव हमारा आज का साहित्य और शिल्प अनेक विरोधी मत होने पर भी उसी यूरोपीय मतवाद का अनुकरण और अनुशीलन करने में तत्पर है।

जातीय संग्राम का अध्याय शेष कर आज भारतवर्ष अपने गन्तव्य पर पहुँच चुका है। अब समाज या तो संस्कार-वशीभूत हो रूढ़िगत बनेगा, या विश्वव्यापी मानव समाज के साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित होगा। यद्यपि यह प्रश्न राष्ट्र-नेताओं पर निर्भर करता है, किन्तु सर्वथा नहीं। कुछ सीमा तक इस प्रश्न की निष्पत्ति में संस्कृति-जगत् का भी हाथ है। वर्तमान राष्ट्र समाज ही का तो बड़ा संस्करण है; और सामाजिक मतवादों पर ही राष्ट्र के संगठन और शक्ति-अर्जन का भार है। यह भी मान लिया जा सकता है कि सांस्कृतिक द्वन्द्व राष्ट्रीय समस्याओं पर अवलम्बित है। किन्तु क्या राष्ट्र संस्कृति के आलोक को भूल सकता है?

सभ्यता के विकास में बारम्बार हम यही देखते हैं—एक ओर व्यक्तिगत उन्नति और दूसरी ओर सामाजिक दृढ़ता। दोनों में किसी को भी एकदम तिलांजलि नहीं दी जा सकती। ज्ञान-ज्योति के अभाव में, राष्ट्र हो या समाज हो, दोनों ही का विकास-पथ बन्द हो जाता है। साहित्यिक और कलाकार ही राष्ट्र को यह ज्ञान-ज्योति दिखाते हैं। कला और साहित्य के बिना समाज में ज्ञान का प्रवेश नहीं हो पाता। राष्ट्रीयवाद अथवा और कोई भी राष्ट्र-सम्बन्धी आदर्श, चाहे वह जातीयता हो या अन्तर्जातीयता, स्थापित करते समय साहित्य और कला पर ध्यान देना ही होगा। रवीन्द्रनाथ ने जिस

संस्कृति-दीप को जलाने की चेष्टा की थी उसका फलीभूत होना असंभव था यदि गान्धीजी के समाजवाद का सहयोग उसे प्राप्त न होता।

आधुनिक सभ्यता के अंशस्वरूप भारतवर्ष नवीन चिन्ताधारा की ओर अग्रसर हुआ है। एक बार फिर इस विचार-प्रवाद के मूल में उसी पुरानी समस्या की ओर हम उन्मुख हुए हैं। गत शताब्दी में जिस प्रकार आधुनिक चिन्ता-धारा बही थी और जिस प्रकार आधुनिकता के बहाने अनुकरण आरम्भ हुआ था, आज हम फिर वही देख रहे हैं। उस समय हमें सामना करना पड़ा था प्रतिक्रियाशील सनातन धर्मियों का; आज उनका स्थान ले आ उपस्थित हुई है प्रान्तीयता। यह प्रान्तीयता केवल राष्ट्रक्षेत्र में ही सीमित नहीं, वह शिल्प और साहित्य-जगत् में भी आ घुसी है। जातीयता के नाम, आर्थिक समस्या के नाम और समाज-चेतना के नाम एक ओर सामयिक साहित्य इस प्रान्तीयता से आबद्ध हो दृष्टिहीन हो चला है; उसी प्रकार दूसरी ओर हुआ है आधुनिकता के बहाने अन्तर्जातीयता की दुहाई दे, समाजवाद को साक्षी बना, एक अन्य प्रकार के अनुकरण का प्रारम्भ। अंग्रेजी राज्य के आरम्भ में नयी रोशनी के लोग बुद्धिवाद के हाथ बिके थे, आज हम समाजवाद के पल्ले पड़े हैं। बुद्धिवाद के आश्रय में, अनेक भूलचूक होने पर भी, उस आधुनिकता के बल हमारी संस्कृति का गौरव बढ़ा था, और आज भी इस समाजवाद के कारण शिल्प और साहित्य सामयिकता के चक्कर में पड़ बदल रहा है। साहित्य और शिल्प जो कुछ थोड़ा बहुत हुआ है, वह इस नूतन क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही।

गत शताब्दी तथा वर्तमान काल के अनेक आघात-प्रत्याघातों को ऐतिहासिक पुनरावृत्ति कह टाला जा सकता है किन्तु सब को नहीं; नवीन समस्याएँ, नवीन चिन्ता और कार्यप्रणालियाँ ऐसी भी हैं जिन्हें पुरानी नहीं कहा जा सकता। वे नयी हैं। अतएव वे जितनी ही आकर्षक हैं उतनी ही प्रतिक्रियाशील और उतनी ही शक्तिशाली। हमारे कला और साहित्य ने इन नवीन कठोर आघात-प्रत्याघातों के बीच, चरम-पथ का अवलम्बन लिया है। उसकी एक शाखा प्रान्तीयता और गुटबन्दी के आडम्बर में फँस गयी है, दूसरी शाखा ने शरण ली है आधुनिक समाजवाद की। इस चरम मनमुटाव के कारण साहित्य-क्षेत्र में या शिल्पक्षेत्र में हम एक शिथिलता का अनुभव करते हैं। यदि कुछ हो सके तो इतिहास के पृष्ठ भरने के लिए भले ही कुछ सामयिक रचना हो। प्रादेशिकता और आधुनिकता दोनों ही एक-कालीन विचारधारा हैं। इतिहास के अध्ययन के समय इस संघर्ष का रूप हमने पहले भी देखा है, आज भी देख रहे हैं।

पिछली शताब्दी के संघर्ष को आत्मसात् करके ही रवीन्द्रनाथ और गान्धीजी को कार्य करना पड़ा था, आज भी वर्तमान संघर्षों के बीच भविष्य का निर्माण करना होगा।

व्यक्तिवाद और समाजवाद किस प्रकार बाह्य मतवादों में रूपान्तरित हुए एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में उन मतवादों का किस प्रकार प्रभाव पड़ा, यही इस आलोचना का लक्ष्य था। इस लेख में यूरोपीय प्रभावों से संचालित व्यक्तिवाद और समाज-वाद की एक पहेली को रवीन्द्रनाथ और गान्धीजी को लक्ष्य करके देखने की चेष्टा की गयी। आज जातीय जीवन में नये पर्व के साथ वही समस्या, वही प्रतिक्रिया फिर दिखाई देती है, जातीयता और अन्तर्जातीयता के नाम। इन दो राष्ट्र-मत-वादों में सामंजस्य आने न आने पर ही वर्तमान भारतीय संस्कृति का परिस्फुटन और उसकी प्रवृत्तियाँ निर्भर करती हैं। एक असाधारण समय को सामने रख यह आलोचना आरम्भ हुई थी; आज जातीय जीवन के एक और असाधारण समय उसी एक समस्या को सामने रख यह आलोचना समाप्त होती है।

अप्रैल १९४९

भारतीय कला की आत्मा और स्वरूप

शिशिरकुमार घोष

जीवन मात्र, चाहे वह निजी हो अथवा राष्ट्रीय, आत्माभिव्यक्ति ही है। और यदि यह सत्य है कि राष्ट्र का निर्माण राजनीतिज्ञ और व्यापारी नहीं बल्कि विचारक और कलाकार करते हैं, तो कला की आत्माभिव्यंजना ही राष्ट्र की सबसे बड़ी सम्पत्ति है। किसी देश की विकसित कला उस देश की विकसित राष्ट्रीय संस्कृति का प्रतिबिम्ब है। जैसा कुमारस्वामी ने बहुत पहले ही कहा है : "मैं भारतीय जनता के किसी ऐसे कायाकल्प में विश्वास नहीं करता जिसकी अभिव्यक्ति कला में न हो सके; किसी भी प्रकार का पुनर्जागरण, यदि वह पुनर्जागरण है तो कला में अभिव्यक्त होना आवश्यक है।" भारत का पुनर्जागरण स्पष्ट कारणों से राजनीति से आच्छादित रहा है, किन्तु साथ ही उसका कलात्मक जागरण भी हुआ है। हाँ, लोग दुर्भाग्यवश उस कला का आभ्यन्तर अवश्य नहीं समझ पाये हैं। जिस स्वतन्त्रता में सर्जन की प्रवृत्ति नहीं वह अपूर्ण है। राजकीय नियमन, राजनीतिक आदान-प्रदान और नीति-कुशलता में ही हमारा सारा जीवन नहीं बँध सकता। आज की संस्कृति-हीन शुष्क राजनीति हमारे लिए घातक सिद्ध हो रही है। नेहरूजी के शब्दों में, 'भारत का अनुसन्धान' (डिस्कवरी आफ़ इंडिया) तब तक अधूरा रहेगा जब तक उसके कला-स्वरूपों की पहचान नहीं कर ली जाती।

मैं कला-इतिहासज्ञ नहीं हूँ और भारतीय कला का सांगोपांग विवेचन करना मेरा काम भी नहीं। सौभाग्य से पूर्वी और पश्चिमी दोनों देशों के कलाविदों ने भारतीय कला के आभ्यन्तर का विशेष विवेचन किया है। यहाँ मैं इन्हीं लोगों की विचारमाला पाठकों के लिए प्रस्तुत कर रहा हूँ। आशा है, अनभिज्ञों को इससे भारतीय कला का स्वरूप समझने में यथेष्ट सहायता मिलेगी। केवल हैवेल, बिनयन, ओकाकूरा, कुमारस्वामी और श्री अरविन्द को लें, तो इनके ही विवेचन से हम भारतीय कला का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ के भी लेख हैं, जिनमें भारतीय कला का भावना-मूलक विवेचन है और वागेश्वरी भाषणमाला में अवनीन्द्रनाथ का विवेचन तो अपने ढंग का अकेला है।

ऊपर मैंने जिस 'आभ्यन्तर' शब्द का प्रयोग किया है, उससे भारतीय कला की आत्मा और स्वरूप का कुछ-कुछ बोध हो जाता है। आरम्भ में ही यह जान लेना आवश्यक है कि

> "भारतीय कला का उद्भव हृदय और आत्मा से हुआ है और इसलिए हृदय और आत्मा के चक्षुओं से ही इसका साक्षात्कार हो सकता है। भारतीय कला भारत के पारम्परीण धार्मिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक विश्वासों की सौन्दर्य प्रतीक है। इसकी अवहेलना करना अपने को भ्रम और अज्ञान के गह्वर में झोंकना है।"[1]

कुमारस्वामी के शब्दों में,

> "कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि भारतीय कला को समझने के लिए भारतीयता के आदर्श और अध्यात्म के ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं, इस ज्ञान से अनभिज्ञ रह कर भी बौद्ध या हिन्दू कला का कोई उदाहरण उसे कैसा लगता है इतना ही उसके लिए पर्याप्त है; इस कला का भारतीय आदर्शवाद से कोई सम्बन्ध नहीं और जो ऐसा सम्बन्ध समझते हैं वे मूर्त्तियों और चित्रों में उपनिषद् पढ़ना चाहते हैं....।"

किन्तु सच तो यह है कि जिस मानसिक (और सामाजिक) वातावरण में भारतीय कला विकसित हुई है, बिना उसका अध्ययन किये इसे समझा ही नहीं जा सकता।[2] 'द चाइनीज़ आई' के लेखक चियांग यी ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है :

[1] श्री अरविन्द

[2] कुमारस्वामी

"चीन में हमारी चित्रकला हमारे पारम्परीण दर्शन की अनुगामिनी रही है। योरप में ऐसी बात नहीं है।"

सामान्य यूरोप-निवासी की भ्रान्तियों और अज्ञान का मूल कारण भारत की पारम्परीण संस्कृति और दर्शन से उसकी अनभिज्ञता है। स्वामित्वाभिमान के कारण उन्हें विदेशी और विजित जाति की संस्कृति बिल्कुल तत्त्वहीन दिखाई पड़ती है। भिन्न-भिन्न अभिप्रायों और रूढ़ियों वाली किसी नयी कला को समझना कठिन था। उस पर उसके सौन्दर्य को जान-बूझ कर न स्वीकार करने की इनकी प्रवृत्ति ने उसे और दुष्कर बना दिया। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि पूर्व और पश्चिम का यह दृष्टि-भेद शाश्वत नहीं। एक ज़माना था जब यूरोप और एशिया एक दूसरे को भली भाँति समझ सकते थे और समझते थे। एशिया जो था वही है; किन्तु यूरोप की वृत्ति अधिकाधिक बहिर्निरूपिणी हो जाने के कारण उसकी समन्वय दृष्टि दिनोंदिन क्षीण होती गयी है और वह किसी वस्तु अथवा भाव के तल में न पैठ कर सतह पर ही रह जाता है। इसी लिए एशियाई दृष्टिकोण को समझना उनके लिए दुष्कर हो गया।[1] फल यह हुआ कि 'आज एशियाई कलाओं की प्रशंसा में जो बातें कही जाती हैं वे पूर्णतः भ्रामक हैं'।[1] ऐसी भ्रान्ति केवल यूरोपीयों में हो ऐसा नहीं, 'सुशिक्षित' भारतीय भी इसके शिकार हो रहे हैं। उदाहरण के लिए, विनयकुमार सरकार के 'ईस्थेटिक्स आफ़ यंग इंडिया'[2] में :

> "भारतीय कला के अभिप्रायों और संविधानों की ओर से यूरोप अभी कल तक उदासीन रहा है और उन्हें समझने में असमर्थ रहा है। जहाँ तक कला का सम्बन्ध है, पश्चिम की दृष्टि बहुत दिनों तक यूनानी और पुनर्जागरण (रेनेसाँ) परम्परा में उलझी रही और बाद में कुछ बाहर निकली भी तो रोमांसवादी और यथार्थवादी अभिप्रायों तक ही आकर रह गयी। जैसे किसी यूरोपीय का भारतीय चित्रकला और मूर्त्तिकला की आत्मा से तादात्म्य नहीं होता वैसे ही एक भारतीय भी यूरोपीय कलाओं का तात्त्विक अर्थ समझने में असमर्थ रहता है। भारत और यूरोप की कला-चेतनाओं में इतने अन्तर का मूल कारण क्या है? . . . .यूरोप का कलाकार जीवन या प्रवृत्ति के किसी खंड से ही प्रेरणा पाकर कलाकृति की सर्जना में प्रवृत्त होता है, या जब कभी उसे अपनी आत्मा से भी प्रेरणा मिलती है तो वह उसका सम्बन्ध तत्क्षण बहिर्जगत् से स्थापित करना चाहता है. . . .। उसका प्रभाव हमारी बहिर्वृत्तियों पर अधिक पड़ता है; वह हमारी ऐहिक, बौद्धिक और कल्पनात्मक चेतना को अधिक उद्बुद्ध करता है। इन बहिर्वृत्तियों को सन्तुष्ट करने के बाद यदि सम्भव हुआ तो अन्तर्वृत्तियों पर कुछ प्रभाव पड़ जाता है, अन्यथा नहीं।"

दूसरे शब्दों में, यूरोप की अधिकांश कलाभिव्यक्तियों में बहिरंग की ही तुष्टि मुख्य रहती है, अन्तरंग की गौण।

> "प्राचीन भारतीय कला की नींव बिल्कुल भिन्न आधारों पर है। उसका मुख्य लक्ष्य ससीम और व्यक्त के प्रतीक माध्यम से असीम और अव्यक्त की झाँकी दिखलाना है। जीवन को हमारे यहाँ आत्मा, परमात्मा या उस पारलौकिक सत्ता का प्रतिबिम्ब माना गया है, जिसकी क्रीड़ावृत्ति का ही फल यह विश्व है। इसलिए अपनी आत्मा का ही पर्यवेक्षण भारतीय कलाकार का धर्म हो जाता है। सबसे पहले वह अपनी आत्मा में ही चिरन्तन सत्य का अनुभव करता है और फिर अपनी भावनाओं से रँग कर उसकी अभिव्यक्ति करता है। वह अपना आदर्श, वस्तु, संविधान या प्रेरणाएँ बहिर्जगत् में नहीं ढूँढ़ने जाता।"[3]

[1] कुमारस्वामी 'द थियरी आफ़ आर्ट इन एशिया।'

[2] सबको एक दृष्टि से देखने की चेष्टा में श्री सरकार ने जान-बूझ कर कला की भारतीय दृष्टि की उपेक्षा की है। यह उपेक्षा हमें हैवेल की सहानुभूति की याद दिलाती है। कला की परख में भारतीय सम्भवतः विश्व में सब से पीछे हैं।

[3] "भारतीय कलाकार व्यापक, तत्क्षण-संवेद्य और आत्मगम्य सौन्दर्य-सृष्टि पर अपना चित्त एकाग्र करता है। इसके विपरीत पश्चिमी कलाकार की दृष्टि इस वस्तु-जगत् के भौतिक, स्थूल, बुद्धि-गम्य पदार्थों पर अधिक टिकती है। इसी बात को ध्यान में रखकर लिन यूतांग ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि पश्चिमी कलाकार, ऐसा मालूम होता है, किसी पदार्थ का केवल बहिर्चित्रण करके रह जाता है जहाँ प्राच्य कलाकार अपनी भावनाओं से उसका आन्तरिक साक्षात् करके तब उसे चित्रित करता है। नॉर्थ्रप, 'द मीटिंग आफ़ द ईस्ट एंड द वेस्ट।'

इस प्रकार

"यह कहा जा सकता है कि कलाकृतियों को समझने के लिए विकसित सौन्दर्य-दृष्टि तो होनी ही चाहिए, साथ ही भारतीय कला-सर्जना का रहस्य समझने के लिए एक आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि भी होनी चाहिए; अन्यथा हमारी दृष्टि केवल ऊपरी आवरण तक रह जाती है, या यदि अन्दर गयी भी तो उसे भेद कर ही रह जाती है। ....भारतीय भास्कर्य, चित्रकला और मूर्त्तिकला का भारतीय दर्शन, धर्म, योग और संस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के साथ-साथ उनमें इन सबके रहस्य की व्यापक अभिव्यक्ति भी है।"

इसी लिए

"किसी प्राच्य कलाकृति का रहस्य उन लोगों की समझ में नहीं आता जिनकी बुद्धि उसकी आत्मा में न रम कर अपने सौन्दर्य-कुतूहल की तुष्टि के लिए केवल उसके स्थूल आवरण पर टिकी रह जाती है। अनभ्यस्त विदेशी यात्रियों के लिए तो उसका रहस्य समझना और भी कठिन है। उसका रहस्य उसी समय समझ में आ सकता है जब मनुष्य इस वस्तु-जगत् की भौतिकता से ऊपर उठ कर अपने एकाग्र मानस की सामान्य और ऐकान्तिक भावभूमिका में स्थित होता है।"

ऐसे ही अभिप्रायों से भारतीय कला अनुप्राणित है। चाहे अभिव्यक्ति का माध्यम भिन्न-भिन्न भले ही हो, किन्तु सबके मूल में प्रेरणा एक ही है। यहाँ हम भारतीय वास्तु, मूर्त्तिकला और चित्रकला की इस सर्वव्यापक मूल प्रेरणा का संक्षिप्त विवेचन करते हैं।

"भारतीय धार्मिक स्थापत्य की मूल प्रेरणा, चाहे वह किसी काल, शैली या निमित्त का हो, अनादि-काल से चली आ रही है। इसका रहस्य भारत के बाहर लोग नहीं समझ पाते। किन्तु प्राचीन होते हुए भी वह सदा नवीन, शाश्वत है। चाहे हेतुवादी इसे भले ही न स्वीकार करें, किन्तु यह सत्य है कि उसी मूल प्रेरणा की ओर हम फिर आकृष्ट हो रहे हैं और भविष्य में वही हमारा पथ-प्रदर्शन करेगी। किसी भी भारतीय मन्दिर के मूल में, चाहे वह किसी भी देवता का हो, उसी एक सर्वव्यापी, असीम परब्रह्म की उपासना निहित है।

"उपनिषदों का ऋतात्मक ज्ञान और रामायण-महाभारत में गेय जीवन का समस्त सत्य, प्राचीन भारतीय मूर्त्तिकला में मूर्त हो उठा है। वास्तु की भाँति मूर्त्तिकला भी उस आत्मिक आनन्द की ही अभिव्यक्ति है। वह उस असीम का सीमा-प्रत्यक्ष है, उस चिन्मयता का मूर्त रूप है। वह उस पारमार्थिक सत्ता का पत्थरों में उकेरा एक स्वरूप ही है जिससे उसका परमार्थ झाँकता रहता है। जब कलाकार इस भौतिक जगत् से ऊपर उठ कर ब्रह्मानुभूति की आनन्दमयी भूमिका में स्थित होता है, उस समय उसकी वही चिन्मयता उसकी टाँकी से उतर कर पत्थर में बिखर जाती है। वह अव्यक्त, प्रस्तर-खंड में व्यक्त हो जाता है। मानव के अन्तर में पैठा ब्रह्म का जो एक कण उसे संचालित कर रहा है, उसी की अभिव्यक्ति हमारी मूर्त्तिकला में है। भारतीय मूर्त्तिकला का धर्मपक्ष भारतीय विचारधारा और अध्यात्म से दृढ़तापूर्वक सम्बद्ध है। आत्मानुभूति की प्रेरणा से उसका निर्माण होता है और आत्मानुभूति की ही प्रेरणा से उसका रहस्य समझा जा सकता है।

"भारतीय चित्रकला की मूल प्रेरणा का उद्गम भी वही है जो मूर्त्तिकला का। भारतीय कलाकारों ने अपने अन्तस् में धँस कर उस परम तत्त्व को ढूँढ़ने की चेष्टा की। फलस्वरूप उन्हें जो आत्मदर्शन हुआ, उसी का मूर्त रूप भारतीय कला है। उस मानसिक सत्य की अभिव्यक्ति भारतीय कला में जिस कलात्मकता, पूर्णता और ओज से हुई है, वह अद्वितीय है। उसके भिन्न-भिन्न स्वरूपों में एक ही राग झंकृत है जिस में उसका मूल रहस्य प्रतिध्वनित हो रहा है।"

दूसरे शब्दों में, "भारतीय कलाकार इस भौतिक जगत् से परे, किसी दूसरे अनुभूति-जगत् में निवास करता था, और इसी कारण उसकी कला पर अध्यात्म का रंग चढ़ा हुआ है। इस भौतिक जगत् से न तो उसने कभी प्रेरणा ली, न अपनी कला में यहाँ के बहिःसौन्दर्य का उसने चित्रण किया है।"[१]

अभिप्रायों का यह महत्त्व आधुनिक विचार वालों को बिल्कुल न रुचेगा, क्योंकि इन्हें वह अर्थहीन समझता है।

[१] कुमारस्वामी : 'द एम एंड मेथड्स आफ़ इंडियन आर्ट'।

फलक २१

फलक २२

फलक २३

फलक २४
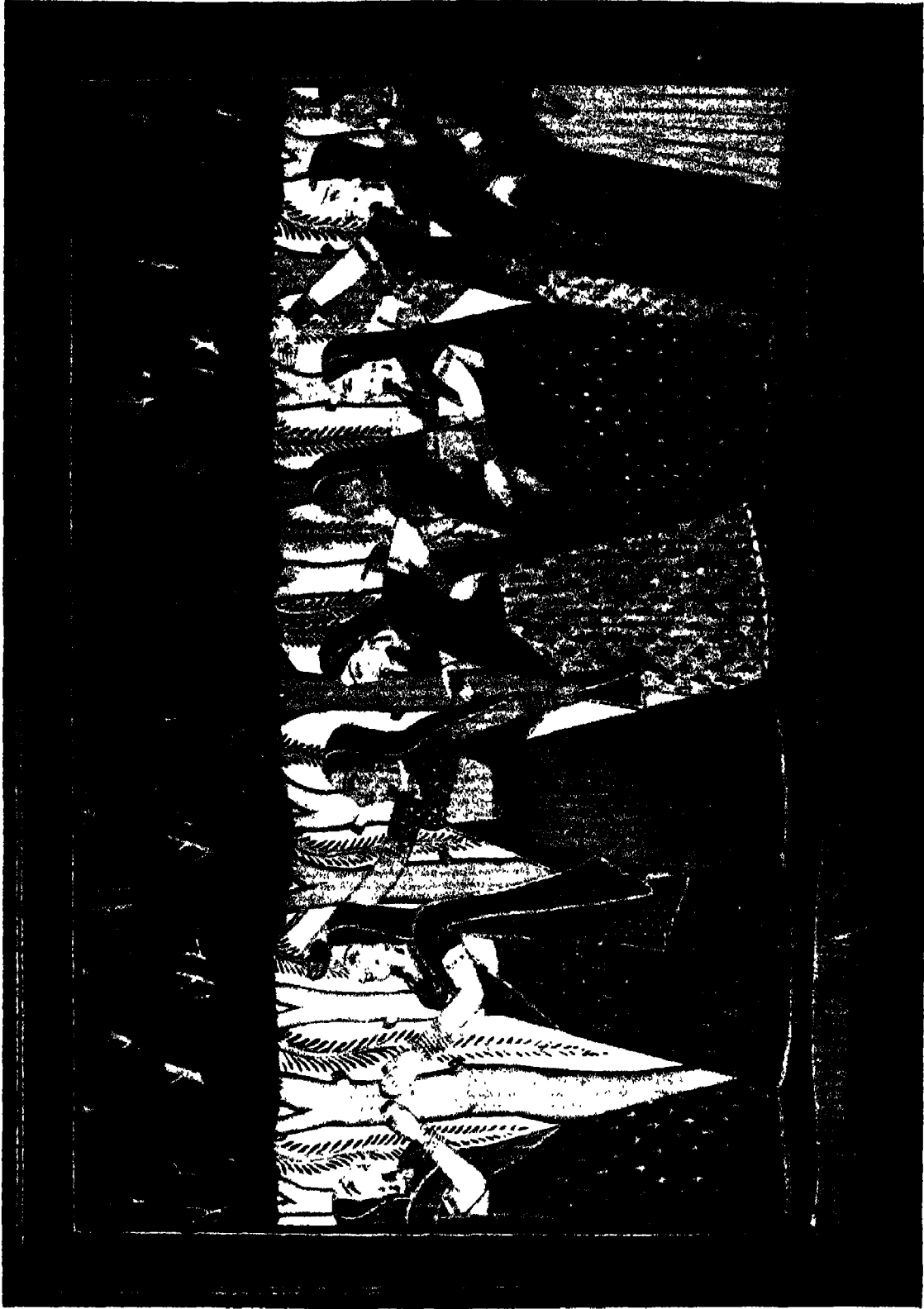
उसकी दृष्टि में अतीत में इनकी चाहे जो महत्ता रही हो, आज के जीवन में इनका कोई मूल्य नहीं। भारतीय कला परम्पराओं और विश्वासों के बन्धन में बुरी तरह जकड़ी रही है, और हमारे आज के जीवन से दूर चली जा रही है। इन्हें अधिक महत्त्व देने से आज के युग से उसका कोई सामंजस्य न हो पायेगा। जो हो, भारतीय कलाओं में परम्पराओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती, और जहाँ तक हम समझते हैं, सोवियत कलाओं में भी नहीं। इस प्रश्न पर यहाँ विस्तार से विचार करने का अवकाश नहीं; हम केवल दो उद्धरण—एक कलाविद् का और दूसरा कलाकार का—देकर यह प्रसंग समाप्त करते हैं। कुमारस्वामी का कथन है :

"यह सत्य है कि स्मृति-चित्र हमें रूढ़ परम्पराओं के रूप में प्राप्त होते हैं; किन्तु जब तक कला में जीवन रहता है, तब तक इन परम्पराओं में भिन्न-भिन्न पीढ़ियों द्वारा सूक्ष्म परिवर्तन होता रहता है। कलात्मक, भावात्मक और धार्मिक भावनाएँ इनमें घुल-मिल कर इनका बल बढ़ाती रही हैं। इस प्रकार पारम्परिक स्वरूपों में नक़ली कलाओं का छूँछापन नहीं रहता। एक बात और है,—वे किसी एक कलाकार या युग की भावनाओं का चित्रण न कर समस्त जाति की धारणाओं के प्रतीक होते हैं, वे किसी जातीय चेतना की सच्ची अभिव्यक्ति करते हैं। उनसे सम्बन्ध विच्छिन्न करके यह सोचना कि कला पहले की ही भाँति जी सकती है, वैसा ही है जैसे किसी वृक्ष की जड़ काट कर उसके फूलने-फलने की आशा करना।

"जब कोई जीवित भारतीय संस्कृति अतीत के ध्वंस और वर्तमान के उत्थान के बीच उठ खड़ी होती है तो एक नयी परम्परा का जन्म होता है : साहित्य, संगीत और कला, सब में एक नया स्वप्न मूर्त होने लगता है। जिन भारतीयों को अपना दाय मिल रहा है, उनकी भारतीयता कहीं गयी नहीं है। जैसे ही उनके जीवन में बल आयेगा, वैसे ही उनकी कला वीर्यवती होगी। उनकी राष्ट्रीयता अधिक गहरी, संस्कृति अधिक व्यापक, और प्रेम अधिक पूर्ण हो सकता है। फलस्वरूप उनकी कला अतीत की अपेक्षा अधिक ओजस्विनी होगी। किन्तु यह क्रमिक विकास और विस्तार से ही हो सकता है, अतीत से अपना सम्बन्ध तोड़ लेने से नहीं। हम अतीत और भविष्य, दोनों से सम्बद्ध हैं; अतीत में हमने वर्तमान का निर्माण किया, और भविष्य का निर्माण इसी वर्तमान में कर रहे हैं। यह हमारा कर्तव्य है कि हम अपने उस पारम्परीण दाय को, जो केवल भारत का नहीं, समस्त मानवता का है, समृद्ध करें, नष्ट नहीं।"[७]

दूसरे शब्दों में,

"भारतीय कलाओं की आत्मा की रक्षा होनी आवश्यक है, अन्यथा वे बिल्कुल अर्थहीन हो जायँगी। कला को जीवन से अनुभूति मिलती है और जब लोक-जीवन में पुनर्जागरण और पुनःसंगठन होता है तो वह कला में प्रतिबिम्बित हो उठता है। आज के राष्ट्रीय आन्दोलन का, जिसने भारत के कण-कण में जीवन फूंक दिया है, केवल राजनीतिक या आर्थिक महत्त्व नहीं। उसकी एक और भी गम्भीर महत्ता है जो बंगाल चित्रकला की राष्ट्रीय शैली के विकास से स्पष्ट है।"[८]

भारत के कलाविद्यालयों के सम्बन्ध में उसी लेखक का कथन है :

"भारत के कला-विद्यालयों का उद्देश्य यूरोपीय आदर्शों और शैलियों का अनुकरण न होना चाहिए, वरन् भारतीय परम्परा के टूटे सूत्रों को जोड़ कर उन्हें पुनरुज्जीवित करना, भारतीय कला को राष्ट्रीय संस्कृति का सजीव अंग बना देना, भारतीय कलाकृतियों का लोकजीवन से सामंजस्य स्थापित करना होना चाहिए।"[८]

इस सम्बन्ध में हमें बंगाल चित्रकला के एक सदस्य का मत भी जान लेना चाहिए, जिनके आदर्श कुमारस्वामी के आदर्शों के समान ही हैं। नन्दलाल वसु का कथन है :

"परम्परा का कला में वही स्थान है जो व्यापार में पूँजी का। इस धन के उचित उपयोग से हम अच्छा लाभ कर सकते हैं।

"हिन्दू होने के नाते मैं हिन्दू आदर्शों और परम्पराओं के बीच पला हूँ। मैं किसी समय केवल हिन्दू

[७] कुमारस्वामी, 'द एम्स एंड मेथड्स आफ़ इंडियन आर्ट'

[८] नॉर्थ्रप, 'द मीटिंग आफ़ द ईस्ट एंड द वेस्ट'

देवी-देवताओं के चित्र बनाया करता था। पहले मैं परम्परा-मुक्त चित्रों का चित्रण दैनिक जीवन की घटनाओं और स्थूल वस्तुओं के चित्रण से अधिक महत्त्वपूर्ण समझता था। अब मैं उन पुराने स्वरूपों को कोई महत्त्व नहीं देता, वरन् प्रत्येक वस्तु में उसी शाश्वत के संगीत स्वरों को देखने की चेष्टा करता हूँ। पहले मैं देव-मूर्तियों में ही देवत्व ढूँढ़ता था, अब उसे आकाश, जल और पर्वतों में ढूँढ़ता हूँ।

"उच्च भावनाएँ और उच्च आदर्श सभी युगों में सर्वत्र कला के अभिप्राय रहे हैं। मध्यकालीन यूरोप का आदर्श ईसाई मत था। 'उस काल का वातावरण ही धार्मिकता, वीरता और कर्मठता का था। इस वातावरण के निर्माण में उस समय की साम्प्रदायिक, सामाजिक और रोमांटिक संस्थाओं का योग था।' चीन के सामने ताओ का आदर्श था तथा भारत के सामने कृष्ण और बुद्ध का। पुराने आदर्शों से ही प्रेरणा प्राप्त कर भारतीय कला में प्राण आ सकेगा। उपनिषद् की "समस्त ब्रह्मांड में, और उसके कण-कण की गति में ब्रह्म का निवास और शक्ति है", इस दृष्टि से अनुप्राणित होकर ही भारतीय कला में नवीन और अनन्त सर्जनाशक्ति आ सकेगी।"[९]

इस प्रकार की सच्ची भारतीय कला का महत्त्व और प्रभाव राष्ट्र के बाहर भी फैलेगा। यूरोप के कलाक्षेत्र में आज जो भ्रान्ति फैली है, उसे दूर करने में भारतीय कला यथेष्ट सहायता कर सकती है—प्रचार या उस पर अपना सिक्का जमाने के उद्देश्य से नहीं, शुद्ध मार्ग-प्रदर्शन के भाव से।

"कुछ सूक्ष्म दृष्टि और मौलिक विचार वाले ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्हें इस बात का विश्वास है कि यूरोप की कला-चेतना में जीवन भरने और उसे ठीक मार्ग पर ले आने के लिए प्राचीन प्राच्य कलाओं की स्वतन्त्र वृत्ति का अवलम्बन आवश्यक है। भारतीय पद्धति के अनुसार ये लोग अनुकरणात्मक यथार्थवाद से घृणा करते हैं। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि कला की आत्मा बहिःप्रकृति से परे आत्मानुभूति के लोक में निवास करती है।"[१०]

यह कहना ठीक हो सकता है कि "पश्चिमी कला में जब भी कोई नयी प्रेरणा आयेगी तो वह पूर्व से आयेगी।"

"आधुनिक कला के इतना अरोचक और अरमणीय होने का मुख्य कारण उसमें दर्शन का अभाव है। जो कला आत्मदर्शन पर आधारित नहीं, जो जगत् के बाह्य आवरण को भेद कर उसके अन्तर् तक पैठने में समर्थ नहीं, उसे कला नहीं विज्ञान ही कहना चाहिए। यही एक आशा बची है..पूर्व का सन्देश है कि यह अन्तर्दृष्टि, यह निसर्ग-कल्पना, समस्त कला की आत्मा है; किसी आलम्बन का मूल सौन्दर्य क्षणिक तथा व्यक्तिगत भावनाओं के चित्रण से अधिक महान् है।"[११]

सिस्टर निवेदिता के शब्दों में "जिन उद्देश्यों की प्राप्ति से अतीत में एशिया ने गौरव प्राप्त किया था, उनकी ओर हमें फिर लगना चाहिए, वही हमें हमारा प्राचीन गौरव और सम्मान वापस दिला सकते हैं।"[१२] सिस्टर निवेदिता ने कला और स्वाधीनता का सह-सम्बन्ध भी स्थिर किया जो आज के वातावरण में विशेष महत्त्वपूर्ण है :

"कला का विकास स्वतन्त्र जाति में ही हो सकता है। स्वाधीनता के उल्लास और आमोद अथवा राष्ट्रीयता का साधन और जनक दोनों यही है। सहस्र वर्षों से परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़े रहने के कारण भारत की स्वतन्त्र वृत्तियों का नाश हो गया। कर्मठता के सौन्दर्य और आनन्द को यदि वह भूल गया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। किन्तु विद्वानों के इस कथन से हमें अवश्य सन्तोष होता है कि, अशोक काल में, धर्म की भाँति इस क्षेत्र में भी भारत ने समस्त पूर्व का मार्गदर्शन किया। अगणित चीनी यात्री, जो उस युग में यहाँ के विश्वविद्यालयों में अध्ययन और गुहा-मन्दिरों के दर्शन के लिए आये, यहाँ के विचार और प्रभाव अपने

[९] शिल्पकथा
[१०] श्री अरविन्द
[११] कुमारस्वामी
[१२] ओकाकूरा, 'आइडीयल्स आफ़ द ईस्ट' की भूमिका

साथ चीन ले गये जो वहाँ के वास्तु चित्र और मूर्तिकला में प्रस्फुट हुए। यही नहीं, वहाँ से वे प्रभाव जापान गये और वहाँ भी उन्हें वही सम्मान मिला।"[१३]

कुमारस्वामी ने तो शिक्षा और कला का सम्बन्ध स्थिर करते हुए और भी ज़ोरदार शब्दों में यह बात कही है :

"कुछ लोगों को इस बात पर आश्चर्य हो सकता है कि भारतीय राष्ट्रीयता का विवेचन करने वाली इस पुस्तक में जहाँ कला को इतना अधिक स्थान दिया गया है वहाँ राजनीति के विषय में कुछ नहीं कहा गया है। ऐसा इसलिए किया गया है कि राष्ट्र का निर्माण वस्तुतः कवि और क़लाकार करते हैं, राजनीतिज्ञ और व्यवसायी नहीं। कला में ही जीवन का मूल तत्त्व निहित है, वहीं से जीवन को पोषण-रस मिलता है। भारतीय संस्कृति का आदर्श, सच्चा जीवन स्वतः एक समन्वय एवं कला है, क्योंकि उसका परम उद्देश्य अध्यात्म चेतना की अनुभूति रहा है। भारत में सभी वस्तुओं का मूल्य इसी प्रेरणा के मान से आँका जाता है। अन्य कोई भी आदर्श भारतीयता का स्वरूप सुनिश्चित नहीं कर सकता..

"भारतीय जनता के किसी ऐसे पुनरुत्थान में मुझे विश्वास नहीं जिसकी कला में अभिव्यक्ति न हो सके; किसी भी प्रकार का पुनर्जागरण, यदि वह पुनर्जागरण है तो, उसकी कला में अभिव्यक्ति होगी ही। जब तक सांस्कृतिक ऐक्य की उपलब्धि नहीं होती , राजनीतिक ऐक्य की स्थापना सम्भव नहीं। इसलिए राजनीतिक दाँव-पेंच से कहीं महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय शिक्षा है।"[१४]

शिक्षा में कला का क्या महत्त्व है इसे लोग अभी नहीं समझ पा रहे हैं। जैसा एक कुशल कलाशिक्षक ने कहा है,

"हमारा आदर्श सम्पूर्ण शिक्षा है। इसमें हमारी सौन्दर्य-चेतना को भी वही स्थान मिलना चाहिए जो लिखने-पढ़ने का है। इस दिशा में कोई समुचित प्रयत्न नहीं किया गया है। इस उपेक्षा का मूल कारण लोगों की यह धारणा है कि कला का क्षेत्र केवल उन्हीं के लिए है जिन्होंने उसे अपना व्यवसाय बना लिया है। वे यह समझते हैं कि कला का लोक-जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं, और कलाकार होने के लिए कुछ ऐसे गुणों की अपेक्षा है जो सब मनुष्यों में नहीं होते। वस्तुतः प्रत्येक मनुष्य में कला का निवास होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त धारणा बिल्कुल भ्रान्त है। जन-साधारण को जाने दीजिए, शिक्षा-शास्त्रियों और शिक्षित समुदाय को भी न तो कला का कुछ ज्ञान है, न उसमें कोई रुचि है...जहाँ तक हमें मालूम है, सर्वप्रथम रवीन्द्रनाथ ने कला की शिक्षा को अपने शान्तिनिकेतन के संस्कृति-केन्द्र में उचित स्थान दिया।"[१५]

रवीन्द्रनाथ के शब्दों में, मनुष्य की यथार्थ सत्ता के प्रति जो भावनाएँ हैं कला उन्हीं का प्रतीक है। यह स्वाभाविक ही था कि उनके द्वारा स्थापित विद्यामन्दिर में शिक्षा के इस उपेक्षित अंग को उचित सम्मान मिले। उनके अनुसार

"शिक्षा की उपयोगिता केवल वस्तु-ज्ञान से नहीं समाप्त हो जाती, वरन् उसका उद्देश्य होना चाहिए मानव की जानकारी। ..यह प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य होना चाहिए कि वह केवल बुद्धि की भाषा पढ़कर सन्तुष्ट न हो जाय, कला की भाषा अर्थात् व्यक्तित्व का भी अध्ययन करे। मानवता का दाय, जिसके हम सब अधिकारी हैं, हमें तब तक नहीं मिल सकता जब तक हम कला की आत्मा नहीं पहचानते।"

"आज का सबसे बड़ा प्रश्न है : क्या आज का राष्ट्रीय आन्दोलन हमारी नींद तोड़कर हमारी जड़ता तथा गुलामी का नाश कर, हमारी भारतीयता हमें पुनः लौटा सकेगा? क्या इतना करने की शक्ति इसमें है ? इसका उत्तर तो भारतीय जनता ही दे सकती है।"[१६]

किन्तु हमारा कला-प्रेम इसलिए न होना चाहिए कि इससे हमें प्रतिष्ठा और समृद्धि प्राप्त होगी; वरन् इसलिए कि

"वह हमारे जीवन का एक प्रमुख अंग है; अव्यक्त से व्यक्त का सम्बन्ध स्थापित करने वाला सूत्र है,

[१३] ओकाकूरा, 'आइडीयल्स आफ़ द ईस्ट' की भूमिका

[१४] कुमारस्वामी, 'एसेज़'—भूमिका

[१५] नन्दलाल बोस, 'आर्ट इन एजुकेशन'

[१६] कुमारस्वामी

भारतीय राष्ट्र के स्वप्नों का प्रतिरूप है; वह भारत के उज्ज्वल अतीत से उज्ज्वलतर भविष्य का प्रतीक है, जिससे टपकने वाले सौन्दर्य रस से समस्त वसुधा आप्यायित होगी।"[१७]

यदि भारत की "सभ्यता ने कलात्मक और मानसिक चेतना के शिखर पर चढ़कर यह सिद्ध किया कि आत्म-दर्शन मानवता के सर्वांगीण विकास में बाधक नहीं होता वरन् मानव के सर्वतोमुखी विकास में सहायक होता है"[१८] तो एक बार फिर वह इसे सिद्ध करेगी और राजनीतिक स्वतन्त्रता में जो अभाव है उसकी पूर्ति करेगी।

अप्रैल १९४९

[१७] कुमारस्वामी

[१८] श्री अरविन्द 'द सिग्निफिकेंस आफ़ इंडियन आर्ट'

भारतीय
साहित्य
और
कला-शिल्प

माता भूमिः

वासुदेवशरण अग्रवाल

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।

—अथर्व १२।१।१२

माता भूमि नये युग की देवता है । सुन्दर संकल्प, सशक्त कर्म और त्याग-भावना जिसके लिए समर्पित हों वही देवता है । देवता के बिना मनुष्य रह नहीं सकता । युग-युग में मानस-लोक को भरने के लिए देवता की आवश्यकता होती है । देवता भी सदा एक से तेज से नहीं चमकते, वे उगते और अस्त हो जाते हैं । इन्द्र-अग्नि के कल्प और शिव-विष्णु के युग तत्कालीन मानव की सर्वोत्तम भाव-भक्ति और सृजन-शक्ति का प्रसाद पाकर बीत गये । अर्वाचीन युग मातृभूमि को महती देवता मान कर अपना प्रणाम-भाव अर्पित करता है । एक देश में नहीं, सभी देशों की यही प्रवृत्ति है । जहाँ मातृभूमि की प्रतिष्ठा अभी उच्चतम आसन्दी पर नहीं हुई है वहाँ की जनता वैसा करने के लिए व्याकुल है । यही नूतन युग का समान सन्देश है । लोक-सिन्धु के मन्थन से मातृभूमि रूपी नये देवता का जन्म हो रहा है ।

जिस समय युग के देवता का जन्म होता है, राष्ट्रीय किलकारी हर्षित स्वरों से उसका गुण-गान करती है । उसी से देवता का रूप सम्पादित होता है । जातीय मानस का मूर्तिमान् रूप ही देवता बनता है । मातृभूमि की आत्मा और जातीय मानस की अभिन्नता समझनी चाहिए । किसी देश को समझने के लिए उसके जातीय मानस का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है । जातीय मानस के दीप्तिपटों का उद्घाटन राष्ट्र को समझने की कुंजी है ।

मातृभूमि का भौतिक विस्तार हमारे सामने फैला है, परन्तु उसका वास्तविक रूप तो उसकी सांस्कृतिक मूर्ति है, जिसका निर्माण देशवासियों ने शताब्दियों और सहस्राब्दियों की हलचल के बाद किया है । भारत का भौमिक क्षेत्र कम्बोज (मध्य एशिया में पामीर) से सूर्मस (सुरमा नदी, आसाम) तथा गंगा की उपरली धारा जाह्नवी के उद्गम से लेकर कन्या-कुमारी समुद्रान्त तक विस्तृत था । समय-समय पर इस क्षेत्र में परिवर्तन होते रहे परन्तु मातृभूमि के हृदय का स्वरूप एकरस बना रहा, उसकी सांस्कृतिक धारा अखंड रूप से प्रवाहित रही । ध्यान से मातृभूमि का आविर्भाव होता है । अपने मन के चिन्तन से जिन विचारों को हम जन्म देते हैं उन्हीं का समुदित रूप मातृभूमि का हृदय कहलाता है । एक देश की मिट्टी और दूसरे देश की मिट्टी में रासायनिक दृष्टि से भेद ढूंढ़ने का कुछ अर्थ नहीं है । अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त में एक सुन्दर कल्पना मिलती है जिसके अनुसार यह पृथिवी पूर्व युग में समुद्रतल के नीचे छिपी हुई थी, ध्यान के धनी पुरुषों ने अपने चिन्तन की शक्ति से इसे ढूंढ़ निकाला । हममें से प्रत्येक के लिए आवश्यक है कि मातृभूमि की प्राप्ति मन के द्वारा करें, अपने हृदय को उसके साथ मिलावें । भूमि माता है, मैं उसका पुत्र हूँ—

'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।'

यह सम्बन्ध केवल भौतिक नहीं है, इसका पूर्ण रस तो मन के अनुभव में है । हमारा मन मातृभूमि के मन का एक अंश है । पृथिवी या मातृभूमि का हृदय पृथिवीसूक्त के अनुसार अमृत से ढका हुआ है—

'हृदयेनावृतममृतं पृथिव्याः ।'

इसी अमृत मन में हमें अपना भागधेय प्राप्त करना है । अमृत मन राष्ट्र की संस्कृति का ही दूसरा नाम है । मन के चारों ओर भरा हुआ जो अमृत समुद्र है उसी में सत्य, यज्ञ, त्याग, तप, अहिंसा, सर्वभूतों का हित, न्याय, धर्म, ज्ञान आदि सुन्दर दिव्य भावों के कमल तैर रहे हैं । उन की गन्ध को हमारे पूर्व-पुरुषों ने सूँघा था और उसी को मातृभूमि के हृदय तक पहुँचने के लिए हमें प्राप्त करना है । मातृभूमि का भौतिक रूप हम सब के शरीरों में बसा हुआ है । हम कहीं भी हों, उस रूप से हम पहचाने जाते हैं, उसका परित्याग हम नहीं कर सकते । किन्तु भौतिक रूप से अनन्त-गुण-प्रभावशाली मातृभूमि के हृदय का अमृत है जो उन गुणों और विशेषताओं से मिल सकता है जिनकी उपासना राष्ट्रीय संस्कृति का प्रधान

अंग रहा है। भीष्म-पर्व में जिस भारतवर्ष की कल्पना की गयी है वह भारत इन्द्र, मनु, इक्ष्वाकु, ययाति, अम्बरीष, मान्धाता, शिबि, दिलीप आदि अनेक राजर्षियों को प्रिय था। ये राजर्षि जिस उदार मन से इस भूमि को देखते थे उसका आधार सत्य और ज्ञान के अमर आदर्श थे जिनका इस पुण्य भूमि में पुरातन काल से आविर्भाव हुआ और जिनके लिए राष्ट्र के उच्चतम स्त्री-पुरुषों ने अपने जीवन में प्रयोग किये। आर्थिक लाभ या देश-विजय के कारण यह पृथिवी राजर्षियों की प्रिय पात्र नहीं बनी। पूर्व-पुरुषों की वह उदार परम्परा जनक, याज्ञवल्क्य, कृष्ण, बुद्ध, शंकर, गान्धी के द्वारा आगे बढ़ती रही है, उनके मनों को वही अमृत सींचता था जो मातृभूमि के हृदय में भरा हुआ है। आज भी हमारी राष्ट्रीय आस्था उन दिव्य सत्यों से तिल-मात्र विचलित नहीं हुई है। दिलीप के गो-चारण की तरह अपने शरीर के मांस-पिंड को डाल कर राष्ट्रनायकों ने हिंस्र प्रवृत्तियों को रोका है। इस जीवन-सत्य की व्याख्या मातृभूमि के अमृत हृदय में लिखी है। हिंसा के उन्मत्त तांडव में जो धीर बना रहा, मनुष्यों के हृदयों में लगी हुई प्रतिहिंसा की अग्नि का कृष्ण के दावानल-पान की तरह जिसने आचमन कर लिया, राष्ट्रीय मन्थन से उत्पन्न हुए विष को शिव के सदृश जिसने पान कर लिया, वह राष्ट्र-नायक मातृभूमि के अमृत हृदय की साक्षात् व्याख्या हमारे सामने रख रहा था। वह सचमुच तथागत था। पूर्वकाल में जैसे मनीषी आये वैसा ही वह था, उसका मन तथा-भाव में अडिग रहा। स्वयं अविचल रह कर उस देव-कल्प मानव ने मातृभूमि के हृदय को हड़कम्प और धक्कों से बचा लिया। यही मातृभूमि की ध्रुवस्थिति है। वैदिक शब्दों में इसी को पृथिवी के हृदय का बृंहण कहा गया है जो युग-युग में होने वाले प्रकम्पन से मातृभूमि की रक्षा करता है। भारतीय इतिहास इस प्रकार की भूचाली घटनाओं का साक्षी रहता आया है, किन्तु राष्ट्र का सांस्कृतिक हृदय इस प्रकार के उथल-पुथल के बीच में पड़ कर भी अपने स्वास्थ्य को बचा सका, यही इस देश का अमृत जीवन-प्रवाह है।

मातृभूमि के जिस स्वरूप की कल्पना हम ध्यान में करते हैं उसमें तो सारा विश्व समाया हुआ है। हमारी भूमि विश्व का ही अंग है। अतएव मातृभूमि का मन विश्वात्मा के साथ मिला हुआ है। जिस राष्ट्रीयता के साथ विश्व-बन्धुत्व का विरोध हो वह हमें प्रिय नहीं। युग-युग में भारत की राष्ट्रात्मा विश्वात्मा के साथ समन्वय ढूंढ़ती रही है। इस राष्ट्र में जिस दिन प्रथम बार ज्ञान का नेत्र उघड़ा, उसी क्षण समन्वय के स्वर यहाँ के नीले आकाश में भर गये। सहिष्णुता भारत राष्ट्र की जन्मघुट्टी है। समवाय इस देश का गुरु-मन्त्र है। राष्ट्र में और वस्तुतः मानव-जीवन में चारों ओर विभिन्नता छायी हुई है, एक एक से भिन्न है। नाना और बहुधा से पदे-पदे पाला पड़ता है। इस सत्य को पृथिवीसूक्त के ऋषि ने तुरन्त पहचान लिया और कहा—

'जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।'

यह पृथिवी जिस जन की धात्री है उन की भाषाएँ अनेक और उनके धर्म अनेक हैं। इस अनेकता में तो जीवन का वरदान छिपा हुआ है, यदि हम बुद्धिपूर्वक उसको समझ सकें। अतएव भारतीय मानव की बुद्धि ने राष्ट्र के नानात्व के भीतर छिपी हुई एकता, सहिष्णुता और समवाय को ढूंढ कर अपना जीवन-मन्त्र बनाया। भारतीय विचार-जगत् की सबसे उत्कृष्ट नींव यही समन्वय-बुद्धि है। इस का मूल आलस्य-जनित उपेक्षा नहीं है, किन्तु वह जागरूक मन है जो चैतन्य के द्वारा जड़ में पिरोयी हुई एकता को खोजता है। कितनी बार यहाँ के साहित्य में इस स्वर को दोहराया गया है।

ऋग्वेद का

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'

मन्त्र हमारे ज्ञान-भवन की ललाट-लिपि है। इस सशक्त जीवित मन्त्र का फल है अनाघर्षण। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को, एक समाज दूसरे समाज को, एक देश दूसरे देश को घर्षण-बुद्धि से कभी न देखे और न व्यवहार करे। मातृभूमि का युगान्तव्यापी इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। शान्ति के पथ से सांस्कृतिक सूर्य का प्रकाश फैले, यही भारत को इष्ट रहा है। देशान्तरों में भारत की धार्मिक विजय जो सांस्कृतिक विजय का ही दूसरा नाम था, शान्ति के कारण ही बलवती हुई और सर्वत्र स्थानीय विचार और जीवन-पद्धति ने उमँग कर उसका स्वागत किया। फलतः स्थानीय संस्कृतियाँ समृद्ध हुईं, निर्मूल नहीं। लोभ-विजय की प्रेरणा से भारत के वणिक्पोत समुद्र पार नहीं गये और न असुर-विजय के लिए यहाँ के सैनिकों ने दूसरों की भूमि को पैरों तले रौंदा। 'समन्वय' भारतीय राष्ट्र की ध्वजा का बना-बनाया मन्त्र है।
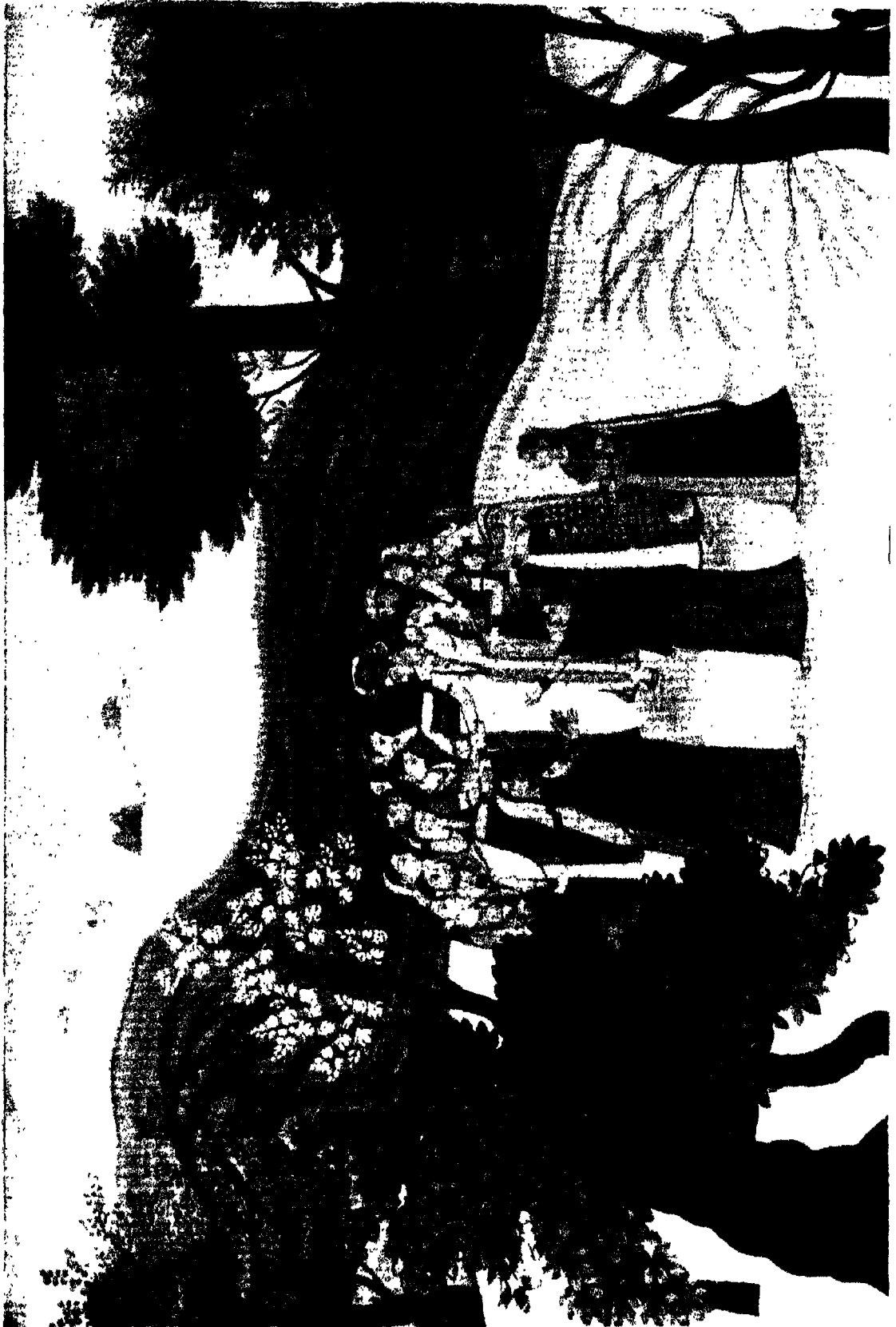
हमारी मातृभूमि के हृदय को पूर्व और नूतन का मेल प्रिय है। पूर्व का सत्कार करना, और नूतन के लिए स्वागत का दीप सजाना हमारे जातीय मानस को भला लगता है। इस राष्ट्र के सर्वोच्च कवि की वाणी में यह सत्य प्रकट हो उठा :

'पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्'

'पुराना सभी अच्छा नहीं, नया बुरा नहीं'—इस वाक्य में कितना भारी सन्तुलित सत्य भरा हुआ है। ज्ञान की वेदि में जो अग्नि प्रज्वलित होती रही है, नये और पुराने सभी ऋषियों या ज्ञानियों ने उसमें भाग लिया है। और समय-समय पर राष्ट्र ने उसके प्रकाश को उदार मन से स्वीकार किया है :

'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।

—ऋग्वेद १।१।२

भूतकाल के साथ गाँठ बाँध कर बैठे रहने की प्रवृत्ति हमारे राष्ट्र की आत्मा के विरुद्ध है। भूतकाल अपने पुराण स्वरों से हमारे जीवन को आशीर्वाद के जल से प्रोक्षित करता है, जकड़ कर मृत्यु के पाश में बाँधता नहीं। जीवन का रस तो प्रकृति की ओर से ही वर्तमान और भविष्य के हाथों में समर्पित है। उसका विरोध करके कौन जीवित रह सकता है ?

'चरैवेति चरैवेति' का स्वर हमारे इतिहास के आँगन में गूँजता रहा है। कवि की वाणी ने ठीक कहा है :

पतन-अभ्युदय बन्धुर पन्था युग-युग धावित यात्री।
हे चिर-सारथि, तव रथ-चक्रे मुखरित पथ दिन-रात्री॥

भारत राष्ट्र का लोक-संनादन-चक्र शताब्दियों के बिछे हुए पथ पर चलता ही रहा है, इसमें सन्देह नहीं। उसके विचारशील पुरुषों की वाणी ने उस पथ को मुखरित रखा है। नूतन के प्रति अविरोध-भाव राष्ट्रीय हृदय के भीतर छिपा हुआ है। अनेक क्रान्तिकारी सुधार, जिनके लिए अन्य राष्ट्रों ने संघर्ष और रक्तपात का मूल्य चुकाया, भारत के मनीषियों की दृढ़ वाणी से थोड़े ही समय में सम्पन्न हो सके हैं। नारी, कृषक, अस्पृश्य, शोषित, इनकी प्रतिष्ठा का आश्चर्य-जनक मंगल एक शताब्दी के चौथाई चरण में ही कैसे हो गया, इसका उत्तर मातृभूमि के हृदय में लगे हुए पूर्व-नूतन के गठ-बन्धन से मिलता है।

'नवो नवो भवति जायमानः'

यही जीवन का विधान है। राष्ट्र जन्म लेगा तो नया नया रूप सामने आयेगा ही। बढ़ते हुए पौधे में नये नये पल्लव ही उसे शक्ति देते हैं। किन्तु इस राष्ट्ररूपी अश्वत्थ की जड़ें ऊर्ध्व या अमृत के साथ जुड़ी हैं, भूतकाल से वे बच नहीं सकतीं, वहाँ से वे अपने लिए पुष्ट जीवन-रस ग्रहण करती ही हैं। यही रुचिर विधान कल्याणकारी है। इस देश में भी निरन्तर परिवर्तन हुए हैं, विकास हुआ है, व्यवस्थाएँ बदली हैं, किन्तु अतीत इतिहास का जो मथा हुआ अमृतघट है उसके प्रति भारतीय राष्ट्र की पूजाबुद्धि या उत्साह कभी कम नहीं हुआ। भारतीय मस्तिष्क में समन्वय की जो अपूर्व क्षमता रही है, वह पूर्व-नूतन के समन्वय को भी कलात्मक ढंग से साध लेगी, इसमें सन्देह नहीं। इस समन्वय-बुद्धि के द्वारा ही प्रत्येक नयी वस्तु को पचाकर और अपने साँचे में ढाल कर इस भूमि के निवासी अपनाते रहे हैं। भारतीय आत्मा नूतन वादों से व्यथित नहीं होती। नयी वस्तु इस संस्कृति के जबड़ों के बीच में पड़ कर तदनुकूल बनती है और रासायनिक क्रम से उस पर अपना प्रभाव डालती है, महाप्रबल यन्त्र की नाईं धक्का देकर यहाँ की पद्धति को उखाड़ती नहीं। मातृभूमि के हृदय में स्थिति और गति का जो अद्भुत समन्वय है वही इसका हेतु है। भारतीय हंस सरोवर के मध्य में एक पैर से टिका रह कर ही दूसरा पैर नये कमल की पंखड़ी के लिए उठाता है। किन्तु इस देश की निगूढ़ आत्मा टिक कर पड़ रहने की जड़ता को सहन नहीं करती, काल के साँचे की जकड़ उसे गति के लिए व्याकुल बना देती है। इसी भाव से किसी समय इस आर्य परिभाषा का जन्म हुआ था—'जो सोता है वह कलियुग है, जो अँगड़ाई लेता है वह द्वापर है, जो उठ खड़ा होता है वह त्रेता है और जो चल पड़ता है वह सतयुग है।' (ऐतरेय ब्राह्मण)

भारतीय आत्मा इस लोक और परलोक के समन्वय में रुचि रखती है। मातृभूमि की भौतिक समृद्धि और उसका अध्यात्म-पक्ष दोनों ही समुज्ज्वल होने चाहिएँ। पृथिवीसूक्त के ऋषि ने जातीय जीवन का विधान यही बताया है कि

द्युलोक और पार्थिवलोक दोनों में एक-दूसरे के साथ मेल हो तभी श्री और लक्ष्मी का जोड़ा बनता है।[1] गूढ़ तत्त्वों में भारतवर्ष को सदा से अपूर्व रुचि रही है और गुहानिहित तत्त्व की खोज इस संस्कृति की मूल्यवान् निधि है। किन्तु स्थूल पार्थिव जीवन एवं प्रत्यक्ष लोक की आस्था भी इस देश को सदा इष्ट रही है। जीवन के लिए भुवन में हमारा अस्तित्व हो,[2] जरा से पहले मृत्यु हमें न धर दबावे,[3] मृत्यु के लिए मैं नहीं बना हूँ[4], ये भाव जीवन के प्रति गहरी रुचि प्रदर्शित करते हैं। जीवन को विकसित करने, सँवारने और कर्म के द्वारा नया निर्माण करने की साक्षी भारतीय इतिहास में पायी जाती है। साहित्य, कला, दर्शन, राजनीति, संस्कृति, बृहत्तर चतुर्दिश जीवन जो देश की चार खूँटों को लाँघ कर देशान्तरों में फैल गया—सभी क्षेत्रों में भारतीय मानव ने पुष्कल रचनात्मक कार्य किया है। उसकी यशोगाथा शोध के द्वारा पिछले सौ वर्षों में पर्याप्त प्रकट हुई है।

भारत का अध्यात्म-प्रधान दृष्टिकोण उसका चिर-साथी रहा है। आज भी जातीय आत्मा के वह अति निकट है। भौतिक जीवन के घावों को भरने की विचित्र क्षमता का कारण यही अध्यात्म-भाव है। जड़ का आतंक कभी चेतन को परास्त नहीं कर सकता, यही अध्यात्म का प्रत्यक्ष फल था। भारत का मूल अध्यात्म वेदान्त पर टिका है। वेदान्त यहाँ की संस्कृति का मथा हुआ मक्खन है, वह जीवन का पुष्प और फल है। भारतीय हृदय को संकट के समय परखा जाय तो हम उसे वेदान्त के कवच से अपनी रक्षा करता हुआ पायेंगे। यहाँ का जन भौतिक दृष्टि से सब कुछ खो देने पर भी अपने प्राणों को ऐसे लोक में समेट लेता है जहाँ वह समझता है कि उसे तृप्ति-रस मिलता है। इतिहास के उत्थान-पतन की लहरिया गति का अनुशीलन राष्ट्रीय चरित्र की इस विशेषता को स्पष्ट बताता है। बाहरी आक्रमण के समय जातीय जीवन का एक पक्ष रस-हीन होकर मुरझा गया, किन्तु एक ऐसा पक्ष भी सदा बना रहा जिसने हार नहीं मानी और जहाँ अमृत रस का झरना जातीय प्राणों को सींचता ही रहा। इसी बीज से कालान्तर में नये जीवन के अंकुर फूटे। भारतीय इतिहास में अध्यात्म-जगत् का राजनीतिक जगत् से कम महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। धर्म के भीतर से जीवन ने अपना मार्ग और नयी नयी व्याख्या प्राप्त की। आज भी यह विशेषता बनी हुई है। सन्त, महात्मा, ऋषि-मुनि, आचार्य और योगी, धर्म या अध्यात्म में नया रस ढाल कर जीवन की प्रेरक शक्ति को तीव्र बनाते रहे हैं। मातृभूमि के हृदय का यह स्वरूप स्पष्टता से हम समझ लें तो जन-मानस में छिपी हुई शक्ति के अतुल भंडार को हम निर्माण के काम में लगा सकते हैं।

यों तो भारत में अनेक पन्थ, मतान्तर और सम्प्रदाय हैं, किन्तु मातृभूमि के सच्चे हृदय में सम्प्रदायवाद के लिए कोई रुचि या आग्रह नहीं है। भारतीय आत्मा धर्म की शुद्ध सनातन सार्वभौम व्याख्या की ओर तुरन्त झुकती है। जब भी कोई आचार्य इस प्रकार के महान् धारणात्मक धर्म को अपने ज्ञान और आचार की शक्ति से जनता के सामने रखता है, जनता उसे निराश नहीं करती। वस्तुतः युग-युग में भारतीय जन-कल्याण के साधन की यही बड़ी कुंजी रही है। कोई भी धर्म स्वयं अपने में अच्छा या बुरा नहीं है। इस तात्त्विक दृष्टि को समझना भारतवासी के लिए अपेक्षाकृत सरल है। धर्म की सार्थकता उसके विश्वहित-साधन में है। संसारव्यापी जो अखंड नियम या जो सर्वश्रेष्ठ अध्यात्म-चैतन्य है, प्रत्येक धर्म उसी का रूप है और उसकी जितनी स्पष्ट व्याख्या वह प्रस्तुत कर सकता है उतना ही वह ग्राह्य है। इस प्रकार के धारणात्मक नियमों को ज्ञान के उषःकाल में ही भारतीय मनीषियों ने 'ऋत' के नाम से अभिहित किया था। यही ऋत कालान्तर की परिभाषा में 'धर्म' कहलाया। वेदव्यास ने धर्म की जो व्याख्या की है वह ऋत की ही व्याख्या है :

'नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः॥

[1] संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्।

—अथर्व १२।१।६३

कवि वर्ड्स्वर्थ अपने नभचारी स्काइलार्क की ऐसी ही स्थिति की कल्पना करता है—

'True to the kindred points of heaven and home.'

[2] वयं स्याम भुवनेषु जीवसे।

[3] मा पूर्व जरसो मृथाः।

[4] न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन।

—धर्म वह शक्ति है जो प्रजाओं को और समाज को धारण करती है। धर्म मनुष्य को जीवन से परे हटा कर वन का मार्ग बताने के लिए नहीं बना, और न पीलिया रोग की तरह जीवन को निस्तेज बनाने के लिए ही धर्म का प्रयोजन है। मनुष्य के ऐहलौकिक जीवन में विजय देने वाले और साथ ही अध्यात्म-शान्ति से परिचित कराने वाले व्यवस्थित जीवन-क्रम का नाम धर्म है। यह धर्म प्रकृति के उच्च विधान के साथ मिला रहता है। अथर्ववेद में जो स्पष्ट कहा है कि यह पृथिवी धर्म के बल पर टिकी हुई है ('धर्मणा धृता') वह कोई सम्प्रदायवाद की पूजा नहीं है। वस्तुतः मातृभूमि की प्रशंसा में इससे श्रेष्ठ और कुछ कहा ही नहीं जा सकता कि उसकी टेक सैनिक बल पर नहीं, बल्कि नीति के अखंड नियमों पर है। धर्म का आसन भारतीय दृष्टि में राजा और प्रजा सब से ऊपर है। न तो क्षत्र-सत्ता और न ब्रह्म-सत्ता धर्म का अपहरण कर सकती है। सब कुछ धर्म के वश में है अर्थात् धर्म-सत्य-चैतन्य का विधान सकल मानवी विधानों का नियन्ता है। घट-घट में उसका निवास है। राष्ट्र का दंड जहाँ नहीं पहुँच पाता, वहाँ भी धर्म की नीतिमयी प्रेरणा मनुष्य का मार्ग-दर्शन करती है। यह अवश्य है कि भारतीय इतिहास में निरंकुश राजसत्ता ने प्रजा का उत्पीड़न किया, परन्तु उनके कार्यों को धर्म की तुला पर तोलने के प्रजा के अधिकार को वे नहीं छीन सके। धर्म का तेज मनुष्य की रक्षा करता है, अधर्म मनुष्य को खोखला कर डालता है—यह विश्वास सम्प्रदायवाद के लिए लागू नहीं है, सत्यात्मक धर्म या आचार ही इससे अभिप्रेत है।

भारतीय विचार-पद्धति में आचार या करनी का बड़ा महत्त्व है। कवि ने सरल शब्दों में कहा है—

'का भा जोग कथनि के कथे। निकसे घिउ न बिना दधि मथे।' (जायसी)

आचारवान् व्यक्ति ही इस समाज में प्रतिष्ठा पाता रहा है। सार्वजनिक जीवन और व्यक्तिगत जीवन का भेद भारतीय हृदय नहीं स्वीकार करता। यह खिन्न होने की बात नहीं, यह तो हमारा जातीय सद्गुण है।

आचार और जीवन में जब खाई बन जाती है तब समय-समय पर द्रष्टा और विचारक, सन्त और महापुरुष आकर उसे पाटते रहे हैं। इसके कारण विचार आचार की कसौटी पर कसे जाते रहे हैं। वे विचार जिनको उपदेष्टा के आचार का बल नहीं मिला, सीधे खड़े नहीं हो सके। पृथिवी पर रेंगने वाले विचारों को भला क्या सम्मान मिल सकता है? आचार-योग ही समाज के जीवन की प्रतिष्ठा-भूमि रहा है। राम का आदर्श, जो इस भूमि का राष्ट्रीय आदर्श है, आचार-योग का ही दूसरा नाम है। वाल्मीकि ने स्वयं राम की जो कल्पना की है उसके अनुसार 'रामो विग्रहवान् धर्मः'—राम शरीरधारी धर्म है (अरण्य०, ३८।१३)। लोक में गूंजने वाला धर्म का सन्देश राम के शब्दों में इस प्रकार है :

> 'सत्य ही सनातन राजवृत्त है, इसलिए राज्य की नींव सत्य पर है, सत्य से ही लोक प्रतिष्ठित है। ऋषि और देव सत्य को ही श्रेष्ठ मानते हैं। अनृतवादी मनुष्य से लोग ऐसे डरते हैं जैसे साँप से। सत्यपरायण धर्म ही सब का मूल है। सत्य ही लोक का ईश्वर है, धर्म सत्य के ही आश्रित है। सत्य से परे और कुछ नहीं है। दान, यज्ञ, और तप, सब सत्य के बल पर टिके हुए हैं। वेद भी सत्य पर प्रतिष्ठित है। इसलिए सत्यपरक होना चाहिए। अकेला सत्य ही लोक का पालन करता है, वही कुलों की रक्षा करता है। मैं अवश्य सत्य की ही रक्षा करूँगा। मेरे लिए यह असम्भव है कि लोभ से, मोह से या अज्ञान से किसी भी तरह मैं सत्य की मर्यादा का उल्लंघन करूँ। सत्य प्रत्येक व्यक्ति के भीतर रहने वाला (प्रत्यगात्मा) धर्म मुझे जान पड़ता है। यदि मैं असत्य का आचरण करूँगा तो क्षात्र-धर्म से पतित हो जाऊँगा। यह भूमि, कीर्ति, यश और लक्ष्मी, सब सत्यवादी के लिए है। मैं कार्य-अकार्य को जानता हुआ श्रद्धा के साथ लोक-जीवन का निर्वाह करूँगा। यह लोक कर्मभूमि है। यहाँ आकर शुभ कर्म करना चाहिए। अग्नि, वायु, सोमादि देव भी कर्म का ही फल-भोग पाते हैं। सत्य, धर्म, शौर्य, भूतानुकम्पा, प्रिय वचन, यही एकोदय धर्म है, लोकागम की इच्छा रखने वाले पुरुष जिसका आचरण करते आये हैं।'

धर्म का ऊपर कहा हुआ आदर्श जीवन के भीतर से पनपता है। इस मार्ग का अनुयायी जीवन से भागता नहीं, वह उसे कर्म के जल से सींचता है। हमारे राष्ट्र-निर्माता ने जब राम-राज्य की बात कही तब वह निरी कल्पना न थी, उनके मन में राम के बताये हुए इसी सत्यात्मक धर्म और सर्वोदय की भावना भरी थी। यह धर्म दृढ़ कर्म-शक्ति पर आश्रित है। ययाति की तरह राष्ट्र का जन जब यह सोचने लगे कि मुझे वह नहीं चाहिए जिसके लिए मैंने प्रयत्न नहीं किया

हैं[१], तभी कर्म और धर्म का सच्चा मेल कहा जा सकता है। कर्म से ही सिद्धि मिल सकती है, इसी निष्ठा से मातृभूमि के प्रत्येक व्यक्ति को कर्म की दीक्षा ग्रहण करनी है।

भारत जन की मातृभूमि का देवतात्मा-रूप बहुत प्राचीन है। उसमें अनेक अमर भावों और आदर्शों का सन्निवेश है। राष्ट्रीय जन को उससे प्रेरणा ग्रहण करनी उचित है। अत्यधिक नियन्त्रण और अनुशासन भारतीय पद्धति के अनुकूल नहीं है। आदर्शों से प्रेरित जनता स्वयं अपने मन की उमंग से जितना निर्माण कार्य कर सकती है उतना बन्धन से नहीं। अतएव सत्यात्मक आदर्शों की ओर चलने की प्रेरणा देकर जनता को कृतकार्य होने का अवसर देना ही भारतीय पद्धति के अनुकूल है। सत्य के तेज से मन के आवरण स्वयं हटने लगते हैं। भारतीय जनता को उसी स्थिति की आवश्यकता है। मातृभूमि का जो सत्यात्मक रूप हमें उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ है उसी की उपासना करनी चाहिए। प्रत्येक को मातृभूमि की शरण में जाना है। माता भूमि ही युग की अधिष्ठात्री देवता है, उसी की उपासना करो :

'उपसर्प मातरं भूमिम्'

—ऋ० १०।१८।१०

माता पृथ्वी अपने महान् पुत्रों के महत्त्व से ठहरी है :

'महामहद्भिः पृथिवी वितस्थे
माता पुत्रैरदितिधार्यसे वेः।

—ऋ० १।७२।६

अतएव जो पृथिवी-पुत्र हैं उन्हें राष्ट्र में चलने के लिए अमृत के नये मार्ग बनाने चाहिएँ।

अप्रैल १९४९

[१] अहं तु नाभिगृह्णामि यत्कृतं न मया पुरा। —मत्स्य पुराण ४२।११

कला पर कुछ विचार

नन्दलाल बसु

मैं साहित्यिक नहीं हूँ। भाषा-शिल्प मेरा जाना हुआ नहीं। व्याख्या और विश्लेषण करने की मेरी सामर्थ्य नहीं। जीवन पर्यन्त कला की उपासना में जो थोड़े-से विचार और सत्य के कण मैं बटोर पाया हूँ उन्हीं को अर्पित कर रहा हूँ।

मानवता पर आज जो गहरा संकट छाया हुआ है उसके समस्त कारणों के मूल में है मानव की अपरिमित तृष्णा। हमारा व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन वास्तविक विकास के रास्ते से दूर जा पड़ा है। विकास की दिशाओं में एक असन्तुलन है जिससे वास्तविक विकास मारा जाता है। केवल राजनीतिक या आर्थिक उपाय, इस अवस्था का सामयिक प्रतिकार ही दे पाते हैं। किन्तु इसका अधिक प्रभावशाली और अधिक स्थायी प्रतिकार तो केवल ऐसी प्रेरणाएँ हैं—अगर हैं तो—जो केवल इस जीवन की परिधि, अपने ही अहं की तुष्टि और अहं के प्रसार तक ही सीमित न हों।

साहित्य और कला का स्थान इन्हीं प्रेरणाओं में है। सच्ची कला बिखरे हुए तत्त्वों को संयोजित करती है और आदमी को ऊपर उठाती है. ठीक इसी प्रकार के युग में जैसा हमारा है,—जब स्पष्टतः सभी वस्तुओं में विघटन आ गया है—कलात्मक और आध्यात्मिक विद्या की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। बहुत-से लोग हैं, और महत्त्वपूर्ण लोग हैं, जो ऐसे समय में कला-साधना की उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न लगा रहे हैं, जब कि देश और दुनिया को ऐसी समस्याओं को सुलझाने के लिए, जिन्हें आधारभूत समस्या कहा जाता है, अधिक शक्ति की आवश्यकता है। मेरे विचार से यह एक ग़लती है। कला की साधना विलास नहीं है, न स्वप्नलोक में पलायन है। अपने उच्चतम रूप में कला की साधना में हमारा व्यक्तित्व अपनी उन्नतिशील आत्मानुभूति की ओर बढ़ता रहता है। किसी भी युग में कला की उपेक्षा करने पर हमें उसका मूल्य चुकाना ही पड़ता है। कला तो हमारे स्वभाव की एक विचित्र आवश्यकता है।

चारों तरफ़ एक अँधेरा छाया हुआ है जो हमारे अहं और अज्ञान के कारण और भी गहरा हो आया है। उस में जो आत्मज्योति दीख पड़ती है, कला उसी के प्रकाश की किरण है। ये किरणें 'दीपक तले के अँधेरे' को दूर करती हैं, अगर हमारी पीड़ा नहीं तो कम से कम पीड़ा के कारणों को दूर करती हैं।

प्रत्येक मनुष्य में कहीं न कहीं एक कलाकार है। और जो समाज हर युग और हर काल की कला की थाती को अपने हर सदस्य के लिए सुलभ बना देता है, वही सच्चे अर्थों में एक सभ्य समाज है। इस सम्बन्ध में कलाकार का भी एक विशेष उत्तरदायित्व है। उसे सस्ती और महत्त्वहीन वस्तुओं में नहीं उलझ जाना चाहिए। एक सुसंगठित समाज में कलाकार एक 'बेकार की वस्तु' नहीं होता, वैयक्तिक विकृतियों और ऊलजलूल व्यवहारों का प्रदर्शन मात्र नहीं होता। उसमें ईमानदारी और सन्तुलन होना चाहिए। उसे साधकों की तरह मनसा जागरूक और उच्चादर्शों का प्रेमी होना चाहिए। अपने 'स्वधर्म' का सावधानी से पालन करते हुए, नाम और रूप में अन्तर्निहित अनन्त तत्त्व के भक्त, और समन्वय के स्रष्टा के रूप में वह अपना सामाजिक कर्तव्य पूरा करता है।

कला के क्षेत्र में परम्परा की थाती वैसी ही है जैसी व्यवसाय में पूँजी। यदि उसका उचित उपयोग किया जाय तो बहुत लाभ हो सकता है। लेकिन दो वस्तुएँ ऐसी हैं जिनके सहारे परम्परा अपने को पूर्ण कर पाती है: वे हैं, प्रकृति और मौलिकता। प्रकृति, मौलिकता और परम्परा—ये तीन मिल कर एक पूर्ण कलाकार का निर्माण करते हैं।

शिक्षा में कला और शिल्प की उपेक्षा करने से न केवल हमारे ज्ञान की हानि हुई है, वरन् आर्थिक क्षेत्र में भी हमारी हानि हुई है। शिल्प के ह्रास के साथ-साथ देश का आर्थिक ह्रास भी हो गया। शिक्षा के भारतीय केन्द्रों में, केवल रवीन्द्रनाथ ने प्रथम बार कला को खुल कर स्वीकार किया। यह देख कर प्रसन्नता होती है कि उनके प्रथम प्रयास का सारे देश ने अनुकरण किया और कर रहा है।

कलात्मक शिक्षा के अभाव ने न केवल हमारे जीवन को सौन्दर्य-वस्तु-हीन रहने दिया, वरन् हमसे अतीत काल की

महान् कला-शैलियों के उपभोग का रस भी छीन लिया है। अपने अतीत की कला-शैलियों पर गौरव करने से कोई लाभ नहीं जब तक हम उन्हें समझ न सकें और स्वयं भी नव-निर्माण न कर सकें। हमारी अपनी ही कला के प्रति हमारे अज्ञान की बलिहारी है, जिसके कारण यह आवश्यक हो गया कि यूरोपीय कला-मर्मज्ञ और आलोचक आकर हमें उसका मर्म समझायें, और तब उस झूठे ज्ञान के बल पर ही हम उस महान् वैभव को समझ सकें जिसमें हमारे राष्ट्र का अतीत पलता था ! आशा है कि स्वतन्त्र भारत में हमारे जीवन के सभी तत्त्व परस्पर समन्वित हो जायँगे और एक जीवित अद्वैत बन परिपूर्णता और वह कला उसी प्रकार परिपूर्णता की अभिव्यक्ति बन जायगी, जिस प्रकार वह सदा से रही है।

(बंगला से)

दो कविताएँ

आत्माराम रावजी देशपांडे 'अनिल'

१. मानवता

अन्याय कहीं भी घटित हो,
क्रोध कर उठें हम,
वार कहीं भी हो,
तिलमिला उठें हम,
यन्त्रणा देखकर पीड़ित हों
चाहे कहीं भी हों,
शोषण हममें दर्द पैदा करे
चाहे किसी का भी हो,
वज़न हो हमारी छाती पर
दासों के पैरों की बेड़ियों का,
नील हमारी पीठ पर उभरें
चाबुक चाहे कहीं मारा जाय।
सब अभागों के आँसू
छलकें हमारी आँखों में,
दुःखितों की वेदना की
कसक हमारे हृदय में हो,
सारी दुनिया की संवेदना
हृदय में उमड़ आयी है—
कुछ ऐसा नया नाता
जोड़ा है हमने—
वे भी मानव हैं, हम भी मानव हैं।

२. धुकधुकी

दूर नहीं है पावस
उत्कंठित हो उठा है मेरा मन
न जाने कैसी टीस-सी
उठ रही है।
यह नहीं है 'अन्यथावृत्ति'
मेघालोक की,

सुझाती हुई कि 'सावन के दिन आये'
हृदय धड़कता है नहीं आज
कल्पना से साज की वर्षा के अभिसार के।
कहीं वह आना ही न भूल जाय
चंचला
इसी आशंका से
धुकधुकी मुझे लग जाती है !

आयी ही नहीं यदि वर्षा
हर्ष उड़ेलती,
ऐसा ही रह गया यह नील आकाश
खिलाता हुआ धीरे धीरे
इन पांडुर बादलों को,
यदि ऐसी ही बहती रही ज़ोर से
ठंडी हवा
दूर दूर बिखेरती
झुकी हुई बदली को,
रोहिणी पर आरोहण यदि हुआ ही नहीं
जलदों का,
मृग यदि वंचित हुआ
मृगजल से,
आर्द्रा केवल करती गयी
सार्द्र मात्र नयनों को,
पुनर्वसु बरसा नहीं,
पुष्य हुश-हुश करके बस आहें भरता रहा,
आश्लेषा कंठाश्लेष के
आश्वासन देती हुई दूर ही खिसक गयी।
मघा बोली आगे देखो
और पूर्वा भी दूर्वाएँ
सुखाती रही,
उत्तरा निरुत्तर बैठी रही,
हस्त भ्रान्त राह पर
मस्त होके भागा,
चित्रा ने भयानक विचित्र रूप धरा यदि,
स्वाती भी हाथ में बाती निरी दे गया—
यदि सत्ताईस में से नौ घटा के
बाक़ी बाक़ी बचा शून्य ही,
तो—?
चिन्ता ही से
धुकधुकी मुझे लग जाती है !
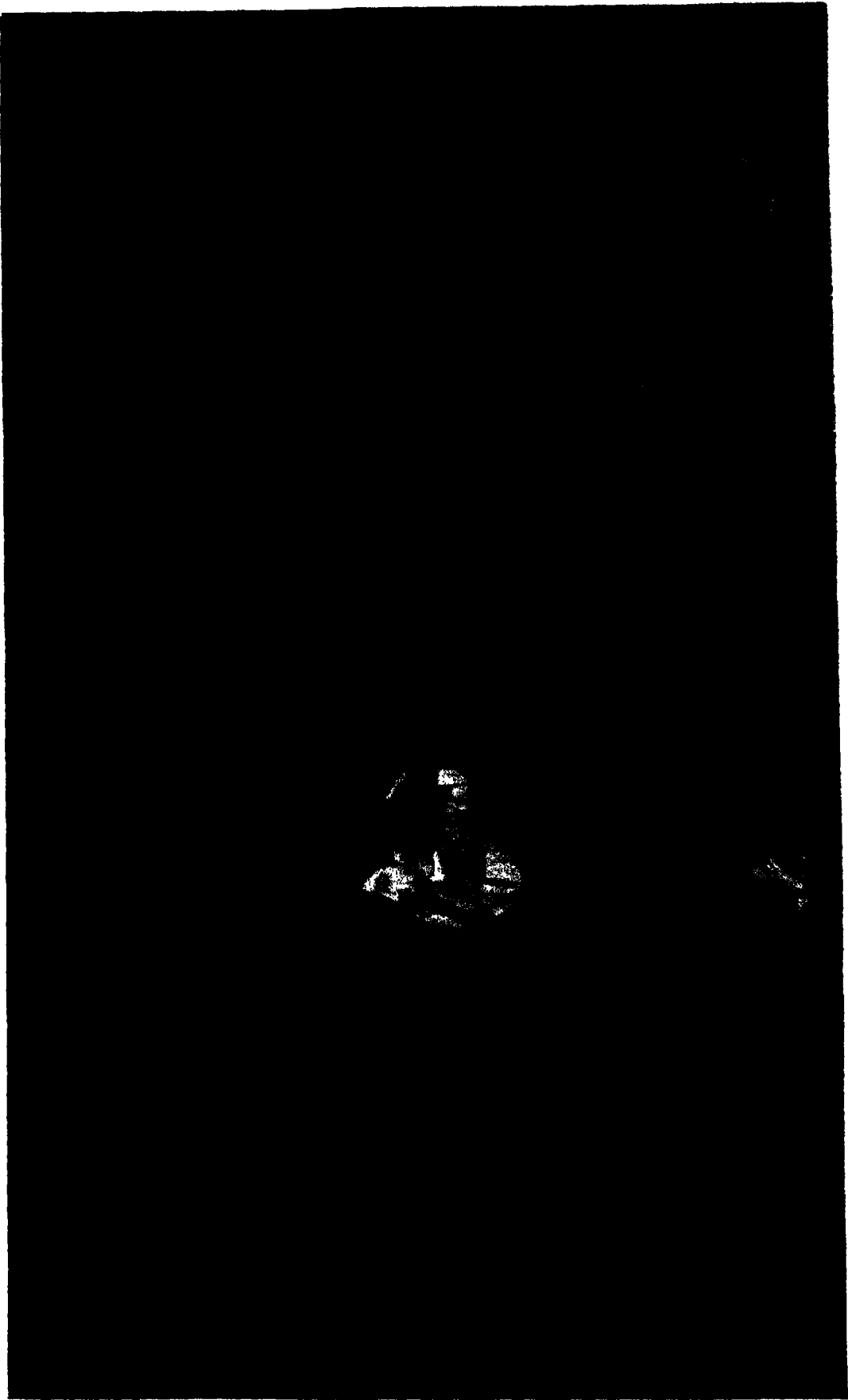
यह शक संवत् का व्यय संवत्सर है
हेमलम्बी विलम्बी नाम यह
कहीं सार्थ हुआ और
फँस गया
वर्षफल फ़सलों का,
फल-ज्योतिष हुआ विफल;
राजा बुध, मन्त्री शनि,
अग्रधान्येश मंगल,
मेघेश शुक्र, रसेश गुरु,
पश्चाद्धान्येश रवि—
कहीं यदि डिग गया
संवत्सराधिपों का
मन्त्रिमंडल यह
आपस की फूट से,
अथवा सम्राट् निसर्ग ने
इनके निर्णय ठुकरा दिये
मेघ ने द्रोण नाम के
वणिग्गृह में निवास करके
होके यदि 'पंचमस्तम्भी'
नरेन्द्र नाम नाग को
विश्वासघात करने दिया
तो—?
हतबुद्धि होता हूँ—
धुकधुकी मुझे लग जाती है!

"काले वर्षतु पर्जन्य:
पृथिवी सस्यशालिनी।
लोकोऽयं क्षोभरहित:
शान्ति: शान्ति: शान्ति:
शान्तिरस्तु पुष्टिरस्तु
तुष्टिरस्तु...."
प्रार्थना यह हुई यदि
निरर्थ हमारी
तो—?
दयनीय अपने को जानकर
धुकधुकी मुझे लग जाती है!

तो—?
तो क्या
घोर अवर्षण
दुष्काल विकराल।

कण-कण धान्य का
गिन कर, बीन कर, खाकर,
आधे पेट-पाव पेट रहकर
जीवन बिताने वाले
क्षण-क्षण आशा के सहारे राह देखकर
अन्नधान्य की—
अगली फ़सल की—
भूखे मर जायँगे
तड़पते
लाखों लोग
हमारे !
और हम देखेंगे ! या सुना है कि
देख भी न पायेंगे
सिसकते, गुस्से से बिलखते, उफनते,
फिर भी दोनों जून खाते
बेशरम हो जी रहे !
मेरी ही घृणा से मुझे
डर लग आता है—
धुकधुकी मुझे लग जाती है !

आखिर क्या करेंगे हम
करने की इतनी बात करके ?
भीख माँग-माँग के विदेश से
अनाज ला,
इधर का उधर कर,
चोरी से जमाया नाज बाहर निकाल कर,
स्वार्थियों को दंडित कर
जैसे-तैसे कुछ बाँट-बूँटकर
प्राण क्या बचा लेंगे ?
फिर भी रहे यदि वैसे ही अवलम्बित
देव पर, दैव पर,
निसर्ग की मौज पर,
घातक पुरानी राजनीति पर,
व्यर्थ व्यय करते
अपार मानव-शक्ति का
स्वार्थ में, कलह में,
लड़ने में, मारने में, तोड़ने में,
छीनने में,
धन-धान्य
जोड़ने, सड़ाने में,

जलाने में
और ऐसे पुनः अकाल लाने में ?
सोच कर सिर चकराता है,
धुकधुकी मुझे लग जाती है !

यह गरीबी,
ये यातनाएँ,
ये निष्फल कष्ट,
ये दुःख, रोग, महामारियाँ
यह युद्ध,
यह अकाल, यह मरण सामूहिक,
यह बरबादी,
दूर करना हमारे हाथ में है;
मानव में शक्ति है
कि देवता की, दैव की, निसर्ग की
मार जहाँ पहुँच न पाये,
ऐसी
जीवन-व्यवस्था का
उपाय करे।
उसकी सामर्थ्य जान
और जड़ता को देख
तिलमिला उठता हूँ—
धुकधुकी मुझे लग जाती है !

निश्चय ही कल जाग उठेंगे
भूखे कंगाल ये,
और नये निष्ठावान्, विचारवान्,
कलाकार
छोड़ भ्रान्ति
कर क्रान्ति !
देख के भविष्य, रोमांच के स्फुरण से,
सिहरता हूँ
और तब मेरी धुकधुकी शान्त होती है !

(मराठी से)

सुवर्ण स्वप्न

'सुन्दरम्'

हे ऊर्ध्वता !
त्रिकाल के शीश पर मँडराने वाली अकालता !
तू इस विश्व के आकाश में झुककर लहराती है
दिक्काल के दिव्य अरूपों की सर्जिका !
तू हमारे प्राणपिंड में स्फुरण करती रह ।

अहा ! तूने धरती से ताराओं तक
एक निगूढ़ सेतु रचा है,
मानव के हाथों में प्रकाश-रज्जु पकड़ाकर
उसे आरोहण का पथ दिखाया है ।

कितना भव्य, कितना रम्य है यह रहस्य सेतु:
पृथ्वी से आतुर हृदय उस पर चढ़ते हैं
एक-एक सोपान पर पग रखते हुए;
और तू भी वैसी आतुरता से उतर आ रही है ।

पग-पग पर तेरा और मेरा मिलन होता है ।
तू छन्न, प्रच्छन्न या अछन्न रूप से
ज्योति-पट पर हमारे चरण रखवाती है—
हमारे अन्तर को रस-प्लावित करती हुई ।

यह भव्य, दीर्घ और सुरम्य यात्रा है :
कराल काल की अन्तर्गुहाओं से
निकलते ही प्रकाश पट खुल गये :
यहाँ कमलों से छाये सरोवर हैं
और गिरि-शृंगों को चूमती मनोहर चाँदनी !

यह भूमि तेरी दृढ़ पाद-पीठिका है,
ऊर्ध्व से ढल रही तेरी अमृत-धार को झेलकर
इसने उर में सागर भर लिया है;
और अपने अंग से अग्नि भरे ईंधन का सृजन किया है ।

तेरे तीव्र तपस को उर धारे
वह व्योम-पथ में अकम्प भ्रम रही है,
किसी महान् हस्त की वज्रमुष्टि-सी
तेजोमयी और अकेली ।

इस भूमि का अणु-अणु किसी विराट् के
संकल्प को धारण किये हुए ढल रहा है;
किसी के प्रेमल श्वास के स्पर्श से
इसके रोएँ-रोएँ से नवांकुर फूट रहे हैं।

इस भूमि की मृदु मिट्टी रस-रूप हो रही है;
किसी सर्जक की दीठ के नीचे
नये-नये पुद्गलधारी प्राणों की
नूतन क्रीडास्थली बन रही है।

अहा ! यहाँ मानव को प्राप्त हुआ मनस्
अन्धकार का दारुण दुर्ग भेद कर।
वह मनस् चेतना का उग्र शर साध कर
तेजस् के उच्च शृंग को छू रहा है।

छन्द स्फुरण कर रहा है सुरीली रागिनी का,
दृष्टि की कमनीय कामिनी
नाच रही है रंग-पट पर अंग-रेखा आँकती,
मृदंग पर थाप लगाती हुई !

कोई मधु से पूर्ण मधु-चक्र गूँज रहा है
अदृष्टपूर्व पुष्पों का पराग बिखेरता।
वह प्रगूढ़ चेतना से स्वतः सर्जन करता जाता है
अनेकों क्रान्तद्रष्टाओं की गौरवमय पंक्ति का।

हे ऊर्ध्वता ! तेरा अखंड आशीर्वाद
ढल रहा है इस सृष्टि के सिर पर।
यह पुष्पों में भी नये पुष्प खिलाता है
और कंटकों से कुंडलों का निर्माण करता है।

तू प्रतिक्षण गतिमान् है,
तेरे सुचक्षु अदृष्ट होकर भी दृष्ट हैं,
और निगूढ़ के अभ्यन्तर को भेद कर
एक-एक रत्न को प्रकाशित करते हैं।

विश्व का यह पन्थ अतीव महान् है,
प्रगाढ़ कानन मार्ग में छाये हैं।
घाटियों के अनन्त विस्तारों की प्रचंड क्षुधा वहाँ खौल रही है।
अद्रिशृंगों के उन्नत आमन्त्रण गूँज रहे हैं।
और भ्रमरों के मीठे गुंजन आश्वासन दे रहे हैं।

तू हमारे हाथों में शंख देकर
जय के तेजोमय पथ पर चलाती है;
हमारी फेंट में असि कसवाकर
प्राणों में अश्व-सी शक्ति संचारित करती है।

तू रणांगण में रक्त से स्नान कराती,
मुंडमाला गूँथने की कला हमें सिखाती है,
और जेता के कंठ में अप्सराओं द्वारा
पिरोयी हुई मन्दार-माला डालती है।

अब मनुष्य का अन्तर स्वर्ग की अग्नि से,
सतत ज्वालामय, सदा दीप्त रहेगा;
पार्थिवता के सारे तन्तु
तेरी वीणा के सुनहरे तार बन जायेंगे।

तू यहाँ भव्य स्वर्ग का सर्जन करेगी,
सभी सागर तेरा पद-प्रक्षालन करेंगे;
विनाशक कालरूप कालीय भी दीन होकर
तेरे हाथ का ऋजु बेत बन जायगा!

भूः भुवः स्वः —इन तीन पदवाली
गायत्री एकपदा हो जायगी;
और इन भानुओं का प्रेरक आदिभानु
हमारी क्षीण बुद्धि को प्रचोदित करेगा।

सारी ऊर्ध्व और निम्न सृष्टि
संयुक्त होगी, प्रसुप्त सब जाग उठेंगे;
और इस प्रकार यह विश्व-चक्र का वर्तुल
सन्धानित होकर सुदर्शन सिद्ध होगा।

पूर्णता की परमात्म रागिनी
गाते हुए कोकिल कुहुकेंगे;
तेरे चारु सुवर्ण पद्म में
पिपासु जन अपने चित्त अर्पित कर देंगे!

(गुजराती से)

युग-संगम

अडिवि बापिराजु

हमारी बैलगाड़ी उपत्यकाओं पर धीरे-धीरे सरकती हुई चाँदनी की तरह आगे बढ़ रही थी। दोनों श्वेत बैल हिमाच्छादित शैल-शिखर-से प्रतीत हो रहे थे। श्वेत हंसों से जुते हुए मुक्ताभ रथ पर चढ़कर चन्द्रमा नीले आकाश में बिहार कर रहा था। सड़क के दोनों ओर खेत ऐसे चुपचाप बिछे थे मानो चाँदनी ने जादू कर दिया हो।

मनुष्य चिरयात्री है; अनथक रात-दिन चाँदनी में या तारों-भरी रात में, जलती धूप में अथवा घुमड़ती घटा में वह चलता रहता है। उसकी जीवन-यात्रा कभी हर्ष की ओर कभी शोक की ओर अग्रसर होती है। हमारी बैलगाड़ी भी कला तथा इतिहास के प्रसिद्ध स्थान विजयपुर के पुराखंडों की ओर जा रही थी। नागार्जुन पहाड़ी की उपत्यका में स्थित यह स्थान, कभी आन्ध्र के यशस्वी इक्ष्वाकुओं की राजधानी था। यही स्थान "अपर शैल संघाराम" है, यह अभी हाल तक नहीं ज्ञात था। इसका शोध उन पुरातत्त्वविदों ने ही किया जिन्होंने खुदाई करवा कर खंडहर और भग्न स्तूप आदि निकाले। इन्हें देख कर प्राचीन आन्ध्र की संस्कृति का पता चलता है।

वर्तमान अतीत में जा मिलता है, और अतीत वर्तमान की ओर अग्रसर होता है। नागार्जुन ईसवी प्रथम शती के महान् आन्ध्र सन्त थे, जिन्हें बुद्ध का अवतार मान कर पूजा जाता था। बौद्ध महायान शाखा के प्रवर्त्तक वही थे।

हमारा रास्ता धीरे-धीरे उस घाटी पर चढ़ रहा था जिसे पार करके विजयपुर की उपत्यका में उतरते हैं। मैंने सुना, खेतों में कहीं कोई बड़ा ही भावुक किसान युवक एक भावमय गीत गा रहा था :

"बोल सुन्दरी ! जीवन के इस सँकरे पथ पर
कितना दूर मुझे चलना है ?
बोल सुन्दरी, किन कुंजों तक मधुर प्यार के,
शूलों पर मुझको चलना है !"

जब-तब स्वर से या चाँदनी की किरण से चौंक कर छोटे-छोटे पंछी मानों उस दूरागत गीत के सुरों पर ताल दे उठते थे। उस किसान के गीत तथा पंछियों के स्वरों की मधुर लोरियाँ सुनता-सुनता मैं सो गया।

* * *

जब पूर्वी शिखर पर उषा देवी की रंजित मुस्कान फैली तब मैंने जाग कर देखा, हम घाटी के बीचों-बीच पहुँच गये हैं। दोनों ओर चोटियों पर इक्ष्वाकुओं के लाट थे। सामने कोई तीन सौ हाथ नीचे विजयपुर की उपत्यका बिछी हुई थी। नीचे जाने वाली सड़क बड़ी ढालू थी; दूर पर उस बिखरी हुई घाटी में दो-एक लम्बे गँवई झोंपड़े दिखाई दे रहे थे। नल्लमाल की सँकरी घाटियों में बहती हुई द्रुतवाहिनी कृष्णा नदी उस सुन्दर उपत्यका को तीन ओर से घेरे थी। धुँधले अतीत से लेकर आज के स्पष्ट वर्तमान तक अजस्र रूप में प्रवहमान यह नदी अतीत और वर्तमान का, नवीन और प्राचीन संस्कृतियों का, पूर्वी बंगाल की खाड़ी और पश्चिमी गिरि-मेखला के जलों का संगम सूत्र है।

हम नीचे उतरे। हमारी राह मुड़ती, बल खाती, अन्त में संग्रहालय के फाटक तक आ पहुँची, जहाँ पर बौद्ध स्तूपों तथा बिहारों से प्राप्त मूर्तियाँ और पुराखंड रखे गये हैं। इन स्तूपों के अतिरिक्त विजयपुर के प्राचीन नगर के कोई अवशेष अब नहीं हैं। नागार्जुन का बिहार घाटी के एक सिरे पर छोटी पहाड़ी पर था। कदाचित् इसी कारण इसे नागार्जुन टीला कहते हैं।

मैं संग्रहालय में घुसा। प्राचीन आन्ध्रों के अद्भुत संसार का दृश्य मेरे समक्ष प्रकट हो गया। मानों जादू के प्रभाव से मैं उन सुदूर शतियों के जीवन में पहुँच गया होऊँ। कलानिर्मित एक पाषाण से लेकर एक के बाद एक पाषाणमूर्तियों

को देखता हुआ मैं आगे बढ़ता गया। मेरे सामने जीवन के सौन्दर्य और संघर्ष का जो दृश्य आया वह मानों आज का ही था। यदि हम अपने वर्तमान को परिष्कृत अन्तर्भेदी दृष्टि से देख सकें तो हमें उसमें पुराकाल की पहले तो छाया, और फिर स्पष्ट प्रतिबिम्बित यथार्थता, देखने को मिलेगी।

संग्रहालय का अपना एक अलग संसार था, एक साथ ही सुन्दर और रहस्यमय। बड़े-बड़े सम्राट् और सम्राज्ञियाँ, राजकुमार तथा राजकुमारियाँ, संन्यासी तथा ऋषि-मुनि, योद्धा तथा नागरिक, राज-दरबार की महिलाएँ एवं ग्राम-वधुएँ सभी वहाँ थीं। राजाओं के उद्यान और खेतिहरों के खेत, महल और झोंपड़े, पशु और पक्षी; गँवई बैलगाड़ियाँ और सजीले रथ भी वहाँ देखने को मिले। वह दुनिया ही निराली थी।

जनता के आभूषणों तथा वेश-भूषा में अब तक कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ, न उनकी मुखाकृतियाँ ही विशेष बदली हैं। आधुनिक नर-नारियों की भाँति ही उनके चेहरे भी मोद से चमकते और शोक से मलिन होते थे। उनकी चाल-ढाल, उनकी मुद्राएँ और भावभंगियाँ, आज के जीवन को भी शोभा और गौरव प्रदान करती हैं।

* * *

संग्रहालय से मैं अपने तथा गाड़ीवान के लिए भोजन बनाने बाहर निकला। कूएँ की जगत के पास एक नीम वृक्ष की छाया में भोजन बनाते हुए मैंने देखा, खेतों में प्रसन्न-वदन नर-नारियाँ काम कर रही थीं। एक युवती तथा उसके प्रेमी में होती हुई बात-चीत मैंने सुनी।

युवक कह रहा था, "मुझे पूरी उमीद है कि इस बरस हमारे खेत में चौलाई की फ़सल अच्छी होगी।"

युवती बोली "और गेंदे के फूल क्यों नहीं होंगे ?"

प्रेमी ने ढिठाई से कहा, "हाँ जी, तुम्हारी काली लहराती लटों को सजाने के लिए !"

"मेरे लिए क्यों, तुम्हारी चौड़ी छाती पर हार बनकर झूमने के लिए, तुम्हारे कुटिल हृदय को खुश करने के लिए।"

"मेरा हृदय क्या तुम्हारी तिरछी चितवन से भी कुटिल है ?"

"और नहीं तो ! वह तो नाग से भी कुटिल है !"

"फिर भी तुम्हारी मदमाती चाल के बराबर नहीं !"

"तो तुम्हारे साथ चलने को कौन मर रहा है ?"

"और तुमसे बात ही कौन कर रहा है ?"

युवती रूठ गयी। बोली, "तो लो, मैं खेत के उस पार चली। कोई नहीं बोलता तो यहाँ कौन मरे जा रहे हैं बोलने को। मैं अपने आप से बातें करूँगी, पंछियों से और नागार्जुन के टीले से बातें करूँगी।"

वह बोला, "हाँ, नागार्जुन ही तो टीले से उतर कर आयेगा तेरा रूप निहारने !"

लड़की क्रोध से भर कर वहाँ से चल दी। इस दृश्य में मुझे उस छोटे अर्धचित्र की याद आयी जिसमें स्त्री-पुरुष को रुष्ट प्रेमियों के रूप में अंकित किया गया था। पुरुष के मुख पर विषाद के और नारी की मुखाकृति में लज्जा, क्रोध तथा क्षोभ के भाव बड़ी कुशलता के साथ अंकित किये गये थे।

दोपहर के विश्राम के पश्चात् मैंने आन्ध्र के पुरातन कलाकार के हस्त-लाघव एवं सृजन-कौशल का अध्ययन फिर आरम्भ किया। उस महान् कलाकार की आनन्दपूर्ण तन्मयता का अनुभव किया। पद्मासन में, अथवा एक हाथ में भिक्षापात्र लिये और दूसरे को चिन्मुद्रा में उठाये, नर-नारियों के बीच घूम कर प्रेम और अहिंसा की शिक्षा देते हुए भगवान् बुद्ध की मूर्तियाँ देखते-देखते मानों वे मूर्तियाँ मेरे सामने घुल कर खो गयीं; और मेरे आगे खड़ा हो गया चौबीस सौ वर्ष बाद उसी काम को पूरा करने वाले हमारे राष्ट्रपिता का स्वप्न, जो उसी सत्य का प्रचार करते थे। क्या पुरातन युग के वही राजा तथा मन्त्रीगण आज के हमारे नेता हो गये हैं ? मुझे जान पड़ा, नागार्जुन का ही कार्य पूरा कर रहे हैं हमारे राष्ट्र के प्रधान मन्त्री, जो साहस और प्रेम, स्वप्न तथा सत्य, कर्म एवं कल्पना के रसायनाचार्य हैं।....

* * *

वह प्रेमी मुझे कई बार मिला जो पास के खेत में काम करता था। युवती से उसका क्या सम्बन्ध है, मैं नहीं जानता था। नागार्जुन टीले की छाया में अपने तीन दिन के प्रवास में मैंने उस प्रेमी-युगल को कभी अनुकूल होते नहीं

फलक २७
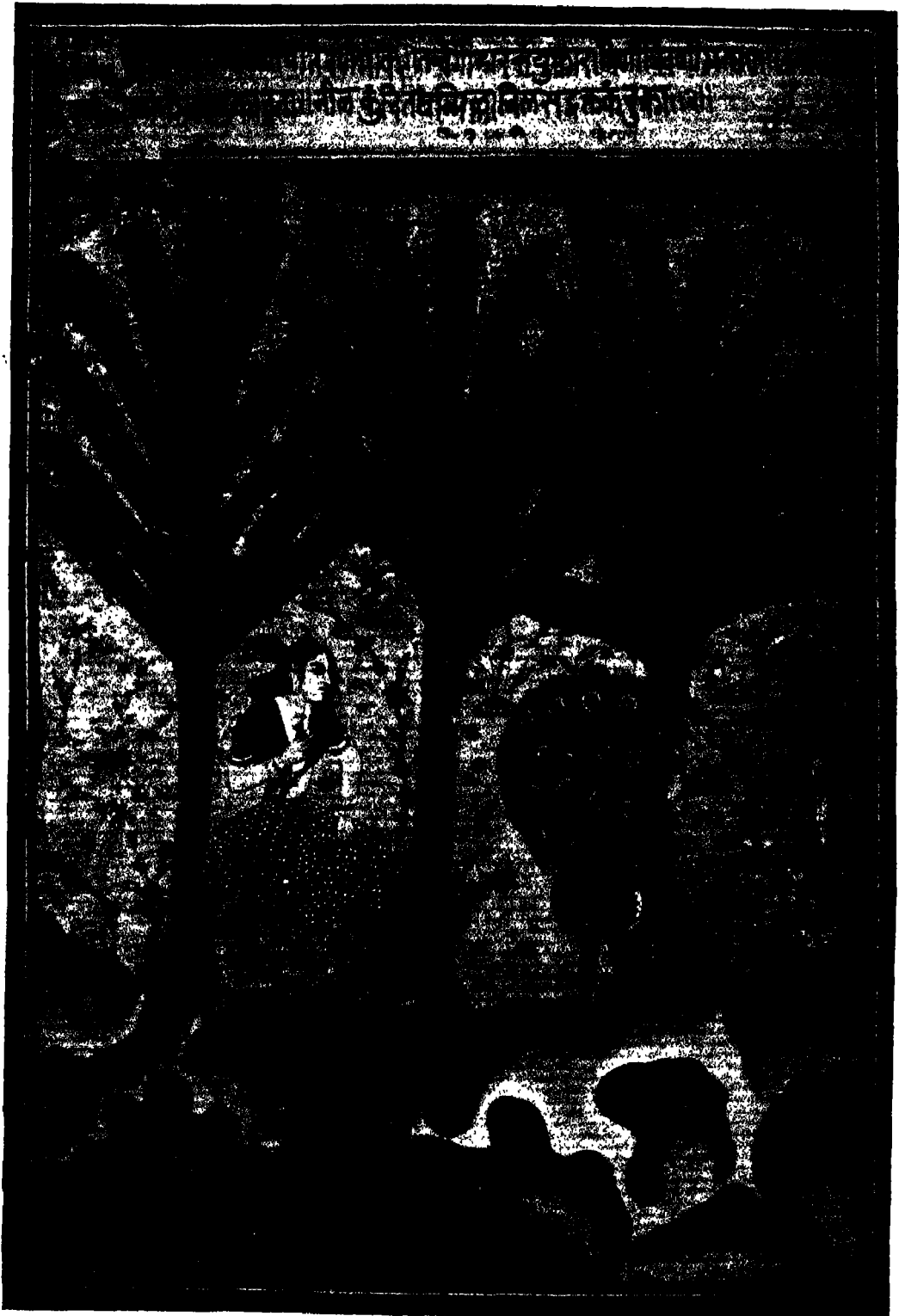
देखा। मुझे कौतूहल हुआ। पूछने पर पता चला कि दोनों का हाल ही में विवाह हुआ था, और युवती कुछ ही मास पूर्व स्वामी के घर आयी थी।

संयोगवश चौथे दिन 'गणेश चतुर्थी' थी—वर्ष का पहला पर्व। भोर होते ही मैं स्नानार्थ कृष्णा गया। नदी बाढ़ में थी। मटमैला पानी चक्कर खाता और भँवर बनाता तट पर तेज़ी से बह रहा था। तंग घाटी में नदी का तल बहुत ऊँचा उठ गया था। दूसरे पार, हैदराबाद की सीमा पर, इलेश्वरम् का मन्दिरों से भरा गाँव नदी के बिल्कुल किनारे खड़ा असीम से असीम तक बहती हुई इस महा सौन्दर्यमयी धारा का अवलोकन करता हुआ-सा प्रतीत होता था।

गणपतिदेव तथा उनकी पुत्री रुद्रमादेवी के बनवाये हुए काकतीय मन्दिर मानों अपने जन्म पर आश्चर्य कर रहे थे और सोच रहे थे कि स्वयं कृष्णा नदी ने ही उन्हें जन्म दिया है। नदियों की रानी कृष्णा, दक्षिण की चिरप्रिया, पश्चिमी पर्वतों की पुत्री एवं मौसमी हवाओं की सहोदरा, उन मन्दिरों के उत्थान में मुदित हुई थी और उनके ध्वस्त यश-गौरव पर रोयी थी। कितनी बार कितने ऋषि-मुनि, विजेता सम्राट् और उनकी सेनाएँ इस नदी के पार हुईं; कितनी बार सौरभमयी चाँदनी रातों में नावों पर बैठ कर प्रणय तथा आनन्द के गीत गाते हुए कितने प्रणयी नदी के पार सैर करने निकले। यह प्यारी नदी आज भारत की स्वाधीन जातियों के एक महान् नवराष्ट्र के जन्म पर आनन्द मना रही है, जिसके नागरिक ऋषि-मुनियों की और नीति-स्मृतिकारों की, ज्ञानियों, साधकों और कर्मवीरों की भव्य परम्परा के उत्तराधिकारी हैं, और आशा, विश्वास तथा शक्ति के साथ नये राष्ट्र के निर्माण में लगे हैं जो अब अनन्त काल तक पराधीन न होगा, न होगा।

* * *

उस दिन प्रातःकाल जब मैं उस विशेष त्यौहार का भोजन बना रहा था, पास के खेत में काम करने वाली वह युवा जोड़ी सकुचाती-सी आकर मेरे पास खड़ी हो गयी। उनके साथ एक डलिया थी। मैं आश्चर्य-चकित रह गया।

सकुचाते युवक से मैंने पूछा "क्यों भाई, बहू से झगड़े का निबटारा कर लिया कि नहीं?"

अपनी निर्मल आँखों में उल्लास भर कर उसने उत्तर दिया, "अजी, वह झगड़ा थोड़े ही था? भला ऐसी सुन्दर लड़की से झगड़ सकता हूँ!" वह थोड़ा-सा हँसा और फिर बोला, "आप ही पूछ देखिए न।" वह उसकी ओर निहारने लगा। लड़की ने लजा कर और भी झुकते हुए कहा, "वह झगड़ा नहीं था, मालिक! वह तो हमारे दिल की उमंग थी। लीजिए, यह आपके लिए हम ग़रीबों की भेंट है।"

डलिया में हरे शाक, तीन-चार सन्तरे, कैथ और कुछ फूल थे। मेरी पलकें आर्द्र हो आयीं। मैंने सोचा, 'माँ, मेरी चिरन्तन भारत राष्ट्रमाता, संसार के सकल राष्ट्रों की आदि-जननी और गुर्वी! तू सदा प्रेममयी रही; और आज फिर सत्य और धर्म के पथचारी तेरे बेटे उठ रहे हैं युद्ध-जर्जर विश्व का मार्ग-निर्देश करने, उसे शान्ति और कल्याण की ओर ले जाने को!'....

सहसा मैंने अनुभव किया, नागार्जुन, वे प्राचीन कला-कृतियाँ, समक्ष खड़ा वह प्रेमी-युगल तथा पृष्ठभूमि में लहराता कृष्णा का जल—सभी सत्य, शिव, सुन्दर की संगीत-लय की लहरियाँ हैं....

(तेलुगु से)

मिमियाते मेमने का चित्र

बलडून ढींगरा

पहली बात जिसने कमला का ध्यान आकर्षित किया वह सम्भवतः यह थी कि वह मैदान के किनारे ठीक उसी मुद्रा में बैठा था जो उसके पिता के संग्रह की अष्टधातु की बुद्धमूर्ति की थी; और पटरी पर चित्र आँकने वाले शिल्पियों की भाँति उसके चारों ओर पेंसिल से बने हुए अनेक चित्र बिछे हुए थे।

कुछ संकोच के साथ वह उनके समीप गयी, और स्थिर दृष्टि से चित्रों को देखने लगी। उनमें से एक में दुबला-पतला किन्तु चिकना ईरानी बिल्ली का-सा सिर था जो उसे पसन्द आया। फिर दूसरा चित्र दरवाज़े से लटकते हुए एक कोट का था। इनके अतिरिक्त एक लाल पत्थर में उत्कीर्ण घोड़े की मूर्ति थी और उसके बाद एक ठिठुरते मेमने का चित्र जिससे अवर्णनीय दयनीयता टपकती थी।

कमला ने कहा, "क्या तुम इन चित्रों को बेचते हो?"

युवक ने उत्तर दिया, "हाँ, कभी-कभी। अभी तो कल ही एक चित्र अच्छे दामों बेचा था।"

कमला ने पूछा, "क्या उस मेमने के चित्र को बेचोगे?"

"बेच तो क्या, बदले में दे सकता हूँ।"

"बदले में? किस चीज़ के?"

उसने पूछा, "आखिर तुम उसे लेना क्यों चाहती हो?"

कमला अचकचा कर मुँह खोले उसकी ओर ताकती रही, क्योंकि उसने ऐसे प्रश्न की आशा न की थी। फिर "यों ही, मुझे पसन्द है। कितना सुन्दर बना है। एकदम मेमने की तरह।" कहते हुए उसने सोचा कि बात तो उसने कही मगर कुछ जमी नहीं।

"यों तो खेतों में कितने ही मेमने घूम रहे हैं जो इससे कहीं अधिक मेमनों की तरह हैं," युवक ने उत्तर दिया।

"हाँ, हैं क्यों नहीं? किन्तु इसे देख कर मुझे लगा...."

उसने चित्र की ओर एक बार और देखा और फिर युवक की ओर देखकर पूछा, "अच्छा, क्या कोई खास मेमना ऐसा था—केवल एक अकेला अद्वितीय मेमना? या कि एक दिन तुमने सहसा आँख उठा कर मेमने-पन को ही सामने देखा और चित्र बना दिया?"

वह बोला, "सब मेमने मिमियाते वक्त ऐसे ही लगते हैं।"

"नहीं", कमला ने खंडन करते हुए कहा, "मैं नहीं मानती। कम से कम जब मैं देखती हूँ तब तो नहीं।" वह कुछ क्षणों तक चुपचाप अपने विचारों में निमग्न खड़ी रही। तब उसने पूछा, "मेमने-पन के अलावा उस चित्र में और क्या है?"

"ठिठुरा-पन।"

"और इसके अलावा? बेबसी? फिर क्लेश–ऐसा–क्लेश–जिसका–कभी–अन्त–न–होगा?"

"ठीक", युवक ने उत्तर दिया।

"तीन दुःखद बातें—और फिर भी चित्र मनोहर है।"

युवक ने हामी भरी।

"वह मेमना कभी बड़ा होकर भेड़ भी हुआ था कि नहीं?"

"कह नहीं सकता। किन्तु मैं सोचता हूँ कि यह मेमना बड़ा होकर कुछ बन सकता है तो केवल विचार—केवल भावना" वह तनिक रुका। "मेरी" किन्तु फिर अपनी ही बात काटते हुए बोला, "नहीं, शायद मैं ही बड़ा होकर यह बनूँगा।"

"ऐसा बिल्कुल नहीं है। तुम तो अभी ही उसके हो, अन्यथा इसकी भावनाएँ तुम्हें प्रिय न लगतीं।" फिर कुछ सँभल कर बोली, "तो क्या जो कुछ भी मुझे प्रिय है वह सब कुछ मैं हूँ ?"

"हाँ, और जो कुछ अप्रिय है वह भी। जिससे डरती हो, जिसकी कामना करती हो और जो कुछ भी देखने में समर्थ हो—वह सब कुछ। हाँ, मेरा तो ऐसा ही मत है", युवक ने कहा।

वह कुछ देर चुप रही। फिर उसके अन्दर से कोई शक्ति बोल उठी, "हाँ, यही तो सत्य है। इसे मैंने ऐसा ही सदैव से जाना है।"

वह फिर सोचने लगी—अतीत की ओर उन्मुख। हाँ, ठीक ही तो, यही तो सत्य है जिसे उसने सदैव जाना है। उसने फिर युवक की ओर देखा और युवक ने उसकी ओर। वह हँस पड़ा। कमला ने एकाएक अपने पास की सारी पूँजी युवक के चरणों पर रख दी, यह सोच कर कि सत्य के सहान्वेषियों के लिए भी जीने के लिए भोजन, और भोजन के लिए पैसा जरूरी है। किन्तु क्योंकि चित्रकार के पास उस समय खाने के लिए काफ़ी पैसे थे, उसने कमला के पैसे लौटा दिये। इस पर दोनों ही हँस पड़े। हाँ, कमला को अब उस चित्र को लेने की भी इच्छा न रही—वह अपने भीतर ही वह सब कुछ थी जो कि चित्र में था—और इस बात को जान लेने पर उससे आगे भी निकल गयी थी। और युवक ने तो वह अवस्था पहले ही पार कर ली थी; तभी तो वह चित्र बना सका था। अब उन दोनों के सामने एक, केवल एक ही मनोरंजक प्रश्न शेष रह गया था 'अब इससे आगे क्या ?'

(अंग्रेजी से)
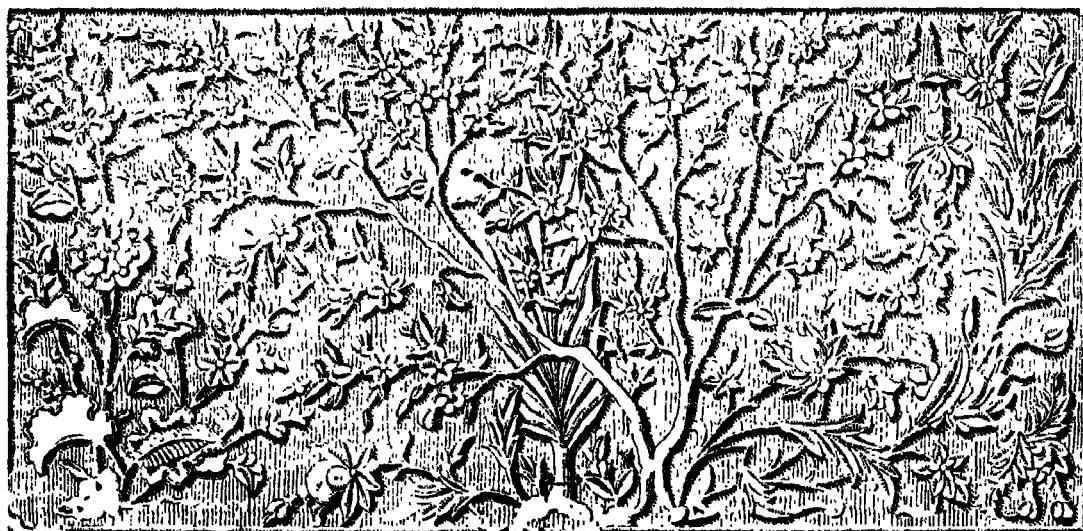
कालिदास द्वारा भारत का शोध

वी० उन्नीकृष्णन् नायर

बहुत दिनों से यह कहने का फ़ैशन-सा चल पड़ा है कि भारत विभिन्न धर्मों का अवलम्बन करने वाले, विभिन्न भाषाएँ बोलने वाले तथा विभिन्न प्रकार की सामाजिक परम्पराओं का पालन करने वाले, विभिन्न जातियों के निवासियों से आबाद एक उपमहाद्वीप है, जिससे इसी बात की पुष्टि हो कि भारत की सांस्कृतिक एकता की बातें कपोल-कल्पना मात्र हैं। ऐसे पूर्वग्रह मुश्किल से मिटते हैं। जो देखना चाहता नहीं उसके अन्धेपन का क्या इलाज है ? भारत के लिए यह दुर्भाग्य की बात है कि उसके अतीत का इतिहास और उसकी संस्कृति विदेशी आधिपत्य के कुहरे से इतने अधिक समय तक ढँकी रही कि ऊपरी दृष्टि से देखने वाले को एकता की अपेक्षा अनेकता के ही दर्शन अधिक हुए।

पन्द्रह शताब्दियाँ बीत गयीं जब कालिदास ने इस एकता का शोध किया और अपनी रचनाओं के माध्यम द्वारा इस भावना को मुखरित भी किया। वास्तव में किसी अन्य भारतीय कवि द्वारा भारतवर्ष की शाश्वत चेतना का इतना सुन्दर चित्रण सम्भव नहीं हुआ। हम कह सकते हैं कि उनका काव्य भारत के सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन का सच्चा प्रतीक है। श्री अरविन्द के अनुसार व्यास और वाल्मीकि के बाद वह भारतीय जागरण के तीसरे महान् प्रतीक हैं। कालिदास के आविर्भाव तक वनस्थली के अकलुष वातावरण में पल्लवित प्राचीन आदर्श, प्रयोग में न आने के कारण धुंधले पड़ चले थे, और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि कालिदास की रचनाओं में उनके शाश्वत सौन्दर्य के प्रति ममता के साथ उन्हें पकड़ न पाने की उदासी भी परिलक्षित होती है। शकुन्तला के पाँचवें अंक में दुष्यन्त की बेचैनी के मूल में तो यह कसक ही है। विपुल वैभव में रहते हुए भी सुन्दर वस्तुओं को देख कर और मधुर शब्दों का श्रवण कर उसके हृदय में एक अनिर्वचनीय कसक उठती है, जैसे पूर्वजन्म की बीती हुई घटनाओं की स्मृतियाँ सजीव हो उठी हों।

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

यह अनुमान कदाचित् अनुचित न होगा कि यह श्लोक लिखते समय कवि की कल्पना में भारत के अतीत का उत्कर्ष, और तत्कालीन भौतिकतावादी परिस्थिति-जन्य अधःपतन दोनों उपस्थित थे। इसी मनःस्थिति का चित्रण हमें रघुवंश के प्रारम्भिक श्लोकों में मिलता है जहाँ कवि रघुवंशियों की गाथा गाने में अपने को असमर्थ बताता है। वह कहता है कि ऐसा कार्य-भार वहन करने में असमर्थ होते हुए भी ऐसे असाधारण चरित्रों के यशोगान का लोभ वह संवरण नहीं कर सकता :

"तद्गुणैः कर्णमागत्य चापल्याय प्रचोदितः।"

और केवल रघुवंश में ही नहीं अपितु अन्य रचनाओं में भी कालिदास ने भारत के अतीत गौरव का रोमांचकारी चित्रण किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत किये हुए कुछ चित्रों का सिंहावलोकन हम लोगों के लिए मनोरंजक होगा :

कालिदास की रचनाओं में तीन—रघुवंश, कुमारसम्भव तथा शाकुन्तल—की पृष्ठभूमि तपोवन ही है। और तीनों में नैतिक तथा आध्यात्मिक अनुशासन पर ही ज़ोर दिया गया है। उदाहरण के लिए हम रघुवंश का आरम्भिक सर्ग ले सकते हैं जिसमें राजा दिलीप, सन्तानहीन होने के कारण, वंश चलाने की चिंता में मग्न दिखाई देते हैं। सारे राजसी ठाटबाट का परित्याग कर वह केवल अपनी धर्मपत्नी के साथ कुलगुरु वसिष्ठ के आश्रम में जाते हैं। उनके द्वारा ही सर्वप्रथम राजा को अपनी सन्तानहीनता का कारण ज्ञात होता है—यह कामधेनु के अभिशाप का फल था जिसे राजा कभी अज्ञानवश प्रणाम करना भूल गये थे। ऋषि कहते हैं कि जो अभिवादन का पात्र हो उसको उससे वंचित रखने वाले का अशुभ होता है; और फिर उसी कामधेनु की आत्मजा नन्दिनी की सेवा करने के लिए राजा से प्रतिज्ञा करवाते हैं। इक्कीस दिनों तक राजा

चरवाहे के रूप में रहते हैं, जिसके फलस्वरूप उनकी चिर-अभिलाषा की पूर्ति होती है। यह था प्राचीन ऋषियों द्वारा उपस्थापित आत्मानुशासन का आदर्श जो राजा-प्रजा सभी पर समान रूप से लागू होता था।

आत्मसंयम पर यह बल कुमारसम्भव में और भी अधिक स्पष्ट है, जहाँ पर हमें दो पवित्र आत्माएँ अकारण ही समाधिस्थ दिखलाई पड़ती हैं। उनमें से एक तो स्वयं तपस्या के फलों के विधाता हैं—'स्वयं विधाता तपसः फलानाम्', और दूसरी पर्वतराज हिमालय की कन्या हैं। साधारण अध्येता के लिए इस कठिन तपश्चर्या से किसी को भी कोई लाभ निकलता दिखलाई नहीं देता। किन्तु यही तो जीवन की विषमता है कि एक ओर स्वयं महेन्द्र जिसके पाणिग्रहण के लिए लालायित हैं वही पार्वती शिव को अपने पति के रूप में पाने के प्रयत्न में लगी थीं जब कि शिव भौतिक जगत् के आकर्षणों से पूर्णतया विमुख होकर ध्यानस्थ बैठे थे। महादेव का सामीप्य ही पार्वती के लिए चरम सुख था, और कठिन परिश्रम से अनभ्यस्त होते हुए भी उन्होंने महादेव की इच्छा के अनुकूल कष्ट-कल्पित मार्ग का अवलम्बन किया। कालिदास कहते हैं कि उनकी उलझी हुई जटाओं में अवस्थित चन्द्रमा की शीतल किरणों में पार्वती को अपूर्व शान्ति मिलती थी—'नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः।

इतने पर भी महादेव अन्यमनस्क ही रहे तथा पार्वती को और भी अधिक कृच्छ्रता का अवलम्बन करना पड़ा मानो उसकी साधना इतःपूर्व बिल्कुल ही मूल्यहीन थी। एक दिन पूजनोपचार के सिलसिले में वह अपने हाथों की बनायी एक कमलमाला अपने इष्ट के गले में पहनाने लगीं और इसी बीच आँखें चार हुईं। महादेव का शान्त, निर्लिप्त मानस तरंगायित हो उठा। किन्तु इस प्रकार की दुर्बलता के सामने सिर झुकाना उनके गौरव के प्रतिकूल था। अतः यह भाव-प्रवेग जहाँ का तहाँ दबा दिया गया और उसी क्षण उन्होंने नारी जाति से दूर रहने का प्रण कर लिया। इस प्रकार अपनी आशाओं पर तुषार-पात होते देख पार्वती को अपने बाह्य सौंदर्य की अक्षमता पर नितान्त खेद हुआ जिसके कारण ऐसा सुवर्ण अवसर भी हाथ से जाता रहा। जिसे पार्वती अपने शारीरिक सौन्दर्य से प्राप्त करने में असफल रहीं उसी को तपश्चर्या द्वारा प्राप्त करने के लिए वह परिकरबद्ध हो गयीं। परिणाम भी आश्चर्यजनक हुआ। नारी जाति के कट्टर द्रोही महादेव को भी अन्त में हार मानकर कहना पड़ा कि 'अबसे मैं तुम्हारा दास हुआ। तुमने अपनी साधना से मुझे मोल ले लिया।'

"अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिः"

यह था भारत के नारीत्व का चरम उत्कर्ष। यद्यपि यह रूप आदर्शवादी ही है, किन्तु है वांछनीय। आगे चल कर कालिदास स्त्रीत्व का एक और कोमलतर चित्र प्रस्तुत करते हैं। शकुन्तला और दुष्यन्त का प्रेम यद्यपि तपोभूमि के पवित्र वातावरण में उत्पन्न हुआ था फिर भी उसमें न तो शिव-पार्वती के प्रेम के आध्यात्मिक सौन्दर्य का प्रकाश है और न आदर्शवादी महत्ता ही। इस प्रकार प्रेमियों को अपने चरम लक्ष्य तक पहुँच कर सानन्द जीवन बिताने के पूर्व अनेक व्याघातों को पार करना पड़ता था। उनके प्रथम मिलन में तनिक भी आध्यात्मिक तुष्टि के दर्शन नहीं होते और दुष्यन्त ने बिदा के समय सखियों को जो आश्वासन दिया था वह मिथ्या प्रलाप ही सिद्ध हुआ। दोनों प्रेमी अपने उत्तरदायित्व की गम्भीरता पर विचार किये बिना ही क्षणिक भावावेश के उफान में बह गये। घर लौट कर महाराज वन की सारी घटनाओं को भूल गये और महल के सुसंस्कृत विलास में डूब गये। उनके प्रथम मिलन के हल्केपन और अन्तिम की गम्भीरता का पता क्रमशः शकुन्तला के कौमार्य की चंचलता और मरीचि के आश्रम में वास करते समय अनुशासन तथा आत्मसंयम से लग जाता है। इस आश्रम का वर्णन जैसा कालिदास ने किया है उसमें एक प्रयोजन दिखलाई पड़ता है। इस स्थान पर कल्पवृक्ष, कमल-सरोवर तथा स्वर्गलोक की अप्सराएँ इत्यादि आकर्षण की सभी सामग्रियाँ प्रस्तुत हैं फिर भी मरीचि के शिष्य वहाँ तपश्चर्या कर सकते हैं, यद्यपि दूसरे तपस्वियों को तपस्या के लिए अनेक कष्ट उठाने पड़ते रहे। यह मरीचि के शिष्यों के आत्म-संयम की माप है और यह सर्वथा उचित ही था कि शकुन्तला और दुष्यन्त के प्रेम की चरम निष्पत्ति इस वातावरण में हो।

यह कहना असंगत होगा कि कालिदास ने अपनी रचनाओं में केवल आध्यात्मिक पक्ष के ही चित्र प्रस्तुत किये हैं और लौकिक पक्ष की सर्वथा उपेक्षा की है।

रघुवंशी राजाओं का इतिहास देते समय कालिदास ने केवल इस महान् देश के सीमा-विस्तार की ही चर्चा नहीं की है प्रत्युत इसकी राजनीतिक व्यवस्था का भी चित्र प्रस्तुत किया है। रघु की दिग्विजय-यात्रा का वर्णन स्वयं भारत की एकसूत्रता का प्रमाण है। उस समय रेल इत्यादि द्वारा यातायात न होने पर भी उज्जैन में निवास करने वाला कवि हिमालय से ताम्रपर्णी, सिन्धु से कामरूप तक दूरवर्ती प्रदेशों के निवासियों की जीवन-चर्या का सुन्दर चित्रण करता है। इन

बातों से इसके अतिरिक्त और क्या सिद्ध होता है कि उस समय उत्तर-दक्षिण तथा पूर्व-पश्चिम के लोगों में परस्पर हितैक्य था और एक दूसरे को समझने की चाह थी।

इस बात को मानने के लिए बहुत-से प्रमाण हैं कि तत्कालीन विभिन्न प्रान्त परस्पर राजनीतिक तथा सामाजिक सूत्र में बँधे थे। दिलीप की रानी सुदक्षिणा मगध की राजकुमारी थी और उसकी पतोहू इन्दुमती विदर्भ-कन्या थी। दशरथ की तीन रानियाँ मगध, कोशल और केकय नामक तीन विभिन्न प्रान्तों से आयी थीं और राम तथा उनके अन्य भाइयों का विवाह मिथिला में हुआ था। इन्दुमती के स्वयंवर में एकत्र राजकुमार देश के विभिन्न स्थलों से आये थे। अंग और अवन्ति के राजा, मगध के परन्तप, माहिष्मती के प्रतीप, शूरसेन के सुषेण, कलिंग के हेमांगद तथा पांड्य देशी राजा सभी वहाँ वर्तमान थे।

रघुवंश में राज्य के केवल आरम्भिक उत्कर्ष का ही वर्णन नहीं है बल्कि उसके अन्तिम दिनों के अधःपतन का भी चित्र है। राज्य राम के विभिन्न उत्तराधिकारियों में बँट गया। भरत ने सिन्धु देश के गन्धर्वों पर विजय प्राप्त की और संगीत-वाद्यों के स्थान पर उनको युद्ध के अस्त्र-शस्त्र ग्रहण करने को बाध्य किया। उनके बाद तक्ष और पुष्कल नामक उनके दो पुत्रों में देश का बँटवारा हो गया जिन्होंने क्रमशः तक्षशिला और पुष्कलावती को राजधानी बनाया। लक्ष्मण के दोनों पुत्र कारापथ के शासक हुए। कुश ने अपना राज्य कुशावती में स्थापित किया और लव ने सरावती में। इस प्रकार अयोध्या वीरान हो गयी। कुश को यह बड़ा अशोभन लगा कि ऐसी सुन्दर नगरी, जो कई पीढ़ियों से उनके पूर्वजों की राजधानी रह चुकी हो, इस प्रकार उजाड़ दी जाय। रघुवंश के सोलहवें सर्ग में एक बड़ा ही सुन्दर दृश्य है जिसमें अयोध्या के कुल-देवता कुश के सामने अपने भाग्य का रोना रोते हुए दिखलाये गये हैं। इससे कुश इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अयोध्या के पुनरुद्धार की दृढ़ प्रतिज्ञा की और उसके अनुसार कुशावती-वंश पुरोहितों को सौंप वह तुरन्त अयोध्या लौट आये। किन्तु इक्ष्वाकु के गौरव का सूर्य कभी का अस्तमित हो चुका था। अन्धकार बढ़ता गया और आलसी तथा दुर्व्यसनी राजा अग्निवर्ण के राज्यकाल में पूर्णरूपेण रात्रि छा गयी। उसने अपना सारा शासनभार मन्त्रियों को सौंप दिया, और कहा जाता है कि वह अपने कर्त्तव्यों के प्रति इतना उदासीन हो गया कि जब मन्त्रियों के बहुत कहने-सुनने पर अपनी प्रजा को दर्शन देने आता भी था तो केवल अपना पैर खिड़की के बाहर लटका देता था, बस। भाग्य ने प्रतिशोध में विलम्ब न किया, और वह क्षय रोग का शिकार होकर चल बसा। उसकी रानी, जो उस समय गर्भवती थी, राजसिंहासन पर आसीन हुई और इस प्रकार कोशल का राज्य एक स्त्री के द्वारा संचालित हुआ।

कालिदास के प्राचीन भारतवर्ष के चित्रण की मर्यादाएँ भी हमें न भूलना चाहिए। उसके क्षेत्र के सीमित होने का एक मुख्य कारण यह था कि वह जीवन को एक दरबारी कवि की दृष्टि से देखते थे, जिसे सर्व-साधारण के सम्पर्क में आने का अवसर नहीं मिला था। उनके वृत्तान्तों में घटनास्थल या तो ऋषियों का तपोवन है या राजाओं की राजधानी। दोनों के बीच के क्षेत्र कदाचित् ही कहीं चित्रित हों। उनकी रचनाओं के स्त्री-पुरुष पात्र प्रायः सभी समाज के उच्च स्तर से ही लिये गये हैं। यहाँ तक कि सेवक भी राजा के भृत्य हैं जिनका आचार-व्यवहार साधारण श्रमिक से सर्वथा भिन्न है। वे कृत्रिम वातावरण में पले हुए होते हैं। अतः उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र जन-साधारण के प्रकृत वर्णन से विशेष स्फूर्ति होती है। यथा वशिष्ठ के यहाँ जाते हुए दिलीप और उनकी रानी को नवनीत का उपहार भेंट करते हुए ग्वालों का, अथवा वासवदत्ता और उदयन की प्रेम-कथा की चर्चा करते हुए अवन्ति के बूढ़े देहातियों का, अथवा भोली आँखों से बादलों की ओर ताकती हुई ग्रामवधुओं का, जो समझती हैं कि उनके सारे परिश्रम का भाग्य-विधायक वह मेघ ही है।

कालिदास-कृत ऋतुसंहार के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका से, स्वर्गीय रणजीत सीताराम पंडित के शब्दों के साथ, इस लेख का उपसंहार करना उचित होगा :

"कोई भी संस्कृति अपने अतीत का त्याग नहीं कर सकती, वैसे ही जैसे मनुष्य अपनी स्मरणशक्ति को त्यागकर मनुष्य नहीं रह सकता। हमारा भूत वर्तमान में सन्निहित रहता है। भारतीय साहित्यिक एक अत्यन्त प्राचीन संस्कृति के उत्तराधिकारी हैं। इधर वे अपने अतीत के स्वर्ण-युग को पुनः अवतरित करने के प्रयत्न में लगे हैं, और अध्येता भी प्राचीन नैतिक शब्दावली से अधिकाधिक प्रेरित होने लगे हैं। राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण देशी उपकरणों से ही और उसी प्रकार होना चाहिए, जैसे पक्षी तृण-तृण बीन-बीन कर घोंसला बनाता है। कालिदास ने इसी प्रकार भविष्य के निर्माण में अतीत का उपयोग किया"।

(मलयालम से)

तीनों ने स्वप्न देखा

के० एस० कारन्त

१४ अगस्त १९७२—भारत-स्वतन्त्रता के अभ्युदय के बाद पचीस वर्ष मानों अनजाने ही बीत गये; कल का दिन २६वीं वर्षगाँठ लेकर आ रहा है। आज पराधीनता के उन अन्धकारमय दिनों की तीखी स्मृति भी शेष नहीं है। श्री दामोदर ने, जो प्रान्त के राजनैतिक दलों में सर्वश्रेष्ठ एवं शक्तिशाली 'अखिल कर्नाटक नवोदित समाज' का सभापति है, रजत जयन्ती के समारोह का आयोजन किया है। वह प्रान्त का गवर्नर नहीं है, न मन्त्री ही, न ऐसा होना ही चाहता है। फिर भी उसकी आँख के ज़रा-से इशारे पर ही गवर्नर और प्रधान मन्त्री नाचते हैं। आज दामोदर ही कर्नाटक है और कर्नाटक दामोदर है।

उसकी पक्की धारणा है कि एक मात्र वही गान्धी जी का सबसे सच्चा अनुयायी है। उसका विश्वास है कि उसके पूर्व अथवा उस समय तक किसी भी राजनैतिक दल ने गान्धीवादी सिद्धान्तों को वैसा नहीं अपनाया है जैसा कि उसके योग्य संचालन में उसके समाज ने। भारत-स्वातन्त्र्य की वेदी पर गान्धीजी के प्रति समुचित सम्मान प्रदर्शित करने के लिए दस वर्ष पूर्व अर्थात् सन् १९६२ से ही निर्धारित की हुई योजनाएँ कल पूरी होंगी।

पहाड़ी की ऊँचाई पर से कर्नाटक की राजधानी कितनी सुन्दर प्रतीत होती है। सुन्दर राजपथ निर्माण किये गये हैं और एक उद्यान भी बनाया गया है। कल वह स्वयं ही गान्धीजी की शुभ्र प्रस्तर प्रतिमा का, जो उद्यान के मध्य में एक कमनीय मंडप में रखी हुई है, अनावरण करेगा। गान्धीजी की मूर्ति स्थापित करने का विचार उसका एक निजी स्वप्न रहा,—और मूर्ति भी साधारण नहीं। वह देव-प्रतिमा-सी होगी—बुद्ध की भाँति एक हाथ वरद मुद्रा में और दूसरा अभय-दान करता हुआ। दामोदर ने मुक्ता के समान शुभ्र संगमरमर से एक योग्य मूर्तिकार द्वारा यह मूर्ति गढ़वायी है। मूर्ति सुन्दर चँदोवे के नीचे एक ऊँची पीठिका पर आधारित है। जिस महान् आत्मा को वह मनुष्य-रूपधारी एक दैवी शक्ति अथवा अवतार समझता था, उसकी प्रतिमा को साधारण लौकिक रूप देना वह कैसे पसन्द करता ?

सायंकाल को ही वह अपनी पत्नी एवं पुत्र के साथ अन्तिम तैयारियों का निरीक्षण करने के लिए पहाड़ी पर हो आया। गर्व एवं प्रसन्नता के साथ उसने इस प्रतिमा को भिन्न-भिन्न कोणों से देखा। अब आराम करने के लिए वह घर लौट आया है। अभी सर्व-साधारण की दृष्टि से बचाने के लिए मंडप का द्वार बन्द कर दिया गया है और प्रतिमा को भारी रेशम के पर्दे से आवृत कर दिया गया है। उसे निरावरण करने का श्रेय कल उसे ही प्राप्त होगा।

यह महान् समारोह एक त्योहार की ही भाँति आनन्दमय है, लेकिन दामोदर को इसके लिए परेशानी भी बहुत उठानी पड़ी है। प्रत्येक काम की प्रत्येक छोटी से छोटी बात का निर्णय स्वयं उसने किया है, और उसी ने सारे काम की देख-रेख स्वयं की है। कल आने वाली महिलाओं के स्वागत का सारा प्रबन्ध दामोदर की पत्नी के सिपुर्द है। उनका पाँच वर्ष का बालक प्रमथ भी इसी प्रकार व्यस्त है। वह अपने माता-पिता के साथ-साथ दौड़ता फिरता है। तीनों बुरी तरह थक गये हैं और उन्हें आराम की आवश्यकता है। लेकिन आधी रात बीत चुकी, अब कहीं जाकर उन्हें छुट्टी मिली है कि वे तनिक सोकर कल के सुखद दिन का स्वप्न देख सकें।

दामोदर जैसे व्यक्ति को तो कभी अच्छी नींद आ ही नहीं सकती, उस पर आज की रात ! उसे अगले दिन के लिए प्रत्येक बात को फिर सोच लेना है, और यह काम अब वह स्वप्न में ही कर सकेगा। उसके स्वप्न में तमाम बातें घूम गयीं। उसकी वेशभूषा—उद्घाटन का अभिभाषण—पीड़ित मानवता के लिए, जिसका वह अपने को सेवक कहता है, कुछ सन्देश देश के महापुरुषों द्वारा, मूर्ति पर माला चढ़ाने का ढंग, आदि; कितनी ही बातें उसके मस्तिष्क में एक-एक करके नाच गयीं। उसने अनुभव किया कि प्रतिमा के अभयद और वरद हाथ उसे आजीवन प्रेरणा देते रहेंगे, वह चाहे जिस कार्य के करने का संकल्प बाँध ले।

स्वप्नों की रंग-बिरंगी लड़ी जुड़ती चली। ब्राह्म वेला में जनता की भीड़ पहाड़ी के ऊपर तथा नीचे चींटियों की भाँति जमा होने लगी। राजपथ एवं सँकरी गलियाँ भर गयीं। ठीक सात बजे प्रातः वह भीड़ को चीरता हुआ निकला। उसकी नाव की भाँति सजी हुई कार धीरे-धीरे सरक रही थी। उसी के पीछे गवर्नर, मन्त्रियों और अन्य प्रमुख व्यक्तियों की कारें—ठीक उनकी सामाजिक-राजनीतिक पद-मर्यादा के क्रम से—धीरे-धीरे बढ़ रही थीं। दामोदर की कार पर दृष्टि पड़ते ही नगर की जनता ने हर्षोन्मत्त हो उसकी जय के नारे लगाये। यह अभिनन्दन उचित ही था, क्योंकि वह क्या प्रान्त का अद्वितीय नेता नहीं था?

अब वह शिविर के सामने वाली पहाड़ी की चोटी पर आ गया। जैसे ही वह मंच पर आया, चारों ओर से जय-नाद सुनाई दिया। प्रभातकाल की सुनहली किरणों के श्वेत पड़ने के पूर्व ही वह अपना वक्तव्य प्रारम्भ कर चुका था। जनता उसके मधुर सन्देश को सुनने के लिए लालायित जान पड़ रही थी। इस सन्देश को उसने उस महान् अवसर के उपयुक्त बड़े ही गौरवपूर्ण शब्दों में सुनाया। उसने आश्वासन दिया कि आगे आने वाले वर्षों में वह देश में सुख एवं समृद्धि अवश्य ला देगा। वह शान्ति एवं समृद्धि सभी वर्गों के लिए होगी। धनी और निर्धन, ऊँच और नीच, श्रमिक और पूँजी-पति, मित्र और शत्रु सबके साथ समान व्यवहार होगा। कितने भव्य थे उसके विचार! उसने देश में केवल हरिजनों के श्रम से चलने वाली सूती मिल खोलने का वचन भी दिया। उसने नवोदित समाज की ओर से जनता के प्रति खेद प्रकट किया कि अभी तक उसका 'समाज' निर्धनों की कुछ भी सेवा नहीं कर सका, यहाँ तक कि उन्हें घरों की भी सुविधा नहीं प्रदान कर सका; लेकिन जनता को याद दिलाया कि निर्धनता में अच्छाइयाँ भी होती हैं—क्या हमारे महान् पूर्वज खुले आकाश के नीचे नहीं रहते थे और नदियों का शुद्ध जल नहीं पीते थे? सादे जीवन का उच्च विचारों से सदैव का सम्बन्ध रहा है। उस पर्व पर बोलते हुए उसने कहा कि सब लोगों को हृदय-मन्दिर में गान्धीजी की प्रतिमा उसी प्रकार स्थापित कर लेनी चाहिए जिस प्रकार मंडप में वह भव्य प्रतिमा स्थापित है। तत्पश्चात् वह मंडप में आया और सुनहली डोर खींच ली जिससे एकाएक रेशम का पर्दा नीचे आ रहा। पर्दे के हठात् गिरने से वह कुछ चौंक भी गया, पर उससे वहाँ नाटकीय दृश्य की-सी गरिमा छा गयी।

अब प्रतिमा पर प्रखर किरणें पड़ रही थीं जिससे उसके कृश अंगों में गुलाबी आभा आ गयी थी। इसके कारण प्रतिमा की मुखाकृति मानों सजीव हो उठी थी। दामोदर के मन पर इन सबका एक अजीब प्रभाव पड़ रहा था। जयनाद से तो वह और भी घबड़ा रहा था। वह प्रतिमा को माला पहनाना भी भूल गया और भौचक्का-सा खड़ा रहा। जाने क्यों, वह स्वप्न-मूर्ति उस मूर्ति से भिन्न जान पड़ रही थी जिसे उसने स्वयं बनवाया था; उसे ऐसा लगा जैसे वह उसे घूर रही हो। अरे! कल सायंकाल तो उस मूर्ति से मधुर मुसकान फूट रही थी, और अब उसके दोनों हाथ अभय एवं वरद मुद्राओं में उठे हुए क्यों नहीं हैं? आह, इन हाथों में एक तिरस्कार की मुद्रा में उठा था, और दूसरा हाथ दामोदर को मानों माला पहनाने से वर्जित कर रहा था। दामोदर के शरीर में एक कम्पन दौड़ गया, भयानक रूप से प्रस्वेद छूटने लगा। सौभाग्यवश उसी समय उसका स्वप्न भंग हुआ और वह जाग पड़ा। लेकिन फिर अनेक प्रयत्नों करने पर भी उसे नींद न आयी, स्वप्न में देखी हुई बातें वह नहीं भूल सका।

* * *

दामोदर की पत्नी को भी रात भर सपने आते रहे। उसका भी मस्तिष्क अगले दिन की घटनाओं के विचारों से भर गया था, इसलिए उसके स्वप्न भी गान्धीजी से सम्बन्धित थे। लेकिन उसके स्वप्न अपने पति के स्वप्नों की अपेक्षा सुखद थे। उसने संगमरमर के बजाय गान्धीजी की प्रतिमा स्वर्णमयी देखी। मूर्ति के हाथ न जाने किस के प्रति प्रणाम की मुद्रा में उठे थे। उसके नेत्रों में वह प्रसन्नता की आभा नहीं थी जो सायंकाल थी। लेकिन क्लेशप्रद बात यह थी कि एक अकिंचन स्त्री हठात् प्रकट होकर उन सब उच्चवर्गीय धनी महिलाओं के समूह के साथ खड़ी हो गयी—बल्कि धीरे-धीरे सरक कर मिसेज़ दामोदर के पास आने लगी। उसी समय एक प्रेस-फ़ोटोग्राफ़र उन सब सम्मान्य महिलाओं का चित्र लेने वाला था। अपने साथ उस स्त्री को सट कर खड़े होते देखना मिसेज़ दामोदर की सहन-शक्ति से बाहर की बात थी। उसने इशारे से पास के एक सिपाही को बुलवाया जिसने उस स्त्री को धकेल कर उसके उपयुक्त स्थान पर पहुँचा दिया। उसी समय श्रीमती दामोदर की नींद खुल गयी। उन्होंने जल्दी से बेटे को जगाया, क्योंकि समारोह में जाने को देर हो रही थी, और उन्हें अभी कपड़े पहनने थे और समारोह के लिए तैयार होना था।

फलक २८

उसे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि लड़के प्रमथ ने भी गान्धीजी का ही स्वप्न देखा था। उसने पहिली बात तो यह बतायी कि "माँ, मैंने सपने में गान्धीजी की बड़ी सुन्दर मूर्ति देखी है। वह ताँबे की थी या ताँबे जैसी ही किसी धातु की यह तो मुझे याद नहीं; लेकिन थी वह बहुत ही सुन्दर। जैसी मूर्ति हमने कल देखी थी, उसके जैसी यह नहीं थी। इसके हाथ एक छोटे-से चक्र पर कुछ कर रहे थे और वह अधमुंदी आँखों से मुस्करा रही थी। मूर्ति के आसपास फटे-पुराने कपड़े पहने बहुत-से ग़रीब लोग बैठे थे।"

"तुमने ताँबे की मूर्ति देखी, लेकिन मैंने तो सोने की मूर्ति देखी। काश हमारी भी मूर्ति सोने की ही होती। परन्तु इसके लिए अपार धन भी तो चाहिए। लेकिन ताँबे की—छिः !"

"चाहे जिसकी भी रही हो, लेकिन थी वह बहुत सुन्दर।"

उसी समय दामोदर उस स्थान से गुज़रा। उसने इन दोनों की थोड़ी बातचीत सुन ली। बोला, "क्या, तुम दोनों ने भी उनका ही सपना देखा?" इतना कह कर वह तेज़ी से उत्सव के लिए तैयार होने चला गया और उनसे भी तैयार होने के लिए कह गया।

* * *

उस महान् दिवस का प्रभात हुआ। नगर का प्रत्येक निवासी आज बड़े तड़के ही जाग गया था, आसपास दूर-दूर से बहुत-से लोग आये जिनसे सभी सड़कें एवं गलियाँ भर गयी थीं।

प्रातःकाल का उत्सव सफलतापूर्वक समाप्त होने पर सबको महान् हर्ष हुआ। सभी कार्य निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार चले। क्रम से अभिभाषण, मूर्ति-प्रतिष्ठा आदि समाप्त हुए। दूसरे पहर अन्य उत्सव तथा समारोह देखने के लिए जनता मैदान में इकट्ठी हुई। यहाँ पहले सेना की परेड होगी, फिर कई एक व्याख्यान और फिर रात में आतिश-बाज़ी। निस्सन्देह देश का महान् नेता दामोदर ही आज का प्रमुख व्यक्ति है।

वह अपनी पत्नी एवं पुत्र के साथ सुन्दर सजी कुर्सियों पर बैठा। पास ही देश की अन्य गण्य-मान्य विभूतियाँ उसे घेर कर बैठीं। परेड प्रारम्भ होने ही वाली थी। प्रमथ वहाँ पर बैठा तो, मगर सारा समय बेचैन ही रहा। उसे यह सब तड़क-भड़क देखने में ज़रा भी दिलचस्पी नहीं थी, उसका ध्यान तो पहाड़ी पर की प्रतिमा पर लगा हुआ था, क्योंकि सबेरे के स्वप्न के बाद से उसका ध्यान उस प्रिय प्रतिमा के अतिरिक्त किसी चीज़ पर नहीं जमता। इसलिए वह अपनी माँ से वहाँ ले चलने के लिए बार-बार आग्रह करता रहा। अन्त में उसकी हठ से परेशान होकर उसने एक नौकर को आज्ञा दी कि कार में बैठा कर वह उसे वहाँ घुमा लावे।

सूर्य के छिपते-छिपते प्रमथ, प्रतिमा वाली, पहाड़ी पर पहुँच गया। अस्तगामी सूर्य की स्वर्णाभ किरणें प्रतिमा तथा मंडप पर खेल रही थीं। मैले-कुचैले फटे कपड़े पहने हुए कुछ निर्धन लोग मूर्ति के आसपास खड़े और बैठे थे। बालक की बुद्धि को इससे थोड़ा भी आश्चर्य नहीं हुआ। प्रतिमा श्वेत पत्थर की ही थी, उसके स्वप्न की प्रतिमा से भिन्न। उसकी मुद्रा भी भिन्न थी। वह सारे समय सोचता रहा कि यदि यह मेरी स्वप्न की मूर्ति के समान होती तो और भी सुन्दर होती। उसने अभय एवं वरद मुद्राओं में उठे हुए हाथों को भी नहीं पसन्द किया। एक ही बात उसे अच्छी लगी—वह यह कि स्वप्न में देखे हुए फटे-हाल लोग यहाँ सजीव और सदेह वर्तमान थे। यह सोच कर वह बोला, "ये आदमी कौन हैं—इन्हें तो मैंने रात स्वप्न में देखा है। सबेरे तो ये लोग यहाँ नहीं थे? लेकिन जब ये लोग गान्धी जी की प्रतिमा के दर्शन करने के लिए आये हैं तो क्या इन्हें अच्छे तथा स्वच्छ वस्त्र धारण करके नहीं आना चाहिए?"

उसका नौकर उसकी बात का कुछ भी अर्थ नहीं लगा सका। उसने तो उन्हें बच्चों का भोलापन अथवा ऊल-जलूल बकवास ही समझा। पर प्रमथ, जिसे नौकर के समझने अथवा न समझने की कोई चिन्ता नहीं थी, स्वप्न में देखी हुई गान्धी-प्रतिमा की मुद्रा की नक़ल करने लगा। वे फटे-हाल निर्धन लोग आश्चर्य से उसकी ओर निहारने लगे। उसकी चमत्कृत आँखों में उन्हें उसके स्वप्नों के प्रतिबिम्ब का आभास होने लगा।

(कन्नड़ से)

मोलाराम—गढ़वाल के चित्रकार और कवि

मुकन्दीलाल

गढ़वाल आर्यों का वह निवासस्थल है जहां उन्होंने वेदों की रचना की। यह देवभूमि, उत्तराखण्ड, केदारखण्ड, तथा देवताओं और ऋषियों का निवासस्थल आदि नामों से अभिहित होता है। गंगा और यमुना जैसी प्रसिद्ध नदियों का यह क्रीड़ास्थल रहा है। जब उसके वीर पुत्रों ने प्रथम महायुद्ध में अपने शौर्य का परिचय दिया तो योरप ने भी गढ़वाल के विषय में सुना। स्वदेशप्रेमी भारतीयों ने गढ़वाली सैनिकों का अभिनन्दन किया जब उन्होंने चन्द्रसिंह गढ़वाली के नेतृत्व में एक राष्ट्रीय सेना का बीजारोपण पेशावर में किया। उनके ऊपर देश-द्रोह का अभियोग लगाया गया, जिसके लिए इन पंक्तियों के लेखक को कोर्टमार्शल के सामने रायल गढ़वाल राइफल्स के विद्रोहियों की पैरवी का गौरव प्राप्त हुआ था। राजपूत और पहाड़ी कला के प्रेमी गढ़वाल को उस प्रदेश के रूप में जानते हैं जिसने पहाड़ी चित्रकला के महान् मर्मज्ञ आचार्य मोलाराम को जन्म दिया। मेरे गुरु डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी ने बहुत पहले १९१० में अपनी महान् कृति, **'राजपूत पेंटिंग'** में लिखा था—"अब तक, पहाड़ी चित्रकार के रूप में, केवल मोलाराम का नाम मिलता है।"[१] उसी प्रकार श्री जे० सी० फ्रेंच ने, जो १९३० में लैन्सडाउन (गढ़वाल) में मेरे घर पर मेरे अपने संग्रह में मोलाराम की चित्रकला का निरीक्षण करने गये थे, अपनी पुस्तक **'हिमालयन आर्ट'** में लिखा था : "मोलाराम हिमालय के उन कुछ कलाकारों में हैं जिनका नाम प्रसिद्ध है, और ऐसे कलाकारों का विचार करने पर, जिनका इतिहास स्पष्ट रूप से ज्ञात है, मोलाराम केवल अकेले मिलते हैं।"[२] कला-प्रेमी और कला के आलोचक मोलाराम को केवल कलाकार के रूप में जानते हैं। किन्तु एक यशस्वी कलाकार होने के साथ-साथ वह एक महान् कवि, दार्शनिक और राजनीतिक विचारक भी थे।

'नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ' के सम्पादकों ने इस ग्रन्थ में एक लेख लिखने को कह कर मेरा सम्मान किया है। गढ़वाल के राजा ललितशाह के वज़ीर जयदेव के मोलाराम द्वारा अंकित चित्र, और उनकी राजनीतिकुशलता के सम्बन्ध में मोलाराम के विचारों के प्रथम प्रकाशन को मैं ग्रन्थ के लिए उपयुक्त विषय समझता हूँ। मोलाराम के बनाये चित्रों, उनके जीवनवृत्त तथा कृतियों और अन्ततः गढ़वाली चित्रकला का इतिहास लिखने के लिए उपयोगी सामग्री मैं सन् १९०९ से एकत्र करता रहा हूँ; किन्तु जयदेव की एक शबीह मुझे अभी हाल ही (जनवरी २९, १९४९) में, बरेली के श्री गिरिजाकिशोर जोशीके संग्रह में प्राप्त हुई है (चित्र १)। अपने सम-सामयिक गढ़वाली मन्त्री (जयदेव) की इस महत्त्वपूर्ण प्रतिकृति के सिरे पर मोलाराम ने अपने सुन्दर नागराक्षरों में ये पद्यबद्ध पंक्तियाँ लिखी हैं—

'दाता ज्ञाता ज्ञानमय जयदेव वज़ीर;
लजावन्त सूरवीर सतवादी गम्भीर।
वचन कहे सकरै हरे ना तामे चित्त,
सूम देखि सुरत लजै तजै आपनि वित्त।
श्री जैदेव वज़ीर की यह तसविर लिखी जब,
दियो दुसाला तुरि एक सौ एक मोंहि तब।
राखी वचन प्रतीत जीत जग में जस लीन्यो,
गुनि मित्र परसन्न सूम अरी कौन दुख दीन्यो।

[१] **राजपूत पेंटिंग, भाग २, पृ० २३**

[२] **हिमालयन आर्ट (लंदन १९३१), पृ० ५३**

सुनो सन्त सब कान दे मोलाराम विचार कही,
सरम-दार सौं काम है मूरख के जाचक नहीं।'

"मन्त्री जयदेव उदार, सर्वज्ञाता, विद्वान्, लज्जावान, शूरवीर, सत्यवादी, और गम्भीर हैं। उनके शब्द अर्थपूर्ण और वज़नदार होते हैं। वह शब्दों के जाल में अपने को नहीं खोते। वह कृपण नहीं हैं, अपना धन दान कर देते हैं। जब मैंने श्री श्रीजयदेव वज़ीर का यह चित्र बनाया तो प्रसन्न होकर उन्होंने मुझे एक शाल और एक सौ एक रुपये भेंट किये। अपना वचन रखने में वह अकेले ही हैं। उन्होंने संसार में ख्याति प्राप्त की है। अच्छे और विद्वान् पुरुषों से उनका मैत्री-सम्बन्ध है। शत्रुओं और बदमाशों को वह दंड देते हैं। सज्जनवृन्द, मोलाराम के वचन को कान दे कर सुनिये, जो शर्मदारों से काम रखता है और मूर्खों से नहीं माँगता।"

मोलाराम ने उपर्युक्त वर्णन में एक राजनीतिज्ञ के गुणों पर प्रकाश डाला है। स्वलिखित गढ़वाल के राजाओं के इतिहास में उन्होंने अपने राजनैतिक विचारों को अंकित किया है। एक राजनीतिज्ञ किस प्रकार नये देशों को जीत कर उन्हें अपने शासनाधिकार में रखता है, इस ओर मोलाराम ने संकेत किया है :

"जो विजित देशों की जनता को प्रसन्न और सन्तुष्ट कर अपने पक्ष में कर सकने में सक्षम होता है उसके शासन में नये-नये देश सम्मिलित होते जाते हैं। और जो एक विजित देश पर बलप्रयोग के भरोसे शासन करना चाहता है, वह उस देश को अपने अधिकार में नहीं कर सकता........शासक साधारण जनता को प्रसन्न रखे। कटु और कठोर वचन न कहे। समान न्याय करे। उतना ही दंड दे जो अभियोग-विशेष के लिए अनिवार्य हो, उससे अधिक नहीं।"

'परजा कौं जो नर परचावै;
मुलक परायो सो नर पावै।
धिग धांग जो हरत है नाय;
ताके सब होवैं बस माय।
....
परजा कौं परचाय के रखिए।
नित न्याय सब ही का कीजै;
जथा पर्ज दंड हि दीजै।'[३]
....................,,

मोलाराम ने हिन्दू और मुसलमान राज्यों की अवनति के कारणों की छानबीन की थी। वह कहते हैं :

'भूले थे हिन्दू जब हीं, मुसलमान तब हीं आया,
भूला मुसलमान जब हीं, फिरंगन पठाया।'[४]

मोलाराम ने अपने समय की राजनीति और शासन में कोई भाग नहीं लिया। उन्होंने अपने सम्पूर्ण समय का उपयोग चित्र बनाने और लिखने में किया। किन्तु उनके समय के गढ़वाल के शासक, जो उनके संरक्षक थे, जब कभी किसी गुत्थी को नहीं सुलझा सकते थे तो उनके पास जाया करते थे। उदाहरण के लिए एक घटना उद्धृत करता हूँ। देहरादून के शासक घनानन्दसिंह ने गढ़वाल के राजा जयकृत शाह (१७८०-८५) का विरोध किया। घनानन्द ने विद्रोह कर श्रीनगर पर चढ़ाई कर दी (श्रीनगर गढ़वाल राज्य की राजधानी थी जिसके अन्तर्गत देहरादून भी सम्मिलित था)। राजा जयकृत शाह मोलाराम की चित्रशाला में गये और उनसे नाहन (सिरमौर) के राजा जगतप्रकाश की सहायता प्राप्त करने को कहा। मोलाराम ने लिखा है :

'महाराज अति दुखित भयो;
चित्रसाल मँहि हमको कह्यो।

[३] चित्रकार कवि मोलाराम की चित्रकला और कविता, पृ० ७२ (१५४), (हिन्दुस्तानी, इलाहाबाद)—लेखक मुकन्दीलाल।

[४] वही, पृ० ७४ (१५६)

मोलाराम काम तजि आयो;
चित्रसाल नाहक हि बनायो।
हमको दुस्टन आन दबायो;
. . . .,
. . . .

नाहन के पास स्वयं आने के बजाय मोलाराम ने एक कविता लिखी और उसके साथ ही अवसर के अनुसार एक चित्र बना कर दोनों को एक वाहक, धनीराम, द्वारा जगतप्रकाश के पास भेज दिया। उन्होंने ये पंक्तियाँ लिखी थीं—

'जगत प्रकाश तुम भानुसम,
तम हमहुँ कियो ग्रास,
ग्रह गह्यो ज्यों गजहि को,
घनानन्दसिंह दियो त्रास।
सूर पाइ सूर सावन्त सावन्त पाइ;
भीड़ में वीर पाइ वीर पधारै।
शाह को शाह विशाह करै,
जो गिरै वह काम सौं फेर सुधारे।
रीति सबै अपने कुल की, कवि मोलाराम न कोउ विसारद,
कीच के बीच में हाथी फसै, तब हाथी को हाथ दे हाथी निकारै,
यहै छन्द हम दियो बनाइ चित्र सहित लिखि दियो पठाइ।'[५]

मैं **गढ़वाली चित्रकला का इतिहास और मोलाराम और उनकी कला का अध्ययन** लिखने के लिए पिछले ४० वर्षों से सामग्री एकत्र करता रहा हूँ। पुस्तकों के तैयार होने में विलम्ब का कारण है यथेष्ट सामग्री एकत्र करने की कठिनाइयाँ, क्योंकि प्राप्य सामग्री एक स्थान में न होकर सम्पूर्ण भारतवर्ष में बिखरी हुई है। मोलाराम का जन्म सन् १७४० के लगभग गढ़वाल के श्रीनगर स्थान में हुआ था। वे मंगतराम के सात बेटों में से एक थे। मंगतराम स्वयं एक उच्च कोटि के चित्रकार थे और, जैसा कि स्पष्ट है, मुग़ल शैली के अभ्यासी थे। तलवार की मुठिया का चित्र (चित्र२) उनकी कला का एक उदाहरण है। राजपूत और पहाड़ी शैली के अन्य कलाकारों की भाँति मंगतराम ने भी सुनार का पेशा अपनाया था। मंगतराम के बाबा हरदास और उनके पिता शामदास, दारा के पुत्र सुलेमान शिकोह के साथ सन् १६५८ में श्रीनगर (गढ़वाल) आये थे। डेढ़ साल बाद युद्ध की धमकी से आतंकित होकर सुलेमान शिकोह को औरंगज़ेब के हाथ सौंप दिया गया। दोनों कलाकारों, शामदास और हरदास, को गढ़वाल के राजा पृथीपत शाह (१६३८-६०) ने अपने दरबार में रोक लिया। शामदास शाहजहाँ के दरबार के प्रसिद्ध कलाकार बनवारीदास के पुत्र थे।

सबसे पहले मैंने मोलाराम की जन्मतिथि सन् १७६० मानी थी[६] और यह तिथि यूरोपीय और भारतीय कलालोचकों द्वारा स्वीकृत हो चुकी है। किन्तु अब मुझे कुछ निर्णयात्मक प्रमाण प्राप्त हुए हैं जिनके आधार पर मोलाराम का जन्मकाल सन् १७४० में होना चाहिए, सन् १७६० में नहीं।

एक अपूर्ण चित्र (चित्र ३)की पीठ पर, जिस पर संवत् १८२६ (अर्थात् सन् १७६६) की तिथि अंकित है, मोलाराम ने गढ़वाल के राजाओं के दरबारों में रहने वाले अपने समय के सभासदों तथा कर्मचारियों की बड़ी कटु आलोचना की है :

'झूठे सरदार कारबार चोबदार खड़े,
झूठे लेखवार कलम कागद रोशनाई है,

[५] वही, पृ० १३३-३४
[६] माडर्न रिव्यू, १९०९; रूपम्, १९२१

चित्र १: जयदेव वज़ीर

चित्रकार-कवि मोलाराम
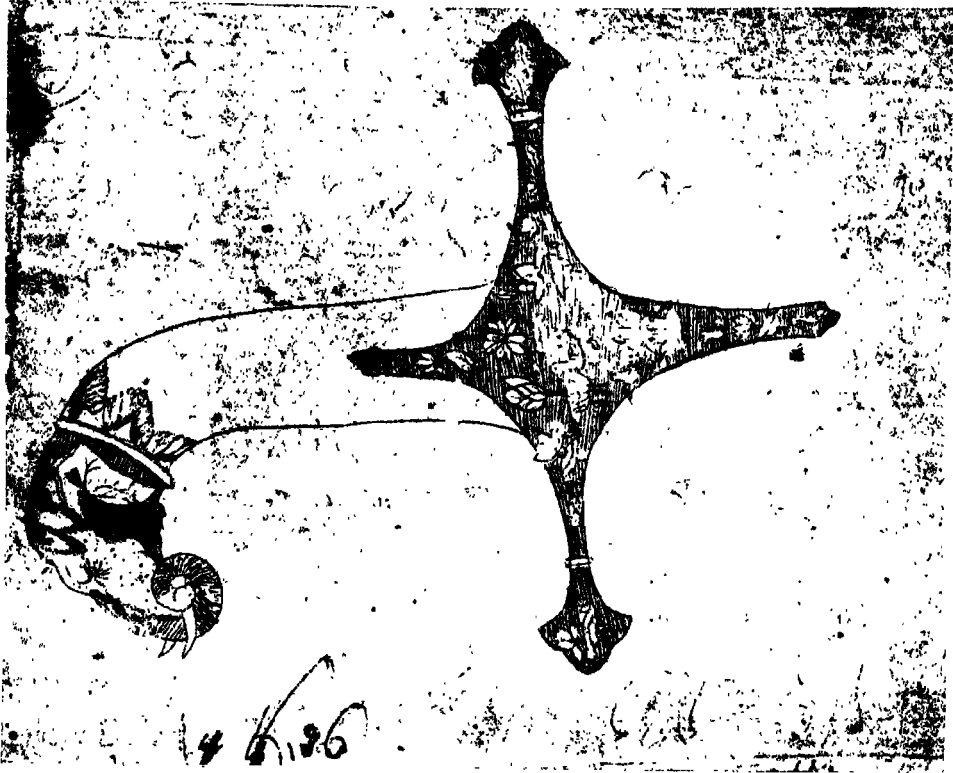
[देखिये पृष्ठ ४२२-४२६

चित्र २ : तलवार की मूठ (मोलाराम)

चित्र ३ : सान्त्वना (मोलाराम)

चित्रकार-कवि मोलाराम

देखिये पृष्ठ ४२२-४२६]

चित्र ४ : राजा ललितशाह

(मोलाराम)

चित्रकार-कवि मोलाराम

[देखिये पृष्ठ ४२२-४२६
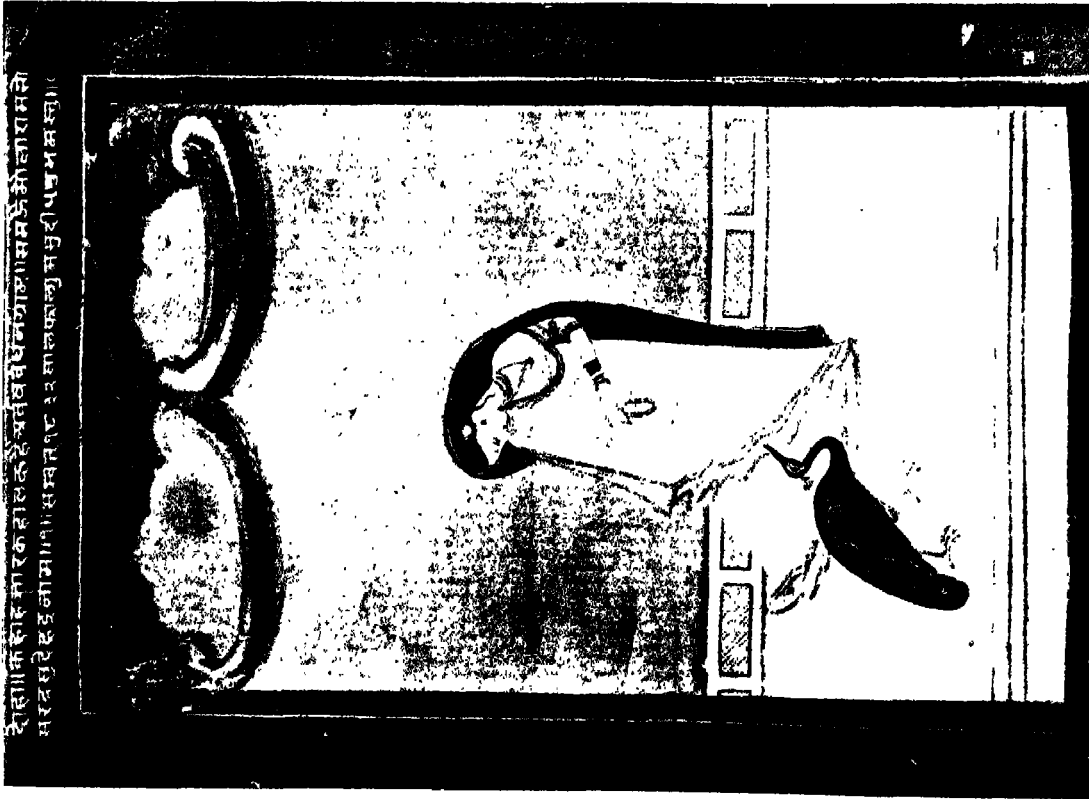
चित्र ५ : मोर-प्रिया (मोलाराम)

चित्र ६ : मस्तानी (मोलाराम)

चित्रकार-कवि मोलाराम

[देखिये पृष्ठ ४२२–४२६

झूठे सब हरफ एक साँच ना छटाँक जा में,
झूठे ही छाप मुलक मालिक की दुहाई है।
झूठे भट नैन-बैन, झूठे सब लेन-देन,
झूठे धरम करम औ करार आजमाई है,
कहत मोलाराम गुनि लोकन कौं कठिन भै,
झूठ सौं ना काम, जिनकी साँच की कमाई है ॥
१८२६ का फागुन १५'

यदि हम पहली तिथि, सन् १७६० को ठीक मानें तो उपर्युक्त विचार और साहसपूर्ण शब्द एक ६ साल के बच्चे के होने चाहिएँ, जो सोचा भी नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त चित्र भी, जो यद्यपि अधूरा ही है, इतनी उच्च श्रेणी का है कि उसे ६ वर्ष का बालक कभी नहीं बना सकता। भावना और कला दोनों की दृष्टि से ये विचार ३० वर्ष से कम प्रौढ़ युवक के नहीं हो सकते।

अपने संरक्षक गढ़वाल के राजा ललितशाह के साथ वाले मोलाराम के चित्र (चित्र ४) से ऐसा मालूम पड़ता है कि इस चित्र को बनाने के समय उनकी अवस्था ४० से कम की नहीं रही होगी। राजा ललितशाह ने केवल आठ वर्ष राज्य किया—सन् १७७२-१७८०। चित्र का निर्माण उसके अभिषेक के बाद ही हुआ।

मोर-प्रिया के (चित्र ५), जिसमें मोलाराम का हस्ताक्षर और हस्ताक्षर की तिथि मिलती है, सिरे पर उनका सिद्धान्त-वाक्य अंकित है :

'कहाँ हजार कहाँ लक्ष हैं अर्ब खरब धन ग्राम,
समझै मोलाराम तो सरब सुदेह इनाम।
संवत १८३२ साल, फाल्गुन सुदी'

मोलाराम ने इस चित्र को सन् १७७५ में बनाया था, जब वह ३५ वर्ष के एक प्रौढ़ कलाकार रहे होंगे, न कि १५ साल के बालक। इसी प्रकार उन्होंने एक चित्र बनाया था मस्तानी का (चित्र ६) जिसके सिरे पर उन्होंने चित्र का पद्यबद्ध वर्णन किया था। मोलाराम का केवल यही एक चित्र है जिसमें उन्होंने अपने को मुसव्विर स्वीकार किया है, अन्यथा वह सदा अपने को कवि कहते थे, चित्रकार नहीं। उन्होंने यह भी कहा है कि उन्होंने यह चित्र अपना मन बहलाने के लिए बनाया था। यह स्वीकारोक्ति एक कलाकार के ठीक और सनातन आदर्श को स्पष्ट करती है—कि वह चित्रों का निर्माण स्वान्तःसुखाय करता है—

'मस्तानी चाल मस्त शराबी बैठी अपने खाने में,
सुने राग झुकि झाँकि रहि सखि प्याला दे दस्ताने में,
पिवत भर-भर फिर-फिर माँगत है तरातर दाने में,
कवि मोलाराम मुसवर खैंची यह तसवीर रिझाने में।
संवत १८२८ साल, चैत गते १६'

मोलाराम ऐसे अकेले भारतीय कलाकार हैं जिनकी अपनी छोड़ी हुई सामग्री के आधार पर ही हम उनकी रचनाओं एवं कला के सम्बन्ध में विस्तार से जान सकते हैं। पहाड़ी शैली के एक उच्च कोटि के कलाकार के रूप में उनकी ख्याति पाश्चात्य एवं भारतीय कला-मर्मज्ञों द्वारा मान्य हो चुकी है। मोलाराम पर इस छोटे निबन्ध को समाप्त करते हुए मैं केवल एक अधिकारी विद्वान् श्री जे० सी० फ्रेंच का नाम लूँगा जिन्होंने लिखा है : "उनके (मोलाराम के) वंशज इस समय तक श्रीनगर (गढ़वाल) में सम्पन्न व्यवसायियों के रूप में रहते चले आये हैं। अतएव वे अपने पूर्वजों की वंशावली और अन्य ऐतिहासिक सामग्री को सुरक्षित रख सके हैं। और अपनी परम्परा को काँगड़े के निर्धन चित्रकार नन्दू की भाँति एक अर्थहीन नामावली होने से बचा सके हैं। श्री मुकन्दीलाल, जो मोलाराम-सम्बन्धी अध्ययन के

अधिकारी विद्वान् माने जाते हैं, मोलाराम के वंशजों के साथ श्रीनगर में रहे हैं* और इस कारण इस महान् चित्रकार (मोलाराम) के अध्ययन में उनको सारी सुविधाएँ प्राप्त थीं। यद्यपि मोलाराम एक प्रभविष्णु कलाकार नहीं थे, तथापि वह विशिष्ट अवश्य थे, और उनके कलाकार-जीवन के विकास के साथ हिमालय की कला का विकास जुड़ा हुआ है। मुकन्दीलाल के संग्रह में मोलाराम के चित्र इस बात के अच्छे उदाहरण हैं।....यह विस्मय और मनोरंजन का विषय है कि मोलाराम किस प्रकार अपने युग की प्रवृत्तियों की मांग पूरी कर सके और किस प्रकार उनके सांस्कृतिक एवं कलात्मक प्रवाहों का समादर कर सके। कलाकार के रूप में उनका जीवन पहाड़ी कला में एक क्रान्ति का प्रतीक है।"[८]

मोलाराम के जीवन और कार्य की विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि वह पहले मुग़ल शैली का चित्रकार था (देखिए 'मस्तानी', चित्र ६) किन्तु अनन्तर उसने उस पहाड़ी राजपूत शैली को अपनाया जिसे प्रायः कांगड़ा क़लम कहा जाता है (चित्र ३-४)। इस से डाक्टर हर्मन गएट्ज़ के इस मत की पुष्टि होती है कि "प्राचीनतम राजपूत चित्रों में हमें दोनों शैलियों का मिश्रण मिलता है, किन्तु यहाँ भी मुस्लिम प्रभाव ही वह योग-कारक था जिसके कारण १५वीं-१६वीं शताब्दी की जड़ीभूत जैन-वैष्णव चित्रकला के ढांचे में से नयी सम्भावनाओं से भरी हुई अभिनव राजपूत शैली का जन्म हुआ।"[९] नयी खोजों से यही सिद्ध होता है कि प्राचीन राजपूत अथवा हिन्दू चित्रकला पर ईरान से आये हुए कलाकारों के प्रभाव से मुग़ल शैली का जन्म हुआ और फिर मुग़ल शैली के हिन्दू कलाकारों ने नये सिरे से राजपूत परम्परा को अपना कर पहाड़ी शैली का आविष्कार किया। गढ़वाल शैली इसी की एक शाखा है और मोलाराम (१७४०-१८३३) इसका सब से प्रसिद्ध प्रतिनिधि है।

(अंग्रेज़ी से)

*मोलाराम के प्रपौत्र बालकराम, फतेराम और तुलसीराम आज भी श्रीनगर में रह रहे हैं। तुलसीराम इस लेख के लेखक के बचपन से बड़े घनिष्ठ मित्र रहे हैं। अन्य दोनों बड़े हैं।

[८] हिमालयन आर्ट, जे० सी० फ्रेंच, पृ० १०५-१०६

[९] 'आर्ट एंड थॉट' (कुमारस्वामी अभिनन्दन ग्रन्थ, लंडन १९४७) पृ० ९०

प्रतिभा

बालकृष्ण सी० मर्ढेकर

पैरों पड़ूँ कहाँ तक तेरे
क्या क्या करूँ निहोरे ?
गढ़ूँ कहाँ तक शब्द
उमड़ मन में आते हैं अब्द-अब्द !

लिखत क्या लिखेगा पटिया पर
मुझ-सा पामर ?
भला दे सकेगा क्या उत्तर
सूना टीन-कनस्टर !

बोल, इस गले में फूटेगा
कब तेरा नख ?
और व्यंजनों में मेरे
सामर्थ्य का स्वर ?

(मराठी से)

मोहिनी द्वीप

'कल्कि'

पिछले महायुद्ध के पहले मेरे एक दोस्त, जीवन यापन के लिए, बर्मा चले गये थे। युद्ध शुरू होने के दो साल बाद उनको अपनी जीवन-रक्षा के लिए हिन्दुस्तान लौट आना पड़ा। एक दिन मुलाक़ात होने पर मैंने उनसे कहा : "अहा, आप बड़े भाग्यवान् हैं। युद्धकालीन बर्मा में रहने का सुअवसर आपको मिला। जापान के हवाई जहाज़ों, बमों और तोपों का छूटना आदि देखने और सुनने का आपको सौभाग्य मिला न ?"

दोस्त ने उत्तर दिया : "हाँ, लेकिन उस वक़्त अगर आप भी वहाँ होते तो यह न कहते कि मैं भाग्यवान् हूँ।"

"जो भी हो, बर्मा में रहते हुए आपको अनेक मज़ेदार अनुभव हुए होंगे। मैं तो कहानी लिखने वाला ठहरा। अगर वे अनुभव मुझे हुए होते तो कितने उपयोगी सिद्ध होते।"

दोस्त थोड़ी देर तक चुप रहे। फिर बोले : "आपका कहना दुरुस्त है। बर्मा में जो विचित्र अनुभव मुझे हुए थे, उससे भी अच्छा अनुभव बर्मा से हिन्दुस्तान लौटते हुए मुझे हुआ था। अगर आप सुनना चाहते हैं तो.."

"खुशी से कहिए। मैं सुनने को तैयार हूँ।" मैंने सुनने की उत्कंठा दिखायी और पूछा कि क्या आप जहाज़ पर आये ?

"हाँ।" उन्होंने कहा, "जब मैं हिन्दुस्तान के लिए रवाना हुआ तब बर्मा में जापानी तोपों ने गरजना शुरू कर दिया था। सौभाग्य से मुझे रंगून बन्दरगाह में एक जहाज़ पर जगह मिल गयी थी। इसमें शक नहीं कि, आपके कहे अनुसार, मैं इस विषय में बड़ा भाग्यवान् हूँ।" दोस्त ने इस पूर्व पीठिका के साथ अपनी कहानी शुरू की।

'जहाज़ पर जगह मिल गयी' इस बात को मैं अपना सौभाग्य मानने को तैयार हूँ। पर 'उस पर सफ़र भी करना पड़ा' इस बात को मैं किसी तरह सौभाग्य मानने को तैयार नहीं। मेरी राय है कि अगर दुनिया में नरक नाम की कोई चीज़ होती तो वह उसी जहाज़ की तरह होती। वह एक पुराना सामान ढोने वाला जहाज़ था। इस बार उसमें सामान के साथ-साथ हज़ार के क़रीब आदमी भी लदे थे। उफ़ ! जहाज़ की गन्दगी और बदबू का क्या कहना ? उस पर लदे जनों की चिल्लाहट, स्त्रियों का बिलखना, बच्चों का रोना वग़ैरह अब भी याद आये तो मेरी देह काँप उठती है। ऐसे अनोखे जहाज़ पर एक दो घंटे की भी यात्रा पूरी नहीं हुई होगी कि एक खतरा सामने आया। बेतार के तार के द्वारा खबर मिली कि एक जापानी क्रूज़र उसी तरफ़ बढ़ता आ रहा है। दूसरे ही क्षण वह खबर जहाज़ भर में फैल गयी। लोग भयभीत होकर चीखने-चिल्लाने लगे।

जहाज़ मद्रास का रास्ता छोड़ दक्खिन को मुड़ गया। एक रात और एक दिन के सफ़र के बाद थोड़ी दूर पर एक टापू नज़र आया। सब्ज़ चादर ओढ़ी पर्वत-मालाएँ और आसमान से बातें करने वाले वृक्ष आदि उस टापू में थे। समुद्र के पानी ने टापू के अन्दर प्रविष्ट होकर एक प्राकृतिक बन्दरगाह की सृष्टि की थी। उसके अन्दर जहाज़ जा खड़ा हुआ तो ऐसा मालूम हुआ कि चारों तरफ़ पर्वतमालाएँ प्रहरी बन कर पहरा दे रही हैं। समुद्र पर जाने वाले अन्य जहाज़ों को यह ज्ञात नहीं हो सकता था कि उस प्राकृतिक बन्दरगाह में कोई जहाज़ विश्राम कर रहा है।

उस सुरम्य सुन्दर प्रदेश में जाकर जहाज़ के रुकने पर हम चार-पाँच साथी जहाज़ के कप्तान के पास गये और उस टापू के सम्बन्ध में पूछने लगे।

कप्तान ने कहा कि हम जहाज़वालों में यह टापू मोहिनी द्वीप नाम से प्रसिद्ध है। यह निर्जन प्रदेश है। लेकिन कई ऐसे चिह्न मिलते हैं, जिनसे अनुमान किया जा सकता है कि पुरातन काल में यह टापू किसी सुसभ्य जाति का निवास-

स्थान रहा होगा। इसके खंडहरों में कई जीर्ण-शीर्ण मकान हैं। उन्होंने साथ ही यह भी कहा, "इस टापू में लोगों को बसाने के जितने प्रयत्न हुए, वे सब निष्फल रहे। न मालूम इसके वास्तविक कारण क्या हैं।"

उस दिन शाम को जब सूर्यास्त में आधा घंटा ही बाक़ी था, जहाज़ के कप्तान ने हम चार-पाँच व्यक्तियों को साथ लिया और एक नाव पर चढ़ा कर टापू के भीतरी किनारे पर उतारा। हम लोग समुद्र के किनारे-किनारे थोड़ी दूर तक प्राकृतिक सुषमा का आनन्द लूटते चले। फिर पास के पर्वत पर चढ़े। पर्वत की ऊँचाई अधिक न थी। क़रीब चार सौ फ़ुट की होगी। बिना अधिक परिश्रम के हम उसकी चोटी पर चढ़ गये। चोटी पर से उस पार देखा तो एक अद्भुत नज़ारा आँखों के सामने आया। एक क़तार में कितने ही मन्दिर, मंडप, गोपुर, कँगूरे, विमान और वितान दीखे। अहा ! उस कला-कृति की सुन्दरता का क्या कहना ? वहाँ रथ, विमान आदि की शक्ल के कितने ही सुरम्य मंडप थे। एक पत्थर में —पर्वत में—काट-छाँटकर बने कई मन्दिर थे। ये सारी चीज़ें शिल्पकला के उच्चतम नमूने के रूप में वहाँ विराजमान थीं। वे सारे मकान बहुत पुराने थे, कई सौ साल पहले के बने थे। उसमें अभी तक मरम्मत के हाथ न लगे थे। समुद्र की खारी हवा दिन-ब-दिन उनको खाये जा रही थी। उनका रूप बिगड़ता और धुँधला पड़ता जा रहा था। दूर से देखने पर भी ये सारी बातें साफ़ नज़र आयीं।

हम लोगों में से कइयों ने चाहा कि उन पुरानी इमारतों की सैर करें और वहाँ के शिल्प-सौन्दर्य को देखें। पर कप्तान को वह बात पसन्द नहीं आयी। उन्होंने यह कह कर रोक दिया कि अँधेरा होने के पहले हम लोगों को जहाज़ पर चले जाना चाहिए। न जाने से यात्री लोग भयभीत हो जायेंगे और उससे कोई न कोई गड़बड़ी होने की सम्भावना है।

कप्तान यह कह कर नाव की तरफ़ बढ़े। उनके पीछे बाक़ी लोग जाने लगे। लेकिन मैं पीछे रह गया। उन लोगों ने मेरी अनुपस्थिति पर ध्यान न दिया और तेज़ी से क़दम बढ़ा कर नाव पर जा बैठे। नाव के थोड़ी दूर चले जाने के बाद ही, मेरा अनुमान है, उन लोगों ने मेरी अनुपस्थिति को महसूस किया। नाव किनारे को वापस आयी। कुछ लोगों ने मेरा नाम ले कर ऊँचे स्वर में पुकारा। कप्तान ने हवा में गोली चलायी। वृक्ष की आड़ में छिपे मैंने बाहर मुँह न दिखाया। थोड़ी देर तक मेरी प्रतीक्षा में रुकी रहने के बाद, नाव जहाज़ की तरफ़ जाने लगी।

नाव के जहाज़ के नज़दीक पहुँचने पर मैं वृक्ष की आड़ से बाहर आया और पहाड़ की सबसे ऊँची चोटी पर चढ़ने लगा। इतने में सूरज डूब गया। पूर्णिमा का चाँद पूर्वी क्षितिज पर प्रकट हुआ और अपनी दूधिया चाँदनी फैलाने लगा। थोड़ी देर पहले जो मन्दिर और गोपुर शिथिल तथा जीर्णावस्था में दीखे थे, वे सब उस सुहावनी चाँदनी में नव-निर्मित-से दीखे। मन्दिर के घंटाघर से आनेवाला निनाद कानों में गूँज उठा। मल्लिका, पारिजात, चम्पक आदि की सुरभि के साथ-साथ अगरु के धुएँ की सुगन्ध भी हवा में उड़ी आ रही थी। "यह क्या ? यह सब सच है, या निरा भ्रम ?" इस विचार में चकित होकर लगा हुआ था कि एक दूसरी घटना घटी। उस निर्जन टापू की उन पुरानी इमारतों से होकर दो व्यक्ति आ रहे थे। निकट आने पर मालूम हुआ कि उनमें एक पुरुष है और दूसरा स्त्री। वे दोनों एक दूसरे का हाथ पकड़े चले आ रहे थे। दोनों दिव्य सुन्दर स्वरूपवाले थे। साथ ही नव-वयस्क भी थे। उनका पहनावा भी कुछ विचित्र ढंग का था। आपने कंडी के नृत्यकारों को देखा है न ? उन दोनों का पहनावा उन्हीं से मिलता-जुलता था। स्त्री ने उसके अनुरूप गहने पहने थे।

मुझसे उस टापू के सम्बन्ध में कहा गया था कि वह निर्जन प्रदेश है। वह कैसे ? ये लोग कौन हैं ? शायद हमारी तरह बाहरी प्रदेश से आये हों। ये लोग यहाँ कब और कैसे आये होंगे ? ये किस देश के निवासी हैं ? कौन-सी भाषा बोलते हैं ? इस तरह की विचार-तरंगों में मैं डूबा हुआ था कि वे दोनों मेरे निकट आ गये और मुझे घूरकर देखने लगे। फिर उस सुन्दर पुरुष ने मृदु मधुर तमिल भाषा में कहा, "आइए, नमस्कार।" यह सुन कर मेरा मन न जाने क्यों बल्लियों उछलने लगा।

ये लोग तमिलनाड के ही हैं। लेकिन यहाँ आये कैसे ? इसमें सन्देह नहीं कि ये लोग हमारे जहाज़ पर नहीं आये।

उस पुरुष ने पूछा, "मालूम होता है कि आप भी तमिलनाड के हैं। क्या हमारा अनुमान ठीक है ?"

उसके बाद भी मौन धारण करना मैंने उचित न समझा इसलिए कहा, "जी हाँ, मैं तमिलनाड का ही हूँ। आप लोग भी, मालूम होता है, तमिलनाड के ही हैं।"

"हाँ, हम भी तमिलनाड के ही हैं।"

"आप इस टापू में कब आये ?"

"हमको यहाँ आये बहुत ज़माना गुज़र गया है। मालूम होता है कि आप आज ही आये हैं। वह, जो जहाज़ खड़ा है, आप उसी पर आये हैं क्या ?"

"जी हाँ।"

"जहाज़ कहाँ से आता है और कहाँ को जा रहा है ?"

"बर्मा से तमिलनाड को जा रहा है। बर्मा के निकट युद्ध आ गया है न ? इसलिए बर्मावासी तमिल लोग अपने देश को लौट रहे हैं।"

"ओहो ! यह बात है ! तमिलनाड की भी हालत इस क़दर हो गयी है क्या ? मालूम होता है, ऐसा ज़माना आ गया है कि तमिल लोग युद्ध का नाम सुनकर डरें।" धीर पुरुष ने उदास भाव से कहा।

स्त्री, जो अब तक मौन होकर सुनती रही, अपने मधुर स्वर में बोली, "यह बात नहीं। मेरा ख़्याल है कि तमिल लोग पहले से अधिक बुद्धिमान् हो गये हैं। दूसरों को युद्ध में मारने और ख़ुद मरने से क्या फ़ायदा ? ऐसा करना कौन बुद्धिमानी का काम या बड़प्पन का विषय है ? "

उसका कथन सुनकर मेरा हृदय गर्व से फूल उठा।

"अरे ! तुम यहाँ भी अपनी ज़बान चलाने लगी।" कहकर वह पुरुष हल्की हँसी हँसने लगा।

उन दोनों की बातचीत से मेरी उत्कंठा और भी बढ़ गयी। मैंने साफ़ सवाल किया "आप दोनों कौन हैं ? और यहाँ आये कैसे ?"

पुरुष ने सिर हिलाते हुए जवाब दिया "वह तो एक बड़ी लम्बी कहानी है।"

"लम्बी हो, तो भी परवाह नहीं। आप कहिए, मैं सुनने को तैयार हूँ। मेरा जहाज़ कल सवेरे ही रवाना होगा", मैंने कहा।

"तब ठीक है। आइए, इधर बैठ कर कहानी सुनेंगे" स्त्री ने कहा।

हम तीनों बैठ गये। पूर्व दिशा में पूर्णिमा का चाँद सोने की थाली की तरह जगमगा रहा था और धीरे-धीरे ऊपर चढ़ रहा था। पहाड़, चट्टान, उन पर उगे पेड़-पौधे वग़ैरह की परछाईं भयानक और बृहदाकार हो कर बहुत दूर तक ज़मीन पर फैली हुई थी। मारुत मन्द गति से बहकर शरीर को सहला रहा था। दूर से सुनाई देने वाला समुद्र का गर्जन सिंह के समान गम्भीर सुनाई दे रहा था।

उस नवयुवक ने अपना जीवन-चरित्र प्रारम्भ किया :

"छः सौ साल पहले . ." उसने शुरू किया तो मैं चौंक पड़ा। युवक ने मेरी मुखाकृति देखी और अपनी बात पर ज़ोर दिया कि "हाँ, छः सौ साल पहले ही मेरी कहानी शुरू होती है। इसमें अविश्वास करने की कोई बात नहीं। मैं सच्चा-सच्चा हाल बताता हूँ।

"छः सौ साल पहले की बात है। तमिलनाड में चेर, चोल, पांड्य ये तीनों राज-सत्ताएँ अपना बल और बड़प्पन खो बैठी थीं। उस ज़माने में तंजौर में उत्तम नाम के चोल राजा राज करते थे। महा महिमामय राजराज चोल का वह बृहत् साम्राज्य, उनके शासन-काल में बहुत ही क्षीण होकर चार-पाँच कोस की एक छोटी-सी रियासत के रूप में बदल चुका था। फिर भी उत्तम चोल अपनी कुल-मर्यादा को कभी भूले नहीं। वे उस मर्यादा में कलंक लगाने वाला कोई कार्य करना भी पसन्द न करते थे। उत्तम चोल के दो पुत्र सुकुमार और आदित्य नाम के थे। सुकुमार बड़ा था और राज्य का उत्तराधिकारी था।

"समकालीन पांड्य वंश का भी उस वक़्त पतन हो चला था। इसलिए दक्षिण के एक पालयकारत् (सेनाध्यक्ष) ने मदुरा के राज्य पर अपना आधिपत्य जमा लिया और पांड्य वंश के सिंहासन पर आरूढ़ हो गया। साथ ही अपना नाम "पराक्रम पांड्य" रख लिया। उसके भुवनमोहिनी नाम की एक पुत्री थी; कोई पुत्र न था। पराक्रम पांड्य की हार्दिक इच्छा थी कि चोल वंश के युवराज के साथ अपनी पुत्री का विवाह करे और अपने कुल को मर्यादान्वित कर ले। इसलिए एक बार जब उत्तम चोल और पराक्रम पांड्य मैत्री भाव से मिले थे, तब पराक्रम पांड्य ने अपनी इच्छा प्रकट की। उत्तम

चोल अपने कुल के गर्व में फूले थे। उन्होंने उपेक्षा के साथ जवाब दिया कि नहीं, यह असम्भव है। चोल वंश के राज-कुमार के साथ, एक नये राजकुल की कन्या नहीं ब्याही जा सकती। अगर आप चाहें तो, आपकी खातिर, हम आपकी कुमारी को दासी के रूप में अपने राजमहल में लेने को तैयार हैं। चोल ने खेल में यह बात कही थी। लेकिन पराक्रम पांड्य को बहुत गुस्सा आ गया। इसलिए उसने तुरन्त एक बड़ी सेना इकट्ठी कर तंजौर पर आक्रमण कर दिया। इस अचानक आक्रमण से चोल की छोटी सेना हार गयी। उत्तम चोल गिरफ्तार हो गये। लेकिन उनके दोनों पुत्र किसी तरह अपने को बचाकर कोल्ली पर्वत के जंगलों में जा छिपे। . ."

इस बीच में वह स्त्री बोल उठी, "चोल वंश के राजकुमारों के भाग जाने की खबर पाकर पराक्रम पांड्य आगबबूला हो गये और चोल राजा को अपने रथ के पहिये में बँधवाकर मधुरा की वीथियों में घसिटवाया। पराक्रम पांड्य की पुत्री भुवनमोहिनी ने अपने महल के झरोखे से इस दृश्य को देखा। उससे वह दृश्य देखा न जा सका। उसने अपने पिता से अपनी मनोवेदना प्रकट की। पांड्य ने पूछा कि उस घमंडी के घमंड को, जिसने कहा कि मैं तुम्हारी बेटी को दासी के रूप में महल में ग्रहण करने को तैयार हूँ, और किस ढंग से चूर किया जा सकता है? फिर भी भुवनमोहिनी के मन को सान्त्वना नहीं मिली।"

यह कह कर वह स्त्री चुप हो रही। मैं इस विचार में रहा कि शायद ये दोनों पति-पत्नी हैं। इसी बीच वह युवक बोल उठा : "कोल्ली पर्वत के जंगल में दोनों राजकुमारों ने अपने साथियों से मिलकर सलाह-मशविरा किया। वे लोग इस निर्णय पर पहुँचे कि पहले चोल राजा को छुड़ाना चाहिए। बाद को बड़ी सेना इकट्ठी कर पांड्य की राजधानी पर आक्रमण किया जाय। इस कार्य की सिद्धि के लिए किसी को छद्मवेश में मधुरा जाना चाहिए। इस कार्य के लिए हर कोई जाने को तैयार हो गया तो यह शर्त रखी गयी कि हममें से जो कोई सब से अधिक दूर अपना भाला फेंकता है, वही इस कार्य के लिए जावे। उस परीक्षा में सुकुमार का भाला ही सबसे दूर पर जा गिरा। सुकुमार अपने साथियों से विदा होकर मधुरा के लिए रवाना हुआ। वहाँ जाकर वह वहाँ के शिल्प-शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य देवेन्द्र के यहाँ शिष्य होकर अध्ययन करने लगा। कुछ ही दिनों में आचार्य को विदित हो गया कि शिल्प-ज्ञान में शिष्य अपने से भी अधिक आगे बढ़ गया है। वे प्रेम से उसको पालने और शिक्षा देने लगे। शिष्य तरह-तरह की प्रतिमाएँ तथा शिल्प बनाने लग गया था।"

स्त्री ने कहा : "राजकुमारी भुवनमोहिनी को शिल्पकला से अपार प्रेम था। इसलिए वह कभी-कभी देवेन्द्र के शिल्पकला-मंडप में जाया करती थी। शिल्पी के वेष में सुकुमार ने जो-जो कला की कृतियाँ बनायी थीं, उनको देख कर पांड्य-कुमारी आश्चर्य करने लगी। उसने चाहा कि आचार्य के उस नये शिष्य से मिल कर प्रोत्साहन के दो शब्द कहे। पर शिल्प के आचार्य ने यह कह कर रोक दिया कि मेरे नये शिष्य ने यह व्रत धारण किया है कि वह स्त्रियों की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखता। वह कहता है कि मुझे यह शाप मिला है कि अगर मैं स्त्रियों की ओर देखूँ तो मेरी कला का नाश हो जाय। पांड्य-कुमारी को इस शाप की बात पर विश्वास न हुआ। इसलिए वह चाहती थी कि किसी तरह उस नवयुवक शिल्पी से मिल ले। एक दिन उसने काशी से आने वाले पुरुष-यात्री का वेष धारण किया और शिल्पकला-मंडप में प्रवेश किया। सुकुमार ने समझा कि वह सचमुच ही युवक है और जल्दी से उससे दोस्ती भी बढ़ा ली। दोनों बराबर मिलते और आपस में आनन्द से बातें भी करते।"

पुरुष ने आगे कहना शुरू किया : "सुकुमार को अपने दोस्त के सम्बन्ध में शक पैदा हो चुका था कि इसके साथ कोई मर्म छिपा है। पराक्रम पांड्य जब एक दिन जुलूस में निकले तो उसका शक दूर हो गया। पांड्य की बग़ल में ही उसकी लाड़ली बेटी बैठी हुई थी। जब जुलूस कला-मंडप के निकट आया तो उसने उस नवयुवक शिल्पी को घूर कर देखा। दूसरे ही क्षण सुकुमार को असलियत मालूम हो गयी। राजकुमारी की धोखेबाज़ी ने उसके मन में बहुत गुस्सा पैदा कर दिया, फिर भी उसने अपना गुस्सा बाहर प्रकट होने न दिया। जब दूसरे दिन भुवनमोहिनी पुरुष के वेष में उसके पास आयी तो वह पहले ही की तरह दोस्ती का व्यवहार करने से न चूका। उसने अपने मन में ठान लिया कि किसी तरह उसकी सहायता से अपने कार्य की सिद्धि कर ले। इस विचार से वह उस अवसर की ताक में रहने लगा।"

स्त्री बोली : "एक दिन भुवनमोहिनी जब शिल्प-कला-मंडप में गयी तो क्या देखती है कि नवयुवक शिल्पी हाथ पर मुख धरे उदास बैठा है। उसने उससे इसका कारण पूछा। नवयुवक शिल्पी ने, पास में ज़मीन पर चूर-चूर होकर बिखरे पड़े एक शिल्प को दिखा कर, दुखित भाव से कहा कि मुझे यह विद्या नहीं आती कि ताँबे की प्रतिमा कैसे

डाली जाय और गुरुजी भी तो यह विद्या नहीं जानते हैं। मैंने कितने ही यत्न किये, पर वह विद्या नहीं आयी। इस तरह निकम्मा जीवन बिताने से क्या फ़ायदा? पांडय राजकुमारी ने ज़ोर देकर पूछा तो उसने उत्तर दिया कि इस विद्या का जानने वाला आदमी अब एक ही है। वह भी तुम्हारे पिताजी के कारावास में पड़ा सड़ रहा है। किसी तरह गुप्त रीति से एक रात को उनसे मिल पाता तो यह विद्या सीख आता। पर यह कैसे सम्भव है?

" 'मैं उसका इन्तज़ाम किये देती हूँ।' राजकुमारी ने कहा। उसके मन में यह तीव्र इच्छा घर किये थी कि किसी तरह उस नवयुवक शिल्पी की प्रेम-पात्र बन जाऊँ। इसलिए दूसरे दिन जब वह उस नवयुवक शिल्पी से मिलने गयी तो अपने साथ मुहर लगी एक मुँदरी भी ले गयी और उसके हाथ में देकर कहा कि इसको दिखाने पर प्रहरी तुमको बे-रोक-टोक जाने देंगे। तुम चोल राजा से मिल कर वह रहस्य जान लो। साथ ही उसने यह भी प्रकट कर दिया कि मैं पांडय राजकुमारी हूँ। राजकुमार ने अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए हार्दिक धन्यवाद दिया। उस अबोध बालिका भुवनमोहिनी ने उसके हर शब्द को सत्य वचन मान लिया था।"

पुरुष ने कहा, "राजकुमार ने सचमुच ही कृतज्ञता के शब्द कहे थे; क्योंकि बहुत पहले ही भुवनमोहिनी उसके हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठापित हो चुकी थी। सुकुमार ने अपने पिता की हालत को ख्याल में रखते हुए अपने मन की अभिलाषा को दबा रखा था। वह उस मुहर लगी मुँदरी के साथ क़ैदखाने में गया। दैवयोग कहिए, उसी वक़्त पराक्रम पांडय चेर राजा से युद्ध करने चला गया था, इसलिए उस मुँदरी की सहायता से प्रहरियों को धोखा देना उसके लिए बहुत आसान काम हो गया था। अर्ध-निशा के समय उसने अपने पिता को क़ैद से रिहा किया। फिर दोनों घोड़ों पर सवार हुए और रात ही रात पांडय-राजधानी को पार कर कोल्ली पर्वत के जंगलों में जा पहुँचे।...."

युवती बोली, "इस धोखाधड़ी की बात सुन कर भुवनमोहिनी का मन दुःख से चूर-चूर हो गया। चोल राजकुमार के शिल्पी के वेष में आकर धोखा देने की बात ने भुवनमोहिनी को क्रुद्ध सिंहिनी बना दिया। उसने तुरन्त घुड़सवारों को पीछा करने भेजा। पर वे खाली हाथ लौटे। चोल राजा आँखों में धूल झोंक कर भाग गया, यह खबर पराक्रम पांडय को रणक्षेत्र में दी गयी तो उसका दिल टूट गया। पहले ही रणक्षेत्र में उसको घातक चोट लगी थी। दिल की चोट और शरीर की चोट दोनों ने मिल कर उसको शय्या-सेवी बना दिया। इसलिए उसको रणक्षेत्र से लौट आना पड़ा। चेर के साथ की लड़ाई में उसको विजय न मिली। उसकी सेना मधुरा लौट गयी। पांडय-कुमारी इन सब विपरीत कार्यों का कारण खुद अपने को समझने लगी और उसी चिन्ता में घुलने लगी।

"कुछ दिनों के बाद यह खबर आयी कि चोल सेना बदला लेने के लिए मधुरा पर धावा बोलने आ रही है तो पांडय-कुमारी के क्रोध का पारावार न रहा। उसने अपने शय्या-शायी पिता से प्रण किया कि मैं युद्धक्षेत्र में जाकर युद्ध करूँगी। पिता ने आशीर्वचन देकर पुत्री को युद्ध करने भेजा। उस अबोध बालिका ने युद्धक्षेत्र में जाकर घोर युद्ध किया। युद्ध-कला-कौशल से अनभिज्ञ होने के कारण उसको बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।"

युवक उसकी बातों के बीच में बोल उठा: "यह सच है कि भुवनमोहिनी युद्ध-कला-कौशल से अनभिज्ञ थी; पर उसकी बहादुरी, साहस और युद्ध करने के ढंग को देख कर चोल-सेना दंग रह गयी। रणक्षेत्र में भुवनमोहिनी जिस तरफ़ जाकर खड़ी होती, उस तरफ़ के सैनिक दुगुने-तिगुने उत्साह के साथ जय-जयकार करते हुए चोल-सेना पर टूट पड़ते थे। चोल-सेना के वीर तो पांडय-कुमारी को दूर ही से देख कर अपने हाथ के धनुष-बाण, भाला-बर्छी फेंक कर चित्र-लिखित-से खड़े देखते रह जाते। उनको युद्ध के लिए उत्साहित तथा उत्तेजित करने में सुकुमार को असाध्य कष्ट भोगने पड़े; फिर भी बड़ी मेहनत से सुकुमार ने युद्ध को जारी रखा। सुकुमार का मन यह वेदना अनुभव कर रहा था कि भुवनमोहिनी से मुक़ाबला करना पड़ रहा है। इसलिए वह सोचने लगा कि पिता से कह कर युद्ध को बन्द कर दें। इसी बीच में पांडय-सेना का उत्साह ज़रा ठंडा पड़ गया और वह पीछे हटने लगी।...."

युवती ने बीच में टोककर कहा: "पांडय-सेना का उत्साह कम पड़ जाने का कारण यह है कि उसी वक़्त यह खबर आयी कि पांडय राजा का देहावसान हो गया है। पिता की मरणासन्न अवस्था सुन कर भुवनमोहिनी उनके निकट चली गयी थी। उसने अपने पिता से यह कह कर माफ़ी माँगी कि चोल राजा के क़ैद से छूट कर भाग जाने का कारण मैं ही हूँ। पराक्रम पांडय ने अपनी पुत्री को माफ़ कर दिया और कहा कि युद्ध बन्द कर दो। उसके थोड़ी देर बाद ही उनका देहावसान हो गया। भुवनमोहिनी युद्धक्षेत्र में जब लौट आयी तो क्या देखती है कि पांडय-सेना युद्ध से पीठ

दिखाकर भागी आ रही है। उसने उसे रोकने के कितने ही यत्न किये, पर उसी वक़्त चोल राज्य के वीर राजकुमार सुकुमार ने अपनी अपार युद्ध-चातुरी दिखाकर पांड्य-कुमारी को क़ैद कर लिया।"

युवती के मुख से निकले इन वाक्यों में उलाहना भरा था। उसे सुन कर युवक हल्की हँसी हँसते हुए बोला : "चोल राजकुमार को यह चिन्ता सताये रही कि पकड़ने के पहले युद्ध में कुमारी को कहीं चोट न लग जाय। इस कारण वह ख़ुद रणक्षेत्र में आगे रहा और भुवनमोहिनी को क़ैद किया। पांड्य-सेना के भागे सैनिकों को छोड़ बाक़ी सब उसकी शरण में आ गये। उसी रात को सुकुमार ने भुवनमोहिनी के कारावास में अपनी एक दासी को भेजा। उसके हाथ में भुवनमोहिनी की मुहर लगी वही मुँदरी देकर यह भी कहला भेजा था कि यह अँगूठी दिखाने पर प्रहरी तुमको बे-रोक-टोक छोड़ देंगे।"

युवती ने कहा : "पांड्य-कुमारी ने हाथों-हाथ वह मुँदरी वापस भेज दी और यह भी कहला भेजा कि पांड्य-वंशी सत्यव्रती हैं। चोलों की तरह वे धोखेबाज़ नहीं हैं।"

पुरुष ने कहा "सुकुमार अपने पिता के पास गया और कहा कि मैं पांड्य-राजकुमारी को दिलो-जान से प्यार करता हूँ। बिना उसके मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। साथ ही यह भी कहा कि मैं उसी की सहायता से आपको जेलखाने से छुड़ाने में समर्थ हुआ। उत्तम चोल ने असन्तुष्ट भाव से कहा कि तुमको अगर यही करना था तो इतनी बड़ी लड़ाई और जान-गँवाई की क्या आवश्यकता थी? आख़िर उन्होंने आधे मन से अनुमति भी दे दी कि चाहे तो सुकुमार भुवनमोहिनी से शादी कर ले। सुकुमार यह ख़ुशख़बरी लेकर ख़ुशी-ख़ुशी भुवनमोहिनी के कारावास में गया। लेकिन वहाँ एक निराशा उसकी प्रतीक्षा में खड़ी थी।"

स्त्री ने कहा "हाँ, पांड्य राजकुमारी के लिए भी वह एक निराशा ही थी। लेकिन राजनीति और उससे होने वाली लड़ाइयों के कारण उसके हृदय में एक बड़ी भारी उथल-पुथल मची हुई थी। इसलिए उसने चोल राजकुमार से विवाह करने से साफ़ इन्कार कर दिया और कहा कि मैं काशी के उस नवयुवक शिल्पी को प्रेम करती थी, न कि चोल साम्राज्य के उत्तराधिकारी राजकुमार को। इसलिए मैंने यह निश्चय कर लिया है कि बौद्ध धर्म में सम्मिलित हो कर भिक्षुणी बन जाऊँ।"

यह कह कर उस युवती ने कहानी वहीं बन्द कर दी। वह युवक भी कहानी पूरी करता न दीखा। मैं तो कहानी का नतीजा जानने को उत्सुक था।

मैंने पूछा, "फिर क्या हुआ? दोनों ने क्यों चुप्पी साध ली?"

"फिर क्या हुआ? भुवनमोहिनी की हठ के कारण सुकुमार को तीन सौ साल की वंश-परम्परा से आये चोल साम्राज्य को त्यागना पड़ा। उसने अपने भाई को सिंहासन पर बिठा दिया।....फिर मैं एक जहाज़ भर शिल्पी और शिल्प के औज़ार लेकर इस द्वीप में आ पहुँचा", नवयुवक ने कहा।

मैं यह सुन कर आश्चर्य में डूब गया।, कहीं यह अपनी ही कहानी तो नहीं कह रहा है? यह जानने के ख्याल से मैंने उस युवती का मुँह ग़ौर से देखा। न मालूम उसने मेरे मन पर बीतने वाली बातों को जाना या नहीं? उसने कहा : "अजी, आप ही निर्णय कीजिए। उस सनातन पुराने दीमक-खाये नष्ट-भ्रष्ट राज्य को छोड़ आने से इनका क्या बड़ा नुक़सान हो गया? इन्होंने यहाँ आकर जो नया राज्य स्थापित किया है, देखिए।"

यह कह कर उस स्त्री ने अपनी उँगलियों के इशारे से उस खंडहर प्रदेश को दिखाया।

उस प्रदेश को देखा तो वहाँ बड़ी-बड़ी इमारतें और अट्टालिकाएँ, गोपुर और माणिक-मंडप, बुद्ध-विहार तथा जैन मन्दिर वग़ैरह दिखाई दिये। उस दूधिया श्वेत चाँदनी में वे सारे के सारे मकान हाथीदाँत, स्फटिक, मणि-माणिक, और संगमरमर के पत्थरों से अभी-अभी नये-नये बने-से दीखे। थोड़ी देर तक बिना पलक मारे, मैं उन मकानों को देखता रहा। बाद को उन दम्पति की तरफ़ आँखें फेर कर लड़खड़ाती ज़बान से पूछा, "तब क्या, आप सुकुमार चोल हैं? क्या मैं जान सकता हूँ कि यह देवी कौन हैं?"

वह पुरुष ठठा कर हँसा और बोला, "ख़ूब भोर होते तक कथा-पुराण सुने और पूछे कि रामचन्द्र सीता के क्या लगते हैं, तो कैसा हो? वैसे न आप पूछते हैं?"

सुकुमार के मुँह से यह बात सुनना था कि मेरे मन में विचार-तरंग उठने लगी। मुझे एक विद्वान् आलोचक

का कथन याद आया जिन्होंने कहा है कि तमिल भाषा में एक खूबी यह है कि हज़ारों साल पहले वह जैसी बोली जाती थी, वैसी ही अब भी बोली जाती है। उसमें थोड़ा भी फ़र्क़ नहीं पड़ा है।

मेरी मौनावस्था देख कर भुवनमोहिनी बोली : "क्यों, आपको शक है क्या, कि मैं पांड्य राजकुमारी नहीं हूँ ?"

मैंने कहा, "सिर्फ़ पांड्य राज्य की ही नहीं, इस भूलोक की भी साम्राज्ञी होने की क्षमता आप में है।"

भुवनमोहिनी ने सुकुमार की तरफ़ मुड़ कर कहा, "मेरा विचार है कि तमिलनाड के लोग तारीफ़ करने में पहले से एक क़दम भी आगे नहीं बढ़े हैं। आपने भी उन दिनों मेरे बारे में मुझसे यही बात कही थी। अब आपको याद है ?"

सुकुमार हँसे। दोनों उठ खड़े हुए। उसी वक़्त मैंने एक अनोखी बात देखी। शुभ्र चाँदनी में पर्वतमाला की लहराती काली छाया ज़मीन पर पड़ रही थी। मेरी भी परछाईं चट्टान पर प्रतिबिम्बित थी। पर उन दोनों की परछाईं कहीं नहीं दीखी।

मैंने विस्मय से उनकी तरफ़ देखा। पर यह क्या ? वे दोनों प्राणी कहाँ चले गये ? कहीं अन्तर्धान तो नहीं हो गये ?

दूसरे ही क्षण मैं होश-हवास खो बैठा। दूसरे दिन भोर होने पर सूरज की किरणों ने मुझे जगाया। सौभाग्य से जहाज़ अभी तक वहीं खड़ा था। मैं ज़ोर से आवाज़ देते हुए समुद्र-तट को दौड़ा। कप्तान ने दया करके नाव भेजी और मुझे जहाज़ पर चढ़ा लिया।

दोस्त कहानी समाप्त करके जाने को उद्यत हुए। मैंने उनसे कहा, "आप का वह मोहिनी द्वीप देखने की मेरी बड़ी इच्छा है। क्या आप मुझे भी वहाँ ले चलेंगे ?"

दोस्त ने पूछा "आप मेरी कहानी पर विश्वास करते हैं ? कितने ही व्यक्तियों ने अविश्वास ही किया है।"

"उनको जाने दीजिए। आपकी हर बात पर मुझे पूरा विश्वास है।" मैंने उत्तर दिया।

ज़रा सोचिए तो, हम क्यों न विश्वास करें ? बाह्य संसार में जो घटनाएँ घटित होती हैं, केवल उन्हीं पर हम क्यों विश्वास करें ? कवि के कल्पना-लोक में—आन्तरिक जगत् में—जो घटनाएँ घटित होती हैं, उन पर क्यों न विश्वास किया जाय ?

(तमिल से)

गौरी शिखर या उमा शिखर

चन्द्रवदन मेहता

उन्नीसवीं शती के मध्य में यदि एक घटना न घटी होती, तो एवरेस्ट शिखर, जिसका नामकरण सर्वे आफ़ इंडिया के तत्कालीन अध्यक्ष सर जार्ज एवरेस्ट के नाम पर हुआ, अभी भी अपने प्राचीन तिब्बती नाम 'चोमोलुङ्मा' अर्थात् 'देवी-भू-जननी' से ही विख्यात होता। आज से पूरे सौ वर्ष पहले सन् १८४६ में पहले-पहल हिमालय-श्रेणी की पूरी पैमाइश की गयी, जिसके आधार पर उस विशेष शिखर का नाम 'नं० १५' रखा गया। पैमाइश के बाद गणना में तीन वर्ष लग गये; सन् १८५२ में एक दिन सर एंड्रू वॉह के प्रधान क्लर्क ने इस सूचना से ईस्ट इंडिया कम्पनी के सारे सेक्रेटेरियट को चकित कर दिया कि "मैंने संसार के सबसे ऊँचे शिखर का पता लगाया है !" तब इसकी ऊँचाई २६००२ फ़ुट गिनी गयी थी जो बाद में शोध कर के २६१४५ फ़ुट मानी गयी। यह कैसा विरोधाभास है कि पृथ्वी के सबसे ऊँचे भाग का नाम उस व्यक्ति के नाम से प्रसिद्ध हो जिसने न तो कभी उस शिखर को देखा ही और न जो कभी उस विशाल पर्वत-श्रेणी के ही निकट रहा हो ! कौतुक की बात है कि हिमालय पृथ्वी की सबसे अल्पवयस्क पर्वत-श्रेणी मानी जाय मगर उसी में पृथ्वी का उच्चतम शिखर भी हो, जिस पर अभी मानव का पदाघात न हुआ हो।

ऐसा माना जाता है कि हिमालय की कुछ श्रृंखलाओं के आकार अभी स्पष्ट नहीं बने और हिमालय-श्रेणी का विकास अभी सम्पूर्ण नहीं हुआ। इसलिए एवरेस्ट शिखर की ऊँचाई भी अभी पूर्ण रूप से निश्चित नहीं है। वायुमंडल के परिवर्तनों और निरन्तर नये हिम-स्तरों के कारण भी इसकी ऊँचाई का अन्तिम निर्णय करने में बड़ी कठिनाई अनुभव होती है। गत विश्व युद्ध में एक प्रेस एजेंसी ने यह भी खबर उड़ायी थी कि एक अमरीकी उड़ाके ने उत्तरी तिब्बत में एक और शिखर का पता लगाया है जो एवरेस्ट का प्रतिद्वन्द्वी है और जो एवरेस्ट को अपने अद्वितीय गौरव के पद से च्युत कर देगा। इस सनसनी-पूर्ण समाचार से हिमालय के समस्त प्रेमी विचलित भी हुए; किन्तु शीघ्र ही इस झूठे समाचार की क़लई खुल गयी। एवरेस्ट आज भी वैसा ही धीर, अद्वितीय, अजेय और अपराजित खड़ा है।

हमारे इस संक्षिप्त अवलोकन का एक मात्र उद्देश्य यह निश्चित करना है कि क्या इस दुर्गम शिखर के पुनः नाम-करण का अनुकूल अवसर आ गया है, जिससे इस शिखर-शिरोमणि को अपनी श्रद्धा अर्पित कर सकें। बड़े खेद की बात है कि भारतीय भाषाओं में, विशेषतया विद्यार्थियों और शिक्षकों द्वारा, इस महत्त्वपूर्ण चोटी का नाम अशुद्ध दिया जाता रहा है। साधारणतया शिखर का नाम 'गौरी शंकर' लिखा जाता है जब कि वास्तव में नाम 'गौरी शिखर' होना चाहिए। इस अशुद्धि का प्रचार विदेशियों के अज्ञान के कारण हुआ। केवल हावर्ड बरी ही ऐसे विदेशी थे जिन्होंने सन् १६२१ में 'शंकर' और 'शिखर' के भेद का ध्यान रखा; क्योंकि भारतीय एटलस विदेशों से छपकर आते थे, इसलिए इस भूल का प्रचार बढ़ता ही गया। वास्तव में हिमालय पर्वत-श्रेणी में गौरी शंकर नाम की भी एक चोटी है, किन्तु इसकी ऊँचाई गौरी शिखर की अपेक्षा कम है। इसकी स्थिति एवरेस्ट और कैलाश के बीच में कहीं, भारतीय भूमि के निकटतर है। इसकी ऊँचाई २३, ४४० फ़ुट है, अर्थात् एवरेस्ट से लगभग ५, ५०० फ़ुट कम।

प्रश्न उठता है कि उन्नीसवीं शती के पूर्व एवरेस्ट किस नाम से प्रख्यात था ? क्या भारतीयों को यह ज्ञात था कि हिमालय में सबसे ऊँचा पर्वत शिखर स्थित है ? कम से कम तिब्बतियों को तो युगों पूर्व इस बात का पता था, नहीं तो इस शिखर को वे 'चोमोलुङ्मा'—देवी भू-जननी नाम से न पुकारते।

हमारे पूर्वज सप्त-सिन्धु और वैदिक नदी सरस्वती से परिचित थे, इतना तो हमें मालूम है। हिमालय की विशाल पर्वतश्रेणियों, मानसरोवर और नीलकान्त तथा नरनारायण की भव्य चोटियों से वे निश्चित रूप से परिचित थे। पर्वत-शिखरों में सबसे सुन्दर नन्दादेवी, और बदरी-केदार तथा कैलाश का भी उन्हें पूरा पता था ही। इन स्थानों का विभिन्न ग्रन्थों से सन्दर्भ देना आवश्यक होगा। किन्तु अपने इस अन्वेषण के लिए कालिदास की रचनाओं—विशेषकर कुमार-

सम्भव—पर दृष्टि डालना आवश्यक होगा। इस महान् लेखक की रचनाओं में इस बात का पूरा प्रमाण मिलता है कि कवि को पर्वतों, वनों, उपवनों और कलकल करनेवाली सरिताओं तथा सुरभित कुंजों का पूर्ण ज्ञान था। विशेषतया हिमालय के बारे में कालिदास का ज्ञान सर्वांगपूर्ण और यथातथ्य था। कालिदास के समय के बारे में विद्वानों में मतभेद हो सकता है; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास के समकालीनों को हिमालय की चोटियों का पता था और कविकुल-गुरु निश्चित रूप से हिमालय की सबसे ऊँची चोटी को जानते थे। कुमारसम्भव में कवि ने नगाधिराज को बड़ी श्रद्धा अर्पित की है और इसकी भव्य गगनचुम्बी श्रेणियों का सजीव चित्रण किया है। कहीं-कहीं पर तो विशिष्ट स्थलों का ऐसा रंगीन और सजीव वर्णन है कि उन स्थलों को आज ही प्रयास करने से पहचान सकते हैं। किन्तु इस समय वह प्रासंगिक नहीं है। हम पाँचवें सर्ग के एक श्लोक की ओर ध्यान दें, जिसमें कवि ने लिखा है कि पिता से अनुमति पाकर गौरी तपस्या करने के लिए मयूरोंवाले उस शिखर पर गयीं जो पीछे गौरी शिखर नाम से प्रख्यात हुआ।[1] कालिदास ने इस शिखर का उल्लेख करके उसका ठीक नाम गौरी शिखर दिया है। क्या इस पर्यटक कवि ने स्वयं इस शिखर को देखा था? यह हम नहीं कह सकते पर इतना तो स्पष्ट है कि उन्हें इस शिखर का वास्तविक नाम मालूम था। गौरी भी देवी माता है, जैसा कि तिब्बती 'चोमोलुङ्मा' का अर्थ है। कालिदास ने हमारे अनेक विद्वानों और आचार्यों की भाँति 'गौरी शंकर' तथा 'गौरी शिखर' को एक समझने की भूल नहीं की। गौरी शंकर एक निम्नतर चोटी है, जिस पर शिव तथा पार्वती ने सहवास किया था। जब शिव ने क्रोधाग्नि में मदन को भस्म कर दिया, तो गौरी ने शिव को प्रसन्न करने के हेतु अधिक कृच्छ्र तपस्या के लिए एक अत्यन्त शान्तिपूर्ण स्थान पर जाने का निश्चय किया, और इस उद्देश्य से सबसे ऊँचे शिखर गौरी शिखर पर पहुँचीं, जहाँ केवल वही रह सकती थीं और शान्तिपूर्वक तपस्या कर सकती थीं।

इस विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एवरेस्ट का नामकरण हमें पुनः गौरी शिखर करना चाहिए। किन्तु गौरी शिखर और गौरी शंकर में पुनः भ्रम न उत्पन्न हो सके, इसके लिए मेरी विनयपूर्ण सम्मति है कि इसका नाम उमाशिखर रख दिया जाय। उमा का अर्थ भी देवी माता ही है।

मेरा एक दूसरा भी मन्तव्य है जो कदाचित् औरों ने भी उपस्थित किया हो। हिमालय केवल भारत के लोगों के लिए ही पवित्र नहीं है, प्रत्युत अन्य अनेक देश भी इसे पवित्र मानते हैं। क्या आज जब हम स्वतन्त्र हैं तो उस शिखर का नाम 'गान्धी शिखर' रख कर इस प्रकार अपने राष्ट्र-पिता के प्रति श्रद्धा अर्पित नहीं कर सकते? सुना है कि एक सर्वमान्य अन्तर्राष्ट्रीय परम्परा है कि किसी भी नयी खोजी हुई चोटी का नाम उसके अनुसन्धान-कर्त्ता अथवा किसी मनुष्य के नाम पर न होगा। किन्तु गौरी शिखर तो नयी आविष्कृत चोटी नहीं है; और मेरा विश्वास है कि अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत को इस बात में कोई आपत्ति न होगी कि इस अजेय पर्वत-शिखर का नाम गान्धी जी के नाम पर रख दिया जाय, जिन्हें आज हम सभी साधारण मनुष्य से ऊपर मानते हैं।

[1] अथानुरूपाभिनिवेशतोषिणा कृताभ्यनुज्ञा गुरुणा गरीयसा।
प्रजासु पश्चात्प्रथितं तदाख्यया जगाम गौरी शिखरं शिखण्डिमत्॥

—कुमारसम्भव, सर्ग ५, श्लोक ७

(गुजरातीसे)

फलक २१
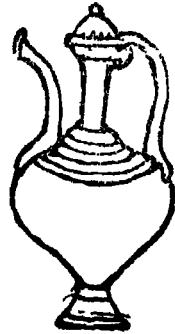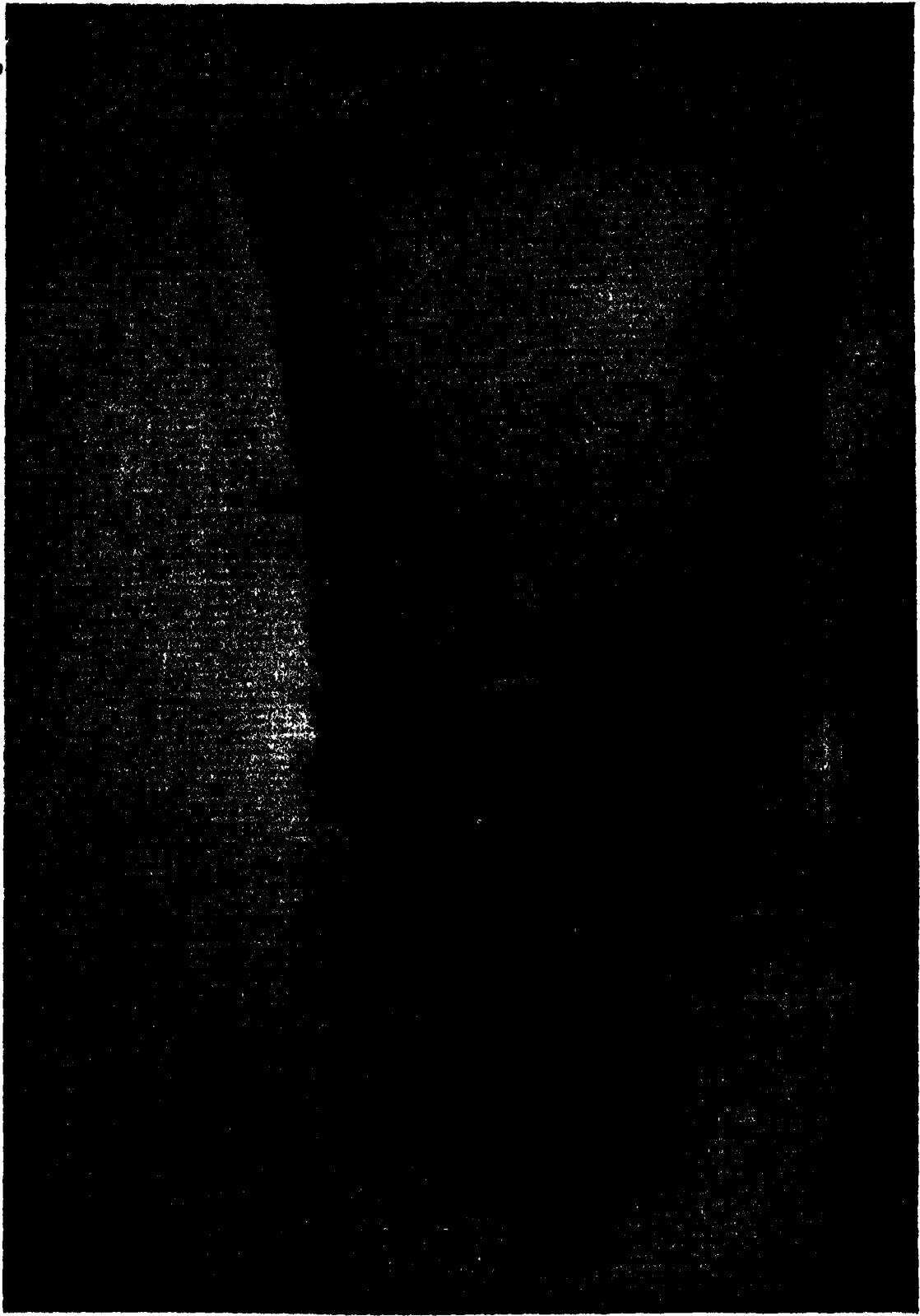
ये सनातन

वी० के० गोकाक

यही हैं रक्षक, यही गुरु, जो जगत् को
ढाल-से छाये हुए हैं रात-दिन
मेघ-झंझावात के रथ पर चढ़े
नक्षत्र-गण के सह-पथिक ।
ये महात्मा, प्रेम जिनका दिखाता है मार्ग
बिरले ही चले जिस पर, दया जिन ज्ञानियों की
भूसुतों को बुलाती परमात्म-पद की ओर !

यही हैं स्वर्लोकवासी दिव्य, जिनका
विश्व-उर में वास;
यही हैं सम्पूर्णता जिसके प्लवन से
प्राणियों में खेलती है साँस ।

इन्हीं की वह शान्ति, वह ऐश्वर्य है
जो जाति-देशों में विकीरित है;
इन्हीं की इच्छा सनातन नचाती है वरुण-मारुत को ।

यही हैं ज्ञान युग-युग का,
जगत् में यही तेजोपुंज शाश्वत, नाथ त्रिभुवन के,
प्रभा के केन्द्र, छन्द त्रिकाल के
जिसमें बँधी है सृष्टि, गति, लय—
अचिर के अवतार, सूक्ष्माकार,
सागर को समेटे एक छोटे बिन्दु में !

है नहीं रसना, मुखर हो जो
स्तवन के बिना उनके नाम के;
हैं न आँखें, जो नियति-गति
देख पावें बिना उनके स्पर्श के,
बाँधती सौन्दर्य को वे ही भुजाएँ,
गले उनको जो लगाती हैं;
प्रेरणा उनकी मनस् में रूप, रस,
आनन्द का सोता जगाती है ।

ये पुरातन, ये सनातन
देवता हैं प्राण-मन्दिर के, जिन्हें है ज्ञात

गोपन स्रोत जीवन की सुधा के,
क्रान्त-द्रष्टा :
रूप शोभन, जिसे लखने को
युगों से विश्व लालायित रहा है;
चिर-अचिर, स्थिर, बदलते आत्मा
पुरातन और नूतन !

मारुतों में सांस उनकी गूंजती है
सप्त-सागर की लहर में फेन उठते हैं;
आग में है ताप उनका, देवता प्रतिरूप भर हैं।
स्वप्न-आकुल, शुभ्र सागर के तले पाताल में
ये नागशय्या को सजाते हैं, जहाँ
जीवन हमारा जन्म लेता है नियति के क्रोड़ में।

वही हैं, जो झराते हैं फूल को,
जो खिलाते हैं कली,
उन्हीं का इंगित सुखाता सिन्धु है,
और कर देता नदी को स्वैरिणी
उन्हीं के डाले हुए हैं जाल माया के, हमें
जो बाँधते हैं मीन-से :
किन्तु हम को मोहबन्धन काटना भी
है सिखाती उन्हीं की करुणा, दया।

देव मन्दिर के सरोवर के
कमल-सा मेरा खिले जीवन, समर्पित
हो सदा अस्तित्व के आनन्द को,
और आशीर्वाद वत्सल गुरुजनों का
मुझे हो सम्पत्ति, सम्बल;
और मेरा गीत उनकी प्रेरणा से
गन्ध-मधु हो तृप्ति के सब पिपासाकुल यात्रियों को।

और उन प्राचीन ऋषियों के सहज आदेश से,
सार्थवाह बने जगत्;
बढ़ चले आकाशचुम्बी गिरि-शिखर की ओर;
या कि क्रीड़ा-भूमि उन अतिमानवों की, जो
चिरन्तन खोज में बढ़ते हुए, निस्सीम फैली इस धरा को
बना देंगे स्वर्ग, मनुसुत को बना कर देवता—
जो न तब तक एक क्षण विश्राम लेंगे !

(कन्नड़ से)

मणि-कांचन

सैयद मुजतबा अली

हमारे देश की शिक्षा-व्यवस्था बड़े-बड़े नगरों में ही केन्द्रीभूत नहीं थी, इसी कारण मुग़ल-पठान उसके ऊपर हस्तक्षेप न कर सके। काशी के जिन विद्यालयों ने भारतीय ऐतिह्य को जीवित रखा उनकी भी मुग़ल-पठान उपेक्षा कर गये।

किन्तु देश की व्यवस्था के लिए राजकर्मचारियों की आवश्यकता होती है, और राष्ट्र-भाषा फ़ारसी थी। अतः फ़ारसी और अरबी की शिक्षा के लिए इस देश में व्यापक रूप में व्यवस्था की गयी। जैसे-जैसे इस्लाम धर्म ने देश के भीतरी भाग में प्रवेश किया वैसे ही ग्राम-ग्राम में मकतब और मदरसों की स्थापना होने लगी। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारे टोलों और पाठशालाओं पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं हुआ और उनके लिए अर्पित ब्रह्मोत्तर, देवोत्तर भूमि भी छीनी नहीं गयी।

बहुत-से लोगों ने अरबी-फ़ारसी सीखी। किन्तु इन दोनों भाषाओं में से कोई भी पठान-मुग़लों की मातृभाषा नहीं थी; फलतः अरबी या फ़ारसी किसी में भी उच्च साहित्य की रचना नहीं हो सकी। यहाँ तक कि फ़ारसी-अरबी में जो कुछ इतिहास कृतियाँ लिखी गयीं उनमें भी साहित्यिकता अत्यन्त कम है, और इस न्यूनता को छिपाने के लिए इस देश की फ़ारसी रचनाएँ अनावश्यक अलंकारों से भाराक्रान्त हैं।

सब बातें किंचित् अवान्तर हैं। मुख्य बात यह है कि जो संस्कृत टोल और पाठशालाओं में भारतीय विद्या-चर्चा के लिए नियुक्त थे, उन्होंने इन अनेक मकतब-मदरसों में जाने की आवश्यकता नहीं समझी। साधारण रूप में यों कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों ने मुसलमानों की शिक्षा-प्रणाली में योग नहीं दिया, क्योंकि उनकी जीविका-रूप भूमि को छीना नहीं गया था अतः उन्हें अर्थोपार्जन के लिए मकतब-मदरसों के द्वार पर जाने की आवश्यकता का अनुभव नहीं हुआ।

किन्तु ब्राह्मणेतर, विशेषकर कायस्थ, इस देश में बहुत पहले से राजकर्मचारियों के रूप में अर्थोपार्जन करते चले आ रहे थे। परिवार-पोषण और शिक्षा-व्यवस्था के लिए उनके पास तो कर-मुक्त भूमि कभी थी नहीं; अतः उन्हें आजीविका की खोज में निकलना पड़ा। ये लोग राजकाज में दक्ष थे, अतः मुग़ल-पठान इनका तिरस्कार न कर सके। इन लोगों के दल के दल मकतब-मदरसों में प्रविष्ट हुए और बड़ी अच्छी अरबी-फ़ारसी सीखने लगे। हम अठारहवीं शती में देख सकते हैं कि अनेक कायस्थ तथा अन्यान्य हिन्दुओं ने फ़ारसी में उत्तम इतिहास-ग्रन्थों की रचना की है।

आज हम सभी जानते हैं कि हिन्दू-मुसलमानों के मिलन के फल-स्वरूप ताजमहल, ख़्याल संगीत-पद्धति, मुग़ल चित्र, उर्दू साहित्य, चोगा-चपकन, कोफ़्ता-कबाब सम्भव हुए हैं। हिन्दू-मुसलमानों के मिलने के सम्बन्ध में अनेक प्रबन्ध, अनेक पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। अतः इस विषय के सम्बन्ध में आज कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

किन्तु प्रश्न है कि धर्म के क्षेत्र में मिलन क्यों नहीं हुआ? विवेकी उत्तर में कह उठेंगे, 'कौन कहता है नहीं हुआ? नानक, कबीर, दादू इन सभी ने तो उभय धर्मों के मेल के साधन प्रस्तुत करने की चेष्टा की थी और उनके अकृतकार्य रहने पर भी यह तथ्य तो अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वे हिन्दू-मुसलमान जन-साधारण के भीतर पर्याप्त सहिष्णुता और भ्रातृभाव संचारित करने में समर्थ हुए थे। और वे जो सन्देश छोड़ गये हैं वह विश्व-साहित्य में अमूल्य पारस-मणि है।'

कबीर-दादू ने अशिक्षित और अर्धशिक्षित समाज को सत्यधर्म की ओर आकर्षित किया था; किन्तु शिक्षित पंडित-शास्त्री और मौलवी-मौलानाओं ने दोनों धर्मों में मेल की चेष्टा क्यों नहीं की? यह सभी संकीर्णमना, धर्मोन्मत्त थे, ऐसा तो किसी प्रकार विश्वास नहीं किया जा सकता। हमारा प्रश्न है कि दाराशिकोह के समान उपनिषद् और सूफ़ी तत्त्व को मिलाकर 'द्विसिन्धुमिलन' (मुजमइल् बहरैन) के समान और भी बहुत-सी रचनाएँ क्यों नहीं हुई?

केवल यही क्यों? भारतवर्ष षड्दर्शनों का देश है—भारतवासी और चाहे जैसे रहे या न रहे, देश के घोरतम

दुर्दिनों में भी उनकी दर्शनचर्चा कभी मन्द नहीं हुई। मुसलमान भी इस देश में अरबी के माध्यम से यूनानी दर्शन एवं अपने 'सीनाह्', 'ग़ज़्ज़ाली' के दर्शन को साथ लाये। किन्तु आश्चर्य की बात है कि इन दोनों दर्शनधाराओं में किसी प्रकार का सामान्य सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ। जिन अरबों ने बग़दाद में बैठकर चरक, सुश्रुत, पंचतन्त्रादि का अनुवाद किया और जिन वराहमिहिर ने भारतवर्ष में रहकर म्लेच्छ यवनों से ज्योतिष सीखने का उपदेश दिया, उसी अरबी ज्ञान-चर्चा के अधिकारी मौलवी-मौलानाओं तथा वराहमिहिर के वंशधरों ने एक ही ग्राम में बसते हुए दोनों दर्शनों के सम्मिश्रण से किसी नवीन दर्शन की स्थापना की चेष्टा क्यों नहीं की ?

समस्त संस्कृत साहित्य का शोध करने पर भी यह कह सकने का प्रमाण नहीं मिलता कि इसी संस्कृत साहित्य के देश में ही, भट्टाचार्य शास्त्रियों के ग्रामों में ही, 'ग़ज़्ज़ाली' के दर्शन को लेकर चर्चा हुआ करती थी; इब्न खल्दून का इतिहास पढ़ा जाता था, सहस्र रजनीचरित्र की कहानियाँ कही जाती थीं, और पारसमणि के अनुसन्धान (अल कीमिया) का प्रयास हुआ करता था।

ठीक उसी प्रकार इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारतवर्ष में जिस फ़ारसी साहित्य की रचना हुई उससे भारतीय ज्ञान-विज्ञान की जो झलक मिलती है वह नहीं के बराबर है। परवर्ती काल में जिस उर्दू साहित्य की रचना हुई उसमें अनेक हिन्दू लेखक थे सही, किन्तु संस्कृत के ज्ञाता होते हुए भी वे उर्दू सुन्दरी को भारतीय ज्ञान-भंडार के उत्तमोत्तम मणि-माणिक्यों से अलंकृत नहीं कर सके।

अतः यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान के क्षेत्र में पांडित्य की उच्चभूमि पर हिन्दू-मुसलमानों का मिलन, भावों का विनिमय तथा दान-प्रतिदान कभी नहीं हुआ।

किन्तु उन्नीसवीं शती के मध्यभाग से सम्पूर्ण परिस्थिति बदल गयी। फ़ारसी ने जिस दिन राजभाषा के पद को खोया, उस दिन शिक्षण-दीक्षा के लिए एक तृतीय प्रतिष्ठान का जन्म हुआ। चतुष्पाठी और मदरसे की प्रतिष्ठा तो पूर्व से ही थी, उस समय आकर उपस्थित हुआ स्कूल।

आरम्भ में चतुष्पाठी के भट्टाचार्य और मदरसे के मौलवी ने अपने परिवार को इस नूतन शिक्षा के प्रभाव से मुक्त रखा, क्योंकि जीविका के लिए उनके पास निष्कर भूमि तथा वक़्फ़ सम्पत्ति की सुविधा थी। किन्तु ब्राह्मणेतर, विशेषतः कायस्थों के लिए इस प्रकार की व्यवस्था न थी अतः जिस प्रकार एक समय उन्होंने पठान-मुग़लों के मकतब-मदरसों में शिक्षा लाभ करके सरकारी नौकरियाँ प्राप्त की थीं ठीक उसी प्रकार अंग्रेज़ी स्कूल खुलने के साथ ही साथ फ़ारसी पढ़ना छोड़ अंग्रेज़ी सीखना आरम्भ किया। (कलकत्ता हाईकोर्ट में इस समय भी जो कायस्थों की प्रधानता है वह आकस्मिक, अहेतुक परिस्थिति नहीं है।)

उसके पश्चात् जो घटित हुआ वैसा भारतवर्ष के इतिहास में उससे पूर्व कभी नहीं हुआ था। अंग्रेज़ों ने इस देश में जिस शोषण नीति का प्रचलन किया उसके फलस्वरूप हमारे ग्राम दैन्य की चरम सीमा पर पहुँच गये। ब्रह्मोत्तर तथा वक़्फ़ के ऊपर निर्भर रह चतुष्पाठी-मदरसों को चालू रखना आगे सम्भव न रहा। दूसरी ओर जो कुछ धन देश में बचता था वह बड़े-बड़े नगरों तथा महकमा सदर में एकत्र होने लगा। उस धन का कुछ भाग प्राप्त करने के लिए अंग्रेज़ी सीखनी आवश्यक थी।

एक ओर तो ग्राम में रहने का अर्थ था भूखों मरना और दूसरी ओर शहरों में अर्थोपार्जन का आकर्षण था। ऐसा होते हुए भी शास्त्री और मौलवी कितने दीर्घकाल तक पाठशाला और मकतब को अपनाये रहे, यह सोच कर आश्चर्य होता है। आज भी जब छोटे-से ग्राम में भविष्य की चिन्ता से भीत दीन शास्त्री महाशय तथा मौलवी साहब को टूटे-फूटे चंडीमन्दिर में तथा भग्नप्राय मसजिद में शंकराचार्य तथा इमाम अबू हनीफ़ा की कृतियाँ पढ़ाते हुए देखते हैं, तो उनके संस्कृति-प्रेम के सामने मस्तक स्वभावतः नत हो जाता है।

किन्तु सम्पूर्ण देश के पंडितों और मौलवियों ने हार मान ली। उनके लड़कों और इसी प्रकार धीरे-धीरे लड़कियों ने भी स्कूल और कालेजों में प्रवेश किया। राजा राममोहन राय और सर सैयद अहमद के प्रयत्न सफल हुए।

किन्तु उससे भी बड़ी एक बात हुई—जिसे भारतवर्ष के इतिहास में अभूतपूर्व कहा जा सकता है—भारतवर्ष के उस समय के शिक्षा-दीक्षा के प्रमुख पात्र हिन्दू-मुसलमान विद्वज्जनों के वंशधरों ने एक ही विद्यालय में एक ही आसन पर बैठकर ज्ञानचर्चा आरम्भ की। मुग़ल काल में जो हिन्दू मदरसों में आते थे वे इस्लाम धर्म को छोड़कर सब बातों में

'मुग़ल' ही हो जाते थे। किन्तु इस बार वैसा नहीं हुआ, क्योंकि इसी बीच में राष्ट्रीय नामक एक अभिनव वस्तु आकर इस देश में उपस्थित हुई और उसी के परिणाम-स्वरूप हिन्दू-मुसलमान दोनों विद्यार्थियों के अन्दर नवीन-नवीन प्रतिक्रियाएँ हुईं।

शास्त्री के पुत्र तथा मौलवी के बेटे ने एक ही बेंच पर बैठकर पढ़ना-लिखना आरम्भ किया। इस अलौकिक घटना के लिए अंग्रेज़ों द्वारा पोषित नीति को अनिच्छापूर्वक भी धन्यवाद देना पड़ेगा; किन्तु साथ ही साथ लज्जा से मस्तक भी नत हो जाता है कि हम दोनों दलों के बालकों को एक नहीं कर सके। एक ही विद्यालय में हमने संस्कृत, अरबी और फ़ारसी की शिक्षा की व्यवस्था की सही, किन्तु इस प्रकार के किसी मार्ग का आविष्कार न कर सके जो एक ही विद्यार्थी को दोनों प्रकार का ज्ञान देकर दारा शिकोह के अनुसार दोनों सम्प्रदायों को एक सूत्र में बाँध सकता। अंग्रेज़ यह व्यवस्था करना नहीं चाहते थे या करने देना नहीं चाहते थे, ऐसा कह देने मात्र से ही तो बात समाप्त नहीं हो जाती—हम जो एक नहीं कर सके इस तथ्य को किस प्रकार अस्वीकृत कर सकते हैं।

अब अंग्रेज़ यहाँ नहीं हैं। हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, दोनों देशों की शिक्षा का सार्वभौम अधिकार—एकछत्र आधिपत्य—इस समय हमारे हाथों में है। हम यदि इस समय भी अपने समस्त शिक्षा-प्रयत्नों को एक विशाल ऐक्य की ओर नियन्त्रित न कर सके तब राजनैतिक और अर्थनैतिक क्षेत्रों में स्वराज्य लाभ सफल होते हुए भी संस्कृति-विदग्धता के क्षेत्र में हमें अपनी सबसे अधिक हीनता और क्लैव्य स्वीकार करना ही पड़ेगा।

पंडित नेहरू जिस राष्ट्रभाषा का स्वप्न देखते हैं, वह भाषा इस सम्मिलित साधना का वाहन है। अपने स्वप्न को वह सफल होते देख लें, इसीलिए हम कहते हैं 'शतंजीव, सहस्रं जीव'।

(बँगला से)

भारतीय संस्कृति और हिन्दी का प्राचीन साहित्य

हजारीप्रसाद द्विवेदी

हिन्दी आर्यभाषा है। वह जिन प्रदेशों में आज साहित्यभाषा के रूप में गृहीत है उनमें कभी अपने पुराने अपभ्रंश या प्राकृत रूपों में बोली जाती थी। परन्तु उसके भी पहले—बहुत पहले—इन स्थानों में आर्येतर जातियाँ बसती थीं। उनकी भाषा आर्यभाषा नहीं थी। आर्यों के साथ इन जातियों का, किसी भूले हुए युग में, बड़ा कठोर संघर्ष हुआ था। असुरों, दैत्यों, यक्षों, नागों, राक्षसों आदि के साथ आर्य-जाति के संघर्ष की कहानियाँ हमारे पुराणों में भरी पड़ी हैं। लड़-झगड़ कर ये जातियाँ धीरे-धीरे एक दूसरे के निकट भी आती गयीं। उन्होंने धीरे-धीरे आर्यभाषा और आर्य-विश्वास को स्वीकार कर लिया परन्तु उनके विश्वास और उनकी भाषा ने नीचे से आक्रमण किया और आर्यभाषा ऊपर-ऊपर से आर्य बनी रहने पर उनकी भाषाओं से प्रभावित होती रही। उनके विश्वासों ने हमारी धर्म-साधना और सामाजिक रीति-नीति को ही नहीं, हमारी नैतिक-परम्परा को भी प्रभावित किया। जैसे-जैसे वे आर्यभाषा सीखती गयीं वैसे-वैसे उन्होंने आर्यों की परम्परागत धर्म-साधना और तत्त्व-चिन्ता को भी प्रभावित किया। धीरे-धीरे समूचा उत्तरी भारत आर्यभाषी तो हो गया पर आर्यभाषी बनी हुई जातियों के सम्पूर्ण संस्कार भी उनमें ज्यों-के-त्यों रह गये। यह ठीक है कि कुछ जातियों ने जल्दी आर्य-भाषा सीखी, कुछ ने थोड़ी देर से, और कुछ तो जंगलों और पहाड़ों की ऐसी दुर्गम जगहों में जा बसीं कि आज भी वे अपनी भाषा और संस्कृति को पुराने रूप में सुरक्षित रखती आ रही हैं। परिवर्तन उनमें भी हुआ है, पर परिवर्तन तो जगत् का धर्म है। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि विक्रमादित्य द्वारा प्रवर्तित संवत् के प्रथम सहस्र वर्षों तक यह उथल-पुथल चलती रही और आज से लगभग एक सहस्राब्द से कुछ पूर्व ही उत्तर भारत प्रायः पूर्ण रूप से आर्यभाषाभाषी हो गया। संस्कृत के पुराण-ग्रन्थों से हम इन आर्येतर जातियों की सभ्यता और संस्कृति का एक आभास पा सकते हैं। 'आभास' इसलिए कि वस्तुतः ये पुराण आर्यदृष्टि से—तत्रापि ब्राह्मण-दृष्टि से—लिखे गये हैं और फिर बहुत पुरानी बातें होने के कारण इन बातों में कल्पना का अंश भी मिल गया है। बौद्ध और जैन अनुश्रुतियों के साथ इन पौराणिक कथाओं को मिलाने से कुछ-कुछ बातें समझ में आ जाती हैं, पर यह तो हम भूल ही नहीं सकते कि ये अनुश्रुतियाँ भी विशेष दृष्टि से देखी हुई हैं।

परन्तु आज से कोई दस-बारह सौ वर्ष पहले जब उत्तर भारत की सभी मानव-मंडलियाँ आर्यभाषा-भाषी हो गयीं तो उन्होंने अपनी बातें आर्यभाषाओं के माध्यम से कहना शुरू किया। उनकी बातें तत्कालीन लोकभाषा में थीं, परन्तु दुर्भाग्यवश उनका बहुत कम अंश हमारे पास तक आ सका है। देशी भाषाओं के साहित्य में, लोक-कथाओं में, कहावतों में, किंवदन्तियों में और अनेक प्रकार के पारिभाषिक शब्दों में उस महान् उथल-पुथल और सांस्कृतिक मिलन की कहानी प्रच्छन्न रूप से बहती चली आयी है। इस दृष्टि से हमारी देशी भाषाओं का साहित्य—लिखित और अलिखित—बहुत-सी ऐसी बातों को बता सकता है जो उनकी वर्तमान परिधि और जन्मकाल से बाहर की हैं और इस प्रकार उनके अध्ययन से हम सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति को समझने की कुंजी पा सकते हैं। दुर्भाग्यवश अब तक उनको इस मामले में उतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना उन्हें मिलना चाहिए था। हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि यद्यपि हमारे पास अध्ययन की बहुत कम सामग्री है तथापि देशी भाषा के साहित्य में ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण इशारे हमें मिल जाते हैं जिससे हम अपनी पुरानी संस्कृति के इतिहास को समझने का सूत्र पा जाते हैं। हमारी भाषा का पुराना साहित्य प्रान्तीय सीमाओं से बँधा नहीं है। आपको अगर हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करना है तो उसके पड़ोसी साहित्यों—बँगला, मराठी, उड़िया, गुजराती आदि के पुराने साहित्य—को जाने बिना आप घाटे में रहेंगे। यही बात बँगला, मराठी, उड़िया आदि साहित्यों के बारे में भी ठीक है। हमारे देश का सांस्कृतिक इतिहास इस मजबूती के साथ अदृश्य काल-विधाता के हाथों सी दिया गया है कि उसे प्रादेशिक सीमाओं में बाँध कर सोचा भी नहीं जा सकता। उसका एक टाँका यदि काशी में दीख गया तो

दूसरा बंगाल में और तीसरा उड़ीसा में दीख जायगा, और चौथा यदि मलाबार में या सिंहल में दीख जाय तो कुछ भी आश्चर्य करने की बात नहीं रहेगी।

हिन्दी साहित्य का इतिहास केवल संयोग और सौभाग्य से प्राप्त हो गयी पुस्तकों के आधार पर नहीं लिखा जा सकता। प्राचीन हिन्दी का साहित्य रस-साहित्य नहीं है। जो रस-साहित्य कहा जा सकता है वह बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसका सबसे बड़ा गुण यह है कि उससे हम बहुत दिनों के उपेक्षित और अपरिचित 'मनुष्य' को पहचान सकते हैं और मेरी दृष्टि में यह बहुत बड़ी बात है। जो साहित्य मनुष्य को उसकी समस्त आशा-आकांक्षाओं के साथ, उसकी सभी सबलताओं और दुर्बलताओं के साथ, हमारे सामने प्रत्यक्ष ले आकर खड़ा कर देता है वही महान् साहित्य है। मनुष्य ही मुख्य है, बाक़ी सभी बातें गौण हैं। अलंकार-छन्द-रस का अध्ययन इस मनुष्य को समझने के लिए ही किया जाता है, वे अपने आप में चरम मान नहीं हैं। मनुष्य के—अर्थात् पशु-सुलभ वासनाओं से उपरले स्तर के उस प्राणी के—जो त्याग, प्रेम, संयम और श्रद्धा को छीनाझपटी, मारामारी, लोलुपता और घृणा-द्वेष से बड़ा मानता है—अपने लक्ष्य की ओर ले जाना ही साहित्य का मुख्य उद्देश्य है। अपने पुराने साहित्य में हम इस मनुष्य के आगे बढ़ने के लिए किये गये संघर्षों को, अनुभूतियों को और विजय-पराजय को समझने के अनेक इशारे पाते हैं। कबीरदास का बीजक, गोरखपन्थी अनश्रुतियाँ, निरंजनियों के छिटके-फुटके मिले हुए पद हमें एक भूली हुई दुनिया के सामने लाकर खड़ा कर देते हैं, हम आश्चर्य से एक सम्पूर्ण अभिनव-जगत् का दर्शन करते हैं जो 'अपूर्व' है। पर ये इशारे ही भर हैं। हम पुराने, नये और पार्श्ववर्ती साहित्यों से इस इशारे का महत्त्व समझ सकते हैं। इस 'अपूर्व' जगत् की जानकारी के बिना हमारा सांस्कृतिक इतिहास अधूरा रह जाता है। हमारे देशी भाषाओं के साहित्य की उपेक्षा करके हमने अब तक अपना सम्पूर्ण इतिहास ही अधकचरा बना रखा है।

दसवीं शताब्दी के आसपास एक विशिष्ट मनोवृत्ति का प्राधान्य भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र में स्थापित होता है, यद्यपि वह नयी नहीं है। कम से कम विक्रम की छठी शताब्दी से निश्चित रूप से इस प्रवृत्ति के रहने का प्रमाण मिलता है। विरोधी मतों को अवैदिक कह कर हेय सिद्ध करना इस प्रवृत्ति का प्रधान स्वरूप है। छठी से लेकर दसवीं शताब्दी तक का भारतीय साहित्य बहुत विशाल है, तो भी धर्म-साधना के इतिहास की दृष्टि से वह पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। अधिकांश में हमें साम्प्रदायिक ग्रन्थों पर निर्भर करना पड़ता है। यह उल्लेख-योग्य है कि सभी धार्मिक सम्प्रदाय अपने ग्रन्थ नहीं छोड़ गये हैं। कुछ ने तो शायद ग्रन्थ लिखा ही नहीं और कुछ ने अगर लिखा भी तो वह प्राप्त नहीं हो सका। पुरानी पुस्तकों में इन सम्प्रदायों का कुछ-कुछ उल्लेख मिल जाता है। पर इन उल्लेखों से उनका कोई विशेष परिचय नहीं मिलता। बौद्ध सम्प्रदायों के विषय में ब्राह्मण ग्रन्थों से जो कुछ पता चलता है, वह केवल अपूर्ण ही नहीं, भ्रामक भी है। सौभाग्यवश अब बौद्धों के एक बड़े सम्प्रदाय स्थविरवाद का पूरा साहित्य—जो लगभग तीन महाभारत के बराबर है—प्राप्त हो गया है। अन्यान्य सम्प्रदायों के ग्रन्थ भी थोड़े-बहुत मिल गये हैं और चीनी तथा तिब्बती भाषा में अनेक ग्रन्थ अनूदित अवस्था में सुरक्षित हैं। विद्वान् लोग नये सिरे से इन ग्रन्थों को धीरे-धीरे प्रकाश में लाने का प्रयत्न करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में उच्छेद, विनाश या अभाववाद को ही मुख्य बौद्ध-सिद्धान्त मान कर खंडन किया गया है। यदि बौद्ध साहित्य का अन्य देशों से उद्धार न हो सकता तो हमें बौद्ध दर्शन की महिमा का कुछ भी पता न चल पाता। सर्वदर्शन-संग्रह में वैभाषिक सम्प्रदाय के बौद्धों के नामकरण का रहस्य यह बताया गया है कि ये लोग 'विभाषा' यानी गड़बड़ भाषा के बोलने वाले या बे-सिर-पैर की हाँकने वाले बकवादी हैं। लेकिन असली रहस्य यह नहीं है। भला कोई सम्प्रदाय अपने को बकवादी क्यों कहेगा? असल में 'विभाषा' शब्द का अर्थ है 'विशिष्ट भाष्य'। यह विशिष्ट भाष्य चीनी भाषा में आज भी सुरक्षित है। संस्कृत में इस मत का प्रतिपादक ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' उपलब्ध हुआ है। इस ग्रन्थ का पहले-पहल चीनी भाषा की टीका के आधार पर फ्रांसीसी में उल्था किया गया था। इस सामग्री के आधार पर महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इसके मूल के उद्धार का प्रयत्न किया है और एक संस्कृत टीका भी अपनी ओर से जोड़ कर इसे बोधगम्य बना दिया है। यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'अनाप शनाप बोलने वालों' की कृति तो है ही नहीं, बहुत-से आस्तिक माने जाने वाले आचार्यों की पुस्तकों से अधिक युक्तिसंगत और माननीय है।

महामति शंकराचार्य ने शून्यवाद को 'सर्वप्रमाण-विप्रतिषिद्ध' कहकर उपेक्षायोग्य ही माना था। कुमारिल भट्ट जैसे मेधावी आचार्य ने भी बुद्ध की अहिंसा आदि भली बातों को उसी प्रकार अग्राह्य बताया था जिस प्रकार कुत्ते की खाल में रखा हुआ दूध अमेध्य ('श्वदतिनिक्षिप्त क्षीरवदनुपयोगि') होकर अनुपयोगी हो जाता है। इसी प्रकार के अनेक

उदाहरण दिये जा सकते हैं। वस्तुतः बड़े से बड़े आचार्य के खंडनों को देख कर भी विरोधी सम्प्रदाय के विषय में कोई निश्चित धारणा नहीं बनायी जा सकती। बौद्धधर्म तो फिर भी सौभाग्यवश जीवित मत है और उसके साहित्य के उपलब्ध हो जाने से उसके विषय में ठीक-ठीक धारणा बना ली जा सकती है। परन्तु ऐसे बहुत-से सम्प्रदाय हैं जिनकी न तो किसी जीवित-परम्परा का पता चलता है और न कोई साहित्य ही पाया जा सका है। विरोधी मतवालों ने उनका थोड़ा-बहुत विकृत परिचय दिया है, परन्तु ऊपर के उदाहरणों को देखकर जान पड़ता है कि इन विकृत परिचयों के आधार पर हम विशेष अग्रसर नहीं हो सकते।

चरपटी नाथ के नाम से चलनेवाले और निरंजनियों के संग्रहों में अलभ्य कुछ पद मिलते हैं जिनमें नाना सम्प्रदायों का उल्लेख है। उसमें 'नीलपटा' सम्प्रदाय की भी चर्चा है। इसे अटपटा मत बताया गया है। इन पदों की भाषा आधुनिक है पर वक्तव्य भी नया हो, ऐसा नहीं है।

"एक श्वेत जटा एक पीतपटा। एक तिलक जनेऊ लंब जटा।
इक नीलपटा मत अट्टपटा। भ्रमजाल जटा भव हट्ट अटा!"

क्या इसे अलग उपेक्षित है? पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह नामक जैन-प्रबन्ध में भी इन दर्शनियों की चर्चा है। इनकी साधना-पद्धति के विषय में जितना कुछ कहा गया है उससे लगता है कि ये लोग अत्यन्त निचली श्रेणी के भोगपरक धर्म का प्रचार करते थे। 'खाओ पिओ और मौज करो' यही उनका आदर्श था। पुरुष और स्त्री के जोड़े नग्न होकर एक ही नीले वस्त्र में लिपटे रहते थे। ऐसे ही एक जोड़े से राजा भोज की कन्या ने धर्मविषयक प्रश्न किया जिस पर 'दर्शनी' ने उस वामलोचना को उपदेश दिया कि 'खाओ, पिओ और मौज करो। जो बीत गया सो कभी नहीं लौट सकता। अगर तुमने तप किया और कष्ट उठाया तो वह तुम्हारे लिए बिलकुल बेकार है, क्योंकि वह जो गया सो गया। असल बात यह है कि यह शरीर सिर्फ़ जड़ तत्त्वों का संघात-मात्र है, इसके आगे कुछ भी नहीं है।'—

पिब खाद च वामलोचने यदतीतं वरगात्रि तन्न ते।
नहि भीरु गतं निवर्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम्॥[1]

राजा भोज को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने इस सम्प्रदाय का उच्छेद कर दिया। खोज-खोज के नीलपटों के सभी जोड़े हमेशा के लिए समाप्त कर दिये गये। भारतीय साहित्य में इन नीलपटों की कोई चर्चा नहीं आती। इस विवरण से तो इनके प्रति घृणा ही उत्पन्न होती है। सौभाग्यवश इस सम्प्रदाय के एक और भी विवरण का सिंहल के निकाय-संग्रह से राहुल सांकृत्यायन ने उद्धार किया है। यह कहानी राजा भोज के काल के कुछ ही पहले की है। कहा गया है कि राजा मत-वल-सेन के समय, जिनका राज्यकाल सन् ८४६-८६६ ई० है, वज्रपर्वत-निकाय का एक भिक्षु सिंहल में आया और वीरांकुर बिहार में रहने लगा। उसके प्रभाव में आकर राजा ने वाजिरिय (वज्रयान) मत को स्वीकार किया। इसी से लंका में रत्नकूट आदि ग्रन्थों का प्रचार आरम्भ हुआ। इसके बाद के राजा ने यद्यपि वाजिरिय के बारे में कुछ कड़ाई दिखायी पर इन सिद्धान्तों के गोप्य रहने के कारण वे बचे ही रहे। राहुल जी का कहना है कि तिब्बत के रंगीन चित्रों में आतिशा (दीपंकर श्रीज्ञान) आदि भारतीय भिक्षुओं के चीवर के नीचे जो नीले रंग की एक जाकेट जैसी चीज दिखती है उसका कारण निकाय-संग्रह में इस प्रकार दिया हुआ है—जिस समय कुमारदास सिंहल में राज कर रहे थे उन्हीं दिनों दक्षिण मधुरा में श्रीहर्ष नामक राजा का राज्य था। उस समय सम्मितीय-निकाय का एक दुःशील भिक्षु नीला वस्त्र धारण करके रात को वेश्या के घर गया। उसके प्रातःकाल लौटने में देर हो गयी। जब विहार के शिष्यों ने उसके वस्त्र का कारण पूछा तो उसने उस नील वस्त्र की बड़ी महिमा बतायी। तभी से उसके शिष्य नील वस्त्र का व्यवहार करने लगे। नीलपट-दर्शन में कहा गया है कि वेश्या, सुरा और काम ये तीन ही वास्तविक रत्न हैं, बाक़ी सब काँच के टुकड़े हैं। स्पष्ट ही नीलपट-दर्शनियों का जो मत पुरातन-प्रबन्ध में उद्धृत किया गया है, वह इसी से मिलता-जुलता है। परन्तु यदि राहुल जी के वक्तव्य को ध्यान से देखा जाय तो मालूम होगा कि इन लोगों का सम्बन्ध वज्रयानियों से था। यह ध्यान देने की बात है कि सम्मितीय निकाय के जिन भिक्षुओं की ऊपर चर्चा आयी है उनका महायान मत की स्थापना में बड़ा हाथ रहा है।[2] यह नीलपट

[1] पुरातन-प्रबन्ध पृ० १६
[2] गंगा, पुरातत्त्वांक

फलक ३२
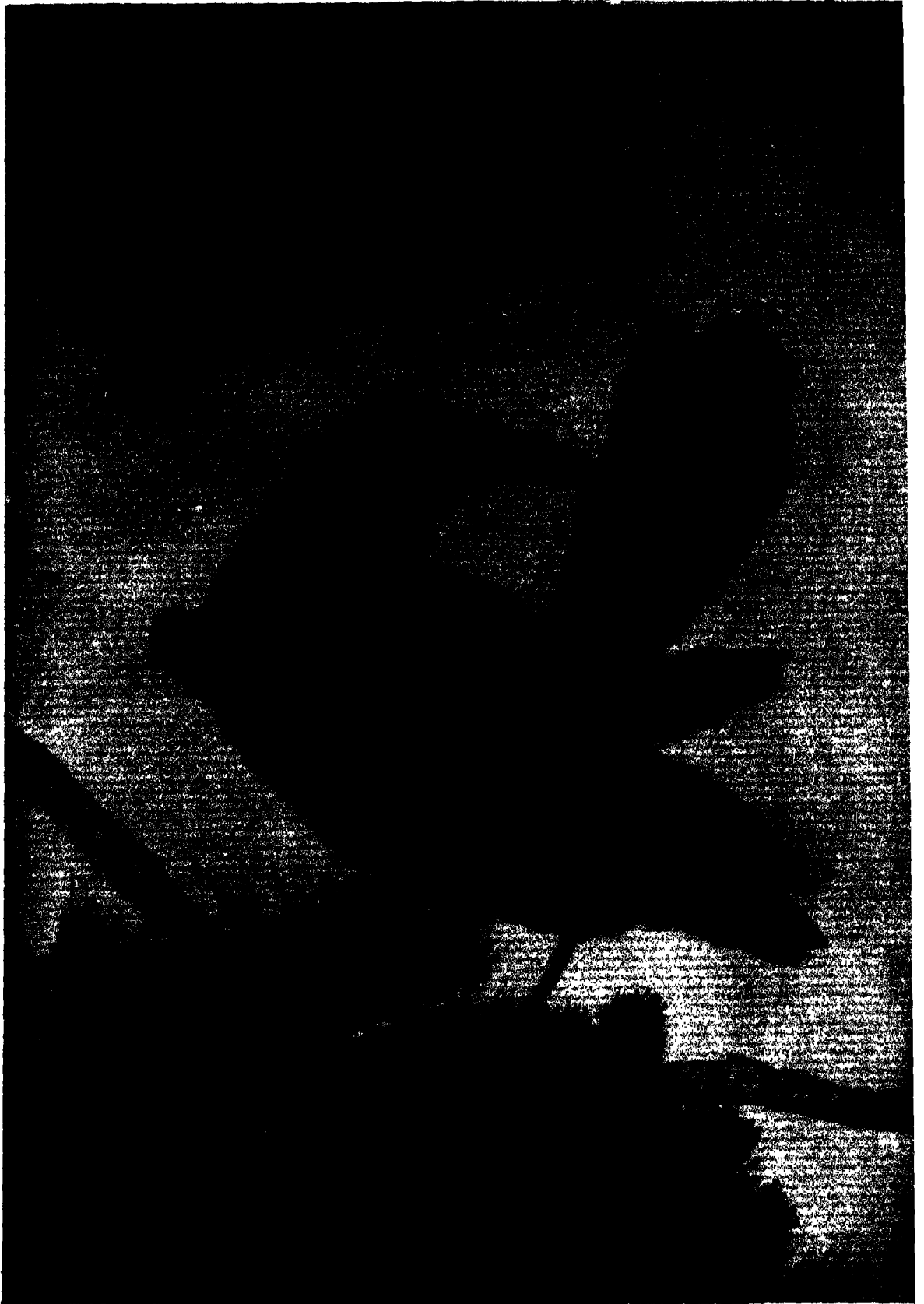
सम्प्रदाय यदि बज्रयान से सम्बद्ध था तो निश्चय ही बड़ा शक्तिशाली था और उसका साहित्य बिलकुल खोया हुआ नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट ही यदि जैन-प्रबन्ध का विवरण ही हमारे सामने होता तो इस मत के विषय में बहुत भ्रान्त धारणा बनी रहती। ऐसे अनेक सम्प्रदाय हैं जो ग़लत ढंग से उपस्थापित हैं। कितनों ही का तो नाम भी नहीं बचा होगा।

कितने ही सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनका साहित्य तो उपलब्ध नहीं है पर परम्परा अभी बची हुई है। नाथ मार्ग के बारह पन्थों में से प्राय: सभी जीवित हैं, पर जहाँ तक लेखक को ज्ञात है, एक दो को छोड़कर बाक़ी का कोई साहित्य नहीं बचा है। इन सम्प्रदायों के साधुओं और गृहस्थों में अपने प्रतिष्ठाता के सम्बन्ध में कुछ कथाएँ बची हुई हैं। किसी-किसी के स्थापित मठ और मन्दिर वर्तमान हैं, उनमें कुछ विशेष ढंग के अनुष्ठान होते हैं। इन लोक-कथाओं और अनुष्ठानों के भीतर से इन सम्प्रदायों की विशेषता का कुछ पता चल जाता है। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो इन अनुष्ठानों और लोक-कथाओं पर से उन पूर्ववर्ती मतों का भी पता चल जाता है जो या तो इन परवर्ती मतों के विरोधी थे या इन्हीं में घुल-मिल गये हैं। आगे हम इस प्रकार के कई धर्म-मतों का उल्लेख करेंगे। इसलिए भारतीय धर्म-साधना का अध्ययन बहुत जटिल और उलझा हुआ कार्य है। इसे सुचारु रूप से करने के लिए केवल लिखित-साहित्य से काम नहीं चल सकता। लोक-कथा, मूर्ति और मन्दिर, साधुओं के विशेष-विशेष सम्प्रदाय, उनकी रीति-नीति, आचार-विचार, पूजा-अनुष्ठान आदि की जानकारी परम आवश्यक है। परन्तु इस दृष्टि से बहुत कम काम हुआ है। जो कुछ हुआ है वह भी विदेशी विद्वानों के परिश्रम का ही फल है। इसके लिए हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए। यह ठीक है कि उनका दृष्टिकोण दूसरा है, परन्तु जो कुछ भी उन्होंने किया है वह हमारे काम तो आता ही है।

गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) के द्वारा प्रवर्तित योगि-सम्प्रदाय नाना पंथों में विभक्त हो गया है। पन्थों के अलग होने का कोई-न-कोई भेदक कारण हुआ करता है। हमारे पास जो साहित्य है, उससे यह समझना बड़ा कठिन है कि किन कारणों से या साधना-विषयक या तत्त्ववाद-विषयक किन मतभेदों के कारण ये सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। गोरक्ष-सम्प्रदाय की जो व्यवस्था इस समय उपलभ्य है उससे ऐसा मालूम होता है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय उनके अव्यवहित पश्चात् उत्पन्न हो गये। भर्तृहरि उनके शिष्य बताये जाते हैं; कानिफा उनके समकालीन ही थे; पूरन भगत या चौरंगी नाथ भी उनके गुरुभाई और समकालीन बताये जाते हैं। गोपीचन्द उनके समसामयिक सिद्ध कानिफा के शिष्य थे। इन सबके नाम से सम्प्रदाय चले हैं। जालन्धरनाथ उनके गुरु के सतीर्थ थे; उनका प्रवर्तित सम्प्रदाय भी गोरक्षनाथ के सम्प्रदाय के अन्तर्गत माना जाता है। इस प्रकार गोरखनाथ के समसामयिक, पूर्ववर्ती और ईषत् परवर्ती जितने सिद्ध हुए हैं, सभी के नाम के सम्प्रदाय गोरखपन्थ में शामिल हैं।

वर्तमान नाथपन्थ में जितने सम्प्रदाय हैं वे मुख्य रूप से उन बारह पन्थों से सम्बद्ध हैं जिनमें आधे शिव के द्वारा प्रवर्तित हैं और आधे गोरक्षनाथ द्वारा। इनके अतिरिक्त और भी बारह या अठारह सम्प्रदाय थे जिन्हें गोरक्षनाथ ने नष्ट कर दिया। उन नष्ट किये जानेवालों में कुछ शिवजी के सम्प्रदाय थे और कुछ स्वयं गोरक्षनाथजी के। अर्थात् गोरक्षनाथ जी की जीविता-वस्था में ही ऐसे बहुत-से सम्प्रदाय थे जो अपने को उनका अनुवर्ती मानते थे और उन अनधिकारी सम्प्रदायों का दावा इतना उलझ गया कि स्वयं गोरक्षनाथ ने ही उनमें से बारह या अठारह को तोड़ दिया। क्या यह सम्भव है कि कोई महान् गुरु अपने जीवितकाल में ही अपने मार्ग को विभिन्न उपशाखाओं में विभक्त देखे और भेदों को दूर न करके पन्थों की विभिन्नता को स्वीकार कर ले? इसका रहस्य क्या है?

गोरक्षनाथ का जिस काल में आविर्भाव हुआ था वह समय भारतीय साधना में बड़े उथल-पुथल का है। एक ओर मुसलमान लोग भारत में प्रवेश कर रहे थे और दूसरी ओर बौद्ध-साधना क्रमशः मन्त्र-तन्त्र, टोने-टोटके की ओर अग्रसर हो रही थी। दसवीं शती में यद्यपि ब्राह्मणधर्म सम्पूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था तथापि बौद्धों, शैवों और शाक्तों का एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेद के प्राधान्य को नहीं मानता था यद्यपि उनके परवर्ती अनु-यायियों ने बहुत कोशिश की कि उनके मार्ग को श्रुति-सम्मत मान लिया जाय परन्तु यह सत्य है कि ऐसे अनेक शैव और शाक्त सम्प्रदाय उन दिनों वर्तमान थे जो वेदाचार को अत्यन्त निम्न कोटि का आचार मानते थे और ब्राह्मणप्राधान्यको बिलकुल नहीं स्वीकार करते थे।

हमारे आलोच्य काल के कुछ पूर्व शैवों का पाशुपत मत काफ़ी प्रबल था। हुएनसांग ने अपने यात्रा-विवरण में इसका उल्लेख बारह बार किया है। वैशेषिक दर्शन के टीकाकार प्रशस्तपाद को भी पाशुपत बताया जाता है। बाणभट्ट ने अपने

ग्रन्थों में इस मत की चर्चा की है और शंकराचार्य ने अपने शारीरक भाष्य (२.२.३७) में इसका खंडन किया है। लिंग पुराण में पाशुपत को तीन प्रकार का बताया गया है—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। वैदिक लोग रुद्राक्ष और भस्म धारण करते थे; तान्त्रिक लोग तप्त लिंग का और शूल आदि का चिह्न धारण करते थे, और मिश्र-पाशुपात समान भाव से पंचदेवों की उपासना किया करते थे। वामनपुराण में शैव-पाशुपत, कालामुख और कपाली की चर्चा है। अनुश्रुति के अनुसार २८ शैव आगम और १७० उपागम थे। इन आगमों को निगम (अर्थात् वेद) के समान और उनसे भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण स्वरूप स्वीकार किया गया है। काश्मीर का शैव दर्शन इन आगमों से प्रभावित है। वैसे तन्त्रशास्त्र में निगम का अर्थ 'वेद' माना भी नहीं जाता। 'आगम' शाक्त तन्त्रों में उस शास्त्र को कहते हैं जिसे शिव ने देवी को सुनाया था। इस प्रकार ये सम्प्रदाय स्वयं भी वेदों को बहुत महत्त्व नहीं देते थे और वैदिक मार्ग के बड़े-बड़े आचार्य भी उन्हें अवैदिक ही समझते थे।

जिस प्रकार एक ओर वेद को अन्तिम और अविसंवादी प्रमाण मानने का आग्रह था, उसी प्रकार उसका विरोध भी हुआ। पहले तो हमें इस विरोध का पता नहीं लगता पर धीरे-धीरे तत्त्वों में उसका स्वर केवल दृढ़ ही नहीं कठोर भी हो जाता है। क्या इसमें आर्यपूर्व जातियों की देन है? क्या यह उन जातियों के मनीषियों की प्रतिक्रिया थी जो अब तक अपनी बात आर्यभाषा के माध्यम से नहीं कह सके थे? तान्त्रिक और योगी तो उल्टी बात कहने के अभ्यस्त हो गये थे। विरोधाभास यह कि ऐसा कहने से उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती ही गयी, घटी बिल्कुल नहीं। और ये लोग अधिकाधिक उत्साह से डंके की चोट सीधी बात को भी उल्टी करके, जटिल करके, धक्कामार बना के कहते गये: 'तुम कहते हो सूर्य प्रकाश और जीवन देता है? बिल्कुल ग़लत। वही तो मृत्यु का कारण है! चन्द्रमा से जो अमृत झरा करता है वह सूर्य ही चट कर जाता है। उसका मुँह बन्द कर देना ही योगी का परम कर्तव्य है।'[३] क्योंकि जो आकाश में तप रहा है वह वास्तव में सूर्य नहीं है, असल में सूर्य नाभि के ऊपर रहता है और चन्द्रमा तालु के नीचे (हठ० ३—७८)। 'तुम कहते हो गोमांस-भक्षण महापाप है? वारुणी पीना निषिद्ध है?—भोले हो तुम। यही तो कुलीन का लक्षण है, क्योंकि 'गो' जिह्वा का नाम है और उसे तालु में उलटकर ब्रह्मरन्ध्र की ओर ले जाना ही गोमांस-भक्षण है। तालु के नीचे जो चन्द्र है उससे जो सोमरस नामक अमृत झरा करता है, वही तो अमर-वारुणी है। इसका पाना तो बड़े पुण्य का फल है! (हठ ३—४६, ४८)' 'तुम कहते हो बाल-विधवा सम्मान और पूजा की वस्तु है? सारे समाज को उसके सम्मान की और रक्षा की जिम्मेदारी लेनी चाहिए?—बिलकुल उल्टी बात है। क्योंकि गंगा और यमुना की मध्यवर्ती पवित्र भूमि में वास करनेवाली एक तपस्विनी बाल-विधवा है, उसको बलात्कारपूर्वक ग्रहण करना ही तो विष्णु के परमपद को प्राप्त करने का सही रास्ता है! कारण स्पष्ट है। गंगा इडा है, यमुना पिंगला। इन दोनों की मध्यवर्तिनी नाड़ी सुषुम्णा में कुण्डलिनी नामक बाल-रण्डा को जबर्दस्ती ऊपर उठा ले जाना ही तो मनुष्य का परम लक्ष्य है।'[४] 'तुम कहते हो कि पंचम-वर्णी अवधूत बनकर मन्त्र-तन्त्र करने से सिद्धि मिलेगी?—बेतुकी बात है यह। अपनी घरनी को लेकर जब तक केलि नहीं करते तब तक बोधि-प्राप्ति की आशा बेकार है। इस तरुणी घरनी के बिना जप-होम सब व्यर्थ है, क्योंकि घरनी तो असल में महामुद्रा है। उसके बिना निर्वाण-पद कैसे मिल सकता है!'[५]

[३] यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यः तेन पिंडो जरायुतः॥—हठ०३—७६

[४] गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम्॥
इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरण्डा तु कुण्डली॥—हठ०३—१०१—२

[५] एक्क न किज्जइ मन्त न तन्त। णिय घरणी लेइ केलि करन्त॥
णिय घर घरणी जाव ण मज्जइ। ताव कि पंचवरण्ण विहरिज्जइ।
एष जप-होमे मंडल कम्मे। अनुदिन अच्छसि कोहिउ धम्मे।
तो पिणु तरुणि निरन्तर नेहे। बोहि कि लागइ राण वि देहे।
—कृष्णाचार्य का दोहा; बौद्ध० पृ० १३१–२ और इसकी संस्कृत टीका।

योगियों, सहजयानियों और तान्त्रिकों के ग्रन्थों से ऐसी उलट-बाँसियोंका संग्रह किया जाय तो एक विराट् पोथा तैयार हो सकता है। परन्तु हमें अधिक संग्रह करने की जरूरत नहीं। इस प्रकरण में जो प्रसंग उत्थापित किया जा रहा है वही हमारे कामके लिये पर्याप्त है।

सहजयानियों में इस प्रकार की उल्टी बानियों का नाम 'सन्ध्या-भाषा' प्रचलित था। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के मत से 'सन्ध्या-भाषा' से मतलब ऐसी भाषा से है जिसका कुछ अंश समझ में आवे और कुछ अस्पष्ट लगे, पर ज्ञान के दीपक से, जिसका सब स्पष्ट हो जाय। इस व्याख्या में 'सन्ध्या' शब्द का अर्थ 'साँझ' मान लिया गया है और यह भाषा अन्धकार और प्रकाश के बीच की संध्या की भाँति ही कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट बताई गई है। किन्तु ऐसे बहुत-से विद्वान् हैं जो उक्त भाषा का यह अर्थ स्वीकार नहीं करना चाहते। एक पण्डित ने अनुमान भिड़ाया है कि इस शब्द का अर्थ सन्धि देश की भाषा है। सन्धि देश भी, इस पंडित के अनुमान के अनुसार, वह प्रदेश है जहाँ बिहार की पूर्वी सीमा और बंगाल की पश्चिमी सीमा मिलती हैं। यह अनुमान स्पष्ट ही निराधार है, क्योंकि इसमें मान लिया गया है कि बंगाल और बिहार के आधुनिक विभाग सदा से इसी भाँति चले आ रहे हैं। महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य का मत है कि यह शब्द मूलतः 'सन्धा-भाषा' है, 'सन्ध्या-भाषा' नहीं। अर्थ अभिसन्धिसहित या अभिप्राययुक्त भाषा है। आप 'सन्धा' शब्द को संस्कृत 'सन्धाय' (—अभिप्रेत्य) का अपभ्रष्ट रूप मानते हैं। बौद्ध शास्त्र के किसी-किसी वचन ने सहजयान और वज्रयान में यह रूप धारण किया है। असल में, जैसा कि भट्टाचार्य महाशय ने सिद्ध कर दिया है, वेदों और उपनिषदों में से भी ऐसे उदाहरण खोज निकाले जा सकते हैं जिनमें सन्धा भाषा जैसी भाषा के प्रयोग मिल जाते हैं परन्तु बौद्ध धर्म की अन्तिम यात्रा के समय यह शब्द और यह शैली अत्यधिक प्रचलित हो गयी थी और साधारण जनता पर इसका प्रभाव भी बहुत अधिक था।

लेकिन अन्त तक यह विरोध कुछ कार्यकर नहीं हुआ। राजनीतिक और अर्थनीतिक कारणों ने मूल समस्या को धर दबोचा। ब्राह्मण मत प्रबल होता गया और इस्लाम के आने के बाद सारा देश जब दो प्रधान प्रतिस्पर्द्धी धार्मिक दलों के रूप में विभक्त हो गया तो किनारे पर पड़े हुए अनेक सम्प्रदायों को दोनों में से किसी एक को चुन लेना पड़ा। अधिकांश लोग ब्राह्मण और वेद-प्रधान हिन्दू समाज में शामिल होने का प्रयत्न करने लगे। कुछ सम्प्रदाय मुसलमान भी हो गये। दसवीं-ग्यारहवीं सदी के बाद क्रमशः वेदबाह्य सम्प्रदायों की यह प्रवृत्ति बढ़ती गयी कि अपने को वेदानुयायी सिद्ध किया जाय। शैवों ने भी ऐसा किया और शाक्तों ने भी। परन्तु कुछ मार्ग इतने वेद-विरोधी थे कि उनका सामंजस्य किसी प्रकार इन मतों से नहीं हो सका; वे धीरे-धीरे मुसलमान होते रहे। गोरक्षनाथ ने योग-मार्ग में ऐसे अनेक मतों का संघटन किया। हमने ऊपर देखा है कि गुरु, गुरुभाई और गुरु-सतीर्थ कहे जाने वाले लोगों का मत भी उनका सम्प्रदाय माना जाने लगा है। जालन्धरनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, और कृष्णपाद के प्राप्य ग्रन्थों से उद्धरण देकर सिद्ध किया जा सकता है कि ये लोग वेदों की परवा करने वाले न थे। इन सब के शिष्य और अनुयायी, भारतीय धर्म-साधना के इस उथल-पुथल के युग में गोरक्षनाथ के नेतृत्व में संघटित हुए। परन्तु जिनके आचरण और विचार इतने अधिक विभ्रष्ट थे वे किसी प्रकार के योग-मार्ग का अंग बन ही नहीं सकते थे, उन्हें उन्होंने स्वीकार नहीं किया। शिवजी के द्वारा प्रवर्तित जो सम्प्रदाय उनके द्वारा स्वीकृत हुए वे निश्चय ही बहुत पुराने थे। एक सरसरी निगाह से देखने पर भी स्पष्ट हो जायगा कि आज भी उन्हीं सम्प्रदायों में मुसलमान योगी अधिक हैं जो शिव द्वारा प्रवर्तित और बाद में गोरक्षनाथ द्वारा स्वीकृत थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि गोरक्षनाथ के पूर्व ऐसे बहुत से शैव, बौद्ध और शाक्त सम्प्रदाय थे जो वेदबाह्य होने के कारण न हिन्दू थे न मुसलमान। जब मुसलमानी धर्म प्रथम बार इस देश में परिचित हुआ तो नाना कारणों से दो प्रतिद्वन्द्वी धर्म-साधनामूलक दलों में यह देश विभक्त हो गया। जो शैव मार्ग और शाक्त मार्ग वेदानुयायी थे, वे बृहत्तर ब्राह्मण-प्रधान हिन्दू-समाज में मिल गये और निरन्तर अपने को कट्टर वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। गोरक्षनाथ ने उनको दो प्रधान दलों में पाया होगा—(१) एक तो वे जो योगमार्ग के अनुयायी थे परन्तु शैव या शाक्त नहीं थे, (२) दूसरे वे जो शिव या शक्ति के उपासक थे—शैवागमों के अनुयायी थे—परन्तु गोरक्ष-सम्मत योगमार्ग के उतने नजदीक नहीं थे। इनमें से जो लोग गोरक्ष-सम्मत मार्ग के नजदीक थे उन्हें उन्होंने ने योगमार्ग में स्वीकार कर लिया, बाक़ी को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के मार्गों से ऐसे बहुत-से सम्प्रदाय आ गये जो गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे परन्तु बाद में उन्हें गोरक्षनाथी माना जाने लगा। धीरे-धीरे जब परम्पराएँ लुप्त हो गयीं तो उन पुराने सम्प्रदायों

के मूल प्रवर्तकों को भी गोरक्षनाथ का शिष्य समझा जाने लगा। इस अनुमान को स्वीकार कर लेने पर वह व्यर्थ का वाद समूचा स्वयमेव परास्त हो जाता है जो गोरक्षनाथ के काल-निर्णय के प्रसंग में पंडितों ने रचा है। तथाकथित शिष्यों के काल के अनुसार वह कभी आठवीं शताब्दी के सिद्ध होते हैं तो कभी दसवीं के, कभी ग्यारहवीं के और कभी-कभी तो पहली दूसरी शताब्दी के भी !

ऊपर का मत केवल अनुमान पर ही आश्रित नहीं है। कभी-कभी एकाध प्रमाण परम्पराओं के भीतर से निकल भी आते हैं।

गोरक्षनाथ और शिव द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों की परम्परा स्वयमेव एक प्रमाण है; नहीं तो यह समझ में नहीं आता कि क्यों कोई महागुरु अपने जीवितकाल में ही अनेक सम्प्रदायों का संघटन करेगा। सम्प्रदाय मतभेद पर आधारित होते हैं और गुरु की अनुपस्थिति में ही मतभेद उपस्थित होते हैं। गुरु के जीवितकाल में होते भी हैं तो गुरु उन्हें दूर कर देते हैं। परन्तु प्रमाण और भी हैं।

योगि-सम्प्रदायाविष्कृति में लिखा है (पृ० ४१६-४२०) कि धवलगिरि से लगभग ८०-६० कोस की दूरी पर पूर्व दिशा में वर्तमान त्रिशूल गंगा के प्रभवस्थान पर्वत पर वाममार्गी लोगों का एक दल एकत्र होकर इस विषय पर विचार कर रहा था कि किस प्रकार हमारे दल का प्रभाव बढ़े। बहुत छान-बीन के बाद उन्होंने देखा कि आजकल श्री गोरक्षनाथ जी का यश चारों ओर फैल रहा है; यदि उनसे प्रार्थना की जाय कि वह हमें अपने मार्ग का अनुयायी स्वीकार कर लें तो हम लोगों का मत लोकमान्य हो जाय। इन्होंने इसी उद्देश्य से उन्हें बुलाया। सब कुछ सुन कर श्री गोरक्ष जी ने कहा—आप यथार्थ रीति से प्रचार कर दें कि अपनी प्रतिष्ठा चाहते हैं, अथवा प्रतिष्ठा की उपेक्षा कर, अपने अवलम्बित मार्ग की वृद्धि करना चाहते हैं ? यदि प्रतिष्ठा चाहते हैं तो आप अन्य सब झगड़ों को छोड़ कर केवल योग-क्रियाओं से ही सम्बन्ध जोड़ लें; इसके अतिरिक्त यदि अपने (पहले से ही गृहीत) मत की पुष्टि करना चाहते हैं तो हम यह नहीं कह सकते कि साधुओं का कार्य जहाँ गृहस्थ जनों को सन्मार्ग पर चढ़ा देना है वहाँ वे उन विचारों को कुत्सित पथ में प्रविष्ट करने के लिए कटिबद्ध हो जायँ। वाममार्गियों ने—जिन्हें लेखक ने यहाँ 'कपाली' कहा है—दूसरी बात को ही स्वीकार किया और इसलिए गुरु गोरक्षनाथ ने उनकी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी। यह पुराने मत को अपने मार्ग में स्वीकार न करने का प्रमाण है।

पुराने मार्ग को स्वीकार करने का उदाहरण भी पाया जा सकता है। प्रसिद्ध है कि गोरक्षनाथ जी जब गोरखबंसी (आधुनिक कलकत्ते के पास) आये तो वहाँ देवी काली से उनकी मुठभेड़ हो गयी थी। काली जी को ही हारना पड़ा। फलस्वरूप उनके समस्त शाक्त शिष्य गोरक्षनाथ के सम्प्रदाय में शामिल हो गये। तभी से गोरक्षमार्ग में काली-पूजा प्रचलित हुई। इन दिनों सारे भारत के गोरख-पन्थियों में काली-पूजा प्रचलित है। यह कथा योगि-सम्प्रदायाविष्कृति में दी हुई है (पृ०६१४-१६६)।

मुसलमानी आक्रमण तीर-फलक के समान उत्तर भारत में तेजी से घुस गया। यहाँ यह एक अप्रत्याशित अपरिचित बात थी। इस तीर-फलक के चारों ओर उन दिनों की बौद्ध और वेद-विरोधी अन्य साधनाएँ छितरा गयीं। नाथ और निरंजन मत इस तीरफलक के इर्द-गिर्द नये वातावरण के अनुकूल बनने लगे। कहीं उसने वैष्णव रूप ग्रहण किया, कहीं शैव रूप। अचानक दक्षिण के भक्तिमत का आभिर्भाव हुआ।

इस बात का निश्चित प्रमाण है कि ईसवी सन् की बारहवीं शताब्दी में बिहार और काशी में बौद्धधर्म खूब प्रभावशाली था। उसके हजारों अनुयायी थे, मठ थे, विश्वविद्यालय थे और विद्वान् भिक्षुओं का बहुत बड़ा दल था। सन् ११६३ ई० में कुतुबुद्दीन के सेनापति मुहम्मद बख्तियार ने नालन्दा और ओदन्तपुरी के बिहारों और पुस्तकालयों को नष्ट किया। कहते हैं कि जब विजेता सेनापति ने स्थानीय लोगों से पुछवाया कि इन पुस्तकों में क्या है, तो बतानेवाला कोई व्यक्ति वहाँ नहीं मिला। सम्भवतः पहले से ही विद्वान् भिक्षु भागकर अन्यत्र चले गये थे। कदाचित् इसी साल बनारस भी जीता गया और सारनाथ का बिहार और ग्रन्थागार नष्ट किये गये। यद्यपि सारनाथ का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त है तो भी ऐतिहासिक पंडितों का अनुमान है कि वहाँ के पुस्तकागार और मठ को भी अचानक ही जला दिया गया होगा।[1]

[1] सर चार्ल्स इलियट : हिंदुइज्म ऐंड बुद्धिज्म, ऐन हिस्टारिकल स्केच, जिल्द २, पृ० ११२-११३.

बौद्धों का धर्म प्रधान रूप से संघ में केन्द्रित था। इन संघों के छितरा जाने से गृहस्थ अनुयायियों का केन्द्रीय अनुशासन टूट गया और वे धीरे-धीरे अन्य मतों में मिल गये। फिर भी बौद्ध धर्म एक-दम लुप्त नहीं हो गया। बंगाल और उड़ीसा में उसका जीवित रूप अब भी पाया जा सका है;* और बिहार के कुछ हिस्सों में वह बहुत दिनों तक बना रहा, इसका प्रमाण हम अभी पाएंगे।

तिब्बती ऐतिहासिक लामा तारानाथ का कहना है कि मुस्लिम आक्रमण के कारण बौद्ध सन्त और विद्वज्जन चारों ओर छितरा गये। आज भी नाना स्थानों से बौद्ध पुस्तकों के मिलते रहने से अनुमान होता है कि ये थोड़ा-बहुत साहित्य-रचना में भी संलग्न थे। कृष्णदास कविराज नामक बंगाली वैष्णव सन्त ने सन् १५८२ ई० में प्रसिद्ध पुस्तक 'चैतन्यचरितामृत' लिखी। चैतन्य महाप्रभु की मृत्यु सन् १५३३ ई० में हुई थी। 'चैतन्यचरितामृत' के अनुसार चैतन्यदेव जब द्रविड़ देश में गये थे तो वहाँ आरकाट ज़िले के किसी स्थान पर एक बौद्ध विद्वान् से उनकी बातचीत हुई थी। यह शास्त्रचर्चा सन् १५१० ई० के आसपास हुई होगी। इस घटना से अनुमान होता है कि ईसवी सन् की सोलहवीं शती में बौद्ध पंडित दक्षिण में वर्तमान थे। तारानाथ ने लिखा है कि सन् १४५० ई० में चांगलराज नामक किसी राजा ने गया में बौद्ध मन्दिर बनाया था।[८] पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने एक हस्तलिखित पुस्तक की चर्चा की है जिसका लेखन-काल सन् १७११ ई० है (और जो सम्भवत: मूल रूप में सन् १६६६ ई० में लिखी गयी थी)। इसकी भाषा में 'भद्दी संस्कृत, भद्दी हिन्दी और भद्दी बिहारी भाषाओं की विचित्र खिचड़ी है।' इसमें बुद्ध के अवतार ग्रहण करने की और सत्ययुग प्रवर्तित होने की बात लिखी हुई है। इसका नाम 'बुद्धचरित' है। इन सब बातों से पता चलता है कि बौद्धधर्म किसी न किसी रूप में दीर्घ काल तक जीवित रहा और अब भी किसी न किसी रूप में कहीं-कहीं जी रहा है।

सन् १३२४ ई० में तिरहुत के राजा को मुस्लिम आक्रमण के कारण भागना पड़ा। वह अपने साथ अनेक ब्राह्मण पंडितों को लेता गया। यद्यपि इसका राज्य दीर्घ काल तक स्थायी नहीं रह सका पर उसके पश्चात् एक दूसरे हिन्दू राजा जयस्थिति ने पंडितों की सहायता से समाज का स्तर-विभाजन कर दिया। उसने बौद्ध समाज को भी हिन्दुओं की भाँति नाना जातियों में विभक्त कर दिया। उसने प्रत्येक जाति का पेशा और उसकी सामाजिक मर्यादा भी तय कर दी। नेपाल में बौद्ध धर्म बहुत प्राचीन काल से पहुँच गया था। अशोक-काल से ही वहाँ इस धर्म के अस्तित्व का प्रमाण पाया जाता है। सातवीं शताब्दी के एक शिलालेख में वहाँ सात शैव, छ: बौद्ध तथा चार वैष्णव तीर्थों का उल्लेख है। सो, हिन्दू राजा और समाज-व्यवस्थापकों ने नये सिरे से मैदान के साथ नेपाल का सम्बन्ध बहुत दृढ़ किया। नेपाल-स्थित बौद्ध धर्म मैदान के ब्राह्मण धर्म द्वारा प्रभावित भी होता रहा और प्रभावित भी करता रहा। आठवीं-नवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म बड़े वेग से तान्त्रिक साधना और काया योग की ओर बढ़ने लगा। बाद में शैव योगियों का एक सम्प्रदाय नाथपन्थ बहुत प्रबल हुआ, उसमें तान्त्रिक बौद्ध धर्म की अनेक साधनाएँ भी अन्तर्भुक्त थीं। इस मत ने मैदान में बड़ा प्रभाव विस्तार किया। इन योगियों से कबीरदास का सीधा सम्बन्ध था,[९] फिर भी बीजक में नाना स्थानों पर बौद्धों की चर्चा आ ही जाती है। इस बौद्ध धर्म का स्वरूप केवल अनुमान का विषय है। आगे हम उसकी चर्चा करने जा रहे हैं।

* (क) सर्वप्रथम महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने सन् १८९५ ई० के 'जर्नल ऑफ़ द एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल' में एक लेख लिखकर इस सम्बन्ध में विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। बाद में सन् १९१७ ई० में 'डिस्कवरी ऑफ़ लिविंग बुद्धिज्म इन बंगाल' नाम से एक पुस्तक भी प्रकाशित कराई। तब से अंग्रेजी और बँगला में इस विषय की बहुत चर्चा हुई है।

(ख) श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने सन् १९११ ई० में मयूरभंज आर्क्योलॉजिकल सर्वे की रिपोर्ट में 'माडर्न बुद्धिज्म ऐंड इट्स फ़ालोअर्स' नाम से एक विस्तीर्ण अध्याय लिखा जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में उन्होंने उड़ीसा में जीवित आधुनिक बौद्धधर्म की ओर पहले-पहल पंडितों का ध्यान आकृष्ट किया।

(ग) बिहार में चौदहवीं और पन्द्रहवीं शती में बौद्ध धर्म जीवित था और बाद में चलकर वह कबीरपन्थ में मिल गया, इस बात का प्रमाण इस अध्ययन से मिलेगा। अभी तक इस विषय पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

[८] एलियट, पृ० ११३—११४.

[९] देखिए लेखक का ग्रन्थ, 'कबीर'

सोलहवीं शती में उड़ीसा में छः बड़े भक्त वैष्णव कवि हुए हैं। इनमें से पाँच अर्थात् (१) अच्युतानन्द दास, (२) बलराम दास, (३) जगन्नाथ दास, (४) अनन्त दास और (५) यशोवन्त दास समसामयिक थे। इनका आविर्भाव उड़ीसा के प्रतापरुद्र नामक राजा के राज्य-काल में हुआ था। छठे चैतन्यदास इनके थोड़े परवर्ती हैं। इनका आविर्भाव प्रतापरुद्र के राज्य-काल के अन्तिम हिस्से में हुआ था। श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने दिखाया है कि ये वैष्णव कवि वस्तुतः बुद्ध-भक्त थे।[1] अपने को राजकीय भय से बचाने के लिए ही ये बुद्ध को भगवान् विष्णु का अवतार कहकर पूजा करते थे। श्रीकृष्ण को इन्होंने शून्य-रूप और निरंजन-रूप कहकर याद किया है। बलराम दास ने विराट् गीता में श्रीकृष्ण को बार-बार शून्य-रूप कहा है और यह भी बताया है कि वे शून्य में स्थित हैं :

तोहर रूप रेख नाहीं।
शून्य पुरुष शून्य देही।
वोइले शून्य तोर देही।
आवर नाम थिव काहीं।

और

तोर शून्य रूप शून्य देह।
कि ना दैत्यारि नाम व्यूह।

अपनी 'गणेशविभूति टीका' नामक पुस्तक में बलराम दास ने शून्य रूप में स्थित ज्योतिःस्वरूप भगवान् निरंजन का वर्णन इस प्रकार किया है :

अनाकार रूपं शून्यं शून्यं मध्ये निरंजनः
निराकार मध्ये ज्योतिः स ज्योतिर्भगवान् स्वयम्।

इस शून्य रूप निरंजन देवता के चक्कर से भक्तों को मुक्त करने के लिये कबीरदास को कितनी बार अवतार ग्रहण करना पड़ा है। कबीरपन्थी पुस्तकों में इस निरंजन के प्रताप का बड़ा भयंकर वर्णन है। इसी का नाम शून्य-रूप, काल, और धर्मराय बताया गया है।

अपने विष्णुगर्भ नामक ग्रन्थ में चैतन्यदास ने छः विष्णुओं की चर्चा की है। सनक ने शौनक से प्रश्न किया था कि 'हे शौनक, एक विष्णु को तो सारा संसार जानता है, पर पाँच और विष्णु किस प्रकार हुए ?' शौनक ने बताया कि महा-विष्णु का घर ही शून्य में है और वह स्वयं शून्य-स्वरूप है—

शून्य हिंटि ताहार अटइ निज घर
शून्य रे थाइ से शून्ये करइ विहार

यहाँ यह लक्ष्य करने की बात है कि कबीरपन्थी पुस्तकों में भी निरंजन को पाने के लिए 'शून्य' का ध्यान आवश्यक बताया गया है। महादेव दास नामक उड़िया वैष्णव कवि ने धर्मगीता में बताया है कि किस प्रकार महाशून्य ने सृष्टि करने की इच्छा से निरंजन, निर्गुण, गुण और स्थूल रूप में अपने पुत्रों को पैदा किया था पर ये सभी सृष्टि करने में असमर्थ रहे। अन्त में उस महाशून्य महाप्रभु ने अपने को 'धर्म' रूप में आविर्भूत किया। इसी 'धर्म' ने माया की सहायता से महा-विष्णु और महेश्वर नामक पुत्रों को उत्पन्न किया और सृष्टि-रचना की। यह कथा कबीरपन्थी साहित्य की कथाओं से प्रायः हू-ब-हू मिल जाती है। बंगाल के रमाई पंडित ने अपने शून्य-पुराण में (जिसकी चर्चा आगे की जा रही है) कुछ इसी प्रकार की सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन किया है।

सन् १५२९ ई० में उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र ने बौद्धों का दमन किया था। इससे इतना तो स्पष्ट है कि वहाँ उन दिनों बहुसंख्यक बौद्ध वर्तमान थे। तारानाथ ने लिखा है कि उड़ीसा का अन्तिम राजा मुकुन्द देव, जिसे मुसलमानों ने राज-च्युत किया था, बौद्ध था और उसने अनेक बौद्ध मन्दिर और मठ स्थापित किये थे।

ऐसा जान पड़ता है कि उड़ीसा के उत्तरी भाग तथा छोटा नागपुर के जंगली इलाक़ों को घेरकर वीरभूम से रीवाँ तक फैले हुए भूभाग में अनेक स्थलों पर धर्म देवता या निरंजन की पूजा प्रचलित थी। अनुमान किया गया है कि यह धर्म सम्प्रदाय

[1] मॉडर्न बुद्धिज्म ऐंड इट्स फॉलोअर्स, आरक्योलॉजिकल सर्वे ऑफ़ मयूरभंज, पृ० १३७ और आगे।

बौद्धधर्म का प्रच्छन्न (या विस्मृत) रूप था। बिहार के मानभूम, बंगाल के बीरभूम और बाँकुड़ा आदि जिलों में एक प्रकार के 'धर्म'-सम्प्रदाय का पता हाल ही में लगा है। यह धर्म-मत अब भी जी रहा है।

धर्मपूजा-विधान में निरंजन का ध्यान इस प्रकार दिया हुआ है—

> ओं यस्यान्तं नादिमध्यं न च करचरणं नास्तिकायो निनादम्
> नाकारं नादिरूपं न च भयमरणं नास्ति जन्मैव यस्य।
> योगीन्द्रध्यानगम्यं सकलदलगतं सर्वसंकल्पहीनम्
> तत्रैकोऽपि निरञ्जनोऽमरवरः पातु मां शून्यमूर्तिः॥

रमाई पंडित के शून्यपुराण में धर्म को शून्य रूप, निराकार और निरंजन कहकर ध्यान किया गया है—

> शून्यरूपं निराकारं सहस्रविघ्नविनाशनम्।
> सर्वपरः परदेवः तस्मात्त्वं वरदो भव॥ निरंजनाय नमः॥

धर्माष्टक नामक एक निरंजन का स्तोत्र पाया गया है जिसकी संस्कृत तो बहुत भ्रष्ट है पर उससे निरंजन के स्वरूप पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है।"

इधर हाल ही में पता चला है कि 'धर्म' शब्द वस्तुतः आस्ट्रो-एशियाटिक श्रेणी की जातियों की भाषा के एक शब्द का संस्कृतीकृत रूप है। यह कूर्म या कछुए का वाचक है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने बताया है कि दुल या दुली शब्द, जो अशोक के शिलालेखों में भी मिलता है और उत्तर-कालीन संस्कृत भाषा में भी गृहीत हुआ है और जो कछुए का वाचक है, आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा का शब्द है। संथाल आदि जातियों की भाषा में यह नाना रूपों में प्रचलित है। इन भाषाओं में 'ओम' स्वार्थक प्रत्यय हुआ करता है और दुरोम, दुलोम, दरोम का भी अर्थ कछुआ होता है। इसी शब्द का संस्कृत रूप धर्म है जो संस्कृत के इसी अर्थ के साथ गड़बड़ा दिया गया है। इस प्रकार धर्म-पूजा, जिसमें कछुए का मुख्य स्थान सम्भवतः सन्थाल-मुंडा आदि जातियों के विश्वास का रूप है। कबीर पन्थ में अब भी कूर्म जी का सम्मान बना हुआ है, यद्यपि उनके दूसरे नाम 'धर्म' की इज़्ज़त बहुत घट गयी है। यहाँ यह कह रखना उचित है कि मुंडा लोगों में रमाई पंडित का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

"ओं न स्थानं न मानं न चरणारविंदं रेखं न रूपं न च धातुवर्णं।
द्रष्टा न दृष्टिः श्रुता न श्रुतिस्तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाय।
ओं श्वेतं न पीतं न रक्तं न रेतं न हेमस्वरूपं न च वर्णकर्णं
न चंद्रार्कवह्नि उदयं न अस्तं तस्मै नमस्ते निरंजनाय।
ओं न वृक्षं न मूलं न बीजं न चांकुरं शाखा न पत्रं न च स्कंधपल्लवं
न पुष्पं न गंधं न फलं न छाया तस्मै नमस्ते निरंजनाय।
ओं अधां न ऊर्ध्वं शिवो न शक्तो नारी न पुरुषो न च लिंगमूर्तिः।
हस्तं न पादं न रूपं न छाया तस्मै नमस्ते निरंजनाय।
ओं न पंचभूतं न सप्तसागरं न दिशा विदिशं न च मेरु मन्दिरं।
ब्रह्मा न इन्द्रं न च विष्णु रुद्रं तस्मै०
ओं ब्रह्मांडखंडं न च चंद्रदण्डं न कालबीजं न च गुरु शिष्यं।
न ग्रहं न तारा न च मेघजाला तस्मै०
ओं वेदो न शास्त्रं संध्या न स्तोत्रं मंत्रो न जाप्यं न च ध्यानकारणं।
होमं न दानं न च देवपूजा तस्मै०
ओं गंभीरधीरं निर्वाणशून्यं संसारसारं न च पाप-पुण्यं।
विकृति न विकर्णी न देवदेवं मम चित्त दीनं तस्मै नमस्ते।

धर्मपूजा-विधान, पृ० ७७-७८

फलक ३४
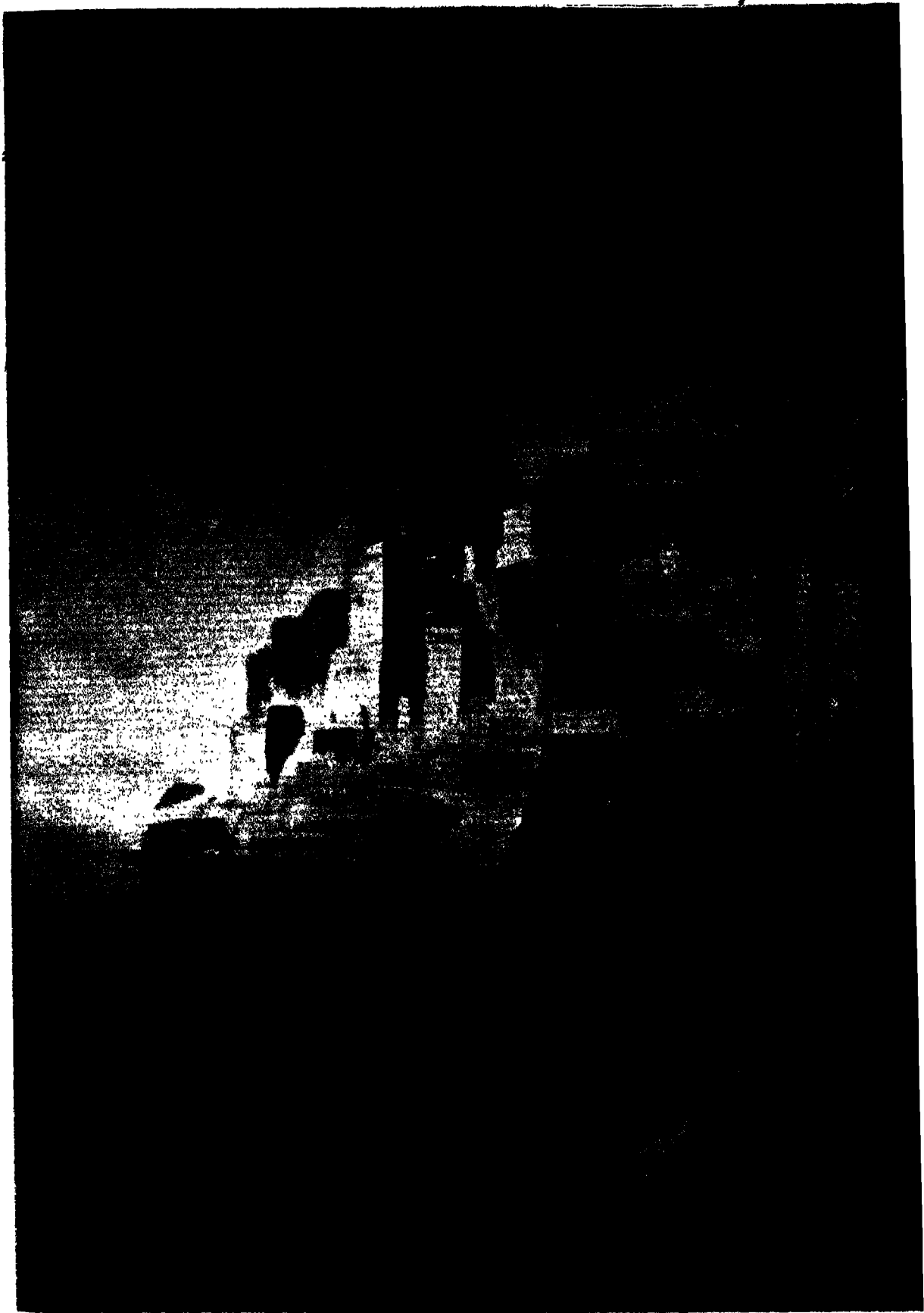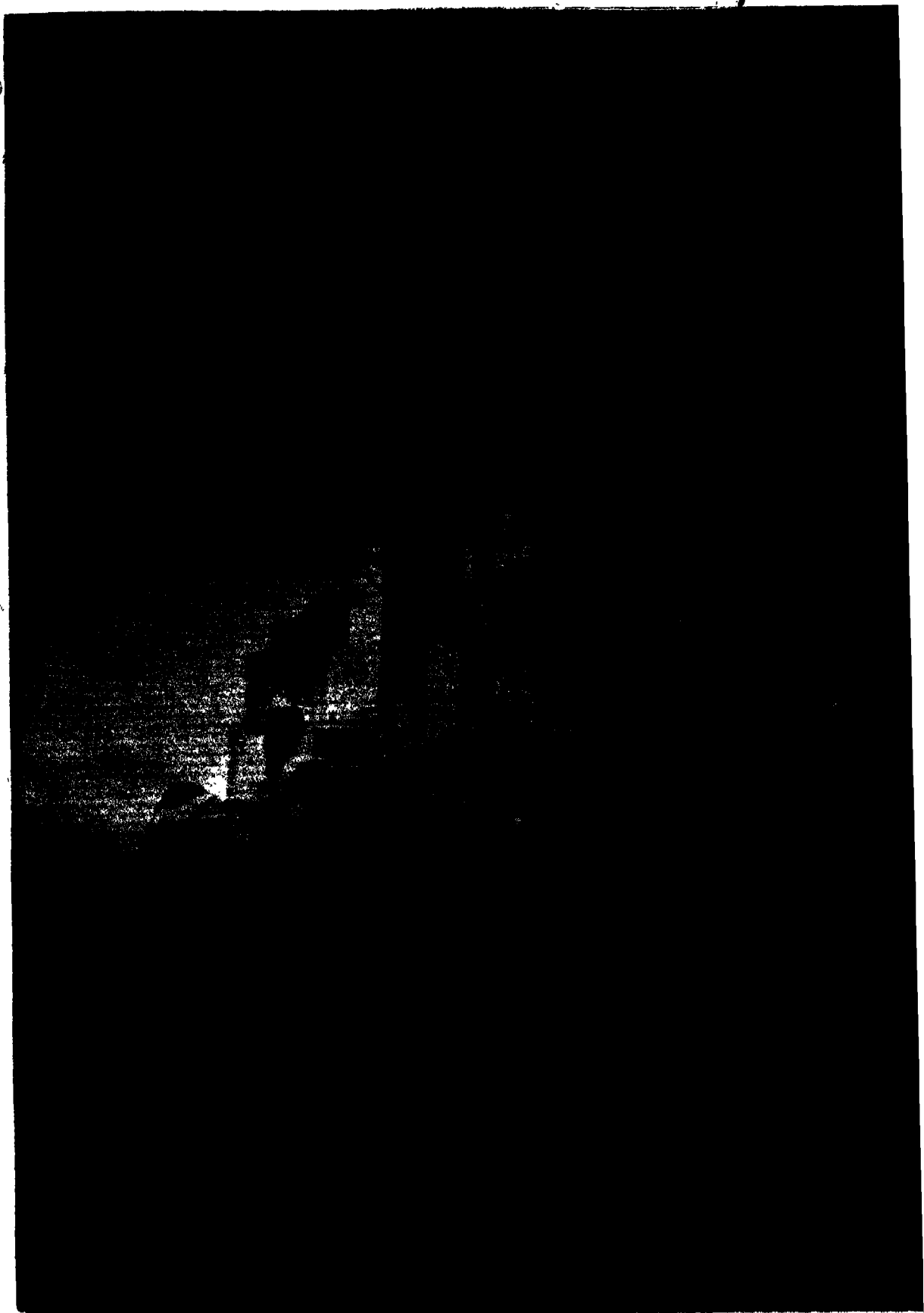
महादेव दास नामक उड़िया वैष्णव कवि की धर्म-गीता में धर्म की उत्पत्ति और सृष्टि-रचना के बारे में यह कथा है :

आरम्भ में जब सूर्य, चन्द्र, अष्ट दिक्पाल आदि कुछ भी नहीं थे उस समय महाप्रभु शून्य में आसन जमा कर बैठे हुए थे। जब महाप्रभु ने समस्त दुरितों का नाश कर दिया तो उनके शरीर से धर्म का मुख प्रकाशित हुआ। उससे उन्होंने जम्हाई ली जिससे पवन की उत्पत्ति हुई। महाप्रभु ने पवन को सृष्टि-रचना की आज्ञा दी पर पवन को डर लगा कि यदि मैं सृष्टि करूँगा तो उसके मोह में पड़ जाऊँगा, इसलिए उसने सृष्टि करने का संकल्प छोड़ दिया और योग-तप में निमग्न हो रहा। फिर महाप्रभु ने अपने युग नामक दूसरे पुत्र को सृष्टि करने की आज्ञा दी। उसे भी संसार-चक्र में मोह-ग्रस्त होकर फँस जाने का भय हुआ और इसलिए उसने भी सृष्टि नहीं की। फिर तो महाप्रभु ने निरंजन नामक तीसरे पुत्र को उत्पन्न किया। वह भी उसी भय से लौट आया। फिर महाप्रभु ने निर्गुण नामक पुत्र को उत्पन्न किया जिसने गुण नामक पुत्र को उत्पन्न कर सृष्टि करने की आज्ञा दी। गुण ने स्थूल को उत्पन्न करके वही आज्ञा दी। उसने धर्म नामक पुत्र उत्पन्न करके उससे कहा कि तुम सृष्टि-रचना का आरम्भ करके तुरत लौट आना, नहीं तो मोह में फँस जाओगे। वह बेचारा घबराया कि यह कैसे हो सकता है कि मैं मोह की रचना करूँ और उसी मोह से बचा भी रहूँ। उसके माथे से पसीना निकल आया। उसी पसीने से माया नामक एक स्त्री उत्पन्न हुई जिसे देख कर उसके चित्त में विक्षोभ हुआ और उसका शुक्र स्खलित होकर तीन हिस्सों में बँट गया जिससे ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उत्पत्ति हुई। इन तीन पुत्रों को सृष्टि करने का आदेश देकर जब धर्म जाने को तैयार हुआ तो वह माया भी उसके साथ जाने को तैयार हुई पर धर्म ने उसे पुत्रों के साथ ही रहने का आदेश दिया। इस प्रकार इस कथा के अनुसार महाप्रभु-पवन-युग-निरंजन-निर्गुण-गुण-स्थूल-धर्म-माया-त्रिदेव यह सृष्टिक्रम है।

यहाँ बंगाल और उड़ीसा में प्राप्त दो कथाएँ दी गयी हैं। इस प्रकार की और भी कथाएँ दी जा सकती हैं परन्तु उन्हें बढ़ाना बेकार है। आगे हम देखेंगे कि कबीर-पन्थ को जिन क्षेत्रों में काम करना पड़ा था, उन क्षेत्रों में इस कथा का रूप इससे मिलता-जुलता था। कबीर-पन्थी पुस्तकों में भी कई छोटी-मोटी तफ़सीलों में अन्तर है। कारण यह है कि स्थानभेद से कबीर मत के प्रचारकों को कथाएँ कुछ भिन्न रूपों में प्राप्त हुई थीं। उन्होंने उन्हें बड़ी चतुराई से अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए व्यवहार किया और समूचा धर्ममत उनके प्रभाव में आ गया।

इस प्रसंग में लक्ष्य करने की बात यह है कि जिस प्रकार उड़ीसा में बौद्धधर्म वैष्णव धर्म के रूप में आविर्भूत होकर भी ब्राह्मणों का कोपभाजन बना था उसी प्रकार उन क्षेत्रों में भी हुआ था जो बीजक के प्रचार-क्षेत्र में आते थे। 'विप्रमतीसी' में ब्राह्मणों के वैष्णव-विद्वेष का उल्लेख है :

हरि भक्तन के छूत लगायी।

....

विष्णुभक्त देखे दुख पाये।

'कबीरबानी' और 'अनुरागसागर' में कबीरदास के मुंह से कहलवाया गया है कि काल (निरंजन) कबीर के नाम पर बारह पन्थ चलाएगा जो लोगों को कबीर की वास्तविक शिक्षाओं से वंचित रख कर उन्हें भ्रम के फन्दे में डाले रखेगा। कबीरबानी के अनुसार[१३] इन बारह मतों में से तीसरे का नाम 'मूल-निरंजन' मत है। हमें किसी अन्य मूल से यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि यह 'मूल-निरंजन' मत क्या था। कबीरबानी में केवल इसका नाम भर दिया गया है। परन्तु अनुरागसागर में इस पन्थ का कुछ विस्तृत वर्णन दिया गया है। यह वर्णन भी अस्पष्ट ही है। इससे इतना ही पता चलता है कि काल का 'मनभंग' नामक दूत 'मूलकथा' को लेकर पन्थ चलायेगा और अपने पन्थ का नाम मूल पन्थ कहेगा। वह जीव का 'लूदी' नाम समझायेगा और इसी नाम को 'पारस' कह कर प्रचार करेगा। झंग शब्द का सुमिरन मुंह से कहेगा और समस्त जीवों को एक साथ पकड़ कर रखेगा।[१४] ऐसा जान पड़ता है कि कबीर-पन्थ की प्रतिष्ठा के बाद

[१३] कबीरबानी, पृ० ४६–४७

[१४] चौथा पन्थ सुनो धर्मदासा
मनभङ्ग दूत करै परकासा ॥

भी मूल निरंजन सम्प्रदाय ने एक बार सिर उठाया था और उस मूलकथा को आश्रय करके अपनी प्रतिष्ठा क़ायम करनी चाही थी जिसे कबीर-पन्थी साहित्य में कबीर-महिमा के प्रचार के लिए उपयोग में लाया गया है। परन्तु कबीर-पन्थी पुस्तकों से मालूम होता है कि इस मूलकथा को आश्रय करके अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने का प्रयास करने वाला यह मूल निरंजन पन्थ अपने को कबीर मतानुयायी ही मानता था। जो हो, कबीर-साहित्य से इस विस्मृत, किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, मत का यत्किंचित् परिचय मिलता अवश्य है।

कबीरपन्थ की सृष्टि-प्रक्रिया-विषयक पौराणिक कथा का संक्षिप्त विवरण लेखक ने अन्यत्र दिया है।[13] उसका पुनरुल्लेख यहाँ विस्तार भय से छोड़ दिया जा रहा है। इससे हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

(१) कबीरपन्थ का एक ऐसा प्रतिद्वन्द्वी मार्ग था जिसके परम-देवता निरंजन थे। इस देवता के दूसरे नाम धर्मराज और काल थे।

(२) इस निरंजन का निवास-स्थान उत्तर में मानसरोवर में था।

(३) ब्रह्मा का चलाया हुआ ब्राह्मण मत इस निरंजन को समझ न सकने के कारण मिथ्यावादी और स्वार्थी हो गया। यह ब्राह्मण मत भी कबीरपन्थ का प्रतिद्वन्द्वी था।

(४) निरंजन को पाने के लिए शून्य का ध्यान आवश्यक था।[14]

(५) उड़ीसा के जगन्नाथ जी निरंजन के रूप हैं।[15]

(६) द्वितीय, चतुर्थ और पंचम निष्कर्ष से अनुमान होता है कि निरंजन बुद्ध का ही नाम था।

(७) निरंजन ने सारे संसार को भरमा रखा है—ऐसा प्रचार कबीरपन्थ को करना पड़ा था।

(८) 'अनुरागसागर', 'श्वासगुंजार' आदि ग्रन्थों से केवल दो प्रतिद्वन्द्वी मतों का पता चलता है—निरंजन द्वारा प्रवर्तित निरंजन मत, और ब्रह्मा द्वारा प्रवर्तित ब्राह्मण मत। तीसरा मत विष्णु द्वारा प्रवर्तित वैष्णव मत है। कबीरपन्थ के ग्रन्थ इस मत को कथंचित् अनुकूल पाते हैं।[16]

(९) 'श्वासगुंजार' आदि ग्रन्थों से प्राप्त यह कथा प्रायः उलझे हुए रूप में मिलती है जो इस बात का प्रमाण है कि यह किसी भूली हुई पुरानी परम्परा का भग्नावशेष है।

कथा मूल ले पन्थ चलावे
    मूल पन्थ कहि जग महि आवे ॥
लूबी नाम जीव समुझायी।
    यही नाम पारख ठहरायी ॥
झंग शब्द सुमिरन भाखे।
    सकल जीव थाका गहि राखे ॥ —अनुरागसागर, पृ० ९४–९५

[13] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'कबीर' पृ० ५२–७०

[14] धर्मगीता में महादेव दास ने कहा है कि जिस शून्य में महाप्रभु का वास है उसे ही वैकुंठ कहा जाता है:
    शून्य ओंअंक याहार शून्य भोगवासी।
    न शोभे वचल रूप रेख नाहि किछि।
    से आधार भुवने से प्रभुङ्कु आसन।
    से स्थान सबुङ्कु शुद्ध बैकुंठ भुवन। —माडर्न बुद्धिज्म, पृ० १९०

[15] तु० ततः कलौ संप्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषः।
    बुद्धनाम्नाऽञ्जनसुतः कीकटेषु भविष्यति। —भागवत १. ३. २४

[16] कबीर मंसूर, पृ० ६४

इस प्रकार यद्यपि रचनाकाल की दृष्टि से बहुत-सी रचनाएँ परवर्ती हो सकती हैं। फिर भी उनसे अनेक भूले हुए ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश पड़ सकता है। कबीरपन्थी साहित्य के अध्ययन के बिना जिस प्रकार धर्म और निरंजन मत का अध्ययन अधूरा रह जाता है उसी प्रकार बंगाल, उड़ीसा और पंजाब आदि प्रान्तों के निरंजन मत का अध्ययन किये बिना कबीर-साहित्य का अध्ययन भी अपूर्ण रह जाता है। भारतीय साधना-साहित्य में यह एक महत्त्वपूर्ण विरोधाभास है कि रचना-काल की दृष्टि से परवर्ती होने पर भी कभी-कभी पुस्तकें अत्यन्त पुरातन परम्परा का पता देती हैं। गोरक्ष सम्प्रदाय की अनुश्रुतियाँ, कबीरपन्थ के ग्रन्थ, धर्मपूजा-विधान साहित्य यद्यपि रचनाकाल की दृष्टि से बहुत अर्वाचीन हैं तथापि वे अनेक पुरानी परम्पराओं के अवशेष हैं। समूची भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिए इनकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। लोकभाषाओं का साहित्य हमें अनेक अधभूली, भूली और उलझी हुई परम्पराओं के समझने में अमूल्य सहायता पहुँचाता है। भारतीय संस्कृति के विद्यार्थी के लिए इनकी उपेक्षा हानिकर है।

जीवन-ज्योति

वामन चोरघडे

विश्राम जब घर पहुँचा तो उसे विठी पीठ किये बैठी दिखाई दी। वह जल्दी-जल्दी से हरी मिर्चें पीस रही थी। चेहरा पसीनें से तर था और चूल्हे के अंगारों की रोशनी पड़ने से पसीने की बूंदें सोने की तरह चमक रही थीं। बालों से बूंद-बूंद गिरने वाले स्वेद-बिन्दुओं में मोती की-सी झलक जान पड़ती थी।

विश्राम उसकी ओर देखता रह गया। उसके मन में उठे उदास विचार क्षण भर को विलीन हो गये। विठी के हर एक अंग-विक्षेप पर उसका ध्यान था। जल्दी-जल्दी से उसने ललाट पर का पसीना चोली की बाँह से पोंछा और नीचे फिसल आया पल्ला दाँत से पकड़कर ऊपर उठाया। उसके दोनों हाथ चटनी से सने थे।

विश्राम को अच्छा लगा परन्तु उसके पल्ले की ओर देख कर वह फिर उदास हो गया। दिन भर हड्डियाँ तोड़ते रहने पर भी विठी के पल्ले में सत्रह थिगरे और गाँठें थीं। उसने उसाँस भरी; और उसके साथ ही उसे जो सुख की संवेदना जान पड़ी थी वह बाहर चली गयी। हृदय की रिक्तता घर की चिन्ताओं से भर गयी—ग़रीबों का यह नित्य का अनुभव है।

"विठी, कल के लिए रोटी बाँध रखना।"

विठी ने पीछे मुड़कर देखा और जल्दी से मुँह से पसीना पोंछा। उसकी मुद्रा में जिज्ञासा स्पष्ट थी।

"कल बड़े सिदौसे मालिक की चिट्ठी लेकर चिचखेड जाना है।"

"चिचखेड ?"—एक ही शब्द कह कर वह चुप रह गयी। मानों राह में पड़ने वाले जंगल की कल्पना से वह डर गयी थी! "ज़रा दिन निकले बाद जाने से न होगा? रास्ता अच्छा नहीं है इसलिए. . . ."

"विठी, दूसरे की ताबेदारी में क्या अच्छा है और क्या बुरा? पेट की ख़ातिर—"

विठी का चेहरा उतरा हुआ देख कर विश्राम उसे ढाढ़स बँधाता हुआ बोला, "भगवान् मालिक है। तू इतना घबराती क्यों है? इस जनम में भगवान् के भरोसे रहो, अगले दिन सुख में बीतेंगे—"

विश्राम के वाक्यों में आर्द्रता थी—स्निग्धता थी—मगर आँसुओं की। ग़रीबों के लिए दयालु भगवान् ने स्वयं के समान दूसरी असमय पर बलवती शक्ति निर्माण की है—आशा!

"जाना है न?" सबेरे-सबेरे विठी ने विश्राम की बाँह पर हाथ रखा। उसने मुस्कराते हुए आँखें खोलीं और उठ बैठा।

"तुझे नींद नहीं आयी शायद?"—वह सहज भाव से बोला।

"नहीं, ऐसा तो नहीं—" विठी ने दबे स्वर में उत्तर दिया। झूठ कहने के कारण विश्राम की ओर न देख उसने मुँह फेर लिया।

"विठे, तुझ जैसा कुन्दन भगवान् ने इस फटी गूदड़ी में रखने को दिया। उसकी इच्छा—" ग़रीब सदा भगवान् के निकट ही रहता है!

रोटी की सिदौरी मिलते ही विश्राम अपनी लाठी लेकर चल पड़ा। श्रम से सूखी हुई देह, चिन्ताओं से निस्तेज आँखें और अधिक चलने से पड़े हुए घट्टों वाले तलुवे—उसके पास यही तीन चीज़ें थीं जो देखने वाले की आँखों में बस सकतीं। शुक्र तारे के प्रकाश में वह जल्दी-जल्दी क़दम फेंकता हुआ जा रहा था। थोड़ी देर में ही वह विठी से दूर निकल आया।

आकाश के पक्षियों ने मोतियों का चारा-दाना बीन लिया था। एक भी तारिका नहीं दिखाई दे रही थी। दिशाएँ कुछ खिली थीं, और उस गुलाबी प्रकाश में अखिल चराचर सृष्टि हँस रही थी। शैशव उलाँघती हुई किसी भोली-भाली बालिका के बाल जैसे हवा से उड़ रहे हों, वैसे परिंदे पंख फरफरा रहे थे। सुख-स्वप्न की भाँति मधुर था उनका कलरव।

उस जंगल में और भी एक दुनिया बसती थी। हर पेड़ के नीचे सूखी, मृत-पीली पत्तियों का ढेर, और ऊपर पेड़ पर मिली-सजीव पत्तियाँ। कुछ भी रेंग कर जाता तो पत्तियों की खड़खड़ होती।

पैरों के नीचे अनगिनती हरी-भूरी वनस्पतियाँ उगी थीं, और उन पर सफ़ेद-पीले फूल लगे थे। उस जंगल में किसी ने उन्हें सींचा नहीं था; किसी ने उनकी क़लम नहीं बाँधी थी; किसी कोमल हाथ का स्पर्श उन्हें नहीं मिला था। किसी के भी मन्द श्वास से वे हिले नहीं थे, फिर भी वे फूल कैसे जीते थे और क्यों जीते थे? अपनी शक्ति के अनुसार खिलना, रात को आकाश के अपने भाई-बन्दों की ओर देख कर दुख से गर्दन झुका लेना और उसी में चूर होकर दूसरे दिन मर जाना—क्या इतने ही के लिए वे जीते थे? नहीं! वे जीते हैं, खिलते हैं और मरते समय दो-चार बीज छोड़ जाते हैं। हवा आती है, उन बीजों को बिखरा देती है; वर्षा आती है, उन्हें जीवन देती है! भगवान् उन्हें छोटे से बड़ा करता है। अंकुर छोटे से बड़े होते हैं, फूल देते हैं, बीज देते हैं और मर जाते हैं। कोई क़द्र करे चाहे न करे! सच कहो, क्या है उनके जीने का हेतु? अपने जैसे ही फूल निर्माण करना? सफ़ेद, फीके, जिनमें गन्ध नहीं, रूप नहीं, दुर्भाग्य के बिना जिन्हें दूसरी दाय नहीं—

तथापि उन पर भी कोई स्वच्छन्द तितली कभी आकर बैठती है। क्षणभर के लिए ही क्यों न हो, उन का मन खींच लेने की शक्ति उन फूलों में होती है।

परन्तु इतनी कोमल सृष्टि में भी विश्राम को आराम नहीं था। एक ओर प्रकृति, दूसरी ओर विश्राम और उसका हृदय—इनमें बहुत अन्तर था। उसके पैर से कितने फूलों के पौधे दबे जा रहे थे। परन्तु पुनः पैर उठा लेते ही वे सिर उठाते—झूम उठते।

राह में एक झरना मिला, उसमें विश्राम ने अपने हाथ-पैर धोये; कुल्ला किया और पूर्व दिशा को नमस्कार किया, "भगवान्, तू ही है बावा—"

झरने को पार करते ही जंगल शुरू हुआ। बेढंगी कल्पनाओं को मन से निकाल कर डर को भगाने का उसका प्रयत्न बराबर चल रहा था; परन्तु वह उसमें सफल न हो सका। कहीं कोई आवाज़ होने पर वह चौंककर भी उधर नहीं देखता कि अधिक डर न लगे। अपने प्राणों का भय किसे नहीं होता?

एक बार सूखे पत्ते खड़खड़ाये। विश्राम ने उधर देखा भी नहीं। दूसरी बार फिर खड़खड़ाहट हुई। "होगी कोई लोमड़ी!" कहकर विश्राम ने अपने मन को समझा लिया। फिर खड़खड़। विश्राम कुछ ठिठका—खड़खड़ बन्द! विश्राम चलने लगा—सूखे पत्ते फिर खड़खड़ाने लगे। कौन रौंद रहा है सूखे पत्ते? विश्राम ने चारों ओर नज़र डाली—

वह डर के मारे चौंका। "सुनहला बाघ कहते हैं जिसे वही है!" उस बाघ की ओर देखते-देखते वह भय से बुदबुदाया। उसकी आँखें जैसे पथरा गयीं। भगवान् का नाम भी मुँह से नहीं निकल सका। 'विठी, विठी'—एक दो बार उसके मुँह से काँपती आवाज़ से पुकार निकली। उसके पास क्या साधन था? रक्षा का कोई उपाय न था—न शस्त्र, न शक्ति, न शिक्षा, न पैसा। क्योंकि इनमें से एक भी उसके पास होता तो उसे यहाँ आना ही क्यों पड़ता! "विठी, भगवान् तुझे सुखी रखें। भगवान् के मन में क्या है वही जाने—" वह बिलकुल गलित-धैर्य होकर नीचे बैठ ही जाने वाला था—

कि बाघ उसके सामने आया। विश्राम खड़ा था! बाघ उसकी ओर देख रहा था। विश्राम की भी दृष्टि निश्चल थी। उसने डर छोड़कर अपनी सब सुप्त शक्तियाँ एकत्र कीं और अपनी निडर स्थिर-दृष्टि बाघ पर जमायी।

बाघ ठिठका, उसने अपनी गर्दन नीचे झुकायी, फिर ऊपर देखा, फिर अपनी पलकें मूँद लीं। इतने बड़े जंगल का राजा! चार-पाँच विश्राम जैसों का खून पीकर पचाने की शक्ति जिसके शरीर में उफन रही थी! परन्तु उसकी आँख उठाकर ऊपर देखने की भी हिम्मत न हुई। वह पलकें झपक कर इधर-उधर नज़र डालता था, परन्तु खड़ा था एक ही जगह पर, स्थिर—अपने प्राणों का डर किसे नहीं होता?

विश्राम भी वैसा ही खड़ा था। उसने अपनी आँखों की पलकें ज़रा भी नहीं हिलायीं। अपनी सामर्थ्य की चेतना उसे हो आयी थी, और इस कारण वह और भी दृढ़ता से बाघ की आँखों से आँखें भिड़ा रहा था।

सामने की टेकरी पर से सूर्य की प्रतिभा फैली। विश्राम ने मन ही मन सूर्य को नमस्कार किया और बाघ पर वैसी ही निश्चल दृष्टि टिकाये एक-एक पैर पीछे की ओर डालना आरम्भ किया।

दोनों में अन्तर बढ़ने लगा। विश्राम की आँखों से बाण निकल रहे थे या पता नहीं क्या था, बाघ अपने ही स्थान पर खड़ा था।

एक झुरमुट के भरोसे, सतर्कतापूर्वक विश्राम पीछे हटने लगा। थोड़ी दूर तक हटने पर वह एक ऊँचे टीले पर चढ़ गया। सूर्य काफ़ी ऊपर आ गया था और धूप तेज़ हो रही थी।

बड़ी देर बाद बाघ जैसे अपनी तन्द्रा से जागा। ग़ुस्से से उसने बारह हाथ की छलांग ली और जंगल में जा छिपा।

विश्राम सुरक्षित बच निकला। न शस्त्र, न शक्ति। एक फटा अँगोछा, एक मैली धोती, एक छोटी-सी लठिया और नंगे पैर—सिर्फ़ आँखें थीं!

मालिक की चिट्ठी के सिवा उसके पास बचाने के लायक़ एक जूती भी नहीं थी।

पर यह सब रहने दो। मुझे यह बताओ कि वे फूल कैसे जीते हैं? और क्यों जीते हैं?

(मराठी से)

नदी के द्वीप

'अज्ञेय'

हम नदी के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर स्रोतस्विनी बह जाय।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार, सैकत-कूल,
सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं।
माँ है वह। है, इसीसे हम बने हैं।

२

किन्तु हम हैं द्वीप। हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के।
किन्तु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।
पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। ढहेंगे। सहेंगे। बह जायेंगे।
और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार बन सकते?
रेत बन कर हम सलिल को तनिक गँदला ही करेंगे।
अनुपयोगी ही बनायेंगे।

३

द्वीप हैं हम।
यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है।
हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी के क्रोड़ में।
वह बृहद् भूखंड से हम को मिलाती है।
और वह भूखंड अपना पितर है।

४

नदी, तुम बहती चलो।
भूखंड से जो दाय हम को मिला है, मिलता रहा है,
माँजती, संस्कार देती चलो।
यदि ऐसा कभी हो
तुम्हारे आह्लाद से या दूसरों के किसी स्वैराचार से—अतिचार से—
तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे,
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्तिनाशा घोर काल-प्रवाहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर
फिर छनेंगे हम। जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार।
मातः, उसे फिर संस्कार तुम देना।

एक लाल गुलाब

बुद्धदेव बसु

पहले कोट उतारा; फिर नेकटाई, कमीज, फिर मोजे, और अन्त में पतलून। आइने की ओर पीठ फेर कर खड़े हो उसने झटपट धोती पहन ली। उसे जल्दी के समय ही प्राय: देर लगा करती है; कभी काँछ तंग हो जाती है, कभी अंटी ढीली। कभी-कभी इसी में पाँच-सात मिनट लग जाते हैं, पसीना छूटने लगता है, रुलाई आ जाती है। पर आज उसे वैसा डर रहते हुए भी अचरज है कि कुछ नहीं हुआ; धोती ने जरा भी कष्ट नहीं दिया, जरा भी ढिलाई नहीं की, एक बार में ही ठीक-ठीक पहन ली। इसे अच्छा शकुन मानकर प्रताप ने खुश होकर 'बेसिन' के पास जाकर हाथ-मुँह धोया, बालों पर पानी के छींटे दिये, रूमाल से हाथ पोंछ कर अटैची से रेशमी कुरता निकाला, उसे गले में डाल परित्यक्त कोट की जेब से कंघी निकाल कर फिर आइने के सामने जा खड़ा हुआ। ठीक सीधा खड़ा हो सका सो नहीं, बच्चों की किताबों में मेंडक जैसे दिखाये जाते हैं वैसे ही टाँगों को आधा मोड़कर 'ड' अक्षर की-सी आकृति देकर खड़ा होना पड़ा; क्योंकि घोष साहब नाटे क़द के आदमी हैं और उनके बाथरूम में आईना उन्हीं के माप से लगा है। ऐसी अवस्था में अधिक नहीं खड़ा रहा जा सकता; फिर भी शरीर का कष्ट सह कर भी फीकी रोशनी में उस रद्दी आइने में भी ध्यानपूर्वक वह अपने चेहरे को देखता रहा, और मानों बार-बार अपने को आश्वासन देता हुआ कहता रहा, 'देखने में ऐसा क्या बुरा हूँ।' किन्तु फिर भी बात जैसे इतनी बार दुहराने पर भी मन में जमी नहीं। उसके चेहरे में कुछ नहीं बदला। आज उसकी 'माया भाभी' का जन्म दिन है, और उस उपलक्ष में उसे निमन्त्रण मिला है। इससे उसका चेहरा बदल थोड़े ही गया है? वही उभरा हुआ माथा, पिचके हुए गाल, भद्दी खुरदुरी नाक, और वही मरे-मरे-से बिरले-बिरले बाल। सत्ताइस बरस उम्र होते न होते उसके बाल जैसे किसी ने पीट कर नोच लिये हैं। लेकिन उसका अब क्या किया जाय? दवा-उवा तो बेकार की बातें हैं। जो जाने को है उसे किसी तरह रोक नहीं रखा जा सकता—अब तो चटपट पूरी गंजी चिकनी चाँद निकल आये वही अच्छा। अच्छी दीखेगी, भद्र पुरुषों जैसी—जिसे कहते हैं शालीन। कहीं दुकान में घुसने पर खड़े नहीं रहना पड़ेगा। शायद ट्राम में भी कालेज के छोकरे खड़े होने भर की जगह दे दिया करेंगे। एक आशा उठ कर उसकी देह में एक फुरहरी-सी छोड़ जाती है—चाँद निकल आने पर शायद वह कुछ सुन्दर ही दीखेगा।...किन्तु, गाल तो धँसे ही रहेंगे—और फुंसियाँ क्या जीवन भर जायेंगी? दोनों की क्या ज़रूरत थी भला? कोई एक बात होती या तो पिचके गाल, या फुंसियाँ, तो वह जैसे-तैसे चल निकलता, चाँद निकल आने पर बुजुर्ग बन सकता; किन्तु एक तो फुंसियाँ तिस पर पिचके गाल—उँहुक्!

लम्बी साँस छोड़ कर प्रताप सीधा हुआ। अब आइने में दीखा उसका पतली उभरी नसों वाला गला, तंग तीखे कन्धे, धँसी हुई छाती और लम्बे-लम्बे पैर। मुँह तो जैसा है सो है, कम से कम शरीर तो कुछ और पाँच जनों-सा होता तो क्या बुरा होता...'सावधान रहना, कलकत्ते में बहुत टी॰ बी॰ है'—कितनी बार कितने मुखों से उसने यह चेतावनी सुनी है। अभी-अभी उसे यक्ष्मा हो जायगा, इस बात के सिवाय कोई बात ही मानों किसी को नहीं सूझती उसे देख कर। उसे स्वयं डर लगने लगता है—रात-रात भर लेटे-लेटे इसी दुश्चिन्ता में वह अधमरा हो गया है, तीन-तीन बार उसने गाढ़ी कमाई के पैसे खर्च करके एक्सरे करवायी है; कहाँ, कुछ नहीं है उसे, मगर फिर भी दो इंजेक्शन, विटामिन, कैल्सियम, नियमित खाना-पीना, कम परिश्रम करना, सब करके देख लिया—कहाँ, कुछ नहीं! न वजन ही जरा भी बढ़ा, न चेहरा ही तनिक भी सुधरा—इसी चेहरे के साथ जीवन भर निबाहना होगा—इसी चेहरे के साथ!

आइने के आगे से हट कर खिड़की में रखी हुई अटैची में वह तहा कर भरने लगा कोट, कमीज, मोजा, टाई, पतलून। यद्यपि युद्ध के धक्के से पोशाक की कड़ाई अब नहीं रही, और बुश-शर्ट का ही रिवाज सर्वत्र फैल गया है, घोष साहब तक कोहनी से ऊँची कमीज पहनने लगे हैं, मगर प्रताप तब भी पुराना नियम मानता चलता है, टाई कभी नहीं भूलता, न मोजे, फीते
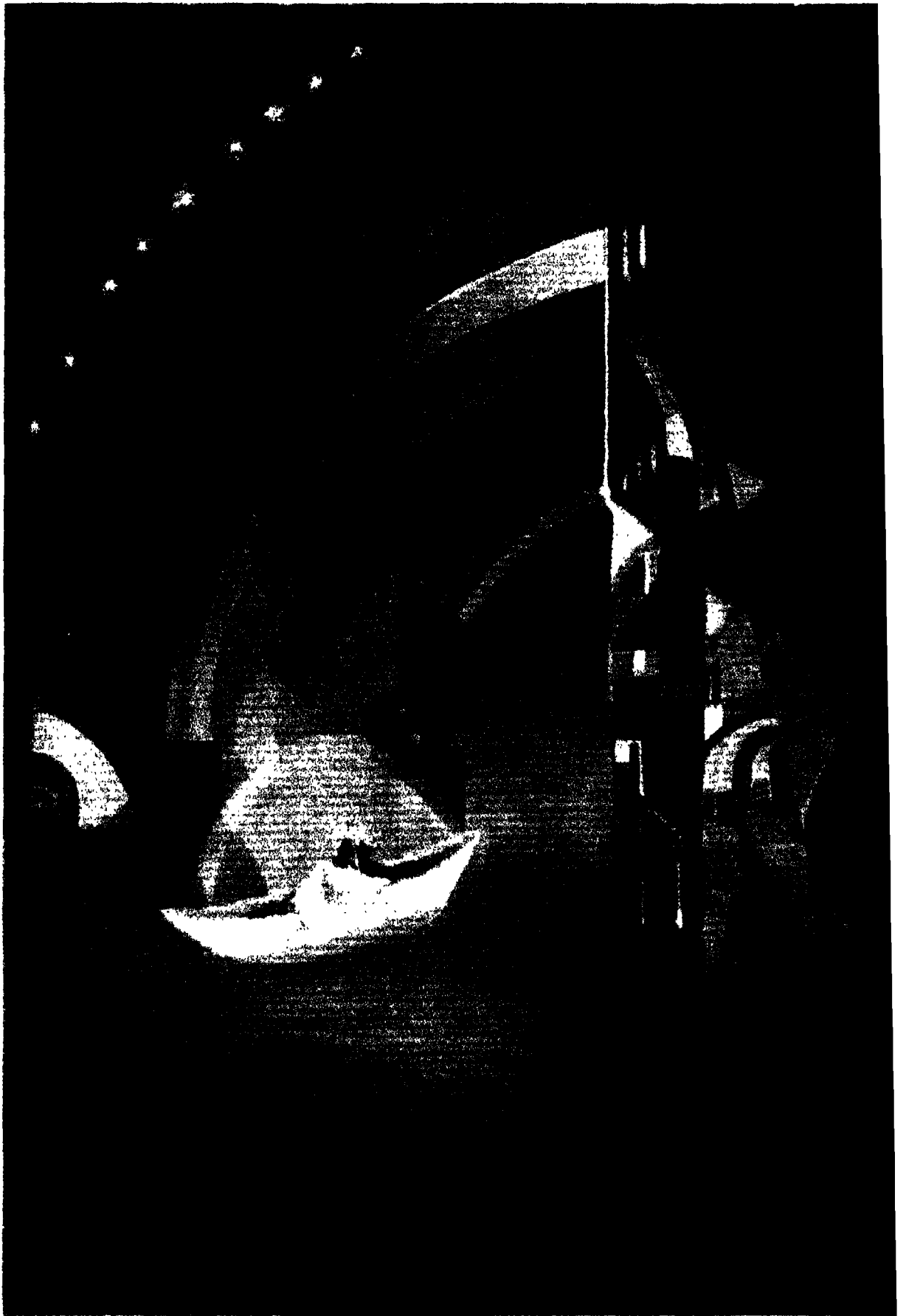
वाले जूते पहनता है—यद्यपि उनके दाम अब उसके बूते के नहीं रहे। योंही विलायती पोशाक शरीर के सब दोष उभार कर रख देती है, फिर वह क्या पागल नहीं है जो गला या पैर ढँक सकने पर भी न ढँके ! अपनी ही आँखों में जब वह ऐसा भद्दा दिखता है, तब दूसरों की आँखों को—नहीं, झूठमूठ अपने को भुलावा देने से क्या होगा, उसके लिए कोई आशा नहीं है, कोई आशा नहीं ! व्यर्थ ही वह इतना छटपटाया माया भाभी के जन्मदिन को लेकर; तिगुने पैसे देकर एक दिन में धोती धुलाई; रेशमी कुरते का एक कोना सूटकेस के ढक्कन से दबकर ज़रा-सा मुड़ गया था, इसलिए उसे फिर से इस्त्री कराया; मामा से—दफ़्तर के काम से आसनसोल जाने के बहाने—अटैची केस उधार लिया, उसके कमरे में और दो भाई भी सोते हैं इसलिए देर रात उनके सोने के बाद धोती, कुरता और अखबार में लिपटे हुए सैंडल तख़्त के नीचे छिपा कर रखे, सारा बोझा ढोकर दफ़्तर ले गया; क्योंकि लौटकर घर आने में देर होती। सब व्यर्थ ! कपड़े बदलना ही क्या कम मुसीबत थी ! घोष साहब उतर कर चले गये। उसके बाद थोड़ी देर इधर-उधर करके उनके बेयरा को अठन्नी देकर खुश करके कुछ मिनटों के लिए साहब का बाथरूम—अरे ! क्या बहुत देर तो नहीं हो गयी ? बेयरा कार्तिक फिर बड़बड़ायेगा तो नहीं ?

अंग्रेज़ी जूतों की जोड़ी, अटैची में नहीं अँटी; एक हाथ में अटैची दूसरे में काग़ज़ में लिपटे जूते लिये, सैंडिल-मंडित लम्बे क़दम फेंकता हुआ प्रताप धोती-कुरते की नयी धजा में बाहर निकला। कार्तिक साहब के कमरे के बाहर स्टूल पर बैठा था। उसको देख कर खड़ा तो नहीं हुआ, लेकिन साथ ही उसने मुद्रा से अपना आधिपत्य भी नहीं जताया। दोनों हाथों के दोनों बोझ उसके पास मेज़ पर रखता हुआ प्रताप बोला, "ये दोनों आज यहीं रखे जाता हूँ। ज़रा ध्यान रखना।"

कार्तिक ने दूसरी तरफ़ देखते हुए जवाब दिया, "बेफ़िक्र रहें।"

किन्तु प्रताप बेफ़िक्र नहीं हो सका। खो तो नहीं जायगा ? चोरी तो नहीं हो जायगा ? तीस रुपये का विलायती जूता ! केवल तीन जाड़ों भर पहना हुआ उसका भूरा चेक सूट, जो दूर से ऊनी मालूम होता है ! उसने हठात् जेब में हाथ डाला, मनीबेग खोलकर निकाली एक अठन्नी, और क्षण भर सोच कर कार्तिक के हाथ पर उसे रखता हुआ बोला, "लेकिन ध्यान रखना ज़रा—"

अब की बार कार्तिक स्टूल छोड़ उठा। फुर्ती से सलाम रसीद किया और बोला, "साहब की आलमारी ही में रखे देता हूँ, आप कल ज़रा जल्दी ही—"

प्रताप पूरी बात सुनने के लिए नहीं रुका। उसके मन की नौका का पाल सहसा फरफरा उठा, एक झोंका उसे राजाओं-सा पार ले गया आफ़िस के लम्बे सूने हाल कमरे के, जहाँ एक कोने में बैठा वह रोज़ आठ घंटे आँकड़े कसता है; धकेलता हुआ ले गया सीढ़ियों से जिन पर चढ़ता-उतरता वह रोज़ अपने भाग्य को कोसता है, उड़ा ले गया सड़क तक। और जो हो, वह लगभग छः फ़ुट लम्बा तो है। बंगालियों में इतने लम्बे कितने होंगे ? सोलह सौ रुपया महीना पानेवाले घोष साहब रह जाते हैं उसकी छाती तक ही। सड़क पर जितने लोग चल रहे हैं उन सबसे ऊँचा उठा है उसका माथा।...वह बेअदब कार्तिक, जो खज़ांची को भी सामने जवाब दे देता है, अन्त में सलाम किये बिना नहीं रह सका !

उसने गहरी साँस लेकर चारों ओर देखा। जाड़ों की साँझ तो कुछ पहले ही पड़ गयी थी, अब तो बिलकुल रात थी। सामने वेस्ट एंड का घड़ियाल चल रहा था, छः बजने में बीस मिनट; वहाँ साढ़े छः का समय है। माया भाभी के एल्जिन रोडवाले फ़्लैट तक पहुँचने में ट्राम से ज़्यादा से ज़्यादा बीस मिनट लगेंगे, फिर कुछ देरी करके पहुँचना तो अच्छा है—अच्छा दीखता है। घर की ओर जानेवाली भीड़ से लदी ट्राम गाड़ियों को उसने एक बार ऐसे भाव से देखा मानों वह यों तो टैक्सी से कम में नहीं बैठता, इस वक़्त सिर्फ़ शौक़िया ज़रा पैदल चल रहा है। सिर ऊँचा किये लम्बे डग भरता हुआ वह चलते-चलते सोचने लगा कि जन्मदिन का उपहार क्या लेगा। पन्द्रह रुपये तक वह खर्च करेगा, मास के बाक़ी दस दिनों के लिए सिर्फ़ पाँच रुपये रह जायेंगे उसके पास—किन्तु उसका आज का सुख जितना बड़ा सुख है, उसके सामने कुछ एक दिनों की ज़रा-सी खींचतान का कष्ट क्या महत्त्व रखता है ? माया भाभी के ड्राइंगरूम में उस सुन्दर विलासिता के मध्य बैठना, माया भाभी के चलने-फिरने की सुन्दर भंगिमा को ताकते रहना, समी दादा की सुन्दर बातें सुनना—यह सब तो किसी दिन भी सुन्दर है, किन्तु आज इस उत्सव की साँझ को तो न जाने और भी कितना सुन्दर ! यह बात सोचते-सोचते ही सुख जैसे उस पर छा गया, छीन कर पायी हुई गुलगुली विलासिता ने उसे घेर लिया रंगीन मेघ की तरह; फिर मेघ का रंग घना होता हुआ धक से जल उठा एक दीप्ति में, जो इस सुन्दरता के मध्य सबसे सुन्दर थी। उसका मुँह, उसकी आँखें, उसके केश प्रताप आँखों के सामने ऐसे साफ़-साफ़ देख सका कि देखते-देखते उसके भीतर कहीं व्यथा हो उठी...नाम है उसका छाया—कैसा सुन्दर नाम है !

एस्प्लानेड में मोड़ पर प्रताप तनिक रुका। कर्ज़न पार्क पार करके उसकी दृष्टि गयी रंग-बिरंगी बत्तियों की माला पहने हुए चौरंगी पर। युद्ध के बाद उसमें फिर रौनक़ आ गयी है और झलमलाती हुई पुकार रही है, आओ, आओ! आओ, आओ—प्रताप पर नशा-सा छा गया। तेज चलकर वह दो मिनट में ही चौरंगी आ पहुँचा। सैकड़ों बत्तियों से जगमग मेट्रो सिनेमा के नीचे भारी भीड़ थी। तीन बजे का खेल अभी खत्म हुआ था, छः बजे का शुरू होने वाला था। अद्भुत चेहरे, अद्भुत सजधज, अद्भुत बड़ी-बड़ी गाड़ियाँ। यही तो जीवन है...आनन्द ही जीवन है। और किस लिए जीता है मनुष्य, अगर आनन्द के लिए नहीं तो? हज़ारों गाड़ियाँ दौड़ रही हैं सड़क पर, आनन्द की ही खोज में हज़ारों दुकानों में आनन्द का पसारा फैला हुआ है। आओ, आओ, आओ, पुकार प्रताप के कानों तक पहुँची; तीखी-तीखी जीवन-क्षुधा ने उसको जगा दिया, जगा दिया उसके भीतर और एक जन को, सभी में जो होता है ऐसे एक जन को, उसके यौवन को, उसके जीवन को। है, वह भी है, उसका भी है, यह आनन्द उसका भी है। सैकड़ों बत्तियों से जगमग सिनेमा के द्वार की तरह उज्ज्वल जीवन—यह भी उसका है।

आज ही पहले-पहल प्रताप ने समझा जीने का अर्थ, जीते रहने का उद्देश्य। कुछ इस उपलब्धि से चौंक कर और कुछ पटरी पर चलने वालों की धक्कमधक्की से, उसकी चाल कुछ धीमी हुई। सिनेमा की भीड़ में घुलमिल कर वह साँस के साथ पाने लगा सुख का दुलार, आनन्द का सुवास। किन्तु सुख की केवल गन्ध तो नहीं, सुख ही उसे चाहिए,—शरीर चाहिए, स्पर्श चाहिए, ताप चाहिए, तृप्ति चाहिए। अस्पष्ट, असीम, जीवन-क्षुधा तभी सहसा मूर्त्त हो आयी पास-पास तीन चायघरों के धुएँ की गन्ध से। खाद्य की क्षुधा ने ही उसे भीतर से चाबुक लगायी।

घुसा जाय किसी में?..कुछ खा लेना ही अच्छा है, नहीं तो क्या वहाँ जाकर दफ़्तर से लौटे हुए भूखे मुँह से हप-हप करके राक्षसों की तरह खायगा?..देर होगी अच्छा ही है। माया भाभी ओठों के कोनों से मुस्करा कर कहेगी, "क्यों, इतनी देर क्यों?" और हाथ में थाली लिये और एक कोई—..

मछली के एक कटलेट से और एक की इच्छा जागती है। लेकिन नहीं, वहाँ जाकर कुछ तो खाना ही होगा। अगर किसी ने पास आकर कहा, 'खाते नहीं क्यों?' या कि 'यह एक सन्देश और—' प्रताप की स्नायुतन्त्री सितार की तरह झंकृत हो उठी। कैसा मीठा गला है उसका! कैसी मधुर बोली! क्या एक व्यक्ति का सब कुछ ही सुन्दर हो सकता है? ईश्वर ने क्या सब कुछ एक ही को दे दिया है? और मुझे कुछ नहीं दिया..? लेकिन कुछ नहीं कैसे दिया? जिसको सब कुछ दिया है उसे ही तो मुझे दिया है ईश्वर ने।

चाय के प्याले से दो-तीन चुस्कियाँ लेकर, कुर्सी से पीठ टेक कर एक सिगरेट जला कर, बिना ज़रा भी लाल हुए, बिना अप्रतिभ हुए प्रताप ने यह बात सोची: ईश्वर ने जिसे सब दिया है उसी को तो उसने मुझे दिया है। छाया की बात सोचते ही उस बात की झिझक उससे वैसे ही झरने लगती थी जैसे जाड़ों के बाद शरीर से पुरानी त्वचा: आज पहले-पहल उसने अपने को सौंप दिया अपने मन के हाथों, उसी मन को जिसकी ताकझाँक के कारण उसे नींद में स्वप्न देखने भी डर लगता है। आज पहले पहल वह उत्तेजना से अस्थिर हुए बिना छाया का ध्यान कर सका, उसे देख सका बैठे खड़े चलते, हँसते-बोलते; माया भाभी देखने में बहुत-कुछ उसी जैसी है, लेकिन वह किसी जैसी नहीं है। आज बड़ी बहन के जन्मदिन पर शायद सबेरे से ही होगी वहीं। समी दादा के स्टूडियो चले जाने के बाद सूनी दोपहर में कितनी बातें हुई होंगी दोनों बहनों में, सिर्फ़ उन दोनों में! बात तो वही अच्छी है जो सिर्फ़ दो जनों की हो, दो जनों की, सिर्फ़ दो..

उसके साथ पिछले सात महीनों में सात बातें भी उसने न की होंगी—किन्तु उससे क्या? अच्छी तरह उसकी ओर देखा भी नहीं—किन्तु उससे भी क्या? कभी एक दिन तो देखेगा ही, यह कौन कह सकता है कि कभी नहीं देख सकेगा? नामी फिल्म डायरेक्टर समीरण सान्याल के ड्राइंगरूम में उसके लिए जगह होगी, उसकी स्त्री को वह भाभी कहकर पुकारेगा, और उसी भाभी के जन्मदिन पर निमन्त्रित होगा, यह सब असम्भव यदि सम्भव हो सकता है, तो क्या इससे भी असम्भव बात इससे भी सम्भव नहीं हो सकती..अवश्य ही अगर वह दैवात् रविवार के सबेरे ठीक समय पर ही उनके यहाँ जा न पहुँचा होता तो शायद यह निमन्त्रण भी वह न पाता; किन्तु मनुष्य के जीवन में भाग्य का कुछ हाथ तो रहता ही है, और भाग्य उस पर इतनी कृपा दिखा रहा है तो शायद इसीलिए कि और भी कृपा करेगा। रविवार को वह जिस समय पहुँचा उस समय अमर मित्र बिदा हो रहे थे, और समी दादा कह रहे थे: "परसों लेकिन, भूलना मत!" "नहीं नहीं, भूलूंगा कैसे—माया का जन्मदिन!" और अमर बाबू के चले जाने के दो मिनट बाद सिगरेट जलाते-जलाते

समी दादा ने कहा, "प्रताप, तुम भी आओ परसों शाम को—क्यों !" बात उसने सुन ली थी इसलिए उसको भी बुला लिया—कितने शिष्ट हैं !

ऐसी भद्रता, ऐसा व्यवहार प्रताप ने कभी नहीं पाया। उसके पिता चिल्लाकर घर सिर पर उठा लेते हैं, माँ गर्मियों में कमीज़ तक नहीं पहनती, भाई दोनों पनवाड़ी की दुकान पर जमे रहते हैं। उन लोगों के यहाँ से लौट कर अपना घर कभी-कभी असह्य लगने लगता है—लेकिन नहीं, असह्य क्यों लगे ? यही क्या कम है कि बीभत्स दफ़्तर और अधिक बीभत्स घर के दायरे के बाहर भी कुछ तो है उसके लिए ! यह क्या आश्चर्य उसके मन के भीतर और भी कुछ पैदा करता है—सात मास आगे कौन उसकी कल्पना भी कर सकता था—उस शनिवार के दिन जब उनके दफ़्तर के सुबोध बागची के साथ वह फ़िल्म का शूटिंग देखने गया था टालीगंज ! उस दिन कुछ विशेष बात थी, बाहर के कई भद्र लोग सस्त्रीक आये हुए थे; माया भाभी भी थीं, और थी—मन ही मन उसने नाम का स्पष्ट उच्चारण कर ही तो डाला ! छाया। सुबोध की उनसे कितनी घनिष्ठता है। जाते ही बोले, "माया भाभी, यह मेरे मित्र हैं।" और इतने लोगों की भीड़ में भी श्रीमती सान्याल ने अलग उससे दो-चार बातें कीं। प्रताप उनकी भद्रता पर मुग्ध हो गया। और जिस दिन सुबोध के साथ पहले पहल उनके घर गया उस दिन तो वह आत्म-विभोर ही हो गया। दूसरे दिन से ही सुबोध की देखा-देखी उसने श्रीमती सान्याल को भाभी कहना आरम्भ किया और दो महीने बाद जब सुबोध और अच्छी नौकरी पाकर बम्बई चला गया तब पहले-पहल कुछ डरते-डरते वह अकेला ही गया, लेकिन माया भाभी के व्यौहार से मुग्ध होकर बीच-बीच जाता ही रहा।

समी दादा खुशदिल आदमी हैं, और माया भाभी तो माया भाभी है; उनके यहाँ तभी रोज़ शाम को अड्डा जमता है। कोई लेखक है, कोई चित्रकार है, कोई कैमरे का ही उस्ताद है, और हाँ ! कभी-कभी कोई अभिनेता भी आ जाता है यद्यपि अभिनेत्रियाँ कभी नहीं। किन्तु अभिनेत्री के बारे में प्रताप को अब कोई मोह नहीं रहा। ऐसी कौन अभिनेत्री होगी जिसकी तुलना उसके—उसके साथ की जा सके ! परदे की तारिकाओं की तुलना आकाश की तारिकाओं के साथ !

वह बहुत ज़्यादा नहीं जाता : किसी सप्ताह में एक बार, किसी सप्ताह में दो बार। कहीं कोई ऊब न जाय ! इतने बड़े लोगों की भीड़ में वह बुद्धू-सा बैठा रहता है। कुछ बोलता नहीं, चुपचाप देखता है, सुनता है : किसी बात पर जब हँसी फूट पड़ती है तो वह गला खोल कर हँसता भी नहीं, मुँह पर हाथ रख लेता है, मुँह फेर लेता है। इन सब के साथ बराबर होकर हँस सके, इतनी योग्यता क्या उसकी है ? यह सब लेखक और चित्रकार और उस्ताद उसे आदमी ही नहीं समझते—समझें भी क्यों; लेकिन शुरू-शुरू में यह मन में अखरता था। एक बार महीना पाते ही उसने रवीन्द्रनाथ की 'संचयिता' खरीदी थी, बहुत-सी कविताएँ पढ़ डाली थीं और कमर कस कर कविता लिखने में जुट गया था—एक तो उसने लगभग लिख ही डाली थी : 'ओ रे आकाश, ओ रे आकाश, तू मेरी ओर क्या देखता है ?' से लेकर इसी प्रकार की दस-बारह पंक्तियाँ; किन्तु इसके बाद ही उसका भाई हठात् नींद से जाग कर जानवर की तरह चिंघाड़ उठा था, 'बत्ती बुझाओ !' दूसरी रात वह फिर बैठा था, लेकिन उस दिन दूसरा भाई गरज उठा था। भला दो-दो वन-बिलार भाइयों को लेकर एक ही कमरे में रहकर क्या कविता लिखी जा सकती है ? फिर उसने कोशिश नहीं की, तब से उसने अपनी तुच्छता स्वीकार कर ली, उसी में शान्ति पा ली।

प्याले की चाय खत्म करते-करते उसे कविता लिखने की कोशिश याद करके हँसी आ गयी। अभी उस दिन तक, कल तक, थोड़ी देर आगे तक वह मानो कैसा बच्चा था ! हठात् क्या हुआ कि पृथ्वी के सब दरवाज़े खुल गये और घर-घर में उसके लिए भी, मानो उपहार सजाये गये. .कविता लिख कर योग्य होने चला था ! माया भाभी क्या कविता लिखती हैं या चित्र आँकती हैं ? अवश्य ही रूप उनके पास है, गुण भी अनेक हैं; किन्तु उनके घर में ही ऐसी अनेक महिलाएँ हैं जो रूप-गुण में और भी बढ़ी-चढ़ी हैं। लेकिन उन जैसी क्या कोई भी हैं ? रूप से नहीं, गुण से नहीं, वह इतनी अच्छी हैं तभी तो इतनी अच्छी लगती हैं ! वही समय निकाल कर उसके साथ दो-चार बातें कर लेती हैं, ठीक वही बात जिससे उसको चैन मिलता है। जब कभी उसे उनके साथ पाँच मिनट अकेले बातचीत करने का अवसर मिला है, तब मन में जैसे एक हल्की-सी वृष्टि हो गयी है। इतनी अच्छी हैं वह ! सबसे बड़ी योग्यता तो यह है। और कुर्सी से उठते उठते वह मानों ज़ोर से कह उठा : 'यह योग्यता मुझ में भी है—मैं भला हूँ !' आलोक की एक बड़ी लहर के धक्के से वह सिर से पैर तक काँप उठा, चौरंगी और कारपोरेशन स्ट्रीट के मोड़ पर खड़ा-खड़ा ही।

क्रिसमस आ रहा है, मार्केट में बड़ी भीड़ है। फिरंगी, बंगाली, पारसी, काफ़िरी, चीनी दूकानदारों के मुँह से झाग झर रहे हैं। ठीक तो है—अपनी दुबली-पतली चपटी छाती को थोड़ा-सा फुलाकर प्रताप आगे बढ़ गया—वह भी कुछ

खरीदेगा। मगर क्या? बर्ट्रम स्ट्रीट के बीच वाले फाटक से मार्केट में घुसकर आँखों और मन से ताकता हुआ वह इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ने लगा, लेकिन उसके पैरों की गति ऐसी ही सीधी रही मानो वह निर्दिष्ट दूकान से कोई निर्दिष्ट वस्तु खरीदने जा रहा हो। क्रिसमस कार्ड, साड़ी-शमीज, गरम कपड़े, लाल-गुलाबी-बैंगनी चूड़ियाँ, यह सब पार करके मार्केट के बीचों-बीच लगी हुई वजन करने की मशीन के चौराहे से वह दाहिनी ओर मुड़ गया। चाँदी, रेशम, रंग-बिरंगे पत्थरों के गहने, हाथीदाँत की मूर्तियाँ, गहरे लाल रंग के लाख के टेबिल—आँखों के लोभ को उसने सँभाल लिया; यह सब उसके बस के बाहर की चीजें हैं, लेकिन कौन-सी चीज बस की है, यह भी नहीं सोच सका। चलते-चलते आ निकला मार्केट के लिंडसे स्ट्रीट वाले छोर पर और तभी उसकी नजर पड़ी बायीं ओर को ढेर के ढेर फूलों पर . .हाँ फूल! वह तनिक रुका, फिर मुड़ा सबसे पास की फूलों की दुकान की ओर। फिरंगी औरतों का एक दल वहाँ जुटा था—इनकी जबान कैसी चलती है! प्रताप कुछ उदास भाव से पीछे खड़ा रहा। अपनी प्रायः छः फुट लम्बाई का गौरव लिये हुए। . .गुलाब, लाल गुलाब—उँगली कट जाने से पहले जैसा रंग निकलता है, ठीक वैसा लाल। फिर थोड़ी देर बाद वह जैसा काला पड़ने लगता है, उस रंग का भी। एक-एक बिजली के अंडे जैसा बड़ा, पंखड़ी-पंखड़ी से प्रकाश टपकता है......

प्रताप को याद आया, एक दिन फूलों की बात उठी थी। समी दादा ने चम्पे को वोट दिया। अनंग नाग—जो चित्रकार हैं—हँस कर बोले, "चम्पा बहुत मांसल होता है, मानों फल होते-होते भूल से फूल ही रह गया।" "फूल कहने से जो चित्र सामने आता है वह तो जूही का होता है," बोले साहित्यिक अमर मित्र, "और उसके भीतर बँगला देश भरा हुआ है।" "वह हो सकता है," माया भाभी ने राय दी, "लेकिन जूही छूते न छूते ही मर जाती है और मुट्ठी भर बकुल महीनों भर गन्ध देता है।" "ओह," अमर मित्र बोले, "फूल में भी आप टिकाऊपन पसन्द करती हैं!" इस पर सभी हँस दिये, और हँसी जब रुकी तब छाया ने धीरे-धीरे कहा: "मुझे लेकिन गुलाब ही सबसे अच्छा लगता है।". .प्रताप कानों से देखने लगा बात का खिला लाल रंग, आँखों से सुनने लगा गुलाब का गान। हाँ, एक गुच्छा गुलाब: दस, पन्द्रह, बीस—जितने भी हों!

फिरंगी औरतों के दल ने खरीदा कुछ नहीं और पीछे से युवती मालूम होने पर भी चेहरे उनके बूढ़े-बूढ़े थे। दोनों बातों से प्रताप का उत्साह और भी बढ़ गया। पास जाकर छोटे-से गुलदस्ते को छूता हुआ बोला, "गुलाब कैसे दिया है, यह बड़ा दस्ता?"

"पच्चीस रुपया।"

"यह जरा-सा गुलदस्ता पच्चीस रुपये का!" प्रताप ने बड़े जानकार ढंग से कहा।

"गुलदस्ते के नहीं साहब, एक फूल के।"

"एक!" चीत्कार कर उठा प्रताप आर्त स्वर में।

"एक फूल के पच्चीस रुपये," दुकानदार के स्वर में एक हृदयहीन रुखाई थी।

प्रताप के सिर पर जैसे आकाश फट पड़ा। युद्ध के जमाने में कई चीजों के असम्भव दाम हो गये थे: मलमल का एक कुरता अड़तालीस रुपये, एक टीन गोल्डफ्लेक बारह रुपये। चाय का सेट ढाई सौ रुपये। लेकिन इसलिए क्या एक फूल के पच्चीस रुपये! फूल! एक! एक बार उसने देखा था, एक कुत्ते का पिल्ला सड़क पर उछल-कूद कर रहा था कि सहसा गाड़ी के नीचे आ गया। कितना चीखा-चिल्लाया था वह: लेकिन प्रताप तो मनुष्य है, वह तो कूँ-कूँ करके रो नहीं सकता।

एक जोड़ा आकर दुकान पर खड़ा हुआ, अंग्रेज हाँ, बंगाली भी नहीं जान पड़ता, लेकिन हो भी सकता है आजकल के जमाने में। नीले रंग के स्लैक्स के ऊपर लाल जम्पर पहने हुए खिचड़ी बालों वाली स्त्री ने दस गुलाब लिये, और पुरुष ने बिना आँख झपके निकाल कर दे दिये सौ-सौ रुपये के दो नोट, फिर दोनों किसी की ओर देखे बिना चले गये।

"दस के दो सौ रुपये हुए तो एक का तो बीस रुपया होना चाहिए," दूकानदार की ओर न देखते हुए प्रताप हठात् बोल उठा।

उत्तर मिला, "एक लेने से पच्चीस रुपया।"

"बीस रुपये का न होगा?"

"नहीं।"

कई एक लम्बी साँसें लेकर प्रताप ने कहा, "दे भी दो न, ठीक तो बीस रुपया ही हैं। मुझे सख्त जरूरत है।" अब दूकानदार ने एक बार नजर उठाकर उसे देखा, तनिक रुक कर बोला, "कै ठो लेंगे?"

"एक ही ।" दुकानदार की आँखों में दया का भास पाकर उसने जल्दी से जोड़ दिया, "बड़ा-सा देख कर देना, यह—हाँ यह !"

पतले काग़ज़ में लिपटा लाल गुलाब हाथ में लिये वह जल्दी से बाहर निकला। मार्केट का घड़ियाल बज उठा—पौने छः। देर हो गयी—बहुत देर। वह जाकर देखेगा, कमरा भर गया है; चाय आदि हो चुकी है, बातों और हँसी की फुलझड़ियों में साँस लेने की भी फुरसत नहीं है; अनंग नाग, अमर मित्र, अभिनेता सुरेश्वर बनर्जी, कैमरामेन नरेन्द्रचन्द्र; इन्दु दास यह भी कुछ करते हैं, लेकिन क्या यह आज तक प्रताप नहीं जान सका; लतिका देवी, सुनन्दा देवी, अनुराधा देवी—समी दादा। ड्राइंगरूम में सभी स्त्रियाँ देवियाँ हैं। और कौन-कौन ? और भी अनेक लोग। इस जगमग टोली के बीच में हठात् जा पहुँचेगा वह, लम्बा, दुबला, बेढंगा; चुने हुए नामी उपहारों के बाद एक गुलाब का फूल हाथ में लिये—कोई उसकी ओर देखेगा नहीं, या कि हर कोई देखेगा, वह बैठने लगेगा तो किसी भद्र महिला का पैर दब जायगा; खाँस उठेगा नरेन्द्रचन्द्र के पाइप के कड़े धुँए से। बात नहीं करेगा, लेकिन बैठा रहेगा—बैठे रहना ही होगा, क्योंकि दूसरों के समान कैसे सहज भाव से विदा ली जा सकती है वह नहीं जानता।

ट्राम की ओर जाते-जाते प्रताप काँप उठा। उसकी चादर सात साल पुरानी है, घिस गयी है और रंग भी उड़ गया है, लेकिन फिर भी ले आया होता तो अच्छा होता। उस पर नज़र ही किसकी पड़ती ! अगर पड़ी ? उसकी ओर तो कोई देखता भी नहीं, लेकिन उसकी चादर के छेद शायद . . लेकिन उससे क्या? वह ग़रीब है, इस बात को क्या वह छिपा सकता है ? वह जो अकिंचन है इसे क्या ढँक सकता है ? . . जीवन की जो आशा, यौवन का जो आनन्द, उत्साह की जो तरंग कुछ देर पहले उसे पागल कर गयी थी, वह बुखार की तरह उतर गयी। तीन थप्पड़ों से उसकी धृष्टता के दाँत तोड़ कर उत्तरी हवा उसके दिमाग़ में बिठा गयी यह बोध कि वह प्रताप है, वही प्रताप जो मँहगाई भत्ता मिलाकर ११० रुपये महीना पाता है, जिसके गाल पिचके और फुंसियों से भरे हैं, जिसको छः फुट लम्बाई होने पर भी कोई नहीं देखता, और देखता है तो रोगी समझता है। समीरण सान्याल की स्त्री को भाभी कहकर पुकारने से ही वह और कोई नहीं हो गया। फोकट में निमन्त्रण मिल जाने से उसका नया जन्म नहीं हो गया—नहीं, नहीं !

नहीं शब्द पर आकर ट्राम रुक गयी। प्रताप को खड़े होने की जगह मिली ठीक बिजली के पंखे के नीचे जहाँ सीधा खड़ा होने से पंखे से माथा टकराता था। तिस पर गुलाब को बचाना होगा। मगर इस ट्राम में पकड़ने के लिए कड़े तो थे। वह जो इतना लम्बा है यह मानों उसके साथ अदृष्ट ने ठट्ठा किया है; और किसी तरफ़ कुछ नहीं, हठात् बीच में से ऊपर को बढ़ गया; धोती पहनने से आधी टाँगें दीखती रहती हैं—और टाँग भी क्या सुन्दर ! इससे तो वह ठिंगना ही अच्छा होता, तो ऐसा बगुला-सा न दीखता, अवस्था के साथ उसका कुछ मेल होता, पृथ्वी पर भीड़ के बीच में कहीं छिप कर आराम पा सकता।

ट्राम ज्यों-ज्यों उसके गन्तव्य के निकट पहुँच रही थी त्यों-त्यों उसकी पहुँचने की आतुरता कम पड़ती जा रही थी। इस जन्मदिन की बात को लेकर इतना छटपटाने की क्या ज़रूरत थी ? उसी से तो देर हुई : घर जाकर चाय-पानी करके कपड़े बदल कर इत्मीनान के साथ आया जा सकता था। मुहल्ले की दुकान से दो-चार रुपये में एक पाउडर केस या कोई सेंट या कोई कविता पुस्तक खरीदी जा सकती थी। . . दूसरों के साथ प्रतियोगिता-स्पर्धा करके वह कपड़े-लत्ते लेकर दफ़्तर पहुँचा; एक रुपये में उसने ख़रीदा आधा सलाम, बीस में एक गुलाब; बारह आने जलपान में डुबोये; अब जेब में कुछ एक आने पैसे रह गये हैं; कल ही सोचना होगा कि पाँच-एक रुपये कहाँ से उधार मिलेंगे ! मूर्ख, कितना मूर्ख—छिः ! अपनी मूर्खता को साफ़-साफ़ देख कर इच्छा हुई कि चलती ट्राम से कूद पड़े।

निमन्त्रण अस्वीकार भी किया जा सकता था, बल्कि वही तो उसके लिए उचित था। पहले तो वह वास्तव में निमन्त्रित ही नहीं हुआ, केवल ऐसे समय पहुँच गया था कि समी दादा ने ज़बानी कह दिया। दूसरे और सब दिन वह चाहे जो हो, आज वह वहाँ बेमेल है। जैसे बाघ, चीतों और मयूरों के मेले में बोल उठने वाला गीदड़। और तीसरे वह क्या दो रुपये भी किसी के लिए खर्च कर सकता है ? सत्तर रुपये तो पिताजी ले लेते हैं, और चालीस रुपये में उसका अपना ही खर्च नहीं चलता; महीने के आखिरी दिनों में टिफ़िन बन्द, अच्छी-अच्छी फ़िल्म आकर चली जाती हैं; दो कुरते सिलाने की बात सोचते सोचते कट गये छः महीने। . . . . तभी मैंने क्यों नहीं कोई बहाना करके न्यौता टाल दिया ? किन्तु समी दादा के मुँह पर माया भाभी के सामने वह इतनी बात कह सकता ! वह कह सकता तब तो वह मनुष्य ही होता। वही अगर यह बात कह सके तब तो खुशी के मारे कलाबाज़ियाँ खाने लगे।

थियेटर रोड छूट गयी। थियेटर रोड, सर्कुलर रोड, एल्जिन रोड, और पाँच मिनट में उसे उतरना होगा। शरीर को टेढ़ा-मेढ़ा करके नीचे खिसक कर मिनट भर की चेष्टा से दरवाज़े तक पहुँच कर वह खड़ा हो गया और आँख से व्यूह भेदने का रास्ता ढूंढ़ने लगा; खूब सावधान होकर उतरना होगा ताकि उतरने में फूल न गिर जाय। लेकिन गिर भी जाय तो क्या? सीधा घर ही क्यों न चला जाय? इतनी देर, इतनी देर की कठिन उत्कंठा के बाद हठात् यह बात सोचकर उसे जैसे शान्ति मिली कि वह चाहे तो अब भी जाये बिना रह सकता है, यहाँ तक आने की मूर्खता तो हो ही गयी, अभी तक जाकर बाक़ी मूर्खता से तो बचा जा सकता है। उसकी प्रतीक्षा किसी को नहीं है। उसके न जाने से किसी के आनन्द में तिल भर भी कमी न होगी। किसी को उसकी याद न आयेगी। तो फिर वह क्यों जाय? उसकी और सब मूर्खताओं की खबर केवल उसी को है, क्या ज़रूरी है कि बहुत-से लोगों को दिखा कर और मूर्खता की जाय?

छाती से लगकर सीधे रखे हुए गुलाब की ओर तीखी आँखों से उसने देखा। पतले सफ़ेद काग़ज़ के भीतर से फूट रही थी लाल रंग की आभा: गन्ध ने उसे छा लिया, क्षण भर के लिए उसका साँस रुक गया। प्रताप ने लक्ष्य किया, आस-पास के दो-तीन जन तिरछी नज़र से फूल को देख रहे थे, खड़े-खड़े उसकी गन्ध का मज़ा ले रहे थे। . .तो फिर फूल सुन्दर ही है—किन्तु और भी कितना सुन्दर, और भी कितना चमकीला होगा आज सजा हुआ माया भाभी का कमरा, उसके सामने यह फूल, अकेला फूल! नरेन्द्रचन्द्र मुँह बिचका कर हँसेगा नहीं, और अनंग नाग भँवें चढ़ा कर सिगरेट का धुँआ आकाश की ओर नहीं छोड़ेगा!

"महाशय उतरेंगे क्या?"

"उतरना हो उतरिए, नहीं तो हटिए—रास्ता छोड़िए।"

. . . .कैसे असभ्य हो गये हैं कलकत्ते के आजकल के लोग। धक्का खाकर उतरना ही पड़ा। रास्ता पार करते हुए वह दो बार अटका: मोड़ गन्दा था। फिर वह अटकते पैरों से एल्जिन रोड में घुसा बायीं पटरी से। एक, दो, तीन, चार. .उसका हृदय उसके पैरों की गति को प्रतिध्वनित करने लगा।

तो फिर तुम गये ही. .जाये बिना रह नहीं सके!

पहली मंज़िल, दूसरी मंज़िल, तीसरी मंज़िल की सीढ़ियों के मोड़ से ही दीख गया ब्राउन रंग का दरवाज़ा। किवाड़ बन्द थे, लेकिन वहीं से भीतर की आवाज़ सुनाई पड़ती थी। पास आते-आते उसकी अभ्यर्थना की हँसी की एक हिलोर ने। वह क्षण भर दरवाज़े के बाहर ही रुका, दो-एक लम्बे साँस लिये, किन्तु जाने के मुहूर्त में उसका साहस टूट गया, एक अवश्य इच्छा ही रह गयी। काग़ज़ में लिपटा हुआ फूल हाथ से गिरा कर उसने धीरे-धीरे किवाड़ ठेला और भीतर चला गया।

* * *

जैसा उसने सोचा था, ठीक वैसा ही सब कुछ हुआ। माया भाभी ने कहा, "आओ, प्रताप!" और एक सजी हुई थाली उसके हाथ पर रख दी। बैठना पड़ा एक बड़े मोटे आदमी के पास—ठीक पास नहीं, पीछे। उन्हें पहले कभी नहीं देखा; बात-बात में मालूम हुआ कि यह माया भाभी के मामा हैं, दिल्ली में बड़े अफ़सर हैं। यह साहब जितनी बार हँसते उतनी बार प्रताप को पीछे हटना पड़ता, यहाँ तक कि हटते-हटते वह दीवार के साथ लग गया, लेकिन मामा साहब फिर भी हँसते-हँसते पीछे हटते रहे और उनकी तह की हुई शाल के रोएँ प्रताप की नाक को गुदगुदाने लगे। इस हँसी का मसाला दे रहे थे सुरेश्वर बनर्जी, थियेटर के पुराने अभिनेताओं की नक़लें उतार कर। एकाएक समी दादा बोले, "तुम जो कहो, उन जैसा और फिर नहीं हुआ। शिशिर भादुड़ी की वह पुकार—"सीता!" अनंग नाग ने कहा, "हो सकता था, तपनकिरण अगर जीते रहते!" "सच!" अनुराधा देवी चहक उठीं पक्षी की तरह, "बेचारा सहसा मर गया और कितनी कम उमर में!" "छब्बीस बरस।" "नहीं तो," अमर मित्र ने प्रतिवाद किया, "उनतीस बरस।" इसी बात को लेकर थोड़ी देर बहस हुई; फिर '२८ पर ही फ़ैसला हुआ। कैमरामैन कम बोलते थे, अब बोले, "अभी उस दिन देखा था तपनकिरण को", ओठों से उन्होंने दुख की आवाज़ की, "कल उनके बड़े भाई से भेंट हुई। चेहरा ऐसा मिलता है कि कलकत्ते की सड़क और दोपहर दिन न होता तो मैं निश्चय ही भूत समझता।" "कलकत्ते में क्या दोपहर दिन में भूत नहीं निकलते?" इन्दु दास बोले, "तो सुनिए।" सुनन्दा देवी दोनों हाथ उठाकर चीख उठीं, "नहीं, नहीं। बख़्शिए इन्दु बाबू, भूत की कहानी मत सुनाइए।" इससे उत्साह पाकर इन्दु दास और भी जम कर भूत की कहानी

सुनाने लगे, लेकिन अन्त में बात न जमते देखकर कहानी को फिराकर खोज की तरफ़ ले गये—प्रेतिनी और डाकिनी में कोई भेद है, और भूतों में ब्रह्मराक्षस बड़ा है कि और कोई, पशु भी मरकर भूत होता है कि केवल मनुष्य ही।.... मामा साहब ने हठात् कहा, "एक विचित्र घटना आप लोग जानते हैं क्या ?" नाइन्टीन ट्वेन्टीसिक्स में अरोरा नाम की घोड़ी ने विक्टोरिया कप जीता था।" इतना कह कर चुप हो गये। दो-तीन जन बोल उठे, "तो इसमें आश्चर्य क्या है ?" "अरोरा उस दिन सबेरे ही मर चुकी थी...." इससे घुड़दौड़ की बात चल उठी। लतिका देवी ने भी उसमें भाग लिया, सुनन्दा देवी ने भी, किन्तु इस प्रसंग में सबसे आगे रहे उनके स्वामी यानी साहित्यिक अमर मित्र। नौ बजे, साढ़े नौ, प्रायः दस बज गये। हठात् एक बार जब सब चुप हुए तब नरेन्द्र चन्द्र ने प्रस्ताव किया, "अब चला जाय।" "हाँ, उठें।" चारों तरफ़ उठा-बैठ होने लगी और साड़ियों की सरसराहट। फिर सब एक साथ ही खड़े हो गये। इतनी देर में शरीर ढंग से सिकोड़ कर बैठा हुआ प्रताप शरीर सीधा कर सका।

बनता तो वह बहुत पहले ही से उठ आता। लेकिन वह जो नहीं उठ सकेगा, यह तो उसका आगे से ही जाना हुआ था। एक ऊँघ-सी में उसने समय काट दिया; क्या खाया इसकी तरफ़ ध्यान नहीं दिया, बातचीत भी आधी ही सुनी। एक बार चाय का प्याला मुंह लगा कर देखा, चाय ठंडी हो गयी थी और उस पर मलाई जम गयी थी। बीच में उसकी नज़र इधर-उधर दौड़ती रही : माया भाभी बैठी है बीच के बड़े सोफ़े पर लतिका देवी और सुनन्दा देवी के बीच में; हँसमुख तो रोज ही होती है, आज मानों सुख की प्रतिभा है। और कुछ दूर पर दो दीवारों के कोने में खिड़की के नीचे एक छोटी कुर्सी पर हरी साड़ी पहने बैठी है वह, छाया : सब के बीच में रह कर भी मानों अकेली; सब बात सुन रही है, बीच-बीच में बात कर भी रही थी, किन्तु उसका मन मानों कहीं और है—कहाँ ?—दीवार पर लगी हुई इस तस्वीर में या कि खिड़की के बाहर आकाश में....। प्रताप ने अधिक बार उसकी ओर नहीं ताका, कहीं उससे आँखें न मिल जायँ, कहीं उसके मन में यह धारणा न हो जाय कि उसने कभी एक अन्यमनस्क क्षण में भी उसकी ओर देखा था। सच-मुच छाया के मुँह की ओर तो वह एक बार भी नहीं देख सका, हरी साड़ी के और भी गहरे किनारे को पैर के पास देखता रहा। और सब के साथ-साथ जब वह भी उठ खड़ा हुआ तब मानों एक पत्तियों से भरे हुए पेड़ से आकर सरसराती हुई हवा उसे छू गयी।

बात करते-करते सब दरवाज़े तक पहुँच गये, सुनन्दा देवी बाहर निकलीं, किन्तु निकलते ही उनकी ऊँची एड़ी वाला पैर मोच खा गया। अनंग नाग ने लपक कर उनका हाथ पकड़ा।

"क्या हुआ ?"

"न जाने क्या पैर के नीचे आ गया—"

"क्या, देखूँ ?' समीरण सान्याल झुके। सुनन्दा देवी के पैर मुड़ जाने के कारण को उन्होंने हाथ में उठा लिया। "अरे, एक गुलाब ! बिल्कुल काग़ज़ में लिपटा हुआ।" उन्होंने धीरे से काग़ज़ खोल दिया; सम्पूर्ण खिले हुए लहू-से लाल गुलाब ने हँस कर मुंह दिखाया—समीरण की मुट्ठी में भी मस्त हँसता हुआ दीख रहा था—फिर चारों ओर अपनी गन्ध छिटका दी, फिर इतनी युगल आँखों के सामने मानों सिहर कर उसने गिरा दीं, एक-दो-तीन मुरझायी हुई पंखुड़ियाँ....

साहित्यिक ने ठट्ठा करते हुए पत्नी से कहा, "वाह, फूल कुचल दिया पैरों के नीचे।"

"मैं क्या जानूँ कि—"

"तो क्या हुआ", अनंग नाग ने सफ़ाई देते हुए कहा, "उस ज़माने में रूपसियों की लात खाये बिना अशोक नहीं फूलता था, आजकल गुलाब भी दीखता है मुरझाया नहीं बल्कि खिल ही रहा है !"

"कैसा सुन्दर।" माया देवी बोली।

"कैसी सुन्दर गन्ध—आहा !" लतिका देवी ने लम्बी साँस खींची।

"बहुत क़ीमती गुलाब है।" सुरेश्वर बनर्जी ने पारखियों की तरह तिरछी नज़र से देखते हुए कहा, "पचीस रुपये से कम का नहीं है !"

"क्या कहते हो ?" केमरामैन ने भौंचक्का होकर कहा।

"और नहीं तो क्या ? ऐसा गुलाब क्या आजकल पाया जा सकता है !"

इतनी क़ीमत सुन कर सब के मन में गुलाब का मूल्य बढ़ गया। यह आया कैसे? क्या कोई भूल से छोड़ गया या जान-बूझ कर रख गया? आप लोगों में तो कोई नहीं लाया? वाह हम लोग क्यों लाते? और लाते तो आपके हाथ देते, आज के शुभ दिन पर ऐसा एक फूल आपके हाथ में देना क्या कम भाग्य है!

मामा साहब बोले, "माया, तेरा कोई भक्त तुझे ही दे गया है—किसी अनिमन्त्रित का मौन निवेदन है!"

"माया को, या कि हमारी छाया को!" अनंग नाग छाया की ओर देख कर हँसे।

"हाँ, ठीक! ठीक! छाया को ही दिया है!" महिलाओं से हँसी का ठहाका उठा।

"तो फिर मुझे ही दो—" कहते-कहते छाया ने आगे आकर फूल ले लिया जीजा जी के हाथ से और बालों में खोंस लिया। काले बाल चमक उठे। सब के पीछे खड़े प्रताप ने सब सुना, सब देखा। छाया अब अलग हट कर पास आकर खड़ी हो गयी, फिर वह सर-सर हवा कँपाती हुई आयी पत्तियों से भरे पेड़ को; उस पेड़ में फूल खिल आये हैं—एकमात्र एक—लाल फूल, लाल गुलाब। उसने प्रकाश कर दिया है, प्रकाश चारों ओर फैल गया है, काले बालों के आलोकित होने से आलोक काला हो गया; सारे दिन की, सारे जीवन की, हज़ारों जीवनों की सकल कालिमा आलोकित हो गयी, एक मुहूर्त में, एक लाल गुलाब में।

....तीन गाड़ियों में से कौन किस में बैठे, सड़क पर पहुँच कर यह बहस होने लगी। किन्तु प्रताप इससे पहले ही अलग हट गया है, सूनी पटरी पर तेज़ी से पैदल चला जा रहा है, अकेला, लम्बा, काँपता हुआ, किन्तु जाड़े से नहीं, जाड़े की हवा से नहीं, वह काँप रहा है पत्तियों से लदे तरु की सर-सर हवा से, जिस तरु में अभी-अभी फूल खिला है, लाल फूल उसका फूल, उसका लहू के रंग का गुलाब, उसका लहू से भरा हृत्पिड।

(बँगला से)

फलक ३६
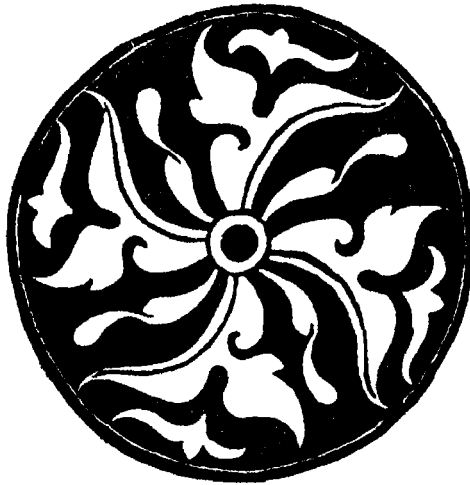
तेलुगु साहित्य

वाविल्ल वेंकटेश्वर शास्त्रुलु

भारत की भाषाओं में हिन्दी-भाषियों की संख्या सर्वाधिक है। तेलुगु बोलने वालों का संख्या की दृष्टि से दूसरा स्थान है। तेलुगु तीन करोड़ बारह लाख जनता की भाषा है। लेकिन भाषा-माधुर्य की दृष्टि से तेलुगु अद्वितीय है।

दूसरी भाषाओं की अपेक्षा तेलुगु का उच्चारण शुद्ध, स्पष्ट और मधुर होता है। उच्चारण के इन गुणों के कारण वेद आदि प्राचीन सांस्कृतिक साहित्य की विशिष्टता को बनाये रखने में यह भाषा अग्रगामी रही है। स्वरान्त होने के कारण श्रुति-मधुरता भाषा में आयी और इसी से इसका विकास भी हुआ। तेलुगु के पद्यों में चरण के प्रथम दो वर्ण (यति और प्रास) सजातीय होने के कारण यह भाषा शब्दालंकार का आश्रय बन कर न केवल साहित्य के लिए बल्कि संगीत के लिए भी उपयुक्त है।

आन्ध्र पंच-द्रविडों में से होने के कारण ईसवी सन् के पहले से ही सभ्य है। तभी से यह भाषा प्राकृति भाषाओं के सम्पर्क में आयी। उनसे प्रभावित होकर इसने वृद्धि पायी और संस्कृत की शब्दावली को अपना कर उत्तम साहित्य तथा ज्ञान- प्रसार के अनुकूल सिद्ध हुई।

तेलुगु साहित्य ने यद्यपि संस्कृत की शब्दावली को अधिकांश ग्रहण किया, तो भी अपनी मौलिकता के कारण भाषा के वैशिष्ट्य को बनाये रखने के काफ़ी अवसर उसे प्राप्त हुए। इससे विस्तृत संस्कृत-वाङमय की विशेषताएँ भी तेलुगु में आयीं। यह भाग्य की बात है कि यह सारा वाङमय तेलुगु लिपि में पाया जा सकता है। छन्द, व्याकरण, अलंकार, काव्य-नियम और काव्य-वस्तु आदि सभी प्रकार की साहित्य-सामग्री संस्कृत से पाकर उस पर अपना रंग चढ़ाकर तेलुगु ने उसे अपना ही बना लिया।

तेलुगु के पद और पद्य साहित्य में पद-साहित्य प्रथम है। वह सामान्य जनता के गेयों से निकला है। उसी से शास्त्रज्ञों ने छन्दों के नियम बनाये। ताल पर आधारित छन्द और मात्राओं से अक्षर, गण, तथा वृत्तों का नियमन हुआ; अतः मात्रा तथा गणों की सुविधा के कारण काव्य-रचना प्रधान हुई। जो वर्ण-प्रधान काव्य बना उसने संगीतमय होकर साहित्य में प्रधान स्थान पाया। संगीत तथा साहित्य में जो समन्वय हुआ उसके फलस्वरूप विशाल संकीर्तन-साहित्य का निर्माण हुआ। इस साहित्य का काफ़ी अच्छा विकास भी हुआ। पन्द्रहवीं सदी में बालाजी के संकीर्तनाचार्य, ताल्लपाका अन्नय्या ने संकीर्तन-साहित्य के लक्षण बताते हुए बारह सौ पद्यों की रचना की। इसके बाद इनके सुपुत्र पेद्द तिरुमलय्या, तथा पौत्र चिनप्पा ने क़रीब नौ हज़ार पद्य रचे, जो अभी कहीं-कहीं ताम्रपत्रों में उपलब्ध हैं। सोलहवीं शती में क्षेत्रय्या ने क़रीब चार हज़ार पद्य रचे। यद्यपि क्षेत्रय्या की रचना नवीन है तो भी तेलुगु का पदसाहित्य इन्हीं से आरम्भ हुआ माना जाता है।

तेलुगु साहित्य आशुवु, मधुरमु, चित्रमु, तथा विस्तारमु नाम के चार भागों में विभाजित है। समस्या-पूर्ति तथा प्रस्तावनात्मक रचानाएँ आदि आशुवु; पद, गेय तथा इन दोनों की सम्मिलित रचनाएँ मधुरमु; शब्द-श्लेश, तथा बन्ध कविता आदि चित्रमु; वर्णन-प्रधान महाकाव्य विस्तारमु माने जाते हैं।

ईसवी दसवीं शती से ही सब अंग साहित्य में प्रचलित हैं। लेकिन महाकाव्यों के निर्माण के कारण चौथे अंग 'विस्तारमु' का ही अधिक प्रचार हुआ और यही प्रधान रहा। बाक़ी तीन अंग गौण रहे। विस्तारमु के अन्तर्गत साहित्य का आदि-काव्य महाभारत है। महाभारत देशी भाषाओं में अनूदित संस्कृत साहित्य का प्रथम ग्रन्थ है। इस महाकाव्य के प्रथम ढाई पर्व नन्नय्या भट्ट ने रचे, तीसरे पर्व की पूर्ति एर्राप्रगड ने की, बाक़ी पन्द्रह पर्व तिक्कन्न सोमयाजी द्वारा रचे गये। तेलुगु भाषा का यही प्रामाणिक आदिकाव्य है। आन्ध्र इसे पंचम वेद मानते हैं।

'महाभारत' के बाद 'भास्कर रामायण' तथा पोतन्ना के 'भागवत' की रचना हुई। एर्रना तथा सोमा के 'हरि-वंश', और कविवर श्रीनाथ के 'नैषध' ने काव्य-क्षेत्र में पदार्पण किया। इसी समय पावुलूरि मल्लन्ना का गणित, केतन्ना

का 'आन्ध्र भाषाभूषणमु' और 'विज्ञानेश्वरीयमु,' मल्लैया का 'कविजनाश्रयमु' आदि शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना हुई। इन में से कुछ काव्य, कुछ पद्य-गद्य-मिश्रित चम्पू कहलाये।

नन्नय्या के 'भारत' की रचना के सौ वर्ष बाद, अर्थात् बारहवीं शती में, वीर-शैवों का बोलबाला रहा। इसी समय नन्नेचोडा कविराजु, मल्लिकार्जुन पंडित, पालुकुडुकि सोमनाथुडु, तथा यथावाक्कुल अन्नमय्या नामक चार कवियों का इस क्षेत्र में पदार्पण हुआ। ये ही शिव-कवि के नाम से विख्यात हैं। इन में से पहले कवि कविराज-शिखामणि नन्ने चोडा कविराजु हैं। ये सूर्यवंशी राजकवि थे, तथा पाकनाडु के अधिपति भी थे। इन्हीं ने कुमारसम्भव महाकाव्य की रचना की जो बारह सर्गों में है। सुप्रसिद्ध महाकवि कालिदास की अमर रचना कुमारसम्भव का यह तेलुगु अनुवाद है। उन्होंने स्कन्द-पुराणान्तर्गत शिवपुराण से राजा कुमार की कथा को ग्रहण किया, और संस्कृत, कर्नाट एवं आन्ध्र साहित्य के सम्प्रदायों की विशिष्टताओं का समन्वय करके तेलुगु साहित्य में प्रथम काव्य के निर्माता बनें। आन्ध्र देश के आराध्य सम्प्रदाय के स्थापनाचार्य मल्लिकार्जुन पंडित ने 'शिवतत्त्वसार' की रचना की। यह धार्मिक ग्रन्थ माना जाता है। उन्होंने इस शाखा के सम्बन्ध में तेलुगु में ही नहीं बल्कि, तमिल, संस्कृत, कन्नड, मराठी और मलयालम आदि भाषाओं में 'बसव पुराण', 'पंडिताराध्यचरित्रमु' आदि द्विपद के रूप में रच कर द्विपद शाखा की उन्नति की। इसके अलावा 'वृषाधिशतकमु,' 'बसवोदाहरणमु,' 'बसहाषकमु' आदि ग्रन्थों की रचना कर उन सारस्वत शाखाओं का तेलुगु साहित्य में समावेश किया। कर्नाटक तथा आन्ध्र में इन्हीं महात्मा के कारण वीर-शैव मत हमेशा के लिए स्थिर हुआ। इन देशों के वीर-शैव मत का साहित्य इन्हीं के व्यक्तित्व की बुनियाद पर स्थित है। अन्नमय्या ने 'सर्वेश्वर-स्तोत्र' में शिवस्तुतियों को संगृहीत कर पारायण ग्रन्थ बनाया।

इन शिव-कवियों के ग्रन्थ संस्कृत से अनूदित ग्रन्थ नहीं हैं। इन ग्रन्थों की कथावस्तु, भाषा, पात्र आदि आन्ध्र होने के कारण स्वतन्त्र रूप में इनकी रचना हुई है और ये ग्रन्थ सर्वथा मौलिक हैं।

मध्य युग में श्रीनाथ, जक्कन्ना, पिल्ललमर्रिपिन्न वीरन्ना, नन्दि मल्लय्या, घंटा शिंगय्या आदि कवियों ने पुराण ग्रन्थों की रचना की। कविश्रेष्ठ श्रीनाथ ने सारे आन्ध्र देश का भ्रमण किया, राजा-महाराजाओं का दर्शन किया और कनकाभिषेक के अधिकारी बने और गौरवान्वित हुए। ऐसे कवि सार्वभौम भी शिव-कवि ही हैं। इन के 'भीम खंड', 'हरविलास', 'काशी खंड', 'शिवरात्रि-माहात्म्यमु' आदि ग्रन्थ पन्द्रहवी शती के आन्ध्र देश के इतिहास के प्रतिबिम्ब हैं।

पहले-पहल पूर्व के चालुक्यों के काल में राजराज नरेन्द्र के नाम से एक राजा प्रसिद्ध था जिसके राजत्व में महाभारत-रचना का आरम्भ हुआ और यह महाकाव्य काकतीय राजाओं के समय में पूर्ण हुआ। रेड्डि राजाओं के राजकाल में एर्रन्ना तथा श्रीनाथ हुए। विजय नगर की स्थापना इनके बाद हुई। विजय नगर साम्राज्य के राजाधिराज कृष्णदेवराय का समय तेलुगु साहित्य का स्वर्ण-युग है। उनके दरबार में अष्ट-दिग्गज रहा करते थे। आन्ध्र कविता-पितामह तथा 'मनु-चरित्र' के रचयिता अल्लसानी पेद्दन्ना, मधुरता के आगार 'पारिजातापहरण' प्रबन्ध काव्य के रचयिता मुक्कुतिम्मन्ना, 'काल-हस्ति-माहात्म्यमु' के रचयिता शैव धूर्जटि, 'राजशेखर'-रचयिता मादय्या वंश के मल्लन्ना, 'सकल-कथासार-संग्रह' के रचयिता एलकूचि रामभद्रय्याकवि, 'राधा-माधव' के चिन्तलपूडि एल्लकवि तथा हास्य रस के चतुर सुविख्यात कवि तेनालि रामलिंग उस काल के थे। श्रीकृष्णदेवराय स्वयं कवि बने; उन्होंने 'आमुक्त माल्यदा' प्रबन्ध काव्य की रचना की। इन्हीं के काल में वैष्णव मत का विशेष रूप से प्रचार हुआ।

उस के बाद विख्यात कवियों में से रामराजभूषण तथा पिंगल सूरना आदि मुख्य हैं। 'वसु चरित्र', 'हरिश्चन्द्र-नलोपाख्यान' के रचयिता तथा संगीत कला के आचार्य रामराजभूषण हैं। 'राघवपांडवीय' नामक श्लेष-प्रधान काव्य, अद्भुत घटनाओं का आगार 'कलापूर्णोदय' नामक प्रबन्ध काव्य, रस और रुचि का भंडार 'प्रभावती प्रद्युम्न' आदि पुस्तकें श्री कवि पिंगलि सूरना के कृतिरत्न हैं।

सन् १५६५ में तालिकोटा के युद्ध के बाद विजयनगर साम्राज्य का अस्त हुआ। दक्षिण में तंजौर, मधुरा, पुदुक्कोटा, मैसूर, कार्वेटि नगर आदि आन्ध्र साहित्य के मुख्य केन्द्र बने। दक्षिण में जिस साहित्य का निर्माण एवं विकास हुआ उस को दक्षिणान्ध्र वाङ्मय कहते हैं। इस साहित्य में भिन्न-भिन्न प्रदेशों के सारस्वत का समावेश हुआ और उनका प्रचार भी। प्रौढ़ ग्रन्थों के अंश, यक्ष गान, नाटक आदि तंजौर में; गद्य साहित्य मधुरा में; शास्त्रीय ग्रन्थ पुदुक्कोटा में तैयार हुए। तंजौर के राजा रघुनाथ नायक, जिन्होंने 'वाल्मीकिचरित्र', 'नलचरित्र' आदि ग्रन्थों की रचना की, कुशल कवि तथा बेजोड़

संगीतज्ञ थे। इन्हीं के समय में 'विजय-विलास' नामक सुन्दर चमत्कार-पूर्ण प्रबन्धकाव्य की रचना चेमकूरि वेंकटरमणय्या ने की, और उसमें राजा को अंकित किया। विजयराघव नायक ने अनगिनत यक्ष गान नाटकों की रचना की। इन्हीं नायक राजाओं के समय में रंगाजम्मा, रामभद्रम्मा, मधुरवाणी, कृष्णाजी आदि कवयित्रियाँ हुईं। तेलुगु में इनके कुछ पहले 'मोल्ल' कवियित्री ने रामायण की रचना की, जो सर्वप्रथम स्त्री-कवि मानी जाती है। बाद को 'राधिकासान्त्वनमु' की रचयित्री मुद्दुपलनी तंजौर में प्रसिद्ध हुई।

मधुरा में 'विजयरंग चोक्कनाथ' ने गद्य काव्यों की रचना की। कुन्दुर्ति वेंकटाचलकवि, अलगरकवि, समुखमु वेंकट-कृष्णप्पा नायुडु, 'तारा-शंशाक-विजय' के रचयिता शेषमु वेंकटपति, इन्हीं नायक राजा के दरबारी कवि थे। मैसूर में कलुवे बीरराजु ने गद्य में महाभारत की रचना की। इनके पुत्र नंजराजु ने 'हालास्य माहत्म्यमु, नामक गद्य ग्रन्थ की रचना की। कंठीरव नरसराजु ने 'सिद्धवन्त विलासमु,' 'गज-परीक्षा' आदि ग्रन्थों की रचना की। इससे वहाँ की साहित्यिक प्रगति का पूरा-पूरा पता चलता है।

पुदुक्कोटा में रघुनाथ तोंडमानुराजु ने 'पार्वती-परिणय' तथा 'कविजनोज्जीवनी' नामक समस्या-पूरक ग्रन्थों की रचना की। इन्हीं के दरबार में महान् उद्दंडी नुदुरूमाटि वेंकट नायुडु ने 'आन्ध्रभाषार्णवमु' नामक कोष तथा 'मल्लपुराणमु' की रचना की। नायनप्पा कवि ने 'खड्गलक्षण' की रचना की। ऐसा आन्ध्र कोई न होगा जो 'आन्ध्रभाषार्णवमु' को न जानता हो।

कार्वेटि नगर के महाराजा माकराजु को श्री चदलवाड़ मल्लन्ना ने 'विप्रनारायण चरित्र' समर्पित किया। राजा माकराजु के पौत्र माकराजा के समय में शार्ङ्गपाणि पदों के रचयिता एवं संगीतशास्त्र के मर्मज्ञ शार्ङ्गपाणि हुए। उन्होंने 'चम्पूरामायण' वेल्लंटि कसवराजु को समर्पित की। इन महाराजाओं ने तेलुगु भाषा का विशेष रूप से पोषण किया। आडिदमु सूरकवि, एनुगु लक्ष्मण कवि, कूचिमंचि तिम्मकवि, कंकंटि पापराजु, पुष्पगिरि तिम्मन्ना आदि इस समय के उत्त-रान्ध्र के प्रसिद्ध कवि हैं। 'तपतीसंवरणोपाख्यान' तथा ठेठ तेलुगु में रचित प्रथम प्रबन्ध 'ययातिचरित्र', जो मुसलमान राजाओं को समर्पित किये गये हैं, सोलहवीं शती के हैं।

उन्नीसवीं शती में तेलुगु साहित्य का सर्वतोमुखी विकास हुआ। वह प्राचीन कविता का युग था, यह नवयुग गद्य-युग है। मुद्रणालय, शान्त वातावरण, पत्र-पत्रिकाओं तथा विश्वविद्यालयों की स्थापना के बाद तेलुगु साहित्य का आशा-तीत विकास हुआ। पद्यों का अनुवाद प्राचीन रीति से होता था। नवीन रीति खंडकाव्यों के रूप में आने लगी। उपन्यास, कथा-साहित्य, एकांकी आदि साहित्य के नवीन अंगों का विकास दिन दूना रात चौगुना हो रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि पत्रिकाओं का स्थान साहित्य में सर्वप्रथम होगा। नवीन साहित्य का परिणाम क्या होगा, इसका निर्णय समय ही कर सकता है।

(तेलुगु से)
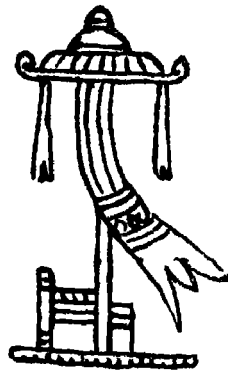
इतिहास का स्वप्न

जी० शंकर कुरुप

हँसिया-सा पतला और क्षीण चाँद
फिर दीखता है पश्चिम के कोने में
भागते बादलों की झालर के छोर पर,
और उसकी फीकी किरण मानों खींचती है सीमा-रेखा
अपने डगमगाते साम्राज्य की—
न सुनते हुए सन्देश उस उमड़ते तूफ़ान का
जो पृथ्वी की ही संकुचित सीमाएँ मिटा देगा,
न देखते हुए अन्तरिक्ष की उन दिव्य आँखों को
जो नीचे झाँक कर केवल अद्वैत देखती हैं !

आगरे में
इतिहास के विराट रथ के नीचे कुचले हुए
स्वप्नों की धूल का कफ़न ओढ़े सोता हुआ
चौंक कर जाग उठा अकबर सदियों की नींद से,
और बड़बड़ाया : "आह, मैंने अल्लाह की एकता तो घोषित की,
जैसा कि मैंने मतान्धों के धर्मग्रन्थों में पाया,
पर नहीं पायी, नहीं प्रमाणित की मानव की एकता
रक्त और आँसू के सागर में !"

बन्द हो गयीं थकी पलकें, और उन पर ढुलक पड़ी
साँस से काँपी हुई दो पंखड़ियाँ लाल गुलाब की
मानो चू पड़ा हो रक्त भारत के ललाट से
भ्रातृघाती के छुरे के तीखे आघात से ।
यमुना का जल और काला पड़ गया—
अपने प्रत्येक आवर्त में बाँधता हुआ शोक के फूलों को ।
देखकर मन्दिरों, मसजिदों, नगरों और ग्रामों को—
जिन्हें हिन्दू-मुस्लिमों ने मिल कर बनाया था—
बनते हुए संस्कृति की श्मशान-भूमि
जहाँ जलती है अनवरत चिता साम्प्रदायिक घृणा की ।

दिल्ली में
कफ़न के अन्दर जागा उदास औरंगज़ेब
और स्मृति को कुरेदने लगा ।
तारों की तसबीह लिये हुए रात ने

उसे देखा और पीली पड़ गयी :
कौन है वह ? और क़ब्र को आँसुओं से भिगोने वाली
उन आँखों में कितना परिवर्तन, कितना अनुताप !

महान् विजेता औरंगज़ेब ने
लपेट ली थी अपनी तसबीह राजदंड की मूठ पर
और बल दिये थे इतने कि तसबीह
भयानक हो उठी थी : उससे झर उठे थे
आँसू और लहू, और राजदंड टूट गया था।
विजेता सिर से पैर तक वीर था
और पूरे हृदय से धर्मवान्—
उसने पिता के आशंका और स्नेह और दुःख से काँप रहे हाथ से
छीन लिया था सुनहला राजदंड :
उसी ने जीते जी देख लिया
अपनी आँखों से, अपने साम्राज्य को खंड-खंड ध्वस्त होते—
बन जाते केवल एक विराट् स्वप्न इतिहास का !

सम्राट् ने बंद कर लीं अपनी गीली आँखें,
आकाश की विद्रूप मुस्कराहट की तरह चमक उठा
एक गिरता उल्का-खंड !
पूना में भी, एक प्राचीन चिता पर
दो आँखों ने धुँधला-सा देखा एक करुण दृश्य :
क्या अब भी, इतिहास की गति के प्रतिकूल
हिन्दू साम्राज्य का स्वप्न जगमगा रहा है ?
'मुझे नहीं सह्य था कि कोई मुस्लिम मस्तक धारण करे
सम्राट का मुकुट : काल को भी सह्य नहीं हुआ मेरा
हिन्दू साम्राज्य की पीठिका को
शोणित से सींचना।'

शिवाजी ने आँखें बन्द कीं और खोलीं
और मुँह उठाये पहाड़ियाँ चुपचाप
उनके शब्द सुनती रहीं।

'विभाजन की भावनाएँ सभी तमजात हैं :
सत्य का आलोक ऐसे बन्धन कब सह सकता है ?
एक ओर अविभाजित सत्य की किरणें
स्मरण करती हैं कि कैसा जीवित सम्बन्ध उनका है
और एक दूसरे को घेरती हैं आलिंगन में
माधुर्य बिखेरती हुई—और नया प्रभात होता है !'

आकाश का मौन विशाल और अचंचल
खेलता था इन विचारों से,
और उधर—दिल्ली, पंजाब, श्रीनगर में

हहराता था तूफ़ान, गलियों में बिखरे रुंड-मुंडों के
लहू से लाल, भारी दुर्गन्ध-युक्त !

तूफ़ान के बर्फ़ीले स्पर्श से
जड़ हो गया था मानों इतिहास :
किन्तु बंग के उस मनीषी कवि ने, जिसमें स्पन्दित था
अमर मानव-प्रेम, मृत्यु की गोद से उठाया
निज धवल-केश मस्तक, देखा एक बार
चारों ओर, आँखों में लिये शुभ्र आलोक
सत्य और सुन्दर का :
गूँज गया गीत-स्वर सागर की एकतान गर्जना के ऊपर भी।
'हे महात्मा, जिसने जगत को प्रेम की भाषा सिखायी थी,
हे राष्ट्र-पिता, क्षमा करो !
कारावास था हमारा देश, जहाँ जीर्ण-रुग्ण-संस्कृति
गिनती थी साँसें दूषित विषैली अन्धकार में
तुमने उसे मुक्त किया अहिंसा की कुंजी से।
किन्तु मुक्त होते ही विषैली साँस का
विष सारे देश पर छा गया !
तो भी, तुम्हारी आत्म-शक्ति से अनुप्राणित हमारा देश
बचा रहेगा, जियेगा; और आवेगा समय जब
विश्व की चकित आँखें देखेंगी :
भारत सारे पूर्व का नेता, मार्गदर्शी है।
राजघाट की चिता का आलोक
भावी युग में सारे विश्व को आलोकित करेगा।'

भारत की स्वाधीनता की उषा के प्रकाश ने
रच दिया प्रभा-मंडल कवि के भव्य मस्तक के चारों ओर
सागर की लहरें मुदित हो गीत के ताल पर नाच उठीं
और उसके मधुर स्वर को समवेत गा उठीं !

(मलयालम से)
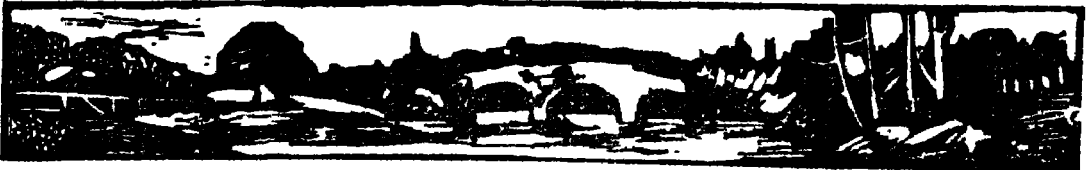
कवि और कविता

'यशवन्त'

कवि :

तुझ से न कोई बोले,
तेरे साथ न कोई चले !
जीवन ही बिगड़ गया
तेरे कारण ।

देखा तेरा कर्पूर-गौरांग,
इन्द्रधनु में देखे इशारे,
दामिनी में भ्रू-भंग खेलते
दीख पड़े;

तेरी पद-धूली में से
नक्षत्रों को देखा बनते,
स्वेदबिन्दु से सिन्धु निकलते
देखे मोती-भरे ।

मदिरा से मदिर
सुधा से मधुर
मादन है रूप तेरा—
कहाँ तक पियूँ ?

तूने कभी न की अवहेला,
इसी कृपा के सहारे
इसी भाव से फिर तकता हूँ द्वार
फिर पास आया हू :

तेरे नयनों में पैठ कर
तेरी बाहों में लिपट कर
तेरा श्वास में बन जाऊँ
यही साध है ।

इसी से छोड़ सब आराम
ठुकराकर ठौर-धाम,
यह लम्पट लेने को विराम
चरणों में आया है ।

फलक ३७

फलक ३७

फलक 39
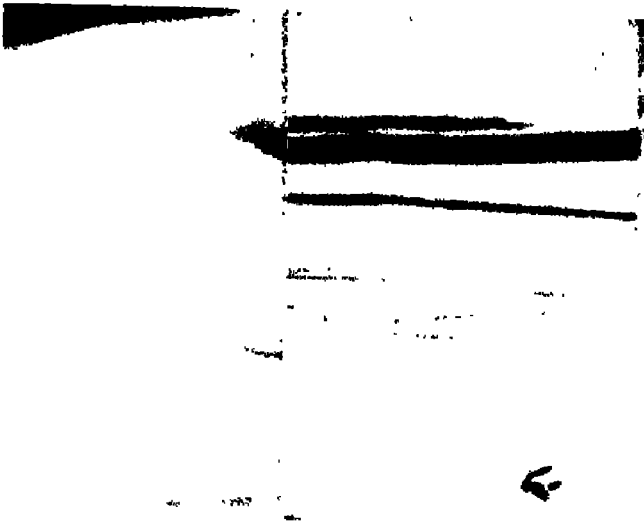
मैं कंगाल, भाग्यहीन ,
क्यों तू मेरी देहरी पर
फिर-फिर लौटती है ?
लाभ क्या ?

कविता :

यह भी हृदय खोल कर
निवेदन करने को
मुझे छोड़ और कौन
तेरा है ?

इसी भाँति, मुझे छोड़
श्रवण बना के अंग-प्रत्यंग को,
और कौन तेरी बात
सुनने वाला है ?

इस लिए, महाभाग,
छोड़ यह रूठना, सिर धुनना,
तेरा-मेरा स्नेह-धागा
है अटूट ।

दूर कर मैल यह मन का,
आ, हमारी नृत्यक्रीड़ा हो,
साथ यह बना रहे
कल्प-कल्पान्त तक ।

पुष्प-मधु करें प्राश,
विधु-कर सेवन करें,
ऋतुओं के रथ पर चढ़ कर
आओ, चलें !

(मराठी से)

मलयालम साहित्य की प्रारम्भिक अवस्था

चि० कुञ्ञन् राजा

मलयालम केरल अथवा मलाबार प्रदेश की एक करोड़ बीस लाख जनता की भाषा है। केरल पश्चिमी घाटों और अरब समुद्र के दक्षिण-पश्चिम में है। इस प्रदेश का और वहाँ की भाषा और साहित्य का प्रारम्भिक इतिहास रहस्य से आवेष्टित है; उनका कुछ विश्वसनीय लेखा नहीं मिलता है। आज जो साहित्य मिलता है वह प्रायः उसी समय से बढ़ने लगा, जब कि भारत और यूरोप में आधुनिक जगत् की भाषाएँ अपना साहित्य विकसित कर रही थीं। लगभग सन् १००० ई० को हम दुनिया के साहित्यों में प्राचीन और आधुनिक काल-खंडों की सीमा-रेखा कह सकते हैं। यूरोप में उसी समय के लगभग लातीनी भाषा मृत भाषा बन गयी, और इतालवी, फ़्रांसीसी, इस्पानी, और अंग्रेज़ी प्रभृति आधुनिक भाषाएँ अपने साहित्यिक पथ पर अग्रसर हुईं। भारत में भी प्रायः उसी समय से संस्कृत में उत्तम साहित्यिक कला की अभिव्यक्ति क्षीण होने लगी और दक्षिण की भाषाएँ यथा तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम अपने स्वतन्त्र साहित्य की अभिवृद्धि करने लगीं। तमिल की परम्परा तो एक सहस्र वर्ष पूर्व से चली आती थी। उत्तर में इसी समय मराठी, गुजराती, और बँगला ने साहित्यिक प्रगति आरम्भ की।

इन विभिन्न भाषाओं में प्रायः एक ही समय प्राचीन साहित्यों का लोप और नये साहित्यों का निर्माण कैसे आरम्भ हुआ, इसके कारण का पता नहीं चलता। पूर्व में विश्व के कुछ महान् उपदेशक, जैसे लाओ-त्से, कुङ्-फू, बुद्ध और महावीर प्रायः समकालीन थे और पश्चिम में प्लातू थोड़े समय बाद पैदा हुआ।

अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं की भाँति मलयालम में भी सन् १००० से जो साहित्य-विकास हुआ, उसने संस्कृत साहित्य का स्थान छीना नहीं बल्कि उसी को एक नये माध्यम द्वारा विकसित किया। प्रेरणा संस्कृत से मिली; विकास भी संस्कृत के विद्वानों द्वारा हुआ। संस्कृत से ही रूप, रीति, शैली और मान लिये गये; वस्तु भी अधिकतर संस्कृत से ही ली गयी। यहाँ तक कि जब नये काव्य की रचना स्वतन्त्र स्थानीय विषयों को लेकर होती, तब भी उसमें यथेष्ट मात्रा में संस्कृत से पाये हुए तत्त्वों का समावेश रहता।

अब तक यह माना जाता रहा है, और अब भी यह धारणा फैली हुई है कि केरल में किसी समय केवल तमिल ही थी और मलयालम तो तमिल का बाद का रूप-विकास है। यह सच है कि तमिल के बहुत-से प्राचीन ग्रन्थ जो आज प्राप्य हैं, केरल में ही रचे गये थे। परन्तु यह निश्चित नहीं है कि तमिल ही तत्कालीन स्थानीय भाषा थी, या कि दक्षिण भारत की एकमात्र विकसित भाषा होने के नाते वहाँ के लोग उससे परिचित थे।

केरल का सामाजिक जीवन उत्तर के कन्नड प्रदेश से अधिक मिलता-जुलता था, पूर्व के तमिल प्रदेश से इतना नहीं। आज जो कन्नड और तेलुगु भाषा के प्रदेश हैं, वहाँ भी तो इन भाषाओं के साहित्य के विकास के पूर्व कोई भाषा रही ही होगी। उसी प्रकार केरल प्रदेश में भी कोई भाषा रही होगी। यह नहीं कहा जा सकता कि आज के समूचे द्रविड़ प्रदेश में एक समय केवल तमिल ही बोली जाती थी। यह सम्भावना है कि मलयालम भाषा केरल प्रदेश में प्रचलित रही हो, यद्यपि उसमें कोई विकसित साहित्य न रहा हो; और प्रतिवेशी तमिल साहित्य इस प्रदेश में भी जाना जाता हो।

इस प्रादेशिक भाषा के साथ संस्कृत का संसर्ग उसकी साहित्यिक जागृति का प्रेरक हुआ। सच बात तो यह है कि तमिल में भी ऐसा आरम्भिक साहित्य नहीं पाया जाता जिस पर संस्कृत का प्रभाव न पड़ा हो। तमिल में भी साहित्य का विकास होने से पहले, संस्कृत से रूप, रीति, शैली, मान आदि की छाप उस पर पड़ चुकी थी। तमिल में यह विकास अन्य दक्षिणी भाषाओं से कहीं पहले हुआ। वास्तव में जिस साहित्य को हम दक्षिण भारतीय कहते हैं वह संस्कृत का भारतीय साहित्य ही रहा, किन्तु इतर भाषा के चोले में।

कई भारतीय भाषाओं में, साहित्य का आरम्भ भक्ति अथवा स्तवन के धार्मिक गीतों से हुआ। परन्तु तमिल में लक्ष्य होता है कि उसके आरम्भिक साहित्य की श्रेष्ठ रचनाएँ सर्वथा लौकिक हैं। आरम्भ-कालीन तमिल साहित्य में

स्थानीय नायक, नायिकाएँ, स्थानीय कथा-प्रसंग, स्थानीय दृश्य और स्थानीय रूढ़ियों-रीतियों की भरमार है। मलयालम की भी वही बात है। तमिल में 'पत्तुपाट्टकल्' जैसे गीति काव्य शुद्ध लौकिक विषयों को लेकर हैं, लम्बे महाकाव्य 'चिलप्पतिकारम्' की वस्तु भी स्थानिक और लौकिक है, यद्यपि उसमें कुछ धार्मिक छटा है।

संस्कृतज्ञों द्वारा मलाबार के जनसाधारण को उसी की भाषा में संस्कृत साहित्य समझाने के प्रयत्न से ही मलयालम साहित्य का विकास हुआ। मलाबार के मंच पर संस्कृत नाटक खेले जाते, संस्कृत का कथा-साहित्य भी सुनाया जाता। कथा और उसकी व्याख्या के बीच-बीच उसका अभिनय भी आ जाता। आजकल पायी जाने वाली आरम्भिक मलयालम कविताएँ इसी उद्देश्य से रची गयी जान पड़ती हैं कि संस्कृत नाटकों के अभिनय में बीच-बीच में सुनायी जावें।

मलयालम की ऐसी आरम्भिक कविताओं के कुछ नमूने हाल में प्रकाश में आये हैं। वे संस्कृत चम्पू के ढंग पर हैं—गद्य-पद्य-मिश्रित; परन्तु मलयाली चम्पुओं में संस्कृत छन्दों के साथ-साथ मलयाली छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। सब में नायिका स्थानीय है; कभी इन्द्र, कभी चन्द्र, कभी कोई गन्धर्व उस नायिका पर मोहित होकर उससे मिलने पृथ्वी पर उतरता है। इस प्रकार कवि की नायिका के वास-स्थान के मार्ग के कई स्थानीय दृश्यों के वर्णन का मौक़ा मिल जाता है, उस प्रदेश के रीति-रिवाजों का भी वर्णन हो सकता है और वहाँ की अलग-अलग जातियों, धन्धों-व्यवसायों और उनकी विशेषताओं का भी। कथा-सूत्र स्थानिक होता है परन्तु जहाँ-तहाँ संस्कृत से लिये हुए विचार और कल्पनाएँ उसे अलंकृत करती हैं।

मलयालम साहित्य आरम्भकाल में इस संस्कृत-सामग्री से इतना ओतप्रोत नहीं था। वह तो बीच-बीच में नमक की चुटकी बराबर रहता था। रामायण, महाभारत, भागवत आदि संस्कृत महाकाव्यों का मलयालम में अनुवाद तो बहुत पीछे की घटना है। तब से स्थानिक विषय पीछे पड़ गये और भाषा की सभी सर्वोत्तम रचनाओं में संस्कृत-सामग्री प्रधान विषय बन गयी। किन्तु इस काल में भी, 'चन्द्रोत्सव' जैसे सुन्दर काव्य स्थानीय नायिका के विषय में ही रचे गये। 'चन्द्रोत्सव' इस काल की श्रेष्ठ रचनाओं में से एक है। एक और काव्य 'राजरत्नावलीयम्' कोचीन के एक राजा से सम्बन्ध रखता है। कदाचित् स्थानिक नायिकाओं और स्थानिक विषयों के इसी प्रेम के कारण संस्कृत कहानियों का बाहुल्य हो जाने पर मलाबार के कवियों ने सन्देश-काव्य लिखना आरम्भ किया। सन्देश-काव्यों में उन्हें अपनी राष्ट्रीय प्रतिभा को सर्वोत्तम ढंग से व्यक्त करने का अवसर मिला। उनका ढाँचा तो संस्कृत का है परन्तु विषय और दृश्य स्थानिक हैं।

संस्कृत के विषय लेने पर भी मलाबार की जनता का अपने प्रदेश के प्रति प्रेम और अभिमान बना रहा और संस्कृत महाकाव्य से लिये कथानकों पर आधारित बाद के चम्पुओं में भी स्पष्ट प्रादेशिक छटा है। संस्कृत से सामग्री लेने पर भी यह प्रादेशिकता ही काव्य को वास्तविक महत्त्व देती है। यह स्थानिक रंग या प्रादेशिकता बहुत पीछे के एक कवि कुंचन नम्बियार के काव्य में, जो केवल दो सौ वर्ष पूर्व हुआ, प्रचुर मात्रा में व्यक्त हुई, और वह अभी हाल तक भी स्पष्ट थी। पाश्चात्य साहित्य के प्रवेश के बाद की आरम्भिक काव्य-रचनाएँ भी इसी प्रादेशिक छटा को लिये हुए थीं। स्थानीय रंग और वैशिष्ट्य का लोप तो केवल समकालीन साहित्य में आकर हुआ। आज की कविता, भाषा के कारण मलयालम की कविता तो है पर 'मलयाली' वह अब नहीं रही; उसका वह प्रादेशिक वैशिष्ट्य नष्ट हो गया है। अठारहवीं शती के कुंचन नम्बियार या उन्नीसवीं शती के वेणमणि की काव्य-रचना में से पचास पंक्तियाँ ऐसी नहीं निकाली जा सकतीं जिनमें कुछ विशिष्ट मलयाली छाप न हो; पर आज के जीवित मलयाली लेखक की कविताओं पर कविताएँ अनूदित करते चले जायें, उनमें उसकी मूल भूमि का ज़रा भी संकेत न मिलेगा। उन सब का ढाँचा बाहर से लिया गया है।

मलयालम भाषा में जब साहित्य का प्रणयन होना आरम्भ हुआ, तब संस्कृत को नये साहित्य में आने तो दिया गया, परन्तु उसे मलयाली संस्कार देकर आत्मसात् कर लिया गया। संस्कृत ने मलयालम को समृद्ध बनाया; उसे कुचल नहीं डाला। मानों पूँजी उधार लेकर व्यापार चलाया जा रहा हो। वस्तु और भाषाशैली दोनों के सम्बन्ध में यह सच था। मलयालम की शब्द-सम्पदा बढ़ी—एक विशेष प्रकार की मलयालम कविता में तो संस्कृत शब्द अस्सी प्रतिशत से भी अधिक होने लगे—फिर भी भाषा मलयालम से प्रामाणिक रही; संस्कृत बहुसंख्या पर भी मलयाली भावना का आधिपत्य रहा।

मलयालम-संस्कृत के 'मणि-प्रवालम्' समन्वय के ढंग का मलयालम-तमिल का समन्वय करने का भी प्रयत्न किया गया परन्तु वह चला नहीं। इसी मलयालम-तमिल भाषा के आधार पर ही, जो कि केरल में मृत हो गयी, कुछ लोगों

ने यह सिद्धान्त गढ़ा कि मलयालम तो तमिल से निकली है और क्रमशः उसका तमिल तत्त्व नष्ट हो गया। वास्तव में ऐसा नहीं है। जब मलयालम साहित्य फूल-फल रहा था उस समय मलाबार के शासक बलवान् थे। परन्तु पीछे पूर्व से पांड्य-चोल राजाओं का प्रभुत्व फैला और उन्होंने मलाबार पर आक्रमण भी किया। इन्हीं विजयी पांड्य-चोल राजाओं के समय 'मणि-प्रवालम्' मलयालम-संस्कृत के ढंग पर मलयालम-तमिल संगम की भाषा निर्मित करने का प्रयत्न किया गया।

ईसा की प्रारम्भिक शतियों में केरल प्रदेश में बौद्ध और जैन धर्म बहुत प्रचलित रहे होंगे। उस समय भाषा में साहित्य का विकास नहीं हुआ था। यह तो 'हिन्दू' पुनर्जागरण और उसके साथ मलयालम पर संस्कृत के प्रभाव का फल था कि इस भाषा में एक समृद्ध साहित्य की अभिवृद्धि के लिए आवश्यक बल और प्रेरणा मिली। मलाबार के संस्कृत पंडितों ने मलयालम में यह साहित्यिक अभ्युन्नति आरम्भ की और इसे समृद्धि और वैशिष्ट्य प्रदान किया।

मलयालम साहित्य के जो भी प्राचीनतम नमूने मिलते हैं, विशेषतः मलाबारी नायिकाओं, मलाबारी प्राकृतिक सौन्दर्य, और मलाबारी रीतिरिवाजों को लेकर जो कुछ लिखा गया है, उसमें भी एक प्रकार की परिपक्वता है जो कि कुछ एक शतियों के विकास के बिना नहीं आ सकती। भाषा का परिमार्जन, शैली की प्रसादमयता, छन्दों की विविधता, संगीत और लय सब विकास की एक लम्बी परम्परा के सूचक हैं। और इन आरम्भिक नमूनों में ऐसा कुछ नहीं है जिसे तमिल कहा जा सके। तमिल प्रभाव तो मलयालम में बहुत पीछे आया।

मलयालम साहित्य की आरम्भिक अवस्था के ग्रन्थों में मुख्य हैं तीन चम्पू 'उण्णियाटिचरितम्', 'उण्णियच्चि-चरितम्' और 'उण्णिच्चिरुतेविचरितम्' (तीनों के अंश ही उपलब्ध हैं), 'उण्णुनीलि-सन्देश' नामक सन्देश-काव्य और 'चन्द्रोत्सव' नामक महाकाव्य। तीनों चम्पुओं में मलयालम छन्दों के साथ-साथ कई संस्कृत छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। अन्य ग्रन्थों के छन्द संस्कृत के ही हैं।

'लीलातिलकम्' नामक मलयालम अलंकार-शास्त्र का एक ग्रंथ संस्कृत में है। उसमें ऐसे कई ग्रन्थों के सन्दर्भ हैं जो उपर्युक्त रचनाओं से मिलते-जुलते जान पड़ते हैं; किन्तु इनमें कोई भी अब उपलब्ध नहीं हैं। ये सन्दर्भ ही उनके एकमात्र अवशेष हैं।

इस आरम्भिक काल में कुछ भक्ति-साहित्य भी मिलता है, जिसमें साहित्यिक गुण भी पर्याप्त मात्रा में हैं। परन्तु साहित्यिक कला की दृष्टि से यह तत्कालीन लौकिक साहित्य के निकट नहीं पहुँचता। महाभारत, रामायण तथा भागवत मलयालम साहित्य में पीछे आये। संस्कृत के इतने गहरे प्रवेश के बावजूद मलयालम साहित्य की विशेषता अक्षुण्ण रही। संस्कृत और मलयालम साथ-साथ विकसित हुईं; मलयालम ने संस्कृत के साथ उतनी ही समृद्धि पायी, संस्कृत से सामग्री और शैली दोनों ग्रहण करते हुए उसने अपनी निजता और मौलिक प्रतिभा को बनाये रखा।

आज जो प्राचीनतम मलयालम साहित्य मिलता है, वह सन् १३०० से पूर्व का नहीं है। परन्तु इससे जो विकास और परिपक्वता परिलक्षित होती है, उससे ऐसा जान पड़ता है कि यह साहित्य कम से कम तीन शती पहले से पनपता आ रहा होगा। उसी समय से इसका विकास बराबर होता रहा और इसकी प्रगति बड़ी जल्दी हुई। यहाँ तक कि मलयालम को आज के सबसे सम्पन्न भारतीय साहित्यों में गिना जा सकता है।

(मलयालम से)
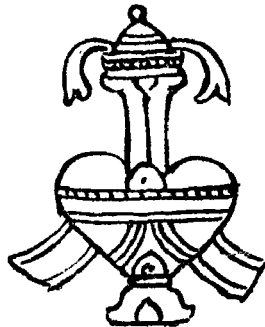
मोहनाश

श्रीनिवास राघवन्

अनुश्रुति है कि तमिल कवि कम्बन, जिसका 'रामावतार' तमिल का महान् काव्य है, चोल का राजकवि था, जब साम्राज्य उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर था; तथा उसके पुत्र अम्बिकापति को चोल राजकुमारी अमरावती से प्रेम हो जाने के अपराध में मृत्यु-दंड मिला था। इसी अनुश्रुति पर यह आधारित है। नाटिका का कथा-काल ईसवी बारहवीं शताब्दी है। जो वस्तु यहाँ प्रस्तुत की गयी है उसके लिए किसी ऐतिहासिक प्रमाण का दावा नहीं है।—लेखक

प्रथम दृश्य

(चोल राज-प्रासाद में)

[तृतीय प्रहर का चमकीला प्रकाश खुले वातायनों से पीछे कमरे में बिछे नीले ग़लीचे पर चित्रित बड़े लाल कमल पर तिरछा पड़ रहा है। बायीं ओर एक गुलाबी पर्दा उड़ रहा है, उस पर कढ़े हुए सुनहरी चीते प्रकाश की विभिन्न झिलमिलाहट से हिल रहे हैं। अम्बिकापति पास ही खड़ा खिड़की से बाहर देख रहा है। उसके चारों ओर क्या हो रहा है इससे बेसुध-सा प्रतीत होता है। दायीं ओर दो सजी हुई आसन्दियों पर कवि कम्बन तथा चोल सम्राट् बैठे हैं। पर्दा उठने पर दोनों गम्भीर वार्तालाप में व्यस्त दिखाई देते हैं।]

चोलराज—(**तीखी हँसी के साथ**) हाँ महाकवि, क्या तुम अनुमान कर सकते हो कि यह अपराध करने वाला कौन है ?

कम्बन—(**धीमे स्वर में, दृढ़ता से**) नहीं। किन्तु वह कोई भी हो, उसका दंड मृत्यु है।

चोलराज—सच ? मुझे आश्चर्य है यदि. . . .देखिये महाकवि क्या आप निश्चित हैं कि जब आप को मालूम हो जाय कि वह कौन है तो बदलेंगे नहीं ?

कम्बन—(**मृदु मुस्कराते हुए**) यह सत्य है राजन् ! कि कवि-हृदय कोमल होता है। हम कवि, समस्त चेतन वस्तुओं में समानता का ही अनुभव करते हैं और हमारे हृदय असीम करुणा से ओतप्रोत रहते हैं। किन्तु कम्बन, कवि होते हुए भी कभी न्याय के पथ से विचलित नहीं हुआ। करुणा और सहानुभूति ने कभी उसकी स्वच्छ दृष्टि को आच्छादित नहीं कर पाया है। हम कवि हैं। समस्त मानव-समुदाय के मनोवेग और मनोकामनाएँ, हर्ष एवं शोक हमारे हैं। किन्तु धर्म का तन्तु समस्त विश्व को लपेटे है। हम वह हैं जो कि कभी भी उसके परे गड़बड़ी में पग नहीं रखते। अपराध अपराध है, अपराधी कोई हो।

चोलराज—(**तीखे स्वर में**) ओह ! किन्तु उसका नाम लेने में भी मुझे वेदना होती है। क्या तुम जानते हो जिसने यह किया है, जिसने इस पाप का गौरव लिया है, तुम्हारा पुत्र है, अम्बिकापति !

कम्बन—क्या (**धक्का-सा खा कर**)अम्बिकापति ? मेरा पुत्र ? मैं नहीं समझता. . .

चोलराज—(**उपहास के स्वर में**)ओह ! वास्तव में यह कवि की नवीन शोध है।

कम्बन—नहीं, राजन्, मैं केवल. . .

चोलराज—हम व्यर्थ समय क्यों खोयें ? वह रहा तुम्हारा पुत्र, उसकी ओर देखो। सत्य उसके मुख पर झलक रहा है। केवल यदि तुम पढ़ना चाहो। उसकी नीचे झुकी दृष्टि और मौन ही समस्त विश्व को उसके अपराध की घोषणा कर रहा है।

कम्बन—(**मन्द आवेगहीन स्वर में**)—अम्बिकापति ! क्या यह सत्य है ? बोलो, तुम मौन क्यों हो ?

अम्बिकापति—(शिथिल स्वर से) उसमें कहना क्या है ?

चोलराज—देखा, तुमने देखा, जिस बकरी के बच्चे को मैंने पाला उसने मुझी को सींग मारे ? मैंने तमिल को पनपाया। मैंने कवि की पूजा की, मैंने उसे हृदय-सिंहासन पर आसीन किया....

कम्बन—सम्राट् ?

चोलराज—और मुझे क्या फल मिला ? मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है, मेरी प्रतिष्ठा समाप्त हो चुकी है। शताब्दियों से निष्कलंक चोलों का नाम आज अपकीर्ति से कलंकित हो गया है।

कम्बन—क्या सम्राट् सुनने की कृपा करेंगे ?

चोलराज—क्या सुनूं ? तुम्हारी बात बहुत सुन चुका। अब मैं अधिक तुम्हारी बातों में न आऊँगा। यह सब तुम्हारे मौन प्रोत्साहन का परिणाम है। तुम कविता-सौन्दर्य एवं आदर्श की बातें करते हो। यह है काव्य वास्तव में ! निम्नवंशी दुष्टों को न्याय का मूल उन्मूलन करने दो, धर्म को जलाने दो, निष्पक्षता और नैतिकता को पराक्रान्त कर कविता की चमकीली चादर ओढ़ने दो ! मुझे अब ऐसी कविता की आवश्यकता नहीं।

कम्बन—(क्रोधावेश में उठ कर) तुम क्या कहते हो ? ओह ! नहीं, मुझे आवेश में नहीं आना चाहिए। मुझे क्या अधिकार है जब मेरे ही हाथों ने मेरे नेत्रों के साथ अत्याचार किया है। सम्राट्, मेरे लिए अब यहाँ स्थान नहीं है। किन्तु फिर भी जाने के पूर्व कुछ शब्द..आपने अम्बिकापति को मेरा पुत्र कहा, आपने संकेत किया कि मैं न्याय को धोखा दूंगा। आपने कहा, कविता मेरी अनैतिकता को ढकने की केवल एक चादर थी। किन्तु चोल, तुम्हें यह याद नहीं रहा कि मित्रता के जगत् में 'मेरा' और 'तेरा', को कोई स्थान नहीं; मेरा पुत्र तुम्हारा पुत्र है और तुम्हारी पुत्री मेरी पुत्री है। मुझे तुमने अपनी दया के सहारे जीता एक जीवित मुर्दा समझा। तुम यह भूल गये कि मैं एक मानव हूँ—नहीं, कि मैं एक कवि हूँ। क्या तुमने समझा कि वह कवि जिसकी श्वास ही आदर्श है, जिसका जीवन उदार उद्योग है, जिसका निवासस्थान मनुष्य की उच्चतम मानसिक शक्ति का सदा ऊँचा उठता उच्चतम स्वर्ग है, वह कवि दुःख और वेदना के कारण न्याय के पथ से विचलित हो जायेगा ? क्या तुम सोचते हो कि मुझे, जिसने सदा रामधर्म के पथ का अनुसरण किया है, निज जीवन की तुच्छ समस्याओं के कारण उज्ज्वल प्रकाश नही मिलेगा ? तुम भूल गये कि मैं एक कवि हूँ, किन्तु मुझे याद है। तुम चाहते थे मेरा निर्णय। मैं जाने के पहले अभी अपना निर्णय देता हूँ। मैं दंड की पुष्टि करता हूँ। अपनी पुत्री की मानरक्षा के लिए, मैं तुम्हारे पुत्र अम्बिकापति को मृत्युदंड देता हूँ। अब मैं शान्ति से जा सकता हूँ।

(दरवाजे की ओर बढ़ता है।)

चोलराज—(विक्षिप्त-सा) श्रीमन्..श्रीमन्, कवि....

कम्बन—(एक क्षण रुकते हुए) नहीं राजन्, मैं यहाँ एक क्षण अधिक नहीं रुक सकता। यह जगत् चोल साम्राज्य से कहीं बड़ा है और अब मैं..मैं एक कवि हूँ।

(जाता है।)

[चोलराज एक क्षण रुकता है, हिचकता विक्षिप्त-सा, और फिर कवि के पीछे शीघ्रता से जाता है। अम्बिकापति पास के थाल में से एक कमल उठा लेता है और ऊपर देखे बिना धीरे-धीरे उसकी पंखुड़ियां बिखेरता है और यवनिका गिरती है।]

द्वितीय दृश्य

[वही सन्ध्या। कम्बन के मकान में]

रंगमंच के पीछे ऊँची चौकी पर देवी सरस्वती की पीतल की मूर्ति है। उसके सामने रंग-बिरंगा एक तेल का दीपक धातु की साँकल से लटक रहा है। दीपक जल रहा है। दायीं ओर बरामदे में आने का दरवाजा है। दरवाजे और मूर्ति के बीच एक नीची चौकी है जिस पर बाघ-चर्म बिछा हुआ है। बायीं ओर कम्बन का एक शिष्य तानपूरे को सीधा गोद में रखे पृथ्वी पर बैठा है, तथा कम्बन के महाकाव्य के पृष्ठ उसके सम्मुख एक पुस्तक-पीठिका पर फैले हुए हैं। परदा उठता है, शिष्य तानपूरे की श्रुति पर गा रहा है।]

शिष्य—गुहा के साथ पाँच और तब

उसके पुत्र के साथ जो सुमेरु पर्वत के चक्कर काटता है
हम छः हो गये।
तुम्हारे साथ जो प्रगाढ़ श्रम में हमारे पास आये
हम सात भाई हैं, मेरे हृदय के मीत
सचमुच हमारे पिता भाग्यशाली हैं
जिन्होंने अपने एक पुत्र को बन में भेजा
और तीन अधिक को पाया...

[कम्बन का प्रवेश. .उन्मत एवं विक्षिप्त]

कम्बन—(कर्कश स्वर में) बन्द करो ये स्वर, समझे? मुझे इन ओछे शब्दों का सुनना सहन नहीं।

शिष्य—(हक्काबक्का) गुरुदेव....

(शिष्य की ओर देखे बिना कम्बन आगे बढ़ कर थका-सा मंच पर बैठ जाता है।)

कम्बन—हाँ, यह पद अब न गाओ। मैं अब जानता हूँ कि मित्रता क्या है और यह मुझे चोट पहुँचाता है। और याद रखो, मेरे 'रामावतार' के पदों में एक भी अब मेरे समक्ष न गाया जावे! समझ गये?

शिष्य—गुरुदेव, मैं क्या....मैं नहीं....

कम्बन—(तीखे होकर) वास्तव में तुम नहीं समझते। तुम कैसे समझ सकते हो जब मैं इतनी देर में समझा? **(मंच से उठते हुए)** कहाँ हैं वे पृष्ठ? उन्हें यहाँ लाओ। उन्हें जलाना होगा। हाँ, उन्हें जला ही दें। किन्तु....वह तीव्र अग्नि कहाँ है जो मेरी दुर्बलता को भस्म कर सकती है। बताओ मुझे, कहाँ है? लाओ....पृष्ठ।

शिष्य—(पृष्ठों को शीघ्रता से एकत्र कर कम्बन से छिपाते हुए) नहीं, मैं नहीं दे सकता, मैं नहीं दूंगा। वे अब तुम्हारे नहीं रहे। वे हमारी निधि, हमारी जाति के अमर कवित्व की निधि!

कम्बन—(क्रोध से आगे बढ़ते हुए) तुम क्या बकते हो?

शिष्य—हाँ गुरुदेव! आप भी उस चमत्कार को विनष्ट नहीं कर सकते जिसे आप ही ने रचा है। क्या ये ग्रन्थ में जलाने के लिए ही थे, जिनके लिए आप ने अपना जीवन शब्द और संगीत में गँवा दिया है? ये अब शब्द मात्र नहीं, गुरुदेव, ये वह रचना हैं जिसमें आप के जीवन के अमर सिद्धान्त साकार हो उठे हैं।

कम्बन—(दृढ़ स्वर में) मुझे दो पत्रों को।

शिष्य—नहीं।

(अम्बिकापति का प्रवेश)

ये, आ गये आप के पुत्र। वह भी कवि हैं। हम उनसे पूछें।

कम्बन—(रुंधे स्वर में) अम्बिकापति....क्या वह आ गया?

शिष्य—(अम्बिकापति की ओर मुड़ कर) यह देखिये, आप के पिताजी क्या चाहते हैं? ये 'रामावतार' की हस्तलिखित प्रति जलाना चाहते हैं।

कम्बन—अम्बिकापति....मेरे बेटे....तुम आ गये?

अम्बिकापति—(गम्भीरता से) हाँ, पिताजी **(शिष्य से, धीमे स्वर में)** देखो मित्र, मेरे पिता आपे में नहीं हैं। पत्रों को लेकर जाओ। बाहर जाओ और पुकार की सीमा में रहो। अपने पीछे दरवाज़ा बन्द करते जाओ और किसी को अन्दर न आने देना....विलम्ब क्यों करते हो! जाओ।

(शिष्य बाहर जाता है।)

कम्बन—(मानों जागता हुआ) अम्बिकापति, वह कहाँ जा रहा है? उसे वापिस बुलाओ। उसे पत्र लाने दो। मुझे जलाने दो....भाग्य....भाग्य....भाग्य....निष्ठुर, उसे जीतने की शक्ति किसमें है? नहीं-नहीं, मैं अधिक नहीं सह सकता। ओह! भगवन्, मैं नहीं सह सकता।

अम्बिकापति—(कोमल स्वर में) पिताजी।

कम्बन—मैं बिल्कुल ठीक हूँ। उन्होंने....तुम....तुम हो।

अम्बिकापति—शान्त हूजिये पिताजी, मैं आग्रह करता हूँ। देखिये, उन्होंने मुझे अभी कोई हानि नहीं पहुँचायी। किन्तु....

कम्बन—किन्तु क्या? चोल कभी भी तुम्हें क्या हानि पहुँचा सकता है? आओ, हम इस पवित्र भूमि को त्याग दें। हम अपने पैरों की इस कृतघ्न धूल को छोड़ दें। इस पर चलना भी पाप है।

अम्बिकापति—त्याग दें!

कम्बन—हाँ मेरे बेटे! अब नष्ट करने को समय नहीं। मैंने समझा, उन्होंने तुम्हें कारावास में पटक दिया। धन्य हो भगवन्, साँस भर लेने को हमें कुछ अल्प समय मिला है। हम उसका उपयोग तुम्हारे और इस वृद्ध कवि के जीवन को बचा कर करेंगे। शीघ्रता करो।

अम्बिकापति—और तब?

कम्बन—और तब हम कहीं भी अपना निवास बना लेंगे। क्या ऐसी भी कोई भूमि है जो हमारा स्वागत न करे? यदि हो भी तो हम अपने पीछे इस तमिल बोलने वाली सुन्दर भूमि को छोड़ चुके होंगे, वास्तव में सुन्दर और श्रेष्ठ! आओ, हम कविता को छोड़ कर साधारण जन-समुदाय की भाँति परिश्रम कर के जीवकोपार्जन करेंगे।

अम्बिकापति—क्या रोटी ही मनुष्य के लिए पर्याप्त है?

कम्बन—तुम नहीं जानते, मेरे अन्दर कितनी भयंकर ज्वाला धधक रही है! अब मुझे कुछ नहीं सूझता। मैं तुम्हें अवश्य बचा कर इस भस्म करने वाली ज्वाला को निकाल फेकूंगा। मैं केवल एक बाप हूँ।

अम्बिकापति—(**मन्द हँसी के साथ**) इसीलिए....

कम्बन—भूल जाओ, उसे अब भूल जाओ। कुछ कुमार्गी आदर्शों ने आज दरबार में मुझे अन्धा कर दिया था। मुझे क्षमा करो। मैं अब साफ़-साफ़ देख रहा हूँ। मैं एक बाप हूँ।

अम्बिकापति—क्षमा किसलिए? मैं क्यों भूल जाऊँ, जब वह याद करके मुझे अभिमान है! आपने अनुचित नहीं किया।

कम्बन—यह क्या? अनुचित नहीं? क्या यही तुम्हारा तात्पर्य है? क्या तुमको दोषी ठहराने में अनौचित्य न था, मेरे तात! यह ठहराने में कि मेरे जीवन के प्राण तुम मर जाओ। क्या पत्थर भी मेरे इस निर्मम हृदय से कठोर हो सकता है? और तुम कहते हो, मैंने अनुचित नहीं किया!

अम्बिकापति—कवि का आदर्श कभी त्रुटि नहीं करता!

कम्बन—कविता! कविता की चिन्ता किसे? खेद है कि मैंने अपना जीवन नष्ट कर दिया। अपने जीवन को कवितामय करने के यत्न में मैंने जीवन की ही उपेक्षा की। अब मेरी आँखें खुल गयी हैं। क्या ही दीन-दुखी मूर्ख मैं बना रहा। कविता हाँ! क्या कविता जीवन से भी महान् है? भली भाँति जीवन बिताना ही सब से बड़ा कवि होना है। और मैं वह भूल कर जीवन को कविता का रूप देने में जीवन को नष्ट कर बैठा।

अम्बिकापति—(**आश्चर्य से**) क्या मैं सही सुन रहा हूँ! क्या यह महाकवि बोल रहे हैं?

कम्बन—यह मैं हूँ। किन्तु मैं अब उन दिनों के स्वप्नों में, जिनको मनुष्य कविता कहता है, व्यस्त नहीं हूँ। मैं जागरूक हूँ। अपने पुत्र को फाँसी से बचाने के लिए! मेरे दशरथ को भी ऐसा अवसर न मिला होगा! क्या तुम चाहते हो कि मैं इस अवसर को खो दूं? मैंने पर्याप्त कटु एवं विदारक अनुभव किया है, जिसे मैंने कविता और संगीत का रूप दिया। अब अधिक मैं नहीं चाहता कि मेरा जीवन कविता के लिए सामग्री बने। नहीं, अब मैं जीना चाहता हूँ। अब मैं जीवन के लिए जीवन चलाऊँगा। और यदि मैंने तुम्हें खो दिया, तो मैं कैसे जीवित रहूँगा?

अम्बिकापति—हाँ, किन्तु यदि मैं नहीं मरता तो जीवित कैसे रह सकता हूँ। यह भी तो विचारिये।

कम्बन—मैं नहीं समझता। मेरे सन्ताप ने मेरी विचार-शक्ति भस्म कर दी है। केवल तुम्हें बचाने की भावना ही शेष है।

अम्बिकापति—मेरे लिए तो जीवन आपकी कविता को कार्यरूप देना है; मैं उसे इस पृथ्वी पर वास्तविक और पूर्ण देखना चाहता हूँ।
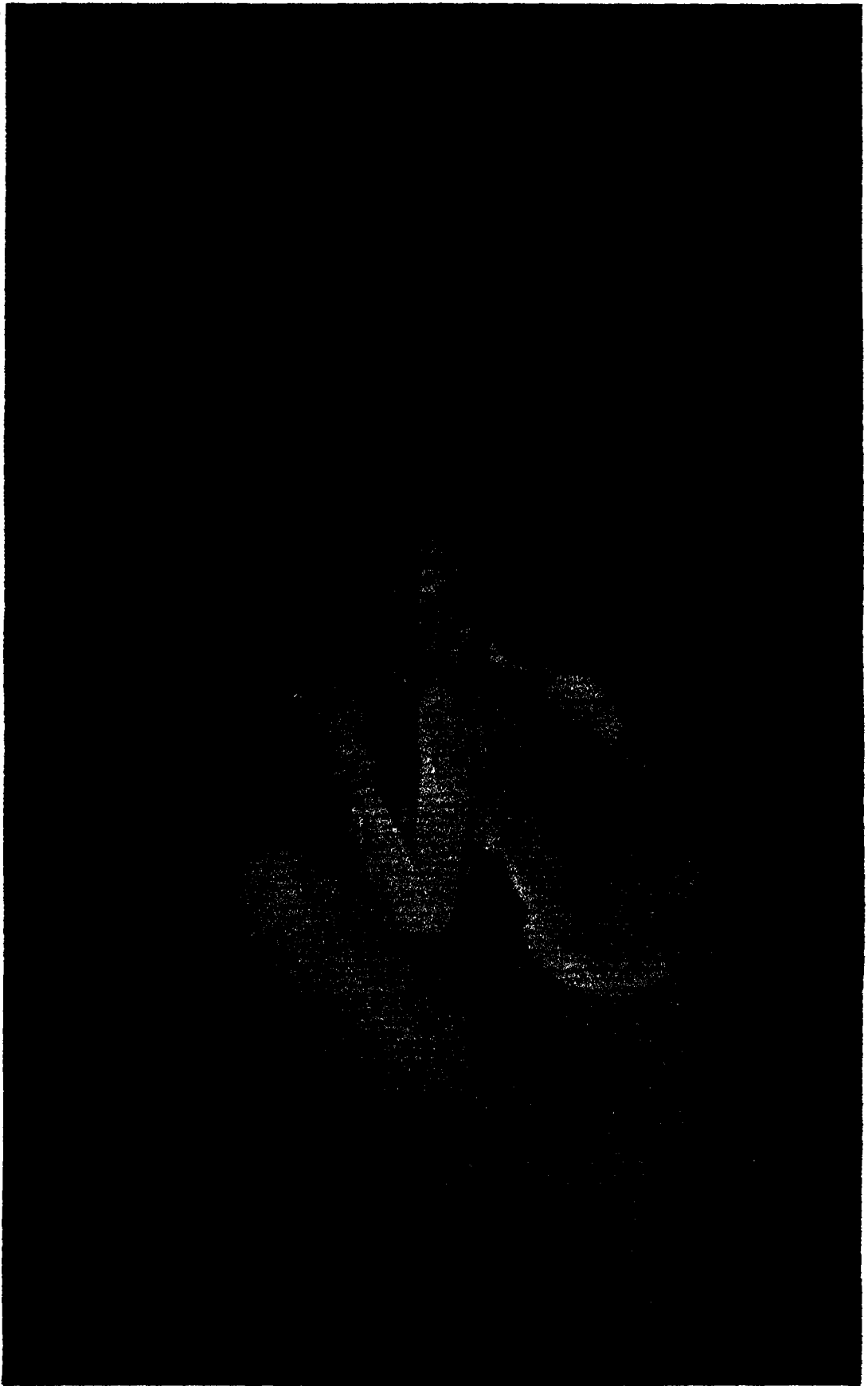
कम्बन—तुम्हारा तात्पर्य क्या है ? मेरी कविता ?

अम्बिकापति—हाँ, छोटे मनुष्य अपने चारों ओर नियमों की खाई खोद लेते हैं। अपनी रक्षा के लिए रीति और रूढ़ि की दीवाल खड़ी करते हैं। कविता मनुष्य को उदासीनता और दुःख के कारावास से मुक्त कराती है। आपकी कविता ने भी यह चमत्कार किया है।

कम्बन—तो मैं ही इस भयंकर दुःखद घटना का कारण हूँ। मैं ठीक कह रहा था। मेरी कविता भस्म कर दी जावे।

अम्बिकापति—एक क्षण ठहरिये। आप शब्दों को नष्ट कर सकते हैं। आप पृष्ठों को जला सकते हैं किन्तु क्या उस सत्य को, जिसे वे प्रकट करते हैं, जलाया जा सकता है ? यदि आप अपने नेत्र मूँद लें तो क्या सूर्य समाप्त हो गया ? यदि आपके शब्द लुप्त हो जावें तो क्या, दूसरा कवि आकर उन्हीं शब्दों से मनुष्यों के नेत्र खोल सकता है !

कम्बन—क्या मैं ही कारण हूँ अम्बिकापति ? क्या मैं ही इस यातना का कारण हूँ ?

अम्बिकापति—जीवन की तुच्छता को विनष्ट करना, मनुष्य को कविता के विलक्षण जगत् में ले जाना ही आपकी विजय है।

कम्बन—आकाश को स्पर्श करने के प्रयास में मैंने अपने हाथ की पृथ्वी को खो दिया। मैं मूर्ख ही रहा।

अम्बिकापति—नहीं, आपने हमें वह मन्त्र दिया है जिससे पृथ्वी स्वर्ग बन सकती है। मैंने प्रयास किया और मुझे अमरावती मिली।

कम्बन—केवल खोने के लिए. . . .एवं मुझ से तुम्हें छीनने के लिए। नहीं मेरे पुत्र ! मैं यह नहीं सह सकता। आओ, हम इस शापित भूमि से भाग चलें।

अम्बिकापति—हम कहाँ भाग सकते हैं ? जहाँ भी हम जायें, मेरा मोहनाश मेरा पीछा करेगा। मैंने आपकी कविता में विश्वास किया। मैंने उसे जीवन में लाने का प्रयत्न किया और मैंने पाया कि जिस समाज में हम रहते हैं वह घास-फूस की झोपड़ी है, जो आदर्श की अग्नि नहीं सह सकती। उससे भस्म होने से भयभीत मनुष्य मेरा गला घोटना चाहते है। मैं कहीं भी जाऊँ, उस मोहनाश से मुझे छुटकारा नहीं मिल सकता। मेरा जीवन अब स्पन्दनहीन हो गया है। मृत्यु को उसमें से क्या मिल सकता है ?

कम्बन—नहीं ! यह तो केवल यौवन का प्रथम आघात है। समय तुम्हारे हृदय के घावों को भर देगा। रूखा वृक्ष फिर लहलहा उठेगा। किन्तु मैं, मैं अब इतना वृद्ध हूँ कि समय का सुखद स्पर्श मुझे नहीं पनपा सकता। यदि मैंने तुम्हें खो दिया, मैं स्वतः बिल्कुल नष्ट हो जाऊँगा। मैं तुमसे जीवन का आग्रह करता हूँ। मैं, जिसने तुम्हें जीवन दिया, तुमसे भीख माँगता हूँ—मुझे मौत के मुँह में न डालो।

अम्बिकापति—जीवित रहने से हमें लाभ ही क्या होगा ?

कम्बन—हम कवि के निष्क्रिय स्वप्नों को त्याग देंगे। और साधारण मनुष्य की भाँति खेती कर जीवन चलावेंगे।

अम्बिकापति—तो क्या आप सोचते हैं कि सही मित्रता पहचानने के पश्चात् आपके महाकाव्य के इन शब्दों "गुहा के साथ, हम पाँच हो गये" सुनकर मैं उस लेन-देन के व्यवहार को जिसे तुच्छ मनुष्य मित्रता कहते हैं, सन्तुष्ट हो सकूँगा ? क्या आप सोचते हैं कि राम और सीता के प्रेम को जानने के पश्चात् मैं स्वयं इस अन्ध-परम्परा एवं रूढ़िग्रस्त कीचड़ से युक्त झोंपड़ी में रहने आऊँगा ?

कम्बन—यह सब छलना है। उसे भूल जाओ। चोल केवल चोल है, मेरा भाई नहीं। क्या तुम उसे नहीं जानते ? वह मौत बनकर मेरे बेटे को खाना चाहता है। हम भाग चलें, हम उससे भाग चलें।

अम्बिकापति—भागने का एक ही मार्ग है ।

कम्बन—वह क्या ? हम वही ग्रहण करें। बोलो, मुझे बताओ, वह क्या है ?

अम्बिकापति—मृत्यु !

कम्बन—क्या मैंने इसीलिए अपनी कविताओं की रचना की ? देखो अम्बिकापति, तुम कहते हो कि तुमने मेरे काव्य को कार्य-रूप देने का प्रयास किया। किन्तु तुमने यह नहीं देखा कि मेरी कविता एक पोत है जिस में छिद्र हो गया है। आदर्श अनन्त हैं। उनको कौन पा सकता है ? क्या मेरा काव्य अपरिमेय को परिमेय बनाने का थोथा प्रयत्न मात्र न रहा ?

अम्बिकापति—यह हो सकता है। यह आपका मोहनाश है।

कम्बन—तब क्या ?

अम्बिकापति—आप की कविता स्वयं की ओर जानेवाला लँगड़ा प्राणी नहीं जैसा कि आप सोचते हैं। केवल मैं इस संकुचित पृथ्वी पर इसको जीवन में लाने में असफल रहा।

कम्बन—इसके लिए तुम दोषी नहीं।

अम्बिकापति—कोई चिन्ता नहीं कि कौन दोषी है ? मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है। मेरी कामना थी कि मैं चन्द्रमा की शीतल जोत्स्ना, संगीत और अमरावती और प्रेम का सामंजस्य काल की प्रतिमा में करूँ। जीवन-चक्र टूट गया, तार उलझ गये। और ..जीवन में अब कुछ शेष नहीं।

कम्बन—क्या अमरावती कुछ नहीं है ?

अम्बिकापति—मैं—नहीं....किन्तु ठहरिये....बाहर शोर-गुल कैसा ?

(बाहर से आवाजें सुनाई पड़ रही हैं।)

शिष्य—नहीं देवी ! किसी को प्रवेश की अनुमति नहीं है।

अमरावती—मुझे रोकने वाले तुम कौन होते हो ? चोल राजकुमारी तुम्हें आज्ञा देती है, अलग हो।

अम्बिकापति—(धीमे स्वर में) अमरावती आ रही है।.....

कम्बन—कौन है ? दरवाजा खोल दो। आओ, आओ अमरावती।

[अमरावती का प्रवेश। वह सीधी कम्बन की ओर जाकर उसके चरणों में गिर पड़ती है।]

अमरावती—(सिसकती हुई) पिताजी, मुझे क्षमा कीजिये, इस पापिनी को क्षमा कीजिये।

कम्बन—(कोमल स्वर में) उठो, मेरी बच्ची।

अमरावती—बच्ची ! आप इस पिशाची को—जो आपके पुत्र पर आपद् लायी है—बच्ची कहते हैं। आप के हाथ मुझे कुचलने को सिहरते नहीं ?

कम्बन—उठो ! मेरी बच्ची, उधर देखो, कौन है ?

अमरावती—ओह ! अम्बिकापति ! यह विषधर है जिसने आपको काटा है। कुचल दीजिये उसे पैरों से....

अम्बिकापति—अमरावती, तुम क्या कहती हो ? यह तुम्हारा प्रेम था जिसने मुझे बचाया। केवल वही एक वस्तु थी जो आदर्श को प्राप्त हुई।

अमरावती—पिता जी, वह निर्दोष है। यह सब विप्लव मेरे मनोवेगों के वातचक्र ने उत्पन्न किया है। ओह ! मेरे प्रेम ने उसी का विनाश किया जो उससे लिप्त था। क्या नारी की कामना इतनी निर्दय है ? मैं क्या करूँ ? क्या मेरे लिए कोई आशा नहीं ?

(फूट-फूट कर रोती है।)

कम्बन—शान्त हो बेटी ! क्या अपने प्रेम में तुम्हें विश्वास नहीं ?

अमरावती—पिता जी, आप कवि हैं। आपके लिए प्रत्येक मनुष्य का हृदय खुली पुस्तक है। क्या आप उसमें इस बेचारी नारी के हृदय को नहीं पढ़ सकते ? यदि वह...यदि मैंने उसे खो दिया, तो मैं जीवित नहीं रह सकती। मैं सम्पूर्ण मर्यादा और लज्जा को छोड़कर यहाँ आयी हूँ। और आप मुझसे पूछते हैं कि....

कम्बन—नहीं, नहीं, मुझे तुम पर विश्वास है। आओ, हम तीनों इस नगरी से दूर उड़ चलें। बेटी, तुम्हारे प्रेम के कोमल पौधे के पोषण हेतु थोड़ा स्थान देने को इस विश्व में पर्याप्त स्थान है।

अमरावती—अधिक सत्य भी बुरा होता है। क्या मैं सही सुन रही हूँ ? क्या यह आपके....

कम्बन—हाँ, यह वही है जिसने अपने बेटे को मृत्यु-दण्ड दिया था; किन्तु मैं अब सचेत हूँ। मेरी पीड़ा ने मुझे मनुष्य बना दिया। मेरी बच्ची, मुझे क्षमा करो।

अमरावती—(आशायुक्त हो) पिता जी !

कम्बन—हाँ, हम इस भूमि को त्याग चलें।

अमरावती—किन्तु क्या हम राजा की क्रोधाग्नि से बच सकेंगे ?

कम्बन—(खिन्न होकर) मैं भी अधिकारों से राजा हूँ। आओ, हम कवि के राजसी शब्दों का मूल्य आँकें। मेरे पुत्र को इसमें विश्वास है। कुछ भी हो, और हम कर ही क्या सकते हैं?

अमरावती—(उत्सुक और उत्तेजित) हाँ, हम भाग चलें, हम अवश्य भाग चलें, हम शीघ्रता करें। यहाँ अब प्रत्येक क्षण हमको मृत्यु के निकट खींच रहा है। मैं अपने पिता की अन्ध कामना को जानती हूँ।

अम्बिकापति—किन्तु मुझे भय है कि तुमने मुझे नहीं पहचाना।

कम्बन—नहीं, अम्बिकापति, अब तुम्हारी चतुराई की विलक्षणता के लिए समय नहीं है। इस बेचारी बच्ची का सन्ताप तुमको मनुष्य होना सिखावेगा।

अम्बिकापति—मैं अब पुराना अम्बिकापति नहीं। वह तो पूर्व ही मर चुका है।

अमरावती—क्या कह रहे हैं ये कि ये नहीं जायेंगे?

कम्बन—अम्बिकापति!

अमरावती—(धीरे-धीरे रोती हुई) आओ, प्रिय; मेरा प्रेम पीला-दुर्बल पौधा है इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु क्या वह तुम्हारे सुरक्षित प्रकाश में बलिष्ठ और मनोहर नहीं बन जावेगा? हम अपने पिता जी की बुद्धि का अनुकरण करें। दूर किसी अज्ञात भूमि में हम इस दुःस्वप्न को विस्मरण करना सीखें।

अम्बिकापति—वह मेरे परे है।

अमरावती—क्या तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं? तो तुम मुझे अपने हाथों ही मार डालो। क्या यह मेरा दोष है कि मैं एक राजकुमारी हुई? क्या मेरा जन्म मेरे नारीत्व को नष्ट कर देगा? क्या आप यही सोचते हैं? पिताजी, अपने पुत्र से कहिये कि वह घूर-घूर कर मेरी ओर क्यों देखते हैं?

कम्बन—मेरे पुत्र, तुम स्वयं दोनों मिल जाओ, मुझे और राजा को भूल जाओ। केवल इस साहसी बच्ची को याद रखो।

अम्बिकापति—यह तो मृत्यु के पश्चात् भी मेरे साथ रहेगी। यदि मैं जीवित रहा तो मेरा मोहनाश इसको मलिन कर देगा। यदि मैं जीवित... यदि मैं जीवित रहा; किन्तु मैं जीवित क्यों रहूँ? और मैं रह ही कैसे सकता हूँ? वे मुझे ले जावेंगे....

[रक्षक और सिपाही, सेनापति का प्रवेश]

कम्बन—ओह! सेनापति, इस किस बात का फल...

सेनापति—क्षमा कीजिये... राजा की आज्ञा है कि.... आपके निर्णय का पालन किया जाय। मैं तो केवल एक साधन हूँ। मुझे आशा है कि... अम्बिकापति, तुम्हें हमारे साथ चलना है।

अमरावती—एक क्षण ठहरो। मैं—आपकी राजकुमारी—आपको रोकती हूँ।

सेनापति—(अनिश्चित-सा) देवी... राजकुमारी... मैं तो केवल नम्र सिपाही हूँ... मैं क्या... राजा की आज्ञा है।

अम्बिकापति—सेनापति, तुमको घबराने की आवश्यकता नहीं। मैं साथ ही चल रहा हूँ। हिचकते क्यों हो? पिताजी, चलो; अमरावती, मैं जा रहा हूँ। मृत्यु के उस पार अज्ञात भूमि में, प्रेयसि, किन्तु मैं तुम्हारा प्रेम कभी नहीं भूलूंगा, कभी नहीं... मोहनाश की औषधि मृत्यु है, मैं अनुभव कर रहा हूँ। ईश्वर का महान् वरदान मृत्यु ही मेरे जन्म के कुचक्रों के लिए शान्ति प्रदान करने की मरहम है। सेनापति, आओ हम चलें।

[अम्बिकापति सिपाहियों के साथ जाता है]

कम्बन—(दरवाजे की ओर शराबी की भाँति झूम कर) अम्बिकापति.....मेरे बेटे!

अमरावती—(रोती हुई गिर पड़ती है) पिताजी!

[यवनिका पतन]

स्रोतस्विनी

(अंधेरी रात में गंगा-तट पर चिन्तन)

मुल्कराज आनन्द

रात में नदी दर्पभरी बह रही है, विश्व को अपनी अज्ञात शक्तियों की भयानकता से भरती हुई, जंगलों-पहाड़ों और मैदान की बस्तियों में एक विराट् अभिशाप-सा फैलाती हुई। यह हिन्दुस्तान की मुख्य स्रोतस्विनी है। यह अपने आप में कई सहायक नदियों को समेटती है, हिमालय के पिघले हिम के दाय से स्फीत होकर धरती को आप्लावित कर देती है और स्वयं अपने को कई शाखा-नदियों, दलदलों और नहरों में बाँट देती है। यह गंगा है, विश्व के कर्त्ता-धर्त्ता-हर्ता शिव की जटाओं से निःसृत; इसी के अमृत-बिन्दुओं को अमरत्वाकांक्षी तीर्थयात्री अपनी ताँबे की लुटिया में भर-भर कर ले जाते हैं; इसी में उनके ऐहिक अवशेषों के कण समुद्र की ओर बहते धूलि-कणों के साथ मिल जाते हैं। जीवन-स्रोत भी और मृतक-समाधि भी; रोग-निवारिणी, संजीवनी भी और दसियों महामारियों तथा सैकड़ों ज्वरों के कीटाणुओं की वाहिका भी; पाप-विमोचिनी, पोषिणी, घातिनी; कोटि-कोटि जनों द्वारा माता के समान पूजिता, भारत की जनता की आशा-आकांक्षा, स्वप्नों और अज्ञात अचेतन की रहस्यमयी धारिणी; आप चाहें तो यह एक महान् प्रतीक है, नहीं तो निरी महानदी है, जो कि युगों से बहती आ रही है और अब भी बह रही है. . . .

पास के गाँव से होकर मैं इसके किनारे आ गया हूँ, और घनी काली रात में अपने आतिथेय के घर के चबूतरे पर बैठा उसकी ओर एकटक निहार रहा हूँ। मुझ में 'दिव्य अशान्ति' भरी है, पर साथ ही एक आसन्न संकट की अद्भुत भयाकुलता और गहरा डर भी। क्योंकि सौ क़दम से भी कम फ़ासले पर गाँव के दो मृतकों की चिताएँ जल रही हैं और मैं अभी तक उन जिन्न, भूत, प्रेत-पिशाचों के हौओं के भय से मुक्त नहीं हो पाया हूँ, जो मेरी माँ की और मुहल्ले की स्त्रियों की बातचीत से शैशव काल से ही मेरे मन में बस गया था।

यद्यपि मुझे डरना क्यों चाहिए? क्या मैं आधुनिक नहीं हूँ? क्या मैं आधी दुनिया नहीं घूम आया हूँ, और सैकड़ों विवादों में भाग नहीं लेता रहा हूँ? बड़े-बड़े कारखाने, सिन्धु नदी को बाँधने वाला सक्खर बाँध और प्रकृति को मदारी के बन्दर की तरह चुटिया पकड़ कर नचाने वाले दैत्याकार विद्युद्यन्त्र मैंने नहीं देखे हैं? क्या मैं दुनिया भर में और मेरे पीछे इस गाँव में भी चलने वाले विराट् संघर्षों से अवगत नहीं हूँ? क्या मै नही जानता कि घटनाएँ मनुष्यों के मन को बदल रही हैं, और उनकी भग्नाश दृष्टि के सम्मुख एक नये भाग्य, नयी नियति का उद्घाटन कर रही हैं? फिर मैं क्यों भयभीत हूँ? और किससे? या कि यह निरा स्वस्थ सन्देह है जो मेरे मन पर छा रहा है?

हाँ, यह सच है कि कुछ क्षणों के लिए, लम्बे क्षणों के लिए, मै नहीं डरता। क्योंकि पंच-महाभूतों का निरा आकर्षण मुझे अभिभूत कर देता है। यह पानी का दृप्त स्वर इस बात की याद दिलाता है कि किस जोश के साथ हिमालय की हिम-नदियों और घाटियों में से राह बनाता हुआ वह आया होगा! उस पर बह कर आते हुए शीतल हिम-समीर के झोंके मानों झुलसी हुई धरती की उमस से पीड़ित व्यक्ति के लिए नये जीवन के ठंडे मरहम का काम करते हैं। नदी के दोनों ओर यह भू-प्रदेश का विस्तार, उसी पर छायाचित्र के समान अंकित वृक्षराजियाँ जो आकाश-चुम्बी तिकोने देवदारु वृक्षों के बीच-बीच में झाँक जाती हैं, आक्षितिज फैले हुए सघन वन-कुंज—ये सब अद्भुत सान्त्वनाप्रद हैं। और उसमें खुर्राटे भरती या प्रार्थना करती ये मानवी बस्तियाँ, ये मँडराते कीट-पतंग, ये बीच-बीच में 'हुआ हुआ' कर उठते सियार, और जवाब में भूँकते कुत्ते ये भोंडे सुर वाले गधे, इन में भी एक आश्वासन है. . . .फिर भी, मुझे स्वीकार करना होगा मैं डर गया हूँ। जब कोई ज़रा-सा भी डरपोक हो, तब शक्ति का और वीरता का दिखावा व्यर्थ है। जब मैं जानता हूँ कि मेरे आसपास की सारी दुनिया लड़खड़ा कर गिर रही है, कि चारों ओर शून्यता के विराट् खोखल हैं जो कि भरे

फलक ५०
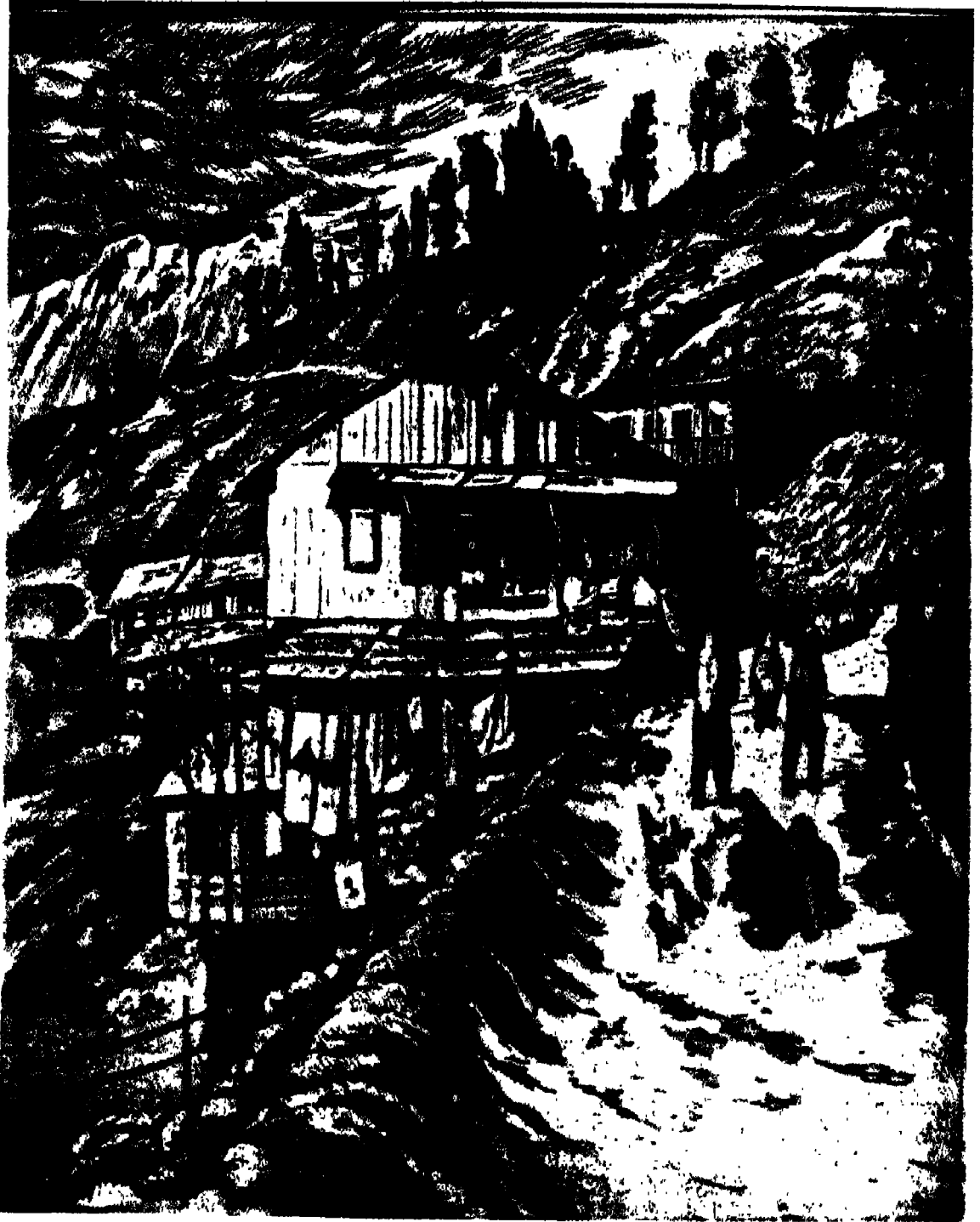
जाने के लिए चीख रहे हैं, तब यह मानना कि सब कुछ ठोस है, केवल दम्भ होगा। यह छिपाना छल होगा कि मेरे भीतर भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संघर्ष हो रहा है, जिसका परिमाण मानवता को लील जाने वाले संघर्ष के बराबर न हो, लेकिन जो छोटे पैमाने पर उसी प्राचीन और नवीन, अतीत और अनागत के विरोध को प्रतिबिम्बित करता है। यह नहीं कि मुझमें आत्म-विश्वास की या अपने मित्रों में विश्वास की कमी है, या कि मुझे हमारे जीवन में आस्था नहीं है। बात यह है कि मैं आत्मा की नौका को रूढ़ विश्वासों की चट्टानों से निकालना चाहता हूँ, उस दलदल और कर्दम से उबारना चाहता हूँ जिसे समूचे युग की मौसमी बरसातों ने उसके आसपास पैदा किया है; मैं उसे इस गहन अँधेरी रात में से बाहर निकाल कर नयी बनाना चाहता हूँ. . . .जब कुछ दुर्लभ क्षणों में मैं उसी आत्मा को अपने भीतर रंगीन विद्युद्दीप के समान प्रकाशित देखता हूँ, तब उन मृत शरीरों और विराट् पंच-महाभूतों की चमक का डर थोड़ी देर के लिए मिट जाता है; परन्तु मेरे भीतर जो प्राचीन भीतियाँ हैं उन्हें सर्वथा नष्ट करने के लिए तो एक ज्वालामुखी की वह्नि चाहिए।

क्षुब्ध स्रोतस्विनी रात में बही जा रही है, विश्व को अपनी अज्ञात शक्तियों की भयानकता से भरती हुई, जंगलों-पहाड़ों और मैदान की बस्तियों में एक विराट् अभिशाप-सा फैलाती हुई. . . .

क्यों मैं नदी से प्रतीति स्थापित करूँ—उससे कुछ प्रश्न पूछूँ? कौन हैं वे मृतक जिन्हें वह गुनगुनाती हुई स्मरण कर रही है? किस लिए है वह शोर और क्षोभ, जो निरर्थक है, फिर भी सार्थक है? . . . .क्या वे ही मेरी व्यथा का कारण हैं?

कदाचित् ऐसा ही है, कदाचित् मेरी व्यथा इसीलिए है कि मुझ पर हावी हुए मृतकों के विरोध में मैं अपने जीवन के सार और स्वत्व को जानना और महसूस करना चाहता हूँ. . . .

सबसे भारी और ठस भार है उस सामने के वन का, जो निकोलस रोरिक के चित्रों में अंकित पर्वत-शृंग-सा निविड और घना है। यह जंगल पुराना है, बहुत पुराना, हिमालय के समान प्राचीन; अपने भूरे दढ़ियल वटवृक्षों और बुरूस, कीकर और नीम से भरा; घना, काला, उदास; वनस्पतियों के एक विराट् रहस्यमय महासागर की भाँति फैला हुआ जिसके नीचे कँटीली झाड़ियों के और नरसलों के उलझे जाल हैं, और खूँखार बनैला सरीसृप साम्राज्य है और उसमें दफ़न हुई इतिहास की रातें. . . .

लम्बी-लम्बी रातें. . . .तब जंगल सर्वव्यापी था, सर्वज्ञ था; उसके आगे सब कुछ बौना लगता था। और ठिंगने काले प्रस्तर-युगी वनौकस यहाँ बसते थे, वृक्षों की फुनगियों को झुलसाने वाले सूर्य के ताप से बचते हुए घनी छाहों में काही की गन्ध सूँघते, पास की गंगा के अमृत को छोड़ सूखते ताल-पोखरों का गँदला पानी पीते—यक्षों, नागों, वनस्पतियों और वन-देवियों को आराधते और अभिचार से दुष्ट देवताओं को और प्रेत-बाधाओं को टालते. . . .

चारों ओर जंगल था, वह सब कुछ व्यापे हुए था. . . .पर उन अँधेरी रातों की काली साँस को क्या-क्या सपने उद्वेलित करते थे, कौन जानता है? अपने सारे डर के बावजूद, मैं एक आत्म-चेतन पुरुष हूँ, असंख्य पीढ़ियों का दाय मुझे मिला है—दो पितरों का, चार प्र-पितरों का, आठ प्र-प्र-पितरों का, सोलह प्र-प्र-प्र-. . . .और इसी भाँति अनादि काल पर्यन्त. . . .। और मैंने इन सब पूर्वजों का दाय स्वीकार किया है, उसका महत्त्व पहचान कर, न कि एक प्राचीन वस्तु-संग्राहक की भाँति केवल संग्रह-बुद्धि से। प्राचीन पूर्वपुरुषों द्वारा उत्कीर्ण प्रत्येक पत्थर को, भीत पर उकेरे हुए प्रत्येक लेख को, पात्रों पर आँके हुए हर रंग को और ताँबे, सप्तधातु तथा सोने-चाँदी में बनी हर आकृति को मैंने ग्रहण किया है। परन्तु मैं अपने आपको कैसे उस पुराकाल की सूक्ष्म प्रक्रियाओं में प्रक्षेपित करके सरोवरों की गहराइयों या बेत और बाँस के झुरमुटों की ऊँचाइयों में उन वनवासियों द्वारा पाये गये रहस्यों को ठीक-ठीक जान सकता हूँ?

अनुमान? उनके इष्ट और दुष्ट देवता कदाचित् उनके विशेष प्रयत्नों के साक्षी हैं। वे प्रमाणित करते हैं कि मेरे पूर्वपुरुषों ने संघर्ष किया, जैसे प्रत्येक पीढ़ी संघर्ष करती है—निर्माण के लिए, मुक्ति के लिए। नहीं तो कैसे आये वे गुफा-स्थित पूजा-स्थान, आम और सागौन और कदम्ब वृक्षों के कुंजों में मिट्टी के ढूहों के अन्दर गहरे खुदे छोटे-छोटे मन्दिर; ताल, तमाल, तिन्तडीक और वनचम्पकों से घिरे हुए स्वच्छ प्रकोष्ठ? . . . .

किन्तु वे आतंकित थे वन-देवताओं से, स्वयं अपने डर से, मानों हरियाली के उन विकराल विस्तारों से, प्रेत-डाकिनी के निःस्तब्ध प्रान्तों से, श्वास-रुँधी, ठिठुरती रातों की अन्तहीन घुटन से, जलते निदाघ के अन्तहीन दिनों के तप्त उत्पीड़न से. . . . . .

फिर भी वे अपने पीछे विराट् कृतियाँ छोड़ गये हैं, स्मारक शिलाएँ और स्तम्भ, देवमूर्तियाँ, ऐसी ठोस और पार्थिव मूर्तियाँ जिनका स्पष्ट कटाव और कसा हुआ गठन देख कर ऐसा लगता है मानों कल ही बनी हों, यद्यपि मैं जानता हूँ कि वे बहुत प्राचीन काल की हैं।

उनके सौन्दर्य के सम्मुख मैं सच कहूँ, मेरा डर नहीं रहता। उसे मैं समझ सकता हूँ। उनमें मैं उनके निर्माताओं के सुदूर स्वर सुन सकता हूँ।

फिर भी नदी है कि रात में दर्पभरी बह रही है, विश्व को अपनी अज्ञात शक्तियों की भयानकता से भरती हुई, जंगलों-पहाड़ों और मैदान की बस्ती में एक अभिशाप-सा फैलाती हुई....

परन्तु क्या वह सदा से ऐसी ही रही है? और ऐसी ही रहेगी भी?

जीवन बदलता है। सब कुछ बदलता है। एक रूप इसी लिए जन्म लेता है कि मुरझा जायगा। परन्तु उस परिवर्तन का क्या स्वरूप था जो कि धुँधली उषा और भारत के प्रथम आक्रमण के बीच घटित हुआ? क्या वह केवल एक बाह्य परिवर्तन था? या कि उससे अन्तःवस्तु भी बदली, अन्तर्जीवन भी? और क्या ऋग्वेद के गड़रिये सदा के लिए अपना गान गा गये—वह गान जो कि गान-मात्र का निष्कर्ष था? और क्या पीछे के सहस्रों वर्ष व्यर्थ, कृतित्व-हीन बीत गये?

यदि मनुष्य का मन उस बहुमूल्य पट के समान है जिसमें प्रत्येक विगत पीढ़ी की पृष्ठभूमि पर, व्यक्ति का अनुभव-संचय एक नये रंग का ओप चढ़ाता हो, बुद्धि नयी आकृतियाँ आँकती हो, मानवी संकल्प नयी झलक देता हो और अवचेतन की सृजनशीलता के क्षण में नया आलोक भर देता हो—तब मनुष्य का विकास सम्भाव्य है, तब वह 'प्रान्त' से 'केन्द्र' की ओर बढ़ सकता है, वह अपने 'स्व' को एक व्यक्त्युपरि प्रयत्न में विलयित कर सकता है, एक नया मनुष्य बन सकता है, जिसका अन्तरालोक अँधेरे में स्वयं उसे तथा औरों को भी मार्ग दिखा सके....

यह निश्चय है कि मध्य एशिया से (या कि जहाँ से भी) भटकते हुए आने वाले यायावर चरवाहे अपने जीवन-संगठन के बारे में सोचने लगे थे, स्वयं अस्तित्व के बारे में प्रश्न करने लगे थे। उन्होंने वह सृष्टि-सूक्त रचा जो कि संसार का सर्वश्रेष्ठ आदिकाव्य है! कितनी सूक्ष्म, कितनी भव्य है यह कल्पना, कि स्रष्टा की वासना से ही सृष्टि की रचना हुई; कितनी आनन्द-दायिनी है यह भावना कि उसी प्रकार की वासना से हम फिर स्रष्टा को पा लेंगे, उसमें विलीन हो जायँगे! परमात्म्य-लय का कैवल्यानन्द! 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'। और ऐसा ऊर्ध्वमुखी अध्यात्म कि आज भी हम पर छाया हुआ है....वह आदिम वनवासी पृथ्वी-पुत्र दूर-दूर तक और गहरे उपनिविष्ट हो चुका है। और एक विचार के उदित होकर, संवेद्य रूप लेकर गीति में प्रकट होने में कितनी भावनाओं, प्रेरणाओं और क्रियाओं का परिपाक अपेक्षित है, कितना अनुभव-संचय, और कितनी सहज प्रतिभा—इस पर विचार करें तो आश्चर्य होता है उन मनुष्यों की इन्द्रियों की चेतना और ग्राहकता पर। कितना साहस, कितना धैर्य उनमें रहा होगा!

तथापि मैं उनके गान गा कर क्यों सन्तुष्ट नहीं हो पाता? क्यों मुझे उनके साथ रहना भी तृप्तिकर नहीं जान पड़ता? क्या मैं अधिक का लोभी हूँ? क्या मैं आनन्दानुभूति के उच्चतर शिखरों के लिए लालायित हूँ? क्या यह मेरी आदिम प्रवृत्ति है जो केवल विभिन्न संवेदना-प्रभावों का वर्गीकरण करके उन्हें अनुक्रम देकर सन्तुष्ट है और सार-भूत तत्त्वों का विचार नहीं करती?

नहीं। ऐसा नहीं है। परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि प्राचीन को बनाने वाली कोटि-कोटि आत्माओं के प्रति सचाई बरतना सहज नहीं है। हमारे आधुनिकों में से कुछ ऐसे हैं जो प्राचीनों से चीज़ें उधार लेकर अपना लेने का समर्थन करते हैं। मैं किन्तु उन्हें विकास की परम्परा में देखना पसन्द करता हूँ। मुझे लगता है कि जब आर्य बढ़ते हुए गंगा के मुहाने तक पहुँचे, तब धरती अभी गहरी अँधेरी रातों की शान्ति और आरक्त-नेत्र दिनों की क्रुद्ध चौंध में सोती थी। भय का साम्राज्य था, पंच-महाभूतों, सूर्य-चन्द्र, पर्वत-नदी, वर्षा-झंझावात और नक्षत्रों के भय का। इस बाह्य जगत् की चुनौती को अस्वीकार नहीं किया जा सकता था और न प्रकृति के प्रकोप को किसी तरह प्रत्यक्ष बदला या प्रभावित किया जा सकता था। अपने परिश्रम से जोते गये उपजाऊ खेतों को निरखता हुआ मानव इन बाह्य शक्तियों के आतंक का अनुभव किये बिना न रह सकता था। और अपनी भयाहत आत्मा को वश में रखने का उसके पास एक मात्र उपाय था इन भय-प्रद महाभूतों को स्तवन-पूजन से प्रसन्न करना। इस स्तवन में आर्त अनुनय और प्रशस्ति का मिश्रण होना स्वाभाविक ही

था। वन्य पशुओं के आतंक के कारण पशु-देवताओं की भी आराधना शुरू हुई। इसी प्रकार अपनी उपयोगिता अथवा आतंक के अनुसार पक्षी भी देवत्व प्राप्त कर गये, ऋद्धि और सौभाग्य के प्रतीक बने या यन्त्र-मन्त्र-अभिचार के साधन हो गये।

उस काही की पर्तें अभी जम रही हैं; पूर्वजों से पाया हुआ डर का दाय, पराजय और निराशा में से निचोड़ कर पाये हुए अनुभव, कल्पना की साहसिक उड़ान से उपजे हुए विचार, सब हमारी ज्ञान-परम्परा में जुड़ गये हैं और हमारे नये डर के मूल-स्रोत हैं।

तो उपनिषदों की इतनी सारी भावनाओं, सूत्रों-सूक्तियों, स्वगत-भाषणों, सम्भाषणों और रचनाओं का, तथा आरण्यकों और ब्राह्मणों का योग कुल मिला कर क्या है? क्या ये केवल आदिम प्रक्रियाओं या कल्पना-मूलक गाथाओं की परम्परा का नाट्य रूप नहीं है जिसमें मानव द्वारा जीवन के अर्थ की, उसके प्रतीकों और लक्षणों की खोज लक्षित होती है?

यह प्रकृति की निविड काली दीवार ही, जो रात में इतनी मुखर हो उठती है, इन प्रश्नों का उत्तर दे सकती है। बाह्यत: अपरिवर्तित और अपरिवर्तनीय यह उष्ण प्रदेश स्वभावत: एक सर्वोपरि सर्वज्ञ सत्ता की उद्भावना करता है, जिस की शाश्वत छत्र-छाया में जीवन मात्र अपने उद्भव-मरण की सब क्रियाएँ सम्पन्न करता है—एक ऐसे आकाश में जो देश-काल दोनों हैं। और विश्व का यह महानाटक खेला भी जाता है इसी परमेश्वर के सामने जो इतिहास और विकास की गति से परे है और यह उद्भावना तीन सहस्र वर्षों तक ज्यों की त्यों चली आती है। एक विश्व-परिकल्पना की यह सबसे लम्बी परम्परा है।

तो क्या इतनी शताब्दियों में मनुष्य ने कोई उद्योग किया ही नहीं?

निस्सन्देह, इस ऊर्ध्वमुखी वेदान्त-दर्शन की नींव उस संघर्ष में है जो ईसा-पूर्व दूसरी-तीसरी सहस्राब्दी में श्याम-वर्ण द्रविडों और पिंगल-केश आर्यों के बीच हुआ। इस संघर्ष का, जो ई० पू० १००० तक चलता रहा, परिणाम यह हुआ कि पहले तो आदिवासी 'काले' लोगों पर गोरे विदेशी आक्रामकों का प्रभुत्व और शासन स्थापित हो गया; और अनन्तर विजितों की अधिक गहरी और विकसित संस्कृति ने विजेताओं पर विजय पा ली। इन युद्ध-रत समूहों के बीच में कितने नर-मुंड कट कर गिरे होंगे और कितना शोणित इस नदी में बहा होगा यह मैं कल्पना के सहारे देख सकता हूँ; और उन निस्सहाय प्रपीड़ितों की कराहें मैं सुन सकता हूँ। परन्तु प्रकृति की महच्छक्ति की चोट सत्य और मिथ्या के विरोध को मिटा देती है। और युद्धोत्तर होने वाला मिलन-मिश्रण अनिवार्यत: समन्वय और संश्लेषण की प्रेरणा देता है।

यह सच है कि भारत में महत्वाकांक्षी ही सफल हुए, क्योंकि प्राचीन ब्राह्मणों ने सब पर आधिपत्य जमाया। परन्तु ई० पू० छठी शती में ही उनका आधिपत्य दुर्बल होने लगा था, क्योंकि क्षत्रियवर्ग ने पुरोहितशाही के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। बुद्ध का मानवतावाद एक सहस्र वर्षों के अनावश्यक उत्पीड़न के विरोध का निचोड़ है, आध्यात्मिक और ऐहिक शक्तियों के मुट्ठी भर लोगों के हाथों में केन्द्रीकरण के प्रति उस नयी दुनिया का आक्रोश है, और नीति-शास्त्र को एक व्यापक करुणा पर आधारित करने का प्रयत्न है। 'जो कर्तव्य है वह तो उपेक्षित है और जो अकर्तव्य है, वही किया जाता है'; और 'अविवेकी, असंयत लोगों की इच्छाएँ सदा बढ़ती जाती हैं।'

उन अधिकार-पीड़ित साम्राज्यों में, केवल गौतम, एक राजपुत्र ही विद्रोह करने की हिम्मत कर सका! कितने संकल्प विफल हो गये, कौन कह सकता है? और ब्राह्मण मनु की दैवी स्मृति के प्रकाशन पर लोक-मन में क्या प्रतिक्रिया हुई होगी? और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के सिद्धान्तों का क्या किसी ने विरोध किया?

मेरी दृष्टि देखती है, कई हृदयों में सुप्त आशाओं का उमगना; ऋषियों-तपस्वियों की गिरि-कन्दराओं में आवा-जाई; जिज्ञासा और शास्त्रार्थ करने वालों का वाक्संघर्ष।

परन्तु सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के आगे, जो विष्णु-इन्द्र-शिव आदि सब का अवतार है, उस ब्रह्म के आगे सब विद्रोह, सब अभियोग व्यर्थ है। और उस सर्वव्यापी वर्ण-व्यवस्था के आगे भी, जिसमें कि ब्राह्मण ही धर्मगुरु, शास्ता और परमात्मा का प्रतिनिधि है, झुकने के सिवा क्या चारा है? इस कारण बुद्ध के निर्वाण के कुछ ही वर्षों के पीछे एकेश्वरवादी धारणा का आरोप बौद्ध धर्म पर भी कर दिया गया यद्यपि बुद्ध ने कभी वैसा विश्वास नहीं प्रकट किया

था। और गौतम की सत्कर्म द्वारा मोक्ष-सिद्धि की शिक्षा से शीघ्र ही यह अर्थ निकाला जाने लगा कि नीच जातियों को उनके पूर्वजन्म के कर्मों के कारण ही वह हीन पद मिला है।

स्पंज की तरह हिन्दू धर्म ने मानवात्मा की उच्चतम उड़ान को भी, और हीनतम अन्धविश्वासों को भी सोख कर आत्मसात् कर लिया। और मानवी मनोविज्ञान की गहरी सूझ के साथ उसने अपने भीतर दीनों-दुर्बलों को भी स्थान दिया, जिससे वह शताब्दियों तक सहिष्णुता और उदारता का दिखावा कर सका। और ग्यारहवीं शती में मुस्लिम आक्रमणों के समय हिन्दुत्व का प्रभात भारत की समतल भूमि के कोने-कोने में इतना गहरा छा गया था कि वह आज तक भी हिलाया नहीं जा सका और बाहर का दबाव केवल उसके छोर ही छू सका है। 'जो ईश्वर के साथ और देवता जोड़ते हैं वे घृण्य हैं' पैग़म्बर के अनुयायियों ने इस नारे के साथ काफ़िरों पर जहाद बोल दिया; किन्तु वह आध्यात्मिक विश्व-परिकल्पना, जिसने अनेकता में एकता का सारभूत तत्त्व देखा था जिसे प्रत्येक दर्शक अपनी रुचि और संस्कार के अनुसार रूप दे सकता था, ज़रा भी नहीं बदली और आज भी ज्यों की त्यों है।

स्रोतस्विनी की महाधारा अपने में अनेक नदी-उपनदी और नाले समेटती हुई बहती है, मानवी कल्पना पर छाती हुई, उनके हृदयों को पहले कुचलती और फिर अपने प्राणप्रद औदार्य से उन पर अनुकम्पा करके उन्हें पुनः मुक्त करती हुई......

कभी-कभी मेरे लिए विश्वास करना कठिन हो जाता है कि सर्वशक्तिमत्ता का जादू इतनी देर तक चलता रहा। प्राचीन ऋचाओं और मन्त्रों की आवृत्ति करते हुए लाख-लाख मुख! क्या कभी उनसे असन्तोष का स्वर नहीं फूटा?

शायद इस परम्परागत स्वीकृति का रहस्य आवश्यकताओं की पूर्ति में था। लाखों गाँवों वाले इस विराट् देहात भारत में किसी का कुछ अपना नहीं था; फिर भी सबका सब कुछ था; क्योंकि हर कोई चाहे राजा हो या रैयत, धरती की उपज के उपभोग का अधिकार रखता था, परन्तु किसी के पास भी निजी सम्पत्ति नहीं थी। राजा अनाज के रूप में कर लेकर बदले में सुरक्षा, आवागमन की सुविधा, नहरों और सार्वजनिक निर्माण-कार्य की व्यवस्था करता था। रैयत कुटुम्ब के भाग की ज़मीन जोतती थी। प्रत्येक विजय के बाद गाँव के पंचों द्वारा धरती का पुनर्विभाजन होता। नवजात शिशु को भी समाज में निश्चित स्थान दिया जाता। फिर भी प्रमुख शत्रु अवृष्टि, अतिवृष्टि और तूफ़ान ही थे। मनुष्य का दिष्ट मानों प्रकृति की इन विराट् शक्तियों द्वारा निर्णीत होता था। अतः उन्हें शान्त करना आवश्यक था। हिन्दू कर्म-कांड के प्रतिमा-स्थापन, मन्त्रोच्चार और स्तवन का यही रहस्य है—इनके द्वारा देवता प्रसन्न किये जाते थे। मानव का श्रेष्ठ आदर्श था एक प्रकार के आत्म-सम्मोहन द्वारा भय पर विजय, पार्थिव वासना के मोहजाल को काट कर परमात्मा में विलयन।

इस अभिजात गणतन्त्र की धारा ने हमारे समय तक दिन-रात के परिवर्तन को छोड़ कर और कोई परिवर्तन ही नहीं जाना। राजा आये, सम्राट् गये, परन्तु इस जीवन का गोपन मन्द प्रवाह, स्रोतस्विनी की मुख्य धारा से अलग चट्टानों में और उसके पीछे सड़ते हुए उथले पानी में, वनों में और दलदलों में, अव्याहत बहता रहा। और इन किसान समाजों की संस्कृति के मान-दंड एक सुशासित जन के मान थे—पीढ़ियों के संचित श्रम और विमर्श और मन्थन के फल। जीवन के आग्रह और नियम-व्यवस्था के बीच स्वेच्छापूर्वक नियम के वरण से एक ऊँचे प्रकार का आत्म-संयम उत्पन्न हुआ। यह एक महान् परम्परा है, सरल, संयत, स्वतः-सम्पूर्ण, संवेदनापूर्ण और सन्तुलित।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस परम्परा ने सब आक्रान्ताओं को अपने में मिला लिया—अन्तिम पाश्चात्य आक्रान्ता को छोड़ कर। अपने विशेष ढंग पर यह सभ्यता इस देश की भाँति ही उदार थी, वह सब कुछ स्वीकार करती थी और मत की विभिन्नता को स्थान देती थी।

पन्द्रह सौ वर्षों में सब से बड़ी चुनौती इस्लाम की थी, पर इस्लाम की तलवार भी यहाँ केवल हिलाल का प्रतीक बन कर रह गयी—अन्य अनेक प्रतीकों के बीच में एक प्रतीक। क्योंकि इस्लाम का एकेश्वरवाद तो हिन्दू धर्म की एकेश्वर-वादी परम्पराओं में ही निहित था—ऐसा ब्राह्मणों का तर्क था। और जहाँ तक इस्लाम के नियमों और रूढ़ियों का सम्बन्ध है, वे मानव भ्रातृत्व की भावना से ओत-प्रोत और नारी के अधिकारों के प्रति उदार होते हुए भी शीघ्र ही हिन्दू रीति-रिवाजों के रंग में रँग गये। एक सुगठित देशज समाज-व्यवस्था द्वारा आक्रान्ता के विरोध का फल यह हुआ कि जज़िया और अन्य प्रतिबन्धों के दबाव से धर्म-परिवर्तन करने वाले लाखों लोगों के साथ-साथ जात-पाँत का कीटाणु भी इस्लाम

फलक ४१

में घुस गया। और यद्यपि दोनों सम्प्रदायों के पुरोहित-मुल्ला हिन्दुत्व और इस्लाम के इस मिश्रण पर सदा प्रश्न-चिह्न लगाते रहे, पर जीवन की बहु-रंगमयी विविधता ने उन्हें मिटा दिया, भय को पाट दिया और उन चमत्कार-पूर्ण कलाकृतियों को निर्मित किया जो कि हिन्दू और मुस्लिम संवेदना के संयुक्त परिणाम हैं।

परन्तु यदि यह हम देखना चाहते हों कि कैसे केवल विचार नहीं परन्तु ऐतिहासिक आवश्यकता का प्रत्यक्ष बल ही सच्चा सामंजस्य घटित कर सकता है, तो हमें एक क्षण भर के लिए देखना और सोचना चाहिए कि कैसे बेथलहम का तारा भारत के क्षितिज पर अनेक प्रकाशमान नक्षत्रों में से केवल एक बिन्दु-मात्र बना रहा, जब तक कि साम्राज्यवादी तलवार के आतंक ने कुछ थोड़े-से काफ़िरों को ईसाई सभ्यता के जल से अभिषिक्त नहीं किया।

ईसाइयों का 'मनुष्यों के प्रति सद्भाव और पृथ्वी पर शान्ति' का सन्देश फ़रिश्तों ने पहले-पहल गड़रियों को दिया। इन सरल प्रचारकों ने ईसा-मसीह के आविर्भाव का सुख-समाचार चारों ओर फैलाया। यहाँ तक कि पहली शती के अन्त तक रोम के विजेताओं के जाने हुए लगभग सारे संसार में इस का प्रभाव फैल गया। यहाँ तक कहा जाता है कि ईसा के शिष्य तोमा (टॉमस) को मद्रास के निकट मलयपुर (मैलापुर) में ब्राह्मणों ने मार डाला। चौथी शती के आसपास सीरिया के कुछ ईसाई भारत के दक्षिण-पश्चिम में मलाबार के तट पर आ बसे। उन्हें मलाबार के हिन्दू राजाओं की कृपा प्राप्त हुई और वे देश में स्वतन्त्रतापूर्वक घूमे। धीरे-धीरे उनकी संख्या और समृद्धि बढ़ती गयी, यहाँ तक कि उनके अपने राजा भी हुए और शतियों तक उन पर राज करते रहे। परन्तु प्रत्येक नये ईसाई का यह कर्तव्य होते हुए भी कि वह ईसाई मत का प्रचार करे, ईसाई धर्म इस भूखंड पर पैर नहीं जमा सका; यद्यपि अनेक दलित और अछूत मुक्ति के लिए तरस रहे थे! नहीं, ईश्वर के बेटे का सन्देश यहाँ पर डच, पुर्तगाली, इस्पानी, फ्रांसीसी और अंग्रेज जल-दस्युओं और साहसिक व्यापारियों ने ही फैलाया। और, मुग़ल दरबार में जेजुइटों के प्रभाव के अलावा बंगाल में और दक्षिण में कुरुमंडल तट पर अंग्रेज़ी कारखानों की स्थापना के बाद ही 'पादरी साहब' भारत के सुपरिचित हुए—दुष्टों के शिविर में अकेला भद्र पुरुष! जिस हद तक ईसाई प्रचारक शासकों की तलवार का डर दूर कर सके, उस हद तक उनका धर्म-प्रचार सार्थक कहा जा सकता है; किन्तु ईमानदार मिशनरी स्वीकार करेंगे कि साम्राज्यवाद की छत के कारण उनका दो सदियों का प्रचार-उद्योग वह फल नहीं दे सका जो उसे देना चाहिए था। और उनमें दीनबन्धु एंड्रूज़ की भाँति साहस नहीं था कि गोराशाही के दम्भ और झूठ से अपना अलगाव स्पष्ट घोषित कर दें। वे निराश गुनगुनाते हैं :—

'परंतु अभी अन्त नहीं है—आगे देखो,
अभी बहुत करने को बचा है;
लाखों अविश्वासियों को
खोजना और विजय करना है।
निराशा राह देखती होगी,
शैतान सतर्क रहता है—
परन्तु सब बाधाएँ दूर होंगी
हमारे ईश्वर के आदेश पर।'

और महान् स्रोतस्विनी बहती है....

और जब तक यूरोप के ईसाई मिशनरी काफ़िर को जीतने और 'सभ्य बनाने' का दम भरते हैं तब तक इस देश में उनकी नहीं चलेगी। क्रूसेडरों की निन्दा व्यर्थ है—उनका ज्ञान ही इतना सीमित था—पर समकालीन पाश्चात्य ईसाई यह कब समझेगा कि ईसाई धर्म ने ईसा के जन्म से हजारों वर्ष पूर्व से चले आ रहे विश्वासों और आचार-नियमों को ही ले लिया था, कि ईसा ही एक मात्र ईश्वरपुत्र नहीं है, तथा न उसका धर्म एक-मात्र धर्म?

रामकृष्ण परमहंस ने कहा है: 'जिस प्रकार घर की छत पर चढ़ने के लिए कई साधन हैं—सीढ़ी, बाँस, नसैनी, रस्सी आदि, उसी प्रकार परमात्मा तक पहुँचने के विविध रास्ते और साधन हैं। और दुनिया का प्रत्येक धर्म उन साधनों में से एक दिखलाता है। विभिन्न पन्थ केवल सर्वशक्तिमान तक पहुँचने के विभिन्न मार्ग हैं।' और यह स्पष्ट है कि नये हिन्दुओं का उदार दृष्टिकोण अनेकों को शासक जाति के उन प्रतिनिधियों के दम्भपूर्ण धर्मोन्माद से अधिक भला लगता है, जो बहुधा ईसा के गिरि-शिखर वाले प्रवचन की भावना के मूर्तिमान नकार और उस अत्याचारी शासन के निमित्त होते

हैं जिसका आधार है गोरी जाति की सर्वोपरि महत्ता का दावा। अहिंसक ईसा के शब्द उनके दृप्त फूले हुए मुखों में कैसे हास्यास्पद लगते हैं—'धन्य हैं वे जो विनयी हैं, क्योंकि वे ही धरती के उत्तराधिकारी होंगे'।

परन्तु रात को चमकने वाले ये स्वप्नादर्श कभी इस पृथ्वी पर मूर्त नहीं होंगे—न ईसाई, न हिन्दू, न मुस्लिम। इस स्रोतस्विनी का पानी सहस्रों नहरों में खींच लिया जा रहा है, रेलवे के कितने ही पुल इस विशाल जल-मार्ग का व्यास पाट रहे हैं, देवताओं के उस प्रकोप की उपेक्षा करते हुए जो लौह-युग की पापिष्ठ सन्तान को ग्रस लेने वाला था। और हम ऐसी सूक्ष्म स्थिति में हैं कि अगर हम केवल अलग खड़े अपने गौरवशाली अतीत के बँधे पानी को देखते रहे और अनिच्छापूर्वक नये रास्तों पर घिसटते रहे, तो हमारी भी वही गति होगी जो इतिहास के थकित, अनिच्छुक और चिर-भीरु निराशावादियों की होती रही है।

यह कहते हुए मैं शान्त हूँ, यद्यपि मैं यह अस्वीकार नहीं करता कि ऐसा कहते हुए मैं अपने भीतर एक उत्ताप का अनुभव करता हूँ—गुलामी की अनिवार्य कुंठा के मौन क्रोध की जलन। परन्तु मैं संसार घूम आया हूँ। मैंने गहरा विचार किया है और दूसरों का परामर्श भी सुना है। और निष्कर्ष पर पहुँचते समय मुझे अपने आधुनिक जगत् की जटिल समस्याओं का भी ध्यान है; और मैं इस महानदी के प्रवाह को भी और उसके आवर्तों और दलदलों को भी देख रहा हूँ। इसलिए कोई मुझ पर अधीरता और कट्टरपन का आक्षेप न थोपे।

भारत यूरोप से अनेक बातों में बहुत अलग था क्योंकि उसका इतिहास लम्बा था; परन्तु यह भी सच है कि वह एक लम्बी अवधि से बिल्कुल जीर्ण-जर्जर हो रहा था। एशिया के शक्तिमान साम्राज्य अपने भारी विस्तार और यातायात के बहुत पिछड़े हुए साधनों, अपनी भारी जन-संख्या और अपव्यय से रीते राजकोषों के कारण विघटनशील ही रहे, जब कि उनकी तुलना में बहुत छोटे-छोटे यूरोपीय राष्ट्रों ने, अल्पकालीन होने पर भी, अधिक सुसंगठित अर्थव्यवस्थाएँ और अधिक गत्यात्मक संस्कृतियाँ विकसित कीं।

भारत में सामन्तवाद ने राजाओं और सरदारों के अपरिमित शक्ति-लोभ और किसानों के निरन्तर प्रपीड़न के कारण स्वयं अपने विनाश के बीज बोये। ज्यों-ज्यों अल्पसंख्यक ऊपर के वर्ग ने किसानों से लगान या लूट के रूप में अधिकाधिक उगाही करके उन्हें सुखा डाला; त्यों-त्यों भारतीय जनता की संस्कृति में वह विलक्षण दरार पड़ने लगी—एक ओर तो सूक्ष्म, दिव्य, दरबारी कला और साहित्य, और दूसरी ओर गाँव की समृद्ध, मानवी, उत्कट, आदिम लोक-कला जो मूलतः विद्रोह की कला थी, यद्यपि अकाल, अवृष्टि, महामारी और युद्ध के कटु अनुभवों ने उसमें निराशा का भी पुट दे दिया था।

दरबारी कला और लोक-कला की दो धाराएँ स्पष्टतः अलग-अलग हैं। केवल जब ऊपरी स्तर विनाश के डर से संस्कृति के चिरन्तन प्रेरणा-स्रोत—लोक-नृत्य, लोक-गीत आदि से अपना पुराना सम्बन्ध पुनः स्थापित करता है, तब इसका अपवाद देखने में आता है। लोक-कला एक समूची जनता की सामूहिक कला होने के नाते सर्वदा प्रामाणिक और सहज-स्फूर्त है। उसमें एक जाति के जीवन-दर्शन का सार रहता है, उसके अन्तरंग सुख-दुःखों की अभिव्यक्ति होती है; जो कि ऐसे कल्पना-चित्रों, प्राचीन रूपों, सजीव बोलियों के शब्दों, और उन सब रंगच्छटाओं और लयों का उपयोग करती है जो चरखा और तलवार, हल और करघा, देव और दानव के साथ स्त्री-पुरुषों के जीवित सम्पर्क से निर्मित होती हैं।

संस्कृति के इन दोनों रूपों पर एक ईश्वर की सनातनी कल्पना बराबर राज करती है। वह ईश्वर ऐसी सर्व-व्यापी, सर्वाधिकारी सत्ता है जिसके नाम पर शक्तिशाली पुरोहित वर्ग सारे देश पर अपना सिक्का चलाता है। निराकार परम ब्रह्म की भावना साकार रूप लेती है, उनके साथ अनेक रियायतें होती हैं जो लकड़ी और पत्थर के आकारों, भड़कीले कपड़ों, शंखों, पीतल की घंटियों और जटिल कर्म-कांड की ओट से ही देखी जा सकती हैं; और भव-कष्ट भोगते हुए अनन्त योनियों में से गुजर कर ही मोक्ष पा सकने के उपदेश से प्रपीड़ितों के हृदय में एक मौलिक निराशावाद की जड़ें जमा दी जाती हैं। यहाँ तक कि पश्चिम में जिसे 'परिवर्तन' कहते है—विकास के द्वारा उन्नति—उसकी कल्पना ही हमारे यहाँ नहीं हुई जान पड़ती। क्योंकि नियमों के दुहराये जाने से पैदा होने वाली श्रान्ति के कारण जब-जब पुरोहितशाही की जकड़ कुछ ढीली होती जान पड़ी, तब-तब वे धर्म की पुनः प्रतिष्ठा के नाम पर फिर अपने मूल बिन्दु पर लौट आये और इस प्रकार उन्होंने अपना प्रभुत्व फिर जमा लिया। फिर भी, भारत के सांस्कृतिक दाय को केवल सनातनवाद का आधिपत्य समझ लेने वाली सरसरी दृष्टि, उन अनेक चंचल अन्तर्प्रवाहों और प्रेरणाओं और विचारों की गतिमान धाराओं की अनदेखी करती है जो कि इस स्रोतस्विनी से—महानदी से—फूट कर अलग हो गयी हैं। हिन्दू देवमाला

में विभिन्न धर्म-मतों के देवताओं—नागों, वनस्पतियों और नदी-देवताओं, भूत-प्रेतों और मातृकाओं—का सन्निवेश और नये दर्शकों का विवेचन ही यह सिद्ध करता है कि अलग गलियारों में लोग नयी आवश्यकताओं और नयी शक्तियों को प्रकट करने के लिए नये विश्वास गढ़ रहे थे। निस्सन्देह मध्यकाल के महान् आन्दोलन और सम्प्रदाय—वैष्णव, शैव, शाक्त, सिख, और विभिन्न प्रकार के रहस्यवादी मत—प्रजा के विद्रोह की ही अभिव्यक्ति थे; नयी समाज-परिकल्पनाएँ मुक्ति के नये मार्ग खोजने के नाम पर जाति और वर्ण-व्यवस्था पर आश्रित समाज को बदलने का यत्न कर रही थीं।

किन्तु कौन-कौन-सी क्रान्तियाँ हुईं ? ब्राह्मण प्रभुओं के विरुद्ध दलित जनता के कौन-कौन-से विद्रोह ? और समाज के विधायकों ने कौन-सा प्रपंच रचकर परवर्ती पीढ़ियों को यह विश्वास दिला दिया कि वे सनातन विश्वास-परम्परा को निबाहते चले आ रहे हैं, जब कि वास्तव में वे उन देवताओं की पूजा स्वीकार करते जा रहे थे जिन्हें पहले वह सह भी नहीं सकते थे ? उन सब प्रश्नों का जनगीतों और वीरगाथाओं के संकेतों को छोड़कर कहीं कोई उत्तर नहीं है। केवल बहुत-से देवताओं का अस्तित्व ही यह सूचित करता है कि ब्राह्मण अहं के अतिरिक्त दूसरे अहं भी रहे होंगे। और सतह के नीचे होनेवाले बहुमुखी कला-आन्दोलन नयी जीवन-परिपाटी में नयी संवेदनाओं के प्रस्फुटन के सूचक हैं। भारतीय परम्परा पर जो बन्द, स्थितिशील और म्रियमाण होने का अपवाद लगाया जाता है, उसका इससे खंडन हो जाता है। क्योंकि बिना विद्रोह और परिवर्तन और अनवरत संघर्ष के भारतीय संस्कृति बची कैसे रह सकी जब कि, इक़बाल के शब्दों में 'यूनान मिस्र रूमा सब मिट गये जहाँ से' ?

रात में नदी रोषभरी बह रही है, विश्व को अपनी अज्ञात शक्तियों की भयानकता से भरती हुई, जंगलों-पहाड़ों और मैदानी बस्तियों में एक विराट् अभिशाप-सा फैलाती हुई। वह मानो सब कुछ पर विजयिनी है........

किन्तु ज्यों-ज्यों काली रात कम काली होती जाती है; नदी की विजय भी उतनी प्रभावशालिनी नहीं जान पड़ती। क्योंकि अब उसकी शाखा-उपशाखाएँ दीख पड़ने लगी हैं, और उपनदियों का मर्मर भी सुनाई पड़ने लगा है। और कल्पना से देखा जा सकता है वनों में पुराण-गाथाओं का विकास, सर्व-सत्ताक शासन के बावजूद जीने के मानवों के प्रयत्न, रूढ़ियों से संघर्ष करते हुए जीवन के अवशेष, भय से बँधे और दुःख से वेष्टित जनता का निरन्तर पराजय के बाद भी संघर्ष करते रहने का निश्चय. . ये सब दृष्टि के आगे स्पष्ट हो उठते हैं, ऊपर के आक्रमणों को धीर भाव से सहते हुए शिलास्तम्भों की भाँति....

और स्रोतस्विनी के विरुद्ध विस्तृत प्रदेशों का यह विद्रोह ही आज मेरे लिए अभिप्रायपूर्ण है—उपनदियों में उलझे हुए, अव्यवस्थित और अशान्त का जीवन मुख्य धारा से विद्रोह, जिसे सनातन कहा जा सकता है लेकिन जो हमारे काल में एक नये रूप में प्रकट होता है।

नये विजेता न सम्राट् हैं, न राजा, न भोले ज्ञानी। वे हैं स्टाक एक्सचेंज का लेन-देन; महाजन और बड़े व्यापारी, राज-वेशधारी दस्यु; वे हैं ज़मीदार, उद्योगपति, रजवाड़े, और विभिन्न मतवादी राजनीतिक। और उन्होंने नदी के महत्त्व-पूर्ण मोड़ों पर पूरी नाकेबन्दी करने के लिए अनेकों सेतु बाँध दिये हैं। इतना ही नहीं, उस पर प्रभुत्व बनाये रखने के लिए अपनी लूट का माल जमा करने, वनों-पर्वतों-पठारों की उपज को पचाने और आसपास के गाँव-देहात की जन-शक्ति का शोषण करने की यन्त्रशक्ति भी उनके क़ब्ज़े में है।

और हमारे देश के चार हज़ार वर्षों के लम्बे जीवन में पहले कभी ऐसी सम्पूर्ण विजय नहीं हुई; विचार, भावना और विश्वासों की बहुविध प्रवृत्तियों का एक नये सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् देवता पूँजी द्वारा ऐसा बड़ा नियंत्रण कभी नहीं देखा गया था। जो सामूहिक जीवन बाढ़, सूखा, अकाल और विग्रह सहता हुआ इसलिए बना रह सका था कि सम्पत्ति पर किसी एक का अधिकार नहीं था, उसकी जड़ों को इस सर्वसत्तावाद ने खोखला कर दिया है; और अब व्यक्तियों से व्यक्ति को पृथक् करके कुछ को पैसा देकर और कुछ को ऊँचा उठाकर, और जनसाधारण को प्रचार के ज़ोर से जीवन के नाम पर मृत्यु बाँट कर, उनका रक्त चूस कर, अब नागरिक का आत्म-सम्मान ही मिटा देना चाहता है। इस नये धर्म के पुजारियों, कार्टेलों के मालिकों और इजारेदारों, संचालकों और ठेकेदारों, चोर बाज़ार करने वालों के बही-खाते ब्राह्मणों के हिसाब-किताब से कहीं अधिक जटिल हैं, और इनमें हर कोई देनदार ही देनदार है। जनता पर उनके अत्याचार और आतंक ने कुछ पीढ़ियों में ही ग्राम-समाजों की आत्मनिर्भरता नष्ट कर दी है और नरों को निरे पिंजर बना दिया है।

और इस विजय के सम्मुख मानव की, आज और अब में बँधे क्षुद्र मानव की पराजय सम्पूर्ण और अन्तिम होगी अगर वह उठ कर छः हज़ार वर्षों की संस्कृति को सँभाल उसे नया रूप और नया अर्थ नहीं देता।

अगर अवस्थिति इसी प्रकार देश के मनुष्यों के मन पर हावी हुई रही, अगर बनिये, राजे और स्टाक एक्सचेंज का प्रभुत्व क़ायम रहा, तो इसकी पूरी संभावना है कि भावी युग सनातन नियमों को ऐसे जगत् में प्रतिबिम्बित करेंगे जिसमें असंख्य सूने घर हैं पर प्राणी नहीं हैं। हमारी सभ्यता पर भारी संकट की घोषणा करने के लिए इससे अधिक उपयुक्त समय कभी नहीं रहा। क्योंकि मोहभंग में हमारी आँखों के सामने ही मीनारें ढह रही हैं, आलोक बुझता जा रहा है, और नये बवंडर नये अंधकार का संकट उपस्थित कर रहे हैं। किन्तु क्या यह सब एक नये जागरण के नाटक का नान्दी-गान नहीं हो सकता ?

निस्सन्देह नयी परिपाटियों का आविर्भाव सब कुछ बदल देता है। और संस्कृति से प्रेत-वाहन भी पुराणकाल के दायादरों और दासों में से, भूमि कुरेद-कुरेद कर जैसे-तैसे जीविका निर्वाह करने वालों में से, नयी विशाल आबादियों की उत्पत्ति को नहीं रोक सके हैं। और यद्यपि विधर्मियों के अहंकार ने बार-बार विष-वमन और मृत्यु-वमन किया है, तथापि अहंकार सर्वदा मिट्टी में मिला है और उसकी राख में से नया जीवन उपजा है।

यह सत्य यूरोप की गुहा-समाधियों में देखा जा सकता है जहाँ प्रारम्भिक यूनानियों की भाग्यदेवी, जो भारत की द्राविड़ देवताओं के समान ही भयावह थी, क्रमशः ग्रामों और नगर-राज्यों की परम्परा में से होती हुई सोफ़िस्टों के मानव-वाद के रूप में प्रकट हुई, जिसमें विवेक की ईश्वरीयता और जीवन का सौन्दर्य प्रतिष्ठित हुआ। किन्तु आज की नयी भाग्य-देवी के कारागृह में, परनालों के अन्धकार में भविष्य के नये शून्य को टोहते हुए, मानवों के लिए उन क्रान्तियों का महत्त्व समझना कठिन है जिनके द्वारा उन्होंने पिछले छः हज़ार वर्षों में उससे पहले के छः लाख वर्षों की अपेक्षा अधिक उन्नति की। यहाँ तक कि जिन्होंने पुनर्जागरण और सुधार का आलोक देखा है वह भी क्लान्त और परास्त हो रहे हैं..

कदाचित् परिवर्तन का तर्क बहुत सूक्ष्म है। सतह पर इतना कम परिवर्तन होता है कि भीतरी परिवर्तन का अनुमान ही नहीं हो पाता। विशेषकर हमारे काल में यथार्थता का चित्र इतनी तेज़ी से बदलता रहा है कि प्रश्न होता है, क्या हमारे भीतर कोई परिवर्तन हुआ भी है ? हेराक्लिटस के लिए पुल के नीचे बहता जल देखकर यह घोषित कर देना सहल था कि सब कुछ बदल जाता है। इसके अतिरिक्त वह परिवर्तन का ताप भी अनुभव कर सकता था, क्योंकि बर्बरता और असभ्यता का उसके देखते देखते ही लोप हुआ था, और एक नयी सभ्यता अँगड़ाइयाँ ले रही थी। किन्तु हमारे सामने विचारों का संघर्ष है, मानव की विभिन्न नियतियों से मिले हुए अन्तर्विरोध हैं ध्वस्त साम्राज्य, मृत धर्ममत, दस्यु, व्यापारी, मिशनरी, पुराने क्रान्तिकारी, अंधविश्वासी जन-जातियाँ, प्रबल राष्ट्र, कुटिल राजनीतिक शस्त्र बनाने वाले, उद्योग संघ, चेयरमैन, क़ैसर, महाराजे, लेनिन, गान्धी, रूज़वेल्ट, विनस्टन चर्चिल और हिटलर-मुसोलिनी भी हैं। और यद्यपि हम जीवन को परिवर्तित करनेवाले तथ्यों को अधिक नाटकीय ढंग से देख सकते हैं, तथापि विचारों का कार्यकारण सम्बन्ध शॉ के मेथुसलेह को छोड़ किसी के आगे स्पष्ट नहीं होता !

किन्तु क्रियाओं का विस्तार वास्तव में स्पष्ट है। समूचे इतिहास की गति टेनिसन की कविता के फूल की भाँति है—'दीवार की दरार के ओ फूल ! अगर मैं तुझे जान सकता तो मैं सब कुछ जान सकता !' इसी लिए हमें पहेलियाँ बुझानी पड़ती हैं जिनसे केवल झाग उठते हैं। फिर भी हम जानते हैं कि गंगा में बहुत पानी बह चुका है, और परिवर्तन होता है, यद्यपि आन्तरिक परिवर्तन ही अधिक मौलिक होता है। और जो कहते हैं कि मानवी स्वभाव परिवर्तन-हीन है, उन्हें हम मूर्ख या निर्बुद्धि कह कर उनकी उपेक्षा कर सकते हैं—उनका तो जीवन में काम ही यही है कि अपने से उलझे रहें।

तो आज मानव के संघर्ष का सार है उसकी आत्म-चेतना में, अपने गौरव के उसके बोध में, और उसकी संघर्ष-तत्परता में।

नदी बहती है.......

मेरे मन पर उस गीत के शब्दों की छाप अब भी ज्यों की त्यों है, जो बचपन में पंजाबी वीर अजीतसिंह के मुँह से सुना था,

'पगड़ी सँभाल ओए जट्टा, पगड़ी सँभाल वे !'

इन शब्दों को मैं सदा जन-आन्दोलन के ध्येय का सरल सीधा निरूपण मानता आया हूँ। मर्यादा और प्रतिष्ठा की प्रतीक पगड़ी निर्धन किसान के सिर पर से बहुत दिनों से खिसकती ही जाती रही है। उसे फिर से इसे सँभाल कर मुकुट की भाँति अपने सिर पर स्थापित करना है। समय आ गया है कि अधमरी और कुचली हुई रैयत अब जागे और प्रतिघात करे। क्योंकि वीरत्व प्रकाशन के बावजूद वह सचमुच कई वर्षों से अधमरी ही रही है। ऊपर से आरोपित शक्ति के पतिताचार से वह इतना दुर्बल हो गया था कि अकाल पड़ने पर चुपचाप बैठकर गिद्धों को अपना शरीर नोच ले जाने दे और गिद्धों की देश में क्या कमी है? हमने बहुत दिनों तक आततायी का शासन इस आशा में सहा है कि प्रकृति तो बड़ों से बदला लेती ही है और उन्हें पदच्युत करती है। हमें यह भी समझना चाहिए कि बहुत दिनों तक ग़लत परामर्शों को मान दिया है। क्योंकि अलग-अलग हम नहीं टिक सकते; वह मार्ग विशृंखलता और मृत्यु का है, कन्धों पर से जुवा उतार फेंकने और मार्ग साफ़ करने के लिए एकता अपेक्षित है। पशुतुल्य निरीहता में कब तक जिया जा सकता है?

हमारे पूर्वजों ने और जो कुछ सिद्ध किया हो या न किया हो, यह तो उन्होंने दिखाया ही कि पशुओं के साथ प्राकृतिक जीवन का अंग होकर भी मानव ने ऋषि, मन्त्रज्ञ, कवि और किसान पैदा किये जिन्होंने हवा, पानी, वृष्टि और आग को नियन्त्रित करके उनका उपयोग किया जब कि पशु प्रकृति की देन पर ही निर्भर जहाँ के तहाँ रह गये। और अन्न-पानी के साधन हल या रहँट से आगे बढ़ कर मानव ने यह भी देखा कि वह अपने वंशागत दाय को और अपनी परिस्थिति को भी नियन्त्रित कर सकता है। नहीं तो कहाँ से आते वे रसशास्त्र और काव्यादर्श और मुद्रादर्पण; विकसित भाषा की ऋचाएँ और मन्त्र; वस्तुस्थिति के साथ मानव के संघर्ष की वे भव्य भावातिरेक भरी गाथाएँ?

नदी रात में दर्प भरी बहती जा रही है। किन्तु रात के अन्धकार में से आलोक जन्मेगा ही...

उस अज्ञात क्षण को लाने के लिए जिस भगीरथ प्रयत्न की आवश्यकता होगी, उसके सामने मैं नत होकर भी अनुभव करता हूँ कि आज हमें शंकर या पतंजलि की शरण नहीं जाना होगा जो कि हमारे ही अंग हैं, बल्कि अपने भीतर उत्साह और आग को बनाये रखते हुए हमें इसी परिवर्तन-शील स्रोत में ही खोजना होगा। क्योंकि नीति-अनीति का विवेक अपनी आत्मा में बनाये रखने के साथ-साथ हमें उस सत्य का भी अनुभव करना होगा, जिसे नहर का बाँध बनानेवाले इंजीनियर कुछ-कुछ समझते हैं—कि आग, पानी, भाफ और हवा आदि तत्त्वों को बाँधकर उनसे अन्न प्राप्त किया जा सकता है, कि ट्रैक्टर जीवन देते हैं, कि हमारी छोटी-छोटी नदियों में विराट् विद्युत्-शक्ति भरी पड़ी है, जैसे कि हमारे कथासरित्सागरों में मानवी ज्ञान के उज्ज्वल रत्न छिपे हुए हैं।

क्या यह परिवर्तन हमारे अतीत की विचार-परिपाटी के लिए बहुत मौलिक है? क्या मैं अधीर हो रहा हूँ? क्या मुझमें एक अहं का आग्रह है जो उन्हीं पुरानी अहन्ताओं को प्रतिबिम्बित करता है जिन्हें मैं मिटाने को कृत-संकल्प हूँ? क्या मैं एक अनिश्चित भविष्य के लिए एक बहुत बड़ी निधि को नष्ट कर दे रहा हूँ?

मैं इन प्रश्नों से आतंकित नहीं होता। क्योंकि न तो मैं लाखों वर्ष का कोई कार्य-क्रम निर्धारित किये दे रहा हूँ, न जीवन्मृतों की इस दुनिया में मुझे किसी वस्तु का मोह है। मेरी अशान्त रात के स्वप्न केवल कल के संघर्षों के सूचक हैं। मिट्टी से उत्पन्न, मुख्य स्रोत से कुछ अलग पड़ा हुआ मैं गहरी साँस ले सकता हूँ। और मैं जानता हूँ कि वहाँ गाँव में डाक बँगले के पास और महल की छाया में ही किसान सभा की संगठित शक्ति है, कई लड़ाइयों में हारकर जिसका लोहा मँजा है, जिसके निशान फहरा रहे हैं; जो रोटी और न्याय का नारा लगा रही है जो कि मानव की मुख्य एषणाएँ हैं।

नदी बहती है......

मैं गाँव से अपने और भाइयों को निकलते देखता हूँ। ओठों पर प्रार्थना और गान लिये; मैं देखता हूँ उनको जीवन की सतह पर आते हुए, गाते हुए, चिरन्तन गाते हुए संघर्ष का गीत..

(अंग्रेज़ी से)

सन्तों के सहवास में

प्रेमा कंटक

पिछले महीने के अन्तिम सप्ताह में मैं अहमदनगर जिले के दौरे पर गयी थी। इस दौरे में नेवासें नाम के देहात में भी पहले से एक कार्यक्रम निश्चित किया हुआ था। इस बात को जान मैं आनन्दित ही हुई थी, क्योंकि नेवासें गाँव का नाम ज्ञानेश्वर महाराज के नाम से सम्बन्धित है। बचपन में मैंने कहीं पढ़ा था कि ज्ञानेश्वर महाराज के विरह में व्याकुल मुक्ताबाई (महाराष्ट्र की एक सन्त-कवियित्री) पर इसी नेवासें में आकाश से बिजली टूट पड़ी थी और यहीं वे गत-प्राण हुई थीं।

ज्ञानेश्वर महाराज थे महाराष्ट्र के आदि-कवि। उनका जीवन तो साक्षात् अद्भुत रस था—स्वप्नमय, काव्यमय और चैतन्यमय उनकी जीवन-यात्रा थी। इस कारण बाल्यकाल से उनके सहवास में जीवन व्यतीत करने वाली अकेली प्रेममयी भगिनी को उनका वियोग असह्य होकर जीवन यदि नीरस प्रतीत होने लगा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। 'चार तपस्वियों का मेला' (निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान, मुक्ताबाई—ये चारों भाई-बहिन सन्त और कवि थे) उठ जाने पर जीवन में जीने योग्य बचा क्या था? यह मुझे बाद में पता चला कि मुक्ताबाई का देहान्त नेवासें में न होकर एदलाबाद में हुआ था। वहीं उनकी समाधि है। सासवड[1] गाँव में, इस चतुष्टय में से एक बन्धु सोपानदेव की समाधि है। आलन्दी में ज्ञानेश्वर महाराज की, और त्र्यम्बकेश्वर में श्री निवृत्तिनाथ की समाधि भी मैं देख आयी हूँ। परन्तु मुक्ताबाई की समाधि के दर्शन का अवसर मुझे अभी तक नहीं प्राप्त हुआ था।

नेवासें में ही श्री ज्ञानेश्वर महाराज ने अपना अपूर्व ग्रन्थ 'भावार्थ-दीपिका'—जो 'ज्ञानेश्वरी' नाम से विख्यात है—रचा था, ऐसा मैंने सुना। जिस प्रस्तर-स्तम्भ के सहारे वे बैठते और स्वयं रची हुई 'ओवियाँ' अपने मुख से कह लेखक सच्चिदानन्द बाबा को लिखवाते, वह स्तम्भ भी अभी वहाँ है सुनकर मुझे आनन्द भी हुआ और मेरी उत्सुकता भी बढ़ी। मन में विचार किया कि नेवासें जाकर इस पवित्र स्थान का दर्शन करना चाहिए।

नेवासें गाँव के निकट प्रवरा नदी बहती है। नदी का पाट बहुत सँकरा है। दोनों ओर ऊँचे-गहरे कगार और कँटीली झाड़ियाँ हैं। गाँव नदी के दोनों किनारे बसा है। पार जाने के लिए हमें नाव से जाना पड़ा। मन्द, प्रशान्त जल-प्रवाह में नौका जैसे तेज़ी से फिसलती जा रही थी। नाव क्या थी, मानों शैशव के स्वप्न हों। आसपास की घनी झाड़ियाँ मृदु मन्द गति से बहते हुए समीर की ध्वनि से गूँज रही थीं। आकाश बादलों से घिरा हुआ था। गाँव के लोग बहुत सबेरे से उठ कर काम पर लग गये थे, परन्तु कहीं भी कोई भगदड़ न थी; सब ओर शान्ति विराजमान थी। दूर छोटी-छोटी पहाड़ियाँ दिखलाई दे रही थीं। पानी बरस चुका था, इस कारण सब ओर कीचड़ हो गया था। गाय, बैल, भैंस और बकरी आदि के पैरों के सुन्दर-से चिह्न कीचड़ में बन गये थे और मैं उन्हीं पद-चिह्नों पर आगे अपनी राह खोजती हुई अपने सहकारियों के साथ गन्तव्य स्थान पर जा पहुँची।

दौरे के हेतु सफल होने की जितनी आस्था मन में थी, उतनी ही उत्कंठा ब्रह्मकुल के भूषण उस बान्धव-चतुष्टय की तपोभूमि देखने की भी थी। सभा का कार्यक्रम शाम के चार बजे से प्रारम्भ होनेवाला था। हम तब दोपहर को दो बजे तपोभूमि की ओर चले। मेरे साथ तीन बहिनें और थीं।

यह स्थान गाँव के समीप ही है। उस ओर मुड़ते हुए कल्पना-चक्षु जैसे खुल गये और मन सात सौ बरस पहले जा पहुँचा। भक्ति का साम्राज्य मन पर फैलने लगा। गाँव के बाहर की वह राह निर्जन-प्राय थी। दोनों ओर टेढ़े-मेढ़े खेत फैले थे। सड़क के बिलकुल निकट वृक्ष खड़े थे। उस ज़िले में सब ओर नीम हैं, जिनकी विस्तृत शोभा

[1] सासवड पूना के निकट एक गाँव है जहाँ लेखिका का आश्रम है।—सं०

अत्यन्त सुन्दर दिखाई देती हैं। मुझे नीम का वृक्ष बहुत प्रिय है—सीधा, ऊँचा और जालीदार। जब उसमें सफ़ेद-सफ़ेद छोटे-सुन्दर फूल लगते हैं तो सहसा, हरे जलाशय में शोभायमान श्वेत कमलों का दृश्य नेत्रों के सामने आ जाता है। गहरी पीली निबौरी के गुच्छे पक कर जब लटकने लगते हैं, तब तो नीम मानों शोभा और सुगन्ध का स्वर्ण-शिखर हो जाता है। नेवासें में नीम वृक्षों की कमी नहीं है। विशाल-विस्तृत आकाश के नीचे फन उठाये हुए मन्त्र-मुग्ध नाग की भाँति ये वृक्ष हवा में डोल रहे थे।

सब ओर हरी घास फैली थी। हमारे पैरों की चाप तक नहीं सुनायी दे रही थी। उस पवित्र स्थान की ओर बढ़ते हुए, दृष्टि आसपास के सुन्दर प्राकृतिक विस्तार को निहार रही थी। सृष्टि के काव्य से रस-मित्त मुख से कोई चीत्कार या किसी प्रकार की कोई आहट न थी। संसार के कोलाहल से हम दूर जा रही थीं।

रास्ते के किनारे, दाहिने हाथ एक टूटी मस्जिद दिखायी दी। वह इस दशा में न थी कि उपयोग में लायी जा सके। एक युग में उसका वैभव अवश्य ही बहुत बड़ा होगा, क्योंकि उस ज़िले पर बहुत अरसे तक मुसलमान शासकों का अधिकार रहा था। ज़िले में मुसलमानों की काफ़ी बस्ती का भी यही कारण था। इसी प्रकार इस्लामी संस्कृति के और भी बहुत-से चिह्न तथा अवशेष उस ज़िले में पाये जाते हैं। मस्जिद तो लगभग प्रत्येक ही गाँव में है।

स्थान समीप आया। मोड़ पर घूमते हुए देखा, एक कपिला गौ घास पर बैठी हुई शान्तिपूर्वक जुगाली कर रही है। उस जन-शून्य बस्ती में पक्षियों के अतिरिक्त केवल वही एक चतुष्पद प्राणी के रूप में हमें दिखाई दी। उस के काले रंग के मुख पर छायी हुई शान्ति तथा उसके नेत्रों के भाव को देखकर मुझे महात्मा गाँधी का सुप्रसिद्ध वाक्य "गाय करुणा की कविता है" याद आ गया। काव्यात्मक वातावरण में हम प्रवेश कर रही थीं। गो-माता के बिना उस काव्य की पूर्ति कैसे हो सकती थी?

सामने विस्तृत ज़मीन थी। खुला आँगन, और बीचों-बीच सहोदर प्रतीत होते दो वृक्ष। और उनमें भी नीम का वृक्ष किसी गम्भीर राजपुरुष की भाँति खड़ा था। देवालय के सामने बड़ा-सा प्रांगण था, जिस के ठीक बीच में एक नीम और एक पीपल का—दो वृक्ष खड़े थे। उनके तनों के चारों ओर चबूतरा बनवाया गया था। पीपल के बड़े-बड़े वृक्ष मैंने देखे हैं। यह वृक्ष तो दुबला-पतला-सा ही था, परन्तु नीम के वृक्ष का ऊँचा और घना फैलाव देख कर मैं आश्चर्य से भर गयी। किसी अजेय वट-वृक्ष की भाँति उसका विस्तार चारों ओर फैला हुआ था। समूचे आँगन पर उसकी शीतल छाया विराजमान थी। उसी छाया में पीपल का विस्तार कहीं का कहीं विलुप्त हो गया था। यह दृश्य देख कर मन क्षण-मात्र के लिए आश्चर्य में डूब गया। उस महान् आत्मा योगेश्वर ज्ञानदेव के सान्निध्य में रहकर ही कदाचित् इस वृक्ष ने इतनी विशालता प्राप्त कर ली है—ऐसा विचार मन में आया।

वृक्ष को सराहती हुई हम आगे बढ़ीं। सामने मन्दिर था। मन्दिर कैसा?—बस, किसी ने छत खड़ी कर दी थी, ऐसा साफ़ जान पड़ता था। मन्दिर एक ऊँचे-से टीले पर है। सीढ़ियाँ चढ़ कर हम ऊपर गयीं। चौकोर पत्थरों के फ़र्श का आँगन और उसी से सटा हुआ देवालय। देवालय पत्थर का बना हुआ है, परन्तु अब जीर्ण हो गया है। भीतर प्रवेश करते ही छोटा-सा सभा-मंडप मिला। खम्भों पर प्राचीन चित्र लटक रहे थे। मन्दिर के मध्य भाग में 'विट्ठल-रखुमाई' की मूर्तियाँ स्थापित थीं। किन्तु मेरा ध्यान उस ओर न था, वह तो उस ऐतिहासिक प्रस्तर-स्तम्भ की ओर आकृष्ट था। मन्दिर के मध्य भाग में वह खड़ा था। उस का पाया नीचे भूमि में गड़ा हुआ था, तथापि ऊपर शिखर टूटा-सा जान पड़ता था। नीचे पत्थर चौकोर था। ऊपर जाते-जाते उसकी आकृति भिन्न हो गयी थी। नीचे खम्भे के हर बाज़ू की चौड़ाई आदमी की पीठ से कुछ अधिक होगी। पुरानी देवनागरी लिपि में उसपर कुछ लेख अंकित था, जो मैं पढ़ न सकी, क्योंकि चश्मा साथ न लायी थी। "लोग तो ऐसा कहते हैं कि उस पर समूची 'ज्ञानेश्वरी' खुदी हुई है।" साथ में खड़ी एक बहिन ने बताया। "यह तो असम्भव है", मैंने उत्तर दिया। 'ज्ञानेश्वरी' की सैकड़ों 'ओवियाँ' इस छोटे-से खम्भे पर खुदी हैं, यह बात मुझे असम्भव प्रतीत हुई।

मैं भूखी दृष्टि से समूचे दृश्य को जैसे एक ग्रास में ही लील लेने की कोशिश करने लगी। अन्तर्भाग के अँधेरे के कारण कोई भी चीज़ स्पष्ट नहीं दिखाई दे रही थी। गूढ़ वस्तु का रहस्य-शोधन करने की उत्कंठा मानव के लिए स्वाभाविक है। अन्धकार में ज्योतित प्रकाश कहाँ से आता है, यह जानने की इच्छा सभी को होती है। परन्तु उस इच्छा की पूर्ति के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग करने वाले लोग बहुत ही थोड़े होते हैं।

मुझे उस स्थल का इतिहास जान लेने की भी उत्सुकता थी। आखिर खोज कर मेरी साथिन एक युवक को साथ लेकर वापिस लौटी। वह युवक वैसे तो पूना का निवासी था परन्तु 'ज्ञानेश्वरी' के अध्ययन के लिए इस एकान्त में डेरा डाले हुए था। कदाचित् उसे साधक-वीर बनना होगा, अन्यथा शहर का जीवन तज कर इस निर्जन स्थान में आकर रहने में लाभ ही क्या था ?

तब वह युवक वहाँ का इतिहास बताने लगा—"इस स्तम्भ पर जो लेख अंकित है उसका 'ज्ञानेश्वरी' से कोई सम्बन्ध नहीं है। ज्ञानेश्वर महाराज ने अपना ग्रन्थ यहीं बैठ कर लिखाया। वे इस स्तम्भ से टिक कर बैठते। सामने के स्थान पर सच्चिदानन्द बाबा बैठते। ज्ञानेश्वर मुख से बोलते, सच्चिदानन्द बाबा वे 'ओवियाँ' लिख लेते। इसी प्रकार से ग्रन्थ पूरा हुआ। ज्ञानेश्वर महाराज यहीं बैठ कर ध्यान करते। यहीं योगाभ्यास करते। एक बार योग-समाधि से जागृत् होते समय एक स्त्री ने उन्हें नमस्कार किया। वह स्त्री उस समय सती होने जा रही थी। ज्ञानेश्वर महाराज ने केवल यही देखा कि कोई सौभाग्यवती स्त्री उन्हें नमस्कार कर रही है। इससे सहज ही यह आशीर्वाद उनके मुख से निकल गया 'अष्टपुत्रा सौभाग्यवती भव।' उस स्त्री ने हँस कर पूछा,"महाराज, यह वरदान अगले जन्म के लिए है क्या ?" महाराज चौंक उठे। पूछने पर पता चला कि उसके पति का शव अरथी पर स्मशान की ओर ले जाया जा रहा है और वह साध्वी मंगल-वस्त्र पहन कर सती होने के लिए जा रही है। राह में साधु का दर्शन होते ही भक्ति-भावना से उसने नमस्कार किया था। महाराज ने बाद में शवयात्रा रोक दी। शव में प्राण-संचार कर उन्होंने मृत व्यक्ति को सजीव बनाया। आगे वही मनुष्य सच्चिदानन्द बाबा नाम से श्री ज्ञानेश्वर का लेखक बना। महाराज का आशीर्वाद सच निकला।

यह पूर्व-परिचित कथा फिर सुनने को मिली। कथा में निहित रसिकता और सात्विकता हृदय को सुखकर प्रतीत हुई। साथ ही एक प्रकार का स्पन्दन भी हृदय में प्रारम्भ हुआ। इतिहास के विराट् गर्त्त में समाया हुआ वह काल जैसे पुनः एक बार नींद से जाग कर उठ बैठा। 'ज्ञानेश्वरी' के उपसंहार की ओवियाँ जीवित होकर आँखों के आगे नाचने लगीं—

"ऐसे युग में परन्तु कलि में। और महाराष्ट्र मंडल में। श्री गोदावरी नदी के किनारे। दक्षिण में॥ त्रिभुवनैक पवित्र। अनादि पंचक्रोश क्षेत्र। जहाँ जगत् का सूत्र श्री महालया है। वहीं यदुवंश विलास। जो सकल-कला विकास। न्याय का पोषण करने वाला क्षितीश। श्री रामचन्द्र हो गया। वहीं महेशान्वय-संभूत में। श्री निवृत्तिनाथ सुत ने। ज्ञानेश्वर ने गीता जी को। देशी अलंकार बनाये। शके बारह सौ बहत्तर में। यह टीका ज्ञानेश्वर ने लिखी। और सच्चिदानन्द बाबा आदर से। लेखक बना॥"

सात सौ वर्ष पूर्व का वह महाराष्ट्र।....और राजा रामदेवराव यादव। उनका चतुरंग दल, उनका वैभव।... महाराष्ट्र की वह गौरवशालिनी भूमि, जो तब तक किसी भी विदेशी आक्रमण से भ्रष्ट नहीं हुई थी; महाराष्ट्र गंगा गोदावरी।....उसी महाराष्ट्र के संकुचित वृत्ति के वे कृपण और अज्ञानी ब्राह्मण जिन्होंने इन निर्दोष पवित्र बालकों को यातना दी—ये समस्त चित्र आँखों के सामने नाचने लगे। निरीह एवं निरपराध को यातना देने वाला आततायी समाज कितने काल तक टिक सकेगा ? दिल्ली के सुलतान की आक्रमणकारी सेना के घोड़ों की टापें महाराष्ट्रीय कर्ण-पथ पर तब तक टकरायी नहीं थीं। जनता मानों किसी नशे में थी। वे राजपुत्र और राजकन्याएँ, उनके रथ, दास-दासियाँ, हाथी-घोड़े, राजपुरुष—काल के उदर में लुप्त हो गये। वे सब व्यक्ति, पट्टन, राज्य और उनके उस भोग-विलासी वातावरण का त्याग कर समाधि-मार्ग के अनुकूल वातावरण खोजते हुए निर्जन एकान्तवास को प्रसन्नता से वरण करने वाले श्रेष्ठ साधक और योगी...उन्हें सताने वाले अज्ञानी ग्रामीण जन—ये सब चित्र आँखों के सामने से जल्दी-जल्दी सरक गये। यदि मुझे उस काल में प्रत्यक्ष जीवित रहने का अवसर मिलता तो कदाचित् उतना आकर्षण प्रतीत न होता, जितना तीव्र और काव्यमय आकर्षण उस एकान्त अवस्था में मुझे केवल ध्यान से ही प्रतीत हुआ। आसपास की प्रकृति मेरे कानों में मानों गुनगुनाने लगी—"तुम आधुनिक हो। हम पुरातन हैं। ऊपर फैला हुआ अनन्त आकाश, नीचे बहने वाली स्वयं-निम्नगा नदी, आसपास के पर्वत, सामने का प्रकाश और वातावरण की शान्ति—ये सब शाश्वत और अमर हैं। इन्होंने सब को देखा है, सब को जाना है। संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है जो केवल इतिहास को ही ज्ञात हो और इन्हें अज्ञात हो। उल्टे इतिहास ही हमारा बालक है। हम उससे भी अधिक प्राचीन हैं। जो कुछ वह नहीं जानता, उसे हम जानती हैं।"

मैं एकटक उस भग्न-मन्दिर का निरीक्षण कर रही थी। देख कर भी मुझे न देखने जैसा लगा, क्योंकि जो मैं चाहती थी उसे पा न रही थी। एक प्रकार की अतृप्ति-सी मुझे अनुभव हो रही थी। वह प्रस्तर-स्तम्भ योगी ज्ञानेश्वर के पावन
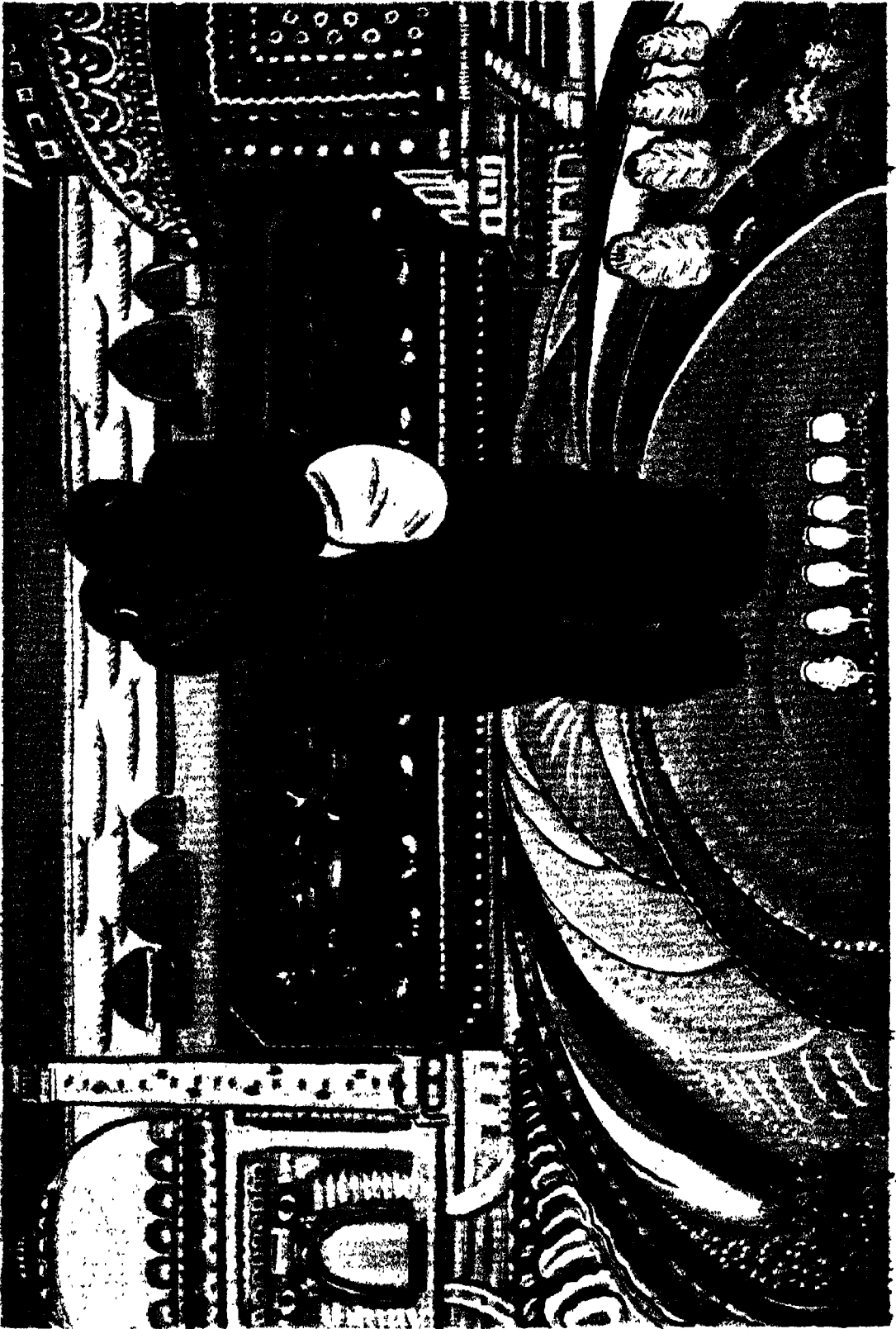
स्पर्श से पुनीत, शिर-भग्न कबन्ध की भाँति खड़ा था। उस स्थान की सात सौ वर्ष पहले की वह शोभा अब मिट चुकी थी। उस स्तम्भ से टिक कर जो विचार किये गये थे, वे आज सात सौ बरस और हजारों मील दूर तक पहुँच चुके थे। यह कितनी भव्य और उत्कट साधना थी! आसपास की दुनिया नश्वर है। उस स्तम्भ के अमिट अक्षर यह पाठ चिरन्तन शब्दों द्वारा दे रहे थे। बोधिवृक्ष के नीचे ध्यान-मग्न बैठ कर भगवान् बुद्ध ने मार पर विजय प्राप्त की थी। कौन जाने, इस स्तम्भ के पास फिर एक बार दुष्ट मार जाग न उठा होगा? . . . . घनघोर साधना-संग्राम हुआ होगा। फिर एक बार एक महान् उपासक ने मार पर विजय प्राप्त करके पारलौकिक विद्या का अमर-पीठ वहाँ स्थापित किया होगा। उस पवित्र, शान्त, रम्य वातावरण में पूर्व-स्मृति को जाग्रत् करने वाली एक भावगम्य मूर्ति, कल्पना-नेत्रों के सामने आ प्रकट हुई। मन्दिर के दाहिनी ओर कोने में प्रस्तर मूर्तियाँ थीं। वे ज्ञानेश्वर और उनके भाइयों की मूर्तियाँ हैं, ऐसा कहा जाता है। परन्तु चैतन्यमयी मूर्तियों का प्राण-तत्त्व और उनकी सत्यता इन शिलामयी मूर्तियों में कहाँ आ सकती हैं? मेरी आँखें चारों ओर उसी चैतन्य प्राणतत्त्व को खोज रही थीं—परन्तु इन जड़ नेत्रों द्वारा उनसे साक्षात्कार कैसे होता?

ज्ञानेश्वर महाराज मूर्तिमान् मेरे सामने जीवित रूप में इस खम्भे से टिक कर बैठें और अपने लेखक को अपने ही मुख से अपनी बनायी 'ओवियाँ' सुनायें और मैं उन सब को अपने तृषित और उत्सुक कानों से सुनूँ—यही प्रबल इच्छा मेरे मन में जाग्रत् हो रही थी परन्तु यह असम्भव इच्छा सत्यसृष्टि में किस प्रकार अवतरित हो सकती थी?

हम देवालय के बाहर आयीं। साधक महोदय ने प्रश्न किया,"पानी चाहिए?" पानी की प्यास नहीं थी, फिर भी उस स्थान का पानी पीकर पुनीत अवश्य होना चाहिए, ऐसी इच्छा मन में जागृत हुई। मैंने 'हाँ' कहा। साधक महोदय पानी लाने गये और मैं सीढ़ियों के ऊपर की ओर वाली एक शिला पर मन्दिर के द्वार की ओर उन्मुख होकर बैठी तथा चारों ओर देखने लगी। मन्दिर लगभग ६०-७० वर्ष पुराना था। उस से पहले वहाँ न जाने क्या होगा? द्वार के दाहिनी ओर एक शिला हाल में बैठायी गयी थी। उस पर एक ताजा लेख अंकित था, जिस का अर्थ था—'प्रोफ़ेसर दांडेकर ने इस सभा-मंडप के जीर्णोद्धार के लिए दस हजार रुपये जमा किये हैं और उनके हाथों से यह नींव का पत्थर लगाया गया है।' पूछ-ताछ करने पर पता चला कि स्थान का जीर्णोद्धार करने का संकल्प कई वर्ष पुराना है और उसके लिए कुछ धन भी जमा किया गया है। लेकिन इतना सब होने पर भी काम अभी अधूरा ही पड़ा है। हाल ही में कुछ दिन पहले वहाँ एक बड़ा समारोह हुआ था, तभी प्रोफ़ेसर दांडेकर के हाथों यह शिलान्यास हुआ और संकल्प का पुनरुच्चार किया गया। अब वहाँ कुछ बनना शुरू हुआ है। ज्ञानेश्वर के ग्रन्थों का अध्ययन करने वालों के लिए वहाँ रहने और लिखने-पढ़ने की सुविधा की जायगी। यह सुन कर हर्ष हुआ।

साधक महोदय पीतल के साफ़ लोटे में स्वच्छ, निर्मल जल ले आये। उसको पीकर मैंने विशेष शान्ति का अनुभव किया। वैसे पानी में तो कोई विशेष वस्तु न थी, परन्तु भावना में सब कुछ था। उसी पथ-प्रदर्शक के साथ हम मन्दिर के पीछे की ओर गये। उधर एक खंडहर-सी इमारत थी जो केवल काले पत्थरों की ही बनी हुई थी। पीछे दीवाल, आगे चबूतरा और दोनों ओर की दीवालें—वे भी गिरी हुई अवस्था में। ऊपर छत भी काले पत्थरों की ही थी परन्तु गिरी हुई जान पड़ती थी। चौथी दीवाल थी ही नहीं। चबूतरे पर दूब उग आयी थी। यहाँ वे चार प्रसिद्ध भाई-बहन रहते थे। पथ-प्रदर्शक बताने लगा,"माँ-बाप के मर जाने पर बच्चों को कहीं आसरा नहीं मिला। संन्यासी के बच्चे होने के कारण सारे गाँव ने उन्हें बहिष्कृत कर दिया था। जब उन बेचारों को गाँव में जगह न मिली, तब वे गाँव के बाहर स्मशान में आये। यह सारा प्रदेश उस समय स्मशानवत् था। इसी गिरी हुई इमारत में वे चारों भाई-बहिन रहे। गाँव दूर था। पहले इस स्थान पर कोई आता न था, परन्तु बाद में इन बच्चों का दिव्यत्व सिद्ध होने पर इस स्थान का महत्त्व बढ़ा। बाद में इस स्थान से स्मशान हटा और उसकी व्यवस्था अन्यत्र की गयी। इस प्रकार इस स्थान का मूल रूप बदला और यह पावन तथा दर्शनीय तीर्थ बना।

अत्यन्त उद्वेग से गृह-त्याग करनेवाले उन दिव्य बालकों ने अन्ततः अपने तप-सामर्थ्य से क्रान्ति कर दी थी। जहाँ निवास किया, वहीं उन्होंने शान्ति स्थापित की। मन फिर उनके जीवन की बातों का स्मरण करने लगा—मातृ-पितृ-विहीन वे बालक, जिनके पास कुछ भी न था; गाँव से भिक्षा में सीधा माँग कर उदर-पोषण करने के लिए वे विवश थे, क्योंकि कोई भी काम-धन्धा करने के योग्य उनकी उम्र न थी। मुक्ताबाई,—लाड़ली मुक्ताबाई, तीन भाइयों की अकेली एक बहिन—वह तो बिलकुल अबोध और कोमल थी। सभी उसका ध्यान रखते, उसकी चिन्ता करते। उस लाड़ली परन्तु वैराग्य-सम्पन्न मुक्ताबाई के वचन 'ताटीचे अभंग' याद आये। एक बार लोगों ने ज्ञानेश्वर को बहुत सताया, उनकी निन्दा की, उनका अपमान

किया। ज्ञानदेव उद्विग्न होकर, दुःखित भाव से घर आये और मन का उद्वेग छिपाने के लिए कमरे में जाकर, दरवाजे की कुंडी लगा कर अन्दर चुपचाप बैठ गये। स्नेहमयी बहिन मुक्ताबाई को जब इस घटना का पता चला तो वह भाई को सान्त्वना देने के लिए दौड़ी-दौड़ी गयी। परन्तु दरवाजा अन्दर से बन्द था। कुंडी खोल देने के लिए मुक्ताबाई ने बहुत विनती की, परन्तु ज्ञानदेव की ओर से कोई प्रत्युत्तर न मिला। सयानी बहिन ने काव्य द्वारा भाई के निहोरे करने शुरू किये। वही काव्य 'ताटीचे अभंग'[1] नाम से मराठी संत-साहित्य में प्रख्यात है।—

"मुझपर दया करो। द्वार खोलो ज्ञानेश्वर ॥
जिसे संत बनना है। उसे नीच वचन सहने ही पड़ते हैं ॥
तभी होता है तन-मन में सन्तपन। जब अभिमान न हो ॥
सन्तपन जहाँ है। वहाँ भूत-दया दिखायी देती है ॥
किस पर क्रोध करें? स्वयम् ब्रह्म सर्व देश में है ॥
ऐसी समदृष्टि करो। द्वार खोलो ज्ञानेश्वर ॥ १ ॥
योगी पावन मन का। जन-जन का अपराध सहन करता है ॥
विश्व यदि वह्नि बनें। तो सन्तमुख को पानी बनना चाहिए ॥
शब्द-शस्त्र से यदि क्लेश हुए हों। तो सन्त उसे उपदेश समझें ॥
विश्व-पट ब्रह्म-डोरा है। द्वार खोलो ज्ञानेश्वर ॥ २ ॥
लाड़ली मुक्ताबाई कहती है। बीज मूलधन स्थान-स्थान पर है ॥
तुम तर के विश्व को तारो ॥ द्वार खोलो ज्ञानेश्वर ॥ ३ ॥"

लाड़ली बहिन की अमृत-वाणी सुन कर इष्ट प्रभाव हुआ। भाई का मन द्रवित हुआ। द्वार खोला गया।

समूचे विश्व में आग फैलने पर भी सन्त-वाणी निर्मल-शीतल जल का रूप लेकर उस अग्नि को शान्त करे—ऐसी संजीवनी का आदेश देने वाली वह मनोहर भोली-भाली बालिका, उसका अद्भुत शक्तिशाली शान्त-चित्त भाई, प्रसन्नता-पूर्वक हँसते हुए यह दृश्य देखने वाले अन्य दो बन्धु—पूरा का पूरा चित्र मेरी आँखों के सामने आ खड़ा हो गया। उस क्षण भी उस अमृत वाणी की वर्षा मेरे कानों में होने लगी। आसपास के नीम के पेड़ों की घनी-शीतल छाँह, दूर बहता हुआ गोदावरी का शान्त जल, आसपास की रम्य, चैतन्यमयी प्रकृति; सब मानों मधुर शब्दों में गा रही थी :

विश्व जब बन जाय वह्नि। तब सन्तमुख बने पानी ॥

विरोधी विचार और लड़ाकू पन्थों का स्नेह-सम्मेलन बुलाने के लिए जीवन-मुक्त मुक्ताबाई का सन्देश, उनका शान्ति का महा-मंत्र, आज भी नेवासें के शान्त वातावरण में गूँज रहा है। पत्ते-पत्ते में उमग रहा है। प्रत्येक जल-तरंग में उमड़ रहा है। ग्रीष्म के उत्ताप से त्रस्त-तप्त प्रकृति का ताप, मानों हँसती हुई कोकिला अपने मधुर गान में अजाने ही हर रही है। अपने भाव-मधुर गायन से लाड़ली मुक्ताबाई ने कुशलतापूर्वक वही चमत्कार घटित किया। देवनाओं की कविता मानों उसके मुख से प्रकट हुई।

"और जगत के सुखोद्देश्य से। शरीर वाक् मन से—
(इस दुनिया में) रहना। वही अहिंसा का (प्रकट) रूप जानो ॥"

—(ज्ञानेश्वर)

बाहर प्रखर ग्रीष्म-काल होने पर भी, अन्दर शीतल, शान्त चन्द्रिका का साम्राज्य फैलाने वाले इन सन्तों को किन शब्दों में सराहें?

जीवन के ज्वार-भाटे में काल की अनन्त-लीला प्रकट होती है। सन्त पुरुष जन्म लेते हैं अपने बाद में अवतरित होने वाले महात्माओं की पूर्व-तैयारी करने ही के लिए। दुनिया को वे जो सन्देश देते हैं, उसे वे ऐसे ही, निवृत्ति का आनन्द देने वाली, एकान्त प्रकृति की गोद में बैठ कर प्राप्त करते हैं। जो विश्व में शान्ति स्थापित करना चाहते हैं, उन्हें स्वयं पहले शान्त-चित्त और स्थित-प्रज्ञ बनना चाहिए। उस रम्य स्थान के सान्निध्य में रहते हुए वहाँ से हिलना ही नहीं चाहिए—ऐसी भावना

[1] ताटी=टट्टी=दरवाजे के; अभंग=छन्द-विशेष।

रहने लगी। वहाँ की आतिथ्यशील झाड़ी का भी मोह न छूट सका। एक स्थान पर बैठ कर की हुई तपस्या दुनिया के दूसरे छोर तक पहुँचती है, यह भी विचार मन में आया। 'अविचल, मंगल, नत-नयने, अनिमेषे' में उस स्थान की ओर देख रही थी। परन्तु क्या ? . . . . तभी साथ आये हुए जिला-संघटक ने मुझे अपनी तन्द्रा में से सूचना कर जगा दिया, "सभा का समय हो गया। चलना चाहिए।"

दीर्घ निश्वास के साथ मैं उठी। योगी का आशीर्वाद लेकर उस स्थान से बिदा ली।

(मराठी से)
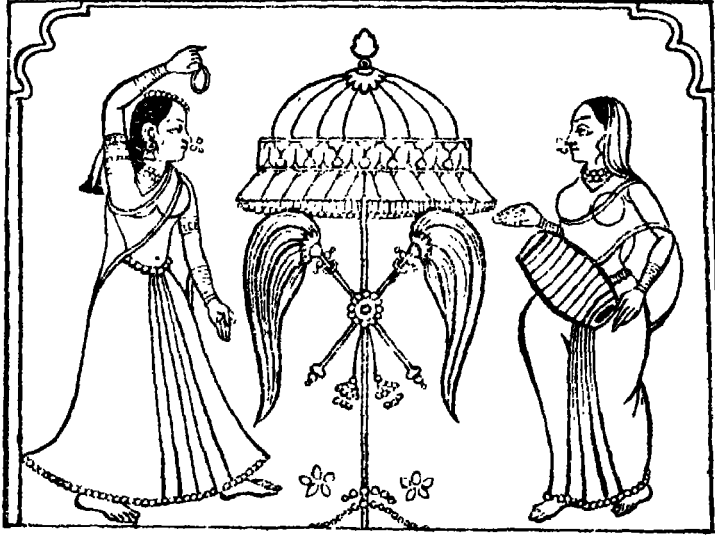
एक में अनेक

'बनफूल'

प्राचीन भारत मेरे हृदय में एक विचित्र भावना जाग्रत् करता है, एक कौतूहल जिसमें आश्चर्य भी समाहित है। जब भी मैं पीछे की ओर मुड़कर देखता हूँ तो मुझे दीखते हैं विस्तीर्ण क़ब्रिस्तान और श्मशान, मक़बरे और समाधियाँ, समाधि-लेख, विराट् स्तूप और धातु और ध्वंसावशेष. .परन्तु धुन्ध का झीना-सा आवरण उन सबको ढके हुए है। इस झीने अन्धकार को चीरकर मैं सब कुछ देख लेना चाहता हूँ लेकिन देख नहीं पाता। मैं उस जीवन की अनुभूति चाहता हूँ जो कभी स्पन्दनशील था, मैं उन निर्झरों की झाँकियाँ देखना चाहता हूँ जिनमें कभी प्रवाह था, मैं उन तरुपल्लवों के दर्शन करना चाहता हूँ जो बढ़ कर फूले-फले, और उन कुसुमों को चूम लेना चाहता हूँ जो खिल कर मुस्करा उठे। मैं चाहता हूँ कि उन पूर्वजों की विजय-मुस्कानों एवं महान् विपत्तियों में साझा करूँ, जिन्होंने हमारे इस प्राचीन देश के मैदानों, घाटियों एवं पर्वतों को आबाद किया था लेकिन यह रहस्यपूर्ण अन्धकार मुझे परास्त कर देता है। अतीत का ज्ञान और गान, स्मृति-श्रुति और गाथा-पुराण, ये सब स्वप्न जगाते हैं जो इतने कलापूर्ण हैं कि टाले न जा सकें और इतने कल्पनापूर्ण हैं कि उन्हें सत्य मानना कठिन हो। मैं यह सोचने को बाध्य हो जाता हूँ कि ये प्राचीन शिलित अवशेष सत्य को प्रतिबिम्बित नहीं करते, उसका स्पन्दन उनमें नहीं है। अन्धकार एक दुर्भेद्य रहस्य है, केवल अपना रंग-रूप बदलता है, दूर नहीं होता; उसी प्रकार छाया रहता है। और मैं चकित होकर सोचता रह जाता हूँ. .

*　　　　*　　　　*

आधुनिक भारत भी उतना ही अज्ञेय है। वह इसलिए दुर्बोध है कि मेरे इतना निकट है। मेरे चारों ओर जो कुछ भी घटित हो रहा है, उस पर निर्णय देने के लिए मेरे पास न तो समय ही है और न धैर्य ही; क्योंकि मैं जीवन-संग्राम में जूझने वाला एक व्यस्त सैनिक हूँ। और संग्राम की गति मुझे शरीर से व्यस्त, आत्मा से त्रस्त, बुद्धि से स्व-केन्द्रित रखती है। इस समकालीन परिदृश्य का मैं स्वयं एक भाग हूँ, इसलिए चित्र को ठीक परम्परा में देखकर उसकी समग्रता को समझना मेरे लिए असम्भव है। मैं धुँधला-सा महसूस करता हूँ कि अपनी नियति की ओर बढ़ते हुए करोड़ों के एक अपूर्व जुलूस में मैं भी एक हूँ। उनमें हँसी है, उनमें कराहें हैं, जयगान है और धिक्कार है; कोलाहल में उत्साह और स्फूर्ति है जो कभी मन्द पड़ जाती है और कभी सतेज हो उठती है। मुझे धुँधली-सी आशा बनी है कि यह जुलूस कोई अनियन्त्रित भीड़ नहीं, एक सुनियन्त्रित लोक-प्रवाह है जिसमें विविधता है तो भव्यता भी उतनी ही है।

जुलूस जो भी हो, पर मैं उसके अनुकूल बनने और साथ चलने का प्रयत्न करता हूँ और साथ ही आदर्श के लिए तरसता रहता हूँ।

*　　　　*　　　　*

भविष्य का अजात भारत, मेरी कल्पनाओं का भारत, एक कवि का स्वप्न है जो अभी मूर्त नहीं हुआ। मैं नहीं चाहता कि वह केवल प्राचीन की पुनरावृत्ति करे अथवा वर्तमान की लीक पीटे। मैं तो उसे अपूर्व और अद्वितीय देखना चाहता हूँ। उसका गौरव, उसके गुणों में ही अन्तःसंचार करेगा; उसकी कलामयता में, मानव की आधिभौतिक और आध्यात्मिक प्रगति को प्रेरित करने की शक्ति में ही निहित होगा। ऐश्वर्य में विनीत, शोध में मौलिक, भारत एक नवीनता पैदा करेगा जिससे संसार की आँखें खुल जायँगी। तभी हमारे स्वप्नों का देश मूर्त होगा. . . .

उस स्वप्नों के देश को मूर्त करने में कई महान् भारतीय लगे हैं। स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री, सर्व-प्रिय पंडित जवाहरलाल नेहरू उन्हीं में से एक हैं। और वह उन थोड़े-से व्यक्तियों में से हैं जिनमें अतीत, वर्तमान और भावी, तीनों का एक दिव्य सामंजस्य स्थापित हुआ है, जो एक साथ ही परम्परावादी, उदारचेता और क्रान्तद्रष्टा हैं।

(बंगला से)

शिलापट चित्र : गुजरात-सौराष्ट्र की प्राकृत चित्रकला

रविशंकर महाशंकर रावल

जैसे संस्कृत तथा प्राकृत का भाषा-विषयक भेद माना गया, उसी अर्थ में यहाँ चित्रकला के लिए प्राकृत शब्द का व्यवहार हुआ है। विद्वान् लोग जिस रहस्यपूर्ण अलंकार-युक्त, व्याकरण-शुद्ध भाषा का प्रयोग करते हैं वह भाषा जन-साधारण के लिए सहज न होने से उन्होंने उसी का अवलम्बन लेकर अशिक्षित जनता के परस्पर कथन तथा भावदर्शन के लिए स्वाभाविक तथा सहज अनुकूल वाहन को स्वीकार किया है। यह वाहन-माध्यम प्राकृत भाषा या प्राकृत कला कही जाती है। भारतीय चित्रकला के इतिहास में प्राचीन काल से इन उभय प्रवाहों ने भाषा एवं कला में भी विविध उपक्रम-युक्त संस्कृति के स्वरूपों का निर्माण किया है। विद्या, कला तथा संस्कृति के केन्द्र काशी, नालन्दा, तक्षशिला और अजन्ता में महान् साधना और अभ्यास द्वारा जिस विचारधारा तथा कला-स्वरूप का निर्माण हुआ, उनका भाषा-सौन्दर्य तथा कौशल-विधान जगत् को मुग्ध कर देते हैं। उस युग के कला-स्वामियों की कृतियाँ आज भी आकाश के नक्षत्रों की भाँति स्थिर प्रकाश दे रही हैं। परन्तु उनके तल-स्पर्शी अनुभव के साक्षात्कार से ग्राम्य जनता तथा वन्य जातियाँ वंचित रह जाती थीं। उनकी पिपासा तथा सादी-सरल रस-वृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए लोक-साहित्य, लोक-संगीत, लोक-नृत्य एवं कलाओं का आविष्कार हुआ है। इनमें चित्रकला तथा सुशोभनों का अपना एक अपूर्व स्थान है। इनकी निरूपण-शक्ति भी अनोखी है।

यह लोक-कला पाषाण-कालीन चित्रकला की तरह अस्पष्ट या अपूर्ण नहीं है। यह कला तो अपने युग की संस्कृत कला की परिचारिका बन कर, उसके स्वरूपों का सीधा-सादा अनुकरण करके, यथा-शक्ति उसका उपयोग और आनन्द देती हुई जनता की सुप्राप्य संस्कार-सम्पत्ति बनी हुई है।

भारत के प्रत्येक प्रान्त में लोक-भाषा तथा लोक-कला ने युग की प्रधान भावनाओं तथा आदर्शों को विशाल जन-समुदाय में इस तरह प्रतिष्ठा और सम्मान दिलाया है। और इतिहास, कथा-कहानी, तथा भित्ति-चित्रों की तत्त्व-ज्ञान, जीवन, प्रेम-शृंगार तथा स्वार्पण की भावनाएँ सादी रेखा में अंकित हो कर लोक-गीत तथा नाट्य द्वारा व्यक्त हुई हैं।

अजन्ता, राजपूत महल, तथा मुग़ल साम्राज्य की भव्यता से प्रत्यक्ष प्रतिबिम्बित चित्रकला का प्रकाश धुँधला हो गया था, फिर भी उससे प्रभावित ग्राम्य जनता ने मन्दिर के चित्रपट, भित्ति-चित्र, वस्त्र, वाहन, घर तथा पशु-शृंगार द्वारा अपनी कला-प्रियता व्यक्त की है।

अजन्ता की कला से सिद्ध होता है कि भारतीय जनता ने अपनी चित्रकला को कितना महत्त्व दिया था। आज मुग़ल कालीन भित्ति-चित्र नष्ट हो गये हैं; परन्तु राजमहलों में उससे भी पहले के चित्र मिल रहे हैं। राजस्थानी कला ने पश्चिम हिन्द के लोक-हृदय पर जो अधिकार जमाया था उसका विस्तृत वर्णन डा० कुमारस्वामी तथा उनके बाद के दूसरे कला-विवेचकों ने दिया है। राजस्थानी कला का मूल स्वरूप तेरहवीं-चौदहवीं शती के जैन कल्पसूत्रों के चित्रों से प्रारम्भ करके पन्द्रहवीं शती के 'वसन्त-विलास' तथा 'बाल-गोपाल-स्तुति' काव्यों के लोक-रंजनकारी चित्रपटों तक में मिलता है। तत्पश्चात् रागमाला और भागवत पुराण के प्रसंगों का आलेखन करते हुए फुटकर प्रसंगों और काव्यों के मधुर चित्र मारवाड़ तथा गुजरात के सरहदी प्रदेशों में सत्रहवीं शती के अन्त तक मिलते हैं। उन सबों में क्रमशः प्राचीन काल के भाव-संनिवेश, रेखाओं, वर्णन की सुज्ञ विविधता का लोप होता है और एक तरह की अपभ्रंश शैली का प्रचार होता हुआ दिखलाई पड़ता है।

उनमें रंगों की विविधता नष्ट होकर दो-चार भड़कीले प्रधान रंग आ जाते हैं। रेखाएँ गहरी और कम मोड़ वाली होती हैं। लिपि-लेखन की तरह आकृतियाँ समान बनावट की, परन्तु विचार तथा कथाओं से अनुप्राणित हो सुवाच्य एवं जन-साधारण के लिए सुगम्य बनती हैं।

यह कला-विधान पंडित तथा सूक्ष्म परीक्षकों के समागम के लिए नहीं है; परन्तु अपढ़ निरक्षर देहातियों तथा प्राकृत जनों के लिए उनको प्रसन्न करने वाली, धर्म तथा जीवन का सन्देश देनेवाली सरल लोक-गीता है।

प्राचीन ग्रन्थों के आदेशानुसार राजमहल में, देवालय में या गृहस्थ के घर के द्वार-प्रवेश पर तथा मुख्य आवास एवं अन्तःपुर में चित्र होने चाहिएँ। ब्रितानियों के सम्पर्क से पहले अठारहवीं शती के अन्त तक भारतवासियों को यह बराबर याद था कि चित्र और चित्रकार का दर्शन शुभ शकुन का सूचक है। इसी से पुराण, रामायण-महाभारत के चित्र, राजप्रशस्तियों तथा सन्त-महिमा के चित्र नगर और ग्रामों की दीवारों पर चित्रित किये जाते थे।

गुजरात तथा सौराष्ट्र के कई स्थलों पर आज भी ऐसे चित्र दिखाई पड़ते हैं। इनमें से कई-एक तो सौ वर्ष से भी पूर्व के हैं। दिल्ली, जयपुर के उत्तम चित्रकार इन प्रान्तों में न होने से मन्दिरों की नक़्क़ाशी करने वाले शिल्पियों ने इस चित्रकारी को जन्म दिया। कई जैन-मन्दिरों में संगमरमर के बड़े शिलापट पर औज़ारों से चित्रों का आलेखन करके, अर्ध शिल्प का रूप देकर, उसे रंगों से सुशोभित करने का रिवाज शुरू हुआ।

यह कार्य करने वाले कई शिल्पकारों ने भित्ति-चित्रकला में प्रवीणता प्राप्त की थी। इसी से इस चित्रकारी को शिलापट-चित्र अथवा सिलाट चित्रकला के रूप में पहचानते हैं। इन चित्रों की रेखाएँ अधिक कड़ी, सादी और बारीक, अलंकृति-रहित, बिना रंग-भंगी की होती हैं। इनके चित्र-प्रसंग अधिकांश में वर्णनात्मक, कथा-प्रचारक तथा लोक-परिचित होते हैं।

गुजरात-सौराष्ट्र के शिल्पकारों में कच्छ के शिलापट अधिक मशहूर थे। कारीगरों का एक कुटुम्ब तीन पीढ़ियों तक जामनगर में चित्र का काम करता था। उसके चित्र के नमूने जामनगर के राजमहल में हैं। जामनगर के पुराने राजमहल में जाम विभाजी के खास कमरे में छत पर तथा दीवारों पर तत्कालीन समग्र नगर-जीवन का विस्तृत आलेखन है।

भावनगर की पुरानी राजधानी शिहोरे (सिंहपुर) के राजमहल में १८वीं शती की एक छोटी चीतल की लड़ाई के पात्र एक-डेढ़ फ़ुट चौड़ी चित्रपटी में चित्रित हैं। बड़ौदा के त्र्यम्बकवाडा नाम के मकान के भित्ति-चित्रों को राज्य के पुरातत्त्व-विभाग ने प्रकाशित किया है। भावनगर के एक पुराने राजपूत-आवास से अभी-अभी एक चित्रकर्त्री ने कृष्ण-जीवन के बहुत ही रसमय प्रसंगों की चित्रपटी की नक़ल कर ली है। इससे अनुमान हो सकता है कि जनता इस कला द्वारा संस्कृति का कितना रस-स्वाद लेती थी। साथ ही चित्र-शैली की विविध निरूपण-शक्ति का भी परिचय मिलता है।

सौराष्ट्र के एक कोने में बसे हुए दो छोटे-से ग्रामों के देवालयों में उनके संश्रयदाताओं को भी चित्रावली में स्थान दिया गया है। इससे यह बात मालूम होती है कि यह चित्रकला सिर्फ़ भूत काल तथा पुराणकाल की संस्कृति तक ही परिमित न थी बल्कि समकालीन प्रसंग, पात्र तथा परिधानों का स्मारक भी थी।

अठारहवीं शती के सौराष्ट्र तथा गुजरात के लोकजीवन और पोशाक का विस्तृत दर्शन कराने वाली यह कला-सम्पत्ति इस युग की उपयोगी एवं मूल्यवान थाती है। साथ ही भारतवर्ष की सामान्य जनता को कला द्वारा उद्बोधन करने का एक सुप्राप्य साधन भी है। इस शक्ति को पहचान कर गुजरात के दो-चार तरुण कलाकारों ने उसका संशोधन करके नयी चित्र-माला का सृजन करना शुरू किया है।

सौराष्ट्र के मध्यस्थ लाठी नगर के एक परम्परागत सुवर्ण-शिल्पी के कुटुम्ब में पैदा होने वाले कलाकार श्री व्रज-लाल भगत ने अपने ही पिता का ग्राम जन-मंडली सहित चित्रित किया है। चित्र की सुवाच्यता तथा कथन-शक्ति का यह सुन्दर नमूना है। इसी लाठी नगर के राजकुमार श्री मंगलसिंहजी ने बड़ी सफलता के साथ इस चित्रशैली में योग्यता प्राप्त की है और आधुनिक चित्र-प्रदर्शन को नया रूप दिया है।

भारतीय प्रकृति तथा समझ के साथ ज़रा भी सुसंगत न होने वाले विदेशी चित्र-सम्प्रदायों को कहीं से भी लाकर सरकारी चित्र-शालाओं में स्थान दिया जाता है। ऐसे मौक़े पर भारत में ही उत्पन्न इस पुराने कला-स्रोत को बचा कर लोक-शक्ति के रूप में प्रवाहित करना विशेष श्रेयस्कर तथा प्रगति-साधक प्रयत्न होगा। और उसी के क्रमानुगत विकास से जगत् के दूसरे देशों के लिए भी यह श्रेष्ठ उदाहरण सिद्ध होगा।

(गुजराती से)

चित्र १ : राम-रावण युद्ध (दामनगर के निकट पाठरसिंग के मन्दिर से)
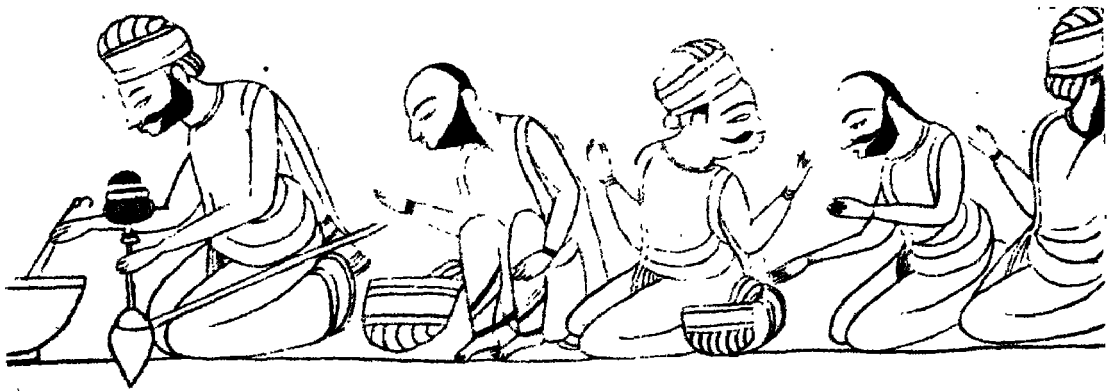
चित्र २ : पाठरसिंग के एक शिलापट की अनुकृति

चित्र ३ : गोवर्द्धन-लीला (भावनगर के एक सरदार के पुराने भवन से)

शिलापट चित्र : गुजरात-सौराष्ट्र की प्राकृत चित्रकला

[देखिये पृष्ठ ५०५-५०६

चित्र ४ : ढोला-मारू, हनुमान, कुन्ती आदि (भावनगर की पुरानी राजधानी सिहोर के एक भवन की दीवार)
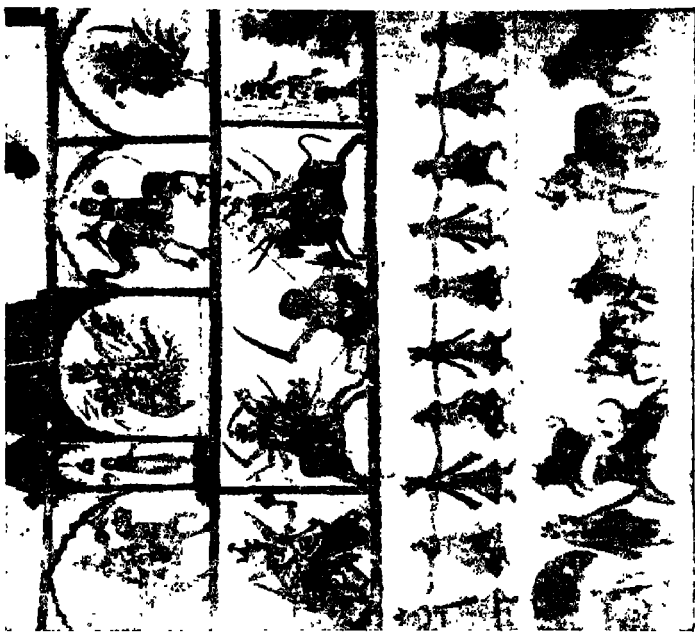
चित्र ५ : 'नपुंसकों के मठ' (लाठी) की एक दीवार पर देवी-देवताओं के चित्र (चित्रकार 'वालो मोची' का नाम अंकित है)

शिलापट चित्र : गुजरात-सौराष्ट्र की प्राकृत चित्रकला
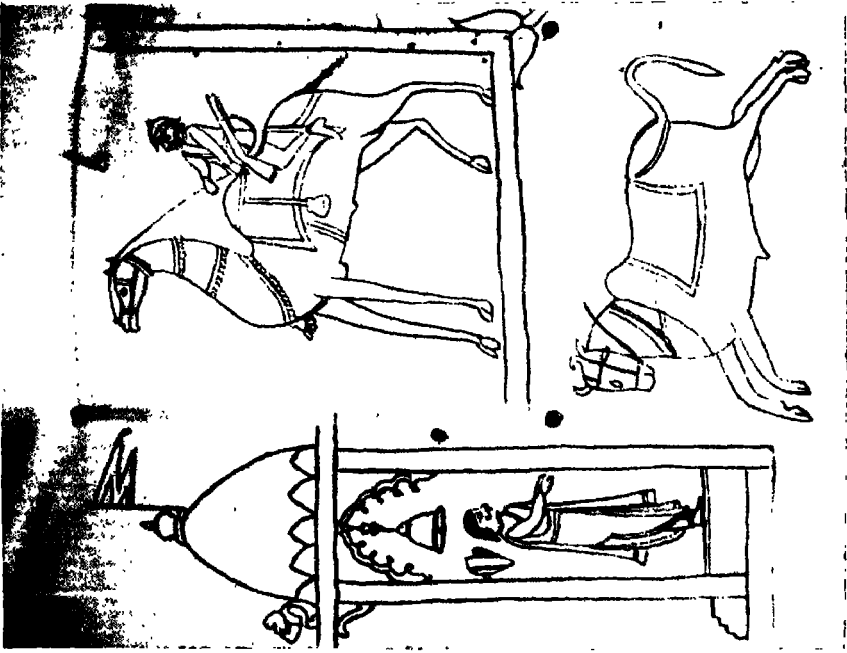
[देखिये पृष्ठ ५०५-५०६

चित्र ६ : 'नपुंसकों के मठ' (लाठी) से एक शिलापट की अनुकृति

चित्र ७ : भजनीक (जामनगर के एक पुराने भवन से)

शिलापट चित्रकला : गुजरात-सौराष्ट्र की प्राकृत चित्रकला
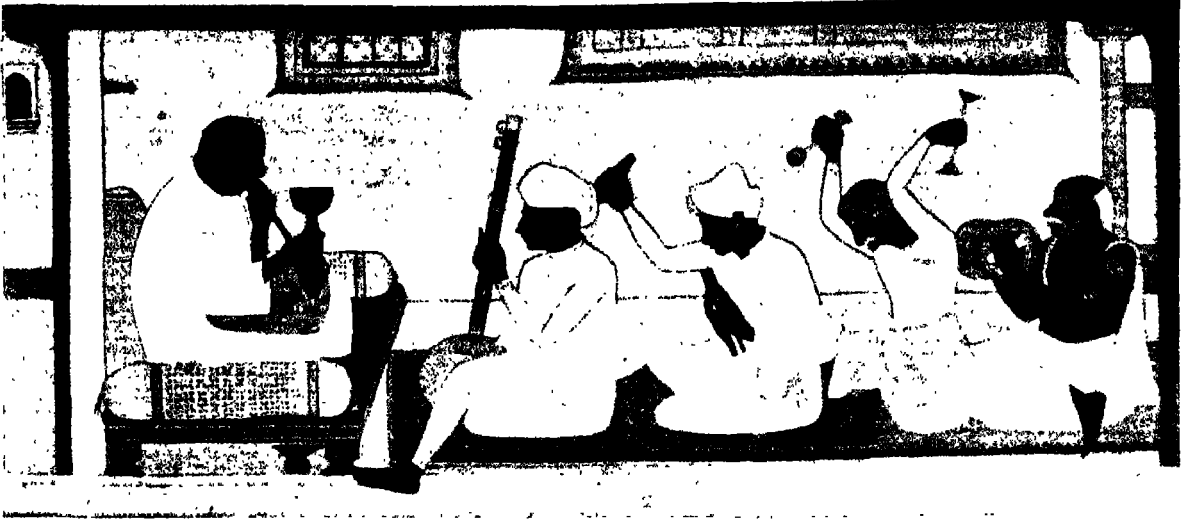
[देखिये पृष्ठ ५०५–५०६

चित्र ८ : **'मेरे पिता की भजन-मंडली'**—(चित्रकार वजुभाई भगत)
(शिलापट चित्र शैली का आधुनिक रूपान्तर)

चित्र ९ : मथुरा गमन—(चित्रकार कुमार मंगल सिंह)
(शिलापट चित्र शैली का आधुनिक प्रयोग)

शिलापट चित्र : गुजरात-सौराष्ट्र की प्राकृत चित्रकला

देखिये पृष्ठ ५०५–५०६]

एक दिन

लक्ष्मीनारायण मिश्र

[देहात के किसी गाँव में खपरैल का मकान। माटी की दीवारें चिकनी कर चूने से लीपी गयी हैं। आगे की ओर काठ के खम्भों पर बना ओसारा। खम्भे काले पड़ गये हैं, उनके रंग से ही उनकी आयु फूट रही है। उनका हीर अब इतना सूख गया है कि जगह-जगह टेढ़ी-मेढ़ी दरारें पड़ गयी हैं। जाति का गुण और बल और कहीं माना जाय या नहीं, इन खम्भों की लकड़ी में तो ठोस है। ये शीशम के खम्भे अपनी टेक में पत्थर का कान काट रहे हैं। भीतर जाने का पुराना द्वार दाईं ओर बाहर से पड़ता है। इससे हटकर तीन नये किवाड़ इस समय के हैं जो अपनी बनावट, लकड़ी और पल्लों से, इस नये युग की बस यही इतनी छाप इस घर पर लगा रहे हैं। इस नये युग का सब काम जब यह पुराना घर न दे सका, तब बैठक के लिए यह एक कमरा बना लिया गया। भीतर की इतनी जगह ले ली गयी। इस कमरे में एक ओर पलंग पर बिछावन बिछा है। नीचे कच्ची धरती पर नयी दरी पड़ी है। दूसरी ओर देहाती बढ़ई की बनाई भोंडी मेज के तीन ओर बेंत की तीन कुर्सियां और दीवालों पर कुछ नये-पुराने सस्ते चित्र हैं। ऊपर बाँस के फट्टों में कील लगाकर रंगीन चाँदनी लगी है। मेज के पीछे एक किवाड़ दालान में होकर भीतर जाने का है।

भीतर की ओर से राजनाथ का प्रवेश। ऊँचा पुष्ट शरीर। ललाट पर रेखाएँ। बाल गंगाजमुनी, भवें तनी और लम्बी; आँखों में लाल डोरे। साँस कुछ बढ़ी चाल में है। एक कुर्सी खींच कर बीच वाले द्वार के सामने धम्म से बैठ जाते हैं। तीन बार हथेली से लिलाट पीट लेते हैं, फिर हाथ खट्ट से कुर्सी की बाँह पर गिर पड़ता है।]

राजनाथ—चक्रनेमिक्रमेण..चक्र की इस गति को मैंने रोकना चाहा। यह उसी का दंड है। बड़े बने रहने के मोह में मैंने पूर्वजों की मर्यादा मिटा दी। आँधी के वेग में एक-एक पत्ते, हर डाल-टहनी के साथ धरती पर जड़ के साथ आ जाना मैंने नहीं चाहा और अब ठूंठ हूँ। मोहन!..मोहन!..

मोहन—जी आया **[उसी द्वार से प्रवेश। प्रायः बीस वर्ष की अवस्था का युवक। रेशमी कमीज और उजली धोती। आँखें धरती की ओर, मुंह पर भय की छाया]** जी इसमें थोड़ा..

राजनाथ—कभी नहीं। जो हो गया..जन्म भर उसी में जलता रहूँगा। पाँच पीढ़ी की बात जानता हूँ। अस्सी के नीचे कोई मरा नहीं। मेरे अभी पचपन हैं। उन-सा सुखी नहीं रहा, फिर भी अभी पन्द्रह बरस तो चलेंगे ही।

मोहन—कितनी बड़ी समस्या से पिंड छूटेगा? झूठी मर्यादा! अपनी लड़की का सुख आप नहीं देखते।

राजनाथ—गोली मार दो तुम मुझे। उस सुख से बड़ा सुख मिलेगा मुझे इसमें। वंश की मर्यादा तुम्हारे लिए झूठी हो गयी, जिसे बचाने में सब कुछ चला गया? बाप-दादों का घर भी चला गया। जिस घर में पैदा हुआ; खेला-कूदा, बड़ा हुआ..जिसमें तुम्हारी माँ आयी, तुम भी जिसमें जनमे थे उसके नीलाम की डुग्गी से भी प्राण उतना नहीं बिंधा था जितना आज बिंधा है।

मोहन—सब कहीं यह हो रहा है..बड़े से बड़े घरों में ..बिना कन्या देखे विवाह अब बड़े घरों में नहीं होता।

राजनाथ—सो तो तुम कर चुके। विष की एक घूंट तो मैं पी गया, दूसरी न पिऊँगा।

मोहन—मैं नहीं समझता, अब इस युग में इसमें बुराई क्या है। वर अपनी रुचि की कन्या चाहता ही है, फिर भी ऐसा वर जो ..

राजनाथ—जो एम० ए० में पढ़ रहा है। बड़े बाप का बेटा है। जिसका बाप नामी वकील है, जो कभी भी हाईकोर्ट का जज हो सकता है; जिसकी कोठियाँ हैं, मोटरें हैं, हटो-बचो जिसके यहाँ लगा है। क्यों..?

मोहन—हाँ, तो इसमें झूठ क्या है? क्या उस परिवार में शीला सुखी न होगी? कन्या के प्रति आपका जो कर्तव्य है उसे देखिये। लड़कियों का कभी यहाँ स्वयंवर होता था। यह भी इसी देश की मर्यादा है।

राजनाथ—इस देश की क्या मर्यादा है, तुमसे न सीखूँगा। उसे सीखने के लिए किसी विलायती प्रोफ़ेसर के पास भी न जाऊँगा। वह तो जिस तरह मेरे पूर्वजों के रक्त के रूप में मेरे इस शरीर में है, उसी तरह संस्कार के रूप में मेरे मन में है।

मोहन—अच्छी बात। तो फिर आप जानें....

राजनाथ—इस तरह धमका कर नहीं बेटा! झूठा भय और झूठा इतिहास...इस तुम्हारे नये युग में बस यही दो बातें हैं।

मोहन—क्या कहते हैं?

राजनाथ—लड़कियों का स्वयंवर यहाँ होता था पर चुनता कौन था? कन्या या वर? एक कन्या के लिए सैकड़ों युवक आते थे। रूप, गुण, और पौरुष में जो बढ़ा होता, उसे कन्या चुनती। जय-माला जिसके गले में पड़ती वह अपने भाग्य से फूल उठता। उस युग में कन्या की यह मर्यादा थी, आज क्या है? स्त्री जाति जितने नीचे पिछले दस वर्षों में गयी है उतनी पहले कभी नहीं गयी थी।

मोहन—तो यही झूठा इतिहास है।

राजनाथ—यही, और तुम अब कहते हो—मैं जानूँ और मेरा काम जाने। यह भय तुम दिखाते हो। जैसे मेरी लड़की के भाग में कुछ है ही नहीं। तुम उसके लिए भाग्य गढ़ कर लाये हो। तुम्हारे साँचे का भाग्य या तो मैं मान लूँ और नहीं तो फिर मेरी लड़की दुख उठायेगी।

मोहन—भाग्य मैं नहीं मानता। परिस्थिति सब कुछ करती है। निरंजन इस भयानक गर्मी में नैनीताल होता। इस गाँव की धूल में स्टेशन से तीन मील पैदल न चला होता।

राजनाथ—**(हँसकर)** तुम्हें उसका कृतज्ञ होना चाहिए। वह तुम्हारे लिए तीन मील पैदल आ गया। नैनीताल का निवासी इस ठेठ देहात में! इन्हीं देहातों से वह धन जाता है जिसे निरंजन का बाप नैनीताल में ख़र्च करता है। राम, लक्ष्मण और जानकी को कितना पैदल चलना पड़ा था मोहन! नंगे पैर गौतम कहाँ-कहाँ घूम आये थे?

मोहन—आप तो बस वही आदर्श के सपने देखते हैं।

राजनाथ—बिना इन सपनों के मनुष्य दरिद्र हो उठेगा। इन्हीं से हम धनी हैं मोहन! इतिहास पढ़ते हो तुम एम० ए० में और वह निरंजन भी। निकाल दो इतिहास से इन सपनों को, देखो वहाँ फिर क्या बचता है? फिर भी इतिहास का एक ही पाठ है।

मोहन—इस समय प्रसंग क्या है और आप....

राजनाथ—इस समय का प्रसंग भी इतिहास से जुड़ा है...मेरे, मेरे पूर्वजों के....निरंजन और उसके पूर्वजों के इतिहास से यह प्रसंग भी जुड़ा है। जो बहुत बड़े बन जाते हैं, प्रकृति उन्हें टिकने नहीं देती। मेरी जो दशा आज सात पीढ़ी के बाद है, निरंजन की दूसरी ही पीढ़ी में होगी। यही इस जगत् का चक्र है। ऊपर का बिन्दु नीचे और नीचे का बिन्दु ऊपर। **[दोनों हाथों को घुमाकर तर्जनी से परिधि बनाते हैं।]**

मोहन—तो इस समय मैं जाऊँ, आप का चित्त....

राजनाथ—ठिकाने नहीं है। पुत्र कह रहा है, पिता का चित्त ठिकाने नहीं है! तुम्हारे विचार मुझसे नहीं मिलते इसलिए मैं पागल हूँ। तुम्हारे शब्दों में तुम्हारे इस युग में इस देश की नयी पीढ़ी बोल रही है, जिसका विश्वास अब अपनी जड़ों में नहीं है। **(उसकी ओर एकटक देख कर)**—नहीं समझ रहे हो?

मोहन—क्षमा करें, यदि मुझसे ..इधर सालों से आपको चिन्तित और व्यग्र देखता रहा।

राजनाथ—उसके लिए इतना सीधा, इतना सस्ता उपाय तुमने खोज लिया। आज के पत्रों, पुस्तकों में ऐसे ओछे काम बहुत मिलते हैं। बाप को पपा और माँ को ममी लिखने वाले तुम्हारे लेखक उत्तेजना और आवेश बहुत दे रहे हैं, बस विवेक की ओर नहीं देखते। नहीं तो फिर नंगे साहित्य का व्यापार वे न चला पायेंगे। वह जो एकांकी-संग्रह तुमने कल यहाँ **[मेज की ओर संकेत कर]** रख दिया था...क्या नाम है उसका?....ऊँह!....उसमें एक नाटक में साइकिल लेकर पपा ऑफ़िस चले जाते हैं दस बजे सबेरे और दो बजे दिन में ममी लंच की चिन्ता में सुनाई पड़ती है और फिर सारा दिन और आधी रात तक न कहीं पापा हैं, न कहीं ममी हैं उस घर में। बस एक ही व्यापार चल रहा है—कुमारियों और उनके प्रेमियों की प्रेमलीला। यूरोप और अमेरिका में भी इतना मद नहीं जिसमें यह देश डूब रहा है।

मोहन—तो आपका कहना है कि मैं निरंजन को यहाँ ले आया किसी ठोस कार्य के लिए नहीं ! यदि यह हो जाय तो इसका सुख आपको न होगा ? शीला रानी बनकर न रहेगी ?

राजनाथ—यही मुझे डर है । रानी बनाने के मोह में कहीं तुम उसे बोर न दो । जहाँ आरम्भ ही अशुद्ध है वहाँ अन्त क्या शुद्ध होगा ? और इन दो दिनों में निरंजन ने उसे कई बार देखा । तुम्हारे साथ उसने उसे भी भोजन कराया, जलपान कराया । बिना संकोच के जैसे वह तुम्हारे सामने रही है वैसे उसके सामने भी रही ।

मोहन—यही तो नहीं रहा । कल दिन में जब वह सोकर उठा, कई बार वह उसका नाम लेकर बुलाता रहा । एक गिलास पानी के लिए वह उसके पास नहीं गयी । क्या कहेंगे आप, यह उसका अपमान नहीं हुआ ? वह तो रात ही जाने को तैयार था । मैंने बड़े आग्रह से उसे रोका और कहा कि बच्ची है, जाने दो ।

राजनाथ—और अब वह उससे अकेले में बात कर निर्णय करेगा । उसकी परीक्षा लेगा कि वह उसके योग्य है या नहीं और तब उसे स्वीकार कर तुम्हें कृतार्थ करेगा या कह देगा नहीं जी, मुझे पसन्द नहीं । नौकर से पानी न माँग कर उसने तुम्हारी बहन से माँगा !

मोहन—ऐसी इच्छा उसकी स्वाभाविक थी । समय बदल गया । मैंने कहा भी, उसे कोई लड़कियों का स्कूल ही धरा दें । आप रामायण, महाभारत पढ़ाते रहे उसका परलोक बनाने के लिए । यह लोक बने या न बने । उसके सामने जाने में उसे लाज लगती है. . .एक गिलास पानी या दो बीड़े पान लेकर । जैसे उसका जन्म इस बीसवीं सदी में नहीं, सोलहवीं या पन्द्रहवीं में हुआ हो ।

राजनाथ—हूँ, तो इस युग की लड़की में आत्मसम्मान नहीं है । वह उस पुरुष के चारों ओर भाँवर देती है जो उसे देखकर, बातें कर, बड़ी कृपा से अपनी स्त्री बनाना चाहता है । नीच ! एक शब्द भी मेरी लड़की के विरुद्ध कहा तो जीभ खींच लूँगा । उसके शरीर में मेरा, मेरी सात पीढ़ी का रक्त है जो सम्मान के लिए मर मिटी । तुम्हारे ऐसे पुत्र से वह पुत्री भली जिसने कम से कम अपना, अपने माँ-बाप का सम्मान तो रखा । रामायण और महाभारत पढ़ कर जो वह असभ्य या अपढ़ है उसका पता तब चलेगा जब किसी दिन तुमसे वह बातें करेगी । और ठीक है, करेगी वह एकान्त में बातें तुम्हारे इस देवता से. . .मन और बुद्धि के नहीं, धन के देवता से ।

मोहन—नहीं, जाने दीजिये । मैं उसे अभी स्टेशन पहुँचा आता हूँ ।

राजनाथ—अभी नहीं । बैठ जाओ वह कुर्सी लेकर । तुमने पत्र में लिखा था, तुम्हारे एक मित्र निरंजन कुमार देहात देखना चाहते हैं । मैंने लिख दिया, लिवा लाओ । जिस घर के अतिथि किसी समय नवाब आसफ़ुद्दौला रह चुके थे, कुँवरसिंह और अमरसिंह सत्तावन वाले विद्रोह में जहाँ तीन दिन अपने सिपाहियों के साथ पड़े रहे, इस बिगड़े समय में भी तुम्हारे एक मित्र का सम्मान वह कर सकता है । मुझे क्या पता था कि तुम स्वार्थ की इस निचली तह में उतर जाओगे । विवाह के पहले तुम्हारी बहन को कोई उस आँख से देखे और तुम उसे फोड़ न दो ।

मोहन—पर उसने किस ऐसी आँख से देखा कि. . . .

राजनाथ—जो काम वह किसी भी नौकर से ले सकता था वह उसने तुम्हारी बहन से लेना चाहा. .केवल इसलिए कि अकेले में वह भर आँख उसे देखे, दो बातें पूछे. .इसके बाद वह उससे कहता पैर दबाने के लिए. . **(क्रोध से काँपते हैं।)**

मोहन—राम-राम ! कितना अनर्थ कर रहे हैं आप ? शीला के भाग्य में जो होगा, होगा । अब तो इसी क्षण निरंजन यहाँ से चला जाय ।

राजनाथ—इस घर ने बड़े चढ़ाव-उतार देखे मोहन, पर यह कभी नहीं देखा । यह धरती फट जाती और मैं इसमें समा जाता । यही था तो पहले तुमने मुझसे राय ले ली होती ।

मोहन—मैं जानता था लड़की दिखाने को आप तैयार न होते ।

राजनाथ—इस तरह नहीं । श्री चौधरी से जब और सब बातें तय हो जातीं, मैं उन्हें लड़की दिखा देता पर निरंजन को कभी नहीं । विवाह के पहले जो लड़का लड़की को स्वयं देखना चाहता है वह असभ्य है । पसन्द करने का अधिकार वह अपना मानता है, कन्या का नहीं । तुम जितना समझते हो मैं उतना जड़ नहीं हूँ । प्रगति रोकने में नहीं जाता, बस इतना जान लो प्रगति अन्धों की नहीं आँख वालों की होती है ।

मोहन—सामन्त विचार-धारा अभी आपकी नहीं छूटी है। हर बात में आप मर्यादा और आदर्श डाल देते हैं, यहाँ तक कि अपनी लड़की का सुख भी आप नहीं देखते।

राजनाथ—तोते की रट—सुख, सुख, सुख. .जैसे तुम्हारे इस काम से उसका सुख तय हो जायगा। उसकी होनी क्या है. .भगवान् उसे सुख न देना चाहें तो फिर सोने का अम्बार भी धूल हो जायेगा। मैं सामन्त विचारधारा में पड़ा हूँ और तुम धन के मोह में, धन के सामने तुम्हारे लिए बहन का मान भी मिट रहा है। पूंजी वाले बनिये से सामन्त कभी बुरा नहीं होता। मर्यादा और आदर्श की बातें चाहे झूठी भी क्यों न हों, व्यक्ति को नीचे नहीं उतरने देतीं। गीध की तरह डैने खोल कर वह ऊँचे आकाश में मर जाता है। **(कांप कर)** कुछ नहीं, तुम यह कहो, तुमने कहा क्या इस निरंजन से ? कैसे तुम्हारी बातें यह मान गया ? तुमने कहा होगा. . .अपनी बहन के लिए अपने आप ही उसे निमन्त्रित किया होगा।

मोहन—जी नहीं. .हम दोनों में परस्पर परिचय और स्नेह बढ़ा। होस्टल से अपनी कार पर वह मुझे बराबर अपनी कोठी पर ले जाता था। जहाँ इतनी सरलता होती है, घर-परिवार की बात चलती ही है। उसे यह तो पता हो गया था कि मेरे पूर्वज कुल सौ वर्ष पहले राजा थे। आज हमारे दिन बुरे हैं।

राजनाथ—यह तुमने कहा, जिसने इससे अच्छे दिन कभी देखे नहीं। पर मैं जो सब देख चुका हूँ, कभी नहीं कहता कि मेरे दिन बुरे हैं, जिस युग की हम उपज थे जब वह चला गया तो उसकी उपज कब तक टिकती ? राज्य मिट जाते हैं। बड़े से बड़े वीर और ज्ञानी किसी दिन मरते हैं; पर उनकी लौ जलती रहती है। व्यक्ति और मनुष्यता का मान वह लौ है। तुमने अपने बुरे दिन की बात कही और वह दया में पिघल उठा। जहाँ किसी भी रूप में दया की माँग है वहाँ व्यक्ति मर जाता है, जीता नहीं। शीला का पता उसे कब चला ?

मोहन—उसके घर में उसकी भी बहन है। उसकी आयु भी शीला की है। इसी वर्ष उसने इन्टर किया है। वह बराबर मुझसे खुल कर बातें करती है। उसकी माँ, चौधरी साहब, उनके व्यवहार में बनावट मुझे कहीं नहीं देख पड़ी।

राजनाथ—इसलिए कि अभी वे बाढ़ पर हैं। अपनी बाढ़ में वे तुम्हें भी बहा रहे हैं। किसी दिन यह बाढ़ निकल जायगी और पीछे छोड़ जायगी कीचड़ और दलदल। जो तुम्हारे घर हुआ, उनके घर भी होगा। इसलिए जिसे देखो, धन से अलग कर देखो। पद, प्रतिष्ठा और अधिकार से अलग कर देखो। उस मनुष्य को देखो जो तुम्हारे इस युग में जन्म ले रहा है, जो धन और अधिकार से नहीं अपने गुणों से आगे बढ़ेगा। अपने घर की सामन्त भावना के विरोधी निरंजन के धन की चमक में आँखें न मूंद लो। निरंजन अपने दादा का नाम भी नहीं जानता।

मोहन—क्या ?

राजनाथ—चौंकने की बात नहीं। अपने पिता को छोड़ कर, अपने कुल की कोई बात वह नही जानता। इतिहास की बातें और जो कुछ वह जानता हो, अपने घर का इतिहास नहीं जानता।

मोहन—कभी अवसर न मिला होगा। कहे भी कौन उससे ? वकील साहब पाँच बजे सवेरे बैठने हैं, दस बजे तक दम नहीं लेते। स्नान और भोजन में बस बीस मिनट. .हाईकोर्ट और लौट कर फिर आधी रात तक। नामी वकील होना भी कम संकट नहीं है।

राजनाथ—अधिकार के लिए तुम्हारे पूर्वज लड़ते-मरते रहे। उन्हें अधिकार और प्रभुता के लिए जीना था। वकीलों और सेठों को धन के लिए जीना है। समाज का निर्माण तब अधिकार पर टिका था, आज धन पर टिका है। वकील साहब भी केवल अपने पिता का नाम जानते होंगे। उस घर का इतिहास जितना मैं जानता हूँ उससे अधिक वे भी नहीं जानते।

मोहन—तो आपका परिचय उनसे है ? आप तो मुस्करा रहे हैं ?

राजनाथ—**(हँस कर)** हाँ. .और अब तुम सुन लो। रात निरंजन से बातें कर मैं यह जान गया कि देवनन्दन चौधरी के शरीर में मेरा नमक है।

मोहन—क्या कह रहे हैं आप यह सब. . . .?

राजनाथ—मुझे याद पड़ रहा है। सात-आठ का रहा हूँगा उस समय। रघुनन्दन चौधरी की छरहरी लम्बी देह, गफिन मूंछ, लम्बे काकुल, सिर पर केसरिया रंग की कत्ती, आँखों में सुरमा और ओठ पर पान की लाली। अंग्रेजी कलक्टर दौरे में आया था। दो दिन गढ़ी में रहा। रघुनन्दन उन दिनों बाबूजी के मुन्शी थे। रियासत का बही-खाता, हाकिमों की

आवभगत, सब कुछ उनके हाथ में थी। आठ बजे सबेरे बाबूजी के सामने हाथ जोड़ कर सिर झुकाते थे और फिर रात को भी आठ ही बजे, दिन भर के काम की बात उन्हें बताकर, गढ़ी में ही पीछे की ओर अपनी जगह पर चले जाते थे।

मोहन—वकील साहब के कोई सम्बन्धी थे रघुनन्दन चौधरी ?

राजनाथ—उनके बाप थे।...बड़े हँसोड़ और मौके की बात कहने वाले। अंग्रेज कलक्टर उनसे इतना प्रसन्न हुआ कि बाबूजी से कह बैठा, वह चौधरी को अपना पेशकार बनायेगा। चौधरी हमें छोड़ना नहीं चाहते थे। जाने के समय इतना रोये कि बाबूजी ने अपने अँगोछे से उनके आँसू पोंछ कर कहा था—जब चाहना यहाँ आ जाना, यह घर तुम्हारा है। चौधरी चले गये लेकिन उनकी स्त्री और लड़का, जो मुझसे कुछ छोटा था, गढ़ी ही में रहे। कितने दिन, ठीक-ठीक नहीं कह सकूँगा। देवनन्दन मेरे साथ खेलते थे। गढ़ी के बाहर जंगल में एक दिन हम दोनों दौड़ रहे थे, देवनन्दन मेरे धक्के से गिर पड़े और यहाँ भौंह के ऊपर एक अंगुल लम्बी हड्डी धँस गयी। है यहाँ उनके कोई चोट का निशान ?

मोहन—**(विस्मय में)** जी हाँ, है। मुझे बड़ी ग्लानि हो रही है। कह दीजिए, आपने मुझे क्षमा किया। नहीं तो इस दुख से मैं बीमार पड़ जाऊँगा।

राजनाथ—लड़की की तरह नहीं...लड़के की तरह। तुम लोग थोड़ी आँच भी नहीं सह सकते। किस बात का दुख है तुम्हें ? देवनन्दन चौधरी के अनुकूल इस समय भाग्य है। बड़े पेड़ गिरते हैं, उकठ जाते हैं, उनकी जगह नये बढ़ते हैं। यही क्रम है। तुमने भगवान् के लिए कुछ भी नहीं छोड़ना चाहा, यही भूल हुई।

मोहन—तब क्या हुआ ?

राजनाथ—रघुनन्दन चौधरी ने लड़के और स्त्री को बुला लिया। अपने आप पेशकार से बढ़ कर डिप्टी हुए। लड़का पढ़ता गया और आज नामी वकील है। कल हाईकोर्ट का जज हो सकेगा। सब कुछ मिट सकता है, पर संस्कार की जड़ें जल्दी नहीं उखड़तीं। शीला और निरंजन के संस्कार में अन्तर है। निरंजन के धन से वह सुखी हो सकेगी, इसमें मुझे तो सन्देह है। तुम भाई हो और मैं बाप हूँ। उससे इस विषय की कोई बात सीधे पूछो तो नहीं बता सकेगी फिर भी अभी मैंने जो उसे देखा वह किसी चिन्ता, किसी दुख में थी।

मोहन—इसका कारण मैं हूँ। मैं कल भी उसे दो बात कह गया और आज तो यहाँ तक कहा कि यदि तुम उनसे ढंग से बातें न करोगी तो मैं तुम्हारा मुँह न देखूँगा।

राजनाथ—सगी बहन के साथ तुम जैसा व्यवहार करो। इतना जान लो, उपन्यासों और कहानियों से संसार नहीं चलता। तुमने जो यह जाल बिछाया इसे अब तुम न समेट सकोगे। यह काम अब मुझे करना पड़ेगा। जो मैं नहीं चाहता वही करना होगा। मेरी बेटी इस घर में दुखी न रहे, यह तो मैं कर सकता हूँ। मेरा विश्वास, मेरा स्नेह उसका बना रहे। पिता के धर्म में मैं खोटा न बनूँ। जाओ, उसे भेज दो। उसे समझा कर, समझूँगा तो फिर निरंजन से भी मैं ही...

मोहन—अभी कुछ नहीं बिगड़ा है बाबू जी..निरंजन चला जाय। मेरी बहन किसी दूसरे घर जिसका इतिहास, संस्कार इस घर से मेल खाये।

राजनाथ—सामन्त भावना में अब तुम आ रहे हो। जो मर गया उसे जिलाने की चेष्टा अब पाप है। कुल और वंश के अभिमान को भूल जाओ और भूल जाओ कि निरंजन के पूर्वज कभी तुम्हारे आश्रित थे। भाग्य कभी तुम्हारे साथ था, आज उनके साथ है। जाओ, भेज दो शीला को। उसका संयोग जिसके साथ होगा, लाख चेष्टा पर भी न रुकेगा। मैं भाग्य-वादी हूँ। इस अवस्था में इतने चढ़ाव-उतार के बाद कोई भी भाग्यवादी हो जाता है।

[मोहन का प्रस्थान। राजनाथ कुर्सी से उठ कर पलंग पर पड़ रहते हैं और तकिये में मुंह छिपा लेते हैं। शीला का प्रवेश। भरी आँखें, पलकें गिरती नहीं। सुन्दरता के अमृत में विषाद का विष मिल गया है। उसके चलने की आहट नहीं होती। आँचल से आँखें पोंछती है।]

शीला—**(भरे कंठ से)** आगयी मैं—बाबू जी। आप काँप रहे हैं। मैं मर गयी होती; आप रोते तो नहीं ? **(तकिया हाथ से खींच कर, उनकी छाती पर सिर रख कर सिसकने लगती है।)**

राजनाथ—**(झटके से उसे सँभाल कर बैठते हुए)** बेटी के लिए बाप कब नहीं रोया ? नहीं, देखो, सुनो भी। जानकी के लिए विदेह जनक रोये थे। मैं रोया तो कोई बात नहीं। न मानोगी, तुमसे कुछ पूछना है।

शीला—आप क्या नहीं जानते मेरा ? आप से मेरा कुछ छिपा है ? भैया नहीं जानते, मेरा मुंह नहीं देखेंगे।

राजनाथ—उसका मुँह मैं नहीं दखता; पिता का प्राण जो इस देह में न होता। फिर भी वह तुम्हें सुखी देखने के लिए. . . .

शीला—सुखी देखने के लिए मुझे इतना बड़ा दुःख ? आप के जीते जी ? वे अपने घर के बड़े होंगे, इस घर की बड़ी मैं हूँ। आप के पास धन नहीं है पर क्या भाव भी नहीं हैं मेरे लिए ? किसी पेड़ के नीचे. . झोंपड़ी में मैं सुखी रहूँगी। जानकी के चौदह वर्ष वन में बीत गये। मैं क्या हूँ ? जिसका संग हो उसका विश्वास और आदर मिल जाय, इससे बड़ा धन सोने-चाँदी में लिपटना नहीं है।

राजनाथ—वह युग अब नहीं रहा बेटी। इस देश में अब जानकी की नहीं. . क्या कहूँ ? किसकी बात चलेगी ? . . होगी वह कोई विदेश की नारी, पुरुष को धक्का देकर बढ़ने वाली। बैंक में उसकी लम्बी रक़म होगी।

शीला—उससे उसे पूरा सुख मिलता होगा। सचमुच पति की आँख में आँख गड़ा कर वह देखती होगी ?

राजनाथ—इस युग में हम अपना सब कुछ विदेशी आँखों से देख रहे हैं। स्वतन्त्रता का उत्सव हम मना रहे हैं अपने को भूल कर, अपने गुण और अपनी मान्यताओं को भूल कर। आगे चलने में जो पीछे घूम कर देखते नहीं थे, वही अब दूसरों के पीछे सरपट दौड़ रहे हैं। स्वतन्त्र भारत की स्वतन्त्र नारी को अब सब कुछ फाड़ फेंकना है। जानकी उसके लिए बड़ी भोली और धर्म-भीरु है. . . . उनमें बुद्धि की कमी है, साहस की कमी है, व्यक्तित्व की कमी है।

शीला—जी, वे भाषण न दे सकीं। **(मुस्कराती है)** दशरथ को ललकार न सकीं। रामचन्द्र से न कह सकीं कि तुम अपने पिता के धर्म के लिए वन जा रहे हो, मेरे रूप और यौवन की ओर नहीं देखते ! आज की नारी यही कहेगी। पर आप ने मुझे इस युग की चकाचौंध में जाने भी नहीं दिया। मुझे तो जानकी के त्याग में ही उनका सबसे बड़ा अधिकार देख पड़ा है। वह अधिकार अब तक नहीं मिटा, कभी नहीं मिटेगा। अकेली एक जानकी में इस देश की नारी जाति लय हो चुकी है।

राजनाथ—तब तुम निरंजन से बातें कर सकती हो। वह चाहता है कि. . **(ऊपर देखने लगते हैं।)**

शीला—कोई बात नहीं। जानकी रावण से बातें कर सकी थीं, फिर भी रावण का संयम इन निरंजन में होगा या नहीं। रावण इतना लोलुप नहीं था। वह अशोक वन में जानकी के निकट जब गया, अपने बचाव के लिए अपनी रानी को साथ लेता गया; और उन्हें अकेले में बातें करनी हैं।

राजनाथ—देश के सभी पढ़े-लिखे लड़के इस समय निरंजन हैं, उनमें रावण का भी संयम नहीं है।

शीला—तो फिर इनके इस रोग की दवा यहाँ की लड़कियाँ करेंगी। हम सब को सीता बनना पड़ेगा। तो कहाँ उनसे मुझे बातें करनी होंगी ?

राजनाथ—लेकिन क्रोध नहीं बेटी। तुम लाल हो गयी।

शीला—आप के सामने। उनके सामने मैं न लाल हूँगी न पीली। संयम और विचार न छूटेगा मुझसे ! . . . .

राजनाथ—सोच लो जो तुम धीर बनी रहो।

शीला—सोच लिया। आप को कोई भी अवसर मेरी चिन्ता, सन्देह का न मिलेगा। अपना सम्मान चाहती हूँ। मैं फिर उनके सम्मान को ठेस न दूँगी।

[मोहन का प्रवेश। उद्विग्न मुद्रा में कभी शीला को और कभी राजनाथ को देखता है।]

राजनाथ—क्या है ? ऐसे घबड़ाये क्यों हो ?

मोहन—जा रहा हूँ. . . . उसे स्टेशन पहुँचा दूँ। मैंने उसे यहाँ बुला कर उसका अपमान किया। शीला उससे घृणा करती है। क्या. . . क्या. . . कह रहा है। कहें तो उसके पूर्वजों का इतिहास उसे सुना दूँ।

शीला—घृणा भी एक तरह का सम्बन्ध है। मुझे इन देवता पर दया आ रही है, ये मुझे समझते क्या हैं ? बाबू जी ! यह बेचारा मन और आत्मा का रोगी है। भविष्य के लिए कुछ नहीं छोड़ता। सब कुछ वर्तमान में दबा रहा है ! सौ वर्ष जीने से अच्छा है इसके लिए एक दिन या बस एक क्षण जीना। कुम्भकर्ण छः महीने में एक दिन खाता था और यह जीवन भर के लिए एक ही दिन खा लेना चाहता है।

राजनाथ—**(गम्भीर मुद्रा में)** हँसी सूझती है तुझे. . . .

शीला—झूठमूठ में रो पड़ी। आप भी रोये। मनुष्य को विपत्ति पर ही हँसी आती है और इससे बड़ी विपत्ति और कहाँ हम लोग देखेंगे ? **(हँसने लगती है।)**

राजनाथ—हूँ. . . .हूँ. . . .पागल हो रही है। ऐसे ही उससे बातें करेगी ?

मोहन—अब यह उसके सामने क्या जायेगी. . . . **(क्षोभ और ग्लानि की मुद्रा)**

शीला—तो फिर वे देवता यहाँ से ऐसे ही रोगी चले जायेंगे ? निर्बल चरित्र को हँसी नहीं आती—आपने एक बार कहा था बाबू जी।

राजनाथ—तीस करोड़ के इस देश में आज तीस भी हँसने वाले नहीं हैं। इसका कारण केवल आर्थिक नहीं। नैतिक भी है। आर्थिक होता तो कम से कम मिल-मशीन वाले, पूंजी और चोर बाजार वाले तो हँसते ?. उनकी तिजोरियाँ भरी हैं पर मन खाली है। चरित्र-बल अब हमारी धरती में नहीं है। जो पीढ़ी आ रही है उसका नमूना निरंजन है, मोहन है। देखो इन्हें, खड़े-खड़े काँप रहे हैं जैसे अभी रो पड़ेंगे या गिर पड़ेंगे। यह नयी शिक्षा क्या हुई, चरित्र की बागडोर छोड़ दी गयी। मन के विकार और भावना की आँधी में सेमर की रुई-सी हमारी यह पीढ़ी उड़ी जा रही है।

मोहन—मैं जल रहा हूँ और आप मुझ पर व्यंग कर रहे हैं ?

राजनाथ—जो जलता है व्यंग उसी पर किया जाता है बेटा। तुम क्यों जल रहे हो ? जीवन को फूलों की सेज तुमने क्यों मान लिया ? फूल में भी काँटे होते हैं। विपरीत परिस्थिति में जो न डिगे वही पुरुष है और तुम जानते हो, सब कुछ अनुकूल ही नहीं होता। निरंजन कभी तुम्हारा आदर्श था और अब तुम्हारी आँखों में वह इतना नीचे है। दोनों ही झूठ हैं। दोनों को मिला कर बराबर करो तब तुम्हें निरंजन मिलेगा। शीला, बुलाऊँ उसे यहाँ। उसे आघात तो न पहुँचाओगी ?

शीला—मुझ पर कुछ भी सन्देह हो तो नहीं। मैं उन्हें घृणा नहीं करती। घृणा के लिए कुछ परिचय होना चाहिए। आप जानते हैं, मेरा उनसे कुछ परिचय नहीं है।

राजनाथ—**(उठ कर)** तब मैं उसे बुला लाऊँ। तुम यहाँ न रहना मोहन, जब वह आ जाय।

मोहन—अब इसका फल कुछ नहीं है। यह होना चाहिए था पहले, अब वह जाने को तैयार है। कपड़े पहन चुका है।

राजनाथ—नदी की बाढ़ उतर जाती है। मन का वेग न उतरता तब तो मनुष्य अपने ही ताप से जल मरता और फिर तुम्हें वह जान गया। इस घर में मुझे और शीला को भी जान ले, यही ठीक होगा। **(प्रस्थान)**

मोहन—तुम उससे अकेले में बोल सकोगी ?

शीला—मैं उनसे डरती नहीं। वे बोल सकेंगे मुझसे ? मुझे सन्देह तो इसी का है। बाप के धन का बल, शिक्षा का बल, चरित्र और व्यक्ति का बल नहीं बनेगा ? देख लेना उन्माद जो उनमें आ गया है, पल भर में उड़ जायेगा। बाबूजी से नहीं कहा, मुझसे तो कहे होते कि तुम्हारे मित्र यहाँ मेरे लिए आये हैं।

मोहन—मैं क्या जानता था कि तुम ऐसी ज़िद्दी हो।

शीला—इसका उत्तर मैं उन्हें दूंगी। मेरा मुंह तुम अब तो देखोगे !

मोहन—मुझे लजाओ न शीला। तुममें मुझसे बुद्धि अधिक है।

शीला—बुद्धि स्त्री है और बल है पुरुष। बुद्धि और बल के मेल में व्यक्ति बनता है। लुक-छिप कर बुद्धि चलती है, बल को यह कला नहीं आती।

मोहन—क्या ? कैसे देख रही हो ? शीला, तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है। तब वह यहाँ नहीं आयेगा।

शीला—रुको। मुझे उसके लिए तैयार होने दो।

मोहन—किसके लिए ?

शीला—तुम्हारे मित्र से बात करने के लिए। एक-एक साँस का बल मुझे बटोरना होगा। उनके सामने मेरी आँखें नीची न पड़ें। यही चाहते हैं वें। अपना और मेरा अन्तर वे देख लें।

मोहन—तुम्हारे मुंह का रंग हर पल जो बदल रहा है। तुम मुझसे कुछ छिपा रही हो शीला।

शीला—मन की गति जो हर पल बदल रही है। मन के बीज मुंह पर आते हैं। तुम्हारी बहन की आज परीक्षा

है। परीक्षक है एक पुरुष जो तुम्हारा मित्र बनता है। कैसा मित्र है वह? क्या स्नेह है उसका तुम्हारे लिए? जब तुम्हारी बहन के लिए वह इतना निर्दय है?

मोहन—मैं उसे यहाँ नहीं आने दूँगा। **(उठता है)**

शीला—**(उसका हाथ पकड़ कर)** मैं उसे इस योग्य नहीं छोड़ूँगी कि फिर वह किसी स्त्री के साथ ऐसा व्यवहार करे। नहीं....तनिक नहीं, तुम न घबड़ाओ। मुझे स्वीकार कर वह तुम पर कृपा करता। अब वह तुम्हारी कृपा चाहेगा कि तुम अपनी बहन उसे दो। भैया, तुम उसकी एक बात न सुनना और कह देना तुम अयोग्य हो। चाहिए तो यह था कि लुक-छिप कर मैं उसे देखती **(हँस कर)** और जब लुक-छिप कर मुझे देखना उसने चाहा तो फिर चाहे उसकी देह सोने के पत्तर में मढ़ी हो, उसके भीतर वह पुरुष कहाँ है जिसकी ओर मैं....**(नाक और भौहें टेढ़ी पड़ती हैं।)**

मोहन—लुक-छिप कर वह तुम्हें देखना चाहता था। नीच....

शीला—नीच नहीं निर्बल। जिसकी पुरुष-देह में स्त्री का मन है, जो प्रणय की भीख माँगता फिरता है, अपने घर का संकट जान कर....जान कर कि मेरे भाई मेरे सुख और सुविधा के लिए, मुझे रानी बनाने के लिए अपने सम्मान का त्याग कर रहे हैं, जिससे बड़ा त्याग पुरुष के लिए कोई दूसरा होता नहीं, यही चाहती थी मैं कि यह संयोग बैठ जाय। वह मुझे खींचना चाहता था अपनी चटक-मटक से, अपने उतावलेपन से, शिक्षा और धन के दम्भ से। किसी न किसी बहाने मैं बराबर उसके पास रहूँ, मुझे देखता रहे, मुझसे बातें करता रहे। मेरे भीतर उसके लिए कुछ छिपा न रहे, कुछ रहस्य न रहे। दो ही दिन में वह सब कुछ जान जाय, उसकी सारी भूख मिट जाय।

मोहन—कुछ न कहो, अब मैं सिर पीट लूँगा।

शीला—इतने सीधे हो भैया तुम। तुम्हारे मित्र के हाथ में लैंसेट बराबर रहता है। वे सब कहीं बहुत गहरे चीर कर देखते हैं वहाँ क्या है? और तुम उनके ऊपर की चमक-दमक में यह नहीं देख सके कि भीतर कितना विष है उनके। सिर पीटने से नहीं बनेगा। हँस सको तो उनकी मूर्खता पर हँसो। पुरुष का गुण न धन है, न रूप, न विद्या; कहाँ तक वह अपने को रोक पाता है, कितना संयम उसमें है?

मोहन—ऐं, कैसी आहट है? आ रहे हैं तब वह....शीला, उसका अपमान न करना। तुम्हारे घर आया है कम से कम इतना....।

शीला—आधी बात कहते हो। कहो, फिर मैं क्या कहूँगी? अपमान वह स्वयं अपना करते हैं। मैं उनका अपमान क्या करूँगी। पुरुष जब स्त्री का शिकार करता है, सम्मानित नहीं रह जाता। फिर भी विश्वास करो, मैं अपने पर अंकुश रखूँगी।

मोहन—और वह जो कुछ पूछे उसका निडर उत्तर दोगी?

शीला—**(हँस कर)** तुम्हारे मित्र मुझसे लड़ेंगे नहीं। डरने की बात क्या है? रावण की लंका में जानकी उससे नहीं डरीं और अब मैं अपने घर में उनसे डरूँगी?

मोहन—तुम जानकी नहीं हो। यह युग अब जानकी का नहीं है।

शीला—जानकी का युग इस देश से कभी नहीं मिटेगा। मैं जानकी हूँ। इस देश की कोई भी स्त्री जानकी है। जब तक हमारे भीतर जानकी का त्याग है, जानकी की क्षमा है तब तक हम वही हैं। तुम्हारे लिए जानकी पौराणिक हैं इसलिए असत्य हैं। मेरे लिए वह भावगम्य हैं। उनके भीतर मेरी सारी समस्याएँ, सारे समाधान हैं। राम में तुम अविश्वास कर सकते हो, जानकी में अविश्वास का अधिकार तुम्हें नहीं है।

[निरंजन का प्रवेश। अवस्था प्रायः तेईस वर्ष। लम्बा-छरहरा गोरा शरीर। नुकीली नाक, आँखों पर चश्मा। इस नये युग की वेश-भूषा। प्रभाव की मुद्रा।]

निरंजन—गाड़ी का समय जा रहा है मोहन!

शीला—इस समय आप नहीं जायेंगे। आइए, बैठिये।

निरंजन—जी आपके बाबूजी भी यही कह रहे हैं; लेकिन अब चला ही जाना ठीक है।

शीला—बैठिए भी, चले जाने वाले को कब किसने रोका है?

निरंजन—आप भी बैठें। (**मेज के पास कुर्सी पर बैठता है। मोहन निकल जाता है।**) कहाँ जा रहे हो?

मोहन—(**नेपथ्य में**) तुम्हारा सामान ठीक कर दूँ।

शीला—आप मुझसे अकेले में बातें करना चाहते थे। यह अवसर ठीक है।

निरंजन—इसलिए कि आप मेरी छाया से भागती रही हैं। बोलिए....।

शीला—बाप के घर में....मायके में कोई भी लड़की आप जैसों से भागेगी। ऐसा न होना संकट की सूचना है, इतना भी नहीं जानते आप?

निरंजन—उँह....आपके विचार बड़े पुराने हैं। नया भारत अब आप लोगों से कुछ और चाहेगा।

शीला—भारत वही पुराना है। आप उसे नया बना कर उसकी प्रतिष्ठा बिगाड़ रहे हैं। वह क्या चाहता है उसको देखिये, उसको समझिये। जो आप चाहते हैं, उसका आरोप इस पुराने भारत पर न कीजिये।

निरंजन—इस युग का....इस बीसवीं सदी का स्वतन्त्र भारत पुराना है? पुराने विचारों में, पुरानी रूढ़ियों में जकड़े रहने का समय अब लद गया। आप देहात में हैं। शहर में रहतीं, वहाँ की लड़कियों को देखतीं, सिनेमा और स्त्रियों के समाज में जातीं....

शीला—कहीं भी रहती....कहीं भी जाती फिर भी मेरी आँखों में भारत नया नहीं लगता। इसकी चाल कभी रुकी नहीं, न यह कभी मरा न मिटा। एक साँस भी इसकी कब बन्द हुई, बतायेंगे? इसने कितने देशों को जन्म लेते और मरते अपनी आँखों देखा है। इसकी आयु की, इसकी संजीवनी शक्ति की, प्रतिष्ठा कीजिये।

निरंजन—अरे....आप बड़ी भावुक हैं। मैं तो गनगना उठा।

शीला—इसकी पताका जब प्रशान्त से लेकर भूमध्य सागर तक उड़ी थी उस समय अपनी कन्याओं से जो इसने न चाहा, अब न चाहेगा।

निरंजन—यह कविता की भाषा मैं नहीं समझ रहा हूँ।

शीला—आप जिस साँचे में ढल चुके हैं उसमें इस पुराने देश को न ढालिये। इसका अपना साँचा है, बनें तो अभी भी समय है उसमें फिर से अपने को ढालिये। जिस देश की रूढ़ियाँ मिट जाती हैं वह देश भी मिट जाता है।

निरंजन—आप तर्क करना जानती हैं। मैं तो समझे था कि....

शीला—आप समझे थे, मैं गूँगी हूँ। आप के सामने में बोल न पाऊँगी।

निरंजन—जो कहें आप....फिर भी जिसके साथ जीवन भर रहना हो, उसे ठीक से जान लेना....मैं ही नहीं, कोई भी शिक्षित व्यक्ति चाहेगा।

शीला—जो आप-सा सजग रहेगा। थोड़ी देर किसी लड़की से बातें कर उसके भीतर का सब कुछ खोल कर देख लेना। इस काम में वह बराबर ठगा जाता है फिर भी उसे चेत नहीं होता।

निरंजन—भावी पत्नी को ठीक से देख लेना, समझ लेना, ठगा जाना है? कैसी बेढंगी बात आप कह रही हैं?

शीला—आप की अवस्था का पुरुष जब मेरी आयु की लड़की के पास जाता है, अन्धा हो जाता है। और कहीं संयोग से लड़की सुन्दरी हुई तो वह उन्मत्त हो उठता है। अन्धा क्या देखेगा? उन्मत्त क्या समझेगा? इसलिए अपने आप न देख कर किसी दूसरे से दिखा लेना आप ऐसों के हित की बात है। आप को साहस कैसे हुआ कि यहाँ तक चले आये मुझे देखने के लिए?

निरंजन—आप के भाई ने मुझसे प्रार्थना की....

शीला—उनकी प्रार्थना पर आप कुएँ में कूदेंगे। साँप उठा कर गले में लपेट लेंगे। भावी पत्नी! पत्नी कब और कहाँ भावी हुआ करती है? जब तक वह आप की हो न जाय, आप उसके न हो जायें....(**हँसती है।**)

निरंजन—तो इसीलिए आप बुलाने पर भी मेरे पास नहीं आयीं। मुझसे भागती फिरीं। मैं समझता था, देहात की लड़की होने से आप लजा रही हैं। आप पर्दे में रहना चाहेंगी।

शीला—जी....अकेले एक पुरुष में जिस स्त्री का प्राण समा जाता है वह किसी न किसी प्रकार के पर्दे में रहना ही चाहती है। लुक-छिप कर आप मुझे देखने की चेष्टा करते रहे। बार-बार नाम लेकर आपने बुलाया....

दो बार मैं गयी थी, फिर भी आप का सन्तोष इतने से नहीं हुआ। मैंने देखा, आप संयम छोड़ रहे हैं, आप का स्वभाव बिगड़ रहा है।

निरंजन—मेरे स्वभाव की आलोचना करने का अधिकार आपको नहीं है। मैं यहाँ बुलाने पर आया था, आप जानती हैं। इस भभकती लू, धधकते आकाश में, मैं नैनीताल होता।

शीला—मेरे लिए आपको कष्ट हुआ, इसकी मैं कृतज्ञ हूँ। आप के स्वभाव की आलोचना मैं न करूँ, आप का मन करेगा, समाज की मान्यताएँ करेंगी, और अब मुझे भी क्यों नहीं है यह अधिकार महोदय? जितना कोई विवाह के बाद अपनी पत्नी से पाता होगा, उतना आप मुझसे पहले ही ले लेना चाहते थे। सब कुछ मैं आप को अभी दे देती तो फिर बाद के लिए क्या रखती? और न सही, मानसिक लगाव तो आप पैदा कर चुके हैं। अब आप जब किसी दूसरी लड़की को देखने जायेंगे, आप के मन में मैं भूल उठूँगी। आँखों में लहरा जाऊँगी। मुझे पार कर आप की आँखें उस बेचारी को देख न पावेंगी। पहले और भी कोई लड़की देख चुके हैं आप?

निरंजन—इससे आपका मतलब क्या है? देखा या न देखा हो? मैंने कष्ट दिया आप को, क्षमा करें, मैं अब चलूं। **(कुर्सी से खड़ा होता है। शीला बढ़ कर उसका हाथ पकड़ लेती है।)**

शीला—अभी आप नहीं जायेंगे। अभी आप ने ठीक से न मुझे देखा, न समझा। और फिर रूठ कर आप चले जायें! इस देश की सबसे बड़ी, पत्नी की कामना में आप यहाँ आये थे और लेकर जायेंगे क्या?

निरंजन—आप तो मुझे चक्कर में डाल रही हैं? आप को समझना बड़ा कठिन काम है। कहिये, फिर न जाऊँ तो क्या करूँ?

शीला—पुरुष की समझ में स्त्री कभी नहीं आती। मुझे आप जितना ही अधिक समझना चाहेंगे, मैं आपसे उतनी ही दूर होती जाऊँगी। सन्देह का भार् पुरुष ढोता है, स्त्री विश्वास चाहती है।

निरंजन—तब? . . . .

शीला—यह अवसर न दीजिये कि स्त्री की जीभ चले; वह तर्क करे, प्रगल्भा और वाचाल बने। पुरुष समुद्र की थाह लगा लेगा। स्त्री में वह बराबर डूबता आया है।

निरंजन—मनुष्य की सीधी बोली में कहिये। संकेत की यह भाषा मैं नहीं जानता।

शीला—तब आपने इतना सचेत, इतना सजग, क्यों रहना चाहा? कुमारी के सपने न तो पुरुष के धन के, न विद्या के, न रूप के होते हैं। वहाँ कुछ दूसरा ही रहता है।

निरंजन—**(विस्मय में)** तो फिर कह दें, मैं भी जान लूं।

शीला—कह दूं? आपको विश्वास न होगा।

निरंजन—कहें भी? विश्वास न करना मेरा अभाग्य होगा।

शीला—सच कहते हैं? अपने मन को टटोल लीजिये। सन्देह की छाया भी वहाँ न हो।

निरंजन—मुझे अधिक लज्जित न करें।

शीला—स्त्री पुरुष की असावधानी को, उसके अल्हड़पन को प्रेम करती है जिसमें वह अपने प्राण से भी सजग नहीं रहता, संकट से जूझता चलता है। जिसमें वह ऐसी गहरी नींद सोता है कि स्त्री को अवसर मिले कि वह उसे प्राण में उठा ले, आँखों में बन्द कर ले। कल रात भर आप जागते रहे। अभी यह दशा है तो आगे क्या होगा?

निरंजन—**(विस्मय में)** ऐं. .कैसे जानती हैं आप कि मैं रात भर जागता रहा?

शीला—हम कैसे जानती हैं? इस चिन्ता में न पड़ें। आकाश के तारे कहते हैं हमसे, पेड़ की पत्तियाँ कहती हैं, हमारे कान अधिक सुनते हैं। हमारी आँखें अधिक देखती हैं। आप ही कहें, रात भर आप जगे रहे या नहीं? आप जो कहेंगे, मैं वही मान लूंगी।

निरंजन—ठीक कह रही हैं. .रात मुझे नींद नहीं आयी।

शीला—लेकिन क्यों? क्या इस आयु में आपको कंकड़ पर नींद न आ जानी चाहिए? क्या यह आपके मन का रोग नहीं है? यह देश नया नहीं पुराना, बहुत पुराना, वृद्ध हो चुका है। यह चाहता है कि इसमें जो पैदा हों, इसी की तरह लम्बी आयु के हों। उनके बाल पक कर हिमालय की आभा पैदा करें। आपके नींद न आने का अर्थ है कि आप

फलक ४'१

इस देश के प्रति ईमानदार नहीं हैं। नये के फेर म न पड़ कर पुराने को समझें; आपके लिए, आपके समाज के लिए इसी में कल्याण है।

निरंजन—तो आपके कहने का मतलब है कि मुझे आपको देखने या बातें करने का..

शीला—जी ...आज मैं आपके सामने हूँ..आप मुझे इस रूप में देख रहे हैं..कहीं मैं बीमार पड़ जाऊँ..कोई अंग सूना पड़ जाय....एक आँख फूट जाय तब तो आप मुझे छोड़ देंगे ?

निरंजन—मैं इतना नीच हूँ ! क्या कह रही हैं आप यह? मेरे भीतर भी हृदय है, उसमें प्रेम और कर्त्तव्य दोनों हैं।

शीला—फिर देखने या बातें करने में क्या धरा है ? सन्देह से जहाँ आरम्भ है, वहाँ अन्त भी सन्देह है। किसका साहस होगा कि अन्धी या लँगड़ी कन्या का प्रस्ताव भी आप से करेगा ? अपने मित्र का विश्वास आप न कर सके, किसी दूसरे को भेज देते और मुझे देखते तब जब वह आपका अधिकार होता।

निरंजन—**(मुस्करा कर)** विवाह के बाद....

शीला—तब क्या, और तब मैं आपके चारों ओर ऐसे भाँवर देती जैसे यह पृथ्वी सूर्य की भाँवरी देती है। उसके लिए आप को प्रयत्न न करना पड़ता। आपके आकर्षण में बँधकर मैं ऐसी विवश रहती जैसी यह पृथ्वी सूर्य के आकर्षण में विवश है।

निरंजन—शीला..इधर देखो....

शीला—अभी नहीं, पहले वह आकर्षण....और तब इसके लिए मैं विवश रहूँगी।

निरंजन—तब मैं कह दूँ तुम्हारे बाबूजी से ?

शीला—कह दो...लेकिन इस नये युग का नया पुरुष यह सब कहने-कहाने में रूढ़िवादी बनेगा।

निरंजन—तो तुम अभी आघात करती चलोगी ?

शीला—जब तक हम दोनों दो व्यक्ति हैं।

निरंजन—दो व्यक्ति तो हम बराबर रहेंगे।

शीला—यह नया मत है। पुराने में दो व्यक्तियों के भेद और साहस का मिट जाना ही प्रणय है। यहाँ न रुचि-भेद है, न बुद्धि-भेद। शंकर का आधा शरीर इसीलिए पार्वती का है।

निरंजन—यह सब तुम कहाँ जान गयीं ?

शीला—अपने संस्कार से। सब कुछ पढ़ा ही नहीं जाता, कुछ अनुभव भी किया जाता है।

निरंजन—कैसे कहूँगा, मुझे तो लाज आ रही है। कल तक यह जितना सरल था अब नहीं है। मैं यहाँ अपने मित्र का उपकार करने आया था और अब यह मेरे साथ उपकार हो रहा है।

शीला—बस, वही पुरानी बात। कन्या के प्रार्थी यहाँ बराबर पुरुष होते रहे हैं। तुम्हें भी वही करना पड़ा। इस नये युग, इस नयी सभ्यता में भी। तुम्हें भी दान लेना पड़ेगा किसी की कन्या का।

निरंजन—और वही दान मेरा सबसे बड़ा धन होगा। शीला ! मैं भूला था। अब मुझे नींद आयेगी, ऐसी गहरी कि तुम.....

शीला—गला क्यों भर आया ? इतने अधीर अभी......

निरंजन—सम्भवतः हम लोगों का पूर्व जन्म का संयोग था....

शीला—निश्चित। जीवन भर का सुख और सन्तोष इसी विश्वास पर टिकता है।

निरंजन—**(उसकी उँगलियाँ पकड़ कर)** इस एक दिन में मेरा सारा जीवन समा गया, इसके पहले जो कुछ था और बाद को जो कुछ होगा।

शीला—सब इसी एक दिन में मिल जायगा क्यों ?

निरंजन—इसी एक दिन में..

(दोनों एक दूसरे की ओर देखते हैं।)

[पर्दा गिरता है।]

आधुनिक कन्नड गद्य

'श्रीरंग'

कन्नड़ साहित्य जितना नवीन है उतना ही प्राचीन । ईसवी सन् की नवीं शती से लेकर प्रतिभासम्पन्न कवियों द्वारा उसमें महाकाव्यों का प्रणयन प्रारम्भ हुआ और यह उच्च श्रेणी की काव्य-परम्परा सत्रहवीं या अठारहवीं शती तक प्रचलित रही । फिर एक लम्बे समय के लिए यवनिका पात होता है और फिर दूसरे दृश्य के लिए आगे के लगभग सौ वर्ष तक पर्दा नहीं उठता । निस्सन्देह यह व्यवधान इतिहास में नहीं, किन्तु उससे सम्बन्धित हमारे ज्ञान में ही है, क्योंकि जब दूसरे अंक का प्रारम्भ होता है तो एक प्रकार से वह पूर्व की कथा को चालू रखता है, यद्यपि वह आगे एक बिल्कुल अप्रत्याशित रूप में विकसित होता है ।

प्रथम सहस्र वर्षों का समस्त श्रेष्ठ काव्य प्रधानतः संस्कृत साहित्य का कभी अनुकरण और प्रायः अनुवाद है, और सामान्यतः संस्कृत के महाकाव्यों और कालिदास की कृतियों के आदर्श पर ढाला गया है । संस्कृत की तुलना में, कन्नड़ कविता में (और केवल काव्य ही मिलता है) नाममात्र की मौलिकता मिलती है । ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ काल से तथा वीर-शैव सम्प्रदाय के उदयकाल से रूप-परिवर्त्तन और संस्कृत के प्रति असन्तोष लक्षित होता है किन्तु एक शती में ही संस्कृत ने अपने प्रभाव को पुनः प्रतिष्ठित कर लिया । आख्यान कृतियों का रूप, रीति-कवियों की शैली और सर्वोपरि अपने स्वयं के धर्म का प्रचार इस प्रारम्भिक साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं ।

उन्नीसवीं शती की दूसरी अवस्था प्रारम्भ होती है जब कन्नड़ साहित्य अपना सिर उठाता है और धीरे-धीरे प्रारम्भिक काल की सभी प्रमुख विशेषताओं के साथ वह अपना स्वरूप प्रकट करता है । संस्कृत का अभी भी प्रधान प्रभाव था । किन्तु कदाचित् आख्यान काव्यों की परम्परा का धार्मिक उत्साह अब नहीं रह गया था अतः हमें कन्नड में संस्कृत नाटकों के अनुवाद मिलते हैं । कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष, और भट्ट नारायण के नाटकों के अनुवादों के (कभी-कभी अनेक विद्वानों ने एक ही कृति के अनुवादों का प्रयास किया) प्रयास इस काल में हुए । किन्तु छन्द-बद्ध रूप अभी भी प्रिय बना रहा । संस्कृत के प्रभाव ने गद्य को प्रोत्साहित नहीं किया, क्योंकि संस्कृत साहित्य स्वयं बहुत-सी गद्य कृतियों का दावा नहीं कर सकता ।

फिर एक और महान् परिवर्तन हुआ । राजनीतिक क्षेत्र की क्रान्तियों का इतिहास में सदैव स्थान रहता है, क्योंकि उनके द्वारा होने वाले परिवर्तन और बाधाएँ तुरत ही लक्षित होती हैं; किन्तु कम व्यक्ति ही यह देख पाते हैं कि यह प्रभाव उतने ही क्षणिक हैं जितनी शीघ्रता से वे आते हैं—नहीं तो इतिहास पुनरावृत्ति न कर पाता । साहित्य में क्रान्तियाँ स्थूल रूप में प्रकट नहीं होतीं, क्योंकि उनके प्रभावों के विज्ञापन नारों और गोलियों से नहीं किये जाते—ये प्रभाव सूक्ष्म, धीरे, किन्तु इसी कारण स्थायी होते हैं; क्योंकि वे स्वयं समाज के ही अंग बन जाते हैं । उन्नीसवीं शती में जो परिवर्तन हुआ वह कन्नड साहित्य में एक क्रान्ति थी । वह क्रान्ति गद्य का आरम्भ थी ।

मनुष्य के समान साहित्य में भी गद्य वृद्धि का सूचक है । मनुष्य अपने विचारों को जब तक ठीक सोच नहीं लेता और अपने शब्द-भंडार पर अधिकार नहीं रखता तथा उसमें से चयन की क्षमता नहीं प्रकट करता, गद्य उसे आता नहीं । और जब तक वह स्पष्ट और संयत ढंग से सोच नहीं पाता, गद्य निश्चय ही वह नहीं लिख पाता । अतएव जब कोई साहित्य अपने को गद्य में व्यक्त करता है (विश्व भर में साहित्य-सृजन काव्य से प्रारम्भ हुआ) तो उसका अभिप्राय यह है कि वह साहित्य सम्पन्न है, अर्थात् उसके लेखक सहज-बोध और कल्पना-शक्ति के साथ-साथ आत्माभिव्यक्ति के लिए भी अपनी प्रतिभा का प्रयोग करने लगे हैं । अतः गद्य का उदय भविष्य की दृष्टि से उतना ही महत्त्वपूर्ण और व्यापक परिणामों वाला है जितना कि मानव जीवन में शैशवावस्था का दर्शन ।

सदा नवीन रूप का अभिप्राय होता है—सृजन, अतएव आधुनिक कन्नड साहित्य में गद्य के रूप को एक सृजनात्मक युग का प्रारम्भ कहना चाहिए।

किन्तु यह कदापि न सोच लेना चाहिए कि इस गद्य का विकास एकाएक स्वतन्त्र रूप से हुआ। नूतन सदा प्राचीन से उत्पन्न होता है। संस्कृत तथा प्राचीन कन्नड़ काव्य, एवं कालिदास तथा अन्य रचयिताओं के नाटक कन्नड़ गद्य को प्रभावित करने के लिए उपस्थित थे। संस्कृत आख्यान-कृतियों तथा भागवत को गद्य में अनूदित करने का प्रयत्न किया गया। यह गद्य किस प्रकार का था? नादात्मक दीर्घ संस्कृत समास से युक्त नाम-धातुओं के अन्त में, कन्नड़ प्रत्ययों तथा लम्बे वाक्यान्तों में कन्नड़ क्रिया रख कर, कन्नड़ लिपि में लिखा हुआ। किन्तु तो भी वह गद्य ही था जिसमें एक वाक्य के विभिन्न पद क्रमबद्ध रूप में परस्पर सम्बन्धित थे। इस सहस्र वर्ष प्राचीन परम्परा के प्रभाव से संस्कृत साहित्य से भिन्न विषय वाली कृतियाँ भी बची नहीं। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि जिस प्रकार कविता में उसी प्रकार गद्य में भी प्राचीन तथा अन्य साहित्यों से अनुवाद ही एक मात्र साहित्यिक निधि थी। किन्तु विवेक और तर्क गद्यरूपी श्वास के दो फेफड़े हैं। अतः शीघ्र ही यह अनिवार्य था कि विवेक और तर्क से सामंजस्य रखने वाली कृतियों की रचना आवश्यक हो जाय।

आधुनिक कन्नड़ गद्य में इस प्रकार के दो स्तम्भ उल्लेख योग्य हैं। प्रथम है हर्बर्ट स्पेंसर के 'एजुकेशन' का अनुवाद--'शिक्षण-मीमांसा'। श्री आलूर और श्री मगदल का यह अनुवाद सन् १६१० में (किन्तु यह उसके चार-पाँच वर्ष पूर्व लिखा गया था) प्रकाशित हुआ था। दूसरा लोकमान्य तिलक के "गीता-रहस्य" का कन्नड़ अनुवाद था। यह बात कि ये दोनों ही कृतियाँ अनुवाद हैं, उनके महत्त्व को कम नहीं करती; इन दोनों कृतियों में कन्नड में प्रथम बार न्याय और तर्क तथा दर्शन की अभिव्यक्ति धाराप्रवाह हुई[1]। एक प्रकार का गद्य तो था किन्तु अपनी विचारावली और तार्किकता को व्यक्त करने के लिए, सुसम्बद्ध ढंग से अर्थ की सूक्ष्म ध्वनियों को प्रकट करने के लिए, पाठकों को प्रभावित और वास्तव में आकर्षित करने के लिए, अपने विचारों को स्पष्ट और वेग के साथ व्यक्त करने के उपयुक्त गद्य कन्नड़ में प्रधान रूप से अंग्रेज़ी प्रभाव के द्वारा ही आया। यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रारम्भ से लेकर अब तक अंग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों द्वारा ही आधुनिक कन्नड़ गद्य की उत्कृष्ट रचनाएँ प्रणीत हुई हैं।

एक अन्य दृष्टि से भी गद्य के इस उदय ने हमारे आधुनिक साहित्य को प्रभावित किया है। अनादिकाल से कविता और नाटक, केवल यही दो ललित साहित्य समझे जाते रहे हैं। संस्कृत में भी केवल दो-तीन को छोड़ कर किसी भी कृतिकार को प्रतिष्ठित स्थान न दिया जाता यदि उसने केवल गद्य ही लिखा होता। स्वाभाविक था कि यही परम्परा कन्नड़ में भी चलती रहे। जब हमारे पूर्व पुरुषों ने यह देखा कि बर्क, जे० एस० मिल, मेकॉले, हर्बर्ट स्पेंसर तथा ऐसे ही अन्य व्यक्ति महान् लेखक थे और गद्य-लेखक थे, तो उन्होंने इस शैली में लिखने का साहस किया होगा। और आगे अधिकाधिक गद्य का प्रचार हुआ। किन्तु इस शैली की वृद्धि के लिए एक बाधा थी। यदि केवल स्पेंसर तथा बर्क की रचनाओं के ही अनुवाद हुए होते तो पाठकवर्ग तैयार न होता। स्पेंसर की कृतियों के अनुवादक ने सहज भाव से अपनी प्रस्तावना में कहा है कि उनका गद्य केवल कन्नड़ जानने वाले पाठकों को अनेक स्थलों पर कठिन और दुरूह प्रतीत होगा।

अतएव चरित-कृतियों और अधिक अंशों में कथा-साहित्य के रूप में विषयान्तर निकाला गया। यहाँ हमारे गद्य को एक नया रूप मिला। प्रारम्भ में यह कथा-साहित्य बँगला से अनूदित हुआ, फिर मराठी से। किसी विदेशी भाषा से अनुवाद करते समय शैली दुरूह, कृत्रिम और उलझी-सी हो जाती है। किन्तु किसी पड़ोस की भाषा या सजातीय भाषा से हुए अनुवाद की शैली अधिक स्वाभाविक और कम उलझी हुई होती है। सम्पूर्ण कथा-साहित्य को चाहे भविष्य में निस्सार कह कर बहिष्कार कर दिया जाय, तो भी हमारे आधुनिक साहित्य के इतिहास की वृद्धि में उसको स्थान

[1] प्रथम रचना के अनुवादकों ने प्रस्तावना में कुछ मनोरंजक उल्लेख किये हैं: "यह कृति लगभग संसार की सभी उन्नत भाषाओं में अनूदित हो चुकी है। हम जानते हैं कि अपनी अविकसित भाषा में उसका अनुवाद करना हमारा दुस्साहस है. . . .वर्तमान कन्नड़ अभी भी आधुनिक और गूढ़ विचारों को व्यक्त करने के योग्य नहीं है और इसके अतिरिक्त हमारी भाषा में इस प्रकार की कोई कृति नहीं है।"

मिलेगा। उसने गद्य को शक्ति, प्रवाह, स्वाभाविकता और स्वरूप प्रदान किया। दूसरे शब्दों में हमारा गद्य अब प्रारम्भिक अवस्था में तथा संकोची और अनुकरणशील नहीं था। वह प्रौढ़ता को प्राप्त हो चुका था। वेंकटाचार्य, गळगनाथ, वासुदेवाचार्य, केरुर तथा अन्य दूसरे व्यक्तियों ने हमें अपनी गद्य कृतियों के रूप में शक्तिशाली और अत्यन्त आधुनिक साधन प्रदान किये। यह सत्य है कि उनका गद्य अभी भी अंशतः 'अंग्रेजियत' लिये हुए था, और विशेष कर 'संस्कृताऊ' था, किन्तु उसने पाठकों को तल्लीन किया।

अब हम तृतीय और अत्यन्त आधुनिक अवस्था पर आते हैं। आज भी, पुराने लेखकों में से एक अर्थात् श्री आलूर वेंकटराव (जिन्होंने अपने विद्यार्थी-जीवन में हर्बर्ट स्पेंसर का अनुवाद किया था) शक्तिशाली लेखक हैं। उनके गद्य में अभी भी उन दिनों की भव्यता है जब अंग्रेजी और संस्कृत महान् साहित्य समझे जाते थे। श्री डि० वि० गुंडप्पा का गद्य विविधता और अभिव्यक्ति की दृष्टि से सम्पन्न है किन्तु साथ ही विलायत के पुराने उदारवादी मॉर्ले तथा भारत के गोखले के समान उसमें संयम है। दूसरी ओर श्री मास्ति वेंकटेश अय्यंगार हैं (जो 'श्रीनिवास' के नाम से प्रख्यात हैं), जिन्होंने अपनी कहानियों द्वारा हमें ऐसा गद्य दिया है जो जितना सरल है उतना ही व्यंजक। दूसरी पीढ़ी में श्री कारन्त आते हैं, जिन्होंने अपने आकर्षक उपन्यासों द्वारा ऐसे गद्य का आविष्कार किया है जो एक साथ ही रंगीन और घरेलू है। श्री कृष्णराव ने संगीत, चित्रकला तथा अन्य कलाओं जैसे विषयों पर गद्य निबन्धों में अपनी शैली का विकास किया है। श्री वी० के० गोकाक ने अपनी विलायत-यात्रा के सम्बन्ध में दो ग्रन्थ लिखे हैं। यह तथ्य केवल कुछ नामों के उल्लेख मात्र के लिए नहीं अपितु जिन विविध विषयों की अभिव्यक्ति का प्रयास कन्नड़ गद्य कर रहा है उसे दिखाने के लिए दिये गये हैं। इस संक्षिप्त वर्णन से यह स्पष्ट होगा कि मौलिक कल्पना द्वारा गद्य-शैली की उत्पत्ति नहीं हुई किन्तु यह भी स्पष्ट है कि गद्य-शैली ने आधुनिक कन्नड़ को अनेक मौलिक लेखक दिये।

(कन्नड से)
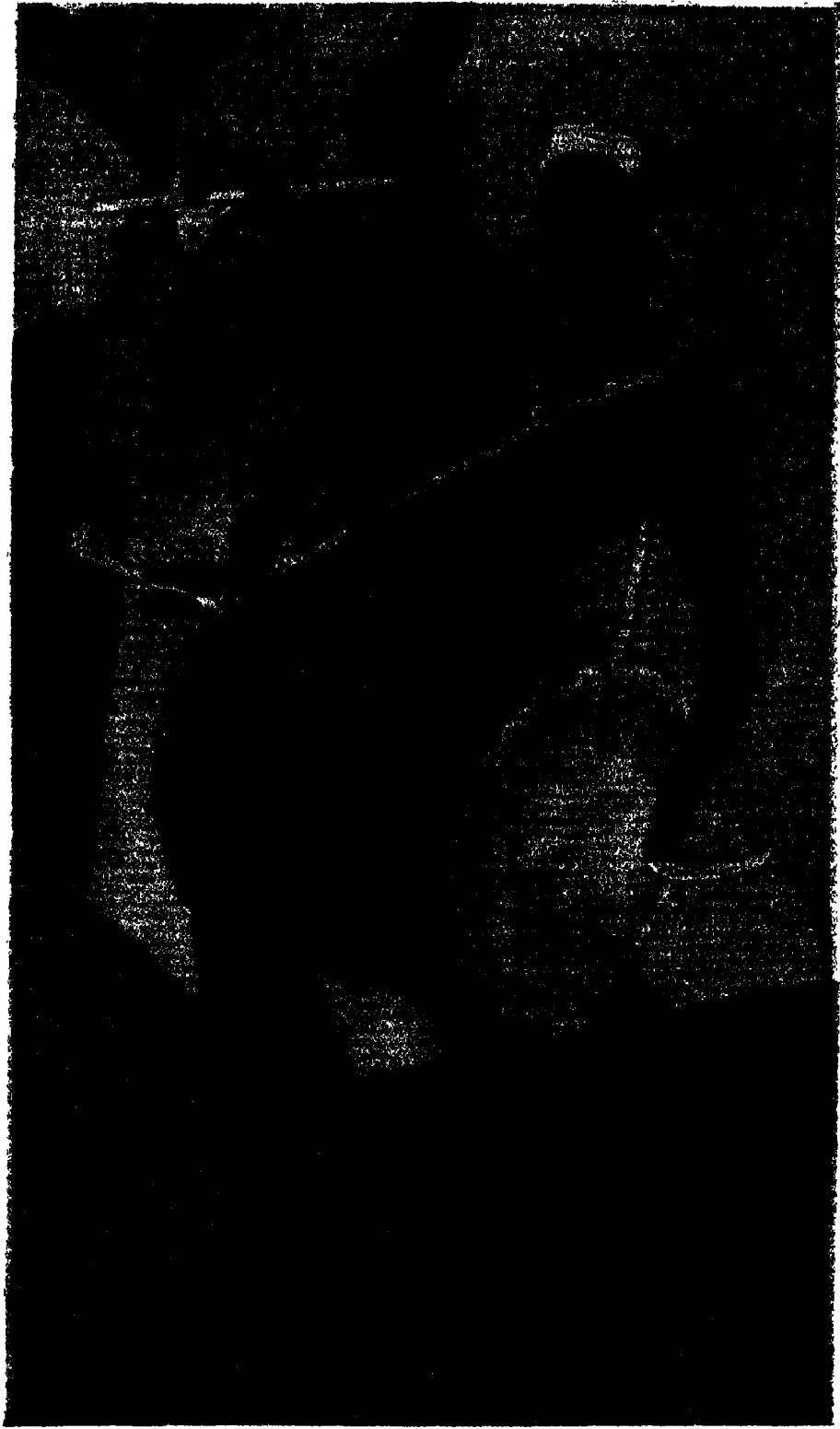
तेलुगु काव्य में आधुनिक प्रवृत्तियाँ

एस० गोपालकृष्ण मूर्ति

तेलुगु काव्य में आधुनिकवाद का आरम्भ मछलीपट्टम की 'आन्ध्र भारती' में गुरजाड अप्पाराव पन्तुलु की कविताओं के प्रकाशन से हुआ। रुग्ण और दुर्बल होते हुए भी यह प्रतिभाशाली विद्वान् कवि आजीवन विद्रोही ही रहा। साहित्य, भाषा, समाज और धर्म सभी क्षेत्रों में उसने विद्रोह किया। रूढ़ और किताबी भाषा को छोड़ कर उसने बोली जाने वाली भाषा के एक मँजे हुए रूप को अपनाया। संस्कृत वृत्तों को छोड़ कर लोक-पदों के छन्द ग्रहण किये और रूढ़िगत प्रमुख गाथाओं की अपेक्षा सामाजिक-गाथा वस्तु को काव्य-रचना का आधार बनाया। इन सबसे ऊपर मानव प्रकृति के अन्तः-सौन्दर्य का उद्घाटन जो उन्होंने किया उसके कारण वह तेलुगु काव्य के पुनरुत्थान का प्रभाती तारा है।

गुरजाड अप्पाराव अपने काल के इने-गिने प्रबुद्ध व्यक्तियों में से थे और उन्होंने अपने समकालीनों को महत्त्वपूर्ण सीख दी। उनकी रचनाओं में सन्देशवाहक की-सी सत्यता और स्पष्टवादिता है, लेकिन इस कारण उनमें माधुर्य या अनुराग-भावना की कमी नहीं हुई है। उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना 'राजा लवण स्वप्न' वास्तविकता में उनकी गहरी पैठ, और जीवन-अनुभव के प्रभाव का अच्छा परिचय देती है। 'ताड़ वृक्षों के कुंज में छिपे पूनों के चाँद का सुन्दरी के पंख-युक्त गीत सुनने को प्रतीक्षा करना', या कि 'राजा का प्रेम निवेदन सुन कर कुमारी का पलकें कभी उठाना और कभी गिराना' उनके पाठको को कभी नहीं भूल सकतीं। प्राचीन ग्रीक कहानी का डैमोन, अप्पाराव के जादू भरे वर्णन के कारण एक मिटे हुए मानववादी के रूप में प्रकट होता है; और पौराणिक कन्यका मूर्त्त होकर पाठक के सामने आ खड़ी होती है और उसे प्रेरणा देती है। यद्यपि अप्पाराव का काव्य मात्रा में प्रचुर नहीं है और उनकी काव्य-भाषा भी अनोखी है, तथापि उनके कृतित्व इतने ही प्रसिद्ध हैं जितने उनकी यह उक्ति : "सुनो, मेरे भाइयो, मातृभूमि केवल मिट्टी नहीं है, वह उस पर बसने वाली आत्माएँ हैं।"

किन्तु गुरजाड का काव्य ही उस पुनर्जागरण का मूल विधायक नहीं था जो उनकी मृत्यु के बाद भी होता रहा। अंग्रेजी काव्य का सम्पर्क, 'वन्दे मातरम्' और आन्ध्र आन्दोलन, रवीन्द्रनाथ ठाकुर का आविर्भाव, 'होमरूल' आन्दोलन आदि सभी का प्रभाव इस जागरण पर पड़ा। प्रोफ़ेसर रायप्रोलु, रामिरेड्डि तथा पिंगलि-काटूरि कवि-युगल और अब्बूरि रामकृष्णराव यह चारों सन् १९१३ से सन् १९३१ तक तेलुगु काव्य-रथ के चार चक्र रहे। रायप्रोलु का शब्द-चयन रहस्यात्मक है और वस्तु संगीत-मय, उनकी शैली रीतिगत और मधुर। इसलिए कदाचित् उनका महत्त्व देखने में अधिक जान पड़ता है यद्यपि उनकी रचनाएँ भी प्रचुर रहीं। उनकी सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उन्होंने अपने मधुर छन्दों के कारण समकालीन कवियों को फिर रूढ़िवत छन्दों और संस्कृत शब्दावली की ओर आकृष्ट किया। पिंगलि-काटूरि कवि-युगल अपनी रचनाओं की मुग़ल उद्यान जैसी काट-छाँट के लिए विख्यात हुए; 'नोलकरि' (वर्षा) जैसी रचनाओं में उपस्थित की गयी तेलुगु ग्राम जीवन की झाँकी के लिए इतने नहीं। उनकी 'कविता-सामग्री' बार-बार उद्धृत होती है क्योंकि उसमें सहिष्णुता की भावना के विरुद्ध कवि ने कौतूहल की भावना का विद्रोह प्रकट किया है।

आत्म-सन्तोषी और मौन-साधक रामिरेड्डि मँजे हुए लेखक होते हुए भी हमारे बीच से उपेक्षित ही उठ गये और उनकी रचनाओं की अनन्तर जो प्रशंसा हुई उसे न जान पाये। उनकी 'वनकुमारी' और 'जलदांगन' आदि रचनाओं ने तेलुगु साहित्य को देहाती जीवन का एक समृद्ध और आकर्षक चित्र दिया। उनकी 'नक्षत्रमाल' गीतित्व और उत्कट स्वाधीनता-प्रेम की सुन्दर रचना है। किन्तु उनका श्रेष्ठ काव्य 'पानशाला' ही है जो कि उमर ख़ैयाम की फ़ारसी रचना का स्वच्छन्द और सुन्दर रूपान्तर है। अब्बूरि के शब्द-चयन में भारती चित्र-शिल्पी के रेखांकन समान शुद्ध और सुकुमार है, साथ ही उनका काव्य-गठन, पाश्चात्य चित्रकार का-सा नियन्त्रण और बल भी है। इन चार कवियों ने तेलुगु

काव्य में नया युग उपस्थित कर दिया जिसमें रीतिकालीन अलंकारिक शैली को छोड़ कर एक नये रसात्मक काव्य का आरम्भ किया।

कवि कोंडल वेंकटराव तथा अडिवि बापिराजु दोनों वस्तु और शैली की दृष्टि से इस चतुर्मूर्ति से नये रास्ते पर चले। वेंकटराव ने अपनी पाँच अमर रचनाओं के लिए टेढ़ी-मेढ़ी नदी, शहर की ओर जाती हुई मजदूरनी, लाल फूल, सँपेरे नागस्वर और तांडव-शिव विषय चुने। श्रमिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक आकर्षक कविताएँ भी उन्होंने रचीं। उनकी शैली में उत्साह और विद्रोह है, और उन्होंने बोलचाल के अथवा व्याकरण तथा भाषा-सम्बन्धी शब्दों का बेधड़क प्रयोग किया है। लोक-गीतों के छन्द उन्हें बहुत प्रिय हैं और उनकी रचनाओं में एक अद्भुत सहजभाव देखने को मिलता है। बापिराजु चित्रकार भी हैं और उनके चित्रों की रहस्यमयता प्रसिद्ध है। लेकिन कविता में वह रहस्यवाद बिल्कुल नहीं हैं। बल्कि यथार्थवादी फ़ोटोग्राफ़र हैं और ध्वनियों का भी ज्यों का त्यों रेकार्ड करते हैं। उनके कथा-गीतों में अद्भुत आकर्षण होता है। ये दो कवि तेलुगु काव्य में पहाड़ी झरने का झरझर और गाँव के पोखर का अवगुंठित सौन्दर्य ले आये हैं।

महात्मा गान्धी के स्वाधीनता आन्दोलन से प्रभावित होकर तेलुगु कवियों ने स्वतन्त्रता के मूल्य को पहचाना। देश की स्वतन्त्रता का उतना नहीं जितना प्रेम की स्वच्छन्दता का। विश्वनाथ सत्यनारायण अकेले ऐसे कवि थे जो कि तात्कालिक क्रम का नहीं प्राचीन गौरव पर आँसू बहाने का उपदेश देते थे। गरिमेल्ल सत्यनारायण के गीत जो दावानल की तरह सारे आन्ध्र देश में फैल गये थे और जो दो वर्ष के कारावास का कारण बने थे, इधर उपेक्षित रहे और अपनी प्रभावशालिता और अनुप्रासमयता के बावजूद अभी तक उचित सम्मान नही पा रहे हैं। साहिती समिति के कवियों और शिवशंकर शास्त्री के प्रभाव से आकर्षित होकर अन्य लेखकों ने साहित्यिक क्षेत्र में एकाधिकार जमा दिया तथा स्वच्छन्द प्रेम और व्यक्तिगत विद्रोह का स्वर ऊँचा किया। कृष्ण शास्त्री इन आदर्शों के सबसे बड़े और सशक्त हिमायती हैं। वह एक शिक्षित काव्य-कुल की सन्तान हैं। बचपन से ही ब्रह्म-समाज का प्रभाव भी उन पर पड़ा है। जीवन में उन्हें बहुत-से कटु अनुभव प्राप्त हुए और समवयस्क साहसिकों का भी उन पर प्रभाव पड़ा। वह गाते हैं —

'तुम चाहो तो हँस लो
चाहो तो ठट्ठा करो,
पर मैं लज्जित नहीं हूँ
मेरी आकांक्षा मुझे पथ दिखायेगी
मेरे पंख उन्मुक्त हैं
उड़ने को, तिरने को, अथवा डुबकी लगाने को।'

इस भावावेश में वह भविष्य की बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ करते हैं :—

'रात की बेल फूलेगी नक्षत्रों के फूल,
पत्थर जी उठेंगे और बढ़ेंगे मंगल की भाँति
मानव का हृदय आनन्द में तैरेगा
जैसे कि मेरा गीत बढ़ता है हँसता और चिढ़ता हुआ।
जो धन्यभाग्य प्राणोत्सर्ग करते हैं
युगों से ईश्वर की लड़ाइयाँ लड़ते हुए
वह मुदित होकर नाचेंगे, जैसे मेरे गीत
मुक्ति के ज्वार में संसार को डुबो देता है!'

उनकी 'कृष्ण पक्षम्' नामक रचना को पढ़ते हुए यह क्रमशः स्पष्ट होने लगता है कि यह उद्गार केवल संकेतात्मक हैं। वास्तव में कृष्ण शास्त्री अपनी साध्वी स्त्री की मृत्यु से अत्यन्त दुखी थे और विरोधी समाज के प्रति घृणा से भर रहे थे। ये दोनों भावनाएँ 'कृष्ण पक्षम्' में स्पष्ट लक्षित होती हैं। वह किसी की दया नहीं चाहते, उन्हें अपने दुःख से प्रेम है और अगर उन्हें अकेला छोड़ दिया जाय तो वह चीत्कार करके रो उठना चाहेंगे। इसके प्रतिकूल वह यह भी चाहेंगे कि वह इस कली से छेड़-छाड़ करें और उस कली को गीत सुनायें, एक से कानाफूँसी करें और दूसरे से समान आत्म-निवेदन,

मधुकर की भाँति एक फूल से दूसरे फूल पर मँडराते फिरें; लोग चाहें जितनी खिल्ली उड़ायें। समाज के तिरस्कार का अनुभव करके ही वह 'प्रवासम्' नामक कविता में कहते हैं :

'क्या आ गयी संसार में सचमुच प्रलय
लूट ले मेरी शरण, खोजा जिसे इस गीत ने ?'

गम्भीर चिन्तन के समय में वह स्मरण करते हैं :—

'नहीं आ प्रभात, लो ! बसन्त भी नहीं !!
शिशिर अश्रु छोड़ हाय ! शेष कुछ नहीं !!
झाँकती न एक भी किरण प्रकाश की
घेरता तिमिर मुझे ! अथाह वेदना घिरी।'

कालान्तर में हम उन्हें एकान्त-चिन्तन करते हुए पाते हैं :—

'काल का भय छोड़ मैंने हाथ फैलाये
भिखारी के, मिले जिससे दया की भीख।
पर खड़ा ही मैं रहा हा ठूँठ-सा एकान्त निर्जन राह में
छोड़नी साँसें पड़ीं अन्तिम ! गिरे हा ! हाथ ...!'

घोर निराशा में वह स्वगत भाषण करते हैं :—

'मर रहा हूँ, मिट रहा हूँ,
पर न कोई हाय ! क्या आँसू बहायेगा !
क्या न कोई सान्त्वना देगा खड़े हो पास दो क्षण !
मैंने बनायी है चिता, खुद आग भी फूँकी
न कोई आँसुओं से सींचने वाला ! यहीं दुर्बोध सबका अन्त है।'

लेकिन इस भावावस्था के बाद उन्हें उर्वशी के दर्शन होते हैं और वह उसके सौन्दर्य में शरण पाते हैं।

विद्रोही कृष्ण शास्त्री से कवि कृष्ण शास्त्री अधिक उल्लेखनीय हैं। उनकी लेखनी में पाठक की भावना को उभारने की शक्ति है। चेतना की एक साँस से वे तूफ़ान खड़ा कर देते हैं। गुरजाड ने तेलुगु काव्य में जो गीतात्मक रूप उपस्थित किया था, वह कृष्ण शास्त्री के हाथों अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच गया है। उस समय तक गीत छन्दों का उपयोग वृत्त-छन्दों के बीच में केवल प्रकारान्तर उपस्थित करने के लिए किया जाता था लेकिन कृष्ण शास्त्री ने उन्हें नयी शक्ति और गति दी। उनका सौन्दर्य-बोध विलक्षण है। वह फूल के झुकने में, तमाल-कुंज से उठने वाली धुंध की साँस में, मधुप के गीत में प्रकट होने वाले फूल के आकर्षण में और प्रवेश कोकिल के कूंजन में समान भाव से रस ले सकते हैं और सभी को सफलतापूर्वक आँक सकते हैं। उनके एकांकी भी काव्य-माधुरी में ओत-प्रोत हैं और उनके व्याख्यान भी आकर्षक होते हैं।

कृष्ण शास्त्री के बन्धु और प्रशंसक वेदुल सत्यनारायण शास्त्री उनकी भाँति समाज-द्वेषी नहीं हैं। कृष्ण शास्त्री की भाँति वह

'तरु-राजियों और पर्वत-मालाओं के ऊपर चढ़ कर आकाश में
उठ कर नील में खो जाना'

नहीं चाहते। बल्कि इसके प्रतिकूल उनका चित्त रमता है पके धान-खेत को दुलराती हुई सुकुमार लहर में, पावस द्वारा पृथ्वी को पहनायी गयी धानी साड़ी में, कुसुम-सौरभ-भार-श्लथ गीली बरसाती हवा में, कगार को अपना मृत्यु-गीत सुनाने वाली लहर में, घुमड़ती घटा की छाया में, पूर्व से झाँकती हुई लजीली चाँदनी में, चट्टानों से संघर्ष करते हुए पहाड़ी झरने में, पूनो के चाँद की प्रगल्भ खिलखिलाहट में,—और यह सब अपनी नाना दुश्चिन्ताओं के रहते हुए भी। उनकी कविताएँ सब सम्पूर्ण होती हैं; उनमें अधकचरापन कहीं नहीं होता। उनकी काट-छाँट और सँवार सब सर्वथा दुरुस्त होता है। काव्य-संकलन करने लगें तो उनकी कोई भी कविता उसमें स्थान पा सकती है।

राजनीतिक जाग्रति के बाद आने वाले साहित्यिक उन्मेष में जो कवि सामने आये, उनमें नायनि सुब्बाराव और नंडूरि सुब्बाराव विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रथम ने तेलुगु काव्य में मातृ-प्रेम का पवित्र रूप संचारित किया, और नंडूरि

ने ग्राम-जीवन की मधुर स्वच्छन्दता का वर्णन किया। उनकी 'येंकि पाटलु' (येंकि के गीत) नामक रचना के साथ साहित्यिक भाषा के पुराने जर्जर, रूढ़ और किताबी रूप के विरुद्ध आधुनिक लेखक का विद्रोह अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गया। भावोत्कर्ष की दृष्टि से नंडूरि जयदेव को पा लेते हैं और कभी-कभी उनसे भी आगे बढ़ जाते हैं। एक उदाहरण :

'दर्पण में मेरा प्रिय इतना लम्बा और ऊँचा—
मेरा मोती तुम्हारी छबि को कैसे ग्रहण कर सकता ?
प्रेम के असंख्य रूपों के आगार तुम
मेरे प्रिय ! इस हृदय में कैसे समाते ?'

सम्भोग-शृंगार का यह भव्य और प्रतीकात्मक वर्णन अद्वितीय है।

श्रीरंगम् श्रीनिवासराव ('श्री श्री') आधुनिक आन्ध्र की कवि-विभूति हैं। तेलुगु काव्य में समकालीन यूरोपीय काव्य-प्रवृत्तियों के आभास और विकास का श्रेय उन्हीं को है। उन्होंने भी अन्य तेलुगु कवियों की भाँति रूढ़ छन्दों और भाषा-शैली को अपनाया था, किन्तु क्रमशः पाश्चात्य प्रवृत्तियों के ग्रहण और अनुकरण के द्वारा वह अत्याधुनिक हो गये। अपनी रचना 'सुप्त अस्थिकलु' (सोयी अस्थियाँ) में वह कहते हैं :

'उनके निःस्वन आमन्त्रण का आभास पाकर
मेरी आँखें आँसुओं में डूब गयीं,
मेरा हृदय धड़क उठा
मेरी अस्थियाँ थरथर काँपने लगीं'

और हम पाते हैं कि वह अपनी अनुभूतियों में क्रमशः गहरे पैठते हुए उनका सफलतर वर्णन करने लगते हैं। 'घंटियाँ' और 'आनन्दम्' शीर्षक कविताओं में जान पड़ता है कि उन्होंने अंग्रेजी कविता की आकर्षक ध्वनियों को ज्यों का त्यों अवतरित ही नहीं किया बल्कि उन्हें नयी स्फूर्ति दी है। 'भिक्षु वर्षीयसी' (बूढ़ी भिखारिन) कविता में वह लिखते हैं :

'पथ के किनारे तरु-तले
विश्राम करती है वृद्धा वह,
उसकी कराह क्षीण और क्लान्त है
और उसकी ओढ़नी मक्खियों से भरी।
भटकी हवा ने किया प्रश्न यह :
'यदि वह मर जाय, पाप किसे लगेगा ?'
कुत्ता चुपचाप हड्डी एक चूसता रहा,
गिरगिट ले दौड़ा एक नयी मक्खी का शिकार,
अन्धकार ने अपने पंख पसार लिये
और धूल भरे मग से एक उसाँस उठी।
उड़ कर जाती हुई मधु-सनी पंखुड़ी ने
कहा यह, 'मुझे कोई पाप नहीं लगेगा !'

बड़ी सशक्त और तेजस्वी व्यंजना है। उनके 'मारो प्रपंचम्' (दूसरा संसार) में एक श्रेष्ठतर समाज और जीवन के लिए अदम्य उत्साह है, जिसने तरुण समाज को चकित कर दिया।

'ओठों पर गान हो
और
पैरों में गति हो,
दिल में तूफ़ान हो
और
कंठों में गीत हो—
हरं हरं हरा

हरा हरा हरा हरा—
बढ़े चलो, बढ़े चलो,
बढ़े चलो, बढ़े चलो,
वहाँ, जहाँ अग्नि-किरीट की दमक है
वहाँ, जहाँ नगाड़ों की गड़गड़ाहट है
वह पुकारती है, पुकारती है,
बढ़े चलो, बढ़े चलो।'

श्रीनिवास राव के हृदय में काव्याभिव्यक्ति की पुरानी परिपाटियों के लिए कोई स्थान नहीं है। उनकी कई कविताएं वक्तृता-सी हैं और कुछ में सीधा-सीधा अनलंकृत वर्णन है :

'कोई भी इतिहास हम पढ़ें—
गर्व करने की क्या बात है उसमें ?
मानव का इतिहास
शोषण का इतिहास है;
मानव का इतिहास
और दमन की गाथा है
दैन्य. . . . .
चंगेज़ और तैमूर
नादिर और सिकन्दर
सभी तो लुटेरे थे !'

कविता की सहज करुणा में दबा हुआ आक्रोश है।

'श्री श्री' के उद्बोधन-काव्य की श्रेष्ठ रचना है 'जगन्नाथ के रथ-चक्र'—जो पथ में आने वाला सब कुछ कुचलते हुए चलते हैं :

'ओ उपेक्षितो !
ओ प्रपीड़ितो !
तुम जो शिकार हो
क्षुधा के काल-सर्प के !
देखो वह आ रहे हैं
रथ-चक्र, रथ-चक्र
आ रहे हैं
आ गये
रथ-चक्र जगन्नाथ के
घूर्णित रथ-चक्र जगन्नाथ के !'

पट्टाभि, अरुद्र वर्तमान काल के अत्याधुनिकों में से हैं। पट्टाभि सर्वथा शहराती शब्द-चित्र उपस्थित करते हैं, और तेलुगु में बँगला अन्त्यानुप्रासों का प्रयोग करते हैं। 'अजन्त' एक प्रकार की स्वयं-चालित विचार-परम्परा के द्वारा दलितों के प्रति पाठक की सहानुभूति खींचते हैं। अरुद्र एक विभिन्न किन्तु भावोत्तेजक प्रतीकवाद का सहारा लेकर क्लर्की की-सी चलती भाषा में सैकड़ों पंक्तियाँ लिख जाते हैं। वह अंग्रेज़ी, हिन्दुस्तानी और संस्कृत शब्दों की खिचड़ी का प्रयोग करके आज के पढ़े-लिखे आन्ध्र का सम्मिश्र प्रतिबिम्बन करने का समर्थ उद्योग करते हैं।

भविष्य के तेलुगु काव्य की प्रवृत्ति एक ओर श्रमिक के उद्बोधन और दूसरी ओर मन्थर किन्तु शक्तिशील अभि-व्यंजन की ओर जान पड़ती है। और पद्य का स्वाभाविक ह्रास हो रहा है।

(तेलुगु से)

जहाँ फ़रिश्ते अंडे बेचते हैं

नारायण सीताराम फडके

"लो आ तो गये," कर्नल ने, जो जीप चला रहा था, मुड़ कर मुझ से कहा, "आप तो बारामूला में उतरना चाहते हैं न ?"

"हाँ ।" कर्नल के धूप के चश्मे में मैंने अपने छोटे-से प्रतिबिम्ब को देखते हुए कहा, "मेरा इरादा है, कुछ दिन यहाँ बिता कर फिर उड़ी जाऊँगा ।" ज्योंही जीप रुकी, मैं उतरने की तैयारी करने लगा और पीछे बैठे हुए एक फ़ौजी ने मेरा सूटकेस ले लिया ।

"आपको तकलीफ़ तो नहीं हुई ?" कर्नल ने पूछा ।

"जी नहीं—क्या कहते हैं आप ! आपको बहुत बहुत धन्यवाद ।" मैं हँसा । "हम लोग श्रीनगर से साढ़े पाँच बजे चले और सवा छः बजे यहाँ पहुँच गये । पौन घंटे में बयालीस मील—बहुत अच्छी रफ़्तार रही ।"

"सब इस बढ़िया सड़क की मेहरबानी है । लीजिए, एक सिगरेट तो लीजिए—" कर्नल ने मुस्करा कर अपना सुनहरा सिगरेट केस मेरी ओर बढ़ा दिया ।

मैं सिगरेट सुलगाने ही वाला था कि मैंने एक नन्हीं आवाज़ सुनी, "कुछ उबले अंडे, हुज़ूर ?" मैं घूमा । जीप के पास सड़क पर एक लड़का खड़ा था और एक छोटे-से थैले में कुछ उबले अंडे लिये हुए, अपनी मुस्कराती नीलम आँखों से मुझे देख रहा था ।

"वाह दोस्त ! तो तुम पहुँच गये अपने अंडे लेकर, ऐं ? "कर्नल ने हँसते हुए लड़के से कहा और मेरी ओर घूम कर बोला, "आप जानते हैं, यह नन्हा लड़का कौन है ? जब आप बारामूला में ठहरने जा रहे हैं तो अच्छा है आप इससे जान-पहिचान कर लें । मेरा ख्याल है कि वह भी इसी शहर का रहनेवाला है । जब-जब मैं इधर से गुज़रा हूँ, हमेशा इसे और इसके भाई को अंडे बेचते हुए देखा है ।"

मैंने बात सुन कर लड़के की ओर देखा । बिल्कुल खपच्ची-सा लड़का था, अपनी उम्र के हिसाब से काफ़ी लम्बा—उम्र कोई चौदह बरस की होगी ; अनमिल घुटने और पतली-पतली कोहनियाँ, गुच्छा-गुच्छा लाल बाल और गम्भीर जिज्ञासु आँखें । मैं उसकी ओर देखता रहा और सोचता रहा कि आखिर उसके आकर्षण का आधार क्या है—उसकी आँखें या कि केवल उसकी आत्मविश्वास-भरी मुद्रा ?

"आज तुम्हारा भाई नहीं दीख रहा है ?" मैंने सुना कर्नल बच्चे से पूछ रहा था ।

"वह काम में लगा है हुज़ूर ।" बच्चे ने उससे कहा, "एक छप्पर छा रहा है जहाँ हम दूकान लगायेंगे ।"

"तुम लोगों की दूकान! आहा, तो अब तो पूरा रोज़गार चला रहे हो !" बच्चा झेंप-सा गया । "अच्छा, आज कितने अंडे बेचे ?" कर्नल ने पूछा ।

"आज तो बुरी कटी हुज़ूर ।" उसकी नीली आँखों में दर्द झलक आया, "जब पल्टन आती जाती है तो काफ़ी बिक्री हो जाती है । फ़ौजी लोग बड़े अच्छे हैं और इन अंडों को पसन्द भी करते हैं । आज कोई पल्टनवाले नहीं गुज़रे । देखिए, मेरा थैला अभी तक भरा है ।" उसने अपने पतले-दुबले गोरे हाथ उठा कर झोला कर्नल के सामने कर दिया ।

"अच्छा भई," कर्नल ने थैला लेते हुए कहा, "मैं तुम्हारा सारा माल लिये लेता हूँ । यह लो ।" उसने एक पाँच रुपये का नोट निकाल कर सामने कर दिया ।

लड़के ने नोट की ओर देखा और सिर हिला दिया । "नहीं हुज़ूर, मैं इतना नहीं ले सकता ।" उसका चेहरा बहुत गम्भीर हो गया । "इस में सिर्फ़ बाईस अंडे हैं ।"

"अच्छा तो बाईस अंडों का कितना हुआ ?"

"एक अंडे का तीन आना हुजूर। बस छाछठ आने से एक पाई ज्यादा नहीं ले सकता हुजूर। मैं कोई मँगता थोड़े ही हूँ।" उसकी वाणी में बहुत आत्मगौरव था।

"अच्छी बात, तुम नोट रखो और मेरे हिसाब में डाल दो।" कर्नल हँसा। "जब फिर इधर से जाऊँ तो और अंडे दे देना," और उसने नोट लड़के की मुट्ठी में भर दिया।

"यह लीजिए नमक-मिर्च हुजूर।" बच्चे ने मुट्ठीभर छोटी-छोटी पुड़ियाँ निकालीं।

"इनका कितना हुआ ?" कर्नल ने मुझे आँख मारते हुए पूछा।

"कुछ नहीं।"लड़का मुस्कराया, "ये अंडों के साथ मुफ़्त हैं, आपको तो मालूम है हुजूर।"

"हाँ, मुझे मालूम है।" कर्नल ने सब पुड़ियाँ बटोर लीं और मुड़ कर मुझ से बोला, "हरएक में पिसा हुआ नमक-मिर्च है। इससे अंडों में लज्जत आ जाती है। कितना होशियार सौदागर है यह लड़का!"

"हाँ, सो तो है।" मैंने जवाब दिया।

कर्नल ने कुछ अंडे पीछे बैठे हुए फ़ौजियों को दे दिये और मुझे भी कुछ लेने के लिए कहा। मैंने दो अंडे निकाल लिये और नीचे उतर गया।

"अच्छा, बाई—बाई!" कर्नल ने हाथ हिलाया और जीप चल पड़ी। क्षण भर में मैं और वह लड़का सड़क पर अकेले रह गये।

मैं सूटकेस उठाने ही वाला था कि लड़के ने आगे बढ़कर उसे उठा लिया और बोला, "अगर हुजूर की इजाजत हो तो मैं सूटकेस लेता चलूँ। हुजूर कहाँ ठहरेंगे ?"

"डाक बँगले में।" मैंने उससे कहा, " उन्हें मेरे आने की खबर है। वे इन्तज़ार कर रहे होंगे। चार बजे यहाँ आदमी भी भेजने की बात थी, मगर मैं श्रीनगर से ही काफ़ी देर में चला।"

मैंने सुदूर क्षितिज की ओर देखा जहाँ डूबता हुआ सूरज बादलों के गुच्छों पर सुनहली लालिमा और जाज्वल्यमान पीतिमा बिखेर रहा था। बादलों के पीछे यवनिका की भाँति शुभ्र हिम से आच्छादित उत्तुंग गिरि-शिखर और सामने प्रकाश-किरणों से जगमगाते हुए वृक्ष थे। कितना शोभाशाली है यह देश, मैंने सोचा; और उसके बाद मेरी निगाहें दूर, सड़क के दाहिनी ओर दीखने वाली छतों और मीनारों पर जा पड़ीं। मुझे याद आने लगी आज से छः महीने पूर्व की आक्रमणकारियों की बातें जो मैंने सुनी थीं। एक आह-सी निकल गयी, "क्या वही बारामूला है ?" मैंने उँगली दिखाते हुए पूछा।

"हाँ हुजूर।" लड़के ने मेरे सामने चलते हुए कहा। "क्या हुजूर बारामूला देखने आये हैं ? क्या हुजूर सैर के वास्ते आये हैं ?"

मैंने उसकी मोटी गन्दी कमीज़ के नीचे ढके हुए मज़बूत चौड़े कन्धों और खूबसूरत गर्दन की तथा धूल के भरी एड़ियों की ओर देखते हुए हामी भरी।

"हाँ, एक तरह से।" मैंने एक अंडा निकाल कर खाते हुए कहा, "हाँ, तुम्हारे अंडे बहुत अच्छे हैं।"

"ताज़े हैं, हुजूर। मेरी माँ इन्हें हर सुबह अंडेवाले के यहाँ से लाती है।"

"अच्छा तो तुम्हारे माँ है ? क्या वह बूढ़ी है ?"

"नहीं हुजूर। वह बहुत होशियार है—वह अंधी है फिर भी ताजा अंडा पहिचान लेती है।"

"ओह।" उसका दर्द न कुरेदने के ख्याल से बात बदलते हुए मैंने पूछा, "नाम क्या है ?"

"लोग मुझे सुभाना कहते हैं हुजूर।" उसने मुझे बताया। तभी डाकबँगले की सीढ़ियों पर खड़े चौकीदार को देखकर वह चिल्लाया, "अरे अहद्दू ! देख, हुजूर आ गये हैं।" चौकीदार यह सुनकर फ़ौरन हम लोगों की ओर लपका।

"हुजूर, माफ़ करें।" उसने सुभाना के हाथ से सूटकेस लेते हुए कहा, "एक घंटे तक मैंने अड्डे पर इन्तज़ार किया। हम लोगों ने सोचा, हुजूर आज नहीं आवेंगे। हुजूर हमें माफ़ करें।"

"कोई बात नहीं," मैंने उसकी क्षमा-याचना की बाढ़ को रोकने के लिए कहा।

हम लोग सीढ़ियाँ चढ़ने लगे तो सुभाना ने बन्दगी करते हुए पूछा, "अब मैं जाऊँ हुजूर ?"

"हाँ सुभाना," मैंने कहा। "और तुम्हारा बहुत-बहुत शुक्रिया कि—" उसने दुबारा सलाम किया और मुस्कराता

हुआ घूम कर चला गया। दो-चार क़दम चलने के बाद वह तेज़ी से दौड़ने लगा। उसकी चाल मुझे पसन्द आयी—उसमें हरिण की सी फुर्ती थी।

मैं दूसरे दिन तड़के ही उठा। मैं चाहता था कि शहर की गलियों और सड़कों पर घूम-घूम कर स्वयं लूट-खसोट के निशान देखूं। देखूं कि छः महीने पहले श्रीनगर पर क़ब्ज़ा करने की आशा में उत्तर-पश्चिमी सीमान्त से आये हुए लुटेरों ने बारामूला को कितना तबाह किया है। नाश्ता करके मैं बरामदे में खड़ा सिगरेट पी रहा था और सोच रहा था कि क्या मैं अहद्रू को अपने साथ चलने के लिए कहूँ। तभी मैंने दो लड़कों को बँगले की ओर आते हुए देखा। सुभाना को मैंने आसानी से पहिचान लिया। लड़के सीढ़ियों के क़रीब आये और सलाम करके खड़े हो गये।

"सलाम, सुभाना। कहो?"

"यह मेरा भाई है हुज़ूर," सुभाना ने अपने साथी का परिचय देते हुए कहा।

"तुम फिर अंडे लेकर आये हो?" मैंने उसे चिढ़ाते हुए पूछा।

वह मेरा मज़ाक समझ कर हँस पड़ा और बोला, "हम लोग सिर्फ़ सड़क पर गुज़रने वाले मुसाफ़िरों को अंडे बेचते हैं हुज़ूर।"

"तो क्या बेचना चाहते हो?"

"कुछ नहीं हुज़ूर! मैंने सोचा, शायद आपको अपने जूतों पर पालिश वग़ैरह कराना हो और भाई भी आपको देखना चाहता था।"

"ओहो! यह पहला ही अवसर है जब कोई मुझे देखने आया," मैंने हँसते हुए कहा और अहद्रू को आवाज़ दी कि वह मेरे सब जूते ले आये और इन दोनों लड़कों को दे दे।

वे अहाते में बैठ गये और बड़े उत्साह से अपना काम करने लगे।

"सुभाना, तुम्हारे भाई का नाम क्या है?" मैंने कुछ बात चीत चलाने की ग़रज़ से पूछा।

"मैं इसे भाई कहता हूँ, हुज़ूर।" सुभाना ने बिना मेरी ओर देखे हुए ही कहा।

"तुम लोग मोची तो नहीं हो—"

"नहीं, हुज़ूर, हरगिज़ नहीं।" उसने ज़ोरों से प्रतिवाद किया। "मैं बाग़वान का लड़का हूँ। हम लोग जूतों पर पालिश इसी लिए करते हैं कि इससे कुछ आमदनी हो जाती है। माँ कहती है कि ईमान की मेहनत और कमाई अच्छी होती है।"

"ठीक तो है।" मैं उन दोनों लड़कों की ओर देखता रहा जो सच्चाई से परिश्रम करने का सिद्धान्त जानते हैं।

उन्होंने काम समाप्त करके चमचमाते हुए जूते बरामदे में एक क़तार में रख दिये। मैंने सुभाना की ओर एक नोट बढ़ा दिया।

"हुज़ूर के पास रेजगारी नहीं है क्या?" सुभाना ने पूछा।

"तुम्हें रेजगारी से क्या मतलब? मैं तुम्हें यह नोट दे रहा हूँ।"

"लेकिन हम इसे कैसे ले सकते हैं?" उसने कहा। "जिस पैसे के लिए हमने काम नहीं किया है उसे कैसे लेंगे? हम लोगों को पैसे की तंगी है—कितनी तंगी है, आप को क्या बतायें, लेकिन मुफ़्त का पैसा हम नहीं लेते। कमाई का पैसा चाहते हैं।"

मैंने कन्धे से कन्धा मिला कर धूप में खड़े हुए उन दोनों लड़कों की ओर देखा। एक के बाल लाल थे, आँखें नीली, और दूसरे के बाल पीले और आँखें काली थी। उनके चेहरे बच्चों के थे मगर उन पर एक अजीब गम्भीरता थी।

"अच्छी बात है। अगर मैं तुम से इस नोट भर का काम ले लूँ तब तो इसे ले लोगे?" मैंने पूछा।

"ज़रूर-ज़रूर, हुज़ूर। हमें कोई भी काम दीजिए, हम खुशी से करेंगे।"

"अच्छा, आओ, हमारे साथ शहर चलो और हमें शहर दिखाओ। यह काम तो पसन्द करोगे न?"

"ज़रूर हुज़ूर, इससे अच्छी क्या बात हो सकती है।"

"तब तो बहुत अच्छा है।" मैंने भीतर जाकर कपड़े बदले और फिर बाहर आकर कहा "लो, चलो अब।"

मुझे यह कतई ख्याल न था कि वे लोग इतना अच्छा पथप्रदर्शन कर सकते हैं। वे शहर की चप्पा-चप्पा ज़मीन से

फलक ५८

परिचित थे। आक्रमणकारियों के अत्याचार के छोटे-से दाग़ का भी पूरा इतिहास वह जानते थे। यह एक मसजिद है जिसका एक हिस्सा भस्म हो गया—यह एक मन्दिर जिसे लूट कर तोड़-फोड़ दिया गया. .ये सबसे अमीर मुसलमान ज़मींदार के घर के खँडहर हैं, जिसे कबालियों ने क़त्ल कर दिया और जिसकी बहू-बेटियाँ इज्ज़त बचाने के लिए झेलम में डूब कर मर गयीं। . .यह वह चौक है जहाँ आक्रमणकारियों का संगठित विरोध करने वाले मक़बूल शेरवानी को सलीब पर टाँग कर उसके बदन में कीलें ठोंक दी गयी थीं। बाज़ार, स्कूल और अस्पताल को आक्रमणकारियों ने बिल्कुल तहस-नहस कर डाला था। औरतों को सड़क पर घसीट लाया गया था और अनाज की खत्तियों और पुआल की ढेरियों में आग लगा दी गयी थी। . . गायें, भेड़ें और घोड़े भी उस आग में स्वाहा हो गये। . . लेकिन सुभाना और उसके भाई ने मुझे तसवीर का उजला पहलू भी दिखलाया। उन्होंने बताया कि किस तरह आक्रमणकारी श्रीनगर के दरवाज़े तक पहुँच गये थे लेकिन भारतीय सेना ने समय पर आकर उन्हें ऐसा खदेड़ा कि वे उड़ी के पहाड़ों के पार भाग गये और कश्मीर बच गया। बारामूला के निवासियों ने फिर अपने मकान, दूकान और मन्दिर-मसजिदों की मरम्मत करनी शुरू कर दी। हर आदमी अपने पड़ोसी की मदद करता था, एक साथी के तौर पर। आक्रमणकारी सब कुछ लूट ले गये थे, लेकिन लोगों को एक नयी सम्पत्ति दे गये थे—संगठन और एकता की भावना। उनके मकान जला दिये गये थे, लेकिन आग लगाने वालों ने उनके दिलों में उम्मीद और आत्मविश्वास की ज्योति जला दी थी। "अब की साल फिर आइए, हुज़ूर। तब आप को यक़ीन भी न होगा कि हमारे शहर पर कभी हमला भी हुआ था। हम लोग इसको फिर पहिले जैसा ही खूबसूरत बना देंगे। " कश्मीर के बारे में किताबों से जितना कुछ जाना जाता उससे कहीं ज़्यादा मैं इन दोनों लड़कों से जान गया। मैं सुभाना को एक नोट और देना चाहता था, लेकिन मैं जानता था कि इससे उसके स्वाभिमान को चोट पहुँचेगी, जो मुझे वांछित नहीं था। इसलिए डाकबँगले पहुँच कर उसे और उसके भाई को शुक्रिया देकर ही मैंने सन्तोष किया।

"हुज़ूर को अपने गाइड कैसे लगे ?" अहदू ने लंच परोसते हुए कहा।

"मैंने तो भाइयों का इतना अच्छा जोड़ा नहीं देखा।" मैं बोला, "क्या ये लोग जुड़वाँ हैं अहदू ? मुझे तो ऐसा ही लगता है।"

"नहीं हुज़ूर, ये लोग जुड़वाँ नहीं हैं। सच पूछिए तो ये लोग भाई भी नहीं हैं, हालाँकि हरएक से ये लोग यही ज़ाहिर करते हैं, और सुभाना दूसरे लड़के को भाई कहता भी है।"

मैंने आश्चर्य और अविश्वास से सर हिलाया।

"हुज़ूर को यक़ीन नहीं होता," अहदू ने कहा। "मैं इन्हें तब से जानता हूँ जब ये घुटनों चलते थे। जिस लड़के को सुभाना भाई कहता है, वह हिन्दू है। उसका नाम काशीनाथ है। उसका बाप जंगलात का अफ़सर था। हमलावरों ने उसे मार डाला और उसका घर जला दिया। जब काशीनाथ यतीम हो गया तो सुभाना की माँ ने उसे अपने कुनबे में शामिल कर लिया। भूख और बर्बादी क्या चीज़ होती है, वह अच्छी तरह जानती थी। हमलावरों ने उसका भी घर और दूकान जला डाली थी। लेकिन वह एक दिलेर औरत थी। उसने अपने बड़े लड़के को होमगार्ड में भर्ती करा दिया; वह अब उड़ी के मोर्चे पर है और ये दोनों बच्चे काम करते हैं और घर चलाते हैं। इन लोगों ने तो थोड़ा-सा रुपया बचा लिया है, एक छोटा-सा छप्पर छा लिया है जहाँ ये लोग एक दूकान लगाने की सोच रहे हैं।"

"खुदा उनका भला करे," मैंने कहा, "लेकिन ताज्जुब है, सुभाना ने अपनी मुसीबत की बात बिल्कुल ही नहीं बतायी।"

"वह बड़ा आत्माभिमानी लड़का है, अपनी मुसीबत की बात कहना पसन्द नहीं करता।"

"लेकिन काशीनाथ के पिता के बारे में भी उसने कुछ नहीं बताया।" मैंने कहा।

"वह दुनियाँ को यही यक़ीन दिलाना चाहता है कि काशीनाथ सचमुच ही उसका भाई है। आप जानते हैं, उसकी माँ लोगों से क्या कहती है ? वह कहती है कि उसके दो बच्चे नहीं, तीन बच्चे हैं।"

इसके बाद अहदू और दुनिया भर की बातें करता रहा, लेकिन मेरा दिमाग़ सुभाना और उसकी अंधी माँ के ख़्याल में डूबा हुआ था। खाने के बाद जब मैं बिस्तर पर आराम कर रहा था तो मुझे यह अफ़सोस हो रहा था कि चन्द घंटों बाद मैं बारामूला से चल दूँगा और दोनों लड़कों को फिर न देख सकूँगा। इसलिए जब अहदू ने आकर खबर दी कि मुझे उड़ी ले जाने वाली फ़ौजी मोटर अड्डे पर आ गयी और मैं जाने के लिए तैयार होकर बरामदे में निकला तो उन दोनों को डाकबँगले की सीढ़ी पर खड़े देख कर मुझे थोड़ा ताज्जुब भी हुआ और खुशी भी।

"कहो सुभाना," मैंने मुस्करा कर उससे कहा, "देख रहे हो, मैं तो अब उड़ी जा रहा हूँ ।"

"हाँ हुजूर," सुभाना बोला, "हमें मालूम था । आपने सुबह ही बताया था । इसीलिए तो हम आये हैं ।"

"अच्छा तो तुम बिदाई देने आये हो !"

"हाँ, हुजूर," सुभाना ने कहा । फिर कुछ हिचकते हुए बोला, "क्या हुजूर थोड़ी तकलीफ़ उठायेंगे हमारे लिए.. बल्कि हमारी माँ के लिए ।"

'खुशी से, सुभाना । बताओ, तुम्हारी माँ के लिए क्या कर सकता हूँ ?"

'उसने कुछ नाश्तापानी तैयार किया है, हमारे भाई उस्मान के लिए, जो उड़ी में है ।" उसने अपने हाथ के एक छोटे-से टीन के डब्बे को ऊपर उठाते हुए कहा, "क्या हुजूर इसे हमारे भाई को दे देंगे ? वह वहाँ होमगार्ड में है ।"

मैंने डिब्बा उसके हाथ से ले लिया । " तुम्हें अपने भाई से कुछ कहलाना तो नहीं है ?"

"कोई खास बात नहीं हुजूर ।" सुभाना ने कहा, "अगर कहीं से बाईसिकिल मिल गयी तो अगले हफ़्ते में खुद उसे आकर देखने की सोच रहा हूँ । लेकिन हुजूर, उससे इतना कह सकते हैं कि हम लोगों का काम ठीक से चल रहा है और माँ भी ठीक है, और हम लोगों का छोटा-सा छप्पर लगभग पूरा हो गया है । सेब और दूसरा सामान खरीदने लायक़ रुपया इकट्ठा होते ही हम लोग दूकान चालू कर देंगे ।" लेकिन फिर जल्दी से उसने अपनी बात सुधारी, "या नहीं, यह आखिरी बात हुजूर उस्मान से न कहें । वह कहीं यह सोच कर कि रुपये की जरूरत है, परेशान न होने लगे । हम खुद ही इन्तज़ाम कर लेंगे । थोड़े दिन लगेंगे, लेकिन कोई बात नहीं । हुजूर, उस्मान से सिर्फ़ इतना कह दें कि हम लोग राजी-खुशी हैं और छप्पर क़रीब-क़रीब तैयार है ।"

"एक दूकान चालू करने में कितना लगेगा, सुभाना ? " मैंने पूछा ।

"कम से कम तीस रुपये, हुजूर," सुभाना ने कहा,"इतना इकट्ठा करने में कुछ वक़्त लगेगा, लेकिन वह हम लोग कर लेंगे ।"

"जरूर कर लोगे, सुभाना," मैंने झुक कर दोनों की पीठ ठोंकी । अहद्द को बँगले की तरफ़ दौड़ कर आते हुए देख कर मैंने कहा, "अच्छा बच्चो, मेरा ख्याल है कि मोटर आ गयी है, और अब मुझे चलना चाहिए । अच्छा अलविदा । खुदा हाफ़िज़ ।"

उन्होंने सलाम किया, और मेरा सामान उठाकर आगे-आगे दौड़ गये । जब मैं मोटर में बैठ गया और हाथ हिलाने लगा तो सुभाना मेरे बहुत क़रीब आकर धीरे से बोला, "हुजूर, उस्मान से रुपये के बारे में कुछ न कहें ।"

दूसरे क्षण मोटर चल दी ।

* * * *

उड़ी में पहुँच कर दूसरे दिन मैंने, उड़ी के स्पेशल एमर्जेन्सी अफ़सर से मिल कर, उस्मान का पता लिया । "क्या मैं उस लड़के से मिल नहीं सकता हूँ ?" मैंने पूछा ।

उसने अपना सिर हिलाया और ओठ काट लिये । "मुझे सख्त अफ़सोस है, " उसने धीमे से कहा, "पर.."

"क्यों, क्या मिलने का क़ायदा नहीं है, या और कोई बात है ?"

"नहीं, क़ायदेखिलाफ़ी की कोई बात नहीं । बल्कि आप तो होमगार्ड के सभी जवानों से मिलेंगे, और खुद देखेंगे कि ये किस कंडे के जवान हैं और हिन्दुस्तानी फ़ौज को कैसी मदद पहुँचा रहे हैं ।"

"तब फिर उस्मान से क्यों नहीं मिल सकता ?"

"क्योंकि.." उसका स्वर काँप गया, "क्योंकि..अब वह हम लोगों के बीच में नहीं रहा । खबर आयी है कि कल शाम को उसका इन्तकाल हो गया ।"

"इन्तकाल हो गया !" मैं बिल्कुल अविश्वास के स्वर में चीख उठा, "क्या कहते हैं आप ?"

"विश्वास तो नहीं होता, लेकिन बात सच है ।" अफ़सर ने बताया कि कैसे उस्मान ने वीरगति पायी । वह पहाड़ियों के एक खतरनाक दर्रे से फ़ौज के लिए रसद और सामान पहुँचाने की कोशिश कर रहा था कि घात से दुश्मन की गोली भन्नाती हुई आयी और कलेजा छेद कर निकल गयी..

मैं सन्न रह गया। सिर की नसों का स्पन्दन मुझे सुनाई पड़ने लगा; मैंने दोनों हाथों से सिर दाब लिया।

"बड़ा बाँका जवान था उस्मान।" अफ़सर बोला,"आप जानते थे उसे ?"

याद नहीं, मैंने उसे कुछ जवाब दिया था नहीं।

उसी शाम को मैं उड़ी से चल पड़ा। मैं यह सोच कर ही सिहर उठता था कि मेरी जीप बारामूला पर रुकेगी और सुभाना और उसका भाई वहाँ खड़े होंगे। वे दौड़ते हुए आयेंगे और उस्मान के बारे में पूछेंगे—मैं उनसे क्या कहूँगा ? मैंने कर्नल से कहा कि बारामूला पर न रुके, पर उधर से आने-जाने वाली हर मोटर को संतरी चेक करता था और रुकना अनिवार्य था। हाँ, इतना हो सकेगा कि वहाँ कम से कम वक़्त लगे। मैं ईश्वर को मनाता रहा कि जब हम बारामूला पहुँचें तो किसी तरह वे लड़के वहाँ मौजूद न हों, लेकिन ईश्वर ने इतनी दया नहीं दिखायी। दूर से ही शाम के धुँधलके में सड़क पर खड़े दोनों लड़कों की शक्ल दीख पड़ रही थी। और ज्यों ही जीप रुकी, वे दौड़े और मुझे देखते ही खुशी से उछल पड़े, "हुज़ूर और एक दिन रहेंगे क्या ?" सुभाना ने पूछा।

"नहीं सुभाना, चाहता तो बहुत हूँ पर ठहर नहीं सकूँगा; आज ही रात को श्रीनगर पहुँचना है।"

"हुज़ूर ने उस्मान को डब्बा दे दिया ?"

मैं सिर्फ़ सिर हिला कर मुस्करा दिया।

"हुज़ूर ने उससे माँ की राज़ी-खुशी कह दी ?"

मैंने फिर सिर हिला दिया। मुस्कान क़ायम रखना मुश्किल था।

"उस्मान अच्छी तरह है हुज़ूर ?"

"मैं समझता हूँ अच्छी तरह है, सुभाना !" दोनों लड़कों का चेहरा खुशी से दमक उठा।

कर्नल ने ब्रेक खोले, और जीप चल पड़ी।

"सुभाना, यहाँ आओ।" मैंने पुकारा। जब वह पास आ गया तो मैंने उसके हाथ में दस-दस रुपये के तीन नोट रख दिये। "उस्मान ने यह रुपया दिया है।" मैंने उसके गाल थपथपा कर कहा।

"लेकिन हुज़ूर, मैंने तो उस्मान से कहने के लिए मना किया था।"सुभाना ने विरोध किया, लेकिन जीप तुरन्त आगे बढ़ गयी।

मैं हफ़्ताभर श्रीनगर में रहा, फिर मुझे एक दिन के लिए दुबारा उड़ी जाना पड़ा। मुझे निश्चय था कि इस बीच सुभाना और उसकी माँ को उस्मान की मृत्यु की खबर मिल गयी होगी। मैं सुभाना से अब नहीं मिलना चाहता था। मैं नहीं चाहता था कि उन दोनों बच्चों के सुन्दर चेहरों को असह्य दुःख से मुरझाया हुआ देखूँ..लेकिन फिर भी दिल की किसी गहरी तह में उन्हें देखने की इच्छा थी, उन दोनों छोटे-छोटे फ़रिश्तों के चेहरे जो जनता की एकता के प्रतीक थे, उस साहस के प्रतीक जिससे ध्वस्त नगरों का पुनर्निर्माण हो रहा था, उन घरों की मरम्मत हो रही थी जिन्हें दुश्मन ने खंड-हर बना दिया था।..

* * *

अब जब मैं कश्मीर की याद करता हूँ, तब विभिन्न मोर्चों पर भारतीय सेना द्वारा किये गये दुस्तर कार्यों या शेख अब्दुल्ला और दूसरे नेताओं के भाषण के लिए एकत्रित विराट् जनसमूहों की उतनी याद नहीं आती; मेरे सामने एक तसवीर आती है सुभाना और उसके भाई की, जो उबले अंडे बेच कर अपनी अन्धी माँ की मदद कर रहे हैं, नयी दुकान के लिए एक नया छप्पर उठा रहे हैं।....मैं उन्हें डाकबँगले के सामने धूप में बैठ कर मेरे जूतों पर पालिश करते हुए देखता हूँ। मुझे सुनाई पड़ते हैं उनके शब्द, "'फिर बारामूला आइएगा, हुज़ूर।" और आँखों के सामने तैरती हुई दोनों बच्चों की तसवीर देखते हुए मैं अपने से कहता हूँ, यह एक नया कश्मीर पैदा हो रहा है और दुनिया की कोई ताक़त नहीं जो उससे उसका गौरव और आज़ादी छीन सके।

(मराठी से)

केरल की आत्मा

के० भास्करन नायर

"हाय, यहाँ तक बात आ गयी ! उफ़्—काल कितना बदल गया ! इस जाति में आँसू-भरी आँख पहली बार देख रही हूँ । उसे गिरने से पहले पोंछ डाल । ऐसा न कर कि धरती भी तुझसे घृणा करे !"

मलयालम के उपन्यासकार-शिरोमणि स्वर्गीय रामन पिल्लय ने अपने एक प्रसिद्ध उपन्यास में इन शब्दों में एक नानी के द्वारा रोती हुई लड़की की भर्त्सना करवायी है । वृद्धा बहुत वर्षों के प्रवास में अपने सब आत्मीय प्रिय जनों को खोकर और दुर्भाग्य की मार सहकर अपनी जन्मभूमि को लौटी है । उसके इन वाक्यों में केरल-जनों का जीवन के प्रति युगों-युगों से जो दृष्टिकोण है वह व्यक्त हुआ है । यह मनोवृत्ति कदाचित् केरल के विशेष जलवायु, दृश्यावली और इतिहास के प्रभाव का फल हो । दन्तकथा में ऐसा माना गया है कि पश्चिमी घाटों के नीचे का यह छोटा-सा भू-खण्ड परशु-राम ने समुद्र से निकाला था । यह स्पष्ट है कि यह दन्तकथा, जो इस वैज्ञानिक युग में भी इतनी बार दुहरायी जाती है, उसमें यदि कोई अर्थ है तो केवल प्रतीकात्मक अर्थ ही है । परम तेजस्वी जामदग्न्य, जो कि पुराणों के क्षितिज पर प्रलय के बादल-सा छाया हुआ है, स्वयमेव एक अद्भुत व्यक्तित्व है, जिसमें कि तपस्वी और योद्धा के गुण सम्मिलित हैं । यह ब्राह्मण, जिसने अट्ठारह बार क्षत्रियों का संहार किया, ऐसा धन्यभाग है कि जीवन्मुक्त भी है । वह एक ओर संसार के भयानक संघर्ष में निरत है, दूसरी ओर वह उस परम शान्ति को भी प्राप्त कर सका है जो कि मनुष्य का ध्येय है । केरल के इतिहास से स्पष्ट है कि उसमें उस महर्षि की ज्वलन्त आत्मा के स्फुलिंग बिखरे हुए हैं, जो पृथ्वी को रणक्षेत्र और जीवन को एक अन्तहीन संग्राम मानकर चिर-युद्ध-तत्पर खड़ा है । केरल के इतिहास में भी आँधी-तूफ़ान का क्रोध वैसे ही परिव्याप्त है जैसे उसके वातावरण में । इस देश के लोग, जिन्होंने सब चीज़ों से बढ़ कर पौरुष को महत्त्व दिया, एक ऐसी परम्परा में पले हैं कि वे आत्मा की कोमलतर प्रवृत्तियों को कमज़ोरी समझते हैं । उनके चेहरों पर ऐसे संघर्ष की छाप रहती है जिससे जान पड़ता है कि वे निरन्तर अपने दुःखों को और आत्मा को दुर्बल बनाने वाली भावनाओं को दबाने में लगे हैं । आँसुओं से घृणा उनमें जन्मजात है । इस प्रदेश के परिवारों में, जहाँ कि मातृसत्ताक समाज-पद्धति चलती थी, बच्चों को लाड़-प्यार करना या प्रेम-प्रदर्शन करना अच्छा नहीं माना जाता था । यहाँ पर बच्चों को ऐसे मामा सँभालते और बड़ा करते थे जो सदा डाँटते-डपटते, रोकते-टोकते रहते और सदा अपना रोब बनाये रखते थे । वह भयानक देवी, भद्रकाली सब जगह इतनी अधिक पूजी जाती थी कि उसे इस प्रदेश की अधिष्ठात्री देवी कह सकते हैं । आज भी काली के मन्दिर केरल के हर कोने में देखे जा सकते हैं । यद्यपि ये मन्दिर प्रायः भग्नावशेष जैसे हैं, फिर भी वे एक ऐसी मूक, भयानक नीरवता से ढँके पड़े हैं मानो उनकी क्रोधज्वाला अभी तक शमित न हुई हो ।

इस बात पर दो मत हो सकते हैं कि जीवन के प्रति ऐसा दृष्टिकोण श्रेयस्कर है अथवा नहीं । यह तो सदैव युद्ध और संघर्ष में डूबे हुए लोगों का दृष्टिकोण है । कोई महान् सभ्यता और संस्कृति ऐसी स्थितियों में कैसे जन्म ले सकती है ? इस प्रकार तो मन की मौलिकता और आत्मा की रचनाशीलता नष्ट हो जाती है; कोमल भावनाएँ और सौन्दर्य के स्वप्न इस मनोवृत्ति को सहन नहीं होते । परन्तु केरल की भूमि में इसी जीवन-दृष्टि ने एक विशिष्ट संस्कृति को जन्म दिया है । कला और शिक्षा, कृषि और गृह-शिल्प तथा शासन का सुप्रबन्ध सर्वदा केरल की जनता का गौरव रहा है । सांस्कृतिक सफलता के विषय में वे भरतखंड के निवासियों में सबसे आगे रहे हैं । कई निरीक्षकों के लिए यह एक रहस्यमयी बात रही है; क्योंकि इस अशान्त और निरन्तर संघर्ष-रत प्रान्त का जन-जीवन सर्वदा कठोरता से भरा रहा है । फिर भी इन सब स्पष्ट विशे-षताओं के होते हुए भी केरलवासी शान्ति और सौन्दर्य के स्वप्न देख सके हैं और अपने स्वप्नों को यथार्थता दे सके हैं । निस्सन्देह, इसमें परस्पर-विरोध जान पड़ेगा; परन्तु उनकी आत्मा के अन्तराल में ये सब विरोध न जाने कैसे अज्ञात रहस्य-मय रूप से संश्लिष्ट हो जाते हैं । विरोधी प्रवृत्तियों के माध्यम बन कर भी अविचलित रहने की उनकी क्षमता सचमुच

फलक ४६

फलक ५०
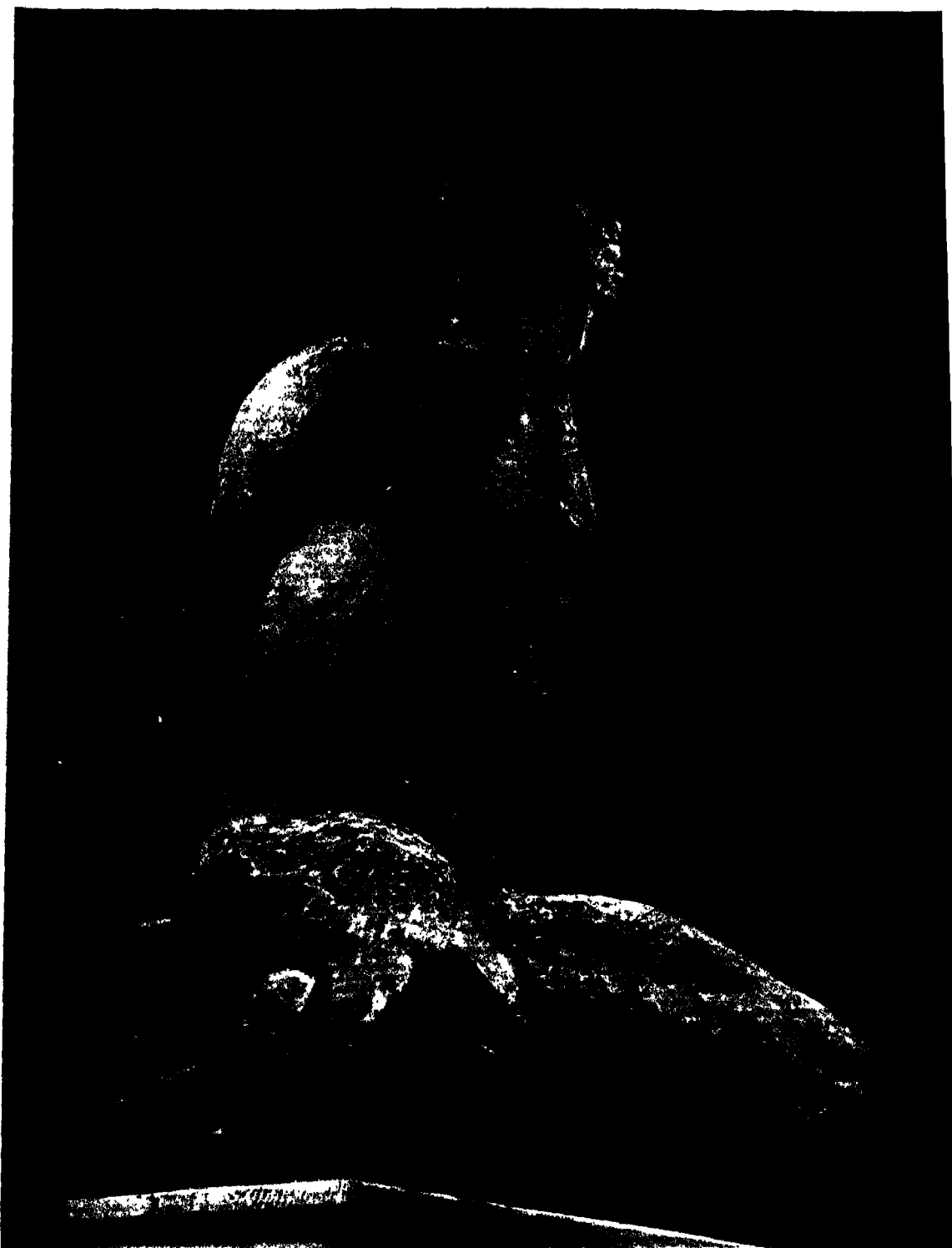
आश्चर्य में डाल देने वाली है। शंकराचार्य महान् ने संन्यास लिया और संसार तज दिया परन्तु वे किसी अरण्य-गुहा में रहने नहीं गये। वे एक नवीन दर्शन, एक नवीन विचार के उद्गाता और प्रेषित बने और भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक उन्होंने भ्रमण किया। यद्यपि उनकी सीख यह थी कि मनुष्य का ध्येय है ब्रह्म, निर्वाण-प्राप्ति और संसार तथा उसकी उपाधियों से आत्मा की मुक्ति, और यह ध्येय प्राप्त हो सकता है इहामुत्रफलभोगविराग और मुमुक्षुत्व से; फिर भी उन्होंने निस्संकोच इतिहास का सबसे आश्चर्यजनक शास्त्रार्थ-साहस किया, और फिर माता की मृत्यु होने पर घर लौट कर विधिवत् माँ का अन्तिम संस्कार करने में भी उन्हें कोई झिझक या बाधा नहीं हुई; क्योंकि "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"! भारत में उनकी भाँति और भी मनीषी सन्त हुए हैं, पर उनके उपदेश मुख्यतः उनके शिष्यों और अनुयायियों ने ही फैलाये हैं। भारत के इतिहास पर जिन विचारों और मत-प्रणालियों का प्रभाव पड़ा है, उन में दो-दो व्यक्तियों का ऐसा दैवी संयोग सदा दिखाई देता है, जिसे हम नर-नारायण युति कह सकते हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गान्धी और जवाहरलाल नेहरू, इस प्रकार के संयोग के अद्यतन उदाहरण हैं। किन्तु अद्वैत के शंकर स्वयं ही गुरु और शिष्य, प्रवर्तक और प्रचारक दोनों थे। उनमें नर और नारायण दोनों के गुण सन्निहित थे। केरल के काल्पनिक संस्थापक परशुराम भी इसी प्रकार स्वतःप्रमाण थे। इन पृथक् गुणों को एकत्र करने की क्षमता के कारण ही उनके कभी मर्मी और कभी योद्धा के रूप में प्रकट होने में कोई विरोध नहीं दिखाई देता।

केरल के जीवन और इतिहास में से अगणित उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे उनकी विरोधी तत्त्वों के समन्वय की इस अद्भुत क्षमता का परिचय मिलता है। यह पहले कहा ही जा चुका है कि इस देश के लोग, जो कि पौरुष को उच्चतम आदर्श मानते थे, प्रायः निरपवाद रूप से काली के उपासक थे। और भी कुछ उदाहरण देखिये। केरल के वैद्य अपने रोगियों के शरीर को नरम और कोमल बनाने के लिए तरह तरह के ओषधि-युक्त तेल लगाते हैं, पर फिर उसी शरीर को पैर से ऐसे रगड़ते और मालिश करते हैं कि जिसमें कोई सुकोमलता या मार्दव नहीं दिखाई देता। यहाँ के काली के मन्दिरों में देवी की पूजा फूल-फल-मिष्टान्न से नहीं बल्कि उत्तान कामवासना से भरे छन्दों से होती है; और पूजकों में बहुधा अच्छे विद्वान् और कुलीन लोग होते हैं। "कथकलि" में, जो कि केरल की विश्वकला को अमूल्य देन है और जो नृत्य और नाट्य में श्रेष्ठ मानी जाती है, प्रायः वे सब बातें होती हैं जो मंच पर सर्वत्र निषिद्ध मानी गयी हैं, यथा नर-हत्या, मुष्टि-युद्ध, मारपीट और चीखना-चिल्लाना। केरल के इतिहास में भी ऐसे कई प्रसंग घटित हुए हैं जिनमें इसी प्रकार का परस्पर-विरोध और असंगति मिलती है। आधुनिक तिरुवंकूर (त्रावनकोर) राज्य के संस्थापक मार्तंड वर्मा ने आजीवन युद्ध करके राज्य-स्थापना की और अन्त में अपना खड्ग और सारा राज्य इष्ट देवता श्री पद्मनाभ को अर्पित कर दिया। यह महान् घटना दो शती पूर्व की है। तब से तिरुवंकूर के महाराजाओं ने "श्री पद्मनाभ-दास" होकर ही अब तक राज्य चलाया है। यह कोई नहीं कह सकता है कि यह समर्पण और उसके बाद की यह प्रथा किसी को खुश करने या किसी को धोखा देने के लिए की गयी। तिरुवंकूर के राजवंश को ऐसे किसी बहाने की आवश्यकता नहीं थी, यदि इसे बहाना मात्र कहा जाय। उनका राजत्व सर्वथा नियम-सम्मत था और उनके अधिकार निर्बाध। अतः यह स्वीकार करना ही होगा कि वीर नृपति मार्तंड वर्मा का यह महान् समर्पण उनकी धार्मिकता और श्रद्धा का, और हिन्दू-राजादर्श के प्रति आस्था का सहज प्रकटीकरण ही था। उन्होंने और उनके यशस्वी वंशजों ने इसी आदर्श पर चलते हुए निष्ठापूर्वक हिन्दू संस्कृति की रक्षा और सेवा की। उत्तरी केरल पर शतियों से शासन करने वाले कालीकट के ज़ामोरिन भी अपनी हिन्दू-धर्म-श्रद्धा के लिए प्रसिद्ध रहे। फिर भी यह केरल, जहाँ कि हिन्दू-धर्म राजधर्म रहा, केवल हिन्दुओं द्वारा आवासित नहीं। दक्षिणी केरल में ईसाई और उत्तरी केरल में मुस्लिम बड़ी संख्या में रहते हैं। ईसाई धर्म को तिरुवंकूर में जितना स्थान मिला उसका एक अंश भी भारत के उन भागों में न मिला जो कि सीधे ब्रितानी ईसाई शासन के अधीन थे, जिसके राजा की एक उपाधि 'ईसाई-धर्मरक्षक' (डिफ़ेंडर ऑफ़ द फ़ेथ) भी है। प्रायः यही बात इस्लाम के बारे में भी कही जा सकती है। भारत के जो भू-खंड मुग़लों के आधिपत्य में थे, उनसे ज़ामोरिनों के प्रदेश की तुलना करने पर हम भी उसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे। कुलशेखर और मानविक्रम नामक प्रसिद्ध राजवंशों द्वारा शासित केरल के ये दोनों हिन्दू राज, जिस समय चारों ओर से हिन्दू धर्म आक्रान्त हो रहा था, एक ओर दृढ़तापूर्वक उस धर्म की श्रेष्ठ परम्पराओं का रक्षण और प्रतिपालन करते रहे और दूसरी ओर अन्य ऐसे धर्मों को न केवल सहते रहे बल्कि पोसते भी रहे जो कि स्वभावतः धर्मों की समानता

को अस्वीकार करते हैं। यह आश्चर्यजनक औदार्य और यह सर्व-धर्म-समभाव केवल केरल की अद्भुत सभ्यता के प्रकाश में ही समझा जा सकता है।

केरल की इस सभ्यता में जहाँ असमवायी तत्त्वों के समवाय की क्षमता है वहाँ उसकी एक बड़ी मर्यादा यह है कि उस में ऐसी किसी वस्तु के लिए ज़रा भी स्थान नहीं है जो किसी भी प्रकार, अप्रत्यक्ष रूप से ही क्यों न हो, उसके पौरुष के आदर्श से न्यून पड़ती हो। ऐसे तत्त्वों को वह अपने में नहीं मिला पाती, और जो चाहे स्वीकार कर ले। यही इस सभ्यता के विस्मयजनक तेज का रहस्य है जो सदियों के ऐतिहासिक उत्थान-पतनों के बावजूद क्षीण नहीं हुआ। आजकल अवश्य यह आशंका होने लगी है कि क्या यह महत्त्वपूर्ण तथ्य उपेक्षित तो नहीं होने लगा है। जब से भारत पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आया तब से केरल ऐसे मूल्यों को प्रश्रय दे रहा है और उनका स्वागत कर रहा है जो उसकी आत्मा से किसी प्रकार मेल नहीं खाते और उसकी सभ्यता में किसी भी प्रकार आत्मसात् नहीं हो सकते। ये अग्राह्य विदेशी मूल्य उसकी आत्मा में विरोध पैदा कर रहे हैं। केरल के इधर के साहित्य में यह बात स्पष्टतः लक्षित होती है। मलयालम की आधुनिक कविता में विषाद का स्वर और निराशामयी कल्पनाओं की जैसे बाढ़-सी आ गयी है। लेखकों की नयी पीढ़ी में जीवन के प्रति बढ़ता हुआ भय दिखाई देता है। बहुत-से लेखक जीवन की असमताओं और कुरूप पहलुओं को ही चुन कर उन पर इतना ज़ोर देने लगे हैं कि उन बातों पर विश्वास ही न हो। उन्होंने काम-वासना की विकृतियों का वर्णन करने में रस लेने की घृणित और निम्न कोटि की साहित्यिकता को अपनाया है। इस प्रकार के लेखन को नवीनता और प्रगतिशीलता के लक्षण कहकर घोषित किया जाता है। इससे अधिक खतरनाक आत्म-वंचना क्या होगी? यह आदत पौरुष के सब चिह्नों से विरहित क्लीब, विलासी और भ्रष्ट मन का एक रोग है; यह मनोविकृति जीवन की समग्रता को देखने का दावा करके वस्तुतः केवल फोड़ों की ओर ही देखती रहती है। इससे केवल भ्रान्तिभरी निष्क्रियता और एक दूषित तर्क-परिपाटी का ही पोषण होता है; ऐसा साहित्य अपरिपक्व मनों को पथभ्रष्ट करता है और कुछ वाचकों की कामुकता को उभाड़ता है, और कुछ उससे सिद्ध नहीं होता। वह मनुष्य जाति को जीवन की समस्याओं का धैर्यपूर्वक सामना करने में ज़रा भी मदद नहीं पहुँचाता। उसमें केवल विषय-पंक में लिपटी हुई आत्मा की चीख-पुकार है। केरल की संस्कृति की नैतिक भूमि पहले ऐसी बंजर नहीं दिखाई पड़ी थी। सेक्स के प्रश्नों का और उनसे सम्बद्ध भावनाओं का उसने बराबर सामना किया है, लेकिन जीवन के प्रधान सिद्धान्त अथवा मानव-जीवन की प्रेरक शक्ति मानकर नहीं। केरल के आज के जो लेखक यौन विषयों को पूजने में पश्चिमी लेखकों के वादों की बन्दरों-सी नक़ल कर रहे हैं, वे भूल जाते हैं कि वे कैसी सशक्त और आत्मा को ऊँचा उठानेवाली परम्पराओं के उत्तराधिकारी हैं। निम्नतम वासनाओं को देवता की तरह मानकर उसे कला के मानदंड तैयार करने और संस्कृति-विकास करने का यह प्रयत्न अन्ततः पराजित तो होगा ही, परन्तु इस प्रकार आज वे जो ग़लत क़दम उठा रहे हैं उसका दुष्परिणाम आगामी कई पीढ़ियों को भुगतना पड़ेगा। इस प्रकार आज ऐसा जान पड़ता है कि केरल अपनी आत्म-शक्ति खोता जा रहा है और अपने सांस्कृतिक अधिष्ठान से दूर हटता जा रहा है। परन्तु इस तरह वह कब तक घिसटता जायगा? भारत आज एक नवयुग के द्वार पर खड़ा है; उसकी आँखें प्रगति-पथ पर लगी हैं। केरलवासियों को इस नवयुग के महत्त्व को पहिचानना चाहिए, और उसमें कितनी बड़ी-बड़ी सम्भावनाएँ निहित हैं यह जानना चाहिए। यह प्राचीन प्रदेश, जिसने सदियों तक एक महान् संस्कृति का आनन्द और रस लिया, जिसने अवरुद्ध पौरुष-युक्त परम्परा का आनन्द और रोमांच जाना और जो धर्म का प्रधान पीठ रहा, वह भारत के इतिहास के इन महत्तम क्षणों में क्या पथ-भ्रष्ट होगा?—नहीं, कदापि नहीं। भाग्य पूर्व के क्षितिज पर पुनः जागा है। उसे उस संस्कृति की, जिसे केरल ने सँवारा और उस परम्परा की, जिसे केरल ने प्रतिष्ठित किया, बड़ी आवश्यकता है। इस स्वर्ण काल में, जो कि उसकी प्रतिभा को एक चुनौती-सी देता है, प्रत्येक केरल-पुत्र को शक्ति और पौरुष से प्रयत्न करना चाहिए, उसे उस चुनौती को उचित गम्भीरता से स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार वह उस अमर यश का भागी बनेगा जो सारी संस्कृति का सार और इस जीवनरूपी महासाहस का ध्येय और श्रेय है। भारत ने कभी उन शक्तियों का साथ नहीं दिया जो विश्वशान्ति को खतरे में डालती हैं और मानवी प्रगति की राह में बाधा-रूप हैं; और उसके पुत्रों को प्रयत्न करना चाहिए कि वह अपने उस महान् अभियान में सफल हो जो कि उसने इतिहास के उषःकाल से आरम्भ किया था; और अहिंसा का स्वर्ण मुकुट पहिने प्रेम के सिंहासन पर पुनः प्रतिष्ठित हो जाय। भारत की स्वतन्त्र सत्ता की रक्षा के तथा विश्व-इतिहास के मंच पर भारत की नवीन प्रतिष्ठा को सार्थक करने के लिए प्रत्येक

केरल-सन्तान को सहर्ष अपना सब कुछ बलि देने के लिए प्रस्तुत होना चाहिए। ब्रह्म के श्रेष्ठ गुण पौरुष की वह परम्परा, जिसे शंकर की प्रतिमा और पषासी के राजा तथा वेलुतम्पी ने रक्त से सींचा और पुष्ट किया, जो केरल की सब से मूल्यवान निधि है, काल के आघातों को सहती हुई अक्षुण्ण बनी रहे और आगामी पीढ़ियों के लिए आशीर्वाद बने!

मई १९४९

तमिल : एक प्राचीन और समृद्ध साहित्य

श्री० रा० श्रीनिवास राघवन्

प्राचीन काल में सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ मुख्यतः नदियों के किनारे ही विकसित हुईं और फूलीं-फलीं। भारत के विषय में भी यह सच है। उत्तर में सिन्धु-गंगा की तलहटी में और दक्षिण में कावेरी और वेगाई की तलहटी में दो स्पष्टतः भिन्न प्रकार की सभ्यताओं का उद्गम और विकास दिखाई दिया, जिन्हें आर्य और द्राविड सभ्यताएँ कहते हैं और जो इतिहास के प्रवाह में आगे चल कर एक दूसरे में मिल गयीं। वही भारतीय सभ्यता की सम्मिश्र धारा के दो प्रमुख प्रवाह बने। साहित्य के क्षेत्र में पहली सभ्यता का विकास संस्कृत में और दूसरी का तमिल में हुआ।

तमिल एक स्वतन्त्र भाषा थी और है। उसके साहित्य का एक स्वतन्त्र आधार है। रचना है और अपना व्यक्तित्व है। ये दोनों बातें अब सामान्यतः मानी जा चुकी हैं। तमिल ध्वनि-पद्धति ने आज तक अपना वैशिष्ट्य क़ायम रखा है। तेलुगू और कन्नड ने जहाँ संस्कृत-ध्वनियों को ज्यों का त्यों ले लिया है, तमिल ने अपनी प्राचीनतम ध्वनियों को सुरक्षित रखा है, जिनमें एक-दो तो उसकी अपनी निजी हैं।

एक स्वतन्त्र भाषा पर संस्कृत-प्रभाव

तमिल की तुलना संस्कृत से करते हुए, पी० टी० श्रीनिवास अय्यंगार तमिल की विशेषता बताते हैं :—

'संस्कृत में शब्द-रूपानुशासन और विभक्ति-शासन कड़ा है; परन्तु तमिल सरल रूपों वाली संश्लेषणात्मक भाषा है। तमिल की वाक्य-रचना बँधी होती है, पर संस्कृत में कोई शब्द कहीं भी स्थान प्राप्त कर सकता है।'

किस काल में संस्कृत का प्रभाव आरम्भ हुआ और कितनी दूर तक चलता रहा—इस बात पर विवाद मचा है। उल्लिखित लेखक के अनुसार यह प्रभाव तमिल के प्राचीनतम साहित्य से ही आरम्भ हुआ। उदाहरणार्थ 'तोलकाप्पियम्' पर भी, जो कि तमिल भाषा का मौलिक व्याकरण-ग्रन्थ है और जिसका समय विद्वानों ने ईसवी प्रथम शती निर्धारित किया है, संस्कृत-प्रभाव है। उनका मत है कि अगत्तियनार ('तोलकाप्पियम्' के रचयिता के गुरु) ने संस्कृत के सातों कारकों और अकर्मणि प्रयोग का तमिल में ग्रहण किया। आगे वह कहते हैं :

'तमिल पर संस्कृत-सभ्यता के आरोप के ये कुछ प्रारम्भिक उदाहरण हैं। अनन्तर शब्द, विचार कवि-प्रसिद्धियाँ, पौराणिक और अन्य गाथाएँ, अन्धविश्वास, विज्ञान और धर्म के नैतिक उपदेश, छन्दः-शास्त्र, काव्यप्रकार इत्यादि आने लगे। कालान्तर में, संस्कृत सभ्यता का प्रभाव इतना बढ़ता गया कि तमिल साहित्य सम्पूर्णतया उत्तर-वासियों से शासित होने लगा; यहाँ तक कि जो व्यक्ति केवल उत्तरकालीन तमिल साहित्य से परिचित हो, उसे प्राचीन तमिल साहित्य, उसकी संस्कृत-मुक्त भाषा के कारण एक विदेशी साहित्य के समान विचित्र जान पड़ेगा।'

तमिल की प्राचीनता

तमिल साहित्य कितना पुराना होगा ? उसके आरम्भिक ग्रन्थ कौन-से हैं ? उसके प्रथम लेखक कौन-से हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर देते समय हमें पहले सुदूर अतीत की प्रागैतिहासिक, अथवा पौराणिक गाथा-परम्परा में निमज्जन करना होगा। तमिलों या द्राविडों का देश जो साहित्य में 'तमिलगम्' नाम से प्रसिद्ध है, ईसापूर्व दूसरी सहस्राब्दि से भी कुछ हजार वर्ष पहले का माना जाता है। परम्परा तो उसे ईसापूर्व दस सहस्र वर्ष तक ले जाती है। इस काल में पांड्य राजधानी में तमिल के तीन 'संगम'—तत्कालीन तमिल साहित्य-परिषद्—प्रतिष्ठित थे। ऐसा माना जाता है कि यह राज्य उस समय समुद्र से समुद्र तक फैला हुआ था और उसका प्रसार दक्षिण सागर में भी दूर तक फैला हुआ था किन्तु दो जलप्लवों ने उसके विस्तार को उतना संकुचित कर दिया जितना इतिहास का परिचित है।

परम्परागत जनश्रुति छोड़ भी दें, तो भी इस प्रश्न को ऐतिहासिक दृष्टि से देखना होगा। यहाँ यह स्पष्ट स्वीकार करना चाहिए कि इस सम्बन्ध में जो तिथियाँ, युग और काल-खंड उल्लिखित होती हैं वे सब विद्वानों के स्थूल अनुमानों पर ही आधारित हैं; उसमें निश्चित, अन्तिम अथवा धारणात्मक कुछ नहीं है और उनके सम्बन्ध में वाद-विवाद अभी चल रहा है। इस कारण से जो विवरण यहाँ दिया जा रहा है, वह इसी दृष्टि से पढ़ा जाना चाहिए। ऐतिहासिक दृष्टि से विद्वान् लोग 'तोलकाप्पियम्' को ईसवी प्रथम शती के आसपास रखते हैं। इस सुविकसित व्याकरण-ग्रन्थ में शब्द-व्युत्पत्ति और वाक्य-रचना पर विस्तार से विचार किया गया है। और काव्य वस्तु पर भी ग्रन्थके अन्तिम भाग में छन्द, अलंकार, स्थायी भावों और अनुभावों की चर्चा है। इससे सूचित होता है कि उस समय भी एक पुष्ट साहित्य विद्यमान था जिसके विकास के लिए कम से कम पाँच सौ वर्ष का समय अपेक्षित है। और प्रारम्भिक विकास के लिए और ५०० वर्ष दे दें तो यह अनुमान सहज लगाया जा सकता है कि तमिल साहित्य का आरम्भ ईसापूर्व कम से कम एक सहस्राब्दि का तो अवश्य है।

विशाल साहित्य

तमिल साहित्य परम्परा से तीन मुख्य विभागों में बाँटा जाता है : इयल (काव्य), इसै (संगीत) और नाटकम् (नाटक)। अन्तिम दो प्रकार का साहित्य प्राप्य नहीं है, यद्यपि इस प्रकार की कुछ रचनाओं का नामोल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में है। प्रथम विभाग के दो उप-विभाग हैं : इलक्कणम् और इलक्कियम् (लक्षणग्रन्थ और विशुद्ध काव्य-ग्रन्थ)। आधुनिक काल में अर्थात् विगत शती के उत्तरार्द्ध में जो हज़ारों ग्रन्थ प्रकाशित हुए, उन्हें छोड़ दें, तो तमिल का आरम्भिक काल से उन्नीसवीं शती के मध्य तक का साहित्य विभिन्न विषयों के कई सौ ग्रन्थों में सुरक्षित है। एम० एस० पूर्णलिंगम् पिल्लय ने अपनी मुख्य ग्रन्थों की सूची में पाँच सौ ग्रन्थों और दो सौ कवियों का उल्लेख किया है।

संगम साहित्य और उसकी विशेषताएँ

प्राचीनतम रचनाएँ संगम काल की हैं, जो कि ऐतिहासिक दृष्टि से ई० पू० ५००—४०० का प्रतीत होता है। संगम तीन थे, जिनमें से दूसरा ईसवी दूसरी शती के लगभग समाप्त हुआ। पहले दो संगमों का एक मात्र अवशिष्ट ग्रन्थ है 'तोलकाप्पियम्।' तीसरा संगम ईसवी दूसरी-चौथी शती के आसपास हुआ और उसमें प्रचुर मात्रा में साहित्य-सृजन हुआ। ये संगम प्राचीन तमिल देश की विशेष संस्थाएं थीं। उन्हें आधुनिक साहित्य-परिषदों का तत्कालीन रूप मान सकते हैं, यद्यपि साहित्य-निर्माण में आधुनिक साहित्य-परिषदें जितना योग देती हैं उससे कहीं अधिक सप्राण कार्य संगमों ने किया। प्रत्येक ख्यात कवि संगम का सदस्य होता था। इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह थी कि बिना संगम की अनुज्ञा के कोई भी लिखित रचना प्रसारित नहीं की जाती थी। इस प्रकार प्राचीन तमिलगम् में केवल उत्तम और स्वास्थ्यप्रद, साहित्य ही जनता तक पहुँचने दिया जाता था।

प्रथम दो संगमों के साहित्यकार और रचनाएँ एक प्रमुख अपवाद को छोड़कर हमारे लिए केवल नाम हैं। उनके विषय में कुछ परम्परागत जनश्रुतियों के सिवा हम प्रायः कुछ नहीं जानते। प्रथम संगम के प्रमुख व्यक्ति थे अगत्तियनार, जिन्होंने तमिल का प्रथम व्याकरण रचा। दूसरे संगम के प्रमुख व्यक्ति तोलकाप्पियनार थे, जो अगत्तियनार के शिष्य थे और जिन्होंने 'तोलकाप्पियम्' की रचना की। यह ग्रन्थ न केवल व्याकरण-ग्रन्थ है वरन् स्वयं उच्च कोटि का साहित्य है, क्योंकि उसका तीसरा भाग 'पोरुल' साहित्य की वस्तु से सम्बन्धित है। उसकी कई टीकाएँ हैं जिनमें 'नच्चिनार्किनियर' की टीका सबसे प्रसिद्ध है। तीसरे संगम के कई कवियों के नाम और ग्रन्थ हमें ज्ञात हैं। कवियों में प्रमुख थे नाक्किरार जिन्होंने कि 'तिरुमुरुगाट्रुप्पडै' की रचना की। इसी काल के दूसरे प्रसिद्ध कवि थे तिरुवल्लुवर, औवै (इस नाम के दो कवियों का उल्लेख मिलता है), कपिलर, इडैक्काडर, इरय्यनार और पेरुम तेवनार। इन और अन्य लेखकों की कृतियों को 'पत्तुप्पाट्टु' (दस ग्राम-काव्य) 'एट्टुत्तोकै' (अष्ट काव्य-संग्रह) और 'पदिनेण कीलकनक्कु' (अष्टादश लघु-नीतिकाव्य) में विभाजित किया जाता है।

संगम-साहित्य वस्तु के अनुसार दो मुख्य प्रकारों में विभाजित है—अहम् और पुरम्। प्रथम गीति-प्रधान होता था और दूसरे में वर्णन अथवा वस्तु प्रधान होती थी। प्रथम साधारणतया प्रेम-काव्य होता था, और दूसरा वीर-काव्य।

'तोलकाप्पियम्' के तृतीय खंड पोरुल में दोनों का विवेचन है। अष्ट-काव्यसंग्रहों में 'अहनानूरु' प्रथम प्रकार का है, 'पुर नानूरु' द्वितीय का।

एक और प्रमुख विशेषता है भूमि के पाँच प्रकारों का विवरण। भूमि को भौगोलिक दृष्टि से पाँच वर्गों में बाँटा गया है, कुरिंचि (पर्वत), पालै (मरु प्रदेश), मुल्लै (वन प्रदेश), नेडल (तट प्रदेश) और मरुतम् (कृषि भूमि)। इन पाँच प्रकारों की विशेषताओं के अनुकूल काव्य के दोनों प्रकारों में भी पाँच-पाँच अवस्थाओं की उद्भावना की गयी है। प्रेम-काव्य की अवस्थाएँ हैं—पुणर्तल (संयोग), पिरितल (वियोग), इरुत्तल (विरह में धैर्य), इरंगल (विरह-विलाप) और ऊडल (मानलीला)। इसी प्रकार वीर-काव्य में वर्णित विषय हैं: वेच्चि (पशु-हरण), वहे (विजय), वंचि (आक्रमण), तुम्बे (सम्मुख युद्ध) और उषिज्ञै (दुर्गावरोधन)

कुछ संगम ग्रन्थ

अब कुछ महत्त्वपूर्ण संगम ग्रन्थों का उल्लेख करेंगे। प्रथम समूह पत्तुप्पाट्टु, अथवा दस ग्राम काव्यों का है। प्रत्येक खंड काव्य-शैली की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एक सुन्दर अलंकरण-प्रधान रचना है। उसमें प्रकृति की प्रसन्न और प्रभावोत्पादक छवियों का चित्रण है। विचारों में गाम्भीर्य और वर्णन में याथातथ्य है। आधुनिक कविताओं-सी हवाई उड़ान और उत्प्रेक्षाओं से वह मुक्त है। इन ग्रामगाथाओं में प्रमुख है नकिरार-रचित तिरुमुरुगाट्रुप्पडै, जो प्राचीन तमिलगम् के रक्षक-देवता मुरुग् को समर्पित है।

एट्टुत्तोकै या अष्ट काव्यसंग्रहों में से अधिक प्रसिद्ध है: नल्लन्तुवनार कृत कलित्तोकै, जिसमें डेढ़ सौ प्रेम गीत हैं; रुद्र सन्मानारकृत अहनानूरु, जिसमें चार सौ प्रेम-गीत हैं, अरैर पुरमानुरु, जो कि कई कवियों की युद्ध-सम्बन्धी संयुक्त रचना है। अन्तिम ग्रन्थ का पर्याप्त ऐतिहासिक मूल्य है, क्योंकि उसमें तीन तमिल राज्यों की राजपरम्परा का उल्लेख है और तमिल देश-भूमि की दो हज़ार वर्ष पुरानी राजनैतिक, सामाजिक परिस्थितियों का उससे पता चलता है। प्रथम दो ग्रन्थों में प्रेम का वर्णन बहुत ही सुन्दर है। शैली सहज प्रवाहमयी, भावनाएँ और व्यंजनाएँ बहुत स्वाभाविक और सीधी हैं। बाद का सा पांडित्य-प्रदर्शन और रीतिबद्धता उन रचनाओं में नहीं है। जन-साधारण के प्रेम और तिरस्कार, सुख और दुःख, वासनाएँ और पूर्वग्रह ऐसी शैली में व्यक्त किये गये हैं जो सरल, लययुक्त, ओजस्वी और मधुर है।

तिरुवल्लुवर के वचन

संगम-साहित्य का अन्तिम प्रकार पदनेण कनक्कु कहलाता है। उसमें अट्ठारह संग्रह हैं जो प्रायः नीतिधर्म के विषय में हैं। शैली कसी हुई और व्यंजना ओजस्वी। इस साहित्य की श्रेष्ठ रचना है तिरुवल्लुवर के वचन जो तिरुक्कुरल में संगृहीत हैं।

तिरुक्कुटल तमिल साहित्य की श्रेष्ठ विभूति है और इसकी अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता है। इस ग्रन्थ में दस-दस द्वि-पदियों के १३३ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में किसी विशेष नैतिक वचन का सप्रमाण स्पष्टीकरण है। ग्रन्थ के तीन खंडों में तीन पुरुषार्थों का—अहम् (धर्म), पोरुल (अर्थ), कामम् (काम) का—विवेचन है; चतुर्थ और अन्तिम वीडु (मोक्ष या आत्म-ज्ञान) का विवेचन छोड़ दिया गया है। इसके सूत्रों में कर्तव्याकर्तव्य और सदाचरण का निरूपण किया गया है। सूत्र संक्षिप्त हैं किन्तु मानवता के सुखी, समृद्ध, सुनियमित जीवन के परम अर्थ से गर्भित हैं। कुरल तमिल साहित्य की सर्वोत्तम रचना है, और विश्व-साहित्य में अपना स्थान रखती है। इस के भारतीय और विदेशी भाषाओं में बहुत-से अनुवाद हो चुके हैं। कई प्रसिद्ध टीकाएँ भी हैं, जिनमें परिमेलषगर् की टीका सबसे प्रसिद्ध है।

पंच काव्य : शिलप्पधिकारम्

संगम-साहित्य के बाद, पाँच प्रमुख महाकाव्य और पाँच छोटे काव्य आते हैं: सात्तनार का मणिमेखलै, इलंकाविड-गल् का शिलप्पधिकारम्, तिरुत्तक्कदेवर् का जीवक-चिन्तामणि, और दो अन्य जिन का केवल नाम ही रह गया है। ये संगमोत्तर रचनाएँ मानी जाती हैं, जो कि कुछ विद्वानों के अनुसार काव्य युग की रचनाएँ हैं और इनका काल ईसवी ५वीं शती है। अन्य विद्वान् इन्हें संगम साहित्य का ही अंग मानते हैं और उन्हें दूसरी शती के आसपास रखते हैं। इस वर्ग के

साहित्य से लक्षित होता है कि तमिल साहित्य पर बौद्ध और जैन धर्म का कितना प्रभाव पड़ा था। मणिमेखलै का रचयिता बौद्ध था, शिलप्पधिकारम् का लेखक निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का एक जैन मुनि था। जीवक चिन्तामणि का लेखक भी एक जैन था। इन महाकाव्यों में साहित्य गुण हैं, पर इनका उद्देश्य तमिल देश में उस समय प्रचलित अन्य धर्मों पर अपने धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करना ही था।

मणिमेखलै में एक नर्तकी की जीवन-कथा है जो, एक बौद्ध भिक्षु के प्रभाव में आकर, अपना मूल पापमय पेशा छोड़ देती है और मानव-सेवा का व्रत ग्रहण करती है। कई उतार-चढ़ाव और साहस-प्रसंगों के बाद, जिसमें कि एक राजपुत्र की उससे प्रेम करने की भी कहानी आती है, वह भी बौद्ध भिक्षुणी बन जाती है, और निर्वाण के लिए तपस्या करती है। इस काव्य की शैली बहुत सुन्दर है और प्राकृतिक दृश्य-वर्णन बहुत कल्पनायुक्त और मनोरंजक है। शिलप्पधिकारम् में कन्नकी नामक नायिका की करुण-कथा है जिसका महाजन पति कोविलन उसे छोड़ कर एक नर्तकी के पीछे जाता है। कोविलन बिल्कुल भिखारी हो जाता है और फिर कन्नकी के पास नये सिरे से जीवन बिताने लौटकर आता है। कन्नकी उसे अपने पायल देती है कि वह उन्हें मधुरा में बेच आवे। उस नगर में पायल बेचने के प्रयत्न में कोविलन चोर समझकर पकड़ा जाता है और पांड्य राजा के सामने उसका वध किया जाता है। साध्वी कन्नकी के सन्ताप और क्रोध से पांड्यराज और सारी मधुरा जल कर भस्म हो जाती है। आरम्भ के रस-रंग को छोड़कर सारा काव्य करुणा से ओत प्रोत है। कथा का उठान बहुत सुन्दर हुआ है। पाप आरम्भ में विजयी होता है; परन्तु अन्ततोगत्वा सत्य का तेज सब पापों का क्षय कर डालता है। शिलप्पधिकारम् की कथा विश्व-साहित्य के करुण काव्य में विशेष स्थान रखती है।

जीवक-चिन्तामणि में जीवक नाम के राजपुत्र के प्रेम और साहस की कथा है। कथा में जैन दर्शन के सिद्धान्त भी चतुराई से गूँथ दिये गये हैं। उसका कथानक बहुत मनोरंजक है और कविता बड़ी भव्य है।

भक्ति काल : तेवारम् और तिरुवायमोषि

महाकाव्य काल के पश्चात् भक्ति काल आता है, जो कि ईसवी पाँचवीं से दसवीं शती तक माना जाता है। शैव और वैष्णव भक्तों ने शिव और विष्णु की स्तुति में कई गीत रचे। बौद्ध और जैन मतों के ह्रास में इनका बहुत हाथ रहा। शैव सन्तों में सुप्रसिद्ध थे सम्बन्धर, अप्पार, और सुन्दरार, जिनके ग्रन्थों का सामूहिक नाम 'तेवारम्' है। एक और प्रख्यात सन्त थे माणिक्कवासगर, जिन्होंने तिरुवाचकम् लिखा। वैष्णव सन्त बारह हुए, जिनमें प्रमुख थे नम्मलवार, तुरुमंगै, कुलर-शेखरार, पेरिअलवार, और आंडाल नामक स्त्री। इनके सम्मिलित ग्रन्थ 'तिरुवायमोषि' या 'दिव्य प्रबन्धम्' कहलाते हैं, जिनके कुल मिलाकर चार हजार पद हैं। इन तीनों ग्रन्थों में भक्ति की गहरी भावना और अध्यात्म का सुन्दर समावेश है। इनकी भाषा सरल है, यद्यपि विषय गहन है। काव्य की दृष्टि से, उनका संगठन उत्तम है, इनका प्रभाव गहरा और मर्मस्पर्शी है। इनमें कवि-कल्पनाएँ भव्य हैं। ये केवल साधारण अर्थ में कविता नहीं हैं, बल्कि विश्व और उसके निर्माता के साथ आध्यात्मिक साक्षात्कार चाहने वाले भावुक हृदय के उद्गार हैं।

तमिल साहित्य का स्वर्णकाल : रामायण

ग्यारहवीं से चौदहवीं शती को तमिल साहित्य का स्वर्णकाल कह सकते हैं। इसी काल में कवि कम्बन हुए और उन्होंने अपनी अमर कृति 'रामायण' लिखी। दूसरे बड़े कवि भी हुए। परिणाम और गुण दोनों दृष्टियों से इनकी रचनाएँ बृहद्रूप हैं। शैली, कल्पना-शक्ति, विविधता, पद्धति और कथा-वस्तु तथा व्यंजना की दृष्टि से तमिल कविता अपने सर्वोच्च बिन्दु पर पहुँची। तमिल का जो भी गद्य-साहित्य उपलब्ध है, वह इसी काल का है। इसी काल में प्राचीन ग्रन्थों पर कई श्रेष्ठ टीकाएँ लिखी गयीं। नन्नूल नामक महान् व्याकरण-ग्रन्थ इसी काल का है।

कम्बन को कविचक्रवर्ती भी कहते हैं। कम्बन का तमिल में वही स्थान है, जो संस्कृत में कालिदास, अंग्रेजी में शेक्सपियर, हिन्दी में तुलसीदास, तेलगू में पोतन्ना और कन्नड में लक्ष्मीश का है। यद्यपि मुख्य कथानक और कई विवरण भी कम्बन ने वाल्मीकिरामायण से ही लिये, फिर भी उन्होंने जिस सुन्दर रीति से चरित्र चित्रण किया है और नीरस घटनाओं को रोचक बनाया है, उससे स्पष्ट होता है कि वह कितनी उच्च कोटि के कलाकार थे। चरित्रों को मानवी रूप देने की कला में वह

अद्वितीय हैं। कई आलोचकों का मत है कि जहां-जहां कम्बन ने मूल कथा में स्वच्छन्द परिवर्तन किया है, वहां उसमें कला और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अधिक सुधार ही हुआ है।

इस काल के अन्य प्रसिद्ध कवि हैं कम्बन के प्रतिस्पर्धी ओट्टकूत्तन् जिन्होंने कम्बन की रामायण का उत्तरखंड लिखा, पुगलेन्दि जिन्होंने 'वेण्ब' छन्द में 'नल-वेण्ब' लिखा, जयंकोंडार जिन्होंने 'कलिंगत्तुप्परणि' लिखा, और अन्य कई कवि जिन की सूची यहां नहीं दी जा सकती।

सन् १४०० ईसवी के पश्चात् साहित्य के परिमाण और गुण दोनों में ह्रास हुआ। कई ग्रन्थ प्रकाशित हुए, परन्तु कुछ अपवाद छोड़कर (जैसे विल्लिपुत्तूरार का 'भारतम्', अतिवीरराम पांडयन् का 'नैषधम्', अरुणगिरि नाथर का 'तिरुप्पुगल' इत्यादि) उनमें विविधता तो थी पर महत्ता नहीं। कुछ विदेशी प्रचारकों ने भी तमिल साहित्य के विकास में सहायता पहुँचायी। पैग़म्बर मुहम्मद के जीवन और सन्देश पर भी एक रचना रची गयी।

वर्त्तमान काल

उन्नीसवीं शती के मध्य से तमिल साहित्य में पुनर्जागरण आरम्भ हुआ। तमिल पर विदेशी साहित्यों का और विशेषतः अंग्रेजी का प्रभाव पड़ना आरम्भ हुआ। बंगला, हिन्दी और मराठी प्रभृति भारतीय साहित्यों का भी प्रभाव पड़ा। इन और अन्य कारणों से तमिल में वर्त्तमान शती में साहित्यनिर्माण की गति बहुत बढ़ी है। तमिल साहित्य नये-नये क्षेत्र और प्रदेश खोज रहा है। गद्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, साहित्यालोचन, निबन्ध और ऐसे अन्य साहित्यरूपों का तीव्र विकास हो रहा है। तमिल समाचार-पत्र-साहित्य और तमिल वक्तृत्व भी आश्चर्यजनक उन्नति कर रहा है।

तमिल में इस समय गतिशील साहित्यिक पुनर्जागरण घटित हो रहा है। इस गतिशीलता के मुख्य स्रोत हैं स्वर्गीय सुब्रह्मण्य भारती जिनके मर्मस्पर्शी राष्ट्रीय गीतों ने विगत ५० वर्षों से देश में उत्कट राष्ट्रीयता और देश-प्रेम की स्फूर्ति भरी है। तमिल भाषा सदा सृजनशील सप्राणता का परिचय देती रही है। भारतीय संस्कृति के समन्वय में उसने सदा गौरवपूर्ण भाग लिया है। अतीत में उसका योग-दान महत्त्वपूर्ण था ही, भविष्य में वह और भी महान् होगा यह आशा उसके स्फूर्तिमय वर्तमान से पुष्ट होती है।

(तमिल से)

सान्त्वना

बिभूतिभूषण बन्द्योपाध्याय

बैलगाड़ी चाँदपुर गाँव में घुसी। ननिबाला ने लड़के से कहा, "बेटा बाहर देखो।"

"देख रहा हूँ माँ; सोया नहीं।"

"यही गाँव की सीमा है। वह रहा मछुओं का मुहल्ला—"

"ब्राह्मणों का मुहल्ला कितनी दूर है ?"

"और आगे है।"

ननिबाला की देह और मन एक अपूर्व अनुभूति से सिहर उठा। उसे याद आयी आज से तीस-बत्तीस वर्ष पहले के उस दिन की बात, जब उसने नव-वधू के रूप में इस गाँव में प्रवेश किया था। तब वह साथ थे—जैसे आज लड़का सुरेश उसके साथ बैठा है। वैसा ही चेहरा, वैसी ही आँखें, और वही वयस..

चाँदपुर गाँव में प्रवेश करते-करते ही कौवों की काँव-काँव के साथ भोर हो गया। सुरेश ने गाड़ी से उतर कर गाँव के पथ की धूल माथे पर लगायी। फिर माँ से बोला, "तुम लोगों ने गाँव कब छोड़ा था ?"

"तेरी जितनी उमर है, उतने बरस हुए।"

"इक्कीस बरस ?"

"हाँ। उनकी स्कूल की नौकरी छूटी, तभी हम लोगों ने गाँव की माया छोड़ी।"

"बापू को दुःख नहीं हुआ ?"

"हुआ क्यों नहीं! अन्तिम दिनों अक्सर कहा करते, 'बड़ी बहू, एक बार फिर चाँदपुर जा सकता तो शायद और कुछ दिन बचा रहता। वहाँ इस चैत की दुपहरी में बुढ़ियाँ धूप में बेर सुखाती होंगी; बाँसों के झुरमुट में कोयल और पपीहे कूकते होंगे—मैं गाँव जाऊँगा!' शहर के छोटे-से घर में वह सदा छटपटाते ही रहे। गरमी भी तो वहाँ बहुत पड़ती थी!"

"मैं अगर तब बड़ा होता तो बापू को जरूर उनके गाँव ले ही आता।"

सुरेश दुबला-पतला पर कड़ी हड्डियों का युवक है। फ़ुटबाल खेलने में अच्छा है। देश स्वाधीन होने के बाद से राइफ़ल क्लब का मेम्बर हो कर राइफ़ल चलाना सीखता है। इस बरस रेलवे की ट्रेनिंग पूरी करके अच्छी नौकरी पा जायगा। ट्रेनिंग के समय ही फ़ुटबाल के खिलाड़ी के नाते उसने रेलवे कालोनी के अनेक बड़े-बड़े अफ़सरों का ध्यान आकृष्ट कर लिया। ट्रेनिंग में भी वह अच्छा रहा है—गणित में तेज होने के कारण गणित की ट्यूशनों द्वारा वह महीने में सत्तर-अस्सी रुपया कमा लेता है।

पति को मरे आज दस-ग्यारह बरस हो गये। सुरेश तब छोटे क्लास में पढ़ता था। कैसी मुसीबत में छोड़ गये थे वह दोनों को! तब वह यह सोच भी नहीं सकती थी कि कभी इस चोट को सहकर फिर उठ सकेगी। रेलवे कालोनी के सभी लोगों ने बड़ी मदद की। एक मकान भी ढूंढ़ दिया, क्योंकि रेलवे का क्वार्टर तो छोड़ना ही पड़ा। रेलवे इंस्टि-ट्यूट के मन्त्री रायबहादुर हरिचरण बसु स्वयं आकर देखभाल करते रहे; सुरेश की पढ़ाई बन्द न हो, यह ग़रीब अनाथ परिवार भूखों मरने को बाध्य न हो, इसकी व्यवस्था इंस्टिट्यूट के संचालकों ने कर दी। उन दिनों की बात याद करके चक्कर आ जाता है—ऐसे भी दिन आते हैं मनुष्य के जीवन में!

आज जान पड़ता है, मानो समुद्र पार करके किनारे की रेखा दिखाई पड़ने लगी है। अब सभी कहते हैं कि हमारा देश स्वाधीन हो गया, अब उन दिनों की भाँति मुसीबत नहीं झेलनी पड़ेगी। अब लड़कों को अच्छी नौकरियाँ मिलेंगी, तरक्क़ियाँ होंगी; पहले की भाँति कुछ रुपल्लियों पर घिसटते चलना नहीं होगा। कोई भूखा नहीं मरेगा इस स्वाधीन भारत की भूमि पर। बड़ी-बड़ी आशा की बातें उसने सुनी हैं—छोकरे कितनी मीटिंगें करते हैं, लेक्चर देते हैं। अभी उस

दिन गान्धीजी की तसवीर को माला पहना कर गाते हुए शहर का चक्कर काट रहे थे—शायद उस दिन उनकी मृत्यु की बरसी थी। सुरेश बहुत अच्छा गाता है। एक गाना वह गाता है, जो सुना है गान्धीजी का बहुत प्रिय था। रामधुन कहते हैं उसे :

रघुपति राघव राजा राम।
पतित-पावन सीताराम।

उजाला हो गया था। सामने पुराने पक्के मकान से बाहर निकल कर कोई रास्ते पर खड़ा-खड़ा उनकी बैलगाड़ी को देखने लगा। ननिबाला ने धीरे से कहा," अरे सुरेश, वह शायद तेरे विनोद चाचा हैं—उनके चचेरे भाई। हाँ, मैंने पहचान लिया। तू आगे जा, अपना पता बता कर पैर छूना, समझा? उन्हीं को चिट्ठी लिखी गयी थी।"

सुरेश और विनोद चाचा की बातचीत में पन्द्रह-एक मिनट लग गये। फिर विनोद चाचा आगे आकर ननिबाला को घर में लिवा ले गये।

बहुत दिनों बाद गाँव की बहू गाँव लौटी है—बीस-इक्कीस बरस बाद। मुहल्ले भर की गाँव की बहुएँ मिलने आयीं। अभय नाई की बहू ने आकर कहा, "कैसी हो, बहू? मुन्ना कहाँ है? कितना बड़ा हुआ है, ज़रा देखें—लेकिन ठहरो, पहले पैरों की धूल दो तो ज़रा—" पैरों की धूल लेकर प्रणाम करके वह सामने बैठ गयी।

अभय की बहू को देख कर ननिबाला को जितना आश्चर्य हुआ उतना ही एक प्रकार का दुःख भी। अभय की बहू उससे कम से कम बीस-पचीस वरस बड़ी होगी—उसकी माँ की उम्र की। बाल पक चले हैं, खाती-पीती है इसी लिए उम्र का पता नहीं चलता। पर अभय की बहू अभी भी सधवा है, पके बालों में भी सिंदूर लगाती है। अभय नाई अभी तक जीता है। सोच कर देखा जाय तो यह कोई अचरज की बात नहीं है— उसकी उम्र बहुत होगी तो यही सत्तर-बहत्तर होगी, लेकिन....

इस लेकिन का कोई सुलझाव ननिबाला को अपने मन में नहीं मिला। उन्हीं की क्या मरने की उम्र हुई थी?

दूसरे दिन ननिबाला ने देखा कि केवल अभय नाई की बहू ही नहीं, उससे भी बड़ी-बूढ़ी अनेक बहुएँ अब भी अपने पके-अधपके बालों में ठाठ से सिन्दूर लगाती हैं। वही क्यों कच्ची उम्र में उसे परदेश में छोड़ कर चले गये? गाँव की बहुएँ जब मिलने आती हैं तो रह-रह कर यही प्रश्न उनके मन में उठता है।

ननिबाला की ससुराल विनोद चाचा के घर के दक्खिन में है। बीस-इक्कीस बरस से उस घर के खाली रहने से आँगन में घास और कटैये का जंगल हो रहा था। दीवार से लगे हुए जंगली गूलर के पेड़ में गूलर फल रहे थे। खिड़की पर कोई कँटीली लता ऐसी छा गयी थी कि खिड़की के किवाड़ ढँक गये थे।

सुरेश बराबर कह रहा था, 'माँ, चलो न अपने घर में चलें; गाँव आ के पराये घर में क्यों रहें?' तीन-चार दिन में जंगल-काँटे कटा कर, आँगन साफ़ करके, ननिबाला ने अपने घर में प्रवेश किया। तीन कमरे, दोनों ओर बरामदा, रसोई और भंडारा अलग। कितने साल बाद वह आज फिर इस घर की मिट्टी पर पैर रख रही थी—इक्कीस लम्बे वर्ष....उसके जीवन में इतना कुछ घटित होने को था....

सुरेश कहता है, 'माँ, मुझे तो याद नहीं आती इस घर में रहने की बात—"

ननिबाला उत्तर देती है "दुर! तेरी उम्र नौ महीने की थी तभी तो हम यह घर छोड़ कर चले गये थे।"

"अब यहाँ कुछ दिन रहो, माँ; मुझे बहुत अच्छा लग रहा है यहाँ।"

"रहने ही तो आयी हूँ बेटा; आगे मंगलमयी माँ चंडी जो करें।"

ननिबाला सारा दिन घर की झाड़-पोंछ और सजावट में व्यस्त रहती है। इक्कीस बरसों की धूल घर पर जमी हुई है। उसे केवल याद आते हैं उनके नये सपनों में लिपटे हुए अपूर्व दिन-रात। वह तब नये जवान थे, और ननिबाला चौदह वर्ष की किशोरी....

वही तो सामने वह आला है—उसमें एक बार उन्होंने रसगुल्ले लाकर छिपा रखे थे और उसे बनाया था.... विलायती दवा के काग़ज़ के बक्स में रसगुल्ले रखे थे; उन्होंने पूछा था, 'बताओ तो उसमें क्या है?' प्रगल्भा वधू ने उत्तर दिया था, 'तुम्हारी चीज़ तुम्हीं जानो। विलायती दवा है कुछ, और क्या?'

"शर्त्त रहे कुछ?"

"वह सब नहीं जानती मैं। बताओ, क्या है उसमें?"

"रसगुल्ले।"

"रसगुल्ले न, हाथी!"

"तुम्हारी क़सम—यह देखो, कितने खाग्रोगी, बताग्रो?"

तब दोनों ने छीनाझपटी करके रसगुल्ले खाये थे। तीस बरस ग्रागे की बात है—जान पड़ता है मानों कल ही हुई हो। इस घर में ननिबाला को पति की बहुत ग्रधिक याद ग्राती है। हर कमरा, बरामदा, घर का कोना-कोना, वह तख्त, रसोईघर की वह कटहल की पीढ़ी, हर-एक चीज़ के साथ उसके नववधू-जीवन की यादें लिपटी हुई हैं। जवान पति इस कमरे से उस कमरे में घूमते हैं ग्रौर वह लज्जा से झुकी हुई किशोरी वधू, नये प्रेम के स्पर्श से धड़कते दिल में नया उत्साह लिये, महावर लगे पैरों से इधर-उधर ग्राती घर का काम देख रही है।....

ननिबाला को लगता है, उस कमरे में जाते ही वह देखेगी, तख्त पर वह बैठे हैं। उस कमरे में जाने पर लगता है, इस कमरे में ग्राते ही वह दीख जायेंगे। ग्राज भी क्या उन्हीं दिनों का-सा लुका-छिपौवल चल रहा है....

एक बार वह नये धान की बालियाँ लेकर ग्राये। बोले, 'लक्ष्मी की पिटारी में रख दो, नयी ज़मीन के नये धान हैं। शंख बजाग्रो। तुम घर की लक्ष्मी हो। शंख बजा कर पूजा करना तुम्हारा ही कर्त्तव्य है।'

घनी दुपहर की चिलचिलाती धूप में, नीम के फूलों की ग्रलसायी गन्ध के साथ, बहुत पुरानी-पुरानी स्मृतियाँ उसके मन में उभर ग्राती हैं। ननिबाला एकटक देखती रहती है बाँसों के झुरमुट की ग्रोर, लेकिन उसका मन ग्रतीत के किसी ग्रावेशातुर क्षण पर टिका ग्रौर बँधा रहता है। कभी ऐसे समय सुरेश बोल उठता है, "माँ, ज़रा पानी पिला दो न।" ननिबाला चौंक उठती है, उसका ध्यान टूट जाता है, वह लजा जाती है कि कहीं लड़का उसके मन की बात न जान ले....

पानी पिला कर वह कभी कंथा सीने बैठ जाती है, या कभी दराँती लेकर पेड़ से उतारी हुई ढेर की ढेर इमली को सँवारने लग जाती है।

तभी उसे फिर याद ग्रा जाती है उन दिनों की ऐसी ही चैत की एक दुपहरी—पिछवाड़े के इमली के पेड़ की इमलियों का ढेर लेकर वह सँवारने बैठी थी ऐसे ही....

उन्होंने पीछे से दबे पाँव ग्राकर धीरे से कहा, "छोड़ो यह धन्धा। नमक ग्रौर नींबू के पत्ते मिलाकर इमली की चाट बनाग्रो तो ज़रा—"

"चुप। माँ सुन लेंगी। भागो यहाँ से—इमली खा के बीमार पड़ना है?"

"एहे! खुद जैसे नहीं खायेंगी, मैं ही ग्रकेला तो खाऊँगा। माँ सो रही हैं। तुम झट पट उठो तो, ग्रच्छी रानी। सच-सच बताग्रो तो, तुम्हारे मुँह में पानी नहीं ग्रा गया इमली की चाट के नाम पर?"

ननिबाला को इमली उठा कर जाना पड़ा रसोईघर में। उन्होंने कहा "ठहरो, नींबू के पत्ते मैं ग्रभी ले ग्राता हूँ। इमली को ज़रा ग्रच्छी तरह धो लेना, नहीं तो बालू किरकिरायेगी।"

ननिबाला ने डाँट कर कहा, "जी हाँ, रौब गाँठने चले हैं। इमली धोकर नहीं बनायी जाती, पूछ कर देख लो; फीकी हो जाती है।"

दोनों ने मिल कर वह बहुत-सी इमली खा डाली। दूसरे ही दिन उनको ज़ुकाम हो गया ग्रौर गला दुखने लगा। ननिबाला ने तर्जनी उठा कर चिढ़ाते हुए कहा, "क्यों, कहा था कि नहीं मैंने। सुनी थी मेरी बात? लेकिन कौन सुनता है, मैं कौन होती हूँ।"

"माँ से मत कहना —"

"ज़रूर कहूँगी। सब चालाकी निकल जायगी, देखना। ग्रौर खाग्रोगे इमली, ले ग्राऊँ नमक-नींबू के पत्ते डाल कर?"

ननिबाला की ग्राँखों से ग्राँसू चू पड़े। उसने जल्दी से ग्राँचल से उन्हें पोंछ डाला—कहीं लड़का देख न ले। ग्राज ग्रगर वह होते! ग्रभी कोई उमर हुई थी भला? सहज ही रह सकते थे। ग्राज कैसा सुख का दिन होता तब! मुन्ना बड़ा हो गया। जो देखता है वही सराहना करता है। दो दिन बाद मंगल-चंडी देवी की कृपा से रेलवे में ग्रच्छी नौकरी करेगा। वह हाथ पर हाथ धर के बैठते-खाते चाहे; हम उन्हें काम करने ही नहीं देते, ग्राराम से लड़के की कमाई खाते

....इस दुपहरी में बैठे-बैठे हम लोग कितनी बातें करते—सुरेश की बहू सेवा करती, इमली बिनार कर लाती.... पर पृथ्वी पर वह मानों अकेली है। उसका संगी उसे छोड़ कर चला गया है।....

सामने दूर से और दूर तक लम्बा पथ फैला है। न जाने कब तक यह रास्ता तय करते चलते जाना होगा.... नहीं-नहीं, उसका मुन्ना सुरेश तो है, वह बचा रहे....उसकी घर-गिरस्ती तो जमानी होगी। आज नहीं तो कल उसका ब्याह करना ही होगा। वह लड़का है, अभी गिरस्ती चलाना क्या जाने। उसी को सब चलाना होगा....

तभी सुरेश आकर कहता है, "माँ, नमक और नींबू के पत्ते मिला कर इमली की चाट बनाओ तो ज़रा—"

ननिबाला चौंक उठती है, बेटे के तरुण मुख की ओर अवाक् होकर देखती रह जाती है। मुंह फेर कर आँसू रोक लेती है। बेटे ने कैसे जाना कि उसका पिता ठीक इसी तरह ऐसे ही सुर में बात करता था?

जब से वह गाँव आयी है, तब से मानों पति का प्रत्येक पदक्षेप वह सुन पाती है। उसे कुछ अच्छा नहीं लगता। सब सूना, अर्थहीन हो गया है। किसी काम में कोई रुचि नहीं है उसकी....

* * * *

एक दिन दूसरे महल्ले के हरिदास चक्रवर्ती आकर गाँव भर की स्त्रियों को उन के यहाँ सत्यनारायण की कथा सुनने और प्रसाद लेने का न्योता दे गये। पुराने जमाने का पक्का मकान, बरामदे में पूजा की व्यवस्था हुई थी। निमन्त्रित स्त्रियों के लिए चटाइयाँ बिछायी गयी थीं। पुरुष बाहर के चबूतरे पर बैठे थे। पूर्णिमा की रात में आँगन के बड़े नारियल के पेड़ की छाया पड़ रही थी चबूतरे पर। नये बीने हुए जुही के फूलों की गन्ध से बरामदा गमक रहा था।

हरिदास चक्रवर्ती की स्त्री ने कहा, "आओ, आओ भई। कितने दिन बाद गाँव आयी हो। वही आयी थीं एक बार अनन्त चौदस के व्रत के समय—याद है?"

ननिबाला ने कहा "खूब याद है।"

"तब तुम्हारा ब्याह हुए दो-एक बरस ही हुए थे।"

"दो बरस हुए होंगे।"

"तुम्हारा चेहरा तो कैसा-कैसा हो गया है—"

"अरे दीदी, चेहरे की भली कही। चेहरे को अब क्या करना है—वह सब तो गया अब।"

"क्या कहूँ बहिन; देवर तो अभी जवान ही थे। हमारे उनसे तो कितने छोटे थे—अभी भला जाने की उमर थी उनकी? सब भाग्य का खेल है, कोई क्या कर सकता है...."

ननिबाला की आँखें भर आयी थीं। वह मुख फेरे रही, कहीं आँसू बह कर गाल न भिगो दें। इनके सामने वह शर्म की बात होगी—उसके मन का दर्द ये सब तो समझेंगी नहीं। उसकी मधुर अनुभूतियां की याद की पूंजी इनके पास नहीं है। ये तो जैसे-तैसे चौके-चूल्हे, घर-गिरस्ती, खाने-खिलाने के ढर्रे में जीवन काट रही हैं। उसके मन की अनुभूतियों की तो ये कल्पना भी नहीं कर सकतीं। आँसू देख कर समझेंगी कि हमें दिखाने के लिए रोने का ढोंग करती है।

पड़ोस के कानाइ गाँगुली की पतोहू उसके पास आकर बैठ गयी; ननिबाला ने उससे परिचय किया। ब्याह हुए अभी थोड़े ही दिन हुए हैं,। एक ही लड़की है, नौ महीने की है अभी। मायके शान्तिपुर के पास हबीबपुर में हैं। बातचीत में शहरियों का-सा लहजा स्पष्ट है। ननिबाला से बोली, "चाची, मैं कई दिन से सोच रही थी आपसे मिल आऊँ—"

"मेरी बात तुमसे किसने कही?"

"सभी कहते हैं। फुफिया सास कह रही थीं, इस गाँव की सबसे अच्छी बहू रही, जाओ मिल आओ। चाची, आपका नाम क्या है?"

"ननिबाला। तुम्हारा?"

"प्रीतिलता।"

"सुन्दर नाम है। बिटिया का नाम क्या है?"

"अभी रखा ही नहीं। टूनू कह कर बुलाते हैं। एक दिन आपके यहाँ आऊँगी तब अपनी नातिन का नाम रख दीजिएगा।"

"ज़रूर रख दूँगी। कल ही आना। तुम गाती हो?"

"गा लेती हूँ, लेकिन यों ही। आपसे बल्कि सुनूँगी। अभी-अभी वे लोग कह रही थीं, आप बड़ा अच्छा गाती हैं।"

"मैं? मेरे गाने के दिन तो गये, बहू।"

फिर वही—नहीं, जब-तब आँखों में आँसू आ जायेंगे तो कैसे चलेगा, गाँव भर की औरतों के सामने! उसकी क्या आँखें भर-भर कर आँसू गिराने की उमर है? जवान लड़के की बड़ी बूढ़ी माँ है वह।

प्रीतिलता देखने में सुन्दर है—उमर होगी यही अठारह के लगभग। ननिबाला ने सँभल कर कहा, "आना, बहू। तुम्हीं लोगों के आसरे तो फिर इस गाँव की ज़मीन पर पैर रखा है। तुम नहीं आओगी तो कौन आयेगा।"

सब ठीकठाक चल रहा था। इसी बीच उसी की उम्र की एक और स्त्री से उसकी भेंट हो गयी। इसका नाम था कनक। इसी मुहल्ले के किसी घर की लड़की थी—शायद उपेन भट्टाचार्य की लड़की। कनक ने दौड़ कर उसके दोनों हाथ पकड़कर कहा, "याद है भाभी, याद है मेरी?"

ननिबाला को अच्छी तरह याद था। ब्याह के बाद पहले-पहल जब वह पति के कमरे में जाती, तब यही कनक और रायचौधुरियों की सुवासिनी दोनों कितने असाधारण धैर्य के साथ उसके बन्द द्वार के बाहर ताक लगाये बैठी रहती थीं आधी-आधी रात तक! एक दिन—लेकिन नहीं, वह सब बात मन ही में दबी रहना ही अच्छा है.... उनके वह जुही की गन्ध से लदे हुए मदमाते दिन न जाने किस दिगन्त में विलीन हो गये। लेकिन इन सब गाँव देहात की औरतों को समझ कुछ कम है—नहीं तो वह जिसे प्राणपण से दबा देना चाहती है उसी को वह लोग छेड़ कर जगाना क्यों चाहती हैं? कुछ तो समझ होनी चाहिए.... कनक के सामने आने से ही उसे याद हो आती है उन मीठी रातों की टटकी, जुही और चम्पे की गन्ध.... क्यों ये सामने आती हैं—क्यों?

ननिबाला ने किसी तरह मुँह पर मुस्कराहट लाकर कहा, "हाँ, कनक बहन। अच्छी हो?"

"अच्छी हूँ। और तुम?"

"देख ही रही हो।"

"देख तो रही हूँ। याद करके दिल फटा जाता है उस दिन जब भैया ने मेरे मुँह पर खड़िया घोलकर मल दी थी झाँकने पर—वह बात तुम्हें याद है?"

इनके पास मानों करने को आज और कोई बात ही नही है। ननिबाला को चुप देख कर कनक शायद कुछ अप्रतिभ हो गयी। वह भी चुप हो गयी।

भीड़ बढ़ गयी थी। आँगन में स्त्रियों के लिए प्रसाद के पत्तल सजा दिये गये। ननिबाला और अन्य स्त्रियाँ वहीं बैठीं। सत्यनारायण की कथा आरम्भ हुई।

थोड़ी देर में लाठी टेके एक बूढ़ा वहाँ आ खड़ा हुआ। उसके बायें हाथ में एक कटोरा था। बोला, "कथा अभी हुई नहीं?"

हरिदास चक्रवर्त्ती के लड़के ने कहा, "अभी नहीं, ताऊजी, आओ बैठो।"

"नहीं, औरतों के बीच क्या बैठना! जाऊँ, बाहर जाऊँ। कितनी देर होगी?"

"अधिक देर नहीं ताऊजी।"

"फिर घर जाकर रोटी बनानी खानी होगी—अधिक रात न हो जाय।"

ननिबाला ने पास की किसी से पूछा, "ये कौन हैं?"

उत्तर मिला, "बूढ़ा चटर्जी है। लड़के अच्छा कमाते हैं। कलकत्ते रहते हैं। बूढ़ा यहाँ पड़ा है, उसे पूछते भी नहीं।"

"स्त्री नहीं है अब?"

"है कैसे नहीं। लड़कों के पास कलकत्ते ही रहती है।"

"ये क्यों नहीं जाते लड़कों के पास?"

"क्या पता, बहन। यह कोई नहीं जानता। यहीं रहते हैं, यही तो देखती हूँ। और तुम भी तो हो—यहाँ अपनी ही खबर नहीं, दूसरे का पता क्या रखूँगी?"

कथा होते न होते रात बहुत हो गयी। ननिबाला बेटे के साथ घर जा रही थी तो उसने देखा, वही बूढ़ा लाठी टेकता हुआ उनके आगे-आगे चला जा रहा है। उनको देख कर बोला, "कौन है भैया—तुम्हें तो पहचाना नहीं—"

सुरेश का परिचय पाकर बूढ़े चटर्जी बहुत खुश हुए। उसे बहुत-बहुत आशीर्वाद देकर ननिबाला से बोले, "बहू, तुम्हारे ब्याह के बाद एक दिन तुम्हें देखा था—बहू-भात के दिन। आना हमारे यहाँ भी, क्यों—कल ही आना!"

दूसरे दिन तीसरे पहर ननिबाला वृद्ध चटर्जी के घर गयी। सामने बरामदे वाला पुराने ढंग का मकान; चबूतरे के एक तरफ़ गूलर का पेड़, दूसरी तरफ़ चकोतरे का। एक पपीते का पेड़ पपीतों से लदा हुआ था।

वृद्ध ने कहा, "क्या देख रही हो, बहू? वह सब मेरे अपने हाथ का लगाया हुआ है। सवाईपुर के विश्वासों के घर से बीज मँगाया था आज से नौ बरस पहले। उसी के पेड़ हैं। तब वे सब यहीं थे—"

"वे सब कौन, ताऊजी?"

"तुम्हारी ताई, बिटिया।"

"आपकी रसोई कौन करता है?"

"मैं ही। बड़ा अच्छा खाना बनाता हूँ मैं। अभी ही बैठे-बैठे परांवठे बनाऊँगा।"

"ताई, यहाँ नहीं रहतीं?"

"नहीं बेटी। वह कलकत्ते बड़े लड़के के पास रहती है।"

"कितने लड़के हैं आपके?"

"तीन। अपने मुँह नहीं कहना चाहिए, पर तीनों अच्छी नौकरी पर हैं। शाम बाज़ार में तिमंज़िला मकान है, बिजली पंखे हैं। बड़े लड़के की मोटर है। सभी जानते हैं, मानते हैं। चटर्जी साहब कहने से ही सप्लाई विभाग के सब लोग पहचान जायँगे। चेहरा भी बिलकुल साहबी है। यह मत समझना कि अपना लड़का है इसलिए कह रहा हूँ।"

वृद्ध की आँखों में गर्व का भाव स्पष्ट हो आया। मन ही मन हँसते हुए-से वह बोले, "जब पैदा हुआ तब ज़रा-सा था वह। उसकी माँ ने फूलपुर के पाँचू महाराज की मन्नत करके उसे बचाया। छः बरस की उमर में बिच्छू काटने से उसका शरीर नीला पड़ गया था, तब भटकटैये की जड़ पीस कर खिलायी और जल और तेल के मंत्र पढ़ कर किसी तरह मरते-मरते बचाया। तभी तो आज हमारे नृपेन बाबू बने। आओ, बैठो तो, बहू। ये परांवठे सेक लूँ तो बैठ कर तुमसे बातें करूँ।"

एक छोटी हँड़िया खरोंच-खरोंच कर आधी छटाक के क़रीब घी निकला।

वृद्ध ने हँड़िया दिखा कर कहा, "दालदा है। अच्छा दालदा। और मिलता भी कहाँ है—'श्री घी' तो आठ रुपये सेर है।"

"क्यों, लड़का कुछ भेजता नहीं?"

वृद्ध ने जल्दी से कहा, "कौन, नृपेन? उसका बड़ा खर्च है। जैसी आय है, वैसा ही खर्च है। मैं उसे तंग नहीं करता। मेरे तीन-एक बीघे धान के खेत हैं, और लौकी, कद्दू, भिंडी, डंठल आदि मैं खुद उगा लेता हूँ। बस मज़े से कट जाती है। नृपेन ने पूजा के समय एक थान अच्छा कपड़ा भेज दिया था—महीन कपड़ा—सो बहू, उसे मैंने सँभाल कर रख दिया है। बार-बार देख कर सोच लेता हूँ, यह बड़े ने मुझे दिया है। छोटा भी पहले कलकत्ते रहता था, अब कानपुर है। उसने पूजा के दिनों एक जोड़ा चट्टियाँ भेजी थीं।"

ननिबाला ने इस बीच परांवठे बेल लिये थे। बोली, "आप ही सेकेंगे या मैं सेक दूँ?"

"नहीं बेटी, मैं ही सेक लेता हूँ।"

"क्यों कष्ट करेंगे, लाइए दीजिए, मैं सेक देती हूँ।"

ननिबाला ने भोजन तैयार करके दूध गर्म किया, पीढ़ा डाल कर वृद्ध को भोजन करने बिठाया। वृद्ध के मुँह का भाव स्पष्ट कह रहा था कि बहुत दिनों से ऐसे आग्रह से उन्हें किसी ने नहीं खिलाया था।

वृद्ध ने कहा, "कैसे बढ़िया परांवठे बने हैं। स्त्री के हाथ के भोजन के बिना क्या तृप्ति होती है कभी? उनके हाथ की रसोई और ही चीज होती है। जियो, बहू, जियो। बहुत दिनों बाद मुँह का स्वाद बदला।"

"बहुएँ कोई यहाँ क्यों नहीं रहतीं?"

"नहीं नहीं। भला ऐसा हो सकता है? उन्हें इस गँवई गाँव में रहने को कह सकता हूँ? ऐसी जगह उनका मन कैसे

लगेगा ? मैं ग़रीब था ज़रूर, लेकिन जैसे-तैसे लड़कों को मैंने लिखा-पढ़ा कर आदमी बनाया है। ब्याह भी वैसे ही घरों में किया है। बड़ी बहू का बाप मोतिहारी में सिविल सर्जन है। मँझली का बाप नहीं है, मामा खिदिरपुर में बड़े ठेकेदार हैं। 'राय चौधरी' कम्पनी का नाम सुना है तुमने ? वही राय चौधरी कम्पनी उनकी है। छोटी बहू का पिता आजकल बाँकुड़ा का सदर एस० डी० ओ० है। बड़ी बहू मेट्रिक पास है; छोटी बी० ए० तक पढ़ी है, इम्तिहान नहीं दिया। अंग्रेज़ी ऐसी बोलती है—मैंने ओट से सुना है—मानो मेम साहब। हाँ बहू। ये सब अपनी आँखों से देखे बिना यहाँ से तो कहानी-सी लगेंगी।"

"वे यहाँ कभी नहीं आयीं ?"

"बड़ी बहू एक बार पूजा के समय आयी थी, जिस बार मेरे बड़े पोते का अन्नप्राशन हुआ था। पहले लड़के का अन्न-प्राशन यहीं हुआ था न। यह बीस बरस पहले की बात है। पोता अब मेडिकल कालेज में डाक्टरी पढ़ता है। उसके बाद दो लड़कियाँ हैं, दोनों स्कूल में पढ़ती हैं। अबकी एक ने मेट्रिक किया है। छोटी बहू को लेकर छोटा लड़का उस बार आया था मोटर लेकर। चार-पाँच घंटे सब यहीं रहे। मैंने बहुत दिनों से देखा नहीं था न, इसलिए चिट्ठी लिख कर बुलाया था। तभी बहू को लेकर मिलने आया था। छोटी बहू यहाँ सिर्फ़ डाब[1] और चाय पीती रही। गाँव देहात के पानी से मलेरिया होता है न ! बड़े घर की पढ़ी-लिखी है, समझती हो न ? रात यहाँ नहीं रही। सोने को जगह भी कहाँ होती—न बिछौना, न मसहरी। मैं ही सोता हूँ एक फटी मसहरी लगाकर। रात भर मच्छर काटते रहते हैं। आँखों से अच्छी तरह दिखता नहीं कि सिलाई करूँ।"

ननिबाला ने कहा, "ताऊजी, मैं कल आपकी मसहरी सी कर ठीक कर लाऊँगी।"

"बहुत अच्छा, बहू। आना। और थोड़ा-सा गुड़ साथ ले आ सकोगी—खाने को मन होता है। इस साल खरीद नहीं सका। बहुत महँगा है। पराँवठे के साथ खजूर का गुड़ बहुत अच्छा लगता है"।

भोजन समाप्त करके वृद्ध चटर्जी महाशय गुड़-गुड़ी की चिलम सँवारने लगे। ननिबाला घर लौट आयी। उसके मन में न जाने कैसा-कैसा हो रहा था।

सुरेश को उसने खाना दिया। सुरेश ने कहा, "माँ, कैसी अच्छी चाँदनी है, यहाँ बैठो न।"

ननिबाला ने पूछा, "तुझे उनकी याद आती है ?"

"बहुत आती है। मुझे सबेरे उठ कर पहाड़े याद कराया करते थे—" सुरेश का गला भर आया था, और स्वर रुँध गया था।

ननिबाला ने सोचा, "यही अच्छा है, यही अच्छा है. . लड़का आज तुम्हें याद करता है, तुम नहीं हो इसलिए। उसके मन में तुम्हारा सम्मान बना रहे। मन बदल जाता है—तुम रहते तो क्या जाने, चटर्जी ताऊजी की तरह तुम्हें भी उपेक्षा सहनी पड़ती ! अच्छा ही हुआ, तुम मान रहते चले गये।". .

(बँगला से)

[1] डाब, कच्चा नारियल, जिसका पानी पिया जाता है।

जीवित-समाधि

इरावती कर्वे

बहुत सबेरे से ही हम लोग नदी के किनारे अपने काम में लगे थे। नदी रेतीले किनारों के बीच मन्थर गति से बह रही थी। रेत क्रमशः तपती जा रही थी, और कगारों पर चढ़ते-उतरते हम पसीना-पसीना हो गये थे। दोपहर के पश्चात् एक मोड़ पर मुड़ते ही देखा, नदी के कछार ने अपना रूप बदल दिया है। रेत के बदले जमी हुई मिट्टी के ऊँचे-ऊँचे कगार—उस सौ फ़ुट ऊँची दीवार में जहाँ-तहाँ हल्के गुलाबी और गहरे लाल रंगों की तहें भी चमक रही थीं। नीचे और कहीं बीच में भी रेतीले पत्थर थे, और इनसे कुछ दूर पीले तथा लाल रंग के पत्थरों की बड़ी-बड़ी चट्टानें। चौड़ा पाट यहाँ आकर बहुत सँकरा हो गया था और बालू में खोई-सी बहने वाली धार यहाँ एक चट्टान से दूसरी पर छलछलाती हुई बह रही थी। बीच-बीच में स्फटिक और रंगीन पत्थर चमक उठते थे। ऊपर स्वच्छ नीला आकाश, नीचे रंग और ध्वनि का लीला चित्र—सभी लोग निःशब्द आश्चर्याभिभूत होकर खड़े रहे; किन्तु विद्यार्थियों के समूह में आनन्द की एक हिलोर उठी और शीघ्र ही जूते और क़मीज़ें उतार कर सब के सब पानी में घुस गये और किलोलें करने लगे। कुछ तैरने लगे, तो कुछ डुबकी मारने लगे। चिकने गोल पत्थर छूने में गरम प्रतीत होते थे। धूप में रेत चमक रही थी और हमारी आमोद भरी बातचीत से सारा वातावरण गूँज रहा था। वहाँ एक छोटा-सा प्रपात था; हम लोग उसकी धार में फिसलते हुए नीचे के छिछले जलाशय में जा गिरे। नीचे एक चट्टान के आगे मुड़ते ही हम लोगों ने देखा, दूसरे किनारे एक देहाती युवक पानी में पैर लटकाये बैठा था। समीप आने पर हम लोगों ने जाना, उसके पैर केवल दो ठूंठ थे जिनकी उँगलियाँ गलकर गिर चुकी थीं। स्पष्ट ही वह कोढ़ी था। हमारी हँसी हमारे गलों में ही खो गयी, हम धूप में भी काँप गये। क्षण भर उस युवक की ओर जड़वत् ताकते रहे; फिर उस स्थल से ऐसे भाग खड़े हुए जैसे शिकारी से जानवर भागता है।

कगार की चोटी पर पहुँचकर थोड़ी देर तो सब लज्जित-से रहे; फिर कपड़े सुखाते और भोजन की तैयारी करते समय कोढ़ पर चर्चा चल पड़ी। विद्यार्थी सभी इतने छोटे थे कि उस बेचारे रोगी के लिए अत्यन्त व्यथित हों, करुणा और ग्लानि के साथ-साथ यह चर्चा भी रही कि आज का विज्ञान इस भयंकर बीमारी को मिटा सकने में कितना असफल है। एक ने कहा—"जब भी मैं किसी कोढ़ी को देखता हूँ तो मेरा रोम-रोम काँप उठता है। मैंने दूसरों को भी देखा है कि उनकी भी यही हालत होती है। पर कोढ़ी शेष संसार के बारे में क्या सोचता होगा, पता नहीं।"

उसके इस प्रश्न का उत्तर कोई भी नहीं दे सका, पर मुझे एक वर्ष पहले की बात याद आ गयी। कोढ़ियों को अलग एक श्रेणी मानकर उनसे एक ही प्रकार के आचरण या प्रतिक्रियाओं की अपेक्षा करना ग़लत है। वह भी जीवन की एक चरम-दशा है और प्रत्येक उसका सामना अपने-अपने चरित्र के अनुसार करेगा।

विभिन्न जातियों के लोगों से सम्पर्क स्थापित करने में एक नवयुवक ने मुझे बड़ी सहायता दी थी। वह एक प्रारम्भिक पाठशाला में अध्यापक था; सभी उसे जानते थे और उसका आदर करते थे। प्रत्यक्षतः वह अकेला था, एक ही कमरे में रहता था और वहीं अपने हाथ से भोजन तैयार करता था। एक दिन मैं जब गाँव का दौरा कर रही थी, तो मुझे एक बुढ़िया मिली जिसने बताया कि वह उस नवयुवक की सास है और मुझसे अनुरोध किया कि उसकी पत्नी के साथ में उसका समझौता करा दूँ—वह पत्नी के साथ नहीं रहता। बुढ़िया ने अपनी लड़की को घर से बाहर पुकारा। वह फटे चिथड़े पहने थी और बीमार तथा चिर उपेक्षिता दीखती थी। दोपहर के बाद जब मैं लौट कर नगर आयी तब मैंने युवक को उसकी पत्नी की अवस्था बता कर उसे समझाना चाहा कि वह कैसा दुर्व्यवहार कर रहा है और पत्नी के प्रति उसका कर्तव्य क्या है। वह नवयुवक, जो सदैव इतना हँसमुख तथा शिष्ट रहता था, तुरन्त गम्भीर होकर केवल
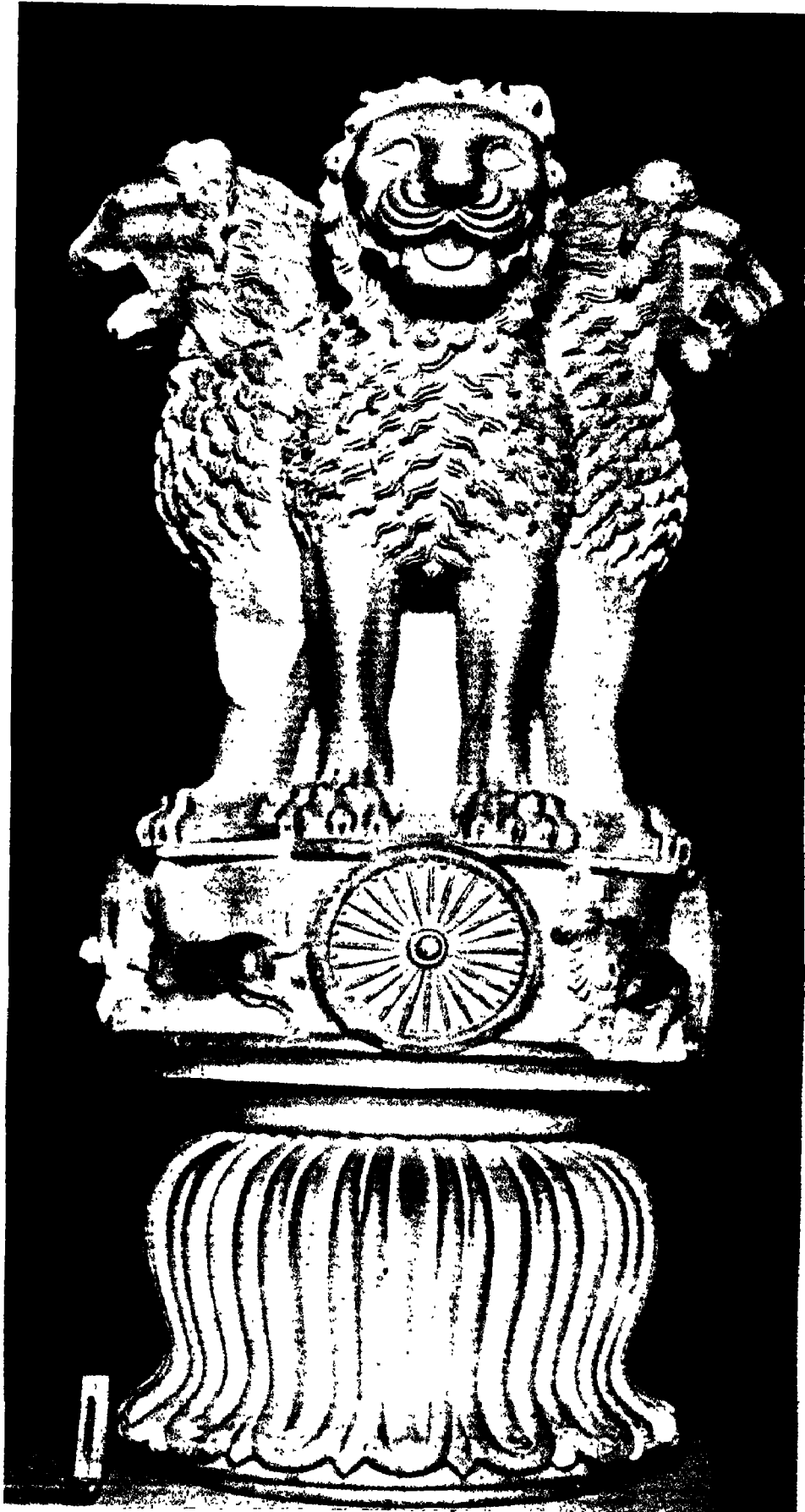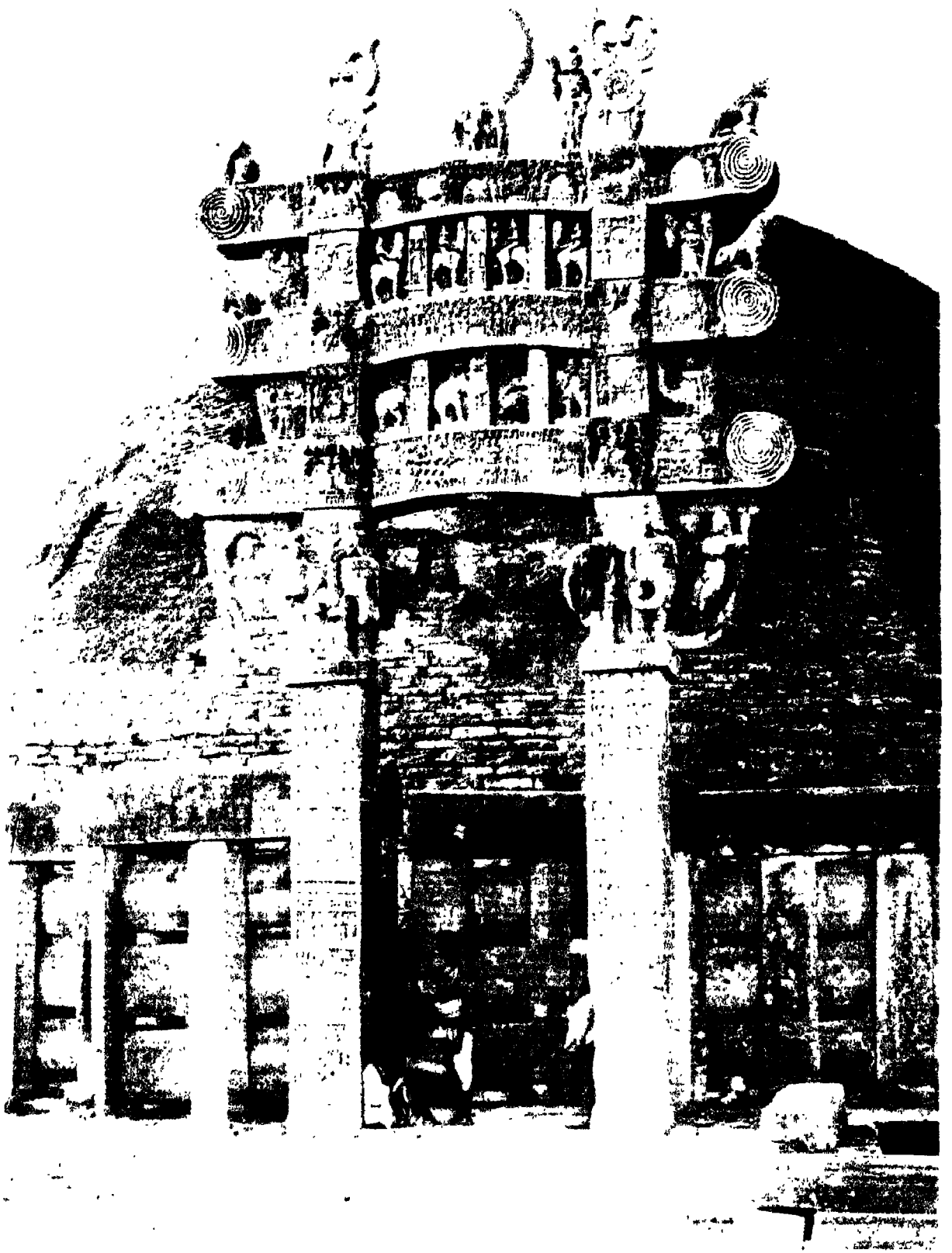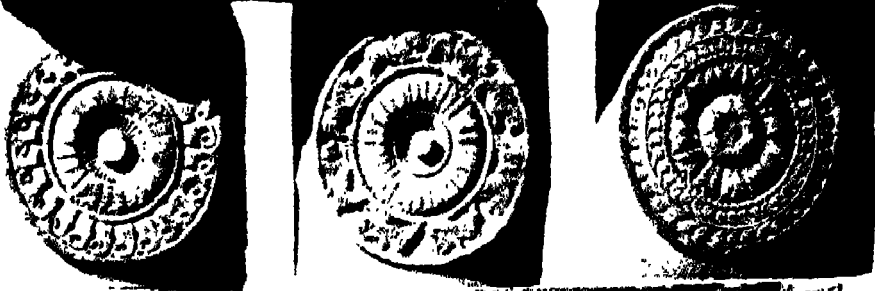
फलक ५.३

फलक '५४

इतना बोला कि मैं जो कह रही हूँ वह असम्भव है। फिर वह चुप्पी साध गया। उसके बाद न तो उसने मेरी ओर देखा और न कुछ उत्तर दिया। मैं भी क्रुद्ध होकर चली आयी।

रात को अपने आतिथेय से इस नवयुवक सहायक के सम्बन्ध में बात करने पर उन्होंने बताया कि वह आठ वर्ष की आयु में ही अनाथ हो गया था; एक वृद्धा चाची ने उसका पालन-पोषण किया और मित्रों की सहायता से उसकी शिक्षा पूरी हुई। सहायकों में मेरे आतिथेय भी थे। दो वर्ष पूर्व उन सब ने एक उपयुक्त वधू खोज कर विवाह सम्पन्न करा दिया; लेकिन कुछ ही दिनों बाद युवक के कोढ़ के चिह्न प्रकट होने लगे। मित्रों ने एक बार फिर सहायता की, उसे कलकत्ते के 'ट्रॉपिकल डिज़ीज़ेज़' अस्पताल में उपचार के लिए भेजा गया। एक साल की चिकित्सा के बाद वह चंगा होकर लौट आया। लेकिन अस्पताल में उसने कई बार दूसरों को चंगा होने के बाद पुनः रोग का शिकार होते देखा था; इसलिए उसे अपनी रोग-मुक्ति पर विश्वास नहीं था। घर लौट कर वह फिर अपने काम में लग गया। पत्नी को उसने मायके भेज दिया और खर्च के लिए उसे प्रतिमास अपना आधा वेतन भेजने लगा: अपने आप को उसने समाज-सेवा में लगा दिया और पत्नी के साथ रहने से बिल्कुल इन्कार कर दिया। क्योंकि वह उसे रोग-दूषित नहीं करना चाहता था, न रोगी सन्तान पैदा करना चाहता था। मैं सुनकर स्तब्ध रह गयी। उस बेचारे त्यागी को समझाने-फटकारने की अपनी अनधिकार चेष्टा पर लज्जा तथा पश्चात्ताप के कारण मैं व्यथित हो उठी।

उसी दौरे के सिलसिले में मैं एक दूसरे नगर भी गयी थी। वहाँ एक युवक डिप्टी कलक्टर ने मेरी सहायता की थी। उसे सुन्दर वस्त्र पहनने और बात करने का शौक़ था; मुझे वह अपने घर ले जा कर झुण्ड के झुण्ड नौकरों से सुस्वादु भोजन कराता या अपने सुन्दर ढंग से सजे हुए ड्राइंग-रूम में चाय-काफ़ी पिलाता। उस छोटे नगर को वह 'अंडमान' कहता और वहाँ के लोगों के उजड्डपन की खिल्ली उड़ाता तथा मुझ से बात कर सकने पर आनन्द प्रकट करता। उसका यह गर्व और सौन्दर्य-प्रेम मुझे मनोरंजन जान पड़ता, और फिर दिन भर के परिश्रम के बाद शाम को खंडहर डाक-बँगले से निकल कर उसके यहाँ जाना भी मुझे भला ही लगता।

एक दिन बड़े तड़के उसकी कार डाक-बँगले के सामने आकर रुकी। मुझे आश्चर्य हुआ कि वह इतने सवेरे यहाँ कैसे आ गया। द्वार पर जाते हुए मैंने उसे मोटर से उतरते देखा, उसके कपड़े अस्तव्यस्त थे, चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं और टाँगें काँप रही थीं। लड़खड़ाते हुए क़दमों से वह भीतर आया और आकर बिना कुछ बोले धम्म से कुर्सी पर बैठ गया। मेरे उत्सुक और चिन्तित प्रश्नों का उत्तर वह बड़ी देर में ही दे सका। अन्त में मेरी ओर मुड़ कर बोला, "आपको वही कोढ़ी बुढ़िया याद है न जो नीम के पेड़ के नीचे बैठी रहती थी?" मेरे सिर हिला कर हाँ कहने पर उसने बताया, "वह गाँव के कुएँ में कूदकर मर गयी।" इससे उसकी घबराहट का सम्बन्ध अभी मेरी समझ में नहीं आया है, यह देख कर वह कहता गया, "सारे गाँव में पानी पीने के लिए एक वही कुआँ है।"

अब तक गाँव भर के लोग डाक-बँगले में आकर जमा होने लगे। उनकी क्रुद्ध आवाज़ें भीतर से स्पष्ट सुनाई दे रही थी। सोचने-विचारने का समय नहीं था, कुछ उपाय तुरन्त करना आवश्यक था। तय हुआ कि सारी बस्ती को आस-पास के गाँवों में पहुँचा दिया जाय, और फिर कुएँ की सफ़ाई के बारे में डाक्टरी राय ली जाय।

डिप्टी कलक्टर और मैं अन्त तक वहाँ रहे। सड़क नर-नारियों और बच्चों से भर गयी। बैलगाड़ियों और घोड़ों पर या अपनी-अपनी पीठ पर सामान लादे सब चले जा रहे थे और उस बेचारी मरी बुढ़िया को कोसते जाते थे। धीरे-धीरे बढ़ते उस टाँडे को देखती हुई मैं सोचने लगी, किस प्रेरणा से बाधित होकर बुढ़िया ने ऐसी मौत चुनी होगी? क्या यह केवल संयोग ही था कि उसने अपने को कुएँ की जगत पर पाया, या उसने जान-बूझ कर उस सारे स्वस्थ संसार से बदला लेने के लिए ऐसा किया जो कि रोज़ उसके पास से हँसता-खेलता गुज़रता था, जब कि वह अपनी जीवित-समाधि में बैठी साँसें गिनती थी?

(मराठी से)

जीवन-शिल्पी गान्धीजी

नीहाररंजन राय

व्यक्ति की सृजन-क्षमता और उसके जीवन दर्शन का विवेचन हम साधारणतया उसके शिल्प-बोध, साहित्य-बोध, या एक शब्द में कहें तो उसके जीवन-बोध की गम्भीरता और व्यापकता के सहारे ही किया करते हैं। इन्हीं में व्यक्ति के जीवन का गम्भीरतर परिचय मिलता है। समकालीन व्यावहारिक जीवन की तरंगों के साथ-साथ उनका अविराम उत्थान-पतन और कर्म-कोलाहल इस सच्चे परिचय को आच्छन्न कर रखता है और जटिल बना डालता है। गान्धीजी के जीवन में भी इसका व्यतिक्रम नहीं हुआ।

व्यतिक्रम न होना ही स्वाभाविक था। गान्धीजी का सारा जीवन अन्याय, असत्य, अधर्म, अत्याचार के विरुद्ध अनवरत संग्राम में, और उस संग्राम के लिए अपेक्षित कठोर सत्यान्वेषी नियम-निष्ठ जीवनचर्या में ही बीता। फिर गान्धीजी के संग्राम की पद्धति भी अभूतपूर्व और सर्वथा असाधारण थी; हमारे या विश्व के इतिहास से किसी पूर्वाभिज्ञता का सुयोग उन्हें नहीं था। और उस संग्राम के वही अकेले सैनिक न थे, उनका तो अविचल संकल्प था कि वह सहस्रों को अपनी धारणा के अनुकूल सैनिक बना सकेंगे। एक जीवन के लिए यह कर्म-तालिका काफ़ी लम्बी और कष्टसाध्य है, इसमें सन्देह नहीं।

इस प्रकार के जीवन में किसी के शिल्प-बोध, साहित्य-बोध या गम्भीरतर जीवन-बोध का परिचय पाने का सुयोग स्वभावत: कम मिलता है। कर्मनिष्ठ जीवन की गम्भीर कल्पना और ध्यान का मन्त्र उच्चारण करना सहज नहीं, और उच्चरित होने पर भी कर्मरूपी रथ-चक्र की गर्जना में उसकी ध्वनि और व्यंजना विलीन हो जाती है। इसके अतिरिक्त शिल्प, साहित्य या संगीत चर्चा करने का सुयोग उन्हें नहीं मिला, न उन्होंने लिया ही। उन्होंने स्वयं कई बार कहा है कि विभिन्न भाषाओं का श्रेष्ठ साहित्य उन्होंने नहीं पढ़ा। विभिन्न देश, काल एवं जाति का श्रेष्ठ शिल्प उन्होंने नहीं देखा। उनके अपने जीवन-दर्शन में इन सब की विशेष स्वीकृति भी नहीं है। संगीत उन्हें प्रिय था लेकिन वही भजन या संगीत जो चित्त को सत्य और ईश्वर की ओर ले जाते हों। उनका सुकठोर, सत्यान्वेषी, नियम-निष्ठ आचरण, उनकी सादी अलंकार-हीन वेश-भूषा, सहज सरल ध्वनिव्यंजना, रूपक-विहीन भाषा और सापेक्षतया रसहीन, निष्कलुष, तपस्याग्न, ईश्वराभिमुख मन भी हमारी इस धारणा को पुष्ट ही करता है।

केवल कला के लिए कला, केवल भावना-कल्पना के लिए भावना-कल्पना—यह चीज़ गान्धीजी में कभी नहीं थी। जब कभी उन्होंने कुछ सोचा, कल्पना की, लिखा या कहा, उसका उद्गम सतत कर्म-प्रेरणा में ही रहा। कर्मयोग की साधना को किस प्रकार और भी संगत और सौष्ठव-पूर्ण उपायों से और भी बलवती और सुनियन्त्रित बनाया जा सकता है, इसी के लिए उनका लिखना-बोलना, उनकी भावना-कल्पना होती थी।

उन्होंने जो कहा, जो लिखा या जो कुछ चिन्तन किया, उसका कोई मूल्य उनकी दृष्टि में न था। बराबर उन्होंने कहा है: 'अपने लिए और दूसरों के लिए मैं क्या हूँ और क्या होना चाहता हूँ, उसी में मेरा मूल्य निहित है। उसी से मेरा आकलन होगा।' यह दृष्टिकोण एक कर्मयोगी का है। लेकिन शिल्पी अर्थात् स्रष्टा का जगत् तो दर्शन, बुद्धि और धारणा का जगत् है। कम से कम साधारणत: लोगों की यही धारणा है, और इस धारणा के ज़रिये हम सोचते हैं कि शिल्पी या स्रष्टा के रूप में गान्धीजी की देन बहुत अल्प है।

गान्धीजी के सम्बन्ध में यह कहाँ तक सत्य है, इस पर विचार करना होगा।

* * *

इसके लिए कुछ तथ्य लिखने होंगे।

११ अगस्त १९२१ को 'यंग इंडिया' में जब गान्धीजी के एक लेख में नीचे उद्धृत वाक्य छपा था, तब मैं कालेज में

नया-नया भरती होकर, तत्काल ही कालेजरूपी गुलामखाने को अँगूठा दिखाकर निकल भी आया था। निष्क्रिय प्रतिरोध क्या वस्तु है, यह तो नहीं समझता था, पर कष्ट सहने का और देश के लिए कुछ करने का आग्रह बहुत था, और उस वयस् में ही रवीन्द्र-साहित्य से और अवनीन्द्र-नन्दलाल के चित्रों से भी घनिष्ठ परिचय था। इसलिए जब पढ़ा कि—

"सच्ची कला केवल शैली का आश्रय लेकर नहीं चलती। उसका मुख्य तत्त्व वह है जो शैली के भी परे है। एक कला घातक होती है और एक कला होती है जो जीवन प्रदान करती है। सच्ची कला तो कलाकारों के आनन्द, सन्तोष और उनकी आन्तरिक पावनता की साक्षी होती है।"[1]

तब मन को अकस्मात् धक्का लगा। तो गान्धीजी क्या 'सच्ची' का मतलब 'नैतिक' समझते हैं और समझाना चाहते हैं? फिर ऐसे भी तो बहुत-से शिल्पी, कलाकार या कवि हैं जो व्यक्तिगत जीवन में दुखी, अशान्त एवं अपवित्र थे, फिर भी उनकी कृतियाँ बाद में महान् कलाकृतियाँ मानी गयी हैं। बहुत दिनों तक गान्धीजी के इन शब्दों से मैं सहमत न हो सका।

१३ नवम्बर १९२४ के 'यंग इंडिया' में कला के प्रति गान्धीजी की दृष्टि का और भी विस्तृत परिचय पाया जाता है :

"हर वस्तु के दो पहलू होते हैं—बाह्य और आन्तरिक। मेरे लिए यह केवल किसी एक वस्तु पर बल देने का प्रश्न है। बाह्य का तो कोई अर्थ नहीं है सिवा इसके कि वह आन्तरिक का सहायक हो। इस प्रकार सभी सच्ची कला तो आत्मा की अभिव्यक्ति है। बाह्य आकार का तो केवल इतना महत्त्व है कि वह मानव की आन्तरिक भावनाओं को रूप दे सके। उस प्रकार की कला मुझे बहुत ही प्रभावित करती है। लेकिन मुझे मालूम है कि बहुत-से लोग अपने को कलाकार कहते हैं, और माने भी जाते हैं, पर आत्मा के उन्नयन की इस प्यास और आकुलता का कोई चिह्न भी उनकी कृतियों में नहीं मिलता।

"सभी सच्ची कला को चाहिए कि वह आत्मा को अपने आन्तरिक स्वरूप का साक्षात्कार करने में सहायता दे। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं तो अपने आत्म-साक्षात्कार में बिना किसी बाह्य रूपाकारों की सहायता से काम चला सकता हूं। मेरे कमरे में नंगी दीवारें हों, और चाहे छत भी हटा ली जाय ताकि मैं ऊपर फैले हुए तारों भरे आकाश को देख सकूं जो सौन्दर्य के अनन्त विस्तार की तरह फैला हुआ है।......फिर भी, इसके मतलब यह नहीं हैं कि मैं कलाकृतियों के महत्त्व को स्वीकार ही नहीं करता, जैसे कि लोग स्वीकार करते हैं, लेकिन मैं व्यक्तिगत रूप से यह महसूस करता हूं कि प्राकृतिक सौन्दर्य के अनन्त प्रतीकों की तुलना में ये कलाकृतियाँ उसी सीमा तक हैं, जहाँ तक वह आत्मा को अपने सच्चे रूप के साक्षात्कार की ओर प्रेरित करती हैं।

"केवल सत्य विचार ही नहीं, बल्कि सभी सत्य, चाहे वे सत्य चेहरे हों, चित्र हों, या गीत हों, सभी में सौंदर्य कूट-कूट कर भरा रहता है। लोग आम तौर से सत्य में सौन्दर्य नहीं देख पाते हैं—साधारण लोग उससे भाग निकलते हैं और उसके सौन्दर्य के प्रति अन्धे रहते हैं। जब आदमी सत्य में सौन्दर्य के दर्शन करने लगता है, तभी सच्ची कला का उद्‌भव है। सच्ची सौन्दर्यमयी कृतियाँ तभी आती हैं जब मनुष्य में सम्यक् दृष्टि हो। ये क्षण जीवन में जितने दुर्लभ होते हैं, उतने ही कला में भी दुर्लभ होते हैं।"

शायद इसी समय के आसपास गान्धीजी के साथ देवकंठ गायक दिलीपकुमार राय की एक सुदीर्घ वार्ता हुई शिल्प, संगीत इत्यादि के सम्बन्ध में। इसमें भी गान्धीजी ने अपना वही मत अभिव्यक्त किया था और उसी जीवन-दर्शन का परिचय दिया था। मनुष्य के सृजन-कार्य के अन्दर संगीत और स्थापत्य की सामाजिक उपयोगिता को यद्यपि उन्होंने कुछ सीमा तक स्वीकार किया, किन्तु साहित्य या चित्रकला में उस उपयोगिता का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया। दिलीपकुमार गान्धीजी से सहमत न हो सके। बहुतों ने तब यह सोचा था—और मैंने भी सोचा था—कि अनेक कर्मयोगी महापुरुष जैसे कट्टर उपयोगितावादी होते हैं, शायद गान्धीजी भी वैसे ही हैं।

फिर छात्रों की तरह बहुत दिन बीते। अब भी बीत रहे हैं, भारतीय शिल्प के अध्ययन और भारतीय शिल्प-शास्त्र के

[1] True art takes note not merely of form but also of what lies behind. There is an art that kills and an art that gives life. True art must be evidence of the happiness, contentment and purity of its authors.

गहन अरण्य में। क्रमशः मन में यह प्रश्न जागने लगा कि, शायद गान्धीजी की शिल्प-सम्बन्धी धारणा और जीवन-दर्शन के अन्दर कुछ मौलिक सत्य है; और वह सत्य भारतीय कला-बोध से निकट ही है। आचार्य आनन्दकुमार स्वामी के प्रयास से भारतीय कला-क्षेत्र में दृष्टि स्फुरित हुई। 'ट्रान्सफ़र्मेशन आफ़ नेचर इन आर्ट' (कला में प्रकृति का रूप-परिवर्तन) रचना तब प्रकाशित हो चुकी थी और भारतीय शिल्प-दर्शन को लेकर प्रचुर मात्रा में आलोचना भी हुई। तब गान्धीजी के उन विस्मृत शब्दों की याद आने लगी। संगीत के सम्बन्ध में सन् १९२० में एक बार उन्होंने लिखा था 'संगीत के अर्थ हैं लय-व्यवस्था। वह फ़ौरन शान्ति देता है।"[1]

वर्जिश के सम्बन्ध में एक बार लिखा था, "नारी और पुरुषों के अपार जन-समूहों को अनुशासित गति में एक अभिविहित संगीत रहता है। वर्जिश में संगीत की लय होती है जिससे प्रयास की अनुभूति नहीं होती और थकावट भी मिट जाती है।"[2]

मेरे मन में विचार उठने लगे, फिर तो गान्धीजी में कलात्मक दृष्टि नहीं है यह असत्य है। १९ फ़रवरी सन् १९३८ के 'यंग इंडिया' में उन्होंने पुरानी बातों की पुनरावृत्ति करके लिखा :

> "हम लोग जाने कैसे इस धारणा के आदी हो गये हैं कि कला वैयक्तिक जीवन की शुचिता के परे है। अपनी समस्त अनुभूतियों के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि इससे बड़ा झूठ और कोई नहीं हो सकता। चूँकि मेरे भौतिक जीवन का अन्त निकट आ रहा है, मैं यह कह सकता हूँ कि पवित्र जीवन ही सबसे ऊँची और परम सत्य कला है। सधे हुए स्वरों से अच्छे गीत गा लेने की कला बहुतों को आ सकती है, लेकिन पवित्र जीवन के सामंजस्य से उसी संगीत का सृजन करना बहुत कम लोगों से सध पाता है।"

याद आयी शिल्प-दर्शन की मूल धारणा—केवल मात्र शुद्ध संयत चित्तरूपी दर्पण में ही जगत् और जीवन का यथार्थ स्वरूप प्रतिबिम्बित, प्रतिभासित और प्रतिफलित होता है। केवल उसी चित्त के लिए वस्तु को यथार्थ और सत्य रूप में गान्धीजी के शब्दों में 'टू'—देखना-दिखलाना सम्भव होता है। गान्धीजी क्या फिर उन्हीं प्राचीन शिल्पाचार्यों की बातें कर रहे हैं? उन्होंने भी तो बार बार कहा है कि, जिसकी दृष्टि चंचल, चित्त असंयत, जीवनाचरण उच्छृंखल होता है, उसे सौन्दर्य की अनुभूति नहीं होती, क्योंकि वह सत्य को नहीं देख सकता।

इसी बीच १९३९-४१ में कई बार सेवाग्राम में गान्धीजी के जीवनआचरण को प्रत्यक्ष देखने का सुयोग मिला। अपनी आँखों से उनकी चलने-फिरने, खाने-पीने के सम्बन्ध में सजग दृष्टि, सचेत कल्पना देखी। छन्द और मात्रा ज्ञान, समता और संगीत-बोध, शुभ्र परिधान के सम्बन्ध में उनकी सुतीक्ष्ण दृष्टि, बात करने की भंगिमा में ताल और लय-बोध देखा। तेज चाल के अन्दर भी एक संगीत छिपा था। समझने में देर न हुई। चित्त के अन्दर कहीं न कहीं एक गम्भीर सौन्दर्य-बोध न रहने से यह कभी सम्भव न होता, और इस सौन्दर्य-बोध का अर्थ है शुचिता (गान्धीजी के शब्दों में 'प्योरिटी'), संगति (गान्धीजी की भाषा में 'हार्मनी'), अनुशासन (गान्धी जी की भाषा में 'डिसिप्लिन'), अनुपातबोध या समतोल (गान्धीजी की भाषा में 'आर्डर') जिसका दूसरा अर्थ है लय (रिथ्म) या छन्द; और सब कुछ मिलाकर जीवन का गतिमय सुर (गान्धीजी की भाषा में 'म्यूज़िक आफ़ डिसिप्लिंड मूवमेंट')।

और भी कुछ दिन बाद बन्धुवर निर्मल कुमार वसु के मुख से गान्धीजी की नोआखाली जीवनयात्रा की कहानी सुनी। मृत्युपुरी के ज़हरीले वातावरण में और स्वैराचारी जीवन की उन्मत्त विशृंखलता के अन्दर गान्धी-आश्रम की शुभ्र स्वच्छ संयत जीवन-यात्रा की कथा सुनते-सुनते सारनाथ की उपकरणहीन आत्मलीन ज्योतिर्मय बुद्ध की एक मूर्ति की प्रत्यक्ष कल्पना कर रहा हूँ। छोटी-मोटी चीज़ें, गान्धीजी की कुटिया, मुख्तसर असबाब आदि और उनका विन्यास, गान्धीजी की दिन-चर्या, शय्या और परिधान में निष्कलंक शुभ्रता, परिवेश की परिच्छन्नता और चारों ओर घने अन्धकार के अन्दर गान्धीजी का स्वच्छ दीप्त मुखमंडल। कितनी ही छोटी-मोटी कहानियाँ, कितनी ही बृहत्तर समस्याओं की आलोचनाएँ, कितने छोटे-छोटे आचरणों की बात निर्मल बाबू और अन्य सहकर्मियों ने सुनायीं। सब कुछ भेद करके एक ही बात बार-बार मन में

[1] Music means rhythm, order .... it immediately soothes.

[2] There is silent music in disciplined movement of masses of men and women....there is a rhythm of music in drill that makes action effortless and eliminates fatigue.

फलक ५७

फलक ५८

फलक ५६
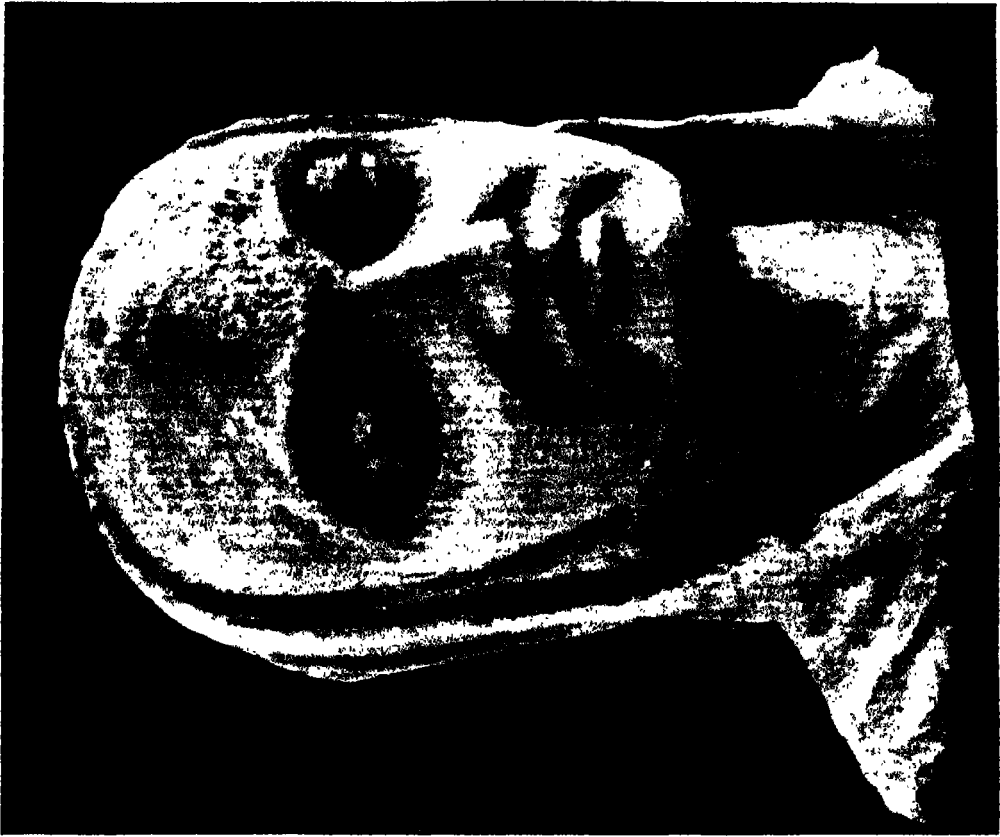
श्राती है—कहीं चित्त के अन्दर एक व्यापक और गम्भीर संतुलित संगीत और प्रमाणबोध न रहने से उपकरण-हीन इस जीवन-आचरण का इतना सुन्दर और इतना ज्योतिर्मय होना कभी सम्भव न होता !

फिर गान्धीजी की मृत्यु के बाद उस दिन 'स्टेट्समैन' की एक संख्या में होरेस एलेक्ज़ेंडर महाशय की एक छोटी-सी रचना पढ़ी। उन्होंने एक छोटी-सी कहानी लिखी है—नोवाखाली के एक किसान द्वारा बुने हुए छाते और बर्मा के बुने हुए छाते के प्रसंग में गान्धीजी ने बर्मा का बुना हुआ छाता अधिक पसन्द किया। कहा, नोवाखाली का छाता अधिक उपयोगी है और बर्मा का छाता अधिक सुन्दर है। उपयोगिता और सौन्दर्य के पार्थक्य का ज्ञान गान्धीजी को अच्छी तरह था। और जिन्होंने बर्मा का छाता देखा होगा वह बता सकेंगे कि वह छाता इतना सुन्दर क्यों है—वहाँ भी वही संगति, संयम और परिमाण-बोध की बात है, स्वच्छता और शुचिता की बात है।

* * *

यह संयम, संगति, शुचिता और प्रमाण-बोध ही जैसे सौन्दर्य के मूल-तत्त्व हैं, वैसे ही जीवन के मूल-तत्त्व हैं। सौन्दर्य-सृष्टि या सौन्दर्य-दर्शन तो केवल इन्द्रियानुभूति की बात नहीं, वह तो ज्ञान अर्थात् बोध, बुद्धि और बोधि के साथ तथा कर्म के साथ एक अविच्छिन्न योग है। 'एस्थेटिक्स' कहने पर हमें जिस शास्त्र का बोध होता है, वह शास्त्र इन्द्रियानुभूति की सीमा का अतिक्रमण नहीं करता। हमारा भारतीय सौन्दर्यतत्त्व, रस-शास्त्र की सीमा आन्तरिक बोध तक विस्तृत है। शिल्प या साहित्य का निम्नतर स्तर, इन्द्रियानुभूति का स्तर है। इस स्तर में भी स्रष्टा की बुद्धि सक्रिय होती है, इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि वस्तुरूप के यथार्थ मर्म या भेद, प्रमाण, संगति, सादृश्य, छन्द, ताल इत्यादि के सम्बन्ध में बुद्धि सजग न रहने पर और उसके प्रयोग का कौशल न जानने पर पाठक या दर्शक की इन्द्रियानुभूति का भी उद्रेक नहीं हो सकता। केवल यही नहीं, अनुभूति की शुचिता और संयम न रहने पर वस्तु का यथार्थ स्वरूप देखा या जाना नहीं जा सकता, दिखलाना तो दूर की बात है। हमारे शास्त्र में है "ज्योतिः पश्यति रूपाणि"—जगत् में जो यह विचित्र रूपों का मेला है, उसे देखती है ज्योति। बुध् धातु का मूल अर्थ है ज्ञान। ज्ञान का ही विभिन्न स्तर है बोध, बुद्धि, बोधि। जो भी हो, ज्ञान ही रूप की विभिन्न सत्ता को विशिष्ट करता है, रूप का यथार्थ भेद बताता है और उसका मर्म दान करता है। अतएव जो शिल्प या साहित्य इन्द्रियानुभूति के अन्दर से स्तर अतिक्रम करके, ज्ञान का उद्रेक न करे; बोध और बुद्धि को तीक्ष्ण करके, प्रसारित करके बोधि की तरफ़ बढ़ा न दे; वह सत्य और सार्थक शिल्प या साहित्य नहीं है। केवल इन्द्रियानुभूति में ही जिसकी परिणति है, वह है घातक कला; और बुद्धि और बोध की गम्भीरता और प्रसार की ओर जो कला आगे को बढ़ा ले जाती है, वह है जीवनदायिनी कला, और उसके अन्दर रहता है वही अभिज्ञान जो आत्मा में निरन्तर ऊँचे उठने की प्यास और बेचैनी को प्रकाशित करता है।

पहिले ही कहा है कि मनुष्य बुद्धि और बोधि की ज्योति से जानता और देखता है। यह जानना और देखना प्रत्येक की व्यक्तिगत और समाजगत, देशगत और कालगत रुचि पर आधारित है। रुचि का अर्थ है दीप्ति और आलोक। यह दीप्ति, यह आलोक क्या कभी प्रकाशित हो पाता है? प्रतिफलित हो पाता है, उस चित्त में जो अस्वच्छ है, अपरिच्छिन्न है, जिसके ऊपर घृणा, हिंसा, लोभ, मोह के संस्कारों का आवरण पड़ा है? जैसे वस्तु मात्र में, वैसे ही प्रत्येक मनुष्य में अलग-अलग एक रुचि या दीप्ति होती है। उस दीप्ति में उसका स्वरूप मालूम होता है। वह स्वरूप केवल उस चित्त में प्रतिफलित होता है, जो स्वच्छ और दीप्तिमान है। गान्धीजी ने जो जीवन की पवित्र शुचिता के ऊपर इतना ज़ोर दिया है, वह शायद इ[illegible] अर्थ में; सामाजिक आचार या नीतिबोध के अर्थ में नहीं। शिल्पी या कवि जब वस्तु की अपनी रुचि के साथ मिलकर एक ह[illegible] है तभी वस्तु के सम्बन्ध में यथार्थ सत्य ज्ञान का सूत्रपात होता है। हमारे शिल्पशास्त्र में जो परिपूर्ण ऐक्यानुभूति की बात कह. गयी है वह दीप्ति या रुचि की एकता है। साहित्य कथा के मूल में वही एक व्यंजना है। रूप का धर्म है प्रतिबिम्बित होना। प्रतिबिम्बित होगा कहाँ? उस चित्त में जो कि स्वच्छ, परिच्छिन्न, दीप्तिमान है। गान्धीजी की भाषा में जिस चित्त में एक पवित्र जीवन की संगतिपूर्णता ध्वनित है, वह पावन, आनन्दमय और सन्तुष्ट है। इसीलिए शुक्राचार्य ने प्रतिमा के लक्षण बतलाते हुए कहा है कि, प्रत्यक्ष देखना ही शिल्पी का देखना नहीं होता, केवल आँखों से देखना-जानना ही देखना-जानना नहीं होता। मन की दीप्ति से ही देखना सम्भव होता है। और वह देखना ही बोध, बुद्धि और बोधि की जननी कहलाता है। यह देखना ही, सम्यक् दृष्टि ही, सम्यक् बोधि कहलाता है। यह सर्वदा प्राप्त नहीं होता। अगर जीवन में इस सम्यक् बोध के क्षण दुर्लभ होते हैं तो कला में भी वे उतने ही दुर्लभ होते हैं।

यह तथ्य स्पष्ट है कि भारतीय शिल्प-दर्शन और उद्यान-कला प्राचीन यूनानी या वर्तमान यूरोप के सौन्दर्यशास्त्र द्वारा सीमाबद्ध नहीं है। वह दर्शन समस्त जीवन-दर्शन का एक अंश, जीवनाचरण का केवल एक पथ है। अर्थात् जीवन-साधना के विभिन्न पथों में अन्यतम पथ है रूप-साधना। 'रेनेसाँ' के सांस्कृतिक उत्थान के पूर्व यूरोप में यह दर्शन अज्ञात न था। लेकिन रेनेसाँ के बाद ही यूरोप में यूनानी जीवन-दर्शन और शिल्पदर्शन का जयजयकार होने लगा, जिसके फलस्वरूप भारतीय शिल्प-दर्शन आज पुरातात्त्विक आलोचना की वस्तु हो उठा है। आचार्य कुमारस्वामी ने अपना शेष जीवन इस भारतीय शिल्प-दर्शन के समझने और समझाने में ही बिताया है। 'ट्रान्सफ़र्मेशन ऑफ़ नेचर इन आर्ट' से लेकर उनकी मृत्यु के कुछ दिन पहिले प्रकाशित 'फ़िगर्स आफ़ थॉट एंड फ़िगर्स ऑफ़ स्पीच' तक समस्त रचनाओं में भारतीय शिल्प-दर्शन में बोध, बुद्धि, बोधि का स्थान, रूप का गूढ़ अर्थ, सौन्दर्य-बोध और बुद्धि की प्रक्रिया और स्वरूप इत्यादि विषयों को लेकर दुरूह प्रश्नों को उठाया गया है और आलोचना की गयी है। और हमारे उस दर्शन की मौलिकता को यथार्थ प्रमाणित करने की चेष्टा की गयी है। यह चेष्टा अवनीन्द्र और नन्दलाल ने भी बँगला में की है। हम लोग कौन कितना उस दर्शन को स्वीकार या अस्वीकार करते हैं, यह प्रश्न इस प्रसंग में बेकार है। लेकिन मुझे मालूम होता है, गान्धीजी का शिल्प-दर्शन भी उसी कुटुम्ब का है, और भारतीय शिल्प-दर्शन के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। गान्धीजी की भाषा केवल शिल्पी द्रष्टा के लिए नहीं, कर्मयोगी की भी है। उन्होंने समस्त जीवन के देखने के अंशरूप में शिल्प को देखा है।

फिर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि, व्यक्तिगत जीवन-साधना के क्षेत्र में गान्धीजी खुद रूप-साधना की विशेष उपयोगिता का अनुभव नहीं करते थे, स्वीकार भी नहीं करते थे। उनकी बुद्धि, बोध और बोधि के परिपूर्ण विकास में, एक शब्द में आत्मानुसन्धान या आत्मानुभूति के व्यापार में, बाहर के रूप की विशेष सार्थकता उनके पास न थी। शिल्प-वस्तु का मूल्य वे स्वीकार करते थे, लेकिन प्रकृति के सदा उन्मुक्त, विराट् और विचित्र रूपलोक की तुलना में शिल्प-वस्तु स्वयं उनके पास यदि नगण्य न थी तो भी उसका मूल्य उनकी दृष्टि में कम अवश्य था। इस प्रसंग में मैं एक घटना का उल्लेख करता हूँ। इस घटना में कुछ गम्भीर अर्थ हैं और इसे सुना है मैंने आचार्य नन्दलाल बोस से। कांग्रेस के अधिवेशन के उपलक्ष्य में एक कला-प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था। उसका भार नन्दलाल के ऊपर था। उद्घाटन के पूर्व गान्धीजी प्रदर्शनी देखने के लिए आये थे और नन्दलाल उन्हें दिखला रहे थे। गान्धीजी बहुत ग़ौर से प्रत्येक चीज़ देख रहे थे, उनसे प्रश्न कर रहे थे कि कौन-सी चीज़ कहाँ से आयी है, इत्यादि। देखते-देखते गान्धीजी एक जगह स्तब्ध होकर खड़े हो गये; नन्दलाल बोलते जा रहे थे पर उनका कोई उत्तर न था। मुँह की तरफ़ देखने से पता चला कि गान्धीजी उद्भासित आनन्दोज्ज्वल मुख से बाहर की ओर देख रहे हैं, कुछ दूर पर भूमि पर, पत्तों की छावनी को भेद कर सूर्य की सुकुमार धूप आ पड़ी है, हवा से आन्दोलित पत्तों के साथ उसकी नृत्यलीला चल रही है। गान्धीजी के लिए प्रकृति का यह सौन्दर्य ही चरम है। कुछ क्षण बाद उन्होंने नन्दलाल की ओर मुँह करके कहा, "कर सकते हो, इस सौन्दर्य की सृष्टि कर सकते हो, नन्दलाल?" बस, सौन्दर्य का यही अनन्त विस्तार है, और किसी का प्रयोजन वह अनुभव नहीं करते थे। जो कुछ करते वह भी अपनी आत्मोपलब्धि के सहायक रूप में। कम से कम उनकी राय से, किसी न किसी भाँति आत्मोपलब्धि के सहायक रूप में ही शिल्पवस्तु का विचार होता है। इस क्षेत्र में गान्धीजी ने अपने ध्यान और धारणा में भारतीय शिल्प-दर्शन का ही अनुसरण किया है। किन्तु इस पर भी भारतीय जीवन-साधना की उन्होंने अवज्ञा नहीं की, उसे अस्वीकार नहीं किया। उनका अनुरूप या रूपातीत का सन्धान, रूप का आश्रय लेकर ही चलता था। रूप को बहिष्कृत या साथ ही रूपातीत करके नहीं, रूपहीन अपार्थिवता के अन्दर नहीं। और उन्होंने इन्द्रियानुभूति का भी परिहार नहीं किया—इन्द्रियाभिज्ञता ही गम्भीरतर बोध, बुद्धि और बोधि का द्वार है।

* * *

गान्धीजी के जीवन-दर्शन तथा शिल्प-दर्शन में एक नीतिबोध की व्यंजना भी अभिविहित है। उनके 'सत्य' शब्द के अन्दर 'शिव' की भी व्यंजना छिपी है। इस मंगल, शिव और नीति-बोध का अर्थ क्या है?

सार्थक शिल्प या साहित्य मात्र ही विश्वात्मवादी, निर्वैयक्तिक होता है। विशिष्ट देश-काल-बद्ध रूप का आश्रय लेकर उसका विश्वात्मरूप दिखलाना ही स्रष्टा का काम है। व्यक्तिगत इन्द्रियानुभूति को बोध और बुद्धि द्वारा संहृत और समन्वित करके जब हम उसे निर्वैयक्तिक विश्वात्मक के स्तर पर विकसित करते हैं, तब मौलिक रूप वस्तु की व्यापकता

और गम्भीरता, उसके मूल रूप और गुण में आमूल विवर्तन हो जाता है। उसी के फल से देशकाल-बद्ध सामाजिक मन पर उस वस्तु के सम्बन्ध में गम्भीरतम व्यापकता, सामाजिक चेतना का उद्भव होता है। यह चेतना या बोध और बुद्धि ही मंगल, शिव या कल्याण का उद्गम है। कारण मनुष्य की वासना, कामना और संस्कार के ऊपर यह चेतना प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रतिक्रिया है और उसी के फलस्वरूप मानवीय सम्बन्धों के व्यापार में सामाजिक मन क्रमशः उन्मुक्त होता चलता है। इसीलिए शिल्प या साहित्य मनुष्य की समाज-साधना, या समग्र जीवन-साधना का एक प्रधान साधन कहा जाता है। शिल्प और साहित्य एकान्त व्यक्तिगत इन्द्रियानुभूति और कल्पना को देशकाल-समाजबद्ध विश्वात्म-दृष्टि के आभ्यन्तर से संहृत और समन्वित करता है; मनुष्य की व्यक्तिगत कामना, वासना और कल्पना को बृहत्तर विश्वमय रूप दान करता है, और मानव मन को सम-सामयिक संकीर्ण अर्थ में सामाजिक, नीतिबोध और संस्कार के ऊपर उठा देता है। संहृत समन्वित समाज में कला के लिए कला का इसीलिए कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार समाज में समस्त कला का एक आदर्श और उद्देश्य रहता है। इस विचार से समस्त सार्थक शिल्प और साहित्य के मूल में एक मंगल और नैतिक दृष्टि भी सक्रिय रहती है, समस्त कला नीति-सम्पन्न होती है। सार्थक कला मात्र ही कोई न कोई अर्थ या मूल्य प्रतिष्ठा करके समसामयिक युग और समाज को गम्भीरतम समन्वय और संहति दान करती है। नैतिकता के इस व्यापक अर्थ में ही शायद गान्धीजी ने सत्य शब्द का व्यवहार किया है; और उनके शब्दों में जो कुछ मानवता का परिपोषक और जो कुछ मानव जाति के लिए कल्याणकर है वही नैतिक है। संसार का सबसे बड़ा नैतिक नियम यही है कि अथक रूप से मानवता के कल्याण के लिए कार्य करते रहें। गान्धीजी की राय में कला का एक मात्र आदर्श और उद्देश्य मानव जाति का कल्याण है। इसी कारण कला मात्र ही नैतिक है। इस दृष्टि से भी गान्धीजी के शिल्पदर्शन के साथ भारतीय शिल्प-दर्शन का मतभेद नहीं। कला के सम्बन्ध में लोग नीतिबोध का प्रश्न उठने पर मुँह बना लेते हैं, इस प्रवृत्ति का जन्म उन्नीसवीं शती के रोमांटिसिज्म में हुआ था। उसके साथ-साथ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, यह 'मौरेलिटी' या नीतिबोध, शिव या मंगलबोध, किसी आगामी काल के सामाजिक प्रयोजन-बोध के व्यावहारिक अर्थ में नहीं, एक सामयिक रीति-नीति-बोध के अर्थ में नहीं, बृहत्तर गम्भीरतम मानव-कल्याण-बोध के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है।

* * *

लेकिन गान्धीजी के ध्यान में सबसे सत्य और सार्थक शिल्प है सत्य और स्वच्छ जीवन। पवित्र जीवन ही सबसे अधिक उन्हें प्रिय था। उनकी राय में 'जीवन की शुचिता ही सबसे सत्य और महान् कला है"। एक शब्द में अपने और मनुष्य मात्र के जीवन को ही उन्होंने सार्थक शिल्प बनाना चाहा है। वे थे जीवन-शिल्पी और उनके सत्य के परीक्षण अथवा प्रयोग जीवन को सत्य , मंगल और सुन्दरतम बनाने के लिए ही हैं। जिस वस्तु को लेकर उनके परीक्षण हुए उसी का नाम मनुष्य का जीवन है। केवल भारतवर्ष के करोड़ों व्यक्तियों के लिए ही नहीं, बल्कि पृथ्वी के अनगिनत नरनारी, समग्र समाज के लिए।

प्रथमतः और प्रधानतः उन्होंने अपने जीवन को शिल्पमय बनाया था। व्यक्तिगत जीवन-शिल्प का अवलम्बन करके जीवन-शिल्प की महिमा दिखलाने की चेष्टा की थी। कम से कम बाहर की शुचिता, स्वच्छ, निष्कलंक चारित्रिक शुभ्रता, उदार मानवता का जयगान, आत्मा की शक्ति में विश्वास, संगति, संयम और परिमित अनुशासन, परिच्छन्न निसर्ग और सामाजिक परिवेश, यह था उनके जीवन-शिल्प का उपादान और आदर्श। जीवन-शिल्प का यह बोध उन्होंने मनुष्य के अन्दर संचरित करना चाहा था अपने जीवन-आचरण के अन्दर से।

ग्रामोन्नति की बात गान्धीजी के अतिरिक्त बहुतों ने पहिले कही थी, बाद में भी कही है; लेकिन गान्धीजी ने जिस ग्राम-रचना का सपना देखा था, उसमें एक गम्भीर सौन्दर्य-बोध की व्यंजना थी। भारतवर्ष की ग्राम-श्री को उन्होंने विकसित करना चाहा था; केवल उसे स्वयं सम्पूर्ण, स्वावलम्बी बनाने के लिए ही नहीं, बल्कि स्वावलम्बी और स्वयं सम्पूर्ण न होने से उसकी श्री और सौन्दर्य पूर्णतया विकसित न हो सकेगा, यह उनका मुख्य प्रयोजन था। गान्धीजी की खादी परिकल्पना की मानस छवि जिन्होंने देखी है वे ही जानते हैं कि उपकरणविरलता के अन्दर जो सहज सौष्ठव और शान्त संयत श्री थी उसके परिपूर्ण प्रयोग-कौशल का पता गान्धी जी को बहुत अच्छी तरह था।

यह शायद बहुतों को पता नहीं कि हरिपुरा और रामगढ़ की कांग्रेस की सज्जा का जो भार आचार्य नन्दलाल को

सौंपा गया था वह गान्धीजी के इच्छा-निर्देश द्वारा। उन्होंने इस बात पर विशेष दृष्टि रखने के लिए कहा था कि मंडप इस प्रकार सजाया जाय कि वह भारतवर्ष के लोगों के जीवन का स्वच्छ, संयत, शुभ्र सौन्दर्य दर्शकों के बोध और बुद्धि में संचरित कर सके। यह गान्धीजी जानते थे कि, ऐसा निर्देश नन्दलाल को छोड़कर और कोई पूरा नहीं कर सकता था।

एक दफ़े बात उठी थी कि भुवनेश्वर, पुरी, कोणारक के मन्दिरों की भित्तियों पर जो सब यौन जीवन की विचित्र लीलाएँ अंकित हैं उन्हें चूना-बालू से ढँक दिया जाय। इस प्रस्ताव के मूल में किस प्रकार की चिन्ता सक्रिय है, समझने में देर नहीं लगती; लेकिन गान्धीजी की प्रसन्न प्रशस्त बुद्धि में उस चिन्ता का कोई स्थान न था। उन्होंने उड़ीसा के मन्त्रि-मंडल से कहा था कि इस काम के अधिकारी तुम नहीं, मैं नन्दलाल से राय लूँगा; उनकी राय के अनुसार जो आवश्यक होगा, किया जायगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि नन्दलाल ने तिरस्कारपूर्वक प्रस्ताव का विरोध किया था और गान्धीजी खुश हुए थे।

गान्धीजी के शिल्प-दर्शन और जीवन-दर्शन का कुछ संकेत देने के लिए इन दोनों घटनाओं का उल्लेख किया गया है। और इनसे स्पष्ट है कि वह जीवन-शिल्प को सबसे महान् शिल्प समझते थे।

(बँगला से)

फलक ६१

फलक ६२

फलक ६४
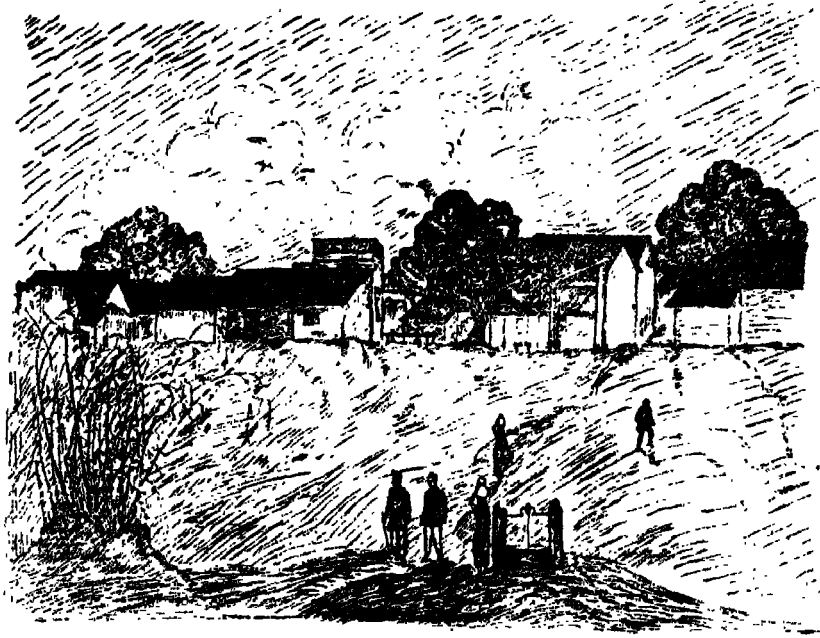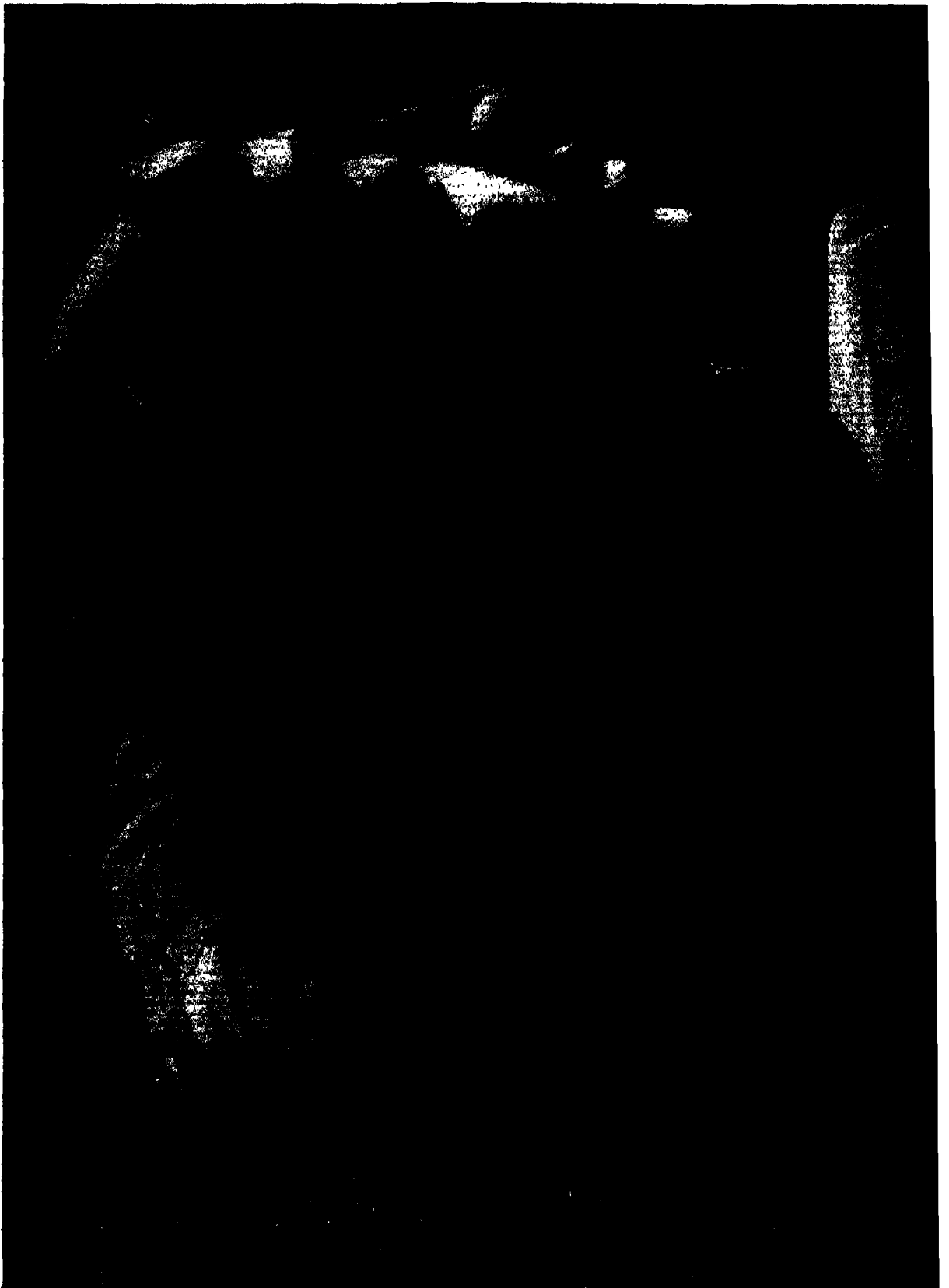
आधुनिक मराठी साहित्य की प्रवृत्तियाँ

प्रभाकर बलवन्त माचवे

मराठी साहित्य को समझने से पहिले मराठी मन को समझना चाहिये। यह सामाजिक मन जिन विशिष्ट ऐतिहासिक, सामाजिक परिस्थितियों से बनता है, उनकी भी पहिचान जरूरी है। क्योंकि यह मान भी लें कि लेखक साधारण सामाजिक अभिरुचि से प्रेरित या निर्देशित नहीं होता तो भी अन्ततः वह एक सामाजिक प्राणी ही है, चाहे असाधारण क्यों न हो। मराठी-लेखक भी सामाजिक चेतनायुक्त अधिक है, व्यक्तिवादी कम। मराठी स्वभाव के अनुसार वह बौद्धिक, तर्क-कर्कश और जुझारू अधिक है; भावुक, सहज-श्रद्धालु और समझौता-प्रिय कम। गड़करी ने चालीस वर्ष पूर्व 'महाराष्ट्र-वन्दना' में उसे पत्थरों का और फूलों का, कठोर और कोमल देश कहा था। यह विरोधाभास मराठी साहित्य में भी स्पष्ट है—एक ओर जहाँ दृढ़ अनुसन्धान और परिश्रमयुक्त अध्यवसाय की गम्भीर प्रवृत्ति दिखाई देती है, वहाँ दूसरी ओर विदेशी ललित-साहित्य के रम्य नवीन प्रयोगों की ओर भी झुकाव स्पष्ट है। अतः जहाँ महाराष्ट्र ने इतिहास-संशोधक, समाजशास्त्रज्ञ, वैज्ञानिक साहित्य-रचयिता और ज्ञानकोषकार दिये हैं, वहीं संगीतज्ञ और चित्रकार, उपन्यासकार और काव्य के श्रव्य-दृश्य दोनों प्रकार के लेखक प्रचुर मात्रा में प्रदान किये हैं।

गोआ से गोंडवाना तक बोली जाने वाली ढाई करोड़ जनता की इस भाषा का साहित्य ईसवी सन् ९८३ से आरम्भ हुआ, यद्यपि संशोधकों को कुछ ताम्रपट इससे पुराने भी मिले हैं। प्राचीन मराठी साहित्य के कालखंड यों माने जाते हैं: ज्ञानेश्वर और महानुभावी सन्तों का यादव-काल (१२५०-१३५०); एकनाथ, दासोपन्त का बहमनी काल (१३५०-१६००); रामदास, तुकाराम का शिवकाल (१६००-१७००) मोरोपन्त-रामजोशी का पेशवेकाल (१७००-१८००)। सन् १८१८ में पेशवाई के पतन के पश्चात् आधुनिक साहित्य का आरम्भ होता है, जिसमें सन् १८५६ में 'निबन्धमाला' के प्रकाशन के बाद के काल से ही हमें यहाँ प्रयोजन है। साहित्य के इतिहास में यह एक शती कई प्रकार के उलट-फेर देख चुकी है जिसमें सन् '५७ के स्वातन्त्र्य युद्ध से सन् '४२ के आन्दोलन और सन् '४७ के सत्तान्तर तक न केवल राजनीतिक घटनाएँ घटीं, परन्तु सामाजिक मान्यताओं में भी आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। आरम्भिक अवस्था में एक ओर मुस्लिम शासक और फिरंगी आक्रामक के बीच में मराठों को चुनना पड़ा। अंग्रेज़ी के साथ समझौता और अनुवाद, सम्भ्रम और अनुकरण आदि अवस्थाओं में से गुज़रते हुए अंग्रेज़ी के घोर विरोध तक मराठी गद्य विकसित होता गया। मराठी साहित्य में आधुनिक काल में आरम्भ से ही दो प्रवृत्तियाँ चिपलूणकर-लोकहितवादी और तिलक-आगरकर से लगा कर सावरकर-साने गुरुजी तक बराबर लक्षित होती हैं। इन्हें हम अतीतोन्मुखी राष्ट्रीय आदर्शवादी और यथार्थवादी सामाजिक सुधारवादी कह सकते हैं। पहली प्रवृत्ति का ज़ोर राजसत्ता और शक्ति पर है; दूसरी का व्यक्ति और हृदय-परिवर्तन पर। पहली का झुकाव 'संघे शक्तिः कलौ युगे' की ओर है, दूसरी का 'लोकशाही' की ओर।

विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने 'बाघिन का दूध' कह कर अंग्रेज़ी की सराहना मात्र की, परन्तु हाली के 'मुसद्दस' और मैथिलीशरणजी की 'भारतभारती' की भाँति अंग्रेज़ीयत का घोर विरोध उन्होंने 'आमच्या देशाची स्थिति' में किया, जिसके ऊपर से सन् १९३७ में कांग्रेसी मन्त्रिमंडल के समय ही निर्बन्ध उठा। लोकहितवादी ने 'शतपत्रे' लिख कर सामाजिक विषमताओं और जातिगत अन्यायों को प्रकट किया और प्रगति के प्रकाश की ओर इंगित भी किया। उन्होंने कहा कि पुराना इतिहास स्फूर्ति चाहे दे दे परन्तु वह ज्यों का त्यों दुहराया नहीं जा सकता। परन्तु सदियों की शिवशाही और पेशवाई का प्रभुता-मद कई वर्षों तक न उतरा। अभी तक कुछ लोग पुनः भगवा-ध्वज अटक से कटक तक फैलाने के सपने देख ही रहे हैं। इस दल ने साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता को एकप्राण करके प्रस्तुत किया। तिलक अधिक विवेकी थे; परन्तु उनकी परम्परा में केलकर, सावरकर, करन्दीकर आदि ने जो जोशीली धार्मिक राष्ट्रवादी वृत्ति लहकायी उसी में से 'हिन्दूराष्ट्र' के सम्पादक तक के हौतात्म्य-प्रेमी निर्मित हुए। इनकी राष्ट्रीयता केवल धार्मिक कुलवाद पर सांस्कृतिक

मुलम्मे का नाम मात्र रह गयी। धार्मिक भी वह उस मानवतावादी सच्चे अर्थ में नहीं है जिसके लिए महाराष्ट्र की गान्धीवादी लेखक-परम्परा लड़ती रही और लड़ रही है, जिनमें स्व० खाड़िलकर, साने गुरुजी, काका कालेलकर, आचार्य जावडेकर, आचार्य भागवत, विनोबा भावे और दादा धर्माधिकारी आदि आते हैं।

शिवशाही-पेशवाई के सामन्ती संस्कार, अंग्रेज़ों के सम्पर्क और चोट से लगे पहिले धक्के में ही कम होते चले। सन् १९१४ के महायुद्ध के बाद महाराष्ट्र सतर्क, वास्तववादी, उपयोगिता-प्रधान साहित्य का सर्जन अधिक करने लगा। उसे तथाकथित रहस्यवाद और छायावाद का खोखलापन बहुत जल्दी ज़ाहिर हो गया। प्र० के० अत्रे या 'केशवकुमार' ने 'झेंडूची फुलें' में विडंबन-गीतों से इस अति-भावुकता पर खासा प्रहार किया। सन् १९२४ से ही 'नवमतवाद' की चर्चा महाराष्ट्र में ज़ोर पकड़ती चली। 'रत्नाकर' में छपे 'ओलेती' के चित्र पर उठे आन्दोलन से कला और नीति का वाद चला, कविवर भा० रा० ताम्बे ने वह प्रसिद्ध भाषण दिया जिसमें 'सौन्दर्य में शिव निहित है' इस शिखर वाले मत का समर्थन था। 'कला के लिए कला' और 'जीवन के लिए कला' वाला वैचारिक संघर्ष कई वर्षों तक चलता रहा। प्रो० फड़के पहिले मत के थे, वि० स० खांडेकर ने 'दोन ध्रुव' उपन्यास दूसरी बात को लेकर लिखा। ज्यों-ज्यों राजनैतिक घटनाओं की प्रगति तीव्रता से होने लगी, महाराष्ट्र के साहित्य के पीछे की वैचारिक धाराएँ भी बँट गयीं। यद्यपि साहित्य में राजनैतिक पक्षाभिनिवेश का मानदंड लगाना बहुत उचित नहीं, फिर भी साहित्य में वही दो प्रवृत्तियाँ एक 'पीछे लौटो' का नारा देने वाली, पारलौकिक; और दूसरी जाति प्रान्तभेदों से ऊपर उठ कर विश्वकुटुम्बवाद मानने वाली, ऐहिक पुनः संघर्ष करने लगीं और एक पूरी पीढ़ी का साहित्य इसी अवस्था में से गुज़रा। आज साहित्य में एक ओर सौन्दर्यवादी-व्यक्तिवादी; और दूसरी ओर मानवतावादी-समाजवादी धाराएँ सुस्पष्ट लक्षित हो रही हैं। पहिली प्रवृत्ति में लेखक सामाजिक उत्तरदायित्व से भाग कर जाने-अनजाने किसी न किसी प्रकार की एकान्त तानाशाही का समर्थक बन जाता है—उसका रूप रंग चाहे जैसा हो, सफ़ेद, भगवा या लाल; दूसरी ओर गूँगी जनता के दुःख-दर्द को अनुभव करने वाले और वाणी देने वाले वे सच्चे मानवतावादी लेखक हैं, जो निरे पूँजी के क्रीतदास नहीं, अथवा जो भी शक्ति सिंहासन पर हो उसके अवसरवादी चिट-चेट नहीं; परन्तु लोकवेदना से पीड़ित और लोक-हितैषणा से अनुप्राणित हैं। उन्हें प्रगतिशील जनतान्त्रिक साध्य और नवनवीन प्रयोगशील साहित्य साधन में विश्वास है। उनका विश्वास प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अखंडित है, दुनिया उनके लिए एक बन्द अँधेरी गली नहीं बन गयी है।

आधुनिक मराठी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों को लक्षित करने के लिए साहित्य के तीन-चार अंग चुने जायँ जिन्हें अधिकांश पाठक पढ़ते हैं, और जिनके द्वारा जनरुचि और साहित्यकार की गति-विधि का भी अन्दाज़ लगाया जा सकता है: कविता, आख्यायिका, नाटक और लघु निबन्ध। कविता से आरम्भ करना इसलिए उचित होगा कि उसमें किसी भी जाति के विचारों का पराग मिलता है। आज की मराठी कविता में तीन सम्प्रदाय स्पष्ट लक्षित हो रहे हैं। एक तो सौन्दर्यवादी सम्प्रदाय है जो कला के लिए कला मानता है, और जिसके लिए जीवन गुलाबों का उपवन है; दूसरा वह मानवतावादी सम्प्रदाय है जो कविता से बिगुल या डंकों की चोट या समाजसुधार के प्रचार के ध्वनिक्षेपक का कार्य कराना चाहता है; तीसरा वह अतिवास्तववादी सम्प्रदाय है जिसके लिए जीवन विकृतियों का समूह है, सब ओर खंडित व्यक्तित्व और रुग्ण मनों का ही बोलबाला है, जीवन के सब मूल्य गड़बड़ा गये हैं और जो स्मशान में हँसनेवाले विद्रूप नरमुंड की भाँति व्यक्ति जीवन और जगजीवन का उपहास मात्र करता है। इन तीन धाराओं के प्रतिनिधि-कवि ले लें और उनकी कुछ विवेचना करें।

सौन्दर्यवादी कवियों की सच्ची परम्परा बालकवि, चन्द्रशेखर, गोविन्दाग्रज या गड़करी, ताम्बे और माधव ज्यूलियन् तक आकर एक प्रकार से समाप्त-सी हो जाती है। प्रकृति के मुग्ध सौन्दर्य की और अशब्द सजीवता की छबि बालकवि ने अपनी कुशल तूलिका से सहज रम्य प्रसादमयी शैली से आँकी है। गड़करी ने उसमें प्रणय की वन्य-उन्मुक्त प्रखरता के रंग भरे। ताम्बे ने उसमें गीत-माधुरी दी—सूक्ष्म भाव विकलता की छटाएँ और प्रादेशिक वर्णनों की रेखाएँ प्रदान कीं। पंडित कवि माधव ज्यूलियन ने इसी रोमानी कविता का बाह्यवेश सँवारा: खैयाम की रुबाइयाँ, फ़ारसी की ग़ज़ल और अंग्रेज़ी के सानेट के अलंकार उसे पहिनाये। 'रविकिरण-मंडल' के कवियों तक आकर इस परम्परा में एक प्रकार से क्षीणता आ गयी, यद्यपि आज भी कुछ आलोचक बोरकर, कान्त, पु० शि० रेगे आदि को इसी परम्परा के कवि मानते हैं। उनके नारीरूप-वर्णन और प्रकृति में विविध मनोदशाओं का प्रक्षेपण इसी बात की पुष्टि अवश्य करता है। यद्यपि प्रभाकर

होनाजी बाला के काल से ही लावनी जैसे लोकगीतों के माध्यम में प्रणयगीतों की एक स्वस्थ परम्परा मौजूद थी, फिर भी अब शुद्ध सौन्दर्यवादी प्रेमगीतों का भविष्य नहीं के बराबर है।

क्योंकि सौन्दर्य को भी जीवन के परिपार्श्व में देना होगा और तब कवि की भावुकता की सरिता केवल मिलन-विरह के पुलिनों से न टकरा कर वास्तव पत्थरों, उपयोगितावादी सिकता और इतिहास की गति से प्रेरित होगी। 'केशवसुत' (कृष्णाजी केशव दामले) ही इस राष्ट्रीय नवचेतना के प्रथम अग्रदूत थे। हिन्दी के भारतेन्दु की भाँति उन्होंने अपनी 'तुतारी' (तुरही) फूँकी। उन्होंने मराठी में राष्ट्रीय स्वातन्त्र्योन्मुखी कविता का शंखनाद किया। उसी राष्ट्रीय चेतनायुक्त ओजस्वी कवि-परम्परा में शाहीर, गोविन्द विनायक, माधव, सावरकर, यशवन्त आदि आते हैं। इनकी प्रेरणा का स्रोत मुख्यतः महाराष्ट्र का अतीत था, और मातृभू के प्रति बलिदान की भावना से इनकी रसवन्ती ओतप्रोत थी। इस परम्परा ने नये युग में नया रूप ले लिया और 'मानवता' और 'बंड' लिखने वाले 'अनिल' को अपनी रचनाओं में एक भिन्न प्रकार के परिपार्श्व पर उसी प्रक्षोभ रस को व्यक्त करना पड़ा। पहिले जो कवि विधवा के दुःख से तिलमिलाता था, वह अब सामाजिक विषमता देख कर क्रुद्ध हो उठता है। यों अब वह सहानुभूति के साहित्य की अपेक्षा त्वेष और आवेश का साहित्य रचता है। कुसुमाग्रज अपनी प्रेयसी को कहते हैं कि 'सखी, तुमने जो चाँदनी के हाथ मेरे गले में डाले हैं उन्हें हटा लो। क्षितिज के उस पार दिन के दूत खड़े हैं।' ये दिन के दूत नया जीवनसंगीत कवियों को सिखा रहे हैं जिसमें दासता की शृंखलाओं को तोड़ने की व्याकुलता है। 'अनिल' ने अपनी 'मानवता' कविता में लिखा है—'कहीं भी अन्याय हो, हम चिढ़ उठेंगे, कहीं भी चोट पड़े, हम तिलमिला उठेंगे!' मानवतावादी कविता की परम्परा तुकाराम के 'जो पीड़ित हैं, यातना के शिकार हैं, उन्हें जो अपनाये वही साधु है,' एकनाथ के भूतदयावाद में, केशवसुत के 'न मैं ब्राह्मण, न मैं हिन्दू, न मैं किसी एक पन्थ का हूँ' आदि में मिलती है। समता और स्वतन्त्रता का यह स्वर 'अनिल' के 'सुप्त ज्वालामुखी' में, कुसुमाग्रज की 'जा जरा पूर्वेकडे' में, श्रीकृष्ण पोवले के 'पाथरवट' में, ना० ग० जोशी के 'विश्वमानव' में और अन्य कई नये कवियों में मिल जायगा। ये सभी कवि एक नयी समताश्रित समाज-व्यवस्था चाहते हैं। पहिले सुधार उनका अस्त्र था, अब समाजक्रान्ति में वे विश्वास करने लगे हैं।

परन्तु कवियों का एक तीसरा दल भी है जिसने इस समाजक्रान्ति में से गुज़रनेवाले समाज की खंडित मान्यताओं को अनुभव करना शुरू कर दिया है। चाहे इस दल के प्रेरणा-गुरु रामदास हों या "जीवन एक निरन्तर 'कर्रू कर्रू' है! जन्म, मैथुन, मृत्यु, इत्यलम्, इत्यलम्, इत्यलम्!" कहने वाले टी० एस० ईलियट, चाहे 'जिमि दशनन महँ जीभ बिचारी,' वैसे ही 'हथौड़ों के बीच हमारा हृदय जी रहा है' कहनेवाले रिल्के हों, चाहे 'बची रहती है हड्डी-सी सूखी आत्मा की निशा' कहने वाले ऑडेन; मर्ढेकर, मनमोहन, य० द० भावे आदि की इस नयी परम्परा को अतिवास्तववादी कह सकते हैं। आज के यन्त्रपीड़ित युग में पिसे हुए मानव का बीभत्स, गहन निराशा-पूर्ण चित्रण इन कवियों ने किया है। परिस्थिति का तेज़ाब पीकर इन नये कवियों के मानव की ठठरी खोखली हो गयी है, उसकी हड्डियाँ उसके जीवनमृत मन की टिकटी है, समुद्र उनके लिए उस भंगी के समान है जो अपनी सारी गन्दगी किनारे पर लाकर जमा करता है, जीने की भी सख्ती है, मरने की भी सख्ती है, 'सर्वे जन्तु रूटिनः सर्वे जन्तु निराशयः'। इस नयी कविता ने मानवता के मधुर आशा-स्वप्न को धक्का दिया है, उसने काव्य में आज तक कभी व्यवहृत न हुए ऐसे शब्दों और मुहावरों को ला पटका है। अभी यह 'संज्ञाहीन' मानव का भयानक चित्र देने वाली कविता प्रयोगावस्था में है। इसके बारे में कोई भी निर्णय जल्दी नहीं दिया जा सकता। मनोविकृति और अगतिकता कविता का विषय नहीं हो सकती यह कहना ग़लत होगा, परन्तु क्या कविता केवल इसी व्यंगचित्रात्मक आघात-तन्त्र में बँधी रह सकेगी? जीवन यदि निरा संगीत, सुमन और सुरा का सपना नहीं है, तो वह निरा कोलाहलमय रास्ते में होनेवाला सिरदर्द भी तो नहीं है जो कविता की प्रत्येक पंक्ति में आत्मा का कलुष ही दे। नयी मराठी कविता में अभी नये-नये उन्मेष और समन्वय की सम्भावनाएँ गर्भित हैं, यही इन सब आन्दोलनों से कहा जा सकता है।

काव्य के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण साहित्यप्रकार है लघुकथा और उपन्यास। लघुकथा का प्रसार परिमाण और गुण दोनों ही दृष्टियों से काफ़ी हुआ है। परन्तु इस साहित्यरूप में अंग्रेज़ी साहित्य से उधार ली हुई टेकनीक की दासता अधिक है। मराठी मन की घटना, विकास और आकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब इन कथाओं में कम मिलता है। एक तो लेखक मध्यम वर्ग से अधिक हैं, दूसरे पाठक मनोरंजन से अधिक कुछ कथा से चाहते भी नहीं। कथा का आरम्भ यद्यपि उसी अद्भुत रम्यता पर आश्रित घटना-प्रधान दीर्घ आख्यायिकाओं से हुआ, फिर भी उसे सँवारने में वि० स० खांडेकर, ना० सी० फडके और य० गो० जोशी जैसे कुशल कथाशिल्पियों ने विशेष योग-दान दिया। दिवाकर कृष्ण से गंगाधर गाडगील तक मराठी लघुकथा में चरित्र-

चित्रण ने पर्याप्त प्रगति न केवल मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता में, परन्तु वर्णन के लिए विवरण के चयन में भी की है। कथा-लेखिकाओं में से कृष्णाबाई और विभावरी शिरूरकर ने समाज में स्त्रियों के कई ऐसे प्रश्नों को मुखर किया जिन्हें कि पुरुष लेखक शायद ही लिख पाते। मराठी में अनुवाद भी इस क्षेत्र में धड़ल्ले से हुए। देशी-विदेशी भाषाओं के विख्यात लेखकों की कथाओं का प्रभाव लेखकों पर पड़े बिना न रहा। लघुतम कथा और रूपक कथा से लगाकर सुदीर्घ कथाओं तक शैली के प्रयोग इस क्षेत्र में हुए। परन्तु सामाजिक कथाओं में विशेषतः दम्भस्फोट, मौन कुंठा का चित्रण और मनोरंजक प्रसंग-रचना के अतिरिक्त कोई विशेष प्रवृत्ति लघुकथा की नहीं दिखाई देती। यद्यपि माडगूलकर, कुसुमावती देशपांडे आदि नये लेखकों में स्पष्टतः प्रादेशिक पार्श्वभूमि का और अब तक मध्यवर्ग के बाबू-लेखक वर्ग द्वारा अछूते समाजों का अधिक अन्तरंग चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास स्पष्ट है।

उपन्यास की कुछ प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हैं। केवल मनोरंजन-प्रधान, ऐतिहासिक और जासूसी 'कादम्बरियों' को छोड़ दें तो सामाजिक उपन्यासों में हरि नारायण आपटे ने एक वास्तववादी परम्परा उपस्थित की। उस समय के महाराष्ट्र के समाज का, विधवाओं का, ग़रीब निम्न मध्यवर्ग का, दम्भी अफ़सरों का, अकाल का और विपन्नता का जैसा चित्र हरिभाऊ ने उपस्थित किया है वह डिकेंस की याद दिलाता है। उनके बाद वामन मल्हार जोशी और श्रीधर व्यंकटेश केतकर ने एक दार्शनिक और समाजशास्त्रज्ञ के नाते बदलते हुए समाज के मूल्यों को देखने का प्रयत्न किया और अंशतः वे सफल भी हुए। परन्तु उनके बाद फड़के, खांडेकर, माडखोलकर, पु० य० देशपांडे आदि औपन्यासिकों ने समस्याओं को ज्यों का त्यों देखना नहीं चाहा। इन्होंने या तो उनकी पार्श्वभूमि पर अपनी नायक-नायिका-खलनायक वाले प्रेम-त्रिकोण की कथा को उपस्थित किया, या फिर उसका अमानवी आदर्शीकरण कर डाला; उसकी विकृतियों में रस लिया या उनसे आँख मूँदकर एक नया ही अतीन्द्रिय कल्पनालोक निर्मित कर लिया। उपन्यासकार के लिए ये दोनों ही स्थितियाँ खतरनाक हैं कि वह मधुमक्खी की तरह जीवन के मधु में अपनी पाँखें इतनी चिपटा ले कि उसी में उसका नाश हो; या कि वह जीवन की विभीषिका से भागकर ज्यामिति की आकृतियों की भाँति अपने विश्वास-लोक में मनमाने पात्र और परिस्थितियाँ गढ़े। पहिला प्रकार प्रकृतिवादी नग्न यथार्थ के कुछ चटकीले चित्र चाहे दे दे, उच्च कोटि का साहित्य नहीं दे सकता जिसमें आत्मिक संघर्ष को प्रस्तुत किया जा सके; दूसरा प्रकार केवल सर्कस के यान्त्रिक चमत्कृतिपूर्ण रंजक व्यायाम की भाँति बौद्धिक सन्तोष चाहे दे, हार्दिक सन्तोष नहीं दे सकता। अतः मराठी उपन्यास में तान्त्रिक दृष्टि से कितनी ही पूर्णता क्यों न आयी हो, उपन्यास अभी उस कोटि के नहीं कहे जा सकते कि जिन्हें पढ़ कर महाराष्ट्र के समाज-जीवन का याथातथ्य दर्शन मिल सके और न उनमें व्यक्ति-जीवन की चिरन्तन समस्याओं का ही निरूपण या समाधान मिलता है। जेम्स जौयस के ढंग पर मनोविश्लेषणवाले प्रयोग भी हुए; प्रत्यक्ष आदिवासियों के जीवन पर या बंगाल के विभाजन को देखकर 'रिपोर्ताज' ढंग के उपन्यास भी लिखे गये हैं, कुछ उत्तम किशोर साहित्य भी साने गुरुजी ने लिखा। परन्तु इन सब को ध्यान में रखते हुए भी मराठी उपन्यास की मुख्य प्रवृत्ति राजनैतिक उपन्यास ही मानी जा सकती है। अभी तो उपन्यास में राजनीति कथा-वस्तु के पट में एकसूत्र में ग्रथित नहीं जान पड़ती; चरित्र 'टाइप' होते हैं न कि जीते-जागते व्यक्ति; फिर भी उस ओर लेखकों का रुझान अधिक है। अकेले सन् '४२ के आन्दोलन पर ही पाँच उपन्यास लिखे गये जिनमें से तीन ज़ब्त भी हुए। सामाजिक दृष्टिकोण है, जागरूकता भी पर्याप्त मात्रा में है, कलात्मक उपकरण भी हैं—परन्तु मराठी उपन्यासकार के पास नहीं है वह व्यापक अवगाहन करनेवाली सूक्ष्म मानवी दृष्टि जिससे 'ज्याँ क्रिस्तोफ़' या 'गोरा' या 'होरी' जैसे पात्रों की ही सृष्टि हो या ह्यगो, हार्डी या गोर्की की भाँति विशाल करुण जीवनपट ही उपस्थित किया जा सके।

नाटक के क्षेत्र में मराठी को उचित अभिमान है कि उसका रंगमंच बहुत समृद्ध है। अभी छः वर्ष पूर्व उसका शतसांवत्सरिक उत्सव मनाया गया। अण्णा किर्लोस्कर, देवल और कोल्हटकर के युग तक रंगभूमि पर संगीत का बहुत प्राधान्य रहा; गड़करी ने उसमें भाषा-सौष्ठव का आनन्द बढ़ाया; खाडिलकर ने पौराणिक विषयों में राजनैतिक आशय भरा। आरम्भ में यद्यपि संस्कृत के प्राचीन नाटकों के अनुवादों, का शेक्स्पीयर और मोलियर के अनुवादों का प्रभाव बहुत था, बाद में मराठी नाट्य प्रतिभा का पुष्प स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ। गड़करी ने सामाजिक समस्याओं को छुआ था परन्तु अपनी रोमानी दृष्टि से। मामा वरेरकर और प्र० के० अत्रे ने उन प्रश्नों को सामाजिक यथार्थ के रूप में और बहुत कुछ इब्सन, शॉ के मूर्तिभंजक-व्यंगचित्रात्मक ढंग से उपस्थित किया। आधुनिक मराठी नाटक की नारी एक 'सफ़्रेजेट' नायिका है जो विवाह-बन्धन तोड़कर घर के बाहर निकलती है। परन्तु फिर चुपके से पतिव्रत का

लकफ ६६
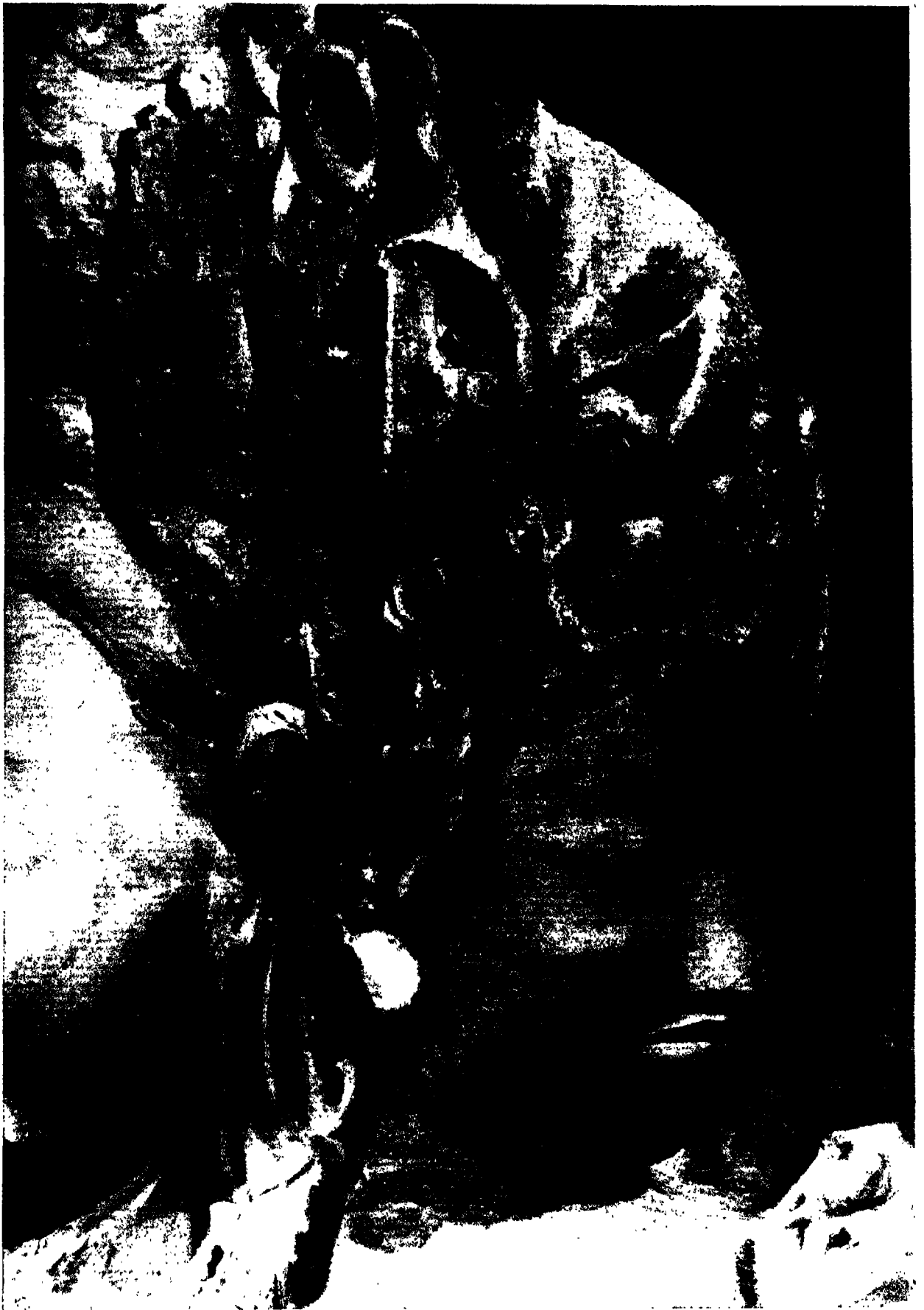
महत्त्व समझ कर वापस घर में चली आती है। इब्सन, शॉ के समाज में और हमारे समाज में अभी बहुत अन्तर है, अतः वहाँ की दृष्टि को ज्यों का त्यों यहाँ ले आना इसी प्रकार के दृश्य उपस्थित किये बिना न रहता। के० नारायण काले ने 'इंग्रजी रंगभूमीचा मराठी अवतार' नामक निबन्ध में इसे एक प्रकार की कृत्रिमता से एक दूसरे प्रकार की कृत्रिमता में जाना बताया है। जहाँ पहले नाटक अधिक संगीत-प्रधान थे, नये नाटक अधिक गद्य-प्रधान हो गये—यहाँ तक कि नाटक की सारी सफलता केवल चमकीले चटपटे संवादों में निहित रह गयी। महाराष्ट्र के समाज-जीवन का याथातथ्य चित्र वे कहाँ तक दे पा रहे हैं इस ओर ध्यान कम हो जाने से, नाटक भी उपन्यासों की भाँति केवल लेखकों का बौद्धिक व्यायाम और पाठकों का बौद्धिक मनोरंजन बन कर रहने लगे। मेटरलिंक या चेखोफ् या ओ नील की समस्याएँ अलग थीं, हमारी समस्याएँ अलग हैं। अतः वहाँ एक ओर तमाशा और लोकनाट्य ने अलग प्रचार-रूप धारण किया, वहाँ रंग मंच पर नव नाट्य के प्रयोग बोलपट की बाढ़ में खो-से गये। जिस प्रकार उपन्यासों में, वैसे ही नाटकों में, मराठी के आधुनिक लेखकों की विदेशों से तन्त्र और दृष्टिकोण उधार लेने की वृत्ति ने उस लेखन को अपनी जड़ों से अलग कर दिया। परिणामतः इतनी सशक्त और पुरानी परम्परा होने पर भी आज मराठी रंगमंचों की स्थिति या नाटककार का पता पूछने पर हमें चित्रपट की ओर अनिच्छापूर्वक अंगुलि-निर्देश करना पड़ता है।

ललित साहित्य का अन्तिम क्षेत्र है लघुनिबन्ध। परिहास और व्यंग की, यात्रा और संस्मरण की, आत्मचरित्र और समालोचन की यह कृति एक सम्मिलिनी-सी है। इस क्षेत्र में मराठी ने बहुत प्रगति की है। आत्म-निबन्ध, विरोधाभास-युक्त निबन्ध, संस्मरणात्मक निबन्ध आदि में मराठी में फड़के की 'गुजगोष्ठी,' अनन्त काणेकर के कई संग्रह और ना० म० सन्त, इरावती कर्वे, काका गाडगील आदि अनेक लेखकों का नामोल्लेख ही काफ़ी है। प्रौढ़ साहित्यिक विचारपूर्ण निबन्ध से लगाकर वृत्तपत्रीय निबन्ध तक मराठी में कई विदग्ध शैलीकार मिलेंगे। महाराष्ट्रीय मनसा के लिए यह वाद-विवादपूर्ण, चर्चात्मक निबन्ध-प्रकार विशेष प्रिय साहित्यिक माध्यम जान पड़ता है। जहाँ वा० म० जोशी से विनोबा भावे तक उत्तम दार्शनिक निबन्ध मिलेंगे, वहीं श्री० कृ० कोल्हटकर से चि० वि० जोशी और पु० ल० देशपांडे तक उत्कृष्ट हास्य-निबन्धों का भी मराठी में प्राचुर्य मिलेगा। जॉनसन ने निबन्ध को 'मन का स्वैर भ्रमण' कहा था—वह कई अंशों में मराठी निबन्धों में घटित होता हुआ मिलेगा। काव्यशास्त्र-विनोद की मूल आत्मा 'विच्छित्ति' (विट) इन निबन्धों में मिलेगी। इनकी प्रवृत्ति समाजविश्लेषण, विवरणयुक्त वर्णन और तटस्थ विचार-तरंगों की ओर अधिक है। अतः मराठी का यह साहित्यांग आधुनिक काल में विशेष रूप से परिपुष्ट हुआ है।

यद्यपि गम्भीर समालोचना, इतिहास-संशोधन, कोश-कार्य आदि साहित्य के कई अन्य समृद्ध पक्ष मराठी में हैं तथापि इस निबन्ध का परिमित उद्देश्य एक साधारण पाठक की दृष्टि से प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय मात्र था। अतः हम मराठी के आधुनिक ललित साहित्य में जहाँ एक ओर विदेशी शैलीगत प्रयोगों के अनुकरण की पिपासा पाते हैं; वहीं लोक-जीवन में हमें जानपद-गीत और जानपद-कथाओं से प्रेरणा लेने के शुभ लक्षण भी दीखते हैं; जहाँ एक ओर विदेशी विचार-पद्धति से निर्मित मोह-भंग देखते हैं, वहीं एक प्रकार के संस्कृति-समन्वय की दृष्टि भी हमें मिलती है जो कि एक आशास्थान है। मराठी मन की प्रवृत्ति राजनैतिक एकेश्वरवाद की ओर बढ़कर जहाँ व्यक्ति-पूजा के संघ-सन्तोष तक जाती हुई एक ओर साहित्य में परिलक्षित है, वहाँ सच्ची जनतन्त्रवादी मानवता की प्रतिष्ठा भी वैज्ञानिक और विवेकवादी दृष्टिकोण से हमें साहित्य में मिलती है। किसी भी चीज़ को ज्यों का त्यों न मान लेना मराठी साहित्य का प्रमुख लक्षण है, और इस प्रकार का सर्वसंशयवाद संक्रान्तिकालीन जागरूकता का लक्षण है। मराठी साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों को इस प्रकार हम बहुत आशाजनक मान सकते हैं, क्योंकि उसमें जनतन्त्र और ऐहिक वैज्ञानिक नवसमाज के निर्माण के सुस्पष्ट बीज लक्षित होते हैं। आज जो भी कुछ कलुष इधर-उधर दिखायी भी देता है वह शिशिरकालीन सूखे पत्तों की तरह है; वन में भी बसन्त निश्चित आने वाला है। गड़करी का 'पत्थरों का देश' 'पुण्यमय देश' भी बनने वाला ही है।

काल का रूप

श्री दक्षिणारंजन मित्र मजूमदार

अविश्रान्त करतलध्वनि।

सागर में, वन में।

हरे-भरे पल्लवों में, फूलों में, सिन्धु की तरंग-सभा में।

कोटि-कोटि वर्ष टाँग फैला कर चले गये हैं। आज ही वे सार्थक हैं। स्थल में, जल में, शून्य में सुन पड़ती है केवल विपुल ध्वनि, श्वास, गर्जन और गान। अर्थहीन कोलाहल।

बन्धन-हीन क्षिति में सहसा डोल उठी—भाषा।

गह्वर में, अरण्य में, सैकत में, मनुष्य की भाषा ने आकाश के वायुस्तर में प्रथम ही अंकित की—विश्व के अन्तस्तल की कथा।

आलोक-अन्धकार दोनों ही उल्लमित हुए।

गोलमाल अब शान्त है।

सरीसृप, पशु-पक्षी, कीटों आदि का विश्वास है—मनुष्य उन्हीं की जाति का एक प्राणी है। किन्तु उस निर्भरता को चूर्ण कर दिया है—मनुष्य की भाषा की भंगिमा ने। मनुष्य के इस नवीन परिचय से विस्मित होकर वे दल बाँधकर भाग खड़े हुए हैं।

और भाषा पाकर भी मनुष्य अवाक् रहा। इस स्थान पर आकर उसने देखा, उसने अपने को पाया किन्तु और सभी दूर चले गये।

जिस वस्तु से (मनुष्य) अभी तक अलग रहा, अन्त समय में संगहीन मनुष्य ने उसे अपनी ओर खींच लिया। रोममय चर्म; पालक। सरीसृप सावधान रहा—उसकी आहट न मिली। मनुष्य ने प्रस्तर घिसकर ऐसे अस्त्र का सृजन किया जो अजगर के दाँतों से भी तीक्ष्ण था।

इस अस्त्र से मनुष्य ने कान्तार-शैल-सैकत की राजगद्दी पर अधिकार किया।

* * *

राजा होकर मनुष्य ने पाया, उसकी प्रजा कोई नहीं। सभी विद्रोही दल के हैं। प्रजा हैं तो अचल, नीरव उद्भिज।

चतुर विद्रोही-गण अन्तराल में जागे। वे जीवन देते हैं—मान नहीं। अचल प्रजागण की शाखा, वल्कल, कन्द, मूल मानुषीय हाथों में आकर छिन्न-विच्छिन्न होने लगे।

और निश्चल उद्भिद्गण गिराते रहे फूलों के रूप में अश्रु की टप-टप बूँदें!

नीलाकाश मेघाच्छन्न हो उठा है। वर्षा हो रही है। दिशाएँ तो आँखों के सामने ही हैं.......फिर भी द्वार रुद्ध हैं। अर्द्ध-रुद्ध—शीत के कुहासे से। और चतुर्दिक्षु भी तो वही कुहासा था। क्षुधा से उत्तेजित मनुष्य परस्पर बोलने लगे—"ऐसा क्यों है?"

अपुष्ट भाषा के कारण किसी से भी स्पष्ट उत्तर नहीं मिला।

और अरण्य में, गह्वर में, प्रारम्भ हुआ फिर वही चिरन्तन कोलाहल ।

"क्या चाहते हो ?"

कोलाहल पहुँचता है सागर की सीमा पर। वहाँ भी यही प्रश्न। विराट् पर्वत के आदि-गह्वर में स्थित अथर्व वृद्ध हैं—यह प्रश्न उन्हीं का है।

मनुष्यगण फिर एक बार अवाक् हुए और बोले "भाई, तुम कौन ?"

"अब तक शायद तुम्हारे ही लिए बचा हूँ—चाहते क्या हो ?"

"तुम दोगे ? दे सकोगे ? तो फिर लाओ दो ! सब चाहिए !"

"ठीक है। ले सकोगे। अभी तक नहीं दिया। किन्तु लेता कौन ? अगर इस बार ले सके तो सब कुछ पा सकोगे। सँभाल सकोगे ?"

"हो हो हो !" हँस उठे सशब्द मनुष्य। चर्म्म, पालक, हड्डी, कौड़ी, फूल, क्या नहीं है उनका ? तीखे अजगर-दन्त, दंड-प्रस्तर ! वे अग्रसर हुए—"तो दो सब ! देखें तो !"

"नहीं। सब नहीं। केवल एक यह। इसे रख सके, तो और पाओगे। सुन्दर हो जायगा सभी कुछ।"

तप्त सूर्य को इंगित किया। फिर प्रदर्शित किया शिला-खंड—"देख, यह सूर्य इसमें है !"

गह्वर के मुख में प्रदीप्त हो उठी लहलहाती लौ।

अग्नि !

अभिभूत मनुष्य के तीव्र स्वर से हवा टुकड़े-टुकड़े हो गयी।

* * *

गम्भीर रात्रि। किन्तु फिर भी मनुष्य में उतनी निद्रा नहीं है। गह्वर में—वनानी में—गिरि-शिखर में जलती हैं छोटी-बड़ी शिखाएँ। जलती हैं, एक-एक करके बुझ जाती हैं। केवल सुनी जा सकती है शेष याम में एक-मात्र ध्वनि—जो कोई कोलाहल नहीं है, जो स्पन्दित होकर धरणी के ऊपर से चली जाती है, जो मेघ और नक्षत्र के मार्ग से चलती हुई मिल जाती है उषा के चक्रवाल में—

किसकी ध्वनि है, कहाँ होकर आती है, यह अज्ञात है। बस, सुनाई भर पड़ती है। मनुष्य-पक्षी-पशु-पतंग-कीटाणुओं की छाती में रणरणित करके वह रख जाता है ध्वनि-रेखाओं का नृत्य।

भोर में—जल उठती है फिर एक बार अग्नि—

विद्रोही पशु-पक्षी देखते हैं दूर रहकर। मनुष्य के कुटीर-झोंपड़े असंख्य। आसपास है निरुपम जलती दीपिकाएँ। भय, ऊँच-नीच, सन्देह, आकर्षण—ये सब आ जाते हैं और फिर लौट जाते हैं। इसके बाद केवल साहस से कितनों को वरण करता है मनुष्य का खोया हुआ संग।

खिल उठता है मनुष्य। उन सब के यत्न से इन्होंने भी कुटियाँ बनायीं—पतंग, पशु, मनुष्य, पक्षी, कीट आदि के एकचित्त उत्साह के अतिवाहन का दिवस आ गया। आयी अनल-शिखा-खचित दीपित रात्रि।

किन्तु—फिर गोलमाल !

एक दिन एक मनुष्य बोला—यह पक्षी मेरा है।

और एक दिन एक मनुष्य बोला—यह पशु मेरा है।

तीसरे ने कहा—मेरा पक्षी।

चौथा बोला—मेरा पशु।

प्रबल हाथ बढ़ा—एक थप्पड़ से मुँह फिर गया।

पहला संघर्ष।

दिन विमर्ष हुआ। रात भी असुप्त रही। एक विक्षुब्ध दिन में कितने ही आहत मनुष्य—कुछ इस वन में—कुछ उस वन में।

अग्नि का वाहन था धूम्र। कदाचित् उसी ने असतर्क मनुष्य पर आक्रमण कर दिया था।

* * *

विभिन्न वन उत्सन्न होते हैं। वहाँ मनुष्य प्रसन्न घर बनाता है। मनुष्य का घर, मन, भर गया है दिशाओं को नयी-नयी वस्तु के हर्ष-हास्य से। घर के अतिरिक्त पठार में, नदी में, ह्रद में, समुद्र में, सभी स्थानों में मनुष्य झुकता है, पृथ्वी के सब ऐश्वर्यों के संग आत्मसात् होने के आनन्द से। शुक, मयूर, कपोत, निश्चय ही इस बार उसके हैं। गाय, घोड़ा, छाग, ऊँट, हरिण, हस्ती—उसी के हैं। हल, तीर, धनुष, तलवार, तरणी, शकट...यह सब अवश्य ही उसके हैं। वीणा, वंशी, भेरी, शंख भी तो उसी के हैं। मिट्टी को जोत कर, स्रोत और तरंग में चौका चला कर, नीचे को ऊँचा कर, ऊँचे को समतल कर मनुष्य देश-देश में छितरा जाता है। जीव—उद्भिज बन्धु हैं, ज्ञान-विज्ञान नवीन सुहृद् हैं। मनुष्य सुन्दर हुआ है। पृथिवी दीप्त और तृप्त हुई।

गान में आती है ज्योति; शस्य में, फल में, काले अक्षर में, दग्ध धातु में, मृत्तिका में, मनुष्य किरण देता है। सृष्टि की निगूढ़ आशा को उसने रूपायित किया है।

मुग्ध सस्मित सृष्टि।

फिर गोलमाल।

इस देश का मनुष्य बोला—"भई, इतनी दूर का देश हमारा है।"

उत्तर में उस देश का मनुष्य बोला—"उतनी दूर का देश हमारा है।"

कई एक मुहूर्त व्यतीत हो गये।

इसके पश्चात् झन-झन, ह्रेषा, बृंहित, रथ-चक्रों की घरघराहट, वाहिनी का तुमुल नाद।

धुएँ की तरह उठी पृथिवी की धूल। शोणित से पृथिवी का तृणास्तरण सिक्त हो उठा।

रक्ताभ हुआ हरा रंग। जमे हुए रक्त की कृष्ण आभा ने यह इंगित किया कि केवल मनुष्य पर ही नहीं, धूम्र ने अग्नि पर भी आक्रमण किया है!

* * *

लोकालय में ही सहज लाभ की कितनी ही आशा थी। वन अतिक्रम करके वन्य जन्तुओं की आशा सम्प्रति बन्द हो गयी है। शिकार कहाँ है? पटुतर शिकारी है मनुष्य, और विशेषतः उसके अजस्र अस्त्र!

गम्भीर वन में उनकी भीड़ है। ये विद्रोही दल के हैं। देख कर मालूम होता है, ये कोई सभा करने के उद्योग में हैं।

सम्राट् सिंह का नीरव मुख-भाव कहता है, वह मनुष्य की अमित कीर्ति देख कर विस्मय-मोहित है।

पक्षी के पंख का कम्प ही जताता है, भीतर वह सुखी नहीं है। ये मनुष्य अपने भीतर ही कलह करते हैं।

सिंह आँखें उठाता है। उसकी प्रसारित दृष्टि में अर्थ है—दूर से भी मनुष्य के इस युद्ध का कृतित्व बहुत अधिक है।

पक्षी की आँखों की भंगिमा बच्चे को निर्देश करके समझाना चाहती है—वह कृतित्व वृथा है—कपोत के समान शान्ति-प्रीति के प्रतीक को भी यह युद्ध के मारात्मक पत्र का वाहन बना सकता है।

नीरव रहा सिंह। कोई भी आभास नहीं पाया गया। मानों सभा हुई नहीं।

देश में इधर-उधर मनुष्य के तीर-धनुष का अविराम द्वन्द्व। यह सब उद्विग्न वन ही की आवाज़ है। विघ्नित निद्रा की गोद में रात कटती है।

तूणीर, तलवार, ढाल, धनुष, सम्बल, मानव, सेनादल। निशीथ-रात्रि।

नेत्र चकित। म्रियमाण, कभी-कभी उग्र। तन्द्रा का स्वप्न भी नहीं। शत्रु के आघात का भय और उसको हनन करने के कौशल की भावना ये दोनों ही व्यग्र हैं। क्लान्ति को दोनों ठेल कर दूर कर देते हैं।

अस्फुट स्वर—"जल!"

"क्यों, क्या समाप्त हो गया?"

"हाँ। थोड़ा-सा दो।"

"भई, मेरे पास भी तो नहीं है, देखो न—"

फलक ६६

फलक ७०

कुछ देर स्तब्धता ।
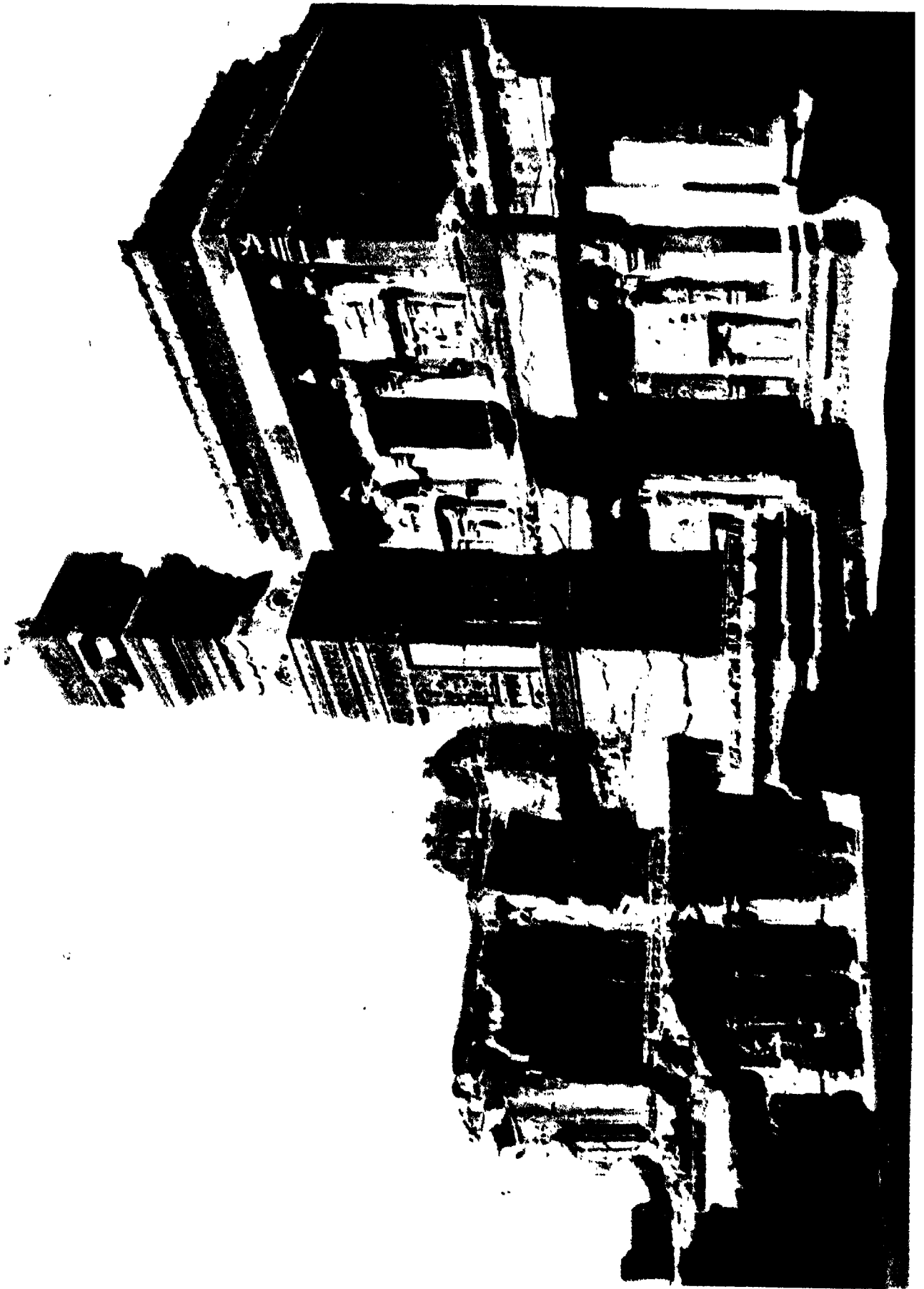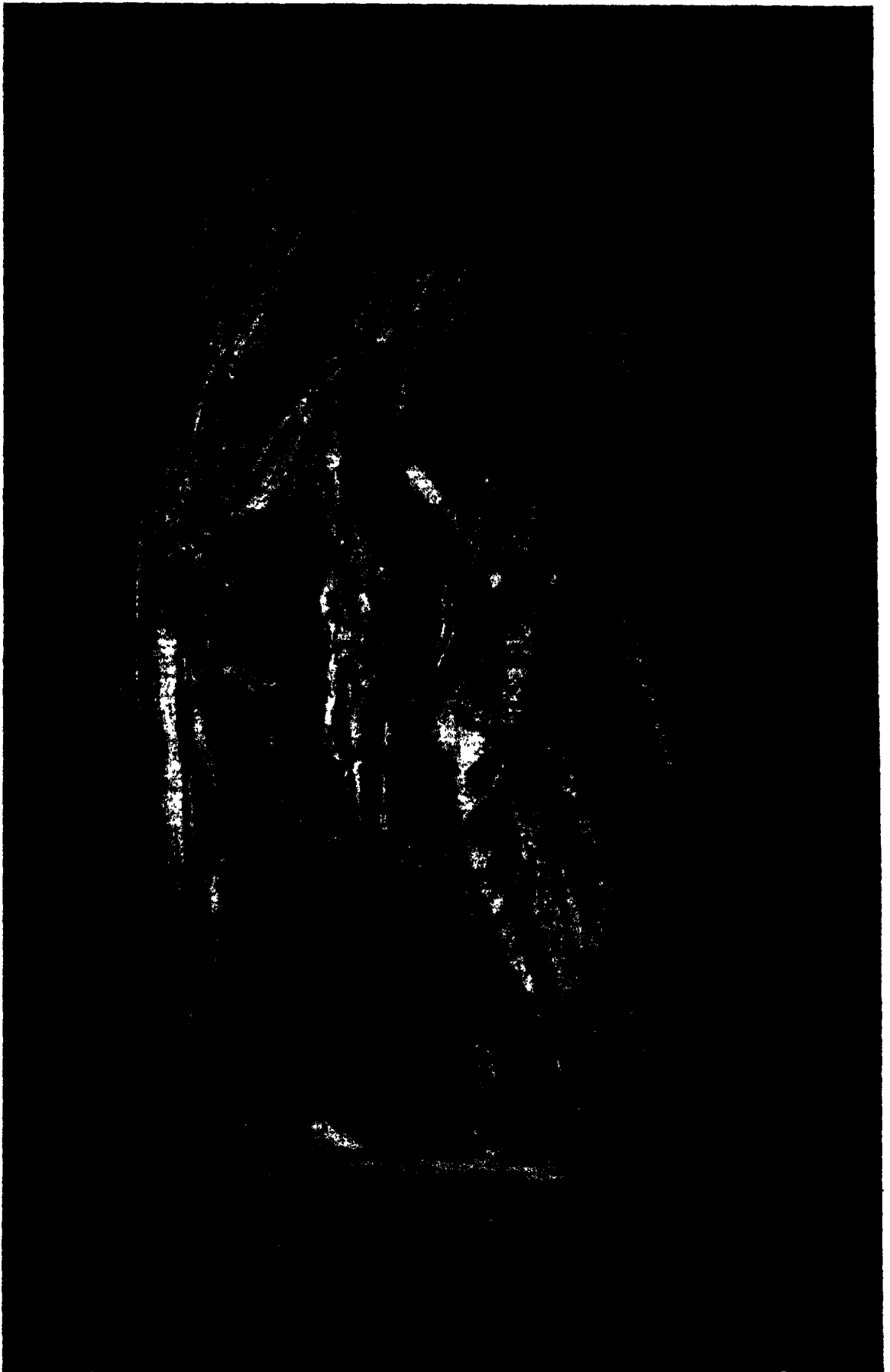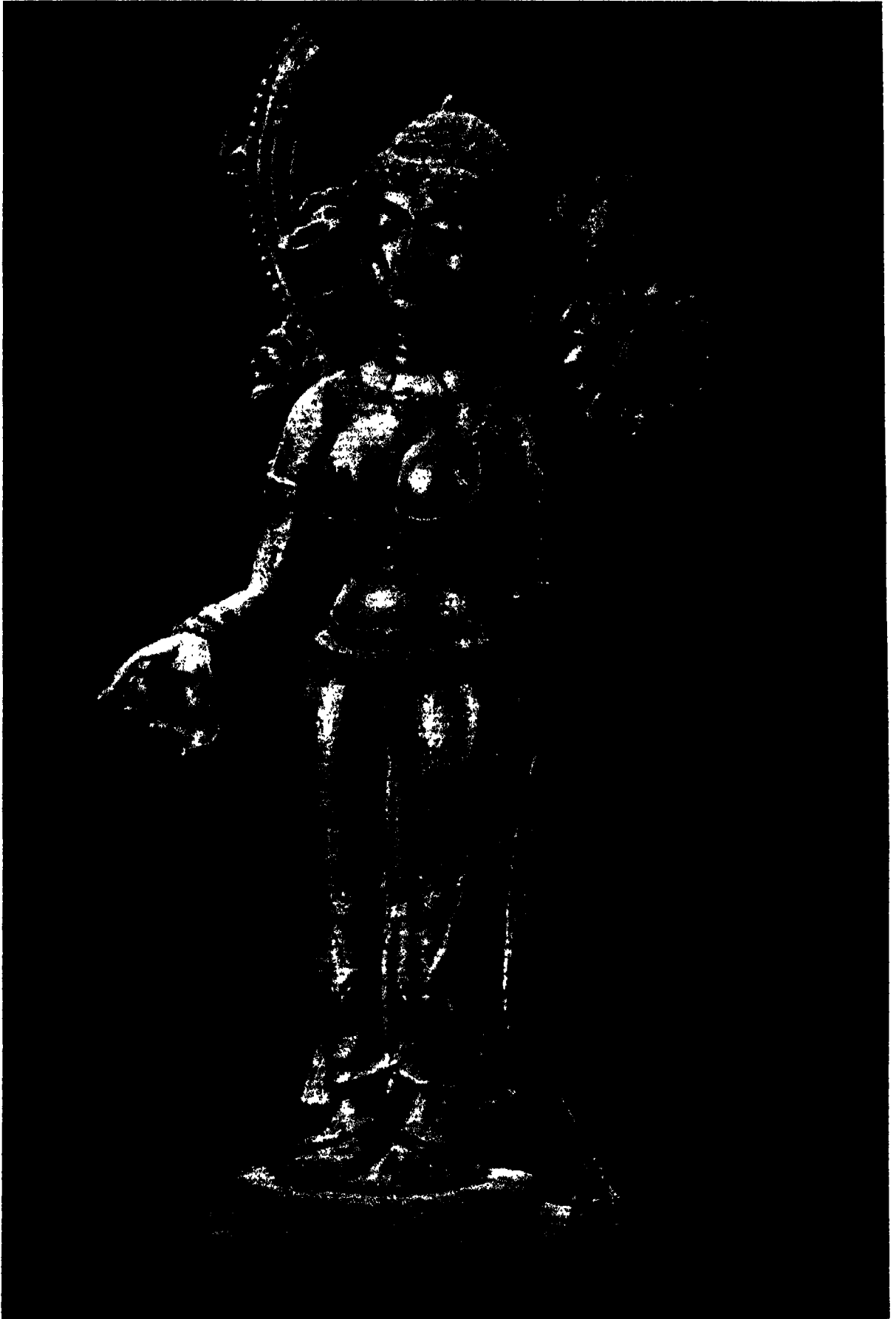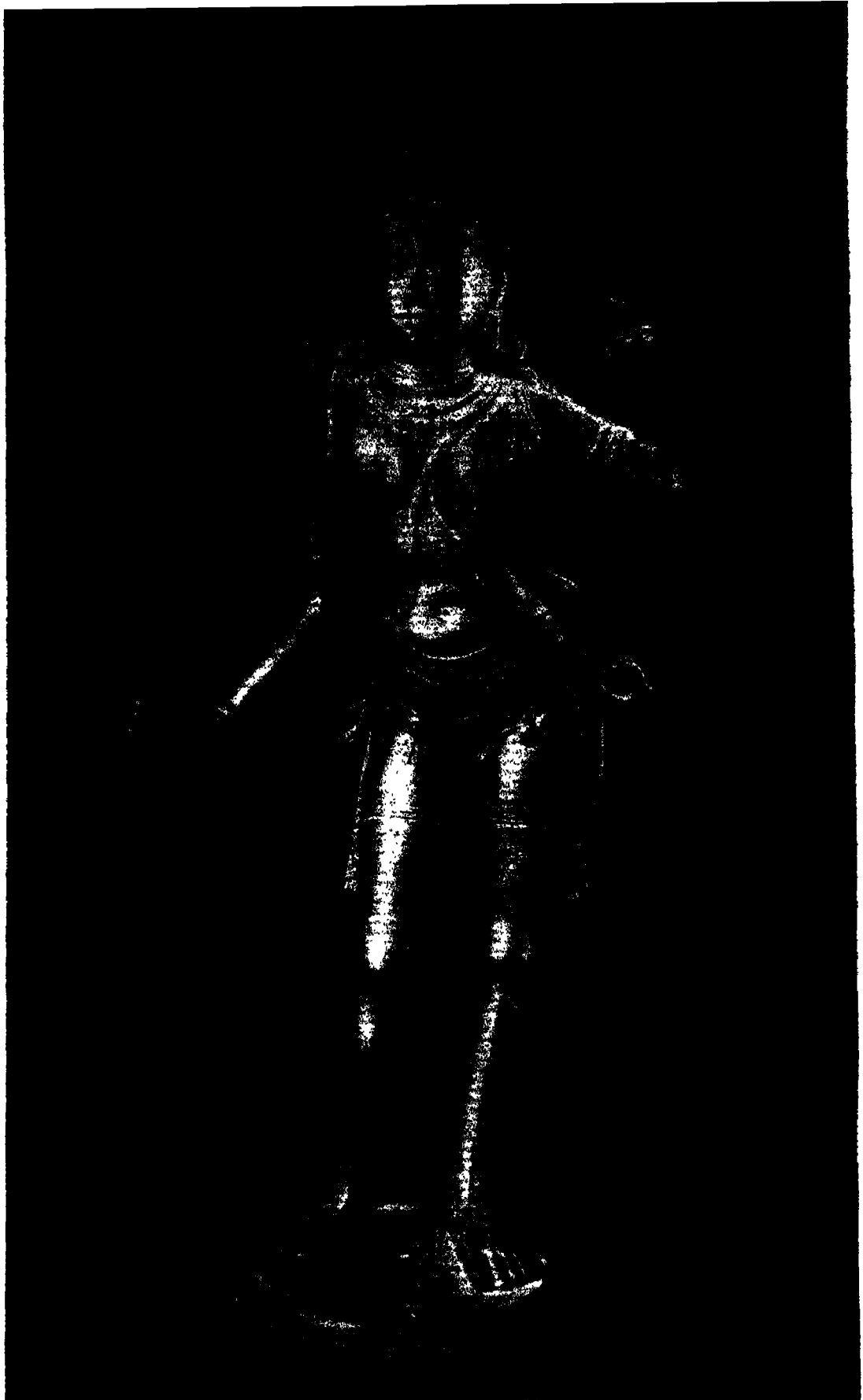
अति-श्रान्त स्वर—'भई यह सब क्यों ?"

"क्यों क्या ? वह चाहिए ही । क्यों, यह मत पूछो; लेकिन चाहिए ही ।" देह से लगे हुए कृपाण में ईषत् ध्वनि हुई ।

"ग्लुम् !"

हठात् शब्द । दूर अद्भुत शब्द । किसका ?

सन्त्रस्त सैन्यदल ।

वन में वन्य जन्तु भी चकित हैं—यह क्या ? बहुत पहले ध्वनि जो सुनी थी, यह क्या वही है ? यह तो ऐसी नहीं है ?

और भी शब्द । बहुकाल-विस्मृत यह शब्द किस प्रकार का है, इसका स्मरण होने से पूर्व ही शब्द बढ़ आया ऊर्ध्व-श्वास सैन्यदल की ओर ।

अच्छी तरह सबेरा नहीं हुआ । यही देखा गया कि छिन्न-भिन्न हो गया है देश—वह्निमान, शब्दायमान, धूम्रायमान—मनुष्य के अभिनव शस्त्र से । जाना गया कि अग्नि की लौ धूम्रस्थल में परिणत हो गयी है ।

बहुत-से देश काले होने लगे । मानवीय हाथ में आग की लौ शिखा के रूप को त्याग करके बुलबुलेदार कुंडलित हो गयी । वह उल्का के समान गणनातीत होकर दग्ध करती रही अपनों को और इन निपुण निर्माताओं के लाखों स्वजनों को भी ।

मनुष्य ने जो वैभव तैयार किया था वह आधा भस्म हो गया । आग वर्तुल रचकर बचे हुए अर्द्धांश की ओर बढ़ी ।

क्या हुआ ?

इस शस्त्र का शब्द और रुकता ही नहीं ।

इसकी त्रासकर ध्वनि ने अस्थिर किया मनुष्य को ।

आज व्यग्र हो गया मनुष्य का मन —कोई ध्वनि सुनी थी—उसी ध्वनि के हेतु ।

मनुष्य कान लगाये रहा । शायद अन्तस्तल भी ।

किन्तु फिर न सुनायी पड़ी वह ध्वनि ।

अहर्निश-गुडम् । गुम-बुम—समग्र निखिल में ।

* * *

मनुष्य फिर भी व्यस्त हुआ उसी ध्वनि के लिए । सम्भवतः जीव-जन्तु गण भी । इस नूतन ध्वनि से तो पुरानी ध्वनि के ही दिन अच्छे थे !

मनुष्य की मंडली में एक दल बोला "वह स्वर सुना जा सकता था, किन्तु क्योंकर ? तुम लोगों का रव शान्त हो तब तो ?"

दूसरा दल बोला "यही तो । क्या किया जाय ?"

अपर दल दृढ़ भाव से बोला "रखो वे सब स्वप्न । कब की कौन ध्वनि है, जिसको लेकर ऐसी दुर्भावना करते हो ? अतीत के मिथ्या के पीछे वर्तमान का मानव चाहता है अक्षुण्ण जय । पृथिवी की तो बात ही क्या, वह ग्रह-नक्षत्र भी जय करेगा"

कुछ मंडली तो भंग हो गयी दीर्घ निश्वास से; और कुछ हुंकार से ।

घर आकर भी मंडली के सभ्य-गण का कल्याण न हुआ—शान्ति न मिली । अग्नि की शब्द-शक्ति और दहन-शक्ति ने किसी को ठहरने नहीं दिया । व्यथातुर हो रही हैं जगत् की गृहिणियाँ; आतंकित हो रहे हैं विश्व के शिशुगण । मनुष्य की आत्मा के संवाद पर भी वैश्वानर की वार्ता ने अधिक समय तक अधिकार कर लिया है । असम्पूर्ण, असफल छिन्न आदर्श, शोकाविद्ध जीवन लेकर, अपुष्ट चेतना लेकर, नारी और शिशु-मंडली के प्रत्यागत किसी भी मनुष्य की सानन्द अभ्यर्थना नहीं कर सके ।

बैठने के घर में, अपरिणत मन, उद्देश्यहीन ज्ञान वाले युवक और युवतीवृन्द संशय-व्याकुल, हतवाक् होकर खड़े हैं ।

'भ्रातृवर्ग,

अवस्थिति जानी हुई नहीं है। सम्भवतः जीवित। किन्तु हमारा अन्तिम पत्र है हमने आशा छोड़ दी थी। यदि पृथिवी में भूमि हो तो फिर आओ। श्मशान में, क़ब्रों में, तुम्हारे हाथों से अन्ततः एक पुष्प-दल की कामना करेंगे—केवल एक बार!

अनिश्चित पृथिवी

विदा लेने वाले
तुम्हारे भ्रातृवर्ग।'

"भ्राता! निश्चय!"

ज्ञानी एवं विज्ञानी दोनों ही खड़े हुए।

"माता धरणी की छाती पर मनुष्य जन्म लेते ही पुकारता है 'माँ!' यह भुवन की आदि-भाषा है। आज भी कोई भी मनुष्य जन्म लेते ही प्रथम उच्चारण करता है 'माँ'। सब देशों के मनुष्यों की यही शाश्वत बात है। मनुष्य का सम्पर्क इसी के भीतर होकर है—अमलिन। अच्छेद्य!"

पोत में कोलाहल—'पोत खोलो!'

*　　　*　　　*

पत्थर के समान कड़ा, काला अन्धकार। विश्व में कहीं भी शब्द नहीं। केवल समुद्र का कल्लोल। हवा कभी भीत, कभी अकस्मात् हा-हा कर उद्भ्रान्त। भग्नस्तूप, भिन्न पृथिवी पर कोई जीव भी कहीं है, इसका परिचय नहीं। तृतीय प्रहर की रात्रि मानो राक्षसी के समान भग्न-स्तूप की हड्डियों का चर्वण कर रही है।

बड़ी दूर पर शब्द। कुछ-कुछ कानों में आता है, बाकी निरुद्देश होता है। उसके बाद और कुछ नहीं। बोध होता है, ध्वंसस्तूप का बचा-खुचा भी ध्वस्त हो गया।

सिहरते अन्धकार की छाती फट जाती है। ऊर्ध्वशिख आलोक के साथ क्षीण छाया दिखाई देती है विकट ज्योति—अँधेरे में मशाल और मनुष्य—धीरे-धीरे निकट आता हुआ।

एक-एक स्तूप के समीप ऊँची मशाल झुका कर चला जाता है। दिखाई पड़ा—शीर्ण युवक। कहीं था किसी का घर—कौन था उसका—मानो खोज रहा है। एकदम अकेला है वह। स्तूप देख-देखकर दक्षिण दिशा में चलता है—निर्भीक, निःशब्द।

एक स्तूप के पीछे और एक मशाल है। नारी। पश्चात् उसके प्रौढ़ा का हाथ पकड़े किशोरी।

खोज रही हैं ये भी।

रुके वे। कोई भी किसी का पहचाना नहीं है। एक-टक ताक रहे हैं परस्पर एक दूसरे को।

पूरब की दिशा लाल हो जाती है।

भीषण पृथिवी। भोर के आलोक में!

हाथ की मशाल वे झपट कर फेंक देते हैं।

'फेंको मत!"

सागर की लहरों पर रथ छोड़ कर हँसता है सूर्य—तट पर पर्वत के सानु में वृद्ध।

"तुम लोग एक बार और जलाओगे पृथिवी पर मशाल। उन सब को दी थी—वे सँभाल न सके। फिर देखो! सँभाल सकोगे या नहीं? तुम लोग सँभाल सकोगे। वह तो झूठी होने की वस्तु नहीं है।"

शून्य पृथिवी में, सुना है फिर बज रही है वही ध्वनि—उदय-चक्रवाल से गगन मन्द्रित करती चली जाती है अनन्त की ओर—तुंग पर्वत के हिम-मुकुट को छूती हुई।

(बँगला से)

बाहर भी कलरव। आये सर्वस्व-रिक्त दुःस्थित, पीड़न-ग्रस्त श्रमिकगण, शिक्षाहीन, निरुपाय, व्याधी रोगियों की वाहिनी टिड्डी-दल की भाँति।

जुट कर वे सब पुकार करते हैं, "हम कहाँ जायें ?"

मुहूर्त भर के बाद हाथ की अंगुलियों को उठाकर आदेश, "खड़े रहो, यहीं सब्र करो और कुछ दिन !"

"किन्तु. . .वे कुछ दिन कटेंगे किस प्रकार ?"

कितने ही सभ्य सुनकर बाहर निकल गये। कितनों की दृष्टि नीची हो गयी।

स्पष्ट दृढ़ स्वर में एक उत्तर आया "प्रतिवाद न करो। प्रश्न न करो। देखो।"

अलिन्द के कोने में असीम धैर्यवान और पाठ-निविष्ट दो प्रौढ़, ललाट के स्वेद को रूमाल से पोंछकर, ग्रन्थ से ध्यान हटा कर बोले, "किन्तु, उन सबों को बचाना होगा।"

"बचेंगे अवश्य। किन्तु उन लोगों के जीवन का मूल्य तो आये पहले।"

"जीवन रहने पर ही तो मूल्य की आशा की जा सकती है ?"

"आज की आशा से युक्त होने पर ही तो किसी के जीवन का प्रयोजन है।"

"वह आशा क्या अब भी इस पथ से ही पूर्ण होगी ?"

"प्रतीक्षा करने को अब भी अनुरोध करता हूँ। देखिए।"

ग्रन्थ पड़ा रह गया। वे ताकते रहे विस्फारित नेत्रों से। दृष्टिहीन, शस्यहीन, पथहीन, बाहर की जनता चल रही थी शून्य प्रान्तर की छाती को रौंदती हुई।

जल में, आकाश में, पर्वत में शब्द। मिट्टी के नीचे शब्द।

बोध होता है कि सुदिन आने को ही है। इस बार के शब्द से मानो घर-बाहर, सेतु, शिल्पशाला, यन्त्रागार, स्वास्थ्यालय, शिक्षालय, खेलागृह, सब लुप्ति की पुकार पर दौड़ चले। क्षितितल से लेकर चन्द्रलोक तक धुँआ-सा भर गया। कहीं दरार न रही। वन्य वस्तुओं की आहट नहीं है। पृथ्वी से मानो उनका कोई वास्ता नहीं रहा। केवल कुंडली-रूप कठिन अग्नि का कठोर शब्द ही मालूम होता है, समाप्त नहीं हो रहा है।

किसके ऊपर यह गर्ज्जन है ?

क्या यह जय का गर्ज्जन है ?

ज्ञान-विज्ञान रूपी बन्धु आये थे, उनके बन्धुत्व का क्या वर्ज्जन किया जा सका है ?

हाय हरी पृथिवी। दग्ध, उजड़ा, काला अंगार !

*　　　*　　　*

केवल जल। जैसे पृथिवी सृष्टि के पूर्व थी।

कूलहीन जल के मध्य में एक अर्णवपोत मात्र है। श्रीहीन, किन्तु अतिबृहत्। पृथिवी की मिट्टी पर जब खड़े होने की भी जगह न रही, कितने देश बह गये, उस अग्नि-कुंड से, रण-परित्यक्त, यह अर्णवपोत आश्रय-सा भासमान है।

पृथिवी की मिट्टी क्या अब वे देख सकेंगे ? जल में ही निस्तार होने की क्या कोई आशा है ? मनुष्य की, माता धरित्री की क्या रक्षा हो सकेगी ?

व्यर्थ परामर्श। नारी, पुरुष, महासमुद्र के उर्म्मिशीर्ष में अपने अन्तिम दिनों की गणना करते हैं किन्तु क्या पृथिवी नहीं रहेगी ?

शब्द ! दूर एक विमान-यान !

अनुमान हुआ, पृथिवी अभी है, अन्तिम दिवस की प्रतीक्षा दो सप्ताह से करती हुई।

सब प्रस्तुत हुए। कोई शस्त्र लेकर नहीं। एकमात्र शुभ्र पताका उड़ रही थी, और सब नीरव था।

कोई भारी शब्द किये बिना यान छत पर उतरा।

अग्नि के परिवर्त्त में एक स्थान पर नीलाभ लिपि थी—किन्तु भीतर रक्ताभ।

बँगला साहित्य की कहानी

हीरेन्द्रनाथ दत्त

भूतत्त्व की दृष्टि से बंगाल भारतवर्ष में सबसे तरुण खंड है। नदियों में बहकर आयी हुई मिट्टी से ही उसका निर्माण हुआ। आरम्भ में वह द्वीप-पुंज रहा होगा किन्तु क्रमशः ये द्वीप एक दूसरे से मिल गये और बंगाल भारत के मुख्य भाग के साथ सम्बद्ध हो गया। इसकी उर्वर भूमि के निकटवर्ती प्रदेशों ने उपनिवेश बसाने वालों को आकृष्ट किया। आरम्भ से ही बंगाल की आबादी मिश्रित रही। कोल, द्राविड़ और मंगोल आदि तत्त्वों का उसमें प्राधान्य रहा, आर्य पीछे आये।

हमारी संस्कृति भी, जिसकी सर्वोत्तम निधि हमारा साहित्य है, हमारे देश की भाँति ही विकसित हुई। बंगाल की भूमि की उर्वरता नदियों की मिट्टी के कारण हुई, बंगीय मानस की उर्वरता का श्रेय उसको है जो कि बंगाल की भूमि में बढ़ने वाली विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं से विभिन्न युगों में उसे प्राप्त हुई।

शताब्दियों तक चलते रहने वाले इस जाति-सम्मिश्रण के कारण बंगाली मानस में एक विशेष लचीलापन आ गया जिससे कि वह नया ग्रहण और जीर्ण का तिरस्कार सहज ही कर सका। जातीय जीवन और उसकी परिवर्तन-शीलता के कारण जीवन-परिपाटी में एक उदाहरण रहा जिसने साहित्य पर अपनी छाप बैठा दी।

प्रथम उपनिवेशियों ने सागरिक व्यापार आरम्भ किया और बहुत दूर-दूर तक उनका व्यापार पहुँचा। किन्तु उनका जीवन उत्तर-पश्चिम भूखंडों से बिल्कुल अलग था और आर्यों का प्रभाव उन पर नहीं था, इसलिए उनके जीवन का तल भी बहुत नीचा था, उनकी भाषा आस्ट्रो-एशियाटिक वंश की थी जिसमें द्रविड़ और मंगोल तत्त्व भी मिले हुए थे। इस खिचड़ी भाषा की कोई लिपि नहीं थी और साहित्य तो था ही कहाँ। प्राचीन संस्कृत-साहित्य में इस देश के निवासियों को 'वयांसि' अथवा पक्षी कहा गया है। इसका ठीक-ठीक कारण तो ज्ञात नहीं किन्तु अनुमान किया जाता है कि यह उनकी भाषा पर ही आक्षेप था जो आर्यों की दृष्टि में पक्षियों के चहकने से अधिक अर्थ नहीं रखता था। ये लोग प्रायः बौद्ध थे लेकिन उनका बौद्ध धर्म भी एक स्थानीय रूप था जिसके असंख्य देवी-देवता थे—कुछ देशज और कुछ बाहर से आये हुए।

आर्यों का प्रवेश मौर्य-काल में आरम्भ हुआ और आठवीं शताब्दी तक उनका आधिपत्य सारे प्रदेश पर छा गया। जनता ने आर्य सभ्यता को उत्साह के साथ अपनाया और प्राकृत भाषा भी स्वीकार कर ली। इसी के अपभ्रंश से अनन्तर बँगला की उत्पत्ति हुई।

किन्तु आर्य-पूर्व कोल, द्राविड़, मंगोल प्रभाव सर्वथा मिट नहीं गया। पूजा और कर्मकांड में, सामाजिक रीतियों में, भाषा की प्रवृत्तियों में इनका प्रभाव रहा और अभी तक चला आ रहा है।

गौड़, (वर्तमान मालदा ज़िला) में पालों का राज्य स्थापित हुआ। पाल वंश और उसके परवर्ती सेन वंश के राजा साहित्य और कला के प्रेमी और संरक्षक रहे। कई शताब्दियों तक गौड़ राज्य बंगाल के जीवन का केन्द्र रहा और वहाँ के राजाओं के संरक्षण में प्रदेश की भाषा का रूप पुष्ट हुआ।

बँगला भाषा और साहित्य का आरम्भ १०वीं शती के लगभग होता है। इस काल में कुछ बौद्ध भिक्षुओं ने बँगला में भक्ति के गीत लिखे। इसके पहले का कोई लेख अभी नहीं मिला है।

किन्तु बँगला का पहला महाकवि संस्कृत का कवि हुआ। जयदेव का काल १२वीं शताब्दी है। उनका गीत-गोविन्द न केवल बंगाल बल्कि बिहार और उड़ीसा के भी जन-जीवन का अंग बना। अभी तक बँगला का वाङ्मय और कई संस्कृत और कई बँगला गीति-काव्य प्रधान थे। यह गीतात्मकता बँगला-प्रतिभा की विशेषता है। १५वीं और १६वीं शती में वैष्णव कवियों ने इसे और भी पुष्ट किया। आज के साहित्य में भी गीतात्मक प्रवृत्ति प्रधान है और हमारे गद्य में भी एक गीतात्मकता आज उसे विशिष्ट करती है। हमारा सौभाग्य ही समझना चाहिए कि हमारे आरम्भिक साहित्यकारों को

आत्माभिव्यक्ति का ठीक साधन खोजने के लिए अधिक खोज नहीं करनी पड़ी बल्कि आरम्भ से ही उन्होंने अपनी भाषा की सहज प्रतिभा को पहिचानकर उसी के अनुरूप काव्य-सृष्टि की।

उत्तर भारत पर पठानों का आक्रमण आरम्भ हुआ; लेकिन बंगाल इस संघर्ष से दूर अपने सांस्कृतिक जीवन का विकास करता रहा। १२वीं शती के अन्त में पठानों ने बंगाल पर भी आक्रमण किया और विजयी हुए। किन्तु विजयी जाति सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत पिछड़ी हुई थी और उसके पास विजित को देने योग्य कुछ नहीं था। अगले २०० वर्षों तक देश में बड़े उथल-पुथल रहे और साहित्य के लिए तो ये दिन बहुत बुरे गये।

पन्द्रहवीं शती से नये उत्थान का आरम्भ हुआ। इस समय तक प्रत्येक प्रान्त में शान्ति और व्यवस्था पुनः स्थापित हो चुकी थी। पाल और सेन राजाओं की तरह कुछ मुस्लिम शासकों ने भी कवियों को दरबारी संरक्षण दिया। साहित्य की पुनः प्रतिष्ठा हुई। यह काल समवेत गायन और संगीत का काल है जिसमें मानस चंडी और धर्म की श्रुतियों का मुख्य स्थान है। इस प्रकार के गाथा-काव्यों को मंगल-काव्य अथवा विजय-काव्य कहा जाता था और हिन्दू तथा मुस्लिमों में यह समान भाव से समान आदर पाता था।

पन्द्रहवीं शती में महाकवि कृत्तिवास ने बँगला में रामायण की रचना की। कृत्तिवास ने संस्कृत से अनुवाद नहीं किया—ग्रन्थ को एक सजीव रूप दिया। इस ग्रन्थ का जनता के जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। दो शती बाद लिखे गये काशी-राम दास के महाभारत को छोड़कर कदाचित् किसी दूसरे ग्रन्थ का प्रभाव इतना गहरा नहीं पड़ा। इन दो ग्रन्थों ने न केवल सभी स्तरों और वर्गों के लोगों को प्रेरणा दी बल्कि जनता को संस्कृत के अभिज्ञान से भी परिचित कराया। इससे संस्कृत के अनुवादों को प्रोत्साहन मिला और बँगला भाषा की शक्ति का भी विकास हुआ। बँगला लेखकों में आत्मविश्वास बढ़ा।

इसी काल में वैष्णव पदावलियों की रचना हुई। वैष्णव कवियों के राधा और कृष्ण के प्रेम-गीत हमारे साहित्य की बहुमूल्य निधि हैं। वैष्णव कवियों में चंडीदास और विद्यापति प्रमुख थे। चंडीदास का काल-निर्णय यद्यपि अभी विवादास्पद है तथापि ये दोनों समकालीन माने जाते हैं। चंडीदास अद्भुत प्रतिभाशाली कवि थे और उनका प्रथम काव्य किसी भी साहित्य के प्रथम काव्य के समकक्ष ठहर सकता है। उनके गीतों का रूप यद्यपि धार्मिक है तथापि उसमें हम मानवीय अनुभूति का गहरा पुट पाते हैं जो इससे पहले के साहित्य में नहीं था।

विद्यापति बिहार के थे और उनकी कविता मैथिली भाषा में है, किन्तु उसका प्रचार बँगाल में चंडीदास के समान ही हुआ। काव्य की सुन्दरता के अतिरिक्त मैथिली उच्चारण का अपना अलग आकर्षण था और हमारे परवर्ती वैष्णव कवियों में अनेकों ने विद्यापति का अनुकरण किया। बँगला और मैथिली के संयोग से एक नयी बोली ही बन गयी जो अनन्तर ब्रजबुलि कहलायी। चंडीदास और विद्यापति के परवर्तियों में ज्ञानद और गोविन्द दास विशेष उल्लेखनीय हैं। अनन्तर वैष्णव पदावली का ह्रास हुआ और बहुतों का काव्य निरी भावुकता या शृंगारिकता से भरा हुआ है।

सोलहवीं शती में श्री चैतन्य का आविर्भाव बँगला के इतिहास में महान् घटना है। उन्होंने एक सांस्कृतिक पुनरुत्थान को प्रेरित किया जिससे देश की जनता के सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन हो गया। साहित्य पर भी उसका प्रभाव पड़ा। वैष्णव काव्य को नयी स्फूर्ति मिली और साहित्य के एक नये प्रकार के जीवन-साहित्य का आविर्भाव हुआ। श्री चैतन्य के पीछे उनके जीवन और उपदेश से सम्बन्ध रखने वाला बहुत-सा साहित्य रचा गया। इसमें वृन्दावन दास के 'चैतन्य भागवत' और कृष्णदास कविराज के 'चैतन्य-चरितामृत' का उल्लेख किया जा सकता है। उनके जीवनीकारों ने चैतन्य के कुछ शिष्यों की भी जीवनियाँ लिखी हैं। जीवनियों की दृष्टि से तो इन रचनाओं का महत्त्व है ही, उनके तत्कालीन सामाजिक जीवन को भी बहुत अच्छा उपस्थित करता है।

मुस्लिम शासन में बंगाल के सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र गौड़ से उठकर नदिया ज़िले के नवद्वीप में चला गया। हमारे मध्यकालीन साहित्य ने संस्कृत के संरक्षण में मदद नहीं की बल्कि वैष्णव, शाक्त और अन्य लौकिक सम्प्रदायों के प्रभाव में वह पनपा। मंगल-काव्यों का प्रभाव भी अक्षुण्ण रहा। 'चंडी-मंगल' के रचयिता कवि-कंकण मुकुन्दराम चक्रवर्ती ने १६वीं शती के बंगाल का बड़ा सजीव चित्र खींचा है। उनका जीवन-चित्रण चॉसर के १४वीं शती के इंग्लैंड के चित्रण के समकक्ष है।

यह विशेष उल्लेखनीय है कि मुस्लिम जनता कभी हमारे साहित्य के प्रति उदासीन नहीं रही। मंगल-काव्य में भी उसकी रुचि रही, और १७वीं शती में कुछ मुस्लिम कवियों ने हमारे साहित्य की वृद्धि की। आराकान दरबार के कवि

सैयद अलावल ने 'पद्मावती' नाम के प्रबन्ध-काव्य की रचना की। दौलत क़ाज़ी नामक एक और मुस्लिम कवि ने सुन्दर वैष्णव पद लिखे।

हिन्दू और मुस्लिम एक दूसरे के निकट आ रहे थे। हिन्दुत्व और मुस्लिम के समन्वय का एक उदाहरण 'सत्य पीर' सम्बन्धी पांचाली कविताओं में मिलता है। हिन्दू 'सत्य' और मुस्लिम 'पीर' के संश्लेषण से एक नये देवता की उद्भावना की गयी थी।

हमारे साहित्य की कहानी बिना इन सत्यों में रचे गये लोक-साहित्य की चर्चा के पूरी नहीं हो सकती। माँझी, मछुए, किसान, जुलाहे और फ़कीर सभी के गीत रचे गये। अभी तक इस लोक-साहित्य की खोज एक उपेक्षित विषय था। हाल में विद्वान् अध्येताओं ने इनका संग्रह आरम्भ किया है। इनमें से कुछ संग्रह यथा मैनामती की गाथाएँ हमारे साहित्य की सम्पत्ति हैं। डाक और खना की कहावतें भी उल्लेखनीय हैं। बाऊल-गीतों का एक विशिष्ट स्थान है। बाऊल सम्प्रदाय में हिन्दू और मुस्लिम दोनों साहित्य हैं। इनका अपठित साहित्य—वर्ग अथवा जाति का पक्षपात अथवा आग्रह उन्हें छू नहीं गया था। इन निरक्षर लोगों को किसी आन्तरिक आलोक से ही जीवन की जटिलतर समस्याओं को सुलझाने की शक्ति मिलती थी।

अंग्रेज़ों के आने के पहले १८वीं शती के पूर्वार्द्ध में रामप्रसाद और भरतचन्द नाम के दो महान् कवि और हुए। दोनों नदिया के महाराज कृष्णचन्द्र के संरक्षित थे। रामप्रसाद शाक्त थे। उन्होंने एक विशेष सुर में बहुत-से गीत लिखे और सामूहिक रूप से वे 'रामप्रसादी' कहलाते हैं।

भरतचन्द्र ने बहुत-से प्रबन्ध काव्य लिखे जिनमें 'विद्या सुन्दर' सबसे श्रेष्ठ है। यह कथा संस्कृत में सुपरिचित थी किन्तु भरतचन्द्र ने उसमें अनेक परिवर्तन किये और उसे एक नयी यथार्थता दी। उनका जीवन-चित्रण मुकुन्दराम जैसा वास्तविक है। कल्पना के अतिरिक्त उनमें प्रखर बुद्धि भी थी और उनका काव्य भाषा-सौन्दर्य तथा हास्य का सुन्दर उदाहरण है। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण भी सर्वथा आधुनिक है—कभी श्रद्धाहीन, कभी अनुत्तरदायी। उन्हें पढ़कर अनुभव होता है कि हम अपने काल से दूर नहीं हैं।

* * *

एक शासन-व्यवस्था के अन्त और दूसरी के आरम्भ के साथ-साथ जीवन और विचार की परिपाटियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन होते हैं। ब्रितानी विजय के साथ भी यही हुआ। एक अन्य सभ्यता के आघात से पुरानी विचार-शृंखलाएँ टूटने लगीं और मध्ययुगीन सीपी से आधुनिक मन का अवतरण हुआ; किन्तु नये विचारों को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करने से पहले पूर्ण आत्मसिद्ध करना आवश्यक था। इसलिए आश्चर्य नहीं कि ब्रितानी युग के प्रथम महाकवि माइकेल मधुसूदन भरतचन्द्र के बीच की पूरी शताब्दी का अन्तराल है। अंग्रेज़ी शिक्षा ने एक नया प्रसिद्ध वर्ग पैदा किया जो पाश्चात्य विद्याओं को सम्पूर्णत: पकड़ना चाहते थे। दूसरी ओर रूढ़िवादी पुरानी परिपाटी को ज्यों का त्यों बनाये रखना चाहते थे। राममोहन राय के ब्रह्म-आन्दोलन ने दोनों में सन्तुलन स्थापित किया।

युग-परिवर्तन का बड़ा महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ बँगला गद्य का विकास। इस समय तक बँगला में गद्य साहित्य था ही नहीं। बहुतों को यह सुन कर आश्चर्य होगा कि बँगला गद्य की माँग पहले-पहल कम्पनी के अंग्रेज़ कर्मचारियों ने की। प्रान्तीय भाषा सीखने के लिए इन्हें गद्य पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता थी। इससे बँगला गद्य का जन्म हुआ। अंग्रेज़ मिशनरी विलियम केरी की प्रेरणा से सन् १८०१ में रामराम बसु ने 'प्रतापादित्य-चरित' नाम का पहला गद्य ग्रन्थ लिखा। विलियम केरी के एक दूसरे सहयोगी मृत्युंजय विद्यालंकार ने कई पुस्तकें लिखीं, जिनमें 'प्रबोध-चन्द्रिका' सबसे प्रसिद्ध है। यहीं से गद्य का आरम्भ हुआ। किन्तु गद्य की शक्ति का पूरा उपयोग पहले-पहल कई बरस पीछे राममोहन राय ने अपने धार्मिक और दार्शनिक निबन्ध में किया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने उसे माँज कर साहित्यिक रूप दिया और अक्षयकुमार दत्त ने अपने विज्ञान-सम्बन्धी लेखों में उसका निपुण उपयोग किया। इसी समय मुद्रणयन्त्र के प्रवेश ने गद्य के विकास और अन्य साहित्य की रचना की गति को बहुत बढ़ा दिया।

शीघ्र ही बँगला पत्रों का आविर्भाव हुआ। बहुत-से तो अल्प-जीवी रहे, लेकिन श्रीरामपुर के मिशनरियों का 'समाचार-दर्पण' बहुत दिनों चला और कवि ईश्वर गुप्त के 'संवाद-प्रभाकर' ने पत्रकारिता को साहित्यिक रूप दिया।

काव्य क्षेत्र में ईश्वर गुप्त का आधिपत्य था। वह पुरानी परिपाटी के नामी कवि थे। पाश्चात्य प्रभाव से बचते हुए उन्होंने प्राचीन परम्परा का निर्वाह किया, किन्तु उनकी कविता साधारण स्रोत से ऊपर कभी नहीं उठी।

अभी तक नयी जाग्रति से उत्तेजित शक्तियों को अनियमित विकास ही खींच रहा था। पुनर्जागरण का पूरा परिणाम १९वीं शती के मध्य में आकर प्रकट हुआ। सन् १८१७ में स्थापित किये गये हिन्दी कालेज से अंग्रेजी शिक्षित युवक निकले। उनमें से कुछ सम्पूर्णतया अंग्रेजी रंग में रँग गये और उन्होंने अंग्रेजी भाषा भी अपना ली। इनमें से माइकेल मधुसूदन मुख्य थे। कुछ दिनों तक अंग्रेजी कविता का प्रयोग करके अन्त में उन्होंने फिर बँगला को अपनाया। रूढ़ि के सभी बन्धन तोड़कर उन्होंने अक्षर शैली के साहसपूर्ण प्रयोग किये। बँगला में उन्होंने अमृताक्षर छन्दों की रचना की और उसे तुक के बन्धनों से मुक्त किया। मधुसूदन बँगला के प्रथम नाटककारों में से प्रथम हुए और उन्होंने बँगला के सानेट भी लिखे। संस्कृत-प्रधान शब्दावली और मुक्त छन्दों की गम्भीर गति के कारण बँगला अपने गुरुमय रूप से निकलकर एक अत्यन्त प्रभावशाली संगीत के रूप में प्रकट हुई। मधुसूदन का 'मेघनाद-वध' हमारे साहित्य के कीर्तिस्तम्भों में से एक है।

मेघनाद-वध से प्रेरित होकर रंगलाल वन्द्योपाध्याय, हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय और नवीन सेन ने भी पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कथा-काव्य लिखे। इनकी रचनाओं में देश-प्रेम का स्वर भी स्पष्ट हुआ जिसका क्षीण रूप ईश्वर गुप्त के काव्य में पाया गया था।

मधुसूदन के कालेज के दो साहित्यिकों—राजनारायण वसु और बुद्धदेव—ने गद्य में उल्लेखनीय वृद्धि की। किन्तु इस युग का सबसे उल्लेखनीय नाम निस्सन्देह बंकिमचन्द्र का है। उन्होंने गद्य की दुर्बल परम्परा को पुष्ट करके अभिव्यंजना का एक सबल साधन बना दिया। उनके उपन्यासों ने बंगाल को चकित कर दिया। उनकी प्रगल्भ लेखनी ने बड़ी तेजी से एक के बाद एक उपन्यास प्रस्तुत किये और सभी को अद्भुत सफलता मिली। कुछ केवल रूमानी कहानियाँ थीं, कुछ ऐतिहासिक उपन्यास और कुछ में बंगाल के सामाजिक-जीवन का चित्रण था किन्तु देशप्रेम का जोश सभी में भरा था। 'वन्दे मातरम्' उन्हीं के 'आनन्द मठ' का अंग है। बंगाल के राष्ट्रीय आन्दोलन को बंकिम की रचनाओं से बहुत प्रेरणा मिली। उपन्यासों के अतिरिक्त उन्होंने निबन्ध और प्रहसन भी लिखे। जो कुछ उन्होंने लिखा, सब पर उनकी प्रतिभा की विशिष्ट छाप थी। कहा जा सकता है कि उन्होंने रवीन्द्रनाथ के लिए मार्ग प्रस्तुत किया।

बंकिम के समकालीनों में सबसे प्रमुख थे दीनबन्धु मित्र, जिनके नाटक 'नील दर्पण' से बड़ी सनसनी फैली थी। यह नाटक निलहे साहबों के अत्याचारों पर प्रबल आघात था; और उनको बन्द करने का श्रेय इन्हीं को है। कदाचित् किसी दूसरी पुस्तक ने इससे महत्तर सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति न की होगी।

भारतीय सिविल सर्विस के अधिकारी रमेशचन्द्र दत्त बंकिम के पद-चिह्नों पर चले। उनकी रचनाएँ अभी तक रुचि-पर्वक पढ़ी जाती हैं।

* * *

कालीप्रसन्न का प्रहसन 'हुतुम पैंचार नक्शा' बड़ी सुन्दर शैली में लिखा गया था। टेकचाँद का 'अलालेर घरेर दुलाल,' जिसमें जन-शैली का प्रयोग किया गया था, इस प्रकार के प्रयोग थे और बँगला गद्य के इतिहास में विशिष्ट स्थान रखते हैं।

बंकिमचन्द्र और उनके समकालीनों के महान् कृतित्व के बावजूद रवीन्द्रनाथ का आविर्भाव एक आश्चर्यजनक घटना ही थी। यह आश्चर्य की बात है कि एक प्रान्तीय भाषा, जो बहुत-सी बातों में अपरिपक्व और अविकसित थी, इतनी विशाल प्रतिभा के साहित्यकार के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम बन सकी। उसकी महान् प्रतिभा ने भाषा से जो कुछ माँगा, भाषा ने उदारता से दिया और ऐसी अन्य शक्तियाँ पैदा कीं जिनकी कल्पना अभी तक किसी ने नहीं की थी। ६० प्रोज्ज्वल वर्षों तक वह हमारे समूचे साहित्यिक क्षेत्र पर एक विशाल वट-वृक्ष की तरह छाये खड़े रहे। उनके साहित्य विस्तार और वैविध्य दोनों ही आश्चर्यजनक हैं। गीति-काव्य के कवि के रूप में वह असंदिग्ध रूप से विश्व के श्रेष्ठ कवियों में से हैं और विविधता की दृष्टि से वह एक साथ ही वर्ड्सवर्थ, शैली और कीट्स हैं। उनकी कहानियाँ हमारे साहित्य में श्रेष्ठ स्थान रखती हैं। उनका उपन्यास 'गोरा' कदाचित् बँगला में सबसे सन्तुलित उपन्यास है। उनके गीत, नाटय हमें एक अभिमन्त्रित सौन्दर्य-जगत् में ले जाते हैं। साहित्यालोचक के रूप में उनमें ड्राइडेन की परख थी और मैथ्यू आर्नल्ड की-सी ग्राहकता। कुल मिलाकर वह हमें एक बृहत्तर विश्व की झाँकी दे गये। वह स्वयं पूर्व और पश्चिम का एक

मूर्तिमान् समन्वय थे और उन्होंने आदेशिक सीमाएँ लाँघकर विश्व को ही सामने रखा। उन्हें नोबेल पुरस्कार का दिया जाना बँगला साहित्य के विश्व-पद का उचित सम्मान ही था।

शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय की कीर्ति भी बंगाल से बाहर फैली और उनके उपन्यासों के अनुवाद भारत की विभिन्न भाषाओं में हुए। उनकी अशान्त आत्मा के लिए स्वच्छन्द जीवन का बड़ा आकर्षण था। तथाकथित 'भद्रता' पर उनके आघात नयी पीढ़ी के लिए प्रीतिकर आश्चर्य का विषय थे; तरुण परवर्ती लेखकों ने उनका अनुकरण करते हुए और भी साहसिक प्रयोग किये। देहाती जीवन से शरच्चन्द्र के घनिष्ठ परिचय ने उनकी बड़ी सहायता की और उनके सबसे सजीव पात्र समाज के निचले स्तरों से ही लिये गये हैं। दलित, अछूत और बहिष्कृत के लिए उनके मन में बड़ी करुणा थी। उपन्यासकार के रूप में उनकी सफलता आश्चर्यकारक रही।

इस शती का लेखन बहुत कुछ रवीन्द्रनाथ से प्रभावित रहा; तथापि काव्य और उपन्यास दोनों क्षेत्रों में इस काल के लेखकों की देन प्रचुर रही है और उससे बँगला साहित्य का विकास हुआ है। किन्तु समवर्ती लेखकों की संख्या इतनी है कि उनके नाम यहाँ गिनना सम्भव न होगा।

रवीन्द्रनाथ के समकालीनों में प्रमथ चौधुरी का अपना अलग स्थान रहा। पुष्ट और जोरदार गद्य तथा पैने हास्य के द्वारा उन्होंने परवर्ती लेखकों के लिए शैली का एक नया आदर्श उपस्थित किया। बोलचाल की बँगला लिखने के उनके आग्रह के कारण ही वैसी भाषा साहित्यिक अभिव्यक्ति के साधन के रूप में स्वीकार्य हुई। उनके द्वारा सम्पादित 'सबुज पत्र' ने तरुण बौद्धिकों के एक दल को आकृष्ट किया और समकालीन साहित्य पर अपनी स्पष्ट छाप डाली।

अनन्तर 'कल्लोल' नामक एक पत्र को केन्द्र बनाकर प्रतिभाशाली युवक साहित्यिकों का एक दल संगठित हुआ। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभुत्व से मुक्ति पाने के लिए कृतनिश्चय इन साहित्यिकों ने विदेशी साहित्यिकों से प्रेरणा ली। कुछ ने काम-मनोविज्ञान के अन्वेषणों से प्रौढ़ सहयोगियों को चौंका दिया। शीघ्र ही दल विसंगठित हो गया; किन्तु उसके प्रतिभाशाली सदस्य आज हमारे प्रमुख लेखक हैं। नजरुल इस्लाम भी इसी दल के थे, और मुस्लिम कवियों में वह अद्वितीय हैं। इसी दल के एक और भूतपूर्व सदस्य ताराशंकर बनर्जी आज हमारे सबसे अधिक लोकप्रिय उपन्यासकार हैं। बीरभूम में ही अपने उपन्यासों की पीठिका रखकर उन्होंने अनेक उपन्यास लिखे हैं जिनकी तुलना हार्डी की 'वैसेक्स उपन्यासमाला' से की जा सकती है। कहानियों में विशेष उल्लेखनीय प्रगति हुई है और विगत कुछ वर्षों में अनेक सुन्दर कहानियाँ लिखी गयीं जो किसी भी साहित्य की तुलना में खरी पायी जायेंगी।

हमारा साहित्य-क्षेत्र नयी प्रतिभा की लीलाभूमि है। उन सब की गणना यहां कराना असम्भव है। सुनिश्चित साहित्यिक मानों की अनुपस्थिति में उनमें अव्यवस्था भी काफ़ी है और कोई-कोई यह भी नहीं निश्चय कर पाते कि वे करना क्या चाहते हैं। किन्तु साधारणतया लेखकों में सामाजिक चेतना बढ़ रही है। कविता का क्षेत्र ही सबसे कठिन और चिन्त्य है। टी० एस० एलियट और एज़रा पाउंड का अनुकरण करते हुए हमारे बहुत-से कवि, अपनी उज्ज्वल प्रतिभा के बावजूद दुर्बोधता के शिकार हो रहे हैं। हम निश्चय ही उस अवस्थिति पर पहुँच गये हैं, जहाँ हमें एक बार अन्तिम रूप से निर्णय कर लेना होगा कि एलियट का 'वेस्टलैंड' (बंजर भूमि) आधुनिक काव्य है, या कि आधुनिक काव्य ही बंजर भूमि है!

(बँगला से)

फलक ७१

फलक ७३

फलक ७४
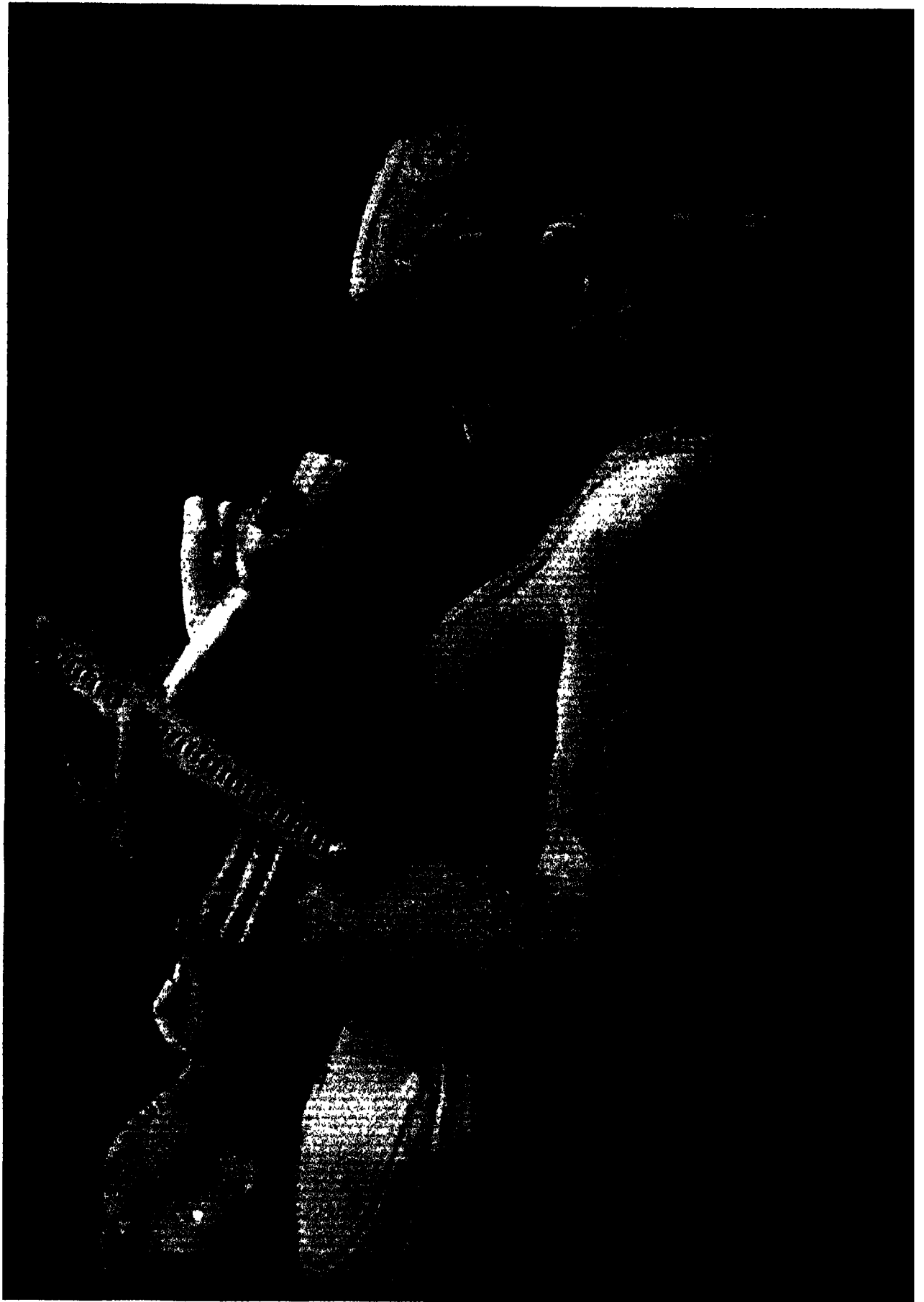
दो मसजिदें[1]

जवाहरलाल नेहरू

आजकल समाचार पत्रों में लाहौर की शहीदगंज मसजिद की प्रतिदिन कुछ न कुछ चर्चा होती है। शहर में काफ़ी खलबली मची हुई है; दोनों तरफ़ मज़हबी जोश दीखता है। एक दूसरे पर हमले होते हैं। एक दूसरे की बदनीयती की शिकायतें होती हैं, और बीच में एक पंच की तरह अंग्रेज़ी हुकूमत अपनी ताक़त दिखलाती है। मुझे न तो वाक़यात ही ठीक-ठीक मालूम हैं कि किसने यह सिलसिला पहले छेड़ा था, या किसकी ग़लती थी, और न इसकी जाँच करने की मेरी कोई इच्छा ही है। इस तरह के धार्मिक जोश में मुझे बहुत दिलचस्पी भी नहीं है। लेकिन दिलचस्पी हो या न हो; पर वह जब दुर्भाग्य से पैदा हो जाय, तो उसका सामना करना ही पड़ता है। मैं सोचता था कि हम लोग इस देश में कितने पिछड़े हुए हैं कि अदना-अदना-सी बातों पर जान देने को उतारू हो जाते हैं। पर अपनी गुलामी और फ़ाक़ेमस्ती सहने को तैयार रहते हैं।

इस मसजिद से मेरा ध्यान उतर कर एक दूसरी मसजिद की तरफ़ पहुँचा। वह एक बहुत प्रसिद्ध ऐतिहासिक मसजिद है, और क़रीब चौदह सौ वर्ष से उसकी तरफ़ लाखों-करोड़ों निगाहें देखती आयी हैं। वह इस्लाम से भी पुरानी है, और उसने अपनी इस लम्बी ज़िन्दगी में न जाने कितनी बातें देखीं। उसके सामने बड़े-बड़े साम्राज्य गिरे, पुरानी सल्तनतों का नाश हुआ, धार्मिक परिवर्तन हुए। ख़ामोशी से उसने यह सब देखा और हर क्रान्ति और तबादले पर उसने अपनी भी पोशाक बदली। चौदह सौ वर्ष के तूफ़ानों को इस आलीशान इमारत ने बरदाश्त किया; बारिश ने उसको धोया; हवा ने अपने बाज़ुओं से उसको रगड़ा; मिट्टी ने उसके बाज़ हिस्सों को ढँका। बुज़ुर्गी और शान उसके एक-एक पत्थर से टपकती है। मालूम होता है, कि उसकी रग-रग और रेशे-रेशे में दुनिया भर का तजुर्बा इस डेढ़ हज़ार वर्ष ने भर दिया है। इतने लम्बे ज़माने तक प्रकृति के खेलों और तूफ़ानों की बरदाश्त कठिन थी; लेकिन उससे भी कठिन था मनुष्य की हिमाक़तों और वहशतों का सहना। पर उसने यह भी सहा। उसके पत्थरों की ख़ामोश निगाहों के सामने साम्राज्य खड़े हुए और गिरे। मज़हब उठे और बैठे; बड़े से बड़े बादशाह, ख़ूबसूरत से ख़ूबसूरत औरतें, लायक़ से लायक़ आदमी चमके और फिर अपना रास्ता नापकर ग़ायब हो गये। हर तरह की वीरता उन पत्थरों ने देखी और देखी हर प्रकार की नीचता और कमीनापन। बड़े और छोटे, अच्छे और बुरे सब आये और चल बसे; लेकिन वे पत्थर अभी क़ायम हैं। क्या सोचते होंगे वे पत्थर, जब वे आज भी अपनी ऊँचाई से मनुष्य की भीड़ों को देखते होंगे? उनके बच्चों का खेल, उनके बड़ों की लड़ाई, फ़रेब और बेवक़ूफ़ी। हज़ारों वर्ष में उन्होंने कितना काम सीखा? कितने दिन और लगेंगे कि उनको अक़्ल और समझ आये?

समुद्र की एक पतली-सी बाँह एशिया और यूरोप को वहाँ अलग करती है—एक चौड़ी नदी की भाँति बासफ़ोरस बहता है और दो दुनियाओं को जुदा करता है। उसके यूरोपियन किनारे की छोटी-छोटी पहाड़ियों पर बाईज़ेन्टियम की पुरानी बस्ती थी। बहुत दिनों से वह रोमन साम्राज्य में थी, जिसकी पूर्वी सरहद ईस्वी की शुरू की शताब्दियों में ईराक़ हद थी; लेकिन पूरब की ओर से इस साम्राज्य पर अक्सर हमले होते थे। रोम की शक्ति कुछ कम हो रही थी, और वह अपनी दूर-दूर की सरहदों की ठीक तरह रक्षा नहीं कर सकता था। कभी पश्चिम और उत्तर में जर्मन वहशी (जैसा कि रोमन लोग उन्हें कहते थे) चढ़ आते थे, और उनका हटाना मुश्किल हो जाता था, तो कभी पूरब में ईराक़ की तरफ़ से या अरब से एशियाई लोग हमले करते और रोमन फ़ौजों को हटा देते थे।

[1]यहाँ पर पंडित जवाहरलाल नेहरू के गद्य के कुछ नमूने दिये जा रहे हैं। प्रस्तुत लेख इसी भाषा में लिखा गया था और अविकल उद्धृत किया जा रहा है। अन्य लेख अंग्रेज़ी से अनुवादित हैं। —सं०

रोम के सम्राट् कॉन्स्टेंटाइन ने यह फ़ैसला किया कि अपनी राजधानी पूरब की ओर ले जाय, ताकि वह पूर्वी हमलों से साम्राज्य की रक्षा कर सके। उसने बासफोरस के सुन्दर तट को चुना और बाइज़ेंटियम की छोटी पहाड़ियों पर एक विशाल नगर की स्थापना की। ईस्वी की चौथी सदी खतम होने वाली थी, जब कॉन्स्टेंटिनोपल उर्फ़ कुस्तुन्तुनिया का जन्म हुआ। इस नवीन प्रबन्ध से रोमन साम्राज्य पूरब में ज़रूर मज़बूत हो गया; लेकिन अब पश्चिम की सरहद और भी दूर पड़ गयी। कुछ दिन बाद रोमन साम्राज्य के दो टुकड़े हो गये—एक पश्चिमी साम्राज्य और दूसरा पूर्वी साम्राज्य। कुछ वर्ष बाद पश्चिमी साम्राज्य को उसके दुश्मनों ने खतम कर दिया; लेकिन पूर्वी साम्राज्य एक हज़ार वर्ष से अधिक और क़ायम रहा और बाइज़ेंटाइन साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध रहा।

सम्राट् कॉन्स्टेंटाइन ने केवल राजधानी ही नहीं बदली; परन्तु उससे भी बड़ा एक परिवर्तन किया। उसने ईसाई धर्म स्वीकार किया। उसके पहले ईसाइयों पर रोम में बहुत सख्तियाँ होती थीं। जो उनमें से रोम के देवताओं को नहीं पूजता था, या सम्राट् की मूर्ति का पूजन नहीं करता था, उसको मौत की सज़ा मिल सकती थी। अक्सर उसे मैदान में भूखे शेरों के सामने फेंक दिया जाता था। यह रोम की जनता का एक बहुत प्रिय तमाशा था। रोम में ईसाई होना एक बहुत खतरे की बात थी। वे लोग बाग़ी समझे जाते थे। अब एकाएक ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ हो गया। सम्राट् स्वयं ईसाई हो गया, और ईसाई धर्म सबसे अधिक आदरणीय समझा जाने लगा। बेचारे पुराने देवताओं के पूजने वाले मुश्किल में पड़ गये और बाद के सम्राटों ने तो उनको बहुत सताया। केवल एक सम्राट् फिर ऐसे हुए (जूलियन) जो ईसाई धर्म को तिलांजलि देकर फिर देवताओं के उपासक बन गये; परन्तु तब ईसाई धर्म बहुत ज़ोर पकड़ चुका था, इसलिए बेचारे रोम और ग्रीस के प्राचीन देवताओं को जंगल की शरण लेनी पड़ी, और वहाँ से भी वे धीरे-धीरे ग़ायब हो गये।

इस पूर्वी रोमन साम्राज्य के केन्द्र कुस्तुन्तुनिया में सम्राटों की आज्ञा से बड़ी-बड़ी इमारतें बनीं; और बहुत जल्दी वह एक विशाल नगर हो गया। उस समय यूरोप में कोई भी दूसरा शहर उसका मुक़ाबला नहीं कर सकता था—रोम भी बिल्कुल पिछड़ गया था। वहाँ की इमारतें एक नयी तर्ज़ की बनीं; एक नयी भवन बनाने की कला का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें मेहराब, गुम्बज, बुर्जियाँ, खम्भे इत्यादि अपनी ही तर्ज़ के थे, और जिसके अन्दर और खम्भों वग़ैरह पर बारीक मोज़ाइक (पच्चीकारी) का काम होता था। यह इमारती कला बाइज़ेंटाइन कला के नाम से प्रसिद्ध है। छठी सदी में कुस्तुन्तुनिया में एक आलीशान केथीड्रेल (बड़ा गिरजा) इस कला का बनाया गया, जो सांक्टा-सोफ़िया या सेंट सोफ़िया के नाम से मशहूर हुआ।

पूर्वी रोमन साम्राज्य का यह सबसे बड़ा गिरजा था, और सम्राटों की यह इच्छा थी कि वह बेमिसाल बने और अपनी शान और ऊँचे दर्जे की कला में साम्राज्य के योग्य हो। उनकी इच्छा पूरी हुई और यह गिरजा अब तक बाइ-ज़ेंटाइन कला की सब से बड़ी फ़तह समझा जाता है। बाद में ईसाई धर्म के दो टुकड़े हुए (हुए तो कई, लेकिन दो बड़े टुकड़ों का ज़िक्र है) और रोम और कुस्तुन्तुनिया में धार्मिक लड़ाई हुई। वे एक दूसरे से अलग हो गये। रोम का बिशप (बड़ा पादरी) पोप हो गया, और यूरोप के पश्चिमी देशों में वह बड़ा माना जाने लगा; लेकिन पूर्वी रोमन साम्राज्य ने उसको नहीं माना, और वहाँ का ईसाई फ़िरक़ा अलग हो गया। यह फ़िरक़ा आर्थोडाक्स चर्च कहलाने लगा, या अक्सर ग्रीक चर्च भी कहलाता था, क्योंकि वहाँ की बोली ग्रीक हो गयी थी। यह आर्थोडाक्स चर्च रूस और उसके आसपास भी फैला था।

सेंट सोफ़िया का केथीड्रेल ग्रीक चर्च (धर्म) का केन्द्र था, और नौ सौ वर्ष तक वह ऐसा ही रहा। बीच में एक दफ़े रोम के पक्षपाती ईसाई (जो आये थे मुसलमानों से क्रूसेड्—जहाद—लड़ने) कुस्तुन्तुनिया पर टूट पड़े, और उस पर उन्होंने क़ब्ज़ा भी कर लिया; लेकिन वे जल्दी ही निकाल दिये गये।

आखिर में जब पूर्वी रोमन साम्राज्य एक हज़ार वर्ष से अधिक चल चुका था और सेंट सोफ़िया की अवस्था भी लगभग नौ सौ वर्ष की हो रही थी, तब एक नया हमला हुआ, जिसने उस पुराने साम्राज्य का अन्त कर दिया। पन्द्रहवीं सदी में ओस्मानली तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर फ़तह पायी। नतीजा यह हुआ कि वहाँ का जो सबसे बड़ा ईसाई केथीड्रेल था, वह सबसे बड़ी मसजिद हो गयी। सेंट सोफ़िया का नाम आया सुफ़ीया हो गया। उसकी यह ज़िन्दगी भी लम्बी निकली—सैकड़ों वर्षों की एक तरह से वह आलीशान मसजिद एक ऐसी निशानी बन गयी जिस पर दूर-दूर से निगाहें आकर टकराती थीं और बड़े-बड़े मनसूबे गाँठती थीं। उन्नीसवीं सदी में तुर्की साम्राज्य कमज़ोर हो रहा था, और रूस

बढ़ रहा था। रूस इतना बड़ा देश होते हुए भी एक बन्द देश था। उसके साम्राज्य भर में कोई ऐसा खुला बन्दरगाह नहीं था, जो सर्दियों में बर्फ़ से खाली रहे और काम आ सके, इसलिए वह कुस्तुन्तुनिया की ओर लोभ-भरी आँखों से देखता था। इससे भी अधिक आकर्षण आध्यात्मिक और सांस्कृतिक था। रूस के ज़ार सम्राट् अपने को पूर्वी रोमन सम्राटों के वारिस समझते थे, और उसकी पुरानी राजधानी को अपने क़ब्ज़े में लाना चाहते थे। दोनों का मज़हब वही आर्थोडाक्स ग्रीक चर्च था, जिसका नामी गिरजा सेंट सोफ़िया था। रूस को यह असह्य था कि उसके धर्म का सबसे पुराना और प्रतिष्ठित गिरजा मसजिद बना रहे। उसके ऊपर जो इस्लाम की निशानी हिलाल या अर्द्धचन्द्र था, उसके बजाय ग्रीक क्रॉस होना चाहिए।

धीरे-धीरे उन्नीसवीं सदी में ज़ारों का रूस कुस्तुन्तुनिया की ओर बढ़ता गया। जब क़रीब आने लगा तब यूरोप की और शक्तियाँ घबरायीं। इंग्लैंड और फ़ान्स ने रुकावटें डालीं, लड़ाई हुई, रूस कुछ रुका। लेकिन फिर वही कोशिश जारी हो गयी, फिर वही राजनीतिक पेंच चलने लगे। आख़िरकार सन् १९१४ की बड़ी लड़ाई आरम्भ हुई और उसमें इंग्लैंड, फ़ान्स, रूस और इटली में ख़ुफ़िया समझौते हुए। दुनिया के सामने तो ऊँचे सिद्धान्त रखे गये, आज़ादी के और छोटे देशों की स्वतन्त्रता के; लेकिन परदे के पीछे गिद्धों की तरह लाश के इन्तज़ार में उसके बँटवारे के मनसूबे निश्चित किये गये।

पर ये मनसूबे भी पूरे नहीं हुए। उस लाश के मिलने के पहले ज़ारों का रूस ही ख़तम हो गया। वहाँ क्रान्ति हुई, हुकूमत और समाज दोनों का ही उलट-फेर हो गया। बोल्शेविकों ने तमाम पुराने ख़ुफ़िया समझौते प्रकाशित कर दिये, यह दिखाने को कि ये यूरोप की बड़ी-बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियाँ कितनी धोखेबाज़ हैं। साथ ही इस बात की घोषणा की कि वे बोल्शविक साम्राज्यवाद के विरुद्ध हैं, और किसी दूसरे देश पर अपना अधिकार नहीं जमाया चाहते। हर एक जाति को स्वतन्त्र रहने का अधिकार है।

यह सफ़ाई और नेकनीयती पश्चिम की विजयी शक्तियों को पसन्द नहीं आयी। उनकी राय में ख़ुफ़िया सन्धियों का ढिंढोरा पीटना शराफ़त की निशानी नहीं थी। ख़ैर, अगर रूस की नयी हुकूमत नालायक़ है, तो कोई वजह न थी कि वे अपने अच्छे शिकार से हाथ धो बैठें। उन्होंने—ख़ास कर अंग्रेज़ों ने—कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा किया। ४८६ वर्ष बाद इस पुराने शहर की हुकूमत इस्लामी हाथों से निकलकर फिर ईसाई हाथों में आयी। सुलतान ख़लीफ़ा ज़रूर मौजूद थे, लेकिन वे एक गुड्डे की भाँति थे, जिधर मोड़ दिये जायँ, उधर ही घूम जाते थे। आया सुफ़ीया भी हस्ब-मामूल खड़ी थी और मसजिद थी; लेकिन उसकी वह शान कहाँ, जो आज़ाद वक़्त में थी जब स्वयं सुलतान उसमें जुमे-नमाज़ पढ़ने जाते थे?

सुलतान ने सिर झुकाया, ख़लीफ़ा ने ग़ुलामी तसलीम की; लेकिन चन्द तुर्क ऐसे थे, जिनको यह स्वीकार न था। उनमें से एक मुस्तफ़ा कमाल था, जिसने ग़ुलामी से बग़ावत को बेहतर समझा।

इस अरसे में कुस्तुन्तुनिया के एक और वारिस और हक़दार पैदा हुए। ये ग्रीक लोग थे। लड़ाई के बाद ग्रीस को मुफ़्त में बहुत-सी ज़मीन मिली और यह पुराने पूर्वी रोमन साम्राज्य का स्वप्न देखने लगा। अभी तक रूस रास्ते में था, और तुर्की तो मौजूद ही था। अब रूस मुक़ाबले से हट गया, और तुर्क लोग हारे हुए परेशान पड़े थे। रास्ता साफ़ मालूम होता था। इंग्लैंड और फ़ांस के बड़े आदमियों को भी राज़ी कर लिया गया फिर दिक़्क़त क्या?

लेकिन एक बड़ी कठिनाई थी। वह कठिनाई थी मुस्तफ़ा कमाल पाशा। उसने ग्रीक हमले का मुक़ाबला किया और अपने देश से ग्रीक फ़ौजों को बुरी तरह हरा कर निकाला। उसने सुलतान ख़लीफ़ा को, जिसने अपने मुल्क के दुश्मनों का साथ दिया था, एक ग़द्दार (देशद्रोही) कह कर निकाल दिया। उसने मुल्क से सल्तनत और ख़िलाफ़त दोनों का सिलसिला ही मिटा दिया। उसने अपने गिरे और थके हुए मुल्क को हज़ार कठिनाइयों और दुश्मनों के सामने खड़ा किया और उसमें फिर नयी जान फूँक दी। उसने सब से बड़े परिवर्तन—धार्मिक और सामाजिक—किये। स्त्रियों को परदे के बाहर खींचकर जाति में सबसे आगे रखा। उसने धर्म के नाम पर कट्टरपने को दबा दिया और सिर नहीं उठाने दिया। उसने सब में नयी तालीम फैलायी। हज़ार वर्ष पुराने रिवाजों और तरीक़ों को ख़तम किया।

पुरानी राजधानी कुस्तुन्तुनिया को भी उसने इस पदवी से उतार दिया। डेढ़ हज़ार वर्ष से वह दो बड़े साम्राज्यों की राजधानी रही थी। राजधानी एशिया में अंगोरा नगर हो गया—एक छोटा-सा शहर; लेकिन तुर्कों की नयी शक्ति का एक नमूना। कुस्तुन्तुनिया का नाम भी बदल गया—वह इस्ताम्बूल हो गया।

और आया सुफ़ीया ? उसका क्या हुआ ? वह चौदह सौ वर्ष की इमारत इस्ताम्बूल में खड़ी है, ज़िन्दगी के ऊँच-नीच को देखती जाती है। नौ सौ वर्ष तक ग्रीक धार्मिक गाने सुने और अनेक सुगन्धियों को—जो ग्रीक पूजा से रहती हैं—सूँघा। फिर चार सौ अस्सी वर्ष तक अरबी अज़ान की आवाज़ कानों में आयी और नमाज़ पढ़ने वालों की क़तारें उसके पत्थरों पर खड़ी हुईं।

और अब ?

एक दिन, कुछ महीनों की बात है—इसी साल १९३५ में—ग़ाज़ी मुस्तफ़ा कमाल पाशा के (जिनको अब ख़ास ख़िताब और नाम अाता तुर्क का दिया गया है) हुक्म से आया सुफ़ीया मसजिद नहीं रही। बग़ैर किसी धूम-धाम के वहाँ के होजा लोग (मुस्लिम मुल्ला वग़ैरह) हटा दिये गये और अन्य मसजिदों में भेज दिये गये। अब यह तय हुआ कि आया सुफ़ीया बजाय मसजिद के एक म्युज़ियम (संग्रहालय) हो—ख़ासकर बाइज़ेंटाइन कलाओं का। बाइज़ेंटाइन ज़माना तुर्कों के आने के पहले का ईसाई ज़माना था। तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा सन् १४५२ में किया था। उस समय से समझा जाता है कि बाइज़ेंटाइन कला ख़तम हो गयी। इसलिए अब आया सुफ़ीया एक प्रकार से फिर ईसाई ज़माने को वापस चली गयी—मुस्तफ़ा कमाल के हुक्म से!

आजकल वहाँ ज़ोरों की खुदाई हो रही है। जहाँ-जहाँ मिट्टी जम गयी थी, हटायी जा रही है, और पुराने मोज़ाइक्स निकल रहे हैं। बाइज़ेंटाइन कला के जानने वाले अमेरिका और जर्मनी से बुलाये गये हैं, और उन्हीं की निगरानी में काम हो रहा है। फाटक पर संग्रहालय की तख्ती लटकती है, और दरबान बैठा है। उसको आप अपना छाता-छड़ी दीजिए, उनका टिकट लीजिए और अन्दर जाकर इस प्रसिद्ध कला के नमूने देखिए। और देखते-देखते इस संसार के विचित्र इतिहास पर विचार कीजिए; अपने दिमाग़ को हज़ारों वर्ष आगे-पीछे दौड़ाइए; क्या-क्या तसवीरें, क्या-क्या तमाशे, क्या-क्या अत्याचार आपके सामने आते हैं? उन दीवारों से कहिए कि वे आपको अपनी कहानी सुनावें, अपने तजरुबे आपको दे दें। शायद कल और परसों जो गुज़र गये, उन पर ग़ौर करने से हम आज को समझें; शायद भविष्य के परदे को भी हटाकर हम झाँक सकें।

लेकिन वे पत्थर और दीवारें ख़ामोश हैं। उन्होंने ऐतवार को ईसाई पूजा बहुत देखी और बहुत देखी जुमे की नमाज़ें। अब हर दिन की नुमाइश है उनके साये में। दुनिया बदल रही है; लेकिन वे कायम हैं। उनके घिसे हुए चेहरे पर कुछ हलकी मुस्कराहट-सी मालूम होती है, और धीमी आवाज़-सी कानों में आती है—'इन्सान भी कितना बेवक़ूफ़ और जाहिल है कि वह हज़ारों वर्ष के तजरुबे से नहीं सीखता और बार-बार वही हिमाक़तें करता है।'

अलमोड़ा जेल
७ अगस्त १९३५

छुटकारा

जवाहरलाल नेहरू

हरिपुरा कांग्रेस समाप्त हुई थी। बांसों से निर्मित वह अद्भुत नगर, जो कि ताप्ती के तट पर खड़ा था, वीरान लग रहा था। सिर्फ़ एक-दो दिन पहले इसकी गलियाँ उत्साही और कन्धे से कन्धा रगड़ने वाले जनसमूह से भरी हुई थीं, लोग गम्भीर अथवा प्रसन्न मुद्रा में, बातें करते हुए, बहस करते हुए, हँसते हुए और यह अनुभव करते हुए कि वे हिन्दुस्तान के भाग्यनिर्माण में हिस्सा ले रहे हैं, दिखाई पड़ते थे। लेकिन यह बीसियों हज़ार आदमी अब यकायक अपने सुदूर घरों के लिए चले जा चुके थे और प्रशान्त वायुमंडल में एक सूनापन छाया हुआ था। यहाँ आने के बाद पहली बार मुझे थोड़ा-सा अवकाश मिला था, इसलिए मैं ताप्ती के तट पर टहलता हुआ, समीप आती हुई रात के अन्धकार में बहते हुए जल के छोर तक पहुँच गया। मैं कुछ उदास हुआ यह सोच कर कि यह विशाल नगरी और छावनी, जो कि खेतों और बंजर पर खड़ी की गयी थी, जल्द ही लुप्त हो जायगी और उसका निशान भी बाक़ी न रहेगा। केवल उसकी याद बनी रहेगी।

लेकिन उदासी बीत चली, और यह इच्छा (जिसे कि बहुत समय से मैंने मन में जगह दे रक्खी थी) कि किसी दूर जगह कुछ समय बिताऊँ, प्रबल हुई और मुझ पर छा गयी। इसका कारण शरीर की थकान न थी, बल्कि थकान थी मन की जो परिवर्तन और ताज़गी हासिल करने का भूखा था। राजनैतिक जीवन एक थका देने वाला धन्धा है और तत्काल इससे जी भर गया था। लम्बे अभ्यास और दिनचर्या ने मुझे बाँध रक्खा था, लेकिन नित्य के इस चक्कर से अरुचि बढ़ रही थी, और अगर्चे मैं लोगों के सवालों के जवाब देता रहता था और मित्रों और साथियों से जहाँ तक होता प्रेम से बातें करता, फिर भी मेरा मन कहीं और रहता। वह उत्तरी पहाड़ों पर भटक रहा था, जहाँ गहरी घाटियाँ, हिमाच्छादित शिखर, ऊँची चट्टानें और चीड़ तथा देवदार के घने ढालुवाँ जंगल थे। वह उन मुसीबतों और समस्याओं से, जो हमें घेरे हुए थीं, बच कर शान्ति और एकान्त और हवा के मन्द उच्छ्वासों के लिए लालायित था।

अन्त में मैंने अपनी इच्छा पूरी करने की ठान ली और अपनी चिर-पोषित अभिलाषा को तृप्त करने जा रहा था। जब सामने बच निकलने का द्वार खुला हो तो फिर मैं मन्त्रिमंडलों के आने और जाने, या अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के लौट-पौट में अपने को कैसे फँसाये रख सकता था?

मैं जल्दी से अपने शहर इलाहाबाद में पहुँचा और वहाँ यह देख कर क्षोभ हुआ कि कुछ फ़साद होने वाला है। मैं चिढ़ गया और अपने ऊपर ग़ुस्सा आया। अब क्या पहाड़ जाने में बाधा पड़ेगी और मुझे इसलिए रुकना पड़ेगा कि कुछ मूर्ख और धर्मान्ध लोग साम्प्रदायिक उपद्रव करना चाहते थे। मैंने अपने को समझाया और कहा कि कुछ ऐसी दुर्घटना घटने नहीं जा रही थी, स्थिति सुधर जायगी और आसपास बहुतेरे समझदार लोग हैं। मैंने इस प्रकार तर्क किया और अपने को भुलावे में डाला, चूँकि चले जाने और बचने की इच्छा मुझमें प्रबल थी, इसलिए जब मेरा काम इलाहाबाद में रहने का था, मैं एक कायर की भाँति वहाँ से चला गया।

लेकिन जल्दी ही मैं इलाहाबाद और उसके उपद्रवों को भूल गया, यहाँ तक कि हिन्दुस्तान की समस्याएँ भी मेरे मस्तिष्क के किसी कोने में जा पहुँचीं। कुमायूँ की पहाड़ियों में अलमोड़ा की ओर जाने वाली चक्कर खाती हुई सड़क से ज्यों ज्यों ऊपर चढ़ रहा था, पहाड़ी हवा की मादकता मुझ पर छा गयी थी। अलमोड़ा से और आगे हम खाली पहुँचे और अपनी यात्रा का आख़िरी हिस्सा हमने मज़बूत पहाड़ी टाँघनों की पीठ पर तय किया।

मैं खाली में था जहाँ कि दो वर्षों से जाने की उत्कट इच्छा रही थी, और वहाँ पहुँचना सुखद था। सूर्य डूबने जा रहा था, पहाड़ों पर एक आभा थी और लहरियाँ प्रशान्त थीं। मेरी आँखें नन्दादेवी और उसके साथ की हिमाच्छादित चोटियों को ढूँढ़ रही थीं, लेकिन वह हल्के बादलों के पीछे छिप गयी थीं।

दिन पर दिन बीते और मैंने पर्वतीय वायु का गहरा सेवन किया, और जी भरकर हिमशिखरों और घाटियों को देखा। ये कितनी शान्त और सुन्दर थीं, और इस वातावरण में संसार की बुराइयाँ कितनी दूर और अवास्तविक जान पड़ने लगीं! पश्चिम और दक्षिण-पूर्व की ओर गहरी घाटियाँ थीं जो हमसे दो-तीन हजार फ़ुट की निचाई पर ढलती हुई दूर तक चली गयी थीं। उत्तर की ओर नन्दादेवी शिखर और उसके श्वेतावृत संगी पहाड़ सिर उठाये खड़े हुए थे। भयानक चट्टानें थीं जो क़रीब-क़रीब खड़ी कटी हुई नीचे ग़ार बनाती हुई चली गयी थीं। लेकिन प्रायः ऐसी पहाड़ियाँ भी थीं जो स्त्री के वक्षस्थल की भाँति मृदु वर्तुलाकार थीं; या ऐसी थीं जिनमें सीढ़ियाँ-सी बनी थीं जहाँ कि हरे-भरे खेत मनुष्य के उद्योग की साक्षी दे रहे थे।

भोर प्रातःकाल में नंगे बदन खुली हवा में पड़ा हुआ था और स्निग्ध-दृष्टि भरे पर्वतीय सूर्य ने मुझे अपनी गर्म गोद में ले लिया था। पहाड़ी बर्फ़ानी हवा मुझे किंचित् कँपा रही थी, लेकिन सूर्य मेरी रक्षा करता था और कल्याणकारी आतप प्रदान कर रहा था।

कभी-कभी मैं चीड़-वृक्षों के नीचे पड़ जाता और सैलानी वायु के स्वरों को अपने कानों में विचित्र बातें फुस-फुसाते हुए और अपनी संज्ञा को थपकी देकर सुलाते और अपने मस्तिष्क के ज्वर को शमन करते हुए पाता। मुझे अचेत जान कर और ऐसा जानकर कि सहज में मुझ पर प्रभाव पड़ सकता है, यह वायु नीचे के संसार के लोगों की मूर्खता, उनके निरन्तर संघर्ष, उनके आवेगों और द्वेषों, धर्म के नाम पर उनकी कट्टरता, उनकी राजनीति की भ्रष्टता, उनके आदर्शों के पतन की ओर कपटपूर्ण संकेत करती लौट कर उनके बीच में जाने में और अपने जीवन के प्रयत्नों को इनके निबटाने में खपाने में क्या रक्खा था? यहाँ पर शान्ति थी, एकान्त था, सुख था, हिम और पर्वत और विविध वृक्षों और फूलों से आच्छादित पहाड़ियाँ, चहकते हुए पक्षी संगी के रूप में थे। वायु ने चुपके से कपटपूर्ण ढंग से, वसन्ती दिवस की मनोरमता में यह बात कही। मैं उसकी बातें सुनता रहा।

पहाड़ों पर वसन्त का आरम्भ ही था यद्यपि नीचे मैदानों में ग्रीष्म झाँकने लगा था। पहाड़ियों पर सदाबहार फूलों के लाल छत्ते के छत्ते दूर से दिखाई पड़ते थे। फलों के वृक्ष कुसुमित थे और लाखों कोंपलें विकसित होकर अपनी कोमलता, ताज़गी, और हरियाली के सौन्दर्य से अनेक वृक्षों की नग्नता को ढँकने जा रही थीं।

खाली से चार मील पर, और भी डेढ़ हज़ार फ़ुट की ऊँचाई पर बिनसर थी। हम लोग वहाँ गये और जो दृश्य हमने वहाँ देखा वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। हमारे सामने ६०० मील लम्बी फैली हुई हिमाच्छादित पर्वत-शृंखला थी। इसमें तिब्बत से लेकर नैपाल तक के गिरि-शृंग थे और इनमें सबसे उत्तुंग नन्दादेवी का शिखर था। इस विस्तीर्ण क्षेत्र में बदरीनाथ और केदारनाथ और अनेक अन्य प्रसिद्ध स्थल थे, और ठीक उनसे पीछे कैलास और मानसरोवर थे। यह कैसा विशाल दृश्य था, और मैं मन्त्र-मुग्ध-सा और उसकी विशालता से भयभीत-सा उसे देख रहा था। मैं अपने आप से कुछ रुष्ट हुआ कि अपने ही प्रान्त के एक कोने में यह विशाल रमणीय स्थल रहते हुए भी मैं इसे पहले नहीं देख सका था, यद्यपि मैं सारे हिन्दुस्तान में और दूर देशों में घूमता फिरा था। हिन्दुस्तान में कितने लोगों ने इसको देखा है या इसका नाम भी सुना है? नाच और ताश के शौक़ीन दमियों हज़ार लोग जो प्रतिवर्ष सस्ते और घटिया पहाड़ी मुक़ामों पर जाते हैं उनमें से कितने इस स्थल को जानते है?

इस प्रकार दिन बीतते रहे और मेरे मन में सन्तोष उत्पन्न होने लगा। लेकिन साथ में इस बात का डर भी था कि यह स्वल्पकालीन छुट्टी जल्द ही समाप्त हो जायगी। कभी चिट्ठियाँ और समाचारपत्रों के पुलिन्दे आ जाते तो मैं उन्हें अरुचि से देखता। डाकघर वहाँ से १० मील की दूरी पर था और कुछ ऐसी इच्छा होती कि डाक को वहीं पड़ा रहने दें, लेकिन पुरानी आदतें प्रबल थीं और इस खयाल से कि कदाचित् किसी सुदूरवर्ती प्रियजन का कोई पत्र न आया हो, इस बाहरी विघ्न के लिए मार्ग खुला रक्खा।

अचानक एक कड़ा धक्का लगा। हिटलर आस्ट्रिया पर कूच कर रहा था; वियेना के सुहावने उद्यानों पर बर्बर पदाघातों की ध्वनि मानों कानों में पड़ी। क्या यह उस जगद्व्यापी संकट का श्रीगणेश था जो क्षितिज में इतने समय से मँडरा रहा था? क्या युद्ध शुरू हो गया था? मैं खाली को और हिमशृंगों को और पहाड़ों को भूल गया और मेरे शरीर और मन में एक तनाव आ गया। जब कि संसार पर ऐसा संकट हो और दुष्टता विजय पा रही हो और उसका रोकना आवश्यक हो उस समय पहाड़ के एक सुदूर कोने में मैं क्या कर रहा था? मैं कर ही क्या सकता था?

एक और धक्का लगा—इलाहाबाद में साम्प्रदायिक दंगा हो गया था, कितने ही सिर फूटे थे और कुछ जानें गयी थीं। कुछ थोड़े-से आदमी जिन्दा रहें तो क्या और मरें तो क्या, लेकिन यह जघन्य पागलपन और मूर्खता कैसी थी जो हमारे देशवासियों को समय-समय पर ऐसा नीच बना रही थी ?

इसलिए खाली में भी मेरे लिए शान्ति नहीं थी, कोई छुटकारा न था। उन विचारों से, जो मेरे मन को वेदना पहुँचा रहे थे, मैं कैसे बच सकता था ? मैं अपने काँपते हुए हृदय से कहाँ भाग कर जा सकता था ? मैंने भी अनुभव किया कि हमें संसार के आवेगों का सामना ही करना था, उसकी वेदनाओं को सहन ही करना था और संसार की मुक्ति के लिए कह सकते हैं, स्वप्न देखते रहना था। क्या यह स्वप्न स्वप्न देखने वाले की कल्पना मात्र था, या इससे कुछ अधिक था ? क्या यह कभी साकार हो सकेगा ?

कुछ दिन मैं खाली में और ठहरा रहा, लेकिन मेरे मन में एक अस्पष्ट असन्तोष भर रहा था। उन धवल पर्वतों को देख कर जो कि प्रशान्त, अगाध और मानवी मूढ़ताओं से अकल्मष खड़े थे, मन में कुछ शान्ति लौटी। मनुष्य जो कुछ भी करे, ये ऐसे ही बने रहेंगे और यदि समस्त आधुनिक पीढ़ी आत्महत्या कर ले अथवा किसी दूसरी तरह अपना मन्द विनाश कर डाले, तो भी पहाड़ियों पर वसन्त आता रहेगा। और चीड़ के वृक्षों के बीच से सनसनाती वायु बहती रहेगी और पक्षी कलरव करते रहेंगे।

लेकिन भविष्य में अच्छा-बुरा जो भी होने वाला हो, इस समय कोई छुटकारा न था। अगर कोई बचाव था तो वह इस रूप में कि काम में लगा जाय। खाली में यह क्षमता नहीं थी कि मन को दबा कर या हृदय को नशे में लाकर भुलाव उत्पन्न कर सके। इसलिए यहाँ आने के सोलह दिन बाद मैंने खाली से विदा ली, और उत्तराखंड के धवल पर्वतशिखरों पर मैंने अपनी अन्तिम चाह भरी दृष्टि डाली और उनकी महती रूप-रेखा को अपने मन के पटल पर अंकित किया।

राष्ट्रपति

'चाणक्य'[1]
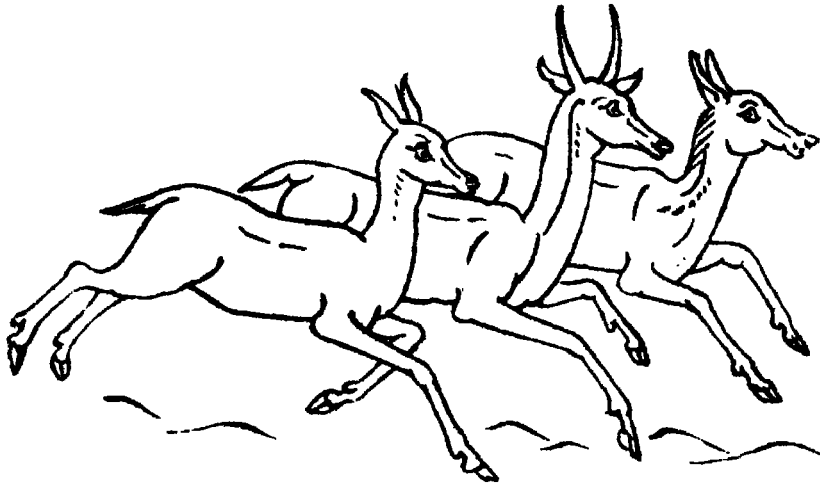
"राष्ट्रपति जवाहरलाल की जय !"

प्रतीक्षा करती हुई भीड़ के बीच से तेज़ी से गुज़रते हुए राष्ट्रपति ने सिर उठाकर देखा, उनके हाथ उठे और नमस्कार की मुद्रा में जुड़ गये, और उनका पीला, दृढ़ चेहरा एक मुस्कान से प्रदीप्त हो गया। यह मुस्कान उनकी अपनी भावुकता की परिचायक थी, और जिन लोगों ने उसे देखा, उनपर इसका तुरन्त प्रभाव पड़ा, और उन्होंने भी प्रसन्नमुख होकर जय-ध्वनि की।

मुसकान आयी और गयी और फिर चेहरा कठोर और उदास हो गया, मानो उस भावना का जिसे उसने उपस्थित जन-समूह में जागृत किया था, उसपर प्रभाव ही न हो। प्रायः ऐसा प्रतीत हुआ कि उस मुस्कान और उसके साथ की मुद्रा में विशेष वास्तविकता नहीं है; यह सब उस जन-समूह की सदिच्छा प्राप्त करने का एक बनावटी ढंग मात्र था, जिसने कि उसे हृदय में बिठा रक्खा था। क्या यह अनुमान ठीक था ?

जवाहरलाल को फिर से ध्यान से देखिए। एक लंबा जुलूस है और दसियों हज़ार आदमी उनकी मोटर गाड़ी को घेरे हुए हैं और बे-सुध-से उनकी जयध्वनि कर रहे हैं। वह अपनी मोटर की गद्दी पर, अपने को खूब सँभालते हुए सीधे तनकर खड़े हो जाते हैं; देखने में लम्बे लगते हैं और एक देवता की भाँति शान्त, और वह अपार जन-समूह से अविचलित हैं। अचानक फिर वही मुसकान, या एक उन्मुक्त हँसी दीखती है, तनाव टूटता है और भीड़ भी उन्हीं के साथ हँस पड़ती है—बिना यह जाने हुए कि वह किस बात पर हँस रही है। अब वह देवता-स्वरूप नहीं रह जाते, बल्कि इंसान बन जाते हैं, और जिन हज़ारों व्यक्तियों के बीच वह घिरे हुए हैं उनसे एक अपनापा और संगी का रिश्ता क़ायम करते हैं, और जनसमूह गद्गद हो जाता है और मैत्री-भाव से उन्हें अपने हृदय में स्थान देता है। लेकिन मुस्कान लुप्त हो गयी है और फिर वही पीला और दृढ़ चेहरा दिखाई पड़ रहा है।

क्या यह सब-कुछ स्वाभाविक है, या एक सार्वजनिक नेता का स्वांग मात्र है ? शायद दोनों ही बातें हैं और लम्बे अभ्यास ने स्वभाव का रूप ग्रहण कर लिया है। सबसे प्रभावशाली मुद्रा वह है जिसमें मुद्रा का आभास न मिले, और जवाहरलाल ने बिना रंग और बुकनी लगाये हुए अभिनय करने की कला खूब सीख ली है। लापरवाही और बेलौसी के दिखावे के साथ वह सार्वजनिक नाट्य मंच पर बड़ा कुशल और कला-पूर्ण अभिनय करते हैं। यह सब उन्हें और उनके देश को कहाँ ले जायगा ? इस अन्यमनस्कता के दिखावे की तह में आखिर उनका उद्देश्य क्या है ? इस छद्म मुद्रा के पीछे उनकी क्या इच्छाएं, कैसी शक्तिलालसा और क्या अतृप्त आकांक्षाएँ हैं ?

हर हालत में यह प्रश्न मनोरंजक है, क्योंकि जवाहरलाल का ऐसा व्यक्तित्व है कि वह बरबस अपनी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। लेकिन हमारे लिए इन प्रश्नों का गहरा महत्त्व भी है, क्योंकि जवाहरलाल का वर्तमान हिन्दुस्तान और संभवतः आनेवाले हिन्दुस्तान से एक अटूट नाता है और उनमें यह शक्ति है कि वह हिन्दुस्तान का बहुत भला भी कर सकते हैं और उतना ही बुरा भी। इसलिए इन प्रश्नों के उत्तर हमें ढूँढ़ने हैं।

क़रीब दो साल से वह कांग्रेस के सभापति हैं और कुछ लोगों का ख़याल है कि वह कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति के पिछ-लगुए मात्र हैं और दूसरों के रोक-दबाव में चलनेवाले हैं। फिर भी वह अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और जनता तथा सभी तरह के लोगों पर अपना प्रभाव बराबर दृढ़तापूर्वक बढ़ाते ही जा रहे हैं। वह किसान और कमकर, व्यापारी और फेरीवाले, ब्राह्मण और अछूत, मुस्लिम, सिख, पारसी, ईसाई, यहूदी, इन सब तक पहुँचते हैं जो कि भारतीय जीवन की विविधता के अंग हैं। जिस भाषा में वह इन सब से बोलते हैं वह औरोंकी भाषा से कुछ हट कर है, और वह सदा इन सब को अपने

[1] 'चाणक्य' छद्मनाम से यह लेख पंडित जवाहरलाल नेहरू ने स्वयं लिखा था। —सं०

फलक ७०

फलक ७६
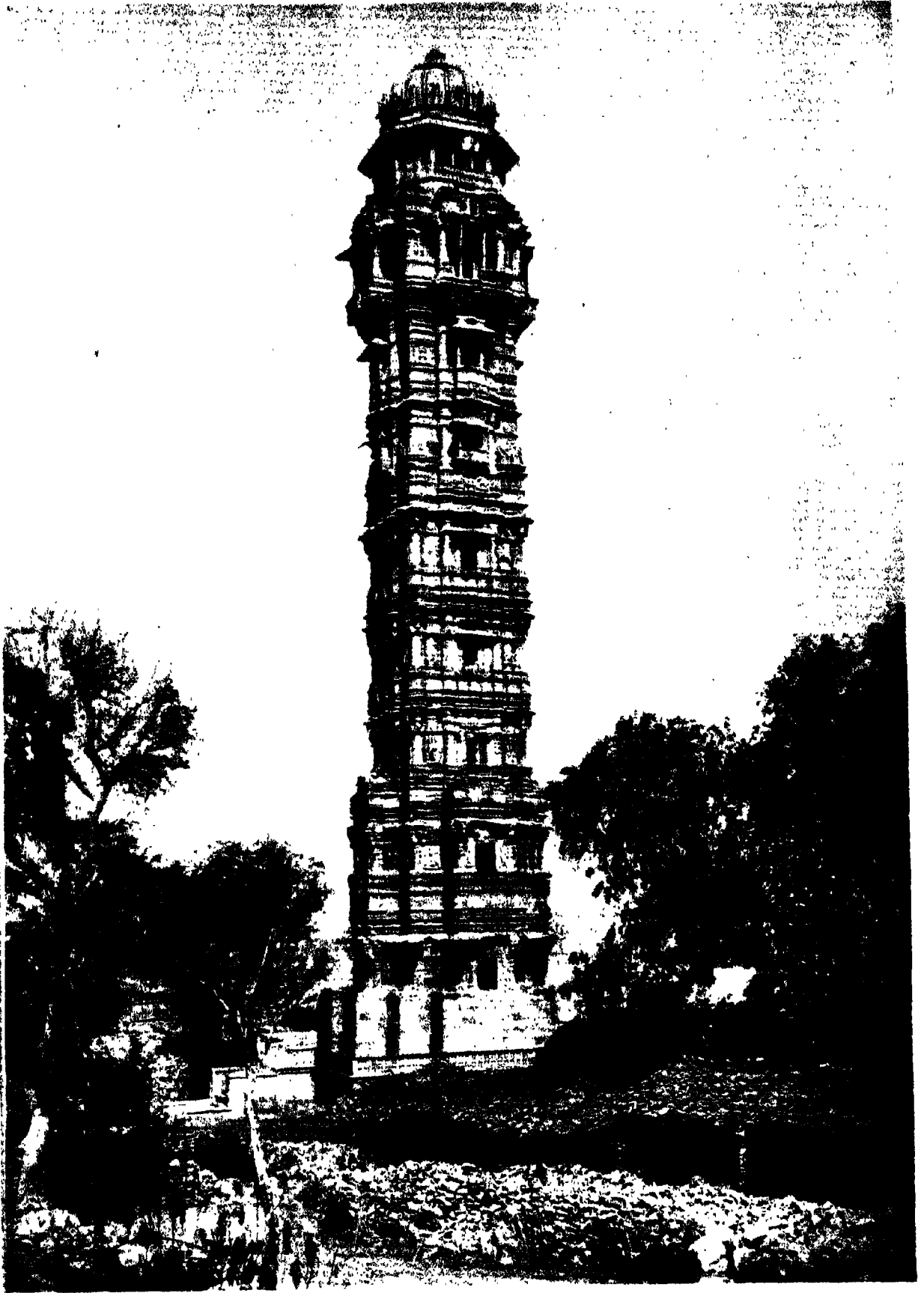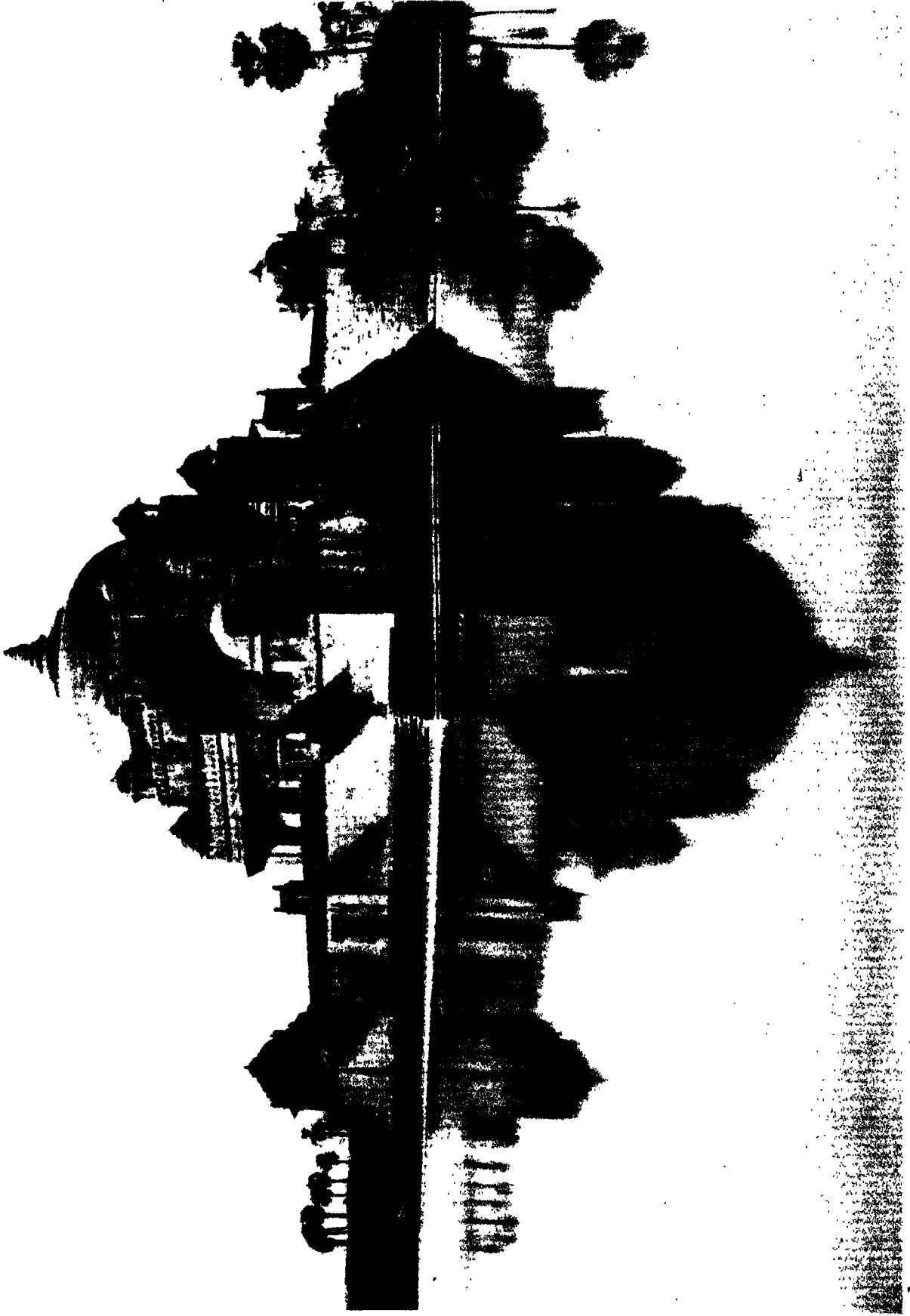
पक्ष में लाने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। इस अवस्था में भी वह बड़ी स्फूर्ति के साथ हिन्दुस्तान जैसे विशाल देश में सर्वत्र पहुँचते रहे हैं और सभी जगह अद्भुत लोकप्रियता से उनका स्वागत हुआ है। उत्तर से लेकर कन्या कुमारी तक, एक विजयी सीज़र की भाँति उन्होंने यात्रा की है, और जहाँ जहाँ वह गये हैं, उन्होंने अपने यश की कथाएँ छोड़ी हैं। क्या यह सब केवल उनका शौक़ और दिल-बहलाव है, या इसमें कोई गहरी चाल है, या यह केवल किसी ऐसी शक्ति का खेल है जिसे वह आप नहीं समझ पाते हैं ? अथवा क्या यह उनकी शक्ति-लालसा है, जिसका वर्णन उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में किया है और जो कि उन्हें एक जनसमूह से दूसरे जनसमूह की ओर प्रेरित करती है और उनसे अपने आपसे चुपके से कहलाती है कि "मैंने इन जनधाराओं को अपने हाथों में समेट कर अपनी इच्छा-शक्ति को नक्षत्रों द्वारा आकाश के आर-पार अंकित किया है ?"

अगर उनकी धुन बदल जाय तो क्या हो ? जवाहरलाल जैसे लोगों पर—उनमें बड़े और अच्छे कामों को करने की चाहे जैसी शक्ति हो—जनसत्तात्मक व्यवस्था में भरोसा नहीं किया जा सकता। वह अपने को जनतावादी और समाजवादी कहते हैं, और इसमें संदेह नहीं कि वह सच्चे उत्साह से ऐसा कहते हैं, फिर भी हरएक मनोवैज्ञानिक जानता है कि मस्तिष्क अन्त में हृदय का ग़ुलाम होता है और तर्क को तो सदा घुमाकर मनुष्य की अदम्य प्रेरणाओं और इच्छाओं के अनुकूल बनाया जा सकता है। तनिक-सी उमेठ काफ़ी है और जवाहरलाल एक तानाशाह बन सकते हैं और धीमी गति से चलनेवाली जनसत्ता के आडम्बरों को ठुकरा सकते हैं। जनतावाद और समाजवाद की भाषा और नारों को वह भले ही अपनाये रहें, लेकिन हम सभी जानते हैं कि इसी प्रकार की भाषा पर फ़ासिस्टवाद भी पला और पुष्ट हुआ है, और बाद में उसने इसे व्यर्थ के कचरे की भाँति अलग फेंक दिया है।

विश्वास और स्वभाव से जवाहरलाल निश्चय ही फ़ासिस्ट नहीं हैं, उनमें ऊँचे घरानेवालों की सहज बुद्धि इतनी पर्याप्त है कि फ़ासिस्टवाद के भोंडेपन और गँवारूपन को वह सहन न करेंगे। उनकी मुखाकृति और स्वर बताते हैं कि "सार्वजनिक स्थानों में घरेलू मुखाकृतियाँ जितनी आकर्षक और सुन्दर दिखती हैं, सार्वजनिक मुखाकृतियाँ घरों के भीतर उतनी सुन्दर और अच्छी नहीं लगतीं।"

फ़ासिस्ट मुखाकृति एक बनावटी मुखाकृति है और वह घर-बाहर कहीं भी अच्छी नहीं लगती। जवाहरलाल के चेहरे और स्वर में निश्चय ही घरेलूपन है। इस बात में कोई धोखा नहीं हो सकता कि जन-समूह में और सार्वजनिक सभाओं में भी उनके बोलने का ढंग एक आत्मीयता लिये हुए होता है। ऐसा जान पड़ता है कि वह अलग-अलग व्यक्तियों से निजी और घरेलू ढंग से बातें कर रहे हों। उनकी बातों को सुन कर और उनके संवेदनशील चेहरे को देख कर मन में कौतूहल होता है यह जानने का कि इन सबके पीछे कौन-से विचार और इच्छाएँ हैं जो काम कर रही हैं, कैसी जटिल और दबी हुई मनोवृत्तियाँ, कैसे दमन किये हुए और शक्ति में परिवर्तित आवेग, क्या आकांक्षाएँ हैं, जिन्हें कि वह अपने से भी स्वीकार करने का साहस नहीं कर सकते।

सार्वजनिक भाषण देते समय विचारों का क्रम उन्हें बाँधे हुए रहता है, लेकिन दूसरे अवसरों पर उनकी आकृति उनका भेद खोल देती है; क्योंकि उनका मन भटक कर नये क्षेत्रों, नयी कल्पनाओं में पहुँच जाता है और एक क्षण के लिए अपने साथ के व्यक्ति को भूल कर अपने मस्तिष्क द्वारा कल्पित पात्रों से मानों चुपके-चुपके बातें करने लगते हैं। क्या वह उन मानवी सम्पर्कों के विषय में सोचते हैं जिन्हें कि अपनी जीवनयात्रा में—जो कि कठिन और तूफ़ानी रही है— उन्होंने खो दिया है लेकिन जिनकी वह कामना करते हैं ? या वह एक स्वनिर्मित भविष्य और उसके संघर्ष तथा उसमें प्राप्त विजय का स्वप्न देखते हैं ? इतना तो उन्हें जानना चाहिए कि जो रास्ता उन्होंने चुना है, उसमें विश्राम नहीं है, किनारे बैठ कर दम लेने का अवसर नहीं है और विजय-प्राप्ति भी और अधिक भार डाल देती है। जैसा कि लारेंस ने अरब वालों से कहा था—"विद्रोहियों के लिए विश्रामगृह कहाँ, न उनके लिए आनन्द के अवसर आते हैं।"

जवाहरलाल के लिए आनन्द के अवसर न हों, लेकिन यदि भाग्य ने साथ दिया तो इससे बड़ी चीज़ उन्हें मिल सकती है—अर्थात् जीवन के उद्देश्य की सिद्धि।

जवाहरलाल फ़ासिस्ट नहीं बन सकते। फिर भी वह सभी संयोग उपस्थित हैं जिनसे तानाशाह बना करते हैं—महान् लोकप्रियता, एक सुनिश्चित उद्देश्य के लिए दृढ़ इच्छाशक्ति, स्फूर्ति, गर्व, संगठनशक्ति, योग्यता, कड़ाई; और जनता के प्रति उनका चाहे जितना प्रेम हो, उनमें दूसरों के प्रति एक असहिष्णुता है और कमज़ोरों और अयोग्यों के प्रति एक घृणा का भाव है। उनके क्रोध के आवेगों से लोग भली भाँति परिचित हैं; वह उस पर क़ाबू भले ही पा लें, उनके

होठों की फड़क उनका भेद खोल देती है। काम को पूरा कराने की, जो कुछ नापसन्द हो उसे मिटा कर नया निर्माण करने की उनकी प्रगल्भ इच्छा अधिक समय तक जनतावाद के धीमी गति से चलने वाले व्यापारों से मेल नहीं खा सकती। बाहरी रूप-रेखा को क़ायम रखते हुए वह अवश्य अपनी इच्छाशक्ति से उसे झुकाना चाहेंगे। साधारण वातावरण में वह एक सुयोग्य और सफल कार्य-संचालक होने की क्षमता रखते हैं, लेकिन इस क्रान्ति के युग में तानाशाही आगे खड़ी रहती है और क्या यह सम्भव नहीं कि जवाहरलाल अपने को एक तानाशाह समझने लग जायें ?

यह बात जवाहरलाल के लिए और हिन्दुस्तान के लिए भयावह होगी, क्योंकि तानाशाही के ज़रिये हिन्दुस्तान स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त कर सकता। एक सुयोग्य और उदार तानाशाही के अधीन वह चाहे थोड़ा-बहुत पनप ले, लेकिन वास्तव में वह दबा रहेगा और उसके निवासियों को ग़ुलामी से उद्धार पाने में विलम्ब लग जायगा।

एक साथ दो बरस तक जवाहरलाल कांग्रेस के राष्ट्रपति रहे हैं और कई प्रकार से उन्होंने अपने को कांग्रेस के लिए इतना ज़रूरी बना लिया है कि बहुत-से लोगों का सुझाव है कि वह तीसरी बार फिर राष्ट्रपति चुने जायें। लेकिन हिन्दुस्तान और ख़ुद जवाहरलाल के हक़ में इससे बड़ी असेवा न होगी। उन्हें तीसरी बार चुन कर हम यह दिखावेंगे कि व्यक्ति-विशेष को हम कांग्रेस से बड़ा मानते हैं और इस प्रकार हम जनता के विचारों को सीज़रशाही के पथ में प्रवृत्त करेंगे। स्वयं जवाहरलाल में हम ग़लत प्रवृत्तियों को उभारेंगे और उनकी अहम्मन्यता और गर्व को बढ़ावेंगे। उन्हें विश्वास हो जायगा कि एकमात्र वही इस भार को सँभाल सकते हैं या हिन्दुस्तान की समस्याओं को सुलझा सकते हैं। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि पदों के प्रति ज़ाहिर में अपनी बेरुख़ी दिखाने के बावजूद पिछले सत्रह वर्षों से वह कांग्रेस में एक न एक महत्त्वपूर्ण पद थामे रहे हैं। वह सोचने लगेंगे कि उनके बिना लोगों का काम न चलेगा और किसी को भी यह सोचने देना, चाहे वह जितना बड़ा व्यक्ति हो, ठीक नहीं। उनके लगातार तीसरी बार कांग्रेस का राष्ट्रपति बनने में हिन्दुस्तान का हित नहीं है।

इस तरह के विचार के लिए एक व्यक्तिगत कारण भी हो सकता है। यद्यपि वह बहादुरी से काम में लगे हैं फिर भी यह स्पष्ट है कि जवाहरलाल थक गये हैं और बासी पड़ गये हैं। और अगर वह राष्ट्रपति बने रहे तो और भी ढल जायेंगे। उन्हें दम मारने का अवसर यों भी नहीं मिल सकता, क्योंकि शेर की सवारी करने वाले को काठी छोड़ने का कहाँ मौक़ा मिलता है। फिर भी हम उन्हें गर्व से बहकने से और बहुत भार तथा ज़िम्मेदारी में पड़ कर मानसिक शक्ति-क्षय से रोक सकते हैं। भविष्य में उनसे अच्छे कामों की आशा रखने का हमें हक़ है। हमें कोई काम ऐसा न करना चाहिए जिससे इस आशा पर संकट आवे। न हमें उनको ही अति-प्रशंसा द्वारा बिगाड़ना चाहिए। उनमें जो भी अहम्मन्यता है, बहुत है। उसे रोकना चाहिए। हमें सीज़रों की आवश्यकता नहीं है।

१९३८
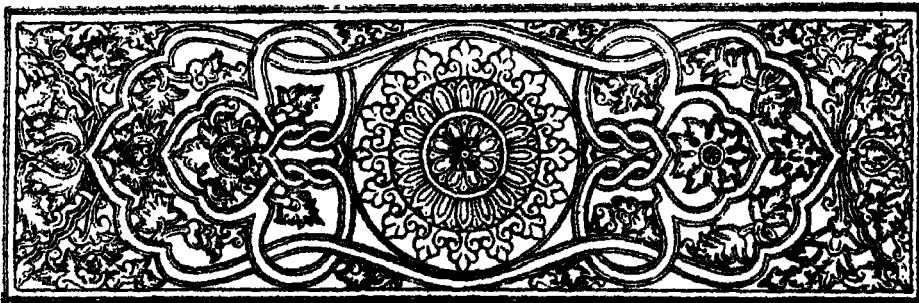
परिशिष्ट

तिथि-विवरण

पंडित जवाहरलाल नेहरू के जीवन के साठ वर्षों की मुख्य घटनाओं की तिथियां :—

१८८९—(१४ नवम्बर) जन्म, इलाहाबाद।

१९०५—इंग्लैंड के लिए प्रस्थान।

१९०७—ट्रिनिटी कालेज, केम्ब्रिज में प्रवेश।

१९१०—प्रकृति-विज्ञान की स्नातक परीक्षा में ससम्मान उत्तीर्ण हुए।

१९१२—बैरिस्टरी पास करके भारत प्रत्यागमन।

१९१६—गान्धीजी से लखनऊ कांग्रेस में पहली बार भेंट।

—कुमारी कमला कौल से विवाह।

१९१८—अ० भा० कांग्रेस कमेटी के सदस्य हुए।

१९२२—(मई) युवराज एडवर्ड की भारत-यात्रा के समय पहली बार गिरफ़्तारी।

१९२२—(अगस्त) रिहाई।

—(अक्टूबर) विदेशी कपड़े के बायकाट के सम्बन्ध में दूसरी बार गिरफ़्तारी।

१९२३—(जनवरी) रिहाई।

—अ० भा० कांग्रेस समिति के मन्त्री चुने गये।

—नाभा से निष्कासन की आज्ञा का उल्लंघन करने पर तीसरी बार गिरफ़्तारी।

—नाभा जेल के कष्टों के कारण टाइफ़ायड की बीमारी।

१९२६—जवाहरलालजी की प्रेरणा से युक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी द्वारा समाजवादी प्रवृत्ति का कार्यक्रम निर्धारित हुआ।

१९२६-२७—कांग्रेस के प्रतिनिधि होकर ब्रुसेल्स के साम्राज्यवाद-विरोधी सम्मेलन में भाग लेना तथा इटली, स्विट्जरलैंड, इंग्लैंड, बेल्जियम, जर्मनी और रूस का भ्रमण।

१९२७—(नवम्बर) रूसी क्रान्ति की दसवीं वर्षगांठ पर मॉस्को की यात्रा।

—(दिसम्बर) मद्रास कांग्रेस में स्वाधीनता, युद्ध-संकट और साम्राज्यवाद-विरोधी संघ के साथ सहयोग के प्रस्तावों का समर्थन और स्वीकार कराना।

—(दिसम्बर) अ० भा० कांग्रेस कमेटी का मन्त्रित्व ग्रहण।

१९२९—अ० भा० कांग्रेस कमेटी में युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के समाजवादी कार्यक्रम का समर्थन और उसे स्वीकार कराना।

—कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

—'लेटर्स फ़्राम ए फ़ादर टु हिज़ डॉटर' ('पिता के पत्र पुत्री के नाम') का प्रकाशन।

—(दिसम्बर) स्वाधीनता के प्रस्ताव का अनुमोदन और लाहौर कांग्रेस द्वारा उसे स्वीकार कराना।

१९३०—(१४ अप्रैल) नमक सत्याग्रह के सम्बन्ध में चौथी बार गिरफ़्तारी और ६ मास का कारावास दंड।

(१४ अक्तूबर) रिहाई।

—(अक्टूबर) इलाहाबाद में किसान-सम्मेलन में भाग लेने पर पाँचवीं बार गिरफ़्तारी।

१९३१—(२६ जनवरी) रिहाई।

—(फ़रवरी) पं० मोतीलाल नेहरू का देहान्त।

—कराची कांग्रेस के लिए आर्थिक नीति का मसौदा तैयार किया।

—(२६ दिसम्बर) युक्तप्रान्त के किसान-विद्रोह के सिलसिले में छठी गिरफ़्तारी और दो वर्ष का दंड।

१९३३—(३० अगस्त) माता की बीमारी के कारण जेल से रिहाई।

१९३४—(जनवरी) बिहार के भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए दौरा और संगठन।

—(१६ फ़रवरी) कलकत्ते में दिये गये भाषण के लिए सातवीं बार गिरफ़्तारी और दो वर्ष की सज़ा।

—'गिलम्सेज ऑफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री' ('विश्व इतिहास की झलक') का प्रकाशन।

—(११ अगस्त) पत्नी की बीमारी के कारण ग्यारह दिन की वाग्बद्ध रिहाई।

१९३५—(४ सितम्बर) पत्नी की चिन्तनीय अवस्था के कारण रिहाई।

१९३६—(२८ फ़रवरी) कमला नेहरू का देहान्त।

—(अप्रैल) 'ऑटोबायोग्राफ़ी' (आत्मकथा—'मेरी कहानी') का प्रकाशन।

—(दिसम्बर) दूसरी बार कांग्रेस के अध्यक्ष-पद पर निर्वाचन।

१९३७—पुनः कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

१९३८—(जुलाई) गृहयुद्ध-पीड़ित इस्पान की यात्रा और इस्पानी प्रजातन्त्रवादी नेताओं से भेंट।

१९३९—सिंहल-यात्रा।

—चीन-यात्रा।

१९४०—व्यक्तिगत सत्याग्रह-आन्दोलन के सिलसिले में आठवीं बार गिरफ़्तारी।

१९४१—रिहाई।

१९४२—(अगस्त) अ० भा० कांग्रेस कमेटी के बम्बई-अधिवेशन में 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के कारण नवीं बार गिरफ़्तारी।

१९४५—(जून) रिहाई।

—आज़ाद हिन्द फ़ौज की पैरवी के लिए डिफ़ेंस कौंसिल का संगठन।

१९४६—(मार्च) 'डिस्कवरी आफ़ इंडिया' (भारत का शोध—'हिन्दुस्तान की कहानी') का प्रकाशन।

—(जुलाई) चौथी बार कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित।

—(सितम्बर) अन्तरिम सरकार में विदेश-मन्त्री के रूप में प्रवेश, और एक्ज़ेक्यूटिव कौंसिल के उपाध्यक्ष-पद पर नियुक्ति।

१९४७—(मार्च) दिल्ली में अखिल एशिया-सम्मेलन का संयोजन और उसके कार्यक्रम मे प्रमुख भाग।

—(१५ अगस्त) भारत के प्रधान मन्त्री होकर वैदेशिक, कॉमनवेल्थ-सम्बन्ध तथा वैज्ञानिक शोध विभागों का कार्यभार ग्रहण।

१९४८—(जून) उटकमंड में 'संयुक्त राष्ट्रों के एशिया तथा दूर पूर्व के आर्थिक कमीशन' के तीसरे अधिवेशन का उद्घाटन।

—(अक्टूबर) लंडन में कॉमनवेल्थ सम्मेलन में भाग लेना और भारत के कॉमनवेल्थ में ही रहने के निर्णय की घोषणा।

१९४९—(अक्टूबर) अमरीका-यात्रा।

—(,,) अमरीका की धारासभा के अधिवेशन में भाषण, और भारत की ओर से विश्व में 'स्वाधीनता, न्याय और शान्ति' की सेवा की प्रतिज्ञा।

—(,,) संयुक्त राष्ट्रों की ट्रस्टीशिप कौंसिल में भाषण।

—(,,) कैनाडा के पार्लामेंट में भाषण और भारत की ओर से कॉमनवेल्थ के साथ सहयोग का आश्वासन।

ग्रन्थ-सूची

पंडित जवाहरलाल नेहरू रचित ग्रन्थ[1]

अंग्रेज़ी

चायना, स्पेन एंड द वार : फुटकर लेख (किताबिस्तान, इलाहाबाद, १९४०; सचित्र)

फ़ेलो इण्डियन्स गेट टुगेदर : एंड इण्डिया'ज़, डे ऑफ़ रेकनिंग : (इंडियन लीग ऑफ़ एमेरिका, न्यूयार्क)

डिस्कवरी ऑफ इण्डिया : (मैरीडियन, लंडन; १९४७)

एटीन मन्थ्स इन इण्डिया, १९३६-३७ : जवाहरलाल नेहरू के फुटकर लेख और निबन्ध (किताबिस्तान, इलाहाबाद; १९३८)

ग्लिम्सेज ऑफ़ वर्ल्ड हिस्टरी (विश्व इतिहास की झलक) : अपनी पुत्री इन्दिरा को जेल से लिखे गये कुछ और पत्र—दो भाग (किताबिस्तान, इलाहाबाद, १९३४-३५) संशोधित और सम्पादित (किताबिस्तान, इलाहाबाद; १९४२)

इम्पार्टेंट स्पीचेज़ : जवाहरलाल नेहरू द्वारा १९२२ से १९४५ तक दिये गये प्रमुख भाषणों का संग्रह। सम्पादक—जगतसिंह ब्राइट। (इंडियन प्रिंटिंग वर्क्स, लाहौर; १९४५)

इण्डिया ऑन मार्च : वक्तव्य तथा चुने हुए उद्धरण। १९१६-४६ सम्पादक—जगतसिंह ब्राइट।

इण्डिया ऐंड द वर्ल्ड : निबन्ध (किताबिस्तान, इलाहाबाद; १९३६)

इंडिया'ज़ चार्टर ऑफ़ फ्रीडम : विधान-परिषद्, नयी दिल्ली; १९४७.

जवाहरलाल नेहरू : वक्तव्य, भाषण और लेख। एस० आर० एम० लाल द्वारा सम्पादित।

लाइफ़ ऐंड स्पीचेज़ ऑफ़ पंडित जवाहरलाल नेहरू : द्विवेदी द्वारा सम्पादित।

महात्मा गान्धी : (सिगनेट प्रेस, कलकत्ता; १९४९)

गान्धी मेमोरियल वॉल्यूम : पंडित नेहरू की 'डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया' से लिये गये कुछ लेखों का संग्रह।

नेहरू फ़िलंग्स ए चैलेंज : एक विद्यार्थी द्वारा सम्पादित। (हमारा हिन्दुस्तान, बम्बई; १९४७)

जवाहरलाल नेहरू : जूएल ऑफ़ इण्डिया—दूसरा संस्करण (एजुकेशनल पब्लिशिंग कम्पनी, बम्बई; १९४३) (नाम न प्रकट करते हुए स्वयं पंडित नेहरू द्वारा लिखित)

लेटर्स फ़्रॉम ए फ़ादर टू हिज़ डॉटर : पिता के पत्र पुत्री के नाम, तीसरा संस्करण (किताबिस्तान, इलाहाबाद १९३५)

नेशनल प्लैनिंग; प्रिंसिपल्स एंड एडमिनिस्ट्रेशन : (वोरा एंड कम्पनी, बम्बई; १९४८)

नेहरू ऑन गान्धी : पंडित नेहरू के लेखों और भाषणों से घटना-क्रमानुसार संकलित। (जॉन डे, न्यू यार्क; १९४८)

पार्टिंग ऑफ़ द वेज़, एंड द वाइसराय—गान्धी कॉरेस्पांडेंस : (ड्रमंड, लंडन; १९४०)

प्रिज़न हयूमर्स : (न्यू लिटरेचर, इलाहाबाद; १९४६)

क्वेश्चन ऑफ़ लैंगवेज़ : विद ए फ़ोरवर्ड बाई महात्मा गान्धी : (अ० भा० कांग्रेस कमेटी, इलाहाबाद; १९३७.) (कांग्रेस इकानॉमिक एंड पोलिटिकल स्टडीज़ नं०६)

रिसेंट एसेज़ एंड राइटिंग्स ऑन द फ़्यूचर ऑफ़ इण्डिया, कम्यूनिज्म एंड अदर सब्जेक्ट्स : चौथा संस्करण (किताबिस्तान, इलाहाबाद; १९३९)

स्टेटमेंट्स, स्पीचेज़ एंड राइटिंग्स : विद एन एप्रिसियेशन ऑफ़ महात्मा गान्धी : (किताबिस्तान, इलाहाबाद; १९२९)

सोवियट रशा : सम रैंडम स्केचेज़ एंड इम्प्रेशन्स : (लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद; १९२८)

[1] जहाँ तक सम्भव हुआ है, प्रकाशन की तिथियाँ दे दी गयी हैं।

टुवर्ड्स फ़्रीडम : आटोबायोग्राफ़ी : (जॉन डे न्यू यार्क; १९४१)

वही : 'जवाहरलाल नेहरू—एन ऑटोबायोग्राफ़ी' शीर्षक के साथ; और भारतवर्ष की कुछ ताज़ी घटनाओं पर विचार के साथ। (जॉन लेन, लंडन; १९३६)

यूनिटी ऑफ़ इण्डिया : कलेक्टेड राइटिंग्स १९३७-४० : सम्पादक—वी० के० कृष्ण मेनन। (ड्रमंड, लंडन; १९४१)

व्हेयर आर वी ? : (किताबिस्तान, इलाहाबाद; १९३९)

वर्ल्ड स्ट्रगल एंड इण्डिया : (कॉमरेड न्यूज़पेपर्स लिमिटेड, कलकत्ता; १९३८)

लेक्चर डेलिवर्ड एट द क्वीन्स हॉल : लंडन ६ जुलाई १९३८. (कॉमरेड पब्लिकेशन्स सिरीज़, नं० १)

विंडो इन प्रिज़न एंड प्रिज़नलैंड्स : (दो निबन्ध), (किताबिस्तान, इलाहाबाद; १९३३)

व्हिदर इण्डिया ? : (किताबिस्तान, इलाहाबाद)

यूथ्'स क्लेंडर : (हमारा हिन्दुस्तान, बम्बई; १९४५) (न्यू ऐज आर्किटेक्ट्स सिरीज़, नं० १)

बँगला

जवाहरलालेर आत्मचरित : अनुवादक—सत्येन्द्र मजूमदार। (कलकत्ता, १९४५)। एक अन्य संस्करण 'आत्मचरित' शीर्षक के साथ (कलकत्ता, १९३७)

जवाहरलालेर चिठि वा पृथिवीर इतिहास : 'पिता के पत्र पुत्री के नाम'। अनुवादक—प्रबोधचन्द्र दास गुप्त (कलकत्ता, १९३४)। अन्य संस्करण, सचित्र (कलकत्ता, १९३९)

सोवियट रशिया : अनुवादक—सुधीरचन्द्र वसु। (पहला संस्करण, कलकत्ता, १९३१)

काराजीवन ओ भारत कोन पथे ? 'व्हिदर इंडिया' का अनुवाद (कलकत्ता)

गुजराती

इन्दुने पत्रो : अनुवाद

जगतना इतिहासनु रेखादर्शन : भाग १ और २. अनुवादक—एम० बी० देसाई। (१९४५)

म्हारी जीवनकथा : अनुवादक—महादेव देसाई। (गुर्जर ग्रन्थरत्न, अहमदावाद; १९३६). अन्य संस्करण, १९३७, १९४४ और १९४७.

राष्ट्र भाषानो सवाल :

हिन्दी

भारत की एकता : 'यूनिटी ऑफ़ इंडिया' का हिन्दी अनुवाद। (नयी दिल्ली)

भारत की वर्त्तमान विभूतियाँ : अनुवादित।

हमारी यात्रा की मंज़िल : (नयी दिल्ली)

हम कहाँ हैं ? : (सस्ता साहित्य-मंडल, नयी दिल्ली; १९३९)

हिन्दुस्तान की समस्याएँ : अनुवादित (सस्ता साहित्य-मंडल, नयी दिल्ली; १९४७)

हिन्दुस्तान की कहानी : 'डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया' का श्री रामचन्द्र टंडन द्वारा हिन्दी अनुवाद। (सस्ता साहित्य-मंडल, नयी दिल्ली; १९४७)

जवाहरलाल नेहरू की वाणी : (आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, इलाहाबाद; १९४७)

कुछ समस्याएँ : युगान्तर प्रकाशन समिति द्वारा अनुवादित। (पटना, १९३७)

लड़खड़ाती दुनिया : (सस्ता साहित्य-मंडल, नयी दिल्ली; १९४१) अन्य संस्करण—नरेन्द्रदेव, चौथा संस्करण (इलाहाबाद, १९४२)

मेरी कहानी : (सस्ता साहित्य-मंडल, नयी दिल्ली, १९४८)

नेहरू कमेटी की रिपोर्ट : इलाहाबाद।

पिता के पत्र पुत्री के नाम : इन्दिरा को लिखे गये पत्रों का हिन्दी अनुवाद। अनुवादक—श्री प्रेमचन्द। (लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद; १९३१)

राजनीति से दूर : (नयी दिल्ली)

रूस की सैर : अनुवाद (हिन्दुस्तान प्रेस, इलाहाबाद; १९२९)

विश्व इतिहास की झलक : भाग १-५. 'ग्लिम्पसेज़ ऑफ़ वर्ल्ड हिस्टरी' से अनुवादित (लखनऊ १९३५) (सस्ता साहित्य-मंडल, नयी दिल्ली; सातवाँ संस्करण)

कन्नड

आत्मकथे : 'ऑटोबायोग्रॉफ़ी' का अनुवाद। अनुवादक—श्री के० कृष्ण अय्यंगार। (मक्कल पुस्तक प्रेस, बंगलोर; दो भाग)

मागळीगे तांडेय ओलेगालु : 'ए फ़ादर्स लेटर्स टु हिज़ डॉटर' का अनुवाद। अनुवादक—के० कृष्ण राव (साहित्य-भंडार, हुबली; १९४१)

मलयालम

आत्मकथा-कथनम् : 'आटोबायोग्रॉफ़ी' का अनुवाद (कोषिकोड, मातृभूमि)

इंडिया युवय कंडेतल : 'डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया' का अनुवाद। अनुवादक—सी० एच० कुंजप्पा।

ओक अचन मकल्कु अयाकुम कथकल : 'लेटर्स फ़्रॉम ए फ़ादर टु हिज़ डॉटर' का अनुवाद। (कोषिकोड, मातृभूमि)

मराठी

आजचा रशिया : 'सोवियट रशा' का अनुवाद। अनुवादक—श्री दिनकर वासुदेव दिवाकर। (पूना, १९३२)

आत्म-चरित्र : 'ऑटोबायोग्रॉफ़ी' का अनुवाद। अनुवादक—नारायण गणेश गोरे। सचित्र। (पूना, १९३६)

आवले जग : 'ग्लिम्पसेज़ ऑफ़ वर्ल्ड हिस्टरी' का अनुवाद। अनुवादक—डी० शाह और चिटणिस। (रत्नाकर प्रकाशन संस्था—दो भाग—१९४२-४५)

हिन्दुस्तानचे भवितव्य : 'व्हिदर इंडिया' का अनुवाद। अनुवादक—डी० वी० कार्णिक। (पूना)

हिन्दुस्तान व जग : 'इंडिया एंड द वर्ल्ड' का अनुवाद। अनुवादक—शंकर लक्ष्मण चिटनवीस। (१९४४)

पंडित जवाहरलाल नेहरू यांची इन्दिरेला पत्रें : 'लेटर्स फ़्रॉम ए फ़ादर टु हिज़ डॉटर' का अनुवाद। अनुवादक—बी० एल० बोडस। (इलाहाबाद, १९३४)

तमिल

अरसियल निरूप सभै : टी० जे० आर० द्वारा अनुवादित। (कलैमगल कार्यालयम्, मैलापुर, मद्रास; १९४७)

जवाहरलाल नेहरूविन कादितंगल, कुमारी इन्दिरा नेहरूवुक्कू : 'लेटर्स फ़्रॉम ए फ़ादर टु हिज़ डॉटर' का अनुवाद। अनुवादक—के० आर० वेंकटरमन्। (मद्रास, १९४७)

उलगचरितम् : भाग १-२. अनुवादक—अलगेमन (नवयुग प्रचारालयम्, करैक्कुडि)

उर्दू

अट्ठारह महीने हिन्दुस्तान में : 'एटीन मन्थ्स इन इंडिया, १९३६-३७' का अनुवाद। अनुवादक—बशीर अहमद अंसारी। (दिल्ली, १९४५)

आज़ादी की मंज़िल तक :

बाप के ख़त बेटी के नाम : 'लेटर्स फ़्रॉम ए फ़ादर टु हिज़ डॉटर' का अनुवाद। (किताबिस्तान, इलाहाबाद; १९३५)

हिन्दुस्तान का इतिहास : 'युनिटी ऑफ़ इंडिया' का अनुवाद।

जगबीती : 'ग्लिम्पसेज़ ऑफ़ वर्ल्ड हिस्टरी' का अनुवाद। अनुवादक—महमूद अली खान जमील। भाग १. ६ नक़शों के साथ। (नयी दिल्ली, १९४२)

लड़खड़ाती दुनिया :

मकातीबे-नेहरू : पंडित नेहरू के पत्रों आदि का संग्रह। अनुवादक—आनन्दनारायण मुल्ला। भाग १. (इलाहाबाद १९४०)

मेरी कहानी : 'ऑटोबायोग्राफ़ी' का अनुवाद। दो भागों में। सचित्र। (नयी दिल्ली, १९३६)

सियाहते रूस : अनुवाद (लखनऊ)

सोवियट रूस : 'सोवियट रशा' का अनुवाद।

तलाशे-हिन्द : 'डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया' का अनुवाद। दो भागों में। (नयी दिल्ली, १९४६)

पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख

(अंग्रेज़ी)

ए केबल (न्यू रिपब्लिक, ४ अगस्त १९४७)
बैक होम : (मॉडर्न रिव्यू, खंड ६३—सं० १—२)
बिफ़ोर इंडिया इज़ रिबॉर्न : (एशिया, जून १९३६)
कैन इंडिया गेट टुगेदर ? : (न्यू यार्क टाइम्स मेगेज़ीन, १९ जुलाई १९४७)
कॉलोनियलिज़्म मस्ट गो : (न्यू यार्क टाइम्स मेगेज़ीन, ३ मार्च १९४६)
एस्केप : (माडर्न रिव्यू, खंड ६३)
एक्सप्लॉयटेशन ऑफ़ इंडिया : (लिविंग एज, जनवरी १९३४)
गुडबाली रानी : (लिविंग एज, अप्रैल १९३८)
हिज़ हाइनेस द आग़ा ख़ान : (माडर्न रिव्यू, खंड ५८)
हाउ इम्पीरियलिज़्म वर्क्स : (एशिया, अप्रैल १९४६)
ह्यूमीलियेशन ऑफ़ इंडिया : (नेशन, ११ अप्रैल १९३४)
इम्मर्शन ऑफ़ द ऐशेज़ : (युनाइटेड नेशन्स वर्ल्ड, मई १९४८)
इंडिया एंड द वार : (नेशन, १ फ़र्वरी १९४१)
इंडिया कैन लर्न फ़्राम चायना : (एशिया, जनवरी १९४३)
इंडिया'ज़ डे ऑफ़ रेकनिंग : (फ़ॉरच्यून, अप्रैल १९४२)
इंडिया'ज़ डिमांड एंड इँग्लैंड'स आनसर : (अटलांटिक मन्थली, अप्रैल १९४०)
इंडिया टैकल्स हर प्रॉब्लम्स : (लिविंग एज, अक्तूबर १९३८)
इन ट्रेन : (मॉडर्न रिव्यू, खंड ६०)
लांग लिव फ़्री इंडिया : (लिविंग एज, जनवरी १९३१)
माइंड ऑफ़ ए जज : (मॉडर्न रिव्यू, खंड ५९)
नेशनलिज़्म एंड मास स्ट्रगल इन इंडिया : (लेबर मन्थली, लन्दन; अगस्त १९३८)
ऑर्थोडॉक्सी ऑर ऑल रिलीजन्स : (मॉडर्न रिव्यू, खंड ५८)
पाकिस्तान : (एशिया, मई १९४६)
पार्टिंग ऑफ़ द वेज़ : (एशिया, नवम्बर १९४०)
प्रिज़न लेटर्स टु इन्दिरा : (एशिया, सितम्बर-दिसम्बर १९३४)
सॉलिडैरिटी ऑफ़ इस्लाम : (मॉडर्न रिव्यू, खंड ५८)
युनाइटेड नेशन फ़्रंट : (एशिया, मई १९३७)
युनिटी ऑफ़ इंडिया : (फ़ॉरेन एफ़ेयर्स जनवरी १९३८)

प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण करने से पूर्व पंडित नेहरू की प्रमुख वक्तृताएँ

अंग्रेजी

अखिल भारतीय कांग्रेस, १६२३, के ३८वें अधिवेशन में 'अखिल भारतीय वालंटियर संस्था' का प्रस्ताव पेश करते हुए भाषण : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६२३, २ : १२६)

पहली अखिल भारतीय वालंटियर कांग्रेस के अवसर पर सभापति-पद से दिया गया भाषण : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर, १६२३, २ : २१५-२१८)

भारतवर्ष की ओर से ६ फ़रवरी १६२७ को दिया गया प्रेस-वक्तव्य : (इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर १६२७; १ : २०४-२०५)

साम्राज्यवाद-विरोधी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, ब्रूसेल्स (१०-१५ फ़रवरी १६२७) पर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को दी गयी रिपोर्ट : (इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर १६२७; २ : १५२-१५६)

पहली रिपब्लिकन कांग्रेस, मद्रास (२८ दिसम्बर १६२७) में सभापति-पद से दिया गया भाषण : (इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर १६२७; २ : ३४७)

अखिल भारतीय कांग्रेस, मद्रास (दिसम्बर १६२७) के ४२वें अधिवेशन में 'भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन' का प्रस्ताव पेश करते हुए भाषण : (इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर १६२७; १ : ४०७)

भारतीय स्वाधीनता का प्रस्ताव पेश करते हुए दिया गया भाषण : (इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर १६२७; २ : ३८०)

साम्राज्यवादी शोषण के विरोध में दिया गया भाषण (इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर १६२७; १ : २०६-२११)

साइमन कमीशन का बायकाट करने वालों पर ३० नवम्बर १६२८ को हुए पुलिस आक्रमण पर दिया गया प्रेस-वक्तव्य : (इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर १६२६; वॉ० १ : ४४-४८)

पहली अखिल भारतीय समाजवादी युवक कांग्रेस कलकत्ता (२७ दिसम्बर १६२८) में सभापतिपद से दिया गया भाषण : (इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर १६२८; वॉ० २ : ४५२)

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी कलकत्ता (२७ दिसम्बर १६२८) में महात्मा गान्धी के औपनिवेशिक स्थिति के प्रस्ताव पर सुझाया हुआ संशोधन : (इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर १६२८; वॉ० २ : ३२-३५)

ट्रेड यूनियन कांग्रेस की फूट पर वक्तव्य : (इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर १६२६; २ : ४२८-२६)

अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के दशम अधिवेशन में (नागपुर ३० नवम्बर १६२६) में सभापति-पद से दिया गया भाषण : (इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर १६२६; २ : ४२५-२८)

अखिल भारतीय कांग्रेस के ४४वें अधिवेशन—लाहौर (२६ दिसम्बर १६२६) में सभापति-पद से दिया हुआ भाषण : (इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर १६२६; २८८-६७)

पंडित मोतीलाल नेहरू को, अपना निवास 'आनन्द भवन' देश को अर्पित करने की सूचना पर, उत्तर : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३०; १ : ३३)

नैनी जेल इलाहाबाद से २८ जुलाई १६३० को सप्रू और जयकर को महात्मा गान्धी के लिए दिया गया पत्र : २८ जुलाई १६३० को गान्धीजी को दिया गया पत्र : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३०; २ : ८६-८८)

३१ अगस्त १६३० को गान्धीजी को दिया गया पत्र : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३०; वॉ० २ : ६२-६४)

गान्धीजी का, सप्रू-जयकर की बातचीत के सिलसिले में, नेहरूओं को दिया गया पत्र : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३०; वॉ० २ : ८५)

गान्धीजी और जवाहरलाल नेहरू का पत्र-व्यवहार—१५ सितम्बर १६३३ को प्रकाशित : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३३; वॉ० २ : ३५६-६०)

श्रीमती कमला नेहरू की चिन्ताजनक अस्वस्थता के कारण, जेल से छोड़े जाने पर ५ सितम्बर १६३५ को दिया गया वक्तव्य : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३५; वॉ० २ : २५३-५४)

अखिल भारतीय कांग्रेस के ४६वें अधिवेशन—लखनऊ (१२ अप्रैल १६३६) में सभापति-पद से दिया हुआ भाषण : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३६; १ : २६३-७८; लेबर मन्थली, लन्दन, मई १६३६)

विश्व-शान्ति कांग्रेस (६ सितम्बर १६३६) पर दिया गया प्रेस वक्तव्य : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३६; २ : १६६)

राजनैतिक-बन्दी दिवस—(१३ सितम्बर १६३६) पर दिया हुआ प्रेस वक्तव्य : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३६; २ : १६६)

अखिल भारतीय कांग्रेस के ५०वें अधिवेशन फ़ैज़पुर में सभापति-पद से दिया गया भाषण (२७ दिसम्बर १६३६) : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३६; २ : २२२-२३०; लेबर मन्थली, लन्दन, फ़र्वरी १६३७)

नागरिक-अधिकार यूनियन के स्थापित होते समय का वक्तव्य : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३६; वॉ० २ : १६७)

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्यों तथा केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के कांग्रेसी सदस्यों के अखिल भारतीय राष्ट्रीय कन्वेंशन में दिया गया भाषण : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३७; १ : २०७-२१२)

कांग्रेस और जनता में सहयोग का आह्वान : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३८; २ : ३६२-३६६)

नेहरू-जिन्ना का हिन्दू-मुस्लिम एकता पर पत्र-व्यवहार—जनवरी-अप्रैल १६३८ : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३८; वॉ० १ : ३६३-३७६)

अखिल भारतीय विद्यार्थी कान्फ़रेंस के चौथे अधिवेशन पर दी हुई वक्तृता (१-२ जनवरी १६३६) : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३६; वॉ० १ : ४६८-४७१)

कांग्रेस सभापतित्व-मतभेद के सम्बन्ध में २७ जनवरी १६३६ को दिया गया वक्तव्य : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३६; वॉ० १ : ४५)

हाउस ऑफ़ लार्ड्स में लार्ड ज़ेटलेंड के 'भारत और महायुद्ध' भाषण पर २६ सितम्बर १६३६ को दिया गया वक्तव्य : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३६; वॉ० २ : ३८२-३८३)

लंदन न्यूज़ क्रॉनिकल को ७ अक्तूबर १६३६ को भेजा गया सन्देश : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३८; वॉ० २ : ३८४)

वायसराय की १७ अक्तूबर १६३६ की घोषणा पर दिया गया वक्तव्य : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३६; वॉ० २ : ३६४)

वायसराय की भारतीय नेताओं के साथ बातचीत और पत्र-व्यवहार के सम्बन्ध में घोषणा पर ५ नवम्बर १६३६ को दिया गया वक्तव्य : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३६; २ : ४१६-४१७)

अखिल भारतीय शिक्षा-कॉन्फ़रेंस के १५वें अधिवेशन के उद्घाटन पर, लखनऊ में २७ दिसम्बर १६३६ को दिया गया भाषण : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६३६; वॉ० २ : ४२२-४२३)

भारतीय आर्थिक कॉन्फ़रेंस के २३वें अधिवेशन में, इलाहाबाद में २ जनवरी १६४० को दी गयी वक्तृता : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६४०; १ : ३७६-३८०)

अदालत में, ३ नवम्बर १६४० को द्वितीय विश्व-युद्ध पर दिया गया बयान : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६४१; वॉ० २ : १६८-२००)

क्रिप्स समझौते पर नयी दिल्ली में १२ अप्रैल १६४२ की प्रेस कॉन्फ़रेंस का वक्तव्य : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६४२; वॉ० १ : २३८-२४१)

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी बम्बई में 'क्रिप्स मिशन' के आने के कारण उत्पन्न हुई राजनीतिक स्थिति के प्रस्ताव पर ७ अगस्त १६४२ को दिया गया भाषण : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६४२; २ : २३६-२४०)

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी बम्बई में 'क्रिप्स मिशन' पर ८ अगस्त १६४२ को दिया हुआ भाषण : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६४२; २ : २५२-२५४)

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी, बम्बई में कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों पर ६-७ जुलाई १६४६ को दिया गया भाषण : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६४६; २ : १३१-१३२)

कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों पर १० जुलाई की प्रेस कॉन्फ़रेंस : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६४६; २ : १४५-१४७)

वायसराय का अन्तरिम सरकार बनाने का निमन्त्रण स्वीकार करते हुए दिया गया भाषण : १२ अगस्त १६४६ को (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६४६; २ : २२१-२२२)

अन्तरिम सरकार के निर्माण में मिस्टर जिन्ना का सहयोग चाहते हुए दिया गया भाषण : नेहरू-जिन्ना पत्र-व्यवहार : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १६४६; २ : २२२-२२३)

'मिस्टर जिन्ना के साथ बातचीत' के सम्बन्ध में १६ अगस्त १९४६ की प्रेस-कान्फ्रेंस : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १९४६; २ : २२३-२२५)

मिस्टर जिन्ना के कांग्रेस पर लगाये गये आरोपों पर दी गयी वक्तृता : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १९४६; २ : २२७-२२८)

अन्तरिम सरकार के सम्बन्ध में नयी दिल्ली की २ सितम्बर १९४६ की प्रेस-कान्फ्रेंस : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १९४६; २ : २३४-२३६)

अन्तरिम सरकार के उप-सभापति पद से दिया गया रेडियो भाषण : ७ सितम्बर १९४६ (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १९४६; २ : २३८-२४०)

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी देहली में २३ सितम्बर १९४६ को दिये गये भाषण : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १९४६; २ : २४२-२४३; २५०-२५१)

मन्त्रित्व ग्रहण करने पर अपनी पहली प्रेस कान्फ्रेंस में वैदेशिक नीति की रूप-रेखा बतलाते हुए २६ सितम्बर १९४६ को दिया गया भाषण : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १९४६; २ : २५१-२५८)

मुस्लिम लीग और ब्रिटिश अफ़सरों की अभिसन्धि पर भाषण। अ० भा० कांग्रेस कमेटी मेरठ की विषय-समिति में २१ नवम्बर १९४६ को दिया गया भाषण : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १९४६; वॉ० २ : २७९)

अखिल भारतीय कांग्रेस के मेरठ के ५४ वें अधिवेशन में २३-२४ नवम्बर १९४६ को दी गयी वक्तृता : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १९४६; २ : २८९-२९०, २९४-२९५)

ब्रितानी कन्ज़रवेटिवों की ब्लैकपूल कान्फ्रेंस में भारतवर्ष पर किये गये आक्रमण का उत्तर : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर; २ : २६१-२६२)

अन्तरिम सरकार में मुस्लिम लीग के प्रवेश के सम्बन्ध में १९४६ में नेहरू-वायसराय पत्र-व्यवहार : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १९४६; वॉ० २ : २८०-२८१)

मुस्लिम लीग के १९४६ में अन्तरिम सरकार में प्रवेश करने के पूर्व का नेहरू-जिन्ना पत्र-व्यवहार : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १९४६; २ : २६५-२६९) स्टेटमेंट इन द सेंट्रल एसेम्बली एट न्यू डेल्ही (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर २१२-२१४)

बिहार दंगों पर दिये गये भाषण : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १९४६; २ : २०१, २०३-४, २०६-७, और २९४)

विधानपरिषद् के उद्घाटन से पूर्व लंदन कान्फ्रेंस; नेहरू-वायसराय-एटली पत्र-व्यवहार : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १९४६; २ : २९८-३००)

ध्येयों की घोषणा का प्रस्ताव पेश करते हुए विधानपरिषद् में १३ दिसम्बर १९४६ को दिया गया भाषण : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १९४६; २ : ३३५-३४०)

उपर्युक्त भाषणों, वक्तव्यों आदि के लिए कृपया प्रमुख भारतीय दैनिकों के अथवा लंदन 'टाइम्स' के उन्हीं तिथियों के अंक देखे जा सकते हैं।

पंडित नेहरू के, या उन पर अन्य लेखों, भाषणों, वक्तव्यों आदि के लिए निम्नलिखित ग्रन्थों को देखा जा सकता है :

१. क्यूमुलेटिव बुक इंडेक्स : (विलसन, न्यू यार्क)—शीर्षक : नेहरू, जवाहरलाल

२. एसे एंड जनरल लिटरेचर इंडेक्स : (विलसन, न्यू यार्क) शीर्षक नेहरू, जवाहरलाल

३. इंडियन इन्फ़ॉर्मेशन : (भारत सरकार का प्रकाशन विभाग) पदग्रहण करने के बाद के पंडित नेहरू के भाषणों के लिए।

४. इंटरनेशनल इंडेक्स टु पीरियॉडिकल्स : (विलसन, न्यू यार्क)—शीर्षक : नेहरू, जवाहरलाल

५. कीसिंग्स कंटेम्पोररी आर्काइव्ज़ : (कीसिंग्स पब्लिकेशन्स लिमिटेड, लंडन)—शीर्षक : नेहरू, जवाहरलाल

६. ऑफ़ीश्यल इंडेक्स टु 'द टाइम्स' : (टाइम्स पब्लिशिंग कम्पनी लंडन)—शीर्षक : भारत, नेहरू, पंडित जवाहरलाल

नेहरू सम्बन्धी ग्रन्थ

अंग्रेज़ी

ऐल्वा, जे०	**लीडर्स ऑफ़ इंडिया** : (थैकर एंड कम्पनी, बम्बई)
ब्राइट, जे० एस०	**ग्रेट नेहरूज़** : (टैगोर मेमोरियल पब्लिकेशंस, लाहौर; १९४७)
,,	**जवाहरलाल नेहरू—ए बायोग्रॉफ़िकल स्टडी** : (इंडियन प्रिंटिंग वर्क्स, लाहौर)
,,	**लाइफ़ ऑफ़ जवाहरलाल नेहरू इन वर्ड्स एंड पिक्चर्स** : (इंडियन प्रिंटिंग वर्क्स, लाहौर)
दर, बशीर अहमद	**नेहरू : द पोलिटिकल वेदरकॉक** : (कैक्सटन बुक हाउस, लाहौर; १९४५)
	जवाहरलाल नेहरू : जूरल ऑफ़ इंडिया : (एडयूकेशनल पब्लिशिंग कम्पनी, १९४३)
	जवाहरलाल नेहरू : ए बायोग्रॉफ़िकल स्टडी : (इंडियन प्रिंटिंग वर्क्स, १९४७)
हठीसिंह, श्रीमती कृष्णा	**विद् नो रिग्रेट्स** : (जॉन डे, न्यू यार्क; १९४५)
कृपालानी, के० आर०	**टैगोर, गान्धी एंड नेहरू** : (हिन्द किताब्स, बम्बई, १९४७)
काफ़िर अली (छद्मनाम)	**जवाहरलाल नेहरू, द मैन एंड हिज़ मेसेज** : एक आलोचनात्मक जीवनाध्ययन। (राममोहन लाल, इलाहाबाद)
कृष्णमूर्त्ति, वाई० जी०	**द बिट्रेयल ऑफ़ फ़्रीडम** : नेहरू के राजनीतिक विचारों का एक अध्ययन : (पॉपुलर बुक डिपो, बम्बई; १९४४)
	जवाहरलाल नेहरू : द मैन एंड हिज़ आइडियाज़ : (पॉपुलर बुक डिपो, बम्बई; १९४२)
मसानी, शकुन्तला	**द स्टोरी ऑफ़ जवाहरलाल नेहरू एज़ टोल्ड इन कुम-कुम** : (ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई; १९४७)
मेनन, के० पी० सी०	**नेहरू, द स्प्रिंग ऑफ़ इंटरनल यूथ** : (एलाइड इंडियन पब्लिशर्स, लाहौर)
	बिटेन्'स प्रिज़नर : (इंडिया लीग, लंडन; १९४१)
मिर्ज़ा, महमूद अहमद	**द नेहरू रिपोर्ट एंड मुस्लिम राइट्स** : (प्रकाशक—शेर अली, कलकत्ता)
राय, एम० एन०	**जवाहरलाल नेहरू** : (रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी, दिल्ली; १९४५)
सेठ, एच० एल०	**जवाहरलाल नेहरू : प्रोफ़ेट एंड स्टेट्समैन** : (इंडियन प्रिंटिंग वर्क्स, लाहौर; १९४४)
	जवाहरलाल नेहरू : द रेड स्टार ऑफ़ द ईस्ट : (हीरो पब्लिकेशंस, लाहौर, १९४७)
सिंह, अनूप	**नेहरू : द राईज़िंग स्टार ऑफ़ इंडिया** : (एलेन एंड अन्विन, लन्दन; १९४०)
स्पेन्सर, कॉर्नेलिया	**नेहरू ऑफ़ इंडिया** : (जॉन डे, न्यू यार्क; १९४८)
श्री वत्स	**पंडित जवाहरलाल नेहरू** : एक अध्ययन (दीक्षित पब्लिशिंग हाउस, मद्रास)
टंडन, पुरुषोत्तमदास	**नेहरू योर नेबर** : (सिगनेट प्रेस)
येंकी, जी० एस०	**नेहरू ऑफ़ इंडिया** : (जॉन डे, न्यू यार्क, १९४८)
	व्हाट इंडिया वांट्स : (इंडिया लीग, लंडन)

बँगला

भौमिक, भूतनाथ	**डोमीनियन भारतेर भतिरेखा** : (नेहरू पर एक अध्याय सहित—कलकत्ता, १९४८)

चक्रवर्ती, विष्णुपद	**भारतेर प्रतिभा** : सुबोध सेन गुप्त के परिचय सहित। (बच्चों के लिए—कलकत्ता, १९४८)
चट्टोपाध्याय, नृपेन्द्रकृष्ण	**राष्ट्रनायक जवाहरलाल** : (बच्चों के लिए—कलकत्ता, १९४८)
	जवाहरलाल : (कलकत्ता, १९४५; दूसरा संस्करण, कलकत्ता, १९४८)
गांगुली, पी०	**भारतेर राष्ट्रीय इतिहासेर कथा :**
हठीसिंह, कृष्णा	**कोनो खेद नाई** : 'विद् नो रिगरेट्स' का अनुवाद। (सिगनेट प्रेस, कलकत्ता; १९४७)
मुकर्जी, हीरेन	**भारते जातीय आन्दोलन** : ('गणसंगठन और जातीय नेतृत्व' पर अध्याय-सहित) (कलकत्ता, १९४३)
मुखोपाध्याय, अमरनाथ तथा मुखोपाध्याय, शान्तिलता	**सप्तर्षिर कथा** : (नेहरू जवाहरलाल पर अध्याय) (कलकत्ता, १९४८)
नाथ, हेमेन्द्र	**भारतेर विप्लव-काहिनी :**
प्रमाणिक, प्रह्लादकुमार	**कांग्रेस-रथसारथी जवाहर** : १२वाँ अध्याय
वसु, प्रभात	**जवाहरलालेर गल्प** : (बच्चों के लिए—कलकत्ता, १९४८)

गुजराती

दवे, एन० एम०	**जवाहरलाल नेहरू :**
जावडेकर, आचार्य	**आधुनिक भारत** : पी० जी० देशपांडे द्वारा अनुवादित (अहमदाबाद, १९४६)
मेहता, डी० आर०	**जवाहर-कमला** : (गृह संस्कार ग्रन्थावली, बम्बई—नं० ६; १९४४)
रन्देरिया, एम०	**महासभाना महारथी :**
मेहर अली, यूसुफ़	**अपणां नेताओ** : नन्दकुमार पाठक द्वारा अनुवादित (बम्बई, १९४४-४५)
शाह, रमणीकलाल	**अपनी कांग्रेस** : (बम्बई, १९४५)

हिन्दी

धवन, देवीप्रसाद	**पंडित नेहरू** : पंडितजी को दिया गया अभिनन्दन ग्रन्थ। (विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा; १९४८)
दीक्षित, गोपीनाथ	**जवाहरलाल नेहरू की जीवनी और व्याख्यान** : (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद)
हठीसिंह, श्रीमती कृष्णा	**कोई शिकायत नहीं** : (नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर; १९४७)
मिश्र, गौरीशंकर	**राष्ट्रपति जवाहर** : (पटना, १९४०)
मिश्र, शिवशंकर	**भारत का महापुरुष :**
पाठक, मातासेवक जिज्जा, विश्वम्भरनाथ	**राष्ट्रनायक जवाहरलाल नेहरू** : (आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, इलाहाबाद, १९४८)
गोविन्द सहाय	**सन् बयालीस का विद्रोह** : (नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर; १९४६)
'सुमन', रामनाथ	**हमारे नेता और निर्माता** : जवाहरलालजी पर एक अध्याय। (साहित्य सदन, इलाहाबाद; १९४२)

श्रीकान्त ठाकुर, (सम्पादक)	**राष्ट्र के कर्णधार :** पंडित नेहरू पर भी एक अध्याय—नन्दकुमार द्वारा। (कदमकुआँ, पटना; १६४०)
त्रिपाठी, रमाकान्त	**जवाहरलाल नेहरू :** (हिन्दी पुस्तक एजेंसी, बनारस)
विद्यालंकार, सत्यदेव	**हमारे राष्ट्रपति :** (सस्ता साहित्य-मंडल, नयी दिल्ली; १६३६)

कन्नड

अय्यंगार, के० कृष्ण	**जवाहरलाल नेहरू :** (बंगलोर, १६४५)

मलयालम

कुषिवेल्लि, मैथ्यू० एम०	**जवाहर :** (केरल पब्लिशर्स—बच्चों की सीरीज़ में)
पाल, नारायण. नैयर	**जवाहरलाल नेहरू :** पद्यात्मक जीवन-गाथा (केरल समाजम, मदरास)
पिल्लय, नलंकल कृष्ण	**जवाहरलाल नेहरू :**
,,	**भारतवुम् लोकवुम् :** (वेज्जिनेग्जि पब्लिशिंग हाउस, कोचीन)

मराठी

आप्टे, गुरूजी	**पंडित जवाहरलाल नेहरू :** (बम्बई, १६३६)
भिडे, रामकृष्ण गोपाल	**पंडित जवाहरलाल नेहरू, :** सचित्र। (पूना, १६३०; अन्य संस्करण, १६४८)
देशपांडे, एम० के०	**पंडित जवाहरलाल नेहरू विचार व व्यक्तित्व :** (पूना, १६४८)
दिवेकर, दिनकर वासुदेव	**स्वभावचित्रे पंडित जवाहरलाल नेहरू :**
नन्दन, नारायण	**नवभारताचे नवजवान नेहरू :** (धारवाड़, १६३७)
परांजपे, एल० जी०	**दोन थोर देशभक्त :** (ज्योत्स्ना प्रकाशन, १६४८)
सरदेसाई, रघुनाथ गोविन्द	**चित्रमय जगत :** भा० २१, १६३०—पृष्ठ ६५-६७, पंडित जवाहरलाल नेहरू; पृष्ठ ६४-६५ नेहरू-चित्रावली।

तमिल

शर्मा, वी०-स्वामिनाथ	**गान्धीयुम् जवाहरुम् :** (शक्ति वेलियिडु मदरास; १६४६)
सुन्दरम्, पी० तिरिकुट	**जवाहर कडै :** (तमिल पण्णै, मदरास; १६४८)
टी० जे० आर०	**तलैवार जवाहर :** (एलासंस ऐंड कम्पनी, मदरास; १६४८)

तेलुगु

राधाकृष्णमूर्त्ति, के०	**जवाहरलाल नेहरू :** एम० एन० रॉय की अंग्रेज़ी पुस्तक का तेलुगु अनुवाद। (तेनालि प्रजासाहित्य परिषद्, १६४६)
वडगोपाचार्युलु, के०	**नेहरू चरित्रमु :** (काकिनाड, तीसरा संस्करण, १६४१)
सत्यनारायणमूर्त्ति, मल्लाडि	**जवाहरलाल नेहरू जीवित चरित्र :** (गुणाकरराव ब्रदर्स, राजमहेन्द्री; १६४७)

उर्दू

चमनलाल	**हमारे जवाहरलाल :**
चोपड़ा, रघुवंश सिंह	**हालाते-ज़िन्दगी पंडित जवाहरलाल नेहरू**
'चमन' देहलवी, मुहम्मद रहीम,	**जवाहरलाल की कहानी**
अब्दुल रहमान, सैयद	**क़ॉयदीन के ख़ुतूत जिन्ना के नाम :** जिन्ना को नेहरू, गान्धीजी, और सुभाष बोस द्वारा लिखे गये पत्र (हैदराबाद, १६४५)

पंडित नेहरू पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख

अंग्रेजी

अब्बास, ख्वाजा अहमद	**द प्राइम मिनिस्टर एट वर्क** : (पीपल, ईस्ट एंड वेस्ट, मार्च-अप्रैल १९४८)
,,	**बेयरिंग द कॉमन** : (स्कोलैस्टिक, १७ अप्रैल १९३७)
,,	**करेंट बायोग्रॉफ़ी** : (अप्रैल १९४१, अप्रैल १९४८)
ब्लेयर, एच०	**व्हाइट पेपर वर्सेस व्हाइट मैन : द मोस्ट डेंजरस मैन इन इंडिया** : (सैटरडे रिव्यू, १८ नवम्बर १९३३)
बक, पर्ल	**जवाहरलाल नेहरू, द मैन एंड हिज़ इम्पार्टेंस टु इंडिया** : (एशिया, सितम्बर १९३६)
बर्क-व्हाइट, एम०	**इंडिया'ज़ लीडर** : (लाइफ़, २७ मई १९४६)
चैटरबाक्स इंडिया	(लिटरेरी डाइजिस्ट, २५ अप्रैल २१.३६)
..	**चायना आस्क्स इंडिया व्हेदर इट विल फ़ाइट** : (लाइफ़, २७ अप्रैल १९४२)
..	**कांग्रेस लीडर्स एपोलॉजिया** : (ग्रेट ब्रिटेन एंड ईस्ट, २१ मई १९३६)
..	**कांग्रेस लीडर्स ओल्ड एंड न्यू** : (ग्रेट ब्रिटेन एंड ईस्ट, ७ जनवरी १९३६)
कोट्स, एवेरर्ड चार्ल्स	**आइडल ऑफ़ इंडिया'ज़ मासेज़** : (क्रिश्चन सायंस मॉनिटर, २ मार्च १९३८)
..	**डेडिकेटेड फ़ैमिली** : (टाइम, ३ सितम्बर १९४५)
..	**डिस्काउन** : (क्रिश्चन सेंचुरी, १३-२० जून १९३४)
फ़े, एच० इ०	**हिस्टरी थ्रू प्रिज़न बार्स** : (क्रिश्चन सेंचुरी, ७ अक्तूबर १९४२)
..	**फ़ाइटिंग डिसाइपल्** : (न्यूज़ वीक, २६ जनवरी १९४२)
फ़िशर, लुई	**इंडियन थॉट-पर्ल्स** : (सैटर्डे रिव्यू ऑफ़ लिटरेचर, १९ जून १९४८)
फ़ोर्ब्स, जी०	**आई नो दीज़ इंडियन लीडर्स** : (कैथलिक वर्ल्ड, जुलाई १९४२)
फ़ीमन, आई० एस०	**इंडियन नेशनलाइजेशन एंड द फ़ार ईस्ट** : (पैसिफ़िक एफ़ेयर्स, मार्च १९४०)
गान्धी, मोहनदास	अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी कलकत्ता पर औपनिवेशिक स्थिति का प्रस्ताव पेश करते हुए जवाहरलाल पर विचार : (इंडियन क्वार्टरली रजिस्टर १९२८; वॉ० २ : ३८) पंडित नेहरू—गुरु के रूप में (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १९४२; २ : २४४) जवाहरलाल नेहरू—उत्तराधिकारी के रूप में (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर १९४२; १ : २८३)
गन्थर, जॉन	**हेव द सीन जवाहरलाल ?** : (एशिया, फ़रवरी १९३९)
गन्थर, जॉन तथा गन्थर, एफ़०	**नेहरू, होप ऑफ़ इंडिया** : (रीडर्स डायजेस्ट, फ़रवरी १९४०)
हॉसर, अर्नेस्ट ओ०	**स्टॉर्म ओवर इंडिया** : (सर्वे ग्राफ़िक, सितम्बर १९३७)
हावर्ड, ई०	**पंडित नेहरू रिन्यूज़ एन एक्वेंटेंस** : (ग्रेट ब्रिटेन एंड ईस्ट, ३० जून १९३८)
..	**हेड ऑफ़ द नेशनल गवर्नमेंट** : (इंडियन लायब्रेरियन, सितम्बर १९४६)
हूफ़्ट, विलेम एडॉल्फ़ विसेंट	**आइडल ऑफ़ यंग इंडिया** : (क्रिश्चन सेंच्युरी, २३ मई १९३४)
	उपर्युक्त लेख की विवेचना : (क्रिश्चन सेंच्युरी, १३-२० जून १९३४)
हू-सिह, एस० टी०	**पंडित जवाहरलाल नेहरू इन चुंगकिंग** : (चायना वीकली रिव्यू, ९ सितम्बर १९३९)
,,	**नेहरू'ज़ वीक इन चुंगकिंग** : (एशिया, नवम्बर १९३९)
हठीसिंह, कृष्णा	**माई ब्रदर, जवाहर** : (एशिया, जनवरी १९४२)

इंग्लिस, ए० — इंडिपेंडेंस एबव ऑल, देन सोशलिज्म : (न्यूज़वीक, १८ अप्रैल १९३६)

.. — मिस्टर नेहरू'ज इंडिया : (क्वीन्स क्वार्टरली, नवम्बर १९४६)

.. — इंडिया इनसाइड आउट : (न्यूज़वीक, ३ सितम्बर १९४५)

.. — इंडिया एंड सोशलिज्म : (राउंड टेबल, सितम्बर १९३६)

.. — इंडिया स्पीक्स टु चायना : लास्ट फ़्री अटरेंस ऑफ़ पंडित जवाहरलाल नेहरू : (लाइफ़, १ मार्च १९४३)

.. — जवाहरलाल नेहरू, द सक्सेसर एंड स्पिरिचुअल लीडर : (पीपल ईस्ट एंड वेस्ट, मार्च-अप्रैल १९४८)

.. — जवाहरलाल नेहरू डिफ़ाइन्स एम्स : (ग्रेट ब्रिटेन एंड द ईस्ट, ५ दिसम्बर १९४०)

जोन्स, जी० ई० — नेहरू एंड जिन्ना, ए स्टडी इन कांट्रास्ट (न्यू यार्क टाइम्स मैगेज़ीन, ८ दिसम्बर १९४६)

लास्की, हैरल्ड — पंडित नेहरू : (लिविंग एज, जून १९३४)

लिंडले, ई० के० — पाकिस्तान, इंडिया एंड द युनाइटेड स्टेट्स : इंटरव्यूज़ विद लियाक़त अली ख़ाँ एंड नेहरू : (न्यूज़वीक, ६ सितम्बर १९४८)

लवेट, आर० एम० — प्रिंस ऑफ़ इंडिया : (न्यू रिपब्लिक, २१ अप्रैल १९४१)

मैथ्यूज़, बी० — न्यू इंडिया : सम ट्रेंड्स एंड पर्सनैलिटीज़ : (एशियाटिक रिव्यू, अप्रैल १९३७)

मिश्र, एन० — इंडिया'ज़ रिलीजस हरिटेज : (सन्दर्भ) (रिव्यू ऑफ़ रिव्यूज़, जून १९३४)

मूर, आर्थर — यूनिटी ऑफ़ इंडिया : (स्पेक्टेटर, १८ अप्रैल १९४१)

.. — मुस्लिम्स स्टोन नेहरू : (लाइफ़, ११ नवम्बर १९४६)

नायडू, सरोजिनी — ट्रिब्यूट्स टु प्रेज़िडेंट जवाहरलाल नेहरू एट द फ़ॉर्टी-नाइन्थ सेशन ऑफ़ द इंडियन नेशनल कांग्रेस, लखनऊ : (इंडियन ऐनुअल रजिस्टर, वॉ० १ : २८६)

.. — नेहरू : (करेंट बायोग्राफ़ी, १९४१-४८)

.. — नेहरू एंड द आउटलुक फ़ॉर नॉन्-वायलेंस इन इंडिया : (क्रिश्चन सेंचुरी, १० जनवरी १९३४)

.. — नेहरू नेवर विन्स : (टाइम, २४ अगस्त १९४२)

.. — नेहरू ऑन इंडिया'ज़ इकॉनोमिक प्राब्लेम्स : (पीपल ईस्ट एंड वेस्ट, मार्च-अप्रैल १९४८)

.. — नेहरू आउट : (टाइम, ६ मार्च १९३६)

.. — नेहरू पाइप्स डाउन : (टाइम, १९ जुलाई १९३७)

.. — नेहरू, सिम्बल ऑफ़ न्यू इंडिया : (स्कोलेस्टिक, २० अप्रैल १९४२)

.. — नेहरू टेक्स : हेल्म इन इंडियन एफ़ेयर्स : (क्रिश्चन सेंचुरी, १७ जुलाई १९४६)

नीबुहर, रैनहोल्ड — द माइंड ऑफ़ नेहरू : (नेशन, ८ अगस्त १९४२)

.. — पंडित नेहरू'ज़ चैलेंज : (राउंड टेबल, जून १९३६)

.. — पंडित्'स आइडियोलॉजी : (ग्रेट ब्रिटेन एंड ईस्ट, २८ जुलाई १९३८)

फ़िलिप, पी० ओ० — मिसरेप्रेज़ेंटेशन ऑफ़ गान्धी ऐंड नेहरू इन द अमेरिकन प्रेस : (क्रिश्चन सेंचुरी, २६ अगस्त १९३६)

.. — रिलीज़ ऑफ़ नेहरू : (न्यू स्टेट्समैन एंड नेशन, १५ नवम्बर १९४२)

सार्जेंट, डबल्यू० — नेहरू : (लाइफ़, २४ जनवरी १९४१)

शाहानी, रंजी — ओपन लेटर टु पंडित नेहरू : (ग्रेट ब्रिटेन एंड ईस्ट, २२ फ़र्वरी १९४०)

श्रीधराणी, कृष्णलाल — नेहरू ऑन इंडिया : (सैटर्डे रिव्यू ऑफ़ लिटरेचर, २७ जुलाई १९४६)

" — सोशलिस्ट सब्सीट्यूट्स गान्धी : (करेंट हिस्टरी, मार्च १९३७)

अनूपसिंह	**गान्धी एंड नेहरू** : (करेंट हिस्टरी, मई १९४१)
,,	**गान्धी'ज इंडिया एंड नेहरू** : (एशिया, अक्तूबर १९३९)
,,	**इज गान्धी'ज लाइफ़-वर्क कइंड** : (एशिया, अक्तूबर १९३९)
,,	**नेहरू एंड इंडिया'ज फ़्यूचर** : (न्यू रिपब्लिक, १६ मार्च १९४२)
स्मिथ, जे० एच०	**आई मेट क्रिप्स इन नेहरू'ज होम** : (क्रिश्चन सेंचुरी, ८ अप्रैल १९४२)
स्मिथ, एच०	**क्वालिटी'ज ऑफ़ नेहरू;**
	'विद नो रिग्रेट्स' की समीक्षा : (सैटर्डे रिव्यू ऑफ़ लिटरेचर, १ सितम्बर १९४५)
स्नो, एडगर	**कैन गान्धी'ज एयर डू हिज जॉब ?** : (सैटर्डे ईवनिंग पोस्ट, २८ अगस्त १९४८)
..	**सम सॉर्ट ऑफ़ किंग** : (टाइम, १६ अगस्त १९४८)
..	**दी फ़्यूचर लीडर्स ऑफ़ एशिया** : (युनाइटेड नेशन्स वर्ल्ड, फ़रवरी १९४९)
थोनर, ए०	**इंडिया'ज पैसेज टु फ़्रीडम** : (नेशन, २ मार्च १९४६)
..	**टोकन सिविल डिसोबिडिएन्स जेल्स जवाहरलाल नेहरू** : (क्रिश्चन सेंचुरी, १३ नवम्बर १९४०)
ट्रम्बुल, आर०	**नेहरू एंड पटेल : हेयर्स टु गान्धीइज़्म** : (न्यू यार्क टाइम्स मेगेज़ीन, ११ अप्रैल १९४८)
वॉट्सन, ए०	**इंडियन पार्टीज एट क्रॉस रोड्स** : (ग्रेट ब्रिटेन एंड ईस्ट, २४ जनवरी १९४२)
..	**इज इट द पार्टिंग ऑफ़ द वेज ? ए रिप्लाई टु पंडित नेहरू** : (ग्रेट ब्रिटेन एंड ईस्ट, १२ दिसम्बर १९४०)
..	**हू'ज हू इन इंडिया** : (स्कॉलेस्टिक, १४ जनवरी १९४६)
..	**हू'ज इन न्यूज** : (स्कॉलेस्टिक, ७ अक्तूबर १९४६)
रेंच, एवेलिन :	**टॉक विद मिस्टर नेहरू** : (स्पेक्टेटर, १५ मई १९४२)

बँगला में

चट्टोपाध्याय, नृपेन्द्रकृष्ण :	**जवाहरलाल** : (गल्प भारती, जनवरी १९४६)
..	**जवाहरलाल भारत पथेर पथिक** : (गल्प भारती, नं० ७, १३५२ बं० सं०)
..	**विश्वविद्यालयेर संवर्धना-उत्सवे पंडित नेहरू** : (प्रवासी, चैत्र बं० सं० १३५०)

हिन्दी में

आज़ाद-हिन्द सेना का भविष्य :	विशाल भारत (सितम्बर १९४५)
घोर श्रम करने की आवश्यकता :	संयुक्त प्रान्तीय समाचार (१ फ़रवरी १९४९)
हैदराबाद का झमेला :	विशाल भारत (जून १९४८)
हैदराबाद सम्बन्धी स्पष्टीकरण :	वही, (अगस्त १९४८)
हमारे इतिहास की महत्ता :	वही, (फ़रवरी १९४९)
कॉमनवेल्थ के प्रधान मन्त्रियों का सम्मेलन :	वही, (अक्तूबर १९४८)
कांग्रेस मेरी नहीं है :	वही, (जुलाई १९४५)
कश्मीर-सम्बन्धी भारतीय संघ की नीति :	वही, (सितम्बर १९४७)
मेरठ कांग्रेस अधिवेशन :	वही, (जनवरी १९४६)
नेहरू जी का उद्घाटन भाषण :	वही, (जून १९४८)
नेहरू जी की पचपनवीं वर्षगाँठ :	वही, (दिसम्बर १९४४)

नेहरू का मजदूरों के समक्ष भाषण :	विशाल भारत (जुलाई १९४८)
राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार :	वही (जनवरी १९४६)
स्वाधीनता के सैनिकों का अभिनन्दन :	वही (अक्तूबर १९४५)
स्वाधीनता का मार्ग :	वही (सितम्बर १९४६)
भारत की वैदेशिक नीति व जहाज़ उद्योग पर नेहरू के विचार :	वही (मार्च १९४८)

तेलुगु

चक्रवर्त्ती	जवाहरलाल नेहरू : (भारती, जून १९४९)
चन्द्रमन्तेश्वर राव	महात्मुडु-नेहरू पंडितडु : (कृष्णा पत्रिका, ८ नवम्बर १९३६)
दीक्षितुलु, कल्लूरि वेंकट सुब्रह्मण्य	मद्रासु राज्यांग तेजोमंडलमु : (आन्ध्र पत्रिका, [वार्षिक] १९३६-३७)
गिरि, वराहगिरि वेंकट	अनकूलनु मिंचिन तलपुलु : (आन्ध्र पत्रिका, १४ जून १९४९)
..	जवाहरलाल गारि प्रकारमु : (कृष्णा पत्रिका, ६ जून १९३६)
..	जवाहरलाल जीवित-कथा : (कृष्णा पत्रिका, ४ अप्रैल १९४६)
..	जवाहरलाल नेहरू भारत देश-दर्शनमु : (भारती, मार्च १९३०)
..	जवाहरलालनि पिलुपु : (कृष्णा पत्रिका, १७ अक्तूबर १९३६)
..	कांग्रेस सभापति : (कृष्णा पत्रिका, २६ दिसम्बर १९३६)
लक्ष्मीबाईअम्मा द्रोणमराजु	भारतमाता पवित्र पुत्रुडु : (गृहलक्ष्मी, मार्च १९३७)
..	ना अलाहाबादु प्रयाणमु : (कृष्णा पत्रिका, २७ मई १९४२)
नरसिंहाराउ, कुन्दुर्त्ति	जवाहरलाल : (कविता) (आन्ध्रपत्रिका, वार्षिक—१९३७-३८)
..	प्रजाबोधम् : (भारती, अक्तूबर १९३६)
प्रमाद पंगनमामुल वेंकटेश्वर	जवाहरलाल जीवित-गाथा : (आन्ध्र पत्रिका, १२ जुलाई १९३०)
..	पंडित नेहरू : (कृष्णा पत्रिका, ८ फ़र्वरी १९३६)
..	सभापतुलिद्दरु त्यागधनुले : (कृष्णा पत्रिका, १९ मार्च १९३८)
शास्त्री, पुराणम् सूर्यनारायण	भारतीय समस्या परिष्कारमु : (भारती, मार्च १९२९)
..	स्वतन्त्र बाबुलु : (भारती, मार्च १९२९)
	तिरिगि जवाहरलाल : (कृष्णा पत्रिका, १२ दिसम्बर १९३६)

लेखक-परिचय

लेखक-परिचय

[लेखकों के नामों का अनुक्रम वही है जो ग्रन्थ में उनकी रचनाओं का है। —सं०]

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य : भारतवर्ष के गवर्नर-जनरल। न्यायवेत्ता, राजनीतिज्ञ तथा लेखक। देश के प्रमुख मेधावी व्यक्तियों में माने जाते हैं, और तीस वर्षों से राजनीतिक प्रगति का दिशा-निर्देश करते रहे हैं।

वल्लभभाई पटेल : बारदोली के 'सरदार', राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी के विश्वस्त सहकारी। भारत सरकार के उप-प्रधान मन्त्री और गृहमन्त्री; देश के वयोवृद्ध राजनीतिज्ञ।

राजेन्द्रप्रसाद : भारतीय विधानपरिषद् के सभापति। कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्ष। वयोवृद्ध राजनीतिज्ञ। 'इंडिया डिवाइडेड' तथा अन्य अंग्रेज़ी और हिन्दी पुस्तकों के लेखक।

षष्ठ्यब्दि-समादर

मैथिलीशरण गुप्त : राष्ट्रकवि और हिन्दी में राष्ट्रीय चेतना के अग्रदूत। भारतीयों के आत्मगौरव को जगाने में हिन्दी काव्य की देन मुख्यतया गुप्तजी की देन है।

एमन डे वेलेरा : आयर क्रान्तिकारी और देश-भक्त। आयरी स्वतन्त्र राज्य के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री। १९३८ में लीग ऑफ़ नेशंस एसेम्बली के अध्यक्ष। भारत की स्वतन्त्रता के समर्थक।

आन्द्रे जीद : फ़्रांस के प्रौढ़ और लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकार, उपन्यास-लेखक और चिन्तक; नोवेल पुरस्कार-विजेता; फ़्रेंच एकेडेमी के सदस्य।

अपटन सिंक्लेयर : प्रसिद्ध लेखक और आन्दोलक; प्युलिट्ज़र-पुरस्कार-विजेता। सिंक्लेयर के अनेक उपन्यासों से भारतीय पाठक परिचित हैं; जिनमें 'ऑएल', 'ड्रैगन्स टीथ', 'ड्रैगन हार्वेस्ट' आदि मुख्य हैं।

हरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय : कवि, नाटककार, गायक और अभिनेता; यूरोप के विभिन्न देशों में भारतीय कलाओं पर व्याख्यान दे चुके हैं।

गिल्बर्ट मरे : इतिहासवेत्ता और चिन्तक, ऑक्सफ़ोर्ड में ग्रीक भाषा के रेगियस प्रोफ़ेसर, 'अन्तर्राष्ट्रीय बौद्धिक सहकारितासमिति' के सभापति, लीग ऑफ़ नेशन्स यूनियन के अध्यक्ष आदि रह चुके हैं। ब्रिटिश म्यूज़ीयम के ट्रस्टी।

लार्ड पैथिक लॉरेंस : ब्रितानी राजनीतिज्ञ। भूतपूर्व भारत-मन्त्री, सन् १९४६ के उस ब्रितानी कैबिनेट मिशन के अध्यक्ष जिसने भारत की स्वतन्त्रता और विभाजन का निर्णय किया। राजनीति, अर्थशास्त्र तथा गान्धी जी पर अनेक ग्रन्थों के लेखक।

हेरल्ड लास्की : सन् १९२६ से लंडन विश्वविद्यालय में राजनीति के प्रोफ़ेसर; लेबर पार्टी की कार्यकारिणी के सदस्य और भूतपूर्व सभापति। राजनीतिशास्त्र के विश्व-विख्यात विशेषज्ञ।

पट्टाभि सीतारामैय्या : कांग्रेस के अध्यक्ष। गान्धीजी के सिद्धान्तों के माने हुए व्याख्याता। 'बृहत् कांग्रेस का इतिहास' के प्रसिद्धि-प्राप्त लेखक। भारत की राजनीति और अर्थ-शास्त्र पर भी अनेक पुस्तकें लिखी हैं।

खालिदा अदीब : तुर्की लेखिका, इस्तम्बोल विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी साहित्य की प्रोफ़ेसर। भारत-भ्रमण करके भारत के सम्बन्ध में अंग्रेज़ी में ग्रन्थ 'इनसाइड इंडिया' लिखा था; तुर्की भाषा में उपन्यास, कहानियाँ, निबन्ध और अंग्रेज़ी साहित्य का एक इतिहास भी लिखा है।

विलियम ड्यूरेंट : अमरीकी लेखक और दर्शन के आचार्य। 'फ़िलॉसफ़ी एंड द सोशल प्रॉब्लेम', 'स्टोरी ऑफ़ फ़िलासफ़ी',

'ट्रांज़िशन', 'मैशन्स ऑफ़ फ़िलासफ़ी', 'एडवेंचर्स इन जीनियस', 'श्रावर ओरिएंटल हेरिटेज' आदि के लेखक।

एडमंड प्रीवा : स्विट्ज़रलैंड के लेखक और रोमेरोलाँ के मित्र। नूशैटेल विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर। सन् १९३२-३६ में 'भारत की स्वाधीनता को यूरोपीय कमेटी' के अध्यक्ष रहे, तथा इसी कार्य के लिए जिनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय कॉन्फ़्रेन्सों का आयोजन किया। 'गान्धी' तथा अन्य अनेक पुस्तकों के लेखक।

उल्ला अल्म लिन्डस्त्रम् : स्वीडिश भाषा की लेखिका, पत्रकार और सम्पादिका। स्वीडिश सरकार के व्यापारिक विभाग की विशेष परामर्शदात्री। सम्मिलित राष्ट्रों के स्वीडिश प्रतिनिधि-मंडल की सदस्या।

शेख मुहम्मद अब्दुल्ला : जम्मू-कश्मीर के प्रधान मन्त्री और जन-नेता। कश्मीर राष्ट्रीय कान्फ़रेंस के संस्थापक; सन् १९४६ में 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन के संचालन के कारण अखिल भारत की राजनीति में आये। सम्मिलित राष्ट्रों के भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के सदस्य।

आर० जी० कॅवेल : कैनाडा के व्यापारी और लेखक। भारतीय सेना के रिसाले में कप्तान के पद पर १४ वर्ष भारत में बिताये। 'कैनेडियन इंस्टिटयूट ऑफ़ इंटरनेशनल एफ़ेयर्स' की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के अध्यक्ष। 'कैनेडियन इंस्टीटयूट ऑफ़ पब्लिक एफ़ेयर्स' के अध्यक्ष।

रविशंकर शुक्ल : मध्यप्रान्त तथा बरार के प्रधान मन्त्री। १९३७ में 'विद्या-मन्दिर' योजना के प्रेरक, 'नागपुर टाइम्स' के संस्थापक।

मार्गरेट स्टॉर्म जेमसन : ख्यातिप्राप्त ब्रितानी उपन्यास-लेखिका और आलोचक। 'सिविल जर्नी', 'यूरोप टु लेट', 'द अदर साइड' 'द ब्लैक लॉरेल', 'द मोमेंट ऑफ़ ट्रूथ' की लेखिका।

आग़ा ख़ान : मुसलमानों के 'इस्माइली' सम्प्रदाय के धर्मगुरु। भारतीय राजनीतिज्ञ। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के एक संस्थापक, 'लीग ऑफ़ नेशन्स' एसेम्बली के भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के नेता और 'लीग ऑफ़ नेशन्स' एसेम्बली के सभापति भी रह चुके हैं।

बाल गंगाधर खेर : बम्बई प्रान्त के प्रधान मन्त्री। 'स्वराज्य पार्टी' के सेक्रेटरी रहे; हरिजन सेवक संघ की महाराष्ट्र शाखा के भूतपूर्व सभापति। 'आदिवासी सेवामंडल' के सभापति और जन्मदाता। 'बालकन-जी बाड़ी' (अखिल भारतीय बाल-संघ) के अध्यक्ष।

विनोबा भावे : महात्मा गान्धी के सच्चे शिष्य; गान्धी-दर्शन तथा चर्या के प्रतिपादक। गान्धी-दर्शन पर अनेक पुस्तकों के लेखक, जिनमें 'विनोबा के विचार' भी उल्लेखनीय है।

मोहनलाल सक्सेना : भारत सरकार के पुनरावास-मन्त्री। युक्त-प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के भूतपूर्व मन्त्री और अध्यक्ष। विभाजन के पूर्व केन्द्रीय व्यवस्थापिका के कांग्रेस दल के मन्त्री।

अमृतकौर : भारत सरकार की स्वास्थ्य-मन्त्री। सन् १९३० से अखिल भारतीय महिलासम्मेलन की प्रेरणा-शक्ति। १९३६ से १९४६ तक समय-समय पर गान्धीजी की मन्त्री रहीं, 'टु वूमन' की लेखिका।

स्टीफ़ेन स्पेंडर : अंग्रेज़ी कवि तथा आलोचक। 'हॅराइज़न' के भूतभूर्व सम्पादक। 'ट्रायल ऑफ़ ए जज', 'लाइफ़ एंड द पोएट', 'सिटीज़न इन वार एंड आफ़्टर', 'रिजॉएस इन द एबिस' और 'यूरोपीयन विटनेस' के लेखक।

एन० जी० रंगा : विधानपरिषद् तथा कांग्रेस की कार्यकारिणी के सदस्य। आन्ध्र प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष, अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के सुप्रसिद्ध लेखक।

कन्हैयालाल मानिकलाल मुंशी : राजनीतिज्ञ, क़ानून-विशारद, साहित्यकार और पत्रकार। हैदराबाद में भारत के एजेंट-जनरल रहे। गान्धीजी के 'यंग इंडिया' के सह-सम्पादक, कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य, कांग्रेस पार्लियामेंटरी बोर्ड के मन्त्री, और बम्बई सरकार के गृहमन्त्री रह चुके हैं। 'कस्तूरबा गान्धी नेशनल मेमोरियल ट्रस्ट' के ट्रस्टी।

गोविन्दवल्लभ पन्त : युक्तप्रान्त के प्रधान मन्त्री। कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य : स्वराज्य पार्टी और प्रान्तीय लेजि-

स्लेटिव कौंसिल के भूतपूर्व सदस्य। प्रान्तीय कांग्रेस दल के अध्यक्ष, तथा ऑल इंडिया पार्लियामेंटरी बोर्ड के प्रधान मन्त्री।

प्रेमसिंह सोढ़बंस : व्यवसायी तथा सार्वजनिक कार्यकर्त्ता और 'स्वदेशी सभा' रावलपिंडी के मन्त्री; नगर कांग्रेस कमेटी, लाहौर के अध्यक्ष, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य, पंजाब के 'नेशनल वालंटियर कोर' के संचालक, 'कौंसिल ऑफ़ द इंटरनेशनल चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स' पेरिस के सदस्य रह चुके हैं। 'इंडियन इकॉनॉमिक एसोसियेशन' की कार्यकारिणी के सदस्य और 'द चार्टर्ड एकाउंटेंट', नयी दिल्ली के सम्पादक।

रामधारीसिंह 'दिनकर' : हिन्दी के प्रसिद्ध कवि, 'रसवन्ती', 'रेणुका', कुरुक्षेत्र' आदि के लेखक। 'कुरुक्षेत्र' साहित्यकार संसद द्वारा पुरस्कृत हुआ है। बिहार सरकार के प्रचार विभाग के उप-संचालक।

श्रीमन्नारायण अग्रवाल : वर्धा के गोविन्दराम सेकसरिया कॉलेज के प्रिंसिपल। गांधी-नीति के व्याख्याता। 'भारतवर्ष की आर्थिक उन्नति की गान्धीवादी योजना', 'शिक्षा का माध्यम', आदि पुस्तकों के प्रणेता।

एना कामेन्सकी : प्रवासी रूसी अध्यापिका। भारत में संस्कृत का अध्ययन कर के 'श्रीमद्भगवद्गीता' का फ्रेंच और रूसी में अनुवाद कर चुकी हैं। स्विट्ज़रलैंड की थियॉसॉफ़िकल लॉज की अध्यक्षा हैं।

अहमद अमीन यलमन : तुर्की पत्रकार और लेखक। इस्तम्बोल विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के प्रोफ़ेसर रह चुके हैं। 'वतन' के सम्पादक। 'टर्किश फ़ेडेरेलिस्ट एसोसियेशन फ़ॉर वर्ल्ड गवर्नमेंट' के उपप्रधान हैं।

पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास : भारत के व्यापारियों में अग्रणी; अनुभवी राजनीतिज्ञ। लंडन में भारतीय गोलमेज़ कान्फ़रेंसों के प्रतिनिधि रहे। 'रिज़र्व बैंक' के डायरेक्टर; 'ओरिएंटल' बीमा कम्पनी के चेयरमैन।

जेरल्ड हर्ड : अमरीकी विद्वान् तथा चिन्तक; 'रियलिस्ट' के भूतपूर्व साहित्यिक सम्पादक; 'द एसेंट ऑफ़ ह्यूमैनिटी' (ब्रिटिश एकेडेमी द्वारा पुरस्कृत), 'एमर्जेंस ऑफ़ मैन', 'इज़ गौड एविडेंट ?' आदि के लेखक।

मिरज़ा मुहम्मद इस्माइल : शासन-प्रबन्धक, मैसूर, जयपुर और हैदराबाद राज्यों के सफल प्रधान मन्त्री रहे। ग्राम्य स्वास्थ्य पर दूर पूर्व देशों की 'इंटर गवर्नमेंटल कान्फ़रेन्स' में भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के नेता रहे।

हरिसिंह गौड़ : विधान-परिषद् के सदस्य, दिल्ली और नागपुर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उप-कुलपति, सागर विश्वविद्यालय के जन्मदाता तथा कुलपति। क़ानून, अर्थशास्त्र, राजनीति तथा धर्म पर अनेक ग्रन्थों के रचयिता।

विलियम मन : ब्रितानी पार्लियामेंट के सदस्य; अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के समीक्षक; स्याम के चुंगी-आबकारी के परामर्शदाता रह चुके हैं।

तान युन-शान : ख्यातिप्राप्त चीनी विद्वान् और लेखक। विश्व-भारती, शान्ति-निकेतन के चीन-भवन के आचार्य और संचालक; 'सिनो-इंडियन कल्चर सोसाइटी' के संस्थापक; प्रथम अखिल एशिया-सम्मेलन (१९४७) के चीनी प्रतिनिधि।

कृष्णलाल श्रीधराणी : लेखक और पत्रकार; कोलम्बिया विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रोफ़ेसर और 'वाटूमल निधि' के डायरेक्टर। भारत की स्वतन्त्रता के लिए वाशिंगटन में बनी राष्ट्रीय समिति के भूतपूर्व उपाध्यक्ष। 'वॉयस ऑफ़ इंडिया' के सम्पादक। 'माई इंडिया', 'माई एमेरिका', 'वार्निंग टू द वेस्ट' और 'द महात्मा एंड द वर्ल्ड' के लेखक।

एडगर स्नो : अमरीकी लेखक, पत्रकार तथा युद्ध-संवाददाता। 'सैटर्डे ईवनिंग पोस्ट' के भूतपूर्व सहायक सम्पादक। शाङ्हाई के 'चायना वीकली रिव्यू' (१९२९-३०) के सहायक सम्पादक। सन् १९३२ से १९३९ तक 'डेली हेरल्ड' और 'ईवनिंग पोस्ट' के संवाददाता। 'रेड स्टार ओवर चायना', 'पैटर्न ऑफ़ सोवियट पावर' आदि ग्रन्थों के लेखक।

एस० वेसी फ़िट्ज़जेरल्ड : ब्रितानी प्रबन्धकर्त्ता, प्राच्यविद् तथा लेखक। लंडन विश्वविद्यालय में प्राच्य क़ानून के, तथा 'इनूस ऑफ़ कोर्ट' में हिन्दू और मुस्लिम क़ानून के अध्यापक। लंडन के स्कूल ऑफ़ ओरिएंटल स्टेडीज़ में भारतीय-सिंहली भाषाओं तथा संस्कृतियों के विभाग के अध्यक्ष, सिविल सर्विस से अवकाश-प्राप्त।

कैलासनाथ काटजू : पश्चिमी बंगाल के गवर्नर। युक्त-प्रान्तीय सरकार के आबकारी, उद्योग तथा कृषि विभाग के मन्त्री रहे। 'प्रयाग महिला विद्यापीठ' के चांसलर। प्रसिद्ध वकील, 'इलाहाबाद लॉ जर्नल' के सम्पादक (१९१८-४३)। क़ानून की अनेक पुस्तकों के लेखक।

मुहम्मद हफ़ीज़ सैयद : शिक्षा-विशारद; पूना के ट्रेनिंग कॉलेज के भूतपूर्व प्रिंसिपल। प्रयाग विश्वविद्यालय में रीडर। 'ब्रिटिश इंस्टिटयूट ऑफ़ फ़िलॉसफ़ी' तथा 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ पेरिस' के सदस्य। उर्दू, अंग्रेज़ी, फ़्रेंच और हिन्दी में अनेक पुस्तकों के लेखक। काशी के भारत धर्म-महामंडल द्वारा 'विद्या-भूषण' की उपाधि पा चुके हैं।

टी० विजयराघवाचार्य : शासन-प्रबन्धक। उदयपुर राज्य के भूतपूर्व दीवान। 'इम्पीरियल कौंसिल ऑफ़ एग्रिकल्चर रिसर्च' के उपाध्यक्ष। सन् १९२२-२५ में एम्पायर प्रदर्शिनी के भारत विभाग के कमिश्नर। ख्यातिप्राप्त व्याख्याता।

टॉम विंट्रिंघम : ब्रितानी पार्लियामेंट के समाजवादी सदस्य और अन्तर्राष्ट्रवादी इस्पानी गृहयुद्ध में अन्तर्राष्ट्रीय ब्रिगेड में लड़े। युद्ध-कला पर पुस्तकें लिख चुके हैं और इस समय संसार का एक आलोचनात्मक इतिहास लिख रहे हैं।

के० एम० पणिकर : सन् १९४८ से चीन में भारतीय राजदूत। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के सम्पादक। पटियाला तथा बीकानेर के दीवान रह चुके हैं। कैनाडा पैसिफ़िक सम्बन्धों के सम्मेलन (१९४२) तथा सम्मिलित राष्ट्रों की जनरल एसेम्बली (१९४७ में) भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के सदस्य। रॉयल इंडिया सोसायटी के उपाध्यक्ष। मलयालम भाषा में अनेक राजनीतिक ग्रन्थ तथा उपन्यास, नाटक आदि लिख चुके हैं।

हुमायूँ कबीर : शिक्षा-शास्त्री तथा लेखक। भारत सरकार के संयुक्त शिक्षा-सलाहकार। आन्ध्र, कलकत्ता और मद्रास विश्वविद्यालयों के अध्यापक। अखिल भारतीय विद्यार्थी कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के सभापति। सम्मिलित राष्ट्रों के शैक्षिक संगठन के तीसरे सम्मेलन के प्रतिनिधि।

म्यूरियल वसी : अंग्रेज़ी लेखिका, महारानी कॉलेज, बंगलोर में इतिहास और अर्थशास्त्र की भूतपूर्व प्रोफ़ेसर; भारतीय सेना के 'पब्लिक रिलेशन्स' विभाग में भी रहीं। सांस्कृतिक विषयों पर लिखती हैं।

सार्दूलसिंह कवीश्वर : भारतीय देशभक्त। अखिल भारतीय फ़ारवर्ड ब्लॉक के सभापति, 'सिख रिव्यू' और 'न्यू हेरल्ड' के सम्पादक रह चुके हैं। सन् १९३२-३३ में कांग्रेस के स्थानापन्न सभापति रहे।

आर्थर मूर : अनुभवी पत्रकार; 'स्टेट्समैन' के भूतपूर्व सम्पादक। 'थॉट' (नयी दिल्ली) के सम्पादक। सन् १९४४-४६ में माउंटबैटन के 'पब्लिक रिलेशंस' (लोक-सम्पर्क) के सलाहकार। कुछ समय के लिए बंगाल की धारा सभा में यूरोपीय दल के नेता। 'बंगाल फ्लाइंग क्लब' के जन्मदाता। 'द मिरैकल' तथा 'दिस आवर वार' के लेखक।

नारायणदास रतनमल मलकानी : 'राजस्थान संघ' के पुनरावास विभाग के प्रधान संचालक। गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद के उपाध्यक्ष तथा अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ के संयुक्त मंत्री रह चुके हैं। सन् १९४८ में पाकिस्तान स्थित भारतीय डिप्टी हाई कमिश्नर थे। सिन्धी भाषा में अनेक ग्रन्थों के लेखक। गान्धीजी की रचनाओं तथा जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथा का अंग्रेज़ी अनुवाद भी किया है।

स्टुअर्ट चेज़ : अमरीकी लेखक तथा अर्थशास्त्रवेत्ता। अमरीका की 'नेशनल रिसोर्सेज़ कमेटी', रिसेटलमेंट एंड मिनिस्ट्रेशन सेक्योरिटीज़ एंड एक्सचेंज कमीशन आदि के विशेषज्ञ परामर्शदाता रहे हैं। अर्थशास्त्र तथा राजनीति सम्बन्धी अनेक पुस्तकों के लेखक।

कमलादेवी चट्टोपाध्याय : समाजवादी नेत्री तथा नारी-आन्दोलन की समर्थिका; कांग्रेस की कार्य-कारिणी की भूतपूर्व सदस्या। अखिल भारतीय महिला-सम्मेलन की सभानेत्री। व्याख्याता और पत्रकार।

इक़बाल सिंह : लेखक, पत्रकार और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के समालोचक। 'बुद्ध' पर एक पुस्तक लिखी है। लंदन में 'प्रगतिशील लेखक दल' के मूल प्रतिष्ठापकों में से एक थे।

जॉन सार्जेंट : ख्यातिप्राप्त ब्रितानी शिक्षा-शास्त्री। ब्रिटिश कौंसिल के सदस्य। भारत सरकार के शिक्षाविभाग के भूतपूर्व सलाहकार और शिक्षा-कमिश्नर।

सर्वेपल्ली राधाकृष्णन् : ख्यातिप्राप्त दर्शनविद्। सोवियट रूस में भारतीय राजदूत। काशी विश्वविद्यालय के भूतपूर्व वाइस-चांसलर। ऑक्सफ़ोर्ड में प्राच्य धर्म तथा नीति-शास्त्र के स्पाल्डिंग प्रोफ़ेसर। शिकागो युनिवर्सिटी में तुलनात्मक धर्म के हैस्केल लेक्चरर। सम्मिलित राष्ट्रों के शैक्षिक-सांस्कृतिक संगठन में भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के नेता—अनन्तर संगठन के सभापति चुने गये। दर्शन शास्त्र के अनेक ग्रंथों के लेखक।

गगनविहारी मेहता : भारत सरकार के टैरिफ़ बोर्ड के अध्यक्ष; इंडियन चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स के भूतपूर्व सभापति। केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श समिति के और अन्य सरकारी समितियों के सदस्य। अंग्रेज़ी में अनेक पुस्तकें लिखी हैं।

फ़ेनर ब्रॉकवे, : प्रसिद्ध ब्रितानी मजदूर नेता, पत्रकार और लेखक। 'इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी' के राजनीतिक मन्त्री। भारत के सच्चे हितैषी। साम्राज्यवाद-विरोधी जातियों की कांग्रेस के मूल प्रेरक, सन् १९२७ में 'इंडियन ट्रेड युनियन कांग्रेस' तथा कांग्रेस में सहयोगी प्रतिनिधि।

किशोरलाल घनश्याम मशरूवाला : 'हरिजन' के सम्पादक। सन् १९१७ में राष्ट्रीय शिक्षा कार्य आदि के लिए साबरमती आश्रम में प्रविष्ट हुए और तब से गान्धी-नीति के प्रमुख व्याख्याता हैं। गान्धी सेवा-संघ के अध्यक्ष।

लीलावती मुंशी : भारत की प्रमुख सार्वजनिक कार्यकर्त्रियों में अन्यतम, बम्बई के 'हरिजन सेवकसंघ' और हिन्दी विद्यापीठ की अध्यक्षा; 'साहित्य संसद् और स्त्री सेवासंघ' की भूतपूर्व मन्त्री। 'वीमेन्स एसोसियेशन' की अध्यक्षा। गुजराती की अनेक पुस्तकों की लेखिका, जिनमें 'कुमारदेवी' और 'जीवनमाथी जडेली' विशेष प्रसिद्ध हैं।

कालिदास नाग : 'कलकत्ता की ग्रेटर इंडिया सोसायटी' के सभापति। बुएनेस एयरीज की 'पी० ई० एन० कांग्रेस' तथा सिडनी की 'कॉमनवेल्थ रिलेशन्स कॉन्फ़रस' के भारतीय प्रतिनिधि। न्यूयार्क के 'इंस्टिट्यूट ऑफ़ इंटरनेशनल एजुकेशन' तथा हवाई विश्वविद्यालय के अतिथि प्रोफ़ेसर रहे। 'इंडिया एंड द पैसिफ़िक वर्ल्ड' तथा 'न्यू एशिया' के लेखक।

सियारामशरण गुप्त : कवि, उपन्यासकार और निबन्ध-लेखक। साहित्य में गान्धी-नीति के व्याख्याता और प्रतिपादक।

वासा सूर्यनारायण शास्त्री : संस्कृत के विद्वान्; पारलेकिमेडि के 'महाराजा कॉलेज' के संस्कृत अध्यापक रहे। संस्कृत की अनेक कृतियों के रचयिता।

संस्मरण

नरेन्द्रदेव : लखनऊ विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर, प्रमुख राष्ट्रकर्मी, समाजवादी नेता और व्याख्याता; राजनीति-दर्शन के पंडित।

घनश्यामदास बिड़ला : उद्योगपति तथा व्यापारी। गान्धीजी के आतिथेय तथा मित्र। 'बिड़ला ब्रदर्स लि०' के मैनेजिंग डायरेक्टर; भारतीय चेम्बर ऑफ़ कामर्स के तथा 'फ़ेडरेशन ऑफ़ इंडियन चेम्बर्स ऑफ़ कामर्स' के भूतपूर्व सभापति। अखिल भारतीय हरिजन सेवकसंघ के प्रधान।

आयन स्टीफ़ेन्स : सुप्रसिद्ध पत्रकार। 'स्टेट्समैन' के सम्पादक। भारत सरकार के सूचना ब्यूरो के भूतपूर्व डायरेक्टर।

जर्ट्रूड एमर्सन सेन : पत्रकार। 'एशिया' (अनन्तर 'एशिया एंड द अमेरिकाज़') की भूतपूर्व सम्पादिका। 'वॉयसलेस इंडिया' और 'पैजेंट ऑफ़ इंडिया'ज़ हिस्टरी' की लेखिका।

सुधीरकुमार रुद्र : प्रयाग विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर और विभागीय अध्यक्ष। कुछ समय के लिए युक्त प्रान्तीय सरकार के आर्थिक सलाहकार और सचिव भी रहे। 'इंडियन इकॉनॉमिक्स एसोसियेशन' के भूतपूर्व सभापति।

हिकमत बयूर : तुर्की कूटनीतिज्ञ, पत्रकार तथा लेखक। अंकारा की राष्ट्रीय सरकार के वैदेशिक दफ़्तर में राजनैतिक विभाग के डायरेक्टर, तथा बेलग्राड और काबुल में राजदूत रह चुके हैं। तुर्की जनतंत्र के प्रधान मंत्री। भूतपूर्व शिक्षा-मंत्री तथा इतिहास के युनिवर्सिटी-प्रोफ़ेसर। तुर्की की राष्ट्रीय पार्टी के प्रधान।

धूर्जटिप्रसाद मुकर्जी : लखनऊ विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के रीडर; और आलोचक।

म्यूरियल लीस्टर : समाजसेविका। लंडन के ईस्ट एंड के निर्धनों की सेवा के लिए 'किंग्सले हॉल' की संस्थापिका। महात्मा गान्धी की मित्र। कई बार भारत की यात्रा कर चुकी हैं और विश्व भर का भ्रमण किया है। 'माई होस्ट द हिन्दू' और 'एंटर्टेनिंग गान्धी' की लेखिका।

माधव श्रीहरि अणे : बिहार के गवर्नर। कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्ष। लंका में भारत सरकार के प्रतिनिधि रह चुके हैं।

निरंजनसिंह गिल : आज़ाद हिन्द फ़ौज के संस्थापकों में से एक, तथा उसके उच्चतम योधा (कम्बेटेंट) अफ़सर। नोवा-खाली की शान्ति-यात्रा में गान्धीजी के साथ रहे।

लायनेल फ़ील्डेन : क्रमशः बी० बी० सी० में विभागीय अधिकारी, भारत के कंट्रोलर आफ़ ब्राडकास्टिंग, बी० बी० सी० के भारतीय विभाग के सम्पादक रहे। अब इटली में एलाइड कंट्रोल कमीशन के 'पब्लिक रिलेशन्स' विभाग के संचालक हैं।

कैनिक्कर कुमार पिल्लय : शिक्षावेत्ता, लेखक, वक्ता तथा अभिनेता। तिरुवेन्द्रम् के ट्रेनिंग कॉलेज में अंग्रेज़ी के अध्यापक।

नाथूराम द्विवेदी : पत्रकार और लेखक। विन्ध्य प्रदेश सरकार के सहायक-सचिव।

हीरालाल एम० देसाई : लंका के 'इंडियन मर्केंटाइल चेम्बर' के भूतपूर्व सभापति। सिंहल की भारतीय कांग्रेस के संस्थापक और मन्त्री। 'इंडिया एंड सिलोन', 'सिटीज़न ऑग आउटकास्ट' और 'संस्कृत-समीक्षा' के लेखक।

गोविन्ददास : विधानपरिषद् के सदस्य; महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष। भारतीय व्यवस्थापिका के प्रथम सदस्य। विख्यात नाटककार। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के भूतपूर्व सभापति।

राय कृष्णदास : साहित्यकार तथा कला के मर्मज्ञ आलोचक। भारत कला-भवन, बनारस के संचालक। 'भारतीय चित्रकला' और 'भारतीय मूर्तिकला' के लेखक। भारतीय चित्रकला पर उनका बृहत् ग्रन्थ छप रहा है। 'कलानिधि' के सम्पादक।

सुधीर खास्तगीर : चित्रकार तथा मूर्तिशिल्पी। दून स्कूल, देहरादून में कला-अध्यापक। शान्तिनिकेतन में कला की शिक्षा प्राप्त की। नयी दिल्ली में तथा अन्यत्र अपनी कृतियों का प्रदर्शन कर चुके हैं।

हरिभाऊ उपाध्याय, : पत्रकार, सम्पादक और लेखक। महात्मा गान्धी के सहकारी रहे।

श्रीप्रकाश : आसाम के गवर्नर। शिक्षावेत्ता, पत्रकार तथा राजनीतिज्ञ। पाकिस्तान में भारतीय हाई कमिश्नर। युक्त-प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी, राष्ट्रीय कांग्रेस के मन्त्री रह चुके हैं। काशी विद्यापीठ के संस्थापक सदस्य। अंग्रेज़ी में 'एनि बेसेंट' तथा हिन्दी में 'स्फुट विचार' और 'नागरिक शास्त्र' के लेखक।

'शंकर' : सुप्रसिद्ध व्यंग्य-चित्रकार। इस समय 'शंकर्स वीकली' के सम्पादक।

नानालाल चमनलाल मेहता : हिमाचल प्रदेश के चीफ़ कमिश्नर। पहले भारतीय सिविल सर्विस में थे। 'इम्पीरियल कौंसिल ऑफ़ एग्रिकल्चरल रिसर्च' के सदस्य रहे। कला-विशेषज्ञ तथा लेखक। 'भारतीय चित्रकला' तथा 'स्टडीज़ इन इंडियन पेंटिंग' नामक ग्रन्थ लिखे हैं।

ए० रामस्वामी मुदालियर : राजनीतिज्ञ और शासन-प्रबन्धकर्त्ता। मैसूर के भूतपूर्व दीवान। गोलमेज़ कान्फ़्रेन्स में, लीग ऑफ़ नेशन्स में तथा सैन फ़्रैंसिस्को के सम्मिलित राष्ट्र-सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि-मंडल के

सदस्य और सम्मिलित राष्ट्रों के आर्थिक-सामाजिक कमीशन के अध्यक्ष रहे। भारत-मन्त्री की समिति के तथा गवर्नर-जेनरल की कार्यकारिणी के सदस्य भी रह चुके हैं।

आर्थर एम० लोवर : कैनाडीय इतिहासकार। किंग्सटन के क्वीन्स विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रोफ़ेसर। कैनाडा के इतिहास पर अनेक प्रामाणिक पुस्तकों के तथा राजनीति और संस्कृति-विषयक लेखों के लेखक।

चन्दूलाल एम० वकील : अर्थशास्त्री; बम्बई विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर और 'स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स' के डायरेक्टर। इंडियन इकॉनॉमिक कान्फ़्रेंस के भूतपूर्व सभापति। भारतीय अर्थशास्त्र की अनेक प्रामाणिक पुस्तकों के लेखक।

गुरमुख निहाल सिंह : शिक्षाशास्त्री, लेखक और पत्रकार। काशी विश्वविद्यालय में राजनीति के प्रोफ़ेसर रहे, अब दिल्ली में कामर्स कालेज के प्रिंसिपल हैं।

के० टी० शाह : अर्थशास्त्री और अध्यापक। विधानपरिषद् के सदस्य तथा नेशनल प्लानिंग कमेटी के मन्त्री। बम्बई विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष। भारतीय अर्थशास्त्र पर अनेक प्रामाणिक पुस्तकों के प्रणेता।

मानवेन्द्रनाथ राय : राजनीतिज्ञ, आन्दोलक, क्रान्तिकारी, लेखक और पत्रकार। मेक्सिको की कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक; कम्युनिस्ट इंटर्नेशनल के संस्थापक-सदस्य। मेरठ तथा कानपुर षड्यंत्र केसों के प्रमुख अभियुक्त। रैडिकल डेमोक्रैटिक पार्टी, तथा 'इंडियन फ़ेडरेशन ऑफ़ लेबर' के जन्मदाता। 'रैडिकल ह्यूमनिस्ट' (भूतपूर्व 'इंडिपेंडेंट इंडिया') के सम्पादक। राजनीति, राजनीति-दर्शन तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर अनेक ग्रन्थों के लेखक।

क० आ० नीलकंठ शास्त्री : इतिहासवेत्ता और अर्थशास्त्री। काशी और मद्रास विश्वविद्यालयों में इतिहास के प्रोफ़ेसर तथा भारतीय इतिहास सम्मेलन के सभापति और अखिल भारतीय प्राच्य विद्या-सम्मेलन के उपसभापति रहे। दक्षिण भारत के इतिहास की अनेक पुस्तकों के लेखक।

तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी : भारतीय और पाश्चात्य दर्शन के पंडित, मानववादी चिन्तक। 'धर्मकोष' के सम्पादक तथा 'धर्म-निर्णय मंडल' के प्रमुख सदस्य। मराठी और अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं के लेखक।

सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : भाषाशास्त्रज्ञ। कलकत्ता विश्वविद्यालय में भारतीय भाषा-विज्ञान और ध्वनि-विज्ञान के खैरा प्रोफ़ेसर। रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल के उपाध्यक्ष। अनेक पुस्तकों के लेखक जिनमें 'ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ़ बंगाली लैंग्वेज', 'बंगाली फ़ोनेटिक रीडर' और 'इंडो-आर्यन एंड हिन्दी' मुख्य हैं।

अनन्त स० आल्तेकर : काशी विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के अध्यापक और विभाग के अध्यक्ष। इतिहास कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में प्राचीन इतिहास परिषद् के सभापति थे। 'न्यूमिस्मैटिक सोसायटी ऑफ़ इंडिया' के अध्यक्ष। अखिल भारतीय प्राच्यविद्या-सम्मेलन के मन्त्री; बिब्लियोग्राफ़ी ऑफ़ इंडियन आर्कियालॉजी' के सम्पादक-मंडल के एक सदस्य। प्राचीन भारतीय इतिहास पर अनेक प्रामाणिक पुस्तकों के लेखक।

श्री० व्यं० पुणताम्बेकर : नागपुर विश्वविद्यालय में राजनीति के प्रोफ़ेसर। काशी विश्वविद्यालय और बम्बई के नेशनल कालेज में राजनीतिशास्त्र के शिक्षक रहे। इंडियन पोलिटिकल साइंस कांग्रेस के भूतपूर्व सभापति। भारतीय इतिहास और राजनीति सम्बन्धी अनेक प्रामाणिक पुस्तकों के प्रणेता।

जदुनाथ सरकार : मुग़लकालीन भारत के विख्यात इतिहासकार। पटना विश्वविद्यालय में भारतीय इतिहास के रीडर, कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति, तथा भारतीय हिस्टारिकल रेकार्ड्स कमीशन के सदस्य रह चुके हैं।

रमेशचन्द्र मजूमदार : इतिहासकार। कलकत्ता विश्वविद्यालय में इतिहास के अध्यापक और ढाका विश्वविद्यालय के वाइसचांसलर रहे। अंग्रेज़ी और बँगला में अनेक पुस्तकों के लेखक।

रघुबीरसिंह : इतिहासविद् और लेखक। सीतामऊ (मालवा) के राजकुमार। भारतीय सेना में भी रहे। 'मालवा में युगान्तर', 'मालवा इन ट्रांज़िशन' और 'इंडियन स्टेट्स एंड न्यू रेजीम' आदि के लेखक।

वेरियर एल्विन : नृतत्त्ववेत्ता, लेखक तथा समाज-सेवक। भारत के आदिवासियों के लिए एक कुष्ठाश्रम के संस्थापक। 'मैन इन इंडिया' के सम्पादक। जन जातियों पर अनेक पुस्तकों के लेखक, जिनमें 'द बैगा', 'द मुड़िया एंड देयर घोटुल' और जन-गीतों के उनके अनुवाद विशेष प्रसिद्ध हैं।

नीलरत्न धर : वैज्ञानिक और रसायनशास्त्री, प्रयाग विश्वविद्यालय में रसायन शास्त्र के आचार्य और विभागीय अध्यक्ष। 'इंडियन कैमिकल सोसायटी' तथा 'नेशनल एकेडेमी ऑफ़ सायंस' के भूतपूर्व सभापति। 'इंडियन इंस्टीटयूट ऑफ़ सॉयल सायंस', इलाहाबाद के संस्थापक। अनेक मौलिक वैज्ञानिक लेखों और पुस्तकों के लेखक।

सैयद नफ़ीसी : तुर्की इतिहासकार और लेखक। तेहरान विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर और ईरानी एकेडेमी के सदस्य। 'ईरानी साहित्य का इतिहास' तथा 'पार्शिय एंसाइक्लोपीडिया' के लेखक।

एम० डी० राघवन : जातितत्त्वविद्; सिंहल के राष्ट्रीय संग्रहालयों के सहायक संचालक, मद्रास संग्रहालय के भूतपर्व क्यूरेटर; मद्रास विश्वविद्यालय के नृतत्त्व विभाग के अध्यक्ष।

अद्रीशचन्द्र वन्द्योपाध्याय : पुरातत्त्वज्ञ। इस समय सारनाथ संग्रहालय के अध्यक्ष। 'मालवज', 'सम स्कल्पचर्स एट क़ुतुब, दिल्ली', 'द कैरेक्टर ऑफ़ इंडियन आर्ट', 'शिज़्म एंड सारनाथ' आदि के लेखक।

आरणासि, राममूर्त्ति 'रेणु', : तेलुगु और हिन्दी के लेखक। हिन्दू कॉलेज गुंटूर में हिन्दी के अध्यापक।

मोतीचन्द्र : भारतीय कला और पुरातत्त्व के पारखी आलोचक। प्रिंस ऑफ़ वेल्स संग्रहालय, बम्बई के कला-विभाग के क्युरेटर। 'जैन मिनियेचर पेंटिंग इन वेस्टर्न इंडिया', और 'टेकनीक ऑफ़ मुग़ल पेंटिंग' आदि के लेखक।

विनोदविहारी मुखर्जी : कलाकार। विश्वभारती में कला-शिक्षक रहे; अब काठमांडू संग्रहालय में हैं।

शिशिरकुमार घोष : साहित्यिक तथा आलोचक, विश्वभारती में अध्यापक। एलडस हक्सले, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और और श्री अरविन्द के शिष्य।

वासुदेवशरण अग्रवाल : पुरातत्त्वज्ञ। राष्ट्रीय संग्रहालय के निरीक्षक; 'यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसायटी' के मुख पत्र के सम्पादक। भारतीय संस्कृति और पुरातत्त्व सम्बन्धी विषयों के अधिकारी लेखक। पाणिनि पर एक ग्रन्थ लिखा है।

नन्दलाल वसु : ख्यातिप्राप्त चित्रकार, कला-शिक्षक और आलोचक। विश्वभारती कला-भवन के अध्यक्ष।
(विशेष परिचय चित्रकारों के परिचय में देखिए।)

आत्माराम रावजी देशपांडे, : मराठी के कवि; 'फूलवात', 'भग्नमूर्त्ति' और 'पर्तोव्हा' के रचयिता और मध्यप्रान्त के शिक्षा विभाग के उपसंचालक।

'सुन्दरम्' : गुजराती के कवि और आलोचक; 'काव्य-मंगल' के लेखक। पिछली शती की गुजराती कविता पर एक विस्तृत अध्ययन भी लिखा है। इस समय अरविन्द आश्रम में है।

अडिवि बापिराजु : सुप्रसिद्ध तेलुगु कवि, कलाकार और शिल्पी। हैदराबाद दक्खिन के 'मीज़ान' (तेलुगु दैनिक) के सम्पादक। 'नारायण राव', 'तूफ़ान', 'हिमबिन्दु', और 'तोलाकारी' के लेखक।

बलवन्त डींगरा : अंग्रेजी भाषा के कवि और लेखक, इस समय सम्मिलित राष्ट्रों के शैक्षिक-सांस्कृतिक कमीशन के साहित्यविभाग में पैरिस में हैं।

बी० उन्नकृष्णन् नायर, : उड़ीसा सरकार के कस्टम विभाग के अध्यक्ष। मलयालम के अनेक उपन्यासों और कविताओं के प्रणेता। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पुस्तकों का मलयालम में अनुवाद किया है।

के० एस० कारन्त : कन्नड़ लेखक, उपन्यासकार तथा नाटककार। 'कन्नड़ कोष' के सम्पादक।

मुकन्दीलाल : बैरिस्टर और कला-आलोचक। युक्तप्रान्तीय कौंसिल के भूतपूर्व उप-सभापति। भारतीय कला-सम्बन्धी अनेक पुस्तकों और लेखों के लेखक।

बालकृष्ण सीताराम मर्ढेकर : मराठी कवि। ऑल इंडिया रेडियो के 'इंडियन लिस्नर' पत्र के सम्पादक। मराठी में

'शिशिरागम', 'रात्रींचा दिवस' और 'कांही कविता' आदि तथा अंग्रेजी में 'आर्ट्स एंड मैन' के लेखक।

'कल्कि' : वास्तविक नाम रा० कृष्णमूर्त्ति। तमिल मासिक 'कल्कि' के सम्पादक। तमिल के अनेक उपन्यासों और कहानियों के लेखक। 'तमिल एकेडेमी' के मन्त्री।

चन्द्रवदन मेहता : लेखक, कवि तथा नाटककार। ऑल इंडिया रेडियो बम्बई में हैं। गुजराती में उपन्यास, कविता और नाटकों तथा अंग्रेजी में 'द आयरन रॉड' के लेखक।

वी० के० गोकाक : कन्नड और अंग्रेजी के कवि। राजाराम कॉलेज कोल्हापुर के प्रिंसिपल। 'सॉंग ऑफ़ लाइफ़', 'इज्जोडु', 'युगान्तर' और 'समुद्रादक्षे' आदि के लेखक।

सैयद मुजतबा अली : बँगला और अंग्रेजी के लेखक। बोगरा कॉलेज (पूर्वी पाकिस्तान) के प्रिंसिपल। पहले विश्व-भारती में थे।

हजारीप्रसाद द्विवेदी : विश्वभारती हिन्दी-भवन के अध्यक्ष; लखनऊ विश्वविद्यालय के सम्मानित डाक्टर ऑफ़ लिटरेचर। हिन्दी और संस्कृत साहित्य तथा ज्योतिष शास्त्र के सुपठित विद्वान्। आलोचनाग्रन्थों में 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' और 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास विशेष उल्लेखनीय हैं।

वामन चोरघडे : मराठी कहानी-लेखक। नवभारत कॉलेज वर्धा में अध्यापक; 'हिन्दुस्तानी डिक्शनरी' के एक सम्पादक; 'सुषमा' 'हवन', 'प्रस्थान' और 'पाथेय' के लेखक।

'अज्ञेय' : पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन; हिन्दी उपन्यासकार, आलोचक और कवि।

बुद्धदेव वसु : बँगला के प्रमुख कवि, कहानी-लेखक और आलोचक। बँगला त्रैमासिक 'कविता' के संस्थापक-सम्पादक। अंग्रेजी में भी बँगला साहित्य सम्बन्धी पुस्तक और लेख लिखे हैं।

वाविल्ल वेंकटशास्त्रुलु : तेलुगु के विद्वान्। लेखक और प्रकाशक। 'आन्ध्र-व्यापार कक्ष' के संस्थापकों में से एक। सम्पादक—'त्रिलिंग' (तेलुगु साप्ताहिक) और 'फ़ेडरेटेड इंडिया' (अंग्रेजी साप्ताहिक)।

शंकर कुरुप, जी० : केरल के प्रमुख कवि। महाराजा कॉलेज एर्नाकुलम में अध्यापक। अखिल केरल साहित्यिक एकेडेमी के प्रमुख-पत्र के सम्पादक। 'साहित्य-कंटकम्', 'विशालहारी' और 'सूर्यकंठी' आदि के लेखक।

'यशवन्त' : पूरा नाम यशवन्त दिनकर पेंढारकर। आधुनिक मराठी कविता के प्रसिद्ध कवि। बड़ौदा रियासत के राजकवि और 'महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका' के सम्पादक भी रहे हैं। प्रकाशित रचनाओं में प्रमुख हैं—'यशोधन', 'यशोनिधि', 'बन्दीशाला' आदि।

च० कुञ्जन राजा : संस्कृत के विद्वान्; मद्रास विश्वविद्यालय में संस्कृत के आचार्य। मलयालम साहित्य के प्रामाणिक अध्येता, अखिल भारतीय प्राच्य-विद्यासम्मेलन के विभिन्न विभागों के, तथा भारतीय दार्शनिक कांग्रेस के सभापति रह चुके हैं। नेपाल जानेवाले भारतीय सांस्कृतिक शिष्टमंडल के सदस्य।

ए० श्रीनिवास राघवन् : ख्यातिप्राप्त तमिल साहित्यिक; सम्पादक—'चिन्तनै' (तमिल मासिक); तथा सहकारी सम्पादक अंग्रेजी 'त्रिवेणी'। 'अवन् अमरन्', 'मलकतरु' आदि के लेखक। विवेकानन्द कॉलेज, मद्रास के अंग्रेजी विभाग के अध्यक्ष।

मुल्कराज आनन्द : अंग्रेजी के प्रसिद्ध भारतीय लेखक, उपन्यासकार, कला-आलोचक और पत्रकार; कला पत्रिका 'मार्ग' के सम्पादक। 'कुली', 'टू लीव्ज़ एंड ए बड' प्रभृति अंग्रेज़ी उपन्यास अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

प्रेमा कंटक : मराठी-लेखिका; सासवड गान्धी-आश्रम की संस्थापिका; महाराष्ट्र कांग्रेस की रचनात्मक कार्यकर्त्री। 'प्रसाद दीक्षा' (महात्मा गान्धी की लेखिका के नाम पत्र), 'काम और कामिनी' (उपन्यास) और 'सत्याग्रही महाराष्ट्र' की लेखिका।

'बनफूल' : वास्तविक नाम बालाईचाँद मुखोपाध्याय। प्रसिद्ध बँगला उपन्यासकार और कवि; डॉक्टर; बँगला को प्रचुर साहित्य दिया है।

रविशंकर महाशंकर रावल : चित्रकार तथा कला-आलोचक; 'कुमार' के भूतपूर्व सम्पादक। गुजरात साहित्य-परिषद्

कराची के कला-विभाग, 'बाम्बे प्रॉविंशियल आर्टिस्ट'स कॉन्फ़्रेंस', तथा 'आर्ट सोसाइटी ऑफ़ इंडिया', बम्बई के भूतपूर्व सभापति; आल इंडिया एसोसियेशन ऑफ़ फ़ाइन आर्टस् के उप-सभापति; भारत कला-मंडल, बम्बई के सभापति।

लक्ष्मीनारायण मिश्र : कवि और नाटककार, जिन्हें आधुनिक हिन्दी नाटक के जन्मदाता कहा जा सकता है। एक दर्जन से भी अधिक समस्या-नाटक और एक खंड-काव्य 'सेनापति कर्ण' भी लिखा है। हि० सा० सम्मेलन के साहित्य परिषद् के सभापति।

'श्री रंग' : पूरा नाम आर० वी० जागीरदार। लेखक, नाटककार तथा उपन्यासकार। संस्कृत के प्रोफ़ेसर। कन्नड में नाटक, उपन्यास, जीवनी, और निबन्ध लिखे हैं। अंग्रेजी में 'ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर', 'कम्पैरेटिव फ़िलॉलॉजी ऑफ़ माडर्न इंडो-आर्यन लैंग्वेजेज' आदि के लेखक।

एस० गोपालकृष्णमूर्त्ति : तेलुगु लेखक, साहित्यालोचक। प्रेज़ीडेंसी कॉलेज, मद्रास में भौतिक शास्त्र के प्रोफ़ेसर।

नारायण सीताराम फड़के : महाराष्ट्र के गण्य-मान्य साहित्यिक तथा प्रतिष्ठित विद्वान्; उपन्यास और कहानी-लेखक; मराठी पत्रिका 'रत्नाकर' के संस्थापक; तथा 'झंकार' के सम्पादक। अंग्रेज़ी में 'लीव्ज़ इन ऑगस्ट विंड', 'सेक्स प्रॉब्लम्स इन इंडिया' और 'वर्थ पेंग्स ऑफ़ न्यू काश्मीर' के लेखक।

सी० भास्करन् नायर : युनिवर्सिटी कॉलेज तिरुवेन्द्रम में प्राणि-शास्त्र के प्रोफ़ेसर तथा तिरुवनकोर विश्वविद्यालय में प्राणिशास्त्र विभाग के अध्यक्ष। मलयालम में वैज्ञानिक और साहित्यिक विषयों पर लिखते हैं।

श्री० रा० श्रीनिवास राघवन् : भारत सरकार के वाणिज्य विभाग की पत्रिका के सम्पादक; 'कॉमर्स', बम्बई के भूतपूर्व सम्पादक। तमिल, कन्नड़ और संस्कृत साहित्यों के अच्छे ज्ञाता।

विभूतिभूषण बन्द्योपाध्याय : बँगला के सुप्रसिद्ध कवि और उपन्यासकार। प्रवासी बंगीय साहित्य-सभा (१६४५) के सभापति। अनेक पुस्तकों के रचयिता, जिनमें 'पथार पंचक', 'अपराजिता'. और 'आरण्यक' आदि सम्मिलित हैं।

इरावती कर्वे : शिक्षा-शास्त्री और समाजशास्त्रविद्; पूना के डक्कन कॉलेज के पोस्ट-ग्रेजुएट एंड रिसर्च इंस्टीट्यूट में समाजशास्त्र-विभाग में रीडर। इंडियन सायंसकांग्रेस के मानवशास्त्र-विभाग की अध्यक्षा। समाजशास्त्र और मानवशास्त्र पर अनेक खोजपूर्ण लेखों की लेखिका।

नीहाररंजन राय : साहित्यकार और कला-समीक्षक; कलकत्ता विश्वविद्यालय में कला के वागीश्वरी प्रोफ़ेसर। बँगला और अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं में लिखते हैं।

प्रभाकर बलवन्त माचवे : हिन्दी और मराठी के एक धुरन्धर लेखक। पहले उज्जैन में तर्कशास्त्र और अंग्रेज़ी साहित्य के अध्यापक थे; अब ऑल इंडिया रेडियो में हैं। 'शासन-शब्द-कोष' के सम्पादकों में से एक।

दक्षिणारंजन मित्र मजूमदार : बच्चों के लिए छोटी कहानियाँ और परियों की कहानियाँ लिखनेवाले सुप्रसिद्ध बँगला-लेखक। 'चित्रदिनेर रूपकथा', 'सबुज लेखा' और 'करमेर मूर्त्ति' के लेखक।

हीरेन्द्रनाथ दत्त : बँगला उपन्यासकार और आलोचक; 'इन्द्रजित' छद्मनाम से भी लिखते रहे हैं। डी० एच० लारेंस और रेमार्क के अनुवाद किये हैं। विश्वभारती, शान्तिनिकेतन में अंग्रेज़ी के आचार्य।

चित्रकार-परिचय

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर : भारत में कला के पुनर्जागरण में प्रथम विशिष्ट और प्रभविष्णु व्यक्तित्व। भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सौन्दर्य-चेतना के अभ्युदय में प्रधान प्रेरक। भारतीय कला के संग्राहक, विद्यार्थी प्रमुख व्याख्याता तथा शिक्षक, कलाकार, नये कला आन्दोलन के अग्रणी, निबन्ध-लेखक और कृतिकार। अवनीन्द्रनाथ का महत्त्व अतुलनीय है और व्यक्तित्व आकर्षक। आरम्भ में योरोपीय अध्यापकों से पाश्चात्य शास्त्रीय चित्रशैली में शिक्षा पाकर अवनीन्द्रनाथ स्वदेशी परम्पराओं की ओर चीनी तथा जापानी शैलियों द्वारा आकृष्ट हुए, जिससे उनकी कला पर गहरा प्रभाव पड़ा। 'कृष्णलीला' सम्बन्धी चित्र; 'रानी तिष्यरक्षिता और बोधिवृक्ष', देवेन्द्रनाथ द्विजेन्द्रनाथ तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की शबीहें (पोर्ट्रेट), गीतांजलि, उमर खय्याम तथा आरब्योपन्यास का चित्रीकरण; दार्जीलिंग चित्रावली; 'खेल के साथी' चित्रावली, 'कृष्ण-मंगल' चित्रावली; तथा 'अन्तिम यात्रा' आदि उनके चित्र विशेष प्रसिद्ध हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय में भारतीय कलाओं के 'वागीश्वरी प्रोफ़ेसर' रहे; तथा रवीन्द्रनाथ की मृत्यु के पश्चात् कुछ काल के लिए विश्वभारती के अध्यक्ष। अब कलकत्ते के एक उपनगर में विश्राम करते हैं। उनके चित्रों का कोई एक संग्रह नहीं मिलता; 'विश्वभारती' पत्रिका के 'अवनीन्द्र अंक' में उनकी कृतियों का प्रातिनिधिक कलन मिल सकता है।

गगनेन्द्रनाथ ठाकुर : अपने अनुज अवनीन्द्रनाथ के आगे कुछ फीके पड़ जाने पर भी गगनेन्द्रनाथ विलक्षण प्रतिभा-शाली चित्रकार थे। उनकी विविध शैलियों में प्रयोगशीलता की नाना रूपिणी समृद्धि और उमंग से कभी-कभी प्रेम उत्पन्न हो सकता है। व्यापक संस्कारिता और आकर्षक व्यक्तित्व वाले गगनेन्द्रनाथ 'इंडियन सोसायटी ऑफ़ ओरियंटल आर्ट' के जन्मदाता और प्रथम मन्त्री रहे। उनके चित्र मुख्यतया इन कालों में विभक्त किये जा रहे हैं : "जापानी प्रभाव (और सुन्दर सुनहली पार्श्वभूमि) का काल, बंगाल के देहात और पुरी के जलरंग में अंकित सैरों (लैंडस्केप) का काल, हिमालय के सादे चित्रों का काल, चैतन्य चित्रावली का काल, समकालीन जीवन के तीखे व्यंग्य-चित्रों का काल, और 'कोणवादी' (क्यूबिस्ट) शैली में मौलिक प्रयोगों का काल। इन प्रयोगों और व्यंग्य-चित्रों का समुचित प्रचार और सम्मान अभी तक नहीं हुआ है।

नन्दलाल बसु : अवनीन्द्रनाथ के पट्टशिष्य (—"मेरे लिए इससे अधिक गौरव की बात नहीं हो सकती!"—), विश्व-भारती में रवीन्द्रनाथ के सहकर्मी, शान्तिनिकेतन के कलाभवन के संचालक, नन्दलाल बसु देश-विदेश के कला-विद्यार्थियों के प्रेरणास्रोत और श्रद्धापात्र रहे हैं। पौराणिक और प्राचीन विषयों के उनके चित्रों में विशिष्ट अतीतानुवर्तन के साथ सच्ची मौलिकता भी है। शान्तिनिकेतन के चीन-भवन तथा बड़ोदा के कीर्ति-मन्दिर में उनके भित्ति-चित्र; बौद्ध और शैव चित्र; रवीन्द्रनाथ की पुस्तकों के चित्र और अलंकरण; लोक-जीवन के और सन्थालों के चित्र; प्राकृतिक सैरें (लैंडस्केप), चित्रित पोस्टकार्ड, हरिपुरा कांग्रेस शिविर के मंडन के लिए लोक-संस्कृति के आधार पर बनायी गयी विलक्षण चित्रावली; उनके बेलबूटे और नक़्क़ाशी के काम; डिज़ाइन और प्रतीक-संयोजना—उनकी कृतियाँ इतनी विविध, रम्य और सजीव हैं कि उन्हें गुरु के समकक्ष बिठा देती हैं। "रेखा पर उनका सम्पूर्ण अधिकार है।" सादे, संयमित, विनीत,

मितभाषी नन्दलाल वसु के जीवन पर रामकृष्ण, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ, महात्मा गान्धी और श्री अरविन्द का बहुत प्रभाव पड़ा है। कला पर उनके छोटे-छोटे लेखों और उक्तियों का संग्रह 'शिल्पकला' नाम से विश्वभारती से प्रकाशित हुआ है।

रामेन्द्रनाथ चक्रवर्ती : कलकत्ते के गवर्नमेंट स्कूल ऑफ़ आर्ट तथा शान्तिनिकेतन के कलाभवन में चित्रकला की शिक्षा ग्रहण कर रामेन्द्रनाथ चक्रवर्ती ने यूरोप की यात्रा की और वहाँ अपने चित्रों का प्रदर्शन किया। सन् १६४६ में पैरिस की 'आधुनिक कला की अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनी' में और संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षिक-सांस्कृतिक संगठन के समारोहों में आधुनिक कला के प्रदर्शन को संगठित करने और भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए भारत सरकार द्वारा नियुक्त हुए। कुछ काल के लिए देहली के पॉलिटेकनिक के कला विभाग के अध्यक्ष रहे; अब कलकत्ते के गवर्नमेंट स्कूल ऑफ़ आर्ट के प्रिंसिपल हैं। विविध माध्यमों में अपनी कला व्यक्त की है; पर धातु पर उकेरे हुए चित्र (एचिंग) उनकी विशेषता है। ऐसे चित्रों के कई संग्रह भी प्रकाशित किये हैं।

रामकिंकर : कलाभवन, शान्तिनिकेतन में कला की शिक्षा प्राप्त करके १६३२ से वहीं अध्यापन करते हैं। उनकी कला की विशेषता उनकी ताज़गी और उत्साह है। शिल्पी के नाते उनका कार्य विराट् और आधुनिक है; उनकी विशिष्ट दृष्टि अंकन को एक मौलिक शक्ति और प्रवेग देती है जो कभी-कभी विचित्र आकार धारण करता है। सिमेंट और कंकरीट की भी मूर्तियाँ बनाते रहे हैं। उनकी कृतियों का प्रदर्शन प्रायः नहीं हुआ और प्रकाशन भी कम; परन्तु कला-समीक्षकों और रसज्ञों द्वारा वे समादृत हैं।

कृपालसिंह शेखावत : पिलानी के श्री भूरसिंह शेखावत से चित्रकला की शिक्षा पाकर लखनऊ आर्ट स्कूल में एक वर्ष बिताया; फिर शान्तिनिकेतन गये, जहाँ अब कलाभवन में शिक्षक हैं। मध्ययुगीन भारतीय कला शैलियों तथा भित्तिचित्रों की ओर विशेष प्रवृत्ति है। उनकी नव्य राजस्थानी शैली में "राजस्थानी के सुन्दर तत्त्वों के साथ-साथ मुग़ल शैली और आधुनिकता का अच्छा एवं सप्राण सम्मिश्रण है।" काठखुदाई और रेखांकन भी उल्लेखनीय हैं।

रथीन मैत्र : कलकत्ते के गवर्नमेंट स्कूल ऑफ़ आर्ट में प्राथमिक शिक्षा ग्रहण की; शबीहें (पोर्ट्रेट) लिखने में प्रावीण्य प्राप्त किया। 'कलकत्ता ग्रूप' की स्थापना में प्रमुख भाग लिया। अब कलकत्ते के गवर्नमेंट स्कूल ऑफ़ आर्ट में शिक्षक है।

गोपाल घोष : 'कलकत्ता ग्रूप' के अन्यतम सदस्य। जयपुर और मद्रास में शिक्षा ग्रहण की, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और नन्दलाल वसु से प्रेरणा पायी। आधुनिकता, "उत्कट मर्मस्पर्शी रंग-योजना तथा प्रवेग और रूप-परिवर्तन के आविष्कार में व्यस्त रेखा उनके चित्रों के प्रमुख गुण हैं।" आजकल शिवपुर इंजीनियरिंग कालेज में कलाशिक्षक हैं। चित्रों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है।

जगन्नाथ अहिवासी : मूल गोकुल (मथुरा) निवासी, जहाँ पिता मन्दिर में संगीतकार थे। अहिवासी वैष्णव-परम्परा में ओतप्रोत हैं। ड्राइंग मास्टर की नौकरी छोड़कर बम्बई के जे० जे० स्कूल ऑफ़ आर्ट में कला की शिक्षा पायी; स्वर्ण पदक तथा अन्य पदक और सम्मान पाये। अपने चित्रों की कई प्रदर्शिनियाँ कीं और भारत सरकार के लिए कई भित्ति-अलंकरण भी किये। 'मीरा का गृहत्याग' नामक चित्र भारत सरकार द्वारा चीन को भेंट किया गया था।

कमल कृष्ण हेब्बर : खिलौनों को रँगने के शौक़ से आरम्भ कर हेब्बर ने अपनी कला-शिक्षा मैसूर के चामराजेन्द्र टेकनिकल इंस्टीट्यूट में श्री दंडवति मुत्तु से पायी। अनन्तर जे० जे० स्कूल ऑफ़ आर्ट बम्बई में भित्ति-अलंकरण में विशेषता प्राप्त की। अब वहीं शिक्षक हैं। इस समय सरकारी अध्ययन-वृत्ति पर यूरोप का प्रवास कर रहे हैं। बम्बई आर्ट सोसायटी का स्वर्ण पदक प्राप्त किया; देश-विदेश में अपने चित्र प्रदर्शित कर चुके हैं।

बाबू हेरूर : जे० जे० स्कूल ऑफ़ आर्ट, बम्बई में शिक्षित बाबू हेरूर के चित्र संख्या में बहुत थोड़े हैं किन्तु गुणों के कारण प्रसिद्ध हुए हैं। उनके चित्रों में एक विशेष सप्राणता, सतर्क रेखांकन, तथा "जीवन के प्रति एक समन्वित मूलग्राही दृष्टि" मिलती है। सन्, '४२ के आन्दोलन की चित्रावली तथा लोक-शैलियों के प्रयोग विख्यात हैं।
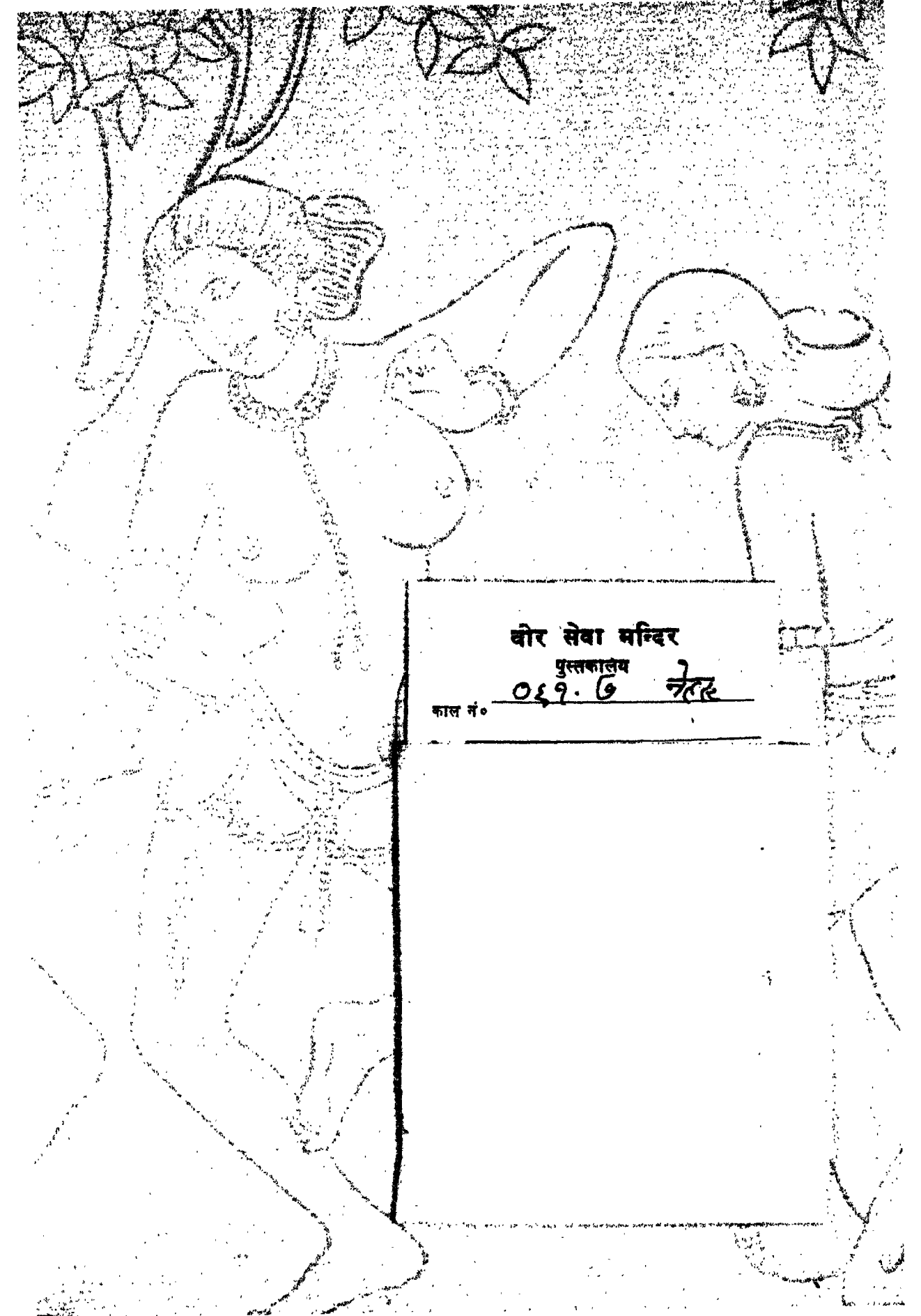
श्यावक्स चावड़ा : जे० जे० स्कूल ऑफ़ आर्ट, बम्बई में तथा इंग्लैंड के स्लेड स्कूल में रैंडॉल्फ श्वाबे के पास ललित कलाओं की दीक्षा पायी। पैरिस की एकाडमी 'द ला ग्रांद शॉमियेर' में एक वर्ष अध्ययन किया। टेम्पेरा चावड़ा का प्रिय माध्यम है, यद्यपि अन्य माध्यमों में भी कार्य किया है, और अर्द्ध चित्र भी उकेरे हैं।

प्रदोष दासगुप्त : कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातक, प्रदोष दास गुप्त ने मूर्तिकला की शिक्षा लखनऊ में एच० राय चौधरी और मद्रास में देवीप्रसाद राय चौधरी की देखरेख में पायी। कलकत्ता विश्वविद्यालय से वृत्ति पाकर विदेश गये, रॉयल एकेडेमी में मैकमिलन और विलियम डिक से दीक्षा पायी। अपने शिल्प की प्रदर्शिनियाँ कर चुके हैं और सम्मान पा चुके हैं।